श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

श्रीमद्भगवद्गीता

गौड़ीय वेदान्त प्रकाशन

।। श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः ।।

श्रीमत्कृष्णद्वैपायन–वेदव्यास द्वारा रचित

श्रीमद्भगवद्गीता

श्रीगौड़ीयवैष्णवाचार्य–मुकुटमणि

श्रीमद्विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर विरचित

सारार्थवर्षिणी टीकासहित

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति एवं तदन्तर्गत भारतव्यापी श्रीगौड़ीय मठोंके
प्रतिष्ठाता, श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयाचार्यकेशरी नित्यलीलाप्रविष्ट

ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशतश्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजीके अनुगृहीत

त्रिदण्डिस्वामी

श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण गोस्वामी महाराज

द्वारा सम्पादित एवं

तत्कृत अन्वय, अनुवाद, सारार्थवर्षिणी–भावानुवाद तथा
सारार्थवर्षिणी–प्रकाशिका–वृत्तिसहित

❑ **प्रकाशक—**

नवीनकृष्ण ब्रह्मचारी 'विद्यालङ्कार'
श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा।

❑ **प्रथम संस्करण—**

ॐ विष्णुपाद श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान
केशव गोस्वामी महाराजजीकी
आविर्भाव-तिथि २५ फरवरी १९९७

❑ **प्राप्तिस्थान—**

१. श्रीदेवानन्द गौड़ीय मठ, तेघरीपाड़ा, पो-नवद्वीप, नदिया (प० बं०)
२. श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा (उ०प्र०) दूरभाष : ४०९४५३
३. श्रीउद्धारण गौड़ीय मठ, चुँचुड़ा, हुगली (प० बं०)
४. श्रीरूप-सनातन गौड़ीय मठ, वृन्दावन (उ० प्र०) दूरभाष : ४४३२७०
५. श्रीगोपीनाथजी गौड़ीय मठ, राणापत घाट, वृन्दावन (उ० प्र०)
६. श्रीदुर्वासा ऋषि गौड़ीय आश्रम, यमुनापार, मथुरा (उ० प्र०)
७. श्रीभक्तिवेदान्त गौड़ीय मठ, संन्यास रोड, कनखल, हरिद्वार (उ० प्र०)
८. श्रीनीलाचल गौड़ीय मठ, स्वर्गद्वार, पुरी (उड़ीसा)
९. श्रीविनोदबिहारी गौड़ीय मठ, २८, हालदार बागान लेन, कलकत्ता-४
१०. श्रीगोलोकगञ्ज गौड़ीय मठ, गोलोकगंज, ग्वालपाड़ा, धूबड़ी (आसाम)
११. श्रीनरोत्तम गौड़ीय मठ, अरविन्द लेन, जिला-कूचबिहार
१२. श्रीगोपालजी गौड़ीय प्रचार केन्द्र, रान्दियाहाट, जिला-बालेश्वर (उड़ीसा)
१३. श्रीकेशव गोस्वामी गौड़ीय मठ, शक्तिगढ़, शिलिगुड़ी, दार्जिलिङ्ग (प० बं०)
१४. श्रीपिछलदा गौड़ीय मठ, आशुतियाबाड़ मेदिनीपुर (प० बं०)
१५. श्रीसिद्धवाटी गौड़ीय मठ, सिधाबाड़ी, रूपनारायणपुर, जिला-वर्द्धमान (प० बं०)
१६. श्रीवासुदेव गौड़ीय मठ, पो० वासुगाँव, जिला—कोकड़ाझार (आसाम)
१७. श्रीमेघालय गौड़ीय मठ, तुरा, वेस्ट गोरा हिल्स, (मेघालय)
१८. श्रीश्यामसुन्दर गौड़ीय मठ, मिलनपल्ली, शिलिगुड़ी (दार्जिलिङ्ग)
१९. श्रीमदनमोहन गौड़ीय मठ, माथाभाङ्गा (कूचबिहार)
२०. श्रीकृतिरत्न गौड़ीय मठ, चैतन्य एवेन्यु, दुर्गापुर (प० बं०)

❑ **मुद्रकका नाम—**

समर्पण

श्रीगुरुपादपद्म

श्रीकृष्णचैतन्याम्नाय–दशमाधस्तनवर
श्रीगौड़ीयवेदान्ताचार्यकेशरी

ॐ विष्णुपाद १०८श्री

श्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजीके

करकमलोंमें

[आविर्भाव शतवार्षिकीके उपलक्ष्यमें]

विषय–सूची

७००

श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः

निवेदन

सर्वप्रथम श्रीगुरु-वैष्णव-भगवान्‌की वन्दना और कृपाशीर्वादके लिए प्रार्थना करते हुए श्रीमद्भगवद्गीताके प्रस्तुत संस्करणके विषयमें कुछ निवेदन शुभारम्भ किया जा रहा है। इस विषयमें श्रीरूपानुग सारस्वत-गौड़ीय गुरुवर्गकी अहैतुकी करुणा और शुभाशीष ही हमारे लिए एकमात्र सहायक और आश्रय हैं।

श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिकी ओरसे अस्मदीय श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद १०८ श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी प्रभुवरकी शुभेच्छा तथा शुभाशीर्वादसे विगत ९ हृषीकेश ४९१ श्रीगौराब्द, २० भाद्रपद, १३८४ बंगाब्द, सन् ६/९/१९७७ में सर्वप्रथम वेदान्ताचार्य-भास्कर श्रीश्रील बलदेव विद्याभूषणपाद कृत श्रीमद्भगवद्गीताका 'गीताभूषण' भाष्य और नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद श्रीश्रील भक्तिविनोद ठाकुर प्रणीत 'विद्वत्-रञ्जन' भाषा-भाष्य सहित श्रीगीता प्रथम संस्करणके रूपमें प्रकाशित हुई थी। तदनन्तर श्रीगीताका एक संक्षिप्त पॉकेट संस्करण अर्थात् संस्कृत मूल और बँगला अनुवाद २८ पद्मनाभ, ५०४ श्रीगौरब्द, १६ आश्विन, १३९७ बंगाब्द, ३/१०/१९९० सन्‌में प्रकाशित हुआ था।

भारतवर्ष तथा सारे विश्वके विविध हिन्दी भाषी क्षेत्रोंमें मूल टीका और हिन्दी अनुवादसहित इस ग्रन्थरत्नके राजसंस्करणका अभाव विशेषरूपसे अनुभव हो रहा था। ऐसी स्थितिमें मदीय सतीर्थ श्रीगौड़ीय वेदान्त समितिके उपसभापति और साधारण सम्पादक पूज्यपाद श्रील भक्तिवेदान्त नारायण महाराज द्वारा इस ग्रन्थरत्नके मूल संस्कृत श्लोक, अन्वय, अनुवाद तथा श्रीगौड़ीय वैष्णव आचार्य महामहोपाध्याय श्रीश्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरकृत 'सारार्थवार्षिणी' टीका और सहज, सरल तथा बोधगम्य 'सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति' सहित यह राजसंस्करण प्रकाशित होनेसे श्रीसमिति उनके निकट चिरऋणी तथा चिरकृतज्ञ रहेगी। वर्तमान ग्रन्थके पठन-पाठनकारी सुधी सज्जनवृन्द इसका अनुशीलनकर परमानन्दित तथा उपकृत होंगे, इस विषयमें कोई सन्देह नहीं है।

जगद्गुरु नित्यलीला-प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद १०८ श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त

सरस्वती गोस्वामी प्रभुपादकी सम्पादनामें उपर्युक्त दो टीकाएँ और भाषा-भाष्य मर्मानुवाद सहित कई संस्करण पहले प्रकाशित हो चुके हैं। तत्पश्चात् श्रील सरस्वती ठाकुरके अनुकम्पित विविध मठ-मन्दिर-आसन-मिशनसे बँगला भाषामें इस ग्रन्थके विविध संस्करण प्रकाशित हुए हैं। आसाम प्रदेशके तेजपुरसे गीताका असमिया भाषामें एक संस्करण एवं अंग्रेजी भाषामें भी कलकत्ता और तमिलनाडुसे कुछ संस्करण प्रकाशित हुए हैं। परन्तु हिन्दी भाषामें श्रीमद्भगवद्गीताका श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुर या बलदेव विद्याभूषणपादकी टीका-समन्वित कोई संस्करण इतने दिनों तक प्रकाशित नहीं हो पाया है। हमारे इस संस्करणका अनुशीलनकर हिन्दी भाषाभिज्ञ सुधिवृन्द और सज्जनमण्डली निश्चितरूपसे आनन्दित और उपकृत होंगे।

पहले-पहले संस्करणोंमें जगद्गुरु ॐ विष्णुपाद श्रील भक्तिविनाद ठाकुर द्वारा लिखित 'अवतरणिका' नामक भूमिकाके अन्तमें कहा गया है—"दुर्भाग्यवश आज तक श्रीमद्भगवद्गीताकी जितनी भी टीकाएँ और बंगानुवाद प्रकाशित हुए हैं; वे अधिकांशतः अभेद ब्रह्मवादियोंके द्वारा रचित हैं। विशुद्ध भगवद्भक्तिसम्मत टीका या अनुवाद बहुत ही कम प्रकाशित हुए हैं। शांकर भाष्य और आनन्दगिरिकी टीका सम्पूर्णरूपसे अभेद ब्रह्मवादपूर्ण है। श्रीधर स्वामीकी टीका ब्रह्मवादपूर्ण नहीं होनेपर भी उसमें साम्प्रदायिक शुद्धाद्वैतवादका गन्ध है। श्रीमधुसूदन सरस्वतीपादकृत टीकामें भक्तिपोषक कुछ वाक्य रहनेपर भी उसके चरम उपदेश या निष्कर्षपर विचार करनेसे अभेद ब्रह्मवाद या मुक्तिका ही प्रतिपादन देखा जाता है।

"श्रीरामानुजाचार्यका भाष्य सम्पूर्णरूपसे भक्तिसम्मत है, परन्तु हमारे देशमें श्रीचैतन्य महाप्रभुके द्वारा प्रकाशित अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्तसम्मत गीताकी कोई टीका नहीं रहनेसे विशुद्ध भक्तिरसके आस्वादक रसिकजनका आनन्दवर्द्धन नहीं होता है। अतः शुद्ध भक्तोंके रसास्वादन तथा साधारण श्रद्धालुजनके कल्याणके लिए मैंने यत्नपूर्वक श्रीगौराङ्ग महाप्रभुके अनुगत महामहोपाध्याय भक्तशिरोमणि श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती महाशय द्वारा रचित टीका संग्रहकर उनके अनुयायी **'रसिक-रञ्जन'** नामक बङ्गानुवादके साथ गीता-शास्त्र प्रकाश किया। श्रीमहाप्रभुकी शिक्षा-सम्मत श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभु कृत एक और गीताभाष्य है। श्रीबलदेवकी टीका विचारपरक है, किन्तु श्रील चक्रवर्त्ती महाशयकी टीका दार्शनिक विचार और प्रीति-रस—इन दोनों विषयोंमें परिपूर्ण है। ★ ★ चक्रवर्त्ती ठाकुरकी टीका ही अभी प्रकाशित

की। श्रील चक्रवर्त्ती महाशयका विचार सरल है एवं संस्कृत भाषा प्राञ्जल है—साधारण पाठक अनायास ही इसे समझ सकेंगे।”

जगद्गुरु श्रील सरस्वती गोस्वामी प्रभुपादजीने भी कहा है—“इस ग्रन्थके असंख्य भाष्य, टीकाएँ और बहुत-सी भाषाओंमें अनुवाद वर्त्तमान हैं। ★ ★ इसका बहुत प्रचार रहनेपर भी श्रीगौड़ीय वैष्णवोंके विचारके अनुकूल श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरजीने गौड़ीय रसिक भक्तोंके लिए ‘सारार्थवर्षिणी’ नामक टीकाकी रचना की है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर श्रील नरोत्तम ठाकुरकी शिष्य-परम्परामें चतुर्थ अधस्तन हैं। वे गौड़ीय वैष्णव धर्मके मध्यकालीन संरक्षक और आचार्य हैं। इनके विषयमें यह श्लोक अत्यन्त प्रसिद्ध है—

‘विश्वस्य नाथरूपोऽसौ भक्तिवर्त्म प्रदर्शनात्।
भक्तचक्रे वर्त्तितत्त्वात् चक्रवर्त्त्याख्ययाभवत्।।’

“प्रत्येक गौड़ीय वैष्णव श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुरके विषयमें थोड़ा-बहुत अवश्य ही जानते हैं। जो लोग श्रीमद्भागवतका अनुशीलन करते हैं, गीता-शास्त्रकी चर्चा करते हैं और गौड़ीय ग्रन्थोंका पठन, पाठन तथा विचार करते हैं, वे सभी श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुरके अलौकिक कृतित्वके विषयमें कुछ-न-कुछ अवश्य जानते होंगे। ★ ★ गौड़ीय वैष्णवाचार्योंमें श्रील चक्रवर्त्ती महाशयकी भाँति टीका-भाष्यसहित सुविस्तृत संस्कृत ग्रन्थोंके लेखक अति विरल ही प्रकट हुए हैं। विशाल संस्कृत साहित्यकी रचनाके अतिरिक्त भी वे गौड़ीय वैष्णव समाजके लिए दो हितकारी कार्यमें रत हुए थे। ये दोंनों ही कार्य प्रचारके माध्यमसे कीर्त्तनके कार्य हैं।

“ ★ ★ १६२८ शकाब्दमें जब श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर अत्यन्त वृद्ध हो गए थे, तब उन्हींके निर्देशानुसार उनके छात्र गौड़ीय वैष्णव वेदान्ताचार्य पण्डितकुल मुकुटमणि महामहोपाध्याय श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण और श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुरके शिष्य श्रीकृष्णदेव जयपुरकी विचारसभामें गए थे। साम्प्रदायिक परिचयसे विस्मृत होनेसे तथा वैष्णव वेदान्तका अनादर करनेसे श्रीगौड़ीय सम्प्रदायपर जो विपत्ति आई थी, उसका निराकरण करनेके लिए श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण महोदयने श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायके अनुसार एक स्वतन्त्र ‘ब्रह्मसूत्र-भाष्य’ की रचना की। इस प्रकार श्रीबलदेव विद्याभूषणजीने श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायकी महती सेवा की। इस महान कार्यमें श्रीचक्रवर्त्ती ठाकुरका अनुमोदन प्राप्त था। यह श्रील चक्रवर्त्ती

ठाकुरका वैष्णवधर्मके प्रचारके लिए दूसरा महान कार्य है। विशेषकर अशौक्र ब्राह्मण-कुलोद्भूत वैष्णवाचार्यके द्वारा संस्कारके विषयमें अनुमोदनका यही जाज्वल्यमान उदाहरण है।"

महाभारतके अन्तर्गत भीष्मपर्वके २५वें अध्यायसे ४२वें अध्याय तक अष्टादश अध्यायसमन्वित श्रीमद्भगवद्गीता शास्त्र है। श्रीकृष्णके सखा अर्जुन इस गीताके श्रोता एवं भगवान् श्रीकृष्ण वक्ता हैं। श्रीगीता-पाठके पहले अर्जुन और भगवान्‌का परस्पर सम्बन्ध एवं भगवद्विषयमें अर्जुनका किस प्रकारका ज्ञान था, उसको जान लेना अति आवश्यक है। श्रीमद्भगवद्गीता कोई काल्पनिक शास्त्र नहीं है। अतएव इसकी प्राकृत मनःकल्पित 'आध्यात्मिक' व्याख्याकी कोई आवश्यकता नहीं है। श्रीअर्जुन, सञ्जय, धृतराष्ट्र, जन्मेजय, शौनकादि ऋषियोंने गीताका अर्थ जैसा समझा था, वह कभी भी रूपक नहीं हो सकता है। एक ही शरीरमें सञ्जयरूप दिव्य दृष्टि और धृतराष्ट्ररूप अन्धे मनकी स्थिति कोरी कल्पना है। दिव्य दृष्टिके साथ आत्मवशीभूत मनका अवस्थान स्वाभाविक है। वह मन जड़-इन्द्रियोंको वशीभूत करनेमें समर्थ है।

साधारणरूपसे 'गीता' कहनेसे श्रीकृष्णके द्वारा सखा अर्जुनको उपदिष्ट श्रीमद्भगवद्गीताको ही समझा जाता है। दुकानोंमें 'गीता-समन्वय' या 'गीता-ग्रन्थावली' देखनेको मिलती है। इनको समस्त शास्त्र-ज्ञानका सार-संकलन या महाग्रन्थ कहकर वर्तमान समयमें प्रचार किया जा रहा है। परन्तु सर्वज्ञान-प्रयोजिका, सर्वशास्त्र-सारभूता, तत्त्वार्थज्ञानमञ्जरी आदि विशेषणप्राप्त श्रीभगवान्‌की श्रीमुखनिःसृता श्रीमद्भगवद्गीताके श्रेष्ठत्व और प्राचीनताको स्वीकार करनेमें आपत्ति क्यों होती है? निर्विशेषवादी, चित्-जड़-समन्वयवादी बह्वीश्वरवादी, जीव-ब्रह्मैकवादिगण अधिकांश क्षेत्रमें समन्वय आदि विशेषणका प्रयोग करते हुए वैशिष्ट्य और उदारता दिखानेके नामपर 'सब कुछ समान' कहनेकी धृष्टता करते हैं। इस प्रकार तथाकथित उदार नैतिकगण सदा-सर्वदा गीता, भागवत आदिका मनःकल्पित 'समन्वय-भाष्य' प्रकाश करते हुए परमोदार नीतिके प्रदर्शनकी अपचेष्टामें व्यस्त रहते हैं।

वर्त्तमान समयमें 'समन्वय' शब्दका अपप्रयोग और अपव्यवहार चल रहा है। एकमात्र भगवान्‌में ही यथार्थ समन्वय देखा जाता है। अतएव मनगढ़न्त काल्पनिक बातें और समन्वय दोनों कभी एक नहीं हैं। इस समय हमलोग दुकानोंमें और पुस्तकालयोंमें गीताका-समन्वय भाष्य देख

रहे हैं, जगत्‌को परमेश्वर और परमेश्वरको जगत् माननेसे अन्वय या समन्वय नहीं होता है। तथाकथित शिक्षित समाजके अधिकतर लोगोंमें इस प्रकारके समन्वयवादकी बीमारी देखी जा रही है। ऐसी संक्रामक व्याधियोंका विरोध और खण्डन करना आवश्यक है।

पाश्चात्य शिक्षाभिमानी व्यक्ति शास्त्रोंमें विश्वास रखते हुए ज्ञानानुशीलन तथा गवेषणा नहीं करना चाहते। वे विविध प्रकारकी जड़ीय युक्तियोंका आश्रय लेकर उन उन भावोंमें विभावित होकर अपने अपने अनुसन्धानकी स्पृहाको सार्थक करना चाहते हैं। जड़-ऐतिहासिक और गवेषकगण अत्यन्त नास्तिक होते हैं। वे शास्त्र-ग्रन्थकी गवेषणा करते हुए ग्रन्थका रचनाकाल या समयसीमा निर्धारित करते हैं। यही नहीं वे शास्त्रोंमें वर्णित आपातविरोधी विषयोंका सामञ्जस्य न कर पानेके कारण शिव गढ़ते-गढ़ते बन्दर गढ़ लेते हैं अर्थात् मूल वस्तुको अस्वीकार कर बैठते हैं। वे महाभारतके अंशविशेष श्रीमद्भगवद्गीताको भी प्रक्षिप्त कहना चाहते हैं। इस प्रकारकी गवेषणा सनातन आर्य ऋषियोंकी महिमा विस्तार न कर उनके प्रति चरम अवहेलना और अवज्ञा ही प्रमाणित करती है। यह अमृतकी खोज नहीं है, बल्कि विषोद्‌गार करना या विष उगलना है।

आधुनिक शिक्षाप्राप्त व्यक्तियोंके किसी भी वक्तव्य या मन्तव्यमें 'साम्प्रदायिक' शब्दका प्रचुर व्यवहार देखा जाता है। इसके द्वारा वे यह दिखाना चाहते हैं कि हम बहुत ही उदारचित्त हैं। परन्तु 'विशुद्ध साम्प्रदायिकता' ही सनातन आर्यधर्मका गौरव है—वे इस विचारको भूल जाते हैं। श्रीगुरुपरम्पराप्राप्त सदुपदेश या श्रौत आम्नाय धाराको ही सम्प्रदाय कहा जाता है। जो परम सत्यको सम्यक्‌रूपसे प्रदान करे, उसे 'सत्-सम्प्रदाय' कहते हैं। भारतीय आस्तिक्य समाजमें इस प्रकारकी साम्प्रदायिकी धारा चिरकालसे प्रवाहमान है।

विदेशी नास्तिक्यपूर्ण साम्यवादके द्वारा विशेषरूपसे आक्रान्त होनेके बादसे ही आर्य ऋषियोंकी वैज्ञानिक भित्तिके ऊपर सुप्रतिष्ठित सम्प्रदाय-प्रणालीको मिटानेकी चेष्टा प्रारम्भ है। पाश्चात्य देशोंके Sectarian शब्दकी भ्रान्त धारणा ही इस विषयमें विपत्तियोंकी जड़ है। आधुनिक कालमें मनःकल्पित बहुत-से सम्प्रदायोंके संकीर्ण मनोभाव सत्सम्प्रदायके विरुद्ध जेहाद घोषणा करनेकी इच्छा प्रस्तुत कर रहे हैं। परम सत्यका अनुधावन न कर पानेके कारण मनोधर्मके ताण्डव नृत्यको

'उदारता' या 'गणमत' मानकर सुविधावादका आश्रय लेनेसे क्लीव ब्रह्मका उपासक निर्विशेषवादी हो जाना पड़ता है। परतत्त्व-भगवान्‌को निर्विशेष प्रतिपन्न करनेकी जो दुरभिसन्धि चल रही है, उसे ही आज असाम्प्रदायिक कहा जा रहा है। वर्त्तमान समयमें श्रीमद्भगवद्गीता आदि शास्त्रोंकी आलोचनाके क्षेत्रमें आध्यात्मिक या असाम्प्रदायिक व्याख्याकी रीति चल रही है। यह बड़े अनुतापका विषय है कि आजकल समाजमें उच्छृंखलता, यथेच्छाचारिता और सुविधावाद ही 'असाम्प्रदायिक' अर्थमें व्यवहृत हो रहे हैं। त्रिकालज्ञ सनातन आर्य ऋषि और नित्यसिद्ध महापुरुषोंके अनुभवसिद्ध परम सत्यको सम्प्रदायदोषसे दूषित मतवाद बतलाकर उसे दूरसे परित्याग करते हुए राजनैतिक, समाजनैतिक नेतागण कर्मी, ज्ञानी और योगी लोगोंकी शास्त्र-व्याख्याको जो असाम्प्रदायिक कहना चाहते हैं, उनकी बुद्धिको निर्विशेष और जड़वादमें आसक्त समझना होगा।

श्रीमद्भगवद्गीताका वास्तव सिद्धान्त समझनेके लिए और दार्शनिक आलोचना करनेके लिए पूर्व-पूर्व आचार्यवर्गके उपदेश-निर्देशरूप वाणीका अनुसरण और आश्रय ग्रहण करना होगा। तभी उसका अन्तर्निहित उद्देश्य हृदयङ्गम और प्रकाशित हो सकेगा। यदि ग्रन्थकार स्वयं भाष्य या टीका-टिप्पणीकी रचनाकर उसकी विवृति दे, तो वह सरल-सहज और बोधगम्य हो जाता है, अन्यथा भ्रम, प्रमाद आदिमें लिप्त होना स्वाभाविक है। इसलिए भ्रम, प्रमाद आदि चारों दोषोंसे रहित त्रिकालज्ञ ऋषि और पूर्वाचार्य गुरुवर्गके अनुभवसिद्ध वास्तव सत्यका आश्रय किए बिना गीताका आशय समझनेका दूसरा कोई उपाय नहीं है। मदीश्वर परमाराध्यदेव श्रीश्रील भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराजजीने गीताके विषयमें जो उपदेश दिए हैं, उनमें से कुछ वर्णन करनेका प्रयास कर रहा हूँ—

"गीताकी अवतारणाका उद्देश्य राजनीति या क्षात्रनीति नहीं है, अपितु यह परात्पर-तत्त्व श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें सम्पूर्ण शरणागतिको लक्ष्य करती है। जिन अर्जुनको लक्ष्यकर गीताका आविर्भाव हुआ है, उन अर्जुनको कभी भी मोह नहीं हो सकता है। उनका मोह गीताकी अवतारणाके लिए अभिनयमात्र है। अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णके नित्य पार्षद एवं सखा हैं। श्रीवेद वचनोंसे जाना जाता है—'*पार्थो वत्सः*', अतएव केवल वत्सस्वरूप अर्जुनके लिए ही दुग्धरूप गीतामृतकी अवतारणा नहीं हुई है। स्वयं श्रीकृष्णने कहा है—***'मामेकं शरणं व्रज'***—यहाँ एकम् शब्दके द्वारा एकमात्र सर्वशक्तिमान्

श्रीकृष्णके शरणागत होना ही गीताशास्त्रका एकमात्र तात्पर्य है। गीतामें हमलोग देखते हैं—***'कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति'***—यहाँ स्वयं भगवान्‌का भक्तके द्वारा प्रतिज्ञा करानेका अभिप्राय यह है कि भगवद्भक्तकी प्रतिज्ञाकी भगवान् सर्वतोभावेन रक्षा करते हैं, पर उनकी अपनी प्रतिज्ञा भक्तकी कातर प्रार्थनासे शिथिल हो जाती है। अतएव भक्तवात्सल्यके कारण भगवान् भक्तकी जय घोषणा करते हैं। गीता (४/९) में उन्होंने कहा है—'अचिन्त्य शक्तिसम्पन्न मेरे जन्म और कर्म दिव्य, अलौकिक और अप्राकृत हैं।' वेद ईश्वरकी निःश्वाससे निकली वाणी है, श्रीगीता ईश्वरकी श्रीमुखनिःसृता वाक्य होनेसे वेदतुल्या अपौरुषेया है। इसमें तर्कका कोई अवकाश नहीं है। गीता (९/११) में भगवान्‌ने अर्जुनको कहा—'माया अर्थात् अविद्याके द्वारा विमोहित होकर मूढ़ लोग मेरे अप्राकृत सच्चिदानन्द तनु या श्रीविग्रहको साधारण ध्वंसशील मनुष्य-शरीर समझकर आदर नहीं करते हैं, अपितु अवज्ञा करते हैं।' रूपहीन या निराकार वस्तु कभी भी पूज्य नहीं हो सकती है। निराकार होनेसे ही कोई वस्तु निर्गुण या अप्राकृत नहीं होती है। श्रीभगवान् और वैष्णवोंका सच्चिदानन्द विग्रह जड़-इन्द्रियग्राह्य नहीं होनेपर भी वह अत्यन्त निर्मल, अप्राकृत और प्राकृत गुणरहित निर्गुण तत्त्व है।"

जगद्‌गुरु श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती प्रभुपादजीने टीकाके 'विवरण' में लिखा है—"अष्टादशाध्यायात्मक श्रीमद्भगवद्गीता 'उपनिषत्' के नामान्तरसे प्रसिद्ध है। इस ग्रन्थके असंख्य भाष्य, टीकाएँ एवं बहुत-सी भाषाओंमें अनुवादसमूह वर्त्तमान हैं। श्रीमद्भगवद्गीताके बहुतसे भाष्योंमें से प्रचलित श्रीधर, श्रीरामानुज, श्रीमध्व, श्रीविश्वनाथ और श्रीबलदेवके भाष्य ही प्रधान हैं। गौड़ीय वैष्णवोंके उपास्य श्रीचैतन्यदेवके आश्रितजन श्रीगौरपार्षदोंके द्वारा अनुमोदित भाष्यमें अधिकतर प्रीति लाभ करते हैं। वृत्त-ब्राह्मणसे शौक्र-ब्राह्मणकुल उद्भूत होकर मनु आदिके द्वारा प्रचलित स्मार्त्त-धर्मको ग्रहण करते हैं। गीतामें इन मतवादोंके विपरीत वृत्तवर्णकी व्यवस्था दी गई है। भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—"आर्त्ति आदि दूर करनेकी कामनाओंके द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है, वे उन उन देवताओंकी आराधनाके उपयुक्त नियमोंका अवलम्बनकर अपने स्वभावके वशीभूत होकर देवताओंको भजते हैं।" अधोक्षज भगवान्‌को छोड़कर हम दूसरे देवताओंका आश्रय क्यों ग्रहण करें? मानवका ज्ञान तब विलुप्त हो जाता है, ध्वंस

हो जाता है, जब वह अप्राकृत कामदेव—भगवान् विष्णुकी उपासना छोड़कर दूसरोंकी उपासना करता है। समस्त प्रकारकी कामनाओंसे मुक्त नहीं होनेसे (अप्राकृत नवीन मदन) कामदेवकी उपासना संभव नहीं है।"

जगद्गुरु श्रील सच्चिदानन्द भक्तिविनोद ठाकुरने गीताकी 'रसिक-रञ्जन' नामक अवतरणिकामें कहा है—"सत्यप्रतिज्ञ परम कारुणिक भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने अपने सखा अर्जुनको लक्ष्यकर जगत्के उद्धारके लिए एकमात्र उपायस्वरूप सर्व-वेद-सारार्थमीमांसारूप श्रीमद्भगवद्गीता शास्त्रको प्रकाशित किया है।

"अतएव गीता शास्त्र सारे उपनिषदोंके शिरोभूषणस्वरूप है। उपनिषत्समूह, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता पूर्णरूपसे शुद्धभक्ति-शास्त्र हैं। ब्रह्मस्वभावसम्पन्न व्यक्ति गीता-शास्त्रका श्रवणकर उद्धवकी भाँति प्रव्रज्या (संन्यास) ग्रहण करेंगे। गीताका गूढ़ तात्पर्य यह है कि जिस व्यक्तिका जैसा स्वभाव है, उसीके अनुरूप उसका अधिकार होता है। अधिकारको छोड़कर बद्धजीवके लिए तत्त्ववस्तु प्राप्त करनेकी कोई सम्भावना नहीं है। कर्म, ज्ञान और भक्तिका पृथक्-पृथक् स्वभाव है। अतः इनके स्वरूप भी पृथक-पृथक् हैं। अतएव तत्त्वविचारके द्वारा कर्मकाण्ड, ज्ञानकाण्ड और भक्तिको पृथक् किया गया है। सारे अवान्तर फलोंको पारकर जब भगवत्-सेवा-सुख परिलक्षित होता है, तब कर्म भक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है। अतएव भक्ति ही जीवके कर्म और कर्मफलका चरम उद्देश्य है। भक्ति अत्यन्त गूढ़ तत्त्व है। वह कर्म और ज्ञान दोनोंकी जीवन-स्वरूपा और अर्थसाधिका है। इसलिए भक्तिविषयक विचारको गीताके मध्यस्थित छः अध्यायोंमें सन्निविष्ट किया गया है। इस प्रकार विशुद्ध भक्ति ही गीताका चरम उद्देश्य है। गीताके अन्तमें *'सर्वधर्मान् परित्यज्य'* श्लोकके द्वारा यह प्रतिपादित किया गया है कि भगवान्के प्रति शरणागति ही सर्वगुह्यतम उपदेश है।"

श्रीमद्भगवद्गीताके शुभारम्भसे परिसमाप्ति तक सम्पूर्ण ग्रन्थके तत्त्वसिद्धान्त और यथार्थ शिक्षाको जाननेके लिए हमें सबसे पहले श्रीरूपानुग गौड़ीय वैष्णवाचार्य गुरुवर्गके शरणागत होना होगा। अतएव लोकोत्तर नित्यसिद्ध महापुरुषोंकी भ्रम प्रमाद आदि दोषरहित शुद्ध वाणी और शिक्षा ही हमारे लिए एकमात्र ग्रहण करने योग्य है। पूत सलिला भगवती गंगाके तटस्थित नीम, आम, ईमली और बेल आदिके वृक्ष एक ही जलको

ग्रहणकर विभिन्न प्रकारके खट्टे, मीठे और कड़वे फलोंको प्रदान करते हैं। वैसे ही दैवी मायासे मुग्ध जीव अपने अपने स्वभावके अनुसार एक ही शास्त्रका अध्ययनकर भी भिन्न-भिन्न मतोंका प्रचार करते हैं। यदि यह कहा जाय कि कर्म, ज्ञान, योग आदि श्रेष्ठ साधन नहीं हैं, तो भगवान्ने अपने प्रियसखा अर्जुनको उन सबका अभ्यास करनेके लिए क्यों उपदेश प्रदान किया, तो उत्तर यह है कि श्रीकृष्णने उसी जगह यह भी कहा है कि भगवद्भक्तिके बिना कर्म, ज्ञान और योगकी चेष्टाएँ निष्फल और निरर्थक हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने व्रजगोपियोंके आनुगत्यमें सर्वश्रेष्ठ भजनका उपदेश दिया है। ***'ऐश्वर्य शिथिल प्रेमे नाहि मोर प्रीत'***—यही उनका अन्तर्निहित उद्देश्य है। सर्वावतारी भगवान् श्रीकृष्णने गीताशास्त्रमें ***'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'*** श्लोकमें अपना मायाधीशत्व, देवदेवशत्व और सर्वाराध्य परम भजनीयत्वका प्रकाश और प्रचार किया है। वे ज्ञानियोंके आराध्य निर्विशेष-ब्रह्मकी प्रतिष्ठा या आश्रय हैं। वे अद्वयज्ञान-तत्त्व और अद्वितीय वास्तव-वस्तु हैं। वे सर्वाराध्य स्वरूपमें अखिल रसामृतमूर्त्ति परतत्त्व हैं।

श्रीगीताशास्त्रके प्रथम छः अध्यायोंमें कर्मयोग, शेष छः अध्यायोंमें ज्ञानयोग एवं मध्यवर्त्ती छः अध्यायोंमें भक्तियोगके सन्निविष्ट होनेसे, भक्ति-महादेवीको कर्म और ज्ञानकी परमाश्रया समझना होगा। सप्ततीर्थोंमें अन्यतम मायातीर्थ हरिद्वारमें श्रीमद्भागवतकी सभामें भक्ति-महादेवी ही ज्ञान-वैराग्य आदिकी जीवनदात्रीके रूपमें प्रतिष्ठित हुई हैं। भक्तिदेवीकी कृपा या सहायताके बिना कर्म, ज्ञान, योग आदि अभिलषित फल देनेमें समर्थ नहीं होते हैं। इस विषयमें ***'भक्त्या मामभिजानाति', 'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया', 'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः', 'भक्त्या तुष्यति केवलम्', 'भक्तिरेवैनं नयति', 'न साधयति मां यागो'*** आदि विशेष प्रमाण हैं। प्रामाणिक शास्त्रोंमें विशुद्धा, अनन्या या केवला भक्तिको ही जीवोंके लिए चरम उपदेश बतलाया गया है।

गीताके ***'सततं कीर्त्तयन्तो माम्'*** श्लोकके द्वारा जाना जाता है कि श्रीकृष्णके नाम, रूप, गुण, लीलादिका कीर्त्तन अर्थात् नौ प्रकारकी भक्तिका आचरण करना ही श्रीभगवान्की उपासना है। चैतन्य चरितामृतमें कहा गया है—***'अप्राकृत वस्तु नहे प्राकृत गोचर'***—अप्राकृत वस्तु प्राकृत ज्ञान और बुद्धिसे अतीत है। वहाँ दाम्भिकता, पाण्डित्य आदि सब कुछ पराभूत हो जाते हैं। एकमात्र शरणापत्ति या आत्मसमर्पण ही भगवत्-कृपा-प्राप्तिका

एकमात्र उपाय है। जड़ीय पाण्डित्य और अभिमानमें मत्त बहुतसे लोग शास्त्रके तात्पर्यको समझने और समझानेका दम्भ भरते हैं, परन्तु वे आत्मवञ्चना और परवञ्चना ही करते हैं। इसलिए श्रीकृष्णने ***'तेषां सततयुक्तानां'*** श्लोकका उपदेश दिया है।

भगवत्-प्रदत्त बुद्धियोगके द्वारा भगवत्-तत्त्व परिज्ञात होता है। जो लोग श्रद्धापूर्वक श्रीहरि, गुरु और वैष्णवोंका चरणाश्रय करते हुए शास्त्रका यथार्थ तात्पर्य जाननेका प्रयास करते हैं, वे अनायास ही भवसागरसे उत्तीर्ण होकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें परा भक्ति प्राप्तकर उनके प्रेमके अधिकारी होते हैं। अतएव गीताके **'सर्वगुह्यतम'** पदके द्वारा परम प्रतिपाद्य विषय निर्द्धारित किया गया है। इसीको साधन-भजनकी चरम अवस्था—पञ्चम पुरुषार्थ भी कहा गया है। श्रीभगवान्ने तुलनामूलक आलोचनाके द्वारा भक्तियोगकी सर्वश्रेष्ठताका प्रतिपादन किया है। कलियुगपावनावतारी श्रीचैतन्य महाप्रभु और उनके प्रिय परिकरोंने परमाराध्य परतत्त्वके अनुसन्धान और साधन-भजनकी पराकाष्ठाको प्रदर्शित करते हुए हमलोगोंके लिए परम कल्याणका कार्य किया है। यही जीवोंके प्रति उनकी अहैतुकी हार्दिक करुणा है। इसलिए यही सम्पूर्ण विश्वके मननशील मनीषियों और विद्वानोंके द्वारा समर्थित विचार है।

श्रीश्रीगुरुपादपद्मकी आविर्भाव-तिथि
५१० गौराब्द
३ फाल्गुन, २०५३ संवत्
२५/२/१९९७ ई.

श्रीगुरु-वैष्णव-दासानुदास
त्रिदण्डिभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त वामन

प्रस्तावना

श्रीमद्भगवदवतार जगद्गुरु श्रीश्रीमत्कृष्ण द्वैपायन वेदव्यास श्रीमद्भगवद्गीता ग्रन्थके प्रणेता हैं। उनके द्वारा रचित विशाल श्रीमहाभारतके अन्तर्गत भीष्मपर्वके २५वें अध्यायसे आरम्भकर ४२वें अध्याय तक १८ अध्यायोंमें गीता ग्रन्थ सम्पूर्ण हुआ है। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने अपने नित्यपार्षद एवं प्रियसखा अर्जुनको लक्ष्यकर समग्र मानव जातिके कल्याणके लिए, उन्हें भवसागरसे पार कराने तथा अपने चरणकमलोंकी प्राप्ति करानेके लिए महामूल्यवान सारगर्भित उपदेशोंको प्रदान किया है। हम जैसे मायामोहग्रस्त बद्धजीवोंको मायामोहसे उत्तीर्ण करानेके लिए उन्होंने अपने नित्य परिकर अर्जुनके द्वारा मायामुग्ध होनेका अभिनय कराया तथा उनके द्वारा मोहग्रस्त जीवोंके अधिकारके अनुसार प्रश्न करवाकर स्वयं उन प्रश्नोंका उत्तर देते हुए सर्वप्रकारकी शंकाओंको दूरकर क्रमानुसार जीवोंके मायामोहको दूर करनेका उपाय निर्द्धारित किया।

श्रीमद्भगवद्गीताको गीतोपनिषद् भी कहा जाता है। यह समग्र वैदिक ज्ञानका सार है तथा वैदिक साहित्यकी सर्वाधिक महत्वपूर्ण उपनिषद् है। जो लोग साधु-गुरु-वैष्णवोंका चरणाश्रयकर श्रद्धापूर्वक इस ग्रन्थका अनुशीलन करेंगे, वे अनायास ही इसका यथार्थ तात्पर्य अनुधावन कर सकेंगे तथा वे सहज-सरल रूपमें भवसागरको पारकर श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें पराभक्ति लाभकर कृष्णप्रेमके अधिकारी बन सकेंगे—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

आजकल भारतके बड़े-बड़े मनीषियों एवं प्रवीण व्यक्तियोंको इस ग्रन्थका आदर करते हुए देखा जाता है। यहाँ तक कि सर्वसम्प्रदायके लोग इस ग्रन्थराजके प्रति आदर एवं श्रद्धा प्रदर्शन करते हैं। बहुत-से प्रसिद्ध राजनैतिक व्यक्तियोंने भी इस ग्रन्थके प्रति श्रद्धा प्रदर्शित की है। यहाँ तक कि विश्वके सभी देशोंके मनीषियोंने इस ग्रन्थकी भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

श्रीमद्भगवद्गीताके ऊपर प्राचीनकालसे लेकर अब तक अनेक भाष्य लिखे गए हैं, जिनमें श्रीशंकारचार्य, श्रीमदानन्दगिरि और श्रीमधुसूदन सरस्वती प्रमुख केवलाद्वैतवादियोंकी टीकाएँ प्रसिद्ध हैं। अधिकांश लोग इन्हीं

टीकाओंका पठन-पाठन करते हैं। कुछ-कुछ लोग विशिष्टाद्वैतवादी श्रीरामानुजाचार्य, शुद्धाद्वैतवादी श्रीधरस्वामी एवं शुद्धद्वैताचार्य श्रीमन्मध्वाचार्य द्वारा रचित टीकाओंकी आलोचना करके ही गीतापाठ समाप्त कर लिया करते हैं। आधुनिक कालमें कोई-कोई लोकमान्य तिलकजी, गान्धीजी और श्रीअरविन्द आदि राजनैतिक पुरुषों द्वारा लिखित गीताकी व्याख्याका पाठ करके गीताका अध्ययन समाप्त करते हैं। किन्तु, अचिन्त्यभेदाभेद सिद्धान्तविद् श्रीगौड़ीयवेदान्ताचार्य श्रीबलदेव विद्याभूषण एवं श्रीगौड़ीय वैष्णवाचार्य मुकुटमणि श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर द्वारा रचित टीकाओंका अनुशीलन करनेका सौभाग्य अधिकांश लोगोंके जीवनमें प्राप्त नहीं होता। श्रीगौड़ीय वैष्णव सम्प्रदायके सप्तम गोस्वामी रूपानुगवर श्रील भक्तिविनोद ठाकुरने श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर एवं श्रीबलदेव विद्याभूषणकी टीकाओंके तात्पर्यका अवलम्बनकर बंगला भाषामें श्रीरूपानुग विचारके अनुरूप तात्त्विक एवं शुद्धभक्तिके अनुकूल सुसिद्धान्तपूर्ण भाषाभाष्यके साथ गीताके दो संस्करणोंको प्रकाशित किया है। इन दोनों महनीय संस्करणों द्वारा मानव जातिका कितना पारमार्थिक कल्याण साधित हुआ है, वह अवर्णनीय है। उन्होंने अपने भाष्यके द्वारा भक्तिका सनातनत्व, सार्वभौमत्व और सर्वश्रेष्ठत्व प्रतिपादितकर शुद्धाभक्तिराज्यके पथिकोंके लिए परम उपकार किया है।

आजकल नानाप्रकारके अप्रामाणिक व्यक्ति गीताका मनगढ़न्त भाष्य प्रकाशित कर रहे हैं, जिसमें सिद्धान्तहीन, स्वकपोलकल्पित चित्-जड़-समन्वयवादरूप काल्पनिक मतवादको धृष्टतापूर्वक प्रस्तुत किया गया है। इन भाष्योंमें सनातन शुद्धाभक्तिको तुच्छ दिखलानेकी चेष्टा की गई है। ऐसे अधिकांश भाष्योंमें या तो कर्म अथवा मायावादरूप निर्विशेष ज्ञानको ही गीताका एकमात्र तात्पर्य बतलाया गया है। जिसे पढ़-सुनकर साधारण कोमल श्रद्धालुजन पथभ्रष्ट हो रहे हैं।

निगम शास्त्र अत्यन्त विपुल एवं विशाल हैं। उसके किसी अंशमें धर्म, किसी अंशमें कर्म, किसी अंशमें सांख्य ज्ञान और किसी अंशमें भगवद्भक्तिका उपदेश पाया जाता है। इन व्यवस्थाओंमें परस्पर क्या सम्बन्ध है और किस दशामें एक व्यवस्थाको छोड़कर दूसरी व्यवस्थाको ग्रहण करना कर्त्तव्य है—वैसे क्रमाधिकारका वर्णन भी उन्हीं शास्त्रोंमें दृष्टिगोचर होता है। किन्तु, कलिकालमें उत्पन्न अल्प-आयुविशिष्ट तथा संकीर्ण मेधायुक्त जीवोंके लिए उक्त विपुल शास्त्रोंका पूर्णरूपसे अध्ययन और विचारपूर्वक अपने अधिकारका निर्णय करना बड़ा ही कठिन है। इसलिए

इन व्यवस्थाओंकी एक संक्षिप्त एवं सरल वैज्ञानिक मीमांसा अत्यन्त आवश्यक है। द्वापरके अन्तमें अधिकांश लोग वेद-शास्त्रोंका यथार्थ तात्पर्य समझानेमें असमर्थ हो गए, अतः किसीने कर्म, किसीने भोग, किसीने सांख्य-ज्ञान, किसीने तर्क और किसीने अभेद ब्रह्मवादको शास्त्रोंका एकमात्र तात्पर्य बताकर अपनी अपनी डफली बजाना और अपना अपना राग आलापना आरम्भ कर दिया। इस प्रकार भारतमें ऐसे असम्पूर्ण ज्ञानसे उत्पन्न मतसमूह वैसी ही पीड़ा उत्पन्न करने लगे, जिस प्रकार अचर्वित खाद्य पदार्थ पेटमें पहुँचकर नाना प्रकारके क्लेश उत्पन्न करने लगते हैं।

वैसे समयमें परम कारुणिक भगवान श्रीकृष्णचन्द्रने अपने प्रिय पार्षद एवं सखा अर्जुनको लक्ष्यकर जगत्‌के जीवोंके कल्याणके लिए सारे वेदोंके सारार्थमीमांसास्वरूप श्रीमद्भगवद्गीताका उपदेश दिया। इसलिए गीताशास्त्र समस्त उपनिषदोंके शिरोभूषणके रूपमें विद्यमान है। इसमें भिन्न-भिन्न व्यवस्थाओंमें परस्पर सम्बन्ध बतलाकर पवित्र हरिभक्तिको ही जीवोंके लिए चरम लक्ष्य प्रतिपादित किया गया है। वस्तुतः कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग अलग-अलग व्यवस्थाएँ नहीं हैं; एक ही योगकी पहली, दूसरी, तीसरी व्यवस्थामात्र हैं। उस सम्पूर्ण योगकी पहली अवस्थाका नाम कर्मयोग, दूसरी अवस्थाका नाम ज्ञानयोग एवं तीसरी अवस्थाका नाम भक्तियोग है। उपनिषत्‌समूह, ब्रह्मसूत्र और श्रीमद्भगवद्गीता—ये सर्वप्रकारसे शुद्ध भक्तिशास्त्र हैं, इन शास्त्रोंमें आवश्यकतानुसार कर्म, ज्ञान, मुक्ति और ब्रह्मप्राप्तिका विशदरूपमें वर्णन परिलक्षित होता है; किन्तु तुलनामूलक रूपमें विचारकर चरम अवस्थामें शुद्धा भक्तिका ही प्रतिपादन किया गया है।

श्रीगीताशास्त्रके पाठकोंको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है, स्थूलदर्शी और सूक्ष्मदर्शी। स्थूलदर्शी पाठक केवल वाक्योंके बाह्य अर्थको ही ग्रहणकर सिद्धान्त किया करते हैं। परन्तु सूक्ष्मदर्शी पाठकगण शास्त्रके बाह्यार्थसे सन्तुष्ट न होकर गम्भीर तात्त्विक अर्थका अनुसन्धान करते हैं। स्थूलदर्शी पाठकगण आदिसे अन्त तक गीताका पाठकर यह सिद्धान्त ग्रहण करते हैं कि कर्म ही गीताका प्रतिपाद्य विषय है, क्योंकि अर्जुनने सम्पूर्ण गीता सुनकर अन्तमें युद्ध करना ही श्रेयस्कर समझा। सूक्ष्मदर्शी पाठकगण वैसे स्थूल सिद्धान्तसे सन्तुष्ट नहीं होते। वे या तो ब्रह्मज्ञानको अथवा पराभक्तिको ही गीताका तात्पर्य स्थिर करते हैं। उनका कहना यह है कि अर्जुनका युद्ध अंगीकार करना केवल अधिकार-निष्ठाका उदाहरण मात्र है, वह गीताका चरम तात्पर्य नहीं है। मनुष्य अपने स्वभावके अनुसार

कर्माधिकार प्राप्त करता है और कर्माधिकारका आश्रयकर जीवनयात्राका निर्वाह करते-करते तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है। कर्मका आश्रय किए बिना जीवनका निर्वाह होना कठिन है। जीवनयात्राका निर्वाह नहीं होनेसे तत्त्वदर्शन भी सुलभ नहीं होता है। इसलिए प्रारम्भिक अवस्थामें वर्णाश्रमोचित सत्कर्मका आश्रय ग्रहण करना आवश्यक है। किन्तु, यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि सत्कर्मके अन्तर्गत भी भगवदर्पित निष्काम कर्म ही गीताको मान्य है। उसके द्वारा क्रमशः चित्तशुद्धि और तत्त्वज्ञान होता है तथा अन्तमें भगवद्भक्ति द्वारा ही भगवत्प्राप्ति होती है।

श्रीमद्भगवद्गीताके तात्पर्य अर्थात् उसके चरम प्रतिपाद्य विषयको समझनेके लिए इसके वक्ताके द्वारा दिए गए निर्देशोंको ग्रहण करना चाहिए। गीताके वक्ता स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। गीताके प्रत्येक पृष्ठमें उनका उल्लेख भगवान्के रूपमें हुआ है। श्रीकृष्णने स्वयं अहैतुकी कृपावश बहुत-से स्थलोंमें अपनेको परात्पर तत्त्व भगवान् बतलाया है—

'अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।'

(गीता १०/८)

'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।'

(गीता ७/७)

'अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।'

(गीता ९/२४)

इसके अतिरिक्त दूसरे शास्त्रोंमें भी श्रीकृष्णको स्वयं-भगवान् बतलाया गया है—

'एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं।'

(श्रीमद्भा. १/३/२८)

'ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्दविग्रहः।'

(ब्र. सं. ५/१)

'अहो भाग्यमहो भाग्यम् नन्दगोपव्रजौकसाम्।
यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्मसनातनम्।।'

(श्रीमद्भा. १०/१४/३२)

प्रसंगवशतः यहाँ यह भी जान लेना आवश्यक है कि अन्यान्य

भगवदवतारोंने अपनी भगवत्ताका स्पष्ट परिचय स्वयं नहीं दिया है, किन्तु भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें स्वयं ही सुस्पष्टरूपसे अपनी भगवत्ताका परिचय देकर अपनी शरणागति, और भक्तिको ही जीवोंके लिए सर्वोत्तम साधन निर्दिष्ट किया है—

(१) ***'मामेव ये प्रपद्यन्ते'*** (गीता ७/१४)

(२) ***'तेऽपि मामेव कौन्तेय'*** (गीता ९/२३)

(३) ***'मामेकं शरणं व्रज'*** (गीता १८/६६)

यहाँ *'मामेव'*, *'मामेव'* और *'मामेकं'*—इन तीनों पदों द्वारा त्रिसत्यके रूपमें श्रीकृष्णने अपनी भगवत्ताका प्रतिपादनकर, कृष्ण-भक्तिको ही सर्वश्रेष्ठ साधन और साध्य निर्धारित किया है।

केवल श्रीकृष्णने ही नहीं, बल्कि देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यास प्रमुख महामुनिगण एवं सिद्धजन भी इस सत्यकी पुष्टि करते हैं। अर्जुन भी प्रारम्भसे ही इस परम तत्त्वको स्वीकार करते हैं।

अतएव गीताशास्त्रके पाठक या श्रोताको बिना किसी संशयके इस परम सत्यको स्वीकार करना होगा कि गीताके वक्ता श्रीकृष्ण स्वयं भगवान् हैं। उनके सारे उपदेश यथायथ रूपमें सत्य हैं। श्रीकृष्णने अर्जुनसे—***'भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्'*** (गीता ४/३) में कहा है कि गीता शाश्वत ग्रन्थ है, मैंने इसका उपदेश करोड़ों वर्ष पूर्व सर्वप्रथम विवस्वान् (सूर्यदेव) को दिया था। सूर्यने मनुको तथा मनुने ईक्ष्वाकुको इसका उपदेश दिया था। इस प्रकार गुरु-परम्पराके माध्यमसे यह योग-पद्धति जगत्में प्रचलित रही। किन्तु, कालक्रमसे वह परम्परा लुप्त हो गई है। तुम मेरे ऐकान्तिक भक्त, प्रियसखा और प्रत्यक्ष शिष्य हो, इसलिए यह परम रहस्य तुम्हें प्रदान कर रहा हूँ। बिना भक्त हुए गीताके गम्भीर तत्त्वको समझना असम्भव है। श्रीमद्गीताके आदि, मध्य और अन्तमें सर्वत्र ही ऐसा कहा गया है कि भक्तिके बिना गीताका तात्पर्य हृदयंगम नहीं हो सकता। ***'भक्त्या त्वनन्यया शक्यो अहमेवंविधोऽर्जुन'*** (गीता ११/५४) अर्थात् केवल अनन्या भक्तिके द्वारा ही मेरे इस स्वरूपका दर्शन संभव है। ***'इदं ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन'*** (गीता १८/६७) अर्थात् गीता-तत्त्वका उपदेश एकमात्र भक्तोंको ही देना चाहिए, अभक्तोंको नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि गीता-ग्रन्थ भगवद्भक्तोंके लिए ही कहा गया है।

गीतामें तीन प्रकारके साधकोंकी बात बतलाई गई है—ज्ञानी, योगी एवं भक्त। गीतामें निर्विशेष, निराकार, निःशक्तिक एवं अव्यक्तवादी या

मायावादियोंके लिए ज्ञानी एवं योगी शब्दका प्रयोग नहीं हुआ है, बल्कि भक्तियुक्त ज्ञानी एवं योगियोंके लिए ही इसका प्रयोग हुआ है। श्रीकृष्णने स्पष्टरूपसे कहा है कि मेरे प्रति शरणागत, अनन्या भक्तिको रखनेवाला ही यथार्थ ज्ञानी है। ऐसे महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं—***'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते'*** (गीता ७/१९)। योगीके लिए भी ऐसा ही स्पष्ट निर्देश है—***'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना'*** (गीता ६/४७)। अतः भक्तिहीन व्यक्ति कभी भी गीता श्रवणका अधिकारी नहीं हो सकता है। जब अधिकारी ही नहीं है, तब वह गीताका तात्पर्य कैसे हृदयंगम कर सकता है? अतएव श्रीकृष्णको स्वयं भगवान् जानकर उनके चरणोंमें शरणागत होकर यथार्थ गुरु-परम्परामें स्थित किसी तत्त्वदर्शी, परम भक्तके मुखसे ही गीता तत्त्वका श्रवण करना आवश्यक है। ऐसा नहीं करनेसे गीताका तात्पर्य हृदयंगम नहीं किया जा सकता।

गीताके अनुसार अखिल ऐश्वर्य-माधुर्यपूर्ण श्रीकृष्ण-स्वरूप ही जीवोंका चरम एवं परम उपास्य तत्त्व है। उसी प्रकार श्रीकृष्णाकर्षिणी भक्ति ही सर्वोत्तम साधन और साध्य है। किन्तु अनभिज्ञ लोग इस स्थूल शरीरको 'मैं' और उससे सम्बन्धित वस्तुओंको 'मेरा' मानकर आत्मधर्मसे वञ्चित रहनेके कारण भक्ति-तत्त्वको ठीकसे समझनेमें अक्षम ही रहते हैं। वे स्थूलबुद्धिसे युक्त रहनेके कारण लौकिक कर्मोंको ही यथार्थ समझकर उन्हींमें आसक्त रहते हैं। साथ ही वे वैदिक और मनसे सम्बन्धित लौकिक कर्मोंमें अथवा केवलाद्वैत या मायावादके चँगुलमें फँसे रहते हैं। श्रीकृष्णने अर्जुनके द्वारा उन उन लौकिक धर्मोंके विषयोंको उत्थापित कराते हुए, उनकी हेयता सिद्ध करते हुए अन्ततः भक्ति-तत्त्वका ही सर्वोत्कर्ष प्रतिष्ठित किया है।

अठारह अध्यायोंसे पूर्ण गीताके प्रथम छः अध्यायोंमें कर्मयोग, अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानयोग और मध्यके छः अध्यायोंमें भक्तियोगका स्वरूप-वैशिष्ट्य प्रतिपादित किया गया है। इसका कारण यह है कि भक्ति मध्यमें अवस्थित रहकर कर्म और ज्ञान दोनोंको अपना आश्रय देती है, क्योंकि बिना भक्तिदेवीकी सहायताके कर्म और ज्ञान अपना कोई फल प्रदान नहीं कर सकते। भक्तिकी सहायतासे ही दोनों फल प्रदान करनेमें समर्थ होते हैं।

कर्म—भगवान् श्रीकृष्णने स्वयं ही अर्जुनको कर्मके सम्बन्धमें उपदेश दिया है कि भगवान्की प्रीति हेतु कर्म करना उचित है। अन्यथा वह

कर्म ही मनुष्यके लिए बन्धनका कारण बन जाता है; यथा—***'यज्ञार्थात् कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः'*** (गीता ३/९) यहाँ 'यज्ञार्थात्' का आशय है विष्णुके लिए अर्पित। अतः विष्णुकी प्रीतिके लिए ही कर्म किए जायँ, क्योंकि श्रीकृष्णने कहा है—***'भोक्तारं यज्ञतपसां'*** गीता (५/२९)। और भी कहते हैं—***'मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्य'*** गीता (३/३०) अर्थात् समस्त कर्मोंको मुझमें समर्पितकर ही करना चाहिए। पुनः ***'यत्करोषि'*** श्लोकके द्वारा कहते हैं—जो कुछ भी करते हो, मेरी प्रसन्नताके लिए ही करो, मुझे ही अर्पित करो। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीकृष्णने कर्माधिकारी जीवोंके लिए निष्काम भगवदर्पित कर्म करनेका ही उपदेश दिया है, मात्र कर्म करनेके लिए नहीं।

साधारणतः भक्तिसहित कर्म ही 'कर्म' शब्दसे अभिहित है। जिस कर्ममें भक्तिका प्राधान्य रहता है, कर्म भक्ति अधीन होता है, उसे **कर्ममिश्रा भक्ति या प्रधानीभूता भक्ति** कहते हैं। जिन कर्मोंका उद्देश्य भगवान्‌की प्रीति होता है—वे ही यथार्थतः कर्म हैं—'***तत्कर्म हरि तोषणं यत्***' (श्रीमद्भा. ४/२९/४९) इसलिए गीता (११/५५) में भी ऐसा कहा गया है—***'मत्कर्म कृन्...... यः स मामेति पाण्डव'*** अर्थात् जो मेरी प्रीतिके उद्देश्यके लिए कर्म करते हैं—वे ही मुझे प्राप्त करते हैं।

ज्ञान—श्रीकृष्णने भगवान्‌के प्रति शरणागत आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानियोंमें ज्ञानीको ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया है। वे ज्ञानी कैसे होते हैं—***'तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते'*** (गीता ७/१७) अर्थात् वे ज्ञानी ऐकान्तिकी भक्तिवाले और नित्ययुक्त होते हैं; भक्तिरहित निर्विशेष ब्रह्मवादी ज्ञानीसे यहाँ कोई तात्पर्य नहीं है। इसलिए आगे गीता (७/१९) में अपनी बात और स्पष्ट करते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं—***'बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान्मां प्रपद्यते'*** अर्थात् जो सर्वत्र ही वासुदेवका दर्शन करते हैं, मेरे शरणागत होते हैं और भक्तिमें स्थिरचित्त वाले होते हैं—ऐसे परम ज्ञानी-भक्त सुदुर्लभ हैं। भक्तिप्राधान्यहीन ज्ञान ही 'ज्ञान' शब्द वाच्य है। जो ज्ञान प्रेमाभक्तिके प्रति अभिमुख होता है, उसे ज्ञानमिश्रा भक्ति कहते हैं। और कुछ दूर अग्रसर होनेपर, प्रेमकी प्रचुरता होनेपर जब ज्ञान निरस्त हो जाता है, तब विशुद्ध केवलाभक्ति या प्रेमाभक्ति प्रकाशित होती है।

योग—भगवान्‌ने छठे अध्यायके अन्तमें योगीकी विशेषरूपसे प्रशंसा की है, उन्हें कर्मी, तपस्वी और ज्ञानीसे भी श्रेष्ठ बतलाया है। अर्जुनको

योगी बननेके लिए उपदेश दिया—*'तपस्विभ्योऽधिको योगी'* गीता (६/४६), किन्तु अगले श्लोकमें ही भगवान् कहते हैं, कैसा योगी—*'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना'* (गीता ६/४७) अर्थात् समस्त प्रकारके यागियोंमें वे योगी ही सर्वश्रेष्ठ हैं, जो अन्तरात्मासे—हृदयसे श्रद्धापूर्वक सदा-सर्वदा मेरा भजन करते हैं। यहाँ 'मेरा' का तात्पर्य स्वयं श्रीकृष्णसे है। इसलिए जो योगी सब प्रकारसे श्रीकृष्णका ही भजन करते हैं, वे ही गीतामें कथित 'योगी' शब्दवाच्य हैं। यहाँ योगका तात्पर्य पातञ्जल-योगादिसे नहीं है, न ही भक्तिरहित कर्मी, योगी, तपस्वी अथवा निरीश्वर योगियोंसे है।

भक्ति—विश्वरूपका दर्शन करानेके पश्चात् श्रीकृष्णने भक्त अर्जुनको लक्ष्यकर कहा—*'भक्त्या त्वनन्यया शक्यो अहमेवंविधोऽर्जुन'* (गीता ११/५४)। अर्थात् अनन्या भक्तिके द्वारा ही मेरे इस स्वरूपका दर्शन संभव है, तुम अनन्य प्रेमीभक्त हो इसीलिए तुमने मेरे इस स्वरूपका दर्शन किया। और भी—'*भक्त्या मामभिजानाति'* (१८/५५) अर्थात् केवल अनन्या भक्तिके द्वारा ही कोई मेरा दर्शन कर सकता है, मुझे तत्त्वतः जान सकता है और मेरे धाममें प्रवेशकर मेरी प्रेममयी सेवाको प्राप्त कर सकता है।

गीताके उपसंहारमें श्रीकृष्णने गुह्य ब्रह्मज्ञान, गुह्यतर परमात्म या ईश्वरज्ञान और सबके अन्तमें सर्वगुह्यतम भगवत्-ज्ञानका उपदेश देते हुए कहा है—*'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'* इसी श्लोकमें श्रीकृष्णने अर्जुनको सर्व लौकिक धर्मोंको त्यागकर अपने प्रति शरणागत होनेके लिए उपदेश दिया है। इसके द्वारा यह प्रतिपादित होता है कि भक्ति ही भगवत्-प्राप्तिका एकमात्र उपाय है। भक्तिके द्वारा ही भगवान्के पूर्णस्वरूपकी उपलब्धि संभव है। यह भक्ति दो प्रकारकी है—(१) केवला और (२) प्रधानीभूता। (१) केवला—कर्म, ज्ञान आदिके गन्धसे रहित सम्पूर्ण स्वतंत्र होती है। (२) प्रधानीभूता तीन प्रकारकी होती है—(क) कर्मप्रधानीभूता, (ख) ज्ञानप्रधानीभूता और (ग) कर्मज्ञानप्रधानीभूता। जिस कर्म या ज्ञानमें भक्तिकी प्रधानता रहती है, कर्म एवं ज्ञान उसके अधीन रहते हैं, उसे प्रधानीभूता भक्ति कहा गया है। जिस कर्म या ज्ञानमें भक्तिवृत्तिकी प्रधानता नहीं होती, उसी कर्मका नाम कर्म एवं उसी ज्ञानका नाम ज्ञान होता है।

गीता शास्त्रमें जहाँ-तहाँ प्रधानीभूताका उपदेश रहने पर भी उसके बीच केवला भक्तिके प्रति इंगित अवश्य ही लक्षित होता है। किन्तु प्रधानीभूता

भक्तिके द्वारा भगवान्‌को जानना या प्राप्त करना सुदुर्लभ है। 'एकमात्र अनन्या या केवला भक्तिके द्वारा ही मैं सुलभ हूँ'—इसे स्पष्टरूपमें व्यक्त करनेके लिए श्रीकृष्णने आगे और सुस्पष्टरूपमें उल्लेख किया है—***'अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः। तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।'*** (गीता ८/१४) अर्थात् अनन्या भक्तिसे युक्त जो लोग मुझे सदा-सर्वदा स्मरण करते हैं, मेरा भजन करते हैं, ऐसे नित्य योगियोंके लिए मैं सुलभ हूँ। केवल यही नहीं, अनन्या भक्तिसम्पन्न भक्तोंकी ऐकान्तिकी प्रेममयी सेवा द्वारा भगवान् कैसे वशीभूत होते हैं, इसे भी व्यक्त कर रहे हैं—***'अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।'*** (गीता ९/२२) अर्थात् जो लोग अनन्य भावसे सर्वप्रकारसे मेरी उपासना करते हैं, वैसे सदा-सर्वदा भक्तिमें तत्पर भक्तोंका योग-क्षेम मैं स्वयं ही वहन करता हूँ।

गीतामें स्थान-स्थान पर भगवान् श्रीकृष्णने यह उपदेश दिया है कि केवल अनन्या भक्तिके द्वारा ही कोई मुझे प्राप्त कर सकता है—***'भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया'*** (गीता ८/२२), ***'भजन्त्यनन्यमनसः'*** (गीता ९/१३), ***'भक्त्या त्वनन्यया शक्यो'*** (गीता ११/५४) और सबसे अन्तमें—***'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज। अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।'*** (गीता १८/६६)। इस प्रकार विशुद्धा, अनन्या या केवला भक्ति ही जीवोंके लिए चरम तात्पर्य है।

इस अनन्या भक्तिका अनुष्ठान कैसे करना चाहिए—इस विषयमें भी अर्जुनको उपदेश दिया गया है—***'सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः। नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।'***(गीता ९/१४)। इस श्लोकके द्वारा श्रीकृष्णने संकीर्त्तनको ही अपनी श्रेष्ठ उपासना बतलाई है। यहाँ भगवन्नाम, रूप, गुण, लीला आदिका उच्च स्वरसे कीर्त्तन करना ही संकीर्त्तनका तात्पर्य है। इसके द्वारा नवधा भक्तिको भी लक्ष्य किया गया है।

बहुतसे लोग जड़विद्याके द्वारा गीताको समझने एवं समझानेकी धृष्टता करते हैं। किन्तु, वे यह नहीं जानते हैं कि गीता अप्राकृत वस्तु है, यह जड़ीय ज्ञान, तर्क एवं बुद्धिके अतीत है। यहाँ दाम्भिकता, शूरता, वीरता और पाण्डित्यकी पहुँच नहीं है। एकमात्र शरणागतिके माध्यमसे भगवत्-कृपा द्वारा ही इसको जाना जा सकता है। इसलिए श्रुतियोंने कहा है—***'नायं आत्मा प्रवचनेन लभ्यो'*** (मु. उ. २/३/३) और ***'तेषां सततयुक्तानां***

.......*ददामि बुद्धियोगं* (गीता १०/१०) अर्थात् निरन्तर मेरी भक्ति द्वारा मुझसे युक्त साधकोंको मैं बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिससे वे मुझे सहज ही प्राप्त हो जाते हैं।

किसी भी ग्रन्थके तात्पर्यका निर्णय करते समय उपक्रम, उपसंहार, अभ्यास, अपूर्वता फल, अर्थवाद एवं उपपत्तिका विचार करना आवश्यक है। बिना इसके ग्रन्थके यथार्थ तात्पर्यका निर्णय नहीं होता है।

जो लोग इन छहों अंगोंको ध्यानमें रखकर श्रीगीता-शास्त्रका विचार करेंगे, वे अनायास ही समझ सकेंगे कि शुद्धा भक्ति ही गीताका एकमात्र चरम तात्पर्य है। आजकल साधारण लोग शास्त्रके इन अंगोंपर बिना विचार किए स्वार्थसिद्धिके लिए मनमाने ढंगसे शास्त्रके तात्पर्यका निर्णय करते हैं। इसके द्वारा ग्रन्थकारका मूल तात्पर्य हृदयंगम नहीं होता।

आजकल एक ऐसा प्रचलन देखा जाता है कि ज्ञान, विज्ञान, राजनीति एवं अन्यान्य विषयोंमें तारतम्यमूलक विचार तो किया जाता है; किन्तु धर्मके विषयमें कोई भी लेखक या वक्ता तारतम्यमूलक विचार करनेमें हिचकिचाते हैं। वे ऐसा समझते हैं कि धर्मके विषयमें ऊँचा-नीचाके तारतम्यका विचार करनेसे साम्प्रदायिक तनाव या विवाद उत्पन्न होगा। इस प्रकार समाजमें अशान्ति फैलेगी। केवल यही नहीं, धार्मिक विवादोंसे सामाजिक एवं जागतिक उन्नतिमें बाधा उपस्थित होगी। अतः सब लोगोंमें साम्य और मैत्रीकी स्थापनाके लिए धर्मके विषयमें तारतम्य प्रदर्शनके बदले सबमें समन्वय करनेकी विशेष आवश्यकता है। अतः सर्वधर्म-समन्वयसे ही शान्ति और परस्पर बन्धुत्वकी स्थापना संभव है। राजनैतिक क्षेत्र आदिमें परस्पर नीतियोंके तारतम्यमूलक वैशिष्ट्य प्रदर्शनके कारण ही राजनैतिक झगड़े होते हैं और उससे सर्वप्रकारसे समाज एवं राष्ट्रका अहित होता है। इसलिए धर्मके सम्बन्धमें भी ऊँचे-नीचे तारतम्यमूलक विचारके प्रदर्शनसे साम्प्रदायिक झगड़े होंगे।

इस अवस्थामें हमारा यह वक्तव्य है कि जैसे ज्ञान एवं धर्मके विषयमें तारतम्यमूलक विचारकी आवश्यकता है, उसी प्रकार समन्वयमूलक विचार भी विचार मार्गका प्रधान विषय है। समन्वय किसे कहते हैं? यदि समन्वय करते समय हम भले-बुरे, चेतन-अचेतन, हीरा-कोयला, चोर-साधु, न्याय-अन्याय सबको एक ही तराजू पर तौलें, सभी एक हैं—ऐसा कहें, तो फिर विचार कहाँ रहा? यह तो निरी अज्ञानता है, इसको समन्वय

नहीं कहा जा सकता। 'समन्वय'—'सम्यक्-अन्वय' अर्थात् भलीभाँति, उपयुक्त अन्वयको समन्वय कहते हैं। यदि वाक्यमें समन्वय करना है, तो कर्त्ता, कर्म, क्रियाके पदोंका उपयुक्त स्थानोंमें सन्निवेश करना होगा। ऐसा नहीं करके कर्ताके स्थानमें क्रिया, क्रियाके स्थानमें कर्म और कर्मके स्थानमें दूसरा पद बैठानेसे यथार्थ अन्वय नहीं होता। यदि अन्वय ही नहीं हुआ, तो समन्वय कैसे होगा? उचित समन्वयके द्वारा ही यथार्थ संगति, मिलन और अविरोध साधित होता है। किन्तु, यथार्थ समन्वयके बदले गुण और दोषका, योग्यता और अयोग्यताका विचार न कर सभीको एक ही आसन पर बैठाना समन्वय नहीं है। कोई असन्तुष्ट न हो जाय, इसके लिए जैसे-तैसे सभीको सन्तुष्ट रखना, सबको एक समान बतलाना, यथार्थ समन्वय नहीं है। To please everybody is to please nobody.

आजकल कुछ तथाकथित समन्वयवादी लोग गीतामें उपदिष्ट कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति—सबको एक बतलानेका प्रयास करते हैं। किन्तु, भगवान्ने गीतामें स्पष्टरूपसे कर्मसे ज्ञान, ज्ञानसे योग और योगसे भक्तिकी श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया है। मायामुग्ध जीवोंके लिए सकाम सत्कर्म, उससे ऊपरवालोंके लिए निष्काम भगवदर्पित कर्म, उससे भी उन्नत साधकोंके लिए तत्त्वज्ञान और अन्तमें शुद्ध भगवद्भक्तिको श्रेष्ठ बतलाया है। भक्ति ही गीताका चरम प्रतिपाद्य विषय है। इसे स्वयं श्रीकृष्णने ही प्रतिपादित किया है। गीताका यही समन्वय है। भगवत्-कथित विज्ञानसम्मत तारतम्यमूलक समन्वयवादको छोड़कर ससीम बुद्धिद्वारा अलगसे गीताका समन्वय ढूँढ़ना मूर्खताका परिचय है। भगवान् श्रीकृष्णने परतत्त्व निर्णयके सम्बन्धमें ब्रह्मज्ञानको गुह्य, परमात्मज्ञानको गुह्यतर एवं पराभक्तिको सर्वगुह्यतम बतलाया है। यही गीता शास्त्रका यथार्थ समन्वय है।

कुछ आधुनिक व्याख्याकार देव-देवियोंकी आराधना एवं श्रीभगवान्की आराधनाको एक मानते हैं। किन्तु, गीतामें अन्यान्य देवताओंकी पूजाको ***'येऽप्यन्यदेवता'*** (गीता ९/२३) श्लोकके द्वारा अविधिपूर्वक बतलाया गया है। देवताओंकी पूजा करनेवाले देवलोकको प्राप्तकर भोगोंको भोगनेके पश्चात् पुनः लौट आते हैं; किन्तु भगवत्-आराधक भगवत्-धाममें प्रेममयी सेवाका लाभकर वहाँसे कभी भी पतित नहीं होते। शास्त्रमें यह स्पष्ट उल्लेख है—जो लोग श्रीनारायण और रुद्रादि देवताओंको एक समान समझते

हैं, वे पाषण्डी हैं, नरकको प्राप्त होते हैं—*'यस्तु नारायणं देवं रुद्रादि दैवतम् ...विष्णु सर्वेश्वरेशे वा नारकी सः।'* (पद्मपुराण)

कुछ लोग गीताके *'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'* (गीता ४/११) श्लोककी अत्यन्त गलत व्याख्या करते हैं। इस श्लोकके द्वारा वे यह कहना चाहते हैं कि जो लोग जैसी भी आराधना क्यों न करें, वे सभी अन्तमें एक ही धाममें पहुँचेंगे। पथ अनेक हैं, किन्तु सभीका गन्तव्य स्थल एक है। किन्तु, विशेषरूपसे विचार करनेसे इसका तात्पर्य वैसा नहीं प्रतीत होता है। इसका तात्पर्य यह है कि जिसकी मेरे प्रति जैसी शरणागति है, उसीके तारतम्यानुसार मैं उसको वैसा ही फल प्रदान करता हूँ। जैसा कर्म, वैसा फल। अतएव सभी एक हैं, यह कैसे संभव है? जो अप्रपन्न है और जो प्रपन्न है, दोनोंका फल एक है—गीताके इस श्लोक या किसी श्लोकमें ऐसा नहीं कहा गया है।

द्वितीयतः जो लोग भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करते हैं, उन सबका उद्देश्य एक नहीं होता। कर्मी विषयभोग-फलकी कामनासे, ज्ञानी मुक्तिके लिए, योगी सिद्धिकी प्राप्तिके लिए तथा भगवद्भक्त भगवान्‌की ऐकान्तिकी प्रेममयी सेवा प्राप्तिके उद्देश्यसे भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करते हैं। इन सबकी कामना, साधना एवं उद्देश्य अलग-अलग होते हैं। अतएव ये सभी एक ही फलको पाएँगे, यह असम्भव है। अधिकांश लोग उक्त श्लोकके द्वितीय चरणका पाठकर यह गलत धारणा कर लेते हैं कि सारे मनुष्य सब प्रकारसे भगवत्-प्राप्तिके पथपर ही अग्रसर हो रहे हैं। ऐसा माननेसे यह भी मानना पड़ेगा कि चोर, डकैत, गुण्डे, व्यभिचारी—ये सभी भगवत्-प्राप्तिके पथ पर ही चल रहे हैं? क्या ऐसा मानना उचित है? नहीं, कदापि नहीं। इस श्लोकका यथार्थ तात्पर्य यह है कि कर्म, ज्ञान, योग और भक्ति भगवान्‌के द्वारा बतलाए हुए पथ हैं। लोग योग्यता अनुसार जैसे पथका अनुसरण करेंगे, वैसा ही फल पाएँगे, साधनके भेदसे फलका भेद अवश्य ही स्वीकार करना होगा। बौद्ध, शांकर, जैन, शैव, शाक्त और वैष्णवके विचार एवं साधनमें स्पष्ट ही भेद है। ऐसी दशामें यह कहना कि ये सभी एक ही फल पाएँगे, सबकी एक ही गति होगी—यह युक्तिसंगत विचार नहीं है। ये सभी अलग-अलग कामनाओंकी प्राप्तिके लिए पृथक्-पृथक् साधनोंका अवलम्बन करते हैं। शून्यवादी बौद्ध निर्वाण या शून्यमें मिलना चाहते हैं। अद्वैतवादी ब्रह्मसायुज्य चाहते हैं, शाक्त विषय

भोगकी कामना करते हैं, शैव मोक्षकी कामनासे *सोऽहं* या *शिवोऽहं* होनेकी चेष्टा करते हैं। पुनः बौद्ध वेद नहीं मानते, अद्वैतवादी वेदको ही अपौरुषेय मानते हैं, शाक्त महामायाको आद्याशक्ति मानते हैं, किन्तु शैव उमापति शिवको ही परतत्त्व मानते हैं। इनके विचार भिन्न-भिन्न हैं, साधन भी भिन्न-भिन्न हैं, उद्देश्य भी अलग-अलग और आराध्य भी अलग-अलग हैं। अतएव ये सभी एक ही फल प्राप्त करेंगे, ऐसा कहना मूर्खताके अतिरिक्त और क्या हो सकता है? यह गीतासम्मत विचार नहीं है।

श्रीमद्भगवद्गीताके समस्त अध्यायोंका सारांश

प्रथम अध्याय—श्रीमद्भगवद्गीतामें १८ अध्याय हैं। प्रत्येक अध्यायका तात्पर्य भक्तिमें ही पर्यवसित हुआ है। देहात्मबुद्धिवाले लोगोंके मनोधर्मसे उत्पन्न देहधर्म, कुलधर्म, जातिधर्म आदि जीवोंके सनातन आत्मधर्म नहीं हैं—यह बतानेके लिए ही पहले अध्यायमें अर्जुनने युद्धक्षेत्रमें 'विषाद ग्रस्त होनेका अभिनय' किया था। जब तक जीव मायामें आबद्ध रहकर देहको आत्मा समझता है, तब तक वह शोक, मोह, भय आदि नाना प्रकारके क्लेशोंको भोगने एवं दुःखमय होनेके लिए बाध्य है। इसलिए उसका तत्त्वविद् गुरुकी शरणमें जाना आवश्यक है।

द्वितीय अध्याय—इस अध्यायमें यह निर्द्धारित हुआ है कि यथार्थ सद्गुरुका आश्रय ग्रहण करनेपर जीव अपनी अज्ञानताकी अनुभूति करता है। अपने स्वतंत्र विचारोंको छोड़कर भ्रम, प्रमाद आदि दोषोंसे रहित तत्त्वदर्शी, ऐकान्तिक, प्रेमी भक्त श्रीगुरुदेवके विचारोंको शिरोधार्यकर मायाके मोहजालसे छुटकारा पानेकी चेष्टा करता है। उस समय वह श्रीगुरुदेवकी कृपासे उनके मुखारविन्दसे निःसृत उपदेशोंको श्रवणकर जड़देह और आत्माके पार्थक्यका ज्ञान प्राप्त कर लेता है। साथ ही विषयभोगका दुष्परिणाम जानकर, स्थितप्रज्ञ मुनियोंके विचार, लक्षण और उनकी महिमा आदि सुनकर आकृष्ट होता है। तदनन्तर साधुसंग प्राप्तकर उसके हृदयमें तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी जिज्ञासा अंकुरित होती है।

तृतीय अध्याय—श्रीकृष्णके उपदेशोंको श्रवणकर जीव ऐसी स्थितिमें पहुँच जाता है, जहाँ वह यह समझ सकता है कि श्रीभगवान्‌की सेवाके लिए निष्काम भावसे अपनी अखिल चेष्टाओंको करना ही 'कर्मयोग' है। विषयभोगकी कामना हृदयमें भरपूर रहनेपर भी केवल बाह्यिक वेश धारण करना संन्यास नहीं है, यह पाखण्डता है, उसमें कल्याण कभी भी संभव

नहीं है। भगवत्-सेवनरूप कर्मके अतिरिक्त आत्मेन्द्रिय भोगोन्मुख कर्मोंके द्वारा कल्याण नहीं हो सकता। वैदिक यज्ञ इत्यादि कर्मोंके अनुष्ठानसे लौकिक विषयसुखकी प्राप्ति तो हो सकती है, किन्तु वैसे सुख अनित्य और दुःखमिश्रित होते हैं। इसलिए ऐसे अकर्म, विकर्म या सकाम कर्मोंको छोड़कर भगवदर्पित निष्काम कर्मयोगका अवलम्बन करना ही श्रेयस्कर है। कर्मयोगके द्वारा चित्तशुद्धि होती है।

चतुर्थ अध्याय—इसका आरम्भ ज्ञानयोगके उपदेशसे होता है। इस अध्यायके प्रारंभमें यह बताया गया कि श्रौत-परम्पराके द्वारा तत्त्वदर्शी श्रीगुरुदेवकी कृपासे अभिसिंचित होनेपर ही यथार्थ तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है। लौकिक विद्याबुद्धि या ज्ञानके द्वारा भगवत्-तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेकी कोई सम्भावना नहीं है। इस अध्यायमें यह भी बतलाया गया है कि भगवान् प्रत्येक युगमें अवतरित होते हैं। भगवान्के जन्म एवं कर्म दिव्य और अप्राकृत हैं। उनको प्राकृत समझना मूढ़ताका परिचायक एवं अपराध-जनक है। क्रमशः कर्मयोगसे ज्ञानयोगका वैशिष्ट्य श्रवण करनेपर तत्त्वदर्शी गुरुके निकट ही तत्त्वज्ञानकी प्राप्ति होती है। यथार्थ तत्त्वज्ञानका आश्रय ग्रहण करनेपर सुगमतासे भवसागरसे उतीर्ण हुआ जा सकता है। इस विषयमें शंका करनेपर साधकका विनाश सुनिश्चित है, क्योंकि वह तत्त्वज्ञानके अभावमें पतित और पथभ्रष्ट होकर पुनः कर्मचक्रमें ही फँस जाता है।

पञ्चम अध्याय—तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेपर साधक कर्मसंन्यास योगका अधिकारी बन जाता है। उस समय वह अनुभव करता है कि कर्म और कर्मफलमें आसक्तित्याग ही यथार्थ संन्यास है। अशुद्धचित्त व्यक्तियोंके लिए कर्मके स्वरूपतः त्यागकी अपेक्षा आसक्तिरहित कर्मयोगका आश्रय ग्रहण करना ही उचित और प्रशस्त है। भगवदर्पित निष्काम कर्मयोग ही ब्रह्मपद प्राप्तिकी योग्यता प्रदान करता है। ब्रह्मविद् शान्तिके अधिकारी होते हैं।

षष्ठ अध्याय—ध्यानयोगके विषयमें साधक तत्त्वविद् गुरुके उपदेशोंको सुनकर भलीभाँति अनुधावन कर लेता है कि चित्तशुद्ध होनेपर ही भगवत्-ध्यान संभवपर होता है। कामसंकल्परहित व्यक्ति ही यथार्थ योगी या संन्यासी है। इसके अतिरिक्त विषयभोगोंकी कामना रहते हुए योगकी सिद्धि नहीं होती। परिमित आहार विहारकारी व्यक्तिकी ही योगसिद्धि होती है। समस्त प्राणियोंमें अन्तर्यामीके रूपमें भगवद्दर्शन तथा श्रीभगवान्के आश्रयमें ही जीवोंकी स्थिति है—ऐसा अनुभव ही योगकी सिद्धि है। इस अध्यायमें यह

भी विदित होता है कि भक्त तपस्वी, कर्मी, ज्ञानी और योगीसे भी श्रेष्ठ है।

सप्तम अध्याय—इस अध्यायमें विज्ञानयोग या भक्तियोगका वर्णन है। इस अध्यायका अनुशीलन करनेसे इस विषयकी दृढ़ उपलब्धि होती है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही परतत्त्वकी चरमसीमा हैं। उनके अतिरिक्त और कोई भी परमतत्त्व है ही नहीं। उनके श्रीचरणकमलोंमें ऐकान्तिक रूपसे शरणागत हुए बिना मायाजालसे छुटकारा पानेका और कोई उपाय नहीं है। मूढ़, नराधम, असुरभावापन्न और मायाद्वारा अपहृतज्ञानविशिष्ट—ये चार प्रकारके दुष्कृतिसम्पन्न व्यक्ति भगवद्भजन नहीं करते और इसके विपरीत आर्त्तादि चार प्रकारके सुकृतिसम्पन्न व्यक्ति भगवद्भजन करते हैं। इस जगत्में भगवद्भक्त सुदुर्लभ हैं। अन्यान्य देव-देवियोंकी आराधनासे नित्यकल्याण साधित नहीं हो सकता।

अष्टम अध्याय—तारक ब्रह्म योगका वर्णन इस अध्यायमें किया गया है। श्रीकृष्णके ऐकान्तिक भक्त ही ब्रह्म, कर्म और अधिभूत आदि तत्त्वोंको जान सकते हैं। ऐकान्तिक भक्तोंके द्वारा ही कृष्णप्राप्ति सुलभ है (गीता ८/१४)। भगवद्भक्तका पुनर्जन्म नहीं होता है (गीता ८/१६)। अनन्या भक्तिके द्वारा ही भगवत्प्राप्ति होती है (गीता ८/२२)।

नवम अध्याय—इस अध्यायमें राजगुह्य योगका वर्णन है। शुद्ध भक्तियोगको ही राजविधा या राजगुह्य बतलाया गया है। जगत्-सृष्टिके कार्यमें प्रकृति मूल कारण नहीं है। भगवान्की इच्छा या प्रेरणासे ही प्रकृति सृष्टिकी शक्ति लाभ करती है। भगवान् श्रीकृष्णके सच्चिदानन्दमय देहको साधारण बद्धजीवके शरीरकी भाँति पञ्चतत्त्वात्मक समझना या श्रीकृष्णको मनुष्य मानना मूढ़ता और अपराध है। जो लोग यथार्थ महात्मा होते हैं, वे अनन्य भावसे श्रीकृष्णका भजन करते हैं। ऐसे अनन्य भक्तका योगक्षेम श्रीकृष्ण स्वयं ही वहन करते हैं। दूसरे-दूसरे देवताओंका भजन करना विधिसम्मत नहीं है। श्रीकृष्ण ही समस्त यज्ञोंके भोक्ता एवं प्रभु हैं। शुद्धभक्तोंके द्वारा प्रीति पूर्वक दिए हुए पदार्थोंको श्रीभगवान् ग्रहण करते हैं। अध्यायके अन्तिम श्लोक **'मन्मना भव'** द्वारा एकमात्र भक्तिको ही भगवत्प्राप्तिका साधन निर्धारित किया गया है।

दशम अध्याय—इस अध्यायमें विभूतियोगका वर्णन है। इसका गंभीर रूपसे अनुशीलन करनेपर यह विदित होता है कि श्रीकृष्ण ही सारी विभूतियों

एवं शक्तियोंके आधार हैं। समग्र विश्वकी सारी विभूतियाँ उनकी एकपाद विभूतिमात्र हैं। विभूतियोंका ज्ञान प्राप्त होनेपर सहज ही समझमें आता है कि किसी-न-किसी प्रकारसे सारी वस्तुओंका सम्बन्ध भगवान्से ही है। भगवान् अपने भक्तोंको बुद्धियोग प्रदान करते हैं, जिससे उनको तत्त्वज्ञान लाभ होता है, अज्ञानका नाश हो जाता है और वे प्रीतिपूर्वक भजन करते हैं।

एकादश अध्याय—इस अध्यायमें वर्णित विश्वरूप-दर्शनयोगके अनुशीलनसे यह विदित होता है कि भगवान्का विश्वरूप मायिक है। अप्राकृत नरवपु ही उनका स्वरूप है। प्रेमनेत्रके द्वारा ही भक्तजन उनके रसिकशेखर रूपका दर्शन करते हैं। अनन्य भक्तियोगके द्वारा ही भगवत्प्राप्ति होती है।

द्वादश अध्याय—भक्तियोग शीर्षक इस अध्यायमें बतलाया गया है कि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण ही जीवोंके एकमात्र परम उपास्य तत्त्व हैं। ऐकान्तिक भक्तियुक्त भक्त ही उनके प्रियतम हैं। शुद्ध भक्तिके द्वारा सहज ही भगवद् प्राप्ति होती है। निर्विशेष ब्रह्मवादियोंको केवल क्लेश ही प्राप्त होता है।

त्रयोदश अध्याय—इस अध्यायमें प्रकृति और पुरुषका मार्मिक विवेचन किया गया है। इस विवेचनसे भगवान् अपने शरणागत लोगोंको तत्त्वज्ञान प्रदानकर संसार-समुद्रसे उद्धार करते हैं। शुद्धा भक्तिके उदित होनेपर आनुषंगिक रूपमें ज्ञान-वैराग्य सहज ही उदित हो जाते हैं। फिर भी भक्ति तत्त्वकी दृढ़ताके लिए ज्ञान-विज्ञानका अनुशीलन करना आवश्यक है। तत्त्वज्ञान प्राप्त होनेपर भक्त प्रेमाभक्ति प्राप्तिके योग्य होते हैं।

चतुर्दश अध्याय—इस अध्यायके विश्लेषणसे यह ज्ञान होता है कि सत्त्व-रजः-तमः—इन तीनों गुणोंसे ही संसारका विस्तार होता है। भक्तियोग अनुष्ठानकारी साधक सहज ही त्रिगुणोंको पारकर भगवत्प्राप्तिके योग्य हो जाते हैं और अंतमें उन्हें भगवत्प्राप्ति होती है।

पञ्चदश अध्याय— इस अध्यायमें पुरुषोत्तम योगकी व्याख्या की गई है। यह संसार ऊपर एवं नीचेके लोकोंमें विस्तृत है। भगवत्-विमुख जीव कर्मके द्वारा आबद्ध होकर संसारकी ऊँची-नीची विभिन्न योनियोंमें भ्रमण करता है। श्रीभगवान्के विभिन्नांश जीव सौभाग्यवश सद्गुरुकी कृपा प्राप्तकर श्रीकृष्णको ही पुरुषोत्तम जानकर सब प्रकारसे उनका भजन करते हैं। तन्मय या आविष्ट होकर भजन करनेपर वे सर्वविद् होकर इस संसारको अनायास ही पार कर जाते हैं।

षोडश अध्याय—इस अध्यायमें दैवी एवं आसुरी सम्पत्तियोंका पृथक्-पृथक् वर्णन किया गया है। भगवान्‌की माया द्वारा विमोहित जीव दैवी या आसुरी सम्पत्तिके वशीभूत होता है। दैवी प्रकृतिका आश्रय ग्रहण करने पर भगवद्भजनमें प्रवृत्ति होती है। इसके ठीक विपरीत आसुरी प्रकृतिका आश्रय लेनेपर वह भगवान्‌से विद्वेष करता है और परिणामस्वरूप नरकगामी होता है। आसुरी प्रकृतिके लोग ही मायावादका प्रचार करते हैं। इसलिए शुद्ध भक्तोंके संगमें श्रद्धापूर्वक भगवद्भजनके द्वारा आसुरी स्वभाव दूर करना आवश्यक है।

सप्तदश अध्याय—सतरहवें अध्यायमें तीन प्रकारकी श्रद्धा बतलाई गई है। मनुष्य संग और पूर्व संस्कारसे प्राप्त स्वभावके अनुरूप ही सात्त्विक, राजसिक या तामसिक तत्त्वके प्रति श्रद्धालु होता है। शुद्ध हरिभक्तोंके संगसे जीवोंके हृदयमें निर्गुणा श्रद्धा उदित होती है। उस अवस्थामें वे निर्गुण श्रीहरिका भजन करते हैं। ऐसे भक्त ही यथार्थ साधु हैं।

अष्टादश अध्याय—इसमें सम्पूर्ण गीताका सार बतलाया गया है। इसमें श्रीकृष्णको ही सर्वोत्तम भगवत्-तत्त्व बतलाकर पहले उनके प्रति शरणागति पुनः नवधा भक्ति और अन्तमें भावभक्तिका आश्रय ग्रहणकर उनके परमधाममें रसमयी सेवाकी प्राप्तिरूप सर्वगुह्यतम उपदेश निर्द्धारित किया गया है।

* * *

भाष्यकार श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरका संक्षिप्त जीवनचरित्र

श्रीगौड़ीय वैष्णवाचार्य-मुकुटमणि महामहोपाध्याय श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर श्रीमद्भगवद्गीताके प्रसिद्ध भाष्य सारार्थवर्षिणीके रचयिता हैं। इनका जन्म बंगालके नदिया जिलेमें राढ़ीय श्रेणीके ब्राह्मणकुलमें हुआ था। ये हरिवल्लभके नामसे प्रसिद्ध थे। रामभद्र और रघुनाथ नामक इनके दो बड़े भाई थे। इन्होंने बाल्यकालमें देवग्राम नामक एक ग्राममें व्याकरण-पाठ समाप्तकर मुर्शिदाबाद जिलेके शैयदाबाद नामक ग्राम (गुरुगृह) में भक्ति-शास्त्रका अध्ययन किया। इन्होंने बिन्दु-किरण-कणा—इन तीनों ग्रन्थोंकी रचना इस शैयदाबाद ग्राममें अध्ययन करते समय ही की थी। कुछ दिनों बाद आप गृहत्यागकर वृन्दावन चले आए। यहीं आपने विभिन्न ग्रन्थोंकी रचनाएँ कीं व टीकाएँ लिखीं।

श्रीचक्रवर्त्ती ठाकुरने रासपञ्चाध्यायीकी सारार्थदर्शिनी टीकाके प्रारम्भमें अपनी गुरुपरम्पराके आचार्योंको प्रणाम करते हुए लिखा हैं—

'श्रीरामकृष्णगंगाचरणान् नत्वा गुरुनुरुप्रेम्नः।
श्रीलनरोत्तमनाथ श्रीगौरांगप्रभुं नौमि।।'

अर्थात्, इस श्लोकमें श्रीरामसे उनके गुरुदेव श्रीराधारमण, कृष्णसे परमगुरुदेव श्रीकृष्णचरण, गंगाचरणसे परात्पर गुरुदेव श्रीगंगाचरण, नरोत्तमसे परमपरात्पर गुरुदेव श्रीनरोत्तम ठाकुर और नाथ शब्दसे श्रीलनरोत्तम ठाकुरके गुरुदेव श्रीलोकनाथ गोस्वामीको समझना चाहिए। इस प्रकार श्रीमन्महाप्रभु तक अपनी गुरुपरम्पराको प्रणाम कर रहे हैं, ऐसा सूचित होता है।

स्वसम्प्रदायकी महती सेवा

श्रीलविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर जिस समय अत्यन्त वृद्ध हो गए थे तथा अधिकांश समय अर्द्धबाह्य और अन्तर्दशामें स्थित होकर भजनमें विभोर रहते थे, उसी समय जयपुरमें श्रीगौड़ीय-वैष्णवों एवं स्वकीयावादी अन्यान्य वैष्णवोंमें एक विवाद छिड़ गया। उस समय द्वितीय जयसिंह जयपुरके नरेश थे। विरुद्ध पक्षवाले वैष्णवोंने द्वितीय जयसिंहको यह समझाया कि श्रीगोविन्ददेवके साथ श्रीमती राधिकाजीकी पूजा शास्त्रसम्मत नहीं है। इसका कारण यह है कि श्रीमद्भागवत या विष्णुपुराणमें श्रीमती राधिकाके नामका कहीं भी उल्लेख नहीं है। श्रीमती राधिका वैदिक विधियोंके अनुसार कृष्णकी विवाहिता पत्नी नहीं हैं। दूसरी बात, गौड़ीय-वैष्णव साम्प्रदायिक वैष्णव नहीं है। चार ही वैष्णव सम्प्रदाय हैं, जो अनादि कालसे चले आ रहे हैं। उनके नाम हैं—श्रीसम्प्रदाय, ब्रह्मसम्प्रदाय, रुद्रसम्प्रदाय और सनकसम्प्रदाय। कलियुगमें इन सम्प्रदायोंके प्रधान आचार्य क्रमशः श्रीरामानुज, श्रीमध्व, श्रीविष्णुस्वामी और श्रीनिम्बादित्य हैं। गौड़ीय-वैष्णव इनसे बहिर्भूत होनेके कारण शुद्ध साम्प्रदायिक वैष्णव नहीं हैं। विशेषतः इस वैष्णव-सम्प्रदायमें अपना कोई ब्रह्मसूत्रका भाष्य नहीं है। इसे परम्परागत वैष्णव सम्प्रदाय नहीं माना जा सकता है। उसी समय महाराज जयसिंहने श्रीवृन्दावनके प्रधान गौड़ीय-वैष्णवाचार्योंको श्रीलरूपगोस्वामीके अनुगत जानकर श्रीरामानुजीय वैष्णवोंके साथ विचार करनेके लिए आह्वान किया। अत्यन्त वृद्ध एवं भजनानन्दमें विभोर रहनेके कारण श्रीचक्रवर्त्ती ठाकुरने अपने छात्र गौड़ीय-वैष्णव-वेदान्ताचार्य, पण्डितकुलमुकुट महामहोपाध्याय श्रीपाद बलदेव विद्याभूषण और अपने शिष्य श्रीकृष्णदेवको जयपुरमें विचार करनेके लिए भेजा। जाति-गोस्वामिगण माध्व सम्प्रदायके अपने आनुगत्यको

भूल चुके थे। साथ ही उन्होंने वैष्णव वेदान्तका अनादर और गौड़ीय वैष्णवोंके लिए एक महान विपत्तिका आह्वान किया था। श्रील बलदेव विद्याभूषणने अकाट्य युक्तियों और सुदृढ़ शास्त्रीय प्रमाणोंके द्वारा यह प्रमाणित किया कि गौड़ीय सम्प्रदाय मध्वानुगत शुद्ध वैष्णव-सम्प्रदाय है। इस सम्प्रदायका नाम श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव-सम्प्रदाय है। हमारे पूर्वाचार्य श्रीलजीवगोस्वामी, कविकर्णपूर आदिने इसे स्वीकार किया है। श्रीगौड़ीय वैष्णवजन श्रीमद्भागवतको ही वेदान्तसूत्रका अकृत्रिम भाष्य मानते हैं। इसलिए गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायमें स्वतन्त्ररूपसे किसी वेदान्तसूत्रके भाष्यकी रचना नहीं की गई है। विभिन्न पुराणोंमें श्रीमती राधिकाके नामका उल्लेख है, वे ह्लादिनी स्वरूपा तथा कृष्णकी नित्यप्रिया हैं। श्रीमद्भागवतके विभिन्न स्थलोंमें विशेषतः दसवें स्कन्धके व्रजलीलाके वर्णन प्रसंगमें सर्वत्र ही श्रीमती राधिकाका अत्यन्त गूढ़रूपसे उल्लेख है। सिद्धान्तविद्, रसिक और भावुक भक्त ही इस गूढ़ रहस्यको समझ सकते हैं। उन्होंने उस विद्वत्सभामें प्रतिपक्षके सभी तर्क एवं सन्देहोंको खण्ड-विखण्डकर श्रीगौड़ीय-वैष्णवोंका मध्वानुगत्य एवं श्रीश्रीराधागोविन्दकी सेवापूजाकी स्थापना की। विपक्ष निरुत्तर हो गया, फिर भी उन्होंने श्रीगौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायका कोई वेदान्त भाष्य न होनेसे उन्हें शुद्ध पारम्परिक वैष्णव माननेसे अस्वीकार कर दिया। श्रीबलदेव विद्याभूषणने ब्रह्मसूत्रके 'श्रीगोविन्द-भाष्य' नामक सुप्रसिद्ध गौड़ीय-भाष्यकी रचना की। अब पुनः श्रीगोविन्ददेवके मन्दिरमें श्रीश्रीराधागोविन्दकी सेवा-पूजा प्रारम्भ हुई तथा गौड़ीय वैष्णवोंकी श्रीब्रह्म-माध्व-गौड़ीय-वैष्णव सम्प्रदायके रूपमें मान्यता स्वीकार की गई। श्रीचक्रवर्त्ती ठाकुरकी सम्मतिक्रमसे ही श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने श्रीगोविन्दभाष्यकी रचना की तथा गौड़ीय-वैष्णवोंका श्रीमध्वानुगत्य प्रमाणित किया। इस विषयमें तनिक भी सन्देहका अवकाश नहीं है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरका यह साम्प्रदायिक कार्य गौड़ीय वैष्णवोंके इतिहासमें स्वर्णाक्षरोंसे लिपिबद्ध रहेगा।

परकीयावादकी पुनर्स्थापना

श्रीधाम वृन्दावनमें षडगोस्वामियोंका प्रभाव किञ्चित् क्षीण होनेपर स्वकीया-परकीयावाद मतभेद उठ खड़ा हुआ। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने स्वकीयावाद भ्रमको दूर करनेके लिए सुसिद्धान्तपूर्ण 'रागवर्त्मचन्द्रिका' तथा 'गोपीप्रेमामृत' नामक ग्रन्थोंकी रचनाएँ कीं। तत्पश्चात् उन्होंने उज्ज्वलनीलमणि की 'लघुत्वमत्र' (१/२१) श्लोककी आनन्दचन्द्रिका

टीकामें शास्त्रीय प्रमाणों और अकाट्य युक्तियोंके द्वारा स्वकीयावादका खण्डनकर परकीया विचारकी स्थापना की। श्रीमद्भागवतकी सारार्थदर्शिनी टीकामें भी उन्होंने परकीय भावकी पुष्टि की है।

ऐसा कहा जाता है कि श्रीलचक्रवर्त्तीके समय कुछ पण्डितोंने परकीया उपासनाके विषयमें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरका विरोध किया, किन्तु चक्रवर्त्ती ठाकुरजीने अपनी प्रगाढ़ विद्वता तथा अकाट्य युक्तियोंके द्वारा उन्हें परास्त कर दिया। इससे पण्डितोंने उन्हें जानसे मारनेका संकल्प लिया। प्रभातकालीन अंधकारमें श्रीधाम वृन्दावनकी परिक्रमा करते समय श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरको किसी सघन अंधकारपूर्ण कुञ्जमें जानसे मार डालनेकी योजना बनाई गई। विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरके परिक्रमा करते-करते उक्त सघन कुञ्जके समीप पहुँचनेपर वहाँ विरोधियोंने विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरको मारना चाहा, किन्तु अकस्मात् देखा कि विश्वनाथ चक्रवर्त्ती वहाँ नहीं थे। अपितु उनके स्थानपर एक सुन्दर व्रजबालिकाको अपनी दो-तीन सहेलियोंके साथ पुष्पचयन करते हुए देखा। पण्डितोंने उस बालिकासे पूछा—"लाली! अभी-अभी एक महात्मा इधर आ रहे थे, वे किधर गए? क्या तुमने उनको जाते हुए देखा है?" बालिकाने उत्तर दिया—"देखा तो था, किन्तु किधर गए मुझे मालूम नहीं।" बालिकाके अद्भुत रूप-सौन्दर्य, कटाक्ष, भावभंगी और मन्द-मुस्कानको देखकर पण्डित-समाज मुग्ध हो गया। उनके मनका सारा कल्मष दूर हो गया और उनका हृदय द्रवित हो गया। पण्डितोंके द्वारा परिचय पूछे जानेपर बालिकाने कहा—"मैं स्वामिनी श्रीमती राधिकाकी सहचरी हूँ। वे इस समय अपने ससुराल जावटमें विराजमान हैं। उन्होंने मुझे पुष्पचयन करनेके लिए भेजा है।" ऐसा कहते-कहते वे अन्तर्द्धान हो गईं और उनके स्थान पर श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरको पुनः देखा। पण्डितोंने श्रीलचक्रवर्त्ती ठाकुरजीके चरणोंमें गिरकर क्षमा प्रार्थना की, चक्रवर्त्ती ठाकुरजीने उन्हें क्षमा कर दिया। श्रीचक्रवर्त्तीचरणके जीवनमें ऐसी-ऐसी ही आश्चर्यपूर्ण बातें सुनी जाती हैं। इस प्रकार इन्होंने स्वकीयावादका खण्डनकर शुद्ध परकीया तत्त्वकी स्थापना की। इनका यह कार्य गौड़ीय वैष्णवोंके लिए बहुत ही महत्वपूर्ण है।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने जिस प्रकारसे श्रीगौड़ीय-वैष्णव धर्मकी मर्यादाकी रक्षाकर पुनः श्रीवृन्दावनमें श्रीगौड़ीय-वैष्णव धर्मका प्रभाव स्थापित किया है, उसका विवेचन करनेसे उनकी अलौकिक प्रतिभासे विस्मित

होना पड़ता है। उनके इस असाधारण कार्यके लिए ही श्रीगौड़ीय-वैष्णवाचार्योंने एक श्लोक लिखा है—

'विश्वस्य नाथरूपोऽसौ भक्तिवर्त्मप्रदर्शनात्।
भक्तचक्रे वर्त्तितत्वात् चक्रवर्त्याख्ययाभवत्।।'

अर्थात्, भक्तिपथके प्रदर्शक होनेके कारण विश्वके नाथ अर्थात् विश्वनाथ तथा शुद्धभक्तचक्र (भक्तमण्डली) में सदा अवस्थित रहनेके कारण चक्रवर्त्ती अर्थात् विश्वनाथ चक्रवर्त्ती नाम हुआ है।

वे लगभग १६७६ शकाब्दमें लगभग एक सौ वर्षकी उम्रमें माघ शुक्ला पञ्चमी तिथिको श्रीराधाकुण्डमें अन्तर्दशाकी अवस्थामें अप्रकट हुए। आज भी श्रीधामवृन्दावनमें श्रीगोकुलानन्द मन्दिरके निकट उनकी समाधि विद्यमान है।

इनके रचित ग्रन्थ

इन्होंने गौड़ीय वैष्णव भक्ति साहित्य भण्डारके अतुल-सम्पत्स्वरूप जिन ग्रन्थों, टीकाओं, स्तवों आदिकी रचनाएँ की हैं, नीचे उनकी तालिका प्रस्तुत की जा रही है।

(१) व्रजरीतिचिन्तामणि, (२) चमत्कारचन्द्रिका, (३) प्रेमसम्पुटम् (खण्डकाव्यम्), (४) गीतावली, (५) सुबोधिनी (अलंकार-कौस्तुभ टीका), (६) आनन्द-चन्द्रिका (उज्ज्वलनीलमणिटीका), (७) श्रीगोपालतापनी टीका, (८) स्तवामृतलहरी धृत—(क) श्रीगुरुतत्त्वाष्टकम्, (ख) मन्त्रदातृगुरोरष्टकम्, (ग) परमगुरोरष्टकम्, (घ) परात्परगुरोरष्टकम्, (ङ) परमपरात्परगुरारष्टकम्, (च) श्रीलोकनाथाष्टकम्, (छ) श्रीशचीनन्दनाष्टकम्, (ज) श्रीस्वरूप-चरितामृतम्, (झ) श्रीस्वप्नविलासामृतम्, (ञ) श्रीगोपालदेवाष्टकम्, (ट) श्रीमदनमोहनाष्टकम्, (ठ) श्रीगोविन्दाष्टकम्, (ड) श्रीगोपीनाथाष्टकम्, (ढ) श्रीगोकुलानन्दाष्टकम्, (ण) स्वयं-भगवदष्टकम्, (त) श्रीराधाकुण्डाष्टकम्, (थ) जगन्मोहनाष्टकम्, (द) अनुरागवल्ली, (ध) श्रीवृन्दादेव्याष्टकम्, (न) श्रीराधिकाध्यानामृतम्, (प) श्रीरूपचिन्तामणिः, (फ) श्रीनन्दीश्वराष्टकम्, (ब) श्रीवृन्दावनाष्टकम्, (भ) श्रीगोवर्धनाष्टकम्, (म) श्रीसंकल्पकल्पद्रुमः, (य) श्रीनिकुञ्जविरुदावली (विरुत्काव्य), (र) सुरतकथामृतम् (आर्यशतकम्), (ल) श्रीश्यामकुण्डाष्टकम्। (९) श्रीकृष्णभावनामृतम् महाकाव्यम् (१०) श्रीभागवतामृत-कणा, (११) श्रीउज्ज्वलनीलमणिकिरणः, (१२) श्रीभक्तिरसामृत-सिन्धुबिन्दुः, (१३) रागवर्त्मचन्द्रिका, (१४) ऐश्वर्यकादम्बिनी (अप्राप्या),

(१५) श्रीमाधुर्यकादम्बिनी, (१६) श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु टीका, (१७) श्रीउज्ज्वलनीलमणि टीका, (१८) दानकेलि-कौमुदी टीका, (१९) श्रीललितमाधव नाटक टीका, (२०) श्रीचैतन्यचरितामृत टीका (असम्पूर्ण), (२१) ब्रह्मसंहिता टीका, (२२) श्रीमद्भगवद्गीताकी 'सारार्थवर्षिणी' टीका, (२३) श्रीमद्भागवतकी 'सारार्थदर्शिनी' टीका।

* * *

प्रस्तुत संस्करणमें मूल श्लोक, अन्वय, श्लोकका अनुवाद, श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुर कृत सारार्थवर्षिणीभाष्य, उसका भावानुवाद तथा अंतमें इस दीन-हीन सेवक द्वारा लिखित 'सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका वृत्ति' क्रमशः दी गई है। यद्यपि 'सारार्थवर्षिणी' भाष्य सरल-सहज है, किन्तु कुछ-कुछ संस्कृत भाषाका ज्ञान रखनेवालोंके लिए ही सहज है। उसे और भी सहज सरल एवं बोधगम्य बनानेके लिए मैंने श्रीरूपानुग गौड़ीय वैष्णवाचार्योंके विचारोंके अनुसार 'सारार्थवर्षिणी प्रकाशिका वृत्ति' की रचना की है। कृपालु पाठकगण मेरी इस धृष्टताको क्षमा करेंगे।

श्रीगौड़ीयवेदान्त समितिके वर्त्तमान सभापति एवं आचार्य, मेरे पूज्य सतीर्थवर परिव्राजकाचार्यवर्य श्रीश्रीमद्भक्तिवेदान्त वामन महाराज परमपरा-विद्यानुरागी और श्रीगुरुपादपद्मके अंतरंग प्रिय सेवक हैं। उन्होंने कृपापूर्वक श्रीचैतन्य महाप्रभुके परिकरोंके मनोऽभीष्टपूरक श्रीचक्रवर्त्ती ठाकुर या श्रीबलदेवविद्याभूषण द्वारा रचित भाष्य सहित श्रीमद्भगवद्गीताका एक सहज-सरल बोधगम्य हिन्दी संस्करण प्रकाश करनेके लिए इस अयोग्य किङ्करको पुनः पुनः निर्देश और उत्साह प्रदान किया है। वे मेरे प्रति अनुग्रहपूर्वक श्रीश्रीलगुरुदेवके करकमलोंमें उनके इस प्रिय **'सारार्थवर्षिणी'** भाष्यसहित श्रीमद्भगवद्गीता-ग्रन्थको समर्पणकर उनका मनोऽभीष्ट पूर्ण करें—यही उनके श्रीचरणोंमें विनीत प्रार्थना है।

मैं नित्यलीलाप्रविष्ट जगद्गुरु अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद' के चरणाश्रित अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिविवेक भारती महाराज और अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिश्रीरूप सिद्धान्ती महाराजजीका विशेष आभरी हूँ। इन दोनों महापुरुषोंने श्रीचक्रवर्त्ती ठाकुर द्वारा रचित भाष्य तथा सप्तम गोस्वामी श्रीश्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा लिखित **'रसिकरञ्जन'** भाषा-भाष्यको बंगला भाषामें प्रकाशितकर जगत्का अशेष कल्याण किया है। मैंने इस संस्करणका विधिवत् अनुशीलनकर इसके कुछ-कुछ अंशोंको

प्रस्तुत संस्करणमें उद्धृत किया है। ये दोनों मेरे शिक्षागुरु मुझपर प्रसन्न हों, उनके श्रीचरणकमलोंमें मैं पुनः पुनः दण्डवत् प्रणाम करता हूँ।

मेरे स्नेहभाजन श्रीमान् हरिप्रियदास ब्रह्मचारी 'विद्याभूषण' ने मुझे संस्कृत भाष्यके अनुवादमें सहायता करने, पाण्डुलिपि प्रस्तुत करने तथा प्रूफ-संशोधन आदि सेवा-कार्योंमें अक्लान्त परिश्रम किया है; स्नेहभाजन श्रीमान् पुरन्दर ब्रह्मचारी 'सेवाविग्रह' तथा शान्तिदेवी दासीने दिन-रात कठोर परिश्रमपूर्वक कम्प्यूटर प्रणालीसे सम्पूर्ण-ग्रन्थका कम्पोजिंग प्रस्तुत किया है; इनके अतिरिक्त इस ग्रन्थकी प्रतिलिपि प्रस्तुत करने, प्रुफ-संशोधन आदि विभिन्न सेवाकार्योंके लिए श्रीओमप्रकाश वृजवासी, स्नेहभाजन श्रीमान् शुभानन्द ब्रह्मचारी 'भागवत-भूषण', श्रीमान् प्रेमानन्द ब्रह्मचारी 'सेवारत्न', श्रीमान् नवीन कृष्ण ब्रह्मचारी 'विद्यालंकार', श्रीमान् परमेश्वरी ब्रह्मचारी 'सेवा-निकेतन', श्रीमान् सुबल सखा ब्रह्मचारी 'भक्तिचकोर', श्रीमान् पुण्डरीक ब्रह्मचारी, श्रीमान् शुभकृष्ण ब्रह्मचारी और श्रीमान् अमलकृष्ण ब्रह्मचारीकी सेवाचेष्टा सराहनीय और विशेष उल्लेखयोग्य है। ग्रन्थके लिए चित्र प्रस्तुत करनेमें श्यामारानी दासीकी सेवाचेष्टा सराहनीय है। श्रीश्रीगुरु-गौराङ्ग-गान्धर्विका गिरिधारी इन सबपर प्रचुर कृपाशीर्वाद करें। विशेषतः आर्थिक सेवानुकूल्यके लिए स्नेहभाजन श्रीसोमनाथ दासाधिकारी महोदय आन्तरिक धन्यवादके पात्र हैं।

मुझे पूर्णविश्वास है कि भक्ति-पिपासु पाठकोंमें इस ग्रन्थका समादर होगा और श्रद्धालुजन इस ग्रन्थका पाठकर शुद्धा भक्तिमें प्रवेश करेंगे। मुद्रणकार्यमें शीघ्रताके कारण यदि ग्रन्थमें कुछ त्रुटि-विच्युति दिखाई पड़े, तो पारमार्थिक पाठकगण निजगुणोंसे क्षमा करेंगे तथा संशोधनकर ग्रन्थका सार ग्रहणकर बाधित करेंगे।

अन्तमें भगवत्करुणाके घनविग्रह परमाराध्यतम श्रीगुरुपादपद्म नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव गोस्वामी महाराज मेरे प्रति प्रचुर कृपाशीर्वाद वर्षण करें, जिससे मैं दीन-हीन सेवक उनकी मनोऽभीष्ट सेवामें अधिकाधिक अधिकार प्राप्त कर सकूँ—यही उनके श्रीचरणोंमें सकातर प्रार्थना है।

श्रीकेशवजी गौड़ीय मठ, मथुरा
श्रीश्रीगुरुपादपद्मकी व्यासपूजा-तिथि
३ फाल्गुन, २०५३ संवत्
२५/२/१९९७ ई.

श्रीहरि-गुरु-वैष्णव-कृपालेश-प्रार्थी
दीन-हीन
त्रिदण्डिभिक्षु
श्रीभक्तिवेदान्त नारायण

महाभारत युद्धकी पृष्ठभूमि

महाराज शान्तनु कुरुवंशके एक प्रसिद्ध, प्रभावशाली, महापराक्रमी और धार्मिक सम्राट थे। इनकी पत्नी गङ्गादेवीके गर्भसे आठवें वसुके अंशसे भीष्मका जन्म हुआ था, किन्तु बालकके जन्मके अनन्तर किसी विशेष कारणसे वे अन्तर्हित हो गईं। महाराज शान्तनुने किसी समय आखेट करते हुए निषादोंके राजा दासराजके घर एक अपूर्व रूपवती राजकन्याको देखा। वस्तुतः वह राजकन्या उपरिचर वसुके वीर्य द्वारा एक मछलीके पेटसे पैदा हुई थी। निषादराज बेटीकी भाँति उसका पालन-पोषण करते थे। महाराजने निषादराजसे अपनी शादीके लिए उस राजकन्याको माँगा। किन्तु निषादराजने विवाहके लिए एक प्रतिबन्ध रखा, वह यह कि सत्यवतीकुमार ही राजा होगा महाराजने इसे स्वीकार नहीं किया और वे राजधानी लौट आए। यह बात किसी प्रकार युवराज भीष्मके कानोंमें पड़ी। उन्होंने पिताके मनोरथकी पूर्त्तिके लिए यह भीषण प्रतिज्ञाकी कि सत्यवतीकुमार ही राजा होगा तथा मैं आजीवन ब्रह्मचारी रहूँगा। इस प्रकार सत्यवतीका विवाह पिता शान्तनुके साथ करवाया। इस भीषण प्रतिज्ञाके लिए इनके पिताजीने इनको इच्छामृत्युका वरदान दिया था। सत्यवतीके गर्भसे महाराज शान्तनुके दो पुत्र हुए—चित्राङ्गद और विचित्रवीर्य।

महाराज शान्तनुकी मृत्युके पश्चात् भीष्मने चित्राङ्गदको राजसिंहासन पर बैठाया, किन्तु इनकी असामयिक मृत्युसे विचित्रवीर्यको राज्यपद दिया गया। इनकी दो पत्नियाँ थीं—अम्बिका और अम्बालिका। किन्तु निःसन्तान दशामें विचित्रवीर्यकी भी असामायिक मृत्यु हो गई। पुत्रोंके निधनसे तथा वंशपरम्राके रुद्ध हो जानेके कारण माता सत्यवती बड़ी दुःखी हो गईं। इन्होंने वंशकी रक्षाके लिए अपने प्रथम पुत्र महर्षि वेदव्यासका स्मरण किया। वेदव्यासजीने माता सत्यवतीकी आज्ञा तथा भीष्म पितामहका अनुमोदन जानकर विचित्रवीर्यकी पत्नी अम्बिकासे धृतराष्ट्र, अम्बालिकासे महाराज पाण्डु तथा उनकी दासीके गर्भसे महात्मा विदुरजीको उत्पन्न किया।

धृतराष्ट्रके जन्मान्ध होनेके कारण पाण्डु ही राजसिंहासनपर अधिष्ठित हुए। महाराज पाण्डु एक पराक्रमी प्रभावशाली और सर्वसद्गुणसम्पन्न सम्राट थे। इनके पाँच पुत्र हुए। जिनमें ज्येष्ठ पुत्रका नाम युधिष्ठिर था।

धृतराष्ट्रके एक सौ पुत्रोंमें दुर्योधन सबसे बड़ा था। कालकी गतिसे राजकुमारोंकी छोटी आयुमें ही महाराज पाण्डुकी मृत्यु हो गई। अतः भीष्म पितामहने राजकुमारोंके बड़े होने तक धृतराष्ट्रको ही राज्य-संरक्षकके रूपमें राजसिंहासनका दायित्व दिया। जब पाँचों पाण्डव और धृतराष्ट्रके दुर्योधन आदि पुत्र युवावस्थाको प्राप्त हुए, तब राजगद्दीका प्रश्न उठा। महाराज धृतराष्ट्र अपने पुत्रोंके प्रति पक्षपाती थे। वे छल-बलसे दुर्योधनको ही राज्यपदपर अभिसिक्त करना चाहते थे। किन्तु भीष्म पितामह जैसे परम धार्मिक, पूज्य व्यक्तियों तथा प्रजाओंके दबावके कारण ऐसा नहीं कर सके। दुर्योधन कलिके अंशसे पैदा हुआ था। वह बड़ा ही दुष्ट, दुराचारी और अधार्मिक व्यक्ति था। वह नाना प्रकारके षडयन्त्रोंके द्वारा पाण्डवोंको मारकर निष्कण्टक राजसिंहासन चाहता था। महाराज धृतराष्ट्र भी मन-ही-मन उसके बुरे कृत्योंका अनुमोदन करते थे।

महर्षि व्यास, भीष्म पितामह, गुरु द्रोणाचार्य, महात्मा विदुर आदिके पुनः पुनः अनुरोध करनेपर भी धृतराष्ट्रने पाण्डुवोंको उनका प्राप्य आधा राज्य नहीं दिया। उन्होंने बाह्यरूपसे युवराज युधिष्ठिरको आधे राज्यके राजाके रूपमें अभिषेककर नव-निर्मित वारणावत नगरमें भेज दिया। दुर्योधन उस नये राजभवनको जलाकर पाण्डवोंको मार डालना चाहता था। धृतराष्ट्रका भी इसमें अनुमोदन था। किन्तु, भगवत्-इच्छासे पाण्डव लोग किसी प्रकार बच निकले।

इसके कुछ समयके बाद द्रौपदीसे पाण्डवोंका विवाह हुआ। पाण्डव अभी जीवित हैं, यह पता लगनेपर दुर्योधनने पितासे परामर्श कर पाण्डवोंको पुनः हस्तिनापुरमें बुलवाया। इधर भीष्म पितामह आदि गुरुजनके आदेश एवं प्रजाके अनुरोधसे पाँचों पाण्डवोंको खाण्डवप्रस्थ अथवा इन्द्रप्रस्थ नामक स्थानका राजत्व सौंप दिया। पाण्डवोंने वहाँ श्रीकृष्णकी सहायतासे मयदानव द्वारा एक अद्भुत सुन्दर नगरी और राजभवनका निर्माण करवाया। कुछ ही दिनोंमें पाण्डवोंने भारतवर्षके बड़े-बड़े राजाओंको जीतकर एक महाराजसूय यज्ञका अनुष्ठान किया।

महाराज धृतराष्ट्र एवं दुर्योधन आदि पाण्डवोंके राजसूय यज्ञको देख-सुनकर ईर्ष्यासे जल उठे। उन्होंने पुनः षडयन्त्रकर कपटतापूर्वक द्यूत क्रीड़ामें पाण्डवोंका राज्य ले लिया तथा उन्हें बारह वर्षके लिए वनवास और एक वर्षके अज्ञातवासके लिए बाध्य किया। किन्तु, वह समय पूरा होनेपर

भी पाण्डवोंको उनका राज्य नहीं लौटाया गया। औरोंकी तो बात ही क्या श्रीकृष्ण भी पाण्डवोंका दूत बनकर हस्तिनापुरमें गए, किन्तु दुर्योधन अपनी हठ पर अड़ा रहा। उसने पाँच गाँवकी तो बात ही क्या, बिना युद्धके सुईकी नोक भर भी जमीन देना स्वीकार नहीं किया। धर्मकी प्रतिष्ठा, साधुओंकी रक्षा तथा दुष्टोंके निग्रहके लिए भगवान् श्रीकृष्णका आविर्भाव हुआ था। उन्होंने इस महाभारत युद्धके द्वारा अर्जुन और भीमको निमित्त बनाकर पृथ्वीका भार बहुत-कुछ अंशोमें हरण किया।

श्रीश्रीगुरु–गौराङ्गौ जयतः

श्रीमद्भगवद्गीता

प्रथमोऽध्यायः

धृतराष्ट्र उवाच—
धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे समवेता युयुत्सवः।
मामकाः पाण्डवाश्चैव किमकुर्वत सञ्जय।।१।।

अन्वय—धृतराष्ट्रः उवाच (धृतराष्ट्रने कहा) सञ्जय (हे सञ्जय!) धर्मक्षेत्रे कुरुक्षेत्रे (धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्रमें) युयुत्सवः (युद्धके लिए) समवेताः (एकत्रित) मामकाः (दुर्योधनादि मेरे पुत्रों) च (और) पाण्डवाः (युधिष्ठिरादि पाण्डुपुत्रोंने) एव (तत्पश्चात्) किम् अकुर्वत (क्या किया)।।१।।

अनुवाद—धृतराष्ट्रने कहा—हे सञ्जय! धर्मभूमिस्वरूप कुरुक्षेत्रमें मेरे पुत्रों तथा पाण्डुपुत्रोंने युद्धकी इच्छासे एकत्रित होनेके पश्चात् क्या किया?।।१।।

श्रीविश्वनाथचक्रवर्त्तिठक्कुर–कृता
'*सारार्थवर्षिणी*' टीका

गौरांशुकः सत्कुमुदप्रमोदी स्वाभिख्यया गोस्तमसो निहन्ता।
श्रीकृष्णचैतन्यसुधानिधिर्मे मनोऽधितिष्ठन् स्वरतिं करोतु।।
प्राचीनवाचः सुविचार्य सोऽहमज्ञोऽपि गीतामृतलेशलिप्सुः।
यतेः प्रभोरेव मते तदत्र सन्तः क्षमध्वं शरणागतस्य।।

इह खलु सकलशास्त्राभिमत–श्रीमच्चरणसरोज–भजनः स्वयं भगवान्नराकृतिपरब्रह्म श्रीवसुदेवसूनुः साक्षात् श्रीगोपालपुर्यामवतीर्यापारपरमातर्क्य–स्वकृपाशक्त्यैव प्रापञ्चिक–सकल–लोक–लोचन–गोचरीकृतो भवाब्धिनिमज्जमानान् जगज्जनानुद्धृत्य स्वसौन्दर्यमाधुर्यास्वादनया स्वीयप्रेममहाम्बुधौ निमज्जयामास। शिष्टरक्षा–दुष्टनिग्रहव्रतनिष्ठामहिष्ठप्रतिष्ठोऽपि भुवो भारदुःखापहारमिषेण

दुष्टाणामपि स्वद्वेष्टृणामपि महासंसारग्राहग्रासी-भूतानामपि मुक्तिदानलक्षणं परमरक्षणमेव कृत्वा स्वान्तर्द्धानोत्तरकालजनिष्यमाणानाद्यविद्याबन्ध-निबन्धन-शोक-मोहाद्याकुलानपि जीवानुद्धर्त्तुं शास्त्रकृन्मुनिगणगीयमानयशश्च धर्त्तुं स्वप्रियसखं तादृशस्वेच्छावशादेव रणमूर्द्धण्युद्भूतशोकमोहं श्रीमदर्जुनं लक्ष्यीकृत्य काण्डत्रितयात्मकसर्ववेदतात्पर्य-पर्यवसितार्थरत्नालङ्कृतं श्रीगीताशास्त्र-मष्टादशाध्यायमन्तर्भूताष्टादशविद्यं साक्षाद्विद्यमानीकृतमिव परम पुरुषार्थमाविर्भाव-याम्बभूव। तत्राध्यायानां प्रथमेन षट्केन निष्कामकर्मयोगः, द्वितीयेन भक्तियोगः, तृतीयेन ज्ञानयोगो दर्शितः। तत्रापि भक्तियोगस्यातिरहस्यत्वादुभय-सञ्जीवकत्वेनाभ्यर्हितत्वात् सर्वदुर्लभत्वाच्च मध्यवर्त्ती कृतः। कर्मज्ञानयोर्भक्ति-राहित्येन वैयर्थ्यात् ते द्वे भक्तिमिश्रे एव सम्मतीकृते। भक्तिस्तु द्विविधा—केवला, प्रधानीभूता च। तत्राद्या—स्वत एव परमप्रबला, ते द्वे (कर्मज्ञाने) विनैव विशुद्धप्रभावती, अकिञ्चना, अनन्यादि-शब्दवाच्या। द्वितीया तु कर्मज्ञानमिश्रेत्यखिलमग्रे विवृतीभविष्यति।

अथार्जुनस्य शोकमोहौ कथम्भूतावित्यपेक्षायां महाभारतवक्ता श्रीवैशम्पायनो जन्मेजयं प्रति तत्र भीष्मपर्वणि कथामवतारयति—धृतराष्ट्र उवाच इति। कुरुक्षेत्रे युयुत्सवो युद्धार्थं सङ्गता मामका दुर्योधनाद्याः पाण्डवाश्च युधिष्ठिरादयः किं कृतवन्तस्तद्ब्रूहि। ननु युयुत्सव इति त्वं ब्रवीष्येव, अतो युद्धमेव कर्त्तुमुद्यतास्ते तदपि किमकुर्वतेति केनाभिप्रायेण पृच्छसीत्यत आह—धर्मक्षेत्र इति। '*कुरुक्षेत्रं देवयजनम्*' इति श्रुतेः तत्क्षेत्रस्य धर्मप्रवर्त्तकत्वं प्रसिद्धम्। अतस्तत्संसर्गमहिम्ना यद्यधार्मिकानामपि दुर्योधनादीनां क्रोधनिवृत्त्या धर्मे मतिः स्यात्; पाण्डवास्तु स्वभावत एव धार्मिकाः ततो बन्धुहिंसनमनुचितमित्युभयेषामपि विवेक उद्भूते सन्धिरपि संभाव्यते। ततश्च ममानन्द एवेति सञ्जयं प्रति ज्ञापयितुं इष्टो भावो बाह्यः। आभ्यन्तरस्तु सन्धौ सति पूर्ववत् सकण्टकमेव राज्यं मदात्मजानामिति मे दुर्वार एव विषादः। तस्मादस्माकीनो भीष्मस्त्वर्जुनेन दुर्जय एवेत्यतो युद्धमेव श्रेयस्तदेव भूयात् इति तु तन्मनोरथोपयोगी दुर्लक्ष्यः। अत्र 'धर्मक्षेत्र' इति क्षेत्र-पदेन—धर्मस्य धर्मावतारस्य सपरिकर-युधिष्ठिरस्य ध्यान्यस्थानीयत्वं, तत्पालकस्य श्रीकृष्णस्य कृषिबलस्थानीयत्वं, कृष्णकृतनानाविधसाहाय्यस्य जलसेचन-सेतुबन्धनादिस्थानीयत्वं, श्रीकृष्णसंहार्य दुर्योधनादेर्धान्यद्वेषिधान्याकार-तृणविशेषस्थानीयत्वञ्च बोधितं सरस्वत्या।।१।।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर कृत—
'*सारार्थवर्षिणी*' टीकाका भावानुवाद

अपना (श्रीकृष्ण) नाम प्रदानकर पृथ्वीके अन्धकारको दूर करनेवाले, कुमुद सदृश भक्तोंका आनन्दवर्द्धन करनेवाले, प्रेम-सुधाके आगार, उन्नत-उज्ज्वल-रस प्रदानकारी श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभु मेरे हृदयमें विलास करें।

अज्ञ होनेपर भी मैं संन्यासी-शिरोमणि श्रीगौराङ्गसुन्दरके मतानुयायी होकर प्राचीन वैष्णवाचार्योंके विचारोंका विवेचन करते हुए गीतारूप अमृतका लेशमात्र पान करनेके लिए लुब्ध हुआ हूँ। अतः साधुगण मुझ शरणागतको क्षमा करें।

जिनके श्रीचरणकमलोंका भजन ही सभी शास्त्रोंका अभिमत है, वे नराकृति परब्रह्म भगवान् श्रीकृष्ण श्रीवसुदेवनन्दनके रूपमें श्रीगोपालपुरीमें अवतीर्ण हुए। परम अतर्क्य तथा अधोक्षज होनेपर भी योगमायाके माध्यमसे वे जनसाधारणके दृष्टिगोचर हुए एवं इस गीताका उपदेश देकर भवसागरमें निमग्न जगज्जीवोंका उद्धारकर अपने सौन्दर्य-माधुर्यादिके आस्वादन द्वारा उन्हें प्रेमरूपी महासागरमें निमज्जित कराया। सज्जनोंकी रक्षा तथा दुर्जनोंके संहारके लिए प्रतिज्ञाबद्ध होकर वे अवतरित हुए। परन्तु, भू-भार-हरणकी छलनासे उन्होंने दुष्टों, भगवद्विद्वेषियों तथा कुम्भीपाक नरकके समान संसाररूपी महासागरके दुःखोंमें निमग्न जीवोंके लिए मुक्तिदानरूपी परम रक्षाका ही कार्य किया।

अपनी अन्तर्द्धानलीलाके पश्चात् अनादिकालसे अविद्या तथा शोक-मोहादिसे ग्रस्त जीवोंका उद्धार करने तथा मुनियों द्वारा शास्त्रोंमें कृत यशोगानको धारण करनेके लिए भगवान् श्रीकृष्णने स्वेच्छापूर्वक शोक-मोहादिको अङ्गीकार करनेवाले अपने प्रिय परिकर अर्जुनको लक्ष्यकर गीताशास्त्रका उपदेश किया। इस गीताके तीन भाग हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग तथा भक्तियोग। भगवान् श्रीकृष्णने सभी वेदोंके तात्पर्यको गीताके अठारह अध्यायोंमें अठारह विद्याओंसे समन्वितकर परम पुरुषार्थका निरूपण किया है। इस गीता शास्त्रके प्रथम छः अध्यायोंमें निष्काम कर्मयोग तथा अन्तिम छः अध्यायोंमें ज्ञानयोग प्रदर्शित हुए हैं। इन दोनों योगोंसे भी अधिक रहस्यमय एवं सुदुर्लभ भक्तियोगको इनके बीचमें रखा गया है। यह भक्ति—ज्ञान और कर्मकी भी जीवनदायिनी है। कर्म तथा ज्ञान भक्तिरहित होनेपर व्यर्थ हैं। अतः भक्तिमिश्रित होनेपर ही ये दोनों आंशिकरूपमें स्वीकृत

हैं। भक्ति दो प्रकारकी होती है—केवला एवं प्रधानीभूता। केवला (आद्या) भक्ति स्वयं ही स्वतन्त्र एवं परम प्रबला है; इसे कर्म तथा ज्ञानकी सहायताकी कोई आवश्यकता नहीं है। अतः इसे परम प्रबला, अकिञ्चना तथा अनन्या आदि संज्ञाओंसे भी अभिहित किया जाता है। परन्तु दूसरी प्रधानीभूता भक्ति कर्म तथा ज्ञानसे मिश्रित होती है—आगे इसका भलीभाँति विचार किया जाएगा।

अब, अर्जुनका शोक एवं मोह किस प्रकारका है—इसे बतानेके लिए महाभारतके वक्ता श्रीवैशम्पायन श्रोता जनमेजयके लिए भीष्मपर्वकी अवतारणा करते हुए *'धृतराष्ट्र उवाच'* इत्यादि वाक्य कह रहे हैं। धृतराष्ट्र सञ्जयसे पूछते हैं कि युद्धाभिलाषी मेरे पुत्रोंने तथा पाण्डवोंने कुरुक्षेत्र नामक युद्धभूमिमें एकत्रित होकर क्या किया? यहाँ एक प्रश्न उठता है कि धृतराष्ट्रने अपने पुत्रोंको एवं पाण्डवोंको युद्धके लिए ही एकत्रित बताया, अतः वे तो युद्ध ही करेंगे। परन्तु, 'क्या किया'—इसके द्वारा जो प्रश्न कर रहे हैं, इसका क्या अभिप्राय है? इसके उत्तरके लिए ही धृतराष्ट्र *'धर्मक्षेत्रे'* शब्दका उल्लेख कर रहे हैं। श्रुतिमें ऐसा कहा गया है कि *'कुरुक्षेत्रं देवयजनम्'* अर्थात् कुरुक्षेत्र देवताओंकी यज्ञस्थली है। अतः यह क्षेत्र धर्म प्रवर्त्तक क्षेत्रके रूपमें प्रसिद्ध है। अतएव इसके सङ्गके प्रभावसे दुर्योधनादि अधार्मिक व्यक्तियोंका भी क्रोध दूर हो सकता है तथा वे धर्ममें प्रवृत्त हो सकते हैं; पाण्डव तो धार्मिक हैं ही। अतः विवेक उत्पन्न होनेपर बन्धुहिंसाको अनुचित जानकर दोनों ही सन्धिके लिए सहमत हो सकते हैं। बाह्यरूपसे धृतराष्ट्र ऐसा प्रदर्शित कर रहे हैं कि सन्धि होनेसे वे खुश ही होंगे, परन्तु आन्तरिकरूपसे उन्हें महादुःख हो रहा है कि यदि सन्धि हुई तो पहलेकी भाँति ही मेरे पुत्रोंके लिए यह राज्य सकण्टक बना रहेगा। धृतराष्ट्र सोच रहे हैं कि मेरे पक्षसे युद्ध करनेवाले भीष्म-द्रोणादि योद्धा तो अर्जुनके लिए भी अजेय हैं; अतः हमारी विजय तो सुनिश्चित है; इसलिए युद्ध करना ही श्रेयस्कर है। परन्तु, उनका यह आन्तरिक भाव दूसरोंके लिए बोधगम्य नहीं है।

यहाँ *'धर्मक्षेत्रे'*शब्दके *'क्षेत्र'* पदके द्वारा सरस्वतीदेवी एक विशेष अर्थको भी सूचित कर रही हैं—धर्म अर्थात् धर्मके अवतार सपरिकर युधिष्ठिरादि धानके पौधोंके समान हैं; उनलोगोंके पालनकर्त्ता भगवान् श्रीकृष्ण कृषकके समान हैं; कृष्णके द्वारा पाण्डवोंको दी जानेवाली विविध प्रकारकी सहायताएँ जल-सिंचन तथा मेड़-बन्धनके समान हैं एवं दुर्योधनादि कौरवगण

धानके खेतमें उत्पन्न श्यामा–घासकी भाँति हैं। धानके खेतसे श्यामा–घासके उन्मूलनके समान ही दुर्योधनादि कौरवोंका भी इस धर्मक्षेत्रसे उन्मूलन किया जाएगा।।१।।

सारार्थवर्षिणी प्रकाशिका वृत्ति

ॐ अज्ञानतिमिरान्धस्य ज्ञानाञ्जनशलाकया।
चक्षुरुन्मीलितं येन तस्मै श्रीगुरवे नमः।।
नमः ॐ विष्णुपादाय कृष्ण–प्रेष्ठाय भूतले।
श्रीश्रीमद्भक्तिप्रज्ञान केशव इति नामिने।।
अतिमर्त्य–चरित्राय स्वाश्रितानाञ्च–पालिने।
जीव–दुःखे सदार्त्ताय श्रीनाम–प्रेम–दायिने।।
नमः ॐ विष्णुपादाय कृष्णप्रेष्ठाय भूतले।
श्रीमते भक्तिसिद्धान्त सरस्वतीति नामिने।।
नमो भक्तिविनोदाय सच्चिदानन्द नामिने।
गौरशक्तिस्वरूपाय रूपानुगवराय ते।।
विश्वनाथरूपोऽसौ भक्तिवर्त्म प्रदर्शनात्।
भक्तचक्रे वर्त्तित्वात् चक्रवर्त्याख्ययाभवत्।।

श्रीगौड़ीय वैष्णवाचार्यप्रवर परम वैदान्तिक एवं रसिक चूड़ामणि महामहोपाध्याय श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरने श्रीमद्भगवद्गीताकी श्रीसारार्थवर्षिणी नामक एक अमूल्य और सारगर्भित टीकाकी रचना की है। एक तो यह टीका संस्कृत भाषामें है, दूसरी वह केवल बंगला लिपिमें ही उपलब्ध है। अतः हिन्दी भाषा–भाषी इस अमूल्य निधिसे सर्वथा वञ्चित हैं। अतएव, श्रद्धालु जनसाधारणके व्यापक हितमें उक्त टीकाके हिन्दी अनुवादमें प्रवृत्त हो रहा हूँ। टीकाकी शैली एवं भाव अत्यन्त गम्भीर तथा परमोच्च दार्शनिक सुसिद्धान्तोंसे समृद्ध हानेके कारण उक्त अनुवादको सरल, सहज और बोधगम्य करानेके लिए उक्त टीकाकी एक प्रकाशिका वृत्तिकी रचना करना भी आवश्यक समझता हूँ। श्रीश्रीगुरुवैष्णवों एवं स्वयं श्रीचक्रवर्त्ती ठाकुरकी कृपाके बिना यह सुदुष्कर कार्य सम्भव नहीं है। अतः सर्वप्रथम इन सबके कृपाशीर्वादके लिए इनके श्रीचरणकमलोंमें सकातर प्रार्थना करता हूँ।

श्रीमद्भगवद्गीता समस्त श्रुतियों, उपनिषदों एवं पुराणोंका सार–सङ्कलन है। इन आम्नाय प्रमाणोंके सुपुष्ट आधारपर यह निर्णीत है कि व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं। वे अखिल रसामृत मूर्ति एवं सर्वशक्तिमान्

अद्वयज्ञान परतत्त्व हैं। उनकी अनन्त शक्तियोंमें से चित्–शक्ति (स्वरूप–शक्ति), जीव–शक्ति (तटस्था–शक्ति) तथा अचित्–शक्ति (माया–शक्ति)—ये तीन प्रधान हैं। स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी इच्छासे श्रीवैकुण्ठ–गोलोक–वृन्दावन चित्–शक्तिका, जीवसमूह जीव–शक्तिका तथा प्राकृत जगत् माया–शक्तिका परिणाम है। जीव दो प्रकारके हैं—मुक्त और बद्ध। मुक्त जीव वैकुण्ठ एवं गोलोक आदि धामोंमें नित्यकाल भगवान्के सेवा–सुखमें नियुक्त रहते हैं। वे मायाके कारागार इस प्राकृत जगत्में कभी बद्ध नहीं होते। इसीलिए इनको नित्य–मुक्त कहा गया है। वे भगवत्–इच्छासे कभी–कभी भगवत्–परिकरके रूपमें इस मायिक जगत्में जगत्–कल्याणके लिए ही अवतरण करते हैं। दूसरे प्रकारके जीवोंको अनादि–बद्ध जीव कहते हैं। ये अनादि कालसे मायासे कवलित होकर जन्म और मृत्युके चक्करमें भ्रमण करते हुए त्रितापोंसे दग्ध हो रहे हैं। करुणावरुणालय भगवान् श्रीकृष्णने अपने नित्यसिद्ध परिकर अर्जुनके हृदयमें अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे मानो मोह (अज्ञान) उत्पन्न कराकर उस मोहकी निवृत्तिके बहाने मायाग्रस्त जीवमात्रका उद्धार करनेके लिए आत्मतत्त्व निरूपक इस गीता शास्त्रका उपदेश दिया। विशुद्ध भगवत्–भक्ति ही गीता शास्त्रका चरम प्रतिपाद्य विषय है। गीतामें निर्दिष्ट शुद्ध भक्तिका अवलम्बन करनेसे ही मायाग्रस्त जीव अपने विशुद्ध स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर भगवत्–सेवामें नियुक्त हो सकते हैं। इसके अतिरिक्त बद्ध जीवोंके कल्याणका दूसरा कोई भी पथ नहीं है।

श्रील चक्रवर्ती ठाकुर प्रमुख श्रीगौड़ीय वैष्णवाचार्योंने शास्त्रोंके पुष्ट प्रमाणों एवं अकाट्य युक्तियोंके आधारपर यह स्पष्टरूपमें प्रमाणित किया है कि गीताके वक्ता कभी भी निःशक्तिक, निर्विशेष, निराकार एवं अप्राकृत दया आदि सद्‌गुणोंसे रहित—निर्गुण नहीं हैं। जीव कदापि परब्रह्म नहीं है अथवा मुक्तावस्थामें भी वह परब्रह्म नहीं हो सकता। मुक्त होनेपर भी वह शुद्ध अणु–चैतन्य जीव ही रहेगा। हाँ! उस समय उसे भगवत्–परिकर कहा जाता है।

श्रुति मन्त्रोंके द्वारा यह प्रमाणित होता है कि परमेश्वर एवं जीवात्मा दोनों ही ज्ञान–स्वरूप, ज्ञाता–स्वरूप, भोक्ता–स्वरूप, कर्त्ता–स्वरूप एवं शुद्ध चिन्मय अहङ्कारयुक्त हैं। अतः इन दोनोंमें तत्त्वतः भेद नहीं है, किन्तु अणुचित् होनेके कारण जीव अल्पज्ञ और मायाके द्वारा वशीभूत होने योग्य है। परमेश्वर मायाधीश हैं; अतः ईश्वर और जीवमें तत्त्वतः भेद

नहीं होनेपर भी भेदकी प्रतीति सत्य है। इस भेदकी प्रतीतिको ही वैशिष्ट्य कहते हैं। जिस प्रकार सूर्य और उसके प्रकाशमें धर्मी और धर्मका भेद तथा अभेद दोनों ही सत्य है, उसी प्रकार जीवका परमेश्वरके साथ भेद और अभेद दोनों ही सम्बन्ध श्रुति-सिद्ध है। वह भेद और अभेद सम्बन्ध बुद्धिसे अतीत केवल शास्त्र बुद्धिगम्य होनेके कारण अचिन्त्य कहलाता है। अतएव नित्य अचिन्त्य-भेदाभेदरूप परतत्त्व ही गीता शास्त्रका प्रतिपाद्य विषय है। परतत्त्व-वस्तु-स्वरूप श्रीकृष्णका उनकी शक्तिके परिणामस्वरूप जीव और जगत्‌से भेद और अभेद स्वीकृत रहनेपर भी भेदकी प्रतीति ही नित्य है, अभेदकी प्रतीति नहीं। इस ग्रन्थमें जीवात्मा, परमात्मा, परमात्माके धाम और परमात्माकी प्राप्तिके उपायोंको यथास्थान निरूपित किया गया है।

ब्रह्मकी प्राप्तिके लिए यद्यपि कर्म, ज्ञान और भक्तिके भेदसे तीन प्रकारके साधन बतलाए गये हैं, किन्तु वास्तवमें भक्तियोग ही भगवत्प्राप्तिका एकमात्र साधन है। इस भक्तियोगकी प्रथमावस्थाको कर्मयोग, कुछ उन्नत अवस्था होनेपर मध्यवर्ती अवस्थाको ज्ञानयोग तथा परिपक्व उन्नत अवस्थामें उसे भक्तियोग कहा गया है। कर्म साक्षात् रूपमें भगवत्प्राप्तिका साधन नहीं है, बल्कि यह पारम्परिक साधनमात्र है। वेद-विहित भगवद्भक्तिमिश्र (भगवदर्पित) कर्मके द्वारा चित्तशुद्धि होनेपर चित् और अचित्‌के विवेकस्वरूप तत्त्वज्ञानका उन्मेष होता है। भगवद्भावशून्य ज्ञान और कर्म दोनों ही निरर्थक हैं। तत्त्वज्ञानके उन्मेषके साथ-ही-साथ केवला भक्तिका हृदयमें प्रकाश होता है। इस केवला भक्तिके परिपक्व होनेपर जीव-हृदयमें प्रेमका प्रादुर्भाव होता है। यह प्रेम ही भगवत्साक्षात्कार या भगवत्प्राप्तिका एकमात्र साधन है। गीताका यही गूढ़ रहस्य है। केवल निर्विशेष ज्ञानके द्वारा मुक्ति नहीं होती। भक्तिभाव-मिश्रित ज्ञानसे ही सालोक्य, सारूप्य आदि मुक्तियाँ अवान्तररूपमें प्राप्त होती हैं। गीतामें कही गयी केवला-भक्तिके द्वारा गोलोक-वृन्दावनरूप परमधाममें परतत्त्वरूप स्वयं-भगवान् कृष्णकी प्रेममयी सेवाकी प्राप्ति होती है। इस धामको प्राप्त करनेपर कभी इस जगत्‌में लौटनेकी सम्भावना नहीं होती है। यह प्रेम-सेवाकी प्राप्ति ही जीवोंके लिए चरम प्रयोजन है।

भक्ति दो प्रकारकी होती है—केवला और प्रधानीभूता। केवला भक्तिको ही अनन्या, अकिञ्चना, विशुद्धा और निर्गुणा भक्ति भी कहते हैं। प्रधानीभूता भक्ति भी कर्म-प्रधानीभूता और ज्ञान-प्रधानीभूताके भेदसे दो

प्रकारकी होती है। कर्म-प्रधानीभूतासे क्रमशः चित्तशुद्धि और तत्त्वज्ञान होता है और ज्ञान-प्रधानीभूतासे मुक्तिकी प्राप्ति होती है। किन्तु, जिस कर्म-प्रधानीभूताका लक्ष्य तत्त्वज्ञान होता है तथा जिस ज्ञान-प्रधानीभूताका उद्देश्य केवला-भक्ति होती है, केवल वे ही कर्मयोग और ज्ञानयोग कहलाते हैं और वे ही भक्तिके सोपान हैं, अन्यथा भक्तिरहित ज्ञान और कर्म—दोनों ही निरर्थक हैं।

गीतोपनिषद् महाभारतके भीष्मपर्वके पच्चीसवें अध्यायसे बयालीसवें अध्याय तकके अठारह अध्यायोंका संग्रह है। इसके तीन विभाग हैं। प्रत्येक विभागमें छः अध्याय हैं। पहले विभागमें जीवात्माको ईश्वरका अंश बतलाया गया है तथा जीव-स्वरूपको इस रूपमें प्रदर्शित किया गया है कि वह अपने अंशी अर्थात् भगवान्की सेवाका अधिकारी हो सके। मध्यवर्ती छः अध्यायोंमें शुद्धभक्ति-तत्त्वका वर्णन किया गया है। यही भक्ति परमपुरुषार्थस्वरूप भगवत्प्राप्तिका सर्वश्रेष्ठ साधन है। अन्तिम तीसरे विभागमें तत्त्वज्ञानका निरूपण किया गया है। केवला-भक्ति गीताशास्त्रका प्रतिपाद्य विषय होनेके कारण एक चिन्तामणिस्वरूप है। यह चिन्तामणि श्रीगीतारूपी एक मञ्जुषाके भीतर सुरक्षित रखी गयी है, जिसमें ऊपरी ढक्कन निष्काम कर्मयोग तथा निचला भाग (पेंदा) भक्तिमूलक ज्ञानयोग है। दृढ़ श्रद्धालु, धर्मनिष्ठ, सदाचारपरायण और जितेन्द्रिय व्यक्ति ही इस ग्रन्थके अनुशीलनके अधिकारी हैं। ऐसे अधिकारी सनिष्ठ, परनिष्ठित और निरपेक्ष—तीन प्रकारके हैं। इस विषयमें विशेषरूपसे जाननेके लिए टीकाका भावानुवाद द्रष्टव्य है।

इस ग्रन्थके प्रारम्भिक सत्ताईस श्लोकोंमें जो *'धृतराष्ट्र उवाच'* एवं *'सञ्जय उवाच'*—इत्यादि उक्तियाँ देखी जाती हैं, वे ग्रन्थकी सङ्गतिके लिए श्रीकृष्ण द्वैपायन वेदव्यासके द्वारा रचित हैं। इन्हें इस ग्रन्थकी उपक्रमणिकाके रूपमें ग्रहण करना चाहिए। जैसे लवणसमुद्रमें नमकका एक टुकड़ा मिल जानेसे वह भी उसमें पूर्णरूपसे घुलमिलकर एक हो जाता है, वैसे ही श्रीवेदव्यास द्वारा रचित यह उपक्रमणिका भी श्रीकृष्ण कथित गीतारूपी महासागरमें मिलकर एकाकार हो गई है।

अर्जुन—ये भगवान् श्रीकृष्णके नित्यपार्षद हैं। इनमें शोक और मोहका होना नितान्त असम्भव है। जब भगवान् श्रीकृष्णकी मधुर लीला-कथाओंसे पूर्ण श्रीमद्भागवत ग्रन्थका श्रवण करनेके साथ-ही-साथ पुरुषोत्तम, अधोक्षज श्रीकृष्णके चरणकमलोंमें शोक, मोह और भयको नाश करनेवाली भक्तिका

उदय होता है—'*यस्या वै श्रूयमाणायां*' (श्रीमद्भा. १/७/७), तब उन स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके नित्य सख्य-रसके सेवक भक्तप्रवर अर्जुनको शोक और मोह कैसे हो सकता है? स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने शोक, मोहग्रस्त जीवोंका उद्धार करनेके लिए ही '*तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्*' (गीता १२/७) अपने साथ अवतीर्ण नित्यमुक्त पार्षदप्रवर अर्जुनको स्वेच्छासे शोक, मोहग्रस्त जैसा दिखलाकर प्रश्नोत्तरके माध्यमसे स्वतत्त्व (भगवत्-तत्त्व), जीव-तत्त्व, धाम-तत्त्व, माया-तत्त्व तथा भक्ति-तत्त्व आदिका यथार्थ स्वरूप निरूपण किया है।

श्रीचक्रवर्त्ती महोदयने '*सर्वधर्मान् परित्यज्य*' (गीता १८/६६) की टीकामें भी लिखा है—'*त्वामवलम्ब्यैव शास्त्रमिदं लोकमात्रमेवोपदेष्टामि*' अर्थात् तुमको निमित्त बनाकर मैं जीवमात्रके लिए ही इस गीता शास्त्रका उपदेश दे रहा हूँ। इसके अतिरिक्त '*योगीन्द्राय नमः*' (श्रीमद्भा. १२/१३/२१) श्लोककी स्वकृत सारार्थदर्शिनी टीकामें भी उन्होंने लिखा है—"गीताशास्त्रमें अर्जुनके मोहका जो उल्लेख है, वह प्राकृत लोक-प्रतीतिकी भाँति ही एक उक्ति मात्र है। वस्तुतः अर्जुन भगवान्‌के नित्यपार्षद हैं। इसीलिए उन्हें शोक, मोहकी तो बात ही क्या, उनमें मायिक संसारकी गन्ध भी सम्भव नहीं, किन्तु जीवोंके कल्याण करनेमें परम चतुर, महाकृपालु महत्पुरुषोंमेंसे किसी एक महाप्रसिद्ध व्यक्तिको ही निमित्त बनाकर हितोपदेश दिया जाता है। शास्त्रोंमें सर्वत्र ही यही नीति दृष्टिगोचर होती है।"

अष्टादश विद्याएँ—चार वेद; शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, ज्योतिष और छन्द—ये छः वेदाङ्ग; मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र, पुराण, आयुर्वेद, धनुर्वेद, गान्धर्ववेद तथा अर्थशास्त्र—ये अष्टादश विद्याएँ हैं, ऐसा विष्णुपुराणमें उल्लिखित है—

'*अङ्गानि वेदश्चत्वारो मीमांसा न्यायविस्तरः।*
धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्या ह्येतां चतुर्दशः।।
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वाश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थञ्च विद्या ह्यष्टादशैव ताः।।'

कुरुक्षेत्र—व्यासजीने युद्धस्थल कुरुक्षेत्रको धर्मक्षेत्र कहा है। इसका एक गूढ़ तात्पर्य है। श्रीमद्भागवत (९/२२/४) के अनुसार कुरुराजके नामपर इस क्षेत्रका नाम कुरुक्षेत्र हुआ। महाभारत शल्यपर्वके अनुसार महाराज कुरु किसी समय इस क्षेत्रको हलसे जोत रहे थे, उस समय देवराज इन्द्रने

उपस्थित होकर उनसे पूछा—"तुम किसलिए ऐसा कर रहे हो?" कुरुराजने उत्तर दिया—"जो लोग इस क्षेत्रमें देहत्याग करें, उन्हें स्वर्गलोककी प्राप्ति हो।" ऐसा सुनकर देवराजने उनका उपहास किया एवं स्वर्गलोक लौट गए। राजा पुनः बड़े उत्साहसे हल चलाने लगे। इन्द्र पुनः पुनः उनके समीप आकर उनका उपहास करते और चले जाते। अन्ततः अन्य देवताओंके परामर्शसे देवराजने प्रसन्न होकर कुरुराजको यह वर दिया कि जो भी इस क्षेत्रमें देह त्याग करेंगे अथवा युद्धमें मारे जाएँगे, उन्हें अवश्य ही स्वर्गकी प्राप्ति होगी। इसीलिए युद्धके लिए इस धर्मक्षेत्रका चयन किया गया।

जावालोपनिषद् (१/२) में भी कुरुक्षेत्रको देवताओंकी यज्ञस्थली तथा प्राणिमात्रके लिए यज्ञका स्थान बतलाया गया है। यहाँ यज्ञ करनेसे स्वर्गलोक एवं ब्रह्मलोककी प्राप्ति होती है।

सत्पथ ब्राह्मणमें भी *'कुरुक्षेत्रं देवयजनमास। तस्मादाहुः कुरुक्षेत्रं देवयजनम्'* कहा गया है।

धर्मक्षेत्रमें 'धर्म' और 'क्षेत्र'—ये दो पद हैं। यहाँ 'क्षेत्र' पदसे 'खेत' का बोध होता है। जिस प्रकार कृषक धानके खेतमें जलसिंचनके द्वारा धानकी खेती करता है, किन्तु धानके पौधोंके साथ-साथ एक प्रकारकी घास भी उग आती है—इस घासको श्यामा घास कहते हैं। यह घास देखनेमें ठीक धानके पौधोंके समान होती है। सिंचाईके जलको स्वयं ग्रहणकर यह घास धानके पौधोंको ढककर स्वयं बढ़ जाती है। धानके पौधे धीरे-धीरे सूख जाते हैं। इसलिए कुशल कृषक उन धान्य-विरोधी घासोंको समूल उखाड़कर फेंक देता है। उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णने उस क्षेत्रमें धर्म-विरोधी, धर्माभास, अधार्मिक दुर्योधनादिका संहारकर मूर्तिमान धर्मस्वरूप सपरिकर युधिष्ठिरादिका पालन-पोषण किया था।

सरस्वती एवं दृषद्वती नदियोंके मध्यवर्त्ती क्षेत्रको कुरुक्षेत्र कहा गया है। यह महर्षि मुद्गल तथा महाराज पृथुकी भी तपस्यास्थली है। परशुरामजीने क्षत्रियोंके विनाश करनेके पश्चात् इसी क्षेत्रके अन्तर्गत पाँच स्थानोंपर यज्ञ किया था। इसीलिए इस स्थानको पहले 'समन्त पञ्चक' क्षेत्र कहा जाता था। बादमें महाराज कुरुके नामपर यह क्षेत्र कुरुक्षेत्रके नामसे प्रसिद्ध हुआ।

सञ्जय—ये गवल्गाम नामक सूतके पुत्र थे। ये शास्त्रज्ञ, उदार एवं धर्मात्मा थे। इन गुणोंके कारण भीष्म पितामहने इन्हें और विदुरको धृतराष्ट्रका राजमन्त्री नियुक्त किया था। ये द्वितीय विदुरस्वरूप और अर्जुनके प्रिय सखा थे। श्रीव्यासदेवकी कृपासे इन्हें दिव्य दृष्टि प्राप्त हुई थी, जिससे ये सुदूर हस्तिनापुरके राजभवनमें रहकर भी कुरुक्षेत्रका युद्ध देखकर राजा धृतराष्ट्रको युद्धका सारा वृत्तान्त सुनाते थे। महाराज युधिष्ठिरने भी इन्हें मृदुभाषी, परम हितैषी, शान्त स्वभाव, सर्वदा सन्तुष्ट रहनेवाले तथा समदर्शी पुरुष बतलाया है। ये सदा मर्यादामें प्रतिष्ठित रहते थे तथा किसीके दुर्व्यवहारसे उत्तेजित नहीं होते थे। ये बिना भेदभावके निडर होकर धर्मसङ्गत बातें कहते थे।।१।।

सञ्जय उवाच—

दृष्ट्वा तु पाण्डवानीकं व्यूढं दुर्योधनस्तदा।
आचार्यमुपसङ्गम्य राजा वचनमब्रवीत्।।२।।

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) राजा दुर्योधनः तदा (राजा दुर्योधनने तब) व्यूढम् (व्यूह रचनापूर्वक स्थित) पाण्डवानीकम् (पाण्डवोंकी सेनाको) दृष्ट्वा तु (देखकर और) आचार्यम् उपसङ्गम्य (द्रोणाचार्यके पास उपस्थित होकर) वचनम् (यह वचन) अब्रवीत् (कहा)।।२।।

अनुवाद—सञ्जयने कहा—महाराज! पाण्डवोंकी सेनाको व्यूहाकारमें अवस्थित देखकर दुर्योधनने द्रोणाचार्यके पास जाकर यह वचन कहा।।२।।

श्रीविश्वनाथ—विदित-तदभिप्रायस्तदाशंसितं यद्धमेव भवेत्, किन्तु तन्मनोरथप्रतिकूलमिति मनसि कृत्वाह—दृष्ट्वेति, व्यूढं व्यूहरचनयावस्थितम्, राजा दुर्योधनः सान्तर्भयमुवाच—पश्येतामिति नवभिः श्लोकैः।।२।।

भावानुवाद—सञ्जयने धृतराष्ट्रके आन्तरिक भावको समझकर कहा कि आपके इच्छानुसार युद्ध अवश्य ही होगा। परन्तु, इसका परिणाम धृतराष्ट्रके मनोरथके विपरीत होगा—यह जानकर सञ्जय 'दृष्ट्वा' आदि शब्द कह रहे हैं। यहाँ 'व्यूढं' शब्दका तात्पर्य व्यूहरचनापूर्वक अवस्थित पाण्डवोंकी सेनासे है। अतः राजा दुर्योधन अन्दरसे भयभीत होकर 'पश्यैतां' इत्यादि नौ श्लोकोंको कह रहे हैं।।२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—धृतराष्ट्र जन्मान्ध थे, किन्तु दुर्भाग्यवश उस समय वे धार्मिक एवं पारमार्थिक—दोनों ही दृष्टियोंसे रहित होनेके कारण शोक और मोहसे अभिभूत हो रहे थे। कहीं धर्मक्षेत्रके प्रभावसे पुत्र दुर्योधन पाण्डवोंको आधा राज्य लौटा न दे—यह सोचकर वे निराश हो

गए। परम धार्मिक एवं दूरदर्शी सञ्जयने उनके मानसिक भावको भाँप लिया। यद्यपि सञ्जय यह जानते थे कि युद्धका परिणाम धृतराष्ट्रके मनोनुकूल न होगा, तथापि बड़ी बुद्धिमत्तापूर्वक धृतराष्ट्रसे उन्हें छिपाकर सान्त्वना देते हुए कहा—"दुर्योधन पाण्डवोंसे समझौता करने नहीं जा रहा है, वरं वह तो पाण्डवोंकी अतिशय दृढ़ व्यूहरचनाको देखकर युद्धविद्याके अपने गुरु आचार्य द्रोणके समीप स्वयं ही जाकर उनको वास्तविक परिस्थितिसे अवगत करा रहा है।" आचार्यके समीप जानेके दो अभिप्राय हैं, एक तो वह पाण्डवोंकी सुदृढ़ व्यूहरचनाको देखकर भयभीत था और दूसरा अपनी राजनैतिक कुशलताका परिचय देनेके लिए गुरु द्रोणाचार्यको मानो मर्यादा देने गया। इससे वह राजनीतिमें निपुण होनेके नाते राजाकी पदवीके सर्वथा योग्य ही है। यह उसके कूटनैतिक व्यवहारसे प्रतिपादित हो रहा है। 'सञ्जय उवाच' का यही तात्पर्य है।

दुर्योधन—यह धृतराष्ट्र एवं गान्धारीके सौ पुत्रोंमें से सबसे बड़ा था। इसके जन्मके समय नाना प्रकारके अपशकुन दिखाई पड़े थे। विदुर जैसे महात्माओंने उन अपशकुनोंको देखकर ऐसी आशङ्का की थी कि इसके द्वारा कुरुकुलका ध्वंस होगा। महाभारतके अनुसार दुर्योधन कलिके अंशसे उत्पन्न हुआ था। यह बहुत बड़ा पापी, क्रूर तथा कुरुवंशका कलङ्कस्वरूप था। इसके नामकरणके समय उपस्थित कुलपुरोहित एवं बड़े-बड़े ज्योतिष विशारदोंने इसके भविष्यके लक्षणोंको देखकर इसका नाम दुर्योधन रखा। जीवनके अन्त समयमें भगवान् श्रीकृष्णके इङ्गितसे भीमके द्वारा इसका लोमहर्षक वध हुआ।

व्यूह—

'समग्रस्य तु सैन्यस्य विन्यासः स्थानभेदतः।
स व्यूह इति विख्यातो युद्धेषु पृथिवीभुजाम्।।'

(शब्दरत्नावली)

युद्धमें विजय प्राप्त करनेके लिए कुशल राजाओंके द्वारा अपनी समग्र सेनाको इस प्रकारसे स्थापित करना, जो विपक्षके द्वारा सभी दिशाओंसे दुर्भेद्य हो—यह व्यवस्था व्यूहके नामसे विख्यात है।।

द्रोणाचार्य—ये पाण्डुपुत्रों एवं धृतराष्ट्रपुत्रोंके अस्त्र-शस्त्रके आचार्य थे। ये महर्षि भरद्वाजके पुत्र थे। 'द्रोण' अर्थात् कलशसे इनका जन्म होनेके कारण ये द्रोणके नामसे प्रसिद्ध हुए। ये अस्त्र-शस्त्र विद्याकी भाँति वेद-वेदाङ्गादि शास्त्रोंमें भी निपुण थे। इन्होंने महर्षि परशुरामजीको प्रसन्नकर

उनके निकट सरहस्य धनुर्वेदादि विद्याओंका अध्ययन किया था। ये स्वेच्छासे ही मर सकते थे, अन्यथा कोई भी उनको मार नहीं सकता था। अपने मित्र पाञ्चालराज द्रुपदके द्वारा अपमानित होकर जीविका निर्वाहके लिए हस्तिनापुरमें उपस्थित हुए। इनकी योग्यतासे प्रभावित होकर भीष्म पितामहने इन्हें दुर्योधन एवं युधिष्ठिरादि राजकुमारोंकी शिक्षाके लिए आचार्य पदपर नियुक्त किया था। अर्जुन इनके प्रियतम शिष्य थे। महाभारत संग्राममें राजा दुर्योधनने अनुनय-विनय और कूटनीतिपूर्वक इनको भीष्मके पश्चात् कौरव सेनाका सेनापति नियुक्त किया था।।२।।

पश्यैतां पाण्डुपुत्राणामाचार्य महतीं चमूम्।
व्यूढां द्रुपदपुत्रेण तव शिष्येण धीमता।।३।।

अन्वय—आचार्य (हे आचार्य!) तव धीमता शिष्येन द्रुपदपुत्रेण (आपके बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदतनय धृष्टद्युम्नके द्वारा) व्यूढाम् (व्यूह-रचनापूर्वक स्थापित) पाण्डुपुत्राणाम् (पाण्डुपुत्रोंके) एताम् महतीम् चमूम् (इस विशाल सेनाका) पश्य (अवलोकन करें)।।३।।

अनुवाद—हे आचार्य! अपने बुद्धिमान् शिष्य द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्नके द्वारा व्यूहाकारमें स्थापित पाण्डवोंकी इस विशाल सेनाका अवलोकन करें।।३।।

श्रीविश्वनाथ—द्रुपदपुत्रेण धृष्टद्युम्नेन तव शिष्येणेति स्ववधार्थमुत्पन्न इति जानतापि त्वयाऽयमध्यापित इति तव मन्दबुद्धित्वम्। धीमतेति शत्रोरपि त्वत्तः सकाशात् त्वद्वधोपायविद्या गृहीतेत्यस्य महाबुद्धित्वं फलकालेऽपि पश्येति भावः।।३।।

भावानुवाद—द्रुपदपुत्र धृष्टद्युम्न आपके ही शिष्य हैं। आपके वधके लिए ही इनका जन्म हुआ है। ऐसा ज्ञात रहनेपर भी आपने धृष्टद्युम्नको शिक्षा दी—यह आपके मन्दबुद्धित्वका ही परिचय है। यहाँ दुर्योधनने धृष्टद्युम्नके लिए 'धीमता' शब्दका प्रयोग किया है। इसका एक गूढ़ अर्थ है। दुर्योधन द्रोणाचार्यको बताना चाहते हैं कि शत्रु होनेपर भी उसने आपके निकट ही आपके वधका उपाय सीखा, इसलिए वह महाबुद्धिमान है। फलके समय भी आप उसके महाबुद्धित्वको देखें। कूटनीतिज्ञ दुर्योधनका गुरुके प्रति इन कूटोक्तियोंका प्रयोग द्रोणाचार्यको क्रोधान्वित करनेके लिए ही किया गया।।३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

धृष्टद्युम्न—पाञ्चाल नरेश द्रुपदने द्रोणाचार्यके विनाशके लिए पुत्रकी इच्छासे एक यज्ञका अनुष्ठान किया। उस यज्ञीय अग्निसे कवच और अस्त्रोंको धारण किए हुए एक बालकका जन्म हुआ। साथ-ही-साथ

आकाशवाणी हुई कि यह द्रुपदनन्दन द्रोणका वध करेगा। ब्राह्मणोंने इस वीर बालकका नाम धृष्टद्युम्न रखा। इन्होंने द्रोणाचार्यके निकट धनुर्वेदकी शिक्षा ग्रहण की। द्रोणाचार्य परम उदार थे। धृष्टद्युम्नको अपना प्राणनाशक जानकर भी इसे बहुत ही यत्नपूर्वक अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षा प्रदान की। आचार्य द्रोण अपने इसी शिष्यके द्वारा महाभारत युद्धमें निहत हुए थे।।३।।

अत्र शूरा महेष्वासा भीमार्जुनसमा युधि।
युयुधानो विराटश्च द्रुपदश्च महारथः।।४।।
धृष्टकेतुश्चेकितानः काशिराजश्च वीर्यवान्।
पुरुजित्कुन्तिभोजश्च शैब्यश्च नरपुङ्गवः।।५।।
युधामन्युश्च विक्रान्त उत्तमौजाश्च वीर्यवान्।
सौभद्रो द्रौपदेयाश्च सर्व एव महारथाः।।६।।

अन्वय—अत्र (इस सेनामें) युधि (युद्धमें) महेष्वासाः (महाधनुर्धारी) भीमार्जुनसमाः (भीम और अर्जुनके समान) शूराः (वीर) सन्तिः (हैं) [यथा] युयुधानः (सात्यकि) विराटः च (विराटराज) महारथः द्रुपदः च (और महारथी द्रुपद)।।४।।

अन्वय—अत्र युधि (इस युद्धमें) धृष्टकेतुः (धृष्टकेतु) वीर्यवान् काशिराजः च (वीर काशिराज) पुरुजित् (पुरुजित्) कुन्तिभोजः च (कुन्तिभोज) नरपुङ्गवः (नरश्रेष्ठ) शैब्यः च (शैब्य) विक्रान्तः (परम पराक्रमी) युधामन्युः च (युधामन्यु) वीर्यवान् उत्तमौजाः च (वीर उत्तमौजा) सौभद्रः च (अभिमन्यु) द्रौपदेयाः च (द्रौपदीके पुत्र प्रतिबिन्ध्यादि) सर्व एव (ये सभी) महारथाः (सन्ति) (महारथी हैं)।।५-६।।

अनुवाद—इस सेनामें महाधनुर्धारी अर्जुन और भीम एवं उनके समान ही शूरवीर सात्यकि, विराटनरेश तथा महारथी द्रुपदादि हैं।।४।।

अनुवाद—इस युद्धमें धृष्टकेतु, चेकितान, वीर काशिराज, पुरुजित्, कुन्तीभोज, नरश्रेष्ठ शैब्य, परम पराक्रमी युधामन्यु, वीर्यवान् उत्तमौजा, अभिमन्यु, द्रौपदीके पुत्र प्रतिबिन्ध्य आदि महारथी हैं।।५-६।।

श्रीविश्वनाथ—अत्र चम्वाम्, महान्तः शत्रुभिश्छेत्तुमशक्या इष्वासा धनूंषि येषां ते। युयुधानः सात्यकीः सौभद्रोऽभिमन्युः द्रौपदेया युधिष्ठिरादिभ्यः पञ्चभ्यो जाताः प्रतिबिन्ध्यादयः। महारथादीनां लक्षणम्—"*एको दशसहस्राणि योधयेद् यस्तु धन्विनाम्। शस्त्रशास्त्र-प्रवीणश्च महारथ इति स्मृतः।। अमितान् योधयेद् यस्तु स एवातिरथः स्मृतः। रथी चैकेन यो योद्धा तन्न्यूनोऽर्धरथः स्मृतः।।*"इति।।४-६।।

भावानुवाद—यहाँ 'महेष्वासाः' शब्दका अर्थ है—इन महाधनुर्धारियोंके दृढ़ धनुषको शत्रुगण भी छेदन करनेमें असमर्थ हैं। यहाँ 'युयुधान' से सात्यकि, 'सौभद्रः' से अभिमन्यु 'द्रौपदेयाः' से द्रौपदीसे उत्पन्न प्रतिबिन्ध्यादि पाँचों पाण्डवोंके पुत्रोंका बोध होता है। अब महारथियोंका लक्षण निरूपित किया जा रहा है—धनुर्विदोंमें जो शस्त्र-अस्त्रादिमें निपुण होते हैं तथा जो अकेले ही दस हजार धनुर्धारियोंके साथ युद्ध करते हैं, उन्हें 'महारथी' कहा जाता है। जो अकेले ही असंख्य योद्धाओंके साथ युद्ध करते हैं, वे 'अतिरथी' कहलाते हैं। एक व्यक्तिके साथ युद्ध करनेवाले 'योद्धा' कहलाते हैं तथा इससे भी कम के साथ युद्ध करने वाले 'अर्द्धरथी' कहलाते हैं।।४-६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

युयुधान—वीर सात्यकिका ही अन्य नाम युयुधान है। ये कृष्णके परमप्रिय सेवक, परम पराक्रमी और यादवसेनाके प्रधान सेनापतियोंमें से एक अतिरथी थे। इन्होंने अर्जुनसे सरहस्य अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षा ग्रहण की थी। महाभारतके युद्धमें इन्होंने पाण्डवोंके पक्षसे युद्ध किया था।

विराट—ये मत्स्य देशके धार्मिक राजा थे। पाण्डवोंने इन्हींकी छत्रछायामें एक वर्षका अज्ञातवास किया था। इनकी कन्याका नाम उत्तरा था, जिसका विवाह अर्जुनके प्रसिद्ध पुत्र अभिमन्युसे हुआ था। ये महाभारतके संग्राममें अपने पुत्र उत्तर, श्वेत और शङ्खके साथ निहत हुए।

द्रुपद—ये पाञ्चाल देशके राजा पृषतके पुत्र थे। महाराज पृषत और महर्षि भरद्वाजमें मित्रता होनेके कारण द्रुपद और द्रोणाचार्यमें भी कुमारावस्थामें मित्रता थी। द्रुपदके राजा बननेके पश्चात् द्रोणाचार्यने उनके निकट अर्थकी याचना की, किन्तु द्रुपदने द्रोणाचार्यका सम्मान नहीं किया। द्रोणाचार्य उस अपमानको नहीं भूल सके। अर्जुनकी अस्त्रशिक्षा समाप्त होनेपर इन्होंने गुरु-दक्षिणाके रूपमें द्रुपदको पकड़कर अपने चरणोंमें सौंपनेको कहा। अर्जुनने इनके आदेशका पालन किया। द्रोणाचार्यने द्रुपदके आधे राज्यको लेकर इन्हें मुक्त कर दिया। इन्होंने इस अपमानका बदला लेनेके लिए यज्ञ किया, जिसमें यज्ञ-वेदीसे द्रौपदी और धृष्टद्युम्नका आविर्भाव हुआ।

चेकितान—ये वृष्णिवंशीय यादव थे। ये बड़े शूरवीर और महारथी योद्धा थे। ये पाण्डव सेनाके सेनापतियोंमें से एक थे, जो महाभारत संग्राममें दुर्योधनके हाथों निहत हुए।

काशिराज—ये काशीके राजा थे, जो कि 'दीर्घजिह्व' नामक दानवके अंशसे उत्पन्न हुए थे। ये बड़े शूरवीर और पराक्रमी थे तथा इन्होंने पाण्डवोंके पक्षसे युद्ध किया था।

पुरुजित् और कुन्तिभोज—ये दोनों पाण्डवोंकी माता कुन्तीके भाई थे, अतः ये पाण्डवोंके मामा हुए। महाभारत युद्धमें द्रोणाचार्यके हाथों इनका वध हुआ था।

शैब्य—ये महाराज युधिष्ठिरके श्वसुर थे। इनकी देविका नामक पुत्रीका विवाह युधिष्ठिरके साथ हुआ था। ये मनुष्योंमें श्रेष्ठ, बलिष्ठ और वीर योद्धा थे, अतः इन्हें नरपुङ्गव कहा गया है।

युधामन्यु और उत्तमौजा—ये दोनों सगे भाई पाञ्चाल देशीय राजकुमार थे। ये बड़े पराक्रमी और शक्तिशाली थे। महाभारत युद्धके अन्तमें ये अश्वत्थामाके हाथों निहत हुए।

सौभद्र—भगवान् श्रीकृष्णकी बहन सुभद्राका विवाह अर्जुनसे हुआ था। सुभद्राके गर्भसे वीर अभिमन्युका जन्म हुआ था, अतः इन्हें सौभद्र भी कहा जाता है। इन्होंने अपने पिताश्री अर्जुन और बलरामजीसे अस्त्र-शस्त्रकी शिक्षा ग्रहण की थी। ये अत्यन्त असाधारण शूरवीर और महारथी थे। महाभारत युद्धके समय इनकी आयु सोलह वर्षकी थी। अर्जुनकी अनुपस्थितिमें द्रोणाचार्य द्वारा रचित चक्रव्यूहमें द्रोण, कृपाचार्य, कर्णादि सात महारथियोंने सम्मिलितरूपसे अन्यायपूर्वक अकेला अभिमन्युका वध किया था।

द्रौपदेय—पाँचों पाण्डवों द्वारा द्रौपदीके गर्भसे उत्पन्न प्रतिबिन्ध्य, सुतसोम, श्रुतकर्मा, शतानीक और श्रुतसेनको द्रौपदेय कहा गया है। इनके पिता क्रमशः युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन, नकुल और सहदेव थे। महाभारत युद्धके अन्तिम समयमें अश्वत्थामाने अपने मित्र दुर्योधनको प्रसन्न करनेके लिए रात्रिकालमें निद्रामग्न इन राजकुमारोंका वध कर दिया था।

दुर्योधनने जिन-जिन योद्धाओंके नामोंका उल्लेख किया है, उनके अतिरिक्त भी पाण्डवोंकी सेनामें बहुत सारे महारथी थे, जिनके लिए दुर्योधनने 'सर्वे' पदका प्रयोग किया है।।४-६।।

अस्माकन्तु विशिष्टा ये तान्निबोध द्विजोत्तम।
नायका मम सैन्यस्य संज्ञार्थं तान् ब्रवीमि ते।।७।।

अन्वय—द्विजोत्तम (हे द्विजवर!) अस्माकम् (हम लोगोंकी सेनामें) तु (भी) ये विशिष्टाः (जो परम उत्कृष्ट व्यक्तिगण) मम सैन्यस्य नायकाः (हमारी सेनाके नायकगण हैं) तान् (उन लोगोंको) निबोध (समझें) ते संज्ञार्थम् (आपकी सूचनाके लिए) तान् ब्रवीमि (उन लोगोंका नाम उल्लेख करता हूँ)।।७।।

अनुवाद—हे द्विजश्रेष्ठ! आपकी सूचनाके लिए मैं अपनी सेनाके उन सेनानायकोंका नाम उल्लेख कर रहा हूँ, जो कि सैन्य संचालनमें विशेषरूपसे कुशल हैं।।७।।

श्रीविश्वनाथ—अस्माकमिति। निबोध बुध्यस्व। संज्ञार्थं सम्यक् ज्ञानार्थम्।।७।।

भावानुवाद—यहाँ 'निबोध' शब्दका तात्पर्य है—समझें तथा 'संज्ञार्थम्' का अर्थ है—सम्यक् ज्ञानके लिए।।७।।

भवान् भीष्मश्च कर्णश्च कृपश्च समितिञ्जयः।
अश्वत्थामा विकर्णश्च सौमदत्तिर्जयद्रथः।।८।।
अन्ये च बहवः शूरा मदर्थे त्यक्तजीविताः।
नानाशस्त्रप्रहरणाः सर्वे युद्धविशारदाः।।९।।

अन्वय—भवान् (आप, द्रोणाचार्य) भीष्मः च (पितामह भीष्म) कर्णः च (कर्ण) समितिञ्जयः कृपः च (समरविजयी कृपाचार्य) अश्वत्थामा (अश्वत्थामा) विकर्णः च (विकर्ण) सौमदत्तिः (भूरिश्रवा) जयद्रथः (सिन्धुराज जयद्रथ)।।८।।

अन्वय—मदर्थे (मेरे लिए) त्यक्तजीविताः (प्राण देनेके लिए सङ्कल्पबद्ध) नानाशस्त्रप्रहरणाः (अनेक अस्त्र-शस्त्रोंसे सुशोभित) सर्वे (सभी) युद्धविशारदाः (युद्धमें निपुण) अन्ये (पूर्वकथितसे भिन्न) च बहवः (और भी अनेक) शूराः (सन्ति) (वीर हैं)।।९।।

अनुवाद—आप स्वयं (द्रोणाचार्य), पितामह भीष्म, कर्ण, समरविजयी कृपाचार्य, अश्वत्थामा, विकर्ण, सोमदत्तके पुत्र भूरिश्रवा, सिन्धुराज एवं जयद्रथादि शूरवीर मेरे पक्षमें हैं।।८।।

अनुवाद—मेरे लिए प्राणोत्सर्ग करनेके लिए तत्पर नाना अस्त्र-शस्त्रोंसे सुसज्जित और भी अनेक वीर हैं, जो युद्धमें निपुण हैं।।९।।

श्रीविश्वनाथ—सोमदत्तिर्भूरिश्रवाः। त्यक्तजीविता इति जीवित-त्यागेनापि यदि मदुपकारः स्यात्तदा तमपि कर्त्तुं प्रवृत्ता इत्यर्थः। वस्तुतस्तु *"मयैवैते निहताः पूर्वमेव, निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्"* इति भगवदुक्तेर्दुर्योधनसरस्वती सत्यमेवाह स्म।।८-९।।

भावानुवाद—यहाँ 'सोमदत्तिः' का उल्लेख भूरिश्रवाके लिए हुआ है। जीवन धारण करनेसे अथवा जीवन त्याग करनेसे मेरा महान उपकार होगा—यह समझकर जो व्यक्ति कुछ भी करनेके लिए तत्पर हैं, उसके लिए 'त्यक्तजीविताः' का प्रयोग हुआ है। श्रीगीता (११/३३) में भगवान्की उक्ति है कि हे अर्जुन! ये सभी मेरे द्वारा पहले ही निहत हो चुके हैं,

तुम केवल निमित्त बन जाओ। इस उक्तिके अनुसार सरस्वतीदेवी दुर्योधनके मुखसे उनकी सेनाओंके लिए 'त्यक्तजीविताः' अर्थात् मरे हुए हैं—यह सूचित करा रही हैं।।८-९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

कृपाचार्य—एक समयकी बात है, 'जानपदी' नामक अप्सराके दर्शनसे गौतम गोत्रीय शरद्वान् ऋषिका वीर्य सरकण्डेके समूहपर स्खलित हुआ और दो भागोंमें विभक्त हो गया। उसीसे एक पुत्र और एक कन्याका जन्म हुआ। कन्याका नाम 'कृपी' हुआ और पुत्र महाबली 'कृप' के नामसे प्रसिद्ध हुए। शरद्वान् ऋषिने ही इन्हें धनुर्वेदादिमें पारङ्गत किया। ये अत्यन्त वीर, पराक्रमी तथा धर्मात्मा थे। महाभारत युद्धमें इन्होंने कौरवोंके पक्षसे युद्ध किया था। महाराज युधिष्ठिरने युवराज परीक्षितकी शिक्षाके लिए इन्हें नियुक्त किया था।

अश्वत्थामा—कृपाचार्यकी बहन कृपीका विवाह द्रोणाचार्यसे हुआ था। इस कृपीके गर्भसे ही अश्वत्थामाका जन्म हुआ। इसका जन्म शिव, यम, काम तथा क्रोधके सम्मिलित अंशसे हुआ था। अपने पिता द्रोणाचार्यसे ही इसने शस्त्र-शास्त्रादिकी विद्या ग्रहण की। इसने महाभारत युद्धमें कौरव पक्षसे प्रधान सेनापतिका भार भी ग्रहण किया था। सुसुप्तावस्थामें इसने पञ्च पाण्डवोंके भ्रमसे द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंका वध कर दिया था। इसके बदलेमें पाण्डवोंने इसका घोर अपमानकर इसकी मणिको छीन लिया था। अपमानित होनेसे क्रोधसे जर्जरित होकर इसने पाण्डवोंके एकमात्र कुलदीपक परीक्षितको समाप्त करनेके उद्देश्यसे अभिमन्यु-पत्नी उत्तराके गर्भको अपने ब्रह्मास्त्रका लक्ष्य बनाया, किन्तु भक्त-वत्सल भगवान् श्रीकृष्णने अपने सुदर्शन चक्रसे गर्भमें महाराज परीक्षितकी रक्षा की।

विकर्ण—ये धृतराष्ट्रके सौ पुत्रोंमें से एक थे। महाभारत युद्धमें भीमसेनके हाथों ये निहत हुए।

सोमदत्त—ये कुरुवंशी महाराजा प्रतीकके पौत्र एवं बाह्लीकके पुत्र थे। महाभारत युद्धमें सात्यकिके हाथों इनका निधन हुआ था।

भूरिश्रवा—ये चन्द्रवंशीय सोमदत्त नामक राजाके पुत्र थे। ये परम पराक्रमी और महायशस्वी राजा थे। महाभारतके युद्धमें ये सात्यकिके द्वारा मारे गए।

शस्त्र—हाथमें धारण करते हुए जिससे दूसरोंको मारा जाय उसे शस्त्र कहते हैं; जैसे—तलवार आदि।

अस्त्र—जिसे फेंककर शत्रुपर वार किया जाता है, ऐसे बाणादिको अस्त्र कहते हैं।।८-९।।

अपर्याप्तं तदस्माकं बलं भीष्माभिरक्षितम्।
पर्याप्तं त्विदमेतेषां बलं भीमाभिरक्षितम्।।१०।।

अन्वय—भीष्म-अभिरक्षितम् (भीष्मके द्वारा भलीभाँति रक्षित) अस्माकम् (हमारी) तद् बलम् (वह सैन्यशक्ति) अपर्याप्तम् (अपरिपूर्ण है) भीम-अभिरक्षितम् (भीमके द्वारा सुरक्षित) एतेषाम् (इन पाण्डवोंकी) इदम् बलम् (यह सैन्यशक्ति) पर्याप्तम् (परिपूर्ण है)।।१०।।

अनुवाद—भीष्मके द्वारा रक्षित हमारा सैन्यबल अपर्याप्त है, किन्तु दूसरी ओर भीमके द्वारा संरक्षित पाण्डवोंका सैन्यबल पर्याप्त है।।१०।।

श्रीविश्वनाथ—अपर्याप्तमपरिपूर्णं पाण्डवैः सह योद्धुमक्षममित्यर्थः। भीष्मेणातिसूक्ष्मबुद्धिना शस्त्रशास्त्रप्रवीणेनाभितो रक्षितमपि, भीष्मस्योभय पक्षपातित्वात्। एतेषां पाण्डवानान्तु भीमेन स्थूलबुद्धिना शस्त्रशास्त्रानभिज्ञेनापि रक्षितं पर्याप्तं परिपूर्णम्—अस्माभिः सह युद्धे प्रवीणमित्यर्थः।।१०।।

भावानुवाद—यहाँ 'अपर्याप्तम्' शब्दका तात्पर्य 'अपरिपूर्ण' से है। इसका अर्थ यह है कि कौरवगण पाण्डवोंसे युद्ध करनेमें असमर्थ हैं। 'भीष्माभिरक्षितम्'—अति सूक्ष्म बुद्धियुक्त तथा शस्त्र-शास्त्रमें प्रवीण भीष्म पितामहके द्वारा संरक्षित होनेपर भी यह सैन्यबल अपर्याप्त है, क्योंकि भीष्म उभयपक्षपाती हैं। 'पर्याप्तं भीमाभिरक्षितं'—किन्तु पाण्डवोंकी यह सेना स्थुलबुद्धियुक्त (अर्थात् शस्त्र-शास्त्रादिमें अपटु) भीमके द्वारा रक्षित होनेपर भी पर्याप्त (परिपूर्ण) है अर्थात् हमारे साथ युद्ध करनेमें सक्षम है। उपरोक्त वाक्योंके द्वारा यही निर्दिष्ट होता है कि दुर्योधन अन्तःकरणसे भयभीत है।।१०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भीष्म पितामह अद्वितीय वीर हैं। पिताके द्वारा इन्हें इच्छा मृत्युका वरदान मिला है। ये अपराजेय हैं। दुर्योधनके पक्षसे लड़नेपर भी पाण्डवोंके प्रति इनका पूर्ण स्नेह है। ये पाण्डवोंका भी विनाश नहीं चाहते हैं। उभयपक्षी होनेके नाते इनके द्वारा परिचालित सेना युद्धमें दक्षताका परिचय नहीं दे सकेगी। भीष्म भी अपनी पूर्ण शक्तिका उपयोग पाण्डवोंके विरुद्ध नहीं कर सकते हैं। अतः इनके द्वारा परिचालित सैन्यशक्तिको अपर्याप्त कहा गया। दूसरी ओर भीम भीष्मके समान अद्वितीय वीर नहीं होनेपर भी अपनी पूर्ण शक्तिका प्रयोग स्वपक्षके विजयके लिए करेंगे। अतएव इनके द्वारा परिचालित सैन्य शक्तिको पर्याप्त कहा गया।।१०।।

अयनेषु च सर्वेषु यथाभागमवस्थिताः।
भीष्ममेवाभिरक्षन्तु भवन्तः सर्व एव हि।।११।।

अन्वय—भवन्तः (आपलोग) सर्व एव हि (सभी) सर्वेषु अयनेषु च (सभी प्रवेश द्वारोंपर) यथाभागम् (अपने अपने स्थानमें) अवस्थिताः (स्थित होकर) भीष्मम् एव (भीष्मकी ही) अभिरक्षन्तु (सभी प्रकारसे रक्षा करें)।।११।।

अनुवाद—अतएव सभी प्रवेश द्वारोंपर अपने अपने निर्दिष्ट स्थानोंपर स्थित होकर आपलोग पितामह भीष्मकी ही सब प्रकारसे रक्षा करें।।११।।

श्रीविश्वनाथ—तस्माद्युष्माभिः सावधानैर्भवितव्यमित्याह—अयनेष्विति व्यूहप्रवेश अयनेषु मार्गेषु यथाभागं विभक्ताः स्वां स्वां रणभूमिमपरित्यज्यै-वावस्थिता भवन्तो भीष्ममेवाभितस्तथा रक्षन्तु यथाऽन्यैर्युध्यमानोऽयं पृष्ठतः कैश्चिन्न हन्यते, भीष्मबलेनैवास्माकं जीवितमिति भावः।।११।।

भावानुवाद—इसलिए आपलोगों (गुरु द्रोणादि) को सावधान रहना पड़ेगा। इसके लिए ही दुर्योधन कहते हैं—'अयनेषु'—व्यूहके प्रवेशद्वारोंपर 'यथाभागमवस्थिताः' विभक्त होकर अपने-अपने रणक्षेत्रका परित्याग नहीं करें, जिससे कि युद्ध करते-करते वे पीछेसे किसी योद्धाके द्वारा निहत न हों। क्योंकि भीष्मका बल ही अभी हमारे लिए प्राणस्वरूप है।।११।।

तस्य सञ्जनयन् हर्षं कुरुवृद्धः पितामहः।
सिंहनादं विनद्योच्चैः शङ्खं दध्मौ प्रतापवान्।।१२।।

अन्वय—प्रतापवान् (बड़े प्रतापी) कुरुवृद्धः (कुरुकुलमें ज्येष्ठ) पितामहः (भीष्म) तस्य हर्षम् (दुर्योधनके हृदयमें आनन्द) सञ्जनयन् (उत्पन्न करते हुए) उच्चैः (उच्च स्वरसे) सिंहनादम् विनद्य (सिंहकी भाँति गर्जनकर) शङ्खम् दध्मौ (शङ्खनाद किया)।।१२।।

अनुवाद—इसके बाद बड़े प्रतापी कुरुश्रेष्ठ पितामह भीष्मने दुर्योधनके हृदयमें आनन्द उत्पादन करते हुए सिंहकी भाँति गर्जनकर उच्च स्वरसे शङ्खनाद किया।।१२।।

श्रीविश्वनाथ—ततश्च स्वसम्मान-श्रवणजनितहर्षः, तस्य दुर्योधनस्य भयविध्वंसनेन हर्ष सञ्जनयितुं कुरुवृद्धो भीष्मः, सिंहनादमिति उपमाने कर्मणि चेति नमुल—सिंह इव विनद्ये ईत्यर्थः।।१२।।

भावानुवाद—तदनन्तर दुर्योधनके द्वारा द्रोणाचार्यके पास अपनी प्रशंसा सुनकर पितामह भीष्म बड़े प्रसन्न हुए। दुर्योधनका भय दूर करने तथा हर्षोत्पादनके लिए कुरुवृद्ध भीष्मने सिंहकी भाँति विशेष शङ्खध्वनि की।।१२।।

ततः शङ्खाश्च भेर्यश्च पणवानकगोमुखाः।
सहसैवाभ्यहन्यन्त स शब्दस्तुमुलोऽभवत्।।१३।।

अन्वय—ततः (तदन्तर) शङ्खाः (शङ्ख) च (और) भेर्यः (नगाड़े) च पणव-आनक-गोमुखाः (तथा ढ़ोल, मृदङ्ग और रणशिंगादि बाजे) सहसा एव (अचानक ही) अभ्यहन्यन्त (बजे) सः शब्दः (वह शब्द) तुमुलः अभवत् (अति भयङ्कर हुआ)।।१३।।

अनुवाद—अनन्तर शङ्ख, नगाड़े, ढोल, मृदङ्ग और रणशिंगादि अनेक प्रकारके वाद्ययन्त्र अचानक ही एक साथ बज उठे जिससे अति भयङ्कर ध्वनि हुई।।१३।।

श्रीविश्वनाथ—ततश्चोभयत्रैव युद्धोत्साहः प्रवृत्त इत्याह—तत इति। पणवाः मार्दलाः आनकाः पटहाः गोमुखाः वाद्यविशेषाः।।१३।।

भावानुवाद—उसके बाद दोनों ही पक्षोंका युद्धके प्रति उत्साह देखा गया। इसलिए ही 'ततः' इत्यादि शब्द कह रहे हैं। यहाँ पणवाः, आनकाः तथा गोमुखाः का तात्पर्य क्रमशः ढोल, मृदङ्ग तथा रणशिङ्गासे है।।१३।।

ततः श्वेतैर्हयैर्युक्ते महति स्यन्दने स्थितौ।
माधवः पाण्डवश्चैव दिव्यौ शङ्खौ प्रदध्मतुः।।१४।।

अन्वय—ततः (इसके बाद) श्वेतैः हयैः युक्ते (श्वेत घोड़ोंसे युक्त) महति स्यन्दने (उत्तम रथमें) स्थितौ (बैठे हुए) माधवः पाण्डवः च (श्रीकृष्ण और अर्जुनने) दिव्यौ एव शङ्खौ (दिव्य शङ्खोंको) प्रदध्मतुः (बजाया)।।१४।।

अनुवाद—इसके बाद श्वेत घोड़ोंसे युक्त उत्तम रथमें बैठे हुए श्रीकृष्ण तथा धनञ्जयने दिव्य शङ्ख ध्वनि की।।१४।।

पाञ्चजन्यं हृषीकेशो देवदत्तं धनञ्जयः।
पौण्ड्रं दध्मौ महाशङ्खं भीमकर्मा वृकोदरः।।१५।।

अन्वय—हृषिकेशः (श्रीकृष्णने) पाञ्चजन्यम् (पाञ्चजन्य नामक शङ्ख) धनञ्जयः (अर्जुनने) देवदत्तम् (देवदत्त नामक शङ्ख) भीमकर्मा (भयङ्कर कार्योंको करनेवाले) वृकोदरः (भीमसेनने) पौण्ड्रम् (पौण्ड्र नामक) महाशङ्खम् दध्मौ (महाशङ्ख बजाया)।।१५।।

अनुवाद—हृषिकेश श्रीकृष्णने पाञ्चजन्य, अर्जुनने देवदत्त तथा भयङ्कर कार्योंको करनेवाले भीमने पौण्ड्र नामक महाशङ्ख बजाया।।१५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

पाञ्चजन्य—श्रीकृष्णने गुरुगृहमें अपनी शिक्षा समाप्त करनेके बाद गुरु

दम्पतीसे कुछ गुरु-दक्षिणा ग्रहण करनेके लिए अनुरोध किया। उन्होंने समुद्रमें डूबकर मृत पुत्रको जीवितकर उन्हें गुरु-दक्षिणाके रूपमें माँगा। श्रीकृष्णने समुद्रके अधिष्ठातृ देवता वरुणसे अनुसन्धान पाकर समुद्रमें रहनेवाले पञ्चजन्य नामक असुरको मारा, जिसने गुरुपुत्रको निगल लिया था, किन्तु गुरुपुत्र उसके पेटमें नहीं प्राप्त हुआ। श्रीकृष्णने वहाँसे महाकालपुरीमें उपस्थित होकर वहाँसे गुरुपुत्रको लाकर उसे दक्षिणाके रूपमें गुरुदेवको प्रदान किया। श्रीकृष्णने पञ्चजन्यके बाह्य अङ्गको ही अपने पाञ्चजन्य शङ्खके रूपमें ग्रहण किया।।१५।।

अनन्तविजयं राजा कुन्तीपुत्रो युधिष्ठिरः।
नकुलः सहदेवश्च सुघोषमणिपुष्पकौ।।१६।।

अन्वय—कुन्तीपुत्रः राजा युधिष्ठिरः (कुन्तीनन्दन राजा युधिष्ठरने) अनन्तविजयम् (अनन्तविजय नामक) नकुलः सहदेवः च (नकुल और सहदेवने) सुघोषमणिपुष्पकौ (सुघोष तथा मणिपुष्पक नामक शङ्खोंको) (बजाया)।।१६।।

अनुवाद—कुन्तीनन्दन महाराज युधिष्ठिरने अनन्तविजय, नकुलने सुघोष तथा सहदेवने मणिपुष्पक नामक शङ्ख बजाया।।१६।।

काश्यश्च परमेष्वासः शिखण्डी च महारथः।
धृष्टद्युम्नो विराटश्च सात्यकिश्चापराजितः।।१७।।
द्रुपदो द्रौपदेयाश्च सर्वशः पृथिवीपते।
सौभद्रश्च महाबाहुः शङ्खान्दध्मुः पृथक्पृथक्।।१८।।

अन्वय—पृथिवीपते (हे धरणीपते धृतराष्ट्र!) परम-इष्वासः (महाधनुर्धारी) काश्यः च (काशीराज और) महारथः शिखण्डी च (महारथी शिखण्डी) धृष्टद्युम्नः विराटः च (धृष्टद्युम्न एवं विराटराज) अपराजितः (अजित) सात्यकिः च (सात्यकि) द्रुपदः (द्रुपदराज) द्रोपदेयाः च (द्रौपदीके पुत्रों) महाबाहुः सौभद्रः च (महाबाहु अभिमन्यु) सर्वशः पृथक्-पृथक् (सभीने अलग-अलग) शङ्खान् दध्मुः (शङ्खोंको बजाया)।।१७-१८।।

अनुवाद—हे धरणीपते धृतराष्ट्र! महाधनुर्धारी काशीराज, महारथी शिखण्डी, धृष्टद्युम्न, विराटराज, अपराजेय सात्यकि, राजाद्रुपद, द्रोपदीके पुत्रों तथा सुभद्रानन्दन अभिमन्यु—इन सभीने अपना अपना शङ्ख बजाया।।१७-१८।।

श्रीविश्वनाथ—पाञ्चजन्यादयः शङ्खादीनां नामानि। अपराजितः केनापि पराजेतुमशक्यत्वात् अथवा चापेन धनुषा राजितः प्रदीप्तः।।१५-१७।।

भावानुवाद—'पाञ्चजन्यादि'—ये श्रीकृष्णादिके शङ्खोंके नामसमूह हैं। यहाँ अपराजित का अर्थ है—जो किसीके द्वारा पराजित नहीं हो अथवा जो धनुषके द्वारा शोभित या प्रदीप्त हैं।।१५-१७।।

स घोषो धार्त्तराष्ट्राणां हृदयानि व्यदारयत्।
नभश्च पृथिवीञ्चैव तुमुलोऽभ्यनुनादयन्।।१९।।

अन्वय—सः तुमुलः घोषः (उस तुमुल शब्दने) नभः च पृथिवीम् च एव (आकाश और पृथ्वीको भी) अभि-अनुनादयन् (प्रतिध्वनित करते हुए) धार्त्तराष्ट्राणाम् (धृतराष्ट्रपुत्रोंके) हृदयानि व्यदारयत् (हृदयोंको विदीर्ण कर दिया)।।१९।।

अनुवाद—उस भयंकर शब्दने आकाश और पृथ्वीको प्रतिध्वनित करते हुए धृतराष्ट्रपुत्रोंके हृदयोंको विदीर्ण कर दिया।।१९।।

अथ व्यवस्थितान्दृष्ट्वा धार्त्तराष्ट्रान् कपिध्वजः।
प्रवृत्ते शस्त्रसम्पाते धनुरुद्यम्य पाण्डवः।
हृषीकेशं तदा वाक्यमिदमाह महीपते।।२०।।

अन्वय—महीपते (हे राजन्!) अथ (अनन्तर) कपिध्वजः पाण्डवः (कपिध्वज अर्जुनने) धार्त्तराष्ट्रान् (धृतराष्ट्रपुत्रोंको) व्यवस्थितान् दृष्ट्वा (युद्धके लिए व्यवस्थित देखकर) शस्त्रसम्पाते प्रवृत्ते (बाण-निक्षेप करनेको) धनुः उद्यम्य (धनुष उठाकर) तदा (तब) हृषीकेशम् (श्रीकृष्णको) इदम् वाक्यम् (यह वचन) आह (कहा)।।२०।।

अनुवाद—हे राजन्! उसके बाद आपके पुत्रोंको युद्धके लिए व्यवस्थित देखकर बाण फेंकनेको उद्यत कपिध्वज अर्जुनने अपना धनुष उठाकर श्रीकृष्णसे यह वचन कहा।।२०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

कपिध्वज—जिनके रथकी ध्वजापर महाबली हनुमानजी विराजमान रहते हैं, उन अर्जुनका ही नाम कपिध्वज है। अर्जुनको अपने धनुर्विद्या पर अत्यधिक अभिमान था। किसी समय वे अपने हाथोंमें गाण्डीवको धारणकर किसी नदीके किनारे घूम रहे थे। वहाँ उन्हें एक बूढ़ा बन्दर दिखाई पड़ा। उन्होंने उन्हें प्रणामकर पूछा—"आप कौन हैं?" बन्दरने नम्रतापूर्वक उत्तर

दिया—"मैं रामदास हनुमान हूँ।" अर्जुनने पुनः पूछा—"आप उन्हीं श्रीरामचन्द्रके सेवक हैं, जिन्होंने अपने बाणोंसे समुद्रपर पुलका निर्माण न कर सकनेके कारण बन्दरों द्वारा पत्थरका पुल बनवाया, तब कहीं उनकी सेना समुद्र पार कर सकी। यदि उस समय मैं वहाँ रहता तो बाणोंका ऐसा सुदृढ़ पुल निर्माण करता, जिससे सेना सहज ही समुद्रको पार कर पाती।" हनुमानजीने नम्रतासे ही उत्तर दिया—"किन्तु, तुम्हारे द्वारा निर्मित पुल श्रीरामकी सेनाके सबसे दुर्बल बन्दरका भी भार कदापि सहन करनेमें समर्थ नहीं होता।" अर्जुनने कहा—"मैं इस नदीके उपर बाणोंका पुल निर्माण कर रहा हूँ, आप इसके ऊपर कितना भी भार लेकर उस पार चले जायँ।" हनुमानजीने विराट रूप धारणकर हिमालयकी ओर छलाँग लगाई एवं रोम-रोममें बड़े-बड़े पत्थरोंको धारणकर ज्योंही प्रथम चरण पुलके ऊपर रखा, पुल चरमरा उठा। किन्तु, आश्चर्यकी बात कि पुल टूटा नहीं। अर्जुन डरसे काँप उठे। उन्होंने अपने आराध्यदेव श्रीकृष्णका स्मरण किया—"प्रभो! पाण्डवोंकी लज्जा आपके हाथोंमें है।" उधर हनुमानजीने भी दोनों पैरोंका भार उस पुलपर रखा, किन्तु पुलके न टूटनेपर उन्हें भी आश्चर्यका ठिकाना न रहा। यदि पुल न टूटा तो बड़ी भारी लज्जाकी बात होगी। उन्होंने मन-ही-मन अपने इष्टदेव श्रीरामचन्द्रका स्मरण किया। इतनेमें उनकी दृष्टि पुलके नीचे जल पर पड़ी, वहाँ उन्होंने जल नहीं, वरं रक्तकी धाराको प्रवाहित होते देखा। तत्क्षणात् उतरकर उन्होंने पुलके नीचे झाँका—"अरे! यह क्या, मेरे इष्टदेव स्वयं श्रीरामचन्द्र अपनी पीठ लगाकर पुलकी रक्षा कर रहे हैं?" तत्क्षण वे श्रीरामचन्द्रके चरणोंमें प्रणत हुए। अर्जुनने उनको श्रीरामके रूपमें नहीं बल्कि श्रीकृष्णके रूपमें देखा। दोनों ही नतमस्तक हो गए। उनके इष्टदेवने कहा—"मेरे दोनों ही स्वरूपोंमें कुछ भी अन्तर नहीं है, मैं कृष्ण ही मर्यादा-स्थापकके रूपमें राम हूँ तथा मैं लीला-पुरुषोत्तमके रूपमें अखिल रसामृत मूर्त्ति कृष्ण हूँ। आजसे तुम मेरे दोनों ही सेवक मित्र बन जाओ। अभी आगामी युद्धमें अर्जुनके रथकी ध्वजामें विराजमान रहकर ये महाबली हनुमानजी सभी प्रकारसे अर्जुनकी रक्षा करेंगे।" इसीलिए महाभारत युद्धमें अर्जुनके रथकी ध्वजा पर हनुमानजी विराजमान रहते थे, इसीलिए अर्जुनका एक नाम कपिध्वज हुआ।।२०।।

अर्जुन उवाच—
सेनयोरुभयोर्मध्ये रथं स्थापय मेऽच्युत॥२१॥
यावदेतान्निरीक्षेऽहं योद्धुकामानवस्थितान्।
कैर्मया सह योद्धव्यमस्मिन् रणसमुद्यमे॥२२॥
योत्स्यमानानवेक्षेऽहं य एतेऽत्र समागताः।
धार्त्तराष्ट्रस्य दुर्बुद्धेर्युद्धे प्रियचिकीर्षवः॥२३॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) अच्युत (हे अच्युत!) यावत् (जब तक) अहम् (मैं) एतान् योद्धुकामान् अवस्थितान् (युद्धाभिलाषी स्थित इन समस्त वीरोंका) निरीक्षे (निरीक्षण करूँ) अस्मिन् रणसमुद्यमे (इस युद्धरूप उद्यममें) कैः सह (किन लोगोंके साथ) मया योद्धव्यम् (मुझे युद्ध करना होगा) अत्र युद्धे (इस युद्धमें) दुर्बुद्धेः (दुर्बुद्धि) धार्त्तराष्ट्रस्य (धृतराष्ट्रपुत्रोंके) प्रियचिकीर्षवः (कल्याण चाहनेवाले) एते (जो सभी) समागताः (एकत्रित हुए हैं) तान् (उन सभी) योत्स्यमानान् (युद्ध करनेवालोंका) अहम् (मैं) अवेक्षे (अवलोकन करूँ) तावत् सेनयोरुभयोर्मध्ये (दोनों पक्षोंकी सेनाओंके बीचमें) मे रथम् (मेरे रथको) स्थापय (स्थापित करें)॥२१-२३॥

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे अच्युत! मैं जब तक युद्धकी अभिलाषासे खड़े हुए इन समस्त वीरोंको अच्छी तरह देख न लूँ, इस युद्धमें किन लोगोंके साथ मुझे युद्ध करना होगा तथा इस युद्धमें दुर्बुद्धि परायण धृतराष्ट्रपुत्रोंका कल्याण चाहनेवाले एकत्रित योद्धाओंका निरीक्षण न कर लूँ, तब तक आप मेरे रथको दोनों सेनाओंके बीचमें खड़ा करें॥२१-२३॥

सञ्जय उवाच—
एवमुक्तो हृषीकेशो गुडाकेशेन भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये स्थापयित्वा रथोत्तमम्॥२४॥
भीष्मद्रोणप्रमुखतः सर्वेषाञ्च महीक्षिताम्।
उवाच पार्थ पश्यैतान् समवेतान् कुरूनिति॥२५॥

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) भारत (हे भरतवंशी!) गुडाकेशेन (निद्राविजयी अर्जुनके द्वारा) एवं उक्तः (इस प्रकार कहे जानेपर) हृषीकेशः (श्रीकृष्णने) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों पक्षोंकी सेनाओंके बीच) सर्वेषाम् महीक्षिताम् (सभी राजाओंके) च (और) भीष्म-द्रोण प्रमुखतः (भीष्म, द्रोणादिके सामने) रथोत्तमम् (उत्तम रथको) स्थापयित्वा (स्थापितकर) उवाच (कहा) पार्थ (हे अर्जुन!) एतान् (इन) समवेतान् (एकत्रित हुए) कुरून् (कौरवोंको) पश्य इति (देखो)॥२४-२५॥

अनुवाद—सञ्जयने कहा—हे भारत! गुडाकेश अर्जुनके द्वारा इस प्रकार कहे जानेपर श्रीकृष्णने दोनों पक्षोंकी सेनाओंके बीच समस्त राजाओं तथा भीष्म, द्रोणादि विशिष्ट व्यक्तियोंके सामने उत्तम रथको स्थापित किया। श्रीकृष्णने कहा—हे पार्थ! इन एकत्रित कौरवोंको देखो॥२४-२५॥

श्रीविश्वनाथ—हृषीकेशः सर्वेन्द्रियनियन्ताप्येवमुक्तोऽर्जुनेनादिष्टः अर्जुनवागिन्द्रिय मात्रेणापि नियम्योऽभूदित्यहो प्रेमवश्यत्वं भगवत् इति भावः। गुडाकेशेन—गुडा यथा माधुर्यमात्रप्रकाशकास्तत्तथा स्वीयस्नेहरसास्वादप्रकाशकाः अकेशा विष्णुब्रह्मशिवा यस्य तेन,—अकारो विष्णुः, को ब्रह्मा, ईशो महादेवः। यत्र सर्वावतारि-चूडामणीन्द्रः स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण एव प्रेमाधीनः सन् आज्ञानुवर्ती बभूव तत्र गुणावतारत्वात्तदंशा विष्णुब्रह्मरुद्राः कथमैश्वर्यं प्रकाशयन्तु? किन्तु स्वकर्त्तृकं स्नेहरसं प्रकाश्यैव स्वं स्वं कृतार्थं मन्यन्ते इत्यर्थः। यदुक्तं श्रीभगवता परमव्योमनाथेनापि—"*द्विजात्मजा मे युवयोर्दिदृक्षुणा*" इति; यद्वा गुडाका निद्रा तस्या ईशेन जितनिद्रेणेत्यर्थः; अत्रापि व्याख्यायाम्—साक्षान्मायया अपि नियन्ता यः श्रीकृष्णः, स चापि येन प्रेम्णा विजित्य वशीकृतस्तेनार्जुनेन मायावृत्तिर्निद्रा वराकी जितेति किं चित्रमिति भावः। भीष्मद्रोणयोः प्रमुखतः प्रमुखे सम्मुखे सर्वेषां महीक्षितां राज्ञाञ्च। प्रमुखत इति—समासप्रविष्टेऽपि 'प्रमुखतः' शब्द आकृष्यते॥२४-२५॥

भावानुवाद—'हृषीकेशः' शब्दका तात्पर्य है—समस्त इन्द्रियोंके नियन्ता। परन्तु हृषीकेश होनेपर भी अर्जुनके द्वारा आदेश दिये जानेपर वे केवल अर्जुनके वागिन्द्रियके द्वारा ही वशीभूत हो गए। अहो! भगवान् तो प्रेमके ही वशीभूत होते हैं। गुडाकेशेन—'गुडा' अर्थात् गुड जिस प्रकार माधुर्यमात्रका प्रकाशक है, उसी प्रकार भगवान् अपने स्नेह-रसास्वादके प्रकाशक हैं। 'अकेशा' अर्थात् ब्रह्मा, विष्णु, महेश; 'अ' के द्वारा विष्णु, 'क' के द्वारा ब्रह्मा तथा 'इश' के द्वारा महादेवका बोध होता है। जिनके निकट सभी अवतारोंके चूड़ामणि स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण प्रेमाधीन होकर आज्ञानुवर्त्ती हुए, वहाँ गुणावतार कहे जानेवाले उनके अंश समूह—विष्णु, ब्रह्मा तथा महेश किस प्रकार अपना ऐश्वर्य प्रकाशित करेंगे, अपितु अपने द्वारा स्नेहरसका प्रकाशकर ही अपने अपनेको कृतार्थ समझते हैं। परमव्योमनाथ भगवान्ने (महाविष्णु) भी कहा है—"आपलोगोंके दर्शनकी अभिलाषासे ही मैं विप्रपुत्रोंको यहाँ लाया हूँ।" (श्रीमद्भा. १०/८९/५८) अथवा 'गुडा' का अर्थ है—निद्रा, एवं जो निद्रा-विजयी हैं, वे गुडाकेश हैं। जिस अर्जुनके प्रेमसे मायाके नियन्ता श्रीकृष्ण वशीभूत होते हैं, वे अर्जुन मायाकी एक

साधारण वृत्ति निद्राको जीत लिए हैं, इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? यही इसका गूढ़ भाव है। 'भीष्मद्रोणप्रमुखतः'—भीष्म और द्रोणके सम्मुख एवं 'सर्वेषां महीक्षितां'—अन्य राजाओंके भी सम्मुख। यहाँ 'प्रमुखतः' भीष्मद्रोणके साथ समासबद्ध होनेपर भी 'सर्वेषां महीक्षिताम्' पदके साथ युक्त हुआ है।।२४-२५।।

तत्रापश्यत्स्थितान् पार्थः पितॄनथ पितामहान्।
आचार्यान्मातुलान्भ्रातॄन् पुत्रान्पौत्रान्सखींस्तथा ।
श्वशुरान् सुहृदश्चैव सेनयोरुभयोरपि।।२६।।

अन्वय—अथ (उसके बाद) पार्थः (अर्जुन) तत्र (उस स्थानमें) उभयोः सेनयोः एव (दोनों ही सेनाओंके मध्यमें) स्थितान् (विद्यमान) पितॄन् (पिताके भाइयोंको) पितामहान् (पितामहोंको) आचार्यान् (आचार्योंको) मातुलान् (मामाको) भ्रातॄन् (भाईयोंको) पुत्रान् (पुत्रोंको) पौत्रान् (पौत्रोंको) तथा सखीन् (सखाओंको) श्वशुरान् (श्वसुरोंको) च (और) सुहृदः अपि (सुहृदोंको भी) अपश्यत् (देखा)।।२६।।

अनुवाद—उसके बाद अर्जुनने दोनों सेनाओंमें उपस्थित अपने पिताके भाइयों, पितामहों, आचार्यों, मामा, भाइयों, पुत्रों, पौत्रों, सखा, श्वसुरों तथा सुहृदोंको देखा।।२६।।

श्रीविश्वनाथ—दुर्योधनादीनां ये पुत्राः पौत्राश्च तान्।।२६।।

भावानुवाद—अर्जुनने दुर्योधनादिके पुत्रों तथा पौत्रोंको देखा।।२६।।

तान् समीक्ष्य स कौन्तेयः सर्वान् बन्धूनवस्थितान्।
कृपया परयाविष्टो विषीदन्निदमब्रवीत्।।२७।।

अन्वय—सः कौन्तेयः (वह कुन्तीनन्दन) अवस्थितान् (अवस्थित) तान् सर्वान् (उन सभी) बन्धून् (बन्धुओंको) समीक्ष्य (दर्शनकर) परया कृपया आविष्टः (अतिशय करुणायुक्त होकर) विषीदन् (दुःख करते हुए) इदम् (यह) अब्रवीत् (कहा)।।२७।।

अनुवाद—युद्धभूमिमें उपस्थित अपने समस्त बन्धु-बान्धवोंको देखकर अत्यन्त करुणायुक्त होकर कुन्तीनन्दन अर्जुनने यह कहा।।२७।।

अर्जुन उवाच—
दृष्ट्वेमान् स्वजनान् कृष्ण युयुत्सून् समवस्थितान्।
सीदन्ति मम गात्राणि मुखञ्च परिशुष्यति।।२८।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) कृष्ण (हे कृष्ण!) युयुत्सून् (युद्धाभिलाषी) इमान् स्वजनान् (इन स्वजनको) समवस्थितान् (एकत्रित)

दृष्ट्वा (देखकर) मम (मेरे) गात्राणि (अङ्गसमूह) सीदन्ति (शिथिल हो रहे हैं) मुखम् च (मुख भी) परिशुष्यति (सूख रहा है) ।।२८।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! युद्धकी आकांक्षासे एकत्रित इन स्वजनको देखकर मेरे अङ्गसमूह शिथिल हो रहे हैं तथा मुख भी सूख रहा है।।२८।।

श्रीविश्वनाथ—दृष्ट्वेत्यत्रस्थितस्येत्यध्याहार्यम्।।२८।।

भावानुवाद—यहाँ 'दृष्ट्वा' शब्द 'स्थितस्य' पदका अध्याहार है।।२८।।

वेपथुश्च शरीरे मे रोमहर्षश्च जायते।
गाण्डीवं स्रंसते हस्तात् त्वक्चैव परिदह्यते।।२९।।

अन्वय—मे (मेरे) शरीरे (शरीरमें) वेपथुः (कम्प) च रोमहर्षः (और रोमाञ्च) च जायते (उत्पन्न हो रहा है) हस्तात् (हाथसे) गाण्डीवम् (गाण्डीव धनुष) स्रंसते (गिर रहा है) त्वक् च (त्वचा भी) परिदह्यते (जल रही है)।।२९।।

अनुवाद—मेरे शरीरमें कम्प और रोमाञ्च हो रहा है। हाथसे गाण्डीव स्खलित हो रहा है और त्वचा भी जल रही है।।२९।।

न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः।
निमित्तानि च पश्यामि विपरीतानि केशव।।३०।।

अन्वय—केशव (हे केशव!) अवस्थातुम् च (खड़े रहनेमें भी) न शक्नोमि (समर्थ नहीं हूँ) मे मनः च (मेरा मन भी) भ्रमति इव (घूम रहा है) विपरीतानि निमित्तानि च (और विभिन्न दुर्लक्षण) पश्यामि (देख रहा हूँ)।।३०।।

अनुवाद—हे केशव! मैं अब खड़े रहनेमें असमर्थ हूँ। मेरा मन भी भ्रमित हो रहा है। मैं केवल विपरीत (अशुभ) लक्षणोंको ही देख रहा हूँ।।३०।।

श्रीविश्वनाथ—विपरीतानि निमित्तानि धननिमित्तकोऽयमत्र मे वास इतिवन्निमित्तशब्दोऽयं प्रयोजनवाची। ततश्च युद्धे विजयिनो मम राज्यलाभात् सुखं न भविष्यति, किन्तु तद्विपरीतमनुतापदुःखमेव भावीत्यर्थः।।३०।।

भावानुवाद—यदि कहा जाय कि मैं धनके निमित्त यहाँ निवास कर रहा हूँ—जैसे इस वाक्यमें 'निमित्त' शब्द प्रयोजनवाची है, वैसे ही इस श्लोकमें भी 'निमित्त' शब्द प्रयोजनवाची है। इसके बाद युद्धमें विजयी होनेपर भी राज्य-प्राप्तिसे हमें सुख नहीं होगा। अपितु, इसके विपरीत अनुताप और दुःख ही होगा।।३०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

केशव—यहाँ भक्त अर्जुन भगवान्‌को केशव शब्दसे सम्बोधनकर अपने हृदगत भावोंको प्रकाशित कर रहे हैं—"आप केशी आदि प्रमुख दुष्टोंका दमन करनेपर भी सदा-सर्वदा अपने भक्तोंका पालन-पोषण करते हैं। इसलिए मेरे शोक-मोहको दूरकर मेरा भी पालन करें।"

श्रीमद्भागवतके अनुसार केशव शब्दका एक दूसरा भी गूढ़ तात्पर्य है—वह केवल रसिक वैष्णवोंके लिए है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने 'केशव' शब्दका अर्थ इस प्रकार किया है—'केशान् वयते संस्कारोतीति' अर्थात् अपनी प्रियाका केश-विन्यास करनेके कारण श्रीकृष्णका ही नाम 'केशव' है।।३०।।

न च श्रेयोऽनुपश्यामि हत्वा स्वजनमाहवे।
न काङ्क्षे विजयं कृष्ण न च राज्यं सुखानि च।।३१।।

अन्वय—कृष्ण (हे कृष्ण!) आहवे (युद्धमें) स्वजनम् (स्वजनको) हत्वा (मारकर) श्रेयः च (मङ्गल भी) न अनुपश्यामि (नहीं देखता हूँ) विजयम् च (विजय भी) न काङ्क्षे (नहीं चाहता हूँ) राज्यम् सुखानि च (राज्य एवं सुखोंको) न [काङ्क्षे] (नहीं चाहता हूँ)।।३१।।

अनुवाद—हे कृष्ण! युद्धमें स्वजनकी हत्याकर कोई मङ्गल भी नहीं देखता हूँ। मैं युद्धमें विजय, राज्य तथा सुखोंको भी नहीं चाहता हूँ।।३१।।

श्रीविश्वनाथ—श्रेयो न पश्यामीति *"द्वाविमौ पुरुषौ लोके सूर्यमण्डलभेदिनौ। परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखे हतः।।"* इत्यादिना हतस्यैव श्रेयोविधानात्, हन्तुस्तु न किमपि सुकृतम्। ननु दृष्टं फलं यशोराज्यं वर्त्तते युद्धस्येति, अत आह—न काङ्क्ष इति।।३१।।

भावानुवाद—'श्रयो न पश्यामीति' अर्थात् श्रेयः नहीं देखता हूँ। योगयुक्त होनेवाले परिव्राजक तथा युद्धमें निहत वीर—ये दोनों ही प्रकारके पुरुष सूर्यमण्डलमें अवस्थान करते हैं—इन वाक्योंसे यह विदित होता है कि युद्धमें मारे गए व्यक्तिका मङ्गल होता है, परन्तु मारनेवालेकी किसी भी प्रकारकी सुकृति नहीं होती है। यदि प्रश्न हो कि युद्धमें हत्या करनेके फलस्वरूप यश और राज्यसुखकी प्राप्ति तो होगी, इसलिए अर्जुनके लिए युद्ध करना श्रेयस्कर है, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—'न काङ्क्षे' अर्थात् मैं इसकी कामना नहीं करता हूँ।।३१।।

किं नो राज्येन गोविन्द किं भोगैर्जीवितेन वा।
येषामर्थे काङ्क्षितं नो राज्यं भोगाः सुखानि च॥३२॥
त इमेऽवस्थिता युद्धे प्राणांस्त्यक्त्वा धनानि च।
आचार्याः पितरः पुत्रास्तथैव च पितामहाः॥३३॥
मातुलाः श्वशुराः पौत्राः श्यालाः सम्बन्धिनस्तथा।
एतान्न हन्तुमिच्छामि घ्नतोऽपि मधुसूदन॥३४॥

अन्वय—गोविन्द (हे गाविन्द!) नः (हमें) राज्येन किम् (राज्यसे क्या प्रयोजन है) भोगैः जीवितेन वा किम् (भोगोंसे तथा जीवनसे क्या प्रयोजन है) येषाम् अर्थे (जिनके लिए) नः (हमें) राज्यम् (राज्य) भोगाः (भोग समूह) सुखानि च (एवं समस्त सुख) काङ्क्षितम् (इच्छित हैं) ते इमे (वे ही) आचार्याः (आचार्यगण) पितरः (पितृगण) पुत्राः (पुत्रगण) तथा (और) एव च (उसी प्रकार) पितामहाः (पितामहगण) मातुलाः (मामालोग) श्वसुराः श्वसुरगण) पौत्राः (पौत्रगण) श्यालाः (साले) सम्बन्धिनः (सम्बन्धिगण) प्राणान् धनानि च (प्राण ओर धनसमूह) त्यक्त्वा (परित्यागकर) युद्धे अवस्थिताः (युद्धमें उपस्थित हैं) मधुसूदन (हे मधुसूदन!) घ्नतः अपि (हत होकर भी) एतान् (इन लोगोंकी) हन्तम् (हत्या करनेकी) न इच्छामि (इच्छा नहीं करता हूँ)॥३२-३४॥

अनुवाद—हे गोविन्द! हमें राज्य, भोग तथा जीवनसे क्या प्रयोजन है? जिनके लिए राज्य और सुखभोग इच्छित हैं, वे सभी अर्थात् आचार्य, पितृव्य, पुत्र, पितामह, मामा, श्वसुर, पौत्र, साले और सम्बन्धिगण प्राण और धन देनेके लिए तत्पर होकर मेरे समक्ष खड़े हैं। अतः हे मधुसूदन! यदि ये लोग मेरा वध भी कर डालें, तथापि मैं इनकी हत्या करना नहीं चाहता॥३२-३४॥

अपि त्रैलोक्यराज्यस्य हेतोः किन्नु महीकृते।
निहत्य धार्तराष्ट्रान् नः का प्रीतिः स्याज्जनार्दन॥३५॥

अन्वय—जनार्दन (हे जनार्दन!) महीकृते किम् न (पृथिवीके लिए तो कहना ही क्या) त्रैलोक्य राज्यस्य हेतोः अपि (तीनों लोकोंके राज्यके लिए भी) धार्त्तराष्ट्राणाम् (धृतराष्ट्रके पुत्रोंको) निहत्य (मारकर) नः (हमें) का प्रीतिः स्यात् (क्या सुख होगा)॥३५॥

अनुवाद—हे जनार्दन! इस पृथ्वीके लिए तो कहना ही क्या, तीनों लोकोंके राजत्वके लिए भी धृतराष्ट्रके पुत्रोंका वध करनेसे हमें क्या सुख प्राप्त होगा?॥३५॥

पापमेवाश्रयेदस्मान् हत्वैतानाततायिनः।
तस्मान्नार्हा वयं हन्तुं धार्तराष्ट्रान् सबान्धवान्।
स्वजनं हि कथं हत्वा सुखिनः स्याम माधव।।३६।।

अन्वय—माधव (हे माधव!) एतान् (इन सभी) आततायिनः (आततायियोंको) हत्वा (मारकर) अस्मान् (हमें) पापम् एव (पाप ही) आश्रयेत् (लगेगा) तस्मात् (इसलिए) वयम् (हम) सबान्धवान् धार्त्तराष्ट्रान् (बान्धवोंके सहित धृतराष्ट्रके पुत्रोंका) हन्तम् (वध करनेमें) न अर्हा (समर्थ नहीं हैं) हि (क्योंकि) स्वजनम् हत्वा (स्वजनकी हत्यासे) कथम् (किस प्रकार) सुखिनः (आनन्दित) स्याम (होंगे)।।३६।।

अनुवाद—हे माधव! इन सभी आततायियोंको मारनेसे हमें पाप ही लगेगा, इसलिए बान्धवोंसहित दुर्योधनका वध करना हमारे लिए उचित नहीं है। क्योंकि, स्वजनकी हत्या करनेसे हम किस प्रकार सुखी होंगे?।।३६।।

श्रीविश्वनाथ—ननु *"अग्निदो गरदश्चैव शस्त्रपाणिर्धनापहः। क्षेत्रदारापहारी च षडेते आततायिनः।।"* इति, *"आततायिनमायान्तं हन्यादेवाविचारयन्। नाततायिवधे दोषो हन्तुर्भवति भारत।।"* इत्यादि वचनादेषां वध उचित एवेति तत्राह—पापमिति। एतान् हत्वा स्थितानस्मान्, 'आततायिनमायान्तम्' इत्यादिकमर्थशास्त्रं धर्मशास्त्राद्दुर्बलम्; यदुक्तं याज्ञवल्क्येन—*"अर्थशास्त्रात्तु बलवद्धर्मशास्त्रमिति स्मृतम्"* इति तस्मादाचार्यादीनां वधे पापं स्यादेव। न चैहिकं सुखमपि स्यादित्याह—स्वजनमिति।।३६।।

भावानुवाद—श्रुतिके अनुसार अग्निदाता, विषदाता, हाथमें शस्त्र लेकर प्रहारके लिए उद्यत व्यक्ति, धन-अपहरणकारी, भू-हरणकारी एवं स्त्री-हरणकारी—ये छः प्रकारके लोग आततायी होते हैं। यदि आप कहें कि देखनेमात्रसे बिना विचार किए ही इन आततायियोंकी हत्या करनी चाहिए, क्योंकि हे भारत! शास्त्रोंने आततायियोंकी हत्याको उचित बताया है तथा इससे हन्ताको कोई दोष भी नहीं लगता है, तो इसका उत्तर यह है कि इनकी हत्यासे हमें पाप लगेगा ही। अर्जुनके उपरोक्त तर्कका एक कारण है। अर्थशास्त्रके अनुसार आततायियोंकी हत्या उचित है। परन्तु, अर्थशास्त्र धर्मशास्त्रसे दुर्बल होता है। जैसा कि याज्ञवल्क्य ॠषि कहते हैं—"अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्रको प्रबल जानो।" अतः धर्मशास्त्रानुसार आचार्यादिके वधसे अवश्य ही पाप लगेगा। इतना ही नहीं, इससे कोई ऐहिक सुख भी प्राप्त नहीं होगा। इसके लिए ही अर्जुन 'स्वजनम्' इत्यादि वाक्य कह रहे हैं।।३६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—स्मृतिशास्त्रके अनुसार छः प्रकारके आततायियोंका वध करनेसे पाप नहीं होता, किन्तु 'मां हिंसात् सर्वभूतानि' इस श्रुति-वचनके अनुसार किसी भी प्राणीकी हिंसा न करो—ऐसा प्रतिपादित होता है। किन्तु जहाँ श्रुति एवं स्मृति वाक्योंमें परस्पर विरोध देखा जाय, वहाँ श्रुति वाक्योंकी ही प्रबलता माननी चाहिए—ऐसा शास्त्रोंका निर्देश है। उसी प्रकार अर्थशास्त्रकी अपेक्षा धर्मशास्त्र द्वारा दी हुई व्यवस्थाको प्रबल समझना चाहिए। इस न्यायानुसार धृतराष्ट्रके पुत्र आततायी होनेपर भी उनका वध करनेसे अवश्य ही पाप स्पर्श करेगा—यही अर्जुनकी भावना है। हम अर्जुनके चरित्रमें और भी एक विशेष व्यवहारको लक्ष्य करते हैं। महाभारत युद्धके समाप्त होनेपर पाण्डवोंके पुत्रघाती अश्वत्थामाको पशुकी भाँति बाँधकर जब अर्जुनने द्रौपदीके चरणोंमें पटक दिया, उस समय रोती हुई द्रौपदीने उदारतापूर्वक गुरुपुत्रको क्षमा कर देनेको कहा। किन्तु, भीमने उसे तुरन्त ही मार डालनेको कहा। उस समय अर्जुनने किङ्कर्त्तव्यविमूढ़ होकर कृष्णकी ओर देखा। कृष्णने अर्जुनसे कहा—"ब्राह्मण अधम होनेपर भी वध्य नहीं है, किन्तु दूसरी ओर अस्त्र-शस्त्र धारण किए हुए प्राणघातीका अवश्य ही वध करना चाहिए।" अर्जुनने कृष्णके आन्तरिक अभिप्रायको समझकर ब्रह्मबन्धु अश्वत्थामाका मस्तक मुण्डनकर उसके मस्तककी मणिको निकाल लिया और उसे शिविरसे बाहर निकाल दिया। जैसा भी हो अर्जुनका आन्तरिक भाव यह है कि पापका अनुष्ठानकर कोई भी सुखी नहीं रह सकता। उसे पारलौकिक सुखकी तो बात ही क्या लौकिक सुख भी नहीं प्राप्त हो सकता। वेद, स्मृति, सदाचार और आत्मतुष्टि—ये धर्मके चार लक्षण हैं। स्वजन अर्थात् बन्धु-बान्धवोंके विरुद्ध युद्ध करना वेद और सदाचारके विरुद्ध आत्मग्लानिप्रद है।।३६।।

यद्यप्येते न पश्यन्ति लोभोपहतचेतसः।
कुलक्षयकृतं दोषं मित्रद्रोहे च पातकम्।।३७।।
कथं न ज्ञेयमस्माभिः पापादस्मान्निवर्त्तितुम्।
कुलक्षयकृतं दोषं प्रपश्यद्भिर्जनार्दन।।३८।।

अन्वय—जनार्दन (हे जनार्दन!) यदि अपि (यद्यपि) एते (ये लोग) लोभ-उपहत-चेतसः (लोभसे भ्रष्टचित्त होकर) कुलक्षय कृत् दोषम् (वंशनाशसे उत्पन्न दोषको) मित्रद्रोहे च पातकम् (और मित्रद्रोहसे उत्पन्न पापको) न पश्यन्ति (नहीं देख पा रहे हैं) [तथापि] कुलक्षयकृतम् दोषम्

प्रपश्यद्भिः (वंशनाशसे उत्पन्न दोषको जाननेवाले) अस्माभिः (हमलोगोंको) अस्मात् पापात् (इस पापसे) निवर्त्तितुम् (निवृत्त होनेके लिए) कथम् न ज्ञेयम् (क्यों नहीं विचार करना चाहिए)।।३७-३८।।

अनुवाद—हे जनार्दन! राज्यके लोभसे भ्रष्टबुद्धि होकर दुर्योधनादि वंशनाशसे उत्पन्न दोष तथा मित्रद्रोहसे उत्पन्न पापको नहीं देख रहे हैं। परन्तु, इसे जाननेवाले हम लोगोंको इन दोषोंसे निवृत्त होनेके लिए क्यों नहीं विचार करना चाहिए?।।३७-३८।।

श्रीविश्वनाथ—नन्वेते तर्हि कथं युद्धे वर्त्तन्ते तत्राह—यद्यपीति।।३७।।

भावानुवाद—अहो! फिर भी इस युद्धमें क्यों प्रवृत्त हैं? इसके उत्तरमें 'यद्यपि' इत्यादि वाक्योंको कह रहे हैं।।३७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुनने विचार किया कि इस युद्धमें द्रोणाचार्य, कृपाचार्य आदि आचार्य, शल्य, शकुनि आदि मामा, भीष्मादि कुलवृद्ध, धृतराष्ट्रके पुत्रगण, सम्बन्धी तथा जयद्रथादि कुटुम्बगण उपस्थित हैं। इनके साथ विरोध करना शास्त्रोंमें निषिद्ध है—

'ऋत्विक् पुरोहिताचार्य मातुलातिथिसंश्रितैः।
बालवृद्धातुरैर्वैद्यज्ञातिसम्बन्धिबान्धवैः ।।'

अर्थात्, ऋत्विक, पुरोहित, आचार्य, मामा, अतिथि, आश्रितवर्ग, बालक, वृद्ध और बन्धु-बान्धवोंके साथ विवाद नहीं करना चाहिए। परन्तु, इनसे ही मुझे युद्ध करना पड़ेगा। अतः अर्जुनने सम्मुख खड़े इन आत्मीय स्वजनसे युद्धके लिए अपनी अनिच्छा प्रकट की। किन्तु, ये सभी हमसे युद्ध करनेके लिए क्यों प्रस्तुत हैं—इसका समाधान करते हुए वे सोच रहे हैं—ये सभी क्षुद्र स्वार्थके वशीभूत होकर हित-अहित तथा धर्म-अधर्मके विचारसे रहित हो रहे हैं, अतः वे कुलक्षयसे उत्पन्न पापकी बात भूल गए हैं। किन्तु, हमें कोई स्वार्थ नहीं है, अतः हम इस निन्दनीय और घृणित पाप कर्ममें क्यों प्रवृत्त होवें?।।३७-३८।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके प्रथम
अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

कुलक्षये प्रणश्यन्ति कुलधर्माः सनातनाः।
धर्मे नष्टे कुलं कृत्स्नमधर्मोऽभिभवत्युत।।३९।।

अन्वय—कुलक्षये (वंशनाशसे) सनातनाः कुलधर्माः (वंशपरम्पराके द्वारा प्राप्त धर्मसमूह) प्रणश्यन्ति (ध्वंस हो जाते हैं) धर्मे नष्टे (धर्मके नष्ट

होनेपर) अधर्मः (अधर्म) कृत्स्नम् (सम्पूर्ण) कुलम् उत (कुलको भी) अभिभवति (दबा लेता है)।।३९।।

अनुवाद—वंशनाशसे वंशपरम्परा द्वारा प्राप्त धर्मसमूह नष्ट हो जाते हैं। धर्मके नष्ट होने पर सम्पूर्ण कुलको अधर्म दबा लेता है।।३९।।

श्रीविश्वनाथ—कुलक्षय इति। सनातनाः कुलपरम्पराप्राप्तत्वेन बहुकालतः प्राप्ता इत्यर्थः।।३९।।

भावानुवाद—'सनातनाः' का अर्थ है—कुल परम्पराके द्वारा बहुत समयसे प्राप्त होनेवाला।।३९।।

अधर्माभिभवात् कृष्ण प्रदुष्यन्ति कुलस्त्रियः।
स्त्रीषु दुष्टासु वार्ष्णेय जायते वर्णसङ्करः।।४०।।

अन्वय—कृष्ण (हे कृष्ण!) अधर्माभिभवात् (अधर्मके द्वारा अभिभूत होनेके कारण) कुलस्त्रियः (कुलकी स्त्रियाँ) प्रदुष्यन्ति (प्रदूषित हो जाती हैं) वार्ष्णेय (हे वृष्णिवंशी कृष्ण!) स्त्रीषु दुष्टासु (स्त्रियोंके दूषित होनेपर) वर्णसङ्करः जायते (वर्णसङ्कर उत्पन्न होते हैं)।।४०।।

अनुवाद—हे कृष्ण! अधर्मके द्वारा कुलके अभिभूत होनेपर कुलकी स्त्रियाँ भ्रष्ट हो जाती हैं। हे वृष्णिवंशी! स्त्रियोंके भ्रष्ट होनेसे वर्णसङ्करकी उत्पत्ति होती है।।४०।।

श्रीविश्वनाथ—प्रदुष्यन्तीति अधर्म एव ता व्यभिचारे प्रवर्त्तयतीति भावः।।४०।।

भावानुवाद—अधर्म ही उनलोगोंको व्यभिचारमें प्रवृत्त करता है।।४०।।

सङ्करो नरकायैव कुलघ्नानां कुलस्य च।
पतन्ति पितरो ह्येषां लुप्तपिण्डोदकक्रियाः।।४१।।

अन्वय—सङ्करः (वर्णसङ्कर) कुलघ्नानाम् (कुलघातियोंको) कुलस्य च (एवं कुलको) नरकाय एव (नरकमें ले जानेके लिए ही होता है) एषाम् (इनके) पितरः लुप्त-पिण्ड-उदक-क्रियाः [सन्तः] (पितृगण पिण्ड-जलहीन होकर) पतन्ति हि (निश्चय ही पतित हो जाते हैं)।।४१।।

अनुवाद—वर्णसङ्कर कुलघातियोंको तथा कुलको नरकमें ले जाता है। इनके पितृगण भी जलहीन तथा पिण्डहीन होकर निश्चय ही पतित हो जाते हैं।।४१।।

दोषैरेतैः कुलघ्नानां वर्णसङ्करकारकैः।
उत्साद्यन्ते जातिधर्माः कुलधर्माश्च शाश्वताः।।४२।।

अन्वय—कुलघ्नानाम् (कुलघातियोंके) एतैः (ये सभी) वर्णसङ्करकारकैः (वर्णसङ्करकारक) दोषैः (दोषोंके द्वारा) शाश्वताः (सनातन) जातिधर्माः

कुलधर्माः च (वर्णधर्म समूह और कुलधर्म समूह) उत्साद्यन्ते (विलुप्त हो जाते हैं)।।४२।।

अनुवाद—कुलघातियोंके इन सभी दोषोंके द्वारा सनातन जातिधर्म तथा कुलधर्म विलुप्त हो जाते हैं।।४२।।

श्रीविश्वनाथ—दोषैरिति उत्साद्यन्ते लुप्यन्ते।।४२।।

भावानुवाद—'उत्साद्यन्ते'—लुप्त हो जाते हैं।।४२।।

उत्सन्नकुलधर्माणां मनुष्याणां जनार्दन।
नरके नियतं वासो भवतीत्यनुशुश्रुम।।४३।।

अन्वय—जनार्दन (हे जनार्दन!) उत्सन्नकुलधर्माणाम् (कुलधर्मरहित) मनुष्याणाम् (मनुष्योंका) नरके नियतम् वासः भवति (नरकमें नित्य वास होता है) इति अनुशुश्रुम (ऐसा सुना है)।।४३।।

अनुवाद—हे जनार्दन! मैंने ऐसा सुना है कि कुलधर्मविहीन लोगोंको अनन्त काल तक नरकभोग करना पड़ता है।।४३।।

अहो बत महत्पापं कर्त्तुं व्यवसिता वयम्।
यद्राज्यसुखलोभेन हन्तुं स्वजनमुद्यताः।।४४।।

अन्वय—अहो बत (अहो! शोकका विषय है कि) वयम् (हमलोग) महत् पापम् (महापाप) कर्त्तुम् (करनेके लिए) व्यवसिताः (कृतसङ्कल्प हैं) यत् (जो) राज्य-सुखलोभेन (राज्य-सुखके लोभसे) स्वजनम् हन्तुम् (स्वजनकी हत्या करनेको) उद्यताः (उद्यत हैं)।।४४।।

अनुवाद—हाय! कितने खेदकी बात है कि हम लोग राज्यसुखके लोभसे स्वजनकी हत्याके लिए उद्यत हैं तथा यह महापाप करनेको कृतसङ्कल्प हैं।।४४।।

यदि मामप्रतीकारमशस्त्रं शस्त्रपाणयः।
धार्त्तराष्ट्रा रणे हन्युस्तन्मे क्षेमतरं भवेत्।।४५।।

अन्वय—यदि अप्रतीकारम् (यदि आत्मरक्षाके लिए चेष्टारहित) अशस्त्रम् (शस्त्रविहीन) माम् (मुझे) शस्त्रपाणयः (शस्त्र धारण करनेवाले) धार्त्तराष्ट्राः (धृतराष्ट्रके पुत्रगण) रणे (युद्धमें) हन्युः (मार डालें) तत् (तो भी) मे (मेरे लिए) क्षेमतरम् (अपेक्षाकृत हितकर) भवेत् (होगा)।।४५।।

अनुवाद—यदि अस्त्रविहीन तथा आत्मरक्षाके लिए चेष्टारहित मुझको शस्त्रधारी धृतराष्टके पुत्रगण युद्धमें मार भी डालें, तो भी यह मेरे लिए हितकर ही होगा।।४५।।

सञ्जय उवाच—

एवमुक्त्वार्जुनः संख्ये रथोपस्थ उपाविशत्।
विसृज्य सशरं चापं शोकसंविग्नमानसः।।४६।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'सैन्यदर्शनं' नाम प्रथमोऽध्यायः।

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) शोकसंविग्नमानसः (शोकसे उद्विग्नमनवाला) अर्जुनः (अर्जुन) एवं (इस प्रकार) उक्त्वा (बोलकर) संख्ये (युद्धमें) सशरम् चापम् (बाणसहित धनुषको) विसृज्य (त्यागकर) रथोपस्थे (रथके ऊपर) उपाविशत् (बैठ गए)।।४६।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'सैन्यदर्शनं' नाम प्रथमोऽध्यायस्यान्वयः।।

अनुवाद—सञ्जयने कहा—शोकसे उद्विग्नमनवाले अर्जुनने युद्धभूमिमें ऐसा कहकर बाणसहित धनुषका परित्याग कर दिया तथा वे रथमें बैठ गए।।४६।।

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रथम अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—संख्ये संग्रामे; रथोपस्थे रथोपरि।।४६।।

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु प्रथमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद—संख्ये अर्थात् संग्राममें तथा रथोपस्थे अर्थात् रथके ऊपर।।४६।।

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रथम अध्यायकी साधुसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके प्रथम अध्यायकी सारार्थवर्षिणी टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

प्रथम अध्याय समाप्त।

द्वितीयोऽध्यायः

सञ्जय उवाच—
तं तथा कृपयाविष्टमश्रुपूर्णाकुलेक्षणम्।
विषीदन्तमिदं वाक्यमुवाच मधुसूदनः।।१।।

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) तथा (उस प्रकार) कृपया-आविष्टम् (करुणासे अभिभूत) अश्रुपूर्ण-आकुल-ईक्षणम् (आँसुओंसे पूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले) विषीदन्तम् (विषादयुक्त) तम् (अर्जुनको) मधुसूदनः (मधुसूदनने) इदम् वाक्यम् (यह वचन) उवाच (कहा)।।१।।

अनुवाद—सञ्जयने कहा—उस प्रकार करुणासे अभिभूत, अश्रुपूर्ण तथा व्याकुल नेत्रोंवाले, विषादयुक्त अर्जुनको श्रीभगवान् मधुसूदनने यह वचन कहा।।१।।

श्रीभगवानुवाच—
कुतस्त्वा कश्मलमिदं विषमे समुपस्थितम्।
अनार्यजुष्टमस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमर्जुन ।।२।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) अर्जुन (हे अर्जुन!) त्वा (तुम्हें) विषमे (विपदकालमें) कुतः (किस कारणसे) अनार्यजुष्टम् (अनार्योंके आचरित) अस्वर्ग्यम् (स्वर्गको न देनेवाला) अकीर्त्तिकरम् (कीर्त्तिको नहीं देनेवाला) इदम् (यह) कश्मलम् (मोह) समुपस्थितम् (उपस्थित हुआ)।।२।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे अर्जुन! किस हेतु तुम्हें इस भीषण विपदकालमें अनार्योंके द्वारा आचरित, स्वर्ग तथा कीर्त्तिको नहीं देनेवाला यह मोह उपस्थित हुआ?।।२।।

श्रीविश्वनाथ— आत्मानात्मविवेकेन शोकमोहतमो नुदन्।
द्वितीये कृष्णचन्द्रोऽत्र प्रोचे मुक्तस्य लक्षणम्।।

कश्मलं मोहः। विषमेऽत्र संग्रामसङ्कटे, कुतो हेतोः। उपस्थितं त्वां प्राप्तमभूत्? अनार्यजुष्टम् सुप्रतिष्ठितलोकैरसेवितम् अस्वर्ग्यमकीर्त्तिकरमिति पारत्रिकैहिकसुख-प्रतिकूलमित्यर्थः।।१-२।।

भावानुवाद—इस द्वितीय अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णचन्द्रने आत्म तथा अनात्म विवेकके द्वारा शोक-मोहरूपी अन्धकारको दूर करते हुए मुक्त पुरुषोंका लक्षण कहा है। 'कश्मलम्' का अर्थ है—मोह, 'विषमे' का अर्थ है—इस युद्ध सङ्कटमें, 'कुतः' का अर्थ है—किस कारणसे, 'उपस्थितं' का अर्थ है—तुम्हें आश्रय किया है। 'अनार्यजुष्टम्' का तात्पर्य है—सुप्रतिष्ठित लोगोंके द्वारा असम्मानित एवं 'अस्वर्ग्यम अकीर्त्तिकरम्' का तात्पर्य है—पारमार्थिक और ऐहिक सुखोंके प्रतिकूल।।१-२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—धृतराष्ट्रको यह जानकर बहुत ही आनन्द हुआ कि युद्धके पूर्व ही अर्जुनके हृदयमें सहसा धर्म-प्रवृत्ति जाग उठी है। वह 'अहिंसा परमोधर्मः' की नीतिका अवलम्बनकर युद्धसे विमुख हो रहा है। इन्होंने मन-ही-मन विचार किया—"सौभाग्यकी बात है कि युद्ध नहीं होनेसे मेरे पुत्रोंका राज्य निर्विघ्न और अटल हो जाएगा।" तथापि, उन्होंने यह प्रश्न किया—"तत्पश्चात् क्या हुआ?" सूक्ष्म बुद्धिसम्पन्न सञ्जयने उनकी भावनाको ताड़ लिया। उन्होंने बड़ी कुशलतापूर्वक अन्धराजके अनुमान एवं आशाको चूर्ण करते हुए कहा—"अर्जुनकी ऐसी स्थिति देखकर भी भगवान् श्रीकृष्णने उसकी उपेक्षा नहीं की, बल्कि जिस प्रकार उन्होंने मधु दैत्यका वध किया था, अपने उसी दुष्ट-दलन स्वभावमें स्थित रहकर इस समय भी वे अपने स्वाभाविक दुष्ट-दलन संस्कारको अर्जुनके हृदयमें सञ्चारितकर आपके पुत्रोंका वध करावेंगे। बिना युद्धके ही राज्य प्राप्तिकी आशाका पोषण न करें।"

सञ्जय पुनः धृतराष्ट्रसे श्रीकृष्णकी उक्तियोंका वर्णन करने लगे—"युद्ध करना क्षत्रियोंका स्वधर्म है। ऐसे युद्धके समय तुम स्वधर्मसे क्यों विमुख हो रहे हो। जिस युद्धमें मोक्ष, स्वर्ग और कीर्त्ति प्राप्त होगी, उस धर्मयुद्धके समय युद्धसे तुम्हारा वैराग्य होना अनार्य-जुष्ट अर्थात् मुक्तिका विरोधी, अस्वर्ग्य अर्थात् पारलौकिक स्वर्गलाभका विरोधी तथा अकीर्त्तिकर अर्थात् लौकिक सुख या कीर्त्तिका नाश करनेवाला है।।१-२।।

क्लैब्यं मास्म गमः पार्थ नैतत्त्वय्युपपद्यते।
क्षुद्रं हृदयदौर्बल्यं त्यक्त्वोत्तिष्ठ परन्तप।।३।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) क्लैब्यं (नपुंसकताको) मा स्म गमः (मत प्राप्त होओ) एतत् (यह) त्वयि (तुम्हारे लिए) न उपपद्यते (उपयुक्त नहीं है) परन्तप (हे शत्रुका दमन करनेवाले!) क्षुद्रम् (क्षुद्र) हृदयदौर्बल्यम् (हृदयकी दुर्बलता) त्यक्त्वा (त्यागकर) उत्तिष्ठ (खड़े होओ)।।३।।

अनुवाद—हे पार्थ! तुम इस प्रकार नपुंसकताको मत प्राप्त होओ। तुम्हें यह शोभा नहीं देता है। हे परन्तप! तुम इस क्षुद्र हृदयकी दुर्बलताका परित्याग करते हुए युद्धके लिए खड़े होओ।।३।।

श्रीविश्वनाथ—क्लैब्यं क्लीवधर्मं कातर्यम्, हे पार्थेति त्वं पृथापुत्रः सन् अपि गच्छसि, तस्मान्मास्म गमः, मा प्राप्नुहि, अन्यस्मिन् क्षत्रबन्धौ वरमिदमुपपद्यताम्, त्वयि मत्सखौ तु नोपयुज्यते। नन्विदं शौर्याभावलक्षणं क्लैब्यं मा शङ्किष्ठाः, किन्तु भीष्मद्रोणादिगुरुषु धर्मदृष्ट्या विवेकोऽयं धार्तराष्ट्रेषु तु दुर्बलेषु मदस्त्राघातमासाद्य मर्तुमुद्यतेषु दयैवेयमिति तत्राह—क्षुद्रमिति। नैते तव विवेकोदये, किन्तु शोकमोहावेव। तौ च मनसो दौर्बल्यव्यञ्जकौ। तस्मात् हृदयदौर्बल्यमिदं त्यक्त्वा उत्तिष्ठ। हे परन्तप! परान् शत्रून् तापयन् युध्यस्व।।३।।

भावानुवाद—यहाँ 'क्लैब्यम्' का अर्थ है—'क्लीव धर्मरूपी कातरता।' हे पार्थ! तुम पृथापुत्र होकर भी कातर हो रहे हो, अतः 'मा स्म गमः' अर्थात् कातर मत होओ। किसी और अधम क्षत्रियको यह शोभा दे सकता है, परन्तु तुम तो मेरे सखा हो। अतः तुम्हें यह बिल्कुल भी शोभा नहीं दे रहा है। यदि तुम कहो कि हे कृष्ण! मेरी इस शूरताके अभाव-लक्षणसे युक्त कातरताके प्रति आशंका न करें, यह तो धर्मकी दृष्टिसे भीष्म-द्रोणादि गुरुओंके प्रति विवेक (सम्मान) है तथा मेरे अस्त्रोंसे घायल होकर मरणोन्मुख दुर्बल धृतराष्ट्रपुत्रोंके प्रति दयाका ही परिचय है, तो इसका उत्तर है—'क्षुद्रम्' अर्थात् ये दोनों तुम्हारे विवेक और दया नहीं, वरं शोक एवं मोह हैं। दोनों ही तुम्हारे मनकी दुर्बलताके प्रकाशक हैं। अतएव इस हृदय-दौर्बल्यका परित्यागकर उठो। हे परन्तप! 'पर' अर्थात् शत्रुको ताप प्रदान करते हुए युद्ध करो।।३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीभगवान्‌ने कहा—"शूरवीर और स्वधर्ममें प्रतिष्ठित क्षत्रियोंको युद्धमें कायरता शोभा नहीं देती। तुम देवराज इन्द्रके अंशसे पृथाके पुत्र होनेके कारण इन्द्रके समान ही तेजस्वी एवं बलवान हो। इसके अतिरिक्त मुझ महामहेश्वरके सखा होनेके कारण तुम महाप्रभावशाली भी हो, अतः तुम्हारे लिए ऐसी कायरता अशोभनीय है। यदि तुम ऐसा कहो कि यह मेरी कायरता नहीं है, बल्कि विवेक और दयाके कारण ऐसा कह रहा हूँ, तो इसका उत्तर यह है कि नहीं! ऐसा

नहीं है। ये तुम्हारे विवेक और दया नहीं बल्कि मनकी दुर्बलतास्वरूप शोक और मोह हैं। क्योंकि, विवेक और दयासे मनमें भ्रान्ति उपस्थित नहीं होती, किन्तु तुम्हारी पूर्वोक्ति *'न च शक्नोम्यवस्थातुं भ्रमतीव च मे मनः'* (गीता १/३०) से यह स्पष्ट होता है कि तुम्हारा मन भ्रमित हो रहा है।"

यहाँ यह जान लेना अप्रासंगिक नहीं होगा कि दुर्वासा ऋषिने अपनी सेवा-सुश्रूषासे प्रसन्न होकर कुन्तीको आवाहन करनेका मन्त्र देते हुए वरदान दिया था कि इससे तुम जिस देवताका आवाहान करोगी वे ही देवता तुम्हें दर्शन देकर तुम्हारे मनोरथको पूर्ण करेंगे। महाराज पाण्डुके आदेशसे कुन्तीने उस मन्त्रसे धर्म, वायु और इन्द्रका आवाहन किया। उसीके फलस्वरूप क्रमशः युधिष्ठिर, भीम और अर्जुनका जन्म हुआ। पाण्डुकी दूसरी पत्नी माद्रीके गर्भसे दोनों अश्विनीकुमारोंके द्वारा नकुल और सहदेवका जन्म हुआ था।।३।।

अर्जुन उवाच—
कथं भीष्ममहं संख्ये द्रोणञ्च मधुसूदन।
इषुभिः प्रतियोत्स्यामि पूजार्हावरिसूदन।।४।।

अन्वय—अर्जन उवाच (अर्जुनने कहा) अरिसूदन मधुसूदन (हे शत्रुदमनकारी मधुसूदन!) अहम् (मैं) संख्ये (युद्धभूमिमें) पूजार्हौ (पूजनीय) भीष्मम् द्रोणम् च (भीष्म तथा द्रोणाचार्यके प्रतिकूल) इषुभिः (बाणोंके द्वारा) कथम् (किस प्रकार) योत्स्यामि (युद्ध करूँगा)।।४।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे शत्रुदमनकारी मधुसूदन! मैं किस प्रकार इस युद्धमें पूजनीय भीष्म पितामह एवं द्रोणाचार्यके विरुद्ध बाणोंके द्वारा युद्ध करूँगा?।।४।।

श्रीविश्वनाथ—ननु *"प्रतिवध्नाति हि श्रेयः पूज्यपूजाव्यतिक्रमः"* इति धर्मशास्त्रम्, अतोऽहं युद्धान्निवर्त इत्याह—कथमिति। प्रतियोत्स्यामि प्रतियोत्स्ये। नन्वेतौ युध्येते, तर्ह्यनयोः प्रतियोद्धा भवितुं त्वं किं न शक्नोषि? सत्यं, न शक्नोम्येवेत्याह—पूजार्हाविति। अनयोश्चरणेषु भक्त्या कुसुमान्येव दातुमर्हामि न तु क्रोधेन तीक्ष्णशरानिति भावः। भो वयस्य कृष्णः! त्वमपि शत्रुनेव युद्धे हंसि, न तु सान्दीपनिं स्वगुरुम्, नापि बन्धून् यदूनित्याह—हे मधुसूदनेति। ननु मधवो यदव एव? तत्राह—हे अरिसूदन! मधुर्नाम दैत्यो यस्तवारिरिति ब्रवीमीति।।४।।

भावानुवाद—यदि कहो कि धर्मशास्त्रानुसार पूज्य व्यक्तिकी पूजाका अतिक्रमण होनेसे अमङ्गल होता है, अतः मैं युद्ध नहीं कर रहा हूँ। इसके उत्तरमें श्रीभगवान् 'कथं' इत्यादि कह रहे हैं। 'प्रतियोत्स्यामि'—आत्मनेपदी 'प्रतियोत्स्ये' के बदले यह परस्मैपदी प्रयोग आर्ष है। यदि आप कहें कि भीष्म-द्रोणादि तुम्हारे विरुद्ध युद्ध कर रहे हैं तो क्या तुम इनके विरुद्ध युद्ध नहीं कर सकते हो? इसके उत्तरमें अर्जुन कहते हैं—हाँ, यह सत्य है, मैं युद्ध नहीं कर सकता हूँ। इसीलिए तो 'पूजार्हौ' इत्यादि कह रहा हूँ। जिनके चरणोंमें भक्तिपूर्वक पुष्पादि प्रदान करना चाहिए, क्या उन्हें क्रोधपूर्वक तीक्ष्ण बाणोंसे विद्धकर देना उचित है? अर्थात् यह उचित नहीं है। यहाँ मधुसूदन शब्दके द्वारा अर्जुन श्रीकृष्णको उपदेश दे रहे हैं—"हे सखे! आपने भी युद्धमें शत्रुओंको मारा है, अपने गुरु सान्दीपनि मुनि अथवा निजबन्धु या आत्मीय यदुगणको नहीं मारा है। यदि आप कहें कि मधुगण (शत्रुगण) तो यदुगण हैं, तो यह ठीक नहीं है। इसके लिए मैंने आपको 'अरिसूदन' से सम्बोधित किया है। अर्थात् 'मधु' नामक दैत्य आपका शत्रु था—मैं यही कह रहा हूँ"।।४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

सान्दीपनि मुनि—ये अवन्ति (वर्तमान उज्जैन) देशमें रहनेवाले कश्यप गोत्रीय सुविख्यात मुनि हैं। जगद्गुरु श्रीकृष्ण एवं बलदेवने नरवत् लीला करते हुए लोक-शिक्षाके लिए उन्हें शिक्षा गुरु बनाया था तथा इन्हींके आश्रममें चौंसठ दिनोंमें चौंसठों कलाओंकी शिक्षा ग्रहण करनेका अभिनय किया था। श्रीमद्भागवतकी दिग्दर्शिनी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरजीने यह भाव प्रदर्शित किया है कि सान्दीपनि मुनि शैव थे। तथापि कृष्ण और बलदेवने विद्योपार्जनके लिए इनको ही क्यों अपने गुरुके रूपमें स्वीकार किया? इसके उत्तरमें उन्होंने स्वयं कहा है कि किसी भक्त गुरुके निकट जानेसे वे शीघ्र ही स्वयं भगवान् कृष्णको पहचान लेते और फिर उनकी शिक्षाकी लीला नहीं हो पाती। अतः दोनों भाई जान-बूझकर शैव सान्दीपनि मुनिके निकट गए। ये व्रजकी प्रसिद्धा योगमाया पौर्णमासीजीके पुत्र थे। प्रसिद्ध कृष्णसखा मधुमङ्गल एवं नान्दीमुखी इन सान्दीपनि मुनिके ही पुत्र एवं कन्या हैं।।४।।

गुरूनहत्वा हि महानुभावान् श्रेयो भोक्तुं भैक्ष्यमपीह लोके।
हत्वार्थकामांस्तु गुरूनिहैव भुञ्जीय भोगान् रुधिरप्रदिग्धान्।।५।।

अन्वय—महानुभावान् (महानुभाव) गुरून् (गुरुजनको) अहत्वा (न मारकर) हि (निश्चय) इह लोके (इस लोकमें) भैक्ष्यम् अपि (भिक्षान्न भी) भोक्तुम् (भोजन करना) श्रेयः (कल्याणकारक है) तु (किन्तु) गुरून् (गुरुजनको) हत्वा (मारकर) इह (इस लोकमें) रुधिर प्रदिग्धान् (रक्तरञ्जित) अर्थकामान् (अर्थ ओर कामरूप) भोगान् एव (भोगोंको ही) भुञ्जीय (भोगना होगा)।।५।।

अनुवाद—महानुभाव गुरुजनको न मारकर इस संसारमें भिक्षान्नके द्वारा भी जीवन–यापन करना कल्याणकारी है। किन्तु गुरुजनकी हत्या करनेसे इस लोकमें ही रक्तरञ्जित अर्थ और कामरूप भोगोंको भोगना होगा।।५।।

श्रीविश्वनाथ—नन्वेवं ते यदि स्वराज्येऽस्मिन् नास्ति जिघृक्षा, तर्हि कया वृत्त्या जीविष्यसीत्यत्राह—गुरून् अहत्वा गुरुवधमकृत्वा भैक्ष्यं क्षत्रियैर्विगीतमपि भिक्षया प्राप्तमन्नमपि भोक्तुं श्रेयः। ऐहिक दुर्यशोलाभेऽपि पारत्रिकममङ्गलं तु नैव स्यादिति भावः। न च्येते गुरवोऽवलिप्ताः कार्याकार्यमजानन्तश्चा–धार्मिकदुर्योधनाद्यनुगतास्त्यज्या एव, यदुक्तं—"*गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः। उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते॥*" इति वाच्यमित्याह—महानुभावानिति। कालकामादयोऽपि यैर्वशीकृतास्तेषां भीष्मादीनां कुतस्तद्दोषसम्भव इति भावः। ननु "*अर्थस्य पुरुषो दासो दासस्त्वर्थो न कस्यचित्। इति सत्यं महाराज बद्धोऽस्म्यर्थेन कौरवैः॥*" इति युधिष्ठिरं प्रति भीष्मेणैवोक्तमतः साम्प्रतमर्थकामत्वादेतेषां महानुभावत्वं प्राक्तनं विगलितम्? सत्यम्, तदप्येतान् हतवतो मम दुःखमेव स्यादित्याह,—अर्थकामानर्थलुब्धानप्येतान् गुरून् हत्वाऽहं भोगान् भुञ्जीय किन्त्वेतेषां रुधिरेण प्रदिग्धान् प्रलिप्तानेव। अयमर्थः—एतेषामर्थलुब्धत्वेऽपि मद्गुरुत्वमस्त्येव, अतएवैतद्वधे सति गुरुद्रोहिणो मम खलु भोगो दुष्कृतिमिश्रः स्यादिति।।५।।

भावानुवाद—यदि आप कहों कि स्वराज्य ग्रहण करनेकी तुम्हारी इच्छा नहीं है, पुनः तुम किस प्रकार अपना जीवन निर्वाह करोगे, तो इसका उत्तर यह है कि गुरुवर्गकी हत्या न कर, क्षत्रियोंके लिए निन्दनीय भिक्षादिके द्वारा उपार्जित अन्नका भी भोजन करना श्रेयस्कर है। इससे इस जगतमें अपयश लाभ होनेपर भी पारमार्थिक अमङ्गल नहीं होगा। अभिमानी, कर्त्तव्य–अकर्त्तव्यके विचारमें अक्षम तथा अधार्मिक दुर्योधनादिके अनुगत

कहकर इन गुरुजनका परित्याग करना उचित नहीं है। यदि आप कहें कि धर्मशास्त्रमें (महाभारत, उद्योगपर्व) ऐसा बताया गया है कि अभिमानी, कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य-विवेकरहित, कुपथगामी गुरुका परित्याग करना ही विधि है, तो मेरा उत्तर है—'महानुभावान्' अर्थात् जिन्होंने काल-कामादिको वशमें कर लिया है, उन भीष्म-द्रोणादिके प्रति इन दोषोंकी सम्भावना ही कहाँ है? पुनः यदि कहा जाय कि पुरुष अर्थका दास है, परन्तु अर्थ किसीका भी दास नहीं है। जैसा कि भीष्मने युधिष्ठिरको बताया है—"हे महाराज! यह सत्य है, मैं कौरवोंके अर्थके द्वारा आबद्ध हूँ।" अतएव 'अर्थकामी' शब्दके द्वारा इनका महानुभावत्व तो पहले ही नष्ट हो चुका है, तो इसका उत्तर है—यह सत्य है, तथापि इनकी हत्या करनेसे मुझे दुःख ही होगा। इसके लिए मैं 'अर्थकामान्' इत्यादि शब्दोंको कह रहा हूँ अर्थात् अर्थलुब्ध इन समस्त कुरुओंकी हत्याकर मैं भोगोंका उपभोगकर सकता हूँ, किन्तु वे भोग उनके रक्तसे रञ्जित होंगे। इसका अर्थ यह है कि इन लोगोंके अर्थलोलुप होनेपर भी मेरे लिए इनका गुरुत्व हमेशा ही वर्त्तमान रहेगा। अतः इनके वधसे मैं गुरुद्रोही बनूँगा तथा वे समस्त भोग निश्चय ही मेरे लिए दुष्कृतिमिश्र होंगे।।५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुन मानो शोक और मोहके वशीभूत होकर कृष्णके वचनोंपर ध्यान न देकर पुनः कहने लगे—"स्वजन और बन्धु-बान्धवोंकी बात छोड़ दीजिए, युद्धके लिए सामने खड़े गुरु द्रोण, कृपाचार्य एवं परम पूज्य भीष्म पितामहका वध एक तुच्छ लौकिक राज्यके लिए करना घोर अमङ्गलजनक पापकर्म समझता हूँ। ऐसे गुरुजनका वध करनेवालेका परलोकमें कोई स्थान नहीं है। अतएव मैं इस लोकमें भिक्षासे प्राप्त अन्न ग्रहणकर भी किसी प्रकार जीवन-धारण करना श्रेयस्कर समझता हूँ।" शास्त्रोंमें वेद-अध्यापक, पिता, ज्येष्ठ भ्राता, राजा, मामा, श्वसुर, रक्षाकर्त्ता, नाना-नानी, दादा-दादी, बन्धु, आयुमें बड़े एवं चाचा—इनको गुरुवर्ग कहा गया है—

'उपाध्यायः पिता ज्येष्ठभ्राता चैव महीपतिः।
मातुलः श्वसुरस्त्राता मातामह पितामहौ।
बन्धुर्ज्येष्ठः पितृव्यश्च पुंश्येते गुरवः स्मृताः।।'

(कूर्मपुराण)

श्रीद्रोणाचार्य एवं कृपाचार्य उच्च ब्राह्मणकुलमें पैदा हुए थे। ये धनुर्वेदके अतिरिक्त वेदों एवं धर्मशास्त्रोंके भी ज्ञाता एवं धार्मिक थे। अर्जुन इनको गुरुके रूपमें देख रहे हैं। द्रोणाचार्यजीने अर्जुनसे प्रतिज्ञा करवाई थी कि किसी कारणवश यदि मैं संग्राममें तुम्हारे समक्ष युद्धके लिए उपस्थित होऊँ, तो तुम अवश्य ही मुझसे युद्ध करना। द्रोणाचार्यने भावी महाभारत संग्रामको जान लिया था।

भीष्म पितामह महाराज शान्तनु और गंगाके चिरकुमार पुत्र थे। श्रीमद्भागवत (९/२२/१९) के अनुसार ये कृष्णभक्त, महापराक्रमी, जितेन्द्रिय, उदार, तत्त्वज्ञाता एवं सत्यप्रतिज्ञ थे। मृत्यु भी इनके अधीन थी। ये भगवद्भक्त महाजनोंमें अन्यतम थे।

'स्वयम्भूर्नारदः शम्भुः कुमार कपिलो मनुः।
प्रह्लादो जनको भीष्मो बलिर्वैयासकिर्वयम्।।'

(श्रीमद्भा. ६/३/२०)

अतएव ऐसे तत्त्ववेत्ता जगद्गुरु भीष्म, द्रोणाचार्य आदि गुरुजनकी श्रेणीमें परिगणित होनेपर भी तथा उनके साथ मिलकर कृष्णभक्त पाण्डवोंके साथ युद्ध करनेपर भी सदा–सर्वदा कृष्णकी प्रीतिके सम्पादनके लिए ही सब कुछ करनेवाले कृष्णके परम प्रिय भक्त हैं। इनका उल्लेख ज्ञानी भक्तोंमें किया जाता है। इन्होंने महाराज युधिष्ठिरको कहा था—"मैं क्या करूँ, मैं कौरवोंके अर्थसे निन्तान्त बद्ध हूँ, अतः इच्छा न होनेपर भी कौरवोंके पक्षसे युद्ध कर रहा हूँ, किन्तु युद्धमें तुम्हारी विजय हो—मैं ऐसा वरदान देता हूँ।" यहाँ बाह्य दृष्टिसे भीष्म पितामह अर्थलोलुप और पराधीन लक्षित होनेपर भी यथार्थतः जितेन्द्रिय और परम स्वतन्त्र हैं। शुद्धा सरस्वतीने इसलिए वर्त्तमान श्लोकमें 'हि महानुभावान्' इन दो पदोंको जोड़कर 'हिमहानुभावान्' एक पद बनाकर ऐसा भाव प्रकाश किया है, 'हिम्' अर्थात् जड़ताका जो विनाश करता है, वह है—'हिमहा' अर्थात् सूर्य अथवा अग्नि है। 'अनुभावान्'—अनुभव सामर्थ्य। अतः सूर्य और अग्निकी भाँति सामर्थ्यवाले तेजस्वी पुरुष ही 'हिमहानुभावान्' हैं। जैसे तेजस्वी सूर्य और अग्निके द्वारा समस्त अपवित्र पदार्थोंको जलानेपर भी उनमें कोई दोष नहीं होता, अपितु वे सदा पवित्र ही रहते हैं, उसी प्रकार भीष्म भी महातेजस्वी पुरुष हैं। श्रीमद्भागवत (१०/३३/२९) में भी यह देखा जाता है कि जैसे अग्नि पवित्र और अपवित्र समस्त पदार्थोंको जलानेके कारण सर्वभुक् होकर भी कभी अपवित्र नहीं होती, वैसे ही सामर्थ्यवान और तेजस्वी पुरुष भी कभी धर्मकी मर्यादाका उल्लंघन करते हुए देखे जानेपर भी सर्वथा दोषमुक्त हैं।

यदि कोई ऐसा प्रश्न करे कि तेजस्वी भीष्म कौरवोंका पक्ष ग्रहणकर पाण्डवोंसे युद्ध कर रहे हैं, इसमें भले ही कोई अन्यायकी बात नहीं, किन्तु कृष्णके परम भक्त होकर भी उन्होंने अपने आराध्यदेवके श्रीअङ्गोंको अपने तीक्ष्ण बाणोंसे क्यों छलनी कर दिया? क्या यह उनकी भक्तिका लक्षण है? इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि श्रीकृष्णने अपने परम भक्त महादेव शङ्कर द्वारा असुरोंको मोहित करनेके लिए वेद-विरुद्ध प्रच्छन्न बौद्धवाद-मायावादका प्रचार करवाया। ऊपरसे यह भक्ति नहीं दीखनेपर भी पारमार्थिक दृष्टिसे भक्ति है, क्योंकि असुरोंको मोहित करनेके लिए उन्होंने भगवान्‌की आज्ञाका पालनमात्र किया था। दूसरी बात, जिस प्रकार इन परम भक्त शङ्करने बाणासुरका पक्ष लेकर स्वयं कृष्णसे युद्ध किया था, उसी प्रकार यदि भीष्म पितामहने कौरवोंका पक्ष लेकर श्रीकृष्णसे युद्ध किया, तो इससे भक्तिकी हानि कहाँ हुई? तीसरी बात, श्रीकृष्ण भू-भार हरणके लिए महाभारत युद्धमें आसुरी शक्तियोंका ध्वंसकर धर्मकी प्रतिष्ठा करना चाहते थे, यदि भीष्म पितामह एवं गुरु द्रोणादि विपक्षकी सहायता नहीं करते, तो महाभारत युद्ध कदापि सम्भव नहीं होता, इसीलिए सर्वज्ञ श्रीकृष्णने स्वेच्छावश अपनी योगमायाका आश्रय लेकर भीष्मके हृदयमें विरोधी पक्षसे युद्ध करनेकी प्रेरणा दी थी। इसीलिए भीष्मने कौरवोंका पक्ष लेकर कृष्णकी प्रीति सम्पादित की थी। चौथी बात, श्रील जीव गोस्वामीपादने श्रीमद्भागवतके एक श्लोककी टीकामें यह भावना व्यक्त की है कि महाभारत युद्धमें श्रीकृष्णकी इच्छासे भीष्म पितामहके हृदयमें आसुरिक वृत्तिका प्रवेश होता था जिससे तादात्म्य होकर भीष्म श्रीकृष्णके प्रति तीक्ष्ण बाणोंका प्रयोग करते थे; अन्यथा भीष्म जैसे शुद्ध भक्तोंके लिए ऐसा करना असम्भव हो जाता। पाँचवीं बात, परम भक्त भीष्म पितामह साधारण साधक भक्तोंको शिक्षा दे रहे हैं कि मुझ जैसा व्यक्ति भी यदि विषयीका अन्न-जल ग्रहण करे, उसका सङ्ग करे, तो उसकी बुद्धि विकृत हो जाती है, उसका विवेक नष्ट हो जाता है। छठी बात, जिस प्रकार भगवान्‌ने जय-विजयकी यह इच्छा जानकर कि वे मेरी युद्ध-लालसाको पूर्णकर मुझे तृप्त करना चाहते हैं, सनकादि ऋषियोंको आकर्षित किया और विरोधीका भाव संचारित करनेके लिए उनसे जान-बूझकर अभिशाप दिलवाया। यह अभिशाप केवल दिखावा था। वैकुण्ठमें न तो क्रोध और न ही अभिशाप होता है, अतः भगवान्‌की

प्रीति-विधानके लिए उन्होंने स्वयं विरोधी भावकी याचना की थी। इससे उनकी भक्तिकी हानि नहीं हुई। यदि भीष्म पितामह श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेके बदले उन्हें वध करनेकी इच्छासे तनिक भी विरोधी व्यवहार करते, तो भक्त-पदसे सर्वदाके लिए पतित हो जाते।

भीष्म पितामहने महाभारत युद्धमें श्रीकृष्णकी स्तुति की है, जिसका वर्णन श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार है—

'युधि तुरगरजोविधूम्रविष्वक्कचलुलितश्रमवार्यलङ्कृतास्ये।
मम निशितशरैर्विभिद्यमानत्वचि विलसत्कवचेऽस्तु कृष्ण आत्मा।।'

(श्रीमद्भा. १/९/३४)

इस श्लोककी टीकामें श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुरने भीष्म पितामहके भक्तिभावको बड़े ही रसपूर्ण रूपमें अभिव्यक्त किया है।

श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुर कहते हैं—जैसे व्रजमें गायोंके खुरसे उत्थित रज श्रीकृष्णके प्रशस्त मुख-मण्डलको धूल-धूसरित कर उनके सौन्दर्य- माधुर्यकी अभिवृद्धि ही करती है, वैसे ही भीष्मको युद्धमें तुरगरज अर्थात् घोड़ोंकी टापोंसे उत्थित रज श्रीकृष्णके सौन्दर्य-माधुर्यकी अभिवृद्धि करती हुई प्रतीत हो रही है। सुन्दर वस्तुमें कुछ भी असुन्दर नहीं है। यद्यपि धूल स्वयं सुन्दर नहीं है, तथापि श्रीकृष्णके प्रशस्त-सुकोमल मुखकमलसे युक्त होकर उनकी सुन्दरतामें वृद्धि ही करती है। रथके पहियेको लेकर अपने प्रति धावमान श्रीकृष्णके अस्त-व्यस्त केशकलापको वे गोचारणके पश्चात् रम्भाती हुई तीव्र गतिसे अपने वासस्थलकी ओर धावित गौओंके पीछे धावमान श्रीकृष्णके बिखरे केश-कलापकी भाँति देख रहे हैं। 'श्रमवारि' अर्थात् युद्धभूमिमें वेगपूर्वक भीष्मके प्रति धावित होनेके परिश्रमसे उनके मुखारविन्द और श्रीअङ्गोंसे जो पसीनेकी बूँदें टपक रही हैं, वे भीष्म पितामहको श्रीकृष्णके कन्दर्पयुद्धमें श्रमके कारण उत्पन्न श्वेत श्रमबिन्दुओंकी भाँति गोचर हो रही हैं अथवा इससे भीष्मके प्रति उनका वात्सल्य प्रकाशित हो रहा है। भीष्म पितामह देख रहे हैं—"अहो! 'निशितशरैः' अर्थात् मेरे तीक्ष्ण बाणोंसे 'विभिद्यमान त्वच' अर्थात् छिद्रित श्रीभगवान्के श्रीअङ्गोंमें जो रक्तिम चिह्नविशेष उभर उठे हैं, वे मानो कन्दर्परसमें आविष्ट कान्तके अङ्गोंमें अपनी प्रगल्भ कान्ताके दन्ताघातसे उत्पन्न चिह्नविशेष हैं। जैसे किसी किशोरी प्रियतमाके द्वारा अपने प्राणोंसे कोटि गुणा अधिक प्यारे अपने प्रियतमको औद्धत्यवशतः नख-दन्ताघात करनेपर भी उस किशोरीको प्रेमशून्य नहीं कहा जा सकता है, वैसे ही युद्धरसमें उन्मत्त मुझे भी प्रेमशून्य नहीं समझना चाहिए।"

इसलिए यहाँ देखा जा रहा है कि *'रसो वै सः'* (तै. उ. २/७/४१) अर्थात् अखिल रसामृतमूर्त्ति भगवान् श्रीकृष्णको युद्धरस आस्वादनकी इच्छा होनेपर इनकी इच्छारूपी प्रीतिको पूर्ण करनेके लिए ही भक्तप्रवर भीष्मने कौरवोंका पक्ष ग्रहण किया तथा भगवान्के श्रीअङ्गोंमें शराघात किया।

श्रीमहाभारतमें ऐसा देखा जाता है कि भगवान् श्रीकृष्णने यह प्रतिज्ञा की थी कि मैं महाभारत युद्धमें अस्त्रधारण नहीं करूँगा। दूसरी ओर भक्त भीष्मकी प्रतिज्ञा थी कि कृष्णको मैं अस्त्रधारण कराऊँगा, अन्यथा मैं शान्तनुका पुत्र नहीं हूँ। भक्तवत्सल भगवान्ने अपनी प्रतिज्ञाको भङ्गकर भी भीष्मकी प्रतिज्ञाकी रक्षा की—

'स्वनिगममपहाय मत्प्रतिज्ञामृतमधिककर्त्तुमवप्लुतो रथस्थः।' (श्रीमद्भा. १/९/३७) अर्थात् भीष्म पितामह कह रहे हैं—"जो मेरी प्रतिज्ञाको रखनेके लिए अपनी प्रतिज्ञा तोड़कर रथसे कूद पड़े तथा बड़े वेगसे रथके पहियेको धारणकर मेरी ओर दौड़े, ऐसे भक्तवत्सल भगवान्को मेरा बारम्बार प्रणाम है।" अतः विपक्षका पक्ष ग्रहणकर भी भीष्म पितामह परम भक्त हैं, इस विषयमें तनिक भी सन्देह नहीं है।

भीष्म पितामहके इस चरित्रसे यह शिक्षा मिलती है कि वे जो कुछ भी कर रहे हैं, वह कृष्ण-प्रीतिके अनुकूल और उनके लीला-विलासका सहायक है। अतः उनका चरित्र दुर्ज्ञेय एवं अतर्क्य है, किन्तु यदि मायाबद्ध जीव भीष्म पितामहका अनुकरण करते हुए गुरु बननेकी छलनाकर कोई अन्याय अथवा अपराध करे, तो उसे कदापि गुरु नहीं कहा जा सकता, क्योंकि भगवान् ऋषभदेवने कहा है—

'गुरुर्न स स्यात् स्वजनो न स स्यात् पिता न स स्याज्जननी न सा स्यात्।
दैवं न तत्स्यान्न पतिश्च स स्यान्न मोचयेद्यः समुपेतमृत्युम्।।'
(श्रीमद्भा. ५/५/१८)

अर्थात्, जो गुरु भक्ति-उपदेशके द्वारा आसन्न मृत्युसंसारसे उद्धार नहीं कर सकते, वे गुरु गुरु नहीं हैं। शब्द ब्रह्ममें निष्णात्, परब्रह्मकी अनुभूतिसे युक्त, संसारसे विरक्त महापुरुष ही गुरु हैं। इसीलिए बलि महाराजने भक्तिविरोधी शुक्राचार्यका परित्याग किया था। अतः ऐसे गुरुका परित्याग करना ही शास्त्रकी विधि है। ऐसे असद्‌गुरुके प्रति प्रणति और अनुसरणके अभावमें भी कोई दोष-त्रुटि नहीं होती—ऐसे गुरुका परित्याग करनेसे भी दोष नहीं है।

चिरकुमार भीष्मने काशिराजकी अम्बा, अम्बिका, अम्बालिका—इन तीन कन्याओंको स्वयंवर सभामें जीतकर अम्बिका एवं अम्बालिकाका विवाह अपने भाई विचित्रवीर्यके साथ किया। प्रथम कन्या अम्बाने भीष्म पितामहसे ही विवाह करनेकी जिद ठान ली, किन्तु भीष्म पितामहने चिरकौमार्य व्रत धारण करनेके कारण उसे अस्वीकार कर दिया। अम्बा कोई अन्य उपाय न देखकर भीष्मके अस्त्र-शस्त्रके गुरु परशुरामके समीप गई। परशुरामजीने भीष्मको बुलाकर अम्बासे विवाह करनेकी आज्ञा दी, किन्तु भीष्म अपनी प्रतिज्ञापर अटल रहे। इसपर परशुरामने विवाह करने और उनसे युद्ध करने—इन दोनोंमें से किसी एकको वरण करनेके लिए कहा। भीष्मने यह कहते हुए युद्ध करना ही स्वीकार किया कि—

'गुरोरप्यवलिप्तस्य कार्याकार्यमजानतः।
उत्पथप्रतिपन्नस्य परित्यागो विधीयते।।'

(महा. उद्योगपर्व १७९/२५)

अतः ऐसे परम भक्त भीष्मका कोई भी कार्य भक्तिका विरोधी नहीं हो सकता है। परशुरामजी भगवान्‌के अवतार हैं। इन्होंने भी परिणामरहित युद्धमें भीष्मकी प्रतिज्ञाको उचित मानते हुए अपनी पराजय स्वीकार की।।५।।

न चैतद्विद्मः कतरन्नो गरीयो यद्वा जयेम यदि वा नो जयेयुः।
यानेव हत्वा न जिजीविषामस्तेऽवस्थिताः प्रमुखे धार्त्तराष्ट्राः।।६।।

अन्वय—[हम] जयेम (जीतें) यदि वा नः (या हमलोगोंको) जयेयुः (वे जीतें) कतरत् गरीयः (इनमें से क्या श्रेष्ठ है) एतत् (यह) न विद्मः (नहीं जानता हूँ) च (और) यद्वा (कारण) यान् एव (जिन लोगोंकी) हत्वा (हत्याकर) न जिजीविषामः (जीवित रहना नहीं चाहते हैं) ते धार्त्तराष्ट्राः (वे धृतराष्ट्रके पक्षवाले) प्रमुखे अवस्थिताः(सामने युद्धके लिए खड़े हैं)।।६।।

अनुवाद—हमलोगोंके लिए युद्धमें जीतने या पराजित होनेमें क्या श्रेष्ठ है—मैं इसे नहीं समझ पा रहा हूँ। क्योंकि, जिनकी हत्याकर हम जीवित भी नहीं रहना चाहते हैं, वे धृतराष्ट्रके पक्षवाले युद्धके लिए सामने खड़े हैं।।६।।

श्रीविश्वनाथ—किञ्च, गुरुद्रोहे प्रवृत्तस्यापि मम जयः पराजयो वा भवेदित्यपि न ज्ञायत इत्याह—न चैतदिति। तथापि नोऽस्माकं कतरत् जयपराजयोर्मध्ये किं खलु गरीयोऽधिकतरं भविष्यति, एतन्न विद्मः, तदेव पक्षद्वयं दर्शयति—एतान् वयं जयेम, नोऽस्मान् वा एते जयेयुः इति। किञ्च जयोऽप्यस्माकं फलतः पराजय एवेत्याह—यानेवेति।।६।।

भावानुवाद—परन्तु, गुरुद्रोहमें प्रवृत्त हमलोगोंकी जीत होगी या हार होगी, इसे मैं नहीं जानता हूँ—यहाँ इसके लिए ही अर्जुन 'न चैतद्' इत्यादि बोल रहे हैं—पुनः जय तथा पराजयमें हमलोगोंके लिए कौन-सा अधिक श्रेष्ठ होगा, यह भी मैं नहीं जानता हूँ। यहाँ अर्जुन दो पक्ष दिखा रहे हैं। एक ओर वे अपनी जय दिखा रहे हैं तथा दूसरी ओर अपनी पराजय दिखा रहे हैं। परन्तु, अर्जुन कह रहे हैं कि हमलोगोंके लिए जय भी परिणाममें पराजयके ही समान है। इसके लिए वे 'यानेव' इत्यादि शब्दोंका उल्लेख कर रहे हैं।।६।।

कार्पण्यदोषोपहतस्वभावः पृच्छामि त्वां धर्मसंमूढचेताः।
यच्छ्रेयः स्यान्निश्चितं ब्रूहि तन्मे शिष्यस्तेऽहं शाधि मां त्वां प्रपन्नम्।।७।।

अन्वय—कार्पण्य-दोष-उपहत-स्वभावः (वीर स्वभावका परित्यागकर कायरतारूप दोषसे अभिभूत) धर्मसंमूढचेताः (धर्मके विषयमें मोहित चित्तवाला) अहम् (मैं) त्वाम् (आपको) पृच्छामि (पूछता हूँ) मे (मेरे लिए) यत् (जो) श्रेयः (मङ्गलदायक) स्यात् (हो) तत् (वह) निश्चितम् ब्रूहि (निश्चयकर कहें) अहम् (मैं) ते शिष्यः (आपका शिष्य हूँ) त्वाम् (आपके) प्रपन्नम् (शरणागत) माम् (मुझे) शाधि (शिक्षा दें)।।७।।

अनुवाद—स्वाभाविक शौर्यधर्मका परित्यागकर कायरतारूप धर्मसे अभिभूत, धर्मके निरूपणमें मोहित चित्तवाला मैं आपको पूछता हूँ—मेरे लिए जो मङ्गलकारी है, वह निश्चयकर आप कहें। मैं आपका शिष्य हूँ। अतः मुझ शरणागतको आप शिक्षा प्रदान करें।।७।।

श्रीविश्वनाथ—ननु तर्हि सोपपत्तिकं शास्त्रार्थं त्वमेव ब्रुवाणः क्षत्रियो भूत्वा भिक्षाटनं निश्चिनोषि तर्ह्यलं मदुक्त्येति तत्राह—कार्पण्येति। स्वाभाविकस्य शौर्यस्य त्याग एव मे कार्पण्यम्। धर्मस्य सूक्ष्मा गतिरित्यतो धर्मव्यवस्थायामप्यहं मूढबुद्धिरेवास्मि, अतस्त्वमेव निश्चित्य श्रेयो ब्रूहि। ननु मद्वाचस्त्वं पण्डितमानित्वेन खण्डयसि चेत्, कथं ब्रूयाम्? तत्राह—शिष्यस्तेऽहमस्मि, नातः परं वृथा खण्डयामीति भावः।।७।।

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण अर्जुनके प्रति व्यङ्गोक्ति करें कि अच्छा! क्षत्रिय होकर भी जब तुमने तर्कके साथ शास्त्रका अर्थ बाँचकर भिक्षाके लिए भ्रमण करनेका निश्चय कर ही लिया है, तो फिर मेरे कहनेसे और क्या लाभ होगा, तो इसके उत्तरके लिए अर्जुन 'कार्पण्यादि' शब्दोंको कह रहे हैं। स्वाभाविक वीरताका त्याग ही 'कार्पण्य' या मेरी कायरता

है। धर्मकी गति सूक्ष्म होती है, अतएव धर्मके सम्बन्धमें भी मैं मूढ़मति हूँ। अतः निश्चयकर आप उसे बतावें जिससे मेरा मङ्गल हो। अर्जुन श्रीकृष्णसे कहते हैं—"यदि आप कहें कि पण्डिताभिमानी होकर तुम मेरी बातोंका खण्डन करते हो, तो मैं किस प्रकार बोलूँ? तो मैं यह आश्वासन देता हूँ कि मैं आपका शिष्य हूँ, अबसे मैं आपकी बातोंका व्यर्थ ही खण्डन नहीं करूँगा।।"७।।

न हि प्रपश्यामि ममापनुद्याद्यच्छोकमुच्छोषणमिन्द्रियाणाम्।
अवाप्य भूमावसपत्नमृद्धं राज्यं सुराणामपि चाधिपत्यम्।।८।।

अन्वय—भूमौ (पृथ्वीमें) असपत्नम् (निष्कण्टक) ऋद्धम् राज्यम् (समृद्ध राज्य) सुराणाम् आधिपत्यम् च (एवं देवताओंके आधिपत्यको) अवाप्य अपि (पाकर भी) यत् (जो) मम (मेरी) इन्द्रियाणाम् (इन्द्रियोंके) उत्शोषणम् (सुखानेवाले) शोकम् (शोकको) अपनुद्यात् (दूर करेगा) तत् (वह) न हि प्रपश्यामि (प्रकटरूपमें नहीं देखता हूँ)।।८।।

अनुवाद—पृथ्वीके निष्कण्टक और समृद्ध राज्य एवं देवताओंके आधिपत्यको पाकर भी मैं ऐसा कोई उपाय नहीं देख रहा हूँ, जो इन्द्रियोंको सुखानेवाले इस शोकको दूर कर सके।।८।।

श्रीविश्वनाथ—ननु मयि तव सख्यभाव एव, न तु गौरवम्, अतस्त्वां कथमहं शिष्यं करोमि, तस्माद् यत्र तव गौरवं तं कमपि द्वैपायनादिकं प्रपद्यस्वेत्यत आह—न हीति। मम शोकमनुद्यात् दूरीकुर्यादेवं जनं न प्रकर्षेण पश्यामि त्रिजगत्येकं त्वां विना। स्वस्मादधिकबुद्धिमन्तं बृहस्पतिमपि न जानामीत्यतः शोकार्त्त एव खलु कं प्रपद्येय इति भावः। यद् यतः शोकादीन्द्रियाणामुच्छोषं महानिदाघात् क्षुद्रसरसामिव उत्कर्षेण शोषो भवति। ननु तर्हि साम्प्रतं त्वं शोकार्त्त एव खलु युध्यस्व, ततश्चैतान् जित्वा राज्यं प्राप्तवतस्तव राज्यभोगाभिनिवेशेनैव शोकोऽपयास्यतीत्यत आह—अवाप्येति भूमौ निष्कण्टकं राज्यं स्वर्गे सुराणामाधिपत्यं वा प्राप्यापि स्थितस्य ममेन्द्रियाणामेतदुच्छोषणमेवेत्यर्थः।।८।।

भावानुवाद—यदि श्रीकृष्ण कहें कि मेरे प्रति तुम्हारा गौरव भाव नहीं अपितु सख्य भाव है, अतएव मैं किस प्रकार तुम्हें अपना शिष्य बनाऊँगा। इसलिए जिनके प्रति तुम्हारी गौरव बुद्धि है, वैसे द्वैपायनादि किसी व्यक्तिका तुम शरण ग्रहण करो, तो इसके उत्तरमें अर्जुन कहते हैं—"न हि' अर्थात् तीनों लोकोंमें आपके अतिरिक्त एक भी ऐसा व्यक्ति नहीं देखता हूँ,

जो मेरा शोक दूर कर सके। मैं स्वयंसे अधिक बुद्धिमान् बृहस्पतिको भी नहीं जानता हूँ। अतः शोकसे व्याकुल हुआ मैं और किसकी शरण लूँ। जिस प्रकार ग्रीष्म ऋतुका प्रखर ताप क्षुद्र पुष्करिणीका विशेषरूपसे शोषण करता है, उसी प्रकार शोक आदि इन्द्रियोंका उच्छोषण कर रहे हैं।" यदि कृष्ण कहें कि शोकार्त्त होनेपर भी अभी तुम युद्ध करो। उसके बाद जीत जानेपर राज्यके सुखभोगमें अभिनिविष्ट होनेसे तुम्हारा शोक दूर हो जाएगा, तो इसके उत्तरमें अर्जुन 'अवाप्य' इत्यादि कह रहे हैं अर्थात् पृथ्वीके निष्कपट राज्य अथवा स्वर्गमें देवताओंके आधिपत्यको प्राप्त करनेपर भी मेरी इन्द्रियोंका इस प्रकार ही शोषण होगा।।८।।

सञ्जय उवाच—
एवमुक्त्वा हृषीकेशं गुडाकेशः परन्तपः।
न योत्स्य इति गोविन्दमुक्त्वा तूष्णीं बभूव ह।।९।।

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) परन्तपः (शत्रुओंको दमन करनेवाला) गुडाकेशः (अर्जुन) हृषीकेशम् (श्रीकृष्णको) एवम् उक्त्वा (इस प्रकार कहकर) न योत्स्ये (मैं युद्ध नहीं करूँगा) इति (यह) गोविन्दम् (गोविन्दको) उक्त्वा (कहकर) तूष्णीम् बभूव ह (चुप हो गया)।।९।।

अनुवाद—सञ्जयने कहा—इस प्रकार कहनेके बाद शत्रुओंका दमन करनेवाला अर्जुन श्रीकृष्णसे यह कहकर चुप हो गया कि हे गोविन्द! मैं युद्ध नहीं करूँगा।।९।।

तमुवाच हृषीकेशः प्रहसन्निव भारत।
सेनयोरुभयोर्मध्ये विषीदन्तमिदं वचः।।१०।।

अन्वय—भारत (हे भरतवंशी धृतराष्ट्र!) हृषीकेशः (श्रीकृष्णने) उभयोः सेनयोः मध्ये (दोनों सेनाओंके बीचमें) विषीदन्तम् (शोकातुर अर्जुनको) प्रहसन् इव (मानो हँसते हुए) इदम् वचः उवाच (यह वचन कहा)।।१०।।

अनुवाद—हे भरतवंशी धृतराष्ट्र! उस समय दोनों सेनाओंके बीचमें शोकातुर अर्जुनसे श्रीकृष्णने मानो हँसते हुए यह वचन कहा।।१०।।

श्रीविश्वनाथ—अहो तवाप्येतावान् खल्वविवेक इति सख्यभावेन तं प्रहसन् अनौचित्यप्रकाशेन लज्जाम्बुधौ निमज्जयन् इवेति तदानीं शिष्यभावं प्राप्ते तस्मिन् हास्यमनुचितमित्यधरोष्ठनिकुञ्चनेन हास्यमावृण्वंश्चेत्यर्थः। हृषीकेश इति पूर्वं प्रेम्नैवार्जुन वाङ्नियम्योऽपि साम्प्रतमर्जुनहितकारित्वात्

प्रेम्नैवार्जुनमनोनियन्तापि भवतीति भावः। सेनयोरुभयोर्मध्ये इत्यर्जुनस्य विषादो भगवता प्रबोधश्च, उभाभ्यां सेनाभ्यां सामान्यतो दृष्ट एवेति भावः।।१०।।

भावानुवाद—सख्यभावप्राप्त अर्जुनके प्रति उपहास करते हुए शोकातुर होनेके अनौचित्यको प्रकाश करनेके लिए तथा लज्जा-समुद्रमें निमज्जित करनेके लिए श्रीकृष्ण कहते हैं—"अहो! तुम इतने अधिक अविवेकी हो।" अर्जुनने श्रीकृष्णका शिष्यत्व ग्रहण किया है, परन्तु शिष्यको इस प्रकार लज्जासमुद्रमें निमज्जित करना अनुचित है। इसलिए श्रीकृष्ण अपने अधरोष्ठको संकुचित करते हुए हास्यका संगोपन कर रहे हैं। यहाँ हृषीकेश शब्दका तात्पर्य है—पूर्वमें प्रीतिपूर्वक अर्जुनके वाक्योंके वशीभूत होनेपर भी अभी अर्जुनके हितके लिए प्रेमपूर्वक अर्जुनके मनको ही वशीभूत या संयमित कर रहे हैं। 'सेनयोरुभयोर्मध्ये' अर्थात् अर्जुनका विषाद एवं भगवान्‌के द्वारा दिए जानेवाले प्रबोध (उपदेश) दोनों सेनाओंके लिए समानरूपसे दर्शनीय हैं अर्थात् गीताका यह उपदेश सर्वसाधारणके समक्ष हुआ था, यह किसीके लिए गुप्त नहीं रखा गया था।१०।।

श्रीभगवानुवाच—
अशोच्यानन्वशोचस्त्वं प्रज्ञावादांश्च भाषसे।
गतासूनगतासूंश्च नानुशोचन्ति पण्डिताः।।११।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्‌ने कहा) त्वम् (तुम) अशोच्यान् (शोकके लिए अयोग्य व्यक्तियोंके लिए) अनु-अशोचः (शोक करते हो) [पुनः] प्रज्ञावादान् च (पण्डितोंके वचनोंको भी) भाषसे (कहते हो) पण्डिताः (पण्डितगण) गतासून् (जिनके प्राण चले गए हैं) अगतासून् च (और प्राणवानोंके लिए) न अनुशोचन्ति (शोक नहीं करते हैं)।।११।।

अनुवाद—श्रीभगवान्‌ने कहा—तुम नहीं शोचने योग्य वस्तुओं (व्यक्तियों) के लिए शोक कर रहे हो, पुनः पाण्डित्यपूर्ण वचन भी कह रहे हो। किन्तु, पण्डितगण न तो प्राणहीन और न ही प्राणवानोंके लिए शोक करते हैं।।११।।

श्रीविश्वनाथ—भो अर्जुन! तवायं बन्धुवधहेतुकः शोको भ्रममूलक एव, तथा कथं भीष्ममहं संख्ये इत्यादिको विवेकश्चाप्रज्ञामूलक एवेत्याह—अशोच्यान् शोकानर्हानेव त्वमन्वशोचोऽनुशोचितवानसि। तथा त्वां प्रबोधयन्तं मां प्रति प्रज्ञावादान् प्रज्ञायां सत्यामेव ये वादाः "कथं भीष्ममहं संख्ये" इत्यादीनि

वाक्यानि तान् भाषसे, न तु तव कापि प्रज्ञा वर्त्तते इति भावः। यतः पण्डिताः प्रज्ञावन्तो गतासून गता निःसृता भवन्त्यसवो येभ्यः तान् स्थूलदेहान् न शोचन्ति, तेषां नश्वरभावत्वादिति भावः। अगतासून अनिःसृतप्राणान् सूक्ष्मदेहानपि न शोचन्ति, ते हि मुक्तेः पूर्वमनश्वरा एव, उभयेषामपि तथा तथा स्वभावस्य दुष्परिहरत्वात्। मूर्खास्तु पित्रादिदेहेभ्यः प्राणेषु निःसृतेष्वेव शोचन्ति, सूक्ष्मदेहांस्तु न, ते प्रायः परिचिन्वन्त्यस्तैरलम्। एते हि सर्वे भीष्मादयः स्थूलसूक्ष्मदेहसहिता आत्मान एव आत्मनान्तु नित्यत्वात्तेषु शोकप्रवृत्तिरेव नास्तीत्यतस्त्वया यत्पूर्वमर्थशास्त्रात् धर्मशास्त्रं बलवदित्युक्तं, तत्र मया तु धर्मशास्त्रादपि ज्ञानशास्त्रं बलवदित्युच्यते इति भावः।।११।।

भावानुवाद—श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन! बन्धु-हत्याके कारण उत्पन्न तुम्हारा शोक भ्रममूलक है एवं 'युद्धमें मैं किस प्रकार भीष्मसे युद्ध करूँगा' इत्यादि विवेकयुक्तियाँ अप्रज्ञामूलक हैं।" उपरोक्त कथन क्यों सत्य हैं, इसके लिए श्रीभगवान् कहते हैं कि 'अशोच्यान् अन्वशोचः' अर्थात् तुम उसके लिए शोक कर रहे हो जो शोकके योग्य नहीं है। श्रीकृष्ण और भी कहते हैं कि मेरे द्वारा प्रबोध (सान्त्वना) दिए जानेपर तुम जो 'कथं भीष्महं संख्ये' इत्यादि वाक्योंके द्वारा 'प्रज्ञावादान्' अर्थात् प्रज्ञा रहनेपर भी जो 'वाद' या 'वितर्क' कर रहे हो, इससे यह सिद्ध होता है कि तुम्हें प्रज्ञा है ही नहीं। क्योंकि, जो पण्डितगण प्रज्ञावान् होते हैं, वे 'गतासून' अर्थात् जिनसे असू (प्राण) निर्गत हो चुके हैं, उन स्थूल देहोंके प्रति शोक नहीं करते हैं, क्योंकि वे नश्वर भावयुक्त होते हैं।

'अगतासून' अर्थात् जिनके प्राण नहीं गए हों, पण्डितगण उनके सूक्ष्म शरीरके लिए भी शोक नहीं करते हैं, क्योंकि सूक्ष्म देह भी मुक्तिसे पूर्व अनश्वर ही होते हैं। दोनों ही क्षेत्रोंमें उनका अपना अपना स्वभाव दुस्त्याज्य है। किन्तु, मूर्ख लोग पितादिके शरीरसे प्राणके निर्गत होनेपर शरीरके लिए शोक करते हैं, सूक्ष्म देहके लिए नहीं। क्योंकि, वे प्रायः सूक्ष्म देहसे अपरिचित होते हैं।

ये भीष्मादि स्थूल-सूक्ष्म देहयुक्त आत्मा ही हैं। चूँकि आत्मा नित्य होता है, अतः इसके लिए शोककी प्रवृत्ति नहीं है। अतः पूर्वमें तुम जो अर्थशास्त्रसे धर्मशास्त्रको बलवान् बता रहे थे, वहाँ मेरी उक्ति है कि ज्ञानशास्त्र धर्मशास्त्रसे भी अधिक बलवान् होता है।।११।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—सच्चिदानन्द परतत्त्वके केवल तटस्था शक्तियुक्त अंशका नाम जीवात्मा अथवा जीव है। यह स्वरूपतः अणुचैतन्य है। इसका नित्य एवं स्वाभाविक धर्म भगवत्-सेवा है। जीव दो प्रकारका होता है—मुक्त तथा बद्ध। मुक्त जीव सदा-सर्वदा भगवत्-धाममें भगवत्-सेवामें संलग्न रहते हैं। इनका कभी भी पतन नहीं होता। दूसरे, बद्धजीव अनादि कालसे भगवत्-सेवा भूलकर प्राकृत स्थूल और लिङ्ग—इन दो शरीरोंके द्वारा आच्छादित होकर इस मायिक संसारमें दण्डस्वरूप त्रितापोंका भोग कर रहे हैं।

स्थूल शरीर—बद्ध जीवोंका प्राकृत-स्थूल शरीर क्षिति, जल, पावक समीर एवं व्योम—इन पञ्च महाभूतोंसे गठित नश्वर और विनाशी होता है। मृत्युके बाद ही जीवोंका यह स्थूल शरीर परिवर्त्तित हो जाता है। जन्मके साथ-साथ मृत्यु भी अवश्य ही होती है। आज, कल अथवा वर्षोंमें प्राणिमात्रकी मृत्यु अवश्यम्भावी है—

'मृत्युर्जन्मवतां वीर देहेन सह जायते।
अद्य वाब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः॥'

(श्रीमद्भा. १०/१/३८)

गीता (२/२७) में भी यही कहा गया है—

'जातस्य हि ध्रुवो मृत्युं'

सूक्ष्म अथवा लिङ्ग शरीर—जीवके शुद्ध स्वरूपको आच्छादित करनेवाले मन, बुद्धि, अहङ्कारात्मक जीव-उपाधिका नाम सूक्ष्म शरीर है। प्रत्येक जन्ममें नये स्थूल शरीरकी प्राप्ति होती है एवं मृत्युके समय इसका विनाश हो जाता है, किन्तु सूक्ष्म शरीरका ऐसा नहीं होता है। यह अनादिकालसे कृष्ण-स्वरूपकी विस्मृतिके कारण जीव-स्वरूपको आच्छादित किए हुए है। यह सूक्ष्म शरीर ज्ञान-योग-तपस्या-वेदपाठ-ध्यानादि द्वारा भगवत्-स्मृति होनेपर भी दूर नहीं होता। केवल भगवद्भक्तिके साधन द्वारा भगवत्-स्मृति होनेपर ही इसका विनाश होता है। उस समय जीव अपने शुद्ध स्वरूपमें प्रतिष्ठित होता है—

'प्रीतिर्न यावन्मयि वासुदेवे न मुच्यते देहयोगेन तावत्' (श्रीमद्भा. ५/५/६), *'स लिङ्गेन विमुच्यते'* (श्रीमद्भा. ४/२९/८३), *'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः'* (श्रीमद्भा. ११/२/३७), *'यदा रतिर्ब्रह्मणि............'* (श्रीमद्भा. ४/२२/२६), *'माम् उपेत्य तु कौन्तेय'* (गीता ८/१६) इत्यादि श्लोकोंका अनुशीलन करनेसे

यह सुस्पष्ट होता है कि लिङ्गदेहके अनादि होनेपर भी भगवत्-विस्मृतिसे उसकी प्राप्ति एवं भगवत्-स्मृतिसे उसका विनाश होता है।

इसलिए आत्म-तत्त्वविद् आत्माको अजर, अमर और नित्य जानकर स्थूल शरीरके विनाशसे विचलित नहीं होते, उसके लिए शोक नहीं करते। अतएव वे 'गतासून' अर्थात् आत्मारहित स्थूल शरीर अथवा 'अगतासून' अर्थात् आत्मासे युक्त किन्तु भविष्यमें अवश्य ही नष्ट होनेवाले स्थूल शरीरके लिए शोक नहीं करते। किन्तु, देहमें आत्मबुद्धि रखनेवाले अज्ञानी लोग आत्माकी तो बात ही क्या, सूक्ष्म शरीरका भी परिचय नहीं जानते। वे (आत्मासे युक्त) स्थूल शरीरको ही पिता-पुत्र-भाई-बन्धु समझते हैं तथा उस शरीरसे आत्माके निकल जानेपर पिता-पुत्र-भाई-बन्धुकी मृत्यु हो गई है—यह जानकर उस शरीरके लिए ही शोक करते हैं।।११।।

न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः।
न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम्।।१२।।

अन्वय—अहम् (कृष्ण मैं) जातु (किसी कालमें) न आसम् (नहीं था) तु (किन्तु) [इति—ऐसा] न एव (नहीं है) त्वम् (अर्जुन तुम) न [आसीः] (नहीं थे) [इति—ऐसा] न (नहीं) इमे (ये सभी) जनाधिपाः (राजागण) न आसन् (नहीं थे) [इति—ऐसा] न (नहीं) च (एवं) अतः परम् (इससे आगे) वयम् सर्वे (हम सब) न भविष्यामः (नहीं रहेंगे) (इति) एव न (ऐसा भी नहीं है)।।१२।।

अनुवाद—ऐसा किसी कालमें नहीं हुआ कि मैं (कृष्ण) नहीं था, तुम (अर्जुन) नहीं थे और ये सभी राजा लोग नहीं थे और न ही भविष्यमें ऐसा कभी होगा कि हमलोग नहीं रहेंगे।।१२।।

श्रीविश्वनाथ—अथवा सखे? त्वामहमेवं पृच्छामि, किञ्च प्रीत्यास्पदस्य मरणे दृष्टे सति शोको जायते, तत्रेह प्रीत्यास्पदमात्मा देहो वा। "*सर्वेषामेवभूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः*" इति शुकोक्तेरात्मैव प्रीत्यास्पदमिति चेत्तर्हि जीवेश्वरभेदेन द्विविधस्यैवात्मनो नित्यत्वादेव मरणाभावादात्मा शोकस्य विषयो नेत्याह—न त्वेवाहमिति। अहं परमात्मा जातु कदाचिदपि पूर्वं नासमिति न, अपि त्वासमेव। तथा त्वमपि जीवात्मा आसीरेव। तथेमे जनाधिपा राजानश्च जीवात्मान आसन्नेव इति प्रागभावाभावो दर्शितः। तथा सर्वे वयमहं त्वमिमे जनाधिपाश्च अतःपरं न भविष्यामः न स्थास्यामः इति न, अपि

तु स्थास्याम एवेति ध्वंसाभावश्च दर्शितः इति—परात्मनो जीवात्मनाञ्च नित्यत्वादात्मा न शोकविषय इति साधितम्। अत्र श्रुतयः "*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्*" इत्याद्याः।।१२।।

भावानुवाद—अथवा, हे सखे! मैं तुमसे इस प्रकार प्रश्न करता हूँ कि जब किसी प्रिय व्यक्तिके मृत्यु-दर्शनसे शोक उत्पन्न होता है, उस समय प्रीतिका स्थान (पात्र) आत्मा होता है या शरीर? श्रीमद्भागवत (१०/१४/५०) में कहा गया है—'*सर्वेषामेव भूतानां नृप स्वात्मैव वल्लभः*' अर्थात् हे नृप! सभी जीवोंका आत्मा ही प्रिय होता है। श्रीशुकदेव महाराजके इस उक्तिके अनुसार यदि आत्मा ही प्रीतिका पात्र है, तो ईश्वर और जीवके बीच भेद रहते हुए भी दोनों प्रकारके आत्मा नित्य और मृत्युरहित हैं। अतः आत्मा शोकका विषय नहीं है। इसके लिए ही श्रीकृष्ण 'न त्वेवाहं' इत्यादि कह रहे हैं अर्थात् मैं—परमात्मा पूर्वकालमें नहीं था—ऐसा नहीं है, अपितु मैं था ही। इसी प्रकार तुम भी जीवात्मा थे ही और सभी राजालोग भी जीवात्मारूपमें थे ही। इसके द्वारा आत्माका प्रागभाव राहित्य प्रदर्शित हुआ। इसी प्रकार तुम, ये राजागण और मैं बादमें नहीं रहूँगा—ऐसा भी नहीं है अर्थात् हम सभी वर्तमान रहेंगे। इसके द्वारा यह प्रमाणित हुआ कि आत्मा अविनाशी है। इस विषयमें श्रुतियाँ भी कहती हैं, यथा—'*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्*' (क. उ. २/२/१३) अर्थात् जो नित्यसमूहमें नित्य और चेतनसमूहमें भी चेतन हैं, जो एक होकर भी सभीका कार्य पूर्ण करते हैं।।१२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—स्थूल शरीरके साथ जीवात्माका संयोग ही जन्म तथा वियोग ही मृत्यु कहलाता है। इसलिए स्थूल शरीरमें आत्माकी अवस्थिति रहनेसे लोग परस्पर प्रीति-व्यवहार करते हैं, किन्तु स्थूल देहमें आत्मबुद्धि रखनेवाले अज्ञानी जीव इस तत्त्वको न जाननेके कारण शरीरसे आत्माके अन्तर्द्धान होनेपर मृत देहको लेकर शोकमग्न हो जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी श्रील शुकदेव गोस्वामीने परीक्षित महाराजके प्रश्न "हे ब्रह्मण! दूसरे माता-पितासे उत्पन्न श्रीकृष्णके प्रति ग्वाल-बालोंका ऐसा अभूतपूर्व प्रेम किस प्रकार सम्भव हुआ?"—इसके उत्तरमें कहते हैं—"राजन्! अपना आत्मा ही समस्त प्राणियोंको प्रिय होता है। आत्मासे भिन्न पुत्र-धनादि पदार्थ आत्माके प्रिय होनेके कारण उसे गौणरूपमें प्रिय हैं। हे

राजेन्द्र! प्रत्येक देहधारीको अपने-अपने आत्माके प्रति जैसा स्नेह होता है, ममताके विषयीभूत पुत्र-धन-गृहादिके प्रति वैसा स्नेह नहीं होता।" अर्थात्, 'मैं' और 'मेरे'—इन दो प्रकारकी वस्तुओंमें अन्तर है, जितनी प्रीति 'मैं' के प्रति होती है, उतनी प्रीति 'मेरे'-सम्बन्धी वस्तुओंके प्रति नहीं होती है। देहात्मबुद्धिवाले पुरुषोंको अपना देह जितना प्रिय होता है, देह सम्बन्धीय गृह-स्त्री-पुत्रादि उतने प्रिय नहीं होते हैं। यद्यपि यह देह ममतास्पद है, तथापि वह आत्मा जैसा प्रिय नहीं है, क्योंकि शरीरके जराग्रस्त होनेपर भी जीवित रहनेकी आशा बलवती रहती है, ऐसा आत्माके प्रति स्नेहाधिक्यके ही कारण होता है। इसीलिए प्राणिमात्रको अपनी आत्माके भी आत्मा श्रीकृष्ण प्रियतम हैं तथा कृष्ण-सम्बन्धी होनेके कारण ये जगत् आदि प्रियमात्र हैं, प्रियतम नहीं। आत्माके भी आत्मा होनेके कारण श्रीकृष्ण अहंतास्पद और कृष्ण सम्बन्धीय होनेके कारण जगत् आदि वस्तुएँ ममतास्पद हैं। इसलिए ग्वालबालोंको कृष्ण इतने प्रिय हैं।

वृहदारण्यक उपनिषदके याज्ञवल्क्य और मैत्रेय संवादमें भी उपर्युक्त कथनकी पुष्टि होती है।

'स होवाच न वा अरे पत्युः कामाय प्रियो भवत्यात्मनस्तु कामाय पतिः प्रियो भवति 'न वा अरे सर्वस्य कामाय सर्वं प्रियं भवत्यात्मनस्तु कामाय सर्वं प्रियं भवति।' (वृ. उ. २/४/५)

अर्थात्, महर्षि याज्ञवल्क्य मैत्रेयसे कह रहे हैं—"कोई भी प्राणी दूसरोंकी प्रीतिके लिए उनसे प्रीति नहीं करता, अपने सुखके लिए ही पति स्त्रीको, पत्नी पतिको, पिता पुत्रको एवं पुत्र पिताको प्यार करता है। किसी दूसरेकी प्रीतिके लिए कोई प्रिय नहीं होता, केवल आत्माकी प्रीति (सुख)के लिए ही सभी सबके प्रिय हुआ करते हैं।"।।१२।।

देहिनोऽस्मिन् यथा देहे कौमारं यौवनं जरा।
तथा देहान्तरप्राप्तिर्धीरस्तत्र न मुह्यति।।१३।।

अन्वय—देहिनः (शरीरधारीका) अस्मिन् देहे (इस शरीरमें) यथा (जिस प्रकार) कौमारम् (कुमारावस्था) यौवनम् (युवावस्था) जरा (वृद्धावस्था) तथा (उसी प्रकार) देहान्तर-प्राप्तिः (अन्य शरीरकी प्राप्ति होती है) धीरः (बुद्धिमान् व्यक्ति) तत्र (उस विषयमें) न मुह्यति (मोहित नहीं होते हैं)।।१३।।

अनुवाद—जिस प्रकार शरीरधारी जीवात्मा इस स्थूल शरीरमें क्रमशः कुमारावस्था, यौवनावस्था तथा वृद्धावस्था प्राप्त करता है, उसी प्रकार मृत्योपरान्त जीवात्माको अन्य शरीर प्राप्त होता है। धीर व्यक्ति इस विषयमें अर्थात् शरीरके नाश एवं उत्पत्तिके विषयमें मोहित नहीं होते हैं।।१३।।

श्रीविश्वनाथ—ननु चात्मसम्बन्धेन देहोऽपि प्रीत्यास्पदं स्यात्, देहसम्बन्धेन पुत्रभ्रात्रादयोऽपि, तत्सम्बन्धेन नप्त्रादयोऽपि, अतस्तेषां नाशे शोकः स्यादेवेति चेदत आह,—देहिन इति। देहिनो जीवस्यास्मिन् देहे कौमारं कौमारप्राप्तिर्भवति, ततः कौमारनाशानन्तरं यौवनप्राप्तिर्यौवननाशानन्तरं जराप्राप्तिर्यथा, तथा एव देहान्तरप्राप्तिरिति। ततश्चात्मसम्बन्धिनां कौमारादीनां प्रीत्यास्पदानां नाशे यथा शोको न क्रियते, तथा देहस्याप्यात्मसम्बन्धिनः प्रीत्यास्पदस्य नाशे शोको न कर्त्तव्यः। यौवनस्य नाशे जराप्राप्तौ शोको जायत इति चेत् कौमारस्य नाशे यौवनप्राप्तौ हर्षोऽपि जायत इति। अतो भीष्मद्रोणादीनां जीर्णदेहनाशे खलु नव्यदेहान्तरप्राप्तौ तर्हि हर्षः क्रियतामिति भावः। यद्वा एकस्मिन्नपि देहे कौमारादीनां यथा प्राप्तिस्तथैवैकस्यापि देहिनो जीवस्य नानादेहानां प्राप्तिरिति।।१३।।

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि आत्माके सम्बन्धसे देह भी प्रीतिका पात्र होगा, देहके सम्बन्धसे पुत्र, भाई इत्यादि एवं उनके सम्बन्धसे पौत्र आदि भी प्रीतिके पात्र होंगे, अतएव उन लोगोंकी मृत्यु होनेपर शोक होगा ही, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—'देहिनः' इत्यादि। जिस प्रकार जीवको इस देहमें कौमार प्राप्ति होती है, कौमारके क्षय होनेपर यौवन प्राप्त होता है तथा यौवनके क्षय होनेपर बुढ़ापा प्राप्त होता है, उसी प्रकार देहके क्षय होनेपर अन्य देह प्राप्त होता है। अतएव जिस प्रकार आत्मासे सम्बन्धविशिष्ट प्रीत्यास्पद कौमारादिके क्षय होनेपर शोक नहीं किया जाता है, उसी प्रकार आत्माके सम्बन्धसे जो देह प्रीतिका पात्र बना है, उसके लिए भी शोक करना उचित नहीं है। यदि यौवनके क्षय होनेपर बुढ़ापा प्राप्त होनेसे शोक होता है, तो कौमारके क्षय होनेपर जब यौवन प्राप्त होता है, उससे हर्ष भी तो उत्पन्न होता है। अतएव भीष्म-द्रोणादिके जीर्ण शरीरके नाश होनेपर नये देहको प्राप्त करनेके उपलक्ष्यमें (तुमको) हर्ष या आनन्द होना चाहिए अथवा तुम्हें ऐसा समझना चाहिए कि जिस प्रकार एक ही देहमें कौमारादि प्राप्त होता है, उसी प्रकार एक ही देही (जीव) को अनेक प्रकारके देह प्राप्त होते हैं।।१३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—देहीका तात्पर्य आत्मा अथवा जीवसे है। यह अपिरवर्त्तनशील है, किन्तु देह परिवर्त्तनशील है। शरीरमें कौमार, यौवन, जरा और मृत्युरूप परिवर्त्तन होनेपर भी देही-आत्मामें कोई परिवर्त्तन नहीं होता है। यह सदा एकरस रहता है। इसलिए शरीरके विनाश होनेपर शोक करना उचित नहीं है। जैसे कुमारावस्थाके विगत होनेपर युवावस्थाके आगमनसे शोकके बदले आनन्द ही होता है, वैसे ही मृत्युके पश्चात् नया, सक्षम एवं सर्वाङ्गसुन्दर शरीरकी प्राप्ति होनेपर दुःखकी क्या बात है, वहाँ तो आनन्द ही होना चाहिए? महाराज ययाति अपने श्वसुर शुक्राचार्यके अभिशापसे युवाकालमें ही वृद्ध हो गए। उन्होंने बड़े दुःखी होकर शुक्राचार्यके चरणोंमें कातर होकर क्षमा माँगी। शुक्राचार्यने अपनी बेटीको खुश करनेके लिए ययातिको वरदान दिया कि अपने युवा पुत्रोंमें से किसी एकसे अपनी वृद्धावस्थाका आदान-प्रदान कर सकते हो। बड़े पुत्र यदुने अपनी युवावस्था देकर पिताकी वृद्धावस्थाको लेना अस्वीकार कर दिया, क्योंकि वे भगवद्भजन करना चाहते थे, किन्तु उनके पुत्र पुरुने अपनी युवावस्थाको देकर अपने पिताकी वृद्धावस्थाको ग्रहण किया। इस प्रकार ययाति पुनः युवा होकर देवयानी इत्यादि रानियों तथा पुत्र-पौत्रोंके साथ भोग करते हुए स्वयंको बहुत सुखी समझने लगे। किन्तु, अन्तमें इन सुखोंको आपात् रमणीय एवं परिणामतः अशेष दुःखकर समझकर अपने पुत्रको उसकी युवावस्था लौटाकर वनमें भगवत्-भजन करने चले गए। (श्रीमद्भा. ९/१८)

इसलिए जराग्रस्त, जीर्ण-शीर्ण शरीरके नाश होनेपर सबल, स्वस्थ, सुन्दर नये शरीरकी प्राप्तिसे लाभ ही होगा—यह जानकर आनन्दित होना ही उचित है।।१३।।

मात्रास्पर्शास्तु कौन्तेय शीतोष्णसुखदुःखदाः।
आगमापायिनोऽनित्यास्तांस्तितिक्षस्व भारत।।१४।।

अन्वय—कौन्तेय (हे कुन्तीनन्दन!) मात्रास्पर्शाः तु (इन्द्रियोंकी वृत्तिके साथ विषयोंका संयोग ही) शीत-उष्ण-सुख-दुःखदाः (सर्दी, गर्मी, सुख तथा दुःख देता है) [ते—वे] आगमापायिनः (क्षणभंगुर) अनित्याः (अनित्य हैं) भारत (हे भारत!) तान् (उनको) तितिक्षस्व (सहन करो)।।१४।।

अनुवाद—हे कुन्तीनन्दन! इन्द्रियोंकी वृत्तिके साथ विषयोंके संयोगसे सर्दी, गर्मी, सुख तथा दुःख प्राप्त होते हैं। वे क्षणभंगुर एवं अनित्य होते हैं। अतः हे भारत! तुम उनको सहन करो।।१४।।

श्रीविश्वनाथ—ननु सत्यमेव तत्त्वं, तदप्यविवेकिनो मम मन एवानर्थकारी वृथैव शोकमोहव्याप्तं दुःखयतीति, तत्र न केवलं एकं मन एव, अपि तु मनसो वृत्तयोऽपि सर्वास्त्वगादीन्द्रियरूपाः स्वविषयानुभाव्यानर्थकारिण्य इत्याह—मात्रेति। मात्रा इन्द्रियग्राह्यविषयास्तेषां स्पर्शः अनुभवाः। शीतोष्णेति आगमापायिन इति—यदेव शीतलजलादिकमुष्णकाले सुखदं, तदेव शीतकाले दुःखदमतोऽनियतत्वादागमापायित्वाच्च, तान् विषयानुभवान् तितिक्षस्व सहस्व, तेषां सहनमेव शास्त्रविहितो धर्मः। न हि माघे मासि जलस्य दुःखदत्वबुद्ध्यैव शास्त्रे विहितः स्नानरूपो धर्मस्त्यज्यते। धर्म एव काले सर्वानर्थनिवर्त्तको भवति, एवमेव ये पुत्रभ्रात्राद्याः उत्पत्तिकाले धनाद्युपार्जनकाले च सुखदास्त एव मृत्युकाले दुःखदा आगमापायिनोऽनित्यास्तानपि तितिक्षस्व, न तु तदनुरोधेन युद्धरूपः शास्त्रविहितः स्वधर्मस्त्याज्यः। विहितधर्मानाचरणं खलु काले महानर्थकृदेव इति भावः।।१४।।

भावानुवाद—यदि कहो कि ये बातें तो सत्य हैं, तथापि व्यर्थमें शोक-मोहादिके द्वारा व्याप्त होकर मेरे जैसे अविवेकीका अनर्थकारी मन ही दुःख प्रदान करता है। यहाँ केवल मन ही नहीं, अपितु मनकी वृत्तियोंके द्वारा त्वचा आदि इन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंका अनुभवकर अनर्थकारी हो जाती हैं, तो सुनो—इन्द्रियग्राह्य विषयसमूह 'मात्रा' हैं एवं उनका (विषयोंका) अनुभव ही स्पर्श है। श्रीभगवान् पुनः कहते हैं—'शीतोष्णः आगमापायिनः' अर्थात् जो शीतल जलादि ग्रीष्मकालमें सुखद होते हैं, वे ही शीतकालमें दुःखद होते हैं। अतः अनित्य एवं आने-जानेवाला जानकर इन विषयोंके अनुभवको सहन करो। इनको सहना ही शास्त्रविहित धर्म है। माघ महीनेमें जल दुःखदायी होता है, ऐसा जानकर शास्त्रविहित स्नानादि धर्मका परित्याग नहीं किया जाता है। इसी प्रकार जो पुत्र, भ्राता इत्यादि जन्मके समय एवं धनादि उपार्जनके समय सुखद होते हैं, वे ही मृत्युकालमें दुःखद होते हैं। अतः इनको भी अनित्य और क्षणभंगुर जानकर सहन करो। इनके अनुरोधपर युद्धरूप शास्त्रविहित स्वधर्म अत्याज्य है। शास्त्रविहित धर्मका अनाचरण अवश्य ही महानर्थकारी होता है।।१४।।

यं हि न व्यथयन्त्येते पुरुषं पुरुषर्षभ ।
समदुःखसुखं धीरं सोऽमृतत्वाय कल्पते।।१५।।

अन्वय—पुरुषर्षभ (हे पुरुषश्रेष्ठ!) एते (ये सभी मात्रा-स्पर्श) समदुःखसुखम् (सुख तथा दुःखको समान जाननेवाले) यम् धीरम् पुरुषम् (जिस धीर पुरुषको) न व्यथयन्ति (व्याकुल नहीं कर सकते) सः हि (वे निश्चय ही) अमृतत्वाय कल्पते (मोक्षके लिए योग्य होते हैं)।।१५।।

अनुवाद—हे पुरुषोत्तम! जो धीर व्यक्ति मात्रा-स्पर्श, सुख एवं दुःखादिको समान समझते हैं और इनके द्वारा विचलित नहीं होते हैं, वे निश्चय ही मुक्ति प्राप्त करनेके योग्य होते हैं।।१५।।

श्रीविश्वनाथ—एवं विचारेण तत्तत्सहनाभ्यासे सति ते विषयानुभवाः काले किल नापि दुःखयन्ति। यदि च न दुःखयन्ति, तदात्ममुक्तिः स्वप्रत्यासन्नैवेत्याह—यमिति। अमृतत्वाय मोक्षाय।।१५।।

भावानुवाद—इस प्रकार विचारपूर्वक उन विषयोंको सहनेका अभ्यास करनेसे उनके अनुभव कालमें दुःख नहीं होगा। यदि ये विषय दुःख नहीं देते हैं, तब तो आत्ममुक्ति स्वयं ही समीप आ जाएगी। इसीलिए यहाँ 'यं' इत्यादि कहा जा रहा है। यहाँ 'अमृतत्वाय' का अर्थ है—मोक्ष।।१५।।

नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः।
उभयोरपि दृष्टोऽन्तस्त्वनयोस्तत्त्वदर्शिभिः ।।१६।।

अन्वय—असतः (असत् वस्तुकी तो) भावः (सत्ता) न विद्यते (नहीं है) तु (किन्तु) सतः (सत् या नित्य वस्तुका) अभावः (विनाश) न (नहीं है) तत्त्वदर्शिभिः (तत्त्वदर्शी लोगोंके द्वारा) अनयोः उभयोः अपि (इन दोनोंका) अन्तः (निष्कर्ष) दृष्टः (देखा गया है)।।१६।।

अनुवाद—असत् वस्तु (शीत-उष्णादि) की तो सत्ता नहीं है और नित्य वस्तु (आत्मा) का विनाश नहीं है। तत्त्वदर्शी लोगोंने सत् और असत् वस्तुकी आलोचनाकर ऐसा निष्कर्ष निकाला है।।१६।।

श्रीविश्वनाथ—एतच्च विवेकदशानधिरूढान् प्रति उक्तम्। वस्तुतस्तु "*असङ्गो ह्ययं पुरुषः*" इति श्रुतेर्जीवात्मनश्च स्थूल-सूक्ष्म-देहाभ्यां तद्धर्मैः शोकमोहादिभिश्च सम्बन्धो नास्त्येव। तत्सम्बन्धस्याविद्या-कल्पितत्वादित्याह—नेति। असतोऽनात्मधर्मत्वादात्मनि जीवे अवर्त्तमानस्य शोकमोहादेस्तदाश्रयस्य देहस्य च भावः सत्ता नास्ति। तथा सतः सत्यरूपस्य जीवात्मनोऽभावो नाशो

नास्ति। तस्मादुभयोरेतयोरसत्सतोरन्तो-निर्णयोऽयं दृष्टः। तेन भीष्मादिषु त्वदादिषु च जीवात्मसु सत्यत्वादनश्वरेषु देहदैहिक-विवेकशोकमोहादयो नैव सन्तीति। कथं भीष्मादयो नङ्क्ष्यन्ति कथं वा तां स्त्वं शोचसीति भावः।।१६।।

भावानुवाद—ये बातें ऐसे व्यक्तियोंके लिए कही जा रही हैं, जिनको विवेकदशा प्राप्त नहीं हुई है। वस्तुतः श्रुति कथित *'असङ्गोह्ययं पुरुषः'* के अनुसार स्थूल और सूक्ष्म दोनों प्रकारके शरीर एवं शोकमोहादिरूप शारीरिक धर्मोंसे जीवात्माका कोई सम्बन्ध नहीं है, क्योंकि ये सम्बन्ध अविद्याके द्वारा कल्पित हैं। इसके लिए 'न' इत्यादि कहते हैं। 'असतः' अर्थात् अनात्म धर्मके कारण आत्म-तत्त्व जीवमें वर्त्तमान शोक-मोहादि एवं इनके आश्रयस्थल देहकी सत्ता नहीं है। इस प्रकार 'सतः' अर्थात् सत्यस्वरूप जीवात्माका विनाश नहीं है। अतएव सत् एवं असत्—इन दोनोंका निर्णय इस प्रकार ही देखा जाता है। अतएव तुमलोग और भीष्मादि सत्य या नित्य हैं, यह जाननेके बाद अविनाशी जीवात्माके सम्बन्धमें देह-दैहिक विवेक-शोक-मोहादि नहीं रहते हैं। भीष्मादि किस प्रकार नाश होंगे? अथवा तुम भी किस प्रकार उनके लिए शोकग्रस्त होओगे?।।१६।।

अविनाशि तु तद्विद्धि येन सर्वमिदं ततम्।
विनाशमव्ययस्यास्य न कश्चित्कर्त्तुमर्हति।।१७।।

अन्वय—तु (किन्तु) येन (जिससे) इदम् सर्वम् (यह सम्पूर्ण) ततम् (व्याप्त है) तत् (उस आत्माको) अविनाशी (विनाशरहित) विद्धि (जानो) कश्चित् (कोई भी) अव्ययस्य अस्य (उस अविनाशी आत्माका) विनाशम् (विनाश) कर्त्तुम् (करनेमें) न अर्हति (समर्थ नहीं है)।।१७।।

अनुवाद—किन्तु, जो इस सारे शरीरमें व्याप्त है, उसे ही तुम अविनाशी जानो। कोई भी उस अविनाशी (आत्मा) का विनाश करनेमें समर्थ नहीं है।।१७।।

श्रीविश्वनाथ—नाभावो विद्यते सत इत्यस्यार्थं स्पष्टयति—अविनाशीति। तत् जीवात्मस्वरूपं येन सर्वमिदं शरीरं ततं व्याप्तम्। ननु शरीरमात्रव्यापी चैतन्यत्वे जीवात्मनो मध्यमपरिमाणत्वेनानित्यत्वप्रसक्तिः? मैवं *"सूक्ष्माणामप्यहं जीवः"* इति भगवदुक्तेः, *"एषोऽणुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणं पञ्चधा संविवेश"* इति, *"बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः"* इति। *"आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः"* इति श्रुतिभ्यश्च तस्य परमाणुपरिमाणत्वमेव। तदपि सम्पूर्णदेहव्यापिशक्तिमत्वं जतुजटितस्य

महामणेर्महौषधखण्डस्य वा शिरस्यूरसि वा धृतस्य सम्पूर्णदेहपुष्टिकरणशक्तिमत्वमिव नासमञ्जसम्। स्वर्गनरक-नानायोनिषु गमनञ्च तस्योपाधिपारवश्यादेव। तदुक्तं प्राणमधिकृत्य दत्तात्रेयेन—"*येन संसरते पुमान्*" इति। अतएवास्य सर्वगतत्वमप्यग्रिम-श्लोके वक्ष्यमाणं नासमञ्जसम्। अतएवाव्ययस्य नित्यस्य—"*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्,*" इति श्रुतेः, यद्वा ननु देहो जीवात्मा परमात्मेत्येतद्वस्तुत्रिकं मनुष्यतिर्यगादिषु सर्वत्र दृश्यते, तत्राद्ययोर्देहजीवयोस्तत्त्वं "*नासतो विद्यते भावः*" इत्यनेनोक्तम्, तृतीयस्य परमात्मवस्तुनः किं तत्त्वमित्यत आह—अविनाशि त्विति। तु—भिन्नोपक्रमे, परमात्मनो मायाजीवाभ्यां स्वरूपतः पार्थक्यात् इदं जगत्।।१७।।

भावानुवाद—'नाभावो विद्यते सतः' अर्थात् सत् या सत्यरूप तत्त्वका नाश नहीं है। उपरोक्त कथनके अर्थको स्पष्ट करनेके लिए यहाँ श्रीभगवान् 'अविनाशी' इत्यादि कह रहे हैं। उस जीवात्माका स्वरूप ऐसा है कि उसके द्वारा यह सम्पूर्ण शरीर व्याप्त है। यदि प्रश्न हो कि क्या शरीरमात्रमें व्याप्त जीवात्माका चैतन्यत्व मध्यम परिमाणमें होनेके कारण अनित्य नहीं हो सकता है, तो इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कहते हैं—"ऐसा नहीं हो सकता है।" श्रुतियोंमें भी इसके प्रमाण हैं—'*सूक्ष्मानामप्यहं जीवः*' (श्रीमद्भा. ११/१६/११)अर्थात् सूक्ष्म तत्त्वसमूहमें मैं जीव हूँ। '*एषोऽनुरात्मा चेतसा वेदितव्यो यस्मिन् प्राणं पञ्चधा संविवेश*' (मु. उ. ३/१/९) अर्थात् यह आत्मा अत्यन्त क्षुद्र है, विशुद्ध चित्तमें ही इसकी उपलब्धि की जाती है, प्राणवायु—प्राण, अपान, व्यान, समान तथा उदान—इन पाँच प्रकारोंमें विभक्त होकर शरीरमें प्रविष्ट रहते हैं।'*बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च। भागो जीवः स विज्ञेयः*' (श्वे. उ. ५/९) अर्थात् उस जीवको बालके अग्रभागके दस हजारवें भागके समान सूक्ष्म जानो। '*आराग्रमात्रो ह्यवरोऽपि दृष्टः*' (ऐ. उ. ५/८) अर्थात् अत्यन्त सूक्ष्मरूपवाला जीवात्मा देखा गया है। अतः उपरोक्त श्रुतिवचनोंसे भी यह सिद्ध होता है कि परिमाणमें जीवात्मा परमाणुके समान है अर्थात् अतिसूक्ष्म है। जिस प्रकार लाखमें जड़ी हुई महामणि या महौषधि सिर या वक्षपर रखनेसे सम्पूर्ण शरीरको पुष्ट करनेमें सक्षम है, उसी प्रकार जीवात्मा भी सम्पूर्ण शरीरमें व्याप्त होनेमें सक्षम है। इसमें कोई असामञ्जस्य नहीं है। उपाधि परवश होनेके कारण यह स्वर्ग-नरकादि एवं नाना योनियोंमें गमन करता है। दत्तात्रेयने

प्राणके सम्बन्धमें इस प्रकार कहा है—'येन संसरते पुमान्' अर्थात् जिसके द्वारा पुरुषका संसार होता है। परवर्त्ती श्लोकमें जीवात्माके सभी स्थानोंमें विचरण करनेके गुणको बताया जाएगा। इसमें भी कोई असामञ्जस्य नहीं है। अतएव जीवात्माको 'अव्ययस्य' या नित्य कहा गया है। श्रुतिमें भी इसका प्रमाण है—'*नित्यो नित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्*' (क. उ. २/२/१३) अर्थात् जो नित्य वस्तुओंमें भी नित्य एवं चेतन वस्तुओंमें भी एकमात्र चेतन हैं, जो एक होकर भी बहुत कार्योंको करते हैं। अथवा, यदि कहा जाय कि देह, जीवात्मा और परमात्मा—ये तीनों मनुष्य, पशु, पक्षी आदिमें सर्वत्र देखे जाते हैं। इनमें से प्रथम दो अर्थात् देह और जीवका तत्त्व पूर्वश्लोक (नासतो विद्यते भावः) में वर्णन किया गया है। तीसरी अर्थात् परमात्म वस्तुका क्या तत्त्व है, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् 'अविनाशी' इत्यादि कह रहे हैं। 'तु' शब्द भिन्न उपक्रममें है। स्वरूपतः माया एवं जीवका परमात्मासे पार्थक्य होनेके कारण ही यह जगत् हुआ है।।१७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अविनाशी तत्त्व दो है—एक अणु चैतन्य जीवात्मा और दूसरा समस्त जीवात्माओंके प्रकाशक एवं नियन्ता परमात्मा। जड़-चेतन समस्त पदार्थोंमें एक ही परमात्मा साक्षीरूपमें विराजमान रहते हैं। जीवात्माएँ अनन्त हैं। एक-एक स्थूल शरीरमें पृथक्-पृथक्रूपमें एक-एक आत्मा स्थित है। प्रत्येक शरीरका आत्मा पृथक्-पृथक्रूपमें सुख-दुःखादिका अनुभव करता है। परब्रह्म परमात्मा इन सबके सुख-दुःखसे उपर केवल साक्षीरूपमें वर्त्तमान रहते हैं। इस श्लोकमें जीवात्मरूप अविनाशीकी बात कही गई है। यह अणुचित् जीवात्मा शरीरके एक भागमें स्थित होकर भी सारे शरीरमें कैसे अनुभूत होता है—इस प्रश्नका उत्तर भगवान् श्रीकृष्ण इस श्लोकमें दे रहे हैं। वेदान्तसूत्रसे भी श्रीकृष्णके उपरोक्त कथनकी पुष्टि होती है—'*अविरोधश्चन्दनवत्*' (ब्र. सू. २/३/२२) अर्थात् जैसे हरि-चन्दनका एक बूँद शरीरके एक स्थानपर लगानेसे सारे शरीरमें इसकी शीतलताका अनुभव होता है, वैसे जीव भी शरीरके एक भागमें स्थित होकर भी सारे शरीरमें अनुभूत होता है। स्मृतिमें भी इस कथनकी पुष्टि हुई है—

'अणुमात्रोऽप्ययं जीवः स्वदेहेव्याप्य तिष्ठति।
यथा व्याप्य शरीराणि हरिचन्दनविप्रुषः।।'

अर्थात्, जिस प्रकार हरिचन्दन-बिन्दु शरीरके एक भागमें अवस्थित रहकर भी सारे शरीरको आनन्ददायक होता है, जीव भी उसी प्रकार एक स्थानमें अवस्थित रहकर भी सर्वदेह व्यापक होता है।

यदि यह प्रश्न हो कि जीवात्मा देहके किस भागमें अवस्थित होता है, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—जीव हृदयमें अवस्थित रहता है—'*हृदि ह्येष आत्मेति*' (षट्प्रश्नी श्रुति)। वेदान्तसूत्रमें भी ऐसा ही कहा गया है—'*गुणाद्वालोकवत्*'(ब्र. सू. २/३/२४) अर्थात् जीव अपने गुणसे प्रकाशकी भाँति सारे शरीरमें व्याप्त रहता है। जीव अणु होनेपर भी चेतनाके गुणसे युक्त होनेके कारण समस्त शरीरमें व्याप्त रहता है। जिस प्रकार सूर्य आकाशके एक भागमें स्थित होकर भी अपने प्रकाशसे सम्पूर्ण खगोलमें व्याप्त रहता है, उसी प्रकार जीव भी सारे शरीरमें व्याप्त रहता है। भगवान्ने स्वयं गीता (१३/३३) में ऐसा ही बताया है।।१७।।

अन्तवन्त इमे देहा नित्यस्योक्ताः शरीरिणः।
अनाशिनोऽप्रमेयस्य तस्माद्युध्यस्व भारत।।१८।।

अन्वय—नित्यस्य (नित्य एकरूप) अनाशिनः (विनाशरहित) अप्रमेयस्य (अपरिमेय, न मापने योग्य) शरीरिणः (देहधारी जीवके) इमे देहाः (ये सब भौतिक शरीर) अन्तवन्तः (विनाशशील) उक्ताः (कहे गए हैं) भारत (हे अर्जुन!) तस्मात् (अतः) युद्धस्व (युद्ध करो)।।१८।।

अनुवाद—नित्य, अविनाशी और अपरिमेय जीवात्माके ये सब भौतिक शरीर नाशवान कहे गए हैं। अतः हे अर्जुन! तुम युद्ध करो।।१८।।

श्रीविश्वनाथ—"*नासतो विद्यते भावः*" इत्यस्यार्थं स्पष्टयति—अन्तवन्त इति। शरीरिणो जीवस्य अप्रमेयस्य अति-सूक्ष्मत्वाद्दुर्ज्ञेयस्य। तस्माद् युध्यस्वेति शास्त्रविहितस्य स्वधर्मस्य त्यागोऽनुचित इति भावः।।१८।।

भावानुवाद—'*नासतो विद्यते भावः*'—इसका अर्थ स्पष्ट करते हुए 'अन्तवन्तः' इत्यादि कह रहे हैं। 'शरीरिणः' का प्रयोग देहधारी जीवके लिए हुआ है। 'अप्रमेयस्य' का अर्थ है—अति सूक्ष्म होनेके कारण जीवात्मा दुर्ज्ञेय है। 'तस्मात् युद्धस्व' का तात्पर्य है—युद्ध करो अर्थात् शास्त्रविहित धर्मका परित्याग सर्वथा अनुचित है।।१८।।

य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।१९।।

अन्वय—यः (जो व्यक्ति) एनम् (इस जीवात्माको) हन्तारम् (वध करनेवाला) वेत्ति (जानता है) यः च (एवं जो) एनम् (इस आत्माको) हतम् मन्यते (मरा हुआ समझता है) तौ उभौ (वे दोनों) न विजानीतः (नहीं जानते हैं) [यस्मात्—क्योंकि] अयम् (यह आत्मा) न हन्ति (न वध करता है) न हन्यते (न हत होता है)।।१९।।

अनुवाद—जो व्यक्ति इस जीवात्माको वध करनेवाला तथा वध होनेवाला समझते हैं—वे दोनों ही अज्ञ हैं, क्योंकि जीवात्मा न तो किसी की हत्या करता है और न ही किसीके द्वारा हत होता है।१९।।

श्रीविश्वनाथ—भो वयस्य अर्ज्जुन! त्वमात्मा न हन्तेः कर्त्ता, नापि हन्तेः कर्म इत्याह—य इति। एनं जीवात्मानं हन्तारं वेत्ति, भीष्मादीनर्जुनो हन्तीति यो वेत्तीत्यर्थः। हतमिति भीष्मादिभिरर्जुनो हन्यत इति यो वेत्ति, तावुभावप्यज्ञानिनौ। अतोऽर्जुनोऽयं गुरुजनं हन्तीत्यज्ञानिलोकगीताद् दुर्यशसः का ते भीतिरिति भावः।।१९।।

भावानुवाद—हे सखे अर्जुन! तुम आत्मा हो; तुम न तो 'हनन' क्रियाके लिए कर्त्ता हो, न ही कर्म हो। इसके लिए श्रीभगवान् 'य' इत्यादि कह रहे हैं। जो ऐसा समझते हैं कि यह जीवात्मा हत्या करनेवाला है अर्थात् अर्जुन भीष्म आदिकी हत्या करते हैं अथवा जो ऐसा समझते हैं कि भीष्म आदिके द्वारा अर्जुन हत होते हैं—वे दोनों ही अज्ञानी हैं। अतएव, हे सखे! तुम्हें ऐसा भय क्यों हो रहा है कि अज्ञानी लोगोंके द्वारा गुरुहन्ता कहे जानेसे तुम्हारा अपयश होगा?।।१९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीकृष्ण अर्जुनको समझा रहे हैं—अर्जुन! तुम आत्मा हो, अतः न तो तुम हनन-कार्यके कर्त्ता हो और न ही कर्म हो। यहाँ यह स्पष्ट कर रहे हैं कि तुम भीष्मादि विपक्षी वीरोंकी हत्या करनेवाले कर्त्ता नहीं हो अथवा भीष्मादि विपक्षी वीरोंके द्वारा हत होनेवाले कर्म भी नहीं हो। किन्तु, देहात्मबुद्धि सम्पन्न अज्ञानी व्यक्ति स्थूल शरीरको ही हनन कार्यका कर्त्ता और कर्म मानते हैं, अतएव तुम इस तत्त्वको समझकर देहात्म-अभिमान छोड़कर अपने आत्म-स्वरूपमें प्रतिष्ठित होओ और मेरे शरणागत होकर निर्भयपूर्वक मेरी प्रीतिके लिए कर्त्तव्य कर्मोंका अनुष्ठान करो। तुम्हें इस विषयमें कोई अज्ञानता नहीं रहनी चाहिए।

श्रुतिमें भी ऐसा ही कहा गया है—

'हन्ता चेन्मन्यते हन्तं हतश्चेन्मन्यते हतम्।
उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते।।'

(क. उ. १/२/१९) ।।१९।।

न जायते म्रियते वा कदाचिन्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो न हन्यते हन्यमाने शरीरे।।२०।।

अन्वय—अयम् (यह जीवात्मा) कदाचित् (कभी भी) न जायते वा न म्रियते (न जन्म लेता है या न कभी मरता है) भूत्वा वा (अथवा उत्पन्न होकर) भूयः न भविता (पुनः उत्पन्न नहीं होता है) अजः (अजन्मा) नित्यः (नित्य) शाश्वतः (शाश्वत) पुराणः (रूपान्तररहित या प्राचीन) शरीरे हन्यमाने (शरीर नष्ट होनेपर भी) न हन्यते (आत्माका विनाश नहीं होता है)।।२०।।

अनुवाद—यह जीवात्मा कभी भी न तो जन्म लेता है और न ही कभी मरता है अथवा पुनः पुनः इसकी उत्पत्ति या वृद्धि नहीं होती है। यह अजन्मा, नित्य, शाश्वत और प्राचीन होनेपर भी नित्य नवीन है। शरीरके नष्ट होनेपर भी जीवात्माका विनाश नहीं होता है।।२०।।

श्रीविश्वनाथ—जीवात्मनो नित्यत्वं स्पष्टतया साधयति—*'न जायते, म्रियते'* इति जन्ममरणयोर्वर्त्तमानत्व-निषेधः, *'नायं भूत्वा भविता'* इति तयोर्भूतत्व-भविष्यत्व-निषेधः। अतएव 'अजः' इति कालत्रयेऽप्यजस्य जन्माभावान्नास्य प्रागभावः। शाश्वतः शश्वत् सर्वकाल एव वर्त्तत इति नास्य कालत्रयोऽपि ध्वंसः, अतएवायं नित्यः। तर्हि बहुकालस्थायित्वाज्जराग्रस्तोऽयमिति चेन्न, पुराणः पुरापि नवः प्राचीनोऽप्ययं नवीन इवेति षडभाव-विकाराभावादिति भावः। ननु शरीरस्य मरणादौपचारिकन्तु मरणमस्यास्तु? तत्राह—नेति। शरीरेण सह सम्बन्धाभावान्नोपचारः।।२०।।

भावानुवाद—जीवात्माके नित्यत्वको सिद्ध करते हुए श्रीभगवान् 'न जायते म्रियते' इत्यादि कह रहे हैं। इसके द्वारा यह सिद्ध होता है कि वर्त्तमान कालमें जीवात्माका जन्म या मृत्यु नहीं है। 'नायं भूत्वा भविता'—इसके द्वारा भूत या भविष्यमें भी जीवात्माके जन्म-मृत्युका अभाव सिद्ध होता है। पुनः 'अज' शब्दके द्वारा तीनों कालोंमें जीवात्माके जन्मका अभाव बताकर श्रीभगवान् यह प्रमाणित कर देते हैं कि पूर्वकालमें भी जीवात्मा वर्त्तमान था। 'शाश्वतः' शब्दका तात्पर्य है—जो सर्वकालमेंविद्यमान

है अर्थात् तीनों कालमें जिसका विनाश नहीं है। अतएव जीवात्मा नित्य है। फिर भी यदि प्रश्न हो कि दीर्घकालसे स्थायी रहनेके कारण जीवात्मा जराग्रस्त (बूढ़ा) हो सकता है, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—"ऐसा नहीं है, क्योंकि यह 'पुराणः' है अर्थात् प्राचीन होनेपर भी यह नवीन रहता है। इसमें जन्मादि छः विकारोंका अभाव होता है।" यदि पूर्वपक्ष हो कि शरीरके मरनेपर औपचारिक रूपसे भी यह क्यों नहीं मरेगा, तो इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कहते हैं—नहीं, शरीरके साथ इसका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है।।२०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें जीवात्माका नित्यत्व सिद्ध किया गया है। यह जन्म और मरणसे अतीत, शाश्वत और सनातन है। शरीरके विनाश होनेपर भी उसका विनाश नहीं है। इसलिए आत्मामें जन्म, स्थिति, वृद्धि, परिणाम, क्षय और विनाश—इन छः विकारोंका अभाव है।

कठोपनिषदमें भी ठीक इसी प्रकारके सिद्धान्तसे अवगत हुआ जाता है—

'न जायते म्रियते वा विपश्चिन्नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो नहन्यते हन्यमाने शरीरे।।'

(क. उ. १/२/१८)

वृहदारण्यकमें भी इस सिद्धान्तकी पुष्टि होती है—

'स वा एष महानज आत्माजरोऽमरोऽमृतोऽभयः' (वृ. उ. ४/४/२५)

अर्थात्, यह आत्मा निश्चितरूपसे महान, अजन्मा, अजर, अमर, अमृत और अभय है।।२०।।

वेदाविनाशिनं नित्यं य एनमजमव्ययम्।
कथं स पुरुषः पार्थ कं घातयति हन्ति कम्।।२१।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) यः (जो) एनम् (आत्माको) नित्यम् (नित्य) अजम् (अज) अव्ययम् (अव्यय) अविनाशिनम् (अविनाशी) वेद (जानते हैं) सः पुरुषः (वे पुरुष) कथम् (किस प्रकार) कम् (किसीका) घातयति (वध करवाते हैं) (वा) कम् (किसीकी) हन्ति (हत्या करते हैं)।।२१।।

अनुवाद—हे पार्थ! जो व्यक्ति आत्माको नित्य, अजन्मा, अव्यय और अविनाशी जानते हैं, वे किस प्रकार किसीकी हत्या करवाते या हत्या करते हैं?।।२१।।

श्रीविश्वनाथ—अत एवम्भूतज्ञाने सति त्वं युध्यमानोऽप्यहं युद्धे प्रेरयन्नपि दोषभाजौ नैव भवाव इत्याह—वेदेति। नित्यमिति क्रियाविशेषणम्, अविनाशिनमिति, अजमिति, अव्ययमित्येतैर्विनाशजन्या अपक्षया निषिद्धाः। स पुरुषो मल्लक्षणः कं घातयति, कथं वा घातयति, तथा स पुरुषस्त्वल्लक्षणः कं हन्ति, कथं वा हन्ति?।।२१।।

भावानुवाद—अतएव हे पार्थ! इस प्रकार ज्ञान होनेसे युद्ध करनेपर भी तुम दोषी नहीं होओगे और मैं भी युद्धकी प्रेरणा देनेके कारण दोषी नहीं होऊँगा। इसके लिए ही यहाँ 'वेद' इत्यादि शब्द कहे जा रहे हैं। 'नित्यम्' शब्द यहाँ क्रिया-विशेषण है। अविनाशी, अज तथा अव्यय कहनेसे विनाशके कारण आत्माका जो क्षय होगा—उसका निषेध हो जाता है। ऐसा ज्ञान होनेपर मेरे जैसा पुरुष किसके द्वारा या किस प्रकारसे किसीका वध करावेगा। उसी प्रकार तुम जैसा पुरुष किसको मारेगा या किस प्रकार मारेगा?।।२१।।

वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि।
तथा शरीराणि विहाय जीर्णान्यन्यानि संयाति नवानि देही।।२२।।

अन्वय—नरः (मनुष्य) यथा (जिस प्रकार) जीर्णानि वासांसि (पुराणे वस्त्रोंको) विहाय (त्यागकर) अपराणि (दूसरे) नवानि (नए वस्त्रोंको) गृह्णाति (ग्रहण करता है) तथा (उसी प्रकार) देही (जीवात्मा) जीर्णानि शरीराणि (पुराने शरीरोंको) विहाय (त्यागकर) अन्यानि नवानि (दूसरे नए शरीरोंको) संयाति (धारण करता है)।।२२।।

अनुवाद—जिस प्रकार मनुष्य पुराने वस्त्रोंको त्यागकर दूसरे नये वस्त्रोंको ग्रहण करता है, उसी प्रकार जीवात्मा भी पुराने शरीरोंको त्यागकर दूसरे नये शरीरोंको धारण करता है।।२२।।

श्रीविश्वनाथ—ननु मदीययुद्धाद् भीष्मसंज्ञक-शरीरन्तु जीवात्मा त्यक्षत्येवेत्यतस्त्वञ्चाहञ्च तत्र हेतु भवाव एवेत्यत आह—वासांसीति। नवीनं वस्त्रं परिधापयितुं जीर्णवस्त्रस्य त्याजने कश्चित् किं दोषो भवतीति भावः। तथा शरीराणीति—भीष्मे जीर्णशरीरं परित्यज्य दिव्यं नव्यमन्यच्छरीरं प्राप्स्यतीति कस्तव वा मम वा दोषो भवतीति भावः।।२२।।

भावानुवाद—यदि तुम कहो कि मेरे युद्धसे जीवात्मा भीष्म नामक शरीरका परित्याग करेगा और इस जगह आप एवं मैं इसका कारण होऊँगा,

तो सुनो—नवीन वस्त्रको पहननेके लिए पुराने वस्त्रका परित्याग करनेमें क्या कोई दोष होता है? भीष्म अपने जीर्ण शरीरका परित्यागकर नूतन शरीरको धारण करेंगे, इसमें तुम्हारा या मेरा क्या दोष होता है?।।२२।।

नैनं छिन्दन्ति शस्त्राणि नैनं दहति पावकः।
न चैनं क्लेदयन्त्यापो न शोषयति मारुतः।।२३।।

अन्वय—शस्त्राणि (शस्त्रसमूह) एनम् (इस जीवात्माको) न छिन्दन्ति (नहीं छेद सकते हैं) पावकः (अग्नि) एनम् (इसे) न दहति (नहीं जला सकता है) आपः (जल) एनम् (इसको) न क्लेदयन्ति (नहीं गीला कर सकता है) च (एवं) मारुतः (वायु) न शोषयति (नहीं सुखा सकती है)।।२३।।

अनुवाद—इस जीवात्माको न शस्त्रोंके द्वारा छेदा जा सकता है, न आगके द्वारा जलाया जा सकता है और न ही जलके द्वारा भिंगोया जा सकता है और न ही वायुके द्वारा सुखाया जा सकता है।।२३।।

श्रीविश्वनाथ—न च युद्धे त्वया प्रयुक्तेभ्यः शस्त्रास्त्रेभ्यः काप्यात्मनो व्यथा सम्भवेदित्याह—नैनमिति। शस्त्राणि खड्गादीनि, पावकः आग्नेयास्त्रमपि युष्मदादिप्रयुक्तम्, आपः पार्जन्यास्त्रमपि, मारुतो वायव्यमस्त्रम्।।२३।।

भावानुवाद—हे अर्जुन! तुम्हारे द्वारा युद्धमें प्रयुक्त शस्त्रादिके द्वारा आत्माको किसी भी प्रकारकी व्यथा या पीड़ाकी सम्भावना नहीं है। इसके लिए श्रीभगवान् 'नैनं' इत्यादि कह रहे हैं। यहाँ 'शस्त्राणि' का अर्थ है—खड्गादि, 'पावकः' का अर्थ है—आग्नेयास्त्र, 'आपः' का अर्थ है—पार्जन्यास्त्र और 'मारुतः' का अर्थ है—वायव्यास्त्र। हे अर्जुन! तुम्हारे द्वारा प्रयुक्त इन सारे अस्त्रोंके द्वारा भी आत्माको कोई पीड़ा नहीं होगी।।२३।।

अच्छेद्योऽयमदाह्योऽयमक्लेद्योऽशोष्य एव च।
नित्यः सर्वगतः स्थाणुरचलोऽयं सनातनः।।२४।।
अव्यक्तोऽयमचिन्त्योऽयमविकार्योऽयमुच्यते ।
तस्मादेवं विदित्वैनं नानुशोचितुमर्हसि।।२५।।

अन्वय—अयम् (यह आत्मा) अच्छेद्यः (अविभाज्य है) अयम् (यह जीवात्मा) अदाह्यः (अदाह्य, न जलनेवाला है) अयम् (यह जीवात्मा) अक्लेद्यः (न हीं गीला होनेवाला है) अशोष्य एव च (और न सूखनेयोग्य

है) अयम् (यह जीवात्मा) नित्यः (नित्य) सर्वगतः (सर्वत्र गमन करनेपर भी) स्थानुः (स्थिर रहनेवाला है) अचलः (अचल, अपरिवर्तनशील) सनातनः (सनातन) अयम् (यह जीवात्मा) अचिन्त्य (मनके लिए अगोचर है) अयम् (यह जीवात्मा) अविकार्यः (अविकारी) उच्यते (कहा जाता है) तस्मात् (अतः) एनम् (इस जीवात्माको) एवं विदिता (इस प्रकार जानकर) अनुशोचितुम् (शोक करनेके) न अर्हसि (योग्य नहीं हो)।।२४-२५।।

अनुवाद—यह जीवात्मा अविभाज्य, अदाह्य, अक्लेद्य एवं अशोष्य है। यह नित्य, सर्वव्यापक, स्थायी, अचल एवं सनातन है। यह अव्यक्त, अचिन्त्य एवं अविकारी भी कहलाता है। जन्मादि षड्विकाररहित होनेके कारण इसे अविकारी भी कहा जाता है। अतः जीवात्माको इस प्रकारसे जाननेके बाद तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है।।२४-२५।।

श्रीविश्वनाथ—तस्मादात्मायमेवमुच्यत इत्याह—अच्छेद्य इति। अत्र प्रकरणे जीवात्मनो नित्यत्वस्य शब्दतोऽर्थतश्च पौनरुक्त्यं निर्द्धारणप्रयोजकं सन्दिग्धधीषु ज्ञेयम्। यथा कलावस्मिन् धर्मोऽस्ति धर्मोऽस्तीति त्रिचतुर्द्धाप्रयोगात् धर्मोऽस्त्येवेति निःसंशया प्रतीतिः स्यादिति ज्ञेयम्। सर्वगतः स्वकर्मवशात् देवमनुष्यतिर्यगादि-सर्वदेहगतः, स्थाणुरचल इति पौनरुक्त्यं स्थैर्यनिर्द्धारणार्थम्, अतिसूक्ष्मत्वादव्यक्तस्तदपि देहव्यापिचैतन्यत्वादचिन्त्योऽतर्क्यः, जन्मादिषड्-विकारानर्हत्वादविकार्यः।।२४-२५।।

भावानुवाद—अतः आत्माको 'अच्छेद्य' इत्यादि कहा गया है। सन्दिग्ध चित्तवाले व्यक्तिके सन्देहको दूर करनेके लिए यहाँ जीवात्मा शब्दके नित्यत्वकी शब्दतः तथा अर्थतः पुनरुक्ति जाननी चाहिए। जिस प्रकार कलियुगमें धर्म है, धर्म है—इस प्रकार तीन-चार बार प्रयोग करनसे यह प्रतीति निःसन्देह होगी कि कलियुगमें धर्म है। उसी प्रकार जीवात्माकी नित्यताको सिद्ध करनेके लिए ऐसा किया गया है। यहाँ 'सर्वगतः' का तात्पर्य है—देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि सभी योनियोंमें भ्रमण करनेवाला। 'स्थाणुः' एवं 'अचलः' शब्दोंकी पुनरुक्ति आत्माकी स्थिरताका निर्धारण करनेके लिए की गई है। 'अव्यक्तः' 'अचिन्त्यः'—अतिसूक्ष्म होनेके कारण जीवात्मा अव्यक्त है एवं देहव्यापी चैतन्य होनेके कारण यह अचिन्त्य अर्थात् अतर्क्य है। जन्मादि छः विकारोंसे रहित होनेके कारण यह अविकारी है।।२४-२५।।

अथ चैनं नित्यजातं नित्यं वा मन्यसे मृतम्।
तथापि त्वं महाबाहो नैनं शोचितुमर्हसि।।२६।।

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो अर्जुन!) अथ च (और भी यदि) एनम् (आत्माको) नित्यजातम् (शरीरके साथ उत्पन्न होनेवाला) वा नित्यम् मृतम् (या नित्य मरणशील) मन्यसे (मानते हो) तथापि (तथापि) त्वम् (तुम) एनम् (इसके लिए) शोचितुम् (शोक करनेके) न अर्हसि (योग्य नहीं हो)।।२६।।

अनुवाद—हे महाबाहो! और भी, यदि तुम जीवात्माको नित्य जन्म लेनेवाला और नित्य मरनेवाला मानते हो, तथापि तुम्हारा इस प्रकार शोक करनेका कोई कारण नहीं है।।२६।।

श्रीविश्वनाथ—तदेवं शास्त्रीय-तत्त्वदृष्ट्या त्वामहं प्रबोधयम्, व्यवहारिक-तत्त्वदृष्ट्यापि प्रबोधयाम्यवधेहीत्याह—अयेति। नित्यजातं देहे जाते सत्येव नित्यं नियतं जातं मन्यसे, तथा देहएव मृते मृतं नित्यं मन्यसे। 'महाबाहो' इति पराक्रमवतः क्षत्रियस्य तव तदपि युद्धमावश्यकं स्वधर्मः, यदुक्तम् (श्रीमद्भा. १०/५४/४०)—''*क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः। भ्रातापि भ्रातरं हन्याद्येन घोरतरस्ततः।।*" इति भावः।।२६।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् कहते हैं—"हे अर्जुन! अब तक शास्त्रीय दृष्टिकोणसे मैंने तुम्हें समझाया, परन्तु अब व्यवहारिक दृष्टिकोणसे समझा रहा हूँ। तुम इसे मनोयोगपूर्वक सुनो। यदि तुम देहके जन्मको नित्य मानते हो अर्थात् नित्य उत्पन्न होनेवाला मानते हो, इसी प्रकार यदि देहकी मृत्युको नित्य अर्थात् नित्य मरणशील मानते हो, तब भी हे महाबाहो! पराक्रमी क्षत्रिय होनेके कारण तुम्हारा युद्ध करना आवश्यक स्वधर्म है। श्रीमद्भागवतमें स्वधर्मके सम्बन्धमें कहा गया है—

'क्षत्रियाणामयं धर्मः प्रजापतिविनिर्मितः।
भ्रातापि भ्रातरं हन्याद् येन घोरतरस्ततः।।'

(श्रीमद्भा. १०/५४/४०)

अर्थात्, प्रजापतिके द्वारा सृष्ट क्षत्रियगणके स्वधर्मानुसार एक भाई दूसरे भाईकी भी हत्या करता है। अतः इस क्षत्रिय धर्मको अतिशय भयावह कहा गया है।"।।२६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण शास्त्रदृष्टिको छोड़कर व्यवहारिक दृष्टिका अवलम्बनकर समझा रहे हैं कि श्रुति आदि शास्त्रोंके अनुसार आत्माको नित्य समझनेसे शोककी कोई बात ही नहीं, अपितु

व्यवहारिक दृष्टिसे भी शोककी कोई बात नहीं। चार्वाकादि नास्तिक विचारक भी आत्माको स्थूल देहकी भाँति अनित्य मानते हैं और कहते हैं कि मृत्युके बाद आत्माका कोई अस्तित्व नहीं रहता। वैभाषिक बौद्धके मतानुसार भी आत्माको नियत जात और नियत मृत माननेपर शोक करना कर्त्तव्य नहीं।।२६।।

जातस्य हि ध्रुवो मृत्युर्ध्रुवं जन्म मृतस्य च।
तस्मादपरिहार्येऽर्थे न त्वं शोचितुमर्हसि।।२७।।

अन्वय—हि (क्योंकि) जातस्य (जन्मप्राप्त व्यक्तिकी) मृत्युः (मृत्यु) ध्रुवः (निश्चित है) मृतस्य च (और मृत व्यक्तिका) जन्म (जन्म) ध्रुवम् (निश्चित है) तस्मात् (अतः) त्वम् (तुम) अपरिहार्ये अर्थे (अनिवार्य विषयमें) शोचितुम (शोक करनेके) न अर्हसि (योग्य नहीं हो)।।२७।।

अनुवाद—क्योंकि, जिसने जन्म ग्रहण किया है उसकी मृत्यु निश्चित है और मृत व्यक्तिका जन्म भी निश्चित है। अतः इस अपरिहार्य (अवश्यम्भावी) विषयमें तुम्हारा शोक करना उचित नहीं।।२७।।

श्रीविश्वनाथ—हि यस्मात्तस्य स्वारम्भक-कर्मक्षये मृत्युर्ध्रुवो निश्चितः। मृतस्य तद्देहकृतेन कर्मणा जन्मापि ध्रुवमेव? अपरिहार्येऽर्थ इति मृत्युर्जन्म च परिहर्त्तुमशक्यमेवेत्यर्थः।।२७।।

भावानुवाद—क्योंकि, जब उसके प्रारब्धकर्म समाप्त हो जाते हैं, तो उसकी मृत्यु निश्चित है और वर्तमान शरीरके द्वारा किए गए कर्मफलका भोग करनेके लिए मृत्युके पश्चात् उसका जन्म लेना भी निश्चित है। जन्म और मृत्यु—इस अपरिहार्य विषयका परिहार करनेमें सभी असमर्थ हैं।।२७।।

अव्यक्तादीनि भूतानि व्यक्तमध्यानि भारत।
अव्यक्तनिधनान्येव तत्र का परिदेवना।।२८।।

अन्वय—भारत (हे अर्जुन!) भूतानि (सभी जीव) अव्यक्तादीनि (प्रारम्भमें अप्रकट, अज्ञात रहते हैं) व्यक्तमध्यानि (मध्यावस्थामें व्यक्त या ज्ञात होते हैं) अव्यक्तनिधनानि एव (मृत्युके बाद भी अव्यक्त या अज्ञात हो जाते हैं) तत्र का परिवेदना (अतः उसके लिए शोक क्यों है)।।२८।।

अनुवाद—हे भारत! सभी जीव जन्मसे पूर्व अव्यक्त रहते हैं, जन्मके बाद मध्यावस्थामें व्यक्त होते हैं और मृत्युके बाद पुनः अव्यक्त हो जाते हैं। अतः इस विषयमें शोकका क्या कारण है?।।२८।।

श्रीविश्वनाथ—तदेवं 'जीवपक्षे'—"*न जायते न म्रियते*" इत्यादिना, 'देहपक्षे' च "*जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः*" इत्यनेन शोकविषयं निराकृत्येदानीमुभयपक्षेऽपि निराकरोति—अव्यक्तेति। भूतानि-देव-मनुष्य-तिर्यगादीनि, अव्यक्तानि न व्यक्तिरादौ जन्मपूर्वकाले येषाम्, किन्तु तदानीमपि लिङ्गदेहः स्थूलदेहश्च स्वारम्भक पृथिव्यादिद्रव्यसत्त्वात् कारणात्मना वर्त्तमानोऽस्पष्टमासीदेवेत्यर्थः। व्यक्तं व्यक्तिर्मध्ये येषां तानि, न व्यक्तिर्निधनादनन्तरं येषां तानि। महाप्रलयेऽपि कर्ममात्रादीनां सत्त्वात् सूक्ष्मरूपेण भूतानि सन्त्येव, तस्मात् सर्वभूतान्याद्यन्तरयोरव्यक्तानि मध्ये व्यक्तानीत्यर्थः, यदुक्तं श्रुतिभिः (श्रीमद्भा. १०/८७/२९)—"*स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो*" इति। का परिदेवना—कः शोकनिमित्तो विलापः? तथा चोक्तं नारदेन (श्रीमद्भा. १/१३/४४)—"*यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम्। सर्वथा हि न शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात्॥*" इति।।२८।।

भावानुवाद—इस प्रकार जीवके पक्षमें '*न जायते म्रियते*' इत्यादिके द्वारा और '*जातस्य हि ध्रुवो मृत्युः*' इत्यादिके द्वारा शरीरके पक्षमें शोकका निवारणकर अब 'अव्यक्त' इत्यादि द्वारा जीवात्मा और शरीर—दोनोंके लिए शोकका निवारणकर रहे हैं। देवता, मनुष्य, पशु-पक्षी आदि जन्मके पूर्व अव्यक्त रहते हैं, उस समय भी सूक्ष्म और स्थूल देह स्वारम्भक पृथ्वी आदि द्रव्योंके कारणात्मरूपमें वर्त्तमान रहनेपर भी अप्रकाशित ही रहते हैं। वे मध्यकालमें व्यक्त होते हैं और निधनके पश्चात् पुनः अप्रकट हो जाते हैं। महाप्रलयमें भी कर्म-मात्रादिके रहनेसे जीव सूक्ष्मरूपमें वर्तमान ही रहते हैं। अतः सभी जीव आदि और अन्तमें अव्यक्त, किन्तु मध्यमें व्यक्त रहते हैं। श्रुतियोंमें भी कहा गया है—'*स्थिरचरजातयः स्युरजयोत्थनिमित्तयुजो*' (श्रीमद्भा. १०/८७/२९) अर्थात् कर्मरूप निमित्तके साथ चराचर जीवोंका आविर्भाव होता है। अतः शोकके लिए विलाप क्यों? श्रीमद्भागवतमें नारदजी भी कहते हैं—

'यन्मन्यसे ध्रुवं लोकमध्रुवं वा न चोभयम्।
सर्वथा हि न शोच्यास्ते स्नेहादन्यत्र मोहजात्।।'

(श्रीमद्भा. १/१३/४४)

अर्थात्, यदि मनुष्यको जीवरूपमें नित्य और देहरूपमें अनित्य मानकर विचार करो अथवा अनिर्वचनीय होनेके कारण नित्य तथा अनित्य दोनों

ही रूपोंमें विचार करो, किसी भी प्रकारसे विचार करनेपर तुम शोकके पात्र नहीं हो। मोहजनित स्नेहके अतिरिक्त शोकका अन्य कोई कारण नहीं है।।।२८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—समस्त प्राणी अव्यक्तसे उत्पन्न होकर कुछ दिन व्यक्त रहते हैं तथा पुनः अव्यक्तमें ही स्थित हो जाते हैं—इसे समझानेके लिए हि इस श्लोककी अवतारणा हुई है। टीकामें उद्धृत (श्रीमद्भा. १०/८७/२९) श्लोककी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर लिखते हैं कि जीवसमूह परमेश्वरसे उत्पन्न होनेके कारण परमेश्वरके अधीन हैं। जब आप परमेश्वर मायासे अतीत और अनासक्त होकर भी मायाके प्रति ईक्षणरूप क्रीड़ा करते हैं, तभी कर्म-संस्कारसे युक्त स्थावर-जङ्गात्मक देहधारी जीव प्रकट होते हैं। सर्वत्र ही 'उत्पन्न' शब्दका तात्पर्य 'प्रकट' से है। यदि प्रश्न हो कि मुझ परमेश्वरमें लीन हुए जीवोंका जन्म प्रकार होता है, तो इसका उत्तर यह है कि मेरे ईक्षण द्वारा (दृष्टिपात अथवा इच्छाशक्तिकी प्रेरणा द्वारा) उत्थित कर्मसमूह, तदनन्तर लिङ्गशरीरके साथ युक्त होकर जीव प्रकट होता है। पुनः स्थूल शरीरसे युक्त होकर जीवका जन्म होता है अर्थात् कार्योपाधियोंके लय होनेपर जीवसमूहका लय माना जाता है; पुनः कर्म-संस्कार, सूक्ष्म शरीर और स्थूल शरीरसे युक्त जीवका इस जगत्में विभिन्न योनियोंमें प्रकट होना ही जन्म कहा जाता है।

वृहदारण्यक श्रुतिमें ऐसा कहा गया है—

'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा व्युच्चरन्त्येवमेवास्मादात्मनः सर्वे प्राणाः सर्वे लोकाः सर्वे देवाः सर्वाणि भूतानि व्युच्चरन्ति।'

अर्थात्, जिस प्रकार अग्निसे स्फुलिङ्ग प्रकटित होते हैं, उसी प्रकार वाक् आदि इन्द्रियाँ, सुख-दुःख आदि कर्मफल, सभी देवता, ब्रह्मासे लेकर चींटी तक समस्त प्राणी मुझ परमात्मासे प्रकटित होते हैं।

महाभागवत श्रीयमराज भी ऐसा कहते हैं—

'यत्रागतस्तत्र गतं मनुष्यम्'

अर्थात्, जिस अज्ञात स्थानसे मनुष्य (प्राणिमात्र) का उद्भव होता है, पुनः वे वहीं चले जाते हैं।।२८।।

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेनमाश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।
आश्चर्यवच्चैनमन्यः शृणोति श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित्।।२९।।

अन्वय—कश्चित् (कोई) एनम् (इस आत्माको) आश्चर्यवत् (आश्चर्यकी भाँति) पश्यति (देखता है) तथा एव च (उसी प्रकार) अन्यः (अन्य कोई) एनम् (इसको) आश्चर्यवत् (आश्चर्यकी भाँति) वदति (बोलता है) अन्यः च (और कोई) एनम् (इसे) आश्चर्यवत् (आश्चर्यकी भाँति) शृणोति (सुनता है) कश्चित् च (पुनः कोई) श्रुत्वा अपि (सुनकर भी) एनम् (इसे) न वेद एव (नहीं जानता है)।।२९।।

अनुवाद—कोई जीवात्माको आश्चर्यकी भाँति देखता है, कोई इसे आश्चर्यकी भाँति बोलता है, कोई इसे आश्चर्यकी तरह सुनता है, किन्तु कोई कोई सुनकर भी इसे नहीं जान पाता है।।२९।।

श्रीविश्वनाथ—ननु किमिदं आश्चर्यं ब्रूषे? किञ्चैतदप्याश्चर्यं, यदेव प्रबोध्यमानस्याप्यविवेको नापयातीति तत्र सत्यमेवमेवेत्याह—आश्चर्यवदिति। एनमात्मानं देहञ्च तदुभयरूपं सर्वलोकम्।।२९।।

भावानुवाद—हे अर्जुन! यदि तुम कहो कि आप ये क्या आश्चर्यकी बात कर रहे हैं, तो सुनो—यही आश्चर्यकी बात है, जिसे समझाने पर भी तुम्हारा अविवेक दूर नहीं हो रहा है। तुम्हारा संशय उचित है, इसके लिए ही 'आश्चर्यवत्' इत्यादि कहा जा रहा है। आत्मा तथा देह—इन दोनोंके रूपमें सम्पूर्ण जगत् आश्चर्यमय है।।२९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—आत्मतत्त्व दुर्ज्ञेय होनेके कारण आत्मा, आत्माके उपदेशक, आत्मा-सम्बन्धी उपदेश तथा उसके श्रोता—ये सभी आश्चर्य-सदृश हैं अर्थात् कोई विरले महापुरुष आश्चर्यकी भाँति आत्माको देखते हैं, कोई विरला श्रोता आश्चर्यकी भाँति श्रवण करता है और ऐसे उपदेशोंको वैसे तत्त्वविद् व्यक्तिके द्वारा श्रवण कराये जानेपर भी अधिकांश श्रोता इसकी उपलब्धि नहीं कर पाते, यह और भी आश्चर्यकी बात है। कठोपनिषद् (१/२/७) में भी ऐसा देखा जाता है—

'श्रवणयापि बहुभिर्यो न लभ्यः श्रृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विदुः।
आश्चर्योऽस्य वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा आश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः।।'

अर्थात्, अधिकांश लोगोंके लिए आत्म-तत्त्वका उपदेश श्रवण करना दुर्लभ होता है। उसे सुनकर भी बहुतसे श्रोता उसका अनुभव नहीं कर पाते, क्योंकि आत्म-तत्त्वविद् उपदेशक अत्यन्त दुर्लभ होते हैं। यदि सौभाग्यवश वैसा उपदेशक प्राप्त भी हो जाय, तो इस विषयके श्रोता अत्यन्त दुर्लभ हैं।

इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने कलिकालके जीवोंके लिए श्रीहरिनाम-संकीर्त्तन करनेका उपदेश दिया है। यहाँ तक कि श्रद्धाहीन व्यक्ति भी चलते-फिरते, उठते-बैठते, खाते-पीते, रोते-हँसते—जिस किसी प्रकारसे भी भगवन्नाम क्यों न ग्रहण करें, उनका कल्याण हो जाता है। वे क्रमशः शुद्ध भक्तोंका सङ्ग लाभकर भगवत्-प्रेम तक प्राप्त कर लेते हैं तथा गौणरूपमें आत्म-तत्त्वको भी सहज ही प्राप्त कर लेते हैं।

'मधुर-मधुरमेतन्मङ्गलं मङ्गलानां सकल निगमवल्ली सत्फलं चित्स्वरूपम्।
सकृदपि परिगीतं श्रद्धया हेलया वा भृगुवर नरमात्रं तारयेत् कृष्णनाम।।'

'साङ्केत्यं परिहास्यं वा स्तोभं हेलनमेव वा।
वैकुण्ठ नामग्रहणमशेषाघहरं विदुः।।'

(श्रीमद्भा. ६/२/१४) ।।२९।।

देही नित्यमवध्योऽयं देहे सर्वस्य भारत।
तस्मात् सर्वाणि भूतानि न त्वं शोचितुमर्हसि।।३०।।

अन्वय—भारत (हे भारत!) अयम् देही (यह आत्मा) सर्वस्य देहे (सभीके शरीरमें) नित्यम् (सदा ही) अवध्यः (अवध्य है) तस्मात् (अतः) त्वम् (तुम) सर्वाणि भूतानि (सभी जीवोंके लिए) शोचितुम् (शोक करनेके) न अर्हसि (योग्य नहीं हो)।।३०।।

अनुवाद—हे अर्जुन! शरीरधारी यह आत्मा सभी शरीरोंमें नित्य अवध्यरूपमें अवस्थित है, अतः जीवात्माके लिए तुम्हारा शोक करना उचित नहीं है।।३०।।

श्रीविश्वनाथ—तर्हि निश्चत्य ब्रूहि—किमहं कुर्यां किंवा न कुर्यामिति, तत्र शोकं मा कुरु, युद्धं तु कुर्वित्याह—देहीति द्वाभ्याम्।।३०।।

भावानुवाद—यदि कहो कि मैं क्या करूँ और क्या नहीं करूँ, आप इसे निश्चित कर बतावें, तो इसका उत्तर है—तुम शोकका परित्यागकर युद्ध करो। इसके लिए ही ये 'देही' इत्यादि दो श्लोक कहे जा रहे हैं।।३०।।

स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि।
धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते।।३१।।

अन्वय—स्वधर्ममपि च (और स्वधर्मकी भी) अवेक्ष्य (आलोचनाकर) त्वम् (तुम) विकम्पितुम् (विचलित होनेके) न अर्हसि (योग्य नहीं हो) हि (क्योंकि) क्षत्रियस्य (क्षत्रियका) धर्मात् युद्धात् (धर्मके लिए युद्ध करनेकी अपेक्षा) अन्यत् श्रेयः (अन्य मङ्गल कार्य) न विद्यते (नहीं है)।।३१।।

अनुवाद—दूसरी ओर स्वधर्मका विचार करनेपर भी तुम्हारा विचलित होना उचित नहीं हैं, क्योंकि धर्मके लिए युद्ध करनेकी अपेक्षा क्षत्रियके लिए अन्य कुछ भी मङ्गलप्रद कार्य नहीं है।।३१।।

श्रीविश्वनाथ—आत्मनो नाशाभावादेव वधाद्विकम्पितुं भेतुं नार्हसि, स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसीति सम्बन्धः।।३१।।

भावानुवाद—आत्माके अविनाशी होनेके कारण इसके वधकी आशंकासे तुम्हारा विचलित होना उचित नहीं है। स्वधर्मको भी लक्ष्य करनेपर भी तुम्हारा विचलित होना उचित नहीं है।।३१।।

यदृच्छया चोपपन्नं स्वर्गद्वारमपावृतम्।
सुखिनः क्षत्रियाः पार्थ लभन्ते युद्धमीदृशम्।।३२।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) सुखिनः क्षत्रियाः (भाग्यवान् क्षत्रियगण ही) यदृच्छया उत्पन्नम् (स्वतः प्राप्त) अपावृतम् स्वर्गद्वारम् च (एवं खुले हुए स्वर्गद्वारके समान) ईदृशम् युद्धम् (इस प्रकारके युद्धको) लभन्ते (प्राप्त करते हैं)।।३२।।

अनुवाद—हे पार्थ! भाग्यवान् क्षत्रियगण ही स्वर्गके खुले द्वारके समान ऐसे युद्धके अवसरको अनायास प्राप्त करते हैं।।३२।।

श्रीविश्वनाथ—किञ्च, जेतृभ्यः सकाशादपि न्याययुद्धे मृतानामधिकं सुखमतो भीष्मादीन् हत्वा तान् प्रत्युत स्वतोऽप्यधिकसुखिनः कुर्वित्याह—यदृच्छयेति। स्वर्गसाधनं कर्मयोगमकृत्वापीत्यर्थः। अपावृतमपगतावरणम्।।३२।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् कहते हैं—"न्याय युद्धमें विजेताके हाथसे मृत्यु प्राप्त करनेवालेको मारनेवालेसे भी अधिक सुख प्राप्त होता है। अतः भीष्मादिको अपनेसे भी अधिक सुख देनेके लिए तुम उनका वध करो।" उपरोक्त कथनकी पुष्टिके लिए ही श्रीभगवान् 'यदृच्छया' इत्यादि कह रहे हैं। 'यदृच्छया' का तात्पर्य है—कर्मयोग किए बिना स्वर्गको प्राप्त करना। 'अपावृतम्' का अर्थ है—आवरणमुक्त।।३२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुनने गीता (१/३६) में जो उक्ति की थी कि हे माधव! बन्धु-बान्धवोंकी हत्या करनेसे क्या सुख प्राप्त होगा? इसके उत्तरमें भगवान् अर्जुनको समझा रहे हैं कि क्षत्रियोंके लिए युद्ध करना स्वधर्म है, क्योंकि यह युद्ध स्वर्गका खुला हुआ द्वार है। यदि तुम इस युद्धमें जीत जाते हो, तो तुम्हें महान कीर्त्ति और राज्य-सुख

प्राप्त होगा। अथवा, युद्धमें मारे जानेपर स्वर्गकी प्राप्ति भी निश्चित है, क्योंकि यह तुम्हारा न्याय युद्ध है। यहाँ तक कि आततायी एवं अन्याय पक्षसे युद्ध करनेवाले योद्धा भी युद्धमें मरनेपर स्वर्ग प्राप्त करते हैं—

'आहवेषु मिथोऽन्योन्यं जिघांसन्तो महीक्षितः।
युद्धमानाः परं शक्त्या स्वर्गं यान्त्यपरान्मुखाः।।' (स्मृति)

इसलिए न्याय युद्धसे विमुख होना तुम्हारे लिए किसी प्रकारसे उचित नहीं है।।३२।।

अथ चेत्त्वमिमं धर्म्यं संग्रामं न करिष्यसि।
ततः स्वधर्मं कीर्त्तिञ्च हित्वा पापमवाप्स्यसि।।३३।।

अन्वय—अथ (दूसरी ओर) चेत् (यदि) त्वम् (तुम) इमम् (यह) धर्म्यम संग्रामम् (धर्मयुद्ध) न करिष्यसि (नहीं करोगे) ततः (तो) स्वधर्मम् कीर्त्तिम् च (स्वधर्म और कीर्त्ति हित्वा (खोकर) पापम् (पापको) अवाप्यसि (पाओगे)।।३३।।

अनुवाद—दूसरी ओर यदि तुम यह धर्मयुद्ध नहीं करोगे, तो स्वधर्म एवं कीर्त्तिको खोकर पापका अर्जन करोगे।।३३।।

श्रीविश्वनाथ—विपक्षे दोषानाह—अथेति चतुर्भिः।।३३।।

भावानुवाद—अब 'अथ' इत्यादि चार श्लोकोंके द्वारा श्रीभगवान् पक्षान्तरके दोषोंका वर्णन कर रहे हैं।।३३।।

अकीर्त्तिञ्चापि भूतानि कथयिष्यन्ति तेऽव्ययाम्।
सम्भावितस्य चाकीर्त्तिर्मरणादतिरिच्यते।।३४।।

अन्वय—भूतानि च (सभी लोग) ते (तुम्हारी) अव्ययाम् अकीर्त्तिम् अपि (शाश्वत अकीर्त्ति भी) कथयिष्यन्ति (कहेंगे) च (और) सम्भावितस्य (सम्मानित) जनस्य (व्यक्तिका) अकीर्त्ति (अपयश) मरणात् (मरनेकी अपेक्षा भी) अतिरिच्यते (अधिक होता है)।।३४।।

अनुवाद—सभी लोग सदैव तुम्हारी अक्षय अकीर्त्तिकी चर्चा करेंगे। सम्मानित व्यक्तिके लिए अपयश तो मरनेकी अपेक्षा भी अधिक कष्टदायक है।।३४।।

श्रीविश्वनाथ—अव्ययामनश्वराम। सम्भावितस्यातिप्रतिष्ठितस्य।।३४।।

भावानुवाद—यहाँ 'अव्ययम्' का अर्थ है—अनश्वर और 'सम्भावितस्य' का अर्थ है—अत्यन्त प्रतिष्ठित व्यक्तिका।।३४।।

भयाद्रणादुपरतं मंस्यन्ते त्वां महारथाः।
येषाञ्च त्वं बहुमतो भूत्वा यास्यसि लाघवम्।।३५।।

अन्वय—महारथाः (महारथ लोग) त्वाम् (तुम्हें) भयात् (भयके कारण) रणात् (युद्धसे) उपरतम् (भागा हुआ) मंस्यन्ते (मानेंगे) च (और) त्वम् (तुम) येषाम् (जिनके निकट) बहुमतः (बहु सम्मानित) भूत्वा (होकर) [अभी युद्धसे विरत हो रहे हो] तेषाम् (उनके निकट) सः त्वम् (वही तुम) लाघवम् यास्यसि (तुच्छता प्राप्त करोगे)।।३५।।

अनुवाद—दुर्योधनादि महारथी तुम्हें भययुक्त होकर युद्धसे पलायन करनेवाला समझेंगे। अतः जिनके निकट तुम इतने दिनोंतक बहुसम्मानित हुए हो, वे ही तुम्हें तुच्छ समझेंगे।।३५।।

श्रीविश्वनाथ—येषां त्वं बहुमतोऽस्मच्छत्रुरर्जुनस्तु महाशूर इति बहुसम्मानविषयो भूत्वा सम्प्रति युद्धादुपरमे सति लाघवं यास्यसि, ते दुर्योधनादयो महारथास्त्वां भयादेव रणादुपरतं मंस्यन्त इत्यन्वयः। क्षत्रियाणां हि भयं विना युद्धोपरतिहेतुर्वन्धुस्नेहादिको नोपपद्यत् इति मत्वेति भावः।।३५।।

भावानुवाद—हमारा शत्रु अर्जुन महाशूर (महापराक्रमी) है—ऐसे सम्मानका पात्र होकर अब यदि तुम युद्धसे विमुख होओगे, तो तुम तुच्छताको प्राप्त करोगे। दुर्योधनादि महारथी तुम्हें भयके कारण ही युद्धक्षेत्रसे भागा हुआ समझेंगे। क्षत्रियोंके लिए बिना युद्धके ही युद्धसे विमुख होना बन्धु-बान्धवोंके स्नेहके कारण नहीं, अपितु भयके कारण होता है—वे ऐसा ही समझेंगे।।३५।।

अवाच्यवादांश्च बहून् वदिष्यन्ति तवाहिताः।
निन्दन्तस्तव सामर्थ्यं ततो दुःखतरं नु किम्।।३६।।

अन्वय—तव (तुम्हारे) अहिताः (शत्रुलोग) तव सामर्थ्यम् (तुम्हारी सामर्थ्यकी) निन्दतः (निन्दा करते हुए) बहून् (विविध) अवाच्यवादान् च (न कहने योग्य वचनोंको) वदिष्यन्ति (बोलेंगे) नु (हे) ततः (उसकी अपेक्षा) दुःखतरम् (अधिक दुःखका विषय) किम् (क्या है)।।३६।।

अनुवाद—तुम्हारे शत्रुलोग तुम्हारी सामर्थ्यकी निन्दा करते हुए अनेक न कहने योग्य बातोंको कहेंगे। हे अर्जुन! इससे अधिक दुःखका विषय और क्या हो सकता है?।।३६।।

श्रीविश्वनाथ—अवाच्यवादान्, क्लीव इत्यादि-कटूक्तिः।।३६।।

भावानुवाद—'अवाच्यवादान्' से 'क्लीव' (नपुंसक) इत्यादि कटु शब्दोंका बोध होता है।।३६।।

हतो वा प्राप्स्यसि स्वर्गं जित्वा वा भोक्ष्यसे महीम्।
तस्मादुत्तिष्ठ कौन्तेय युद्धाय कृतनिश्चयः।।३७।।

अन्वय—हतः वा (या तो मारे जानेपर) स्वर्गम् प्राप्स्यसि (स्वर्ग प्राप्त करोगे) जित्वा वा (या जीतने पर) महीम् भोक्ष्यसे (पृथ्वीका भोग करोगे) कौन्तेय (हे कुन्तीनन्दन अर्जुन!) तस्मात् (अतः) युद्धाय (युद्धके लिए) कृतनिश्चयः (कृतसङ्कल्प होकर) उत्तिष्ठ (उठो)।।३७।।

अनुवाद—हे कुन्तीनन्दन! युद्धमें मारे जानेपर तुम स्वर्ग प्राप्त करोगे या जीतनेपर पृथ्वीका भोग करोगे। अतः कृतसङ्कल्प होकर युद्धके लिए खड़े हो जाओ।।३७।।

श्रीविश्वनाथ—ननु युद्धे मम जय एव भावीत्यपि नास्ति निश्चयः, ततश्च कथं युद्धे प्रवर्त्तितव्यमित्यत आह—हत इति।।३७।।

भावानुवाद—यदि अर्जुनके मनमें यह प्रश्न हो कि युद्धमें हमारी जीत ही होगी, यह तो निश्चित नहीं है, अतः मैं युद्धमें किस प्रकार प्रवृत्त होऊँ, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् 'हत' इत्यादि कह रहे हैं।।३७।।

सुखदुःखे समे कृत्वा लाभालाभौ जयाजयौ।
ततो युद्धाय युज्यस्व नैवं पापमवाप्स्यसि।।३८।।

अन्वय—ततः (ऐसा होनेपर) सुखदुःखे (सुख-दुःख) लाभालाभौ (लाभ और हानि) जयाजयौ च (एवं जय तथा पराजयको) समे कृत्वा (समान समझकर) युद्धाय (युद्धके लिए) युज्यस्व (तैयार हो जाओ) एवं (इस प्रकार) पापम् न अवाप्स्यसि (पापका भागी नहीं होओगे)।।३८।।

अनुवाद—सुख-दुःख, लाभ-हानि एवं जय-पराजयको समान जानते हुए तुम युद्धके लिए तत्पर होओ। इस प्रकार तुम्हें पाप नहीं लगेगा।।३८।।

श्रीविश्वनाथ—तस्मात्तव सर्वथा युद्धमेव धर्मस्तदपि यदीमं पापकारणमाशङ्कसे, तर्हि मत्तः पापानुत्पत्तिप्रकारं शिक्षित्वा युद्धस्वेत्याह—सुखदुःखे समे कृत्वा तद्धेतु लाभालाभो राज्यलाभ-राज्यच्युतो अपि, तद्धेतु जयाजयावपि समौ कृत्वा विवेकेन तुल्यौ विभाव्येत्यर्थः। ततश्चैवम्भूतसाम्यलक्षणे ज्ञानवतस्तव पापं नैव भवेत्; यद्वक्ष्यते—"*लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा*" इति।।३८।।

भावानुवाद—श्रीकृष्ण कहते हैं—हे अर्जुन! युद्ध करना ही तुम्हारा धर्म है। यदि तुम्हें इसमें पाप होनेकी आशंका है, तो मुझसे ऐसी शिक्षा ग्रहण करते हुए युद्ध करो जिससे पाप नहीं होगा। जय और पराजयके कारण क्रमशः राज्य-लाभ और राज्य-हानि होगी; राज्य-लाभ और राज्य-हानिके कारण क्रमशः सुख तथा दुःख होंगे। अतः हे अर्जुन! विवेक द्वारा विवेचना करते हुए इन सबको समान जानकर तुम युद्ध करो। इस प्रकार साम्य-लक्षणके विषयमें ज्ञानवान् होनेसे तुम्हें पाप नहीं लगेगा, जिसे कि बादमें भी इस प्रकार बताया गया है—*'लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा'* (गीता ५/९)। अर्थात्, जिस प्रकार कमलपत्र जलमें रहने पर भी जलसे भींगता नहीं है, उसी प्रकार तुम्हें भी पाप नहीं लगेगा।।३८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इनका वध करनेसे मुझे पाप लगेगा (गीता १/३६)—अर्जुनके इस तर्कको निराधार साबित करते हुए श्रीभगवान् उपर्युक्त श्लोककी अवतारणा कर रहे हैं। श्रीकृष्ण कह रहे हैं—अपने सुख-दुःखके लिए आसक्तिसहित युद्ध करनेपर उस युद्धमें स्वजन-कुटुम्बियोंका वध करनेपर पाप होनेकी सम्भावना रहती है। मैं तुम्हें पापसे छुटकारा पानेका उपाय बता रहा हूँ। सुख-दुःख, लाभ-हानि और जय-पराजयको समान समझकर मेरे निर्देशानुसार स्वधर्म पालन करनेके लिए युद्ध करनेसे तुम्हें पापका स्पर्श नहीं होगा। कर्मोंके फलमें आसक्ति रहनेसे ही कर्मबन्धन या पाप होता है। अतः कर्ममें आसक्ति छोड़ना अत्यन्त आवश्यक है। गीतामें भी दृढ़ताके लिए इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है—

'ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रभिवाम्भसा।।'

(गीता ५/९) ।।३८।।

एषा तेऽभिहिता सांख्ये बुद्धिर्योगे त्विमां शृणु।
बुद्ध्या युक्तो यया पार्थ कर्मबन्धं प्रहास्यसि।।३९।।

अन्वय—पार्थ (हे अर्जुन!) सांख्ये (सम्यक् ज्ञानके विषयमें) ते (तुम्हें) एषा बुद्धिः (यह ज्ञान) अभिहिता (कहा गया) तु (किन्तु) योगे (भक्तियोगमें) इमाम् शृणु (इसे सुनो) यया बुद्ध्या (जिस बुद्धि द्वारा) युक्तः (युक्त होकर) कर्मबन्धम् (संसारसे) प्रहास्यसि (मुक्त हो जाओगे)।।३९।।

अनुवाद—हे पार्थ! अब तक मैंने तुम्हें सांख्ययोगकी बातें कहीं, किन्तु अब तुम्हें भक्तियोगसे सम्बन्धित ज्ञान दे रहा हूँ, जिस बुद्धि (ज्ञान) को प्राप्त करनेपर तुम संसारसे मुक्त हो जाओगे।।३९।।

श्रीविश्वनाथ—उपदिष्टं ज्ञानयोगमुपसंहरति—एषेति। सम्यक् ख्यायते प्रकाश्यते वस्तुतत्त्वमनेनेति सांख्यं सम्यक्ज्ञानम्; तस्मिन् करणीया बुद्धिरेषा कथिता। अधुना योगे भक्तियोगे इमां वक्ष्यमाणां बुद्धिं करणीयां शृणु:, यया भक्तिविषयिण्या बुद्ध्या युक्तः सहितः कर्मबन्धं संसारम्।।३९।।

भावानुवाद—भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"अब तक मैंने जिस ज्ञानयोगका उपदेश दिया, 'एषा' इत्यादिके द्वारा मैं उस ज्ञानयोगका उपसंहार कर रहा हूँ। जिसके द्वारा किसी वस्तुका तत्त्व भलीभाँति प्रकाशित होता है, उसे सांख्य या सम्यक् ज्ञान कहते हैं। इसके द्वारा करणीय बुद्धिके बारेमें बताया जा रहा है, तुम उसे श्रवण करो। 'यया' अर्थात् जिस भक्ति सम्बन्धित बुद्धिसे युक्त होनेपर तुम इस संसारसे मुक्त हो जाओगे।।"३९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ श्रीकृष्ण सांख्ययोगका उपसंहार एवं बुद्धियोग अर्थात् भक्तियोगका आरम्भ कर रहे हैं। श्रील चक्रवर्ती ठाकुरने सांख्ययोगकी परिभाषा देते हुए कहा है—*'सम्यक् ख्यायते प्रकाश्यते वस्तुतत्त्वमनेनेति सांख्यं सम्यक् ज्ञानम्'* अर्थात् जिसके द्वारा वस्तु-तत्त्वका भलीभाँति प्रकाश होता है, उसे सांख्ययोग कहते हैं। सांख्ययोगमें आत्म-तत्त्व और अनात्म-तत्त्वका सम्यक्रूपसे ज्ञान होता है। *'न त्वेवाहं'* (गीता २/१२) से लेकर *'देही नित्यम्'* (गीता २/३०) श्लोक तकमें आत्म-तत्त्वके विविध पहलुओंका वर्णन किया गया है तथा *'स्वधर्ममपि चावेक्ष्य'* (गीता २/३१) से *'सुखदुःखे'* (गीता २/३८) तक अनात्म-तत्त्वका स्वधर्मके रूपमें वर्णन किया गया है। भक्ति-सम्बन्धी बुद्धियोगमें निष्काम कर्मका अनुष्ठान करनेसे कर्मबन्धन अर्थात् मायिक संसार-बन्धन विनष्ट हो जाता है। ईशोपनिषदमें भी इस सिद्धान्तकी पुष्टि होती है—

'ईशावास्यमिदं सर्वं यत्किञ्च जगत्यां जगत्।
तेन त्यक्तेन भुञ्जीथा मा गृधः कस्य स्विद्धनम्।।
कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतं समाः।
एवं त्वयि नान्यथेतोऽस्ति न कर्म लिप्यते नरे।।'

(ई. उ. १-२)

अर्थात्, यह चराचर सम्पूर्ण विश्व परमेश्वरका व्याप्य अथवा भोग्य है। दूसरे शब्दोंमें यह चर-अचर सम्पूर्ण जगत् एकमात्र परमेश्वरके द्वारा ही भोग्य है एवं एकमात्र परमेश्वर ही इसके भोक्ता हैं। जीव भगवान्के सेवक हैं। ये जीव इन जगत्-रूप उपादानोंसे अपने प्रभु उन परमेश्वरकी

सेवामें नियुक्त होकर उनके उच्छिष्टको ग्रहणकर अपने जीवनका निर्वाह करेंगे। भगवत्सम्पत्तिको भोग्यरूपमें ग्रहण करनेकी लालसा न रखकर प्रीतिपूर्वक उस सम्पत्तिके द्वारा प्रभुकी सेवा ही जीवोंका परम कर्त्तव्य है। इस प्रकार कर्म करनेसे जीवोंका कर्मबन्धन नहीं होता।।३९।।

नेहाभिक्रमनाशोऽस्ति प्रत्यवायो न विद्यते।
स्वल्पमप्यस्य धर्मस्य त्रायते महतो भयात्।।४०।।

अन्वय—इह (इस भक्तियोगमें) अभिक्रमनाशः (प्रयत्नका नाश) न अस्ति (नहीं है) प्रत्यवायः न विद्यते (दोष भी नहीं है) अस्य धर्मस्य (इस धर्मका) स्वल्पम् अपि (थोड़ा भी) (पालन) महतः भयात् (संसाररूप महाभयसे) त्रायते (उद्धार करता है)।।४०।।

अनुवाद—इस भक्तियोगमें किया गया प्रयास न तो विफल होता है और न ही इससे कोई दोष होता है। इस अनुष्ठान (धर्म) का थोड़ा-सा भी पालन संसाररूप महान भयसे मुक्त कर देता है।।४०।।

श्रीविश्वनाथ—अत्र योगो द्विविधः—श्रवणकीर्त्तनादिभक्तिरूपः, श्रीभगवदर्पित-निष्कामकर्मरूपश्च। तत्र *'कर्मण्येवाधिकारः'* इत्यतः प्राग्भक्तियोग एव निरूप्यते; *"निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन"* इत्युक्तेर्भक्तेरेव त्रिगुणातीतत्वात् तयैव पुरुषो निस्त्रैगुण्या भवतीत्येकादशस्कन्धे प्रसिद्धेः; ज्ञान कर्मणोस्तु सात्त्विकत्व-राजसत्वाभ्यां निस्त्रैगुण्यत्वानुपपत्तेर्भगवदर्पितलक्षणा भक्तिस्तु कर्मणो वैफल्याभावमात्रं प्रतिपादयति, न तु स्वस्य भक्तिव्यपदेशं प्राधान्याभावादेव। यदि च भगवदर्पितं कर्मापि भक्तिरेवेति मतं तदा कर्म किं स्यात्? यद्भगवदनर्पितं कर्म, तदेव कर्मेति चेन्न, *"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाव-वर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्। कुतः पुनः शश्वदभद्रमीश्वरे न चार्पितं कर्म यदप्यकारणम्॥"* इति नारदोक्त्या तस्य वैयर्थ्यप्रतिपादनात्। तस्मादत्र भगवच्चरणमाधुर्यप्राप्तिसाधनीभूता केवलश्रवणकीर्त्तनादिलक्षणैवभक्तिनिरूप्यते, यथा निष्कामकर्मयोगोऽपि निरूपयितव्यः। उभावप्येतौ बुद्धियोग-शब्दवाच्यौ ज्ञेयौ—"*ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते*" इति, "*दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जयः*" इति चोक्तेः। अथ निर्गुणश्रवणकीर्त्तनादि-भक्तियोगस्य माहात्म्यमाह—नेहेति। इह भक्तियोगेऽभिक्रमे आरम्भमात्रे कृतेऽप्यस्य भक्तियोगस्य नाशो नास्ति, ततः प्रत्यवायश्च न स्यात्। यथा कर्मयोगे आरम्भं कृत्वा कर्माननुष्ठितवतः कर्मनाशप्रत्यवायौ स्यातामिति भावः। ननु तर्हि तस्य भक्त्यनुष्ठातुः कामस्य समुचितभक्त्यकरणात् भक्तिफलं तु नैव स्यात्, तत्राह—स्वल्पमिति। अस्य धर्मस्य स्वल्पमप्यारम्भसमये या किञ्चन्मात्री भक्तिरभूत् सापीत्यर्थः, महतो भयात् संसारात् त्रायत एव।

"*यन्नामसकृच्छ्रवणात्, पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात्*" इत्यादि श्रवणात्, अजामिलादौ तथा दर्शनाच्च। "*न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि। मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः॥*" इति भगवतो वाक्येन सह अस्य वाक्यस्यैकार्थमेव दृश्यते। किन्तु तत्र निर्गुणत्वान्न हि गुणातीतं वस्तु कदाचित् ध्वस्तं भवतीति हेतुरुपन्यस्तः, स चेहापि द्रष्टव्यः। न च निष्कामकर्मणोऽपि भगवदर्पणमहिम्ना निर्गुणत्वमेवेति वाच्यम्, "*मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्*" इति। वाक्येन तस्य सात्त्विकत्वोक्तेः।।४०।।

भावानुवाद—हे अर्जुन! योग (बुद्धियोग) दो प्रकारका है—प्रथम श्रवणकीर्त्तनादिरूप भक्तियोग और दूसरा भगवान्‌को अर्पित निष्काम कर्मयोग। श्रीगीता (२/४७) में भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं—"हे अर्जुन! कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है।" अभी कर्मयोगसे पहले भक्तियोग निरूपित हो रहा है। गीता (२/४५) में कहा गया है—"हे अर्जुन! तुम त्रिगुणातीत होओ।" इस उक्तिमें भक्तिको ही त्रिगुणातीत बताया गया है एवं भक्तिके द्वारा ही व्यक्ति तीनों गुणोंसे परे हो सकता है। श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें भी यह बात प्रसिद्ध है। किन्तु, ज्ञान और कर्मके सात्त्विक और राजसिक होनेके कारण इनका गुणातीत होना सिद्ध नहीं है। किन्तु, भगवदर्पित लक्षणवाली भक्ति केवल कर्मकी विफलता प्रतिपादित करती है, अपनी (भक्तिकी) प्रधानताके अभावके कारण भक्तिका नाम प्रतिपादित नहीं करती।

यदि भगवान्‌के लिए अर्पित कर्मको भी भक्ति मान लिया जाय, तो फिर कर्म किसे कहेंगे? यदि कहो कि जो कर्म भगवान्‌को अर्पित नहीं किया जाता है—उसीको कर्म कहेंगे, तो ऐसा भी नहीं कहा जा सकता है। क्योंकि, श्रीमद्भागवत (१/५/१२) में कहते हैं—"ब्रह्म निष्कर्म होता है, उसके साथ एकाकार होनेके कारण निष्कर्मताके भावको ही 'नैष्कर्म्य' कहते हैं। जब भगवद्भक्तिशून्य निष्काम और निर्दोष ब्रह्मज्ञान भी अशोभनीय ही है, तब साधन और साध्य—दोनों ही अवस्थाओंमें दुःख देनेवाले सकाम कर्म और निष्काम कर्म यदि भगवान्‌को समर्पित न हों, तो भला वे किस प्रकार शोभनीय होंगे?" श्रीनारद मुनिके उपरोक्त कथनके अनुसार भगवत्-अनर्पित कर्म व्यर्थ ही हैं। अतएव यहाँ श्रीभगवान्‌के चरणकमलोंकी मधुरिमाको प्राप्त करनेके लिए साधनके रूपमें केवल श्रवण-कीर्त्तन लक्षणस्वरूपा भक्तिको ही स्वीकार किया जा रहा है। वैसे, भगवान्‌को अर्पित निष्काम कर्मयोग भी विचारके योग्य है। दोनों ही प्रकारके योगों (भक्तियोग और निष्कामकर्मयोग) को 'बुद्धियोग' के नामसे समझना

चाहिए। श्रीगीता (१०/१०) में भी इसका प्रमाण है, जैसे—'मैं उस बुद्धियोगको प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त करते हैं।" एवं "हे धनञ्जय! सकाम कर्म बुद्धियोगकी अपेक्षा अत्यन्त ही तुच्छ हैं।' (गीता २/४९)

अब 'नेह' इत्यादिके द्वारा श्रवण कीर्त्तनरूप निर्गुण भक्तिका माहात्म्य बता रहे हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—"इस भक्तियोगके आरम्भमात्र करनेसे भी इसका नाश नहीं होता है, अतः नष्ट होनेका कोई दोष भी नहीं होता है। इसके विपरीत कर्मयोगके अनुष्ठानका आरम्भ करनेपर यदि वह अनुष्ठान पूर्ण न हो, तो किए गए कर्मका नाश हो जाता है और दोष भी लगता है।" यदि जिज्ञासा हो कि भक्तिके अनुष्ठानको करनेकी इच्छा करनेपर यदि कोई समुचित भक्ति न कर सके, तो क्या उसे भक्तिका फल प्राप्त नहीं होगा, तो इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण 'स्वल्पं' इत्यादि कह रहे हैं अर्थात् इस धर्मके आरम्भमें थोड़ी-सी भी की गई भक्ति नष्ट नहीं होगी और वह उसे इस संसारसे पार कर देगी। अजामिल आदिके चरित्र इसके प्रमाण हैं। श्रीमद्भागवत (६/१६/४४) में भी कहा गया है—"एक बार भगवान्का नाम श्रवण करनेसे चाण्डाल भी महान भयरूप संसारसे मुक्त हो जाता है।" और भी, "हे उद्धव! चूँकि मेरे द्वारा इस धर्मका निर्गुणत्व यथार्थरूपमें निर्णीत हुआ है, अतः त्रुटि आदिके द्वारा मेरे श्रवण कीर्त्तनरूप शुद्धा भक्तिके लिए किए गए इस निष्काम धर्मके अनुष्ठानके अंशमात्र भी नष्ट होनेकी सम्भावना नहीं है।" (श्रीमद्भा. ११/२९/२०)

श्रीगीता एवं भागवतके इन वाक्योंका एक ही तात्पर्य प्रतीत हो रहा है। किन्तु, श्रीमद्भागवतके उपरोक्त कथनमें एक विशेष बात बताई गई है, वह यह कि निर्गुण होनेके कारण गुणातीत वस्तुका कभी भी नाश नहीं होता है। इस प्रसंगमें यही विचारणीय है। यदि प्रश्न हो कि निष्काम कर्मयोग भी भगवत्-अर्पित होनेके कारण भगवद्महिमासे निर्गुण हो सकता है, तो ऐसा नहीं है। श्रीमद्भागवतमें इसका प्रमाण है, यथा—फलाकांक्षारहित जो नित्य-नैमित्तिक कर्म मुझे अर्पित किए जाते हैं, वे सात्त्विक होते है अर्थात् वे त्रिगुणातीत नहीं होते हैं। (श्रीमद्भा. ११/२५/२३) ।।४०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ बुद्धियोगको दो प्रकारका बताया गया है—पहला श्रवण-कीर्त्तनादिरूप भक्तियोग एवं दूसरा भगवदर्पित निष्काम कर्मयोग। इनमें से पहला मुख्य भक्तियोग है तथा दूसरा गौण भक्तियोग है। यथार्थमें भक्तियोग सर्वथा निर्गुण होता है। इसका आरम्भमात्र करनेसे

अथवा आरम्भ करनेके बाद यदि किसी कारणसे यह योग अधूरा भी रह जाय तब भी इसमें न तो कोई त्रुटि होती है और न ही कोई दोष होता है, बल्कि इसका स्वल्प अनुष्ठान भी कर्त्ताको भयानक संसारसे पारकर श्रीभगवान्‌की सेवा देकर उसे कृतार्थ कर देता है। जैसे महाराज भरत एक हिरणके प्रति आसक्त हो गए और उस जन्ममें अपनी भक्तिको पूर्ण न कर सके। दूसरे जन्ममें हिरणका जन्म पानेपर भी पूर्व जन्मके भक्ति-अनुष्ठानके प्रभावसे उन्हें शुद्ध भगवद्भक्तोंका संग मिला। तीसरे जन्ममें उत्तम भागवत बनकर उन्होंने विशुद्ध रूपमें भगवान्‌की सेवा की। इसलिए भगवान्‌ने कहा है—*'पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते'* (गीता ६/४०) अर्थात् भक्तियोगसे भ्रष्ट व्यक्तिका लोक या परलोकमें कहीं भी विनाश नहीं है एवं उसकी कहीं दुर्गति भी नहीं है।

किन्तु, दूसरी ओर भगवदर्पित निष्काम कर्मयोगमें निष्काम कर्मोंको भगवान्‌को अर्पित किए जाने पर भी, उसे कर्मयोग ही कहते हैं, भक्तियोग नहीं कहते हैं। उसके द्वारा पहले चित्तशुद्धि होती है ओर अन्तमें भक्तियोगकी प्राप्ति होती है। इसलिए वह कर्मयोग बहुत दूरसे भक्तियोगको लक्ष्य करता है। अतः यह कर्मयोग शुद्ध भक्तियोगकी भाँति निर्गुण नहीं है, बल्कि उसे सात्त्विक कर्म कहते हैं। इसके अतिरिक्त उस कर्मका उपयुक्त रूपमें अनुष्ठान न हो या बीचमें ही उसे छोड़ दिया जाय, तो उसके नाश होनेकी एवं दोष होनेकी सम्भावना होती है। जैसे—

'मदर्पणं निष्फलं वा सात्विकं निजकर्म तत्"

(श्रीमद्भा. ११/२५/२३)

यदि कोई साधक भक्तियोगका अल्पमात्रामें भी अनुष्ठान किया, किन्तु आरम्भ या बीचमें ही अपनी असमर्थता आदिके कारण इसका त्याग कर दिया अथवा बीचमें ही अचानक मृत्यु हो जानेके कारण अनुष्ठान पूर्ण न हो सका, तो भक्तिका यह आरम्भिक कार्य व्यर्थ नहीं जाता। अथवा, भक्तियोगके अनुष्ठानके पूर्ण न होनेपर भी उसे प्रत्यवाय अथवा पाप नहीं लगता। जहाँ भक्तियोग रुद्ध हो गया था, अगले जन्ममें साधक वहींसे उसे पुनः प्रारम्भ करता है। भक्तियोगके अधिष्ठाता श्रीकृष्ण अथवा स्वयं भक्तिदेवी ही इसकी व्यवस्था करती हैं। इसमें एक विशेष ज्ञातव्य बात यह है कि श्रद्धालु होते हुए भी अनभिज्ञताके कारण कुछ त्रुटियाँ होनेपर भी भक्तियोगकी हानि नहीं होती और न ही साधकको इसका पाप लगता है, किन्तु गुरु-वैष्णव एवं तदीय वस्तुओंके प्रति अपराध होनेपर भक्तियोग नष्ट हो सकता है।।४०।।

व्यवसायात्मिका बुद्धिरेकेह कुरुनन्दन।
बहुशाखा ह्यनन्ताश्च बुद्धयोऽव्यवसायिनाम्।।४१।।

अन्वय—कुरुनन्दन (हे कुरुनन्दन!) इह (इस भक्तिमार्गमें) व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धिः (बुद्धि) एका (एकनिष्ठा होती है) हि (किन्तु) अव्यवसायिनाम् (भक्तिबहिर्मुख लोगोंकी) बुद्धयः (बुद्धियाँ) अनन्ताः बहुशाखाः च (अनन्त एवं बहुशाखायुक्त होती हैं)।।४१।।

अनुवाद—हे कुरुनन्दन! इस भक्तिमार्गमें जो निश्चयात्मिका बुद्धि है, वह एकनिष्ठा होती है, किन्तु भक्तिबहिर्मुख व्यक्तियोंकी बुद्धियाँ अनन्त और अनेक शाखाओंवाली होती हैं।।४१।।

श्रीविश्वनाथ—किञ्च, सर्वाभ्योऽपि बुद्धिभ्यो भक्तियोगविषयिण्येव बुद्धिरुत्कृष्टेत्याह—व्यवसायेति। इह भक्तियोगे व्यवसायात्मिका बुद्धरेकैव। मम श्रीमद्गुरूपदिष्टं भगवत्कीर्त्तनस्मरणचरणपरिचरणादिकमेतदेव मम साधनमेतदेव ममसाध्यमेतदेव मम जीवातुः साधन-साध्यदशयोस्त्यक्तुमशक्यमेतदेव मे काम्यमेतदेव मे कार्यमेतदन्यत् न मे कार्यं नाप्यभिलषणीयं स्वप्नेऽपीत्यत्रसुखमस्तु दुःखं वास्तु, संसारो नश्यतु, वा न नश्यतु, तत्र मम कापि न क्षतिरित्येवं निश्चयात्मिका बुद्धिरकैतव-भक्तावेव सम्भवेत्, यदुक्तमम्—"*ततो भजेत मां भक्त्या श्रद्धालुर्दृढनिश्चयः*" इति। ततोऽन्यत्र नैव बुद्धिरेकेत्याह—बह्विति बहवः शाखा यासां ताः। तथा हि कर्मयोगे कामानामानन्त्याद् बुद्धयोऽनन्ताः, तत्साधनानां कर्मणामानन्त्यात् तच्छाखा अप्यनन्ताः। तथैव ज्ञानयोगे प्रथममन्तःकरणशुद्ध्यर्थं निष्कामकर्मणि बुद्धिस्ततस्तस्मिन् शुद्धे सति कर्मसंन्यासे बुद्धिः, तदा ज्ञाने बुद्धिः, ज्ञानवैफल्याभावार्थं भक्तौ बुद्धिः—'*ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्*' इति भगवदुक्ते-र्ज्ञानसंन्यासे च बुद्धिरिति बुद्धयोऽनन्ताः। कर्मज्ञानभक्तीनामवश्यानुष्ठेयत्वात् तत्तच्छाखा अप्यनन्ताः।।४१।।

भावानुवाद—अन्य सभी प्रकारकी बुद्धियोंकी अपेक्षा वह बुद्धि उत्कृष्ट है, जिसका विषय भक्तियोग है। इसके लिए भगवान् श्रीकृष्ण 'व्यवसाय' इत्यादि कह रहे हैं। इस भक्तियोगमें व्यवसायात्मिका (निश्चयात्मिका) बुद्धि एक ही है। उस बुद्धिके लक्षणको निरूपित करते हुए कहते हैं—'मेरे गुरुदेवने श्रीभगवान्के श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, चरण परिचर्या आदिका जो उपदेश दिया है, यही मेरा साधन है, यही मेरा साध्य है एवं यही मेरा जीवन है। साधन और साध्य—दोनों ही अवस्थाओंमें मैं इसे छोड़नेमें

असमर्थ हूँ। यही मेरी कामना है एवं यही मेरा कार्य है। इसके अतिरिक्त स्वप्नमें भी मेरी कोई दूसरी अभिलाषा एवं कार्य नहीं है। इससे मुझे सुख हो या दुःख हो, मेरा संसार नाश हो जाय अथवा नहीं हो—उससे मेरी कोई हानि नहीं है। इस प्रकारकी निश्चयात्मिका बुद्धि निष्कपट शुद्ध भक्तिमें ही सम्भव है। श्रीमद्भागवत (११/२०/२८) में कहा गया है—*'ततो भजेत मां भक्त्या श्रद्धालुर्दृढ़निश्चयः'* अर्थात् उसके बाद श्रद्धालु व्यक्ति दृढ़निश्चयी होकर भक्तिपूर्वक मेरा भजन करेंगे। भक्तिके अतिरिक्त अन्य कहीं भी बुद्धि अनन्या नहीं हो सकती—इसके लिए श्रीकृष्ण 'बहु' इत्यादि कह रहे हैं। जिसकी अनेक शाखाएँ होती हैं—उसे बहुशाखा कहते हैं। कर्मयोगमें अनन्त प्रकारकी कामनाएँ होनेके कारण उसमें बुद्धि भी अनन्त प्रकारकी होती हैं। कर्मयोगमें अनन्त प्रकारके साधन होनेके कारण उसकी शाखाएँ भी अनन्त प्रकारकी होती हैं। इसी प्रकार ज्ञानयोगमें सर्वप्रथम अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए निष्काम-कर्ममें बुद्धि होती है। अन्तःकरणकी शुद्धि होनेके पश्चात् कर्मसंन्यासमें बुद्धि होती है और कर्मसंन्यासके बाद ज्ञानमें बुद्धि होती है। ज्ञानकी विफलता और अभावके कारण भक्तिमें बुद्धि होती है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—*'ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्'* अर्थात् ज्ञान भी मुझे ही अर्पित करेंगे। श्रीभगवान्के उपरोक्त वचनानुसार ज्ञानके संन्यासमें भी बुद्धि होती है। अतएव बुद्धि अनन्त प्रकारकी होती है। कर्म, ज्ञान तथा भक्ति अवश्य अनुष्ठेय होनेके कारण उनकी शाखाएँ भी अनन्त हैं।।४१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—कर्म, ज्ञान एवं भक्ति—इन त्रिविध बुद्धियोगमें विशुद्ध भक्तियोग विषयिणी बुद्धि ही सर्वोत्कृष्ट है। मुख्य भक्तियोगका लक्ष्य वस्तु एकमात्र ब्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण हैं। इसलिए केवल भगवत्-सम्बन्धिनी बुद्धि ही ऐकान्तिकी अथवा अनन्या कहलाती है। ऐसी ऐकान्तिकी भक्तिके अनुष्ठाता साधकभक्त भोग और मोक्षकी अभिलाषासे रहित तथा निष्कपट होते हैं। इनकी बुद्धि भी निश्चयात्मिका होती है। "वे सोचते हैं कि भजनमें कोटि-कोटि विघ्न उपस्थित होवें तो हो, प्राण जाए तो जाए, अपराधके कारण नरकमें भी जाना पड़े तो कोई बात नहीं, काम अङ्गीकार करे जो कुछ भी हो, परन्तु मैं भक्तिका त्याग नहीं कर सकता। यदि स्वयं ब्रह्मा भी आदेश दें, तो भी ज्ञान और कर्मको अङ्गीकार नहीं करूँगा। मैं किसी भी परिस्थितिमें भक्तिका परित्याग नहीं कर सकता। ऐसी दृढ़ताका ही नाम निश्चयात्मिका बुद्धि है।"—श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर। (श्रीमद्भा. ११/२०/२८)

भगवान्में ऐसी एकनिष्ठता नहीं रहनेपर ही लोगोंकी कर्मयोग और ज्ञानयोग-सम्बन्धिनी बुद्धि होती है। ऐसी बुद्धिके लौकिक-पारलौकिक सुख, लाभ-पूजा-प्रतिष्ठा आदि अनेक विषय होनेके कारण वह विविध शाखामयी बुद्धि कहलाती है एवं वह अनन्त कामनाओंसे युक्त होती है।

वैष्णव आचार्योंके अनुसार अद्वयज्ञान-परतत्त्व-वस्तु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण हैं। वे युगपत् (एक-ही-साथ) सात्त्विक-राजसिक-तामसिक समस्त मायिक गुणोंसे अतीत एवं ऐश्वर्य-माधुर्य-दया-भक्तवात्सल्यादि समस्त अप्राकृत गुणोंसे युक्त होनेके कारण निर्गुण कहलाते हैं। किन्तु अर्वाचीन, तत्त्वज्ञानहीन एवं मायाच्छादित बुद्धिवाले लोग निर्विकार, निर्विशेष, निरञ्जनादि मानकर ब्रह्मको निर्गुण मानते हैं एवं भगवान्के लीलावतारोंको मायाच्छन्न ब्रह्म समझकर उनके भगवत्स्वरूप एवं दयादि गुणोंको अपने समान ही मायिक जानते हैं। वे कहते हैं कि इस सगुण (मायिक गुणोंसे युक्त) ब्रह्मकी उपासना द्वारा क्रमशः चित्तकी शुद्धि होनेपर हम निर्गुण ब्रह्मके साथ एकीभूत हो जाएँगे। इन लोगोंके द्वारा इस प्रकारके सिद्धान्तका प्रतिपादन करना आकाशमें मुक्का मारनेके समान व्यर्थ है, क्योंकि गीतादि शास्त्रोंने सर्वत्र ही भगवान्के अप्राकृत रूप-गुणोंका वर्णन करते हुए इस कुत्सित विचारका खण्डन किया है। अतः समस्त अप्राकृत गुणोंसे युक्त निर्गुण ब्रह्मके प्रति शुद्धा भक्ति ही निर्गुणा भक्ति है।

श्रीधरस्वामीने भी श्रीमद्भागवत (३/२९/११) की टीकामें निर्गुणा भक्तिको एक ही प्रकारकी अर्थात् ऐकान्तिकी बताया है तथा श्रील शुकदेव गोस्वामीने श्रीमद्भागवत (३/२९/७-१०) में सकाम भक्तिको नाना प्रकारकी जागतिक अभिलाषाओंसे युक्त होनेके कारण तामसिक आदि अनन्त शाखाओंवाली बताया है।।४१।।

यामिमां पुष्पितां वाचं प्रवदन्त्यविपश्चितः।
वेदवादरताः पार्थ नान्यदस्तीति वादिनः।।४२।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) (ये) अविपश्चितः (जो मूर्ख लोग) याम् इमाम् पुष्पिताम् वाचम् (जो सभी आपात मनोरम परन्तु परिणाममें विषमय मधुपुष्पित वाक्य हैं) प्रवदन्ति (उसे सबकी अपेक्षा प्रकृष्ट वेदवाक्य कहते हैं) [ते—वे] वेदवादरताः (वेदके अर्थवादमें रत) अन्यत् न अस्ति (अन्य ईश्वर-तत्त्व नहीं) इति वादिनः (इस प्रकार कहनेवाले हैं)।।४२।।

अनुवाद—जो मूर्ख लोग वेदके अर्थवादमें रत हैं, वे वेदोंमें वर्णित आपात मनोरम परन्तु परिणाममें विषमय अलङ्कारी वाक्योंको ही वेदवाक्य कहते हैं। वे स्वर्गादि फलोंके अतिरिक्त अन्य ईश्वर-तत्त्वको नहीं मानते हैं।।४२।।

श्रीविश्वनाथ—तस्मादव्यवसायिनः सकामकर्मिणस्त्वतिमन्दा इत्याह—यामिमामिति। पुष्पितां वाचं पुष्पितां विषलतामिवापाततो रमणीयाम्, प्रवदन्ति प्रकर्षेण सर्वतः प्रकृष्टा इयमेव वेदवागिति ये वदन्ति, तेषां तया वाचा अपहृतचेतसाञ्च व्यवसायात्मिका बुद्धिर्न विधीयते इति तृतीयेनान्वयः। तेषु तस्या असम्भवात् सा तेषु नोपदिश्यत इत्यर्थः। किमिति ते तथा वदन्ति, यतोऽविपश्चितो मूर्खाः। तत्र हेतुः—वेदेषु येऽर्थवादाः—"*अक्षयं वै चातुर्मास्ययाजिनः सुकृतं भवति*", "*अपाम सोमममृता अभूमः*" इत्याद्याः। अन्यदीश्वरतत्त्वं नास्तीति प्रजल्पिनः।।४२।।

भावानुवाद—अतएव अव्यवसायी सकाम कर्मी अति तुच्छ हैं। इसके लिए ही कहते हैं—'यामिमाम्' इत्यादि। 'पुष्पितां वाचः' का तात्पर्य है—कुसुमित विषलताके समान आपात रमणीय। 'प्रवदन्ति' का अर्थ है—जो ऐसे वेदवाक्योंको सर्वतोभावेन प्रकृष्ट कहते हैं। ऐसे वाक्योंके द्वारा जिस व्यक्तिका चित्त अपहृत हो चुका है, उस व्यक्तिकी व्यवसायात्मिका बुद्धि नहीं होती है। तीसरे श्लोक (भोगैश्वर्य प्रसक्तानां) के साथ इसका अन्वय है। उन व्यक्तियोंको व्यवसायात्मिका बुद्धिका होना सम्भव नहीं है, अतः उनके लिए यह उपदेश नहीं दिया जा रहा है। यह क्या, वे तो इससे भी अधिक कहते हैं, अतः वे मूर्ख हैं। इसका कारण है कि वेदमें जो ऐसा कहा गया है कि 'चातुर्मास्य करनेवालेको अक्षय फल लाभ होता है'; 'सोमपानकर अमृतत्वको प्राप्त किए—इन वाक्योंके द्वारा वे अर्थवाद करते हैं। इसके अतिरिक्त वे ऐसा प्रजल्प भी करते हैं कि ईश्वर नामका कोई तत्त्व नहीं है।।४२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

वेदवाद—वेदकी मुख्य प्रतिपाद्य वस्तु एकमात्र स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण एवं उनकी प्रेमाभक्ति है। इस मूल तात्पर्यको न जानकर वेदोंके बाह्य अर्थ, जो कि आपात कर्णरसायन और मधुर लगते हैं, परन्तु जिनका परिणाम भयावह है, उनमें परमार्थ-बुद्धि करना उचित नहीं है। श्रीकृष्णने आगे इसे स्पष्ट किया है—'*त्रैगुण्य विषया वेदा*'। श्रीमद्भागवतमें भी वेदवादसे सावधान रहनेकी बात की गई है—

'तस्मात्कर्मसु बर्हिष्मन्नज्ञानादर्थकाशिषु।
मार्थदृष्टिं कृथाः श्रोत्रस्पर्शिष्वस्पृष्टवस्तुषु।।'

(श्रीमद्भा. ४/२९/४७) ।।४२।।

कामात्मानः स्वर्गपराः जन्मकर्मफलप्रदाम्।
क्रियाविशेषबहुलां भोगैश्वर्यगतिं प्रति॥४३॥

अन्वय—(अतएव) कामात्मानः (कामके द्वारा कलुषित चित्तवाले) स्वर्गपराः (स्वर्ग चाहनेवाले) जन्मकर्मफलप्रदाम् (जन्म तथा कर्मफल देनेवाली) भोगैश्वर्यगतिम् प्रति (भोग एवं ऐश्वर्यकी प्राप्तिके साधनस्वरूप) क्रियाविशेषबहुलाम् (विविध क्रियाओंको वाचम् प्रवदन्ति (प्रकृष्ट वाक्य कहते हैं)॥४३॥

अनुवाद—अतः कामके द्वारा कलुषित चित्तवाले वे स्वर्गप्रार्थी सकाम पुरुष भोग एवं ऐश्वर्यकी प्राप्तिके साधनस्वरूप जन्म तथा कर्ममें बाँधनेवाली विविध क्रियाओंको ही प्रकृष्ट वेदवाक्य कहते हैं॥४३॥

श्रीविश्वनाथ—ते कीदृशीं वाचं प्रवदन्ति? जन्मकर्मफलप्रदायिनीं भोगैश्वर्यगतिं प्रति ये क्रियाविशेषास्तान् बहु यथा स्यात्, तथा लाति ददाति प्रतिपादयतीति ताम्॥४३॥

भावानुवाद—वे किस प्रकारके वाक्योंको बोलते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—"जन्म-कर्मरूप फलको देनेवाले भोग और ऐश्वर्यके उपायस्वरूप जो विशेष क्रियासमूह हैं, वे क्रियासमूह जिस प्रकारसे विस्तृत हों, वे उसका ही प्रतिपादन करते हैं॥"४३॥

भोगैश्वर्यप्रसक्तानां तयापहृतचेतसाम्।
व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते॥४४॥

अन्वय—तया (उन वाक्योंके द्वारा) अपहृतचेतसाम् (अपहृत चित्तवाले) भोगैश्वर्यप्रसक्तानाम् (भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त व्यक्तियोंकी) व्यवसायात्मिका बुद्धिः (निश्चयात्मिका बुद्धि) समाधौ (समाधिमें) न विधीयते (समाहित नहीं होती है)॥४४॥

अनुवाद—उन मधुपुष्पित वाक्योंके द्वारा जिनका चित्त हर लिया जाता है, भोग तथा ऐश्वर्यमें आसक्त वैसे व्यक्तियोंकी समाधिमें अर्थात् भगवान्‌में निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती है॥४४॥

श्रीविश्वनाथ—ततश्च भोगैश्वर्ययोः प्रसक्तानां तया पुष्पितया वाचापहृतमाकृष्टं चेतो येषां ते, तथा तेषां समाधिश्चित्तैकाग्र्यं परमेश्वरैकोन्मुखत्वं तस्मिन् निश्चयात्मिका बुद्धिर्न विधीयते—"कर्मकर्त्तरि प्रयोगो नोपपद्यते" इति स्वामिचरणाः॥४४॥

भावानुवाद—उसके बाद पुष्पित वाक्योंके द्वारा अपहृत या आकृष्ट चित्तवाले व्यक्ति भोग और ऐश्वर्यमें आसक्त हो जाते हैं। उन व्यक्तियोंकी समाधि या चित्तकी एकाग्रता अर्थात् एकमात्र परमेश्वरके प्रति उन्मुख होनेकी निश्चयात्मिका बुद्धि नहीं होती है। यहाँ श्रीधरस्वामिपादके मतानुसार 'विधीयते' पदका 'कर्मकर्त्तृवाच्य' में प्रयोग सुन्दर नहीं है।।४४।।

त्रैगुण्यविषया वेदा निस्त्रैगुण्यो भवार्जुन।
निर्द्वन्द्वो नित्यसत्त्वस्थो निर्योगक्षेम आत्मवान्।।४५।।

अन्वय—अर्जुनः (हे अर्जुन!) वेदाः (सभी वेद) त्रैगुण्यविषयाः (त्रिगुणात्मक हैं) [त्वम् तु—किन्तु तुम] निस्त्रैगुण्यः (तीनों गुणोंसे अतीत) निर्द्वन्द्वः (गुणमय मान–अपमानसे रहित) नित्यसत्त्वस्थः (शुद्ध सत्त्वमें अवस्थित) निर्योगक्षेमः (योग–क्षेमसे रहित) आत्मवान् (मेरे द्वारा प्रदत्त बुद्धिसे युक्त) भव (होओ)।।४५।।

अनुवाद—हे अर्जुन! तुम वेदोंमें वर्णित तीनों गुणोंका परित्यागकर निर्गुण (त्रिगुणातीत) तत्त्वमें प्रतिष्ठित होओ। तुम समस्त द्वन्द्वों (मान–अपमानादि) से रहित होकर योग–क्षेमकी चिन्ता न करते हुए मेरे द्वारा प्रदत्त बुद्धियोगके द्वारा शुद्धसत्त्वमें प्रतिष्ठित हो जाओ।।४५।।

श्रीविश्वनाथ—त्वं तु चतुर्वर्गसाधनेभ्यः सर्वेभ्यो विरज्य केवलं भक्तियोगमेवाश्रयस्वेत्याह—त्रैगुण्येति। त्रैगुण्यास्त्रिगुणात्मिकाः कर्मज्ञानाद्याः प्रकाश्यत्वेन विषया येषां ते त्रैगुण्यविषया वेदाः—स्वार्थे ष्यञ्, एतच्च "*भूम्ना व्यपदेशा भवन्ति*" इति न्यायेनोक्तम्। किन्तु "*भक्तिरेवैनं नयति*" इति, "*यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ*" इत्यादि-श्रुतयः पंचरात्रादिस्मृतयश्च, गीतोपनिषद्-गोपालतापन्याद्युपनिषदश्च निर्गुणां भक्तिमपि विषयीकुर्वन्त्येव, वेदोक्तत्वाभावे भक्तेरप्रामाण्यमेव स्यात्। ततश्च वेदोक्ता ये त्रिगुणमया ज्ञानकर्मविधयस्तेभ्य एव निर्गतो भव—तान् न कुरु। ये तु वेदोक्ता भक्ति-विधयस्तांस्तु सर्वथैवानुतिष्ठ। तदनुष्ठाने "*श्रुतिस्मृतिपुराणादिपञ्चरात्रविधिं विना। ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिरुत्पातायैव कल्प्यते॥*" इति दोषो दुर्वार एव। तेन सगुणानां गुनातीतानामपि वेदानां विषयास्त्रैगुण्या निस्त्रैगुण्याश्च। तत्र त्वं तु निस्त्रैगुण्यो भव। निर्गुणया मद्भक्त्यैव त्रिगुणात्मकेभ्यस्तेभ्यो निष्क्रान्तो भव, तत एव निर्द्वन्द्वो गुणमय-मानापमानादिरहितः। अतएव नित्यैः सत्त्वैः प्राणिभिर्मद्भक्तैरेव सह तिष्ठतीति तथा सः। नित्यं सत्त्वगुणस्थो भवेति व्याख्यायां निस्त्रैगुण्यो भवेति व्याख्यायां विरोधः स्यात्। अलब्धलाभो योगः,

लब्धस्य रक्षणं क्षेमस्तद्रहितः। मद्भक्तिरसास्वादवशादेव तयोरननुसन्धानात्, *'योगक्षेमं वहाम्यहम्'* इति भक्तवत्सलेन मयैव तद्भारवहनात्। आत्मवान् मद्दत्तबुद्धियुक्तः। अत्र निस्त्रैगुण्य-त्रैगुण्ययोर्विवेचनम्, यदुक्तमेकादशे—"*मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्। राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम्॥*" निष्फलं वेति नैमित्तिकं निजकर्मफलाकाङ्क्षारहितमित्यर्थः। "*कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकञ्च यत्। प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्।। वनन्तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते। तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्॥ सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः। तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः॥ सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी। तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा॥ पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम्। राजसं चेन्द्रिय-प्रेष्ठं तामसं चार्त्तिदाशुचि॥*" "च-कारान्मत् निवेदितन्तु निर्गुणम्" इति श्रीस्वामिचरणानां व्याख्यानम्। "*सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थन्तु राजसम्। तामसं मोह-दैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम्॥*" इत्यन्तेन ग्रन्थेन त्रैगुण्यवस्तून्यपि प्रदर्श्य निर्गुणस्य सम्यङ् निस्त्रैगुण्यतासिद्ध्यर्थं निर्गुणयैव भक्त्या स्वस्मिन् कथञ्चित् स्थितस्य त्रैगुण्यस्य निर्जयोऽप्युक्तस्तदनन्तरमेव, यथा—"*द्रव्यं देशस्तथा कालो ज्ञानं कर्म च कारकः। श्रद्धावस्थाकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि॥ सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः। दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ॥ एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः। येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः। भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते॥*" इति। तस्माद्भक्त्यैव निर्गुणया त्रैगुण्यजयो नान्यथा। अत्राप्यग्रे "कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते" इति प्रश्ने वक्ष्यते—"*माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते॥*" इति। श्रीस्वामिचरणानां व्याख्या च—"च—कारोऽत्रावधारणार्थः, मामेव परमेश्वरमव्यभिचारेण भक्तियोगेन यः सेवते" इत्येषा।।४५।।

भावानुवाद—किन्तु, तुम सभी चतुर्वर्ग-साधन (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) से विरक्त होकर मात्र भक्तियोगका आश्रय करो। इसके लिए ही श्रीभगवान् 'त्रैगुण्य' इत्यादि कह रहे हैं। तीन गुणोंवाले कर्म-ज्ञानादिका प्रकाश करना ही वेदोंका विषय है। स्वार्थमें 'ष्यञ्' प्रत्ययसे त्रैगुण्य शब्द निष्पन्न हुआ है। 'भूम्ना व्यपदेशा भवन्ति' इस न्यायानुसार इनके (कर्म-ज्ञानादिके) बाहुल्य होनेके कारण ही वेदोंको ऐसा कहा गया। किन्तु,

भक्ति ही जीवको भगवान्‌के निकट ले जाती है—यह माठर श्रुतिका वचन है। श्वेताश्वर उपनिषद्‌में कहा गया है—"जिनकी भगवान्‌के प्रति पराभक्ति है और जैसी भक्ति भगवान्‌में है, वैसी ही भक्ति गुरुदेवके प्रति भी है।" पञ्चरात्रादि स्मृतियाँ, गीतोपनिषद्, गोपालतापनी उपनिषद्—इन सभीका विषय निर्गुणा भक्ति ही है। यदि यह कहा जाय कि वेदमें भक्तिके सम्बन्धमें नहीं कहा गया है, तब तो भक्ति अप्रामाणिक हो जाएगी। वेदोक्त त्रिगुणमय ज्ञान-कर्मादिकी विधियोंसे निर्गत होओ, उन्हें मत करो, किन्तु भक्तिके लिए वेदोंमें जो विधियाँ है, उन्हें सदा ही करो। ब्रह्मयामलमें कहा गया है—"श्रुति, स्मृति, पुराणादिमें वर्णित पञ्चरात्र विधिका उल्लंघनकर जो ऐकान्तिकी हरिभक्तिका अभिनय किया जाता है, उसका अन्त उत्पात ही है।" यह दोष दुर्वार है। अतएव सगुण और गुणातीत वेदोंके विषयसमूह त्रैगुण्य और निस्त्रैगुण्य हैं। किन्तु, तुम इन दोनोंमें से निस्त्रैगुण्य ही होओ। मेरी निर्गुणा भक्तिके प्रभावसे तुम इन तीनों गुणोंसे दूर हो जाओ। ऐसा होनेपर ही तुम निर्द्वन्द्व अर्थात् मान-अपमानसे रहित हो पाओगे। अतएव नित्यसत्त्वस्वरूप मेरे भक्तोंके साथ ही रहो। यहाँ 'नित्य-सत्त्वगुणमें स्थित होओ' की व्याख्यामें और 'निस्त्रैगुण्य होओ' की व्याख्यामें विरोध होगा। जो वस्तु नहीं प्राप्त है, उसे प्राप्त करनेको 'योग' कहते हैं एवं प्राप्त वस्तुकी रक्षा करनेको 'क्षेम' कहते हैं। 'निर्योग क्षेम' के द्वारा श्रीभगवान् अर्जुनको योग एवं क्षेमसे रहित होनेके लिए कह रहे हैं—मेरे भक्तिरसके आस्वादनके वशीभूत होनेपर योग और क्षेम—दोनोंके अनुसन्धानकी आवश्यकता नहीं है। श्रीगीता (९/२२) में कहा गया है—"मैं योग और क्षेमको वहन करता हूँ।" उपरोक्त कथनके द्वारा श्रीभगवान् अपनी भक्तवत्सलताका परिचय देते हुए कहते हैं कि मैं उस भारको वहन करता हूँ, इसलिए इसके प्रयत्नकी आवश्यकता नहीं है। 'आत्मवान्' का तात्पर्य है—मेरे द्वारा प्रदत्त बुद्धिवाला होओ।

अब निस्त्रैगुण्य और त्रैगुण्यकी विवेचना हो रही है। श्रीमद्‌भागवतमें कहा गया है—

'मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्।
राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम्।।'

(श्रीमद्भा. ११/२५/२३)

अर्थात्, भगवदर्पित निष्काम कर्मको सात्त्विक जानना चाहिए। फलके सङ्कल्पसे युक्त कर्मको राजसिक जानना चाहिए और हिंसादिसे युक्त कर्मको तामसिक जानना चाहिए। उपरोक्त श्लोक (श्रीमद्भा. ११/२५/२३) में 'निष्फलं वा' का तात्पर्य फलाकांक्षा रहित नैमित्तिक कर्मसे है।

'कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकञ्च यत्।
प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्।।
वनन्तु सात्त्विको वासो ग्रामो राजस उच्यते।
तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्॥
सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः॥
सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा॥
पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम्।
राजसं चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्त्तिदाशुचि॥'

(श्रीमद्भा. ११/२५/२४–२८)

'कैवल्य' अर्थात् देहादिसे परे जो आत्मविषयक ज्ञान है, वह सात्त्विक है, देहसे सम्बन्धित ज्ञान राजसिक है, प्राकृत ज्ञान तामसिक है और मेरे विषयसे सम्बन्धित ज्ञान निर्गुण है। वनमें वास करना सात्त्विक है, गाँवमें वास करना राजसिक है, जुआघरमें वास करना तामसिक है एवं जहाँ मैं रहता हूँ अर्थात् श्रीमन्दिरमें वास करना निर्गुण है। जो कर्त्ता अनासक्त है, वह सात्त्विक है, जो कर्त्ता आसक्ति (राग) के कारण अन्धा है, वह राजसिक है, जिस कर्त्ताकी स्मृति भ्रष्ट हो गई है, वह तामसिक है एवं जो कर्त्ता मेरे आश्रित है, वह निर्गुण है। आत्मविषयिणी श्रद्धा सात्त्विकी होती है, कर्मविषयिणी श्रद्धा राजसी होती है, अधर्मविषयिणी श्रद्धा तामसी होती है एवं जिस श्रद्धाका विषय मेरी सेवा है, वह निर्गुणा है। हितकर, पवित्र और अनायास प्राप्त आहार सात्त्विक होता है, इन्द्रियोंको सुख देनेवाला कटु, अम्लादि आहार राजसिक होता है, दुःखदायी और अपवित्र भोजन तामसिक होता है और मेरे लिए निवेदित वस्तु निर्गुणा होती है। श्रीधरस्वामीके अनुसार अन्तिम श्लोक (श्रीमद्भा. ११/२५/२८) के 'च' कारके द्वारा श्रीभगवान् कहते हैं कि मेरे लिए निवेदित वस्तु निर्गुणा होती है।

'सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम्।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम्।।'

(श्रीमद्भा. ११/२५/२९)

अर्थात्, आत्माके द्वारा प्राप्त सुख सात्त्विक होता है, विषयसे प्राप्त सुख राजसिक होता है, मोह एवं दैन्यसे प्राप्त सुख तामसिक होता है और मुझसे सम्बन्धित सुख निर्गुण होता है।

इस अन्तिम श्लोक (श्रीमद्भा. ११/२५/२९) के द्वारा त्रिगुणात्मिका वस्तुओंके बारेमें बतानेके बाद निर्गुणा वस्तुके निस्त्रैगुण्य-भावकी भलीभाँति सिद्धिके लिए आगे भी बताया गया है कि निर्गुणा भक्तिके द्वारा ही अपनेमें स्थित त्रैगुण्यपर विजय प्राप्त करनी पड़ेगी। यथा—

'द्रव्यं देशस्तथा कालो ज्ञानं कर्म च कारकः।
श्रद्धावस्थाकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि॥
सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः।
दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ॥
एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः।
भक्तियोगेन मन्निष्ठो मद्भावाय प्रपद्यते॥'

(श्रीमद्भा. ११/२५/३०-३२)

अर्थात्, द्रव्य, देश, फल, काल, ज्ञान, कर्म, कर्त्ता, श्रद्धा, अवस्था, आकृति, निष्ठा आदि जितने भी भाव हैं, ये सभी त्रिगुणात्मक हैं। हे पुरुष श्रेष्ठ! दृष्ट, श्रुत या चिन्तित, जो भी भाव पुरुष और प्रकृतिके बीच स्थित हैं, वे सभी गुणमय हैं। हे सौम्य! पुरुषके ये सभी संसारभाव त्रिगुणात्मक कर्मसे उत्पन्न होते हैं। अतः जो जीव चित्तमें उत्पन्न गुणसमूहको जीत चुके हैं, वे ही भक्तियोगके द्वारा मेरे प्रति निष्ठायुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करनेमें समर्थ हैं। अतएव निर्गुणा भक्तिके द्वारा ही तीनों गुणोंको जीता जा सकता है, किसी अन्य प्रकारसे नहीं। गीता (१४/२१) के प्रश्न—*'कथं चेतांस्त्रीन गुणानतिवर्त्तते'* अर्थात् किस प्रकार इन तीनों गुणोंको जीता जा सकता है—इसका उत्तर गीता में ही आगे बताया जाएगा—

'माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।।'

(गीता १४/२६)

अर्थात्, जो व्यक्ति ऐकान्तिक भक्तियोगके द्वारा मेरी ही सेवा करते हैं, वे तीनों गुणोंका अतिक्रमणकर ब्रह्मानुभूतिके योग्य होते हैं। इस श्लोक (गीता १४/२६) की टीकामें श्रीधरस्वामी कहते हैं—'च' कार अवधारणार्थ है अर्थात् जो अव्यभिचार भक्तियोगसे मुझ परमेश्वरकी सेवा करते हैं, वे सभी गुणोंपर विजय प्राप्त करते हैं।।४५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चतुर्वर्ग हैं। भक्ति पञ्चम पुरुषार्थ है। वेदादि शास्त्रोंमें कर्म, ज्ञान और भक्तिके जीवोंके लिए साधनरूपमें उपदेशित रहनेपर भी उनमें अन्यान्य सभीको छोड़कर एकमात्र विशुद्धा भक्तिके द्वारा ही भगवान्‌की प्राप्ति होती है, कर्म-ज्ञानादिके द्वारा नहीं। *'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः'* (श्रीमद्भा. ११/१४/२१) तथा *'न साधयति मां योगो'* (श्रीमद्भा. ११/१४/२०)—इन दोनों श्लोकोंके अनुशीलनसे भी यही सिद्ध होता है।

"शास्त्रोंमें दो प्रकारके विषय होते हैं—उद्दिष्ट विषय और निर्द्दिष्ट विषय। जो विषय जिस शास्त्रका चरम उद्देश्य होता है—उसे उस शास्त्रका उद्दिष्ट विषय कहते हैं। जिस निर्देशके द्वारा उद्दिष्ट विषय लक्षित होता है—उसे निर्द्दिष्ट विषय कहते हैं। जहाँ 'अरुन्धति' उद्दिष्ट विषय है, वहाँ सर्वप्रथम उसके निकट जो स्थूल तारा लक्षित होता है, वही निर्द्दिष्ट विषय है। वेदसमूह निर्गुण-तत्त्वको उद्दिष्टके रूपमें लक्ष्य करते हैं। क्योंकि, निर्गुण तत्त्वको सहसा लक्ष्य नहीं किया जा सकता है, अतः वेद सर्वप्रथम किसी सगुण तत्त्वका निर्देश करते हैं। इसलिए प्रथम दृष्टिमें ऐसा बोध होता है कि सत्त्व, रजः और तमोरूप त्रिगुणमयी माया वेदका विषय है। हे अर्जुन! तुम उस निर्द्दिष्ट विषयमें आबद्ध नहीं रहकर, उद्दिष्ट तत्त्वके रूपमें लक्षित निर्गुण तत्त्वका लाभ करते हुए त्रिगुणातीत होओ। वेदशास्त्रोंमें कहीं रजस्तमो-गुणात्मक कर्म, कहीं सत्त्वगुणात्मक ज्ञान और विशेष-विशेष जगहोंपर निर्गुणा भक्ति उपदिष्ट हुई है। गुणमय मान-अपमानादि द्वन्द्व भावोंसे रहित होकर नित्यसत्त्व अर्थात् मेरे भक्तोंका सङ्गकर ज्ञान-कर्ममार्गके अनुसन्धेय योग और क्षेमके अनुसन्धानका परित्यागकर बुद्धियोगके द्वारा निगुर्णता प्राप्त करो।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४५।।

यावानर्थ उदपाने सर्वतः संप्लुतोदके।
तावान् सर्वेषु वेदेषु ब्राह्मणस्य विजानतः।।४६।।

अन्वय—यावान् (जितना) अर्थः (प्रयोजन) उदपाने (कुँएंसे) [भवति—सिद्ध होता है] तावान् (उतना प्रयोजन) सर्वतः (सर्वतोभावसे) संप्लुतोदके (महाजलाशयसे सिद्ध होता है) [तथा—उसी प्रकार] सर्वेषु वेदेषु (समस्त वेदोंमें) [यावन्तोऽर्थास्तावन्तः—जितने प्रयोजन हैं, वे सभी] विजानतः ब्राह्मणस्य (वेदज्ञ भक्तियुक्त ब्राह्मणको) [भवति—होते हैं]।।४६।।

अनुवाद—जिस प्रकार एक छोटे जलाशयके द्वारा जितना प्रयोजन सिद्ध होता है, उतना प्रयोजन एक बड़े जलाशयके द्वारा अनायास ही सिद्ध हो जाता है, उसी प्रकार वेदोंमें वर्णित विभिन्न देवताओंकी पूजासे जो भी फल प्राप्त होते हैं, वे सभी फल वेद-तात्पर्यविद् भक्तियुक्त ब्राह्मणोंको भगवत्-उपासनाके द्वारा अनायास ही प्राप्त होते हैं।।४६।।

श्रीविश्वनाथ—हन्त, किं वक्तव्यं निष्कामस्य निर्गुणस्य भक्तियोगस्य माहात्म्यं यस्यैवारम्भणमात्रेऽपि नाशप्रत्यवायौ न स्तः। स्वल्पमात्रेणापि कृतार्थतेत्येकादशेऽप्युद्धवायापि वक्ष्यते—"*न ह्यङ्गोपक्रमे ध्वंसो मद्धर्मस्योद्धवाण्वपि मया व्यवसितः सम्यङ्निर्गुणत्वादनाशिषः॥*" इति। किन्तु सकामो भक्तियोगोऽपि व्यवसायात्मिका बुद्धि शब्देनोच्यते इति दृष्टान्तेन साधयति—यावानिति। उदपाने इति जात्यैकवचनम्। उदपानेषु कूपेषु, यावानर्थ इति। कश्चित् कूपः शौचकर्मार्थकः, कश्चित् दन्तधावनार्थकः, कश्चिद्वस्त्र-धावनाद्यर्थकः, कश्चित् केशादिमार्जनार्थकः, कश्चित् स्नानार्थकः, कश्चित् पानार्थकः इत्येवं सर्वतः सर्वेषूदपानेषु यावानर्थः यावन्ति प्रयोजनानीत्यर्थः। संप्लुतोदके महाजलाशये सरोवरेऽपि तावानेवार्थः, तस्मिन् एकस्मिन्नेव शौचादिकर्मसिद्धेः। किञ्च, तत्तत्कूपेषु पृथक् पृथक् परिभ्रमणश्रमेण, सरोवरे तु तं विनैव, तथा कूपेषु विरस जलेन, सरोवरे तु सुरस-जलेनैवेत्यपि विशेषो द्रष्टव्यः। एवं सर्वेषु वेदेषु तत्तद्देवताराधनेन यावन्तोऽर्थास्तावन्त एकस्य भगवदाराधनेन विजानता विज्ञस्य। ब्राह्मणस्येति ब्रह्म वेदं वेत्तीति ब्राह्मणस्तस्य विजानतः। वेदज्ञत्वेऽपि वेदतात्पर्यं भक्तिं विशेषतो जानतः, यथा द्वितीय स्कन्धे—"*ब्रह्मवर्चस कामस्तु यजेत ब्रह्मणः पतिम्। इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्॥ देवीं मायान्तु श्रीकामः*" इत्याद्युक्त्वा "*अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः। तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्*" इति। मेघाद्यमिश्रस्य सौरकिरणस्य तीव्रत्वमिव भक्तियोगस्य ज्ञानकर्माद्यमिश्रत्वं

तीव्रत्वं ज्ञेयम्। अत्र बहुभ्यो बहुकामसिद्धिरिति सर्वथा बहुबुद्धित्वमेव। एकास्मद्भगवत एव सर्वकामसिद्धिरित्यंशेनैकबुद्धित्वादेक बुद्धित्वमेव विषयसादृगुण्याज्ज्ञेयम्।।४६।।

भावानुवाद—अहो! जिस निष्काम, निर्गुण भक्तियोगके आरम्भमात्रका न तो कोई नाश है और न ही कोई प्रत्यवाय है, उसके माहात्म्यके सम्बन्धमें और क्या कहूँ। श्रीमद्भागवत (११/२९/२०) में उद्धवको भी भगवान्ने कहा है—"हे उद्धव! मेरे द्वारा इस धर्मका निर्गुणत्व यथार्थरूपमें निर्णीत हुआ है, अतः मेरे लिए किए गए निष्काम धर्मके अनुष्ठानमें त्रुटि-विच्युतियोंके द्वारा बिन्दुमात्र भी विनाशकी सम्भावना नहीं है।" किन्तु, यहाँ व्यवसायात्मिका बुद्धिके द्वारा सकाम भक्तियोगको भी लक्ष्य किया गया है। दृष्टान्तके द्वारा इसे साबित करते हुए कहते हैं—*'यावान्'* इत्यादि। जातिवाचक संज्ञा होनेके कारण यहाँ 'उदपाने' का प्रयोग एकवचनमें हुआ है। अतः 'उदपाने' का अर्थ है—'कूपसमूह'। कूपसमूहके द्वारा कई प्रयोजन सिद्ध होते हैं अर्थात् कोई कूप शौचकर्मके लिए, कोई कूप दन्त-धावनके लिए, कोई कूप वस्त्र धोनेके लिए, कोई कूप केशमार्जनके लिए, कोई कूप पानी पीनेके लिए प्रयोगमें आता है। उपरोक्त जितने प्रकारके प्रयोजन अलग-अलग कूपसे पूर्ण होते हैं, वे सभी प्रयोजन विशाल सरोवरमें एक साथ पूर्ण हो जाते हैं। अलग-अलग कूपके निकट जानेपर श्रम होता है, परन्तु विशाल सरोवरमें श्रम नहीं होता है। इसके अतिरिक्त कूपका जल खारा भी होता है, परन्तु सरोवरका जल सुरस होता है—कूप और सरोवरका यह पार्थक्य ध्यान देने योग्य है। इसी प्रकार वेदोंमें वर्णित विभिन्न देवताओंकी पूजासे जो फल प्राप्त होते हैं, वे सभी फल केवल भगवत्-आराधनाके द्वारा ही प्राप्त हो जाते हैं। 'ब्राह्मणस्य' का अर्थ है—जो ब्रह्म (वेद) को जानते हैं। अतएव ब्राह्मण ही वेदोंके ज्ञाता हैं। परन्तु, वेदज्ञ होनेपर भी जो विशेषरूपसे यह जानते हैं कि भक्ति ही वेदका तात्पर्य है, वे ही यथार्थ ब्राह्मण हैं। श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

'ब्रह्मवर्चसकामस्तु यजेत् ब्रह्मणस्पतिम्।
इन्द्रमिन्द्रियकामस्तु प्रजाकामः प्रजापतीन्।।'

(श्रीमद्भा. २/३/२)

अर्थात्, ब्रह्मतेजकामी व्यक्ति वेदपति ब्रह्माकी, इन्द्रियतृप्तिकामी व्यक्ति

इन्द्रकी, पुत्रादिकी कामनावाले प्रजापतिकी तथा श्रीकामी व्यक्ति दुर्गाकी आराधना करें। ऐसा कहनेके बाद पुनः कहते हैं—

'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्।।'

(श्रीमद्भा. २/३/१०)

अर्थात् कोई निष्कामी, सर्वकामी अथवा उदार बुद्धिवाला मोक्षकामी भी हो, उसे भी तीव्र भक्तियोगके द्वारा परमपुरुषकी ही आराधना करनी चाहिए। जिस प्रकार मेघादिशून्य आकाशमें सूर्यकी किरणें तीव्र होती हैं, उसी प्रकार ज्ञान-कर्मादिशून्य भक्तियोगको भी तीव्र समझना चाहिए। यहाँ बहुतसे देवताओंके द्वारा विभिन्न कामनाओंकी सिद्धि होनेसे बहुबुद्धित्व होता है। परन्तु, केवल भगवान्‌के द्वारा ही सभी कामनाएँ सिद्ध हो जाती हैं—ऐसी बुद्धिके एक अंशको भी विषयसाद्‌गुण्य हेतु एकबुद्धिके रूपमें जानना चाहिए।।४६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जिस प्रकार छोटे-छोटे कूपादि जलाशयोंमें पृथक्-पृथक् कर्म होनेपर भी वे समस्त कर्म एक बृहत् जलाशयरूप सरोवरमें सिद्ध होते हैं, उसी प्रकार वेदोक्त भिन्न-भिन्न देवताओंकी आराधनासे भिन्न-भिन्न कामनाओंकी पूर्त्ति होनेपर भी एकमात्र भगवान्‌से ही समस्त कामनाओंकी सिद्धि हो जाती है। नाना प्रकारकी कामनाओंसे भरपूर हृदयकी कामनाओंकी सिद्धिके लिए अनेक देवताओंकी उपासानाएँ होती हैं, इसमें बहुत शाखाओंवाली यह बुद्धि अव्यवसायात्मिका बुद्धि कहलाती है। किन्तु, इसके विपरीत एकनिष्ठा निश्चयात्मिका बुद्धिके द्वारा एकमात्र भगवान्‌की ऐकान्तिकी उपासना सिद्ध होती है। इसीलिए वेदज्ञ पुरुष भक्तिको ही वेदका सार-तात्पर्य कहते हैं। अतएव भक्तियोग ही व्यवसायात्मिका बुद्धि है।।४६।।

कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन।
मा कर्मफलहेतुर्भूर्मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि।।४७।।

अन्वय—ते (तुम्हारा) कर्मणि एव (कर्म करने-मात्रमें) अधिकारः (अधिकार है) फलेषु (कर्मके फलमें) कदाचन मा (कभी भी न होवे) कर्मफलहेतुः (कर्मफलका हेतु भी) मा भूः (मत होओ) ते (तुम्हारा) अकर्मणि (कर्म न करनेमें भी) सङ्गः (आसक्ति) मा अस्तु (न होवे)।।४७।।

अनुवाद—स्वधर्मविहित कर्म करनेमें ही तुम्हारा अधिकार है, किन्तु उस कर्मके फलमें तुम्हारा अधिकार नहीं है। तुम स्वयंको न तो कर्मके फलका कारण मानो और न ही कभी कर्मके नहीं करनेमें आसक्त होओ।।४७।।

श्रीविश्वनाथ—एवमेकमेवार्जुनं स्वप्रियसखं लक्ष्यीकृत्य ज्ञानभक्तिकर्म-योगानाचिख्यासुर्भगवान् ज्ञानभक्तियोगौ प्रोच्य तयोरर्जुनस्यानधिकारं विमृष्य निष्कामकर्मयोगमाह—कर्मणीति। मा फलेष्विति—फलाकाङ्क्षिणोऽप्यत्यन्ताशुद्धचित्ता भवन्ति, त्वन्तु प्रायः शुद्धचित्त इति मया ज्ञात्वैवोच्यसे इति भावः। ननु कर्मणि कृते फलमवश्यं भविष्यत्येवेति? तत्राह—मा कर्मफलहेतुर्भूः फलकामनया हि कर्म कुर्वन् फलस्य हेतुरुत्पादको भवति, त्वन्तु तादृशो मा भूरित्याशीर्मया दीयत इत्यर्थः। अकर्मणि स्वधर्माकरणे विकर्मणि पापे वा सङ्गस्तव मास्तु, किन्तु द्वेष एवास्त्विति पुनरप्याशीर्दीयत इति। अत्राग्रिमाध्याये—"*व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे*" इत्यर्जुनोक्ति-दर्शनादत्राध्याये पूर्वोत्तरवाक्यानाम् अवतारिकाभिर्नातीवसङ्गतिर्विधित्सितेति ज्ञेयम्। किन्तु त्वदाज्ञायां सारथ्यादौ यथाहं तिष्ठामि, तथा त्वमपि मदाज्ञायां तिष्ठेति कृष्णार्जुनयोर्मनोऽनुलापोऽयमत्र द्रष्टव्यः।।४७।।

भावानुवाद—इस प्रकार एकमात्र अपने प्रियसखा अर्जुनको लक्ष्यकर ज्ञान-भक्ति-कर्मयोगके व्याख्याता श्रीभगवान् ज्ञान और भक्तियोगकी बातें कहकर अर्जुनके अनाधिकारका विचारकर इन दो श्लोकोंमें 'कर्मणि' इत्यादिके द्वारा निष्काम कर्मयोगकी बात कर रहे हैं। 'मा फलेषु' अर्थात् फलाकांक्षी व्यक्ति भी अत्यन्त अशुद्ध चित्तवाले होते हैं, परन्तु तुम शुद्धचित्त-प्राय हो—यह जानकर ही मैं ऐसी बातें कर रहा हूँ। यदि प्रश्न हो कि कर्म करनेसे फल भी अवश्य ही होगा, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—*'मा कर्मफलहेतुर्भूः'* अर्थात् फलकी कामनाके द्वारा ही कर्म करनेपर वह फलका हेतु या उत्पादक भी होता है, परन्तु तुम वैसा मत होओ, मैं यह आशीर्वाद देता हूँ। 'अकर्मणि' अर्थात् स्वधर्मका आचरण नहीं करना और विकर्म अर्थात् पाप—इन दोनोंमें तुम्हारी आसक्ति न होवे, अपितु द्वेष ही होवे—मैं पुनः ऐसा आशीर्वाद देता हूँ। गीता (३/२) में कहा गया है—*'व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे'* अर्थात् नाना प्रकारके अर्थवाले वाक्योंके द्वारा मेरी बुद्धि मोहित हो रही है। अर्जुनके उपरोक्त उक्तिके द्वारा यह समझना चाहिए कि इस अध्यायके पूर्व और उत्तर

वाक्यसमूहकी अवतारणा द्वारा पूर्ण सङ्गति नहीं होती है, किन्तु यहाँ अर्जुनके प्रति श्रीकृष्णका यह मनोभाव द्रष्टव्य है कि जिस प्रकार मैं तुम्हारे आज्ञानुवर्ती होकर सारथिका कार्य कर रहा हूँ, उसी प्रकार तुम भी मेरी आज्ञाके अनुवर्ती होओ।।४७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको लक्ष्यकर ज्ञान और भक्तियोगके अनधिकारियोंके लिए निष्काम कर्मयोगका उपदेश दे रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें भी देखा जाता है—*'कर्माकर्म विकर्मेति वेदवादो न लौकिकः।'*(श्रीमद्भा. ११/३/४३) अर्थात् कर्म, अकर्म और विकर्म—इन तीनोंको एकमात्र वेदशास्त्रके द्वारा ही जाना जा सकता है, लोगोंके द्वारा नहीं।

"कर्मके सम्बन्धमें तीन प्रकारके विचार किए जाते हैं—कर्म, अकर्म और विकर्म। इनमें से विकर्म अर्थात् पापका आचरण एवं अकर्म अर्थात् स्वधर्मोचित कर्मका नहीं करना—ये दोनों ही नितान्त अमङ्गलजनक हैं। तुम्हारी इन दोनोंमें अभिलाषा न हो, अतः, तुम अकर्मका परित्यागकर सावधानीपूर्वक कर्मका आचरण करो। कर्म तीन प्रकारका होता है—नित्य कर्म, नैमित्तिक कर्म और काम्य कर्म। इनमें से काम्य कर्म अमङ्गलजनक है। जो काम्य कर्म करते हैं, वे कर्मके फलका हेतु होते हैं। अतएव, मैं तुम्हारी भलाईके लिए कह रहा हूँ कि कर्म करते समय तुम कर्मके फलका हेतु मत बनो। स्वधर्मविहित कर्म करनेमें तुम्हारा अधिकार है, किन्तु किसी कर्मके फलमें तुम्हारा अधिकार नहीं है। जो लोग योगका अवलम्बन करते हैं, उनके लिए संसार-निर्वाह करनेके लिए नित्य-नैमित्तिक कर्म स्वीकृत हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४७।।

योगस्थः कुरु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा धनञ्जय।
सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।।४८।।

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) सङ्गम् त्यक्त्वा (कर्त्तापनकी आसक्ति त्यागकर) सिद्धि-असिद्ध्योः (कर्मफलकी सफलता और असफलतामें) समः भूत्वा (समभाव युक्त होकर) योगस्थः (भक्तिभावमें स्थित होकर) कर्माणि कुरु (स्वधर्मविहित कर्म करो) [यतः—क्योंकि] समत्वम् (समत्व भाव ही) योगः उच्यते (योग कहा जाता है)।।४८।।

अनुवाद—हे धनञ्जय! कर्मफलकी सफलता तथा असफलता (जय तथा पराजय) एवं कर्ममें आसक्तिका परित्यागकर भक्तियोगसे युक्त होकर समभावसे स्वधर्मविहित कर्म करो। क्योंकि ऐसा समत्वभाव ही योग कहलाता है।।४८।।

श्रीविश्वनाथ—निष्कामकर्मणः प्रकारं शिक्षयति—योगस्थ इति। तेन जयाजयोस्तुल्यबुद्धिः सन् संग्राममेव स्वधर्मं कुर्विति भावः। अयं निष्कामकर्मयोग एव ज्ञानयोगत्वेन परिणमतीति। ज्ञानयोगोऽप्येवं पूर्वोत्तरग्रन्थार्थतात्पर्यतो ज्ञेयः।।४८।।

भावानुवाद—निष्काम कर्म किस प्रकारका होता है, 'योगस्थ' इत्यादिके द्वारा श्रीभगवान् इसकी शिक्षा दे रहे हैं। वे कह रहे हैं कि जय और पराजयमें समान भाववाला होकर स्वधर्म अर्थात् संग्राम ही करो। इस निष्काम कर्मयोगके फलसे ही ज्ञानयोग प्राप्त होता है। इस प्रकार पूर्व और परवर्त्ती श्लोकोंका तात्पर्य ज्ञानयोग ही जानो।।४८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—कर्मफलकी सिद्धि तथा असिद्धिमें जो समबुद्धि होती है, उसे ही योग कहते हैं।।४८।।

दूरेण ह्यवरं कर्म बुद्धियोगाद्धनञ्जय।
बुद्धौ शरणमन्विच्छ कृपणाः फलहेतवः।।४९।।

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) हि (क्योंकि) कर्म (काम्य कर्म) बुद्धियोगात् (भगवदर्पित निष्काम कर्मयोगसे) दूरेण अवरम् (अति निकृष्ट है) (अतएव) बुद्धौ (निष्काम कर्मका) शरणम् (आश्रय) अन्विच्छ (ग्रहण करो) फलहेतवः (फलकी कामनावाले) कृपणाः (कृपण हैं)।।४९।।

अनुवाद—हे धनञ्जय! क्योंकि काम्य कर्म भगवदर्पित निष्काम कर्मयोगसे अत्यन्त ही निकृष्ट है, अतः तुम निष्काम कर्मयोगका आश्रय ग्रहण करो। फलकी कामनावाले कृपण होते हैं।।४९।।

श्रीविश्वनाथ—सकामकर्म निन्दति—दूरेणेति। अवरमतिनिकृष्टं काम्यं कर्म, बुद्धियोगात् परमेश्वरार्पित-निष्कामकर्मयोगात्। बुद्धौ निष्कामकर्मण्येव, बुद्धियोगो निष्कामकर्मयोगः।।४९।।

भावानुवाद—सकाम कर्मकी निन्दा करते हुए श्रीभगवान् 'दूरेण' इत्यादि कह रहे हैं। काम्यकर्म 'अवरं' अर्थात् अतिनिकृष्ट होता है। परमेश्वरको अर्पित निष्काम कर्मयोग ही बुद्धियोग कहलाता है। यहाँ 'बुद्धौ' का तात्पर्य है—निष्काम कर्म एवं 'बुद्धियोग' का तात्पर्य है—निष्काम कर्मयोग।।४९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

कृपण—जो लोग निष्काम कर्मयोगका तात्पर्य नहीं समझ पाते तथा कर्मफलमें आसक्त रहनेके कारण कभी सुखी और कभी दुःखी होते हैं, वे कृपण हैं। वृहदारण्यकमें इसे और भी स्पष्टरूपसे बताया गया है—

एक समय महाराज जनकके राजदरबारमें तत्त्ववेत्ता महर्षियों और ब्रह्मर्षियोंका समागम हुआ था। महाराज जनकने सैकड़ों नई दुधारू गायोंको सुन्दर-सुन्दर बछड़ोंसहित अपने राजकर्मचारियों द्वारा मँगवाया। सभी गायोंके सींग सोनेसे एवं खुर चाँदीसे मढ़े हुए थे। सोनेके अलङ्कारोंसे सुसज्जित वस्त्र उनके पीठपर शोभा पा रहे थे। महाराज जनकने उन ऋषियोंकी ओर मुड़कर बड़े ही नम्रतासे हाथ जोड़कर कहा—"मैं प्रार्थना करता हूँ कि आप लोगोंमें से जो ब्रह्मवेत्ता हैं, वे इन गायोंको ग्रहण करें।" सभासदोंमें परस्पर कानाफूसी होने लगी। कोई भी सहसा अपनेको ब्रह्मवेत्ता बताकर गायोंको ले जानेके लिए खड़ा नहीं हुआ। महाराजने पुनः उनकी ओर गम्भीर मुद्रामें देखा, इस बार महर्षि याज्ञवल्क्यने उठकर अपने छात्रोंको सम्बोधित करते हुए कहा—"वटु! इन गायोंको हाँककर मेरे आश्रममें ले चलो।" ऐसा सुनकर महर्षियोंने उनका प्रतिवाद किया और कहा—"क्या आप ब्रह्मवेत्ता हैं?" महर्षि याज्ञवल्क्यने उत्तर दिया—"ब्रह्मवेत्ताके चरणोंमें मेरा प्रणाम है, तथापि आपलोगोंको इस विषयमें कुछ परीक्षा लेनी हो अथवा कोई जिज्ञासा हो, तो आप ऐसा कर सकते हैं।" महर्षियोंने नाना प्रकारके प्रश्न किए और उन प्रश्नोंका यथोचित उत्तर महर्षि याज्ञवल्क्यने दिया। सबके अन्तमें महाविदुषी गार्गीने बड़ी नम्रतापूर्वक पूछा—"कृपण कौन है तथा ब्राह्मण कौन है?" इसीके उत्तरमें महर्षि याज्ञवल्क्यने कहा—*"यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात् प्रैति स कृपणः'* (वृ. उ. ३/९/१०) अर्थात् हे गार्गि! अच्युत वस्तुस्वरूप भगवान्‌को जाने बिना ही जो इस लोकसे चले जाते हैं, वे कृपण हैं।"

श्रीमद्भागवत (६/९/४८) में भी ऐसा कहा गया है—*'कृपणः गुणवस्तुदृक्'* अर्थात् गुणसे पैदा हुए विषयोंको ही जो परमार्थ वस्तु मानते हैं, वे कृपण हैं। *'कृपणो योऽजितेन्द्रियः'* अर्थात् अजितेन्द्रिय व्यक्ति ही कृपण हैं।।४९।।

बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्।।५०।।

अन्वय—बुद्धियुक्तः (निष्काम कर्मयोगसे युक्त व्यक्ति) इह (इस जन्ममें) उभे सुकृत-दुष्कृते (सुकृत और दुष्कृत दोनोंका ही) जहाति (त्याग करते हैं) तस्मात् (अतः) योगाय (समबुद्धिसे युक्त होकर निष्काम कर्मयोगके लिए) युज्यस्व (चेष्टा करो) कर्मसु (सकाम और निष्काम कर्ममें से) योगः (समभावयुक्त निष्काम कर्म ही) कौशलम् (कौशल है)।।५०।।

अनुवाद—बुद्धियोगसे युक्त व्यक्ति इस जन्ममें ही सुकृत और दुष्कृत—दोनोंका परित्याग करते हैं। अतः तुम निष्काम कर्मयोगके लिए चेष्टा करो। समभावके साथ बुद्धियोगके आश्रयमें कर्म करना ही कर्मयोगका कौशल है।।५०।।

श्रीविश्वनाथ—योगाय उक्तलक्षणाय। युज्यस्व घटस्व, यतः कर्मसु सकाम-निष्कामेषु मध्ये योग एवोदासीनत्वेन कर्मकरणमेव। कौशलं नैपुण्यमित्यर्थः।।५०।।

भावानुवाद—यहाँ 'योगाय' का तात्पर्य है—पूर्वोक्त लक्षणवाले योगके लिए; युज्यस्वका तात्पर्य है—चेष्टा करो अर्थात् समभावयुक्त होकर निष्काम कर्मयोगके लिए चेष्टा करो; क्योंकि सकाम और निष्काम कर्ममें से उदासीन (निष्काम) होकर कर्म करना ही योग है एवं यही निपुणता है।।५०।।

कर्मजं बुद्धियुक्ता हि फलं त्यक्त्वा मनीषिणः।
जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः पदं गच्छन्त्यनामयम्।।५१।।

अन्वय—हि (क्योंकि) बुद्धियुक्ताः मनीषिनः (बुद्धियोगयुक्त मनीषिगण) कर्मजम् फलम् (कर्मसे उत्पन्न फलको) त्यक्त्वा (त्यागकर) जन्मबन्धविनिर्मुक्ताः (जन्म-बन्धनसे मुक्त होकर) अनामयम् (क्लेशरहित) पदम् (वैकुण्ठ) गच्छन्ति (गमन करते हैं)।।५१।।

अनुवाद—बुद्धियोगसे युक्त पण्डितगण कर्मजनित फलको त्यागकर जन्मबन्धनसे मुक्त हो जाते हैं और अनामय पदको प्राप्त करते हैं।।५१।।

यदा ते मोहकलिलं बुद्धिर्व्यतितरिष्यति।
तदा गन्तासि निर्वेदं श्रोतव्यस्य श्रुतस्य च।।५२।।

अन्वय—यदा (जब) ते (तुम्हारी) बुद्धिः (बुद्धि) मोहकलिलम् (मोहरूप सघन वनको) व्यतितरिष्यति (बिल्कुल पार कर जाएगी) तदा (तब) श्रोतव्य

(सुनने योग्य) श्रुतस्य च (और सुने हुए विषयोंके प्रति) निर्वेदम् (वैराग्य) गन्तासि (प्राप्त होगा)।।५२।।

अनुवाद—जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूप सघन वनको पार कर जाएगी, तब तुम सुनने योग्य और सुने हुए विषयोंके प्रति वैराग्य प्राप्त करोगे।।५२।।

श्रीविश्वनाथ—एवं परमेश्वरार्पित-निष्कामकर्माभ्यासात् तव योगो भविष्यतीत्याह—यदेति। तव बुद्धिरन्तःकरणं मोहकलिलं मोहरूपं गहनं विशेषतोऽतिशयेन तरिष्यति, तदा श्रोतव्यस्य श्रोतव्येष्वर्थेषु श्रुतस्य श्रुतेऽप्यर्थेषु निर्वेदं प्राप्स्यसि। असम्भावना-विपरीतभावनयोर्नष्टत्वात् किं मे शास्त्रोपदेशवाक्यश्रवणेन? साम्प्रतं मे साधनेष्वेव प्रतिक्षणमभ्यासः सर्वथोचित इति मंस्यस इति भावः।।५२।।

भावानुवाद—इस प्रकार परमेश्वरके प्रति अर्पित निष्काम कर्मका अभ्यास करनेसे तुम्हारा योग होगा। इसके लिए ही श्रीभगवान् 'यदा' इत्यादि कह रहे हैं। जब तुम्हारा अन्तःकरण मोहरूप गहनको विशेषरूपसे पार जाएगा, तब तुम्हें सुनने योग्य अर्थसमूह एवं सुने हुए अर्थसमूहसे वैराग्य प्राप्त हो जाएगा। यदि प्रश्न हो कि असम्भावना और विपरीत भावना नष्ट होनेपर शास्त्रके उपदेशोंको सुननेसे मेरा क्या प्रयोजन है, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—अभी मेरे द्वारा कथित साधनसमूहका प्रतिक्षण अभ्यास ही सर्वथा उचित है।।५२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

निर्वेद—देहमें आत्मबुद्धि रहनेके कारण जीवोंकी संसारमें आसक्ति होती है। यही संसारका मूल कारण है। जब तक यह संसारासक्ति रहती है, तब तक जीवको न तो तत्त्वज्ञान होता है और न ही संसारसे विरक्ति होती है। संसारसे अनासक्त होना ही निर्वेद है। निर्वेद सहज ही नहीं होता। परमेश्वरके प्रति अर्पित निष्काम कर्मके द्वारा क्रमशः देहात्मबुद्धि नष्ट होती है, तत्पश्चात् वैराग्य अथवा निर्वेद उपस्थित होता है, जिसके द्वारा श्रोतव्य और श्रुत समस्त शास्त्रोंमें कथित नाना प्रकारके कामनामूलक अनुष्ठानोंका परित्यागकर लोग ऐकान्तिक भजनमें प्रवृत्त होते हैं। श्रुतियोंमें भी यही उपदेश पाये जाते हैं—

'परीक्ष्य लोकान् कर्मचितान् ब्राह्मणो निर्वेदमायात्'

(मु. उ. १/२/१२)

अर्थात् कर्मके द्वारा उपार्जित ऐहिक और पारत्रिक सुखोंको अनित्य और दुःखप्रद जानकर तत्त्ववेत्ता ब्राह्मण निर्वेद प्राप्त होते हैं।

प्रह्लाद महाराजने भी ऐसा ही कहा है—

'आद्यन्तवन्त उरुगाय विदन्ति हि त्वामेवं विमृश्य सुधियो विरमन्ति शब्दात्' (श्रीमद्भा. ७/९/४९)

अर्थात्, हे उरुक्रम! विवेकी पुरुष सभी वस्तुओंको आदि-अन्तविशिष्ट जानकर वेदाध्ययनादि कार्योंसे विरत होकर एकमात्र भगवान्‌का भजन करते हैं।।५२।।

श्रुतिविप्रतिपन्ना ते यदा स्थास्यति निश्चला।
समाधावचला बुद्धिस्तदा योगमवाप्स्यसि।।५३।।

अन्वय—यदा (जब) ते (तुम्हारी) बुद्धिः (बुद्धि) श्रुतिविप्रतिपन्ना (नाना प्रकारके लौकिक और वैदिक अर्थोंके श्रवणसे विरक्त) (एवं) निश्चला (अनासक्त होकर) समाधौ (परमेश्वरमें) अचला (अचल) स्थास्यति (स्थित हो जाएगी) तदा (तब) योगम् (योगका फल) अवाप्स्यसि (प्राप्त करोगे)।।५३।।

अनुवाद—जब तुम्हारी बुद्धि नाना प्रकारके लौकिक और वैदिक अर्थोंको सुननेसे विरक्त हो जाएगी एवं अन्य आसक्तिसे रहित होकर परमेश्वरमें स्थिर हो जाएगी, तब तुम योगफल लाभ करोगे।।५३।।

श्रीविश्वनाथ—ततश्च श्रुतिषु नाना-लौकिक वैदिकार्थश्रवणेषु विप्रतिपन्ना असम्मता विरक्तेति यावत्। तत्र हेतुः—निश्चला तेषु तेष्वर्थेषु चलितुं विमुखीभूतेत्यर्थः। किन्तु समाधौ षष्ठेऽध्याये वक्ष्यमाण-लक्षणेऽचला स्थैर्यवती, तदा योगमपरोक्षानुभवप्राप्त्या, जीवन्मुक्त इत्यर्थः।।५३।।

भावानुवाद—उसके बाद तुम नाना लौकिक और वैदिक अर्थोंके श्रवणसे विरक्त हो जाओगे। उसके कारण तुम निश्चल हो जाओगे अर्थात् उन उन अर्थोंके द्वारा चालित नहीं होओगे। षष्ठ अध्यायमें भी वर्णित समाधिका लक्षण 'अचला' अर्थात् 'स्थैर्यवती' बताया गया है। तब योगके द्वारा अपरोक्षानुभव प्राप्त होनेपर जीवनसे मुक्ति पाओगे।।५३।।

अर्जुन उवाच—
स्थितप्रज्ञस्य का भाषा समाधिस्थस्य केशव।
स्थितधीः किं प्रभाषेत किमासीत व्रजेत किम्।।५४।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) केशव (हे केशव!) समाधिस्थस्य (समाधिमें स्थित) स्थितप्रज्ञस्य (स्थिर बुद्धिवाले व्यक्तिका)

का (क्या) भाषा (लक्षण है) स्थितधीः (स्थिर बुद्धिवाले व्यक्ति) किम् प्रभाषेत (किस प्रकार बोलते हैं) किम् आसीत (किस प्रकार बैठते हैं) किम् व्रजेत (किस प्रकार चलते हैं)।।५४।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे केशव! समाधिमें स्थित स्थिर बुद्धिवाले व्यक्तिके क्या लक्षण हैं? वे किस प्रकार बोलते हैं, किस प्रकार बैठते हैं एवं किस प्रकार चलते हैं?।।५४।।

श्रीविश्वनाथ—समाधावचला बुद्धिरिति श्रुत्वा तत्त्वतो योगिनो लक्षणं पृच्छति—स्थितप्रज्ञस्येति, स्थिता स्थिराऽचला प्रज्ञा बुद्धिर्यस्येति। का भाषा?—भाष्यतेऽनयेति भाषा लक्षणं किं लक्षणमित्यर्थः। कीदृशस्य समाधिस्थस्येति समाधौ स्थास्यतीति। अस्यार्थः—एवञ्च स्थितप्रज्ञ इति समाधिस्थ इति जीवन्मुक्तस्य संज्ञाद्वयम्। किं प्रभाषेतेति सुखदुःखयोर्मानापमानयोः स्तुतिनिन्दयोः स्नेहद्वेषयोर्वा समुपस्थितयोः किं प्रभाषेत? स्पष्टं स्वगतं वा किं वदेदित्यर्थः। किमासीत?—तदिन्द्रियाणां बाह्यविषयेषु चलनाभावः कीदृशः? व्रजेत किं?—तेषु चलनं वा कीदृशमिति।।५४।।

भावानुवाद—पूर्व श्लोकमें अर्जुनने सुना—'समाधावचला' अर्थात् समाधिमें अचला बुद्धि। इसे श्रवण करनेके पश्चात् अर्जुन तत्त्वतः योगीके लक्षणोंके बारेमें जिज्ञासा कर रहे हैं। जो स्थितप्रज्ञ होते हैं अर्थात् जिनकी प्रज्ञा (बुद्धि) अचला या स्थिरा होती है, वे कैसे बोलते हैं, उनकी भाषाका क्या लक्षण है? 'समाधिस्थ' पुरुष किस प्रकार समाधिमें रहते हैं? 'स्थितप्रज्ञ' और 'समाधिस्थ'—ये दोनों संज्ञाएँ मुक्त जीवोंके लिए प्रयुक्त हुई हैं। सुख या दुःख, मान या अपमान, स्तुति या निन्दा, स्नेह या द्वेष इत्यादिके उपस्थित होनेपर वे क्या बोलते हैं? वे स्पष्ट बोलते हैं या अपने लिए ही बुदबुदाते हैं? वे किस प्रकार बैठते हैं? इन्द्रियोंके बाह्य विषयोंमें किस प्रकार कार्य करते हैं? वे किस प्रकार चलते हैं अर्थात् बाह्य विषयोंमें उनकी इन्द्रियोंका चलना कैसा होता है?।।५४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकसे आरम्भकर अर्जुनने भगवान् श्रीकृष्णसे प्रधानतः सोलह प्रश्न किए हैं, जिनके उत्तरमें श्रीकृष्णने कर्म, कर्मयोग, ज्ञान, ज्ञानयोग, ध्यान, तपस्या, कर्ममिश्रा भक्ति, ज्ञानमिश्रा भक्ति, शुद्धाभक्तिके गूढ़ रहस्योंको प्रकाशित करते हुए गीताके अठारहवें अध्याय तक सर्वगुह्यतम प्रेमाभक्तिका निर्देश किया है तथा इस भक्तिमें

प्रवेश पानेके लिए उसके द्वारस्वरूप अपनी शरणागतिका उपदेश दिया है। ये सोलह प्रश्न निम्नलिखित हैं—

(१) *'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा'* (गीता २/५४)
(२) *'ज्यायसी चेत् कर्मणस्ते'* (गीता ३/१)
(३) *'अथ केन प्रयुक्तोऽयं'* (गीता ३/३६)
(४) *'अपरं भवतो जन्म'* (गीता ४/४)
(५) *'संन्यासं कर्मणां कृष्ण'* (गीता ५/१)
(६) *'योऽयं योगस्त्वया'* (गीता ६/३३)
(७) *'अयतिः श्रद्धयोपेतो'* (गीता ६/३७)
(८) *'किन्तद्ब्रह्म किमध्यात्मं'* (गीता ८/१)
(९) *'वक्तुमर्हस्यशेषेण'* (गीता १०/१६)
(१०) *'एवमेतद् यथात्थ'* (गीता ११/३)
(११) *'आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो'* (गीता ११/३१)
(१२) *'तेषां के योगवित्तमाः'* (गीता १२/१)
(१३) 'प्रकृतिं पुरुषञ्चैव' (गीता १३/१)
(१४) *'कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणान्'* (गीता १४/२१)
(१५) *'तेषां निष्ठा तु का कृष्ण'* (गीता १७/१)
(१६) *'संन्यासस्य महाबाहो'* (गीता १८/१) ।।५४।।

श्रीभगवानुवाच—
प्रजहाति यदा कामान् सर्वान् पार्थ मनोगतान्।
आत्मन्येवात्मना तुष्टः स्थितप्रज्ञस्तदोच्यते।।५५।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) पार्थ (हे पार्थ!) यदा (जब) सर्वान् मनोगतान् कामान् (मनकी सभी कामनाओंको) प्रजाहति (त्यागकर) आत्मनि एव (निग्रह हुआ मन ही) आत्मना (आनन्दस्वरूप आत्माके द्वारा) तुष्टः (तुष्ट होता है) तदा (तब) [सः—वे] स्थितप्रज्ञः (स्थितप्रज्ञ) उच्यते (कहलाते हैं)।।५५।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे पार्थ! जब वे मनकी समस्त कामनाओंका परित्याग कर देते हैं और निग्रह किए हुए मनमें ही आनन्दस्वरूप आत्माके द्वारा तुष्ट होते हैं, तब वे स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं।।५५।।

श्रीविश्वनाथ—चतुर्णां प्रश्नानां क्रमेणोत्तरमाह—प्रजहातीति यावदध्याय-समाप्तिः। सर्वानिति कस्मिन्नप्यर्थे यस्य किञ्चिन्मात्रोऽपि नाभिलाष इत्यर्थः।

मनोगताननिति कामानामनात्म-धर्मत्वेन परित्यागे योग्यता दर्शिता। यदि ते ह्यात्मधर्माः स्युस्तदा तांस्त्यक्तुमशक्येरन् वह्नेरोष्ण्यवदिति भावः। तत्र हेतुः—आत्मनि प्रत्याहृते मनसि प्राप्तो य आत्मा आत्मानन्दरूपस्तेन तुष्टः। तथा च श्रुतिः—"*यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते॥*" इति।।५५।।

भावानुवाद—अब श्रीभगवान् 'प्रजहाति' से आरम्भकर अध्यायके अन्त तक क्रमशः चारों प्रश्नोंका उत्तर दे रहे हैं। 'सर्वान्' का तात्पर्य है—जिसे किसी भी प्रकारकी किञ्चित्मात्र भी अभिलाषा नहीं है। 'मनोगतान्' शब्दसे अनात्मधर्मके कारणस्वरूप कामनाओंके परित्याग करनेकी योग्यता प्रदर्शित होती है। यदि वे आत्मधर्म होते तो अग्निकी उष्णताकी भाँति उनका भी परित्याग करना असम्भव होता। इसका कारण यह है कि निगृहीत मन आनन्दस्वरूप आत्माको प्राप्तकर आत्माके द्वारा ही सन्तुष्ट होता है। श्रुतिमें भी कहा गया है—'*यदा सर्वे प्रमुच्यन्ते कामा येऽस्य हृदि स्थिताः। अथ मर्त्योऽमृतो भवत्यत्र ब्रह्म समश्नुते।।*' अर्थात् जिस समय इसके हृदयमें स्थित सभी कामनाएँ दूर हो जाती हैं, उस समय मर्त्य भी अमृत हो जाता है और ब्रह्म लाभ करता है। (क. उ. २३/१४)।।५५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकके साथ '*आत्मन्येव च सन्तुष्टः*' (गीता ३/१७) का भी अनुशीलन करना चाहिए। भक्त प्रवर प्रह्लाद महाराजने भी श्रीमद्भागवत (७/१०/९) में ऐसा ही कहा है—

'विमुञ्चति यदा कामान् मानवो मनसि स्थितान्।
तर्ह्येव पुण्डरीकाक्ष भगवत्त्वाय कल्पते।।'

अर्थात्, हे पुण्डरीकाक्ष! मनुष्य जब अपने हृदयस्थित कामनाओंका परित्याग कर देता है, तब वह आपके समान ही ऐश्वर्य प्राप्त करनेमें समर्थ होता है।।५५।।

दुःखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः।
वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुच्यते।।५६।।

अन्वय—दुःखेषु (आध्यात्मिक, आधिदैविक एवं आधिभौतिक—तीनों तापोंके उपस्थित होनेपर) अनुद्विग्नमनाः (जिनका मन उद्वेगरहित रहता है) सुखेषु (सुखके उपस्थित होनेपर) विगतस्पृहः (स्पृहाहीन रहता है) वीतरागभयक्रोधः (राग, भय, क्रोधसे रहित) मुनिः (ऐसे मुनि) स्थितधीः (स्थितप्रज्ञ) उच्यते (कहलाते हैं)।।५६।।

अनुवाद—जो आध्यात्मिकादि तीनों तापोंके उपस्थित होनेपर उद्विग्न नहीं होते हैं, सुख प्राप्त करनेपर सुखमें स्पृहाहीन रहते हैं; राग, भय तथा क्रोधसे रहित ऐसे मुनि स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं।।५६।।

श्रीविश्वनाथ—किं प्रभाषेतेत्यस्य उत्तरमाह—दुःखेष्विति द्वयाभ्याम् दुःखेषु क्षुत्पिपासाज्वर-शिरोरोगादिष्वाध्यात्मिकेषु सर्पव्याघ्राद्युत्थितेष्वाधिभौतिकेष्वति-वातवृष्ट्याद्युत्थितेष्वाधिदैविकेषु उपस्थितेष्वनुद्विग्नमनाः प्रारब्धं दुःखमिदं मयावश्यं भोक्तव्यमिति स्वगतं केनचित् पृष्टः सन् स्पष्टञ्च ब्रुवन्, न दुःखेषूद्विजत इत्यर्थः। तस्य तादृशमुखविक्रियाभाव एवानुद्वेगलिङ्गं सुधिया गम्यम्, कृत्रिमानुद्वेगलिङ्गवांस्तु कपटी-सुधिया परिचितो भ्रष्ट एवोच्यत इति भावः। एवं सुखेष्वप्युपस्थितेषु विगतस्पृह इति प्रारब्धमिदमवश्यभोग्यमिति स्वगतं स्पष्टञ्च ब्रुवाणस्य तस्य सुखस्पृहा-राहित्यलिङ्गं सुधिया गम्यमेवेति भावः। तत्तल्लिङ्गमेव स्पष्टीकृत्य दर्शयति—वीतो विगतो रागोऽनुरागः सुखेषु, वीतं भयं स्वभोक्तृभ्यो व्याघ्रादिभ्यः वीतः क्रोधः स्वहन्तृषु बन्धुजनेषु यस्य सः। यथैवादि-भरतस्य देव्याः पार्श्वं प्रापितस्य स्वच्छेदचिकीर्षोर्वृषलराजान्न भयम्, नापि तत्र क्रोधोऽभूदिति।।५६।।

भावानुवाद—स्थितप्रज्ञ पुरुष क्या बोलते हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् 'दुःखेषु' इत्यादि दो श्लोकोंकी अवतारणा कर रहे हैं। 'दुःखेषु'—भूख-प्यास-ज्वर-सिरदर्द आदि आध्यात्मिक दुःख हैं, सर्प-बाघ इत्यादि प्राणियोंसे उत्पन्न दुःख आधिभौतिक दुःख हैं एवं अतिवृष्टि आदिसे उत्पन्न दुःख आधिदैविक दुःख हैं। 'अनुद्विग्नमनाः' उसे कहते हैं, जो इन दुःखोंके उपस्थित होनेपर ऐसा सोचते हैं कि प्रारब्धसे प्राप्त दुःखोंका मुझे भोग करना ही है एवं ऐसा जानकर या तो स्वयंसे कुछ कहते हैं अथवा दूसरेके द्वारा पूछे जानेपर स्पष्टरूपसे बोलते हैं, परन्तु दुःखसे उत्तेजित नहीं होते हैं। दुःखके उपस्थित होनेपर भी मुखपर किसी भी प्रकारकी विकृति न होनेपर विज्ञगण ऐसा लक्ष्य करते हैं कि इसे किसी भी प्रकार उद्वेग नहीं है। किन्तु, यदि कोई कपटी व्यक्ति कृत्रिम रूपसे अनुद्वेगका लक्षण प्रकट करता है, तो विज्ञगण इसे समझ जाते हैं और उसे भ्रष्ट कहते हैं। इसी प्रकार सुखके उपस्थित होनेपर जो स्पृहाशून्य रहते हैं अर्थात् यह प्रारब्ध भोग है—ऐसा जानकर वे या तो स्वगत (अपने आपसे) या स्पष्ट बोलते हैं, विज्ञ व्यक्ति उसे भी समझ लेते हैं। उन लक्षणोंको स्पष्ट करते हुए कहते हैं—'वीतराग' अर्थात् वे सुखोंके प्रति

अनुरागशून्य होते हैं। 'वीतभय' अर्थात् अपनेको खानेवाले बाघ आदिसे भी भयरहित होते हैं। 'वीतक्रोध' अपनेको मारनेवाले व्यक्तिपर भी क्रोध नहीं करते हैं। उदाहरणार्थ—जिस प्रकार आदि भरत (जड़भरत) को देवीके पास ले जाकर मारनेवाले राजा वृषलसे भरत महाराजको भय नहीं हुआ और न ही उसपर क्रोध आया।।५६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक—इन त्रिविध दुःखोंके उपस्थित होनेपर भी जिनका चित्त उद्विग्न नहीं होता तथा सुखकी स्पृहासे रहित अर्थात् सुखके प्राप्त होनेपर भी उल्लास नहीं होता, वैसे व्यक्तिको स्थितप्रज्ञ कहते हैं। *'न प्रहृष्येत् प्रियं प्राप्य नोद्विजेत् प्राप्य चाप्रियम्'* (गीता ५/१९) अर्थात् जो व्यक्ति प्रिय वस्तुको पाकर आह्लादित नहीं होते, वे स्थितप्रज्ञ हैं। इसका उदाहरण श्रीमद्भागवतमें भरत महाराजका चरित्र है—

महाराज भरत सर्वस्व त्यागकर किसी वनमें निर्जन प्रान्तमें भगवत्-आराधना कर रहे थे। जीवनके अन्त समयमें एक हिरण-शिशुके प्रति उनकी आसक्ति हुई, इसीलिए अन्तिम मनःस्थितिके कारण उन्हें हिरणका जन्म मिला। किन्तु, पूर्व स्मृति रहनेके कारण इस जन्ममें अपने सगे-सम्बन्धियोंसे दूर रहकर ऋषि-आश्रममें हरिकथाके श्रवणादिमें ही अपना जीवन बिताया। अपने पूर्व जीवनकी भगवत्-आराधानके फलसे पुनः किसी धर्मप्राण ब्राह्मणके घरमें जन्म लिया। इस बार पिता द्वारा बहुत चेष्टा किए जानेपर भी वे वेदाध्ययनादि विषयोंसे सर्वथा दूर रहकर पागल होनेका भ्रम प्रदर्शितकर आन्तरिकरूपसे भगवत्-स्मरण करते थे। अपनी विमाता, सौतेले भाईयों तथा स्वजनकी कूटोक्तियों एवं दुर्व्यवहारोंको सहकर भी भगवत्-उपासनामें मत्त रहते थे। किसी समय चोरोंका सरदार वृषलराज पुत्र-कामनाके हेतु सुलक्षणयुक्त नरकी बलि अपने इष्टदेवी भद्रकालीको देना चाहता था। उसका पहलेसे पकड़ा गया यज्ञ-पशु किसी प्रकार अपना बन्धन खोलकर भाग गया। वृषलराजके उस यज्ञ पशुके अनुसन्धानमें घूमते-घूमते महाभागवत जड़भरतजीको खेतकी रखवाली करते हुए देखा और बड़े प्रसन्न होकर इन्हें सुलक्षणयुक्त जानकर नरबलिकी विधिके अनुसार खिलाया-पिलाया, रोली, पुष्प और चन्दनसे सजाया और बलि देनेके लिए देवीके सामने उपस्थित किया। इसे देख, सुन और समझकर भी परम भागवत जड़भरत न तो भयभीत हुए, न ही क्रुद्ध हुए, बल्कि

भगवत्-स्मरण करते हुए सम्पूर्णरूपसे निश्चिन्त खड़े रहे। ज्योंही दस्युओंने इनका सिर छेदन करना चाहा, त्योंही देवी विकरालरूपसे अट्टाहास करती हुई प्रकट हुईं और उनके हाथोंसे खड्ग छीनकर वृषलराज एवं उनके समस्त अनुचरोंका सिर काटकर उनका रक्तपान करने लगीं तथा उनके मस्तकोंको गेंद बनाकर क्रीड़ा करते हुए नृत्य करने लगीं। अन्तमें उन्होंने महाभागवत भरत महाराजको प्रीतिसहित विदाई दी। आज भी ये भद्रकाली कुरुक्षेत्रमें विद्यमान हैं।

श्रीशुकदेव गोस्वामी श्रीमद्भागवतमें जड़भरतके इस चरित्रका वर्णन करते हुए परीक्षित महाराजसे कह रहे हैं—हे विष्णुरात! जिन्होंने देहात्मबुद्धिरूप दुश्च्छेद्य हृदग्रन्थिका सम्पूर्णरूपसे छेदन कर दिया है, जिन लोगोंका हृदय समस्त प्राणियोंके कल्याणकी चिन्तामें निमग्न रहता है, जो किसीका अपकार नहीं करते अथवा किसीके प्रति शत्रुताका भाव नहीं रखते, कालके भी कालस्वरूप सुदर्शन चक्रधारी भक्तरक्षण-कार्यमें सदा मत्त भगवान् विष्णु जिनकी सब प्रकारसे रक्षा करते हैं, जिन्होंने भगवान्के अभय श्रीचरणकमलोंका आश्रय ग्रहण किया है, वे परमभागवत परमहंस अपना सिर-छेदनकाल उपस्थित होनेपर भी उद्विग्न नहीं होते। इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है।।५६।।

यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत् प्राप्य शुभाशुभम्।
नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५७।।

अन्वय—यः (जो) सर्वत्र (पुत्र-मित्रादिमें) अनभिस्नेहः (स्नेहरहित) तत् तत् (उस उस) शुभाशुभम् (अनुकूल और प्रतिकूलको) प्राप्य (पाकर) न अभिनन्दति (न प्रसन्न होते हैं) न द्वेष्टि (न द्वेष करते हैं) तस्य (उनकी) प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठिता (स्थिर है)।।५७।।

अनुवाद—जो व्यक्ति सर्वत्र स्नेहरहित होते हैं और अनुकूलकी प्राप्तिसे न तो प्रसन्न होते हैं और न ही प्रतिकूलके प्राप्त हानेपर उससे द्वेष करते हैं, उनकी बुद्धि स्थिर है।।५७।।

श्रीविश्वनाथ—अनभिस्नेहः सोपाधिस्नेहशून्यः दयालुत्वान्निरुपाधिरीषन्मात्रस्नेहस्तु तिष्ठेदेव। तत्तत्प्रसिद्धं सम्मान-भोजनादिभ्यः स्वपरिचरणं शुभं प्राप्याशुभमनादरणं मुष्टिप्रहारादिकञ्च प्राप्य क्रमेण नाभिनन्दति, न प्रशंसति—त्वं धार्मिकः परमहंस-सेवी सुखी भवेति न ब्रूते, न द्वेष्टि—त्वं पापात्मा नरके पतेति

नाभिशपति, तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता—समाधिं प्रति स्थिता, सुस्थितप्रज्ञा उच्यत इत्यर्थः।।५७।।

भावानुवाद—यहाँ 'अभिस्नेहः' का तात्पर्य है— जो उपाधियुक्त स्नेहसे रहित हैं, किन्तु दयालु होनेके कारण ऐसे व्यक्तिमें भी थोड़ा निरुपाधिक स्नेह अवश्य ही रहता है। जहाँ-तहाँ सम्मान-भोजनादि शुभ (अनुकूल) वस्तुओंकी प्राप्ति होनेपर वे न तो उसका अभिनन्दन करते हैं और न ही इस प्रकारकी प्रशंसा करते हैं कि तुम धर्मात्मा हो, परमहंसकी सेवा करनेवाले हो, तुम सुखी होओ। पुनः अनादर, पिटाई इत्यादि अशुभ (प्रतिकूल) वस्तुओंकी प्राप्ति होनेपर भी वे न तो उससे द्वेष करते हैं और न ही इस प्रकारका अभिशाप देते हैं कि तुम पापी हो, तुम नरकमें पतित होओ। ऐसे व्यक्तिकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित होती है अर्थात् समाधिमें स्थित होती है। इसे ही सुस्थित-प्रज्ञा कहते हैं।।५७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—स्नेह दो प्रकारका होता है— (१) देहसे सम्बन्धित अर्थात् सोपाधिक स्नेह और (२) भगवद्सम्बन्धी अर्थात् निरुपाधिक स्नेह। देहात्मबुद्धिवाले साधारण लोगोंमें सोपाधिक स्नेह देखा जा सकता है। स्थितप्रज्ञ व्यक्ति देहात्मबुद्धिसे रहित होनेके कारण सोपाधिक स्नेहसे रहित होते हैं, किन्तु प्राणिमात्रके कल्याणकी भावना रखनेके कारण वे निरुपाधिक स्नेहयुक्त होते हैं। किन्तु, उनके इस स्नेहका परिचय यदा-कदा किसी विशेष समयमें पाया जाता है, अन्यथा उनके हृदयमें ऐसे स्नेहकी धारा सर्वदा प्रवाहित होती रहती है, जो साधारण लोगोंके लिए दुर्लक्ष्य होती है।।५७।।

यदा संहरते चायं कूर्मोऽङ्गानीव सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।५८।।

अन्वय—यदा च (जब) अयम् (ये मुनि) कुर्मोऽङ्गानीव (कछुएके अङ्गोंके सदृश) इन्द्रियाणि (अपनी इन्द्रियोंको) सर्वशः (सर्वतोभावेन) इन्द्रियार्थेभ्यः (इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे) संहरते (खींच लेते हैं) [तदा—तब] तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता (उसकी प्रज्ञा प्रतिष्ठित है)।।५८।।

अनुवाद—कछुआ जिस प्रकार अपने अङ्गोंको इच्छानुसार अपने कवचके अन्दर कर लेता है, उसी प्रकार जब ये मुनि भी अपनी इन्द्रियोंको इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे खींच लेते हैं, तब वे स्थितप्रज्ञ कहलाते हैं।।५८।।

श्रीविश्वनाथ—किमासीतेत्यस्योत्तरमाह—यदेति। इन्द्रियार्थेभ्यः शब्दादिभ्यः इन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि संहरते। स्वाधीनानामिन्द्रियाणां बाह्यविषयेषु चलनं निषिध्यान्तरेव निश्चलतया स्थापनं स्थितप्रज्ञस्यासनमित्यर्थः। तत्र दृष्टान्तः—कूर्मोऽङ्गानि मुखनेत्रादीनि यथा स्वान्तरेव स्वेच्छया स्थापयति।।५८।।

भावानुवाद—अर्जुनके प्रश्न 'किमासीत' अर्थात् किस प्रकार बैठते हैं—इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण 'यदा' इत्यादि कह रहे हैं। 'इन्द्रियार्थेभ्यः'—जिस प्रकार शब्दादि विषयोंसे कान इत्यादि इन्द्रियाँ अपनेको अलग कर लेती हैं। स्वाधीन इन्द्रियोंको बाह्य विषयसमूहसे निग्रहकर निश्चलरूपमें अपने अन्तःकरणमें स्थापितकर लेना ही स्थितप्रज्ञ व्यक्तिका आसन है। इसके लिए कछुएका दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार कछुआ अपने आँख-मुख इत्यादिको स्वेच्छापूर्वक अपने कवचके अन्दर कर लेता है, स्थितप्रज्ञ व्यक्ति भी उसी प्रकार अपनी इन्द्रियोंको खींच लेते हैं।।५८।।

विषया विनिवर्त्तन्ते निराहारस्य देहिनः।
रसवर्जं रसोऽप्यस्य परं दृष्ट्वा निवर्त्तते।।५९।।

अन्वय—निराहारस्य (इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको न ग्रहण करनेवाले) देहिनः (देहाभिमानी अज्ञ व्यक्तिके) विषयाः (विषयसमूह) विनिवर्त्तन्ते (निवृत्त हो जाते हैं) (किन्तु) रसवर्जम् (विषयका राग नहीं जाता) परम् (परमात्माका) दृष्ट्वा (दर्शनकर) अस्य (स्थितप्रज्ञ व्यक्तिका) रसः अपि (विषयका राग भी) निवर्त्तते (निवृत्त हो जाता है)।।५९।।

अनुवाद—इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको नहीं ग्रहण करनेवाले देहाभिमानी व्यक्तिके विषयसमूह तो निवृत्त हो जाते हैं, परन्तु विषयोंके प्रति उसका जो राग है, वह निवृत्त नहीं होता है। दूसरी ओर परमात्माके दर्शनसे स्थितप्रज्ञ व्यक्तिका विषयोंके प्रति जो राग है, उसकी भी निवृत्ति हो जाती है।।५९।।

श्रीविश्वनाथ—ननु मूढस्याप्युपवासतो रोगादि—वशाद्वेन्द्रियाणां विषयेष्वचलनं सम्भवेत्तत्राह—विषया इति। रसवर्जं रसो रागोऽभिलाषस्तु वर्जयित्वा, अभिलाषस्तु विषयेषु न निवर्त्तत इत्यर्थः। अस्य स्थितप्रज्ञस्य तु परं परमात्मानं दृष्ट्वा विषयेष्वभिलाषो निवर्त्तत इति न लक्षणव्यभिचारः। आत्मसाक्षात्कारसमर्थस्य तु साधकत्वमेव, न तु सिद्धत्वमिति भावः।।५९।।

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि मूढ़ लोगोंके इन्द्रियोंका भी उपवाससे या रोगादिसे अतिक्रान्त होनेसे विषयोंके प्रति निवृत्ति सम्भव है, तो इसके

उत्तरमें श्रीभगवान् 'विषया' इत्यादि कह रहे हैं। 'रसवर्जं' का तात्पर्य है—रस या राग अर्थात् विषयोंकी अभिलाषाकी निवृत्ति नहीं होती है। किन्तु, स्थितप्रज्ञकी विषय-अभिलाषा परमात्माके दर्शनसे निवृत्त हो जाती है। यहाँ लक्षणका व्यभिचार नहीं है। जो आत्मसाक्षात्कारमें समर्थ हैं, वे साधक ही हैं, सिद्ध नहीं।।५९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—हठयोग, उपवास अथवा रोगादिके कारण विषयोंका भोग न करनेपर भी विषय-भोगकी लालसा हृदयमें विद्यमान रहती है। भगवत्-भक्तिके बिना इस लालसाको दूर करना असम्भव है।

"निराहारके द्वारा देहाभिमानी जीवोंका विषय-निवृत्तिका जो उपाय देखा जाता है, वह अत्यन्त ही मूढ़ लोगोंके लिए है। अष्टाङ्गयोगमें यम, नियम, आसन, प्राणायाम और प्रत्याहारके द्वारा विषय-निवृत्तिकी व्यवस्था दी गई है—वह ऐसे ही मूढ़ लोगोंके लिए है। किन्तु स्थितप्रज्ञ व्यक्तियोंके लिए यह विधि स्वीकृत नहीं है। स्थितप्रज्ञ पुरुष परमतत्त्वके सौन्दर्यका दर्शनकर उसमें आकृष्ट हो जाते हैं और वे सामान्य जड़ीय विषय-रागका त्याग कर देते हैं। अतिमूढ़ लोगोंके लिए इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे इन्द्रियोंको दूर रख इन्द्रियोंको निराहार द्वारा संयमित करनेकी व्यवस्था रहनेपर भी रागमार्गके अतिरिक्त जीवोंका नित्यमङ्गल नहीं होता है। उत्कृष्ट विषय प्राप्त होते ही राग स्वभावतः निकृष्ट विषयका परित्याग कर देता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।५९।।

यततो ह्यपि कौन्तेय पुरुषस्य विपश्चितः।
इन्द्रियाणि प्रमाथीनि हरन्ति प्रसभं मनः।।६०।।

अन्वय—कौन्तेय (हे अर्जुन!) हि (क्योंकि) प्रमाथीनि इन्द्रियाणि (मथन कर देनेवाली ये इन्द्रियाँ) प्रसभम् (बलपूर्वक) यततः (मोक्षके लिए यत्नशील) विपश्चितः पुरुषस्य अपि (विवेकी पुरुषका भी) मनः (मन) हरन्ति (हर लेती हैं)।।६०।।

अनुवाद—हे अर्जुन! क्योंकि क्षोभ उत्पन्न कर देनेवाली ये इन्द्रियाँ मोक्षके लिए यत्नशील विवेकी पुरुषका भी मन बलपूर्वक हर लेती हैं।।६०।।

श्रीविश्वनाथ—साधकावस्थायान्तु यत्न एव महान्, न त्विन्द्रियाणि परावर्त्तयितुं सर्वथा शक्तिरित्याह—यतत इति। प्रमाथीनि प्रमथनशीलानि क्षोभकराणीत्यर्थः।।६०।।

भावानुवाद—साधकावस्थामें यत्न करना ही बड़ी बात है, किन्तु इस अवस्थामें इन्द्रियोंका पूर्ण निग्रह करना साधककी शक्तिसे परे है। इसके लिए ही यहाँ 'यततः' इत्यादि कहा जा रहा है। यहाँ 'प्रमाथीनि' का अर्थ है—प्रमथनशील अर्थात् क्षोभ उत्पन्न करनेवाली।।६०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—साधकका इन्द्रियोंको संयम करनेके लिए विशेष सावधानीपूर्वक यत्न करना कर्त्तव्य है। बिना इन्द्रियसंयमके स्थितप्रज्ञ नहीं हुआ जा सकता, किन्तु अत्यन्त चञ्चल और क्षोभकारी इन्द्रियोंको सम्पूर्णरूपसे संयम कर लेना वायुको वशीभूत करनेकी भाँति दुःसाध्य है। परन्तु श्रीचैतन्य महाप्रभुके शिक्षानुसार समस्त इन्द्रियोंको भगवत्-सेवामें नियुक्त करनेपर वह दुःसाध्य कार्य भी अत्यन्त सहज हो जाता है।

इन्द्रियोंको किस प्रकार संयमितकर श्रीभगवान्‌की सेवामें नियुक्त किया जा सकता है, श्रीमद्भागवतमें महाराज अम्बरीषके दैनन्दिन चरित्रसे यह सीखा जा सकता हैं—

'स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठगुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये।।
मुकुन्दलिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते।।
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमश्लोकजनाश्रया रतिः।।

(श्रीमद्भा. ९/४/१८-२०)

वे अपने मनको श्रीकृष्णके चरणकमलोंके स्मरणमें, जिह्वाको उनके नाम-रूप-गुण-लीलाका वर्णन करनेमें, अपने कर्णोंको भगवत्-कथाके श्रवणमें, नेत्रोंको श्रीभगवत्-विग्रहादिके दर्शनमें, त्वचाको भगवत्-भक्तोंके चरणादिकी सेवा-सुखकी अनुभूतिमें, नासिकाको भगवत्-चरणोंमें अर्पित तुलसी-चन्दनादि सुगन्धित द्रव्योंके सूँघनेमें, चरणोंको भगवत्-धामकी परिक्रमा करनेमें तथा मस्तकको भगवान् और भक्तोंके चरणोंमें प्रणाम करनेमें नियुक्तकर सर्वदा भगवत्-आराधनामें तत्पर रहते थे। इस प्रकार उन्होंने अपनी समस्त इन्द्रियोंको वशीभूतकर भगवत्-सेवामें नियुक्त कर रखा था। साधकोंके लिए इसी पथका अनुसरण करना श्रेयस्कर है।।६०।।

तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः।
वशे हि यस्येन्द्रियाणि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६१।।

अन्वय—मत्परः (मेरे परायण) युक्तः (भक्तियोगी) [सन्—होकर] तानि सर्वाणि (उन इन्द्रियोंको) संयम्य (संयमितकर) आसीत (स्थित होना चाहिए) हि (क्योंकि) यस्य (जिनकी) इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) वशे (वशीभूत हैं) तस्य (उनकी) प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठिता (स्थिर है)।।६१।।

अनुवाद—इसलिए वे मेरे परायण भक्तियोगी होकर इन्द्रियोंको संयमितकर मेरे आश्रित होकर अवस्थान करें। क्योंकि, जिनकी इन्द्रियाँ वशमें हैं, उनकी ही बुद्धि स्थिर है अर्थात् वे ही स्थितप्रज्ञ हैं।।६१।।

श्रीविश्वनाथ—मत्परो मद्भक्त इति, मद्भक्तिं विना नैवेन्द्रियजय इत्यग्रिमग्रन्थेऽपि सर्वत्र द्रष्टव्यम्, यदुक्तमुद्धवेन—*"प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः। विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः॥" "अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं हंसाः श्रयेरन्"* इति। वशे हीति स्थितप्रज्ञस्येन्द्रियाणि वशीभूतानि भवन्तीति साधकाद्विशेष उक्तः।।६१।।

भावानुवाद—यहाँ 'मत्पर' का तात्पर्य है—मेरा भक्त। क्योंकि, मेरी भक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी भी प्रकारसे इन्द्रियोंको नहीं जीता जा सकता है—यह बात आगेके अंशमें सर्वत्र ही द्रष्टव्य है। जैसा कि उद्धव भी श्रीमद्भागवतमें कहते हैं—

'प्रायशः पुण्डरीकाक्ष युञ्जन्तो योगिनो मनः।
विषीदन्त्यसमाधानान्मनोनिग्रहकर्शिताः ।।'
'अथात आनन्ददुघं पदाम्बुजं हंसाः श्रयेरन्नरविन्दलोचन।
सुखं नु विश्वेश्वर योगकर्मभिस्त्वन्माययामी विहता न मानिनः।।'

(श्रीमद्भा. ११/२९/२-३)

अर्थात्, हे कमलनयन श्रीकृष्ण! योगिगण प्रायः ही मनके निग्रहमें प्रवृत्त होकर असफल होनेके कारण थोड़े निग्रहके पश्चात् ही श्रान्त और क्लेशग्रस्त हो जाते हैं, अतएव सार और असारमें निपुण पुरुष निखिल आनन्दको देनेवाले आपके श्रीचरणकमलोंको ही सुखका आधार बनाते हैं।

साधक और स्थितप्रज्ञके पार्थक्यको प्रदर्शित करते हुए कहते हैं—'वशे हि' अर्थात् स्थितप्रज्ञकी इन्द्रियाँ वशमें होती हैं।।६१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जिस प्रकार कोई व्यक्ति परम पराक्रमी किसी राजाका आश्रय लेकर दस्यु दलसे अपना पीछा छुड़ा लेता है और दस्युदल भी उस व्यक्तिको प्रबल पराक्रान्त राजाका आश्रित जानकर उसके वशीभूत हो जाते हैं, उसी प्रकार जीवमात्रके अन्तर्यामी भगवान् हृषिकेशका आश्रय ग्रहण करनेपर दस्युरूपी इन्द्रियाँ अपने-आप वशीभूत हो जाती हैं। अतः भक्ति द्वारा ही सरल-सहजरूपमें इन्द्रियोंको वशीभूत करना चाहिए। शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है—

'हृषीकेशे हृषीकाणि यस्य स्थैर्यं गतानिह।
स एव धैर्यमाप्नोति संसारे जीवचञ्चले।।'

अर्थात्, इस संसारमें चञ्चल इन्द्रियोंको वशीभूत करना दुष्कर है। जो लोग अपनी सारी इन्द्रियोंको भगवान् हृषीकेशकी सेवामें नियुक्त कर देते हैं, उनकी सारी इन्द्रियाँ सहज ही स्थिर हो जाती हैं अर्थात् वशीभूत हो जाती हैं।।६१।।

ध्यायतो विषयान् पुंसः सङ्गस्तेषूपजायते।
सङ्गात् संजायते कामः कामात् क्रोधोऽभिजायते।।६२।।

अन्वय—विषयान् (शब्दादि विषयोंका) ध्यायतः पुंसः (चिन्तन करनेवाले पुरुषकी) तेषु (उन सभी विषयोंमें) सङ्गः (आसक्ति) उपजायते (उत्पन्न हो जाती है) सङ्गात् (आसक्तिसे) कामः (काम) संजायते (उत्पन्न होता है) कामात् (कामसे) क्रोधः (क्रोध) अभिजायते (उत्पन्न होता है)।।६२।।

अनुवाद—शब्दादि विषयोंका निरन्तर चिन्तन करनेसे उन उन विषयोंमें चिन्तनकारी पुरुषकी आसक्ति उत्पन्न हो जाती है। आसक्तिसे काम एवं कामसे क्रोधकी उत्पत्ति होती है।।६२।।

श्रीविश्वनाथ—स्थितप्रज्ञस्य मनोवशीकार एव बाह्येन्द्रिय वशीकारकारणं सर्वथा मनोवशीकाराभावे तु यत् स्यात्तत् शृण्वित्याह—ध्यायत इति। सङ्ग आसक्तिः, आसक्त्या च तेष्वधिकः कामोऽभिलाषः, कामाच्च केनचित् प्रतिहतात् क्रोधः।।६२।।

भावानुवाद—स्थितप्रज्ञ पुरुषोंका अपने मनको वशीभूत करना ही बाह्य इन्द्रियोंको वशमें करनेका मूल कारण है। परन्तु, हे अर्जुन! मनको सम्पूर्णरूपसे वशमें नहीं कर पानेके कारण क्या होता है, उसे सुनो। इसीलिए 'ध्यायतः' इत्यादि कहा जा रहा है। विषयोंके ध्यानसे सङ्ग अर्थात् आसक्ति एवं आसक्तिके द्वारा उसकी अधिक कामना या अभिलाषा उत्पन्न होती है। और, यदि किसी कारणवश उस कामनामें विघ्न पड़े, तो उससे क्रोध उत्पन्न होता है।।६२।।

क्रोधाद्भवति सम्मोहः सम्मोहात् स्मृतिविभ्रमः।
स्मृतिभ्रंशाद् बुद्धिनाशो बुद्धिनाशात् प्रणश्यति।।६३।।

अन्वय—क्रोधात् (क्रोधसे) सम्मोहः (सम्मोह अर्थात् कार्य-अकार्यके विवेकका अभाव) भवति (होता है) सम्मोहात् (सम्मोहसे) स्मृतिविभ्रमः (स्मृतिका नाश) स्मृतिभ्रंशात् (स्मृति-भ्रंश होनेसे) बुद्धिनाशः (बुद्धिनाश) बुद्धिनाशात् (बुद्धिके नाश होनेसे) प्रणश्यति (विनाशको प्राप्त होता है अर्थात् भवसागरमें पतित हो जाता है)।।६३।।

अनुवाद—क्रोधसे सम्मोह, सम्मोहसे स्मृतिका नाश (अर्थात् शास्त्रके उपदेशोंको भूल जाना), स्मृतिनाश होनेसे बुद्धिका नाश और बुद्धिनाश होनेसे सर्वनाश होता है अर्थात् वह पुनः भवसागरमें पतित हो जाता है।।६३।।

श्रीविश्वनाथ—क्रोधात् संमोहः कार्याकार्य-विवेकाभावः, तस्माच्च शास्त्रोपदिष्ट-स्वार्थस्य स्मृतिनाशः, तस्माच्च बुद्धेः सद्व्यवसायस्य नाशः, ततः 'प्रणश्यति' संसार-कूपे पतति।।६३।।

भावानुवाद—क्रोधसे सम्मोह अर्थात् कार्य-अकार्यके विवेकका अभाव उत्पन्न होता है। सम्मोह होनेसे शास्त्रोंमें बताए गए आत्मकल्याणकारी उपदेशोंकी स्मृति नहीं रहती है एवं इस स्मृतिनाशसे बुद्धिके सद्व्यवसायका नाश हो जाता है। तत्पश्चात् साधक संसारकूपमें पतित हो जाता है।।६३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—मन ही इन्द्रियोंका राजा, शासक और परिचालक है। अतः मनको वशीभूत रखनेपर बाह्य इन्द्रियाँ स्वतः वशीभूत हो जाती हैं। इसीलिए श्रुतियोंमें इन्द्रिय, मन और बुद्धि आदिको वशीभूत करनेसे परम पदकी प्राप्ति की बात कही गई है।

'यदा पञ्चावतिष्ठन्ते ज्ञानानि मनसा सह।
बुद्धिश्च न विचेष्टति तामाहुः परमां गतिम्।।'

(क. उ. २/३/१०)

अर्थात्, पञ्च ज्ञानेन्द्रियों, मन और बुद्धिका संयम करनेपर परम पदकी प्राप्ति होती है। अन्यथा मन आदिके निग्रहके अभावमें संसार-चक्रमें भ्रमण करना पड़ता है। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा कहा गया है—

'विषयेषु गुणाध्यासात् पुंसः सङ्गस्ततो भवेत्।
सङ्गात्तत्र भवेत् कामः कामादेव कलिर्नृणाम्।।'

(श्रीमद्भा. ११/२१/१९-२१)

अर्थात्, मनको निग्रह न कर, हठपूर्वक केवल बाह्य इन्द्रियोंका दमन करनेपर भीषण अनर्थोंकी प्राप्ति होती है, अतः विशेष यत्नपूर्वक भगवत्-उपासनाके द्वारा मनका निग्रह करना कर्त्तव्य है। इसीलिए गीता (२/६१) में भगवत्-उक्ति '*तानि सर्वाणि संयम्य*' सर्वथा युक्तियुक्त है।।६३।।

रागद्वेषविमुक्तैस्तु विषयानिन्द्रियैश्चरन्।
आत्मवश्यैर्विधेयात्मा प्रसादमधिगच्छति।।६४।।

अन्वय—तु (किन्तु) विधेयात्मा (संयमित पुरुष) रागद्वेष विमुक्तैः (राग और द्वेषसे रहित होकर) आत्मवश्यैः (अपने वशमें की हुई) इन्द्रियैः (इन्द्रियोंके द्वारा) विषयान् (विषयोंको) चरन् (भोगनेपर भी) प्रसादम् (प्रसन्नता) अधिगच्छति (प्राप्त करते हैं)।।६४।।

अनुवाद—किन्तु, संयमित पुरुष राग-द्वेषसे रहित होकर अपने वशमें की हुई इन्द्रियोंके द्वारा यथायोग्य विषयोंको भोगनेपर भी प्रसन्नता प्राप्त करते हैं।।६४।।

श्रीविश्वनाथ—मानस-विषयग्रहणाभावे सति स्ववश्यैरिन्द्रियैर्विषयग्रहणेऽपि न दोष इति वदन् स्थितप्रज्ञो व्रजेत किमित्यस्योत्तरमाह—रागेति। विधेयो वचने स्थित आत्मा मनो यस्य सः। *"विधेयो विनयग्राही वचने स्थित आश्रवः। वश्यः प्रणयो निभृतविनीतप्रसृताः समाः॥"* इत्यमरः। प्रसादमधिगच्छतीत्येतादृश-स्याधिकारिणो विषयग्रहणमपि न दोष इति किं वक्तव्यम्? प्रत्युत गुण एवेति। स्थितप्रज्ञस्य विषयत्याग-स्वीकारावेव आसनव्रजने ते उभे अपि तस्य भद्रे इति भावः।।६४।।

भावानुवाद—स्थितप्रज्ञ पुरुष किस प्रकार चलते हैं? अर्जुनके उपरोक्त प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् 'राग' इत्यादि कह रहे हैं। क्योंकि, मन विषयोंको सीधे रूपमें ग्रहण नहीं कर सकता है, अतः स्व-वशीभूत इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंको ग्रहण करनेमें भी कोई दोष नहीं है। विधेयात्मा उसे कहते हैं, जिनका आत्मा अर्थात् मन वचनमें स्थित है। अमरकोषके अनुसार विधेय, विनयग्राही, वचन-स्थित, आश्रव, वश्य, प्रणेय, निभृत, विनीत, प्रसृत इत्यादि समानार्थक शब्द हैं। 'प्रसादमधिगच्छति' अर्थात् ऐसे अधिकारियोंके लिए विषयोंको ग्रहण करनेमें कोई दोष नहीं है, अपितु वह तो गुण ही है। स्थितप्रज्ञ पुरुषोंके लिए विषयोंको त्यागना या स्वीकारना, विषयोंके प्रति चालित होना या नहीं होना—सभी शुभ ही हैं।।६४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—बाह्य इन्द्रियोंको विषयोंसे अलग रखकर उन्हें संयत करनेपर भी मन विषयोंकी चिन्ता करना नहीं छोड़ता। इसलिए ऐसे वैराग्यको फल्गु या मर्कट वैराग्य कहते हैं—*'कर्मेन्द्रियाणि संयम्य'* (गीता ३/६), किन्तु युक्त वैराग्य अर्थात् भगवत्-उपासनाके द्वारा साधकका चित्त स्थिर होकर अभीष्टदेवके चिन्तनादिमें निमग्न हो जाता है। इस स्थितिमें अनुकूल विषयोंका ग्रहण अथवा प्रतिकूल विषयोंका त्याग दोषका कारण नहीं होता।।६४।।

प्रसादे सर्वदुःखानां हानिरस्योपजायते।
प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।।६५।।

अन्वय—प्रसादे (प्रसन्नता प्राप्त होनेपर) अस्य (इस विधेयात्मा पुरुषके) सर्वदुःख (सभी दुःख) उपजायते (दूर हो जाते हैं) हि (जिससे) प्रसन्नचेतसः (प्रसन्नचित्त व्यक्तिकी) बुद्धिः (बुद्धि) आशु (शीघ्र) पर्यवतिष्ठते (सर्वतोभावेन अभीष्ट-प्राप्तिमें स्थिर हो जाती है)।।६५।।

अनुवाद—प्रसन्नता प्राप्त होनेपर उन विधेयात्मा पुरुषके सभी दुःख दूर हो जाते हैं और उन प्रसन्नचित्त व्यक्तिकी बुद्धि शीघ्र ही सर्वतोभावेन अभीष्ट-प्राप्तिमें स्थिर हो जाती है।।६५।।

श्रीविश्वनाथ—बुद्धिः पर्यवतिष्ठते सर्वतोभावेन स्वाभीष्टं प्रति स्थिरीभवतीति विषयग्रहाणाभावादपि समुचितविषयग्रहणं तस्य सुखमिति भावः। प्रसन्नचेतस इति चित्तप्रसादो भक्त्यैवेति ज्ञेयम्, तया विना तु न चित्तप्रसाद इति प्रथमस्कन्ध एव प्रपञ्चितम्, कृतवेदान्तशास्त्रस्यापि व्यासस्याप्रसन्नचित्तस्य श्रीनारदोपदिष्टया भक्त्यैव चित्तप्रसाददृष्टेः।।६५।।

भावानुवाद—'बुद्धिः पर्यवतिष्ठते'—उनकी बुद्धि सर्वतोभावेन अपने अभीष्टके प्रति स्थिर हो जाती है। इस प्रकार विषय-ग्रहणके अभावमें या विषय ग्रहण करनेमें—दोनों ही स्थितियोंमें वे खुश रहते हैं। 'प्रसन्नचेतसः' अर्थात् चित्तकी प्रसन्नता भी भक्तिके द्वारा ही होगी, ऐसा समझना चाहिए क्योंकि भक्तिको छोड़कर चित्तकी प्रसन्नता नहीं होती है। श्रीमद्भागवतके प्रथम स्कन्धमें यह विशद् रूपसे वर्णित हुआ है। वेदान्तकी रचना करनेपर भी श्रील व्यासदेवका चित्त प्रसन्न नहीं था, किन्तु श्रीनारदमुनिके उपदेशानुसार भक्तिसे ही उनका चित्त प्रफुल्लित हुआ था।।६५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवत्-परिचर्यामय भक्तिके द्वारा ही चित्त प्रसन्न होता है, सभी दुःख दूर हो जाते हैं तथा अल्पकालमें अनायास ही अभीष्टदेवके चरणोंमें वह सर्वतोभावेन स्थिर हो जाता है। श्रीमद्भागवतके श्रीव्यास-नारद संवादमें भी ऐसा कहा गया है—*'यमादिर्योगपथैः कामलोभहेतो मुहुः।'* इस सन्दर्भमें *'धृतव्रतेन हि मया...'* (श्रीमद्भा. १/४/२८) से *'मुकुन्दसेवया यद्वत्तथाऽऽत्माद्धा न शाम्यति'* (श्रीमद्भा. १/६/३६) श्लोक द्रष्टव्य हैं।

अर्थात्, निरन्तर काम-लोभ आदिके वशीभूत मन जैसे कृष्णभजनमें साक्षात् सुप्रसन्नता लाभ करता है, यम-नियम आदि अष्टाङ्ग योगमार्गका अवलम्बन करनेसे वैसा शान्त नहीं होता है।

इस विषयमें सौभरि ऋषि, महाराज ययाति और विश्वामित्र आदिके प्रसङ्ग अनुशीलन करने योग्य हैं। सौभरि ऋषि दस हजार वर्षोंकी तपस्या द्वारा भी मनको निगृहीत नहीं कर सके। मत्स्योंकी रति-क्रीड़ा देखकर उनके चित्तमें क्षोभ उत्पन्न हुआ और महाराज मान्धाताकी पचास कन्याओंसे विवाहकर पचास स्वरूपोंसे भोग करनेपर भी उनके कामकी लिप्सा दूर नहीं हुई। अन्तमें उन्होंने भगवत्-उपासनासे इन्द्रियोंका दमनकर अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति की।

महाराज ययाति नाना प्रकारकी चेष्टाओंके द्वारा भी मनको वशीभूत न कर सके। उन्होंने अपने पुत्र पुरुको अपनी वृद्धावस्था देकर उसकी युवावस्था ग्रहणकर बहुत वर्षों तक भोग किया। किन्तु आगमें घी देनेकी भाँति उनकी काम-लिप्सा बढ़ती ही गई। अन्तमें भगवत्-उपासनामें चित्तको नियुक्त किया, तब कहीं उन्हें शान्ति मिली।

घोर तपस्वी विश्वामित्र शम-दम आदिके द्वारा इन्द्रियोंका दमनकर भी मेनकाके नूपुरोंकी झङ्कारपर अपनी तपस्या छोड़कर काममें लिप्त हो गए। पुनः भगवत्-आराधनासे उनका क्षुब्ध चित्त शान्त हुआ।

इस विषयमें श्रीमद्भागवतमके प्रथम स्कन्धमें व्यास-नारद संवादसे इस विषयकी विशेषरूपमें पुष्टि होती है। वेदव्यासजी वेदोंके चार विभाग, महाभारत, पुराणोंकी रचना तथा वेदान्तसूत्रका प्रणयन कर चुके थे तथा धर्म इत्यादिके सम्बन्धमें जो कुछ भी ज्ञातव्य है, उसका प्रकाश कर चुके थे, तथापि उनका चित्त प्रसन्न नहीं हुआ। इसके कारणका अनुसन्धान करनमें असमर्थ होकर उन्होंने अपने गुरु देवर्षि नारदसे इसके विषयमें

पूछा। श्रीनारद मुनिने उत्तर दिया—

'भवतानुदितप्रायं यशो भगवतोऽमलम्।
येनैवासो न तुष्येत मन्ये तद्दर्शनं खिलम्।।
यथा धर्मादयश्चार्था मुनिवर्यानुकीर्त्तिताः।
न तथा वासुदेवस्य महिमा ह्यनुवर्णितः।।'

(श्रीमद्भा. १/५/८-९)

अर्थात्, हे महर्षे! आपने भगवान्‌की परम पवित्र लीला-कथाओं एवं उनकी महिमाका स्पष्टरूपसे वर्णन नहीं किया है। ऐसी भगवत्-लीला-कथाओंके कीर्त्तनके बिना केवल धर्म तथा ज्ञानके अनुशीलनसे भगवान् प्रसन्न नहीं होते। ऐसे धर्म और ज्ञानको मैं असम्पूर्ण और अभावपूर्ण समझता हूँ। भक्तिके द्वारा विशुद्ध मनमें भगवत्-लीला-कथाएँ स्वयं स्फुरित होती हैं। नारदजीके उपदेशसे व्यासजीने भक्तियोगके द्वारा पवित्र हृदयमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णकी ऐश्वर्य एवं माधुर्यमयी-सम्पूर्ण लीलाओंका दर्शन किया। उनकी इस समाधिमें उपलब्ध भगवान्‌की लीला-कथाएँ ही श्रीमद्‌भागवत है, जिसके अनुशीलनसे तत्क्षणात् हृदयमें शोक-मोह-भयादिको दूर करनेवाली भगवान् व्रजेन्द्रनन्दनकी भक्ति उदित होती है और तभी भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन उनके हृदयमें अवरुद्ध हो जाते हैं—

'यस्यां वै श्रूयमाणायां कृष्णे परमपूरुषे।
भक्तिरुत्पद्यते पुंसः शोकमोहभयापहा।।'

(श्रीमद्भा. १/७/७) ।।६५।।

नास्ति बुद्धिरयुक्तस्य न चायुक्तस्य भावना।
न चाभावयतः शान्तिरशान्तस्य कुतः सुखम्।।६६।।

अन्वय—अयुक्तस्य (अवशीभूत मनवाले पुरुषकी) बुद्धि (आत्मविषयिणी बुद्धि) न अस्ति (नहीं होती है) अयुक्तस्य च (और वैसे बुद्धिहीन पुरुषको) भावना (परमेश्वरका ध्यान) न (नहीं होता है) अभावयतः च (और ध्यानरहित पुरुषको) शान्तिः न (शान्ति नहीं होती है) अशान्तस्य (अशान्त पुरुषको) कुतः सुखम् (सुख कहाँ है)।।६६।।

अनुवाद—अवशीभूत मनवाले पुरुषकी आत्मविषयिणी बुद्धि नहीं होती है। वैसे बुद्धिहीन पुरुषको परमेश्वरका ध्यान नहीं होता है तथा ध्यानरहित व्यक्तिको शान्ति नहीं मिलती है। अशान्त पुरुषको भला सुख कहाँ है?।।६६।।

श्रीविश्वनाथ—उक्तमर्थं व्यतिरेकमुखेन दृढयति—नास्तीति। अयुक्तस्यावशी-कृतमनसो बुद्धिरात्मविषयिणी प्रज्ञा नास्त्ययुक्तस्य तादृशप्रज्ञारहितस्य भावना परमेश्वरध्यानञ्चाभावयतोऽकृतध्यानस्य शान्तिर्विषयोपरामो नास्त्यशान्तस्य सुखं आत्मानन्दो न।।६६।।

भावानुवाद—उपरोक्त अर्थको व्यतिरेक भावसे दृढ़ करते हुए 'नास्ति' इत्यादि कह रहे हैं। जिसका मन वशमें नहीं होता है, उसकी बुद्धि या आत्मविषयिणी प्रज्ञा नहीं होती है। वैसे अयुक्त अर्थात् बुद्धिहीन व्यक्तिको परमेश्वरका ध्यान नहीं होता है। 'अभावयतः' अर्थात् जो ध्यान नहीं करता है, उसे शान्ति अर्थात् विषयोंसे विराग नहीं होता है और अशान्त व्यक्तिको सुख या आत्मानन्द प्राप्त नहीं होता है।।६६।।

इन्द्रियाणां हि चरतां यन्मनोऽनुविधीयते।
तदस्य हरति प्रज्ञां वायुर्नावमिवाम्भसि।।६७।।

अन्वय—हि (क्योंकि) चरताम् इद्रियाणाम् (विषयोंमें विचरण करनेवाली इन्द्रियोंमें से) यत् (जिस किसी इन्द्रियके प्रति) मनः (मन) अनुविधीयते (अनुधावित होता है) तत् (वह मन) वायुः (वायु द्वारा) अम्भसि (जलमें) नावम् (नावकी भाँति) अस्य (अजितेन्द्रिय व्यक्तिकी) प्रज्ञा (बुद्धिको) हरति (हर लेता है)।।६७।।

अनुवाद—जिस प्रकार वायु जलमें स्थित नावको हर लेती है, उसी प्रकार अजितेन्द्रिय व्यक्तिका मन विषयोंमें विचरण करनेवाली जिस किसी इन्द्रियके प्रति अनुधावित होता है, वह उसी इन्द्रियके अनुवर्त्ती होकर उसकी बुद्धिको हर लेता है।।६७।।

श्रीविश्वनाथ—अयुक्तस्य बुद्धिर्नास्तीत्युपपादयति—इन्द्रियाणां स्वस्वविषयेषु चरतां मध्ये यन्मन एकमिन्द्रियमनुविधीयते, पुंसा सर्वेन्द्रियानुवर्त्तिः क्रियते, तदेव मनोऽस्य प्रज्ञां बुद्धिं हरति, यथाम्भसि नीयमानां नावं प्रतिकूलो वायुः।।६७।।

भावानुवाद—अयुक्त पुरुष बुद्धिहीन होते हैं, इसे प्रतिपादित करते हुए श्रीभगवान् कह रहे हैं—अपने-अपने विषयोंमें विचरणशील इन्द्रियोंमें से मन जिस किसी एक इन्द्रियका अनुगमन करता है, पुरुष (मन) द्वारा सभी इन्द्रियोंको अनुवर्त्ती किया जाता है, वह मन ही उसकी बुद्धिको इस प्रकार हर लेता है, जैसे प्रतिकूल वायु जलमें तैरती हुई नौकाको हर लेती है।।६७।।

तस्माद् यस्य महाबाहो निगृहीतानि सर्वशः।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।।६८।।

अन्वय—तस्मात् (अतएव) महाबाहो (हे महाबाहो!) यस्य (जिनकी) इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) इन्द्रियार्थेभ्यः (इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे) सर्वशः (सभी प्रकारसे) निगृहीतानि (निगृहीत हैं) तस्य (उनकी) प्रज्ञा (बुद्धि) प्रतिष्ठिता (स्थिर है)।।६८।।

अनुवाद—अतएव हे महाबाहो! जिनकी इन्द्रियाँ इन्द्रियग्राह्य विषयोंसे सभी प्रकारसे निगृहीत हैं, उनकी बुद्धि स्थिर है अर्थात् वे स्थितप्रज्ञ हैं।।६८।।

श्रीविश्वनाथ—यस्य निगृहीतमनसः, हे महाबाहो! इति यथा शत्रुन् निगृह्णासि, तथा मनोऽपि निगृहाणेति भावः।।६८।।

भावानुवाद—'यस्य' अर्थात् जिनका मन निगृहीत (वशमें) हो चुका है, वे स्थितप्रज्ञ हैं। हे महाबाहो! जिस प्रकार तुम अपने शत्रुओंको जीत लेते हो, उसी प्रकार अपने मनका भी निग्रह करो।।६८।।

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्त्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः।।६९।।

अन्वय—या (जो आत्मविषयिणी बुद्धि) सर्वभूतानाम् (सभी जीवोंके लिए) निशा (रात्रिके समान है) तस्याम् (उसमें) संयमी (स्थितप्रज्ञ) जागर्त्ति (जाग्रत रहते हैं) यस्याम् (जिस विषयप्रवणा बुद्धिमें) भूतानि (सभी जीव) जाग्रति (जाग्रत रहते हैं) सा (वह विषयप्रवणा बुद्धि) पश्यतः मुनेः (तत्त्वदर्शी मुनिके लिए) निशा (रात्रिके समान है)।।६९।।

अनुवाद—जो आत्मविषयिणी बुद्धि जड़मुग्ध सर्वसाधारण जीवोंके लिए रात्रिके समान है, स्थितप्रज्ञ व्यक्ति उसमें जाग्रत रहते हैं, और जिस विषय-प्रवणा बुद्धिमें साधारण जीव जाग्रत रहते हैं, तत्त्वदर्शी मुनिके लिए वही रात्रिके समान है अर्थात् वे निर्लिप्तभावसे यथायोग्य विषय स्वीकार करते हैं।।६९।।

श्रीविश्वनाथ—स्थितप्रज्ञस्य तु स्वतःसिद्ध एव सर्वेन्द्रिय निग्रह इत्याह—येति। बुद्धिर्हि द्विविधा भवति—आत्मप्रवणा विषयप्रवणा च। तत्र या आत्मप्रवणा बुद्धिः, सा सर्वभूतानां निशा, निशायां किं किं स्यादिति तस्यां स्वपन्तो जना यथा न जानन्ति, तथैवात्मप्रवणबुद्धौ प्राप्यमाणं वस्तु सर्वभूतानि न जानन्ति। किन्तु तस्यां संयमी स्थितप्रज्ञो जागर्त्ति, न तु स्वपति; अत आत्मबुद्धिनिष्ठमानन्दं साक्षादनुभवति। यस्यां विषयप्रवणायां बुद्धौ

भूतानि जाग्रति, तन्निष्ठं विषयसुखशोकमोहादिकं साक्षादनुभवति, न तु तत्र स्वपति। सा मुनेः स्थितप्रज्ञस्य निशा तन्निष्ठं किमपि नानुभवतीत्यर्थः। किन्तु पश्यतः सांसारिकाणां सुखदुःखप्रदान् विषयान् तत्रौदासीन्येनावलोकयतः स्वभोग्यान् विषयानपि यथोचितं निर्लेपमाददानस्येत्यर्थः।।६९।।

भावानुवाद—किन्तु, स्थितप्रज्ञ व्यक्तिके लिए इन्द्रियोंका दमन तो स्वतः सिद्ध है। इसके लिए ही श्रीभगवान् 'या' इत्यादि कह रहे हैं। बुद्धि दो प्रकारकी होती है—आत्मप्रवणा और विषयप्रवणा। इनमेंसे जो बुद्धि आत्मप्रवणा होती है, वह सभी जीवोंके लिए निशाके सदृश है। जिस प्रकार निद्रित व्यक्ति यह नहीं जानता है कि रात्रिमें क्या होता है, उसी प्रकार जीव यह नहीं जानते कि आत्मप्रवणा बुद्धिसे क्या प्राप्त होता है? किन्तु, स्थितप्रज्ञ उस निशामें जाग्रत रहते हैं। अतएव आत्मबुद्धिनिष्ठ आनन्दका साक्षात् अनुभव करते हैं। जिस विषयप्रवणा बुद्धिमें जीव जाग्रत रहते हैं और अपनी अपनी निष्ठाके अनुसार शोक-मोहादिका साक्षात् अनुभव करते हैं, इसमें वे सोते नहीं हैं। परन्तु, स्थितप्रज्ञ मुनिगण इस रात्रिमें कुछ भी अनुभव नहीं करते हैं। वे सांसारिक लोगोंको सुख-दुःख देनेवाले विषयोंको उदासीन भावसे देखते हैं और अपने भोग करने योग्य वस्तुओंको निर्लिप्त भावसे ग्रहण करते हैं।।६९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—स्थितप्रज्ञ व्यक्तियोंका सर्वेन्द्रिय-निग्रह स्वाभाविकरूपसे ही सिद्ध होता है। वे ही यथार्थमें ज्ञानी पुरुष हैं। इसके विपरीत देहात्मबुद्धिसम्पन्न अज्ञानी पुरुषोंकी बुद्धि विषय-भोगोंमें निमग्न रहती है, ऐसे विषयासक्त लोग ही संसारी या अज्ञ कहलाते हैं। ज्ञान दिनके समान तथा अज्ञान रात्रिके समान है—*'अज्ञानं तु निशा प्रोक्ता दिवा ज्ञानमुदीर्यते'* (स्कन्दपुराण) सर्व आश्चर्यमय सर्वेश्वरके राज्यमें सब कुछ आश्यर्यजनक है। एक व्यक्तिके लिए जो रात्रिकाल है, वही दूसरेके लिए दिन है। उल्लूके लिए रात्रि ही दिन है तथा काकके लिए वही रात्रि है। उल्लू रात्रिकालमें ही देखता है, दिनमें नहीं, उसी प्रकार अज्ञानसे अन्धा व्यक्ति प्रकाशरूप तत्त्वज्ञानको नहीं देख पाता, किन्तु आत्म-तत्त्वविद् व्यक्ति सर्वदा प्रकाशस्वरूप—तत्त्वज्ञानस्वरूप भगवान्‌का ही दर्शन करते हैं। वे विषयोंकी ओर नहीं देखते हैं।

जिस प्रकार कमलका पत्ता जलमें रहकर भी जलसे लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार स्थितप्रज्ञ व्यक्ति विषयोंमें रहकर भी विषयोंसे निर्लिप्त रहते हैं।।६९।।

आपूर्यमाणमचलप्रतिष्ठं समुद्रमापः प्रविशन्ति यद्वत्।
तद्वत् कामा यं प्रविशन्ति सर्वे स शान्तिमाप्नोति न कामकामी॥७०॥

अन्वय—यद्वत् (जैसे) आपूर्यमाणम् (सब ओरसे परिपूर्ण) अचलप्रतिष्ठम् (अचल प्रतिष्ठावाले) समुद्रम् (समुद्रमें) आपः (अनेक नदियोंका जल) प्रविशन्ति (समा जाता है) तद्वत् (वैसे ही) यम् (स्थितप्रज्ञ पुरुषमें) सर्वे कामाः (सभी काम) प्रविशन्ति (समा जाते हैं) सः (वे) (ही) शान्तिम् (शान्ति) आप्नोति (प्राप्त करते हैं) न (न कि) कामकामी (कामनाओंको पूर्ण करनेको इच्छुक व्यक्ति)॥७०॥

अनुवाद—जिस प्रकार अनेक नदियोंका जल परिपूर्ण और अचल प्रतिष्ठावाले समुद्रमें बिना कोई क्षोभ उत्पन्न किए हुए प्रवेश करता है, उसी प्रकार सभी कामनाएँ स्थितप्रज्ञ पुरुषमें बिना कोई विकार पैदा करती हुई ही उनमें प्रविष्ट हो जाती हैं। वे (स्थितप्रज्ञ) ही शान्ति प्राप्त करते हैं, न कि अपनी कामनाओंको पूर्ण करनेके इच्छुक व्यक्ति॥७०॥

श्रीविश्वनाथ—विषयग्रहणे क्षोभराहित्यमेव निर्लेपतेत्याह—आपूर्यमाणमिति। यथा वर्षास्वितस्ततो नादेया आपः समुद्रं प्रविशन्ति, कीदृशम्? आ—ईषदपि आपूर्यमाणं तावतीभिरप्यद्भिः पूरयितुं न शक्यम्। अचलप्रतिष्ठमनतिक्रान्तमर्यादं तद्वदेव कामा विषया यं प्रविशन्ति भोग्यत्वेनायान्ति। यथा अपां प्रवेशे अप्रवेशे वा समुद्रो न कमपि विशेषमापद्यते, एवमेव यः कामानां भोगे अभोगे च क्षोभरहित एव स्यात् स स्थितप्रज्ञः। शान्तिं ज्ञानम्॥७०॥

भावानुवाद—विषय ग्रहण करनेपर भी क्षोभरहित होना ही निर्लेपता है। इसके लिए ही 'आपूर्यमाणम्' इत्यादि कह रहे हैं। जैसे वर्षाकालमें इधर-उधरसे सभी नदियोंका जल समुद्रमें प्रवेश करता है, परन्तु इतना अधिक जल भी समुद्रको पूर्ण नहीं कर सकता है। 'अचलप्रतिष्ठं' अर्थात् जिसकी सीमाका अतिक्रम न हो। उसी प्रकार विषयसमूह भी स्थितप्रज्ञ पुरुषके पास भोगके रूपमें आते हैं। परन्तु, जैसे जलके प्रवेश अथवा अप्रवेशसे समुद्रमें कुछ विशेष या पार्थक्य नहीं होता है, इसी प्रकार जो कामनाओंके भोग अथवा अभोगसे क्षोभरहित रहते हैं, वे ही स्थितप्रज्ञ हैं। वे ही 'शान्ति' अर्थात् ज्ञान प्राप्त करते हैं॥७०॥

विहाय कामान् यः सर्वान् पुमांश्चरति निःस्पृहः।
निर्ममो निरहङ्कारः स शान्तिमधिगच्छति।।७१।।

अन्वय—यः पुमान् (जो पुरुष) सर्वान् कामान् (सभी कामनाओंका) विहाय (परित्यागकर) निस्पृहः (स्पृहाशून्य) निरहङ्कारः (अहङ्काररहित) निर्ममः (ममताशून्य) [सन्—होकर] चरति (विचरण करते हैं) सः (वे स्थितप्रज्ञ पुरुष ही) शान्तिम् (शान्ति) अधिगच्छति (प्राप्त करते हैं)।।७१।।

अनुवाद—जो पुरुष सभी कामनाओंका परित्याग करते हुए स्पृहाशून्य, अहङ्काररहित और ममताशून्य होकर विचरण करते हैं, वे शान्ति प्राप्त करते हैं।।७१।।

श्रीविश्वनाथ—कश्चित्तु कामेष्वविश्वसन् नैव तान् भुङ्क्ते इत्याह—विहायेति। निरहङ्कारो निर्मम इति देह-दैहिकेष्वहंताममताशून्यः।।७१।।

भावानुवाद—कोई-कोई व्यक्ति कामनाओंके प्रति विश्वासरहित होकर उनका भोग नहीं करते हैं। इसके लिए ही श्रीभगवान् 'विहाय' इत्यादि कह रहे हैं। 'निरहङ्कार निर्ममः' अर्थात् जो देह-दैहिक विषयोंमें अहङ्कार और ममतासे रहित होकर विचरण करते हैं, वे ही शान्ति प्राप्त करते हैं।।७१।।

एषा ब्राह्मी स्थितिः पार्थ नैनां प्राप्य विमुह्यति।
स्थित्वास्यामन्तकालेऽपि ब्रह्मनिर्वाणमृच्छति।।७२।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'सांख्ययोगो' नाम द्वितीयोऽध्यायः।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) एषा (यह) ब्राह्मी (ब्रह्मको प्राप्त हुए पुरुषकी) स्थितिः (स्थिति है) एनाम् (इस स्थितिको) प्राप्य (प्राप्तकर) न विमुह्यति (कोई मोहप्राप्त नहीं होते हैं) अन्तकाले अपि (अन्तिम समयमें भी) अस्याम् (इसमें) स्थित्वा (स्थित होकर) ब्रह्मनिर्वाणम् ऋच्छति (ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं)।।७२।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'सांख्ययोगो' नाम द्वितीयोऽध्यायस्यान्वयः।।

अनुवाद—हे पार्थ! इस प्रकार ब्रह्मप्राप्तिकी स्थितिको ब्राह्मी स्थिति कहा जाता है। इस स्थितिको प्राप्त करनेपर कोई भी मोहित नहीं होता है। मृत्युकालमें क्षणमात्र भी इसमें स्थित होनेपर ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होता है।।७२।।

श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—उपसंहरति—एषेति। ब्राह्मी ब्रह्मप्रापिका, अन्तकाले मृत्युसमयेऽपि, किं पुनरावाल्यम्।।७२।।

ज्ञानं कर्म च विस्पष्टमस्पष्टं भक्तिमुक्तवान्।
अतएवायमध्यायः श्रीगीतीसूत्रमुच्यते॥
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
श्रीगीतासु द्वितीयोऽयं सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥

भावानुवाद—अब उपसंहार करते हुए कहते हैं—जब अन्तकालमें अर्थात् मृत्युके समय भी ब्रह्मप्राप्तिकी स्थितिको प्राप्त करनेसे ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त होता है, तब यदि यह स्थिति बचपनमें ही प्राप्त हो जाय, तो क्या कहना?।।७२।।

इस अध्यायमें ज्ञान और कर्म स्पष्टरूपमें तथा भक्ति अस्पष्टरूपमें कही गई है, अतएव इस अध्यायको गीताका सूत्र कहा गया जाता है।

श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायकी साधुसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय अध्यायकी सारार्थवर्षिणी
टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"यह अध्याय गीताका सूत्र है। १ से १० श्लोक तक प्रश्नकर्त्ताके स्वभावका परिचय, १२ से ३० तक आत्म और अनात्म तत्त्वका विवेचन, ३१ से ३८ तक स्वधर्मरूप कर्मके अन्तर्गत पाप-पुण्यका विचार, ३९ से अध्यायके अन्त तक पूर्वोक्त ज्ञान और कर्मके प्रयोजक यथार्थ आत्मज्ञान साधक निष्काम कर्मयोग और उस योगमें स्थित पुरुषके जीवन और आचार-विचार प्रदर्शित हुए हैं।"—श्रीलभक्तिविनोद ठाकुर।।७२।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके द्वितीय
अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

द्वितीय अध्याय समाप्त।

तृतीयोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

ज्यायसी चेत्कर्मणस्ते मता बुद्धिर्जनार्दन।
तत् किं कर्मणि घोरे मां नियोजयसि केशव।।१।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) जनार्दन केशव (हे जनार्दन! हे केशव!) चेत् (यदि) ते (आपको) बुद्धिः (गुणातीता भक्ति-विषयिणी बुद्धि) कर्मणः (कर्मकी अपेक्षा) ज्यायसी (श्रेष्ठ) मता (मान्य है) तत् (तो) माम् (मुझे) घोरे कर्मणि (युद्धरूप घोर कर्ममें) किम् (क्यों) नियोजयसि (नियोजित कर रहे हैं)।।१।।

अनुवाद—अर्जुन ने कहा—हे जनार्दन! यदि आपको गुणातीता भक्ति-विषयिणी बुद्धि कर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ मान्य है, तो हे केशव! आप मुझे इस घोर युद्धरूप कर्ममें क्यों नियोजित कर रहे हैं?।।१।।

श्रीविश्वनाथ— *'निष्काममर्पितं कर्म तृतीये तु प्रपञ्च्यते।*
काम-क्रोध-जिगीषायां विवेकोऽपि प्रदर्श्यते।।'

पूर्ववाक्येषु ज्ञानयोगान्निष्कामकर्मयोगाच्च निस्त्रैगुण्यप्रापकस्य गुणातीत-भक्तियोगस्योत्कर्षमाकलय्य तत्रैव स्वौत्सुक्यमभिव्यञ्जयन् स्वधर्मे संग्रामे प्रवर्त्तकं भगवन्तं सख्यभावेनोपालभते, ज्यायसी श्रेष्ठा बुद्धिर्व्यवसायात्मिका गुणातीता भक्तिरित्यर्थः। घोरे युद्धरूपे कर्मणि किं नियोजयसि प्रवर्त्तयसि? हे जनार्द्दन, जनान् स्वजनान् स्वाज्ञया पीडयसीत्यर्थः। न च तवाज्ञा केनाप्यन्यथा कर्त्तुं शक्यत इत्याह—हे केशव! को ब्रह्मा, ईशो महादेवः, तावपि वयसे वशीकरोषि।।१।।

भावानुवाद—इस तीसरे अध्यायमें निष्कामभावसे अर्पित कर्मका विस्तारसे वर्णन किया जाएगा और काम-क्रोधादिको जीतनेके इच्छुक पुरुषका विवेक भी प्रदर्शित होगा।

पिछले अध्यायके श्लोकोंके द्वारा अर्जुनने ज्ञानयोग तथा निष्काम कर्मयोगकी अपेक्षा निस्त्रैगुण्यको प्रदान करनेवाले गुणातीत भक्तियोगकी श्रेष्ठताको जाना। ऐसा जाननेके पश्चात् उसके प्रति अपनी उत्कण्ठा प्रकाशित

करते हुए संग्रामरूप स्वधर्ममें प्रवृत्त करानेवाले भगवान्‌को सख्यभावसे उलाहना देते हुए कहते हैं—"यदि व्यवसायात्मिका गुणातीता बुद्धि श्रेष्ठ है, तो आप मुझे इस युद्धरूप घोर कर्ममें क्यों नियोजित कर रहे हैं? हे जर्नादन! आप तो 'जन' अर्थात् स्वजनको अपने आदेशके द्वारा पीड़ा प्रदान करते हैं। आपकी आज्ञाका उल्लंघन करनेमें भी कोई समर्थ नहीं है, क्योंकि आप तो 'केशव' अर्थात् 'क'—ब्रह्मा और 'ईश'—महादेवको भी 'व'—वशमें करनेवाले हैं।।"१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें अर्जुनने श्रीकृष्णको 'केशव' और 'जनार्दन' नामसे सम्बोधित किया है, इसका भी गूढ़ रहस्य है। अर्जुनने यह प्रश्न किया—"हे जनार्दन! आपने पहले कर्मकी अपेक्षा व्यवसात्मिका गुणातीता भक्ति-विषयिणी बुद्धिको श्रेष्ठ बताया, तथापि मुझे घोर हिंसायुक्त संग्राममें क्यों नियुक्त कर रहे हैं? आप अपने प्रिय आश्रित और स्वजनको अपने आदेशसे पीड़ा प्रदान करते हैं, इसीलिए अभिज्ञ लोगोंने आपका नाम 'जनार्दन' उपयुक्त ही रखा है। 'जन' नामक असुरका मर्दन करनेके कारण आपकी निष्ठुरता भी परिलक्षित होती है, इसलिए भी आपका 'जनार्दन' नाम सार्थक ही है। साथ-ही-साथ 'केशी' दैत्यका वध करनेवाले आपका 'केशव' नाम भी उपयुक्त ही है। क—ब्रह्मा, ईश—महादेव—इन दोनोंको ही 'व'—वशमें रखनेवाले आप केशव हैं। फिर, मैं तुच्छ व्यक्ति आपके आदेशका कैसे उल्लंघन कर सकता हूँ? प्रभो! आप मुझपर कृपा करें।"

हरिवंशमें भी श्रीकृष्णके प्रति श्रीरुद्रने कहा है—

'केशव-क इति ब्रह्मणो नाम ईशोऽहं सर्वदेहिनाम्।
आवां तवाङ्गसम्भूतौ तस्मात् केशवनामभाक्।।'

अर्थात्, 'क'—ब्रह्मा, ईश—सभी प्राणियोंका 'ईश' मैं शङ्कर—ये दोनों आपके अङ्गसे उत्पन्न हुए हैं, इसलिए आपका नाम केशव है।।१।।

व्यामिश्रेणेव वाक्येन बुद्धिं मोहयसीव मे।
तदेकं वद निश्चित्य येन श्रेयोऽहमाप्नुयाम्।।२।।

अन्वय—व्यामिश्रेण इव (नाना अर्थबोधक) वाक्येन (वाक्योंसे) मे (मेरी) बुद्धिम् (बुद्धि) मोहयसि इव (मोहित-सी कर रहे हैं) तत् (उस) एकम् (एक बातको) निश्चित्य वद (निश्चितकर कहें) येन (जिससे) अहम् (मैं) श्रेयः (कल्याण) आप्नुयाम् (प्राप्त कर सकूँ)।।२।।

अनुवाद—आपके नाना अर्थबोधक वाक्योंसे मेरी बुद्धि मोहित-सी हो रही है। अतः आप उस एक बातको निश्चयपूर्वक बतावें जिससे कि मेरा कल्याण हो।।२।।

श्रीविश्वनाथ—भो वयस्य अर्जुन! सत्यं गुणातीता भक्तिः सर्वोत्कृष्टैव, किन्तु सा यादृच्छिक-मदैकान्तिक-महाभक्तकृपैकलभ्यत्वात् पुरुषोद्यम-साध्या न भवति। अतएव निस्त्रैगुण्यो भव, गुणातीतया मद्भक्त्या त्वं निस्त्रैगुण्यो भूया इत्याशीर्वाद एव दत्तः। स च यदा फलिष्यति, तदा तादृश-यादृच्छिकैकान्तिक-भक्तकृपया प्राप्तामपि लप्स्यसे। साम्प्रतन्तु 'कर्मण्येवाधिकारस्ते' इति मयोक्तमेवेति चेत्, सत्यम्, तर्हि कर्मैव निश्चित्य कथं न ब्रूषे? किमिति सन्देहसिन्धौ मां क्षिपसीत्याह—व्यामिश्रेणेति। विशेषतः आ-सम्यक्तया मिश्रणं नानाविधार्थमिलनं यत्र तेन वाक्येन मे बुद्धिं मोहयसि। तथा हि *"कर्मण्येवाधिकारस्ते"* इत्युक्त्वापि *"सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते।" "बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृतदुष्कृते। तस्माद्योगाय युज्यस्व योगः कर्मसु कौशलम्॥"* इति योग-शब्दवाच्यं ज्ञानमपि ब्रवीषि। *"यदा ते मोहकलिलम्"* इत्यनेन ज्ञानं केवलमपि ब्रवीषि। किञ्चात्रेव-शब्देन त्वद्वाक्यस्य वस्तुतो नास्ति नानार्थ-मिश्रितत्वम्, नापि कृपालोस्तव मन्मोहनेच्छा, नापि मम तत्तदर्थानभिज्ञत्वम्, किन्तु स्पष्टीकृत्यैव तव कथनमुचितमिति भावः। अयं गूढोऽभिप्रायः—राजसात् कर्मणः सकाशात् सात्त्विकं कर्म श्रेष्ठम्, तस्मादपि ज्ञानं श्रेष्ठम्, तच्च सात्त्विकमेव। निर्गुणभक्तिश्च तस्मादतिश्रेष्ठैव। तत्र सा यदि मयि न सम्भवेदिति ब्रूषे, तदा सात्त्विकं ज्ञानमेवैकं मामुपदिश। तत एव दुःखमयात् संसारबन्धनान्मुक्तो भवेयमिति।।२।।

भावानुवाद—हे सखे अर्जुन! गुणातीता भक्ति ही सर्वोत्कृष्ट है, यह तो सत्य है, परन्तु ऐसी भक्ति एकमात्र मेरे किसी स्वच्छन्द, ऐकान्तिक महाभक्तकी कृपाके द्वारा ही प्राप्त होती है। यह किसी पुरुषको अपने परिश्रमसे नहीं प्राप्त होती है। अतएव 'निस्त्रैगुण्य होओ' अर्थात् तुम्हें यह आशीर्वाद दिया जा रहा है कि गुणातीता मेरी भक्तिके द्वारा तुम निस्त्रैगुण्य हो सकते हो। जब यह आशीर्वाद फलीभूत होगा, तब तुम वैसे किसी स्वैच्छिक ऐकान्तिक भक्तकी कृपा प्राप्तकर गुणातीता भक्ति प्राप्त करोगे। परन्तु, अभी कर्ममें तुम्हारा अधिकार है—यह मैं पहले ही कह चुका हूँ और यही सत्य है। तब अर्जुन कहते हैं—"यदि ऐसा ही है, तो आप

ऐसा निश्चित रूपमें क्यों नहीं कहते हैं कि कर्म ही करो। आप मुझे सन्देह-सागरमें क्यों डुबो रहे हैं?" इसके लिए अर्जुन 'व्यामिश्र' इत्यादि कह रहे हैं अर्थात् जो वाक्य नाना अर्थोंसे मिश्रित है, उस वाक्यके द्वारा मेरी बुद्धि मोहित कर रहे हैं। और भी, पहले तो आपने कहा *'कर्मण्येवाधिकारस्ते'* (गीता २/४७) अर्थात् कर्ममें ही तुम्हारा अधिकार है, पुनः आपने कहा *'सिद्ध्यसिद्ध्योः समो भूत्वा समत्वं योग उच्यते'* (गीता २/४८) अर्थात् सिद्धि और असिद्धिमें समभावयुक्त रहनेसे वह समत्व ही योग कहलाता है। पुनः आपने कहा—

'बुद्धियुक्तो जहातीह उभे सुकृत-दुष्कृते।
तस्माद् योगाय युज्यस्व योगः कर्मषु कौशलम्।।'

(गीता २/५०)

अर्थात् बुद्धिमान् व्यक्ति सुकृत और दुष्कृत—दोनोंका ही त्याग करते हैं, अतः तुम निष्काम कर्मके लिए यत्न करो, क्योंकि बुद्धियोग ही कर्मका कौशल है। यहाँ योग शब्दसे आप ज्ञान भी प्रतिपादित कर रहे हैं। *'यदा ते मोहकलिलं'* (गीता २/५२) अर्थात् जब तुम्हारी बुद्धि मोहरूप वनको पारकर जाएगी—इस वाक्यके द्वारा आप केवल ज्ञानको ही बता रहे हैं। वस्तुतः यहाँ 'इव' शब्दके कारण आपका वाक्य अनेक अर्थोंवाला नहीं है। आप तो कृपालु हैं, अतः आपकी इच्छा मुझे मोहित करनेकी भी नहीं है। यद्यपि मैं भी इन बातोंसे अनभिज्ञ नहीं हूँ, फिर भी आपका स्पष्टपूर्वक बोलना ही उचित है। इसका गूढ़ अभिप्राय यह है कि राजसिक कर्मसे सात्त्विक कर्म श्रेष्ठ है। सात्त्विक कर्मसे ज्ञान श्रेष्ठ है, परन्तु वह भी सात्त्विक ही है। निर्गुणा भक्ति ज्ञानसे अतिश्रेष्ठ है। यदि निर्गुणा भक्ति मेरे लिए सम्भव नहीं है, तो फिर एकमात्र सात्त्विक ज्ञानका ही उपदेश दीजिए। उसके द्वारा ही मैं इस दुःखमय संसारके बन्धनसे मुक्त होऊँगा।।२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—राजसिक कर्मसे सात्त्विक कर्म श्रेष्ठ है। सात्त्विक कर्मसे भी श्रेष्ठ ज्ञान है। किन्तु, वह ज्ञान भी सात्त्विक ही होता है—*'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्'* (गीता १४/१६)। इस सात्त्विक ज्ञानसे भी अत्यन्त श्रेष्ठ निर्गुणा भक्ति है। श्रीमद्भागवतमें निर्गुणा भक्तिकी परिभाषा इस प्रकारसे दी गई है—

'मद्गुणश्रुतिमात्रेण मयि सर्वगुहाशये।
मनोगतिरविच्छिन्ना यथा गङ्गाम्भसोऽम्बुधौ।।

लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्य ह्युदाहृतम्।
अहैतुक्यव्यवहिता या भक्तिः पुरुषोत्तमे।।'

(श्रीमद्भा. ३/२९/११-१२)

अर्थात्, कपिलदेव अपनी माता देवहूतिको निर्गुणा भक्तिका उपदेश देते हुए कह रहे हैं—"जिस प्रकार गङ्गाजलके प्रवाहकी सागरके प्रति स्वाभाविक अविच्छिन्ना गति होती है, इसी प्रकार मेरी लीला-कथाओं और मेरे अद्भुत प्रभाव-सम्पन्न गुणोंके श्रवणमात्रसे प्राणिमात्रकी चित्तगुहामें निवास करनेवाले मुझमें आत्माकी जो स्वाभाविकी अविच्छिन्ना गति उदित होती है, उसे निर्गुणा भक्तियोग कहते हैं। निर्गुणा भक्ति अन्याभिलाष शून्य, द्वितीय अभिनिवेशसे उत्पन्न प्राकृत भेदलक्षणसे रहित, केवल अनुकूल रूपसे मुझ पुरुषोत्तमकी नैरन्तर्यमयी सेवामें तन्मय करानेवाली होती है।

कृष्णको भूलकर मायामें अभिनिविष्ट होनेका नाम ही द्वितीयाभिनिवेश है। इसीसे मैं-मेरा, तू-तेरा, इत्यादिकी भेदबुद्धि होती है।।२।।

श्रीभगवानुवाच—
लोकेऽस्मिन् द्विविधा निष्ठा पुरा प्रोक्ता मयानघ।
ज्ञानयोगेन सांख्यानां कर्मयोगेन योगिनाम्।।३।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) अनघ (हे निष्पाप अर्जुन!) मया पुरा प्रोक्ता (मेरे द्वारा पहले ही प्रकृष्टरूपसे बताया गया है) अस्मिन् लोके (इस लोकमें) द्विविधा (दो प्रकारकी) निष्ठा (नित्य स्थिति या मर्यादा है) सांख्यानाम् (सांख्यवादी ज्ञानियोंकी) ज्ञानयोगेन (ज्ञानयोगसे) योगिनाम् (योगियोंकी) कर्मयोगेन (कर्मयोगसे)।।३।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे निष्पाप अर्जुन! मैंने पहले ही प्रकृष्टरूपसे बताया है कि इस लोकमें दो प्रकारकी निष्ठा (नित्य स्थिति) होती है—सांख्यवादी ज्ञानियोंकी निष्ठा ज्ञानयोग द्वारा तथा योगियोंकी निष्ठा कर्मयोग द्वारा होती है।।३।।

श्रीविश्वनाथ—अत्रोत्तरम्—यदि मया परस्परनिरपेक्षावेव मोक्षसाधनत्वेन कर्मयोगज्ञानयोगावुक्तौ स्याताम्, तदा तदेकं वद निश्चित्येति त्वत्प्रश्नो घटते। मया तु कर्मनिष्ठाज्ञाननिष्ठावत्त्वेन यद्द्वैविध्यमुक्तम्, तत् खलु पूर्वोत्तरदशाभेदादेव, न तु वस्तुतो मोक्षं प्रत्यधिकारिद्वैधमित्याह—लोके इति द्वाभ्याम्। द्विविधा द्विप्रकारा निष्ठा नितरां स्थितिमर्यादेत्यर्थः। पुरा प्रोक्ता पूर्वाध्याये कथिता। तामेवाह—सांख्यानां सांख्यं ज्ञानं तद्वताम्, तेषां शुद्धान्तःकरणत्वेन

ज्ञानभूमिकामधिरूढानां ज्ञानयोगेन निष्ठा, तेनैव मर्यादा स्थापिता। अत्र लोके ते ज्ञानित्वेनैव ख्यापिता इत्यर्थः—*"तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः"* इत्यादिना। तथा शुद्धान्तःकरणत्वाभावेन ज्ञानभूमिकामधिरोढूमसमर्थानां योगिनां तदारोहणार्थमुपायवतां कर्मयोगेन मदर्पितनिष्कामकर्मणा निष्ठा मर्यादा स्थापिता, ते खलु कर्मित्वेनैव ख्यापितेत्यर्थः—*"धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते"* इत्यादिना। तेन 'कर्मिणो' 'ज्ञानिन' इति नाममात्रेणैव द्वैविध्यम्। वस्तुतस्तु कर्मिण एव कर्मभिः शुद्धचित्ता ज्ञानिनो भवन्ति, ज्ञानिन एव भक्त्या मुच्यन्ते इति मद्वाक्यसमुदायार्थ इति भावः।।३।।

भावानुवाद—इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—"यदि मोक्षके साधन कर्मयोग और ज्ञानयोगको मैं परस्पर निरपेक्ष बताऊँ, तो तुम पुनः प्रश्न करोगे कि इन दोनोंमें से किसी एकको निश्चितरूपमें कहें। परन्तु, मैंने जो कर्मनिष्ठायुक्त और ज्ञाननिष्ठायुक्तरूपा दो प्रकार की निष्ठा बताई है, वह केवल पूर्व और परवर्त्ती दशाका भेद-मात्र है। वस्तुतः मैंने यह नहीं कहा है कि मोक्षके अधिकारी दो प्रकारके होते हैं। इसके लिए ही 'लोके' इत्यादि दो श्लोकोंको कहा जा रहा है। मैंने पिछले अध्यायमें 'द्विविधा' अर्थात् दो प्रकारकी निष्ठा बताई है।" उस निष्ठाके सम्बन्धमें कह रहे हैं—"ज्ञानभूमिकामें आरूढ़ ज्ञानियोंका अन्तःकरण शुद्ध होनेके कारण ज्ञानयोगके द्वारा उनकी मर्यादा स्थापित होती है। वे ही इस लोकमें 'ज्ञानी' के नामसे विख्यात हैं। श्रीगीता (२/६१) में कहा गया है—*'तानि सर्वाणि संयम्य युक्त आसीत मत्परः'*अर्थात् उन समस्त इन्द्रियोंको संयमितकर योगिगण मेरे परायण होकर अवस्थान करेंगें। दूसरी ओर, शुद्ध अन्तःकरणके अभावमें जो लोग ज्ञानभूमिकामें अधिरूढ़ होनेमें असमर्थ हैं, परन्तु ज्ञानभूमिकामें आरोहणके लिए उपाय ढूँढ़ रहे हैं, वैसे योगियोंकी मर्यादा मेरे लिए अर्पित निष्काम कर्मके द्वारा स्थापित होती है। वे 'कर्मी' के रूपमें जाने जाते हैं। श्रीगीता (२/३१) में कहा गया है—*'धर्म्याद्धि युद्धात् श्रेयोऽन्यत् क्षत्रियस्य न विद्यते'* अर्थात् क्षत्रियोंके लिए धर्मयुद्धके अतिरिक्त और कुछ भी मङ्गलजनक नहीं है। इसलिए 'कर्मी' और 'ज्ञानी'—ये केवल दो प्रकारके नाम हैं। किन्तु, प्रकृतरूपमें कर्मी लोग कर्मके द्वारा 'शुद्धचित्त' होकर चित्त शुद्धि होनेके पश्चात् 'ज्ञानी' होते हैं। ज्ञानी लोग भक्तिके द्वारा मुक्त होते हैं—यही मेरे वाक्योंका तात्पर्य है।।"३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—कर्म-योग-ज्ञान-तपस्यादि साधनोंमें स्वतन्त्ररूपसे फल देनेकी शक्ति नहीं होती। भक्तिके अवलम्बनसे ही वे फल देनेमें समर्थ होते हैं। किन्तु, निर्गुणा भक्ति उक्त साधनोंकी सहायताके बिना ही स्वतन्त्र रूपमें कृष्णप्रेम देनेमें समर्थ है। भक्तियोग (सोपाधिक भक्ति) मोक्ष-साधनका उपाय है। इस साधनके विषयमें दो प्रकारकी निष्ठा होती है—जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, केवल वे ही सांख्य अथवा ज्ञानयोगकी निष्ठा द्वारा भक्तियोगके पथपर आरूढ़ होते हैं और जिनका अन्तःकरण अशुद्ध है, वे भगवत्-अर्पित निष्काम कर्मके द्वारा ज्ञानपथपर आरूढ़ होकर अन्तमें भक्ति प्राप्त करते हैं।।३।।

न कर्मणामनारम्भान्नैष्कर्म्यं पुरुषोऽश्नुते।
न च संन्यसनादेव सिद्धिं समधिगच्छति।।४।।

अन्वय—कर्मणाम् (शास्त्रीय कर्मोंके) अनारम्भात् (अनुष्ठानोंको नहीं करनेसे) पुरुषः (पुरुष) नैष्कर्म्यम् (नैष्कर्म्यरूप ज्ञान) न अश्नुते (नहीं प्राप्त कर सकता है) च (एवं) संन्यसनात् एव (अशुद्धचित्त व्यक्ति केवल कर्मोंके त्यागसे ही) सिद्धिम् (सिद्धि) न समधिगच्छति (नहीं प्राप्त कर सकता है)।।४।।

अनुवाद—शास्त्रीय कर्मोंके अनुष्ठानोंको नहीं करनेसे पुरुष नैष्कर्म्यरूप ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है एवं केवल कर्मोंके त्यागसे भी अशुद्धचित्तवाला पुरुष सिद्धि नहीं प्राप्त कर सकता है।।४।।

श्रीविश्वनाथ—चित्तशुद्ध्यभावे ज्ञानानुत्पत्तिमाह—नेति। शास्त्रीयकर्मणा-मनारम्भादननुष्ठानान्नैष्कर्म्यं ज्ञानं न प्राप्नोति न चाशुद्धचित्तः, संन्यसनाच्छास्त्रीयकर्मत्यागात्।।४।।

भावानुवाद—यहाँ श्रीभगवान् 'न' इत्यादिके द्वारा बता रहे हैं कि चित्तशुद्धिके अभावमें ज्ञानकी उत्पत्ति नहीं होती है। शास्त्रीय कर्मोंके आरम्भ या अनुष्ठान नहीं करनेसे नैष्कर्म्य अर्थात् ज्ञान नहीं प्राप्त होता है और अशुद्धचित्तवाले पुरुषोंको संन्यास या शास्त्रीय कर्मोंके त्यागनेसे सिद्धि नहीं प्राप्त होती है।।४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—चित्तशुद्धिके बिना ज्ञानका उदय नहीं होता एवं ज्ञानके बिना संन्यास भी साधित नहीं होता, जो कि मोक्षका अङ्ग है। अतः जब तक चित्तशुद्धि और ज्ञानका उदय न हो तब तक शास्त्रविहित वर्णाश्रम धर्मके लिए निर्धारित कर्मोंका करना ही कर्त्तव्य है।।४।।

न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्।
कार्यते ह्यवशः कर्म सर्वः प्रकृतिजैर्गुणैः।।५।।

अन्वय—जातु (किसी कालमें) कश्चित् (कोई) क्षणम् अपि (क्षणमात्र भी) अकर्मकृत् (बिना कर्म किए) न हि तिष्ठति (रह ही नहीं सकता है) सर्वः हि (क्योंकि सभी) प्रकृतिजैः (स्वभावसे उत्पन्न) गुणैः (राग-द्वेषादि गुणोंके द्वारा) अवशः (सन्) (अधीन होकर) कर्म कार्यते (कर्ममें प्रवृत्त होते हैं)।।५।।

अनुवाद—कोई पुरुष किसी कालमें एक क्षणके लिए भी बिना कर्म किए नहीं रह सकता है। सभी पुरुष स्वभावसे उत्पन्न राग-द्वेषादि गुणोंके अधीन होकर कर्ममें प्रवृत्त होते हैं।।५।।

श्रीविश्वनाथ—किन्त्वशुद्धचित्तः कृतसंन्यासः शास्त्रीयं कर्म परित्यज्य व्यवहारिके कर्मणि निमज्जतीत्याह—नहीति। ननु संन्यास एव तस्य वैदिक-लौकिककर्मप्रवृत्तिविरोधी? तत्राह—कार्यत इति। अवशोऽस्वतन्त्रः।।५।।

भावानुवाद—किन्तु, जिन व्यक्तियोंने अशुद्ध चित्तावस्थामें संन्यास ले लिया है, वे शास्त्रीय कर्मोंका परित्यागकर व्यवहारिक कर्मोंमें निमग्न हो जाते हैं। इसके लिए ही श्रीभगवान् कहते हैं—'न हि' इत्यादि। यदि अर्जुनका प्रश्न हो कि क्या संन्यास ही उसके (उस पुरुषके) वैदिक-लौकिक कर्मप्रवृत्तिका विरोधी है, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—'कार्यते' इत्यादि अर्थात् उसे अवश (अधीन) होकर कार्य करना ही पड़ता है।।५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ संन्यास शब्दका तात्पर्य 'कर्ममें अनासक्ति' से है, स्वरूपतः कर्मोंके त्यागसे नहीं, क्योंकि शरीरधारियोंके लिए स्वरूपतः कर्मका त्याग असम्भव है—*'देहवान् न ह्यकर्मकृत'* (श्रीमद्भा. ६/१/४८)। शुद्धचित्त एवं जितेन्द्रिय व्यक्ति शास्त्रविहित कर्मोंके अनुष्ठानमें तत्पर रहते हैं। इसके विपरीत अशुद्धचित्त अजितेन्द्रिय व्यक्ति अकर्म और कुकर्ममें आसक्त रहते हैं। अतः ऐसे व्यक्तिके लिए संन्यास सम्भवपर नहीं है।।५।।

कर्मेन्द्रियाणि संयम्य य आस्ते मनसा स्मरन्।
इन्द्रियार्थान् विमूढात्मा मिथ्याचारः स उच्यते।।६।।

अन्वय—यः (जो) विमूढात्मा (मूढ़ व्यक्ति) कर्मेन्द्रियाणि (कर्मेन्द्रियोंको) संयम्य (निगृहीतकर) इन्द्रियार्थान् (इन्द्रियोंके विषयोंको) मनसा स्मरेण (मन-ही-मन स्मरण करता) आस्ते (रहता है) सः (वह) मिथ्याचारः (मिथ्याचारी) उच्यते (कहलाता है)।।६।।

अनुवाद—जो मूढ़ व्यक्ति अपने कर्मेन्द्रियोंको संयमितकर (हठपूर्वक रोककर) मन-ही-मन इन्द्रियोंके विषयोंका स्मरण करता रहता है, वह मिथ्याचारी कहलाता है।।६।।

श्रीविश्वनाथ—ननु तादृशोऽपि संन्यासी कश्चित् कश्चिदिन्द्रियव्यापारशून्यो मुद्रिताक्षो दृश्यते? तत्राह—कर्मेन्द्रियाणि, वाक्पाण्यादीनि निगृह्य यो मनसा ध्यानच्छलेन विषयान् स्मरन्नास्ते, स मिथ्याचारो दाम्भिकः।।६।।

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि उसके (मिथ्याचारीके) सदृश किसी किसी संन्यासीको भी शारीरिक चेष्टाओंसे रहित और बन्द नेत्रोंवाला देखा जाता है, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—"जो वाणी-पाणि इत्यादि कर्मेन्द्रियोंका निग्रहकर ध्यानके छलसे मन-ही-मन विषयोंका ध्यान करता है, वह मिथ्याचारी या दाम्भिक है।।"६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

'त्वं पदार्थ विवेकाय संन्यासः सर्वकर्मणाम्।
श्रुत्येह विहितो यस्मात् तत्त्यागी पतितो भवेत्।।'

धर्मशास्त्रमें यह देखा जाता है—श्रुतियोंने ऐसा विधान किया है कि 'त्वम्'-पदार्थके विवेक अथवा आत्मज्ञानके लिए सभी कर्मोंका संन्यास करना नितान्त आवश्यक है। जो इस विधिका पालन नहीं करते वे पतित हैं। अतः अशुद्धचित्तवाला व्यक्ति संन्यास-वेष धारणकर भी आसन लगाकर भगवान्के ध्यान करनेका जो अभिनय करता है, वह दिखावामात्र है, पाखण्ड है। भक्ति नहीं रहनेपर भी लोकसमाजमें अपनी भक्तिको दिखानेकी चेष्टाका नाम दम्भ है, अतः ऐसे लोग केवल पाखण्डी ही नहीं दाम्भिक भी होते हैं।।६।।

यस्त्विन्द्रियाणि मनसा नियम्यारभतेऽर्जुन।
कर्मेन्द्रियैः कर्मयोगमसक्तः स विशिष्यते।।७।।

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) तु यः (किन्तु जो व्यक्ति) मनसा (मनसे) इन्द्रियाणि (इन्द्रियोंको) नियम्य (वशीभूतकर) असक्तः सन् (फलकी कामनासे रहित होकर) कर्मेन्द्रियैः (कर्मेन्द्रियोंसे) कर्मयोगम् (शास्त्रविहित कर्मोंका) आरभते (आरम्भ करते हैं) सः (वे) विशिष्यते (श्रेष्ठ आचरण करते हैं)।।७।।

अनुवाद—हे अर्जुन! किन्तु जो व्यक्ति मनके द्वारा इन्द्रियोंको वशीभूतकर फलकी कामनासे रहित होकर कर्मेन्द्रियोंसे शास्त्रविहित कर्मोंका आचारण करते हैं, वे श्रेष्ठ हैं।।७।।

श्रीविश्वनाथ—एतद्विपरीतः शास्त्रीयकर्मकर्त्ता गृहस्थस्तु श्रेष्ठ इत्याह—यस्त्विति। कर्मयोगं शास्त्रविहितम्। असक्तोऽफलाकांक्षी विशिष्यते।"असम्भावितप्रमादत्वेन ज्ञाननिष्ठादपि पुरुषाद्विशिष्टः" इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः।।७।।

भावानुवाद—इसके विपरीत शास्त्रीय कर्मोंको करनेवाला गृहस्थ उससे श्रेष्ठ है। इसके लिए श्रीभगवान् 'यस्तु' इत्यादि कह रहे हैं। यहाँ 'कर्मयोग' का तात्पर्य है—शास्त्रविहित कर्म एवं 'असक्तः' का तात्पर्य है—फलाकाङ्क्षारहित। अर्थात्, जो व्यक्ति फलाकांक्षारहित होकर शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे विशिष्टता प्राप्त करते हैं। श्रीमद्रामानुजाचार्यने कहा है—*'असम्भावितप्रमादत्वेन ज्ञाननिष्ठादपि पुरुषाद्विशिष्टः'* अर्थात् असम्भावित प्रमादके कारण ज्ञाननिष्ठ व्यक्तिसे भी वह गृहस्थ श्रेष्ठ है।।७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—चित्तकी शुद्धिके लिए अनासक्त भावसे शास्त्रविहित कर्मोंका अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है। जो साधक ज्ञान-इन्द्रियोंको संयतकर कर्म-इन्द्रियोंके द्वारा फलाकांक्षासे रहित होकर कर्मयोगका अनुष्ठान करते हैं, वे प्रमादरहित और सतत सावधान रहनेके कारण पुरुषार्थके अधिकारी हैं। ऐसे परमार्थ-साधक उन साधकोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ होते हैं, जो कौतूहलवश संन्यास ग्रहणकर कर्मेन्द्रियोंका निग्रहकर ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारा विषयोंका भोग करते हैं।।७।।

नियतं कुरु कर्म त्वं कर्म ज्यायो ह्यकर्मणः।
शरीरयात्रापि च ते न प्रसिध्येदकर्मणः।।८।।

अन्वय—त्वम् (तुम) नियतम् (नित्य) कर्म (सन्ध्या-उपासनादि कर्म) कुरु (करो) हि (क्योंकि) अकर्मणः (कर्म नहीं करनेकी अपेक्षा) कर्म ज्यायः (कर्म करना श्रेष्ठ है) च (और) अकर्मणः (कर्म न करनेसे) ते (तुम्हारा) शरीरयात्रा अपि (शरीर-निर्वाह भी) न प्रसिध्येत् (सिद्ध नहीं होगा)।।८।।

अनुवाद—तुम सन्ध्या-उपासनादि नित्य कर्म करो, क्योंकि कोई कर्म नहीं करनेकी अपेक्षा कर्म करना श्रेष्ठ है और कोई कर्म न करनेसे तो तुम्हारा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।।८।।

श्रीविश्वनाथ—तस्मात्त्वं नियतं नित्यं सन्ध्योपासनादि, अकर्मणः कर्मसंन्यासात्सकाशाज्ज्यायः श्रेष्ठम्। संन्यस्त-सर्वकर्मणस्तव शरीर-निर्वाहोऽपि न सिध्येत्।।८।।

भावानुवाद—अतएव हे अर्जुन! तुम नियत अर्थात् सन्ध्या-उपासनादि नित्यकर्मोंको करो। वह 'अकर्मणः' अर्थात् कर्मसंन्याससे श्रेष्ठ है। समस्त कर्मोंके त्यागसे तुम्हारा शरीर-निर्वाह भी सिद्ध नहीं होगा।।८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—छान्दोग्य उपनिषद्‌में भी उक्त विचारकी पुष्टि होती है—*'आहरशुद्धौ सत्त्वशुद्धिः सत्त्वशुद्धौ ध्रुवा स्मृतिः स्मृतिलम्भे सर्वग्रन्थीनां विप्रमोक्षः।'* (छा. उ. ७/२६/२)

अर्थात्, आहारके शुद्ध रहनेपर सत्त्व (अन्तःकरण) की शुद्धि होती है, सत्त्वकी शुद्धि होनेसे स्मृति स्थिर होती है, स्थिर स्मृतिसे हृदयकी सारी ग्रन्थियाँ खुल जाती हैं। और भी, *'भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्ति आत्मकारणात्'* (गीता ३/१३) इत्यादि वाक्योंसे जाना जाता है कि साधनकी पूर्णताके लिए शरीरका धारण करना आवश्यक है, अतएव जीवन-धारण करनेके लिए शास्त्रविहित कर्मानुष्ठान भी अत्यन्त आवश्यक हैं। किन्तु, जो लोग केवल कौतूहलवश अशुद्ध चित्त रहने पर भी कर्मत्यागरूप संन्यास ग्रहण करते हैं, उनके मलिन हृदयमें ज्ञानका प्रकाश नहीं होता, साथ ही जीवन-यात्रा निर्वाहके अभावमें उनका देह भी नष्ट हो जाता है।।८।।

यज्ञार्थात्कर्मणोऽन्यत्र लोकोऽयं कर्मबन्धनः।
तदर्थं कर्म कौन्तेय मुक्तसङ्गः समाचर।।९।।

अन्वय—कौन्तेय (हे कुन्तीनन्दन!) यज्ञार्थात् (विष्णु-अर्पित निष्काम) कर्मणः अन्यत्र (कर्मके अतिरिक्त) अयम् लोकः (इस मनुष्यका) कर्म-बन्धनः (कर्मबन्धन) [भवति—होता है] तदर्थम् (विष्णुके लिए) मुक्तसङ्गः (सन्) (फलाकांक्षारहित होकर) कर्म समाचर (कर्मका भलीभाँति आचरण करो)।।९।।

अनुवाद—हे कुन्तीनन्दन! श्रीविष्णुके लिए अर्पित निष्काम कर्मके अतिरिक्त अन्य कर्मोंके द्वारा मनुष्यको कर्मबन्धन प्राप्त होता है। अतः तुम फलाकांक्षारहित होकर भगवान् विष्णुके उद्देश्यसे कर्मका भलीभाँति आचरण करो।।९।।

श्रीविश्वनाथ—ननु तर्हि *"कर्मणा बध्यते जन्तुः"* इति स्मृतेः, कर्मणि कृते बन्धः स्यादिति चेन्न; परमेश्वरार्पितं कर्म न बन्धकमित्याह—यज्ञार्थादिति। विष्ण्वर्पितो निष्कामो धर्म एव यज्ञ उच्यते। तदर्थं यत् कर्म, ततोऽन्यत्रैवायं लोकः कर्मबन्धनः कर्मणा बध्यमानो भवति। तस्मात् त्वं तदर्थं तादृशधर्मसिद्ध्यर्थं कर्म समाचर। ननु विष्ण्वर्पितोऽपि धर्मः, कामनामुद्दिश्य

कृतश्चेत् बन्धको भवत्येवेत्याह—मुक्तसङ्गः फलाकाङ्क्षारहितः; एवमेवोद्धवं प्रत्यपि श्रीभगवतोक्तम्—*"स्वधर्मस्थो यजन् यज्ञैरनाशीः काम उद्धव। न याति स्वर्गनरकौ यद्यन्यत् न समाचरेत्।। अस्मिँल्लोके वर्त्तमानः स्वधर्मस्थोऽनघः शुचिः। ज्ञानं विशुद्धमाप्नोति।।"* इति।।९।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् कहते हैं—"हे अर्जुन! यदि तुम स्मृतिसे प्रमाण देकर कहो कि 'कर्मणा बध्यते जन्तुः' अर्थात् कर्मके द्वारा जन्तु या जीव बद्ध होता है, अतः कर्म करनेसे मेरा भी बन्धन होगा, तो सुनो—ऐसा सर्वत्र उचित नहीं होता है। परमेश्वरके लिए अर्पित कर्म बन्धनका कारण नहीं है। इसके लिए हि 'यज्ञार्थात्' इत्यादि कहा जा रहा है। श्रीविष्णुके लिए अर्पित निष्काम धर्म ही यज्ञ कहलाता है। विष्णुके लिए जो कर्म हैं, उनके अतिरिक्त अन्यान्य सभी कर्म लोक-बन्धक हैं अर्थात् उन कर्मोंसे लोग बद्ध हो जाते हैं। अतएव तुम श्रीविष्णुके निमित्त धर्मसिद्धिके लिए वैसे ही कर्मोंका सम्यक् आचरण करो। परन्तु, श्रीविष्णुको अर्पित धर्म भी यदि कामनाके साथ किया जाय, तो वह बन्धनकारी होगा।" इसके लिए ही कहते हैं—'मुक्तसङ्गः' अर्थात् फलाकाङ्क्षारहित। श्रीभगवान्‌ने उद्धवको भी ऐसा ही कहा है—"हे उद्धव! स्वधर्मका आचरण करनेवाले फलकी कामनासे रहित व्यक्ति यज्ञके द्वारा आराधनाकर यदि निषिद्ध अथवा काम्य विषयोंका आचरण नहीं करते हैं, तो उन्हें स्वर्ग या नरक नहीं प्राप्त होता है। वे स्वधर्ममें स्थित होकर निषिद्ध विषयोंका त्यागकर और रागादिसे रहित होकर इस जगत्‌में वर्त्तमान दशामें ही विशुद्ध ज्ञान प्राप्त करते हैं।" (श्रीमद्भा. ११/२०/१०-११)।।९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रुतियोंमें यज्ञको ही विष्णु कहा गया है—*'यज्ञौ वै विष्णुः'*। श्रीमद्भागत (११/१९/३९) में भी भगवान्‌ने स्वयं उद्धवजीको कहा है—*'यज्ञोऽहं भगवत्तमः'* अर्थात् मैं वसुदेवनन्दन ही यज्ञ हूँ।

तन्त्रसारमें भी यज्ञको ही स्वयं हरि कहा गया है—

'यज्ञो यज्ञपुमांश्चैव यज्ञशो यज्ञभावनः।
यज्ञभुक् चेतिपञ्चात्मा यज्ञेष्विज्यो हरिः स्वयम्।।'

(तन्त्रसार)

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने उपर्युक्त गीताके (३/९) श्लोककी टीकामें श्रीमद्भागवतके (११/२०/१०-११) दो श्लोकोंको जो उद्धृत किया है, उनमें 'स्वधर्मस्थ' शब्दका दो बार प्रयोग देखा जाता है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने श्रीमद्भागवतके इन श्लोकोंकी टीकामें कहा है—

(१) स्वधर्मस्थ होनेके कारण तथा शास्त्रविहित कर्मोंका अतिक्रमण न करनेके कारण निषिद्ध कर्मोंके वर्जन हेतु वह व्यक्ति नरकमें गमन नहीं करता और फलकामनासे रहित होनेके कारण स्वर्गमें नहीं जाता।

(२) स्वधर्मस्थ—निष्काम कर्म करने वाला स्वधर्मस्थ है।

श्रीविष्णुकी प्रीतिके लिए निष्काम भावसे शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करनेपर वही कर्म चित्तको शुद्धकर साधुसङ्गमें भगवत्-तत्त्वका उदय कराकर निर्गुणा भक्तिमें प्रवेश कराता है।

देवर्षि नारदने भी ऐसा कहा है—

'एतत् संसूचितं ब्रह्मंस्तापत्रयचिकित्सितम्।
यदीश्वरे भगवति कर्म ब्रह्मणि भावितम्।।'

अर्थात्, हे ब्रह्मज्ञ! सर्वनियन्ता, सर्वेश्वर भगवान्के श्रीचरणोंमें जो कर्म समर्पित किए जाते हैं, वे त्रितापको दूर करनेवाले होते हैं।

श्रीभगवान्ने प्रचेताओंको कहा है—

'गृहेष्वाविशताञ्चापि पुंसां कुशलकर्मणाम्।
मद्वार्त्तायातयामानां न बन्धाय गृहा मताः।।'

(श्रीमद्भा. ४/३०/१९)

अर्थात्, जो व्यक्ति मुझे समस्त कर्मफलोंका भोक्ता जानकर अपने समस्त कर्मोंको मुझे ही अर्पित करते हैं, ऐसे कुशलकर्मा एवं जो मेरी लीला-कथाओंके श्रवण-कीर्त्तनमें दिन यापन करते हैं, उन सभी पुरुषोंके गृहस्थ-आश्रममें रहनेपर भी गृह उनके बन्धनका कारण नहीं होता है।।९।।

सहयज्ञाः प्रजाः सृष्ट्वा पुरोवाच प्रजापतिः।
अनेन प्रसविष्यध्वमेष वोऽस्त्विष्टकामधुक्।।१०।।

अन्वय—पूर्वे (आदिकालमें) सहयज्ञाः (यज्ञाधिकारी ब्राह्मणादि) प्रजाः (प्रजाओंको) सृष्ट्वा (सृष्टकर) प्रजापतिः (प्रजापति ब्रह्माने) उवाच (कहा) अनेन (इस यज्ञके द्वारा) प्रसविष्यध्वम् (वृद्धिको प्राप्त होओ) एषः (यह यज्ञ) वः (तुम लोगोंको) इष्टकामधुक् (अभीष्ट कामनाओंको देनेवाला) अस्तु (होवे)।।१०।।

अनुवाद—आदिकालमें (सृष्टिके प्रारम्भमें) यज्ञाधिकारी ब्राह्मणोंकी सृष्टिकर प्रजापति ब्रह्माने कहा—तुमलोग इस यज्ञके द्वारा वृद्धिको प्राप्त होओ और यह यज्ञ तुमलोगोंकी अभीष्ट कामनाओंको पूर्ण करनेवाला होवे।।१०।।

श्रीविश्वनाथ—तदेवाशुद्धचित्तो निष्कामं कर्मैव कुर्यात्, न तु संन्यासमित्युक्तम्। इदानीं यदि च निष्कामोऽपि भवितुं न शक्नुयात्, तदा सकाममपि धर्मं विष्ण्वर्पितं कुर्यात्, न तु कर्मत्यागमित्याह—सहेति सप्तभिः। यज्ञेन सहिताः सहयज्ञाः—"वोपसर्जनस्य" इति 'सहस्य' सादेशाभावः। पुरा विष्ण्वर्पितधर्मकारिणीः प्रज्ञाः सृष्ट्वा ब्रह्मोवाच—अनेन धर्मेण प्रसविष्यध्वं प्रसवो वृद्धिरुत्तरोत्तरमतिवृद्धिं लभध्वमित्यर्थः। तासां सकामत्वमभिलक्ष्याह—एष यज्ञो व इष्टकामधुक् अभीष्टभोगप्रदोऽस्त्वित्यर्थः।।१०।।

भावानुवाद—इसीलिए श्रीभगवान् कहते हैं—"अशुद्धचित्त व्यक्ति संन्यास न लेकर निष्काम कर्म करे। परन्तु यदि इस समय वह निष्काम भी नहीं हो सकता है, तो वह सकाम कर्म ही करे और उस सकाम कर्मको भी विष्णुको अर्पित करे।" इसके लिए ही वे 'सह' इत्यादि सात श्लोकोंको कह रहे हैं। 'सहयज्ञ' का तात्पर्य है—यज्ञके साथ। 'विकल्पे-उपसर्जन' सूत्रके अनुसार यहाँ 'सह' के स्थानमें 'स' के आदेशका अभाव है। 'पुरा' अर्थात् पूर्वमें विष्णु-अर्पित धर्मको करनेवाले प्रजाओंकी सृष्टिकर ब्रह्माने कहा—*"अनेन धर्मेण प्रसविष्यध्वम्'* अर्थात् इस धर्मके द्वारा प्रसव या वृद्धिको प्राप्त होओ अर्थात् उत्तरोत्तर अतिवृद्धि लाभ करो।" प्रजाओंके सकामत्वको लक्ष्यकर ब्रह्माजीने कहा—"यह यज्ञ तुमलोगोंको इष्टकामधुक् अर्थात् अभीष्ट फल देनेवाला होवे।।"१०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—काम्यकर्मोंका भी विष्णुको अर्पण करना अकर्मसे श्रेष्ठ है।।१०।।

देवान् भावयतानेन ते देवा भावयन्तु वः।
परस्परं भावयन्तः श्रेयः परमवाप्स्यथ।।११।।

अन्वय—अनेन (इस यज्ञके द्वारा) देवान् (देवताओंका) भावयत (प्रीति-विधान करो) ते देवाः (वे देवतागण) वः (तुमलोगोंको) भावयन्तु [फल प्रदानकर] (प्रसन्न करें) एवं (इस प्रकार) परस्परम् (एक दूसरेको) भावयन्तः (प्रसन्न करते हुए) परम् श्रेयः (परम कल्याण) अवाप्स्यथ (प्राप्त करोगे)।।११।।

अनुवाद—इस यज्ञके द्वारा तुमलोग देवताओंका प्रीति–विधान करो और देवतागण फल प्रदानकर तुमलोगोंको प्रसन्न करें। इस प्रकार एक दूसरेको प्रसन्न करते हुए परम कल्याण प्राप्त करोगे।।११।।

श्रीविश्वनाथ—कथमिष्टकामप्रदो यज्ञो भवेत्तत्राह—देवानिति। अनेन यज्ञेन देवान् भावयत, भाववतः कुरुत—भावः प्रीतिस्तद्युक्तान् कुरुत प्रीणयत् इत्यर्थः। ते देवा अपि वः प्रीणयन्तु।।११।।

भावानुवाद—अब 'देवान्' इत्यादिके द्वारा श्रीभगवान् बता रहे हैं कि यज्ञ किस प्रकार अभीष्टफल प्रदान करनेवाला हो सकता है। वे कहते हैं—"इस यज्ञके द्वारा तुम देवताओंकी भावना करो अर्थात् उन्हें प्रसन्न करो। भावका अर्थ होता है—प्रीति। वे देवतागण भी तुमलोगोंको प्रीत करें अर्थात् प्रसन्न करें।।"११।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—उक्त श्लोकमें भगवान्ने देवताओंको घृताहुतिके द्वारा प्रसन्न करनेका उपदेश दिया है। इसका एक गूढ़ तात्पर्य है। उन्होंने अपना भजन छोड़कर स्वतन्त्र ईश्वर-बुद्धिसे देवताओंको यज्ञाहुति देनेका उपदेश नहीं दिया है, क्योंकि देवतागण भगवान्से स्वतन्त्र ईश्वर नहीं हैं। श्रीविष्णु योग्य जीवोंमें अपनी विशेष शक्तिका सञ्चारकर दिक्पालके रूपमें उनके द्वारा जगत्का पालन कराते हैं, इसलिए ये उनके अङ्गभूत देव-स्वरूप हैं। श्रीमद्भागवत (१/११/२६) में कहा गया है—*'बाहवो लोकापालानां'* अर्थात् श्रीकृष्णके बाहुसमूह समस्त लोकपालोंके आश्रय हैं। पुनः श्रीमद्भागवत (२/१/२९) में कहा गया है—*'इन्द्रादयो बाहव आहुरुस्राः'* अर्थात् वे इन्द्रादि देवतागण विराटपुरुषकी बाहु हैं।

श्रीमद्भागवतमें इन्द्रपूजाके प्रसङ्गमें देखा जाता है कि व्रजवासी लोग प्रतिवर्ष इन्द्रकी पूजा करते थे, किन्तु कृष्णने इन्द्रकी पूजाके बदले श्रीगिरिराज गोवर्द्धनकी पूजा करवाई थी। इन्द्रका गर्व चूर होनेपर इन्द्रने स्वयं ही स्वीकार किया कि मैं अपने ऐश्वर्यके गर्वसे अपनेको स्वतन्त्र ईश्वर समझने लगा था, आपने आज महान कृपाकर मेरा यह अहङ्कार दूर कर दिया। अब मैं अच्छी तरह समझ गया कि मैं आपके दासोंके दासोंका दास हूँ तथा मैं आपके शरणागत होता हूँ। इस उपाख्यानके द्वारा सिद्ध होता है कि लोकपाल देवता विराट पुरुषके अङ्गस्वरूप हैं।।११।।

इष्टान् भोगान्हि वो देवा दास्यन्ते यज्ञभाविताः।
तैर्दत्तानप्रदायैभ्यो यो भुङ्क्ते स्तेन एव सः।।१२।।

अन्वय—देवाः (देवतागण) यज्ञभाविताः (यज्ञके द्वारा प्रसन्न होकर) वः (तुमलोगोंको) इष्टान् भोगान् (अभीष्ट भोगसमूह) दास्यन्ते (प्रदान करेंगे) हि (अतः) तैः दत्तान् (उनके द्वारा प्रदत्त द्रव्योंको) एभ्यः (देवताओंको) अप्रदाय (अर्पित किए बिना) यः (जो व्यक्ति) भुङ्क्ते (भोग करता है) सः स्तेनः एव (वह चोर ही है)।।१२।।

अनुवाद—देवतागण प्रसन्न होकर तुमलोगोंके अभीष्ट भोगोंको प्रदान करेंगे। अतः जो व्यक्ति देवताओंके द्वारा प्रदत्त द्रव्योंको देवताओंको अर्पित किए बिना ही भोग करता है, वह चोर ही है।।१२।।

श्रीविश्वनाथ—एतदेव स्पष्टीकुर्वन् कर्माकरणे दोषमाह—इष्टानिति। तैर्दत्तान् वृष्ट्यादिद्वारेणान्नादीनुत्पाद्येत्यर्थः। एभ्यो देवेभ्यः पञ्च-महायज्ञादिभिरदत्त्वा यो भुङ्क्ते, स तु चौर एव।।१२।।

भावानुवाद—कर्मके नहीं करनेसे दोष होता है—इसे स्पष्ट करनेके लिए श्रीभगवान् 'इष्टान्' इत्यादि कह रहे हैं। देवताओंके द्वारा प्रदत्त वृष्टि आदिसे अन्नादिका उत्पादन होता है। जो अन्नादिका उत्पादनकर पञ्च महायज्ञोंके द्वारा देवताओंको बिना दिए उनका भोग करता है, वह तो चोर है।।१२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

पञ्च महायज्ञ—गरुडपुराणमें ऐसा कहा गया है—

'अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम्।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम्।।'

अर्थात्—

(१) अध्यापना—शिष्यको शास्त्र-उपदेश प्रदान करना ब्रह्मयज्ञ है।
(२) पितरोंके उद्देश्यसे तर्पणादि पितृयज्ञ है।
(३) होम देवयज्ञ है।
(४) बलि अर्थात् प्राणियोंके लिए फल-फूल-अन्नादि दानरूप बलि भूतयज्ञ है।
(५) अतिथियोंका सत्कार नृयज्ञ है।

बहुतसे लोग बलिका तात्पर्य पशुओं और मनुष्योंकी हिंसायुक्त बलि समझते हैं, किन्तु श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंका ऐसा विचार नहीं है।

'लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञ सुरागृहैरासु निवृत्तिरिष्टा।।'

(श्रीमद्भा. ११/५/११)

अर्थात्, देवताओंके उद्देश्य से अन्न, जल, फल, फूल वा पशुओंका दानरूप आलम्भन ही बलिका तात्पर्य है।।१२।।

यज्ञशिष्टाशिनः सन्तो मुच्यन्ते सर्वकिल्बिषैः।
भुञ्जते ते त्वघं पापा ये पचन्त्यात्मकारणात्।।१३।।

अन्वय—यज्ञशिष्टाशिनः सन्तः (यज्ञके अवशिष्टको ग्रहण करनेवाले साधु) सर्वकिल्बिषैः (सभी पापोंसे) मुच्यन्ते (मुक्त हो जाते हैं) ये तु (किन्तु जो) आत्मकारणात् (केवल अपने लिए) पचन्ति (पाक करते हैं) ते पापाः (वे दुराचारी) अघम् (पापको ही) भुञ्जते (खाते हैं)।।१३।।

अनुवाद—यज्ञके अवशिष्टको ग्रहण करनेवाले साधु सभी पापोंसे मुक्त हो जाते हैं, किन्तु जो केवल अपने लिए ही अन्नादि पकाते हैं, वे दुराचारी पापको ही खाते हैं।।१३।।

श्रीविश्वनाथ—वैश्वदेवादि-यज्ञावशिष्टमन्नं येऽश्नन्ति, ते पञ्चसूना-कृतैः सर्वैः पापैर्मुच्यन्ते। पञ्चसूनाश्च स्मृत्युक्ताः—*"कण्डनी पेषणी चुल्ली उदकुम्भी च मार्जनी। पंचसूना गृहस्थस्य ताभिः स्वर्गं न विन्दति।।* इति।।१३।।

भावानुवाद—जो वैश्वदेवादि यज्ञोंके अवशिष्ट अन्नका भोजन करते हैं, वे पञ्चसूनाके द्वारा किए गए पापोंसे मुक्त हो जाते हैं। स्मृतिशास्त्रमें चूल्हा, चक्की, ऊखल, घड़ा और झाड़ू—इन पाँचों वस्तुओंको गृहस्थके लिए पञ्चसूना कहा गया है। पञ्चसूनाके कारण ही गृहस्थ स्वर्गकी प्राप्ति नहीं करते हैं।

[सूना का अर्थ होता है—पशुओंका वध स्थान। क्योंकि घरमें पाँच वस्तुओंसे जीव-हिंसाकी सम्भावना रहती है, अतः इन्हें पञ्चसूना कहा जाता है।]।।१३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—विश्वदेव-सम्बन्धी यज्ञ-होम आदिको वैश्वदेव कहते हैं।

विश्वदेवाः—

'वसुसतो क्रतुदक्षौ कालकामौ धृतिः कुरुः।
पुरूरवा माद्रवाश्च विश्वदेवाः प्रकीर्त्तिताः।।'

(भरत)

गृहस्थोंके लिए ओखली, जाँता, चूल्हा, जलपूर्ण कलश और झाड़ू—ये पाँच अनजानेमें जीव-हत्याके स्थान हैं। जो लोग अपने लिए भोजन पकाते हैं, वे उन पापोंसे लिप्त हो जाते हैं। वे अपने कर्मोंका अनुष्ठान करनेपर भी स्वर्गलाभ नहीं करते। अतः स्मृति शास्त्रमें पञ्चसूनाकृत पापोंके लिए पञ्च यज्ञका विधान किया गया है—*'पञ्चसूना कृतं पापं पञ्चयज्ञैर्व्यपोहति'*।।१३।।

अन्नाद्भवन्ति भूतानि पर्जन्यादन्नसम्भवः।
यज्ञाद्भवति पर्जन्यो यज्ञः कर्मसमुद्भवः।।१४।।

अन्वय—भूतानि (सभी जीव) अन्नात् (अन्नसे) भवन्ति (उत्पन्न होते हैं) अन्नसम्भवः (अन्नकी उत्पत्ति) पर्जन्यात् (वर्षासे होती है) यज्ञात् (यज्ञसे) पर्जन्यः भवति (वर्षा होती है) (और) यज्ञः (यज्ञ) कर्मसमुद्भवः (कर्मसे उत्पन्न होता है)।।१४।।

अनुवाद—सभी जीव अन्नसे उत्पन्न होते हैं और अन्नकी उत्पत्ति वर्षासे होती है। यज्ञसे वर्षा होती है और यज्ञ कर्मसे उत्पन्न होता है।।१४।।

श्रीविश्वनाथ—जगच्चक्रप्रवृत्तिहेतुत्वादपि यज्ञं कुर्यादेवेत्याह—अन्नाद् भूतानि प्राणिनो भवन्तीति भूतानां हेतुरन्नम्। अन्नादेव शुक्रशोणितरूपेण परिणतात् प्राणिशरीरसिद्धेः। तस्यान्नस्य हेतुः पर्जन्यः, वृष्टिभिरेवान्नसिद्धेः। तस्य पर्जन्यस्य हेतुर्यज्ञः, लोकैः कृतेन यज्ञेनैव समुचितवृष्टिप्रदमेघसिद्धेः। तस्य यज्ञस्य हेतुः कर्म, ऋत्विग्यजमानव्यापारात्मकत्वात् कर्मण एव यज्ञसिद्धेः।।१४।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् कहते हैं—"संसार चक्रकी प्रवृत्तिके कारणस्वरूप होनेपर भी यज्ञ प्रयोजनीय है। अन्नसे जीव या प्राणिगण उत्पन्न होते हैं, अतः जीवोंका कारण अन्न है, क्योंकि अन्न ही रक्तमें परिवर्त्तित होता है और परिवर्त्तित होकर शुक्राणु बनता है, जिससे कि जीवोंका शरीर बनता है। उस अन्नका कारण मेघ है, क्योंकि वृष्टिसे अन्न होता है। उस मेघका कारण यज्ञ है, क्योंकि लोगोंके द्वारा किए गए यज्ञसे ही समुचित वृष्टि देनेवाले मेघका सृजन होता है। उस यज्ञका कारण कर्म है, क्योंकि ऋत्विक् (यज्ञपुरोहित) और यजमान्के द्वारा अनुष्ठित कर्मसे ही यज्ञ सिद्ध होता है।।"१४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

ऋत्विक्—जो ऋतुओंमें यज्ञ करते हैं, उन यज्ञ पुरोहितोंको ऋत्विक् कहते हैं—

'आग्नेधेयं पाकयज्ञानग्निष्टोमादिकान्मखान्।
यः करोति वृतो यस्य स तस्यर्त्विगिहोच्यते।।'

यज्ञकार्यमें मुख्य पुरोहित चार होते हैं—होता, अध्वर्यु, ब्रह्मा और उद्गाता।।१४।।

कर्म ब्रह्मोद्भवं विद्धि ब्रह्माक्षरसमुद्भवम्।
तस्मात्सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्।।१५।।

अन्वय—कर्म ब्रह्मोद्भवम् (कर्मको ब्रह्म या वेदसे उत्पन्न) विद्धि (जानो) ब्रह्म अक्षरसमुद्भवम् (वेद अच्युतसे उत्पन्न हुए हैं) तस्मात् (अतएव) सर्वगतम् (सर्वव्यापक) ब्रह्म (परम ब्रह्म) नित्यम् (सर्वदा) यज्ञे प्रतिष्ठितम् (यज्ञमें प्रतिष्ठित हैं)।।१५।।

अनुवाद—कर्मको वेदसे उत्पन्न जानो और वेदको अच्युतसे उत्पन्न जानो। अतएव सर्वव्यापक ब्रह्म सर्वदा ही यज्ञमें प्रतिष्ठित हैं।।१५।।

श्रीविश्वनाथ—तस्य कर्मणो हेतुर्ब्रह्म वेदः, वेदोक्तविधिवाक्यश्रवणादेव यज्ञं प्रति व्यापारोत्पत्तेस्तस्य वेदस्य हेतुरक्षरं ब्रह्म, ब्रह्मत एव वेदोत्पत्तेः, तथा च श्रुतिः—*"अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः"* इति। तस्मात् सर्वगतं सर्वाव्यापकं ब्रह्म यज्ञे प्रतिष्ठितमिति यज्ञेन ब्रह्मापि प्राप्यत इति भावः। अत्र यद्यपि कार्यकारणभावेनान्नाद्या ब्रह्म पर्यन्ताः पदार्था उक्तास्तदपि तेषु मध्ये यज्ञ एव विधेयत्वेन शास्त्रेणोच्यत इति। स एव प्रस्तुतः, *"अग्नौ प्रास्ताहुतिः सम्यगादित्यमुपतिष्ठते। आदित्याज्जायते वृष्टिर्वृष्टेरन्नं ततः प्रजाः।।"* इति स्मृतेः।।१५।।

भावानुवाद—वेद ही उस कर्मका हेतु है, क्योंकि वेदोंमें वर्णित विधि-वाक्योंको सुनकर ही यज्ञका अनुष्ठान किया जाता है। उस वेदका कारण अक्षर ब्रह्म है, क्योंकि वेद ब्रह्मसे ही उत्पन्न हुआ है। इसके सम्बन्धमें श्रुतिमें ऐसा कहा गया है—*'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्वाङ्गिरसः'* अर्थात् ये ऋग्वेद, यजुर्वेद और सामवेद इन महापुरुषके निःश्वासस्वरूप हैं। अतएव 'सर्वगत' अर्थात् सर्वव्यापक ब्रह्म यज्ञमें प्रतिष्ठित होते हैं। इस वाक्यके द्वारा यह भी सिद्ध होता है कि यज्ञसे ब्रह्मकी भी प्राप्ति होती है। यद्यपि यहाँ अन्नसे ब्रह्म पर्यन्त वस्तुओंको कार्य-कारणके रूपमें कहा गया है, तथापि शास्त्रोंमें इनमें से यज्ञको ही विधेयके रूपमें कहा गया है, यज्ञकी ही प्रशंसाकी गई है। स्मृति (मनु) में भी कहते हैं—"अग्निमें प्रदत्त आहुति सूर्यदेवके पास पहुँचती है, सूर्यसे वर्षा, वर्षासे अन्न और अन्नसे प्रजा (प्राणी) उत्पन्न होते है।।"१५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—*'उद्यमस्था सदा लक्ष्मीः'* अर्थात् उद्यममें लक्ष्मी सर्वदा निवास करती है। इसी प्रकार यज्ञमें भी सर्वगत और सर्वव्यापक ब्रह्म सर्वदा प्रतिष्ठित रहते हैं। ऐसे यज्ञ और सत्कर्मोंके अनुष्ठानसे जीव केवल पापमुक्त ही नहीं होते, बल्कि ब्रह्मको भी प्राप्त कर लेते हैं।।१५।।

एवं प्रवर्त्तितं चक्रं नानुवर्त्तयतीह यः।
अघायुरिन्द्रियारामो मोघं पार्थ स जीवति।।१६।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) यः (जो व्यक्ति) एवं (इस प्रकार) प्रवर्त्तितम् (प्रवर्त्तित) चक्रम् (कर्मचक्रका) इह (इस संसारमें) न अनुवर्त्तति (नहीं आचरण करता है) सः (वह) अघायुः (पापजीवन) इन्द्रियारामः (इन्द्रियासक्त) मोघम् (वृथा ही) जीवति (जीवित रहता है)।।१६।।

अनुवाद—हे पार्थ! जो व्यक्ति इस प्रकारसे प्रवर्त्तित कर्मचक्रका आचरण नहीं करता है, वह पापरत और इन्द्रियासक्त होकर व्यर्थ ही जीवित रहता है।।१६।।

श्रीविश्वनाथ—एतदननुष्ठाने प्रत्यवायमाह—एवमिति। चक्रं पूर्वपश्चाद्भागेन प्रवर्त्तितम्—यज्ञात् पर्जन्यः, पर्जन्यादन्नम्, अन्नात् पुरुषः, पुरुषात् पुनर्यज्ञो, यज्ञात् पर्जन्य इत्येवं चक्रं यो नानुवर्त्तयति—यज्ञानुष्ठानेन न परिवर्त्तयति, स अघायुः पापव्याप्तायुः। को नरके न मङ्क्ष्यतीति भावः।।१६।।

भावानुवाद—इसका अनुष्ठान नहीं करनेसेसे दोष होता है—इसके लिए 'एवं' इत्यादि कह रहे हैं। चक्रका तात्पर्य है—पूर्व और पश्चात् भागसे प्रवर्त्तित, जैसे यज्ञसे मेघ, मेघसे अन्न, अन्नसे पुरुष तथा पुरुषसे पुनः यज्ञ और यज्ञसे मेघ आदि होते हैं। जो ऐसे चक्रका अनुवर्त्तन नहीं करता अर्थात् यज्ञके अनुष्ठान (आचरण) द्वारा परिवर्त्तन नहीं करता है, वह अपायु अर्थात् पापमय जीवनवाला है। नरकमें कौन नहीं जाता है? (अर्थात् जो यज्ञका आचरण करता है, वही नरकमें नहीं जाता है)।।१६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जीवोंकी अभीष्ट-सिद्धिके लिए परमेश्वरने कर्मादि चक्रका प्रवर्त्तन किया है। इसलिए जगत्-चक्र प्रवर्तकरूप यज्ञका अनुष्ठान नहीं करनेसे जीव पापका भागी होकर नरकमें गमन करता है।

"हे पार्थ! काम्य कर्मके अधिकारी व्यक्तियोंमें से जो इस जगत्-चक्र-प्रवर्त्तकरूप यज्ञका अनुष्ठान नहीं करते हैं, वे पापजीवनयुक्त इन्द्रियोंका सेवक बनकर व्यर्थ ही जीवन धारण करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि भगवदर्पित निष्काम कर्मयोगमें पाप-पुण्यका अधिकार (विचार) नहीं है। क्योंकि, शास्त्रोंमें इसे निर्गुणा भक्ति प्राप्त करनेके प्रशस्त पथके रूपमें बताया गया है। उस पथका आश्रय करनेवाले व्यक्तिके लिए चित्तशुद्धि अर्थात् कषायका नाश अनायास ही प्राप्य है। जिन्होंने भगवदर्पित निष्काम कर्मयोगका अधिकार नहीं प्राप्त किया है, वे सभी सदा ही कामना और

इन्द्रियतृप्तिके वशीभूत होते हैं, अतः वे पापमें रत रहते हैं। उनके पाप करनेकी प्रवृत्तिको संकुचित करनेके लिए पुण्यकर्म ही एकमात्र उपाय है। पापके उपस्थित होनेपर प्रायश्चित ही उनके लिए अवलम्बनीय है। यज्ञकी व्यवस्था ही धर्म या पुण्य कर्म है। जिससे सभी जीवोंका शुभ और जगत्-चक्रकी गति सुन्दररूपसे साधित हो, वही पुण्य है। पुण्यकी व्यवस्थासे 'पञ्चसूना' आदि अपरिहार्य पाप नष्ट हो जाते हैं। अनुष्ठानकर्त्ताके अपने सुख और इन्द्रियतृप्तिके लिए, जगत्के मङ्गलकी रक्षा करते हुए जितना स्वीकार किया जा सकता है, उतना 'यज्ञाङ्ग' होकर पुण्यके रूपमें परिगणित होता है। जिन अलक्षित विधियोंके द्वारा जगत्-मङ्गलरूप फलकी उत्पत्ति हो, वे सभी भगवान्की शक्तिसे उत्पन्न देवताविशेष हैं। उन विधिरूप देवताओंको प्रसन्नकर उनकी अनुकम्पासे प्रसन्नता प्राप्त करनेपर और कोई पाप नहीं रहता है—इसे ही कर्मचक्र कहा जाता है। इस प्रकार देवताओंकी पूजाके द्वारा जो कर्म स्वीकृत हैं, उन्हें 'भगवदर्पित काम्य कर्म' कहते हैं। जो उन विधियोंको प्राकृतिक विधि जानकर कार्य करते हैं, वे केवल नैतिक लोग है, विष्णुको अर्पित कर्मोंका आचरण करनेवाले नहीं हैं। अतएव वैसा न होकर भगवदर्पित काम्यकर्मोंका आचरण करना ही उस अधिकारी जीवोंके लिए मङ्गलजनक है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१६।।

यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तश्च मानवः।
आत्मन्येव च सन्तुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।१७।।

अन्वय—यः तु मानवः (किन्तु जो व्यक्ति) आत्मरतिः (आत्माराम) आत्मतृप्तः एव च (और आत्मासे ही तृप्त) आत्मनि एव सन्तुष्टः च (आत्मामें ही सन्तुष्ट) स्यात् (हैं) तस्य (उनके लिए) कार्यम् (कर्त्तव्य कर्म) न विद्यते (नहीं है)।।१७।।

अनुवाद—किन्तु, जो व्यक्ति आत्माराम हैं और आत्मामें ही तृप्त रहनेवाले हैं एवं आत्मामें ही सन्तुष्ट हैं, उनके लिए कोई कर्त्तव्य कर्म नहीं है।।१७।।

श्रीविश्वनाथ—तदेवं निष्कामत्वासामर्थ्ये सकामोऽपि कर्म कुर्यादेवेत्युक्तम्। यस्तु शुद्धान्तःकरणत्वात् ज्ञानभूमिकामारूढः, स तु नित्यं काम्यञ्च न करोतीत्याह—यस्त्विति द्वाभ्याम्। आत्मरतिरात्मारामो यत आत्मतृप्त आत्मानन्दानुभवेन निर्वृतः। न स्वात्मनि निर्वृतो बहिर्विषयभोगेऽपि किञ्चिन्निर्वृतो भवतु। तत्र नैवेत्याह—आत्मन्येव, न तु बहिर्विषयभोगे तस्य कार्यं कर्त्तव्यत्वेन कर्म नास्ति।।१७।।

भावानुवाद—यहाँ तक यह बताया गया कि जो निष्काम भावसे कर्म करनेमें असमर्थ हैं, उनके लिए सकाम भावसे भी कर्म करना उचित है। शुद्ध अन्तःकरण होनेके कारण जो ज्ञानभूमिकामें आरूढ़ हैं, वे नित्य काम्य कर्म नहीं करते हैं। इसीलिए 'यस्तु' इत्यादि दो श्लोकोंको कह रहे हैं। 'आत्मरतिः' का तात्पर्य है—आत्माराम, आत्मतृप्त, वे आत्मानन्दानुभवसे ही सुखी रहते हैं। यदि कोई आत्मामें ही सुखी नहीं है, तो बाह्य विषयभोगोंसे क्या वह थोड़ा भी सुखी होगा? इसके उत्तरमें कहते हैं—जो अपनेमें ही तृप्त हैं, उन्हें बाह्य विषयभोगोंकी आवश्यकता नहीं है अथवा उनके लिए कर्त्तव्यरूपमें कोई कर्म भी नहीं है।।१७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—ऐसे कर्मचक्रमें वर्त्तमान रहनेवाले जीव अपना 'कर्त्तव्य' समझकर कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं। किन्तु, आत्म-अनात्म विवेकवाले पुरुष आत्म-वस्तुके अनुशीलनमें ही तत्पर रहते हैं। वे आत्मराम और आप्तकाम होनेके कारण आत्म-वस्तुमें ही सन्तुष्ट रहते हैं। ऐसे महापुरुष भी दो प्रकारके होते हैं—केवल आत्म-अनुसन्धान करनेवाले ज्ञानयोगी और भगवत्प्रेमका अनुशीलन करनेवाले भक्तियोगी। सनक-सनन्दनादि चार कुमारोंको प्रथम-श्रेणीमें एवं देवर्षि नारद आदिको दूसरी श्रेणीमें समझना चाहिए। वे अपना 'कर्त्तव्य' समझकर कर्मोंका अनुष्ठान नहीं करते, केवल जीवन-निर्वाहके लिए भक्तिके अनुकूल कर्मोंका आचरणकर कर्मचक्रसे छुटकारा पाकर भगवत्प्रीतिरूपी शान्तिका अनुसन्धान करते हैं, अतः वे सब कुछ करनेपर भी कुछ नहीं करते। इसलिए उनके 'कर्म' कर्म नहीं कहलाते। अवस्था-भेदसे उनके कर्म ज्ञान अथवा भक्ति कहलाते हैं।

मुण्डक उपनिषद् (३/१/४) में भी ऐसा कहा गया है—*'आत्मक्रीड आत्मरतिः क्रियावान् एष ब्रह्मविदां वरिष्ठः।'*

अर्थात्, जो आत्मामें ही क्रीड़ा करते हैं, आत्मामें ही जिनकी रति है, आत्मामें ही जो क्रियावान् हैं, वे ब्रह्मविदोंमें श्रेष्ठ हैं।।१७।।

नैव तस्य कृतेनार्थो नाकृतेनेह कश्चन।
न चास्य सर्वभूतेषु कश्चिदर्थव्यपाश्रयः।।१८।।

अन्वय—इह (इस जगत्‌में) कृतेन (अनुष्ठित कर्मसे) तस्य (उन आत्माराम पुरुषका) अर्थः (पुण्यफल) न एव (नहीं होता है) अकृतेन च (और कर्मके अनुष्ठानको नहीं करनेसे भी) कश्चन न (कोई दोष नहीं है) अस्य (इनका) सर्वभूतेषु च (ब्रह्माण्डस्थित समस्त भूतोंमें भी) कश्चिदर्थ (अपने प्रयोजनके लिए) व्यपाश्रयः न (कुछ भी आश्रयनीय नहीं है)।।१८।।

अनुवाद—आत्माराम पुरुषको इस जगत्में न तो कर्मके अनुष्ठानसे पुण्य प्राप्त होता है, न ही कर्मके अनुष्ठानको नहीं करनेसे कोई दोष होता है। उनको अपने प्रयोजनके लिए इस ब्रह्माण्डके समस्त जीवोंमें किसीके आश्रयकी आवश्यकता नहीं है।।१८।।

श्रीविश्वनाथ—कृतेनानुष्ठितेन कर्मणा नार्थो न फलम्। अकृतेन कश्चन प्रत्यवायोऽपि न, यस्मादस्य सर्वभूतेषु ब्रह्माण्डस्थावरादिषु मध्ये कश्चिदप्यर्थाय स्वप्रयोजनार्थं व्यपाश्रय आश्रयणीयो न भवति। पुराणादिषु व्यपाश्रयशब्देन तथैवोच्यते, यथा—"*वासुदेवे भगवति भक्तिमुद्वहतां नृणाम्। ज्ञानवैराग्यवीर्याणां नेह कश्चिद्व्यपाश्रयः*।। इति, तथा "*यदुपाश्रयाश्रयाः शुद्ध्यन्ति*" इति, "*संस्था-हेतुरपाश्रयः*" इत्यादावप्यपेत्युपसर्गस्यानधिकार्थं दृष्टम्।।१८।।

भावानुवाद—'कृत' अर्थात् अनुष्ठित कर्मसे उनका कोई अर्थ या फल नहीं है। 'अकृत' अर्थात् कर्मके न अनुष्ठित होनेपर उन्हें कोई दोष भी नहीं है। क्योंकि ब्रह्माण्डस्थित स्थावरादि सर्वभूतोंमें कोई भी उनके अपने प्रयोजनके लिए आश्रययोग्य नहीं है। पुराणोंमें 'व्यपाश्रय' शब्दको इस प्रकार कहा गया है—

'वासुदेवे भगवति भक्तिमुद्वहतां नृणाम्।
ज्ञानवैराग्यवीर्याणां नेह कश्चिद्व्यपाश्रयः।।'

(श्रीमद्भा. ६/१७/३१)

अर्थात्, भगवान् वासुदेवके प्रति भक्तियुक्त व्यक्तिके लिए ज्ञान-वैराग्य-वीर्यादि कुछ भी व्यपाश्रय या आश्रयणीय नहीं है। और भी *'यदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति'* अर्थात् श्रीभगवान्के आश्रितजनोंके चरणाश्रयमात्रसे ही जीव शुद्धि लाभ करते हैं तथा *'संस्थाहेतुः अपाश्रय'*—इसमें भी 'अप' उपसर्गका 'अल्प' अर्थ दृष्ट होता है।।१८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—आत्म-अनुशीलनमें ही आनन्द प्राप्त करनेवाले पुरुषको कर्त्तव्य कर्मका अनुष्ठान करनेसे न तो पुण्य अथवा कर्त्तव्य कर्मके न करनेसे पाप-स्पर्श करता है। ब्रह्मासे लेकर स्थावर-जङ्गमात्मक सभी जीव देहात्म बुद्धिके कारण लौकिक सुखोंके भोगमें निमग्न रहते हैं, उनके सारे कार्य सुख-भोगके लिए ही अनुष्ठित होते हैं, किन्तु आत्माराम या आप्तकाम पुरुष जड़-भोगरूप स्वार्थसे अतीत होते हैं। यहाँ तक कि वे उस ज्ञान और वैराग्यकी भी अपेक्षा नहीं करते, जो कि त्यागियोंके आश्रयस्थल हैं, क्योंकि उन्होंने भक्तिरूप आत्मधर्मका आश्रय लिया है,

ज्ञान और वैराग्य भक्तिके अनुगामी होनेके कारण स्वयं ही उनमें उपस्थित होते है—

'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्।।

(श्रीमद्भा. ११/२/४२)

यदि यह प्रश्न होता है कि श्रुतिमें ऐसा कहा गया है—*'तस्मादेषां तन्न प्रियं यदेत्तन्मनुष्या विदुः।'* (वृ. उ. १/४/१०)

अर्थात्, देवतागण ऐसा नहीं चाहते कि मनुष्य ब्रह्मको जान लें। और, श्रीमद्भागवत (११/१८/१४) में भी ऐसा ही देखा जाता है—*'विप्रस्य वै सन्न्यसतोदेवा दारादिरूपिणः'* अर्थात् ब्राह्मणलोग संन्यासके द्वारा हमें उल्लंघनकर ब्रह्मतत्त्वको प्राप्त कर लेंगे—यह सोचकर देवगण उन ब्राह्मणोंके स्त्री-पुत्रादिके रूपमें उपस्थित होकर विघ्न डालते हैं। इसलिए विघ्न दूर करनेके लिए देवताओंकी उपासना करना उचित है, तो इसका उत्तर यह है कि आगेके श्रुति-वचनोंमें ही ऐसा उल्लेख है कि देवगण भी विघ्न उपस्थितकर उनका अमङ्गल करनेमें असमर्थ होते हैं, क्योंकि आत्मा ही उनकी रक्षा करता है। ये 'आत्मा' आत्माके भी आत्मा परमात्मा ही हैं—*'वासुदेव परा वेदा वासुदेव परा मखाः'* (श्रीमद्भा. १/२/२८) के अनुसार वासुदेव कृष्ण ही समस्त आत्माओंके मूल आत्मा हैं। उनका भजन करनेसे सभी प्रीति लाभ करते हैं। जिनमें कृष्णभक्ति है, उनके प्रति समस्त देवता भी अन्तमें प्रीति करनेके लिए, आदर करनेके लिए बाध्य हैं। *'भक्तिस्तु भगवद्भक्त सङ्गेन परिजायते'* —इस शास्त्रवाक्यके अनुसार भक्तोंके सङ्गसे ही भक्ति प्राप्त होती है। इस विचारके अनुसार भगवत्-भक्तोंके लिए जिस प्रकार भगवान् आश्रय ग्रहण करने योग्य हैं, उसी प्रकार भक्तोंका भी आश्रय ग्रहण करना आवश्यक है। इसीलिए श्वेताश्वेतर उपनिषद्में कहा गया है—

'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः।।'

(श्वे. उ. ६/२३)

अर्थात्, जिनकी श्रीभगवान्में पराभक्ति है और श्रीभगवान्के सदृश ही श्रीगुरुदेवके प्रति भी शुद्धा भक्ति है, उन्हीं महात्माके हृदयमें सभी मर्मार्थ प्रकाशित होते हैं।।१८।।

तस्मादसक्तः सततं कार्यं कर्म समाचर।
असक्तो ह्याचरन्कर्म परमाप्नोति पूरुषः।।१९।।

अन्वय—तस्मात् (अतएव) असक्तः (अनासक्त होकर) सततम् (निरन्तर) कार्यम् (कर्त्तव्य) कर्म (कर्मका) समाचर (भलीभाँति आचरण करो) हि (क्योंकि) असक्तः (अनासक्त होकर) कर्म आचरन् (कर्मका आचरण करनेसे) पुरुषः (पुरुष) परम् (मोक्ष) आप्नोति (प्राप्त करता है)।।१९।।

अनुवाद—अतएव तुम अनासक्त होकर निरन्तर कर्त्तव्य कर्मका आचरण करो, क्योंकि अनासक्त होकर कर्मका आचरण करनेसे पुरुष मोक्ष प्राप्त करता है।।१९।।

श्रीविश्वनाथ—तस्मात्तव ज्ञानभूमिकारोहणे नास्ति योग्यता, काम्यकर्मणि तु सद्विवेकवतस्तव नैवाधिकारः। तस्मान्निष्कामकर्मैव कुर्वित्याह—तस्मादिति। कार्यमवश्यकर्त्तव्यत्वेन विहितं परं मोक्षम्।।१९।।

भावानुवाद—अतएव हे अर्जुन! ज्ञानभूमिकामें आरूढ़ होनेकी तुम्हारी योग्यता नहीं है। चूँकि तुम सद्विवेकी हो, अतः काम्यकर्ममें भी तुम्हारा अधिकार नहीं है। अतएव तुम निष्काम कर्म ही करो। इसके लिए ही कहते हैं—'तस्मात्' इत्यादि। कार्य अर्थात् अवश्य कर्त्तव्यके रूपमें जो कर्म विहित है, उसे करनेके बाद मोक्ष प्राप्त होता है।।१९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—निष्काम कर्मका अनुष्ठान करते-करते चित्तकी शुद्धि होती है और चित्तकी शुद्धि होनेसे ज्ञान लाभकर साधक पुरुष मोक्ष प्राप्त करते हैं। श्रीभक्तिविनोद ठाकुरका मोक्षके संबन्धमें यह विचार है कि कर्म करते-करते कर्मयोगकी परिपक्वावस्थामें जो पराभक्ति होती है, उसीको यहाँ मोक्ष कहा गया है।।१९।।

कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः।
लोकसंग्रहमेवापि सम्पश्यन्कर्त्तुमर्हसि।।२०।।

अन्वय—जनकादयः (जनकादि राजर्षिगण) कर्मणा एव हि (कर्मके द्वारा ही) संसिद्धिम् (संसिद्धिको) आस्थिताः (प्राप्त हुए थे) लोकसंग्रहम् अपि संपश्यन् (लोक-शिक्षाके दृष्टिकोणसे भी) (कर्म) कर्त्तुम् एव अर्हसि (कर्म करना ही उचित है)।।२०।।

अनुवाद—जनक आदि राजर्षियोंने भी कर्मके द्वारा ही परम सिद्धिको प्राप्त किया था। अतः लोकशिक्षाके दृष्टिकोणसे भी कर्म करना ही तुम्हारे लिए उचित है।।२०।।

श्रीविश्वनाथ—अत्र सदाचारं प्रमाणयति—कर्मणेति। यदि वा त्वमात्मानं ज्ञानाधिकारिणं मन्यसे, तदपि लोके शिक्षा ग्रहणार्थं कर्मैव कुर्वित्याह—लोकेति।।२०।।

भावानुवाद—अब 'कर्मणा' इत्यादिके द्वारा सदाचारका प्रमाण प्रस्तुत कर रहे हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं—"यदि तुम अपनेको ज्ञानका अधिकारी भी समझो, तो भी लोगोंको शिक्षा देनेके उद्देश्यसे तुम कर्म करो।" इसके लिए ही 'लोक' इत्यादि कह रहे हैं।।२०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—लोकशिक्षाके लिए श्रेष्ठ पुरुषोंको कर्म करना चाहिए—गीताके इस सिद्धान्तकी पुष्टि श्रीमद्भागवतमें अनेक स्थलोंपर होती है—

'अत्र प्रमाणं हि भवान् परमेष्ठी यथाऽऽत्मभूः।
परे चेहानुतिष्ठन्ति पूर्वेषां पूर्वजैः कृतम्।।'

(श्रीमद्भा. २/८/२५)

'न त्वं द्विजोत्तमकुलं यदिहात्मगोपं गोप्ता वृषः स्वर्हणेन ससूनृतेन।
तर्ह्येव नङ्क्षति शिवस्तव देव पन्था लोकोऽग्रहीष्यदृषभस्य हि तत्प्रमाणम्।।'

(श्रीमद्भा. ३/१६/२३)

'भगवानृषभसंज्ञ आत्मतन्त्रः स्वयं नित्यनिवृत्तानर्थपरम्परः केवलानन्दानुभव ईश्वर एव विपरीतवत्कर्माण्यारभमाणः कालेनानुगतं धर्ममाचरणेनोपशिक्षयन्नतद्विदां सम उपशान्तो मैत्रः कारुणिको धर्मार्थयशःप्रजानन्दामृतावरोधेन गृहेषु लोकं नियमयत्।।' (श्रीमद्भा. ५/४/१४)

'यद्यदाचरति श्रेयानितरस्तत्तदीहते।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते।।'

(श्रीमद्भा. ६/२/४) ।।२०।।

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्त्तते।।२१।।

अन्वय—श्रेष्ठः (श्रेष्ठ पुरुष) यत् यत् (जो जो) आचरति (आचरण करते हैं) इतरः जनः (अन्य लोग भी) तत् तत् एव (उस उसका ही) आचरति (आचरण करते हैं) सः (वे) यत् (जो कुछ) प्रमाणम् कुरुते (प्रमाणित करते हैं) लोकः (लोग भी) तत् (उसका) अनुवर्त्तते (अनुवर्त्तन करते हैं)।।२१।।

अनुवाद—श्रेष्ठ पुरुष जिस प्रकार आचरण करते हैं, अन्य लोग भी वैसा ही आचरण करते हैं। वे जो कुछ भी प्रमाणित करते हैं, अन्य लोग भी उनका अनुवर्त्तन करते हैं।।२१।।

श्रीविश्वनाथ—लोकसंग्रहप्रकारमेवाह—यद् यदिति।।२१।।

भावानुवाद—लोकसंग्रहके प्रकारको बता रहे हैं—'यद् यद्' इत्यादि।।२१।।

न मे पार्थास्ति कर्त्तव्यं त्रिषु लोकेषु किञ्चन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त्त एव च कर्मणि।।२२।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) मे (मेरे लिए) कर्त्तव्यम् (करणीय) न अस्ति (नहीं है) [यतः—क्योंकि] त्रिषु लोकेषु (तीनों लोकोंमें) अनवाप्तम् (अप्राप्त) अवाप्तव्यम् (प्राप्त करने योग्य) किञ्चन (कुछ भी) न (अस्ति) (नहीं है) (तथापि) अहम् (तथापि मैं) कर्मणि (कर्ममें) वर्त्ते एव च (प्रवृत्त ही हूँ)।।२२।।

अनुवाद—हे पार्थ! यद्यपि मेरे लिए कुछ भी करणीय कर्म नहीं है, क्योंकि मेरे लिए तीनों लोकोंमें कुछ भी अप्राप्त और प्राप्त करने योग्य नहीं है, तथापि मैं कर्ममें प्रवृत्त हूँ।।२२।।

श्रीविश्वनाथ—अत्राहमेव दृष्टान्त इत्याह त्रिभिः।।२२।।

भावानुवाद—यहाँसे तीन श्लोकोंमें भगवान् स्वयंको लोकशिक्षाके लिए उदाहरणके रूपमें प्रस्तुत कर रहे हैं।।२२।।

यदि ह्यहं न वर्त्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।२३।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) यदि (यदि) जातु (कभी) अहम् (मैं) अतन्द्रितः (सन्) (सावधानीपूर्वक) कर्मणि (कर्ममें) न वर्त्तेयम् (प्रवृत्त न होऊँ) [तो] हि (निश्चय ही) मनुष्याः (सभी मनुष्य) सर्वशः (सर्वतोभावेन) मम वर्त्म (मेरे पथका) अनुवर्त्तन्ते (अनुकरण करेंगे)।।२३।।

अनुवाद—हे पार्थ! यदि कभी मैं सावधानीपूर्वक कर्ममें प्रवृत्त न होऊँ, तो निश्चय ही सभी मनुष्य सर्वतोभावेन मेरे पथका अनुकरण करेंगे।।२३।।

श्रीविश्वनाथ—अनुवर्त्तन्तेऽनुवर्त्तेरन्नित्यर्थः।।२३।।

भावानुवाद—यहाँ 'अनुवर्त्तन्ते' का तात्पर्य है—अनुकरण करेंगे।।२३।।

उत्सीदेयुरिमे लोका न कुर्यां कर्म चेदहम्।
सङ्करस्य च कर्ता स्यामुपहन्यामिमाः प्रजाः।।२४।।

अन्वय—चेत् (यदि) अहम् (मैं) कर्म न कुर्याम् (कर्म नहीं करूँ) [तदा—तो] इमे लोकाः (ये सभी लोग) उत्सीदेयुः (भ्रष्ट हो जाएँगे) च (एवं) [अहम्—मैं] सङ्करस्य (वर्णसङ्करका) कर्त्ता स्याम् (प्रवर्त्तक होऊँगा) [एवं अहमेव—इस प्रकार मैं ही] इमाः प्रजाः (इन सारी प्रजाओंका) उपहन्याम् (नाश करूँगा)।।२४।।

अनुवाद—यदि मैं कर्म न करूँ, तो सभी लोग भ्रष्ट हो जाएँगे और मैं वर्णसङ्करका प्रवर्त्तक बन जाऊँगा। इस प्रकार मैं ही इन सारी प्रजाओंके नाशका कारण बनूँगा।।२४।।

श्रीविश्वनाथ—उत्सीदेयुर्मां दृष्टान्तीकृत्य धर्मकुर्वाणा भ्रंश्येयुः। ततश्च वर्णसङ्करो भवेत्तस्याप्यहमेव कर्त्ता स्यामेवमहमेव प्रजा हन्यां—मलिनाः कुर्याम्।।२४।।

भावानुवाद—'उत्सीदेयुः' का तात्पर्य है—भ्रष्ट हो जाएँगे अर्थात् मेरे इस दृष्टान्त (उदाहरण) के अनुसार धर्म न करनेसे लोग भ्रष्ट हो जाएँगे। ऐसा होनेसे वर्णसङ्कर उत्पन्न होंगे और मैं ही उसका कर्त्ता होऊँगा। मैं ही प्रजाओंकी हत्या करूँगा अथवा मलिन करूँगा।।२४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीभगवान् कह रहे हैं—"यदि मैं वेदविहित कर्मोंको न करूँ, तो लोग मेरी देखा-देखी वैसा ही करेंगे। इस प्रकार वे धर्मपथसे भ्रष्ट होकर नरकमें जाएँगे और मैं ही उनके नरकगामी होनेका कारण बनूँगा।" इसीलिए श्रेष्ठ पुरुषोंको वेदविहित लोक-कल्याणकारी कर्मोंका अनुष्ठान करना चाहिए। वर्त्तमान समयमें तथाकथित धर्मनेता, समाजनेता, राष्ट्रनेता तथा विश्वनेता प्रायः सभीके धर्म पथसे भ्रष्ट होनेके कारण साधारण लोग पथभ्रष्ट हो रहे हैं। आज सर्वत्र ही दुर्नीति, अत्याचार, हिंसा, द्वेष आदिकी मूल समस्या यही है। इस समस्याको दूर करनेके लिए यथार्थ साधुसङ्गमें हरिनाम कीर्त्तन एवं भक्तिका अनुशीलन ही एकमात्र उपाय है।।२४।।

सक्ताः कर्मण्यविद्वांसो यथा कुर्वन्ति भारत।
कुर्याद्विद्वांस्तथासक्तश्चिकीर्षुर्लोकसंग्रहम् ।।२५।।

अन्वय—भारत (हे भारत!) कर्मणि (कर्ममें) सक्ताः (आसक्त) अविद्वांसः (अज्ञानी लोग) यथा (जिस प्रकार) कुर्वन्ति (कर्म करते हैं)

लोकसंग्रहम् चिकीर्षुः (लोकशिक्षाको इच्छुक) विद्वान् (ज्ञानी व्यक्ति भी) असक्तः (सन्) (अनासक्त होकर) तथा कुर्यात् (उस प्रकार ही कर्म करें)।।२५।।

अनुवाद—हे भारत! कर्ममें आसक्त अज्ञानी लोग जिस प्रकार कर्म करते हैं, लोकशिक्षाके इच्छुक ज्ञानी व्यक्ति भी उस प्रकार ही अनासक्त होकर कर्म करें।।२५।।

श्रीविश्वनाथ—तस्मात् प्रतिष्ठितेन ज्ञानिनापि कर्म कर्त्तव्यमित्युपसंहरति—सक्ता इति।।२५।।

भावानुवाद—अतएव प्रतिष्ठित ज्ञानीके लिए भी कर्म करना कर्त्तव्य है। 'संज्ञाः' इत्यादिसे यह उपसंहार कर रहे हैं।।२५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अज्ञ व्यक्ति कर्म और कर्मफलमें आसक्त होकर कर्म करते हैं, किन्तु तत्वविद् पुरुष अनासक्त होकर कार्य करते हैं। इन दोनोंके कर्मोंका बाह्य स्वरूप एक होनेपर भी उनमें आकाश-पातालका भेद है, क्योंकि उनमें आसक्ति और अनासक्ति-सम्बन्धी निष्ठाका भेद होता है।।२५।।

न बुद्धिभेदं जनयेदज्ञानां कर्मसङ्गिनाम्।
योजयेत्सर्वकर्माणि विद्वान्युक्तः समाचरन्।।२६।।

अन्वय—विद्वान् (ज्ञानयोगके उपदेशक) कर्मसङ्गिनाम् अज्ञानाम् (कर्ममें आसक्त अज्ञ व्यक्तियोंको) बुद्धिभेदम् न जनयेत् (कर्मत्यागपूर्वक ज्ञानका अभ्यास करो—बुद्धिमें इस प्रकारका भ्रम नहीं उत्पन्न करेंगे) (अपितु) युक्तः (सन्) (समाहित चित्तसे) सर्वकर्माणि समाचरन् (सभी कर्मोंका भलीभाँति आचरण करते हुए) कर्माणि योजयेत् (कर्ममें नियुक्त करेंगे)।।२६।।

अनुवाद—ज्ञानयोगके उपदेशक अज्ञ व्यक्तियोंको यह उपदेश देकर उनकी बुद्धिमें भ्रम नहीं उत्पन्न करेंगे कि कर्मत्यागकर ज्ञानका अभ्यास करो, बल्कि समाहित चित्तसे (अनासक्त होकर) स्वयं सभी कर्मोंका भलीभाँति आचरण करते हुए अज्ञ व्यक्तियोंको भी कर्ममें नियुक्त करेंगे।।२६।।

श्रीविश्वनाथ—अलं कर्मजडिम्ना, त्वं कर्मसंन्यासं कृत्वा ज्ञानाभ्यासेनाहमिव कृतार्थी भव इति बुद्धिभेदं न जनयेत् कर्मसङ्गिनामशुद्धान्तःकरणत्वेन कर्मस्वेवासक्तिमताम्, किन्तु त्वं कृतार्थीभविष्यन् निष्कामकर्मेव कुरु इति कर्माण्येव योजयेत् कारयेत्। अत्र कर्माणि समाचरन् स्वयमेव दृष्टान्तीभवेत्। ननु *"स्वयं निःश्रेयसं विद्वान्नवक्त्यज्ञाय कर्म हि। न राति रोगिणोऽपथ्यं*

वाञ्छतोऽपि भिषक्तमः॥" इत्यजितवाक्येनैतद्विरुध्यते, सत्यम्, तत् खलु भक्त्युपदेष्टृक-विषयमिदन्तु ज्ञानोपदेष्टृक-विषयमित्यविरोधः,ज्ञानस्यान्तःकरण शुद्ध्यधीनत्वात्, तच्छुद्धेस्तु निष्काम-कर्माधीनत्वात्, भक्तेस्तु स्वतः प्राबल्यादन्तःकरणशुद्धिपर्यन्तानपेक्षत्वात्। यदि भक्तौश्रद्धामुत्पादयितुं शक्नुयात्, तदा कर्मिणां बुद्धिभेदमपि जनयेत्, भक्तौ श्रद्धावतां कर्मानधिकारात्—"*तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते॥*" इति, "*धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः*" इति, "*सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज*" इति, "*त्यक्त्वा स्वधर्मं चरणाम्बुजं हरेर्भजन्नपक्वोऽथ पतेत्ततो यदि*" इत्यादिवचनेभ्य इति विवेचनीयम्।।२६।।

भावानुवाद—हे अर्जुन! ज्ञानी व्यक्ति कर्मसङ्गी (कर्मासक्त) के मनमें ऐसा कहकर भ्रम न उत्पन्न करे कि कर्मजड़ताका कोई प्रयोजन नहीं है, अतः तुम मेरी तरह ही कर्म-संन्यासकर ज्ञानाभ्याससे कृतार्थ होओ। कर्मसङ्गीका अन्तःकरण अशुद्ध होता है, अतः वे कर्ममें विशेषरूपसे आसक्त होते हैं। किन्तु, तुम कृतार्थ होकर भी निष्काम कर्म करते हुए उन लोगोंको कर्ममें नियोजित करो। अतः कर्मका भलीभाँति आचरणकर स्वयं ही उदाहरणस्वरूप बनो। यदि तुम कहो कि आपने ही तो श्रीमद्भागवत (६/९/५०) में कहा है—'*स्वयं निःश्रेयसं-------भिषक्तमः*'' अर्थात् जिस प्रकार रोगीके इच्छा करनेपर भी अच्छा वैद्य उसे अपथ्य नहीं देता है, उसी प्रकार स्वयं निःश्रेयः अथवा चरम कल्याण जानकर विज्ञ पुरुष अज्ञ पुरुषको कर्मका उपदेश नहीं देते हैं, अतः आपकी उक्तिसे ही इसका विरोध होता है, तो सुनो—यह बात तो ठीक है, परन्तु वह उपदेश मैंनें भक्ति-उपदेशमूलक विषयके सम्बन्धमें दिया था और यह तो ज्ञान-उपदेशमूलक विषय है। अतः दोनोंमें कोई विरोधाभास नहीं है। ज्ञान अन्तःकरणकी शुद्धिके अधीन है और अन्तःकरणकी शुद्धि निष्काम कर्मके अधीन है। किन्तु, भक्ति स्वयं प्रबला होनेके कारण अन्तःकारण शुद्धि आदिकी अपेक्षा नहीं करती है। यदि भक्तिके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करनेमें सामर्थ्य हो तो कर्मी व्यक्तिके बुद्धिमें भ्रम उत्पन्न करना भी उचित है। क्योंकि जिनकी भक्तिके प्रति श्रद्धा हो गई है, उनका कर्ममें अधिकार नहीं है। श्रीमद्भागवत (११/२०/९) में कथित है—'*तावत् कर्माणि------जायते।*' अर्थात् तब तक कर्म करो जब तक कि वैराग्य उत्पन्न न हो अथवा मेरी कथाके श्रवण-कीर्त्तनादिके प्रति श्रद्धा उत्पन्न न हो। और भी '*धर्मान्*

संत्यज्य----सत्तमः' (श्रीमद्भा. ११/११/३२) अर्थात् जो समस्त धर्मोंका परित्यागकर मेरा भजन करते है, वे ही उत्तम साधु हैं। *'सर्वधर्मान्---व्रज'* (गीता १८/६६) अर्थात् समस्त धर्मोंका परित्यागकर एकमात्र मेरी शरणमें आ जाओ। (गीता १८/६६) *'त्यक्त्वा स्वधर्मं-----यदि'* (श्रीमद्भा. १/५/१७) अर्थात् स्वधर्म त्यागकर श्रीहरिके चरणोंका भजन करते-करते यदि अपक्व अवस्थामें पतन हो जाय। इन सभी वचनोंका इस प्रकार ही विवेचन करना चाहिए।।२६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—कर्मका तात्पर्य उस ज्ञानसे है जो ज्ञान भक्तिको लक्ष्य करता है। जो इस तत्त्वको नहीं जानते हैं, वे अज्ञ हैं। इस अज्ञानके कारण जिनकी कर्ममें आसक्ति होती है, वे 'कर्मसङ्गी' कहलाते हैं। ज्ञानी लोग ऐसे कर्मसङ्गियोंको शास्त्रविहित कर्मोंमें ही नियुक्त करेंगे, क्योंकि अज्ञोंकी बुद्धिको विचलित करनेसे कर्मके प्रति उनकी श्रद्धा नष्ट हो जाएगी। ऐसी स्थितिमें उनके हृदयमें ज्ञानका भी उदय सम्भव नहीं हो सकेगा। इस प्रकार वे कर्म तथा ज्ञान दोनोंसे भ्रष्ट हो जाएँगे। किन्तु, भक्तिके उपदेशमें यह बात ठीक नहीं है, क्योंकि शास्त्रोंके अनुसार भक्तिका उपदेश सभी अवस्थाओंमें सभीके लिए कल्याणकारी है। इसलिए भक्ति उपदेशक सभीको भक्तिका ही उपदेश देकर कृतार्थ करेंगें।

'इत्थं विमन्युरनुशिष्यादतज्ज्ञान्न योजयेत्कर्मसु कर्ममूढान्।
कं योजयन्मनुजोऽर्थं लभेत निपातयन्नष्टदृशं हि गर्ते।।'

(श्रीमद्भा. ५/५/१५)

अर्थात्, ऋषभदेवने कहा—मेरा धाम और मेरी कृपा ही एकमात्र प्रार्थनीय होनेपर पिता पुत्रोंको, गुरु शिष्योंको और राजा प्रजाओंको मेरी भक्तिकी शिक्षा देंगे। उपदेश ग्रहण करनेवाला व्यक्ति यदि उपदेशके अनुसार कार्य न भी करे, तो उसके प्रति क्रोध नहीं करना चाहिए। कर्मविमूढ़ तत्त्वज्ञानसे रहित व्यक्तियोंको भी कर्ममें नियुक्त नहीं करना चाहिए। मोहान्धको काम्य कर्ममें नियुक्तकर संसारकूपमें गिरा देनेसे किस पुरुषार्थकी प्राप्ति होगी अर्थात् किसी भी पुरुषार्थकी प्राप्ति नहीं होगी। श्रीधर स्वामीने इस श्रीमद्भागवतीय श्लोकको टीकामें कहा है कि भक्तिके अतिरिक्त कर्ममें प्रवृत्त होनेका उपदेश देनेसे प्रत्यवाय (पाप) होता है। गीता (३/२६) में *'योजयेत् सर्वकर्माणि'* ज्ञानका उपदेश देनेवालोंके लिए समझना चाहिए, भक्ति उपदेशकोंके लिए नहीं—श्रीचक्रवर्त्ती ठाकुरका ऐसा विचार है।।२६।।

प्रकृतेः क्रियमाणानि गुणैः कर्माणि सर्वशः।
अहङ्कारविमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।।२७।।

अन्वय—सर्वशः कर्माणि (सभी प्रकारके कर्म) प्रकृतेः गुणैः (प्रकृतिके गुणोंके द्वारा) क्रियमाणानि (किए जाते हैं) अहङ्कार-विमूढात्मा (अहङ्कारसे मोहित चित्तवाला व्यक्ति) इति मन्यते (ऐसा मानता है) अहम् कर्त्ता (मैं कर्त्ता हूँ)।।२७।।

अनुवाद—सभी प्रकारके कर्म प्रकृतिके गुणोंके द्वारा किए जाते हैं, परन्तु अहङ्कारसे मोहित चित्तवाला व्यक्ति ऐसा मान लेता है कि मैं कर्त्ता हूँ।।२७।।

श्रीविश्वनाथ—ननु यदि विद्वानपि कर्म कुर्यात्तर्हि विद्वदविदुषोः को विशेष इत्याशङ्क्य तयोर्विशेषं दर्शयति—प्रकृतेरिति द्वाभ्याम्। प्रकृतेर्गुणैः कार्यैरिन्द्रियैः सर्वशः सर्वप्रकारेण क्रियमाणानि यानि कर्माणि, तान्यहमेव कर्त्ता करोमीत्यविद्वान् मन्यते।।२७।।

भावानुवाद—अच्छा, यदि विद्वान्‌को भी कर्म करना पड़ता है, तो विद्वान् और अविद्वान्‌में क्या अन्तर है? ऐसी आशंकाकर 'प्रकृति' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा उनका अन्तर दिखाया जा रहा है। अविद्वान् व्यक्ति प्रकृतिके गुणोंके द्वारा कार्यशील इन्द्रियोंके द्वारा किए जा रहे सभी कर्मोंको स्वयंके द्वारा किया हुआ मानते हैं।।२७।।

तत्त्ववित् तु महाबाहो गुणकर्मविभागयोः।
गुणा गुणेषु वर्त्तन्त इति मत्वा न सज्जते।।२८।।

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो अर्जुन!) गुणकर्मविभागयोः तत्त्ववित् (जो गुण-कर्म-विभागके तत्त्वको जानते हैं) (सः) तु (किन्तु वे) इति (यह) मत्वा (मानकर) न सज्जते (आसक्त नहीं होते हैं) [कि] गुणाः (इन्द्रियाँ) गुणेषु (रूपादि विषयोंमें) वर्त्तन्ते (रत हैं)।।२८।।

अनुवाद—हे महाबाहो अर्जुन! जो इस तथ्यसे परिचित हैं कि आत्मा गुण और कर्मसे पृथक् है, वे तत्त्वविद् पुरुष कर्त्तापनका अभिमान नहीं करते हैं। क्योंकि, वे ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियाँ तो अपने अपने विषयोंमें रत हैं, किन्तु मैं उनसे पृथक् हूँ।।२८।।

श्रीविश्वनाथ—गुणकर्मणोर्यौ विभागौ तयोस्तत्त्वं वेत्तीति सः। तत्र गुणविभागः सत्त्वरजस्तमांसि, कर्म-विभागः सत्त्वादिकार्यभेदा देवतेन्द्रियविषयाः, तयोस्तत्त्वं स्वरूपं तज्ज्ञस्तु तत्त्ववित्। गुणा देवताः प्रयोज्यानीन्द्रियाणि चक्षुरादीनि गुणेषु रूपादिषु विषयेषु वर्त्तन्ते। अहन्तु न गुणः, नापि गुणकार्यः कोऽपि, नापि गुणेषु गुणकार्येषु तेषु कोऽपि मे सम्बन्ध इति मत्वा विद्वांस्तु न सज्जते।।२८।।

भावानुवाद—गुण-कर्मके जो विभाग हैं, जो उनके तत्त्वको जानते हैं, वे तत्त्वविद् हैं। उनमें से गुणके तीन विभाग हैं—सत्त्व, रज और तम। सत्त्व आदि कार्यभेद, देवता तथा इन्द्रियोंके विषयसमूह—ये कर्मके विभाग है। तत्त्वविद् व्यक्ति इन दोनोंके तत्त्वको जानते हैं। देवतादि या गुणसमूह प्रयोजनीय चक्षु आदि इन्द्रियोंमें और रूप आदि विषयोंमें वर्त्तमान रहते हैं। किन्तु, विद्वान् व्यक्ति ऐसा समझते हैं कि मैं गुण नहीं हूँ, किसी भी प्रकारका गुणकार्य भी नहीं हूँ और गुणोंसे अथवा गुणकार्योंसे मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। ऐसा समझकर विद्वान् व्यक्ति उसमें आसक्त नहीं होते हैं।।२८।।

प्रकृतेर्गुणसंमूढाः सज्जन्ते गुणकर्मसु।
तानकृत्स्नविदो मन्दान्कृत्स्नविन्न विचालयेत्।।२९।।

अन्वय—प्रकृतेः गुणसंमूढ़ाः (प्राकृत गुणोंमें आविष्ट पुरुष) गुणकर्मषु (विषयोंमें) सज्जन्ते (आसक्त होते हैं) कृत्स्नवित् (सर्वज्ञ) तान् (उन सभी) अकृत्स्नविदः मन्दान् (अज्ञ मन्दमति व्यक्तियोंको) न विचालयेत् (विचलित नहीं करेंगे)।।२९।।

अनुवाद—प्राकृत गुणोंमें आविष्ट पुरुष विषयोंमें आसक्त होते हैं। जो सर्वज्ञ हैं, वे उन अज्ञ और मन्द बुद्धिवाले व्यक्तियोंको विचलित नहीं करेंगे।।२९।।

श्रीविश्वनाथ—ननु यदि जीवा गुणेभ्यो गुणकार्येभ्यश्च पृथग्भूतास्तद-सम्बन्धास्तर्हि कथं ते विषयेषु सज्जन्तो दृश्यन्ते? तत्राह—प्रकृतेर्गुणैः संमूढास्तदावेशात् प्राप्तसम्मोहाः यथा भूताविष्टो मनुष्य आत्मानं भूतमेव मन्यते, तथैव प्रकृतिगुणाविष्टाः जीवाः स्वान् गुणानेव मन्यन्ते, अतो गुणकर्मसु गुणकार्येषु विषयेषु सज्जन्ते। तानकृत्स्नविदो मन्दमतीन् कृत्स्नवित् सर्वज्ञो न विचालयेत्। *'त्वं गुणेभ्यः पृथग्भूतो जीवः, न तु गुणः'* इति विचारं प्रापयितुं न यतते, किन्तु गुणावेशनिवर्त्तकं निष्कामकर्मैव कारयेत्। न हि भूताविष्टो मनुष्यत्वं न भूतः, किन्तु मनुष्य एवेति शतकृत्वोऽप्युपदेशेन स्वास्थ्यमापद्यते, किन्तु तन्निवर्त्तकौषधमणिमन्त्रादिप्रयोगेणैवेति भावः।।२९।।

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि अच्छा, यदि जीवसमूह गुणों और गुणकार्योंसे पृथक् और सम्बन्धरहित हैं, तब उन्हें विषयोंमें क्यों आसक्त देखा जाता है, तो इसके समाधानके लिए श्रीभगवान् कहते हैं—वे प्रकृतिके गुणोंसे सम्मूढ़ होते हैं अर्थात् गुणोंके आवेशके कारण सम्मोहको प्राप्त होते हैं। जिस प्रकार भूतग्रस्त मनुष्य अपनेको भूत ही मानता है, उसी

प्रकार प्रकृतिके गुणोंसे आविष्ट जीवगण अपनेको गुण समझते हैं। अतएव वे गुणकर्म या गुणकार्य विषयोंमें आसक्त होते हैं। 'कृत्स्नविद्' अर्थात् सर्वज्ञ व्यक्ति उन 'अकृत्स्नविद्' अर्थात् मन्दमति व्यक्तियोंको विचलित नहीं करेंगे अर्थात् सर्वज्ञ व्यक्ति इस विचारको ग्रहण करवानेकी चेष्टा नहीं करेंगे कि तुम गुणोंसे पृथक् एक जीव हो, गुण नहीं, बल्कि उनसे गुणावेश-निवर्त्तक निष्काम कर्म ही करवायेंगे। जैसे यदि भूतसे आविष्ट व्यक्तिको यह सैकड़ों बार भी बताया जाय कि तुम भूत नहीं हो, तुम मनुष्य हो, तथापि वह स्वस्थ नहीं होता है, बल्कि मन्त्ररूपी औषधके प्रयोगसे ही उसका भूतावेश दूर होता है।।२९।।

मयि सर्वाणि कर्माणि संन्यस्याध्यात्मचेतसा।
निराशीर्निर्ममो भूत्वा युध्यस्व विगतज्वरः।।३०।।

अन्वय—अध्यात्मचेतसा (आत्मनिष्ठ चित्तसे) सर्वाणि कर्माणि (सभी कर्म) मयि (मुझमें) संन्यस्य (समर्पणकर) निराशीः (निष्काम) निर्ममः (ममताशून्य) विगतज्वरः (शोकरहित) भूत्वा (होकर) युध्यस्व (युद्ध करो)।।३०।।

अनुवाद—आत्मनिष्ठ चित्तसे सभी कर्म मुझे समर्पित करते हुए निष्काम, ममताशून्य और शोकरहित होकर युद्ध करो।।३०।।

श्रीविश्वनाथ—तस्मात्त्वं मय्यध्यात्मचेतसात्मनीत्यर्थः। एवमध्यात्ममव्ययी-भावसमासात्, ततश्च आत्मनि यच्चेतस्तदध्यात्मचेतस्तेनात्मनिष्ठेनैव चेतसा, न तु विषयनिष्ठेनेत्यर्थः। मयि कर्माणि संन्यस्य समर्प्य निराशीर्निष्कामो निर्ममः सर्वत्र ममताशून्यो युध्यस्व।।३०।।

भावानुवाद—अतएव हे अर्जुन! तुम अध्यात्मचेतः द्वारा अर्थात् आत्मनिष्ठ चित्त द्वारा कर्मसमूह मुझे समर्पितकर निराशी अर्थात् निष्काम, निर्मम अर्थात् समस्त विषयोंमें ममताशून्य होकर युद्ध करो, विषयनिष्ठायुक्त चित्त द्वारा नहीं।।३०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको लक्ष्यकर सर्वसाधारणके लिए यह उपदेश दे रहे हैं कि कर्त्तापनका अहङ्कार और फलकी कामनासे रहित होकर विहित कर्मोंका आचरण करना चाहिए। यहाँ 'कर्म' का तात्पर्य लौकिक और वैदिक सभी प्रकारके कर्मोंसे है। 'सर्वशः'—सभी विषयोंमें अर्थात् देह-गेह, पुत्र-भार्या, भ्राता आदिके विषयमें ममताशून्य होकर कर्मोंका आचरण करना चाहिए। यहाँ 'युद्ध करो' का अभिप्राय है—विहित कर्मोंको करना चाहिए।।३०।।

ये मे मतमिदं नित्यमनुतिष्ठन्ति मानवाः।
श्रद्धावन्तोऽनसूयन्तो मुच्यन्ते तेऽपि कर्मभिः।।३१।।

अन्वय—श्रद्धावन्तः (श्रद्धावान्) अनसूयन्तः (असूयारहित या दोषदृष्टिरहित) ये मानवः (जो सभी व्यक्ति) मे (मेरे) इदम् मतम् (इस अभिप्रायका) नित्यम् (नित्य) अनुतिष्ठन्ति (अनुसरण करते हैं) ते अपि (वे भी) कर्मभिः (कर्मोंसे) मुच्यन्ते (मुक्ति लाभ करते हैं)।।३१।।

अनुवाद—जो सभी श्रद्धावान् और दोषदृष्टिसे रहित व्यक्ति मेरे इस अभिप्राय (निष्काम-कर्मयोग) का नित्य अनुसरण करते हैं, वे भी कर्मके बन्धनसे मुक्ति लाभ करते हैं।।३१।।

श्रीविश्वनाथ—स्वकृतोपदेशे प्रवर्त्तयितुमाह—ये मे इति।।३१।।

भावानुवाद—अपने बताए हुए उपदेशमें प्रवृत्त करानेके लिए श्रीभगवान् 'ये मे' इत्यादि कह रहे हैं।।३१।।

ये त्वेतदभ्यसूयन्तो नानुतिष्ठन्ति मे मतम्।
सर्वज्ञानविमूढांस्तान्विद्धि नष्टानचेतसः।।३२।।

अन्वय—ये तु (किन्तु जो) अभ्यसूयन्तः (दोषारोपण करते हुए) मे (मेरे) एतत् मतम् (इस मतका) न अनुतिष्ठन्ति (अनुवर्त्तन नहीं करते हैं) तान् (उन सबको) अचेतसः (विवेकरहित) सर्वज्ञान-विमूढान् (सभी ज्ञानोंसे विमूढ़) नष्टान् (नष्ट) विद्धि (जानो)।।३२।।

अनुवाद—किन्तु, जो दोषारोपण करते हुए मेरे इस मतका अनुवर्त्तन नहीं करते हैं, तुम उन सभीको विवेकरहित, समस्त प्रकारके ज्ञानोंसे वञ्चित और सर्वपुरुषार्थसे भ्रष्ट जानो।।३२।।

श्रीविश्वनाथ—विपक्षे दोषमाह—ये त्विति।।३२।।

भावानुवाद—दूसरी ओर 'ये तु' इत्यादिसे दोष बता रहे हैं।।३२।।

सदृशं चेष्टते स्वस्याः प्रकृतेर्ज्ञानवानपि।
प्रकृतिं यान्ति भूतानि निग्रहः किं करिष्यति।।३३।।

अन्वय—ज्ञानवान् अपि (विवेकवान् व्यक्ति भी) स्वस्याः प्रकृतेः (अपनी प्रकृति या स्वभावके) सदृशम् (अनुसार) चेष्टते (चेष्टा करते हैं) भूतानि (सभी जीव) प्रकृतिम् यान्ति (प्रकृति या स्वभावका अनुगमन करते हैं) [अतः—अतएव] निग्रहः (निग्रह) किम् करिष्यति (क्या करेगा)।।३३।।

अनुवाद—विवेकवान् व्यक्ति भी अपने स्वभावके अनुसार चेष्टा करते हैं। सभी जीव प्रकृतिका ही अनुगमन करते हैं। अतएव इन्द्रियनिग्रह क्या करेगा?।।३३।।

श्रीविश्वनाथ—ननु राज्ञ इव तव परमेश्वरस्य मतमनुतिष्ठन्तो राजकृतादिव त्वत्कृतान्निग्रहात् किं न विभ्यति? सत्यम्, ये खल्विन्द्रियाणि चारयन्तो, वर्त्तन्ते, ते विवेकिनोऽपि राज्ञः परमेश्वरस्य च शासनं मन्तुं न शक्नुवन्ति। तथैव तेषां स्वभावोऽभूदित्याह—सदृशमिति। ज्ञानवानप्येवं पापे कृते सत्येवं नरको भविष्यत्येवं राजदण्डो भविष्यति, एवं दुर्यशश्च भविष्यतीति विवेकवानपि स्वस्याः प्रकृतेश्चिरन्तनपापाभ्यासोत्थदुःखभारस्य सदृशमनुरूपमेव चेष्टते। तस्मात् प्रकृतिं स्वभावं यान्त्यनुसरन्ति। तत्र निग्रहस्तच्छास्त्रद्वारा मत्कृतो राजकृतो वा। तेनाशुद्धचित्तान् उक्तलक्षणो निष्कामकर्मयोगः, शुद्धचित्तान् ज्ञानयोगश्च संस्कर्तुं च शक्नोति। न त्वत्यन्ताशुद्धचित्तान्; पापिष्ठस्वभावान् यादृच्छिक-मत्कृपोत्थभक्तियोग एव उद्धर्त्तुं प्रभवेत्, यदुक्तं स्कान्दे—*"अहो धन्योऽसि देवर्षे कृपया यस्य ते क्षणात्। नीचोऽप्युत्पुलको लेभे लुब्धको रतिमच्युते"*।।३३।।

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि जिस प्रकार राजाके आदेशोंका नहीं पालन करनेवालेको दण्ड प्राप्त होता है, उसी प्रकार परमेश्वरके आदेशानुशार कार्य नहीं करनेसे क्या उसे परमेश्वरका दण्ड नहीं प्राप्त होता है अथवा क्या उसे आपके दण्डका भय नहीं होता है, तो इसके प्रत्युत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—"हाँ, यह सत्य है, तथापि जो इन्द्रियोंकी तृप्तिमें ही लगे हुए हैं, वे विवेकी होनेपर भी राजा या परमेश्वरके शासनको माननेमें असमर्थ हैं। उनका स्वभाव ही ऐसा हो गया है। इसके लिए ही 'सदृश' इत्यादि कहा जा रहा है। यह जानकर भी कि इस प्रकारके पापाचरणसे नरक और राजदण्ड होता है और ऐसा विवेक होनेपर भी कि इससे अपयश और निन्दा होगी, वे अपने चिरकालीन स्वभाववश पापाचरणसे उत्पन्न होनेवाले दुःखदायी भावोंके अनुरूप ही चेष्टा करते हैं। अतः वे अपने स्वभावका ही अनुगमन या अनुसरण करते हैं। मेरे द्वारा अथवा राजाके द्वारा निर्मित शासन वचनोंसे निग्रह हो सकता है। निष्काम कर्मयोगके द्वारा अशुद्ध चित्तवाले पुरुष एवं ज्ञानयोगके द्वारा शुद्ध चित्तवाले पुरुषका संस्कार हो सकता है और वे प्रतिबोधित हो सकते हैं, परन्तु अत्यन्त अशुद्ध-चित्तवाले पुरुषका इनसे कल्याण नहीं होगा। किन्तु, मेरी कृपासे उत्पन्न भक्ति अनायास ही उन पापियोंका उद्धार करनेमें समर्थ है। जैसा कि स्कन्द पुराणमें कहा गया है—

'अहो धन्योऽसि देवर्षे कृपया यस्य ते क्षणात्।
नीचोऽप्युत्पुलको लेभे लुब्धको रतिमच्युते।।'

अर्थात्, हे देवर्षे! आप धन्य हैं, क्योंकि आपकी कृपासे क्षणकालमें ही नीच बहेलियेने पुलकित होकर भगवान्के चरणोंमें रति प्राप्त की है।।३३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अजितेन्द्रिय व्यक्ति विवेकवान् होनेपर भी शास्त्र-ज्ञानके द्वारा अपनी इन्द्रियोंका निग्रह करनेमें समर्थ नहीं हो पाता—

'स्तम्भयन्नात्मनाऽऽत्मानं यावत्सत्त्वं यथाश्रुतम्।
न शशाक समाधातुं मनो मदनवेपितम्।।'

(श्रीमद्भा. ६/१/६२)

अर्थात्, स्वेच्छाचारिणी स्त्रीका दर्शनकर अजामिलका चित्त क्षुब्ध हो उठा। उन्होंने धैर्य और शास्त्रज्ञानके द्वारा अपने चित्तको संयत करनेकी भरसक चेष्टा की, किन्तु मदनवेगसे कम्पित मनके वेगको नहीं रोक सके। किन्तु, साधुसङ्गके प्रभावसे प्रबल दुर्वासनाएँ भी दूर हो जाती हैं—

'ततो दुःसङ्गमुत्सृज्य सत्सु सज्जेत बुद्धिमान्।
सन्त एवास्यच्छिन्दन्ति मनोव्यासङ्गमुक्तिभिः।।'

(श्रीमद्भा. ११/२६/२६)

अर्थात्, साधुगण अपनी वीर्यवती वाणीके द्वारा मनकी विपरीत आसक्तियोंको छिन्न-भिन्न कर देते हैं। 'व्यासङ्ग' का तात्पर्य है—भगवत्-विमुख करनेवाली आसक्ति। यहाँ 'एव'-कार द्वारा केवल सन्तोंकी वीर्यवती वाणीको ही समझना चाहिए। इसके अतिरिक्त सत्कर्म, तीर्थ, देवता, शास्त्रज्ञानादिमें ऐसा सामर्थ्य नहीं है, जो विरुद्ध आसक्तिको नष्ट कर सके—ऐसा समझना चाहिए।

"हे अर्जुन! ऐसा मत समझो कि अनात्म और आत्म विचारपूर्वक प्राकृत गुण-कर्मको सहसा ही त्यागकर संन्यासधर्मका आश्रय करनेसे विद्धान् पुरुषका मङ्गल होगा। ज्ञानवान् होनेपर भी बद्धजीव बहुकालसे आदृत अपनी प्रकृति (स्वभाव) के अनुसार ही चेष्टा करेंगे। अचानक ही निग्रहका अवलम्बन करनेसे ही प्रकृति (स्वभाव) का परित्याग होता है—ऐसा नहीं है। सभी बद्धजीव सहजमें ही बहुकालसे अभ्यस्त-चेष्टारूपी प्रकृति (स्वभाव) का अवलम्बन करेंगे। उस प्रकृतिका त्याग करनेका उपाय यह है कि उस प्रकृतिमें अवस्थित होकर सतर्कतापूर्वक प्रकृतिके अनुयायी

सभी कर्मोंको करना चाहिए। जब तक हृदयमें भक्तियोगके लक्षणसे युक्त वैराग्य नहीं उत्पन्न होता है, तब तक भगवदर्पित निष्काम कर्मयोग ही एकमात्र आत्मकल्याणका उपाय है। क्योंकि, उसमें स्वधर्म-पालन और स्वधर्म- संस्कार दोनों ही फल एकसाथ सम्भव हैं। स्वधर्मका त्याग करनेसे उत्पथ-गमन ही चरम फल होता है। जहाँ मेरी कृपासे या भक्तोंकी कृपासे हृदयमें भक्तियोग आविर्भूत होता है, वहाँ मेरे लिए अर्पित निष्काम कर्मयोगकी अपेक्षा उत्कृष्ट पन्था लाभ करनेके कारण इस प्रकारके स्वधर्म-पालन विधिकी आवश्यकता नहीं है। इसके अतिरिक्त सर्वत्र ही मेरे लिए अर्पित निष्काम कर्मयोग ही श्रेयः है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३३।।

इन्द्रियस्येन्द्रियस्यार्थे रागद्वेषौ व्यवस्थितौ।
तयोर्न वशमागच्छेत्तौ ह्यस्य परिपन्थिनौ।।३४।।

अन्वय—इन्द्रियस्य (इन्द्रियका) इन्द्रियस्य अर्थे (अपने अपने विषयमें) रागद्वेषौ (राग एवं द्वेष) व्यवस्थितौ (अवश्यम्भावी है) अतः (अतएव) तयोः (उनके) वशम् न आगच्छेत् (अधीन मत होओ) हि (क्योंकि) तौ (राग और द्वेष) अस्य परिपन्थिनौ (साधकके विरोधी हैं)।।३४।।

अनुवाद—प्रत्येक इन्द्रियका अपने अपने विषयके प्रति राग और द्वेष अवश्यम्भावी है, अतः तुम उनके अधीन मत होओ, क्योंकि राग और द्वेष साधकोंके कल्याणके विरोधी हैं।।३४।।

श्रीविश्वनाथ—यस्माद्दुःस्वभावेषु लोकेषु विधिनिषेधशास्त्रं न प्रभवति, तस्माद्यावत् पापाभ्यासोत्थ-दुःस्वभावो नाभूत्तावद्यथेष्टमिन्द्रियाणि न चारयेदित्याह— इन्द्रियस्येन्द्रियस्येति वीप्सा प्रत्येकम्, सर्वेन्द्रियाणामर्थे स्वस्वविषये परस्त्रीमात्रगात्रदर्शनस्पर्शन-तत्सम्प्रदानक-द्रव्यदानादौ शास्त्रनिषिद्धेऽपि रागस्तथा गुरुविप्रतीर्थातिथिदर्शनस्पर्शनपरिचरण-तत्सम्प्रदानक-धन-वितरणादौ शास्त्रविहितेऽपि द्वेष इत्येतौ विशेषेणावस्थितौ वर्त्तेते, तयोर्वशमधीनत्वं न प्राप्नुयात्, यद्वा, इन्द्रियार्थे स्त्रीदर्शनादौ रागस्तत्प्रतिघाते केनचित् कृते सति द्वेष इति अस्य पुरुषार्थसाधकस्य क्वचित्तु मनोऽनुकूलेऽर्थे सुरसस्निग्धान्नादौ रागः मनः प्रतिकूलेऽर्थे विरस-रुक्षान्नादौ द्वेषस्तथा स्वपुत्रादिदर्शन-श्रवणादौ रागः वैरिपुत्रादिदर्शनश्रवणादौ द्वेषः,—तयोर्वशं न गच्छेदिति व्याचक्षते।।३४।।

भावानुवाद—क्योंकि, दुष्ट स्वभाववाले व्यक्तिपर विधि-निषेध लागू करना शास्त्रके वशकी बात नहीं है। अतः जब तक पापाभ्याससे दुःस्वभाव उत्पन्न नहीं होता है, तब तक इन्द्रियोंको अपने इच्छानुसार विचरण नहीं

करने देना चाहिए। इसके लिए ही 'इन्द्रियस्य इन्द्रियस्य' इत्यादि कहा जा रहा है। यहाँ 'इन्द्रिय' शब्दके पुनरुल्लेखका तात्पर्य सभी इन्द्रियोंके अपने अपने इन्द्रिय-विषयोंके लिए है। परस्त्रीका दर्शन, स्पर्श, उसके लिए द्रव्यादि दान इत्यादि शास्त्र-निषिद्ध होनेपर भी दुःस्वभाववाले व्यक्तिका उसमें राग होता है और गुरु, विप्र, तीर्थ तथा अतिथिका दर्शन, स्पर्शन, परिचर्या, उनके लिए धनादिका दान शास्त्रविहित होनेपर भी दुष्ट व्यक्तिका उसमें द्वेष होता है। इन दोनोंके वशीभूत या अधीन होना उचित नहीं है। अथवा स्त्रीके दर्शनादिसे राग और किसीके द्वारा इसका प्रतिघात करनेपर द्वेष करना उचित नहीं है। इसी प्रकार पुरुषार्थ साधकको सरस, सुस्निग्ध अन्नादि मनोनुकूल पदार्थोंके प्रति राग भी नहीं करना चाहिए और विरस, रुक्ष अन्नादि मनके प्रतिकूल पदार्थोंके प्रति द्वेष भी नहीं करना चाहिए। इसी प्रकार अपने पुत्रके दर्शन, श्रवणादिसे राग और शत्रुके पुत्रके दर्शन श्रवण आदिसे द्वेष नहीं होना चाहिए। इनके (राग और द्वेषके) वशीभूत होना उचित नहीं है—इसकी ही व्याख्या की गई है।।३४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इन्द्रियाँ दो प्रकारकी हैं—ज्ञानेन्द्रिय तथा कर्मेन्द्रिय। ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच हैं—चक्षु, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा—ये पाँचों क्रमशः रूप, शब्द, गन्ध, रस और स्पर्शसे विषयोंका स्वाद ग्रहण करती हैं। कर्मेन्द्रियाँ पाँच हैं—वाक्, हस्त, पाद, पायु (मलद्वार) और उपस्थ (मूत्र द्वार)—इनके द्वारा बोलना, ग्रहण करना, गमन करना, त्याग और प्रजनन करना—ये पाँच कार्य होते हैं।

भक्तिसाधक मनसहित अपने इन ग्यारह इन्द्रियोंको विषय-सुख-भोगमें नियुक्त करनेके बदले भगवत्-प्रीतिके लिए उनकी विभिन्न सेवाओंमें लगाते हैं। इस प्रकार वे दुर्निगृहीत इन्द्रियोंको सहज ही वशमें कर इनसे परमार्थको प्राप्त करते हैं।

"हे अर्जुन! यदि तुम कहो कि इन्द्रियोंके विषयोंको स्वीकार करनेसे अधिकांशतः जीवोंका विषय-बन्धन ही सम्भव है, कर्ममुक्ति सम्भव नहीं होगी, तो तुम मेरी बातोंको श्रवण करो। समस्त विषय ही जीवोंके विरोधी (अमङ्गलकारी) हैं—ऐसा नहीं है। विषयोंके प्रति जो राग-द्वेष है, वही जीवोंका परम शत्रु है। अतएव विषयोंको स्वीकार करते समय राग-द्वेषको वशीभूत करना चाहिए—ऐसा करनेसे समस्त विषयोंको स्वीकार

करनेपर भी तुम विषयोंमें आबद्ध नहीं होओगे। जब तक यह प्राकृत शरीर है, तब तक अवश्य ही विषयोंको स्वीकार करना पड़ेगा। किन्तु, देहात्माभिमान होनेके कारण उन उन कार्योंमें जो राग-द्वेष उत्पन्न होता है, उसे नाश करते-करते विषयोंके प्रति तुम्हें वैराग्य उत्पन्न होगा। विषयोंमें जो भगवत्-सम्बन्धी राग या द्वेष होता है अर्थात् भक्ति-उद्दीपक वस्तु अथवा कार्यमें राग और भक्ति-विघातक वस्तु अथवा कार्यमें जो द्वेष होता है, मैंने उसे दमन करनेका उपदेश नहीं दिया, बल्कि मैंने केवल आत्मसुख-सम्बन्धी राग और द्वेषको वशीभूत करनेका उपदेश दिया—ऐसा जानो।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३४।।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः।।३५।।

अन्वय—स्वनुष्ठितात् (भलीभाँति अनुष्ठित) परधर्मात् (परधर्मकी अपेक्षा) विगुणः स्वधर्मः (किञ्चित् दोषयुक्त अनुष्ठित स्वधर्म) श्रेयान् (श्रेष्ठ है) स्वधर्मे (अपने अपने वर्णाश्रमोचित धर्ममें) निधनम् श्रेयः (निधन अच्छा है) परधर्मः भयावहः (परधर्म उसकी अपेक्षा भयावह है)।।३५।।

अनुवाद—भलीभाँति अनुष्ठित परधर्मकी अपेक्षा किञ्चित् दोषयुक्त स्वधर्म श्रेष्ठ है। अपने अपने वर्णाश्रमोचित स्वधर्मके पालनमें मर जाना भी अच्छा है, परन्तु परधर्म भयावह है।।३५।।

श्रीविश्वनाथ—ततश्च युद्धरूपस्य धर्मस्य यथावद्रागद्वेषादिराहित्येन कर्त्तुमशक्यत्वात् परधर्मस्य चाहिंसादेः सुकरत्वाद्धर्मत्वाविशेषाच्च तत्र प्रवर्त्तितुमिच्छन्तं प्रत्याह—श्रेयानिति। विगुणः किञ्चिद्दोषविशिष्टोऽपि सम्यगनुष्ठातुमशक्योऽपि परधर्मात् स्वनुष्ठितात् साध्वेवानुष्ठातुं शक्यादपि सर्वगुणपूर्णादपि सकाशात् श्रेयान्। तत्र हेतुः—स्वधर्म इत्यादि, *"विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमाच्छलः। अधर्मशाखाः पञ्चमो धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्।।"* (श्रीमद्भा. ७/१५/१२) इति सप्तमोक्तेः।।३५।।

भावानुवाद—श्रीभगवान्ने देखा कि अर्जुन राग-द्वेषसे रहित होकर युद्धरूपी स्वधर्मके पालनमें असमर्थ हो रहा है एवं अहिंसा आदि परधर्मको सरल-सहज जानकर उसमें ही प्रवृत्त होना चाहता है। अतः श्रीभगवान् अर्जुनको 'श्रेयान्' इत्यादि कह रहे हैं। 'विगुण' अर्थात् किञ्चित दोषयुक्त होनेपर भी और भलीभाँति अनुष्ठान करनेमें असमर्थ होनेपर भी

स्वधर्म 'स्वनुष्ठित' अर्थात् भलीभाँति अनुष्ठित होने योग्य, सर्वगुणपूर्ण परधर्मकी अपेक्षा श्रेष्ठ है। उसका (श्रेष्ठ होनेका) कारण है—'स्वधर्मे' इत्यादि।

श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

'विधर्मः परधर्मश्च आभास उपमाच्छलः।
अधर्मशाखाः पञ्चेमा धर्मज्ञोऽधर्मवत् त्यजेत्।।'

(श्रीमद्भा. ७/१५/१२)

अर्थात्, अधर्मरूप वृक्षकी पाँच शाखाएँ हैं—विधर्म, परधर्म, आभास, उपमा एवं छलधर्म। धर्मज्ञ व्यक्ति निषिद्धके रूपमें इनका त्याग करेंगे।।३५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—सत्त्वगुणमें प्रतिष्ठित ब्राह्मणोंके लिए अहिंसा आदि तथा रजोगुण सम्पन्न क्षत्रियोंका युद्ध आदि करना ही स्वधर्म है। अतः क्षत्रियोंके लिए युद्ध इत्यादिमें प्रवृत्ति ही स्वधर्म है। संग्राममें निधन होनेपर भी वह स्वर्गको प्राप्त करानेवाला होनेके कारण श्रेष्ठ है।

"स्वधर्मका पालन करते-करते उच्च धर्मकी प्राप्तिके पहले ही यदि मृत्यु भी हो जाती है, तब भी वह मङ्गलजनक है क्योंकि परधर्म किसी अवस्थामें निर्भय नहीं होता। किन्तु, निर्गुणा भक्तिके लिए पूर्वोक्त विचार उपयुक्त नहीं होता। निर्गुणा भक्ति होनेपर बिना किसी सन्देहके स्वधर्मका त्याग किया जा सकता है, क्योंकि उस समय नित्य धर्म अर्थात् स्वरूप धर्म ही स्वधर्मके रूपमें प्रकाशित होता है। उस स्थितिमें देह और मनका औपाधिक स्वधर्म परधर्म हो जाता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

'देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्।
सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्।।'

(श्रीमद्भा. ११/५/४१)

'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।।'

(श्रीमद्भा. ११/२०/९)

अर्थात्, जिन्होंने समस्त प्रकारके कर्मोंका त्यागकर एकमात्र शरण्य कृष्णका आश्रय ग्रहण किया हैं, वे देव, ऋषि, भूत, आप्त और पितरोंके ऋणी नहीं रहते हैं। जबतक कर्मफल भोगसे विरक्ति उत्पन्न न हो अथवा भक्ति मार्गमें मेरी लीला-कथाके प्रति श्रद्धा न हो, तभी तक कर्मका अनुष्ठान कर्त्तव्य है। त्यागी या भगवद्भक्तोंको कर्मानुष्ठानका प्रयोजन नहीं है।।३५।।

अर्जुन उवाच—
अथ केन प्रयुक्तोऽयं पापञ्चरति पूरुषः।
अनिच्छन्नपि वार्ष्णेय बलादिव नियोजितः।।३६।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) वार्ष्णेय (हे वृष्णिवंशमें आविर्भूत श्रीकृष्ण!) अथ (फिर) अयम् पूरुषः (यह पुरुष) केन प्रयुक्तः (किसके द्वारा प्रेरित होकर) अनिच्छन् अपि (न चाहता हुआ भी) बलात् इव नियोजितः (बलात्कार नियोजित होनेके समान) पापम् चरति (पापका आचरण करता है)।।३६।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! फिर यह पुरुष किसके द्वारा प्रेरित होकर न चाहते हुए भी बलपूर्वक नियोजित होनेके समान पापका आचरण करता है।।३६।।

श्रीविश्वनाथ—यदुक्तं रागद्वेषौ व्यवस्थितावित्यत्र शास्त्रनिषिद्धेऽपीन्द्रियार्थे परस्त्रीसम्भोगादौ राग इत्यत्र पृच्छति—अथेति। केन प्रयोजककर्त्रानिच्छन्नपि विधिनिषेधशास्त्रार्थज्ञानवत्त्वात् पापे प्रवर्त्तितुमिच्छारहितोऽपि बलादिवेति प्रयोजक-प्रेरणवशात् प्रयोज्यस्यापीच्छा सम्यगुत्पद्यत इति भावः।।३६।।

भावानुवाद—पूर्वमें कहा गया कि *'राग द्वेषौ व्यवस्थितौ'* अर्थात् विवेकी पुरुषका भी परस्त्री-सम्भोगादि शास्त्र-निषिद्ध इन्द्रिय विषयोंमें राग हो जाता है। अतः इस सन्दर्भमें अर्जुन प्रश्न कर रहे हैं—'अथ' इत्यादि। जो पुरुष विधि-निषेध और शास्त्रोंका ज्ञाता है तथा पापमें भी प्रवृत्त नहीं होना चाहता है—फिर भी वह किसके द्वारा प्रेरित होकर बलपूर्वक लगाये जानेके समान पापमें प्रवृत्त होता है अर्थात् किस प्रयोजकके द्वारा प्रेरित होकर प्रयोज्य (जिसको प्रेरणा होती है) की भी पापमें प्रवृत्त होनेकी इच्छा हो जाती है।।३६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुनने इस श्लोकमें 'हे वार्ष्णेय' से श्रीभगवान्‌को सम्बोधित किया है। अर्जुनका ऐसा कहनेका गूढ़ तात्पर्य यह है कि मेरी नाना-नानीके कुल वृष्णिवंशमें आप अवतीर्ण हुए हैं। शूरसेन वृष्णिवंशके थे। उनके पुत्र वसुदेव थे और कन्या पृथा अर्जुनकी माता थी। इसलिए अर्जुन कृष्णके निकट यह प्रार्थना कर रहे हैं कि मैं उसी वंशके होनेका कारण आपके लिए उपेक्षणीय नहीं हूँ। मैं इस समय सन्देहके दलदलमें फँसा हुआ हूँ। अभी आपने कहा कि यह आत्मा या जीव जड़-गुण और जड़-सम्बन्धसे सर्वथा पृथक् है। अतः जब जीवके स्वरूपगत स्वभावमें पापाचरणका कार्य नहीं है, तब जीवोंको पाप कार्योंमें कौन प्रवृत्त करता है?।।३६।।

श्रीभगवानुवाच—
काम एष क्रोध एष रजोगुणसमुद्भवः।
महाशनो महापाप्मा विद्ध्येनमिह वैरिणम्।।३७।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) एषः कामः (यह विषयकी अभिलाषा ही) एषः क्रोधः (क्रोधमें परिणत होती है) रजोगुण समुद्भवः (रजोगुणसे उत्पन्न) महाशनः (सर्वभक्षी) महापाप्मा (अतिशय उग्र) इह एनम् वैरिणम् विद्धि (इस कामको ही जीवोंका प्रधान शत्रु जानो)।।३७।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—यह काम ही क्रोधमें परिणत होता है एवं रजोगुणसे उत्पन्न सर्वभक्षी और अतिशय उग्र इस कामको ही जीवका प्रधान शत्रु जानो।।३७।।

श्रीविश्वनाथ—एष काम एव विषयाभिलाषात्मकः पुरुषं पापे प्रवर्त्तयति, तेनैव प्रयुक्तः पुरुषः पापं चरतीत्यर्थः। एष काम एव पृथक्त्वेन दृश्यमान एष प्रत्यक्षः क्रोधो भवति। काम एव केनचित् प्रतिहतो भूत्वा क्रोधाकारेण परिणमतीत्यर्थः। कामो रजोगुणसमुद्भव इति राजसात् कामादेव तामसः क्रोधो जायत इत्यर्थः। कामस्यापेक्षितपूरणेन निवृत्तिः स्यादिति चेन्नेत्याह—महाशनः महदशनं यस्य सः। *"यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्।।"* इति स्मृतेः, कामस्यापेक्षितं पूरयितुमशक्यमेव। ननु दानेन सन्धातुमशक्यश्चेत् सामभेदाभ्यां स स्ववशीकर्त्तव्यः? तत्राह—महापाप्माऽत्युग्रः।।३७।।

भावानुवाद—यह विषयोंका अभिलाषारूप काम ही पुरुषको पापमें प्रवृत्त करता है और इसके द्वारा प्रयुक्त (प्रेरित) पुरुष पापका आचरण करता है। यह काम ही पृथक्‌रूपमें दृश्यमान होकर प्रत्यक्षरूपसे क्रोध हो जाता है। 'काम' ही किसीके द्वारा प्रतिहत होनेपर 'क्रोध' के रूपमें परिणत होता है। 'काम' रजोगुणसे उत्पन्न होता है और इस राजस 'काम' से तामस 'क्रोध' उत्पन्न होता है। यदि प्रश्न हो कि अपेक्षाके पूर्ण होनेपर कामकी निवृत्ति होगी या नहीं, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—'महाशन' अर्थात् जिसका अशन (भक्षण) महान या महत् है। स्मृतिमें कहा गया है—*'यत् पृथिव्यां ब्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः। नालमेकस्य तत् सर्वमिति मत्वा शमं व्रजेत्।।'* अर्थात् पृथ्वीमें जितने भी धान्य, जौ, सोना, पशु, स्त्री इत्यादि हैं, वे सभी एकके लिए ही पर्याप्त नहीं है—ऐसा समझकर शांति लाभ करना ही उचित है। स्मृतिकी उपरोक्त उक्तिके अनुसार कामकी आकांक्षा पूर्ण

करना सामर्थ्यके अतीत है। यदि पुनः प्रश्न हो कि दानके द्वारा सन्धिका सुयोग न होनेपर साम और भेदके द्वारा उसे अपने वशमें लाना होगा, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—'महापाप्मा' अर्थात् यह अतिशय उग्र है, इसे वशमें करना अत्यन्त कठिन है।।३७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ काम और क्रोधको मोक्षमार्गमें जीवका प्रधान शत्रु कहा गया है। विशेषकर काम ही मूल शत्रु है, क्रोध इसका एक विकार-मात्र है। इस कामको 'महाशन' कहा गया है। महत्-अशन अर्थात् यह ऐसा शत्रु है जिसका पेट कभी नहीं भरता है। श्रीमद्भागवतमें ययाति महाराजके चरित्रमें देखा जाता है—आगमें घी डालनेसे जैसे आग और भी बढ़ जाती है, वैसे ही कामोंके उपभोगसे कामोंकी अभिवृद्धि ही होती है, उनकी निवृत्ति नहीं होती—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्धते।।'

(श्रीमद्भा. ९/१९/१४)

'यत् पृथिव्यां व्रीहियवं हिरण्यं पशवः स्त्रियः।
न दुह्यन्ति मनःप्रीतिं पुंसः कामहतस्य ते।।'

(श्रीमद्भा. ९/१९/१३)

पृथ्वीका सारा अन्न, स्वर्ण, पशु और सारी स्त्रियाँ भी मिलकर स्त्रीकामी पुरुषके कामको पूर्ण नहीं कर सकते।

साम, दाम, भेद और दण्ड—इन चार नीतियोंसे शत्रुका दमन किया जाता है। यहाँ श्रीभगवान् कामरूप भयानक शत्रुको साम, दाम और भेदकी नीतिसे दमन करना असम्भव बताकर 'दण्ड' नीतिके अवलम्बन द्वारा इसका विनाश करनेके लिए इङ्गित कर रहे हैं। आगेके श्लोकोंमें इस नीतिको स्पष्ट किया गया है—आत्मज्ञानरूप अस्त्रके द्वारा इस कामरूप शत्रुका विनाश किया जा सकता है।।३७।।

धूमेनाव्रियते वह्निर्यथादर्शो मलेन च।
यथोल्बेनावृतो गर्भस्तथा तेनेदमावृतम्।।३८।।

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) वह्निः (अग्नि) धूमेन (धुएँसे) आव्रियते (आवृत रहता है) आदर्शः (दर्पण) मलेन (धूलसे) च (एवं) यथा (जिस प्रकार) गर्भः (गर्भ) उल्बेन (जरायुसे) आवृतः (आवृत रहता है) तथा (उसी प्रकार) तेन (कामके द्वारा) इदम् (जगत्) आवृतम् (आवृत रहता है)।।३८।।

अनुवाद—जिस प्रकार आग धुएँसे, दर्पण धूलसे और गर्भ जारायुसे आवृत रहता है, उसी प्रकार यह ज्ञान कामसे आवृत रहता है।।३८।।

श्रीविश्वनाथ—न च कस्यचिदेवायं वैरी, अपि तु सर्वस्यैवेति सदृष्टान्तमाह—धूमेनेति। कामस्यागाढत्वे गाढत्वेऽतिगाढत्वे च क्रमेण दृष्टान्ताः—धूमेनावृतोऽपि मलिनो वह्निर्दाहादिलक्षणं स्वकार्यन्तु करोति। मलेनावृतो दर्पणस्तु स्वच्छता-धर्म तिरोधानात् बिम्बग्रहणं स्वकार्यं न करोति, स्वरूपतस्तूपलभ्यते। उल्बेन जरायुनावृतो गर्भस्तु स्वकार्यं करचरणादिप्रसारणं न करोति, न वा स्वरूपत उपलभ्यत इति। एवं कामस्यागाढत्वे परमार्थस्मरणं कर्त्तुं शक्नोति, गाढत्वे न शक्नोत्यतिगाढत्वे त्वचेतनमेव स्यादिदं जगदेव।।३८।।

भावानुवाद—वह काम किसी व्यक्तिविशेषका नहीं, वरं सबका ही शत्रु है—इसे दृष्टान्तके द्वारा बता रहे हैं। अग्नि धुएँसे आवृत और मलिन होनेपर भी दहन आदि अपने कार्योंको करता है, किन्तु मलसे आवृत दर्पणका स्वच्छता-धर्म नष्ट हो जानेके कारण दर्पण बिम्ब-ग्रहणरूप अपने कार्यको नहीं करता है, किन्तु स्वरूपतः सम्मान पाता है। उल्ब या जरायुके द्वारा आवृत गर्भस्थ शिशु हाथ-पैर चलानेके कार्यको नहीं कर सकता है, अतः स्वरूपतः सम्मान नहीं पाता है। इसी प्रकार कामके गाढ़ नहीं होनेपर परमार्थ-स्मरण किया जा सकता है, कामके गाढ़ होनेपर ऐसा सम्भव नहीं है। परन्तु, कामके अति गाढ़ होनेपर यह जगत् अचेतन ही हो जाता है।।३८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—बहिर्मुख जीवोंका ज्ञान मृदु, मध्य और तीव्र—इन तीन प्रकारके कामोंके द्वारा आवृत है। इनमें से मृदु कामके द्वारा आवृत ज्ञान आत्मतत्त्वके उपदेशको कुछ-कुछ ग्रहण कर सकता है। मध्य कामके द्वारा आवृत ज्ञान तनिक भी तत्त्वज्ञानको समझनेमें सर्वथा असमर्थ होता है और तीव्र कामके द्वारा आवृत ज्ञानकी कोई प्रतीति नहीं होती।

"उस कामने ही इस जगत्‌को कहीं किञ्चित् शिथिलरूपमें, कहीं गाढ़रूपमें और कहीं अत्यन्त गाढ़रूपमें आवृत कर रखा है। मैं उदाहरण देकर समझा रहा हूँ, तुम श्रवण करो। धुएँसे आवृत अग्निके समान चैतन्य जीव कामके द्वारा किञ्चित् परिमाणमें शिथिल रूपमें आवृत होनेपर भगवान्‌के स्मरणादि कार्योंको कर सकता है। यह मुकुलित-चेतन रूपमें

निष्काम कर्मयोगाश्रित जीवोंकी अवस्थिति है। धूलसे आच्छन्न दर्पणकी भाँति चैतन्य जीव कामके द्वारा गाढ़ रूपमें आवृत होकर मनुष्यके रूपमें अवस्थित रहनेपर भी परमेश्वरको नहीं स्मरण कर पाता है। यह संकुचित-चेतनस्वरूपमें नितान्त नैतिक और नास्तिकादि जीवोंकी अवस्थिति है। वे पशु-पक्षीके समान हैं। जरायुके द्वारा आवृत गर्भकी भाँति चैतन्य जीव कामके द्वारा अतिगाढ़ रूपमें आवृत होकर आच्छादित चेतनस्वरूप वृक्षादिकी भाँति अवस्थित रहता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३८।।

आवृतं ज्ञानमेतेन ज्ञानिनो नित्यवैरिणा।
कामरूपेण कौन्तेय दुष्पूरेणानलेन च।।३९।।

अन्वय—च (और) कौन्तेय (हे कौन्तेय!) एतेन (इस) दुष्पूरेण (न पूर्ण होनेवाले) अनलेन (इव) (अग्निके सदृश) कामरूपेण (कामरूप) नित्यवैरिणा (चिरशत्रुसे) ज्ञानिनः (ज्ञानीका) ज्ञानम् (विवेक ज्ञान) आवृतम् (आवृत है)।।३९।।

अनुवाद—हे अर्जुन! इस कभी पूर्ण न होनेवाले अग्निके सदृश कामरूप चिरशत्रुसे ज्ञानीका ज्ञान आवृत है।।३९।।

श्रीविश्वनाथ—काम एव हि जीवस्याविद्येत्याह—आवृतिमिति। नित्यवैरिणेत्यतोऽसौ सर्वप्रकारेण हन्तव्य इति भावः। कामरूपेण—कामाकारेणाज्ञानेनेत्यर्थः। च-कार—इवार्थे, अनलो यथा हविषा पूरयितुमशक्यस्तथा कामोऽपि भोगेनेत्यर्थः, यदुक्तम्—"*न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति। हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥*" इति।।३९।।

भावानुवाद—काम ही जीवोंके लिए अविद्यास्वरूप है। 'आवृत' इत्यादिके द्वारा श्रीभगवान् यही बता रहे हैं। इस 'काम' को नित्य वैरी बताया गया है, अतः सभी प्रकारसे इसका नाश करना ही प्रयोजनीय है। कामरूप अर्थात् कामके आकारमें यह अज्ञान ही है। यहाँ 'च' का प्रयोग 'समान' या 'मत' के अर्थमें हुआ है। जिस प्रकार घीके द्वारा अग्निको तृप्त नहीं किया जा सकता है, उसी प्रकार काम भी भोगोंसे तृप्त नहीं हो सकता। श्रीमद्भागवतमें कथित है—

'न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति।
हविषा कृष्णवर्त्मेव भूय एवाभिवर्द्धते॥'

(श्रीमद्भा. ९/१९/१४)

अर्थात्, जैसे घीसे अग्नि शांत नहीं होता है, बल्कि उत्तरोत्तर वृद्धिको ही प्राप्त होता है, वैसे ही काम्य वस्तुके उपभोगसे भोग-पिपासा वृद्धिको ही प्राप्त होती है, शान्त नहीं होती है।।३९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—शोक और सन्तापका मूल कारण काम ही है, इसलिए इसकी तुलना अग्निसे की गई है।

काम्य वस्तुओंके उपभोगसे कामकी शान्ति नहीं होती—

'कामनलं मधुलवैः शमयन् दुरापैः' (श्रीमद्भा. ७/९/२५)

'सेवमानो न चातुष्यदाज्यस्तोकैरिवानलः' (श्रीमद्भा. ९/६/४८)

विषयोंका प्रचुर भोग करनेपर भी सौभरि ऋषि घृतबिन्दुके संयोगसे आगकी भाँति शान्ति लाभ नहीं कर सके—

'न तृप्यत्यात्मभूः कामो वह्निराहुतिभिर्यथा' (श्रीमद्भा. ११/२६/१४)

"यह काम ही जीवोंके लिए अविद्या है और वही जीवोंका नित्य वैरी है। वह दुर्वारित अग्निकी भाँति चैतन्य-जीवको आवृत कर लेता है। जिस प्रकार मैं भगवान् चित्पदार्थ हूँ, उसी प्रकार जीव भी चित्पदार्थ है। मेरे और जीवके स्वरूपमें इतना ही भेद है कि मैं पूर्णस्वरूप एवं सर्वशक्तिमान् हूँ, परन्तु जीव अणुचैतन्य है एवं मेरे प्रदत्त शक्तिसे कार्य करनेमें समर्थ होता है। मेरा नित्यदास्य ही जीवका नित्यधर्म है, इसका ही नाम 'प्रेम' या निष्काम जैव-धर्म है। चेतन वस्तुमात्र ही स्वभावतः स्वतन्त्र होता है। शुद्धजीव भी स्वभावतः स्वतन्त्र होता है, अतएव स्वेच्छापूर्वक मेरा नित्यदास है। उस विशुद्ध स्वतन्त्र इच्छाकी अपगतिको ही 'अविद्या' या 'काम' कहते हैं। जो जीवसमूह स्वतन्त्र इच्छासे मेरा दास्य नहीं स्वीकार करते हैं, वे उस पवित्र तत्त्वके अपगत-भावरूप कामको ही अङ्गीकार करते हैं। इसके (कामके) द्वारा वे आवृत होते-होते आच्छादित चेतनस्वरूप जड़वत् हो जाते हैं। इसका ही नाम जीवका 'कर्मबन्धन' अथवा 'संसार-यातना' है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३९।।

इन्द्रियाणि मनो बुद्धिरस्याधिष्ठानमुच्यते।
एतैर्विमोहयत्येष ज्ञानमावृत्य देहिनम्।।४०।।

अन्वय—इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) मनः (मन) बुद्धिः (बुद्धि) अस्य (इस कामके) अधिष्ठानम् (आश्रयस्थल) उच्यते (कही जाती हैं) एषः (यह

काम)एतैः (इनके द्वारा) ज्ञानम् (ज्ञानको) आवृत्य (आच्छादितकर) देहिनम् (जीवको) विमोहयति (विमोहित करता है)।।४०।।

अनुवाद—इन्द्रियाँ, मन और बुद्धि इस कामके आश्रयस्थल कही जाती हैं। यह काम इनके द्वारा ज्ञानको आच्छादितकर जीवको विमोहित करता है।।४०।।

श्रीविश्वनाथ—क्वासौ तिष्ठत्यत आह—इन्द्रियाणीति। अस्य वैरिणः कामस्याधिष्ठानं महादुर्गराजधान्यः, शब्दादयो विषयास्तु तस्य राज्ञो देशा इति भावः। एतैरिन्द्रियादिभिर्देहिनं जीवम्।।४०।।

भावानुवाद—यह काम कहाँ रहता है—इसके उत्तरमें श्रीभगवान् 'इन्द्रियाणि' इत्यादि कह रहे हैं। ये सब (इन्द्रियाँ, मन, बुद्धि) इस कामरूप शत्रुके आश्रय हैं, जो कि महादुर्ग या राजधानीके समान है। शब्दादि विषयसमूह उस राजाके देश या राज्य हैं। इन सबके द्वारा 'देही' अर्थात् जीव मोहित होता है।।४०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—शत्रुके छिपनेका स्थान जान लेनेपर उस स्थानको ध्वंसकर शत्रुको आसानीसे पराजित किया जा सकता है। कामका आश्रयस्थल इन्द्रियाँ हैं, अतः इन्द्रियोंका दमन करनेसे ही कामको आसानीसे पराजित किया जाता है। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण ने यहाँ कामको प्रबल प्रतापी नरपति, इन्द्रियोंको महादुर्गके द्वारा परिवेष्टित राजधानीस्वरूप और विभिन्न विषयोंको राज्य या जनपदस्वरूप बताया है।

"विशुद्ध ज्ञानस्वरूप जीव देहधारणकर 'देही' के नामसे विख्यात होता है। यह काम जीवके इन्द्रिय, मन और बुद्धिमें अधिष्ठान करते हुए जीवके ज्ञानको आवृत किए रहता है। कामका सूक्ष्म तत्त्व अविद्या है, यह अविद्या ही सर्वप्रथम विशुद्ध अहङ्कारस्वरूप अणुचैतन्य जीवको प्राकृत अहङ्काररूप प्रथम आवरण प्रदान करती है और प्राकृत बुद्धि ही इसके आश्रयस्थलका कार्य करती है। बादमें प्राकृत अहङ्कारके परिपक्व होनेपर बुद्धि मनरूप द्वितीय आश्रयस्थल प्रदान करती है। मन विषयोंकी ओर उन्मुख होकर इन्द्रियोंके रूपमें तृतीय अधिष्ठान प्रस्तुत करता है। इन तीनों आश्रयस्थलोंका आश्रयकर काम जीवको जड़-विषयोंमें निक्षेप कर देता है। स्वतन्त्र इच्छापूर्वक मेरे प्रति उन्मुखता 'विद्या' एवं स्वतन्त्र इच्छापूर्वक मेरे प्रति विमुखता 'अविद्या' कही जाती हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४०।।

तस्मात् त्वमिन्द्रियाण्यादौ नियम्य भरतर्षभ।
पाप्मानं प्रजहि ह्येनं ज्ञानविज्ञाननाशनम्।।४१।।

अन्वय—तस्मात् (अतः) भरतर्षभ (हे भरतर्षभ अर्जुन!) त्वम् (तुम) आदौ (सर्वप्रथम) इन्द्रियाणि (इन्द्रियोंको) नियम्य (वशीभूतकर) ज्ञान-विज्ञान-नाशनम् (ज्ञान और विज्ञानका नाश करनेवाले) पाप्मानम् (पापरूप) एनम् (इस कामको) प्रजहि (विनष्ट करो)।।४१।।

अनुवाद—अतः हे अर्जुन! तुम सर्वप्रथम इन्द्रियोंको वशीभूतकर ज्ञान और विज्ञानको नाश करनेवाले पापरूप इस कामको विनष्ट करो।।४१।।

श्रीविश्वनाथ—वैरिणः खल्वाश्रये जिते सति वैरी जीयते इति नीतिरतः कामस्याश्रयेष्विन्द्रियादिषु यथोत्तरं दुर्जयत्वाधिक्यम्। अतः प्रथमप्राप्तानीन्द्रियाणि दुर्जयान्यप्युत्तरापेक्षया सुजयानि, प्रथमं ते जीयन्तामित्याह तस्मादिति। इन्द्रियाणि नियम्येति यद्यपि परस्त्रीपरद्रव्याद्यपहरणे दुर्निवारं मनो गच्छत्येव, तदपि तत्र तत्र नेत्रश्रोत्रकरचरणादीन्द्रियव्यापारस्थगणनादिन्द्रियाणि न गमयेत्यर्थः। पाप्मानमत्युग्रं कामं जहीतीन्द्रियव्यापारस्थगणनमतिकालेन मनोऽपि कामाद्विच्युतं भवतीति भावः।।४१।।

भावानुवाद—शत्रुके आश्रयस्थलको जीत लेनेसे शत्रुपर विजय हो जाती है—यही नीति है। कामके आश्रयस्थल इन्द्रिय, मन और बुद्धिको जीतना क्रमशः अधिक कठिन है। इन्द्रियाँ दुर्जेय हैं, परन्तु ये मन और बुद्धिकी अपेक्षा सुगमतासे जीतने योग्य हैं, अतः तुम सर्वप्रथम इन्द्रियोंको ही जीतो। इसके लिए ही 'तस्मात्' इत्यादि कह रहे हैं। यद्यपि कठिनतासे वशमें होनेवाला मन ही परस्त्री, परद्रव्यादिकी और धावित होता है, तथापि उन सबको आँख, कान, हाथ पाँव इत्यादि इन्द्रियोंका कार्य समझकर इन्द्रियोंको नियन्त्रितकर वहाँ मत जाने दो। तुम 'पाप्मानं' अर्थात् अति उग्र कामका त्याग करो, इस प्रकार इन्द्रियोंको वशीभूत करते-करते इससे कालान्तरमें मन भी कामसे दूर हो जाएगा।।४१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—महाप्रबल काम इन्द्रियोंकी सहायतासे बहिर्मुख जीवोंको मोहपाशमें बद्ध करता है। इसलिए सर्वप्रथम चक्षु आदि इन्द्रियोंको वशीभूत करना कर्त्तव्य है। इस प्रकार बाह्येन्द्रियोंका दमन करनेसे सङ्कल्प—विकल्प करनेवाला मन भी वशीभूत हो जाएगा।

भगवान्ने उद्धवको भी ऐसा ही कहा है—*'विषयेन्द्रिय संयोगान्मनः क्षुभ्यति नान्यथा'* (श्रीमद्भा. ११/२६/२२) अर्थात् विषयोंके साथ इन्द्रियोंके संयोगसे ही मन चञ्चल होता है, अन्यथा वह चञ्चल नहीं होता।

इसलिए इन्द्रियोंका संयम करनेवाले पुरुषोंका मन निश्चल और शान्त होता है—

'असम्प्रयुञ्जतः प्राणान् शाम्यति स्तिमितं मनः' (श्रीमद्भा. ११/२६/२३)

"अतएव हे भरतर्षभ! तुम सर्वप्रथम इन्द्रियादिको नियमितकर ज्ञान-विज्ञानको ध्वंस करनेवाले महापापरूप कामको जीतो अर्थात् उसके अपगत भावको नाश करते हुए उसके स्व-स्वभावको वापस लाकर उसके प्रेमात्मक स्वरूपका अवलम्बन करो। जड़बद्ध जीवका प्रथम प्रशस्त कर्त्तव्य यही है कि वह सर्वप्रथम युक्त वैराग्य और स्वधर्मका पालन करे और क्रमशः साधनभक्ति लाभकर प्रेमभक्तिका साधन करे। मेरी कृपा या मेरे भक्तोंकी कृपासे जो निरपेक्ष भक्ति प्राप्त की जाती है, वह नितान्त विरल है और कहीं-कहीं यह आकस्मिकी प्रथाके रूपमें उदित होती है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४१।।

इन्द्रियाणि पराण्याहुरिन्द्रियेभ्यः परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेर्यः परतस्तु सः।।४२।।

अन्वय—इन्द्रियाणि (इन्द्रियोंको) पराणि आहुः (श्रेष्ठ कहा जाता है) इन्द्रियेभ्यः (इन्द्रियोंकी अपेक्षा) मनः (मन) परम् (श्रेष्ठ है) तु (किन्तु) बुद्धिः (बुद्धि) मनसः (मनसे) परा (श्रेष्ठ है) यः तु (एवं जो) बुद्धेः (बुद्धिसे) परतः (श्रेष्ठ है) सः (आत्मा) (वह आत्मा है)।।४२।।

अनुवाद—इन्द्रियोंको श्रेष्ठ कहा जाता है। मन इन्द्रियोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ है, किन्तु बुद्धि मनसे भी श्रेष्ठ है एवं जो बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है, वह आत्मा है।।४२।।

श्रीविश्वनाथ—न च प्रथममेव मनोबुद्धि-जये यतनीयमशक्यत्वादित्याह—इन्द्रियाणि पराणीति। दश-दिग्विजयिभिरपि वीरैर्दुर्जयत्वादतिबलत्वेन श्रेष्ठानीत्यर्थः। इन्द्रियेभ्यः सकाशादपि प्रबलत्वान्मनः परम्—स्वप्ने खल्विन्द्रियेष्वपि नष्टेष्वनश्वरत्वादिति भावः, मनसः सकाशादपि परा प्रबला बुद्धिर्विज्ञानरूपा, सुषुप्तौ मनस्यपि नष्टे तस्याः सामान्याकाराया अनश्वरत्वादिति भावः। तस्या बुद्धेः सकाशादपि परतो बलाधिक्येन यो वर्त्तते—तस्यामपि ज्ञानाभ्यासेन नष्टायां सत्यां यो विराजते इत्यर्थः; स तु प्रसिद्धो जीवात्मा कामस्य जेता। तेन वस्तुतः सर्वतोऽप्यतिप्रबलेन जीवात्मनेन्द्रियादीन् विजित्य कामो विजेतुं शक्य एवेति नात्रासम्भावना कार्येति भावः।।४२।।

भावानुवाद—सर्वप्रथम मन और बुद्धिको जीतनेकी चेष्टा करना उचित नहीं है, क्योंकि ऐसा होना असम्भव है। इसके लिए ही 'इन्द्रियाणि पराणि' इत्यादि कह रहे हैं। इन्द्रियाँ दशों दिशाओंको जीतनेवाले वीर पुरुषसे भी अधिक बलवान् और श्रेष्ठ हैं अर्थात् वैसा पुरुष भी जितेन्द्रिय नहीं हो सकता है। मन इन्द्रियोंसे भी प्रबल और श्रेष्ठ है, क्योंकि स्वप्नावस्थामें इन्द्रियोंके नष्ट होनेपर भी मन कार्यशील रहता है। विज्ञानरूपी बुद्धि मनसे प्रबला और श्रेष्ठा है, क्योंकि सुसुप्तावस्था या सुनिद्राकालमें मनके नष्ट होनेपर भी समान आकार-विशिष्टा बुद्धि अनश्वर होती है। जो उस बुद्धिसे भी श्रेष्ठतर अर्थात् बलशाली होकर अवस्थित है और बुद्धिके नष्ट होनेपर भी वर्त्तमान रहता है—वह आत्मा है। यही प्रसिद्ध जीवात्मा कामको जीतनेवाला है। वस्तुतः यह जीवात्मा जो कि सबकी अपेक्षा अतिशय प्रबल है, इन्द्रियादिको जीतकर निश्चितरूपमें कामको भी जीतनेमें समर्थ है—इस विषयमें असम्भावना (संदेह) मत करो।।४२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रुतिमें भी ऐसा कहा गया है—

'इन्द्रियेभ्यः परा ह्यर्था अर्थेभ्यश्च परं मनः।
मनसस्तु परा बुद्धिर्बुद्धेरात्मा महान् परः।।'

(क. उ. १/३/१०)

"संक्षेपमें बता रहा हूँ, तुम जीव हो और यही (जीव होना ही) तुम्हारा निज तत्त्व है। आपाततः जड़बद्ध होकर इन्द्रिय, मन और बुद्धिको जो आत्मा समझ रहे हो, वह अविद्याजनित भ्रम है। जड़ वस्तुकी अपेक्षा इन्द्रियाँ श्रेष्ठ और सूक्ष्म हैं। इन्द्रियोंकी अपेक्षा मन श्रेष्ठ और सूक्ष्म है। बुद्धि मनसे भी सूक्ष्म और श्रेष्ठ है और आत्मा जो कि जीव है, वह बुद्धिसे भी श्रेष्ठ है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४२।।

एवं बुद्धेः परं बुद्ध्वा संस्तभ्यात्मानमात्मना।
जहि शत्रुं महाबाहो कामरूपं दुरासदम्।।४३।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'कर्मयोगो' नाम तृतीयोऽध्यायः।।

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) एवं (इस प्रकार) बुद्धेः परम् (बुद्धिसे श्रेष्ठ जीवात्माको) बुद्ध्वा (जानकर) आत्मानम् (मनको) आत्मना

(निश्चयात्मिका बुद्धिके द्वारा) संस्तभ्य (स्थिरकर) कामरूप शत्रुम् (कामरूप शत्रुको) जहि (विनष्ट करो)।।४३।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'कर्मयोगो' नाम तृतीयोऽध्यायस्यान्वयः।।

अनुवाद—हे महाबाहो! इस प्रकार जीवात्माको बुद्धिसे श्रेष्ठ जानकर और बुद्धिके द्वारा मनको वशमें कर कामरूप शत्रुको विनष्ट करो।।४३।।

श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीय अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—उपसंहरति—एवमिति। बुद्धेः परं जीवात्मानं बुद्ध्वा सर्वोपाधिभ्यः पृथग्भूतं ज्ञात्वा आत्मना स्वेनैवात्मानं स्वं संस्तभ्य निश्चलं कृत्वा दुरासदं दुर्जयमपि कामं जहि नाशय।।४३।।

अध्यायेऽस्मिन् साधनस्य निष्कामस्यैव कर्मणः।
प्राधान्यमूचे तत्साध्यज्ञानस्य गुणतां वदन्॥
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
तृतीयः खलु गीतासु सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥

भावानुवाद—'एवं' इत्यादिके द्वारा इस अध्यायका उपसंहार किया जा रहा है। जीवात्माको बुद्धिसे श्रेष्ठ और सभी उपाधियोंसे पृथक् जानकर आत्माके (स्वयंके) द्वारा आत्माको (स्वयंको) स्थिरकर इस दुर्जेय कामका नाश करो।।४३।।

इस अध्यायमें निष्काम-कर्मसाधन और इसके साध्य ज्ञानका सगुणत्व वर्णित हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीता तृतीय अध्यायकी साधुसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई।

श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीय अध्यायकी सारार्थवर्षिणी टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"इस प्रकार स्वयंको अप्राकृत तत्त्व और समस्त जड़ीय सविशेष तथा निर्विशेष चिन्तासे श्रेष्ठ भगवत्-दासरूप तत्त्व जानकर चित्-शक्तिके द्वारा निश्चल करते हुए क्रमशः दुर्जेय कामका नाश करो।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४३।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके तृतीय अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

तृतीय अध्याय समाप्त।

चतुर्थोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—
इमं विवस्वते योगं प्रोक्तवानहमव्ययम्।
विवस्वान् मनवे प्राह मनुरिक्ष्वाकवेऽब्रवीत्।।१।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) अहम् (मैंने) इमम् (इस) अव्ययम् योगम् (अविनाशी योगको) विवस्वते (सूर्यसे) प्रोक्तवान् (कहा था) विवस्वान् (सूर्यने) मनवे (मनुसे) प्राह (कहा) मनुः (मनुने) इक्ष्वाकवे (इक्ष्वाकुसे) अब्रवीत् (कहा)।।१।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—मैंने इस अविनाशी योगको सूर्यसे कहा था, सूर्यने मनुसे कहा एवं मनुने इक्ष्वाकुसे कहा।।१।।

श्रीविश्वनाथ— ***तुर्ये स्वाविर्भावहेतोर्नित्यत्वं जन्मकर्मणोः।***
स्वस्योक्तं ब्रह्मयज्ञादिज्ञानोत्कर्षप्रपञ्चनम्।।१

अध्यायद्वयेनोक्तं निष्कामकर्मसाध्यं ज्ञानयोगं स्तौति—इममिति।।१।।

भावानुवाद—इस चतुर्थ अध्यायमें श्रीभगवान्ने अपने आविर्भावका कारण, अपने जन्म-कर्मकी नित्यता और ब्रह्मयज्ञादि ज्ञानके उत्कर्षका वर्णन किया है।

इन दो अध्यायोंमें 'इमम्' इत्यादिसे निष्काम कर्मके साध्य ज्ञानयोगकी प्रशंसा कर रहे हैं।।१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—प्रत्येक मन्वन्तरमें स्वायम्भुवादि मनुका आविर्भाव होनेपर भी इस वर्त्तमान वैवस्वत मन्वन्तरमें मनुके जनक सूर्य इस ज्ञानयोगके प्रथम उपदेश-पात्र हैं—यह बताकर श्रीभगवान्ने साम्प्रदायिक धाराकी अवतारणा की है। बिना साम्प्रदायिक धारा या आम्नाय परम्पराके शुद्ध ज्ञानतत्त्व अथवा भक्तितत्त्वका जगत्में प्रकाश नहीं होता। साम्प्रदायिक धाराके द्वारा विषयका गुरुत्व, प्राचीनत्व और महत्त्व विशेष रूपमें प्रमाणित होता है। जनसमाजमें प्राचीन साम्प्रदायिक धाराके प्रति श्रद्धा और भक्ति भी परिलक्षित होती है। सम्यक्रूपसे अर्थात् पूर्णरूपसे भगवत्-तत्त्वको प्रदान करनेवाली गुरु-परम्पराकी धाराको आम्नाय अथवा सम्प्रदाय कहते

हैं। सम्प्रदायविहीन मन्त्र निष्फल होते हैं, इसलिए कलिकालमें चार वैष्णव सम्प्रदाय हैं—श्री, ब्रह्म, रुद्र और सनक। सभी सम्प्रदायोंके मूल उद्गम स्थान श्रीकृष्ण हैं। इन श्रीकृष्णसे ही भगवत्-तत्त्वकी धारा जगत्में प्रवाहित होती है—'*धर्मं तु साक्षात् भगवत्प्रणीतम्*' (श्रीमद्भा. ६/३/१९)

भगवान् श्रीकृष्णने सर्वप्रथम विवस्वान (सूर्य) को गीतामें उल्लिखित ज्ञानका उपदेश दिया। सूर्यने इसे मनुको दिया और मनुने इक्ष्वाकुको इस दिव्य ज्ञानका संदेश दिया। अतः यह प्राचीन एवं विश्वसनीय धारा या सम्प्रदाय है, जिसमें अब तक यह दिव्य-ज्ञान संरक्षित है। बीच-बीचमें छिन्न-भिन्न होनेपर यह ज्ञान भगवत्-व्यवस्थासे पुनः इस जगतीतलमें प्रकट होता है। इसी गुरु-परम्पराकी धारामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर, श्रीबलदेव विद्याभूषणादि महाभागवतोंने इस दिव्यज्ञानकी अनुभूतिकर इस दिव्य ज्ञानकी व्याख्याकर जनसाधारणमें इसका प्रचार किया है। इस परम्परा-धारामें अभिषिक्त हुए बिना जड़-विद्यामें पारङ्गत व्यक्ति भी गीताशास्त्रका यथार्थ तात्पर्य कदापि अनुभव नहीं कर सकता, इसलिए ऐसे स्वयम्भू व्याख्याताओंसे बचनेकी चेष्टा करनी चाहिए, अन्यथा गीताके यथार्थ तत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो सकती। जिस प्रकार दूध पवित्र एवं पुष्टिकारक होनेपर भी सर्पके द्वारा उच्छिष्ट हो जानेपर विषका कार्य करता है, उसी प्रकार हरिकथा जगत्को परमपवित्र करनेवाली होनेपर भी देहात्म अभिमानयुक्त एवं मायावादी आदि अवैष्णवोंके मुखसे उच्चरित होनेपर विनाशका ही कारण होती है। श्रीचैतन्य महाप्रभुने भी इस विषयमें ऐसा ही कहा है—'*मायावादी भाष्य सुनिले हय सर्वनाश*'।।१।।

एवं परम्पराप्राप्तमिमं राजर्षयो विदुः।
स कालेनेह महता योगो नष्टः परन्तप।।२।।

अन्वय—परन्तप (हे अर्जुन!) एवं (इस प्रकार) परम्परा-प्राप्तम् (परम्परासे प्राप्त) इमम् (इस योगको) राजर्षयः (राजर्षियोंने) विदुः (जाना) महता कालेन (बहुत समय होनेसे) सः योगः (वह योग) इह (इस लोकमें) नष्टः (नष्टप्राय हो गया है)।।२।।

अनुवाद—हे अर्जुन! इस प्रकार परम्परासे प्राप्त इस योगको राजर्षियोंने जाना, परन्तु बहुत समय होनेसे वह योग इस लोकमें नष्टप्राय हो गया है।।२।।

स एवायं मया तेऽद्य योगः प्रोक्तः पुरातनः।
भक्तोऽसि मे सखा चेति रहस्यं ह्येतदुत्तमम्।।३।।

अन्वय—[त्वम्—तुम] मे (मेरे) भक्तः सखा च असि (भक्त एवं सखा हो) इति (इसलिए) अयम् सः एव पुरातनः योगः (यह वही पुरातन योग) अद्य मया (आज मेरे द्वारा) ते (तुम्हें) प्रोक्तः (कहा गया) हि (क्योंकि) एतत् (यह) उत्तमम् रहस्यम् (उत्तम रहस्य है)।।३।।

अनुवाद—तुम मेरे भक्त और सखा हो, इसलिए यह वही पुरातन योग आज मेरे द्वारा तुम्हें कहा गया, क्योंकि यह उत्तम रहस्य है।।३।।

श्रीविश्वनाथ—त्वां प्रत्येवास्य प्रोक्तत्वे हेतुः—भक्तो दासः सखा चेति भावद्वयमन्यन्त्वर्वाचीनं प्रत्येवावक्तव्यत्वे हेतुः रहस्यमिति।।३।।

भावानुवाद—तुम्हें जो कहा जा रहा है, उसका कारण दो प्रकारका भाव है—एक तो तुम मेरे भक्त अर्थात् दास हो एवं दूसरा मेरे सखा हो। इसके अतिरिक्त यह योग अर्वाचीन किसी औरको कहने योग्य नहीं है, इसीलिए यह रहस्य है।।३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—सद्गुरु अपने स्निग्ध, शरणागत और सेवापरायण शिष्यको ही रहस्ययुक्त तत्त्वज्ञान और भक्तितत्त्व आदिका उपदेश देते हैं, क्योंकि दूसरे लोग इसे धारण नहीं कर सकते । यहाँ भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको यह बता रहे हैं कि तुम मेरे स्निग्ध सेवक और प्रिय सखा हो, अतः मैं तुम्हें कर्मयोगके इस गूढ़ रहस्यको बता रहा हूँ।।३।।

अर्जुन उवाच—
अपरं भवतो जन्म परं जन्म विवस्वतः।
कथमेतद्विजानीयां त्वमादौ प्रोक्तवानिति।।४।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) भवतः जन्म (आपका जन्म) अपरम् (अभी हुआ है) विवस्वतः जन्म (सूर्यका जन्म) परम् (बहुत पहले प्राचीनकालमें हुआ है) तस्मात् (अतः) [अहम्—मैं] एतत् (इस बातको) कथम् (किस प्रकार) विजानीयाम् (समझूँ) (कि) त्वम् (आपने) आदौ (पूर्वकालमें) विवस्वते (सूर्यको) इति (यह योग) प्रोक्तवान् (कहा था)।।४।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—आपका जन्म तो अभी हुआ है और सूर्यका जन्म प्राचीनकालमें हुआ है। अतः मैं इस बातको किस प्रकार समझूँ कि आपने ही पूर्वकालमें सूर्यको यह योग कहा था।।४।।

श्रीविश्वनाथ—उक्तमर्थमसम्भवं पृच्छति। अपरमिदानीन्तनम्, परं पुरातनम् अतः कथमेतत् प्रत्येमीति भावः।।४।।

भावानुवाद—उपर्युक्त उक्तिको असम्भव जानकर अर्जुन श्रीकृष्णसे प्रश्न कर रहे हैं—"आप 'अपरं' अर्थात् अभी हुए हैं एवं सूर्य 'परं' अर्थात् बहुत पहले हुए हैं, अतः मैं कैसे आपकी बातका विश्वास करूँ?"।।४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुन भगवान्‌के परम भक्त (सेवक) और नित्य सखा हैं, इसलिए इनको कृष्णका परिकर या पार्षद भी कहा जाता है। अतः ये भगवत्-तत्त्वको सम्पूर्णरूपसे जानते हैं। अज्ञ व्यक्ति साधारणतः समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर भगवान् वासुदेवको केवल मनुष्य समझते हैं। वे उन्हें सर्वज्ञ और नित्य नहीं मानते, बल्कि उन्हें सीमित ज्ञानसम्पन्न और मरणशील व्यक्ति समझते हैं। वे भगवान्‌के जन्म-कर्मको दिव्य नहीं जानकर अनित्य मानते हैं। गीतामें कहा गया है—

'परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।' (गीता १०/१२)

इस श्लोकके विपरीत वे श्रीभगवान्‌को परम ब्रह्म, परम धाम (अप्राकृत रूपसम्पन्न) परम पवित्र, शाश्वत पुरुष, दिव्य ऐश्वर्ययुक्त, आदिदेव, अजन्मा और सर्वव्यापक नहीं मानते। यहाँ अर्जुन परम विज्ञ होनेपर भी सर्वलोकका कल्याण करनके लिए अज्ञकी भाँति भगवान् श्रीकृष्णसे पूछ रहे हैं, जिससे भगवान् स्वयं अपने मुखारविन्दसे इन तत्त्वोंका प्रकाश करें।।४।।

श्रीभगवानुवाच—
बहूनि मे व्यतीतानि जन्मानि तव चार्जुन।
तान्यहं वेद सर्वाणि न त्वं वेत्थ परन्तप।।५।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्‌ने कहा) परन्तप अर्जुन (हे परन्तप अर्जुन!) तव च (तुम्हारे और) मे (मेरे) बहूनि जन्मानि (बहुत-से जन्म) व्यतीतानि (बीत चुके हैं) अहम् (मैं) तानि सर्वाणि (उन सबको) वेद (जानता हूँ) त्वम् (तुम) न वेत्थ (नहीं जानते हो)।।५।।

अनुवाद—श्रीभगवान्‌ने कहा—हे परन्तप अर्जुन! तुम्हारे और मेरे बहुत-से जन्म बीत चुके हैं। मैं उन सबको जानता हूँ, परन्तु तुम उन्हें नहीं जानते हो।।५।।

श्रीविश्वनाथ—अवतारान्तरेणोपदिष्टवानित्यभिप्रायेणाह—बहूनीति। तव चेति यदा यदैव ममावतारस्तदा मत्पार्षदत्वात्तवाप्याविर्भावोऽभूदेवेत्यर्थः। वेद वेद्मि सर्वेश्वरत्वेन सर्वज्ञत्वात्। त्वं न वेत्थ मयैव स्वलीलासिद्ध्यर्थं

त्वज्ज्ञानावरणादिति भावः। अतएव हे परन्तप, साम्प्रतिक कुन्ती-पुत्रत्वाभिमानमात्रेणैव परान् शत्रूंस्तापयसि।।५।।

भावानुवाद—मैंने अन्य अवतारोंमें भी उपदेश दिया है—इसी अभिप्रायसे श्रीभगवान् 'बहूनि' इत्यादि कह रहे हैं। 'तव च' अर्थात् जब-जब मेरा अवतार हुआ, तब-तब मेरे पार्षदके रूपमें तुम्हारा भी आविर्भाव हुआ है। सर्वज्ञ और सर्वेश्वर होनेके कारण मैं उन सबको जानता हूँ। अपनी लीलासिद्धिके लिए मैंने तुम्हारे ज्ञानको आवृत कर दिया है, अतः तुम इन्हें नहीं जानते हो। अतएव हे परन्तप! अभी तुम कुन्तीपुत्रके अभिमानसे 'पर' अर्थात् शत्रुओंको ताप प्रदान कर रहे हो।।५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ श्रीकृष्ण अर्जुनको यह बता रहे हैं कि आजसे पहले भी मेरे बहुत-से अवतार हो चुके हैं। उनमें मेरे भिन्न-भिन्न नाम, भिन्न-भिन्न रूप और भिन्न-भिन्न लीलाएँ प्रकाशित हुई हैं। मुझे उन सब बातोंकी पूर्णरूपसे स्मृति है। तुम भी मेरे साथमें अवतरित हुए थे, किन्तु जीवतत्त्व होनेके कारण तुम्हें उन बातोंकी स्मृति नहीं है। श्रीगर्गाचार्यने भी श्रीकृष्णके नामकरणके समय कृष्णके बहुतसे नाम, रूप तथा लीलाओंकी पुष्टि की है—

'बहूनि सन्ति नामानि रूपाणि च सुतस्य ते।
गुणकर्मानुरूपाणि तान्यहं वेद नो जनाः।।'

(श्रीमद्भा. १०/८/१५)

अर्थात्, गुण और कर्मके अनुरूप तुम्हारे इस पुत्रके अनेक नाम और रूप हैं, मैं उनसे अवगत हूँ, अन्य लोग नहीं।

भगवान्ने मुचुकुन्दको भी ऐसा ही कहा है—

'जन्मकर्माभिधानानि सन्ति मेऽङ्ग सहस्रशः।'

(श्रीमद्भा. १०/५१/३६)

हे प्रिय मुचुकुन्द! मेरे नाम, जन्म-कर्मादि अनन्त प्रकारके हैं।।५।।

अजोऽपि सन्नव्ययात्मा भूतानामीश्वरोऽपि सन्।
प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय सम्भवाम्यात्ममायया।।६।।

अन्वय—[अहम्—मैं] अजः (अजन्मा) अव्ययात्मा (अविनाशी) सन् अपि (होते हुए भी) भूतानाम् (जीवोंका) ईश्वरः (ईश्वर) सन् अपि (होते हुए भी) आत्ममायया (अपनी योगमायाके द्वारा) स्वाम् प्रकृतिम् (अपने सच्चिदानन्द स्वरूपका) अधिष्ठाय (अवलम्बनकर) सम्भवामि (अविर्भूत होता हूँ)।।६।।

अनुवाद—अजन्मा, अविनाशी, एवं समस्त जीवोंका ईश्वर होते हुए भी मैं अपनी योगमायाके द्वारा अपने सच्चिदानन्द-स्वरूपका अवलम्बनकर आविर्भूत होता हूँ।।६।।

श्रीविश्वनाथ—स्वस्य जन्मप्रकारमाह—अजोऽपि जन्मरहितोऽपि सन् सम्भवामि, देवमनुष्यतिर्यगादिषु आविर्भवामि। ननु किमत्र चित्रम्? जीवोऽपि वस्तुतोऽज एव स्थूलदेहनाशानन्तरं जायत एव तत्राह—अव्ययात्माऽनश्वरशरीरः। किञ्च, जीवस्य स्वदेहभिन्नस्वस्वरूपेणाजत्वमेव आविद्यकेन देहसम्बन्धेनैव तस्य जन्मवत्त्वम्, मम त्वीश्वरत्वात् स्वदेहाभिन्नस्याजत्वं जन्मवत्त्वमित्युभयमपि स्वरूपसिद्धम्। तच्च दुर्घटत्वात् चित्रमतर्क्यमेव। अतः पुण्यपापादिमतो जीवस्येव सदसद्योनिषु न मे जन्माशङ्केत्याह—भूतानामीश्वरोऽपि सन् कर्म-पारतन्त्र्यरहितोऽपि भूत्वेत्यर्थः। ननु जीवो हि लिङ्गशरीरेण स्वबन्धकेन कर्मप्राप्यान् देवादि-देहान् प्राप्नोति। त्वं परमेश्वरो लिङ्गरहितः सर्वव्यापकः कर्मकालादि-नियन्ता; *"बहु स्याम्"* इति श्रुतेः सर्वजगद्रूपो भवस्येव। तदपि यद्विशेषत एवम्भूतोऽप्यहं सम्भवामीति ब्रूषे तन्मन्ये सर्वजगद्विलक्षणान् देहविशेषान् नित्यानेव लोके प्रकाशयितुं त्वज्जन्मेत्यवगम्यते। तत् खलु कथमित्यत आह—प्रकृतिं स्वामधिष्ठायेति। अत्र प्रकृतिशब्देन यदि बहिरङ्गा मायाशक्तिरुच्यते, तदा तदधिष्ठता परमेश्वरस्तद्द्वारा जगद्रूपो भवत्येवेति न विशेषोपलब्धिः। तस्मात् *"संसिद्धिप्रकृति त्विमे स्वरूपञ्च स्वभावश्च"* इत्यभिधानात् अत्र प्रकृति-शब्देन स्वरूपमेवोच्यते। न त्वं स्वरूपभूता मायाशक्तिः स्वरूपञ्च तस्य सच्चिदानन्द एव; अतएव स्वां शुद्धसत्त्वात्मिकां प्रकृतिमिति श्रीस्वामिचरणाः। प्रकृतिं स्वभावं स्वमेव स्वभावमधिष्ठाय स्वरूपेण स्वेच्छया सम्भवामीत्यर्थः—इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः। प्रकृतिं स्वभावं सच्चिदानन्दघनैकरसं; मायां व्यावर्त्तयति स्वामिति, निजस्वरूपमित्यर्थः। *"स भगवतः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वमहिम्नि"* इति श्रुतेः। स्वस्वरूपमधिष्ठाय स्वरूपावस्थित एव सम्भवामि देहदेहिभावमन्तरेण एव देहिवद् व्यवहारामीति श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादाः। ननु यदव्ययात्मा अनश्वरमत्स्यकूर्मादिस्वरूप एव भवसि तर्हि तव प्रादुर्भवत्स्वरूपं पूर्वप्रादुर्भूतस्वरूपाणि च युगपदेव किं नोपलभ्यन्ते तत्राह—आत्मभूता या माया, तया। स्वस्वरूपावरण-प्रकाशन-कर्म च यया चिच्छक्तिवृत्त्या योगमाययेत्यर्थः। तया हि पूर्वकालावतीर्णस्वरूपाणि पूर्वमेव आवृत्य वर्त्तमानस्वरूपं प्रकाश्य सम्भवामि। आत्ममायया सम्यक् प्रच्युतज्ञान बलवीर्यादिशक्तैव भवामीति स्वामिचरणाः। आत्ममायया आत्मज्ञानेन। माया वयूनं ज्ञानमिति ज्ञानपर्यायोऽत्र मायाशब्दः। तथाचाभियुक्तप्रयोगः।

मायया सततं वेत्ति प्राचीनानां शुभाशुभमिति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः। मयि भगवति वासुदेवे देहदेहिभावशून्ये तद्रूपेण प्रतीतिः मायामात्रमिति श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादाः।।६।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् अपने जन्म-तत्त्वके सम्बन्धमें बता रहे हैं—"मैं अजन्मा होकर भी देव-मनुष्य-पशु इत्यादि योनियोंमें आविर्भूत होता हूँ।" यदि प्रश्न हो कि इसमें क्या विचित्रता है? जीव भी तो वस्तुतः अज ही है और स्थूल शरीरके नाश होनेपर जन्म ग्रहण करता है, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—'अव्ययात्मा' अर्थात् मेरा शरीर अनश्वर है, परन्तु जीवका शरीर नश्वर है। और भी, जीवका अजत्व भिन्न प्रकारका है, अविद्याजनित देहके सम्बन्धसे ही उसका जन्म है, किन्तु ईश्वर होनेसे स्वदेहसे अभिन्न मेरे अजत्व और जन्मवत्त्व—ये दोनों ही स्वरूपसिद्ध हैं। दुर्घट (कहीं और न घटनेवाला) होनेके कारण यह विचित्र और तर्कातीत है। अतएव पुण्य-पापादिके कारण जीवके सत्-असत् योनियोंमें जन्म लेनेकी भाँति मेरे जन्मकी आशङ्का नहीं है। इसके लिए ही कहते हैं—जीवोंके ईश्वर होनेपर भी अर्थात् कर्मकी परतन्त्रतासे रहित होकर भी मैं जन्म ग्रहण करता हूँ।

अच्छा, जीव भी अपने बन्धक लिङ्ग शरीरके कर्मसे प्राप्त होनेवाले देवतादिके शरीरको प्राप्त करता है, आप परमेश्वर लिङ्गरहित सर्वव्यापक और काल-कर्म आदिके नियन्ता हैं। 'बहु स्याम्' अर्थात् बहुत हो सकता हूँ—श्रुतिके इस वचनानुसार आप सर्वजगद्रूप हैं ही, तथापि विशेषभावसे आप यह ऐसा कहते हैं कि 'एवम्भूतोऽप्यहं सम्भवामि' अर्थात् ऐसा होनेपर भी मैं आविर्भूत होता हूँ, इससे मैं समझता हूँ कि सम्पूर्ण जगत्से विलक्षण-विशेष अपने नित्यस्वरूपको प्रकाशित करनेके लिए ही आपका जन्म होता है।आपके वे शरीर कैसे होते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—'प्रकृतिं स्वामधिष्ठाय' इत्यादि। यहाँ प्रकृति शब्दसे यदि बहिरङ्गा मायाशक्तिको लक्ष्य किया जाय, तो इसके अधिष्ठाता परमेश्वर इसके द्वारा ही जगद्रूप होते हैं—इससे किसी विशेषत्वकी उपलब्धि नहीं होती है। शब्द-कोशमें कहा गया है—*'संसिद्धि प्रकृति त्विमे स्वरूपञ्च स्वभावश्च'* अर्थात् संसिद्धि और प्रकृतिके तात्पर्य हैं—स्वरूप और स्वभाव। अतएव यहाँ प्रकृति शब्दसे स्वरूपको ही लक्ष्य किया है। श्रीधरस्वामिपाद कहते हैं—"आपका स्वरूप मायाशक्तिका नहीं, बल्कि आपका स्वरूप सच्चिदानन्द ही है, अतएव आपकी प्रकृति शुद्ध सत्त्वात्मिका है।" श्रीरामानुजाचार्यके अनुसार प्रकृतिका अर्थ

है—स्वभाव, आप अपने ही स्वभावमें प्रतिष्ठित रहकर स्वेच्छानुसार ही स्वस्वरूपमें आविर्भूत होते हैं। 'प्रकृति' का अर्थ हुआ स्वभाव, सच्चिदानन्दघन एकरस—इन शब्दोंके द्वारा मायाको यहाँ अलग रखा गया है। 'स्वाम्' का अर्थ है—अपना स्वरूप। श्रुतिमें कहा गया है—'*स भगवतः कस्मिन् प्रतिष्ठितः स्वमहिम्नि*' अर्थात् वे भगवान् अपनी ही किसी महिमामें प्रतिष्ठित हैं। श्रीमधुसूदन सरस्वतीके अनुसार वे अपने स्वरूपमें ही अवस्थित रहकर आविर्भूत होते हैं और देह तथा देही—इस भिन्नभावसे रहित हैं तथापि देहीके समान ही व्यवहार करते हैं।

यदि प्रश्न हो कि अच्छा, जब आप अविनाशी होकर अनश्वर मत्स्य-कूर्मादि स्वरूपोंको ग्रहण करते हैं, तब क्या आपके वर्त्तमान आविर्भूत स्वरूप और पूर्वके आविर्भूत स्वरूपोंकी एकसाथ उपलब्धि नहीं होती है, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—"आत्ममायया' अर्थात् आत्मभूता जो माया है, उसके द्वारा यह कार्य होता है। चित्-शक्तिकी वृत्ति अर्थात् योगमाया द्वारा मेरे स्वरूपका आवरण और प्रकाशन होता है। इसकी सहायतासे ही पूर्वकालमें अवतीर्ण स्वरूपोंको पहले ही आवृतकर वर्त्तमान स्वरूप प्रकाश करते हुए मैं आविर्भूत होता हूँ।" श्रीधरस्वामिपाद अपनी टीकामें लिखते हैं—"मैं 'आत्ममाया' अर्थात् सम्यक् प्रच्युत ज्ञान, बल वीर्यादि शक्तिके द्वारा ही आविर्भूत हुआ करता हूँ।" श्रीरामानुजाचार्य अपने भाष्यमें लिखते हैं—"श्रीभगवान् आत्ममाया अर्थात् आत्मज्ञानके द्वारा आविर्भूत होते हैं। '*माया वयूनं ज्ञानम्*'—यहाँ माया शब्द ज्ञानका पयार्यवाची है, अभिधानमें ऐसा भी कहा गया है। इस मायाके सहयोगसे ही भगवान् प्राचीन जीवोंके शुभ-अशुभको जानते हैं।" श्रीमधुसूदन सरस्वतीके अनुसार देह-देहिभावशून्य मुझ भगवान् वासुदेवमें ऐसी प्रतीति माया-मात्र है।।६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—(क) श्रीभगवान्‌में देह और देहीका भेद नहीं होता—'*देह-देहि विभागश्च नेश्वरे विद्यते क्वचित्*'। (कूर्मपुराण) जीवके देह और देहीमें भेद होता है अर्थात् जीवके स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर देही अर्थात् जीवात्मासे भिन्न होते हैं।

श्रीचैतन्य चरितामृतमें इसे और भी स्पष्ट किया गया है—

'देह-देहीर, नाम-नामीर कृष्णे नाहि 'भेद'।
जीवेर धर्म—नाम-देह-स्वरूपे 'विभेद'।।'

(चै. च. म. १७/१३२)

अर्थात्, कृष्णमें नाम-नामी, देह-देही इत्यादिका भेद नहीं है, किन्तु जीवके धर्म, नाम और देहका उसके स्वरूपसे भेद है।

(ख) भगवान् अज अर्थात् जन्मरहित हैं। वे स्वेच्छावश अपनी योगमायारूप चित्-शक्तिका आश्रय लेकर अपने नित्य शरीरको इस जगत्में प्रकाशितकर सरल-सहजरूपमें ऐसी लीलाएँ करते हैं, मानो वे साधारण बालक हों। तथापि उनका सच्चिदानन्दमय शरीर स्थूल और लिङ्ग शरीरके द्वारा आवृत नहीं होता। इसके विपरीत अणुचित् जीव भगवान्की माया-शक्तिके प्रभावके वशीभूत होकर कर्मसंस्कारके अनुरूप लिङ्ग शरीर और स्थूल शरीर धारणकर पुनर्जन्म प्राप्त करते हैं।

"यद्यपि तुम और मैं पुनः पुनः इस जगतमें आविर्भूत होता हूँ, तथापि तुम्हारे और मेरे अवतरणमें विशेष भेद है। मैं समस्त जीवोंका ईश्वर, अज अर्थात् अजन्मा एवं अव्ययस्वरूप हूँ। मैं अपनी चित्-शक्तिका आश्रयकर आविर्भूत होता हूँ, किन्तु समस्त जीव मेरी माया-शक्तिके वशीभूत होकर इस जगत्में जन्म ग्रहण करते हैं, इसलिए उन्हें पूर्व जन्मकी स्मृति नहीं रहती है। जीवोंका जो लिङ्ग शरीर है, वह उनके कर्मफलसे प्राप्त होता है और उसका ही आश्रयकर वे जन्म ग्रहण करते हैं। देव-तिर्यग आदि रूपोंमें मेरा जो आविर्भाव होता है, वह केवल मेरे स्वाधीन इच्छावश ही होता है। जीवोंकी भाँति मेरा विशुद्ध चित्-शरीर लिङ्ग और स्थूल शरीरके द्वारा आवृत नहीं होता है। मेरा जो नित्य शरीर वैकुण्ठ में रहता है, उसे ही मैं अवलीला-क्रमसे इस प्रापञ्चिक जगत्में प्रकाशित करता हूँ। यदि कहो कि प्रपञ्चमें चित्-तत्त्वका प्रकाश किस प्रकार सम्भव है, तो सुनो—मेरी शक्ति अवितर्क (तर्कसे परे) और समस्त चिन्ताओंसे अतीत है। अतएव उस शक्तिके द्वारा जो कुछ किया जा सकता है, तुमलोग युक्ति द्वारा उसका निर्णय नहीं कर सकते हो। सहज ज्ञानके द्वारा केवल इतना जान लेना ही तुम्हारा कर्त्तव्य है कि अविचिन्त्य शक्तिसम्पन्न भगवान् किसी प्रापञ्चिक विधिसे बाध्य नहीं हैं। उनके इच्छा-मात्र करनेसे समस्त वैकुण्ठतत्त्व अनायास ही विशुद्धरूपमें इस जड़-जगत्में प्रकाशित हो सकते हैं अथवा वे समस्त जड़को परिवर्त्तितकर चित्स्वरूप प्रदान कर सकते हैं। अतः समस्त प्रपञ्च-विधियोंसे अतीत मेरा यह सच्चिदानन्द-विग्रह प्रपञ्चमें प्रकट होकर भी पूर्णरूपेण शुद्ध है—इसमें सन्देह क्या है? जिस मायाके द्वारा जीव परिचालित होता है, वह भी मेरी ही प्रकृति है, किन्तु जब मैं 'अपनी प्रकृति' कहूँ, तो इससे चित्-शक्तिको ही समझना चाहिए। यद्यपि मेरी शक्ति एक है, किन्तु वही मेरे निकट चित्-शक्ति और कर्मबद्ध जीवोंके निकट माया-शक्ति है एवं नाना प्रकारके प्रभावोंसे युक्त है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।६।।

यदा यदा हि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्।।७।।

अन्वय—भारत (हे भारत!) यदा यदा हि (जब-जब) धर्मस्य (धर्मकी) ग्लानिः (हानि) अधर्मस्य (च) (और अधर्मकी) अभ्युत्थानम् (वृद्धि) भवति (होती है) तदा (तब-तब) अहम् (मैं) आत्मानम् (अपने नित्यसिद्ध देहको) सृजामि (सृष्ट देहके समान प्रदर्शित करता हूँ, प्रकट करता हूँ)।।७।।

अनुवाद—हे भारत! जब-जब धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धि होती है, तब-तब मैं अपने नित्यसिद्ध देहको प्रकट करता हूँ।।७।।

श्रीविश्वनाथ—कदा सम्भवामित्यपेक्षायामाह—यदेति। धर्मस्य ग्लानि-र्हानिरधर्मस्याभ्युत्थानं वृद्धिस्ते द्वे सोढुमशक्नुवन् तयोर्वैपरीत्यं कर्त्तुमिति भावः। "आत्मानं देहं सृजामि, नित्यसिद्धमेव तं सृष्टमिव दर्शयामि मायया" इति श्रीमधुसूदन सरस्वतीपादाः।।७।।

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌का आविर्भाव कब होता है, इसके सम्बन्धमें 'यदा' इत्यादि कह रहे हैं—धर्मकी हानि और अधर्मका अभ्युदय—इन दोनोंको सहनेमें असमर्थ होनेके कारण इन्हें परिवर्त्तित करनेके लिए मेरा आविर्भाव होता है। श्रीपाद मधुसूदन सरस्वतीके अनुसार 'आत्मानं सृजामि' अर्थात् देहका सृजन करता हूँ—मायाके सहयोगसे अपने नित्यसिद्ध देहको सृष्टकी भाँति प्रदर्शित करता हूँ।।७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—कर्मफलबाध्य जीव प्रत्येक जन्ममें नया जड़-देह प्राप्त करता है, किन्तु भगवान् अपने नित्य सिद्ध शरीरको स्वेच्छापूर्वक असुरमोहिनी मायाके द्वारा सृष्ट पदार्थकी भाँति प्रदर्शित करते हैं। श्रीशुकदेव गोस्वामीने भी श्रीमद्भागवत्‌में ऐसा ही कहा है—

'यदा यदा हि धर्मस्य क्षयो वृद्धिश्च पाप्मनः।
तदा तु भगवानीश आत्मानं सृजते हरिः।।'

(श्रीमद्भा. ९/२४/५६)

अर्थात्, जब-जब धर्मका क्षय और पापकी वृद्धि होती है, तब-तब भगवान् श्रीहरि स्वयंको इस जगत्‌में प्रकट करते हैं।

यहाँ उक्त श्लोकमें विभिन्न आचार्योंने 'धर्म' पदकी विभिन्न रूपोंमें व्याख्या की है। श्रीरामानुजाचार्यजीने 'धर्म' शब्दका अर्थ भगवत्-आराधनासे लिया है। श्रीबलदेव विद्याभूषणने 'धर्म' का तात्पर्य इस प्रकार बताया है—

भगवत्-अर्चन, ध्यानादि लक्षणयुक्त शुद्ध भक्तियोग तथा वेदविहित वर्णाश्रम धर्मको ही धर्म समझना चाहिए।

"मेरे आविर्भावका यही कारण है कि मैं स्वेच्छामय हूँ, मेरी इच्छा होनेपर ही मैं अवतीर्ण होता हूँ। जब-जब धर्मकी ग्लानि और अधर्मका अभ्युत्थान होता है, तब-तब मैं स्वेच्छापूर्वक अवतीर्ण होता हूँ। जगत्के क्रियाकलापको संचालित करनेवाले मेरी समस्त विधियाँ अजेय हैं, किन्तु कालक्रमसे जब ये सारी विधियाँ किसी अनिर्देश्य कारणवश विगुण हो जाती हैं, तभी अधर्म प्रबल हो उठता है। मेरे अतिरिक्त उस दोषके निवारणमें कोई समर्थ नहीं है। अतएव मैं अपनी चित्-शक्तिके सहयोगसे इस प्रपञ्चमें उदित होकर इस धर्मग्लानिको दूर करता हूँ। केवल इस भारत-भूमिमें ही मेरा उदय होता है—ऐसा नहीं है। मैं देवता, पशु, पक्षी आदि सभी योनियोंमें आवश्यकतानुसार इच्छापूर्वक उदित होता हूँ। अतः ऐसा मत समझो कि मैं म्लेच्छ अन्त्यजादिके बीच उदित नहीं होता हूँ। वे सभी शोच्य पुरुषगण जितने परिमाणमें भी धर्मको स्वधर्मके रूपमें स्वीकार करते हैं, उतने परिमाणमें धर्मकी ग्लानि होनेपर उनके बीच शक्त्यावेश-अवतारके रूपमें प्रादुर्भूत होकर उनके धर्मकी रक्षा करता हूँ। किन्तु, भारत-भूमिमें वर्णाश्रम-धर्मरूप साम्बन्धिक स्वधर्मके भलीभाँति आचरित होनेके कारण उस देशवासी अपनी प्रजाओंके धर्म-संस्थापनके लिए मैं विशेष यत्न करता हूँ। अतएव युगावतार, अंशावतार प्रभृति जितने भी रमणीय अवतार हैं, उसे भारत-भूमिमें ही लक्ष्य करना चाहिए। जहाँ वर्णाश्रम-धर्म नहीं है, वहाँ निष्काम कर्मयोग, इसके साध्य ज्ञानयोग और चरमफलरूप भक्तियोग भलीभाँति आचरित नहीं होता है। तब भी अन्त्यजोंमें जो थोड़ी-बहुत भक्तिका उदय देखा जाता है, उसे भक्तकी कृपासे उत्पन्न आकस्मिकी प्रथासे सम्बन्धित जानो।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।७।।

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्मसंस्थापनार्थाय सम्भवामि युगे युगे।।८।।

अन्वय—साधूनाम् (अपने एकान्त भक्तोंके) परित्राणाय (परित्राणके लिए) दुष्कृताम् (दुष्टोंके) विनाशाय (विनाशके लिए) धर्मसंस्थापनार्थाय च (एवं धर्मकी संस्थापनाके लिए) युगे युगे (युग-युगमें) सम्भवामि (आविर्भूत होता हूँ)।।८।।

अनुवाद—मैं अपने एकान्त भक्तोंके परित्राण, दुष्टोंके विनाश एवं धर्मकी संस्थापनाके लिए युग-युगमें आविर्भूत होता हूँ।।८।।

श्रीविश्वनाथ—ननु त्वद्भक्ता राजर्षयो ब्रह्मर्षयोऽपि वा धर्महान्यधर्मवृद्धी दूरीकर्त्तुं शक्नुवन्त्येव एतावदर्थमेव किं तवावतारेण इति चेत् सत्यम्। अन्यदपि अन्यदुष्करं कर्म कर्त्तुं सम्भवामीत्याह—परीति। साधूनां परित्राणाय मदेकान्तभक्तानां मद्दर्शनोत्कण्ठास्फुटचित्तानां यद्वैयग्र्यरूपं दुःखम्, तस्मात् त्राणाय। तथा दुष्कृतं मद्भक्तलोकदुःखदायिनां मदन्यैरवध्यानां रावणकंसकेश्यादीनां विनाशाय तथा धर्मसंस्थापनार्थाय मदीयध्यानयजनपरिचर्यासङ्कीर्त्तनलक्षणं परमधर्मं मदन्यैः प्रवर्त्तयितुमशक्यं सम्यक् प्रकारेण स्थापयितुमित्यर्थः। युगे युगे प्रतियुगं प्रतिकल्पं वा। न चैवं दुष्टनिग्रहकृतो भगवतो वैषम्यमाशङ्कनीयम्, दुष्टानामप्यसुराणां स्वकर्त्तृकवधेन विविधदुष्कृत-फलान्नरकसहप्रणिपातात् संसाराच्च परित्राणतस्तस्य स खलु निग्रहोऽप्यनुग्रह एव निर्णीतः।।८।।

भावानुवाद—हे अर्जुन! यदि तुम्हें यह प्रश्न हो कि जब आपके राजर्षि और ब्रह्मर्षि भक्तगण भी धर्मकी हानि और अधर्मकी वृद्धिको दूर करनेमें समर्थ हैं, तब इसके लिए आपके अवतारका क्या प्रयोजन है, तो सुनो—यह सत्य है, किन्तु मैं वैसे कार्योंके लिए अवतरित होता हूँ, जो कि दूसरोंके लिए दुष्कर हैं। इसके लिए 'परित्राणाय' इत्यादि कहा जा रहा है। साधुओंके परित्राण अर्थात् मेरे एकान्त भक्तोंका उत्कण्ठित चित्त जो मेरे दर्शनकी अभिलाषासे व्यग्रतारूप दुःख पाता है, उस दुःखको दूर करनेके लिए ही मेरा आविर्भाव होता है और 'दुष्कृताम्' अर्थात् मेरे अतिरिक्त किसी अन्यके द्वारा नहीं मारे जाने योग्य रावण-कंस-केशी आदिके विनाशके लिए मैं आविर्भूत होता हूँ, जो कि मेरे भक्तोंको दुःख देनेवाले हैं। तथा, 'धर्मसंस्थापनार्थाय' अर्थात् मेरे ध्यान, भजन, परिचर्या संकीर्त्तनादि लक्षणोंसे युक्त परमधर्मकी भलीभाँति संस्थापनाके लिए मैं आविर्भूत होता हूँ, जो कि दूसरोंके द्वारा असम्भव है। 'युगे-युगे' अर्थात् मैं प्रतियुग या प्रतिकल्पमें आता हूँ। इस प्रकार दुष्टोंको दण्ड देनेवाले भगवान्में विषमता-दोषकी आशङ्का नहीं करनी चाहिए। अपने हाथोंसे इन दुष्ट असुरोंका वधकर इन्हें विविध दुष्कृत फलोंके कारण नरक एवं संसारसे परित्राण करनेके कारण मेरे द्वारा दिए गए निग्रहको अनुग्रह ही समझना चाहिए।।८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीभगवान् राजर्षि और ब्रह्मर्षि प्रमुख भक्तोंके हृदयमें शक्ति संचरितकर वर्णाश्रम धर्मकी स्थापना करते हैं, किन्तु

विरह-कातर भक्तोंकी विरहवेदनाको शान्त करनेके लिए, दूसरोंके लिए अवध्य साधु-द्रोही कंसादि असुरोंका विनाश करनेके लिए एवं शुद्धा भक्तिका प्रचार करनेके लिए—इन तीन कारणोंसे भगवान् स्वयं अवतीर्ण होते हैं।

श्रीजीव गोस्वामीपादने 'अवतार' शब्दकी परिभाषा देते हुए कहा है—*'अवतारश्च प्राकृतवैभवेऽवतरणमिति'* अर्थात् प्राकृत वैभवमें भगवान्का अवतरण होना ही अवतार कहलाता है। श्रीबलदेव विद्याभूषणपादने भी इसी तथ्यको दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार प्रकाशित किया है—*'अप्रपञ्चात् प्रपञ्चेऽवतरणं खल्ववतारः'* अर्थात् अप्रकट नित्यधामसे भगवान्के इस प्रापञ्चिक जगत्में अवतरणको ही अवतार कहते हैं।

श्रीकृष्ण असंख्य अवतारोंके मूल अवतारी हैं, इसलिए इन्हें स्वयं-भगवान् भी कहा गया है। इनका अवतार छः प्रकारका है—(१) पुरुषावतार, (२) गुणावतार, (३) लीलावतार, (४) मन्वन्तरावतार, (५) युगावतार और (६) शक्त्यावेशावतार। (चै. च. म. २० प.)

युग चार हैं—सत्य, त्रेता, द्वापर और कलि। यथा—

'कृतं त्रेता द्वापरं च कलिरित्येषु केशवः।
नानावर्णाभिधाकारो नानैव विधिनेज्यते।।'

(श्रीमद्भा. ११/५/२०)

कल्प—ब्रह्माकी आयुका एक दिन कल्प कहलाता है। एक कल्पमें चौदह मन्वन्तर होते हैं। ब्रह्माके एक दिनमें १००० चतुर्युग होते हैं। ब्रह्माका एक दिन मानव सौरवर्षकी गणनाके अनुसार ४,३२,००,००,००० वर्षोंका होता है। ऐसे ३६० दिनोंको मिलाकर ब्रह्माका एक वर्ष होता है तथा ऐसे १०० वर्षोंकी ब्रह्माकी आयु है।

दुष्ट असुरोंका वध करनेपर भी भगवान्में वैषम्यका दोष स्पर्श नहीं करता, बल्कि इससे उनके प्रति भगवत्-अनुग्रह ही प्रदर्शित होता है—*'अजस्य जन्मोत्पथनाशनाय।'* (श्रीमद्भा. ३/१/४४) इस श्लोककी टीकामें श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुरजीने इस प्रकार लिखा है—सन्मार्गछेदक असुरोंके विनाशके लिए अर्थात् उनके मोक्षके लिए भगवान् 'अज' होने पर भी आविर्भूत होते हैं।

श्रीधरस्वामीपादने भी ऐसा ही कहा है—*'लालने ताडने मातुर्नाकारुण्य यथार्भके। तद्वदेव महेशस्य नियन्तुर्गुणदोषयोः।।'* अर्थात् जिस प्रकार शिशुके लालन-पालन और भर्त्सना आदिमें वात्सल्यमयी माताकी निष्ठुरता नहीं होती, उसी प्रकार गुण और दोषके नियन्ता परमेश्वरमें भी निष्ठुरता नहीं है।

"राजर्षि, ब्रह्मर्षि आदि जो मेरे भक्त हैं—मैं उनकी सत्तामें शक्तिका संचारकर वर्णाश्रम धर्मकी संस्थापना करता हूँ। किन्तु, परमभक्त साधुओंकी अभक्त व्यक्तियोंसे रक्षाके लिए मेरे अवतारकी आवश्यकता होती है। अतएव युगावतारके रूपमें मैं साधुओंकी रक्षा करता हूँ, असाधुओंको पृथक्कर नाश्य-धर्म व्यवस्थापित करता हूँ एवं श्रवण-कीर्त्तनादि भक्तिका प्रचारकर जीवोंके नित्यधर्मकी संस्थापना करता हूँ। मैं युग-युगमें अवतीर्ण होता हूँ—इस कथनसे यह स्वीकार करना चाहिए कि कलियुगमें भी मेरा अवतार होता है। कलिकालके अवतारमें केवल कीर्त्तनादिके द्वारा परम दुर्लभ प्रेमका संस्थापन करेंगे, इस अवतारका अन्य कोई और तात्पर्य नहीं होनेके कारण सभी अवतारोंसे श्रेष्ठ होनेपर भी जनसाधारणके लिए यह गोपनीय है। मेरे परम भक्तगण स्वभावतः इस अवतारके द्वारा विशेष रूपसे आकृष्ट होंगे, यह तुम भी उनके साथ अवतीर्ण होकर देख सकोगे। कलिजन-निस्तारक इस गुह्य अवतारका परम रहस्य यह है कि इसमें दुष्कृतिवान् लोगोंके दुष्कृति-विनाशके अतिरिक्त असुर-विनाशादि कार्य नहीं हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।८।।

जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः।
त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुन।।९।।

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) मे (मेरे) जन्म कर्म च (जन्म और कर्म) दिव्यम् (अप्राकृत हैं) एवम् (इस प्रकार) यः (जो) तत्त्वतः (यथार्थ रूपमें) वेत्ति (जान लेते हैं) सः (वे) देहम् त्यक्त्वा (वर्त्तमान शरीरको त्यागकर) पुनः जन्म न एति (पुनः जन्म नहीं ग्रहण करते हैं) माम् एति (मुझे प्राप्त करते हैं)।।९।।

अनुवाद—हे अर्जुन! मेरे जन्म और कर्म अप्राकृत हैं, जो इसे यथार्थरूपमें जान लेते हैं, वे वर्त्तमान शरीरको त्यागकर पुनः जन्म नहीं ग्रहण करते हैं, बल्कि मुझे ही प्राप्त करते हैं।।९।।

श्रीविश्वनाथ—उक्तलक्षणस्य मज्जन्मनस्तथा जन्मानन्तरं मत्कर्म्मणश्च तत्त्वतो ज्ञानमात्रेणैव कृतार्थः स्यादित्याह—जन्मेति। "दिव्यमप्राकृतम्" इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादाश्च। "दिव्यमलौकिकम्" इति श्रीस्वामिचरणाः। लोकानां प्रकृतिसृष्टत्वादलोकिक-शब्दस्याप्राकृतत्वमेवार्थ-स्तेषामप्यभिप्रेतः। अतएवाप्राकृतत्वेन गुणातीतत्वाद्भगवज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वम्। तच्च भगवत्सन्दर्भे—*"न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा"* इत्यत्र श्लोके

श्रीजीव-गोस्वामिचरणैरुपपादितम्; यद्वा, युक्त्यानुपपन्नमपि श्रुतिस्मृतिवाक्य-वलादतर्क्यमेवेदं मन्तव्यम्। तत्र पिप्पलादशाखायां पुरुषबोधनी श्रुतिः—*"एको देवो नित्यलीलानुरक्तो भक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा"*इति। तथा जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं श्रीभागवतामृते बहुश एव प्रपञ्चितम्। एवं *'यो वेत्ति तत्त्वत'* इति, *'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा'* इत्यस्मिंस्तथा *'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'* इत्यस्मिंश्च मद्वाक्ये एवास्तिकतया मज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वमेव यो जानाति, न तु तयोर्नित्यत्वे काञ्चिद्युक्तिमप्यपेक्षमाणो भवतीत्यर्थः; यद्वा, तत्त्वतः *'ॐ तत् सदिति निर्द्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः'*इत्यग्रिमोक्तेस्तच्छब्देन ब्रह्मोच्यते। तस्य भावस्तत्त्वं तेन ब्रह्मस्वरूपत्वेन यो वेत्तीत्यर्थः। स वर्त्तमानं देहं त्यक्त्वा पुनर्जन्म नैति, किन्तु मामेवैति। अत्र देहं त्यक्त्वेत्यस्याधिक्यादेवं व्याचक्षते स्म। स देहं त्यक्त्वा पुनर्जन्म नैति किन्तु देहमत्यक्त्वैव मामेति। "मदीयदिव्यजन्मचेष्टितयाथार्थ्यज्ञानेन विध्वस्तसमस्तमत्समाश्रयणविरोधिपाप्मा अस्मिन्नेव जन्मनि ममाश्रित्य मदेकप्रियो मामेव प्राप्नोति" इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः।।९।।

भावानुवाद—पूर्वोक्त श्लोकोंमें वर्णित लक्षणोंवाले मेरे जन्म और जन्मके पश्चात् किये गए कर्मोंका तत्त्वतः ज्ञान होनेसे ही कृतार्थ होओगे—इसके लिए 'जन्म' इत्यादि कह रहे हैं। श्रीपाद रामानुजाचार्य और श्रीपाद मधुसूदन सरस्वतीने 'दिव्य' शब्दका अर्थ किया है—अप्राकृत एवं श्रीधरस्वामीपादने किया है—अलौकिक। लोकसमूह प्रकृति द्वारा सृष्ट होते हैं अतः 'दिव्य' शब्दसे श्रीधरस्वामीपादका भी मन्तव्य 'अप्राकृत' ही है। अतः अप्राकृत और गुणातीत होनेके कारण श्रीभगवान्‌के जन्म और कर्म नित्य हैं। भगवत्सन्दर्भमें श्रीपाद जीव गोस्वामीने भी *'न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा'* (श्रीमद्भा. ८/३/८) की व्याख्यामें इस प्रसङ्गको उद्धृत किया है। अथवा, युक्तिके द्वारा सामञ्जस्य न कर पानेपर भी श्रुति-स्मृति-वाक्यके बलपर अतर्क्य रूपमें भी इसे मानना ही चाहिए। इस सन्दर्भमें पिप्लादशाखाकी पुरुषबोधिनी श्रुतिमें भी कहा गया है—*'एको देवो नित्य लीलानुरक्तो देव भक्तव्यापी भक्तहृद्यन्तरात्मा'* अर्थात् नित्यलीलानुरक्त एक देव भक्तव्यापी भक्तहृदयके अन्तरात्मामें विराजमान हैं। श्रीभगवान्‌के जन्म और कर्मके नित्यत्वके विषयमें श्रीमद्भागवतामृतमें अनेक स्थानोंपर विस्तारपूर्वक बताया गया है। एवं *'यो वेत्ति तत्त्वतः', 'अजोऽपि सन्नव्ययात्मा', 'जन्म कर्म च मे दिव्यम्'*—मेरे इन वाक्योंको जानकर आस्तिक्य बुद्धिसे जो मेरे जन्म और कर्मके नित्यत्वको जानते हैं अर्थात् इनके नित्यत्वमें

किसी प्रकारकी युक्तिकी अपेक्षा नहीं करते हैं, उन्हें संसारमें पुनर्जन्म नहीं लेना पड़ता है। अथवा जो तत्त्वतः *'ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः'* (गीता १७/२३)—इस परवर्त्ती वाक्यमें 'तत्' शब्दका तात्पर्य 'ब्रह्म' से समझते हैं, उन्हें वर्त्तमान देह परित्याग करनेके पश्चात् पुनः जन्म लेना नहीं पड़ता है, अपितु वे मुझे ही प्राप्त करते हैं। यहाँ 'देहको त्यागकर'—इस वाक्यकी व्याख्या आधिक्यभावसे की गई है। वैसा व्यक्ति देह त्यागकर पुनर्जन्म नहीं ग्रहण करता है, किन्तु देहत्याग न कर ही मुझे प्राप्त होता है। श्रीपाद रामानुजाचार्य लिखते है—"मेरे दिव्य जन्म-कर्मके यथार्थ ज्ञानसे मुझे प्राप्त करनेके विरोधी समस्त पाप विध्वस्त हो जाते हैं और एकमात्र मेरे प्रिय भक्त इस जन्ममें ही मेरे आश्रित होकर मुझे प्राप्त होते हैं।।"९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जो लोग गुरु और वैष्णवोंकी कृपासे यह उपलब्ध करते हैं कि भगवान् अपनी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा अप्राकृत जन्म और कर्म अङ्गीकार करते हैं, वे जीवित दशामें ही भगवान्‌की ह्लादिनी शक्तिकी कृपासे भगवानकी नित्यसेवा प्राप्त कर लेते हैं। किन्तु, इसके विपरीत जो लोग वैसे दिव्य जन्म और कर्मको प्राकृत समझते हैं, वे अविद्याके वशीभूत होकर संसार-चक्रमें भ्रमण करते हुए त्रितापोंके द्वारा दग्ध होते रहते हैं।

ब्रह्माजीने भी कहा है—*'तत्कर्म दिव्यमिव'*। (श्रीमद्भा. २/७/२९) श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने इसकी टीकामें इसे और भी स्पष्ट किया है—वस्तुतः श्रीकृष्णके समस्त कार्य ही अप्राकृत हैं। और भी—

'न विद्यते यस्य च जन्म कर्म वा, न नाम रूपे गुणदोष एव वा।
तथापि लोकाप्ययसम्भवाय यः स्वमायया तान्यनुकालमृच्छति।।'
(श्रीमद्भा. ८/३/८)

अर्थात्, जिनके जन्म-कर्म-नाम-रूप-गुण-दोष आदि नहीं हैं, तथापि जो लोकसमूहकी उत्पत्ति और विनाशके लिए अपनी माया द्वारा निरन्तर इनको अङ्गीकार करते हैं। इस श्लोक (श्रीमद्भागवत ८/३/८) की श्रील जीव गोस्वामी कृत भगवत्सन्दर्भ और तदीय क्रमसन्दर्भकी टीका द्रष्टव्य है।

श्रुतियोंमें जो भगवान्‌को निष्फल, निष्क्रिय, निरञ्जन, निराकार, अशब्दम्, अव्ययादि कहा गया है, वह केवल प्राकृत गुणोंसे अतीत होनेके कारण ही कहा गया है। इसीलिए विशेष-विशेष श्रुतियों (छा. उ. ३/१४/४) में उन्हें सर्वकर्मा, सर्वकामः, सर्वगन्धः, सर्वरसः आदि कहा गया है। श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

'योऽनुग्रहार्थं भजतां पादमूलमनामरूपो भगवाननन्तः।
नामानि रूपाणि च जन्मकर्मभिर्भेजे स मह्यं परमः प्रसीदतु।।'

(श्रीमद्भा. ६/४/३३)

जो प्राकृत नाम-रूपादि से रहित होकर भी अपने चरणकमलोंकी उपासना करनेवालोंके प्रति अनुग्रह करनेके लिए अवतारसमूह द्वारा विशुद्धसत्त्व अनेक रूप एवं कर्मों द्वारा अनेक नाम ग्रहण करते हैं, जिनका ऐश्वर्य अचिन्त्य है, वे अनन्त परमेश्वर मेरे प्रति प्रसन्न होवें।

भक्तगण जीवित दशामें ही भगवान्को प्राप्त करते हैं—*'यान्ति मामेव निर्गुणाः'* (श्रीमद्भा. ११/२५/२२) अर्थात् निर्गुण व्यक्तिगण मुझे प्राप्त करते हैं।

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने इसकी टीकामें लिखा है—'लय' शब्द नहीं रहनेके कारण यह स्पष्ट होता है कि जीवित रहते हुए भी मेरे भक्तगण निर्गुण होनेपर मुझे प्राप्त होते हैं।।९।।

वीतरागभयक्रोधा मन्मया मामुपाश्रिताः।
बहवो ज्ञानतपसा पूता मद्भावमागताः।।१०।।

अन्वय—वीतरागभयक्रोधाः (राग, भय और क्रोधशून्य) मन्मया (मेरे एकचित्त) माम् उपाश्रिताः (मेरे शरणागत) [सन्तः—होकर] ज्ञानतपसा (ज्ञानरूपी तपस्या द्वारा) पूताः (पवित्र) [सन्तः—होकर] बहवः (अनेक भक्त) मद्भावम् (मेरी प्रेमाभक्ति) आगताः (प्राप्त किए हैं)।।१०।।

अनुवाद—राग, भय और क्रोधशून्य होकर, मुझमें एकाग्रचित्त होकर और मेरे शरणागत होकर ज्ञानरूपी तपस्यासे पवित्र अनेक भक्त मेरी प्रेमाभक्ति प्राप्त कर चुके हैं।।१०।।

श्रीविश्वनाथ—न केवलमेक एवाधुनिक एव, मज्जन्मकर्मतत्त्वज्ञानमात्रेणैव मां प्राप्नोत्यपि तु प्राक्तना अपि पूर्वपूर्वकल्पावतीर्णस्य मम जन्मकर्मतत्त्वज्ञानवन्तो मामापुरेवेत्याह—वीतेति। "ज्ञानमुक्तलक्षणं मज्जन्मकर्मणोस्तत्त्वतोऽनुभवरूपमेव तपस्तेन पूताः" इति श्रीरामानुजाचार्यचरणाः। यद्वा, ज्ञाने मज्जन्मकर्मणो-र्नित्यत्वनिश्चयानुभवे यन्नानाकुमतकुतर्ककुयुक्तिसर्पी-विषदाहसहनरूपं तपस्तेन पूताः। तथा च श्रीरामानुजभाष्यधृता श्रुतिः—*"तस्य धीराः परिजानन्ति योनिम्"* इति। धीरा धीमन्त एव तस्य योनिं जन्मप्रकारं जानन्तीत्यर्थः। वीतास्त्यक्ताः कुमतप्रजल्पितेषु जनेषु रागाद्या यैस्तेन तेषु रागः प्रीतिर्नापि तेभ्यो भयं नापि तेषु क्रोधा मद्भक्तानामित्यर्थः। कुतो मन्मया मज्जन्मकर्मानुध्यानमनन-श्रवणकीर्त्तनादिप्रचुराः। मद्भावं मयि प्रेमाणम्।।१०।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् बोले—"अर्जुन! ऐसा नहीं है कि केवल आधुनिक अर्थात् मेरे इस अवतारके ही समकालीन व्यक्तिगण मेरे जन्म-कर्म-तत्त्वके ज्ञानसे मुझे प्राप्त किए हैं, बल्कि पूर्वकालीन व्यक्तिगण भी पूर्व-पूर्व कल्पोंमें अवतीर्ण मेरे जन्म-कर्मके तत्त्वको जानकर मुझे प्राप्त हुए हैं।" इसके लिए ही 'वीतराग' इत्यादि कहा जा रहा है। ज्ञानतपसा—ज्ञान अर्थात् पूर्वकथित मेरे जन्म-कर्मके तात्त्विक अनुभवरूप तपसे पवित्र होकर मुझे प्राप्त करते हैं—ऐसा श्रीरामानुजाचार्यजीका मत है। अथवा, मेरे जन्म-कर्मके नित्यत्वको निश्चयसहित अनुभव करनेमें जो विविध कुमत-कुतर्क-कुयुक्तिरूप सर्पोंके विषदाहको सहनरूप तप है, उसके द्वारा पवित्र होकर। श्रीरामाजानुचार्यजी अपने भाष्यमें इस श्रुतिको उद्धृत करते हुए कहते हैं—धीर या धीमान् व्यक्ति ही श्रीभगवान्‌की योनि अर्थात् जन्म-प्रकारको भलीभाँति जानते हैं। 'वीतराग' अर्थात् जिन्होंने कुमत प्रजल्पकारी व्यक्तियोंके प्रति रागका त्याग कर दिया है। इन सबसे मेरे भक्तोंको क्रोध भी नहीं होता है और भय भी नहीं होता है। यदि कहो क्यों, तो उत्तर है—वे प्रचुर रूपसे मेरे जन्म-कर्मके ध्यान-मनन-श्रवण-कीर्त्तनादिमें निमग्न रहते हैं। 'मद्भाव' का तात्पर्य है—मेरे प्रति प्रेम।।"१०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"मूर्ख व्यक्ति मेरे जन्म, कर्म और शरीरके चिन्मयत्व तथा विशुद्धत्वके विचारके सम्बन्धमें तीन प्रवृत्तियोंसे परिचालित होते हैं, यथा—दूसरी वस्तुमें राग, भय और क्रोध। जिनकी बुद्धि अत्यन्त जड़-बद्ध है, वे जड़-तत्त्वमें इतने दूर तक अनुरागका प्रकाश करते हैं कि चित्-तत्त्वके नामसे कोई नित्य वस्तु है—इसे स्वीकार ही नहीं करते हैं। ऐसे व्यक्ति स्वभावको ही परमतत्त्व कहते हैं। इनमें से कोई कोई जड़को ही नित्य कारण बताकर इसे चित्-तत्त्वके जनकके रूपमें निर्दिष्ट करते हैं। ये समस्त जड़वादी, स्वभाववादी या चैतन्यहीन विधिवादिगण अन्य (वस्तुमें) रागसे परिचालित होकर परमतत्त्वरूप चित्-रागसे शनैः शनैः वञ्चित हो जाते हैं। कोई कोई विचारक चित्-तत्त्वको एक नित्य पदार्थके रूपमें स्वीकार तो करते हैं, किन्तु सहज ज्ञानका परित्यागकर सर्वदा युक्तिका आश्रय ग्रहण करते हैं। वे जड़के जितने भी प्रकारके गुण और कमोंको देखते हैं, असत् कहते हुए उन सबका सतर्कतापूर्वक परित्यागकर अस्फुट, जड़-विपरीतके नामसे एक अनिर्देश्य ब्रह्मकी कल्पना

करते हैं। वह और कुछ नहीं, अपितु मेरी मायाका व्यतिरेक प्रकाशमात्र है। वह मेरा नित्य स्वरूप नहीं है। बादमें वे इस भयसे मेरे स्वरूप-ध्यान और स्वरूप-लिङ्गपूजाको छोड़ देते हैं कि कहीं इस ध्यान और चिन्तासे किसी प्रकारके जड़-धर्मका आश्रय न हो जाय। इस भयके कारण वे परमतत्त्वके स्वरूपसे वञ्चित हो जाते हैं। और कोई कोई जड़से अतीत किसी वस्तुको स्थिर (निर्दिष्ट) न कर पानेके कारण क्रोधाविष्ट चित्तसे शून्य और निर्वाणको ही परमतत्त्वके रूपमें स्थिर करते हैं। बौद्ध-जैनादि मत इससे ही उत्पन्न हुए हैं। इस प्रकार राग, भय और क्रोधसे रहित होकर मुझे ही सर्वत्र दर्शन करते हुए और भलीभाँति मेरे शरणागत होकर पूर्वोक्त ज्ञान अङ्गीकारकर एवं पूर्वोक्त कुयुक्ति विषदाह सहनरूप तापसे पवित्र होकर बहुत लोगोंने मेरे पवित्र प्रेमको प्राप्त किया है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१०।।

ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्।
मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः।।११।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) ये (जो) यथा (जिस प्रकार) माम् (मुझे) प्रपद्यन्ते (भजते हैं) अहम् (मैं) तान् (उनको) तथा एव (उसी प्रकार) भजामि (भजता हूँ) [क्योंकि] मनुष्याः (सभी मनुष्य) सर्वशः (सब प्रकारसे) मम वर्त्म (मेरे पथका) अनुवर्त्तन्ते (अनुसरण करते हैं)।।११।।

अनुवाद—हे पार्थ! जो मनुष्य जिस प्रकार मुझे भजते हैं, मैं भी उनको उसी प्रकार भजता हूँ, क्योंकि सभी मनुष्य सब प्रकारसे मेरे ही पथका अनुसरण करते हैं।।११।।

श्रीविश्वनाथ—ननु त्वदेकान्तभक्ताः किल त्वज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं मन्यन्त एव, केचित्तु ज्ञानादिसिद्ध्यर्थं त्वां प्रपन्नाः ज्ञानिप्रभृतयस्त्वज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं नापि मन्यन्त इति तत्राह—य इति। यथा येन प्रकारेण मां प्रपद्यन्ते भजन्ते अहमपि तांस्तेनैव प्रकारेण भजामि, भजनफलं ददामि। अयमर्थः—ये मत्प्रभोर्जन्मकर्मणी नित्ये एवेति मनसि कुर्वाणास्तत्तल्लीलायामेव कृतमनोरथविशेषा मां भजन्तः सुखयन्त्यहमपीश्वरत्वात् कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथाकर्त्तुमपि समर्थस्तेषामपि जन्मकमणोर्नित्यत्वं कर्त्तुं तान् स्वपार्षदीकृत्य तैः सार्द्धमेव यथासमय-मवतरन्नन्तर्दधानश्च तान् प्रतिक्षणमनुगृह्णन्नेव तद्भजनफलं प्रेमाणमेव ददामि। ये ज्ञानप्रभृतयो मज्जन्मकर्मणोर्नश्वरत्वं मद्विग्रहस्य मायामयत्वञ्च मन्यमानाः मां प्रपद्यन्ते अहमपि तान् पुनः पुनर्नश्वरजन्मकर्मवतो मायापाशपतितानेव

कुर्वाणस्तत्प्रतिफलं जन्ममृत्युदुःखमेव ददामि। ये तु मज्जन्मकर्मणोर्नित्यत्वं मद्विग्रहस्य च सच्चिदानन्दत्वं मन्यमाना ज्ञानिनः स्वज्ञानसिद्ध्यर्थं मां प्रपद्यन्ते, तेषां स्वदेहद्वयभङ्गमेवेच्छतां मुमुक्षुणामनश्वरं ब्रह्मानन्दमेव सम्पादयन् भजनफलमाविद्यकजन्ममृत्युध्वंसमेव ददामि। तस्मान्न केवलं मद्भक्ता एव मां प्रपद्यन्ते, अपि तु सर्वशः सर्वेऽपि मनुष्याः ज्ञानिनः कर्मिणो योगिनश्च देवतान्तरोपासकाश्च मम वर्त्मानुवर्त्तन्ते—मम सर्वस्वरूपत्वात् ज्ञानकर्मादिकं सर्वं मामेकमेव वर्त्मेति भावः।।११।।

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि आपके एकान्त भक्तगण ही आपके जन्म-कर्मको नित्य समझते हैं। किन्तु, ज्ञानी आदि कोई कोई ज्ञान आदिकी सिद्धिके लिए आपका आश्रय ग्रहण करते हैं, वे आपके जन्म-कर्मकी नित्यताको नहीं स्वीकार करते हैं। उनका क्या होता है, तो इसके प्रत्युत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—'ये यथा' इत्यादि अर्थात् जिस प्रकार मेरा आश्रय लेता है या भजन करता है, मैं भी उस प्रकार ही उनलोगोंका भजन करता हूँ अर्थात् भजनफल प्रदान करता हूँ। मैं प्रभु हूँ और मेरा जन्म-कर्म नित्य ही है—जो व्यक्ति मेरे बारेमें ऐसा सोचकर उन लीलाओंमें विशेष मनोरथके साथ मेरा भजन (सेवा) करके सुख प्रदान करते हैं, मैं भी करने, न करने तथा अन्यथा करनेमें समर्थ ईश्वर होनेके कारण उनके भी जन्म-कर्मको नित्य बनाते हुए उन्हें अपना पार्षद बना लेता हूँ और यथासमय उनके साथ अवतीर्ण होकर एवं अन्तर्धान होकर अनुक्षण उनके प्रति अनुग्रह करते हुए प्रेमके रूपमें उनके भजन (सेवा) का फल प्रदान करता हूँ। ज्ञानी आदि व्यक्ति जो मेरे जन्म-कर्मको नश्वर और मेरे श्रीविग्रहको मायामय मानकर मेरा आश्रय लेते हैं, मैं भी उन्हें पुनः पुनः नश्वर, जन्म-कर्मशील मायाके जालमें पतितकर जन्म-मृत्युरूप दुःख प्रदान करता हूँ। किन्तु, जो ज्ञानी मेरे जन्म-कर्मको नित्य और मेरे विग्रहको सच्चिदानन्द जानकर अपने ज्ञानकी सिद्धिके लिए मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, स्थूल और लिङ्ग शरीरोंका त्याग चाहनेवाले उन मुमुक्षुओंको ब्रह्मानन्द प्रदानकर अविद्यासे उत्पन्न जन्म-मृत्युका नाश भजनफलके रूपमें देता हूँ। अतएव ऐसा नहीं है कि केवल मेरे भक्तगण ही मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, अपितु ज्ञानी, कर्मी, योगी, त्यागी, देवतोपासक—सभी श्रेणीके लोग मेरे पथका अनुसरण करते हैं। मैं सर्वस्वरूप हूँ, अतः ज्ञान-कर्मादि सभी मेरे ही पथ हैं।।११।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

'तांस्तान् कामान् हरिर्दद्याद् यान् यान् कामयते जनः।
आराधितो यथैवैष तथा पुंसां फलोदयः।।'

(श्रीमद्भा. ४/१३/३४)

इस श्लोकके द्वारा यह विदित होता है कि लोग जिस कामनाके उद्देश्यसे भगवान् श्रीहरिका आश्रय ग्रहण करते हैं अर्थात् उपासना करते हैं, भगवान् भी उनकी कामनाके अनुरूप ही फल प्रदान करते हैं। शुद्ध भक्तगण भगवान्के सच्चिदानन्द विग्रहकी नित्य-सेवा प्राप्तिके लिए भगवत्-आराधना करते हैं, भगवान् ऐसे प्रेमी भक्तोंको अपना नित्य परिकर बनाकर उनको अभिलषित प्रेममयी सेवा प्रदान करते हैं। निर्विशेषवादी ज्ञानियोंको भगवान् उनकी कामनाके अनुसार अपने निर्विशेष आविर्भावविशेष निर्विशेष ब्रह्ममें निर्वाणरूपा मुक्ति प्रदान करते हैं। सकाम कर्मियोंके निकट भगवान् कर्मफल प्रदाता ईश्वरके रूपमें प्राप्त होते हैं। योगियोंको वे ईश्वरके रूपमें विभूति अथवा कैवल्य प्रदान करते हैं। किन्तु, सभी प्रकारकी प्राप्तियोंमें गोलोक-व्रजमें व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी सेवा-प्राप्ति ही सर्वश्रेष्ठ है।

श्रीगीताके इस श्लोकके द्वारा यह ठीक प्रकारसे समझना चाहिए कि जो जिस जिस प्रकारसे भजन करते हैं, उन्हें अपनी अपनी कामनाके अनुरूप ही फल प्राप्त होता है, सबका फल एक समान कदापि नहीं होता। *'मनुष्याः पार्थ सर्वशः'*—इसका अर्थ कुछ लोग इस प्रकार करते हैं कि जो जैसा भी करें, वे सभी भगवान्के ही भजनपथमें हैं और एक ही फल प्राप्त करेंगे, यह सर्वथा भ्रान्त धारणा है। कुकर्मियोंकी, ज्ञानियोंकी, भक्तोंकी और प्रेमी भक्तोंकी अन्तमें एक ही गति होगी—इस विचारका गीता, भागवतादि शास्त्रोंमें खण्डन किया गया है, क्योंकि गीतामें आगे कहा गया है—

'यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।'

(गीता ९/२५)

"जो व्यक्ति जिस भावसे मेरे प्रति प्रपत्ति स्वीकार करते हैं, मैं उनका उसी भावसे भजन करता हूँ। सभी मतोंका चरम उद्देश्यस्वरूप मैं, सबको ही प्राप्य हूँ। जो शुद्धभक्त हैं, वे परमधाममें मेरे सच्चिदानन्द विग्रहकी नित्यकाल सेवाकर परमानन्द लाभ करते हैं। जो निर्विशेषवादी हैं, मैं उनको

(उनके) आत्मविनाश द्वारा निर्विशेष ब्रह्मस्वरूप निर्वाण-मुक्ति प्रदान करता हूँ। मेरे सच्चिदानन्द विग्रहके नित्यत्वको नहीं स्वीकार करनेके कारण उनके चिदानन्द स्वरूपका लोप हो जाता है। उनमें से निष्ठाभेदके अनुसार किसी किसीको नश्वर जन्म भी प्रदान करता हूँ। जो शून्यवादी हैं, मैं शून्यस्वरूप होकर उनकी सत्ताको शून्यगत कर देता हूँ। जो जड़, जड़कर्म अथवा जड़विधिवादी हैं, उनके आत्माको आच्छादित चेतनरूपमें जड़प्राय बनाकर जड़रूपमें ही उनको प्राप्य होता हूँ। जो योगी हैं, उनके निकट मैं ईश्वरके रूपमें विभूति प्रदान करता हूँ अथवा कैवल्य दान करता हूँ। इस प्रकार सर्वस्वरूप होकर मैं सभी मतवादियोंके लिए प्राप्य होता हूँ। परन्तु, इन सबमें मेरी सेवा-प्राप्तिको ही प्रधान समझना चाहिए। मनुष्यमात्र ही मेरे विविध पथका अनुसरण करते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।११।।

काङ्क्षन्तः कर्मणां सिद्धिं यजन्त इह देवताः।
क्षिप्रं हि मानुषे लोके सिद्धिर्भवति कर्मजा।।१२।।

अन्वय—कर्मणाम् (कर्मोंके) सिद्धिम् (फलकी) काङ्क्षन्तः (अभिलाषा करनेवाले) इह (इस) मानुषे लोके (मनुष्य लोकमें) देवताः (देवताओंकी) यजन्ते (पूजा करते हैं) हि (क्योंकि) कर्मजा (कर्मोंसे उत्पन्न होनेवाला) सिद्धिः (फल) क्षिप्रम् (शीघ्र) भवति (प्राप्त होता है)।।१२।।

अनुवाद—कर्मोंके फलकी अभिलाषा करनेवाले इस लोकमें देवताओंकी पूजा किया करते हैं, क्योंकि कर्मोंसे उत्पन्न फल शीघ्र प्राप्त होता है।।१२।।

श्रीविश्वनाथ—तत्रापि मनुष्येषु मध्ये कामिनस्तु मम साक्षाद्भूतमपि भक्तिमार्गं परिहाय शीघ्रफलसाधकं कर्मवर्त्म एवानुवर्त्तन्त इत्याह—काङ्क्षन्त इति। कर्मजा सिद्धिः स्वर्गादिमयी।।१२।।

भावानुवाद—उन समस्त व्यक्तियोंमें भी कुछ कामी व्यक्तिगण मेरी साक्षात् भक्तिका परित्यागकर शीघ्र फल देनेवाले कर्मपथका अनुसरण करते हैं। इसके लिए श्रीभगवान् 'काङ्क्षन्तः' इत्यादि कह रहे हैं। 'कर्मजा' का तात्पर्य है—कर्मसे उत्पन्न होनेवाले स्वर्गादिकी सिद्धि। उन सकामी पुरुषोंको यही प्राप्त होता है।।१२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—कर्म तीन प्रकारका है—नित्य, नैमित्तिक और काम्य। वेदविहित सन्ध्या आदि कर्म नित्य कर्म हैं। पितृश्राद्ध आदिको नैमित्तिक कर्म कहते हैं तथा फलकी कामनासे किए गए कर्मोंको काम्य

कर्म कहते हैं। इनमेंसे काम्य कर्म भी अकर्म तथा विकर्मसे श्रेष्ठ है। फलकामी व्यक्ति भगवान् वासुदेवकी उपासना छोड़कर अन्य देवताओंकी उपासना करते हैं—*'कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः प्रपद्यन्तेऽन्य देवताः'* (गीता ७/२०) एवं भगवानके विधानके अनुरूप उन उन देवताओंके द्वारा अपने वांछित कामनाओंको प्राप्त करते हैं—*'लभते च ततः कामान्'* (गीता ७/२२)।

किन्तु, जो लोग कर्म एवं कर्मफलकी हेयताको उपलब्धकर शुद्ध भगवद्भक्तोंके सत्सङ्गके प्रभावसे निर्गुणा भक्तिका अवलम्बन करते हैं, वे शीघ्र ही भगवत्-सेवा प्राप्तकर कृतार्थ हो जाते हैं, क्योंकि शास्त्रोंके अनुसार एकमात्र भक्तिके द्वारा ही भगवान प्राप्त होते हैं—*'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः'* (श्रीमद्भा. ११/१४/२१) तथा *'न साधयति मां योगो'* (श्रीमद्भा. ११/१४/२०) अर्थात्, योग तपस्यादिके द्वारा भगवान्‌की प्राप्ति नहीं होती है।।१२।।

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।
तस्य कर्त्तारमपि मां विद्ध्यकर्त्तारमव्ययम्।।१३।।

अन्वय—गुणकर्मविभागशः (गुण और कर्मके विभागानुसार) चातुर्वर्ण्यम् (ब्राह्मणादि चार प्रकारके वर्ण) मया (मेरे द्वारा) सृष्टम् (सृष्ट हुए हैं) तस्य (उसका) कर्त्तारम् अपि (कर्त्ता होनेपर भी) अव्ययम् माम् (मुझ अविनाशीको) अकर्त्तारम् (अकर्त्ता ही) विद्धि (जानो)।।१३।।

अनुवाद—गुण और कर्मके विभागानुसार ब्राह्मणादि चार प्रकारके वर्णसमूह मेरे द्वारा सृष्ट हुए हैं। उनका कर्त्ता होनेपर भी तुम मुझ अविनाशीको अकर्त्ता ही जानो।।१३।।

श्रीविश्वनाथ—ननु भक्तिज्ञानमार्गौ मोचकौ कर्ममार्गस्तु बन्धक इति सर्वमार्गस्रष्टरि त्वयि परमेश्वरे वैषम्यं प्रसक्तम्, तत्र नहि नहीत्याह—चातुर्वर्ण्यमिति। चत्वारो वर्णा एव चातुर्वर्ण्यम्—स्वार्थे ष्यञ्। अत्र सत्त्वप्रधानाः ब्राह्मणास्तेषां शमदमादीनि कर्माणि; रजःसत्त्वप्रधानाः क्षत्रियास्तेषां शौर्ययुद्धादीनि कर्माणि, तमोरजःप्रधाना वैश्यास्तेषां कृषिगोरक्षादीनि कर्माणि, तमःप्रधानाः शूद्रास्तेषां परिचर्यात्मकं कर्मेत्येवं गुणकर्मविभागशो गुणानां कर्मणाञ्च विभागैश्चत्वारो वर्णा मया कर्ममार्गाश्रितत्वेन सृष्टाः। किन्तु तेषां कर्त्तारं स्रष्टारमपि मामकर्त्तारमस्रष्टारमेव विद्धि, तेषां प्रकृतिगुणसृष्टत्वात् प्रकृतेश्च मच्छक्तित्वात्, स्रष्टारमपि मां वस्तुतस्त्वस्रष्टारं, मम प्रकृतिगुणातीतस्वरूपत्वादिति भावः। अतएवाव्ययम्—स्रष्टृत्वेऽपि न मे साम्यं किञ्चिद्व्येतीत्यर्थः।।१३।।

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि अच्छा, भक्ति और ज्ञानमार्ग मुक्तिरूप फलको देनेवाले हैं, किन्तु कर्ममार्ग बन्धनकारी है—सभी मार्गोंके स्रष्टा परमेश्वर आपमें यह विषमता किस प्रकार हुई, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—नहीं, नहीं, ऐसा नहीं है। चार वर्ण ही चातुवर्ण्य हैं, स्वार्थमें ष्यञ् प्रत्ययसे यह शब्द निष्पन्न हुआ है। इनमें सत्त्व प्रधान ब्राह्मणगण, उनके, शम-दमादि कर्म; रजः सत्त्व प्रधान क्षत्रियगण, उनके शौर्य-युद्धादि कर्म; तमः रजः प्रधान वैश्यगण, कृषि गोरक्षादि उनके कर्म; तमः प्रधान शूद्रगण और उनके परिचर्यादि कर्म—इस प्रकार गुण और कर्मसमूहके विभाग द्वारा कर्ममार्गके आश्रित होकर चार प्रकारके वर्ण मेरे द्वारा सृष्ट हुए हैं। किन्तु, उनके कर्त्ता और स्रष्टा होनेपर भी मुझे अकर्त्ता और अस्रष्टा ही जानो। यह प्रकृति मेरी शक्ति है, परन्तु क्योंकि मैं प्रकृतिके गुणोंसे अतीत हूँ, अतः वस्तुतः मैं स्रष्टा होकर भी अस्रष्टा ही हूँ। अतएव मैं अव्यय हूँ, स्रष्टा होनेपर भी मेरा कुछ भी व्यय नहीं होता है।।१३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीभगवान् ही विश्वके स्रष्टा एवं कर्त्ता हैं। इस सिद्धान्तके अनुसार वर्ण और वर्णधर्मके स्रष्टा तथा कर्त्ता वे ही हैं। जीव नित्य कृष्णदास है। भगवान्‌ने उसे स्वतन्त्रतारूपी अमूल्य सम्पत्ति दी है, किन्तु इस स्वतन्त्रताका अपव्यवहारकर ज्योंही जीव कृष्णसेवाका परित्याग करता है, त्योंही भगवन्माया उसके स्वरूपको स्थूल और लिङ्ग शरीरसे आच्छादितकर संसार चक्रमें फेंक देती है। श्रीभगवान् अहैतुक कृपालु होनेके कारण ऐसे जीवोंके उद्धारके लिए माया-शक्ति द्वारा कर्ममार्गकी सृष्टि करते हैं। तथापि वे अव्यय और अकर्त्ताके रूपमें चित्-शक्तिके साथ नित्य विलास-परायण होते हैं।

चारों वर्ण और उनके वर्णविभागके सम्बन्धमें गीतामें (१८/४१-४४) एवं श्रीमद्भागवतमें (७/११/२१-२४) तथा (११/१७/१६-१९) श्लोक द्रष्टव्य हैं।।१३।।

न मां कर्माणि लिम्पन्ति न मे कर्मफले स्पृहा।
इति मां योऽभिजानाति कर्मभिर्न स बध्यते।।१४।।

अन्वय—कर्माणि (समस्त कर्म) माम् (मुझे) न लिम्पन्ति (लिप्त नहीं करते) [हि—क्योंकि] कर्मफले (कर्मफलमें) मे (मेरी) न स्पृहा (स्पृहा नहीं है) इति (इस प्रकार) यः (जो) माम् (मुझे) अभिजानाति (तत्त्वतः जान लेते हैं) सः (वे) कर्मभिः (कर्मोंसे) न बध्यते (नहीं आबद्ध होते हैं)।।१४।।

अनुवाद—मैं कर्मोंमें लिप्त नहीं होता हूँ, क्योंकि कर्मफलमें मेरी स्पृहा नहीं है। इस प्रकार जो मुझे तत्त्वतः जान लेते हैं, वे कभी कर्मोंसे आबद्ध नहीं होते हैं।।१४।।

श्रीविश्वनाथ—नन्वेतत्तावदास्ताम्, सम्प्रति त्वं क्षत्रियुकलेऽवतीर्णः क्षत्रियजात्युचितानि कर्माणि प्रत्यहं करोष्येव, तत्र का वार्त्तेत्यत आह—न मामिति। न लिम्पन्ति जीवमिव न लिप्तीकुर्वन्ति, नापि जीवस्येव कर्मफले स्वर्गादौ स्पृहा, परमेश्वरत्वेन स्वानन्दपूर्णत्वेऽपि लोकप्रवर्त्तनार्थमेव मे कर्मादिकरणमिति भावः। इति—मामिति, यस्तु न जानाति स कर्मभिर्बध्यते इति भावः।।१४।।

भावानुवाद—यदि कहो कि ये सब तो ठीक हैं, किन्तु अभी तो आप क्षत्रियकुलमें अवतीर्ण हुए हैं और प्रतिदिन क्षत्रियोचित कर्म भी करते हैं, तब मैं आपको किस प्रकार अकर्त्ता मान लूँ, तो इसके उत्तरमें श्रीकृष्ण कहते हैं—'न माम्' इत्यादि अर्थात् ये कर्म मुझे जीवके समान लिप्त नहीं करते और जिस प्रकार जीवकी कर्मफलमें स्वर्गादिकी स्पृहा रहती है, मुझे वैसी स्पृहा भी नहीं है। परमेश्वर होनेके कारण मैं स्वानन्दपूर्ण हूँ, तथापि लोक प्रवर्त्तनके लिए ही मैं कर्मादि करता हूँ। जो मुझे इस प्रकारसे नहीं जानते हैं, वे कर्मोंसे बँध जाते हैं।।१४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान् सच्चिदानन्द पूर्ण तत्त्व हैं, जीव अणुचित् तत्त्व है। भगवान् षडैश्वर्यपूर्ण हैं और सेवा-विमुख जीव ऐश्वर्यशून्य है। भगवान् मायाधीश हैं और जीव मायाके वशीभूत होनेयोग्य है। दोनोंमें भेद है। जीव किसी भी अवस्थामें ब्रह्म या भगवान् नहीं हो सकता, किन्तु जब वह भगवान्को सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र, अव्यय और निस्पृह जानकर भगवत्-भक्तिका अनुशीलन करता है, तब वह कर्मबन्धनसे छुटकारा पाकर भगवान्की सेवाको प्राप्त करता है, जो उसका नित्य-स्वरूपगत धर्म है।

"जीवके अदृष्टवशतः मैंने जो कर्मतत्त्व सृष्ट किया है, वह मुझे नहीं लिप्त कर सकता है। कर्मफलमें भी मेरी स्पृहा नहीं है, क्योंकि मैं षडैश्वर्यपूर्ण भगवान् हूँ, अतः ये अतितुच्छ कर्मफल मेरे लिए नितान्त अकिञ्चित्कर हैं। जीवके कर्ममार्ग और मेरी स्वतन्त्रताका विचार करते हुए, जो मेरे अव्यय तत्त्वसे अवगत हो सकते हैं, वे कभी भी कर्मसे बद्ध नहीं होते हैं। वे शुद्ध भक्तिका आचरणकर मुझे ही प्राप्त करते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१४।।

एवं ज्ञात्वा कृतं कर्म पूर्वैरपि मुमुक्षुभिः।
कुरु कर्मैव तस्मात् त्वं पूर्वैः पूर्वतरं कृतम्।।१५।।

अन्वय—पूर्वैः (पूर्वकालीन) मुमुक्षुभिः अपि (मुमुक्षुगण भी) एवं ज्ञात्वा (ऐसा ही जानकर) कर्म कृतम् (लोक-प्रवर्त्तनके लिए कर्म किए गए हैं) तस्मात् (अतः) त्वम् (तुम) [अपि—भी] पूर्वैः (प्राचीन पुरुषोंके द्वारा) पूर्वतरम् कृतम् (पुरातनकालमें अनुष्ठित) कर्म एव (कर्म ही) कुरु (करो)।।१५।।

अनुवाद—पूर्वकालीन मुमुक्षुगणने भी ऐसा ही जानकर लोक-प्रवर्त्तनके लिए कर्म किया है। अतः तुम भी प्राचीन पुरुषोंके द्वारा पुरातनकालमें अनुष्ठित कर्मोंको ही करो।।१५।।

श्रीविश्वनाथ—एवम् एवम्भूतमेव मां ज्ञात्वा पूर्वैर्जनकादिभिरपि लोकप्रवर्त्तनार्थमेव कर्म कृतम्।।१५।।

भावानुवाद—इस प्रकार मुझे जानकर पूर्वकालमें जनकादिने भी लोक प्रवर्त्तनके लिए ही कर्म किया है।।१५।।

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।
तत्ते कर्म प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१६।।

अन्वय—किम् कर्म (कर्म क्या है) किम् अकर्म (अकर्म क्या है) इति अत्र (इस विषयमें) कवयः अपि (विवेकी पुरुष भी) मोहिताः (मोहित होते हैं) ते (तुम्हें) तत् कर्म (वह कर्म-तत्त्व) प्रवक्ष्यामि (कहूँगा) यत् (जिसे) ज्ञात्वा (जानकर) अशुभात् (कर्म-बन्धनसे) मोक्ष्यसे (मुक्त हो जाओगे)।।१६।।

अनुवाद—कर्म क्या है और अकर्म क्या है—विवेकी पुरुष भी इस विषयमें मोहित हो जाते हैं। अतः मैं तुम्हें वह कर्म-तत्त्व कहूँगा, जिसे जानकर तुम इस अमङ्गलपूर्ण संसारसे मुक्त हो जाओगे।।१६।।

श्रीविश्वनाथ—किञ्च, कर्मापि न गतानुगतिकन्यायेनैव केवलं विवेकिना कर्त्तव्यम्, किन्तु तस्य प्रकारविशेषं ज्ञात्वैवेत्यतस्तस्य प्रथमं दुर्ज्ञेयत्वमाह।।१६।।

भावानुवाद—विवेकिगणको भी (पूर्वाचार्योंके) अनुकरण-मात्रसे कर्म नहीं करना चाहिए, बल्कि उसके प्रकार-विशेषको जानकर ही कर्म करना चाहिए। इसलिए सर्वप्रथम उस तत्त्वके दुर्ज्ञेयत्वके बारेमें बताया जा रहा है।।१६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरकी टीकामें उद्धृत 'गतानुगतिक न्याय' का तात्पर्य है—विषयको यथार्थ रूपमें समझनेकी चेष्टा किए बिना दूसरोंकी देखा-देखी कार्य करना।।१६।।

कर्मणो ह्यपि बोद्धव्यं बोद्धव्यञ्च विकर्मणः।
अकर्मणश्च बोद्धव्यं गहना कर्मणो गतिः।।१७।।

अन्वय—कर्मणः अपि (कर्म भी) बोद्धव्यम् (जानना चाहिए) विकर्मणः च (और विकर्म भी) बोद्धव्यम् (जानना चाहिए) अकर्मणः च (तथा अकर्म भी) बोद्धव्यम् (जानना चाहिए) हि (क्योंकि) कर्मणः (कर्मका) गतिः (तत्त्व) गहना (अतिशय दुर्गम है)।।१७।।

अनुवाद—कर्म, विकर्म और अकर्मको जानना चाहिए, क्योंकि कर्मका तत्त्व अतिशय दुर्गम है।।१७।।

श्रीविश्वनाथ—निषिद्धाचरणं दुर्गतिप्रापकमिति तत्त्वम्, तथा अकर्मणः कर्माकरणस्यापि संन्यासिनः कीदृशं कर्माकरणं शुभदमिति अन्यथा निःश्रेयसं कथं हस्तगतं स्यादिति भावः। कर्मण इत्युपलक्षणं कर्माकर्मविकर्मणां, गतिस्तत्त्वम्, गहना दुर्गमा।।१७।।

भावानुवाद—निषिद्ध आचरण दुर्गति प्रापक है। कर्मके न करनेको 'अकर्म ' कहते हैं। संन्यासियोंके लिए कर्मका न करना किस प्रकार शुभप्रद है अथवा उनका कल्याण किस प्रकार होगा? कर्मकी गति अर्थात् तत्त्व अत्यन्त गहन अर्थात् दुर्गम है। कर्मके उपलक्षणसे यहाँ कर्म, अकर्म और विकर्म तीनोंका बोध होता है।।१७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—कर्मका तत्त्व दुर्गम है। शास्त्रविहित कर्म ही मोक्षका कारण है। इसके विपरीत निषिद्ध आचरण ही विकर्म है। इसके द्वारा जीवोंकी दुर्गति होती है। शास्त्रविहित कर्मोंका न करना ही अकर्म है। यह अकर्म भी अवस्था-भेदसे तीन प्रकारका होता है—(१) अज्ञानी लोग आलस्यवश वेदविहित कर्मका अनुष्ठान नहीं करते, (२) जो लोग कर्मफलको नश्वर एवं दुःखदायी जानकर निर्वेद प्राप्त करते हैं और मोक्षकी चेष्टा करते हैं—

'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्वेद यावता।
मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।।'

(श्रीमद्भा. ११/२०/९)

(३) जो लोग हरिकथा श्रवणकर विहित कर्मोंका परित्यागकर भक्तिका अनुशीलन करते हैं।

यहाँ श्लोकगत 'कर्मणो गहना गतिः' इस वाक्यके 'कर्मणो' शब्दसे कर्म, अकर्म और विकर्म—तीनोंका बोध होता है।।१७।।

कर्मण्यकर्म यः पश्येदकर्मणि च कर्म यः।
स बुद्धिमान् मनुष्येषु स युक्तः कृत्स्नकर्मकृत्।।१८।।

अन्वय—यः (जो) कर्मणि (कर्ममें) अकर्म (अकर्म) च (एवं) अकर्मणि (अकर्ममें) कर्म (कर्म) पश्येत् (देखते हैं) सः (वे) मनुष्येषु (मनुष्योंमें) बुद्धिमान् (बुद्धिमान् हैं) सः (वे) युक्तः (योगी) कृत्स्नकर्मकृत् (समस्त कर्मोंके कर्त्ता हैं)।।१८।।

अनुवाद—जो कर्ममें अकर्म एवं अकर्ममें कर्म देखते हैं, वे मनुष्योंमें बुद्धिमान्, योगी और समस्त कर्मोंके कर्त्ता हैं।।१८।।

श्रीविश्वनाथ—तत्र कर्माकर्मणोस्तत्त्वबोधमाह—कर्मणीति। शुद्धान्तःकरणस्य ज्ञानवत्त्वेऽपि जनकादेरिवाकृत-सन्न्यासस्य कर्मण्यनुष्ठीयमाने निष्काम-कर्मयोगे अकर्म, कर्मेदं न भवतीति यः पश्येत्, तत्कर्मणोबन्धकत्वाभावादिति भावः, तथाऽशुद्धान्तःकरणस्य ज्ञानाभावेऽपि शास्त्रज्ञत्वात् ज्ञानवावदूकस्य संन्यासिनोऽकर्मणि, कर्माकरणे कर्म पश्येत् दुर्गतिप्रापकं कर्मबन्धमेवोपलभ्यते, स एव बुद्धिमान्, स तु कृत्स्नकर्माण्येव करोति, न तु तस्य ज्ञानवावदूकस्य ज्ञानिमानिनः सङ्गेनापि तद्वचसापि सन्न्यासं करोतीति भावः। तथा च भगवद्वाक्यम्—*"यस्त्वसंयतषड्वर्गः प्रचण्डेन्द्रियसारथिः। ज्ञानवैराग्यरहित-स्त्रिदण्डमुपजीवति।। सुरानात्मानमात्मस्थं निह्नुते माञ्च धर्महा। अविपक्व कषायोऽस्मादमुष्माच्च विहीयते।।"* इति।।१८।।

भावानुवाद—इनमें से कर्म और अकर्मके तत्त्वज्ञानको 'कर्मणि' इत्यादिसे बताया जा रहा है। शुद्ध अन्तःकरणवाले व्यक्ति ज्ञानवान् होनेपर भी राजा जनकादिके सदृश संन्यास नहीं ग्रहण करते हैं और निष्काम कर्मयोगके द्वारा अकर्म करते हैं, जो ऐसा देखते हैं कि यह कर्म नहीं है, वे कर्मसे नहीं बँधते हैं। और, जिसका अन्तःकरण भी अशुद्ध है तथा तत्त्वज्ञानका भी अभाव है, केवल शास्त्रोंको जानकर बड़ी-बड़ी बातें करनेवाले ऐसे संन्यासीके अकर्ममें जो व्यक्ति कर्मको देखते हैं अर्थात् दुर्गति प्राप्त करानेवाले कर्मबन्धनकी उपलब्धि करते हैं, वे बुद्धिमान् हैं। पहले प्रकारका पुरुष सभी कर्मोंको करता है, परन्तु वाचाल और स्वयंको ज्ञानी समझनेवाले उस अभिमानी व्यक्तिकी सङ्गति और उपदेशसे संन्यास ग्रहण नहीं करता है। श्रीभगवान्ने भी ऐसा कहा है—'*यत्स्वसंयत------विहीयते*' (श्रीमद्भा. ११/१८/४०-४१) अर्थात् जो ज्ञान-वैराग्यसे रहित है तथा अजित कामादि षड्वर्ग एवं प्रबल इन्द्रियरूप सारथिके द्वारा परिचालित होकर केवल जीविका निर्वाहके लिए त्रिदण्ड ग्रहण करनेका अभिनय करता है, वह

अपरिणत विषयवासना-ग्रस्त आत्मघाती पुरुष आराध्य देवताओंको, अपने आत्माको और आत्म-स्थित मुझे वञ्चितकर स्वयं भी दोनों लोकों (इहलोक एवं परलोक) से वञ्चित हो जाता है।।१८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—निष्काम कर्मयोगीके सभी कर्म 'कर्मसंन्यास' रूप अकर्म हैं एवं कर्मत्याग ही उनका निष्काम कर्मानुष्ठान है। वे सभी कर्मोंको करनेपर भी कर्मी नहीं होते। अकर्म तथा कर्म उनके लिए समान हैं। किन्तु, इसके विपरीत दुराचारी और अहङ्कारी आत्म-प्रशंसक ज्ञानी लोग निन्दनीय हैं।।१८।।

यस्य सर्वे समारम्भाः कामसङ्कल्पवर्जिताः।
ज्ञानाग्निदग्धकर्माणं तमाहुः पण्डितं बुधाः।।१९।।

अन्वय—यस्य (जिनके) सर्वे समारम्भाः (सभी कर्म) कामसङ्कल्पवर्जिताः (कामना और सङ्कल्पसे रहित हैं) [च—तथा] ज्ञानाग्नि-दग्धकर्माणम् (ज्ञानरूप अग्निसे दग्ध हो गए हैं) तम् (उनको) बुधाः (ज्ञानिगन) पण्डितम् (पण्डित) आहुः (कहते हैं)।।१९।।

अनुवाद—जिनके सभी कर्म कामना और सङ्कल्पसे रहित हैं तथा ज्ञानरूप अग्निसे दग्ध हो गए हैं, उनको ज्ञानिजन भी पण्डित कहते हैं।।१९।।

श्रीविश्वनाथ—उक्तमर्थं विवृणोति—यस्येति पञ्चभिः। सम्यगारभ्यन्त इति समारम्भाः कर्माणि कामः फलं तत्सङ्कल्पेन वर्जिताः। ज्ञानमेवाग्निस्तेन दग्धानि कर्माणि क्रियमाणानि विहितानि निषिद्धानि च यस्य सः; एतेन विकर्मणश्च बोद्धव्यमित्यपि विवृतम्। एतादृशाधिकारिणि कर्म यथा अकर्म पश्येत्, तथैव विकर्माप्यकर्मैव पश्येदिति पूर्वश्लोकस्यैव सङ्गतिः। यदग्रे वक्ष्यते—*"अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः। सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।। यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन। ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा"*।।१९।।

भावानुवाद—पूर्वकथित विषयको 'यस्य' इत्यादि पाँच श्लोकोंमें विस्तारपूर्वक बताया जा रहा है। 'कामसङ्कल्पवर्जिताः'—फलाकांक्षा-रहित; 'समारम्भाः'—भलीभाँति आरम्भ किए गए सभी कर्म; 'ज्ञानाग्निदग्धकर्मा'—जिनके शास्त्रविहित या निषिद्ध सभी कर्म ज्ञानरूप अग्निसे दग्ध हो गए हैं। इसके द्वारा सतरहवें श्लोकमें वर्णित 'विकर्मकी गति समझनी चाहिए'—यह भी विवृत हुआ। इस प्रकार जैसे अधिकारीके लिए कर्मको अकर्मके रूपमें देखना उचित है, उसी प्रकार विकर्मको भी अकर्मके रूपमें

देखना उचित है। यही पूर्वश्लोकको सङ्गति है। इसे बादके श्लोकों (गीता ४/३६-३७) में बताया जाएगा।।१९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जो लोग फलाकांक्षासे रहित होकर सारे कर्मोंका अनुष्ठान करते हैं, वे निष्काम कर्मयोगसे उदित ज्ञानाग्निके द्वारा शास्त्रविहित और निषिद्ध समस्त कर्मोंको जला डालते हैं। ऐसे महात्माको 'ज्ञानाग्निदग्धकर्मा' कहा जाता है।।१९।।

त्यक्त्वा कर्मफलासङ्गं नित्यतृप्तो निराश्रयः।
कर्मण्यभिप्रवृत्तोऽपि नैव किञ्चित्करोति सः।।२०।।

अन्वय—[यः—जो] कर्मफलासङ्गम् (कर्मफलमें आसक्तिका) त्यक्त्वा (परित्यागकर) नित्यतृप्तः (अपने नित्य-आनन्दमें परितृप्त हैं) निराश्रयः (योगक्षेमके लिए आश्रयकी अपेक्षा नहीं करते हैं) सः (वे) कर्मणि (कर्ममें) अभिप्रवृत्तः (भलीभाँति प्रवृत्त होकर भी) किञ्चित् एव (कुछ भी) न करोति (नहीं करते हैं)।।२०।।

अनुवाद—जो कर्मफलमें आसक्तिका परित्यागकर अपने नित्य आनन्दमें परितृप्त हैं एवं योगक्षेमके आश्रयके लिए चेष्टा नहीं करते हैं, वे कर्ममें भलीभाँति प्रवृत्त होकर भी कुछ नहीं करते हैं।।२०।।

श्रीविश्वनाथ—'नित्यतृप्तो' नित्यं निजानन्देन तृप्तः। निराश्रयः स्वयोगक्षेमार्थं न कमप्याश्रयते।।२०।।

भावानुवाद—'नित्यतृप्त' का तात्पर्य है—नित्य निज-आनन्दमें तृप्त रहते हैं और 'निराश्रय' का तात्पर्य है—अपने योगक्षेमके लिए किसीका आश्रय ग्रहण नहीं करते हैं।।२०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—टीकामें उद्धृत 'योग' शब्दका तात्पर्य है—अप्राप्त वस्तुका लाभ तथा 'क्षेम' का तात्पर्य है—प्राप्त वस्तुओंकी रक्षा।।२०।।

निराशीर्यतचित्तात्मा त्यक्तसर्वपरिग्रहः।
शारीरं केवलं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।२१।।

अन्वय—निराशीः (जो कामनाशून्य हैं) यतचित्तात्मा (जिनके चित्त और देह संयत हैं) त्यक्तसर्वपरिग्रहः (जो सभी प्रकारके भोग-सामग्रियोंका परित्याग कर चुके हैं) केवलम् (केवल) शारीरम् (शरीरकी रक्षाके लिए) कर्म कुर्वन् (कर्म करते हुए) किल्बिषम् न आप्नोति (पापग्रस्त नही होते हैं)।।२१।।

अनुवाद—जिनके चित्त और देह संयत हैं तथा जो कामनाशून्य हैं, जिन्होंने सभी प्रकारके भोग-सामग्रियोंका परित्याग कर दिया है, ऐसे पुरुष केवल शरीरकी रक्षाके लिए कर्म करते हुए भी पापग्रस्त नहीं होते हैं।।२१।।

श्रीविश्वनाथ—'आत्मा'—स्थूलदेहः। शारीरं शरीरनिर्वाहार्थं कर्मासत्-प्रतिग्रहादिकम्। कुर्वन्नपि किल्बिषं पापं नाप्नोतीत्येतदपि विकर्मणश्च बोद्धव्यमित्यस्य विवरणम्।।२१।।

भावानुवाद—यहाँ 'आत्मा' का तात्पर्य है—स्थूल देह। 'शारीरम्' अर्थात् शरीर-निर्वाहके लिए असत्प्रतिग्रह आदि कर्म। ऐसा करनेपर भी उन्हें पाप नहीं होता है। ये सभी १७ वें श्लोकके 'विकर्मका तत्त्व जानना चाहिए' के ही विवरण हैं।।२१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—'निराशीः' अर्थात् कामनारहित व्यक्ति मन और स्थूल देहको वशीभूत करनेके कारण सब प्रकारके भोगोंके उपकरणके संग्रहकी चेष्टासे रहित होकर केवल जीवन-निर्वाहके लिए असत् दानादि ग्रहणकर भी पापके भागी नहीं होते अथवा सत् दानादि ग्रहणके द्वारा पुण्यके भागी नहीं होते।।२१।।

यदृच्छालाभसन्तुष्टो द्वन्द्वातीतो विमत्सरः।
समः सिद्धावसिद्धौ च कृत्वापि न निबध्यते।।२२।।

अन्वय—[यः—जो] यदृच्छालाभसन्तुष्टः (अयाचित प्राप्त द्रव्यसे परितुष्ट) द्वन्द्वातीतः (शीत-उष्णादि द्वन्द्व विषयोंमें सहनशील) विमत्सरः (मत्सरतारहित) सिद्धौ असिद्वौ च (सिद्धि एवं असिद्धिमें) समः (समभाववाले हैं) [सः—वे] कृत्वा अपि (कर्म करनेपर भी) न निबध्यते (बन्धनको प्राप्त नहीं होते हैं)।।२२।।

अनुवाद—जो अयाचित प्राप्त द्रव्यसे परितुष्ट, शीत-उष्णादि द्वन्द्व विषयोंमें सहनशील, मत्सरतारहित और सिद्धि एवं असिद्धिमें समभावसे रहते हैं, वे कर्म करनेपर भी बन्धनको प्राप्त नहीं होते हैं।।२२।।

गतसङ्गस्य मुक्तस्य ज्ञानावस्थितचेतसः।
यज्ञायाचरतः कर्म समग्रं प्रविलीयते।।२३।।

अन्वय—गतसङ्गस्य (आसक्तिरहित) मुक्तस्य (मुक्त) ज्ञानस्थितचेतसः (ज्ञानमें स्थित चित्तवाले पुरुषोंके) यज्ञाय (परमेश्वरकी आराधनाके लिए) आचरतः (कर्मका आचरण करनेवाले पुरुषके) समग्रम् (सम्पूर्ण) कर्म (कर्म) प्रविलीयते (भलीभाँति विलीन हो जाते हैं)।।२३।।

अनुवाद—जो आसक्तिरहित हैं, मुक्त हो गए हैं, जिनका चित्त ज्ञानमें स्थित है, परमेश्वरकी आराधनाके लिए कर्मका आचरण करनेवाले ऐसे पुरुषके सम्पूर्ण कर्म भलीभाँति विलीन हो जाते हैं अर्थात् अकर्म भावको प्राप्त होते हैं।।२३।।

श्रीविश्वनाथ—यज्ञो वक्ष्यमाणलक्षणस्तदर्थं कर्माचरतस्तत् कर्म प्रविलीयते— अकर्मभावमापद्यत इत्यर्थः।।२३।।

भावानुवाद—यज्ञका लक्षण आगे बताया जाएगा। यज्ञके लिए कर्मका आचरण करनेसे वह कर्म विलीन हो जाता है अर्थात् अकर्मभावको प्राप्त हो जाता है।।२३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—'यज्ञार्थ' अर्थात् भगवत्-प्रीतिके लिए अनुष्ठित कर्मसमूह संसार-बन्धनका कारण नहीं हो सकते। इसीको यहाँ 'अकर्म भावकी प्राप्ति' बताया गया।

वेदविहित कर्मरूप धर्मकार्य अथवा वेदनिषिद्ध कर्मरूप पापकार्य करने-मात्रसे ही उसका फल स्वर्ग या नरक नहीं होता है। यहाँ कर्म-कोविदगण (पूर्व मीमांसाका सिद्धान्त ग्रहण करनेवाले) कर्मसे उत्पन्न 'अपूर्व' (अदृष्ट) की कल्पना करते हैं। इनके मतानुसार यह अपूर्व ही जन्म-जन्मान्तरमें फलको प्रदान करता है। किन्तु निष्काम कर्मयोगीके सम्बन्धमें यह विचार लागू नहीं होता।।२३।।

ब्रह्मार्पणं ब्रह्म हविर्ब्रह्माग्नौ ब्रह्मणा हुतम्।
ब्रह्मैव तेन गन्तव्यं ब्रह्मकर्मसमाधिना।।२४।।

अन्वय—[जिस यज्ञमें] अर्पणम् (अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि) ब्रह्म (ब्रह्म हैं) हविः ब्रह्म (घृतादि हवन सामग्रियाँ भी ब्रह्म हैं) ब्रह्माग्नौ (ब्रह्म ही अग्नि है, उसमें) ब्रह्मणा (ब्रह्मरूप होताके द्वारा) हुतः (आहुति भी ब्रह्म है) तेन ब्रह्मकर्मसमाधिना (ब्रह्मरूप कर्ममें एकाग्रचित्त उस व्यक्तिके द्वारा) ब्रह्म एव (ब्रह्म ही) गन्तव्यम् (प्राप्त किए जाने योग्य है)।।२४।।

अनुवाद—जिस यज्ञमें अर्पण अर्थात् स्रुवा आदि ब्रह्म हैं, घृतादि हवन सामग्रियाँ भी ब्रह्म हैं, अग्नि भी ब्रह्मरूवरूप है, उसमें ब्रह्मरूप होता (कर्त्ता) के द्वारा आहुतिरूपी क्रिया भी ब्रह्म है। ब्रह्मरूप कर्ममें एकाग्रचित्त उस व्यक्तिके द्वारा ब्रह्म ही प्राप्त किए जाने योग्य (फल) है।।२४।।

श्रीविश्वनाथ—'यज्ञायाचरतः' इत्युक्तम्, स यज्ञ एव कीदृशः? इत्यपेक्षायामाह—ब्रह्मेति। अर्प्यते अनेनेत्यर्पणम्; जुह्वादि तदपि ब्रह्मैव;

अर्प्यमाणं हविरपि ब्रह्मैव, ब्रह्माग्नाविति हवनाधिकरणमग्निरपि, ब्रह्मैव ब्रह्मणेति हवनकर्त्तापि ब्रह्मैव एवं विवेकवता पुंसा ब्रह्मैव गन्तव्यं प्राप्तव्यम्, न तु फलान्तरम्। कुतः? ब्रह्मात्मकं यत् कर्म तत्रैव समाधिश्चित्तैकाग्र्यं यस्य तेन।।२४।।

भावानुवाद—पूर्व श्लोकमें कहा गया कि यज्ञके लिए कर्मका आचरण करो। "यज्ञका स्वरूप क्या है?"—इस प्रश्नकी अपेक्षा करते हुए श्रीभगवान् 'ब्रह्म' इत्यादि कह रहे हैं। 'अर्पणम्'—जिनके द्वारा अर्पण किया जाता है, वे जुह्व (यज्ञका चमचा) आदि भी ब्रह्म हैं, जिस हविका अर्पण किया जाता है, वह भी ब्रह्म है। 'ब्रह्माग्नि' अर्थात् हवनका अधिकरण या स्थान अग्नि भी ब्रह्म ही है। 'ब्रह्मणा' अर्थात् हवनकर्त्ता भी ब्रह्म ही है। इस प्रकार विवेकवान् पुरुषके द्वारा ब्रह्म ही गन्तव्य अर्थात् प्राप्त किये जाने योग्य है, कोई और फल नहीं। यदि कहो क्यों, तो उत्तर है—जो कर्म ब्रह्मात्मक है, उससे समाधि अर्थात् चित्त की एकाग्रता प्राप्त होती है, इसलिए कोई अन्य फल प्राप्त नहीं होता है।।२४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यज्ञकार्यमें जिस पात्रसे अग्निमें घृत आदि अर्पित किया जाता है, उसे 'स्रुव' कहते हैं। यह यज्ञीय पात्रविशेष है। होमके लिए देवताके उद्देश्यसे जो सामग्री अर्पित की जाती है, उसे 'हवि' कहते हैं।

"यज्ञरूप कर्मसे किस प्रकार ज्ञानका उदय होता है, उसे श्रवण करो। यज्ञ जितने प्रकारके होते हैं, उसे बादमें बता रहा हूँ, अभी यज्ञके मूलतत्त्वके विषयमें बता रहा हूँ, श्रवण करो। जड़बद्ध जीवके लिए जड़कार्य अनिवार्य हैं। उस जड़कार्यमें जितने परिमाणमें चित्-तत्त्वकी आलोचना हो सकती है, उसे भलीभाँति करनेका नाम 'यज्ञ' है। जड़में चिद्भावके आविर्भूत होनेपर उसे 'ब्रह्म' कहते हैं। वह ब्रह्म मेरी ही ज्योति या किरण है। चित्-तत्त्व समस्त जड़-जगत्से विलक्षण है। जब अर्पण, हविः, अग्नि, होता और फल—ये पाँचों ब्रह्मके अधिष्ठान होते हैं, तब यथार्थ यज्ञ होता है। कर्मको ब्रह्मस्वरूप बनाते हुए कर्ममें ही जिनकी एकाग्रचित्तरूपी समाधि होती है, वे अपने समस्त कर्मोंका अनुष्ठान यज्ञके रूपमें करते हैं। उनके अर्पण, हविः, अग्नि, होता अर्थात् स्वसत्ता—ये सभी ब्रह्मात्मक हैं, अतः उनकी गति भी 'ब्रह्म' है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२४।।

दैवमेवापरे यज्ञं योगिनः पर्युपासते।
ब्रह्माग्नावपरे यज्ञं यज्ञेनैवोपजुह्वति।।२५।।

अन्वय—अपरे (अन्य) योगिनः (कर्मयोगिगण) दैवम् एव यज्ञम् (देवताओंके यज्ञकी) पर्युपासते (भलीभाँति उपासना करते हैं) अपरे (अन्य अर्थात् ज्ञानयोगिगण) ब्रह्माग्नौ (ब्रह्मरूप अग्निमें) यज्ञेन एव (यज्ञके द्वारा ही) यज्ञम् (यज्ञको) उपजुह्वति (आहुति प्रदान करते हैं)।।२५।।

अनुवाद—अन्य कर्मयोगिगण देवताओंके पूजनरूप देवयज्ञकी ही भलीभाँति उपासना करते हैं और ज्ञानयोगिगण ब्रह्मरूप अग्निमें यज्ञके द्वारा ही यज्ञको आहुति प्रदान करते हैं।।२५।।

श्रीविश्वनाथ—यज्ञाः खलु भेदेनान्येऽपि बहवो वर्त्तन्ते, तांस्त्वं शृण्वित्याह—दैवमेवेत्यष्टभिः। देवा इन्द्रवरुणादय इज्यन्ते यस्मिन् तं दैवमिति। इन्द्रादिषु ब्रह्मबुद्धिराहित्यं दर्शितम्—*"सास्य देवतेत्यण्"*। योगिनः कर्मयोगिनः, अपरे ज्ञानयोगिनस्तु ब्रह्म परमात्मैवाग्निस्तस्मिंस्तत्-पदार्थे यज्ञं हविः स्थानीयं त्वं-पदार्थं जीवं यज्ञेन प्रणवरूपेण मन्त्रेणैव जुह्वति। अयमेव ज्ञानयज्ञोऽग्रे स्तोष्यते। अत्र 'यज्ञं' 'यज्ञेन' इति शब्दौ कर्मकरण साधनौ प्रथमातिशयोक्त्या शुद्धजीवप्रणवावाहतुः।।२५।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् कह रहे हैं—प्रकारके भेदसे और भी बहुत प्रकारके यज्ञ हैं, उन सबको श्रवण करो। इसके लिए ही 'दैवमेव' इत्यादि आठ श्लोकोंकी अवतारणा कर रहे हैं। जिसमें इन्द्र-वरुणादि देवताओंका यजन किया जाता है, उसको 'दैवम्' कहते हैं। इन्द्रादि देवताओंमें ब्रह्म बुद्धिका अभाव अर्थात् इन्द्र आदि बह्म नहीं हैं—इसे दिखाया जा रहा है—'*सास्य देवतेत्यण*' अर्थात् देव ही इनके (उन उपासकोंके) देवता हैं, यहाँ ब्रह्मकी कोई चर्चा नहीं है। यहाँ 'योगिनः' का तात्पर्य है—कर्मयोगिगण और 'अपरं' का तात्पर्य है—ज्ञानयोगिगण। 'ब्रह्माग्नौ' अर्थात् ब्रह्म या परमात्मा ही अग्नि हैं और उस अग्निमें, 'तत्' पदार्थमें 'यज्ञं' अर्थात् हविः स्थानीय 'त्वं' पदार्थ अर्थात् जीवको प्रणव मन्त्र द्वारा होम करते हैं। इसी ज्ञानयज्ञकी बादमें प्रंशसा की जाएगी। यहाँ 'यज्ञं' और 'यज्ञेन'—ये दोनों शब्द क्रमशः कर्म और करणके रूपमें व्यवहृत हुए हैं अथवा प्रथम अतिशयोक्तिके द्वारा शुद्धजीव और प्रणवको निर्देशित किया गया है।।२५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"इस प्रकार जो यज्ञके लिए व्रती होते हैं, वे योगी हैं। यज्ञके प्रकार-भेदसे योगी भी अनेक प्रकारके हैं। जितने प्रकारके यज्ञ हैं, उतने प्रकारके योगी भी हैं। इस प्रकार भिन्न-भिन्न रूपोंमें देखनेसे यज्ञ और योगी अनेक प्रकारके होते हैं। परन्तु, विज्ञानपूर्वक विभाग करनेसे समस्त यज्ञ ही कर्मयज्ञ या द्रव्यमययज्ञ एवं ज्ञानयज्ञ या चित्-आलोचनारूप यज्ञ—इन दो भागोंमें विभक्त होते हैं, इसे बादमें बताऊँगा। अभी कुछ-एक प्रकारके यज्ञोंके विषयमें बता रहा हूँ, श्रवण करो। कर्मयोगिगण देवयज्ञकी उपासना करते हैं, उसमें इन्द्र-वरुणादि रूपमें मेरे मायिक सामर्थ्यविशिष्ट अधिकृत पुरुषोंका यजन होता है, इसके द्वारा भी वे क्रमशः निष्काम कर्मयोगको प्राप्त करते हैं। ज्ञानयोगिगण 'प्रणव' रूप मन्त्रके द्वारा 'तत्वमसि' महावाक्य अवलम्बनपूर्वक 'ब्रह्म', जो कि 'तत्' पदार्थ है, उसमें 'त्वं' अर्थात् जीव पदार्थका होम करते हैं। इसकी श्रेष्ठता बादमें कही जाएगी।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२५।।

श्रोत्रादीनीन्द्रियाण्यन्ये संयमाग्निषु जुह्वति।
शब्दादीन् विषयानन्य इन्द्रियाग्निषु जुह्वति।।२६।।

अन्वय—अन्ये (नैष्ठिक ब्रह्मचारिगण) संयमाग्निषु (मनः संयमरूप अग्निमें) श्रोत्रादीनि इन्द्रियाणि (कर्ण आदि इन्द्रियोंकी) जुह्वति (आहुति देते हैं) अन्ये (गृहस्थगण) इन्द्रियाग्निषु (इन्द्रियरूप अग्निमें) शब्दादीन् विषयान् (शब्दादि विषयोंकी) जुह्वति (आहुति देते हैं)।।२६।।

अनुवाद—नैष्ठिक ब्रह्मचारिगण मनःसंयमरूप अग्निमें कर्ण आदि इन्द्रियोंकी आहुति देते हैं और गृहस्थगण इन्द्रियरूप अग्निमें शब्दादि विषयोंकी आहुति देते हैं।।२६।।

श्रीविश्वनाथ—अन्ये नैष्ठिकाः श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि, संयमः संयतं मन एवाग्नयस्तेषु जुह्वति, शुद्धे मनसीन्द्रियाणि प्रविलापयन्तीत्यर्थः। अन्ये ततो न्यूना ब्रह्मचारिणः शब्दादीन् विषयानिन्द्रियाग्निष्विन्द्रियाण्येवाग्नयस्तेषु जुह्वति-शब्दादीनीन्द्रियेषु प्रविलापयन्तीत्यर्थः।।२६।।

भावानुवाद—अन्य नैष्ठिक (ब्रह्मचारिगण) कान आदि इन्द्रियोंको संयत मनरूप अग्निमें हवन करते हैं, शुद्ध मनमें इन्द्रियोंको प्रविलापित (भलीभाँति लीन) करते हैं। उनकी अपेक्षा तुच्छ ब्रह्मचारिगण शब्दादि विषयोंको इन्द्रियरूप अग्निमें प्रविलापित करते हैं।।२६।।

सर्वाणीन्द्रियकर्माणि प्राणकर्माणि चापरे।
आत्मसंयमयोगाग्नौ जुह्वति ज्ञानदीपिते।।२७।।

अन्वय—अपरे (अन्य योगिगण) ज्ञानदीपिते (ज्ञान द्वारा प्रकाशित) आत्मसंयमयोगाग्नौ (आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें) सर्वाणि इन्द्रियकर्माणि (सभी इन्द्रियोंकी क्रियाओंकी) प्राणकर्माणि च (और प्राणोंकी क्रियाओंकी) जुह्वति (आहुति देते हैं)।।२७।।

अनुवाद—अन्य योगिगण ज्ञान द्वारा प्रकाशित आत्मसंयमयोगरूप अग्निमें सभी इन्द्रियोंकी क्रियाओं और प्राणोंकी क्रियाओंकी आहुति देते हैं।।२७।।

श्रीविश्वनाथ—अपरे—शुद्ध-त्वंपदार्थविज्ञाः। सर्वाणीन्द्रियाणि तत्कर्माणि श्रवणदर्शनादीनि च, प्राणकर्माणि दशप्राणास्तत्कर्माणि च, प्राणस्य बहिर्गमनमपानस्याधोगमनम् समानस्य भुक्तपीतादीनां समीकरणम्, उदानस्योच्चैर्नयनम्, व्यानस्य विश्वक्नयनम्—*"उद्गारे नाग आख्यातः कुर्म उन्मीलने स्मृतः। कृकरः क्षुत्करो ज्ञेयो देवदत्तो विजृम्भणे। न जहाति मृतञ्चापि सर्वव्यापी धनञ्जयः"* इत्येवं दश प्राणास्तत्कर्माणि। आत्मनस्त्वंपदार्थस्य संयमः शुद्धिरेवाग्निस्तस्मिन् जुह्वति—मनोबुद्ध्यादीन्द्रियाणि दशप्राणांश्च प्रविलापयन्ति। एकः प्रत्यगात्मैवास्ति नान्ये मन आदय इति भावयन्तीत्यर्थः।।२७।।

भावानुवाद—'अपरे' अर्थात् शुद्ध 'त्वं' पदार्थके ज्ञाता समस्त इन्द्रियों और इन्द्रियोंके श्रवण-दर्शनादि कर्मोंको, दश प्रकारके प्राणों और प्राणोंके कर्मोंको आत्मसंयम अर्थात् 'त्वं' पदार्थके संयम (शुद्धि) रूप अग्निमें होम करते हैं अर्थात् मन, बुद्धि आदि इन्द्रियों और दश प्राणोंको भलीभाँति लीन कर देते हैं। उनका भाव यह होता है कि एक प्रत्यगात्मा ही है, इसके अतिरिक्त मन आदि और कुछ नहीं है।

दश प्रकारके प्राण एवं उनके कर्म निम्नलिखित हैं—

	नाम	**कर्म**
(१)	प्राण	बहिर्गमन
(२)	अपान	अधोगमन
(३)	समान	खाये-पीये पदार्थोंका समीकरण
(४)	उदान	उपर ले जाना
(५)	व्यान	सर्वत्र घूमना
(६)	नाग	डकासा (उद्गार)
(७)	कूर्म	आँखें खोलना
(८)	कृकर	खाँसना
(९)	देवदत्त	जम्भाई लेना
(१०)	धनञ्जय	मृत्योपरान्त भी शरीरमें रहना ।।२७।।

द्रव्ययज्ञास्तपोयज्ञा योगयज्ञास्तथापरे।
स्वाध्यायज्ञानयज्ञाश्च यतयः संशितव्रताः।।२८।।

अन्वय—[केचित्—कोई कोई] द्रव्ययज्ञाः (द्रव्यदानरूप यज्ञ करते हैं) [केचित्—कोई कोई] तपोयज्ञाः (तपस्यारूप यज्ञ करते हैं) [केचित्—कोई कोई] योगयज्ञाः (योगरूप यज्ञ करते हैं) अपरे (और कुछ अन्य) स्वाध्यायज्ञानयज्ञाः (वेदपाठ और इसके ज्ञानरूप यज्ञको करते हैं) [एते सर्वे—ये सभी] यतयः (प्रत्यत्नशील व्यक्ति) संशितव्रताः (तीक्ष्णव्रत करनेवाले हैं)।।२८।।

अनुवाद—कोई कोई द्रव्यदानरूप यज्ञ करते हैं, कोई कोई तपस्यारूप यज्ञ करते हैं, कोई कोई योगरूप यज्ञ करते हैं और कोई कोई वेदाध्ययन एवं इसके ज्ञानरूप यज्ञको करते हैं। ये सभी प्रयत्नशील व्यक्ति तीक्ष्णव्रत करनेवाले हैं।।२८।।

श्रीविश्वनाथ—द्रव्यदानमेव यज्ञो येषां ते 'द्रव्ययज्ञाः' तपः कृच्छ्रचान्द्रायणादि एव यज्ञो येषां ते तपोयज्ञाः, योगऽष्टाङ्ग एव यज्ञो येषां ते 'योगयज्ञाः', स्वाध्यायो वेदस्य पाठस्तदर्थस्य ज्ञानञ्च यज्ञो येषां ते, यतयो यत्नपराः—सर्व एते सम्यक् शितं तीक्ष्णीकृतं व्रतं येषां ते।।२८।।

भावानुवाद—द्रव्यदान ही जिनका यज्ञ है, वे 'द्रव्ययज्ञाः' हैं, कठिन चान्द्रायणादि तप ही जिनका यज्ञ है, वे 'तपोयज्ञाः' हैं, अष्टाङ्गयोग ही जिनका यज्ञ है, वे 'योगयज्ञाः' हैं, स्वाध्याय या वेदपाठ और इसका प्रयोजन ज्ञान ही जिनका यज्ञ है, वे 'स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञाः' हैं। ये सभी 'यतयः' अर्थात् यत्नपर पुरुष 'संशितव्रताः' अर्थात् तीक्ष्णव्रत करनेवाले हैं।।२८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ श्रीकृष्ण विभिन्न प्रकारके यज्ञोंका वर्णन कर रहे हैं। कर्मयोगी अन्न-वस्त्रादिका दान करते हैं। यह दान ही उनका द्रव्य यज्ञ है। वे स्मृति शास्त्रमें कथित सरोवर-कूप-तड़ागादि खुदवाना, देव मन्दिरोंकी प्रतिष्ठा करना, अन्नदान करना, बाग-बगीचा लगाना प्रभृति पूर्त्त कर्म करते हैं। कोई कोई शरणागतोंकी रक्षा, प्राणिमात्रके प्रति अहिंसा आदि कर्मपरायण होते हैं। इनके ये कर्म दत्तकर्म कहलाते हैं। कोई कोई देवताओंके उद्देश्यसे यज्ञ करते हैं, इनका यह कर्म इष्टयज्ञ कहलाता है। कोई कोई चान्द्रयज्ञ आदि कष्टदायी व्रतोंका अनुष्ठान करते हैं। मनुसंहितामें इन व्रतोंका वर्णन पाया जाता है।

कृच्छ्रव्रत— *'एकैकं ग्रासमश्नीयात् त्र्यहानि त्रीणि पूर्ववत्।*
त्र्यहञ्चोपवसेदन्त्यमतिकृच्छ्रं चरन्द्विजः।।'

(मनु ११/२१४)

अर्थात्, पहले तीन दिन दिनमें एक-एक ग्रास, तदनन्तर तीन दिन सायंकालमें एक-एक ग्रास, तत्पश्चात् तीन दिन अयाचितरूपमें एक-एक ग्रास भोजन करना होता है। अन्तिम तीन दिन उपवास करना पड़ता है। यह कठोर (कृच्छ्र) व्रत है।

चान्द्रायण—'एकैकं ह्रासयेत् पिण्डं कृष्णे शुक्ले च वर्द्धयेत्।
उपस्पृशंस्त्रिषवणमेतच्चान्द्रायणं स्मृतम्।।'

(मनु ११/२१७)

अर्थात्, प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल स्नानकर पूर्णिमाके दिन मात्र १५ ग्रास भोजन करे। तदनन्तर प्रतिपदा तिथिसे एक-एक ग्रास कम करते हुए चतुर्दशीको मात्र एक ग्रास भोजन करे। अमावस्यामें पूर्ण उपवास तथा पुनः शुक्ल प्रतिपदासे एक-एक ग्रास भोजन बढ़ाते हुए पूर्णिमाको १५ ग्रास भोजन करे, इसे चान्द्रायण व्रत कहते हैं।

इनके अतिरिक्त कोई-कोई योगयज्ञपरायण होते हैं। ये किसी पुण्य क्षेत्र या तीर्थस्थानमें निवास करते हुए अष्टाङ्गयोगरूप योगयज्ञका अनुष्ठान करते हैं। चित्तवृत्तिका निरोध ही योग है—'*योगश्चित्तवृत्ति निरोधः*' (पतञ्जलि)।

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि—ये योगके आठ अङ्ग हैं। इनका साधन ही अष्टाङ्गयोग है।

कुछ दूसरे कर्मयोगी वेदानुशीलनको ज्ञानयज्ञ कहते हैं। वे इसका ही अनुशीलन करते हैं।।२८।।

अपाने जुह्वति प्राणं प्राणेऽपानं तथापरे।
प्राणापानगती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणाः।
अपरे नियताहाराः प्राणान् प्राणेषु जुह्वति।।२९।।

अन्वय—अपरे (प्राणायामनिष्ठ व्यक्ति) अपाने (अपान वायुमें) प्राणम् (प्राणवायुकी) जुह्वति (आहुति देते हैं) तथा (इसी प्रकार) प्राणे (प्राणवायुमें) अपानम् (अपान वायुकी) [जुह्वति—आहुति देते हैं] प्राण-अपान-गती (प्राण और अपानकी गति) रुद्ध्वा (रोककर) प्राणायाम परायणाः (प्राणायामपरायण होते हैं) अपरे (कोई कोई) नियताहाराः (आहारसंयमी) प्राणेषु (प्राणोंमें) प्राणान् (प्राणोंकी) जुह्वति (आहुति देते हैं)।।२९।।

अनुवाद—प्राणायामनिष्ठ व्यक्ति अपान वायुमें प्राणवायुकी आहुति देते हैं, इसी प्रकार प्राणवायुमें अपानवायुकी आहुति देते हैं और प्राण और अपानको रोककर प्राणायामपरायण होते हैं। कोई कोई संयमी पुरुष प्राणोंमें प्राणोंकी आहुति देते हैं।।२९।।

श्रीविश्वनाथ—अपरे प्राणायामनिष्ठाः—अपानेऽधोवृत्तौ प्राणमूद्ध्र्वंवृत्तं जुह्वति पूरक-काले प्राणमपानेनैकीकुर्वन्ति; तथा रेचक-कालेऽपानं प्राणे जुह्वति; कुम्भक-काले प्राणापानयोर्गती रुद्ध्वा प्राणायामपरायणा भवन्ति। अपरे इन्द्रियजयकामाः, नियताहाराः अल्पाहाराः, प्राणेष्वाहारसङ्कोचनेनैव जीव्यमानेषु प्राणानिन्द्रियाणि जुह्वति। इन्द्रियाणां प्राणाधीनवृत्तित्वात् प्राणदौर्बल्ये सति स्वयमेव स्व-स्व-विषयग्रहणासमर्थानीन्द्रियाणि प्राणेष्वेवाल्पीयन्त इत्यर्थः।।२९।।

भावानुवाद—कोई कोई प्राणायामनिष्ठ पुरुष अपानमें (अधोवृत्ति) प्राणको (ऊद्ध्र्ववृत्ति) होम करते हैं अर्थात् पूरक कालमें प्राणको अपानके साथ एक करते हैं। इसी प्रकार रेचक कालमें प्राणमें अपानको होम करते हैं, कुम्भक कालमें प्राण और अपानका गतिरोधकर प्राणायामपरायण होते हैं। इन्द्रियोंको जीतनेकी कामना करनेवाले कोई कोई आहार संकोच द्वारा जीवनमय प्राणोंमें इन्द्रियोंको होम करते हैं। इन्द्रियाँ प्राणके अधीन होती हैं, प्राणके दुर्बल होनेपर वे भी दुर्बल होकर स्वतः ही अपने अपने विषयोंको ग्रहण करनेमें असमर्थ हो जाती हैं, इस प्रकार वे असमर्थ इन्द्रियोंको प्राणोंमें अल्पीभूत करते हैं।।२९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस अष्टाङ्गयोगको और भी विस्तृत रूपसे बताया जा रहा है—ऐसे योगी प्राणायामके द्वारा अधोगामी आपान वायुमें ऊद्ध्र्वगामी प्राणवायुको पूरक द्वारा होम करते हैं अर्थात् पूरक कालमें प्राणके सहित अपानको एक करते हैं। इसी तरह रेचक कालमें प्राणमें अपानको हवन करते हैं तथा कुम्भक कालमें प्राण और अपानकी गतिको बन्द कर देते हैं।

प्राण (वायुविशेष) का आयाम (विस्तार) ही प्राणायाम कहलाता है। यहाँ विस्तृतिका तात्पर्य है—नखसे शिख तक उसका निरोध करना। गरुड़ पुराणमें भी कहा गया है—'*प्राणायामो मरुज्जयः*' अर्थात् प्राणवायुका जय करना ही प्राणायाम कहलाता है।

श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा कहा गया है कि जितेन्द्रिय, जितश्वास और स्थिरचित्त योगी पुरुष जब मुझमें अपने चित्तको स्थिर कर देते हैं, उस

समय सिद्धियाँ स्वयं उनके करतलवत् हो जाती हैं। इस विषयकी अधिक जानकारीके लिए पाठकगण श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा रचित प्रेमप्रदीप ग्रन्थका अनुशीलन करें।

यद्यपि स्मृतिशास्त्रके अनुसार द्रव्ययज्ञ, तपोयज्ञ, योगयज्ञ, स्वाध्याय-ज्ञानयज्ञ और तन्त्रके अनुसार हठयोग और नाना प्रकारके संयम व्रतकी बातें दृष्टिगोचर होती हैं, किन्तु कलियुगमें अल्प आयु और अल्प मेधायुक्त व्यक्तियोंके लिए अनायास ही सिद्ध संकीर्त्तन यज्ञ सर्वश्रेष्ठ यज्ञ है। इसमें मनुष्यमात्रका ही नहीं, वरं प्राणिमात्रका अधिकार है—

'हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम्।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नात्स्येव गतिरन्यथा।।'

(वृहन्नारदीय)

और श्रीमद्भागवतमें भी इसकी ही पुष्टि की गई है—

'कृष्णवर्णं त्विषाऽकृष्णं साङ्गोपाङ्गास्त्रपार्षदम्।
यज्ञैः सङ्कीर्त्तनप्रायैर्यजन्ति हि सुमेधसः।।'

(श्रीमद्भा. ११/५/३२)

अर्थात्, सुबुद्धिमान् व्यक्तिगण संकीर्त्तन यज्ञसे उस पुरुषकी आराधना करते हैं, जिनके मुखमें 'कृष्ण' ('कृ', 'ष्ण')—ये दो वर्ण नृत्य करते हैं, जिनका वर्ण उज्ज्वल नीलमणिके समान पीत है एवं जो अङ्ग-उपाङ्ग-अस्त्र-पार्षद आदिसे युक्त है।।२९।।

सर्वेऽप्येते यज्ञविदो यज्ञक्षयितकल्मषाः।
यज्ञशिष्टामृतभुजो यान्ति ब्रह्म सनातनम्।।३०।।

अन्वय—एते सर्वे अपि (ये सभी) यज्ञविदः (यज्ञके ज्ञाता हैं) यज्ञक्षयितकल्मषाः (यज्ञके द्वारा पापरहित होकर) यज्ञशिष्टामृतभुजः (यज्ञके अवशेषरूप अमृतका भोगकर) सनातनम् ब्रह्म (सनातन ब्रह्मको) यान्ति (प्राप्त होते हैं)।।३०।।

अनुवाद—ये सभी यज्ञके ज्ञाता हैं एवं यज्ञके द्वारा पापरहित होकर यज्ञावशेषरूप अवशिष्ट अमृतका भोगकर सनातन ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।।३०।।

श्रीविश्वनाथ—सर्वेऽप्येते यज्ञविद उक्तलक्षणान् यज्ञान् विन्दमानाः सन्तः ज्ञानद्वारा ब्रह्म यान्ति। अत्राननुसंहितं फलमाह—यज्ञशिष्टं यज्ञावशिष्टं यदमृतं भोगैश्वर्यसिद्ध्यादिकं तद्भुञ्जीत इति। तथा अनुसंहितं फलमाह—ब्रह्म यान्तीति।।३०।।

भावानुवाद—ये सभी यज्ञविद् हैं अर्थात् उपर्युक्त लक्षणवाले यज्ञोंको करते-करते ज्ञान द्वारा ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। यहाँ उन यज्ञोंका गौण फल बता रहे हैं—यज्ञके अवशिष्ट जो भोग-ऐश्वर्य-सिद्धि आदि अमृत हैं, उनका भोजन करते हैं। इसी प्रकार मुख्य फल बता रहे हैं—'ब्रह्म यान्ति' अर्थात् ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।।३०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यज्ञका मुख्यफल ब्रह्मकी प्राप्ति एवं गौणफल भोग तथा अणिमा इत्यादि सिद्धियोंकी प्राप्ति है।।३०।।

नायं लोकोऽस्त्ययज्ञस्य कुतोऽन्यः कुरुसत्तम।।३१।।

अन्वय—कुरुसत्तम (हे कुरुश्रेष्ठ!) अयज्ञस्य (यज्ञ न करनेवालेको) न अयम् लोकः [अपि] (यह अल्प सुखविशिष्ट मनुष्यलोक भी नहीं है) अन्यः (अन्य देवादिलोक) कुतः [प्राप्तव्यः] (किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं)।।३१।।

अनुवाद—हे कुरुश्रेष्ठ! यज्ञ नहीं करनेवालेके लिए तो यह अल्प सुखविशिष्ट मनुष्य लोक भी प्राप्य नहीं है, तो भला अन्य देवादि लोक किस प्रकार प्राप्त हो सकते हैं।।३१।।

श्रीविश्वनाथ—तदकरणे प्रत्यवायमाह—नायमिति। अयमल्पसुखो मनुष्यलोकोऽपि नास्ति, कुतोऽन्यो देवादिलोकस्तेन प्राप्तव्य इत्यर्थः।।३१।।

भावानुवाद—इसके (यज्ञके) न करनेसे प्रत्यवाय (दोष) होता है। इसके लिए 'नायम्' इत्यादि कह रहे हैं। जब उसे अल्पसुखदायक मनुष्य लोक ही प्राप्त नहीं है, तो भला किस प्रकार अन्य देवादि लोक प्राप्त होंगे?।।३१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"अतएव हे कुरुश्रेष्ठ अर्जुन! यज्ञ न करने-वालेके लिए इहलोककी ही प्राप्ति संभव नहीं है, तो परलोक-प्राप्ति किस प्रकार सम्भव होगी? अतएव यज्ञ ही कर्त्तव्य कर्म है। इससे यही समझना चाहिए कि स्मार्त-वर्णाश्रम, अष्टाङ्गयोग एवं वैदिक योगादि सभी 'यज्ञ' हैं। ब्रह्मज्ञान भी यज्ञविशेष है। यज्ञके अतिरिक्त जगत्में और कुछ कर्म नहीं है और यदि कुछ है, तो वह विकर्म है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३१।।

एवं बहुविधा यज्ञा वितता ब्रह्मणो मुखे।
कर्मजान्विद्धि तान्सर्वानेवं ज्ञात्वा विमोक्ष्यसे।।३२।।

अन्वय—एवं (इस प्रकार) ब्रह्मणः मुखे (वेद द्वारा) बहुविधाः (अनेक प्रकारके यज्ञ) विततः (विस्तृत रूपमें वर्णित हुए हैं) तान् सर्वान् (उन

सबको) कर्मजान् (कर्मजनित) विद्धि (जानो) एवं (इस प्रकार) ज्ञात्वा (जानकर) विमोक्ष्यसे (मुक्ति प्राप्त करोगे)।।३२।।

अनुवाद—इस प्रकार अनेक यज्ञ वेद द्वारा विस्तृत रूपमें वर्णित हुए हैं, तुम उन सबको कर्मजनित जानो। इस प्रकार जानकर तुम मुक्ति प्राप्त करोगे।।३२।।

श्रीविश्वनाथ—ब्रह्मणो वेदस्य मुखेन वेदेन स्वमुखेनैव स्पष्टमुक्ता इत्यर्थः। कर्मजान् वाङ्मनःकायकर्मजनितान्।।३२।।

भावानुवाद—'ब्रह्मणः' अर्थात् वेदके 'मुखेन' अर्थात् मुख द्वारा। 'वेदेन' अर्थात् अपने (मेरे) मुखसे स्पष्टरूपमें कहा गया है। 'कर्मजान' अर्थात् वाणी-मन-कायकी क्रियासे उत्पन्न।।३२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वेदमें कथित यज्ञसमूह तन, मन और वचनके कर्मोंसे अनुष्ठित होते हैं। अतएव इनका आत्मस्वरूपसे कोई सम्बन्ध नहीं है। आत्मा उन विषयोंसे सम्पूर्णरूपसे उदासीन और निर्लिप्त होता है। यह ज्ञान प्राप्त करनेसे संसार-बन्धनसे छुटकारा मिल जाता है।।३२।।

श्रेयान् द्रव्यमयाद्यज्ञाज्ज्ञानयज्ञः परन्तप।
सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।।३३।।

अन्वय—परन्तप पार्थ (हे परन्तप पार्थ!) ज्ञानयज्ञः (ज्ञानयज्ञ) द्रव्यमयात् यज्ञात् (द्रव्यमय यज्ञसे) श्रेयान् (श्रेष्ठ है) सर्वम् कर्म (समस्त कर्म) अखिलम् ज्ञाने (अव्यर्थरूप ज्ञानमें) परिसमाप्यते (समाप्त होते हैं)।।३३।।

अनुवाद—हे परन्तप पार्थ! ज्ञानयज्ञ द्रव्यमय यज्ञसे श्रेष्ठ है, क्योंकि समस्त कर्म अव्यर्थरूप ज्ञानमें समाप्त होते हैं।।३३।।

श्रीविश्वनाथ—तेष्वपि मध्ये ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविरिति लक्षणादपि द्रव्यमयाद् यज्ञाद् ब्रह्माग्नावित्यनेनोक्तो ज्ञानयज्ञः श्रेयान्; कुतः? ज्ञाने सति सर्वं कर्माखिलमव्यर्थं सत्परिसमाप्यते समाप्तीभवति—ज्ञानानन्तरं कर्म न तिष्ठतीत्यर्थः।।३३।।

भावानुवाद—इनमें से भी *'ब्रह्मार्पणं ब्रह्महविः'* (गीता ४/२४)—इस लक्षणसे युक्त द्रव्यमय यज्ञसे 'ब्रह्माग्नौ' (गीता ४/२५) इत्यादि कथित ज्ञानयज्ञ श्रेष्ठ है। यदि प्रश्न हो कि क्यों, तो उत्तर है—ज्ञान होनेपर समस्त कर्म 'अखिल' अर्थात् अव्यर्थ होकर समाप्त होते हैं अर्थात् ज्ञानके बाद कर्म नहीं रहता है।।३३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"यद्यपि इन समस्त यज्ञोंसे क्रमशः ज्ञानकी प्राप्ति और बादमें शान्तिकी प्राप्ति एवं अन्तमें मुक्ति-लाभरूपी जीवोंका

मङ्गल उदित होता है, तथापि इन यज्ञोंके सम्बन्धमें एक निगूढ़ विचार है, वही ज्ञातव्य है। निष्ठाके भेदसे उक्त यज्ञ समुदायमें कभी केवल द्रव्यमय यज्ञ होता है, कभी ज्ञानमय यज्ञ होता है। ज्ञानमय यज्ञ द्रव्यमय यज्ञकी अपेक्षा अत्यन्त श्रेष्ठ है। हे पार्थ! समस्त कर्म ही ज्ञानमें परिसमाप्ति लाभ करते हैं। जब अनुष्ठित होते-होते समस्त यज्ञ चिदालोचनासे रहित हो जाते हैं, तभी समस्त व्यापार केवल द्रव्यमय होते हैं। जब चिदालोचनाका क्रम चलता रहता है, तब वस्तुतः द्रव्यमय होकर भी ये चिन्मय अथवा ज्ञानमय हो जाते हैं। यज्ञके केवल द्रव्यमय अवस्थाको 'कर्मकाण्ड' कहा जाता है। यज्ञ कार्यके अनुष्ठानमें इससे विशेष सतर्क रहना पड़ता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने भी कहा है—

जो लोग संकीर्त्तन यज्ञके माध्यमसे श्रीकृष्णका भजन करते हैं—उनका ही जीवन सार्थक है, वे ही सुमेधा (बुद्धिमान्) हैं। इसके अतिरिक्त अन्य सभी मूर्ख और आत्मघाती हैं। समस्त प्रकारके यज्ञोंमें कृष्णनाम यज्ञ ही श्रेष्ठ है। कोटि-कोटि अश्वमेध यज्ञके फलको एक कृष्णनामके बराबर माननेवाले लोग पाषण्डी हैं। यमराज ऐसे पाषण्डियोंको नाना प्रकारकी यातनाओं द्वारा दग्ध करते हैं—

'संकीर्त्तन प्रवर्त्तक श्रीकृष्णचैतन्य।
संकीर्त्तन-यज्ञे ताँरे भजे सेई धन्य।।
सेइ त' सुमेधा, आर कुबुद्धि संसार।
सर्व-यज्ञ हइते कृष्णनामयज्ञ-सार।।
कोटि अश्वमेध एक कृष्णनाम सम।
जेई कहे, से पाषण्डी, दण्डे तारे यम।।'

(चै. च. आ. ३/७६-७८)

और भी, कृष्ण-मंत्रके द्वारा सहजरूपमें ही संसार-बन्धन खुल जाता है और कृष्ण-नामसे कृष्णकी प्रेममयी सेवाकी प्राप्ति होती है, इसलिए कलिकालमें नामके अतिरिक्त जितने भी प्रकारके यज्ञ हैं, वे सभी स्वरूप-धर्म नहीं होनेके कारण व्यर्थ हैं।

'कृष्णमन्त्र हैते हबे संसारमोचन। कृष्णनाम हैते पाबे कृष्णेर चरण।।
नाम बिना कलिकाले नाहि आर धर्म। सर्वमन्त्र सार,—नाम-एइ शास्त्रमर्म।।'

(चै. च. आ. ७/७३-७४) ।।३३।।

तद्विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः।।३४।।

अन्वय—प्रणिपातेन (ज्ञानका उपदेश देनेवाले गुरुके निकट दण्डवत् प्रणाम द्वारा) परिप्रश्नेन (सङ्गत प्रश्न द्वारा) सेवया (सेवा द्वारा) तत् (उस ज्ञानको) विद्धि (समझो) तत्त्वदर्शिनः ज्ञानिनः (तत्त्वदर्शी ज्ञानिगण) ते (तुम्हें) ज्ञानम् (ज्ञानका) उपदेक्ष्यन्ति (उपदेश देंगे)।।३४।।

अनुवाद—ज्ञानका उपदेश देनेवाले गुरुके निकट दण्डवत प्रणाम द्वारा, सङ्गत प्रश्न द्वारा और सेवा द्वारा उस ज्ञानको समझो। तत्त्वदर्शी ज्ञानिगण तुम्हें उस ज्ञानका उपदेश देंगे।।३४।।

श्रीविश्वनाथ—तज्ज्ञानप्राप्तये प्रकारमाह—तदिति। प्रणिपातेन ज्ञानोपदेष्टरि गुरौ दण्डवन्नमस्कारेण, "भगवन्! कुतोऽयं मे संसारः, कथं निवर्त्तिष्यते" इति परिप्रश्नेन च, सेवया तत्परिचर्यया च, *"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"* इति *श्रुतेः*।।३४।।

भावानुवाद—उस ज्ञानको किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, इसके लिए श्रीभगवान् 'तद्विद्धि' इत्यादि कह रहे हैं। ज्ञानका उपदेश देनेवाले गुरुको दण्डवत् प्रणामकर ऐसा प्रश्न करो कि हे भगवन्! मेरी यह संसार-दशा क्यों है और किस प्रकार मुझे इससे छुटकारा मिलेगा एवं सेवा और परिचर्याके द्वारा उन्हें सन्तुष्ट करो। श्रुतिमें भी कहा गया है—*"तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्"* (मु. उ. १/२/१२) अर्थात् उस भगवद्वस्तुका विज्ञान प्राप्त करनेके लिए हाथमें समिधा लेकर वेदोंके तात्पर्यको जाननेवाले गुरुके पास जाना चाहिए।।३४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ श्रीकृष्णने भगवत्-तत्त्व-ज्ञानको परम दुर्लभ और दुर्बोध बताया है। इसे तत्त्वज्ञानी और विशेषतः तत्त्वदर्शी महापुरुषोंकी कृपासे ही जाना जा सकता है। इसलिए निष्कपट साधकोंको ऐसे महापुरुषोंके प्रति प्रणिपात, परिप्रश्न और सेवाके द्वारा उनको प्रसन्नकर इस तत्त्वसे अवगत होना चाहिए।

प्रणिपातका तात्पर्य प्रीतिपूर्वक साष्टाङ्ग और पञ्चाङ्गादि प्रणामसे है। अहङ्कारका त्यागकर नमन करनेको ही प्रणाम या नमस्कार कहते हैं। यहाँ सेवाका तात्पर्य गुरुकी प्रीतिके अनुकूल परिचर्यासे है। इस श्लोकमें ज्ञानदाता गुरुके दो लक्षण बताये गए हैं—ज्ञानी और तत्त्वदर्शी। शास्त्रोंमें वर्णित ज्ञानको अध्ययन इत्यादिके द्वारा जाननेवालेको ज्ञानी कहते हैं। किन्तु, तत्त्वके साक्षात् अनुभूतिसम्पन्न महापुरुषोंको तत्त्वदर्शी कहते हैं।

कोई-कोई ज्ञानवान् होनेपर भी 'तत्त्व' और 'तत्' वस्तुके साक्षात् अनुभवी नहीं होते। ऐसे अनुभवहीन व्यक्तियोंका उपदेश फलीभूत नहीं होता है। अनुभवी महापुरुषोंका उपदेश ही सार्थक होता है। श्रीमद्भागवत (११/३/२१) में भी ऐसा ही देखा जाता है—*'तस्माद् गुरुं प्रपद्येत जिज्ञासुः'* इस श्लोककी टीकामें श्रीचक्रवर्त्ती ठाकुरने कहा है—"परम मङ्गल और शाश्वत कल्याणको जाननेके लिए साधकोंको शब्द-ब्रह्म (वेदादिमें वर्णित ज्ञान) में निष्णात अर्थात् पारङ्गत और परब्रह्ममें अनुभूति-सम्पन्न तथा सांसारिक आसक्तिसे रहित गुरुका आश्रय ग्रहण करना चाहिए। शब्द-ब्रह्ममें अभिज्ञ नहीं होनेसे अनभिज्ञ गुरु शिष्योंका सन्देह दूर नहीं कर पाते हैं, ऐसी स्थितिमें ऐसे गुरुके प्रति शिष्यकी श्रद्धा नष्ट हो जाती है। परब्रह्मकी साक्षात् अनुभूतिसे रहित होनेपर ऐसे गुरुकी कृपा सम्पूर्ण रूपसे फलीभूत नहीं होती। यहाँ परब्रह्मकी अनुभूतिसे सम्पन्न गुरुका लक्षण 'उपसमाश्रय' पदसे दिया गया है अर्थात् सांसारिक आसक्तिसे रहित होनेके कारण वे काम-क्रोध-लोभादिके वशीभूत नहीं होते।"

श्रीमद्भागवतमें इस उपरोक्त तथ्यको और भी स्पष्ट किया गया है—

'शब्दब्रह्मणि निष्णातो न निष्णायात् परे यदि।
श्रमस्तस्य श्रमफलो ह्यधेनुमिव रक्षतः।।'

(श्रीमद्भा. ११/११/१८)

अर्थात्, शब्द ब्रह्ममें पारङ्गत होनेपर भी परब्रह्मकी अनुभूतिरहित गुरुका आश्रय ग्रहण करना बाँझ गायकी रक्षाकी भाँति केवल परिश्रम है अर्थात् उसका कोई पारमार्थिक फल नहीं होता। यहाँ (गीतामें) श्रीकृष्णको ही परम-तत्त्व-वस्तु कहा गया है। कोई कोई मूल श्लोकके 'तत्' पदका तात्पर्य जीवात्मासे समझते हैं, यह विचार सर्वथा भ्रान्त है। क्योंकि अगले श्लोकसे इसका विरोध उपस्थित होता है। वेदान्त दर्शनमें भी *'अन्यार्थश्च परामर्शः'* (ब्र. सू. १/३/२०)—इस सूत्रमें 'तत्' पदसे परमात्म-तत्त्वज्ञानको ही ग्रहण किया गया है।।३४।।

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषाणि द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि।।३५।।

अन्वय—पाण्डव (हे पाण्डव!) यत् (जिस ज्ञानको) ज्ञात्वा (जानकर) पुनः (पुनः) एवं मोहम् (इस प्रकार मोहको) न यास्यसि (नहीं प्राप्त करोगे) येन (जिस ज्ञानसे) अशेषाणि भूतानि (निखिल जीवोंको) आत्मनि (आत्मामें) अथो मयि (अनन्तर मुझ परमात्मामें) द्रक्ष्यसि (दर्शन करोगे)।।३५।।

अनुवाद—हे पाण्डव! उस ज्ञानको जानकर तुम पुनः मोहित नहीं होओगे और उस ज्ञानके द्वारा तुम निखिल जीवोंको आत्मामें और अनन्तर मुझ परमात्मामें दर्शन करोगे।।३५।।

श्रीविश्वनाथ—ज्ञानस्य फलमाह—यज्ज्ञात्वेति सार्द्धैस्त्रिभिः। यज्ज्ञानं देहादतिरिक्त एवात्मेति लक्षणं ज्ञात्वा एवं मोहमन्तःकरणधर्मं न प्राप्स्यसि येन च मोह-विगमेन स्वाभाविकनित्यसिद्धात्मज्ञानलाभादशेषाणि भूतानि मनुष्यतिर्यगादीन्यात्मनि जीवात्मन्युपाधित्वेन स्थितानि पृथक् द्रक्ष्यसि। अथो मयि परमकारणे च कार्यत्वेन स्थितानि द्रक्ष्यसि।।३५।।

भावानुवाद—'यज्ज्ञात्वा' इत्यादि साढ़े तीन श्लोकोंके द्वारा ज्ञानका फल बता रहे हैं। आत्मा देहसे भिन्न है—इस लक्षणयुक्त ज्ञानको जान लेनेपर तुम अन्तःकरणके मोह-धर्मको प्राप्त नहीं होओगे, जिसके द्वारा अर्थात् मोहके दूर होनेपर स्वाभाविक नित्य-सिद्ध आत्मज्ञानके प्राप्त होनेपर तुम मनुष्य-पशु-पक्षी आदि निखिल भूतोंको जीवात्मामें उपाधिरूपसे स्थित पृथक् देखोगे और उन्हें मुझ परम-कारणमें कार्यरूपसे स्थित देखोगे।।३५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"अभी तुम मोहके कारण युद्धरूप स्वधर्मको त्यागनेकी चेष्टा कर रहे हो। गुरुके द्वारा उपदिष्ट तत्त्वज्ञान प्राप्त करनेके बाद तुम और मोहका आश्रय ग्रहण नहीं करोगे। उस तत्त्वज्ञानके द्वारा तुम यह जान पाओगे कि मनुष्य—पशु-पक्षी इत्यादि समस्त भूत एक जीवात्मरूप तत्त्वमें अवस्थित हैं, उपाधि द्वारा उनका जड़ीय तारतम्य घटित हुआ है। वे जीवसमुदाय परम कारणरूप भगवत्-स्वरूप मुझमें शक्तिकार्यके रूपमें रहते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३५।।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि।।३६।।

अन्वय—चेत् (यदि) सर्वेभ्यः पापेभ्यः अपि (समस्त पापियोंकी अपेक्षा भी) पापकृत्तमः (अतिशय पाप करनेवाला) असि (हो) [तथापि—तो भी] ज्ञानप्लवेन एव (ज्ञानरूपी नौकाका आश्रयकर) सर्वम् वृजिनम् (सम्पूर्ण पापसमुद्रसे) सन्तरिष्यसि (भलीभाँति तर जाओगे)।।३६।।

अनुवाद—यदि तुम समस्त पापियोंसे भी अतिशय पाप करनेवाला हो, तो भी इस ज्ञानरूपी नौकाका आश्रयकर तुम सम्पूर्ण पापसमुद्रसे तर जाओगे।।३६।।

श्रीविश्वनाथ—ज्ञानस्य माहात्म्यमाह—अपि चेदिति। पापिभ्यः पापकृद्भ्योऽपि सकाशात् यद्यप्यतिशयेन पापकारी त्वमसि, तथापि अत्रैतावत्पापसत्त्वे कथमन्तःकरणशुद्धिः? तदभावे च कथं ज्ञानोत्पत्तिः? नाप्युत्पन्नज्ञानस्यैतद्दुराचारत्वं सम्भवेदतोऽत्र व्याख्या श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादानाम्—"अपि चेदित्यसम्भाविताभ्युपगमप्रदर्शनार्थौ निपातौ। यद्यप्ययमर्थो न सम्भवत्येव, तथापि ज्ञानफलकथनायाभ्युपेत्योच्यते" इत्येषा।।३६।।

भावानुवाद—अब 'अपि चेत्' इत्यादिके द्वारा ज्ञानका माहात्म्य बता रहे हैं—पापियोंकी अपेक्षा भी यदि तुम अतिशय पापी हो, तो भी तत्त्वज्ञानके द्वारा तुम इससे मुक्त हो जाओगे। यहाँ एक प्रश्न उठता है कि इस प्रकार इतने पापोंके रहनेपर अन्तःकरण कहाँ शुद्ध हुआ और अन्तःकरणकी शुद्धताके अभावमें ज्ञानकी उत्पत्ति किस प्रकार होगी? और, जिस व्यक्तिको ज्ञान उत्पन्न हो गया है, उससे इस प्रकारका दुराचार सम्भव नहीं है?

यहाँ श्रीपाद मधुसूदन सरस्वती इस प्रकार व्याख्या करते हैं—'अपि चेत्' यहाँ असम्भवको सम्भवके रूपमें स्वीकार कर लेना रीतिका व्यतिक्रम है, यद्यपि यह अर्थ सम्भव नहीं होता है, तथापि ज्ञानका फल बतानेके लिए यह प्रतिज्ञाके रूपमें कहा गया अर्थात् असम्भव विषयको भी सम्भवके रूपमें उल्लेख किया गया।।३६।।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात्कुरुतेऽर्जुन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात्कुरुते तथा।।३७।।

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) यथा (जिस प्रकार) समिद्धः अग्निः (प्रज्वलित अग्नि) एधांसि (काष्ठादि इन्धनको) भस्मात् कुरुते (भस्म कर देता है) तथा (उसी प्रकार) ज्ञानाग्निः (ज्ञानरूप अग्नि) सर्वकर्माणि (समस्त कर्मोंको) भस्मात् कुरुते (भस्म कर देता है)।।३७।।

अनुवाद—हे अर्जुन! जिस प्रकार प्रज्वलित अग्नि काष्ठादि इन्धनको भस्म कर देता है, उसी प्रकार ज्ञानरूप अग्नि समस्त कर्मोंको भस्म कर देता है।।३७।।

श्रीविश्वनाथ—शुद्धान्तःकरणस्योत्पन्नं ज्ञानं तु प्रारब्धभिन्नं कर्ममात्रं विनाशयतीति सदृष्टान्तमाह—यथेति। समिद्धः प्रज्वलितः।।३७।।

भावानुवाद—किन्तु, शुद्ध अन्तःकरणमें उत्पन्न ज्ञान प्रारब्धके अतिरिक्त अन्य कर्मोंका नाश करता है। इसे ही 'यथा' इत्यादिके द्वारा सोदाहरण कह रहे हैं।।३७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—ज्ञानके द्वारा प्रारब्ध कर्मोंके फलको छोड़कर नित्य, नैमित्तिक, काम्य, विकर्म तथा संचित अप्रारब्धादि समस्त कर्मोंके फल नष्ट हो जाते हैं।

वेदान्तदर्शनमें भी इसी विचारकी पुष्टि की गई है, यथा—

'तदधिगम उत्तर पूर्वाघयोरश्लेष विनाशौ तद्व्यपदेशात्।'

(ब्र. सू. १/४/१३)

अर्थात्, ज्ञानी पुरुषोंको भी प्रारब्धका फल भोगना पड़ता है।

किन्तु, श्रील रूपगोस्वामीके अनुसार नामका आश्रय ग्रहण करनेवाले व्यक्तिके, शुद्ध नामकी तो बात दूर रहे, नामाभाससे ही सञ्चित, अप्रारब्ध, कूट आदिके साथ-साथ प्रारब्ध कर्मोंके फल नष्ट हो जाते हैं। श्रीरूप गोस्वामीने श्रीनामाष्टकमें ऐसा लिखा है—

'यद्ब्रह्मसाक्षात्कृतिनिष्ठयापि, विनाशमायाति बिना न भोगैः।
अपैति नाम! स्फुरणेन तत्ते, प्रारब्धकर्मेति विरौति वेदः।।'

अर्थात्, हे नाम! ब्रह्मकी अविच्छिन्न तैलधारावत् ब्रह्म-चिन्ताके द्वारा ब्रह्म-साक्षात्कार करनेपर भी जिस प्रारब्ध कर्मफलको भोगना पड़ता है, वह प्रारब्ध कर्मफल आपके स्फूर्तिमात्रसे अर्थात् भक्तोंकी जिह्वापर स्फुरण होनेमात्रसे दूर भाग जाता है। इस बातको वेद उच्च स्वरसे पुनः पुनः कहते हैं।।३७।।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।
तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।।३८।।

अन्वय—इह (इस लोकमें) ज्ञानेन सदृशम् (ज्ञानके सदृश) पवित्रम् (पवित्र) न हि (और कुछ भी नहीं है) तत् (उस ज्ञानको) कालेन (काल-क्रमसे) योगसंसिद्धः (निष्काम कर्मयोगमें सम्यक् सिद्ध व्यक्ति) स्वयम् (स्वयं ही) आत्मनि (अपने हृदयमें) विन्दति (प्राप्त करते हैं)।।३८।।

अनुवाद—इस लोकमें ज्ञानके सदृश पवित्र और कुछ भी नहीं है। निष्काम कर्मयोगमें सम्यक् सिद्ध व्यक्ति उस ज्ञानको कालक्रमसे स्वयं ही अपने हृदयमें प्राप्त करते हैं।।३८।।

श्रीविश्वनाथ—इह तपोयोगादियुक्तेषु मध्ये ज्ञानेन सदृशं पवित्रं किमपि नास्ति। तज्ज्ञानं न सर्वसुलभं; किन्तु योगेन निष्कामकर्मयोगेन सम्यक् सिद्ध एव, न त्वपरिपक्वः, सोऽपि कालेनैव, न तु सद्यः। आत्मनि स्वस्मिन् स्वयं प्राप्तं विन्दति, न तु संन्यासग्रहणमात्रेणैवेति भावः।।३८।।

भावानुवाद—यहाँ यह बताया गया है कि तपस्या, योग इत्यादि वस्तुओंमें ज्ञानके समान पवित्र और कुछ नहीं है। वह ज्ञान सर्वसुलभ नहीं है। योग अर्थात् निष्काम कर्मयोगकी सम्यक् सिद्धि होनेपर ही सुलभ है, अपरिपक्व अवस्थामें नहीं; वह भी दीर्घकालमें, तत्काल नहीं। अपने आत्मामें स्वयं ही वह ज्ञान प्राप्त होता है। केवल संन्यास ग्रहण करनेसे यह ज्ञान प्राप्त नहीं होता है।।३८।।

श्रद्धावान् लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति।।३९।।

अन्वय—श्रद्धावान् (श्रद्धावान्) तत्परः (साधनपरायण) संयतेन्द्रियः (जितेन्द्रिय) ज्ञानम् (ज्ञानको) लभते (प्राप्त करते हैं) ज्ञानम् लब्ध्वा (ज्ञानको प्राप्तकर) अचिरेण (शीघ्र ही) पराम् शान्तिम् (संसारक्षयरूपी परम शान्ति) अधिगच्छिति (प्राप्त करते हैं)।।३९।।

अनुवाद—श्रद्धावान्, जितेन्द्रिय तथा साधनपरायण व्यक्ति ज्ञान प्राप्त करते हैं और ज्ञानको प्राप्तकर संसारनाशरूपी परम शान्ति प्राप्त करते हैं।।३९।।

श्रीविश्वनाथ—तर्हि कीदृशः सन् कदा प्राप्नोतीत्यत आह—'श्रद्धा' निष्कामकर्मणैवान्तःकरणशुद्ध्यैव ज्ञानं स्यादिति शास्त्रार्थे आस्तिक्यबुद्धिस्तद्वानेव; तत्परस्तदनुष्ठाननिष्ठः, तादृशोऽपि यदा संयतेन्द्रियः स्यात्तदा परां शान्तिं संसार-नाशम्।।३९।।

भावानुवाद—तब किस प्रकार और किस समय वे उस ज्ञानको प्राप्त करते हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें कह रहे हैं—श्रद्धावान् होनेपर अर्थात् निष्काम कर्म द्वारा अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर ज्ञान होता है, वह भी शास्त्रकी वाणीमें आस्तिक बुद्धिवाला होनेपर ही होता है। 'तत्परः' अर्थात् उसके (निष्काम कर्मके) अनुष्ठानमें निष्ठा होनेपर तथा साथ-ही-साथ जब वह जितेन्द्रिय होता है, तब वह परा शान्ति प्राप्त करता है अर्थात् उसके संसारका नाश हो जाता है।।३९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—मूल श्लोकमें लिखित 'अचिरेण' पदका तात्पर्य 'बिना-विलम्बके' अर्थात् 'शीघ्र ही' से है। जिस प्रकार दीप प्रज्वलित किए जानेके साथ-ही-साथ बहुत दिनोंसे अन्धकारपूर्ण गृहके अन्धकारको भी तत्क्षणात् दूर कर देता है, उसे किसी अवलम्बनकी आवश्यकता नहीं होती, उसी प्रकार तत्त्वज्ञानके उदित होनेके साथ-ही-साथ वह स्वयं ही अज्ञानको दूर कर देता है।।३९।।

अज्ञश्चाश्रद्दधानश्च संशयात्मा विनश्यति।
नायं लोकोऽस्ति न परो न सुखं संशयात्मनः।।४०।।

अन्वय—अज्ञः (अज्ञ) अश्रद्धधानः च (और श्रद्धाविहीन) संशयात्मा च (एवं संशययुक्त व्यक्ति) विनश्यति (विनाशको प्राप्त होता है) संशयात्मनः (संशययुक्त व्यक्तिके लिए) न (न) अयम् लोक (यह लोक है) न परः (न पर लोक है) न सुखम् अस्ति (न सुख है)।।४०।।

अनुवाद—अज्ञ, श्रद्धाविहीन और संशययुक्त व्यक्ति विनाशको प्राप्त होता है। संशययुक्त व्यक्तिके लिए न तो यह लोक है, न ही पर लोक है और सुख भी नहीं है।।४०।।

श्रीविश्वनाथ—ज्ञानाधिकारिणमुक्त्वा तद्विपरीताधिकारिणमाह—'अज्ञः' पश्वादिवन्मूढः; अश्रद्दधाना शास्त्रज्ञानवत्त्वेऽपि नानावादिनां परस्परविप्रतिपत्तिं दृष्ट्वा न क्वापि विश्वस्तः; श्रद्धावत्त्वेऽपि संशयात्मा—ममैतत् सिध्येन्नवेति सन्देहाक्रान्तमतिः; तेष्वपि मध्ये संशयात्मानं विशेषतो निन्दति—नायमिति।।४०।।

भावानुवाद—ज्ञानके अधिकारीके सम्बन्धमें बतानेके पश्चात् उसके विपरीत अधिकारीके विषयमें बता रहे हैं। 'अज्ञ' अर्थात् पशुके सदृश मूढ़ और 'अश्रद्धधान' अर्थात् शास्त्रोंका ज्ञान होनेपर भी विविध वादियोंमें परस्पर विरोध देखकर किसी भी सिद्धान्त पर विश्वास नहीं करनेवाला। श्रद्धा रहनेपर भी जो संशयात्मा हैं, उन्हें यह सन्देह होता है कि मेरा प्रयास सफल होगा या नहीं और इस सन्देहसे वे आतंकित रहते हैं। पुनः 'नायं' इत्यादिके द्वारा तीनोंमें से उस सन्देहात्माकी ही विशेषरूपसे निन्दा कर रहे हैं।।४०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—ज्ञानाधिकारी और उसके फलका वर्णनकर यहाँ इसके विपरीत अज्ञान तथा इसके कुफलका वर्णनकर रहे हैं—अज्ञ, अश्रद्धावान् और संशयात्मा व्यक्तियोंका विनाश होता है। यहाँ अज्ञका तात्पर्य है—'श्रीगुरूदेवके उपदिष्ट विषयोंमें अनभिज्ञ'—श्रीधर अथवा 'पशुओंकी भाँति शास्त्रज्ञानरहित'—श्रीबलदेव।

शास्त्र, गुरु और वैष्णवोंकी बातोंमें जिसे विश्वास नहीं है, उसे अश्रद्धालु कहा गया है।

हरि-गुरु-वैष्णव—इन तीनोंके उपदेशोंपर जिनको सर्वत्र सन्देह विद्यमान रहता है, उन्हें संशयात्मा कहा गया है। ऐसे सन्देहात्मा व्यक्ति अज्ञ तथा अश्रद्धालुसे भी पतित होते हैं, इन्हें इहलोक अथवा परलोक—कहीं भी सुख-शान्तिकी प्राप्ति नहीं होती है।।४०।।

योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्।
आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।।४१।।

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) योगसंन्यस्तकर्माणम् (जिन्होंने निष्काम कर्मयोगके द्वारा संन्यासविधिसे कर्मत्याग किया है) ज्ञानसंछिन्नसंशयम् (ज्ञानके द्वारा संशयका नाश कर लिया है) आत्मवन्तम् (आत्मस्वरूपको उपलब्ध किया है) [उन्हें] कर्माणि (कर्मसमूह) न निबध्नन्ति (नहीं बाँधते हैं)।।४१।।

अनुवाद—हे धनञ्जय! जिन्होंने निष्काम कर्मयोग द्वारा संन्यासविधिसे कर्मत्याग किया है, ज्ञानके द्वारा संशयका नाश कर लिया है और आत्मस्वरूपको उपलब्ध किया है, उन्हें कर्मसमूह नहीं बाँधते हैं।।४१।।

श्रीविश्वनाथ—नैष्कर्म्यं त्वेतादृशस्य स्यादित्याह—योगान्निष्काम-कर्म योगानन्तरमेव संन्यस्तकर्माणं संन्यासेन त्यक्तकर्माणम्, ततश्च ज्ञानाभ्यासानन्तरं छिन्नसंशयम् आत्मवन्तं प्राप्तं प्रत्यगात्मानं कर्माणि न निबध्नन्ति।।४१।।

भावानुवाद—इस प्रकारके व्यक्ति ही निष्कर्म हो सकते हैं। इसके लिए ही श्रीभगवान् कह रहे हैं—जो 'योग' अर्थात् निष्काम कर्मयोगके बाद संन्यास द्वारा कर्मत्याग किए हैं और अनन्तर ज्ञानाभ्याससे संशयका छेदन कर लिए हैं, जो 'आत्मवान्' अर्थात् प्रत्यक् आत्माको प्राप्त किए हैं—उन्हें कर्मसमूह नहीं बाँधते हैं।।४१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इन अन्तिम दो श्लोकोंमें श्रीकृष्ण विषयका उपसंहार करते हुए कह रहे हैं—भगवान्के उपदेशानुसार जो लोग अपने समस्त कर्मोंको भगवान्के चरणोंमें समर्पितकर निष्काम कर्मयोगका अवलम्बन करते हैं, चित्तकी शुद्धि होनेपर उनके हृदयमें ज्ञानका प्रकाश होता है, जिससे उनके सारे संशय छिन्न-भिन्न हो जाते हैं। उस समय वे कर्मबन्धनसे सर्वथा छुटकारा पाते हैं।

टीकामें उल्लिखित 'प्रत्यक्-आत्मा' का तात्पर्य विषय-भोगका त्याग करनेवाले भगवत्-उन्मुख जीवात्मासे है। इसके विपरीत भगवत्-विमुख तथा विषयोन्मुख जीवात्माको 'पराक्-आत्मा' कहा गया है।।४१।।

तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः।
छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।४२।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'ज्ञानयोगो' नाम चतुर्थोऽध्यायः।।

अन्वय—तस्मात् (अतएव) भारत (हे भारत!) अज्ञानसम्भूतम् (अज्ञानसे उत्पन्न) आत्मनः (अपने) संशयम् (संशयको) ज्ञानासिना (ज्ञानरूपी तलवारसे) छित्वा (छेदकर) योगम् (निष्काम कर्मयोगका) आतिष्ठ (आश्रयकर) उत्तिष्ठ (युद्धके लिए खड़े हो जाओ)।।४२।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'ज्ञानयोगो' नाम चतुर्थोऽध्यायस्यान्वयः।।

अनुवाद—अतएव हे भारत! तुम अपने हृदयमें स्थित इस अज्ञानजनित संशयको ज्ञानरूपी तलवारसे छेदकर निष्काम कर्मयोगका आश्रय करते हुए युद्धके लिए खड़े हो जाओ।।४२।।

श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्थ अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—उपसंहरति—तस्मादिति। हृत्स्थं हृद्गतं संशयं छित्त्वा योगं निष्कामकर्मयोगमातिष्ठाश्रय, उत्तिष्ठ युद्धं कर्त्तुमिति भावः।।४२।।

उक्तेषु मुक्त्युपायेषु ज्ञानमत्र प्रशस्यते।
ज्ञानोपायन्तु कर्मैवेत्यध्यायार्थो निरूपितः।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतास्वयं चतुर्थो हि सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद—'तस्मात्' इत्यादिके द्वारा श्रीभगवान् उपसंहार कर रहे हैं। 'हृत्स्थ' अर्थात् हृदगत संशयको छेदकर 'योग' अर्थात् निष्काम कर्मयोगका 'आतिष्ठ' अर्थात् आश्रयकर युद्धके लिए उद्यत हो जाओ।।४२।।

मुक्तिके लिए निर्दिष्ट उपायोंमें से यहाँ ज्ञानकी प्रशंसा की गई है। किन्तु, इस अध्यायमें ऐसा निरूपित हुआ है कि कर्म ही ज्ञानका उपाय है ।

श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्थ अध्यायकी साधुजनसम्मताभक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्थ अध्यायकी सारार्थवर्षिणी
टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"इस सनातन योगके दो विभाग हैं अर्थात् जड़द्रव्यमय विभाग और आत्मयाथात्मरूप चिन्मय विभाग। जड़द्रव्यमय विभाग पृथक्‌रूपमें दृष्ट होनेसे 'कर्ममात्र' हो पड़ता है। जो इस विभागमें आबद्ध रहते हैं, वे 'कर्मजड़' हैं। जो चिन्मय विभागको लक्ष्यकर जड़कर्मका

अनुष्ठान करते हैं, वे ही युक्त हैं। चिन्मय विभागका विशेषपूर्वक विचार करनेसे उसके एक अंशमें 'जीव-तत्त्व' और दूसरे अंशमें 'भगवत्-तत्त्व' है। भगवत्-तत्त्व अनुभव करनेवाले पुरुष ही आत्मयाथात्मका उपादेयांश लाभ करते हैं। भगवत्-तत्त्वमें चिन्मय जन्म-कर्मादि और नित्य जीवसङ्गित्वके अनुभव द्वारा वह अनुभव सिद्ध होता है। इस अध्यायके आरम्भमें ही यह विषय कहा गया। भगवान् स्वयं इस नित्य-धर्मके प्रथम उपदेशक हैं। जीवके अपने बुद्धिदोषसे जड़बद्ध होनेपर भगवान् चित्-शक्तिक्रमसे अवतीर्ण होकर स्व-तत्त्वशिक्षा देकर जीवको अपनी लीलाके उपयोगी करते हैं। जो भगवान्के देह और जन्म-कर्मादिको 'मायामय' कहते हैं, वे नितान्त मूढ़ हैं। जो जितने परिमाणमें शुद्ध रूपमें मेरी उपासना करते हैं, वे उतने ही परिमाणमें मुझे प्राप्त करते हैं। कर्मयोगियोंके समस्त प्रकारके कर्म ही 'यज्ञ' हैं। दैवयज्ञ, ब्रह्मचर्ययज्ञ, गृहमेधयज्ञ, संयमयज्ञ, अष्टाङ्गयोगयज्ञ, तपोयज्ञ, द्रव्ययज्ञ स्वाध्याययज्ञ, वर्णाश्रमयज्ञ इत्यादि जितने भी प्रकारके यज्ञ जगत्में हैं, वे समस्त ही कर्ममय हैं। उन सबमें जो आत्मयाथात्मरूप चिन्मय अंश है, वही अनुसन्धेय है। संशय ही इस तत्त्वज्ञानका परमशत्रु है। श्रद्धावान् व्यक्ति उपयुक्त तत्त्ववित् पुरुषके समीप तत्त्वकी शिक्षाकर आत्मवान् होकर संशयको दूरकर आत्मयाथात्म लाभ करनेके लिए तब तक कर्मयोगका अवलम्बन करेंगे, जब तक जड़सम्बन्धयुक्त हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४२।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायण कृत श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्थ अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

चतुर्थ अध्याय समाप्त।

पञ्चमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—
संन्यासं कर्मणां कृष्ण पुनर्योगञ्च शंससि।
यच्छ्रेय एतयोरेकं तन्मे ब्रूहि सुनिश्चितम्।।१।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) कृष्ण (हे कृष्ण!) [त्वम्—आप] कर्मणाम् (कर्मोंके) सन्यासम् (त्यागको) [कथयित्वा—कहकर] पुनः (पुनः) योगम् च (कर्मयोगकी भी) शंससि (प्रशंसा कर रहे हैं) एतयोः (इन दोनोंमें से) यत् (जो) एकम् (एक) मे (मेरे लिए) श्रेयः (मङ्गलजनक हो) तत् (उसे) सुनिश्चितम् (सुनिश्चितरूपमें) ब्रूहि (कहिए)।।१।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! आप कर्मसंन्यासकी बात कहकर पुनः कर्मयोगकी भी प्रशंसा कर रहे हैं। अतः इन दोनोंमें से जो एक मेरे लिए मङ्गलजनक हो, उसे सुनिश्चितरूपमें कहें।।१।।

श्रीविश्वनाथ— ***प्रोक्तं ज्ञानादपि श्रेष्ठं कर्म तद्दार्ढ्यसिद्धये।***
तत्पदार्थस्य च ज्ञानं साम्याद्या अपि पञ्चमे।।

पूर्वाध्यायान्ते श्रुतेन वाक्यद्वयेन विरोधमाशङ्कमानः पृच्छति—सन्न्यासमिति। *"योगसंन्यस्तकर्माणं ज्ञानसंछिन्नसंशयम्। आत्मवन्तं न कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।।"* इति वाक्येन त्वं कर्मयोगेनोत्पन्नज्ञानस्य कर्मसन्न्यासं ब्रूषे; *"तस्मादज्ञानसम्भूतं हृत्स्थं ज्ञानासिनात्मनः। छित्त्वैनं संशयं योगमातिष्ठोत्तिष्ठ भारत।।"* इत्यनेन पुनस्तस्यैव कर्मयोगञ्च ब्रूषे। न च कर्मसंन्यासः कर्मयोगश्चैकस्यैकदैव सम्भवतः स्थितिगतिवद्विरुद्धस्वरूपत्वात्। तस्मात् ज्ञानी कर्मसंन्यासं कुर्यात् कर्मयोगं वा कुर्यादिति त्वदभिप्रायमनवगतोऽहं पृच्छामि—एतयोर्मध्ये यदेकं श्रेयस्त्वया सुनिश्चितं तन्मे ब्रूहि।।१।।

भावानुवाद—कर्मके सम्बन्धमें दृढ़ता सिद्ध करनेके लिए कर्मको ज्ञानसे भी श्रेष्ठ कहा गया है। पञ्चम अध्यायमें भी 'तत्' पदार्थका ज्ञान और 'साम्य' आदि बताया जा रहा है।

पिछले अध्यायके अंतिम दो वाक्योंको श्रवणकर विरोधाभासकी आशंकासे अर्जुन 'संन्यासम्' इत्यादिसे प्रश्न कर रहे हैं।

'योगसंन्यस्त-----------धनञ्जय' (गीता ४/४१)—इस श्लोकमें आपने कर्मयोगसे उत्पन्न ज्ञानके द्वारा कर्मसंन्यास कहा है। पुनः 'तस्मात्------भारत' (गीता ४/४२)—इस श्लोकमें उस कर्मयोगके ही विषयमें बता रहे हैं। स्थिति और गतिकी भाँति कर्मसंन्यास और कर्मयोगके परस्पर विरुद्ध स्वरूप होनेके कारण वे एक ही समय एक ही व्यक्तिके लिए सम्भव नहीं हैं। इसलिए ज्ञानी कर्मसंन्यास नहीं करेंगे, कर्मयोग करेंगे—इस विषयमें आपका अभिप्राय नहीं समझनेके कारण मैं जिज्ञासा कर रहा हूँ कि इनमें से जिस एकको आपने कल्याणकारी सुनिश्चित किया है, उसे मुझे बतावें।।१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—द्वितीय अध्यायमें अज्ञानको दूर करनेवाले ज्ञानकी प्राप्तिके लिए निष्काम कर्मयोगका उपदेश दिया गया है। तृतीय अध्यायमें यह बताया गया है कि आत्मज्ञान प्राप्त होनेपर कर्म करनेकी आवश्यकता नहीं रहती, क्योंकि कर्मयोग भी ज्ञानयोगके अन्तर्भुक्त है। ज्ञान और कर्ममें भेद-बुद्धि रखना अज्ञानका बोधक है—चतुर्थ अध्यायमें ऐसा कहकर उपसंहारमें भगवान् श्रीकृष्णने आत्मज्ञानकी प्राप्तिके उपायस्वरूप ज्ञान-निष्ठा प्राप्त करनेके लिए पहले निष्काम कर्मयोगके अवलम्बनको उचित बताया। ये विषय दुर्बुद्ध हैं—ऐसा जानकर, साधारण लोगोंके लिए बोधगम्य बनानेके लिए अर्जुन अज्ञकी भाँति कृष्णसे पूछ रहे हैं कि आपने पहले कर्मसंन्यास या ज्ञानयोगको श्रेष्ठ बताया और पुनः कर्मयोगका उपदेश दे रहे हैं। एक व्यक्तिके लिए एक ही साथ इन दो प्रकारके उपदेशोंका पालन करना नितान्त असम्भव है, क्योंकि स्थिर और गतिशील तथा प्रकाश एवं अन्धकार—दोनों परस्पर विरोधी हैं। अतः इन दोनोंमें किसका आचरण मेरे लिए श्रेयस्कर है—यह स्पष्ट रूपमें बतावें। यह अर्जुनका पञ्चम प्रश्न है।।१।।

श्रीभगवानुवाच—
संन्यासः कर्मयोगश्च निःश्रेयसकरावुभौ।
तयोस्तु कर्मसंन्यासात्कर्मयोगो विशिष्यते।।२।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) संन्यासः कर्मयोगः च (संन्यास और कर्मयोग) उभौ (दोनों ही) निःश्रेयस्कर (कल्याणकारी हैं) तु (किन्तु) तयोः (उन दोनोंमें) कर्मयोगः (निष्काम कर्मयोग ही) कर्मसंन्यासात् (कर्मसंन्याससे) विशिष्यते (श्रेष्ठ है)।।२।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—कर्मसंन्यास और कर्मयोग दोनों ही कल्याणकारी हैं, किन्तु उन दोनोंमें भी निष्काम कर्मयोग ही कर्मसंन्याससे श्रेष्ठ है।।२।।

श्रीविश्वनाथ—कर्मयोगो विशिष्यत इति ज्ञानिनः कर्मकरणे न कोऽपि दोषः; प्रत्युत निष्कामकर्मणा चित्तशुद्धिदार्ढ्याज्ज्ञानदार्ढ्यमेव स्यात्; संन्यासिनस्तु कदाचिच्चित्तवैगुण्ये सति किं तदुपशमनार्थं किं कर्म निषिद्धम्? ज्ञानाभ्यासप्रतिबन्धकन्तु चित्तवैगुण्यमेव, विषयग्रहणे तु वान्ताशित्वमेव स्यादिति भावः।।२।।

भावानुवाद—कर्मयोग विशिष्टता प्राप्त करता है अर्थात् श्रेष्ठ है। इसके द्वारा कर्म करनेपर भी ज्ञानीको कोई दोष नहीं होता है। अपितु, निष्काम कर्मके द्वारा चित्तशुद्धिमें वृद्धि होनेसे ज्ञानमें भी दृढ़ता आती है। किन्तु, यदि कभी संन्यासीके चित्तमें विकार उत्पन्न हो जाय, तो उसे शान्त करनेके लिए क्या कर्मका निषेध है? इसके उत्तरमें कहते हैं कि चित्तका वैगुण्य ही ज्ञानाभ्यासमें बाधक है, इस अवस्थामें और विषयग्रहण करनेसे वह वान्ताशी हो जाता है।।२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुनके प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीभगवान् कह रहे हैं—ज्ञानयोग (कर्मसंन्यास) तथा निष्काम कर्मयोग दोनों ही श्रेयस्कर हैं। तथापि, कर्मसंन्यासकी अपेक्षा निष्काम कर्मयोग श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें पतनकी सम्भावना कम है। किन्तु, कर्मत्यागी संन्यासीमें कदाचित् विषयभोगकी इच्छा होनेपर उसका पतन होनेपर उसे वान्ताशी कहा जाता है। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा विचार देखा जाता है—

'यः प्रव्रज्य गृहात् पूर्वं त्रिवर्गावपनात् पुनः।
यदि सेवेत तान् भिक्षुः स वै वान्ताश्यपत्रपः।।'

(श्रीमद्भा. ७/१५/३६)

अर्थात्, यदि कोई व्यक्ति त्रिवर्ग-साधक संन्यास आश्रमका परित्यागकर पुनः गृहस्थाश्रममें प्रवेश करता है, तो उसे वान्ताशी अर्थात् वमनभोजी निर्लज्ज कहा जाता है।

श्रीमद्भागवतमें और भी कहा गया है—दुराचारी ज्ञानी निन्दनीय होता है, किन्तु अनन्य भक्त सुदुराचारी होनेपर भी वैसा निन्दनीय नहीं होता है। गीताके *'अपिचेत्सुदुराचारो'* श्लोकसे इस विचारकी पुष्टि होती है। यहाँ एक बात स्मरण रखना उचित है कि कर्मकाण्ड तथा कर्मयोग एक नहीं हैं। शास्त्रविहित आचरणको ही कर्म कहते हैं। जिस समय जीव स्वयंको कर्मोंका कर्त्ता तथा कर्मफलोंका भोक्ता मानकर कर्मका आचरण करता

है, उस समय उसका नाम कर्मकाण्ड होता है। उस स्थितिमें वेदविहित सत्कर्म भी संसार-बन्धनका कारण होता है। कर्मकाण्डके द्वारा भगवान्‌के साथ योग नहीं होता। इसलिए सभी शास्त्रोंमें कर्मकाण्डकी निन्दा की गई है। किन्तु, निष्काम भगवत्-अर्पित कर्मके द्वारा ही भगवानसे योग स्थापित किया जा सकता है, अतः यही कर्मयोग है। इसे भगवत्-धर्मका प्रारम्भ अथवा आभास कहा जा सकता है। इसे भक्तिका द्वार भी कहा जा सकता है अर्थात् कर्मयोगके द्वारा गौणरूपमें भगवान्‌के साथ योग होता है। इसीलिए गीता (२/४८) में *'योगस्थः कुरु कर्माणि'* कहा गया है।।२।।

ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी यो न द्वेष्टि न काङ्क्षति।
निर्द्वन्द्वो हि महाबाहो सुखं बन्धात्प्रमुच्यते।।३।।

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) यः न द्वेष्टि (जो किसीसे द्वेष नहीं करते हैं) न काङ्क्षति (न किसी वस्तुकी आकांक्षा करते हैं) सः (वे) नित्यसंन्यासी ज्ञेयः (नित्य संन्यासी समझने योग्य हैं) हि (क्योंकि) निर्द्वन्द्वः (राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित व्यक्ति ही) बन्धात् (संसार-बन्धनसे) सुखम् (अनायास) प्रमुच्यते (प्रकृष्टरूपसे मुक्त होते हैं)।।३।।

अनुवाद—हे महाबाहो! जो व्यक्ति न किसी से द्वेष करते हैं और न ही किसी वस्तुकी आकांक्षा करते हैं, वे सदा ही संन्यासी समझे जाने योग्य हैं, क्योंकि राग-द्वेषादि द्वन्द्वोंसे रहित व्यक्ति ही इस संसार-बन्धनसे अनायास मुक्त होते हैं।।३।।

श्रीविश्वनाथ—न च सन्न्यासप्राप्यो मोक्षोऽकृतसन्न्यासेनैव तेन न प्राप्य इति वाच्यमित्याह—ज्ञेय इति। स तु शुद्धचित्तः कर्मी नित्यसन्न्यासी एव ज्ञेयः। 'हे महाबाहो' इति मुक्तिनगरीं जेतुं स एव महावीर इति भावः।।३।।

भावानुवाद—संन्यासके द्वारा प्राप्त होनेवाला मोक्ष, संन्यासके बिना नहीं प्राप्त होता है—ऐसा नहीं कहा जा सकता है। इसके लिए ही 'ज्ञेय' इत्यादि कह रहे हैं। हे महाबाहो! तुम शुद्धचित्त कर्मयोगीको नित्य संन्यासी ही जानो। 'हे महाबाहो'—इस सम्बोधनसे यह भी अभिप्रेत है कि जो मुक्तिकी नगरीको जीतनेमें समर्थ हैं, वे ही महावीर हैं।।३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—'कर्मयोग' क्यों श्रेष्ठ है—इसका ही इस श्लोकमें प्रतिपादन किया जा रहा है। चित्तशुद्धि हो जानेके कारण कर्मयोगीको नित्य संन्यासी कहा गया है। संन्यास भेष न ग्रहण करनेपर भी वे सभी विषयोंको तथा स्वयको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पितकर सदा

भगवत्-सेवा-आनन्दमें निमग्न रहते हैं। भोगोंमें आसक्ति नहीं रहनेके कारण तथा कर्मफलकी आकांक्षा न रहनेके कारण वे राग-द्वेषादिसे रहित होकर अनायास ही संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं।।३।।

साङ्ख्ययोगौ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।
एकमप्यास्थितः सम्यगुभयोर्विन्दते फलम्।।४।।

अन्वय—बालाः (अज्ञ व्यक्ति) साङ्ख्ययोगौ (सांख्य और कर्मयोगको) पृथक् (पृथक्-पृथक्) प्रवदन्ति (कहते हैं) पण्डिताः न (न कि पण्डितगण) एकम् अपि (एकका भी) सम्यक् आस्थितः (भलीभाँति आश्रय करनेवाले) उभयोः (दोनोंके) फलम् (मोक्ष फलको) विन्दते (प्राप्त करते हैं)।।४।।

अनुवाद—अज्ञ व्यक्तिगण ही सांख्य और कर्मयोगको पृथक्-पृथक् कहते हैं, न कि पण्डितगण। एकका भी भलीभाँति आश्रय करनेवाले दोनोंके मोक्षरूप फलको प्राप्त करते हैं।।४।।

श्रीविश्वनाथ—तस्मात् यच्छ्रेय एवैतयोरिति त्वदुक्तमपि वस्तुतो न घटते, विवेकिभिरुभयोः पार्थक्याभावस्य दृष्टत्वादित्याह—सांख्ययोगाविति। सांख्य-शब्देन ज्ञाननिष्ठावाचिना तदङ्गः संन्यासो लक्ष्यते। संन्यास-कर्मयोगौ पृथक् स्वतन्त्राविति बाला वदन्ति न तु विज्ञाः,—'*ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी*'इति पूर्वोक्तेः, अत एकमपीत्यादि।।४।।

भावानुवाद—अतएव तुम जो कहते हो कि 'इनमें से जो श्रेष्ठ'—वस्तुतः ऐसा नहीं है, क्योंकि विवेकी पुरुष इन दोनोंमें कोई पार्थक्य नहीं देखते हैं। इसके लिए ही 'सांख्य' इत्यादि कह रहे हैं। यहाँ ज्ञाननिष्ठावाची 'सांख्य' शब्दसे उसका अङ्ग संन्यास लक्षित होता है। शिशु या मूर्ख ही संन्यास और कर्मयोगको पृथक् बताते हैं, पण्डितगण नहीं। क्योंकि, '*ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी*' (गीता ५/३)—यह पूर्व श्लोकमें ही बताया गया है। अतएव एकके ही आश्रयसे दोनोंका फल प्राप्त हो जाता है।।४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—कर्मयोगका भलीभाँति अनुष्ठान करनेसे चित्तशुद्धि होनेपर ज्ञानका उदय होता है। ज्ञानोदयके द्वारा अन्तमें मोक्ष लाभ होता है। कर्मसंन्यासका भी यही मूल उद्देश्य है। इसलिए कर्मयोग और संन्यास—दोनोंका लक्ष्य मुक्ति होनेसे दोनों एक समान हैं। इन दोनोंमें से किसी एकका आश्रय करनेसे ही दोनोंका उद्देश्य साधित होता है। इन दोनोंमें बाह्यतः प्रवृत्ति और निवृत्तिका पार्थक्य दृष्टिगोचर होनेपर भी दोनोंका एक ही फल होनेके कारण तत्त्वविद् इनमें भेद नहीं देखते।।४।।

यत्साङ्ख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते।
एकं साङ्ख्यञ्च योगञ्च यः पश्यति स पश्यति।।५।।

अन्वय—साङ्ख्यैः (संन्यासके द्वारा) यत् (जो) स्थानम् (स्थान) प्राप्यते (प्राप्त किया जाता है) योगैः अपि (योगके द्वारा भी) तत् गम्यते (वही स्थान प्राप्त होता है) यः (जो) साङ्ख्यम् च योगम् च (सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोगको) एकम् पश्यति (समान फलदायी देखते हैं) सः (वे) पश्यति (देखते हैं अर्थात् तत्त्वदर्शी हैं)।।५।।

अनुवाद—सांख्ययोगके द्वारा जो स्थान प्राप्त किया जाता है, कर्मयोगके द्वारा भी वही स्थान प्राप्त होता है। जो सांख्ययोग और निष्काम कर्मयोगको समान फलदायी देखते हैं, वे ही तत्त्वदर्शी हैं।।५।।

श्रीविश्वनाथ—एतदेव स्पष्टयति—यदिति। साङ्ख्यैः संन्यासेन योगै-र्निष्कामकर्मणा, बहुवचनं गौरवेण, अतएव तद्द्वयं पृथग्भूतमपि यो विवेकेनैकमेव पश्यति स पश्यति—चक्षुष्मान् पण्डित इत्यर्थः।।५।।

भावानुवाद—इसे ही 'यत्' इत्यादिसे स्पष्ट रूपमें कह रहे हैं। 'सांख्य' का तात्पर्य है—'संन्यास' और 'योग' का तात्पर्य है—निष्काम कर्म। यहाँ 'सांख्यैः' और 'योगैः' इन—बहुवचन प्रयोगोंसे इनका गौरव प्रकाशित किया गया है। इन दोनोंके पृथक् होनेपर भी जो व्यक्ति विवेक द्वारा इन्हें एक ही दर्शन करते हैं, वे ही दर्शन करते हैं अर्थात् वे ही नेत्रवान् (चक्षुष्मान्) पण्डित हैं।।५।।

संन्यासस्तु महाबाहो दुःखमाप्तुमयोगतः।
योगयुक्तो मुनिर्ब्रह्म न चिरेणाधिगच्छति।।६।।

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) अयोगतः (निष्काम कर्मयोगके बिना) संन्यासः (संन्यास) दुःखम् आप्तुम् (दुःखदायी है) तु (किन्तु) योगयुक्तः (निष्काम कर्मवान्) मुनिः (ज्ञानी) [सन्—होकर] न चिरेण (शीघ्र ही) ब्रह्म (ब्रह्मको) अधिगच्छति (प्राप्त होते हैं)।।६।।

अनुवाद—हे महाबाहो! निष्काम कर्मयोगरहित संन्यास दुःखदायी है, किन्तु निष्काम कर्म करनेवाले ज्ञानी होकर शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।।६।।

श्रीविश्वनाथ—किन्तु सम्यक्चित्तशुद्धिमनिर्द्धारयतो ज्ञानिनः संन्यासो दुःखदः कर्मयोगस्तु सुखद एवेति पूर्वव्यञ्जितमर्थं स्पष्टमेवाह—संन्यासस्त्विति।

चित्तवैगुण्ये सतीति शेषः। अयोगतः कर्मयोगाभावाच्चित्त—वैगुण्यप्रशामककर्मयोगस्य संन्यासिन्यभावात् तत्रानधिकारादित्यर्थः। संन्यासो दुःखमेव प्राप्तुं भवति। तदुक्तं वार्त्तिककृद्भिः—*"प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः। संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसंदूषिताशयाः।।"* इति, श्रुतिरपि—*"यदि न समुद्धरन्ति यतयो हृदि कामजटाः"* इति, भगवतापि—*"यस्त्वसंयतषड्वर्गः"* (श्रीमद्भा. ११/१८/४०) इत्याद्युक्तम्। तस्माद्यो युक्तः निष्कामकर्मवान् मुनिर्ज्ञानी सन् ब्रह्म शीघ्रं प्राप्नोति।।६।।

भावानुवाद—सम्यक् चित्त-शुद्धि हुए बिना ज्ञानियोंका संन्यास-ग्रहण दुःखद होता है, किन्तु कर्मयोग ही सुखद है—इस पूर्व इङ्गित तात्पर्यको स्पष्ट करनके लिए 'संन्यासस्तु' इत्यादि कह रहे हैं। चित्त-वैगुण्य होनेपर संन्यासको दुःखदायी कहा गया है। कर्मयोग ही चित्त-वैगुण्यको शान्त करनेवाला है। अतः 'अयोगतः' अर्थात् चित्त-वैगुण्य प्रशामक कर्मयोगका अभाव होनेपर अर्थात् संन्यासमें अधिकार नहीं होनेसे वैसा संन्यास दुःख-प्राप्तिका कारण बन जाता है। इसलिए वार्तिक सूत्रकारने कहा है—

'प्रमादिनो बहिश्चित्ताः पिशुनाः कलहोत्सुकाः।
संन्यासिनोऽपि दृश्यन्ते दैवसंदूषिताशयाः।।'

अर्थात् प्रमादी, अस्थिरचित्त, दुष्ट तथा कलहमें उत्सुक दैवदूषित अन्तःकरणवाले संन्यासी भी दृष्ट होते हैं।

श्रीमद्भागवत (११/१८/४०) में भी कहा गया है—"जिन्होंने पाँचों इन्द्रियों तथा मनको वशमें नहीं किया है, जिन्हें ज्ञान और वैराग्य नहीं है, वे त्रिदण्डी संन्यासी दोनों लोकोंसे हाथ धो बैठते हैं।" अतः निष्काम कर्मयोगी ज्ञानी होकर शीघ्र ही ब्रह्मको प्राप्त करते हैं।।६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—चित्तशुद्धि होनेके पूर्व संन्यास ग्रहण करनेकी अपेक्षा निष्काम कर्मयोगका आचरण करना श्रेष्ठ है।।६।।

योगयुक्तो विशुद्धात्मा विजितात्मा जितेन्द्रियः।
सर्वभूतात्मभूतात्मा कुर्वन्नपि न लिप्यते।।७।।

अन्वय—योगयुक्तः (निष्काम कर्मयोगी) विशुद्धात्मा (शुद्ध अन्तःकरणवाले) विजितात्मा (जिन्होंने बुद्धिको वशमें कर लिया है) जितेन्द्रियः (जितेन्द्रिय) सर्वभूतात्मभूतात्मा (सभी जीवोंके अनुरागभाजन) कुर्वन् अपि (कर्म करनेपर भी) न लिप्यते (उसमें लिप्त नहीं होते हैं)।।७।।

अनुवाद—जो निष्काम कर्मयोगी हैं, जो विशुद्ध अन्तःकरणवाले, विजितात्मा और जितेन्द्रिय हैं तथा सभी जीवोंके अनुरागभाजन हैं, वे कर्म करनेपर भी कर्ममें लिप्त नहीं होते हैं।।७।।

श्रीविश्वनाथ—कृतेनापि कर्मणा ज्ञानिनस्तस्य न लेप इत्याह—योगेति। योगयुक्तो ज्ञानी त्रिविधः—'विशुद्धात्मा' विजितबुद्धिरेकः, 'विजितात्मा' विशुद्धचित्तो द्वितीयः, 'जितेन्द्रियः' तृतीय इति पूर्वपूर्वेषां साधन-तारतम्यादुत्कर्षः। एतादृशे गृहस्थे तु सर्वेऽपि जीवा अनुरज्यन्तीत्याह—सर्वेषामपि भूतानामात्मभूतः प्रेमास्पदीभूत आत्मा देहो यस्य सः।।७।।

भावानुवाद—यहाँ 'योगयुक्त' इत्यादिसे श्रीभगवान् यह सूचित कर रहे हैं कि कर्मोंके करनेपर भी ज्ञानी निर्लेप रहते हैं। योगयुक्त ज्ञानी तीन प्रकारके हैं—प्रथम विशुद्धात्मा अर्थात् विजितबुद्धि, द्वितीय विजितात्मा अर्थात् विशुद्धचित्त और तृतीय जितेन्द्रिय। इनमें साधनके तारतम्यसे पूर्व-पूर्ववाले क्रमशः श्रेष्ठ हैं। इस प्रकारके गृहस्थके प्रति समस्त जीव अनुरक्त रहते हैं। जिनका आत्मा अर्थात् देह सभी भूतोंके आत्मभूत अर्थात् प्रेमास्पद है, वे सर्वभूतात्मा हैं।।७।।

नैव किञ्चित्करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यन् शृण्वन् स्पृशन् जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपन् श्वसन्।।८।।
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन् निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन्।।९।।

अन्वय—युक्तः (कर्मयोगी) तत्त्ववित् (तत्त्वज्ञ) [सन्—होकर] पश्यन् (दर्शन) शृण्वन् (श्रवण) स्पृशन् (स्पर्श) जिघ्रन् (घ्राण) अश्वन् (भोजन) गच्छन् (गमन) स्वपन् (निद्रा) श्वसन् (श्वास-ग्रहण) प्रलपन् (कथन) विसृजन् (त्याग) गृह्णन् (ग्रहण) उन्मिषन् (उन्मीलन) निमिषन् अपि (कुर्वन्) (और निमीलनादि करनेपर भी) इति धारयन् (बुद्धिके द्वारा निश्चयकर) इति मन्येत (ऐसा समझते हैं कि) इन्द्रियाणि (इन्द्रियाँ) इन्द्रियार्थेषु (अपने अपने विषयोंमें) वर्त्तन्ते (तल्लीन हैं) [अहम्—मैं] किञ्चित् एव (कुछ भी) न करोमि (नहीं करता हूँ)।।८-९।।

अनुवाद—कर्मयोगी तत्त्वज्ञ होकर दर्शन, श्रवण, स्पर्श, घ्राण, भोजन, गमन, निद्रा, श्वास, कथन, त्याग, ग्रहण, उन्मीलन और निमीलनादि करनेपर भी बुद्धिके द्वारा निश्चयकर ऐसा मानते हैं कि इन्द्रियाँ अपने अपने विषयोंमें तल्लीन हैं, मैं तो कुछ भी नहीं करता हूँ।।८-९।।

श्रीविश्वनाथ—येन कर्मणा लेपस्तं प्रकारं शिक्षयति—नैवेति। युक्तः कर्मयोगी दर्शनादीनि कुर्वन्नपि, इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्त्तन्त इति धारयन् बुद्ध्या निश्चिन्वन् निरभिमानः किञ्चिदप्यहं नैव करोमीति मन्येत।।८-९।।

भावानुवाद—'नैव' इत्यादिके द्वारा उन कर्मोंके सम्बन्धमें शिक्षा दे रहे हैं, जिनसे लिप्त होनेकी संभावना है। 'युक्त' अर्थात् कर्मयोगी दर्शनादि करनेपर भी बुद्धिके द्वारा निश्चयकर ऐसा मानेंगे कि इन्द्रियाँ इन्द्रिय-ग्राह्य विषयोंमें वर्त्तमान हैं, निरभिमान अर्थात् मैं कुछ नहीं करता हूँ।।८-९।।

ब्रह्मण्याधाय कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा करोति यः।
लिप्यते न स पापेन पद्मपत्रमिवाम्भसा।।१०।।

अन्वय—यः (जो) सङ्गम् त्यक्त्वा (कर्मासक्ति त्यागकर) कर्माणि (कर्मोंको) ब्रह्मणि (मुझ परमेश्वरमें) आधाय (समर्पणकर) करोति (करते हैं) सः (वे) अम्भसा (जलसे) पद्मपत्रम् इव (कमलके पत्तेकी भाँति) पापेन (पापसे) न लिप्यते (नहीं लिप्त होते हैं)।।१०।।

अनुवाद—जो व्यक्ति कर्ममें आसक्ति त्यागकर सभी कर्मोंको मुझ परमेश्वरके प्रति समर्पणकर करते हैं, वे जलसे कमलके पत्तेकी भाँति पापसे नहीं लिप्त होते हैं।।१०।।

श्रीविश्वनाथ—किञ्च, ब्रह्मणि परमेश्वरे मयि कर्माणि समर्प्य सङ्गं त्यक्त्वा साभिमानोऽपि कर्मासक्तिं विहाय यः कर्माणि करोति। पापेनेत्युपलक्षणम्। सोऽपि कर्ममात्रेणैव न लिप्यते।।१०।।

भावानुवाद—और, जो आसक्ति त्यागकर अर्थात् अभिमान रहनेपर भी कर्ममें आसक्तिका त्याग करते हुए ब्रह्म अर्थात् मुझ परमेश्वरमें कर्मोंको अर्पित करते हैं, वे कर्म-मात्रसे लिप्त नहीं होते हैं। यहाँ 'पाप' का प्रयोग उपलक्षणके रूपमें हुआ है।।१०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—शुद्ध आत्माका प्राकृत कर्मसे कोई भी सम्बन्ध नहीं है। निष्काम कर्मयोगी चित्तशुद्धि आदिके क्रमसे तत्त्वविद् होते हैं, उस समय वे आत्म-तत्त्वका अनुभवकर दैहिक क्रियाओंको करनेपर भी ऐसी उपलब्धि करते हैं कि मैं कुछ भी नहीं करता, मेरे पूर्व संस्कारके अनुरूप ईश्वरकी प्रेरणासे जड़ देहकी समस्त क्रियाएँ स्वभावतः निष्पन्न हो रही हैं, जड़देह रहनेके कारण अभी कर्मोंमें कुछ कर्त्तापनका भाव दीखनेपर भी शरीरके विगत होनेपर सिद्धिके समय कर्ममें कर्त्तापनका भाव सम्पूर्ण रूपसे दूर हो जाएगा। ऐसे महात्माओंको कोई भी कर्म संसार-बन्धनमें नहीं डाल सकता।

श्रीभक्तिविनोद ठाकुरने भी ऐसा कहा है—"साधक भक्त देह-सम्बन्धी समस्त क्रियाएँ कर्त्तापनका अभिमान दूरकर पूर्व-पूर्व अभ्यासके कारण करते हैं।।"१०।।

कायेन मनसा बुद्ध्या केवलैरिन्द्रियैरपि।
योगिनः कर्म कुर्वन्ति सङ्गं त्यक्त्वात्मशुद्धये।।११।।

अन्वय—योगिनः (योगिगण) आत्मशुद्धये (चित्तशुद्धिके लिए) सङ्गम् त्यक्त्वा (आसक्ति त्यागकर) कायेन मनसा बुद्ध्या (काय, मन और बुद्धि द्वारा) केवलैः इन्द्रियैः अपि (मनःसंयोगरहित केवल इन्द्रियोंके द्वारा भी) कर्म कुर्वन्ति (कर्म करते हैं)।।११।।

अनुवाद—योगिगण चित्तशुद्धिके लिए आसक्ति त्यागकर काय, मन और बुद्धि द्वारा अथवा कभी मनःसंयोगरहित केवल इन्द्रियों द्वारा भी कर्म करते हैं।।११।।

श्रीविश्वनाथ—कैवलैरपीन्द्रियैरिति। 'इन्द्राय स्वाहा' इत्यादिना हविराद्यर्पण-काले यद्यपि मनः क्वाऽप्यन्यत्र तदपीत्यर्थः। आत्मशुद्धये मनःशुद्ध्यर्थम्।।११।।

भावानुवाद—योगिगण केवल इन्द्रियोंसे भी कर्म करते हैं, जैसे—यद्यपि हविके अर्पणके समय मन कहीं अन्यत्र भी होता है, परन्तु 'इन्द्राय स्वाहा' इत्यादि बोलते हुए कर्म चलता रहता है। 'आत्मशुद्धये' अर्थात् मनकी शुद्धिके लिए ही योगिगण कर्म करते हैं।।११।।

युक्तः कर्मफलं त्यक्त्वा शान्तिमाप्नोति नैष्ठिकीम्।
अयुक्तः कामकारेण फले सक्तो निबध्यते।।१२।।

अन्वय—युक्तः (निष्काम कर्मयोगी) कर्मफलम् (कर्मफलको) त्यक्त्वा (त्यागकर) नैष्ठिकीम् (निष्ठाप्राप्त) शन्तिम् (मोक्षको) आप्नोति (प्राप्त होते हैं) अयुक्तः (सकाम कर्मी) कामकारेण (कामप्रवृत्तिवश) फले सक्तः (फलमें आसक्त होकर) निबध्यते (बन्धनको प्राप्त होता है)।।१२।।

अनुवाद—निष्काम कर्मयोगी कर्मफलकी आसक्तिको त्यागकर निष्ठाप्राप्त मोक्षको प्राप्त होते हैं। किन्तु, सकाम कर्मी कामप्रवृत्तिवश फलासक्त होकर बन्धनको प्राप्त होता है।।१२।।

श्रीविश्वनाथ—कर्मकरणे अनासक्त्यासक्ती एव मोक्षबन्धहेतु इत्याह—युक्तो योगी निष्कामकर्मीत्यर्थः। नैष्ठिकीं निष्ठाप्राप्तां शान्ति मोक्षमित्यर्थः। अयुक्तः सकाम-कर्मीत्यर्थः। कामकारेण कामप्रवृत्त्या।।१२।।

भावानुवाद—कर्मके करनेमें अनासक्ति और आसक्ति ही मोक्ष और बन्धनका कारण है, इसके लिए ही 'युक्तः' इत्यादि कह रहे हैं। युक्त-योगी अर्थात् निष्काम कर्मी निष्ठाप्राप्त शान्ति अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं। अयुक्त अर्थात् सकाम कर्मी काम प्रवृत्तिवश संसारमें बँधते हैं।।१२।।

सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्यास्ते सुखं वशी।
नवद्वारे पुरे देही नैव कुर्वन्न कारयन्॥१३॥

अन्वय—वशी (जितेन्द्रिय) देही (जीव) सर्वकर्माणि (सभी कर्मोंको) मनसा (मन द्वारा) संन्यस्य (सम्यक् त्यागकर) नवद्वारे पुरे (नौ द्वारोंवाले शरीरमें) न एव कुर्वन् (न ही स्वयं कर्म करता हुआ) न कारयन् (न अन्योंसे करवाता हुआ) सुखम् आस्ते (सुखपूर्वक अवस्थित रहता है)॥१३॥

अनुवाद—जितेन्द्रिय जीव मन द्वारा सभी कर्मोंको त्यागकर न तो स्वयं कर्म करता हुआ न ही दूसरोंसे करवाता हुआ इस नौ द्वारोंवाले शरीरमें सुखपूर्वक अवस्थित रहता है॥१३॥

श्रीविश्वनाथ—अतोऽनासक्तः कर्माणि कुर्वन्नपि *"ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी"* इति पूर्वोक्तवत् वस्तुतः संन्यासी एवोच्यते इत्याह—सर्वकर्माणि मनसा संन्यस्य कायादिव्यापारेण बहिष्कुर्वन्नपि वशी जितेन्द्रियः सुखमास्ते। कुत्र?—नवद्वारे पुरे पुरवदहं भावशून्येदेहे देही उत्पन्नज्ञानो जीवः नैव कुर्वन्निति कर्मसुखस्य वस्तुतः कर्त्तृत्वं नैवास्तीति जानन्, न कारयन्निति नापि तेषु स्वस्य प्रयोजनकत्वमित्यपि जानन्नित्यर्थः॥१३॥

भावानुवाद—अतएव *'ज्ञेयः स नित्यसंन्यासी'* (गीता ५/३) इस पूर्वोक्त कथनानुसार वस्तुतः अनासक्त भावसे कर्म करनेवाला ही संन्यासी कहलाता है। इसके लिए ही 'सर्वकर्माणि' इत्यादि कह रहे हैं। समस्त कर्मोंको मनके द्वारा सम्यक् त्यागकर शरीर आदिके बाह्य कार्योंको करनेपर भी वह जितेन्द्रिय होकर सुखी रहता है। वह कहाँ रहता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—वह नवद्वार वाले पुर अर्थात् अहंभावसे रहित शरीरमें रहता है। देहीका तात्पर्य उस जीवसे है, जिसे ज्ञान उत्पन्न हो चुका है। ऐसा जीव यह जानकर कर्म करते हुए भी कर्म नहीं करता है कि वस्तुतः मैं कर्मसुखका कर्त्ता नहीं हूँ और यह जानकर कर्म करवाते हुए भी कर्म नहीं करवाता है कि मुझे उसका प्रयोजन भी नहीं है॥१३॥

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—मनुष्य शरीर गृहके समान है—*'गृहं शरीरं मानुष्यम्'* (श्रीमद्भा. ११/१९/४३)। यह विषय श्रीमद्भागवतके पुरञ्जन उपाख्यानमें विशेषरूपसे द्रष्टव्य है। इस मनुष्य शरीररूप गृहके नौ द्वार निम्नलिखित हैं—दो नेत्र, दो कर्ण, दो नासिका छिद्र, एक मुख—सिरके ये सात तथा नीचेके मलद्वार तथा जननेन्द्रिय। योगी नौ द्वारविशिष्ट देहसे भिन्न जीवात्मा या स्व-स्वरूपका दर्शन करते हैं। वे राहगीरकी भाँति इस धर्मशालारूप शरीरमें रहकर भी इसमें ममता या आसक्ति नहीं रखते। वे समस्त इन्द्रियोंके अधिपति भगवान्‌की सेवा करते हैं॥१३॥

न कर्त्तृत्वं न कर्माणि लोकस्य सृजति प्रभुः।
न कर्मफलसंयोगं स्वभावस्तु प्रवर्त्तते।।१४।।

अन्वय—प्रभुः (ईश्वर) लोकस्य (लोगोंके) न कर्त्तृत्वम् (न कर्त्तृत्वको) न कर्माणि (न कर्मोंको) न कर्मफलसंयोगम् (न कर्मफलके संयोगको) सृजति (सृजित करते हैं) तु (किन्तु) स्वभावः (अनादि अविद्या ही) (इनमें) प्रवर्त्तते (प्रवृत्त हो रही है)।।१४।।

अनुवाद—ईश्वरने न लोगोंके कर्त्तृत्व, न कर्म और न ही कर्मफलके संयोगका सृजन किया है, बल्कि उनका स्वभाव अर्थात् अनादि अविद्या ही इनमें प्रवृत्त हो रही है।।१४।।

श्रीविश्वनाथ—ननु च यदि जीवस्य वस्तुतः कर्त्तृत्वादिकं नैवास्ति, तर्हि परमेश्वरसृष्टे जगति सर्वत्र जीवस्य कर्त्तृत्वभोक्तृत्त्वादि-दर्शनान्मन्ये परमेश्वरेणैव बलात्तस्य कर्त्तृत्वादिकं सृष्टम्। तथा सति तस्मिन् वैषम्य-नैर्घृण्ये प्रसक्ते, तत्र न हि न हीत्याह—न कर्त्तृत्वमिति। नापि तत्कर्त्तव्यत्वेन कर्माण्यपि, न च कर्मफलैभोगैः संयोगमपि, किन्तु जीवस्य स्वभावोऽनाद्यविद्यैव प्रवर्त्तते, तं जीवं कर्त्तृत्वाद्यभिमानमारोहयितुमिति भावः।।१४।।

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि वस्तुतः जीवके कर्त्तृत्व आदि नहीं हैं, तो ईश्वर रचित संसारमें सर्वत्र जीवको कर्त्ता, भोक्ता आदि देखकर ऐसा लगता है, मानो ईश्वरने ही बलपूर्वक उनका कर्त्तृत्वादि सृष्ट किया है। यदि ऐसा हो, तो परमेश्वरमें वैषम्य, नैर्घृण्य आदि दोषोंकी सम्भावना होती है। इसके उत्तरमें कहते हैं—नहीं, नहीं, 'न कर्त्तृत्वम्', उन्होंने न तो कर्त्तृत्व, न ही कर्त्तव्यरूपमें कथित समस्त कर्म और न ही कर्मफलका संयोग अर्थात् भोगोंको सृष्ट किया है। अपितु, जीवको कर्त्तृत्वादि अभिमानमें आरोहण करानेके लिए जीवका स्वभाव अर्थात् अनादि अविद्या ही प्रवृत्त होती है।।१४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—कर्ममें जीवका कर्त्तृत्व नहीं है—ऐसा कहनेसे कोई यह न समझ ले कि एकमात्र परमेश्वरकी प्रेरणासे ही जीव कर्ममें प्रवृत्त हो रहा है। ऐसा माननेसे परमेश्वरमें वैषम्य, निष्ठुरतादि दोषोंको स्वीकार करना पड़ता है। इसके अतिरिक्त कर्मफलके साथ जीवके संयोगमें भी भगवान्‌का कोई कर्त्तृत्व नहीं है। यह संयोग जीवकी अनादि अविद्याके कारण ही होता है अर्थात् अज्ञानात्मिका दैवी माया (प्रकृति) जीवोंके इस स्वभावका प्रवर्त्तन करती है। ऐसी अविद्यासे उत्पन्न हुए स्वभावयुक्त

लोगोंको ही परमेश्वर कर्मोंमें नियुक्त कर देते हैं। वे स्वयं जीवोंमें कर्त्तृत्वादिको उत्पन्न नहीं करते—

'वैषम्य-नैर्घृण्ये दोषर्न सापेक्षत्वात्तथा हि दर्शयति'

(ब्र. सू. २/१/३४)

इस सूत्रके द्वारा परमेश्वरको वैषम्य और निष्ठुरता आदि दोषोंसे सम्पूर्णरूपसे मुक्त बताया गया है।

श्रुतिके अनुसार जैसे ब्रह्म अनादि है, वैसे ही जीवोंका कर्मसंस्कार भी अनादि है। परमेश्वर उन कर्मोंके संस्कारके अनुसार जीवोंको उत्तरोत्तर नियुक्तमात्र करते हैं। अतः परमेश्वरमें वैषम्य आदिका दोष युक्तिसंगत नहीं है। (छा. उ. ६/२/१)।

भविष्य पुराणमें भी ऐसा कहा गया है—"कर्म संस्कारके अनुसार ही श्रीविष्णु जीवको स्थूल कर्मोंमें नियुक्त करते हैं। इसलिए जीवोंके संस्कार अनादि होनेके कारण परमेश्वर किसी भी प्रकार दोषके भागी नहीं हैं।"

"यदि कहो कि कर्मसंस्कारके अनुसार ही परमेश्वर जीवोंको कर्ममें प्रवृत्त कराते हैं, तो ऐसा माननेसे ईश्वर भी स्वाधीन नहीं, वरं कर्मपरतन्त्र हैं—यह मानना पड़ेगा। इसके उत्तरमें कहते हैं—नहीं, ऐसा नहीं है, क्योंकि मूलतः कर्मसत्ता भी ईश्वरके अधीन रहनेके कारण अनादि जीव-स्वभावके अनुरूप ही परमेश्वर जीवको कर्ममें प्रवृत्त कराते हैं। ईश्वर इस स्वभावको पलट देनेमें समर्थ होनेपर भी ऐसा नहीं करते। इस प्रकार वे सभी अवस्थाओंमें वैषम्यरहित हैं।"—गोविन्दभाष्य।।१४।।

नादत्ते कस्यचित्पापं न चैव सुकृतं विभुः।
अज्ञानेनावृतं ज्ञानं तेन मुह्यन्ति जन्तवः।।१५।।

अन्वय—विभुः (परमेश्वर) न कस्यचित् (न किसीके) पापम् (पापको) आदत्ते (ग्रहण करते हैं) न च एव सुकृतम् (और न ही पुण्यको ग्रहण करते हैं) अज्ञानेन (अविद्या द्वारा) ज्ञानम् (जीवका स्वाभाविक ज्ञान) आवृतम् (आच्छादित है) तेन (उसीसे) जन्तवः (सभी जीव) मुह्यन्ति (मोहित हो रहे हैं)।।१५।।

अनुवाद—परमेश्वर न किसीके पापको और न ही पुण्यको ग्रहण करते हैं। अविद्या द्वारा जीवका स्वाभाविक ज्ञान आच्छादित है, उसीसे समस्त जीव मोहित हो रहे हैं।।१५।।

श्रीविश्वनाथ—यस्मादसाधु-साधुकर्मणामीश्वरो न कारयिता, तस्मादेव न पापपुण्यभागित्वमित्याह—नादत्ते न गृह्णाति, किन्तु तदीया खलु या शक्तिरविद्या, सैव जीवज्ञानमावृणोतीत्याह—अज्ञानेनाविद्यया। ज्ञानं जीवस्य स्वाभाविकम्, तेन हेतुना।।१५।।

भावानुवाद—जिस कारणसे ईश्वर अच्छे और बुरे कर्मोंके प्रवर्त्तक नहीं हैं, उसी कारणसे वे पाप-पुण्यके भी भागी नहीं है। इसीलिए कहते हैं—'नादत्ते' इत्यादि। किन्तु, उनकी जो अविद्या शक्ति है, वही जीवके ज्ञानको आवृत करती है। इसलिए कहते हैं—'अज्ञानेन' अर्थात् अविद्या द्वारा जीवका स्वाभाविक ज्ञान आवृत हो जाता है। इस कारणसे ही जीव मोहावस्थाको प्राप्त होता है।।१५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान् 'विभु' अर्थात् व्यापक एवं अपरिमित हैं। वे विज्ञानानन्दपूर्ण अनन्त शक्तिसम्पन्न हैं। वे सदा-सर्वदा स्व-स्वरूपगत आनन्द-सागरमें निमग्न रहते हैं। इसलिए अन्यत्र उदासीन रहनेके कारण वे सत्कर्म और असत्कर्मके प्रवर्त्तक नहीं है, किन्तु आत्माराम और आप्तकाम भगवान्की अविद्या शक्तिके द्वारा स्वरूपगत और स्वाभाविक ज्ञान आच्छादित होनेके कारण बद्धदशा प्राप्त जीवका जड़देहमें आत्म-अभिमान होता है। इस देहात्म बुद्धिके कारण ही जीव मोहवशतः अपनेमें कर्मकर्त्ताका अभिमान करता है। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा कहा गया है—

'नादत्त आत्मा हि गुणं न दोषं न क्रियाफलम्।
उदासीनवदासीनः परावरदृगीश्वरः।।'

(श्रीमद्भा. ६/१६/११)

चित्रकेतु महाराजके मृत पुत्रका जीवात्मा शोक-सन्तप्त चित्रकेतु महाराजको यह उपदेश दे रहा है—"आत्मा सुख-दुःख अथवा कर्मफलसे प्राप्त राज्य इत्यादि कुछ भी ग्रहण नहीं करता, वह कारण और कार्यका साक्षी है तथा देहादिके परतन्त्र न होकर उदासीनकी भाँति अवस्थान कर रहा है।।"१५।।

ज्ञानेन तु तदज्ञानं येषां नाशितमात्मनः।
तेषामादित्यवज्ज्ञानं प्रकाशयति तत्परम्।।१६।।

अन्वय—तु (किन्तु) येषाम् (जिनका) तत् अज्ञानम् (वह अज्ञान) आत्मनः ज्ञानेन (जीवविषयक ज्ञानसे) नाशितम् (विनष्ट हो गया है) तेषाम्

(उनका) ज्ञानम् (ज्ञान) आदित्यवत् (सूर्यके समान प्रकाशित होकर) तत्परम् (अप्राकृत परम तत्त्वको) प्रकाशयति (प्रकाशित कर देता है)।।१६।।

अनुवाद—किन्तु, जिनका वह अज्ञान भगवान्‌के ज्ञानसे विनष्ट हो गया है, उनका वह ज्ञान ही सूर्यके समान प्रकाशित होकर (अन्धकार या अविद्याको नष्ट करते हुए) अप्राकृत परम तत्त्वको प्रकाशित कर देता है।।१६।।

श्रीविश्वनाथ—यथा अविद्या तस्य ज्ञानमावृणोति, तथैवापरा तस्य विद्याशक्तिरविद्यां विनाश्य ज्ञानं प्रकाशयतीत्यर्थः। ज्ञानेन विद्याशक्त्याऽज्ञानमविद्याम्। तेषां जीवानां ज्ञानमेव कर्त्तृ, आदित्यवदिति। आदित्यप्रभा यथान्धकारं विनाश्य घटपटादिकं प्रकाशयति, तथैव विद्यैवाविद्यां विनाश्य तज्जीवनिष्ठं ज्ञानं परम अप्राकृतं प्रकाशयति। तेन परमेश्वरो न कमपि बध्नाति, नापि कमपि मोचयति। किन्तु अज्ञानज्ञाने प्रकृतेरेव धर्मे क्रमेण बध्नाति मोचयति च। कर्त्तृत्वभोक्तृत्व-तत्प्रयोजकत्वादयो बन्धकाः, अनासक्तिशान्त्यादयो मोचकाश्च प्रकृतेरेव धर्माः। किन्तु परमेश्वरस्यान्तर्यामित्व एव प्रकृतेस्ते ते धर्मा उद्‌बुध्यन्ते इत्येतदंशेनैव तस्य प्रयोजकत्वमिति न तस्य वैषम्य-नैर्घृण्ये।।१६।।

भावानुवाद—जिस प्रकार अविद्या शक्ति जीवोंके ज्ञानको आवृत करती है, उसी प्रकार उनकी विद्या शक्ति अज्ञान अर्थात् अविद्याको नष्टकर ज्ञानका प्रकाश करती है। ज्ञान अर्थात् विद्या-शक्ति द्वारा, अज्ञान अर्थात् अविद्याको नष्ट किया जाता है। जिस प्रकार सूर्यकी रश्मि अन्धकारका विनाशकर घट-पटादिका प्रकाश करती है, उसी प्रकार विद्या अविद्याका नाशकर जीवनिष्ठ उस परम अप्राकृत ज्ञानका प्रकाश करती है। इसलिए परमेश्वर न किसीको बाँधते हैं और न ही किसीको मुक्त करते हैं। अपितु प्रकृतिके धर्मानुसार अज्ञान और ज्ञान ही क्रमशः बन्धन और मोचन (मुक्त) करते हैं। कर्त्तृत्व, भोक्तृत्व और उनके प्रयोजकत्व आदि बन्धनकारी हैं एवं अनासक्ति, शान्ति आदि मोचनकारी हैं—ये प्रकृतिके ही धर्म हैं। परमेश्वर आंशिकरूपमें प्रयोजक हैं, क्योंकि उनके अन्तर्यामी होनेके कारण ही प्रकृतिके सब धर्म उद्‌बुद्ध होते हैं। अतः उनमें वैषम्य और निर्दयता आदि दोषोंका स्थान नहीं है।।१६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जीव अनादि प्रकृतिसे देह प्राप्तकर अपनी वासनाके अनुसार ही कर्ममें प्रवृत्त होता है। परमेश्वर किसी भी जीवके पाप-पुण्यका विधान नहीं करते। ऊर्द्ध्वगति साधकका पुण्य और अधोगति

साधकका पाप—सब कुछ जीवकी प्राचीन वासनाके अनुसार ही होता है। भगवान्‌की मायाशक्ति द्वारा दण्डस्वरूप जीवका स्व-स्वरूप आच्छादित होनेपर जीवकी देहात्मबुद्धि उत्पन्न होती है, इसीलिए वह अपनेको सभी कर्मोंका कर्त्ता समझता है। जीवकी ऐसी अवस्थाके लिए परमेश्वरके ऊपर किसी प्रकारका दोषारोपण नहीं किया जा सकता।

मायाकी अविद्या और विद्या वृत्ति ही क्रमशः जीवके बन्धन एवं बन्धनसे मुक्तिका कारण है। श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहा गया है—

'विद्याविद्ये मम तनू विद्ध्युद्धव शरीरिणाम्।
मोक्ष बन्धकरी आद्ये मायया मे विनिर्मिते।।'

(श्रीमद्भा. ११/११/३)

अर्थात्, हे उद्धव अविद्या और विद्या—ये दोनों मेरी माया शक्तिकी वृत्तियाँ हैं। यहाँ श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुरके अनुसार—विद्या मोक्षदायिनी और अविद्या बन्धकारिणी है। मायाकी तीन वृत्तियाँ हैं—प्रधान, अविद्या और विद्या। प्रधानके द्वारा सत्यकी भाँति प्रतीत होनेवाली जीवकी उपाधि सृष्ट होती है, सत्य न होनेपर भी सत्यकी भाँति प्रतीत होती है। अविद्या द्वारा उसमें मिथ्या आरोप सम्पन्न होता है तथा विद्याके द्वारा मिथ्या आरोप दूर हो जाता है। यहाँ इस विषयको भलीभाँति समझ लेना चाहिए कि प्रधान द्वारा सृष्ट जीवका औपाधिक स्थूल और लिङ्गशरीर असत्य नहीं है, किन्तु इन दोनोंमें 'मैं' और 'मेरा' का सम्बन्ध असत्य अथवा मिथ्या है। वेदों एवं उपनिषदोंमें इसीको विवर्त्त बताया गया है।

परमेश्वरमें स्वतः कर्त्तृत्व नित्य विद्यमान रहता है। प्रकृति उनकी जड़ा-शक्ति है। प्रभुकी दृष्टिशक्तिसे प्रकृति कार्य करनेमें समर्थ होती है। इसलिए जगत्-सृष्टिका गौण कारण प्रकृतिके होनेपर भी परमेश्वर ही आंशिक रूपमें इसके प्रयोजक हैं।

"ज्ञान दो प्रकारका होता है—प्राकृत और अप्राकृत। प्राकृत अथवा जड़-प्रकृति-सम्बन्धी ज्ञानको ही जीवका 'अज्ञान' या 'अविद्या' कहते हैं। अप्राकृत ज्ञान ही 'विद्या' है। अप्राकृत ज्ञानोदय होनेसे जिन जीवोंका प्राकृत ज्ञान नष्ट हो जाता है, उनके निकट परमज्ञानरूप अप्राकृत ज्ञान उदित होकर अप्राकृत परमतत्त्वका प्रकाश करता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१६।।

तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः।
गच्छन्त्यपुनरावृत्तिं ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः।।१७।।

अन्वय—तत्-बुद्धयः (जिनकी बुद्धि परमेश्वरमें ही निविष्ट है) तत्-आत्मनः (जिनका मन उनके ही ध्यानमें मग्न है) तत्-निष्ठाः (जो मात्र परमेश्वरके प्रति निष्ठवान् हैं) तत्-परायणाः (जो उनके श्रवण-कीर्त्तन-परायण हैं) ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः (ज्ञान अर्थात् विद्या द्वारा जिनकी समस्त अविद्या नष्ट हो चुकी है) [सः—वे] अनुपरावृत्तिम् (मोक्षको) गच्छन्ति (प्राप्त होते हैं)।।१७।।

अनुवाद—जिनकी बुद्धि परमेश्वरमें ही निविष्ट है, जिनका मन केवल उनके ही ध्यानमें मग्न है, जो मात्र उनके ही प्रति निष्ठावान् हैं, जो उनके श्रवण-कीर्त्तन-परायण हैं, जिनकी समस्त अविद्या विद्या द्वारा नष्ट हो चुकी है, वे अपुनरावृत्तिरूप मोक्षको प्राप्त होते हैं।।१७।।

श्रीविश्वनाथ—किन्तु विद्या जीवात्मज्ञानमेव प्रकाशयति, न तु परमात्मज्ञानम्— *"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः"* इति भगवदुक्तेः। तस्मात् परमात्मज्ञानार्थं ज्ञानिभिरपि पुनर्विशेषतो भक्तिः कार्या इत्यत आह तद्बुद्धय इति। तत्पदेन पूर्वोपक्रान्तो विभुः परामृश्यते। तस्मिन् परमेश्वर एव बुद्धिर्येषां ते, तन्मननपरा इत्यर्थः। तदात्मानस्तन्मनस्कास्तमेव ध्यायन्त इत्यर्थः। तन्निष्ठाः *"ज्ञानञ्चमयि संन्यसेत्"* इति भगवदुक्तेः। देहाद्यतिरिक्तात्मज्ञानेऽपि सात्त्विके निष्ठां परित्यज्य तदेकनिष्ठास्तत्परायणास्तदीयश्रवणकीर्त्तनपराः। यद्वक्ष्यते— *"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः। ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।"* इति। 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' ज्ञानेन विद्ययैव पूर्वमेव ध्वस्तसमस्ताविद्याः।।१७।।

भावानुवाद—किन्तु, विद्या जीवात्म-ज्ञानको ही प्रकाशित करती है, परमात्म-ज्ञानको नहीं। श्रीमद्भागवत (११/१४/२१) में कहा गया हैं—*'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः'* अर्थात् मैं एकमात्र भक्ति द्वारा ही ग्राह्य हूँ। अतएव परमात्म-ज्ञान प्राप्त करनेके लिए ज्ञानियोंको पुनः विशेषरूपसे भक्ति-साधन करना होता है। इसलिए कहते हैं—'तद्बुद्धयः' इत्यादि। यहाँ 'तत्' शब्दसे पूर्व वर्णित विभु (परमेश्वर) की ही विवेचना हो रही है। अतः 'तद्बुद्धयः' का तात्पर्य है—उन परमेश्वरमें ही जिनकी बुद्धि है अर्थात् जो उनके विषयमें ही चिन्ताशील हैं, 'तदात्मा' का अर्थ है—जो उनका ही ध्यान करते हैं। *'ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्'* (श्रीमद्भा. ११/१९/१) अर्थात् ज्ञान भी मुझमें भलीभाँति न्यस्त करेंगे—भगवान्‌की इस उक्तिके अनुसार

देहादिसे भिन्न आत्म-ज्ञान रहनेपर भी जो सात्त्विक भावमें निष्ठाका परित्यागकर एकमात्र भगवन्निष्ठ हैं—वे ही 'तन्निष्ठाः' हैं। तत्परायण का तात्पर्य है—जो उनके विषयमें श्रवण-कीर्त्तन परायण हैं। आगे गीता (१८/५५) में भी बताया गया है—

'भक्त्या मामभिजानाति यावान्यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।'

अर्थात्, भक्तिके द्वारा ही मुझे तत्त्वतः जाना जा सकता है और तभी मुझे प्राप्त किया जा सकता है। अतः विद्या द्वारा जिनकी समस्त अविद्या ध्वस्त हो गई है, उसे ही परमात्म-ज्ञान प्राप्त होता है।।१७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—ज्ञान सात्त्विक होता है—*'सत्वात् संजायते ज्ञानम्'*(गीता १४/१७) किन्तु, परमात्मा गुणातीत और गुणाधीश हैं। अतएव सात्त्विक ज्ञानरूपी विद्या अज्ञानको नष्ट करनेका हेतु होनेपर भी परमात्म-ज्ञानके उदयका हेतु नहीं है। भक्ति ही भगवत्-तत्त्वज्ञानको उदित करानेका एकमात्र हेतु है—*'भक्त्या मामभिजानाति'* (गीता १८/५५)। इस प्रसङ्गमें गीता (१८/५५) की सारार्थवर्षिणी टीका विशेषरूपसे विवेचनीय है।।१७।।

विद्याविनयसम्पन्ने ब्राह्मणे गवि हस्तिनि।
शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः।।१८।।

अन्वय—पण्डिताः (ज्ञानिगण) विद्या-विनय-सम्पन्ने ब्राह्मणे (विद्या और विनयसे सम्पन्न ब्राह्मणमें) श्वपाके च (एवं चाण्डालमें) गवि (गायमें) हस्तिनि (हाथीमें) शुनि च एव (एवं कुत्तेमें भी) समदर्शिनः (समदृष्टि-सम्पन्न अर्थात् समदर्शी होते हैं)।।१८।।

अनुवाद—ज्ञानिगण विद्या-विनयसे सम्पन्न ब्राह्मण, चाण्डाल, गाय, हाथी और कुत्तेमें भी समदर्शी होते हैं।।१८।।

श्रीविश्वनाथ—ततश्च गुणातीतानां तेषां गुणमये वस्तुमात्र एवं तारतम्यमयं विशेषमजिघृक्षूणां समबुद्धिरेव स्यादित्याह विद्येति। ब्राह्मणे गवीति, सात्त्विकजातित्वात्, हस्तिनि मध्यमे शुनि च श्वपाके चेति तामस-जातित्वादधमेऽपि तत्तद्विशेषाग्रहणात् समदर्शिनः पण्डिता गुणतीताः, विशेषाग्रहणमेव समं गुणातीतं ब्रह्म तद्द्रष्टुं शीलं येषां ते।।१८।।

भावानुवाद—उसके बादमें गुणातीत हो जाते हैं और गुणमय वस्तु-मात्रमें जो गुणोंका तारतम्य है, उसे ग्रहण करनेमें अनिच्छुक हो जाते हैं। ऐसे

वस्तुओंमें वे समुबुद्धिवान् होंगे, इसलिए 'विद्या विनय' इत्यादि कह रहे हैं। ब्राह्मण और गाय सात्त्विक जातिके कहे जाते हैं, हाथी मध्यम अर्थात् राजस है और कुत्ता एवं चाण्डाल तामस जातिके हैं, अतः अधम हैं। किन्तु, गुणातीत पण्डितगण उनकी इन विशेषताओंको नहीं ग्रहण करते हैं। अपितु, गुणातीत 'ब्रह्म' को सर्वत्र देखनेके कारण वे समदर्शी कहलाते हैं।।१८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—ज्ञानी व्यक्तियोंका दर्शन किस प्रकारका होता है—इसे ही उपरोक्त श्लोकमें बताया जा रहा है। यहाँ 'समदर्शी' शब्दका तात्पर्य है—(१) सभी देहोंमें भगवान्‌की तटस्था शक्तिसे प्रकटित एक ही स्वरूपविशिष्ट जीवात्मा वास करते हैं—ऐसे आत्मदर्शी पुरुष ही समदर्शी हैं। भगवान्‌ने आगे गीता (६/३२) में इसे और भी स्पष्ट किया है।

(२) ब्रह्मदर्शी—

'ब्राह्मणे पुक्कसे स्तेने ब्रह्मण्येऽर्क स्फुलिङ्गके।
अक्रूरे क्रूरके चैव समदृक् पण्डितो मतः।।'

(श्रीमद्भा. ११/२९/१४)

अर्थात्, जो ब्राह्मण तथा चण्डाल, चोर तथा ब्राह्मण, सूर्यकी किरण तथा अग्निकी चिङ्गारी और क्रूर तथा अक्रूरको भी एक समान देखता है, मेरे मतमें वह पण्डित है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्ती ठाकुर 'समदृक्' का अर्थ इस प्रकार करते हैं—मुझ परब्रह्मको सर्वत्र ही एकरूपमें दर्शन करना। ऐसे दृष्टिसे सम्पन्न व्यक्तिको समदर्शी कहा जाता है।।१८।।

इहैव तैर्जितः सर्गो येषां साम्ये स्थितं मनः।
निर्दोषं हि समं ब्रह्म तस्माद्ब्रह्मणि ते स्थिताः।।१९।।

अन्वय—येषाम् (जिनका) मनः (मन) साम्ये (समत्वमें) स्थितम् (अवस्थित है) तैः (उनके द्वारा) इह एव (इस लोकमें ही) सर्गः (संसार) जितः (जीत लिया गया है) हि (क्योंकि) ब्रह्म (ब्रह्म) निर्दोषम् (दोषरहित) समम् (समभावयुक्त है) तस्मात् (अतः) ते (वे) ब्रह्मणि (ब्रह्ममें) स्थिताः (अवस्थित रहते हैं)।।१९।।

अनुवाद—जिन लोगोंका मन समत्वमें अवस्थित है, उनके द्वारा इस लोकमें ही सम्पूर्ण संसार जीत लिया गया है। क्योंकि, ब्रह्म निर्दोष तथा समभावयुक्त है, अतः वे ब्रह्ममें ही अवस्थित रहते हैं।।१९।।

श्रीविश्वनाथ—समदृष्टित्वं स्तौति—इहैव इह लोक एव सृज्यत इति सर्गः। संसारो जितः पराभूतः।।१९।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् यहाँ समदृष्टित्वकी प्रशंसा कर रहे हैं। इस लोकमें ही जिसकी सृष्टि हुई है, उसे सर्ग कहते हैं। 'जितः' का तात्पर्य है—पराभूत करना।।१९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—'इहलोकमें ही' का तात्पर्य है—इसी लोकमें जीवित अवस्थामें ही अथवा साधन दशामें ही वे संसार-बन्धनसे मुक्त हो जाते हैं।।१९।।

न प्रहृष्येत्प्रियं प्राप्य नोद्विजेत्प्राप्य चाप्रियम्।
स्थिरबुद्धिरसंमूढो ब्रह्मविद्ब्रह्मणि स्थितः।।२०।।

अन्वय—ब्रह्मवित् (ब्रह्मवेत्ता पुरुष) ब्रह्मणि स्थितः (ब्रह्ममें अवस्थित) स्थिरबुद्धिः (स्थिर बुद्धिवाले) असंमूढः (मोहरहित होते हैं) [सः—वे] प्रियम् प्राप्य (प्रिय वस्तुको प्राप्तकर) न प्रहृष्येत् (न प्रफुल्लित होते हैं) च (और) अप्रियम् प्राप्य (अप्रिय वस्तुको पाकर) न उद्विजेत् (उद्विग्न भी नहीं होते हैं)।।२०।।

अनुवाद—ब्रह्ममें अवस्थित ब्रह्मवेत्ता पुरुष स्थिर बुद्धिवाले और मोहरहित होते हैं। वे प्रिय वस्तुको प्राप्तकर हर्षित नहीं होते हैं और अप्रिय वस्तुको प्राप्तकर उद्विग्न भी नहीं होते हैं।।२०।।

श्रीविश्वनाथ—एवं लौकिक प्रियाप्रियादिष्वपि तेषां साम्यमाह—न प्रहृष्येदिति। न प्रहृष्येत् न प्रहृष्यति, नोद्विजेत् नोद्विजते। साधनदशायामेवमभ्यसेदिति विवक्षया वा लिङ्। असंमूढ़ः हर्षशोकादीनामभिमाननिबन्धनत्वेन सम्मोहमात्रत्वात्।।२०।।

भावानुवाद—लौकिक प्रिय और अप्रिय वस्तुओंमें ज्ञानीके समत्व बुद्धिको प्रदर्शित करते हुए 'न प्रहृष्येत्' इत्यादि कह रहे हैं। 'न प्रहृष्येत्' का तात्पर्य है—आनन्दित नहीं होते हैं और 'नोद्विजेत्' का तात्पर्य है—उद्विग्न नहीं होते हैं। अथवा, साधनदशामें ही उसका अभ्यास करना उचित है—इस इच्छासे विधिलिङ्ग क्रियाका व्यवहार हुआ है। हर्ष-शोकादिके अभिमानसे लोग सम्मोहित होते हैं, अतः इसके अभावमें ज्ञानिगण मोहरहित होते हैं।।२०।।

बाह्यस्पर्शेष्वसक्तात्मा विन्दत्यात्मनि यत्सुखम्।
स ब्रह्मयोगयुक्तात्मा सुखमक्षयमश्नुते।।२१।।

अन्वय—बाह्यस्पर्शेषु (विषयसुखमें) असक्तात्मा (अनासक्त चित्तवाले) आत्मनि (आत्मामें) यत् सुखम् (जो सुख है) [तत्—उसे] विन्दति (प्राप्त करते हैं) सः ब्रह्मयोगयुक्तात्मा (ब्रह्मयोगसे युक्त वे पुरुष) अक्षयम् सुखम् (अक्षय सुख) अश्नुते (प्राप्त करते हैं)।।२१।।

अनुवाद—विषयसुखमें अनासक्त चित्तवाले लोग आत्मामें जो सुख है, उसे प्राप्त करते हैं। ब्रह्मयोगसे युक्त वे पुरुष अक्षय सुख प्राप्त करते हैं।।२१।।

श्रीविश्वनाथ—स च बाह्यस्पर्शेषु विषयसुखेषु असक्तात्मा अनासक्तमनास्तत्र। हेतुः—आत्मनि जीवात्मनि परमात्मनं विन्दति सति प्राप्ते, यत् सुखं तदक्षयं सुखम्। स एवाश्नुते प्राप्नोति, न हि निरन्तरममृतास्वादिने मृत्तिका रोचत इति भावः।।२१।।

भावानुवाद—वे विषयसुखमें अनासक्तमना होते हैं। उसका कारण यह है कि परमात्माको प्राप्त करनेसे जीवात्माको जो सुख प्राप्त होता है, वह अक्षय सुख होता है। वे उसे ही प्राप्त करते हैं। निरन्तर अमृतका आस्वादन करनेवालेको भला क्या मिट्टी खानेमें रुचि होगी?।।२१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—शब्द-स्पर्श आदि बाह्य विषयसमूह केवल इन्द्रियोंकी सहायतासे ही अनुभूत होते हैं। वे आत्मधर्म नहीं हैं। जो लोग बाह्य विषयोंसे अनासक्त होकर भीतर-ही-भीतर अपनी आत्मासत्तामें परमात्माके दर्शनसे उत्पन्न अनुभवके सुखमें निमग्न रहते हैं, वे विषयोंके सुखभोगकी तो बात दूर रहे, उनका स्मरण भी नहीं करते हैं। *'परं दृष्ट्वा निवर्त्तते'* (गीता २/५९) के अनुसार वे भगवत्-सेवारूप श्रेष्ठ रसमें निमग्न होनेके कारण प्राकृत विषयसुखरूप रससे सर्वथा उदासीन रहते हैं।।२१।।

ये हि संस्पर्शजा भोगा दुःखयोनय एव ते।
आद्यन्तवन्तः कौन्तेय न तेषु रमते बुधः।।२२।।

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) ये भोगाः (जो समस्त भोग) संस्पर्शजाः (विषय-संस्पर्शसे उत्पन्न हैं) ते हि (वे सभी निश्चय ही) दुःखयोनयः एव (दुःखके कारण हैं) [च—और] आद्यन्तवन्तः (आदि तथा अन्तविशिष्ट हैं) बुधः (ज्ञानी पुरुष) तेषु (उनमें) न रमते (नहीं अनुरक्त होते हैं)।।२२।।

अनुवाद—हे कौन्तेय! जो समस्त भोग विषयके संयोगसे उत्पन्न होते हैं, वे सभी निश्चय ही दुःखके कारण हैं और आदि तथा अन्त होनेवाले हैं। ज्ञानी पुरुष उनमें नहीं अनुरक्त होते हैं।।२२।।

श्रीविश्वनाथ—विवेकवानेव वस्तुतो विषयसुखे नैव सज्जतीत्याह—ये हीति।।२२।।

भावानुवाद—विवेकवान् पुरुष वस्तुतः विषयसुखमें नहीं आसक्त होते हैं, इसीलिए 'ये हि' इत्यादि कह रहे हैं।।२२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इन्द्रियोंके द्वारा विषयोंके संस्पर्शसे जो सुख प्राप्त होते हैं, उन्हें संस्पर्श मोक्ष कहते हैं। ऐसे सुख आदि और अन्तवाले होते हैं। ये विषयोंके साथ इन्द्रियोंका संस्पर्श होनेसे उत्पन्न होते हैं तथा वियोग होनेपर उनका अभाव हो जाता है। अतएव पण्डित व्यक्ति क्षणभङ्गुर आपात रमणीय विषय-सुखमें आसक्त नहीं होते, वे केवल देहयात्राके निर्वाहके लिए निष्काम होकर इन्द्रिय-सम्बन्धी कर्मोंको स्वीकार करते हैं।।२२।।

शक्नोतीहैव यः सोढुं प्राक्शरीरविमोक्षणात्।
कामक्रोधोद्भवं वेगं स युक्तः स सुखी नरः।।२३।।

अन्वय—यः (जो) इह एव (इस जन्ममें ही) शरीरविमोक्षणात् प्राक् (शरीरके नाश होनेके पूर्व) काम-क्रोधोद्भवम् (काम और क्रोधसे उत्पन्न) वेगम् (वेगको) सोढुम् (सहनेमें) शक्नोति (समर्थ होते हैं) सः (वे) युक्तः (योगी हैं) [च—और] सः (वे ही) नरः (पुरुष) सुखी (सुखी हैं)।।२३।।

अनुवाद—जो पुरुष इस जन्ममें ही शरीरके नाश होनेके पूर्व काम और क्रोधसे उत्पन्न वेगको सहनेमें समर्थ होते हैं, वे योगी हैं और वे ही सुखी हैं।।२३।।

श्रीविश्वनाथ—संसारसिन्धौ पतितोऽप्येष एव योगी एष एव सुखीत्याह—शक्नोतीति।।२३।।

भावानुवाद—संसारसिन्धुमें पतित होनेपर भी ये योगी हैं और सुखी हैं, इसलिए 'शक्नोति' इत्यादि कह रहे हैं।।२३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—विषयसुखके अनुकूल विषयोंको प्राप्त करनेके लिए जो रागमयी अभिलाषा या तृष्णा होती है, उसे ही यहाँ काम या लोभ कहा गया है। स्त्री-पुरुषके परस्पर सम्मिलनसे सुख प्राप्त करनेकी वासना काम शब्दका निगूढ़ अर्थ है। सभी प्रकारकी वासनाओंको लक्ष्यकर

ही यहाँ काम शब्दका प्रयोग हुआ है। भोगसुखके प्रतिकूल विषयोंके सम्बन्धमें मनके अत्यधिक द्वेषको क्रोध कहते हैं। मृत्युकाल तक जो लोग काम और क्रोधके वेगको सहन करते हैं, वे ही योगी या सुखी हैं।।२३।।

योऽन्तःसुखोऽन्तरारामस्तथान्तर्ज्योतिरेव यः।
स योगी ब्रह्मनिर्वाणं ब्रह्मभूतोऽधिगच्छति।।२४।।

अन्वय—यः (जो) अन्तःसुखः (आत्मामें ही सुखी हैं) अन्तरारामः (आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं) तथा (उसी प्रकार) यः (जो) अन्तर्ज्योतिः एव (आत्मामें ही दृष्टियुक्त हैं) सः योगी (वे योगी) ब्रह्मभूतः (ब्रह्ममें अवस्थित होकर) ब्रह्मनिर्वाणम् (ब्रह्मानन्दको) अधिगच्छति (प्राप्त होते हैं)।।२४।।

अनुवाद—जो आत्मामें ही सुखी हैं, आत्मामें ही रमण करनेवाले हैं और आत्मामें ही दृष्टियुक्त हैं, वे योगी पुरुष ब्रह्ममें अवस्थित होकर ब्रह्मानन्दको प्राप्त होते हैं।।२४।।

श्रीविश्वनाथ—यस्तु संसारातीतस्तस्य तु ब्रह्मानुभव एव सुखमित्याह—य इति। अन्तरात्मन्येव सुखं यस्य सः—यतोऽन्तरात्मन्येव रमते, अतोऽन्तरात्मन्येव ज्योतिर्दृष्टिर्यस्य सः।।२४।।

भावानुवाद—किन्तु, जो संसारसे अतीत हैं, उनके लिए ब्रह्मका अनुभव ही सुख है, इसलिए कहते हैं—'ये अन्तः' इत्यादि। अन्तरात्मामें ही जिन्हें सुख प्राप्त होता है, वे आत्मामें ही रमण करते हैं, अतएव आत्मामें ही उनकी ज्योति या दृष्टि होती है।।२४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्वोक्त काम और क्रोधके प्रबल वेगको सरल-सहजरूपमें किस प्रकार शान्त किया जा सकता है, इसे ही श्रीभगवान् यहाँ बता रहे हैं—आत्म-अनुभवके द्वारा उक्त वेगका सहज ही दमन किया जा सकता है। जो आत्म-अनुभवमें ही सुखका अनुभव करते हैं, जो आत्मामें ही रमण करते हैं तथा आत्म-तत्त्वके प्रति ही जिनकी सर्वदा दृष्टि रहती है, निष्काम कर्मयोगका आश्रय करनेवाले ऐसे योगी ब्रह्मभूत होकर अपने जीव-स्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं। ऐसे योगी काम-क्रोधादि जड़-विषयोंसे अनायास ही निर्वेद प्राप्तकर आत्मामें ही आनन्दका अनुभव करते हैं। इस आत्म-अनुभवानन्दको ही ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं। श्रीभक्तिविनोद ठाकुर गीता (५/२५) की टीकामें इस प्रकार कहते हैं—काम-क्रोधहीन, यतचित्त, आत्मतत्त्वज्ञ यतिगणको ब्रह्मनिर्वाण

सर्वतोभावेन अविलम्ब उपस्थित होता है। संसारस्थित निष्काम कर्मयोगी सत्-असत्का विचार करते हुए प्रकृतिसे अतीत ब्रह्म नामक सद्वस्तुमें अवस्थान करते हैं, उसमें जड़ीय दुःखरूप क्लेशका निर्वाण होता है, उसे ही ब्रह्मनिर्वाण कहते हैं।।२४।।

लभन्ते ब्रह्मनिर्वाणमृषयः क्षीणकल्मषाः।
छिन्नद्वैधा यतात्मानः सर्वभूतहिते रताः।।२५।।

अन्वय—क्षीणकल्मषाः (निष्पाप) छिन्नद्वैधाः (निःसंशय) यतात्मनः (संयतचित्त) [च—और] सर्वभूतहिते रताः (सभी प्राणियोंके हितमें रत) ऋषयः (ऋषिगण) ब्रह्मनिर्वाणम् (ब्रह्मनिर्वाणको) लभन्ते (प्राप्त करते हैं)।।२५।।

अनुवाद—निष्पाप, निःसंशय, संयतचित्त और सभी प्राणियोंके हितमें रत ऋषिगण ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करते हैं।।२५।।

श्रीविश्वनाथ—एवं बहव एव साधनसिद्धा भवन्तीत्याह—लभन्ते इति।।२५।।

भावानुवाद—बहुतसे व्यक्ति इस प्रकार साधन सिद्ध होते हैं, इसलिए कह रहे हैं—'लभन्ते' इत्यादि।।२५।।

कामक्रोधविमुक्तानां यतीनां यतचेतसाम्।
अभितो ब्रह्मनिर्वाणं वर्त्तते विदितात्मनाम्।।२६।।

अन्वय—कामक्रोधविमुक्तानाम् (काम-क्रोधसे रहित) यतचेतसाम् (संयत चित्तवाले) विदितात्मनाम् (आत्मतत्त्वको जाननेवाले) यतीनाम् (यतिगणको) अभितः (सवर्ताभावेन) ब्रह्मनिर्वाणम् (ब्रह्मनिर्वाण) वर्त्तते (उपस्थित होता है)।।२६।।

अनुवाद—काम, क्रोधादिसे रहित संयत चित्तवाले आत्मतत्त्वज्ञ यतिगणके लिए सर्वतोभावेन ब्रह्मनिर्वाण उपस्थित होता है।।२६।।

श्रीविश्वनाथ—ज्ञात 'त्वं'—पदार्थानामप्राप्तपरमात्मज्ञानानां कियता कालेन ब्रह्मनिर्वाणसुखं स्यादित्यपेक्षायामाह—कामेति, यतचेतसामुपरतमनसां क्षीणलिङ्गशरीराणामिति यावत्, अभितः सर्वतोभावेनैव वर्त्तते एवेति ब्रह्मनिर्वाणे तस्य नैवातिविलम्बमिति भावः।।२६।।

भावानुवाद—जो 'त्वं' पदार्थको जानते हैं, परन्तु परमात्म-ज्ञानसे वञ्चित हैं, उन्हें कितने समयके पश्चात् ब्रह्मनिर्वाणका सुख अर्थात् ब्रह्मानन्द प्राप्त होता है? इस अपेक्षित प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् 'काम' इत्यादि कह रहे हैं। जिनका मन स्थिर हो गया है, जिनका लिङ्गशरीर नष्ट हो चुका है, उनको सर्वतोभावेन ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करनेमें अधिक देर नहीं है।।२६।।

स्पर्शान्कृत्वा बहिर्बाह्यांश्चक्षुश्चैवान्तरे भ्रुवोः।
प्राणापानौ समौ कृत्वा नासाभ्यन्तरचारिणौ।।२७।।
यतेन्द्रियमनोबुद्धिर्मुनिर्मोक्षपरायणः ।
विगतेच्छाभयक्रोधो यः सदा मुक्त एव सः।।२८।।

अन्वय—बाह्यान् स्पर्शान् (शब्द-स्पर्शादि बाह्य विषयोंको) बहिः कृत्वा (बहिष्कृतकर) चक्षुः च एव (और चक्षुको) भ्रुवोः अन्तरे (दोनों भृकुटियोंके मध्यमें स्थिरकर) नासाभ्यन्तरचारिणौ (नासिकामें विचरणशील) प्राणापानौ (प्राण और अपान वायुको) समौ कृत्वा (समानकर) यतेन्द्रिय मनोबुद्धिः (संयमित इन्द्रिय, मन और बुद्धिवाले) मोक्षपरायणः (मोक्षपरायण) विगतेच्छाभय-क्रोधः (इच्छा, भय और क्रोधरहित) यः मुनि (जो मुनि हैं) सः (वे) सदा (सर्वदा) मुक्तः एव (मुक्त ही हैं)।।२७-२८।।

अनुवाद—जो शब्द-स्पर्शादि बाह्य विषयोंको मनसे बहिष्कृतकर, दृष्टिको दोनों भृकुटियोंके बीच स्थितकर उच्छ्वास और निःश्वासरूपसे दोनों नासिकाओंमें विचरणशील प्राण और अपान वायुके ऊर्द्ध्व और अधोगतिको रोककर, उन्हें समानकर अर्थात् कुम्भककर जितेन्द्रिय, जितमना, जितबुद्धि, मोक्षपरायण एवं इच्छा, भय और क्रोधरहित हैं, वे सर्वदा ही मुक्त हैं।।२७-२८।।

श्रीविश्वनाथ—तदेवमीश्वरार्पितनिष्कामकर्मयोगेनान्तःकरणशुद्धिः, ततो ज्ञानं 'त्वं'—पदार्थविषयकम्, ततः 'तत्'—पदार्थज्ञानार्थं भक्तिः, तदुत्थज्ञानेन गुणातीतेन ब्रह्मानुभव इत्युक्तम्। इदानीं निष्कामकर्मयोगेन शुद्धान्तःकरणस्याष्टाङ्गयोगं ब्रह्मानुभवसाधनं ज्ञानयोगादप्युत्कृष्टत्वेन षष्ठाध्याये वक्तुं तत्सूत्ररूपं श्लोकत्रयमाह—स्पर्शानिति। बाह्या एव शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाः स्पर्शशब्दवाच्याः। मनसि प्रविश्य ये वर्त्तन्ते तान्, तस्मान्मनसः सकाशाद्बहिष्कृत्य विषयेभ्यो मनःप्रत्याहृत्येत्यर्थः। चक्षुश्च भ्रुवोरन्तरे मध्ये कृत्वा नेत्रयोः सम्पूर्णनिमीलने निद्रया मनोलीयते उन्मीलनेन बहिः प्रसरति। तदुभयदोषपरिहारार्थमर्द्धनिमीलनेन भ्रूमध्ये दृष्टिं निधायोच्छ्वास-निश्वासरूपेण नासिकयोरभ्यन्तरे चरन्तौ प्राणापानावूर्द्ध्वाधोगतिनिरोधेन समौ कृत्वा, यता वशीकृत्य इन्द्रियादयोः येन सः।।२७-२८।।

भावानुवाद—इस प्रकार ईश्वरके लिए अर्पित निष्काम कर्मयोग द्वारा अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। उसके बाद 'त्वं' पदार्थ विषयक ज्ञान होता है, पुनः 'तत्' पदार्थके ज्ञानके लिए भक्ति होती है। उसके बाद गुणातीत ज्ञान द्वारा ब्रह्मानुभव होता है, ऐसा बताया गया है। निष्काम कर्मयोग

द्वारा शुद्ध अन्तःकरणवाले व्यक्तिके लिए अष्टाङ्गयोग ब्रह्मानुभवके साधन ज्ञानयोगसे भी श्रेष्ठ है—छठे अध्यायमें ऐसा बतानेके लिए यहाँ सूत्ररूपमें 'स्पर्शान्' इत्यादि तीन श्लोकों की अवतारणा की गई है। स्पर्श शब्दसे स्पर्श, शब्द, रूप, रस, गन्धादि बाह्य विषयोंका बोध होता है। ये सभी मनमें प्रवेश करते हैं, अतः इन्हें मनसे बहिष्कृतकर अर्थात् विषयोंसे मनका प्रत्याहारकर दोनों नेत्रोंको भृकुटीके मध्य स्थित करना चाहिए। क्योंकि, नेत्रोंके सम्पूर्ण निमीलनसे निद्राकी सम्भावना तथा सम्पूर्ण उन्मीलनसे विषयोंके प्रति दृष्टिपात करनेकी सम्भावना है, अतः इन दोनोंको दूर करनेके लिए दोनों नेत्रोंको आधा खोलकर नासिकामें विचरणशील उच्छ्वास तथा निःश्वासरूप प्राण-अपानकी ऊर्ध्वगति और अधोगतिका निरोधकर इन्हें समभावापन्न करना चाहिए। जो इस प्रकार अपने इन्द्रियोंको वशीभूत करते हैं—वे मुक्त ही हैं।।२७-२८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"हे अर्जुन! भगवदर्पित कर्मयोग द्वारा ही अन्तःकरण शुद्ध होता है। अन्तःकरणके शुद्ध होनेपर ज्ञान प्राप्त होता है। उस ज्ञानसे 'तत्'-पदार्थ में ज्ञानस्वरूपा भक्ति और गुणातीत ज्ञान द्वारा भक्तिजनित ब्रह्मानुभव क्रमशः प्राप्त होता है—ये सब बातें मैंने तुम्हें पहले ही बताईं हैं। अभी शुद्ध अन्तःकरणवाले व्यक्तिके ब्रह्मानुभव साधनरूप अष्टाङ्गयोगको कहूँगा, उसके आभासरूपमें कुछ बातोंको बता रहा हूँ, उसे श्रवण करो—शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध आदि बाह्य विषयोंको मनसे बहिष्कृतकर अर्थात् प्रत्याहार साधन करते हुए, चक्षुको दोनों भृकुटीके मध्य स्थितकर नासिकाके अग्रभागमें दृष्टि करना चाहिए। सम्पूर्ण निमीलन द्वारा निद्राकी आशङ्का और सम्पूर्ण उन्मीलन द्वारा बहिर्दृष्टिकी आशङ्का होनेके कारण अर्द्धनिमीलन द्वारा दोनों नेत्रोंको इस प्रकार नियमित करना चाहिए कि भृकुटीके मध्यसे नासिकाके अग्रभागपर दृष्टिपात हो। उच्छ्वास-निःश्वासरूपसे दोनों नासिकाके अन्दर प्राणवायु और अपानवायु परिचालितकर ऊर्द्ध्व और अधोगति निरोधपूर्वक उनकी समताका साधन करना चाहिए। इस प्रकार आसीन और मुद्रायुक्त होकर, जितेन्द्रिय, जितमना और जितबुद्धि मोक्षपरायण मुनि इच्छा, भय और क्रोध त्यागपूर्वक ब्रह्मानुभव अभ्यास करनेसे गुणातीत जड़मुक्ति प्राप्त कर सकते हैं। अतएव निष्काम कर्मयोगके साधनकालमें अष्टाङ्गयोगका भी 'तदङ्ग' (उसके अङ्ग) के रूपमें साधन किया जाता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२७-२८।।

भोक्तारं यज्ञतपसां सर्वलोकमहेश्वरम्।
सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति।।२९।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'संन्यासयोगो' नाम पञ्चमोऽध्यायः।।

अन्वय—माम् (मुझे) यज्ञतपसाम् (सभी यज्ञ और तपस्याओंका) भोक्तारम् (भोक्ता) सर्वलोकमहेश्वरम् (सभी लोकोंका महानियन्ता) [च—और] सर्वभूतानाम् सुहृदम् (सभी जीवोंका सुहृद) ज्ञात्वा (जानकर) [नरः—मनुष्य] शान्तिम् (मोक्ष) ऋच्छति (प्राप्त करते हैं)।।२९।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'संन्यासयोगो' नाम पञ्चमोऽध्यायस्यान्वयः।।

अनुवाद—मनुष्य मुझे सभी यज्ञ और तपस्याओंका भोक्ता, सभी लोकोंका महानियन्ता और सभी जीवोंका सुहृद जानकर मोक्ष प्राप्त करते हैं।।२९।।

श्रीमद्भगवद्गीताके पञ्चम अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—एवम्भूतस्य योगिनोऽपि ज्ञानिन इव भक्त्युत्थेनपरमात्मज्ञानेनैव मोक्ष इत्याह—भोक्तारमिति। यज्ञानां कर्मिकृतानां तपसाञ्च ज्ञानिकृतानां भोक्तारं पालयितारमिति कर्मिणां ज्ञानिनां चोपास्यम्, सर्वलोकानां महेश्वरं महानियन्तारमन्तर्यामिनं योगिनामुपास्यम्, सर्वभूतानां सुहृदं कृपया स्वभक्तद्वारा स्वभक्त्युपदेशेन हितकारिणमिति भक्तानामुपास्यं मां ज्ञात्वेति सत्त्वगुणमयज्ञानेन निर्गुणस्य ममानुभवासम्भवात् *"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः"* इति मदुक्तेः। निर्गुणया भक्त्यैव योगी स्वोपास्य परमात्मानं मामपरोक्षानुभवगोचरीकृत्य शान्तिं मोक्षमृच्छति प्राप्नोति।।२९।।

निष्कामकर्मणा ज्ञानी योगी चात्र विमुच्यते।
ज्ञात्वात्मपरमात्मानावित्यध्यायार्थ ईरितः।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु पञ्चमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद—ज्ञानीके समान ही इस प्रकारके योगीको भी भक्तिसे उत्पन्न परमात्म-ज्ञानके द्वारा ही मोक्षकी प्राप्ति होती है—'भोक्तारं' इत्यादिके द्वारा इसे ही बताया गया है। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—कर्मीके द्वारा किए

गए यज्ञसमूह और ज्ञानीके द्वारा कृत तपस्यासमूहका भोक्ता अर्थात् पालनकर्त्ता मैं हूँ। कर्मियों, ज्ञानियों और योगियोंके उपास्य, सभी लोकोंका महेश्वर अर्थात् महानियन्ता अन्तर्यामी मैं हूँ। मैं सभी जीवोंका सुहृद हूँ अर्थात् मैं कृपापूर्वक अपने भक्तोंके द्वारा अपनी भक्तिका उपदेश देता हूँ, अतएव भक्तोंका उपास्य भी मुझे ही जानो। मैं निर्गुण हूँ, अतएव सत्त्वगुणमय ज्ञान द्वारा मेरा ऐसा अनुभव असम्भव है। मेरा वचन है—*'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः'* (श्रीमद्भा. ११/१४/२१) अर्थात् मैं एकमात्र भक्ति द्वारा ही ग्रहणीय हूँ। निर्गुण भक्तिके द्वारा ही योगी अपने उपास्य मुझ परमात्माको अपरोक्ष रूपमें अनुभवकर शान्ति या मोक्ष प्राप्त करते हैं।।२९।।

ज्ञानी और योगी निष्काम कर्म द्वारा जीवात्मा और परमात्माका ज्ञान लाभकर मुक्त होते हैं—यही इस अध्यायका तात्पर्य है।

श्रीमद्भगवद्गीताके पञ्चम अध्यायकी साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके पञ्चम अध्यायकी सारार्थवर्षिणी
टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—निष्काम-कर्मयोगी भी भक्तिसे उदित परमात्म-ज्ञानके द्वारा मोक्ष प्राप्त करते हैं। यज्ञ और और तपस्याके समय भक्तिपूर्वक अर्पित द्रव्योंके भोक्ता भगवान ही हैं। वे ही योगियोंके उपास्य अन्तर्यामी पुरुष, सर्वभूतोंके सुहृद और सर्वलोक महेश्वर हैं—

'तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्च दैवतम्।
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देवं भुवनेशमीड्यम्।।'

(श्वे. उ. ६/७)

"पूर्वके चार अध्यायोंको श्रवणकर यह संशय होता है कि यदि कर्मयोगके अन्तमें मोक्ष प्राप्त हुआ, तो ज्ञानयोगका स्थल कहाँ है एवं ज्ञाानयोगका आकार क्या है? इसी संशयको दूर करनेके लिए इस अध्यायके उपदेशसमूह कहे गए। ज्ञानयोग अर्थात् सांख्ययोग और कर्मयोग पृथक् नहीं हैं। इन दोनोंका चरम स्थान 'एक' अर्थात् भक्ति है। कर्मयोगकी प्रथम अवस्थामें कर्मप्रधान ज्ञान और शेष अवस्था (ज्ञानयोग) में ज्ञानप्रधान कर्म होता है। जीव स्वभावतः शुद्ध चिन्मय है। मायाको भोगनेकी वासनासे जड़बद्ध होकर क्रमशः जड़के साथ एकतारूपी अधोगति प्राप्त किया है। जब तक

यह जड़ शरीर है, तब तक जड़ीय कर्म अनिवार्य है। चित्-चेष्टा ही मोचनका एकमात्र उपाय है। अतः जड़देह यात्रामें शुद्ध चित्-चेष्टा जितनी प्रबल होती है, कर्म-प्रधानता उतनी क्षीण होती है। समदर्शन, विराग, चित्-चेष्टाका अभ्यास, जड़ीय काम-क्रोध आदिका जय, संशयक्षय आदि साधन करते-करते ब्रह्मनिर्वाण अर्थात् जड़-निवृत्तिपूर्वक ब्रह्मसुख-संस्पर्श स्वयं उपस्थित होता है। कर्मयोगके साथ देहयात्रा-निर्वाहपूर्वक यम, नियम, आसन, प्रत्याहार, प्राणायाम, ध्यान, धारणा और समाधिरूप अष्टाङ्गयोगका साधन करते-करते भक्तका संग प्राप्तकर क्रमशः भगवद्भक्ति-सुखका उदय होता है। यही 'मुक्तिपूर्विका शान्ति' है। उस समय शुद्ध भजन-प्रवृत्ति ही जीवकी स्वमहिमा प्रकाश करती है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२९।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके पञ्चम अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

पञ्चम अध्याय समाप्त।

षष्ठोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—
अनाश्रितः कर्मफलं कार्यं कर्म करोति यः।
स संन्यासी च योगी च न निरग्निर्न चाक्रियः॥१॥

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्‌ने कहा) यः (जो) कर्मफलम् अनाश्रितः (कर्मफलकी अपेक्षा न कर) कार्यम् कर्म (अवश्य करने योग्य कर्म) करोति (करते हैं) सः (वे) संन्यासी च योगी (संन्यासी और योगी हैं) न निरग्निः (अग्निहोत्रादि कर्मोंका त्याग करनेवाला सन्यासी नहीं है) न च अक्रियः (और दैहिक कर्ममात्रका परित्याग करनेवाला योगी नहीं है)॥१॥

अनुवाद—श्रीभगवानने कहा—जो कर्मफलकी अपेक्षा न कर अवश्य करणीय कर्मोंको करते हैं, वे संन्यासी और योगी हैं। अग्निहोत्रादि कर्मोंका त्याग करनेवाला संन्यासी नहीं है और दैहिक कर्ममात्रका परित्याग करनेवाला योगी नहीं है॥१॥

श्रीविश्वनाथ— *षष्ठेषु योगिनो योगप्रकार विजितात्मनः।*
मनसश्चञ्चलस्यापि नैश्चल्योपाय उच्यते॥

अष्टाङ्गयोगाभ्यासे प्रवृत्तेनापि चित्तशोधकं निष्कामकर्म सहसा न त्याज्यमित्याह—कर्मफलमनाश्रितोऽनपेक्ष्यमाणः कार्यमवश्यकर्त्तव्यत्वेन शास्त्रविहितं कर्म यः करोति, स एव कर्मफलसंन्यासात् संन्यासी, स एव विषयभोगेषु चित्ताभावात् योगी चोच्यते। न च निरग्निरग्निहोत्रादि-कर्ममात्रत्यागवानेव संन्यास्युच्यते। न चाक्रियः दैहिकचेष्टाशून्योऽर्द्धनिमीलितनेत्र एव योगी चोच्यते॥१॥

भावानुवाद—षष्ठ अध्यायमें विजितात्मा योगीके योग-प्रकार एवं चञ्चल मनकी निश्चलताका उपाय भी बताया गया है।

अष्टाङ्गयोगके अभ्यासमें प्रवृत्त व्यक्तिके लिए निष्काम कर्म सहसा त्याज्य नहीं है। इसलिए कहते हैं—जो कर्मफलकी अपेक्षासे रहित अवश्य कर्त्तव्य जानकर शास्त्रविहित कर्मोंको करते हैं, वे संन्यासी हैं, क्योंकि

उन्होंने कर्मफलका संन्यास किया है और चित्तमें विषयभोगोंका अभाव होनेके कारण, वे ही योगी कहलाते हैं। 'निरग्नि' अर्थात् अग्निहोत्रादि कर्ममात्रके संन्याससे कोई संन्यासी नहीं कहलाता है। 'अक्रिय' अर्थात् दैहिक चेष्टाशून्य अर्द्धनिमीलित नेत्रवाले व्यक्ति-मात्रको योगी नहीं कहा जाता है।।१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पञ्चम अध्यायके अन्तमें (अष्टाङ्ग) योगसूत्रके रूपमें जो तीन श्लोक कहे गए हैं, छठे अध्यायमें उन्हींकी विस्तारपूर्वक व्याख्या की जा रही है।

टीकामें उद्धृत 'अग्निहोत्र'—देवताओंके उद्देश्यसे अनुष्ठित एक विशेष वैदिक यज्ञ है। इसके अनुसार विवाहके अन्तमें ब्राह्मणको वसन्तकालमें विहित मन्त्रके द्वारा अग्नि स्थापनपूर्वक होम करना चाहिए। उस समय जिस द्रव्यको ग्रहणकर यज्ञका सङ्कल्प लिया जाता है, जीवन भर उसी द्रव्यके द्वारा होम करनेकी विधि है। अमावस्याकी रात्रिमें यजमान स्वयं जौके माँड़के द्वारा होम करेंगे। दूसरे दिनोंमें कुछ परिवर्तन होनेपर भी दोष नहीं होता। १०० होमके पश्चात् प्रातः कालमें सूर्य और सन्ध्या कालमें अग्निके लिए होम करना कर्त्तव्य है। अग्निका ध्यानकर प्रथम पूर्णिमाके दिन दश पोर्णमास याग आरम्भ करना कर्त्तव्य है। इनमें से पूर्णिमामें तीन और अमावस्यामें छः यज्ञोंका पालन जीवनभर करना कर्त्तव्य है। शत्पथ ब्राह्मणमें इस यज्ञका पालन करनेवालेके लिए फलप्राप्तिका विषय वर्णन किया गया है।।१।।

यं संन्यासमिति प्राहुर्योगं तं विद्धि पाण्डव।
न ह्यसंन्यस्तसङ्कल्पो योगी भवति कश्चन।।२।।

अन्वय—पाण्डव (हे अर्जुन!) यम् (जिसे) संन्यासम् इति प्राहुः (पण्डितगण संन्यास कहते हैं) तम् (उसे) योगम् विद्धि (योग जानो) हि (क्योंकि) असंन्यस्तसङ्कल्पः (काम-सङ्कल्पका परित्याग करनेमें असमर्थ) कश्चन (कोई पुरुष) योगी न भवति (योगी नहीं होता है)।।२।।

अनुवाद—हे अर्जुन! पण्डितगण जिसे संन्यास कहते हैं, तुम उसे ही योग जानो, क्योंकि जो कामसङ्कल्प (फलकी इच्छा तथा विषय-भोगकी इच्छा) का परित्याग करनेमें असमर्थ है, वह योगी नहीं होता है।।२।।

श्रीविश्वनाथ—कर्मफलत्याग एव संन्यास-शब्दार्थः, वस्तुतस्तथा विषयेभ्यश्चित्त नैश्चल्यमेव योग शब्दार्थः। तस्मात् संन्यास-योग-शब्दयोरैकार्थ्यमे-वागतमित्याह—यमिति। 'असंन्यस्तः' न संन्यस्तस्त्यक्तः संकल्पः फलाकाङ्क्षा विषयभोगस्पृहा येन सः।।२।।

भावानुवाद—वस्तुतः कर्मफलका त्याग ही 'संन्यास' शब्दका तात्पर्य है और चित्तको विषयोंसे निश्चल करना ही 'योग' शब्दका तात्पर्य है। इसलिए संन्यास और योग—इन दोनों शब्दोंका एक ही अर्थ होता है। जो 'असंन्यस्तसङ्कल्प' है अर्थात् जिसने फलाकांक्षा और विषय-भोगकी स्पृहाका त्याग नहीं किया है, वह योगी नहीं है।।२।।

आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते।
योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।३।।

अन्वय—योगम् (निश्चल ध्यानयोगमें) आरुरुक्षोः (आरूढ़ होनेके इच्छुक) मुनेः (मुनिका) कर्म कारणम् (कर्म ही साधन) उच्यते (कहलाता है) योगारूढस्य (योगारूढ़ अवस्थामें) सशमः एव (विक्षेप कर्मोंका त्याग ही) तस्य (उस मुनिका) कारणम् उच्यते (साधन कहा जाता है)।।३।।

अनुवाद—निश्चल ध्यानयोगमें आरूढ़ होनेके इच्छुक मुनिके लिए कर्म ही साधन कहलाता है और योगारूढ़ अवस्थामें अर्थात् ध्याननिष्ठ होनेपर विक्षेप कर्मोंका त्याग ही उस मुनिके लिए साधन कहा जाता है।।३।।

श्रीविश्वनाथ—ननु तर्ह्यष्टाङ्गयोगिनो यावज्जीवमेव निष्कामकर्मयोगः प्राप्त इत्याशङ्क्य तस्यावधिमाह—आरुरुक्षोरिति। मुनेर्योगाभ्यासिनो योगं निश्चलध्यानयोगमारोढुमिच्छोः, तदारोहे कारणं कर्म चोच्यते, चित्तशुद्धिकरत्वात्। ततस्तस्य योगं ध्यानयोगमारूढस्य ध्याननिष्ठाप्राप्तः शमः विक्षेपकः सर्वकर्मोपरमः कारणम्। तदेवं सम्यक्चित्तशुद्धिरहितो योगारुरुक्षुः।।३।।

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि तब तो अष्टाङ्ग योगीको सम्पूर्ण जीवन ही निष्काम कर्म करना पड़ेगा, तो इस शङ्काके समाधानमें निष्काम कर्मकी अवधि निर्धारित करते हुए कहते हैं—'आरुरुक्षः' इत्यादि। मुनि अर्थात् जो योगाभ्यासके इच्छुक हैं, उन्हें 'योग' अर्थात् 'निश्चल ध्यानयोग' में आरूढ़ होनेके लिए निष्काम कर्म करना पड़ेगा, क्योंकि यह चित्तको शुद्ध करनेवाला है। तब ध्यान-निष्ठाप्राप्त होनेपर उन्हें विक्षेप उत्पन्न करनेवाले कर्मोंका त्याग करना होगा। इसी प्रकार जिनका चित्त भलीभाँति शुद्ध नहीं हुआ है, वैसे योगारुरुक्षुको निष्काम कर्म करना चाहिए।।३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"'योग' एक सोपानविशेष है। जीवोंके जीवनकी अतिनिम्न अवस्था जड़तुल्य है। जड़ीय विषयोंमें आविष्ट रहनेकी अवस्थासे विशुद्ध चित्-अवस्था तक एक सोपान है। उस सोपानके अलग-अलग अंशोंके अलग-अलग नाम हैं। किन्तु, सम्पूर्ण सोपानका नाम ही योग

है। योग-सोपानके दो विभाग हैं। योगारुरुक्षु मुनिगण अर्थात् जिन्होंने केवल आरोहन-कार्यका आरम्भ किया है, कर्म ही उनका 'कारण' अथवा 'लक्ष्य' है और आरूढ़ पुरुषके लिए 'शम' या शान्ति ही 'कारण' अथवा 'लक्ष्य' है। इन दो स्थूल विभागोंके नाम 'कर्म और 'शान्ति' हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३।।

यदा हि नेन्द्रियार्थेषु न कर्मस्वनुषज्जते।
सर्वसङ्कल्पसंन्यासी योगारूढस्तदोच्यते।।४।।

अन्वय—यदा (जिस समय) न इन्द्रियार्थेषु (न इन्द्रिय-ग्राह्य विषयोंमें) न कर्मसु (न कर्मोंमें) अनुसज्जते (आसक्त होते हैं) तदा (उस समय) सर्वसङ्कल्पसंन्यासी (समस्त फलाकाङ्क्षाओंका त्याग करनेवाले) योगारूढः उच्यते (योगपथपर आरूढ़ कहे जाते हैं)।।४।।

अनुवाद—जिस समय उन्हें न तो इन्द्रियग्राह्य विषयोंमें और न ही कर्मोंमें आसक्ति रहती है, उस समय समस्त फलाकाङ्क्षाओंका त्याग करनेवाले त्यागी वे पुरुष योगपथपर आरूढ़ (योगारूढ़) कहे जाते हैं।।४।।

श्रीविश्वनाथ—सम्यक् शुद्धचित्तस्तु योगारूढस्तज्ज्ञापकं लक्षणमाह—यदेति। इन्द्रियार्थेषु शब्दादिषु कर्मसु, तत्साधनेषु।।४।।

भावानुवाद—जिनका चित्त भलीभाँति शुद्ध हो चुका है—वे ही योगारूढ़ हैं। 'यदा' इत्यादिके द्वारा उनके ज्ञापक लक्षणोंको बता रहे हैं। वे न 'इन्द्रियार्थेषु' अर्थात् शब्दादि विषयोंमें और न ही उसके साधन कर्ममें ही आसक्त होते हैं।।४।।

उद्धरेदात्मनात्मानं नात्मानमवसादयेत्।
आत्मैव ह्यात्मनो बन्धुरात्मैव रिपुरात्मनः।।५।।

अन्वय—आत्मना (अनासक्त मनके द्वारा) आत्मानम् (आत्माका) उद्धरेत् (संसारसे उद्धार करे) आत्मानम् (आत्माकी) न अवसादयेत् (अधोगति न होने दे) हि (क्योंकि) आत्मा एव (आत्मा ही) आत्मनः (आत्माका) बन्धुः (बन्धु है) आत्मा एव (आत्मा ही) आत्मनः (आत्माका) रिपुः (शत्रु है)।।५।।

अनुवाद—मनुष्य अनासक्त मनके द्वारा आत्माका संसारसे उद्धार करे, अपने आत्माकी अधोगति न होने दे। क्योंकि, आत्मा अर्थात् मन ही अपना बन्धु और मन ही अपना शत्रु है।।५।।

श्रीविश्वनाथ—यस्मादिन्द्रियार्थासक्त्यैवात्मा संसारकूपे पातितस्तं यत्नेनोद्धरेदिति। आत्मना विषयासक्तिरहितेन मनसाऽत्मानं जीवमुद्धरेत्।

विषयासक्तिसहितेन मनसा 'त्वात्मानं नावसादयेत्' न संसारकूपे पातयेत्। तस्मादात्मा मन एव बन्धुर्मन एव रिपुः।।५।।

भावानुवाद—क्योंकि, इन्द्रिय-विषयोंमें आसक्त होनेके कारण ही आत्मा संसार-सागरमें पतित होता है, अतः यत्नपूर्वक उसका उद्धार करे। 'आत्मना' अर्थात् विषयकी आसक्तिसे रहित मनके द्वारा 'आत्मना' अर्थात् जीवका उद्धार करे। किन्तु, विषयोंमें आसक्त मनके द्वारा आत्माको 'नावसादयेत्' अर्थात् संसार-सागरमें नहीं पतित करे। इसलिए 'आत्मा' अर्थात् मन ही बन्धु है और मन ही शत्रु है।।५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—आसक्तिरहित मन ही अपना बन्धु है एवं आसक्तियुक्त मन ही अपना शत्रु है, यथा—

'मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासङ्गी मुक्त्यैर्निर्विषयं मनः।।'

(अमृतबिन्दु उपनिषद्) ।।५।।

बन्धुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः।
अनात्मनस्तु शत्रुत्वे वर्त्तेतात्मैव शत्रुवत्।।६।।

अन्वय—येन आत्मना एव (जिसके आत्माके द्वारा ही) आत्मा (मन) जितः (जीत लिया गया है) तस्य आत्मनः (उस आत्माका) आत्मा बन्धुः (मन बन्धु है) तु (किन्तु) अनात्मनः (अजितेन्द्रिय जीवका) आत्मा एव (मन ही) शत्रुवत् (शत्रुके समान) शत्रुत्वे (अपकारमें) वर्त्तते (प्रवृत्त होता है)।।६।।

अनुवाद—जिस जीवात्माके द्वारा मन जीत लिया गया है, उस जीवात्माका मन ही उसका बन्धु है, किन्तु अजितेन्द्रिय जीवका मन ही शत्रुके समान अपकारमें प्रवृत्त होता है।।६।।

श्रीविश्वनाथ—कस्य स बन्धुः, कस्य स रिपुरित्यपेक्षायामाह—बन्धुरिति। येनात्मना जीवेनात्मा मनो जितस्तस्य जीवस्य स आत्मा मनो बन्धुः, अनात्मनोऽजितमनसस्त्वात्मैव मन एव शत्रुवत् शत्रुत्वे अपकारकत्वे वर्त्तते।।६।।

भावानुवाद—वह (मन) किसका बन्धु और किसका शत्रु है—इसके उत्तरमें 'बन्धु' इत्यादि कह रहे हैं। जिस 'आत्मा' अर्थात् जीवके द्वारा 'आत्मा' अर्थात् मन जीता जा चुका है, मन उस जीवके लिए बन्धु है। किन्तु, 'अनात्मा' अर्थात् अजित मनवालेके लिए मन ही शत्रुवत् अर्थात् अपकारी जैसा व्यवहार करता है।।६।।

जितात्मनः प्रशान्तस्य परमात्मा समाहितः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु तथा मानापमानयोः।।७।।

अन्वय—शीतोष्ण-सुख-दुःखेषु (शीत-उष्ण-सुख-दुःखमें) तथा मानापमानयोः (तथा मान-अपमानमें) प्रशान्तस्य (राग-द्वेषरहित) जितात्मनः (जितमना योगीका) आत्मा (आत्मा) परमा समाहितः [भवेत्] (अतिशय समाधिस्थ होता है)।।७।।

अनुवाद—शीत-उष्ण, सुख-दुःख तथा मान-अपमानमें राग-द्वेषादिसे रहित जितमना योगीका आत्मा अतिशय समाधिस्थ होता है।।७।।

श्रीविश्वनाथ—अथ योगारूढस्य चिह्नानि दर्शयति त्रिभिः। जितात्मनो जितमनसः प्रशान्तस्य रागादिरहितस्य योगिनः परमतिशयेन समाहितः समाधिस्थ आत्मा भवेत्। शीतादिषु सत्स्वपि मानापमानयोः प्राप्तयोरपि।।७।।

भावानुवाद—अब तीन श्लोकोंके द्वारा योगारूढ़ पुरुषके लक्षणोंको बता रहे हैं। जो जितात्मा हैं अर्थात् जिन्होंने अपने मनको जीत लिया है, जो प्रशान्त हैं अर्थात् राग-द्वेषादिसे रहित हैं, वे सम्यक्‌रूपसे समाधिस्थ आत्मा होते हैं, वे शीत-उष्ण और मान-अपमानके आनेपर भी अविचलित रहते हैं।।७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—मूल श्लोकमें उद्धृत 'परम्-आत्मा' पदके द्वारा परमेश्वर—परमात्माको लक्ष्य नहीं किया गया है, बल्कि आत्मा अर्थात् जीवात्माको ही लक्ष्य किया गया है। इस 'परम्' का अन्वय 'समाहित' पदसे है अर्थात् उपरोक्त लक्षणोंसे युक्त आत्मा अतिशयरूपेण समाधिस्थ होता है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती और श्रीबलदेव विद्याभूषणने भी कहा है कि यहाँ 'परम' शब्द अतिशयार्थ बोधक है।।७।।

ज्ञानविज्ञानतृप्तात्मा कूटस्थो विजितेन्द्रियः।
युक्त इत्युच्यते योगी समलोष्टाश्मकाञ्चनः।।८।।

अन्वय—ज्ञान-विज्ञान-तृप्तात्मा (जिनका चित्त ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त है) कूटस्थः (जो विकाररहित हैं) विजितेन्द्रियः (जो जितेन्द्रिय हैं) समलोष्टाश्मकाञ्चनः (जो मिट्टी, पाषाण और सोनेको एक समान देखते हैं) [सः—वे] युक्तः (योगरूढ़ पुरुष) योगी उच्यते (योगी कहलाते हैं)।।८।।

अनुवाद—जिनका चित्त ज्ञान और विज्ञानसे तृप्त है, जो विकाररहित और जितेन्द्रिय हैं तथा मिट्टी, पाषाण और स्वर्णमें समदर्शी हैं, वे योगारूढ़ पुरुष योगी कहलाते हैं।।८।।

श्रीविश्वनाथ—ज्ञानमौपदेशिकं विज्ञानमपरोक्षानुभवस्ताभ्यां तृप्तो निराकाङ्क्ष आत्मा चित्तं यस्य सः। कूटस्थः एकेनैव स्वभावेन सर्वकालं व्याप्य स्थितः, सर्ववस्तुष्वनासक्तत्वात्। समानि लोष्टादीनि यस्य सः। लोष्टं मृत्पिण्डः।।८।।

भावानुवाद—उपदिष्ट 'ज्ञान' और 'विज्ञान' अर्थात् ज्ञानका अपरोक्ष अनुभव—इन दोनोंके कारण उनका चित्त आकांक्षारहित हो जाता है। वे कूटस्थ होते हैं अर्थात् सदा एक ही स्वभावमें स्थित रहते हैं तथा सभी वस्तुओंमें अनासक्त रहते हैं। उनके लिए 'लोष्ट' अर्थात् मृतपिण्ड इत्यादि एक समान होते हैं।।८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

कूटस्थ— *'कालव्यापी स कूटस्थ एकरूपतया तु यः।'*

अर्थात्, जो अनन्तकाल तक विकारशून्य होकर स्व-स्वरूपमें प्रतिष्ठित रहते हैं, उन्हें कूटस्थ कहते हैं।।८।।

सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु ।
साधुष्वपि च पापेषु समबुद्धिर्विशिष्यते।।९।।

अन्वय—सुहृन्मित्रार्युदासीनमध्यस्थद्वेष्यबन्धुषु (सुहृद, मित्र, वैरी, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य और बन्धुओंमें) साधुषु (साधुओंमें) अपि च पापेषु (और पापियोंमें भी) समबुद्धिः (समान भाववाले) विशिष्यते (विशिष्ट अर्थात् अतिश्रेष्ठ होते हैं)।।९।।

अनुवाद—सुहृद, मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु तथा पापियोंके प्रति भी समभावयुक्त पुरुष विशिष्ट अर्थात् अतिश्रेष्ठ होते हैं।।९।।

श्रीविश्वनाथ—सुहृत् स्वभावेन हिताशंसी, मित्रं केनापि स्नेहेन हितकारी, अरिर्घातकः, उदासीनो विवादमानयोरुपेक्षकः, मध्यस्थो विवादमानयोर्विवादापहारार्थी, द्वेष्योऽपकारकत्वात् द्वेषार्हः, बन्धुः सम्बन्धी, साधवो धार्मिकाः, पापा अधार्मिकाः—एतेषु समबुद्धिस्तु विशिष्यते। समलोष्टाश्मकाञ्चनात् सकाशादपि श्रेष्ठः।।९।।

भावानुवाद—'सुहृद्' अर्थात् स्वभावसे हितकामी, 'मित्र' अर्थात् स्नेहवश हितकारी, 'अरि' अर्थात् घातक, 'उदासीन' अर्थात् विवादी पक्षोंकी उपेक्षा करनेवाला, 'मध्यस्थ' अर्थात् विवादी पक्षोंकी मध्यस्थता करनेवाला, 'द्वेष्य' अर्थात् अपकारी होनेके कारण द्वेष करने योग्य, 'बन्धु' अर्थात् सम्बन्धी, 'साधु' अर्थात् धार्मिक, 'पापी' अर्थात् अधार्मिक—जो इन सबके प्रति समबुद्धिवाले होते हैं, वे विशिष्ट या श्रेष्ठ होते हैं। वे मिट्टी, पत्थर, सोनादिमें समभावयुक्त पुरुषसे भी श्रेष्ठ होते हैं।।९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्वश्लोकमें मिट्टी, पत्थर, स्वर्णादिमें समबुद्धिविशिष्ट व्यक्तिको योगी कहा गया, किन्तु इन जड़-द्रव्योंमें समदर्शी होनेकी अपेक्षा वे लोग योगारूढ़ पुरुषोंमें अतिशय श्रेष्ठ हैं, जो सुहृद् अर्थात् मित्र, शत्रु, उदासीन, मध्यस्थ, द्वेष्य, बन्धु, साधु और असाधु स्वभाव-विशिष्ट जीवोंमें समबुद्धिसम्पन्न होते हैं।।९।।

योगी युञ्जीत सततमात्मानं रहसि स्थितः।
एकाकी यतचित्तात्मा निराशीरपरिग्रहः।।१०।।

अन्वय—योगी (योगी पुरुष) सततम् (सर्वदा) रहसि (निर्जन स्थानमें) एकाकी (अकेले ही) स्थितः (रहते हुए) यतचित्तात्मा (चित्त और देह संयतकर) निराशीः (आशारहित) अपरिग्रहः (एवं विषयको अस्वीकारकर) आत्मानम् (मनको) युञ्जीत (समाधियुक्त करेंगे)।।१०।।

अनुवाद—योगी पुरुष निर्जन स्थानमें एकाकी निवास करते हुए चित्त और देहको संयतकर आशारहित होकर एवं विषयको अस्वीकारकर मनको सर्वदा समाधियुक्त करेंगे।।१०।।

श्रीविश्वनाथ—अथ साङ्गं योगं विधत्ते—योगीत्यादिना, स योगी परमो मत इत्यन्तेन। योगी योगारूढ आत्मानं मनो युञ्जीत समाधियुक्तं कुर्यात्।।१०।।

भावानुवाद—अब 'योगी' इत्यादिसे लेकर 'स योगी परमो मतः' (गीता ६/३२) तक अङ्गसहित योगका नियम बता रहे हैं। योगी योगारूढ़ आत्माको अर्थात् मनको समाधियुक्त करेंगे।।१०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—योगारूढ़ व्यक्तिका लक्षण बताकर तेईस श्लोकोंमें इसके साधनका उपदेश दे रहे हैं। योगसाधक निष्काम भगवत्-अर्पित कर्मयोगका अवलम्बनकर भोग्य विषयोंसे मनका प्रत्याहारकर उसे भगवान्की चिन्तामें समाधिस्थ करेंगे। वे निर्जन स्थानमें चित्तको संयमितकर, योगके प्रतिकूल व्यापारका वर्जनकर, दृढ़ वैराग्यपूर्वक निस्पृह होकर साधन करेंगे।।१०।।

शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मनः।
नात्युच्छ्रितं नातिनीचं चेलाजिनकुशोत्तरम्।।११।।
तत्रैकाग्रं मनः कृत्वा यतचित्तेन्द्रियक्रियः।
उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये।।१२।।

अन्वय—शुचौ देशे (पवित्र स्थानमें) न अत्युच्छ्रितम् (न अति उच्च स्थानमें) न अतिनीचम् (न अति निम्न स्थानमें) चेलाजिनकुशोत्तरम्

(कुशासनके उपर मृगासन और उसके उपर वस्त्रासन स्थापितकर) आत्मनः (अपने) स्थिरम् आसनम् प्रतिष्ठाप्य (निश्चल आसनको भूमिपर प्रतिष्ठापितकर) तत्र आसने (उस आसनपर) उपविश्य (बैठकर) मनः एकाग्रम् कृत्वा (मनको एकाग्रकर) यतचित्त-इन्द्रिय-क्रियः (चित्त, इन्द्रिय और उनके कार्योंको संयतकर) आत्मविशुद्धये (अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए) योगम् युञ्ज्यात् (योगका अभ्यास करेंगें)।।११-१२।।

अनुवाद—पवित्र स्थानमें न अति उच्च और न अति निम्न कुशासनके उपर मृगासन और उसके उपर वस्त्रासन बिछाकर, उस निश्चल आसनको भूमिपर स्थापित करते हुए उस आसनके उपर बैठकर, मनको एकाग्रकर, चित्त, इन्द्रिय और उनके कार्योंको संयत करते हुए अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए योगाभ्यास करेंगे।।११-१२।।

श्रीविश्वनाथ—प्रतिष्ठाप्य स्थापयित्वा। चेलाजिनकुशोत्तरमिति कुशासनोपरि मृगचर्मासनम्, तदुपरि वस्त्रासनं निधायेत्यर्थः। आत्मनोऽन्तःकरणस्य विशुद्धये विक्षेपशून्यत्वेनातिसूक्ष्मतया ब्रह्मसाक्षात्कारयोग्यतायै,—*"दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या"* इति श्रुतेः।।११-१२।।

भावानुवाद—प्रतिष्ठाप्यका तात्पर्य है—स्थापितकर। 'चेलाजिनकुशोत्तरम्'—कुशासनके उपर मृग-चर्मासन, उसके उपर वस्त्रका आसन रखकर। 'आत्मा' अर्थात् अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए विक्षेपशून्य होकर भी अतिसूक्ष्मतापूर्वक ब्रह्मसाक्षात्कारकी योग्यताको प्राप्त करनेके लिए एकाग्र बुद्धि भी चाहिए। कठोपनिषद् (१/३/१२) में भी कहा गया है—*'दृश्यते त्वग्र्यया बुद्ध्या'* अर्थात् उसका एकाग्र बुद्धिसे दर्शन करते हैं।।११-१२।।

समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।
संप्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन्।।१३।।
प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थितः।
मनः संयम्य मच्चित्तो युक्त आसीत् मत्परः।।१४।।

अन्वय—कायशिरोग्रीवम् (शरीर, मस्तक और गर्दन) समम् (सीधा) अचलम् (निश्चल) धारयन् (धारणकर) स्थिरः (स्थिर होकर) स्वम् नासिकाग्रम् (अपनी नाकके अग्रभागको) संप्रेक्ष्य (भलीभाँति देखते हुए) दिशः च अनवलोकनम् (किसी अन्य दिशाओंमें न देखते हुए) ब्रह्मचारिव्रत-स्थितः (ब्रह्मचारीके व्रतमें स्थित) विगतभीः (निर्भय) प्रशान्तात्मा (प्रशान्तात्मा) मनः संयम्य (मनको संयमितकर) मच्चित्रः मत्परः (चित्तको मुझमें लगाते हुए तथा मेरे परायण होकर) युक्तः आसीत् (युक्तभावसे रहेंगे)।।१३-१४।।

अनुवाद—ब्रह्मचर्य व्रतमें स्थित, निर्भय तथा प्रशान्त आत्मा शरीर, गर्दन और मस्तकको लम्बवत् रखते हुए, अन्य दिशाओंमें दृष्टिपात न करते हुए दृष्टिको अपनी नाकके अग्रभागमें केन्द्रितकर, मनको संयमितकर, चित्तको मुझमें लगाते हुए तथा मेरे परायण होकर युक्तभावसे रहेंगे।।१३–१४।।

श्रीविश्वनाथ—कायो देहमध्यभागः, समं अवक्रम्, अचलं निश्चलं धारयन् कुर्वन्, मनः संयम्य प्रत्याहृत्य मच्चित्तो मां चतुर्भुजं सुन्दराकारं चिन्तयन्, मत्परः मद्भक्तिपरायणः।।१३–१४।।

भावानुवाद—देहके मध्यभागको 'काय' कहते हैं। 'समम्' का तात्पर्य है—अवक्र अर्थात् सीधा और 'अचलम्' का तात्पर्य है—निश्चल। काय आदिको अवक्र और निश्चल रखते हुए, मनको विषयोंसे हटाकर चतुर्भुज सुन्दराकार मेरी चिन्ता करते हुए मेरी भक्तिके परायण होंगे।।१३–१४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—आसन स्थिर और सुखकर होनेसे साधन-भजनमें सहायता मिलती है। स्वस्तिक, मयूर, गरुड, पद्म आदि ६४ प्रकारके आसनोंका उल्लेख मिलता है। पतञ्जलिने भी *'स्थिर सुखमासनम्'* कहा है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (२/८) में आसनकी विधि बताई गई है—"शरीर, मस्तक और ग्रीवा—तीनोंको एक सीधमें सरलरूपसे स्थापितकर मनके सहित इन्द्रियोंको हृदयस्थित ब्रह्ममें सन्निविष्ट करना चाहिए। ऐसा करनेवाले विद्वान् साधक ब्रह्मरूपी नौकाके द्वारा काम-क्रोधरूपी भीषण संसार-सागरसे उत्तीर्ण हो जाते हैं।"

यदि कोई यह शङ्का करे कि मानस-स्मरणके विषयमें स्थूल शरीरगत आसनकी क्या आवश्यकता है, तो वेदान्त सूत्र (४/१/७) में इसका उत्तर यह है—*'आसीनः सम्भवात्'* अर्थात् स्थिर आसन लगाकर श्रीहरिका स्मरण करना चाहिए। आसनके बिना चित्तकी एकाग्रता सम्पन्न नहीं होती। चलते-फिरते, सोते-खड़े रहते समय चित्त विक्षिप्त रहता है। उस स्थितिमें चित्तको एकाग्र करना सम्भव नहीं है—गोविन्द भाष्य।

श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा ही देखा जाता है, इसके लिए *'शुचौ--समभ्यसेत्'* (श्रीमद्भा. ३/२८/८) से *'हेतुत्व---काष्ठः'* (श्रीमद्भा.३/२८/३६) तक तथा *'सम------क्षणः'* (श्रीमद्भा. ११/१४/३२) श्लोक द्रष्टव्य हैं।

योगशास्त्रमें भी कहा गया है—*'अन्तर्लक्ष्योऽबहिर्दृष्टिः स्थिरचित्तः सुसङ्गतः'*।।१३–१४।।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी नियतमानसः।
शान्तिं निर्वाणपरमां मत्संस्थामधिगच्छति।।१५।।

अन्वय—एवं (पूर्वोक्त रीतिसे) सदा एव (सर्वदा ही) आत्मानम् (मनको) युञ्जन् (योगयुक्तकर) नियतमानसः (संयतचित्त) योगी (योगी) मत् संस्थाम् (मेरे स्वरूप अर्थात् निर्विशेष ब्रह्ममें स्थित होकर) परमाम् निर्वाण (परम निर्वाणरूपी) शान्तिम् अधिगच्छति (शान्ति प्राप्त करते हैं)।।१५।।

अनुवाद—संयतचित्त योगी पूर्वोक्त रीतिसे मनको सदा ही योगयुक्तकर मेरे स्वरूपमें अवस्थित होकर परम निर्वाणरूपी शान्ति प्राप्त करते हैं।।१५।।

श्रीविश्वनाथ—आत्मानं मनो युञ्जन्, ध्यानयोगयुक्तं कुर्वन्, यतो नियतमानसः विषयोपरतचित्तः। निर्वाणो मोक्ष एव परमः प्राप्यो यस्यां, मय्येव निर्विशेषब्रह्मणि सम्यक् स्था स्थितिर्यस्यां तां शान्तिं संसारोपरतिं प्राप्नोति।।१५।।

भावानुवाद—जिनका चित्त विषय-चिन्तासे अतीत है, वे संयतचित्त योगी 'आत्मा' अर्थात् मनको ध्यानयोगसे युक्तकर परम प्राप्य निर्वाण अर्थात् मोक्ष प्राप्त करते हैं। मुझमें ही अर्थात् मेरे निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपमें भलीभाँति स्थित होनेके कारण उन्हें शान्ति अर्थात् संसारसे विरक्ति प्राप्त होती है।।१५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ श्रीभगवान् योगाभ्यासका फल बता रहे हैं—योगाभ्यासके द्वारा *'तमेव विदित्वातिमृत्युमेति'* (श्वे. उ. ३/८) अर्थात् भगवान्‌को जानकर संसाररूपी मृत्युसे तर जाते हैं। योगी लोग निर्विशेष ब्रह्मको प्राप्त करते हैं।।१५।।

नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति न चैकान्तमनश्नतः।
न चातिस्वप्नशीलस्य जाग्रतो नैव चार्जुन।।१६।।

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) अत्यश्नतः (अधिक भोजनकारीका) न योगः अस्ति (योग सिद्ध नहीं होता है) तु (पुनः) एकान्तम् अनश्नतः (बिल्कुल अनाहारीका भी) न च (योग सिद्ध नहीं होता है) अतिस्वप्नशीलस्य (अतिशय निद्रापरायणका) न च (नहीं होता है) जाग्रतः एव न च (जाग्रत रहनेवालाका भी नहीं होता है)।।१६।।

अनुवाद—हे अर्जुन! न तो अत्याहारीका और न ही अनाहारीका तथा न अतिशय निद्रापरायण और न ही सदा जाग्रत रहनेवालेका योग सिद्ध होता है।।१६।।

श्रीविश्वनाथ—योगाभ्यासनिष्ठस्य नियममाह द्वाभ्याम्। अत्यश्नतः अधिकं भुञ्जानस्य; यदुक्तम्—*"पूरयेदशनेनार्द्धं तृतीयमुदकेन तु। वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्।।"* इति।।१६।।

भावानुवाद—दो श्लोकोंके द्वारा योगाभ्यासके लिए निष्ठावान् पुरुषके लक्षण बता रहे हैं। 'अत्यश्नतः' का तात्पर्य है—अधिक भोजन करनेवाला। योगशास्त्रमें बताया गया है—*'पूरयेदशनेनार्द्धं तृतीयमुदकेन तु। वायोः सञ्चरणार्थं तु चतुर्थमवशेषयेत्।।'* अर्थात् उदरका आधा भाग अन्नके द्वारा और तृतीय भाग जलके द्वारा पूर्ण करेंगे तथा चौथा भाग वायुके संचरणके लिए खाली रखेंगे।।१६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—साधनमें सिद्धि प्राप्त करनेके लिए योगीको भूखा रहनेपर, क्लान्त रहनेपर तथा उद्विग्नचित्त रहनेपर योगाभ्यास नहीं करना चाहिए। अत्यन्त शीत, अत्यन्त उष्ण और शीघ्रताके समय योगका अनुष्ठान नहीं करना चाहिए, अन्यथा योगकी सिद्धि नहीं होती।

हरिनाम करते समय, भक्तिके अङ्गोंका अनुशीलन करते समय, विशेषतः भगवान्‌की लीला-कथाओंके स्मरणकालमें उपरोक्त नियमोंका सावधानीसे पालन करना चाहिए। इसलिए हरिनाम आदि करते समय चित्तको स्थिर रखनेके लिए साधकोंके लिए कुछ समय निर्जनमें एकाग्र चित्तसे कृष्णनामका अनुशीलन करना एकान्त कर्त्तव्य है। श्रीलभक्तिविनोद ठाकुरने हरिनाम चिन्तामणिमें ऐसा ही उपदेश दिया है।।१६।।

युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।
युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा।।१७।।

अन्वय—युक्ताहारविहारस्य (यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका) कर्मसु युक्तचेष्टस्य (कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका) युक्तस्वप्नावबोधस्य (यथायोग्य सोने और जागनेवालेका) योगः (योग) दुःखहा भवति (सांसारिक क्लेशोंका हरण करनेवाला होता है)।।१७।।

अनुवाद—यथायोग्य आहार-विहार करनेवालेका, कर्मोंमें यथायोग्य चेष्टा करनेवालेका तथा यथायोग्य सोने और जागनेवालेका योग सांसारिक क्लेशोंका हरण करनेवाला होता है।।१७।।

श्रीविश्वनाथ—युक्तो नियत एव आहारो भोजनं विहारो गमनञ्च यस्य तस्य कर्मषुव्यवहारिक-पारमार्थिक-कृत्येषु युक्ता नियता एव चेष्टा वाग्व्यापाराद्या यस्य तस्य।।१७।।

भावानुवाद—जिनके आहार अर्थात् भोजन एवं विहार अर्थात् गमन युक्त अर्थात् नियत हैं, उनके व्यवहारिक और पारमार्थिक कृत्यसमूह चेष्टायुक्त होते हैं।।१७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—आहार-विहारमें संयम नहीं रखनेसे नाना प्रकारकी व्याधियाँ उपस्थित हो जाती हैं, जिनसे साधनमें विघ्न पड़ता है। इसी प्रकार नाना चिन्ताओंके कारण उद्विग्न चञ्चल मनसे भी साधनकी सिद्धि नहीं होती है। इसीलिए सुपाच्य, स्निग्ध और युक्त आहार करना ही साधकोंके लिए कर्त्तव्य है। भक्ति-साधकोंके लिए श्रील रूपगोस्वामीके द्वारा रचित उपदेशामृतके उपदेश अवश्य पालनीय हैं, जिसमें यह कहा गया है कि मनवेग, क्रोधवेग, जिह्वावेग, उपस्थवेग आदिका संयम करनेवाला व्यक्ति ही यथार्थरूपमें साधन कर सकता है। इनके अतिरिक्त अत्याहार, प्रयास, प्रजल्प, नियमाग्रह, असत्सङ्ग तथा असत्मतोंको ग्रहण करनेकी लालसा—इन छः दोषोंको अवश्य ही दूर रखना चाहिए। आलोच्य श्लोकमें 'युक्तस्वप्नावबोध' का तात्पर्य है—परिमित निद्रा और परिमित जागरण।।१७।।

यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते।
निस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।।१८।।

अन्वय—यदा (जब) चित्तम् (मन) विनियतम् (विशेषरूपसे या सम्पूर्णरूपसे संयमित होकर) आत्मनि एव (आत्मामें ही) अवतिष्ठते (निश्चल भावसे अवस्थित होता है) तदा (तब) सर्वकामेभ्यः निस्पृहः (समस्त कामनाओंकी स्पृहासे रहित व्यक्ति) युक्तः इति उच्यते (युक्त कहलाते हैं)।।१८।।

अनुवाद—जब मन सम्पूर्णरूपसे संयमित होकर निश्चल भावसे आत्मामें ही अवस्थित होता है, तब समस्त कामनाओंकी स्पृहासे रहित व्यक्ति युक्त कहलाते हैं।।१८।।

श्रीविश्वनाथ—योगी निष्पन्नयोगः कदा भवेदित्याकाङ्क्षयामाह—यदेति। विनियतं निरुद्धं चित्तम् आत्मनि स्वस्मिन्नेव अवतिष्ठते निश्चलीभवतीत्यर्थः।।१८।।

भावानुवाद—योगी कब निष्पन्नयोग होते हैं अर्थात् उनका योग कब पूर्ण होता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—जब वे निरुद्ध (विशेषरूपसे संयत) चित्तको आत्मा अर्थात् अपनेमें ही निश्चल भावसे अवस्थित कर लेते हैं, तब वे निष्पन्नयोग हो जाते हैं।।१८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—योगाभ्यास करते-करते योगीका चित्त जब स्थिर हो जाता है अर्थात् विषय-भोगकी स्पृहासे रहित हो जाता है तथा आत्म-विषयमें ही स्थिर हो जाता है, उस समय योगीका योग निष्पन्न होता है।।१८।।

यथा दीपो निवातस्थो नेङ्गते सोपमा स्मृता।
योगिनो यतचित्तस्य युञ्जतो योगमात्मनः।।१९।।

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) निवातस्थः (वायुरहित स्थानमें) दीपः न इङ्गते (दीप नहीं कम्पित होता है) सा (उसी प्रकार) आत्मनः (आत्मविषयक) योगम् युञ्जतः (योगाभ्यासकारी) यतचित्तस्य योगिनः (संयतचित्त योगीकी) उपमा स्मृता (उपमा जाननी चाहिए)।।१९।।

अनुवाद—जिस प्रकार दीप वायुरहित स्थानमें नहीं कम्पित होता है, उसी प्रकार आत्मविषयक योगाभ्यासकारी संयतचित्त योगीकी उपमा जाननी चाहिए।।१९।।

श्रीविश्वनाथ—निवातस्थो निर्वातदेशस्थितो दीपो नेङ्गते न चलति यः स दीप उपमा यथा यथावदित्यर्थः। सोऽपि लोपे चेत् पादपूरणमिति सन्धिः, कस्योपमा इत्यत आह—योगिन इति।।१९।।

भावानुवाद—वायुशून्य गृहमें दीप कम्पित नहीं होता है। इसलिए यतचित्त योगीके चित्तकी उपमा दीपसे दी गई है। यदि 'सः' के विसर्गका लोप होकर पादपूरणके लिए सन्धि हो तो 'सोपमा' होगा। साधारण व्याकरणके अनुसार यहाँ 'स उपमा' होना चाहिए। किसकी उपमा? इसके उत्तरमें 'योगिनः' इत्यादि कह रहे हैं।।१९।।

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया।
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति।।२०।।
सुखमात्यन्तिकं यत्तद्बुद्धिग्राह्यमतीन्द्रियम्।
वेत्ति यत्र न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।।२१।।
यं लब्ध्वा चापरं लाभं मन्यते नाधिकं ततः।
यस्मिन्स्थितो न दुःखेन गुरुणापि विचाल्यते।।२२।।
तं विद्याद्दुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्।
स निश्चयेन योक्तव्यो योगोऽनिर्विण्णचेतसा।।२३।।

सङ्कल्पप्रभवान्कामांस्त्यक्त्वा सर्वानशेषतः।
मनसैवेन्द्रियग्रामं विनियम्य समन्ततः।।२४।।
शनैः शनैरुपरमेद् बुद्ध्या धृतिगृहीतया।
आत्मसंस्थं मनः कृत्वा न किञ्चिदपि चिन्तयेत्।।२५।।

अन्वय—यत्र (जिस अवस्थामें) योगसेवया (योगाभ्यास द्वारा) (योगीका) निरुद्धम् चित्तम् (संयमित चित्त) उपरमते (विषयोंसे विरक्त हो जाता है) यत्र च (और जिस अवस्थामें) आत्मना (आत्माके द्वारा) आत्मानम् (आत्माको) पश्यन् (दर्शन करते-करते) आत्मनि एव (आत्मामें ही) तुष्यति (तुष्ट होते हैं) यत्र (जिस अवस्थामें) अयम् (ये योगी) यत् तत् बुद्धिग्राह्यम् (बुद्धि द्वारा ग्रहणीय) अतीन्द्रियम् (इन्द्रियातीत) आत्यन्तिकम् सुखम् वेत्ति (नित्य सुखका अनुभव करते हैं) च स्थितः (और जिस अवस्थामें स्थित होकर) तत्त्वतः (आत्मस्वरूपसे) न चलति (नहीं भ्रष्ट होते हैं) यम् लाभम् (जिस लाभको) लब्ध्वा (प्राप्तकर) अपरम् (अन्य लाभको) ततः अधिक (उससे अधिक) न मन्यते (नहीं मानते हैं) यस्मिन् च स्थितः (एवं जिसमें स्थित होकर) गुरुणा दुःखेन अपि (गुरुतर या भयानक दुःखके द्वारा भी) न विचाल्यते (अभिभूत नहीं होते हैं) तम् (उस अवस्थाको) दुःखसंयोगवियोगम् (दुःख-संस्पर्शरहित) योगसंज्ञितम् विद्यात् (योगके नामसे जानो) सः योगः (वह योग) अनिर्विण्णचेतसा (धैर्ययुक्त चित्त द्वारा) सङ्कल्पप्रभवान् (सङ्कल्पसे उत्पन्न होनवाली) सर्वान् कामान् (समस्त कामनाओंको) अशेषतः (सम्पूर्णरूपेण) त्यक्त्वा (त्यागकर) मनसा एव (मनके द्वारा ही) समन्ततः (सभी ओरसे) इन्द्रियग्रामम् (इन्द्रियोंको) विनियम्य (संयतकर) निश्चयेन (साधु-शास्त्रके वाक्यों द्वारा निश्चयपूर्वक) योक्तव्यः (योगाभ्यास करना चाहिए) धृतिगृहीतया बुद्ध्या (धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा) मनः (मनको) आत्मसंस्थम् कृत्वा (आत्मामें स्थितकर) शनैः शनैः (क्रमशः) उपरमेत् (विरक्त होंगे) किञ्चिदपि (कुछ भी) न चिन्तयेत् (चिन्ता नहीं करेंगे)।।२०-२५।।

अनुवाद—जिस अवस्थामें चित्त योगाभ्यास द्वारा संयमित होकर विषयोंसे विरक्त हो जाता है, जिस अवस्थामें विशुद्ध चित्त द्वारा आत्माका दर्शन करते-करते वे आत्मामें ही तुष्ट होते हैं, जिस अवस्थामें वे केवल बुद्धि द्वारा ग्रहणीय इन्द्रियातीत नित्य सुखोंका अनुभव करते हैं, जिस अवस्थामें स्थित होकर आत्मस्वरूपसे भ्रष्ट नहीं होते हैं, जिस लाभको (आत्मसुखको)

प्राप्तकर अन्य लाभोंको उससे अधिक नहीं मानते हैं और जिस अवस्थामें अवस्थित होकर गुरुतर (भयानक) दुःखसे भी अभिभूत नहीं होते हैं, उस अवस्थाको सुख—दुःखके सम्पर्कसे रहित योगके नामसे जानो। योगी उस योगका अभ्यास धैर्ययुक्त चित्त द्वारा, सङ्कल्पसे उत्पन्न होनेवाली समस्त कामनाओंका सम्पूर्ण परित्यागकर, मनके द्वारा सभी दिशाओंसे इन्द्रियोंको संयतकर, साधुशास्त्रके उपदेशानुसार निश्चयपूर्वक करेंगे। धैर्ययुक्त बुद्धि द्वारा मनको आत्मामें स्थितकर क्रमशः विरक्त होंगे और कुछ भी चिन्ता नहीं करेंगे।।२०—२५।।

श्रीविश्वनाथ—"*नात्यश्नतस्तु योगोऽस्ति*" इत्यादौ 'योग'—शब्देन समाधिरुक्तः। स च संप्रज्ञातोऽसंप्रज्ञातश्च। सवितर्कसविचारादिभेदात् संप्रज्ञातो बहुविधः। असंप्रज्ञातसमाधिरूपो योगः कीदृश इत्यपेक्षायामाह—यत्रेत्यादि सार्द्धैस्त्रिभिः। यत्र समाधौ सति चित्तमुपरमते वस्तुमात्रमेव न स्पृशतीत्यर्थः। तत्र हेतुः—निरुद्धमिति। तथा च पातञ्जलसूत्रम्—"*योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः*" इति। यत्रेत्यादिपदानां योगसंज्ञितं विद्यादिति चतुर्थेनान्वयः। आत्मना परमात्माकारान्तःकरणेनात्मानं परमात्मानं पश्यन् तस्मिन् तुष्यति, तत्रत्यं सुखं प्राप्नोति। यदात्यन्तिकं सुखं प्रसिद्धम्, तदेव यत्र समाधौ सति वेत्ति। बुद्ध्यात्माकारयैव ग्राह्यम्; अतीन्द्रियं विषयेन्द्रियसम्पर्करहितम्। अतएव यत्र स्थितः सन् तत्त्वत आत्मस्वरूपान्नैव चलति, अतएव यं लाभं लब्ध्वा ततः सकाशादपरं लाभमधिकं न मन्यते। दुःखस्य संयोगेन स्पर्शमात्रेणापि वियोगो यस्मिन् तं योगसज्ञितं योगसंज्ञां प्राप्तं समाधिं विद्यात्। यद्यपि शीघ्रं न सिध्यति तदप्ययं मे योगः संसेत्स्यत्येवेति यो निश्चयस्तेन। अनिर्विण्णचेतसैतावतापि कालेन योगो न सिद्धः, किमतःपरं कष्टेनेत्यनुतापो निर्वेदस्तद्रहितेन चेतसा। इह जन्मनि जन्मान्तरे वा सिध्यतु, किं मे त्वरयेति धैर्ययुक्तेन मनसेत्यर्थः। तदेतद्गौडपादा उदाजह्रुः—"*उत्सेक उदधेर्यद्वत् कुशाग्रेणैकबिन्दुना। मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः।।*" इति;—उत्सेक उत्सेचनम्, शोषणाध्यवसायेन जलोद्धरणमिति यावत्। अत्र काचिदाख्यायिकास्ति—"कस्यचित् किल पक्षिणोऽण्डानि तीरस्थितानि तरङ्गवेगेन समुद्रो जहार। स च समुद्रं शोषयिष्याम्येवेति प्रतिज्ञाय स्वमुखाग्रेणैकैकं जलबिन्दुमुपरि प्रचिक्षेप। ततश्च स बहुभिः पक्षिभिर्बन्धुभिर्युक्त्या वार्यमाणोऽपि नैवोपरराम। यदृच्छया च तत्रागतेन नारदेन निवारितोऽप्यस्मिन् जन्मनि जन्मान्तरे वा समुद्रं शोषयिष्याम्येवेति तदग्रेऽपि पुनः प्रतिजज्ञे। ततश्च दैवानुकूल्यात् कृपालुर्नारदो गरुडं तत्साहाय्याय प्रेषयामास। समुद्रस्त्वदीयज्ञातिद्रोहेन त्वामवमन्यत इति वाक्येन। ततो गरुडपक्षवातेन शुष्यन् समुद्रोऽतिभीतस्तान्यण्डानि

तस्मै पक्षिणे ददौ" इति। एवमेव शास्त्रवचनास्तिक्येन योगे ज्ञाने भक्तौ वा प्रवर्त्तमानमुत्साहवन्तमध्यवसायिनं जनं भगवानेवानुगृह्णातीति निश्चेतव्यम्। एतादृशयोगाभ्यासे प्रवृत्तस्य प्राथमिकं कृत्यमन्त्यञ्च कृत्यमाह—संकल्पेति द्वाभ्याम्। कामांस्त्यक्त्वेति प्राथमिकं कृत्यम्। न किञ्चिदपि चिन्तयेदित्यन्त्यं कृत्यम्।।२०-२५।।

भावानवाद— *'नात्यश्नतस्तु योगोस्ति'* (गीता ६/१६) इत्यादि श्लोकोंमें 'योग' शब्दका तात्पर्य 'समाधि' है। यह समाधि दो प्रकारकी होती है—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सवितर्क और सविचार आदिके भेदसे सम्प्रज्ञातके भी अनेक भेद हैं। असंप्रज्ञात समाधियोग कैसा होता है? इस प्रश्नकी अपेक्षामें 'यत्र' इत्यादि साढ़े तीन श्लोकोंको कह रहे हैं। समाधि होनेपर चित्त विषयोंसे उपरत (विरक्त) हो जाता है अर्थात् वस्तुमात्रको स्पर्श नहीं करता है। इसका कारण है—निरुद्ध, जैसा कि पातञ्जल सूत्रमें भी कहा गया है—*'योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः।'* उपरोक्त श्लोकोंमें 'यत्र' इत्यादि पदसमूहका अन्वय तेइसवें श्लोकके 'योगसंज्ञितम्' से है। योगी 'आत्मना' अर्थात् परमात्माकार अन्तःकरणके द्वारा 'आत्मा' अर्थात् परमात्माका दर्शनकर उसीसे संतुष्ट होते हैं, वे वही सुख प्राप्त करते हैं। जहाँ आत्यन्तिक सुख प्रसिद्ध है, समाधि भी वहीं है—ऐसा जानो। यह आत्माकार अर्थात् आत्मसदृश बुद्धि द्वारा ही ग्रहणीय है, क्योंकि वह अतीन्द्रिय (इन्द्रियातीत) है अर्थात् विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे प्राप्त सुखसे परे है। अतएव वे जहाँ-कहीं भी क्यों न रहें, वे अपने आत्मस्वरूपसे विचलित नहीं होते हैं। अतएव, उस वस्तुको प्राप्त करनेपर अन्य लाभोंको महत्वहीन मानते हैं। दुःखका योग अर्थात् स्पर्श होनेपर भी जिसमें वियोग है अर्थात् दुःखका योग नहीं है, उसे ही 'योगसंज्ञितम्' कहते हैं या उसीको 'योग' संज्ञासे अभिहित करते हैं, वही समाधि है। योगीके चित्तमें ऐसा अनुताप नहीं होना चाहिए कि इतने समय तक तो सिद्धि हुई नहीं, अतः और कष्ट करनेका क्या प्रयोजन है, बल्कि उनके मनमें ऐसा धैर्य होना चाहिए कि यह इस जन्ममें सिद्ध हो अथवा अगले जन्मोंमें सिद्ध हो, मैं तो यत्नशील रहूँगा, शीघ्रतासे मुझे क्या लेना-देना है? इस विषयमें श्रीगौड़पादने उदाहरण दिया है—कुशाके अग्रभागपर एक-एक बूँद जल लेकर समुद्रको सुखानेके सङ्कल्पके समान ही यदि किसीका सङ्कल्प हो, तो वैसे अक्लान्त परिश्रमीके मनका निग्रह हो सकता है। इस सम्बन्धमें एक आख्यायिका भी है—"किसी पक्षीने समुद्रतटपर अण्डे दिए और समुद्र उन अण्डोंको बहा ले गया।

उस पक्षीने प्रतिज्ञा की कि मैं अपने चोंचमें एक-एक बूँद जल लेकर उसे अन्यत्र निक्षेपकर समुद्रको सुखा दूँगा और उसने वैसा ही करना आरम्भ कर दिया। अपने स्वजातीय बन्धुओं द्वारा समझानेपर भी उसने अपना कार्य बन्द नहीं किया। संयोगवश श्रीनारदजी वहाँ आए और उन्होंने भी उस पक्षीको समझाया, परन्तु उस पक्षीने उनके सम्मुख भी यह प्रतिज्ञाकी कि जन्म-जन्मान्तरमें भी मैं इसे सुखाकर ही दम लूँगा। तत्पश्चात् कृपालु श्रीनारदजीने गरुड़जीको उसकी सहायताके लिए भेजा। समुद्र मेरे स्वातीय पक्षीके अण्डोंको बहा ले गया—ऐसा जानकर उन्होंने अपने पंखसे हवाके द्वारा समुद्रको सुखाना प्रारम्भकर दिया। इससे अत्यन्त भयभीत होकर समुद्रने अण्डोंको लौटा दिया।" इसी प्रकार शास्त्रके वचनोंमें विश्वासयुक्त होकर योग, ज्ञान या भक्तिमें प्रवृत्त उत्साही व्यक्तिके उपर भगवान् अवश्य ही कृपा करते हैं—यह निश्चित है। 'सङ्कल्प' इत्यादि दो श्लोकोंसे योगमें प्रवृत्त ऐसे व्यक्तिके प्राथमिक और अन्त्य कृत्यको बता रहे हैं। 'कामनाओंका त्याग' (गीता ६/२४)—यह प्राथमिक कृत्य है तथा 'कुछ भी चिन्ता न करना' (गीता ६/२५)—यह अन्त्य कृत्य है।।२०-२५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस प्रकार योगकी सिद्धि होनेपर समाधि द्वारा जिनके चित्तकी मलिनता दूर हो गई है, उनके निर्मल चित्तमें जिस सुखका उदय होता है, उसे भाषामें व्यक्त नहीं किया जा सकता। उसे केवल अन्तःकरणके द्वारा ही अनुभव किया जा सकता है।

"इस प्रकार योगाभ्यास द्वारा क्रमशः विषयोंसे विरक्ति होनेसे चित्त समस्त जड़-विषयोंसे संयमित हो जाता है और तब समाधि अवस्था उपस्थित होती है। उस अवस्थामें परमात्माकार अन्तःकरण द्वारा परमात्माका दर्शनकर उससे उत्पन्न सुखका अनुभव करते हैं। पतञ्जलि मुनिने जिस दर्शनशास्त्रका प्रकाश किया है, वही शुद्ध अष्टाङ्गयोग विषयक शास्त्र है। इसके अर्थको न समझनेके कारण ही इसके टीकाकारगण इस प्रकार कहते हैं कि **वेदान्तवादिगण आत्माके चिदानन्दमयत्वको ही 'मोक्ष' कहते हैं, किन्तु यह अयुक्त (गलत) है, क्योंकि यदि कैवल्य-अवस्थामें आनन्दको माना जाय तो संवेद्य-संवेदनरूप द्वैतभावको स्वीकार करनेके कारण कैवल्यकी हानि होगी।** परन्तु, पतञ्जलि मुनि ऐसा नहीं कहते हैं, उन्होंने अपने शेष-सूत्रमें (अंतिम सूत्रमें) मात्र इतना ही कहा है—

'पुरुषार्थशून्यानां प्रतिप्रसवः कैवल्यं
स्वरूपप्रतिष्ठा वा चितिशक्तिरिति।'

अर्थात्, जब धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंसे रहित होनेपर समस्त गुण क्षणिक विकार नहीं उत्पन्न करें, तभी चित्त-धर्मका कैवल्य होता है। इसके द्वारा स्वरूपमें उसकी अवस्थिति होती है, तभी उसे 'चितिशक्ति' कहते हैं। सूक्ष्मरूपसे विचार करनेपर यह स्पष्ट होता है कि पतञ्जलिने चरम अवस्थामें आत्माके गुणोंका ध्वंस नहीं स्वीकार किया बल्कि केवल गुणोंके अविकारत्वको स्वीकार किया है। 'चितिशक्ति' शब्दका तात्पर्य 'चित्-धर्म' होता है। अविकारत्वके दूर होनेपर स्वरूप-धर्मका उदय होता है। प्राकृत सम्बन्धयोगमें आत्माकी जो दशा होती है, उसीका नाम 'आत्मगुणविकार' है। उसके नष्ट हो जानेपर आत्मशक्ति, आत्मगुण या आत्मधर्ममें जो आनन्द है, उसका लोप हो जाएगा—पतञ्जलिकी ऐसी शिक्षा नहीं हैं। प्रकृतिके विकारसे रहित आनन्द ही प्रतिबुद्ध (उत्पन्न) होता है, वह आनन्द ही सुखस्वरूप है, यही योगका चरमफल है। यह बादमें प्रदर्शित होगा कि इसे ही भक्ति कहते हैं। समाधि दो प्रकारकी होती है—सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात। सवितर्क सविचार आदिके भेदसे सम्प्रज्ञात समाधि अनेक प्रकारकी होती है। परन्तु, असम्प्रज्ञात समाधि एक ही प्रकारकी होती है। उस असम्प्रज्ञात समाधिमें विषय-इन्द्रिय-सम्पर्क-रहित, आत्माकाराबुद्धि-ग्राह्य आत्यन्तिक (नित्य) सुख प्राप्त होता है। उस विशुद्ध आत्मसुखमें स्थित योगीका चित्त तत्त्वसे और विचलित नहीं होता है। ऐसी अवस्था नहीं प्राप्त कर सकनेपर अष्टाङ्गयोगसे जीवका कल्याण नहीं होता है, क्योंकि उसमें विभूति आदिके रूपमें जो अवान्तर फल हैं, उनमें चित्तके आकर्षित होनेपर योगीका चित्त समाधिसुखरूप चरम उद्देश्यसे विचलित हो जाता है। इस सभी बाधाओंके कारण योगसाधनके समय अनेक अमङ्गल घटित होनेका भय है। किन्तु, भक्तियोगमें ऐसी आशङ्का नहीं है—इसे बादमें बताया जाएगा। समाधिमें प्राप्त सुखकी अपेक्षा योगी अन्य किसी सुखको श्रेष्ठ नहीं मानते हैं अर्थात् देहयात्रा निर्वाहके समय विषयोंके साथ इन्द्रिय-संस्पर्श द्वारा जो समस्त क्षणिक सुख उत्पन्न होते हैं, उन्हें तुच्छ सुखके रूपमें ही स्वीकार करते हैं एवं दुर्घटना, पीड़ा, अभाव और मृत्युकाल तक अन्य गुरुतर दुःखोंको सहनकर अपने अन्वेषणीय समाधि-सुखका भोग करते हैं, उन समस्त दुःखोंसे परिचालित होकर परम सुखका त्याग नहीं करते हैं। वे सोचते है—ये दुःख उपस्थित हुए हैं, परन्तु ये अधिक समय तक नहीं रहेंगे, शीघ्र ही चलें जाएँगे।

योगफल प्राप्त होनेमें विलम्ब हो रहा है या व्याघात होगा—ऐसी बात सोचकर योगाभ्यासका परित्याग नहीं करेंगे अर्थात् योगफलके प्राप्त होने तक विशेष यत्नसे अध्यवसायका पालन करेंगें। योगके विषयमें प्राथमिक कार्य यह है कि यम, नियम, आसन, प्राणायाम, सिद्धफल एवं सङ्कल्पजनित कामनाएँ सर्वतोभावेन दूरकर मनके द्वारा इन्द्रियोंको नियमित करेंगे। 'धारणारूप' अङ्गसे लब्धबुद्धि द्वारा क्रमशः वैराग्यकी शिक्षा करेंगें—इसका ही नाम 'प्रत्याहार' है। ध्यान, धारणा और प्रत्याहार द्वारा मनको भलीभाँति वशीभूतकर 'आत्मसमाधि' करेंगे। उस स्थितिमें अन्य किसी विषयोंकी चिन्ता नहीं करेंगे एवं देहयात्राके लिए विषयादिकी चिन्ता करनेपर भी उसमें आसक्त नहीं होवेंगे—यही उपदिष्ट हुआ, यही योगका अन्त्यकृत्य है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२०-२५।।

यतो यतो निश्चलति मनश्चञ्चलमस्थिरम्।
ततस्ततो नियम्यैतदात्मन्येव वशं नयेत्।।२६।।

अन्वय—चञ्चलम् अस्थिरम् मनः (चञ्चल और अस्थिर मन) यतः यतः निश्चलति (जहाँ-जहाँ धावित होता है अर्थात् जिन जिन विषयोंकी ओर धावित है) एतत् (इस मनको) ततः ततः (उन उन विषयोंसे) नियम्य (निग्रहकर अर्थात् संयमितकर) आत्मनि एव (आत्मामें ही) वशम् नयेत् (स्थिर करेंगे)।।२६।।

अनुवाद—यह चञ्चल और अस्थिर मन जिन जिन विषयोंकी ओर धावित होता है, मनको उन उन विषयोंसे निगृहीतकर आत्मामें ही स्थिर करेंगे।।२६।।

श्रीविश्वनाथ—यदि च प्राक्तनदोषोद्गमवशात् रजोगुणस्पृष्टं मनश्चञ्चलं स्यात्, तदा पुनर्योगमभ्यसेदित्याह—यतो यत इति।।२६।।

भावानुवाद—यदि पूर्व जन्मोंके संस्कार-दोषके कारण रजोगुणके स्पर्शसे मन चञ्चल भी हो जाय, तो पुनः योगाभ्यास करे। इसके लिए ही 'यतो यतो' इत्यादि कह रहे हैं।।२६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—मनके चञ्चल होनेपर अर्थात् विषयोंकी ओर धावित होनेपर यह जिन जिन विषयोंके प्रति धावित होता है, साधक तत्क्षण मनको उन उन विषयोंसे हटाकर आत्म-विषयमें ही नियुक्त करेंगे।।२६।।

प्रशान्तमनसं ह्येनं योगिनं सुखमुत्तमम्।
उपैति शान्तरजसं ब्रह्मभूतमकल्मषम्।।२७।।

अन्वय—शान्तरजसम् (रजोगुणसे रहित) प्रशान्तमनसम् (प्रशान्तचित्त) अकल्मषम् (राग-द्वेषादिसे रहित) ब्रह्मभूतम् (ब्रह्मभावसम्पन्न) एनम् हि योगिनम् (इस योगीको ही) उत्तमम् सुखम् (आत्मानुभवरूप उत्तम सुख) उपैति (प्राप्त होता है)।।२७।।

अनुवाद—रजोगुण और राग-द्वेषादिसे रहित ऐसे प्रशान्तचित्त ब्रह्मभावसम्पन्न योगीको आत्मानुभवरूप उत्तम सुख प्राप्त होता है।।२७।।

श्रीविश्वनाथ—ततश्च पूर्ववदेव तस्य समाधिसुखं स्यादित्याह—प्रशान्तेति। सुखं कर्त्तृ, योगिनमुपैति प्राप्नोति।।२७।।

भावानुवाद—तत्पश्चात् पूर्ववत् ही उस योगीको समाधिसुख प्राप्त होता है।।२७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—योगियोंके निकट समाधिसुख स्वयं उपस्थित हो जाता है।।२७।।

युञ्जन्नेवं सदात्मानं योगी विगतकल्मषः।
सुखेन ब्रह्मसंस्पर्शमत्यन्तं सुखमश्नुते।।२८।।

अन्वय—एवं (इस प्रकार) विगतकल्मषः (पापरहित) योगी (योगी) सदा (निरन्तर) आत्मानम् (मनको) युञ्जन् (युक्त करते-करते योग द्वारा अनुभवकर) सुखेन (अनायास ही) ब्रह्मसंस्पर्शम् (ब्रह्मप्राप्तिरूप) अत्यन्तम् सुखम् (परम सुख) अश्नुते (प्राप्त करते हैं)।।२८।।

अनुवाद—इस प्रकार पापरहित योगी मनको निरन्तर योगनिष्ठ करते-करते अनायास ही ब्रह्मप्राप्तिरूप परम सुख प्राप्त करते हैं अर्थात् जीवनसे मुक्त हो जाते हैं।।२८।।

श्रीविश्वनाथ—ततश्च कृतार्थ एव भवतीत्याह—युञ्जन्निति। 'सुखमश्नुते' जीवन्मुक्त एव भवतीत्यर्थः।।२८।।

भावानुवाद—तत्पश्चात् वे योगी कृतार्थ ही हो जाते हैं। 'सुखमश्नुते' का तात्पर्य है—जीवन्मुक्त हो जाते हैं।।२८।।

सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः।।२९।।

अन्वय—सर्वत्र समदर्शनः (सर्वत्र समदर्शी) योगयुक्तात्माः (योगयुक्त पुरुष) आत्मानम् (आत्माको) सर्वभूतस्थम् (सभी भूतोंमें अवस्थित)

सर्वभूतानि च (और सभी भूतोंको) आत्मनि (आत्मामें स्थित) इक्षते (देखते हैं)।।२९।।

अनुवाद—सर्वत्र समदर्शी योगयुक्त पुरुष सभी भूतोंमें आत्माको तथा आत्मामें सभी भूतोंको अवस्थित देखते हैं।।२९।।

श्रीविश्वनाथ—जीवन्मुक्तस्य तस्य ब्रह्मसाक्षात्कारं दर्शयति—सर्वभूतस्थमात्मानम् इति। परमात्मनः सर्वभूताधिष्ठातृत्वम्, आत्मनीति परमात्मनः सर्व-भूताधिष्ठानञ्च। 'ईक्षते' अपरोक्षतयाऽनुभवति। 'योगयुक्तात्मा' ब्रह्माकारान्तःकरणः, समं ब्रह्मैव पश्यतीति समदर्शनः।।२९।।

भावानुवाद—'सर्वभूतस्थमात्मानम्' इत्यादिसे उन जीवन्मुक्तके ब्रह्मसाक्षात्कारको दर्शा रहे हैं। वे प्रत्यक्ष भावसे ऐसा अनुभव करते हैं कि सभी भूतोंमें परमात्माका अधिष्ठान है और परमात्मा ही सभी भूतोंके अधिष्ठान है। 'योगयुक्तामा' अर्थात् ब्रह्माकार अन्तःकरणवाले समदर्शी हैं अर्थात् वे सर्वत्र ब्रह्मका ही दर्शन करते हैं।।२९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"वह ब्रह्मसंस्पर्श-सुख कैसा है—इसे ही संक्षेपमें बता रहा हूँ—समाधियुक्त योगीके दो व्यवहार हैं—भाव और क्रिया। उनका भाव-व्यवहार इस प्रकारका होता है—वे सभी भूतोंमें आत्माको तथा आत्मामें सभी भूतोंका दर्शन करते हैं। क्रिया-व्यवहारमें भी वे सर्वत्र समदर्शी हैं। आगेके दो श्लोकोंमें भाव एवं एक श्लोकमें क्रियाकी व्याख्या कर रहा हूँ।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२९।।

यो मां पश्यति सर्वत्र सर्वञ्च मयि पश्यति।
तस्याहं न प्रणश्यामि स च मे न प्रणश्यति।।३०।।

अन्वय—यः (जो) माम् (मुझे) सर्वत्र (सभी भूतोंमें) पश्यति (देखते हैं) सर्वम् च (और सभीको) मयि (मुझमें) पश्यति (देखते हैं) अहम् (मैं) तस्य (उनके लिए) न प्रणश्यामि (अदृश्य नहीं होता हूँ) स च (वे भी) मे (मेरे लिए) न प्रणश्यति (अदृश्य नहीं होते हैं)।।३०।।

अनुवाद—जो सभी भूतोंमें मुझे और मुझमें सभी भूतोंको देखते हैं, उनके लिए मैं अदृश्य नहीं होता हूँ और वे भी मेरे लिए अदृश्य नहीं होते हैं।।३०।।

श्रीविश्वनाथ—एवमपरोक्षानुभविनः फलमाह—यो मामिति। तस्याहं ब्रह्म न प्रणश्यामि नाप्रत्यक्षीभवामि। तथा मत्प्रत्यक्षतायां शाश्वतिक्यां सत्यां स योगी मे मदुपासकः न प्रणश्यति, न कदाचिदपि भ्रश्यति।।३०।।

भावानुवाद—'यो माम्' इत्यादिके द्वारा उस अपरोक्ष अनुभवका फल बता रहे हैं—उनके लिए मैं 'ब्रह्म' अदृश्य नहीं होता हूँ। इस प्रकार उस योगीके लिए मेरी प्रत्यक्षता नित्य (शाश्वत) हो जानेके कारण वे योगी अर्थात् मेरे उपासक कभी भी भ्रष्ट नहीं होते हैं।।३०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अपरोक्षानुभवी साधकोंके लिए भगवान् अदृश्य नहीं रहते तथा वैसे साधक भी भगवान्के लिए अदृश्य नहीं होते अर्थात् सर्वदा परस्पर साक्षात्कारके कारण उपासक भ्रष्ट नहीं होते।

"जो सर्वत्र मेरा दर्शन करते हैं और मुझमें ही समस्त वस्तुओंका दर्शन करते हैं, मैं उनका ही होता हूँ अर्थात् शान्त रतिका अतिक्रमकर हमलोगोंके बीच 'मैं उनका हूँ' और 'वे मेरे हैं'—इस प्रकारका एक सम्बन्धयुक्त प्रेम उत्पन्न होता है। इस सम्बन्धका उदय होनेपर मैं उन्हें शुष्क निर्वाणरूप सर्वनाश नहीं प्रदान करता हूँ। वे मेरे दास होनेके कारण और नष्ट नहीं हो सकते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३०।।

सर्वभूतस्थितं यो मां भजत्येकत्वमास्थितः।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि स योगी मयि वर्त्तते।।३१।।

अन्वय—यः (जो योगी) सर्वभूतस्थितम् (सभी भूतोंमें स्थित) माम् (मुझे) एकत्वम् आस्थितः (एकत्व बुद्धिसे आश्रयकर) भजति (भजते हैं) सः योगी (वे योगी) सर्वथा वर्त्तमानः अपि (सभी अवस्थाओंमें रहकर भी) मयि वर्त्तते (मुझमें ही अवस्थित रहते हैं)।।३१।।

अनुवाद—जो योगी एकत्व बुद्धिसे अर्थात् मेरे प्रति साधन और सिद्धकालगत द्वैतबुद्धिसे रहित होकर, मेरा आश्रयकर सभी भूतोंमें स्थित मुझे भजते हैं, वे योगी सभी अवस्थाओंमें रहकर भी मुझमें ही अवस्थित रहते हैं।।३१।।

श्रीविश्वनाथ—एवं मदपरोक्षानुभवात् पूर्वदशायामपि सर्वत्र परात्मभावनया भजतो योगिनो न विधि-कैङ्कर्यमित्याह—सर्वेति। परमात्मैव सर्वकारणत्वा-देकोऽस्तीत्येकत्वमास्थितः सन् भजति, श्रवणस्मरणादिभजनयुक्तो भवति, स सर्वथा शास्त्रोक्तं कर्म कुर्वन्नकुर्वन् वा वर्त्तमानो मयि वर्त्तते, न तु संसारे।।३१।।

भावानुवाद—इस प्रकार प्रत्यक्षरूपसे मेरी अनुभूति होनेके पूर्वकी स्थितिमें भी सर्वत्र परमात्म-भावनासे भजनशील योगीके लिए विधिपालनकी बाध्यता नहीं है। परमात्मा ही सब कुछ करनेवाले हैं और वे एक ही हैं—जो इस एकत्वका आश्रयकर श्रवण-स्मरणादि द्वारा भजनमें युक्त होते हैं, वे शास्त्रविहित कर्म करें या न करें, सर्वप्रकारसे मुझमें ही अवस्थान करते हैं, संसारमें नहीं।।३१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—स्थावर और जङ्गमके भेदसे विभिन्न प्राणियोंके भिन्न-भिन्न शरीर होते हैं। उस प्रत्येक शरीरमें जीवात्मा भी पृथक्-पृथक् होता है। इस प्रकार जीव अनन्त हैं—

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।।'

(श्वे. उ. ५/९)

अर्थात्, जीव जड़-शरीरमें अवस्थित होनेपर भी सूक्ष्म और अप्राकृत तत्त्व है। बालकी नोकके सौ टुकड़े, पुनः उनमेंसे एक टुकड़ेके सौ टुकड़े करनेपर उनमें एक भाग जितना सूक्ष्म हो सकता है, जीव उससे भी अधिक सूक्ष्म होता है।

इतना सूक्ष्म होनेपर भी जीव अप्राकृत वस्तु है तथा आनन्त्य धर्मके योग्य होता है, अन्त अर्थात् मृत्यु, मृत्युसे रहित होना ही 'आनन्त्य' अर्थात् मोक्ष है। किन्तु, परमात्मा एक हैं। वे एक होकर भी असंख्य जीवोंके हृदयमें अन्तर्यामी एवं साक्षी रूपमें विराजमान रहते हैं। स्मृतिमें भी ऐसा देखा जाता है—

'एक एव परो विष्णुः सर्वव्यापी न संशयः।
ऐश्वर्याद्रूपमेकञ्च सूर्यवद्बहुधेयते।।'

अर्थात्, सर्वव्यापी विष्णु एक हैं, केवल ऐश्वर्यके प्रभावसे वे एक ही सूर्यकी भाँति अनेक रूपोंमें प्रतीत होते हैं।

"साधनकालमें योगीके लिए जो चतुर्भुजाकार ईश्वरका ध्यान करनेके लिए बताया गया है, वह (ध्यान) समाधिकालमें निर्विकल्प-अवस्थामें परमतत्त्वके 'साधन' और 'सिद्ध'-कालगत द्वैतबुद्धिसे रहित होनेपर, मेरे सच्चिदानन्द श्यामसुन्दर मूर्त्तिमें (उसकी) एकत्व बुद्धि होती है। जो योगी सभी भूतोंमें स्थित मेरा भजन करते हैं अर्थात् श्रवण और कीर्त्तन द्वारा मेरी भक्ति करते हैं, वे कार्यकालमें 'कर्म', विचारकालमें 'ज्ञान' औार योगकालमें 'समाधि' का अनुष्ठान करनेपर भी मुझमें वर्त्तमान रहते हैं (अर्थात् कृष्ण-सामीप्यलक्षणरूप मोक्ष प्राप्त करते हैं)। श्रीनारद पञ्चरात्रमें जहाँ योगका उपदेश दिया गया है, वहाँ ऐसा कथित है—

'दिक्कालाद्यनवच्छिन्ने कृष्णे चेतो विधाय च।
तन्मयो भवति क्षिप्रं जीवो ब्रह्मणि योजयेत्।।'

अर्थात्, दिशा और काल आदिकी सीमासे अतीत जो श्रीकृष्णमूर्त्ति है, उनमें चित्तका मनोनिवेश करनेसे तन्मयता द्वारा जीवका श्रीकृष्णरूप (परब्रह्मका) संस्पर्श-सुख उदित होता है। कृष्णभक्ति ही योगसमाधिकी चरमता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३१।।

आत्मौपम्येन सर्वत्र समं पश्यति योऽर्जुन।
सुखं वा यदि वा दुःखं स योगी परमो मतः।।३२।।

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) यः (जो) सर्वत्र (सभी जीवोंमें) आत्मौपम्येन (अपने समान) सुखम् वा यदि वा दुःखम् (सुख अथवा दुःखको) समम् (समान) पश्यति (देखते हैं) सः योगी (वे योगी) परमः मतः (मेरे मतानुसार श्रेष्ठ हैं)।।३२।।

अनुवाद—हे अर्जुन! जो योगी अपने समान ही सभी जीवोंके सुख-दुःखको समान देखते हैं, मेरे मतानुसार वे श्रेष्ठ हैं।।३२।।

श्रीविश्वनाथ—किञ्च, साधनदशायां योगी सर्वत्र समः स्यादित्युक्तम्। तत्र मुख्यं साम्यं व्याचष्टे—आत्मौपम्येनेति। सुखं वा दुःखं वेति—यथा मम सुखं प्रियं दुःखमप्रियम्, तथैवान्येषामपीति सर्वत्र समं पश्यन् सुखमेव सर्वेषां यो वाञ्छति, न तु कस्यापि दुःखम्, स योगी श्रेष्ठो ममाभिमतः।।३२।।

भावानुवाद—और भी, यह कहा जा चुका है कि साधन दशामें योगी सर्वत्र सम होते हैं, यहाँ 'आत्मौपम्येन' इत्यादिके द्वारा उस मुख्य समताको विशेषरूपसे बताया जा रहा है। जिन योगीका विचार ऐसा है कि जिस प्रकार मुझे सुख प्रिय तथा दुःख अप्रिय है, दूसरोंके लिए भी सुख-दुःख इस प्रकारसे ही है, अतः इस प्रकार सर्वत्र समदर्शनकर वे सभीके सुखकी ही अभिलाषा करते हैं, किसीके दुःखकी नहीं; ऐसे वे योगी ही श्रेष्ठ हैं—यह मेरा अभिमत है।।३२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—साधनके समयमें भी योगी समदृष्टि-सम्पन्न होते हैं।

"योगीका क्रिया-व्यवहार कैसा होता है—यह बता रहा हूँ, श्रवण करो—वे ही परम योगी होते हैं, जो सभीके प्रति समदृष्टि-सम्पन्न होते हैं। 'समदृष्टि' शब्दका तात्पर्य यह है कि जो व्यवहारस्थलमें अन्य समस्त जीवोंको अपने समान समझते हैं अर्थात् अन्य जीवोंके सुखको अपने सुखके समान सुखकर और अन्य जीवोंके दुःखको अपने दुःखके समान दुःखजनक समझते हैं। अतः वे समस्त जीवोंके सुखकी ही निरन्तर कामना करते हैं और तदनुरूप कार्य करते हैं। इसे ही 'समदर्शन' कहते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३२।।

अर्जुन उवाच—
योऽयं योगस्त्वया प्रोक्तः साम्येन मधुसूदन।
एतस्याहं न पश्यामि चञ्चलत्वात्स्थितिं स्थिराम्।।३३।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) मधुसूदन (हे मधुसूदन!) त्वया (आपके द्वारा) साम्येन (सर्वत्र समदर्शनरूप) यः योग (जो योग) प्रोक्तः (कथित हुआ) चञ्चलत्वात् (मनकी चञ्चलताके कारण) अहम् (मैं) एतस्य (इसके) स्थिराम् (स्थायित्वको) न पश्यामि (नहीं देखता हूँ)।।३३।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे मधुसूदन! आपके द्वारा सर्वत्र समदर्शनरूप जो योग कथित हुआ, मनकी चञ्चलताके कारण मैं उसके स्थायित्वको नहीं देखता हूँ।।३३।।

श्रीविश्वनाथ—भगवदुक्तलक्षणस्य साम्यस्य दुष्करत्वमालक्ष्योवाच—योऽयमिति। एतस्य साम्येन प्राप्तस्य योगस्य स्थिरां सार्वदिकीं स्थितिं न पश्यामि। एष योगः सर्वदा न तिष्ठति, किन्तु त्रिचतुरदिनान्येवेत्यर्थः। कुतः?—चञ्चलत्वात्। तथा ह्यात्मसुखदुःखसममेव सर्वजगद्वर्त्तिजनानां सुखदुःखं पश्येदिति साम्यमुक्तम्। तत्र ये बन्धवस्तटस्थाश्च तेषु साम्यं भवेदपि, ये रिपवो घातकाः द्वेष्टारो निन्दकाश्च तेषु न सम्भवेदेव। न हि मया स्वस्य युधिष्ठिरस्य दुर्योधनस्य च सुखदुःखे सर्वथा तुल्ये द्रष्टुं शक्यते। यदि च स्वस्य स्वरिपूणाञ्च जीवात्मपरमात्मप्राणेन्द्रियदैहिक-भूतानि समान्येवेति विवेकेन पश्येत्, तदा तत् खलु द्वित्रिदिनान्येव स्यात्, विवेकेनातिप्रबलस्यातिचञ्चलस्य मनसो निग्रहणाशक्यत्वात् प्रत्युत विषयासक्तेन तेन मनसैव विवेकस्य ग्रस्यमानत्वदर्शनादिति।।३३।।

भावानुवाद—भगवान्के द्वारा कथित साम्यभावके लक्षणोंको दुष्कर (दुरूह) जानकर अर्जुन 'योऽयम्' इत्यादि कह रहे हैं। मैं साम्य द्वारा प्राप्त योगकी स्थिति सभी दिशाओंमें नहीं देख रहा हूँ अर्थात् यह योग सदा-सर्वदाके लिए नहीं रह सकता है, यह तो मात्र दो-चार दिनोंके लिए है। मनकी चञ्चलता ही इसका कारण है। इसी प्रकार अपने सुख-दुःखके समान ही जगत्के अन्य लोगोंके सुख-दुःखको समझना चाहिए—इस वाक्यमें साम्य कहा गया है। यहाँ जो अपने बन्धु अथवा तटस्थ व्यक्ति हैं, उनके प्रति तो साम्यभाव हो सकता है, किन्तु शत्रु, घातक, द्वेषी एवं निन्दकोंके प्रति ऐसा असम्भव है। मैं अपने, युधिष्ठिर और दुर्योधनके सुख-दुःखको सम्पूर्णरूपसे एक समान देखनेमें असमर्थ हूँ। यद्यपि अपने और अपने

शत्रुओंके जीवात्मा, परमात्मा, प्राण एवं इन्द्रिययुक्त देहधारी जीवोंको विवेक द्वारा एक समान देखा जाता है, परन्तु यह भी दो-चार दिनोंके लिए है। क्योंकि, अतिप्रबल और चञ्चल मनको विवेक द्वारा निग्रह (वशीभूत) नहीं किया जा सकता है, बल्कि ऐसा देखकर विषयासक्त मन ही विवेकको ग्रास बना लेता है।।३३।।

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम्।।३४।।

अन्वय—कृष्ण (हे कृष्ण!) हि (क्योंकि) मनः (मन) चञ्चलः (चञ्चल) प्रमाथि (बुद्धि, शरीर और इन्द्रियोंको मथ देनेवाला) बलवत् (बलवान्) दृढम् (और दृढ़ है) [अतः] अहम् (मैं) तस्य (उसके) निग्रहम् (निग्रहको) वायोः इव (वायुको वशमें करनेके समान) सुदुष्करम् (अत्यन्त दुष्कर) मन्ये (मानता हूँ)।।३४।।

अनुवाद—हे कृष्ण! क्योंकि मन स्वभावतः चञ्चल है; बुद्धि, शरीर और इन्द्रियोंको मथ देनेवाला है, बलवान् और दृढ़ है, अतः मनको वशमें करना मैं वायुको वशमें करनेके समान अत्यन्त दुष्कर मानता हूँ।।३४।।

श्रीविश्वनाथ—एतदेवाह—चञ्चलमिति। ननु *"आत्मानं रथिनं विद्धि शरीरं रथमेव च"* इत्यादि श्रुतेः, *"प्राहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि हयानभीषून्। मन इन्द्रियेशम् वर्त्मानि मात्रा धिषणाञ्च सूतम्"* इति स्मृतेश्च बुद्धेर्मनोनियन्तृत्वदर्शनाद्विवेकवत्या बुद्ध्या मनो वशीकर्त्तुं शक्यमेवेति चेदत आह—'प्रमाथि' बुद्धिमपि प्रकर्षेण मथ्नातीति। तत् कुतः? इति चेदत आह—बलवत्। स्वप्रशमकमौषधमपि बलवान् रोगो यथा न गणयति, तथैव स्वभावादेव बलिष्ठं मनो विवेकवतीमपि बुद्धिम्। किञ्च, दृढ़मतिसूक्ष्मबुद्धिसूच्यापि लोहमिव सहसा भेत्तुमशक्यम्। वायोरित्याकाशे दोधूयमानस्य वायोर्निग्रहं कुम्भकादिना निरोधमिव योगेनाष्टाङ्गेन मनसोऽपि निरोधं दुष्करं मन्ये।।३४।।

भावानुवाद—कठोपनिषद (१/१३/३) में कथित है—*'आत्मानं रथिनं विद्धि, शरीरं रथमेव च'* अर्थात् आत्माको रथी और शरीरको रथ समझो। श्रुतिमें कहा गया है कि पण्डितगण शरीरको रथ, इन्द्रियोंको भीषण अश्वसमूह, मनको इन्द्रियोंका ईश अथवा कर्त्ता, शब्द-रूप-रस-स्पर्श-गन्धादि मात्राओंको पथ एवं बुद्धिको सारथी कहते हैं। इन वाक्योंके द्वारा यह प्रतीत होता है कि बुद्धि मनको नियन्त्रित करनेवाली है। परन्तु अर्जुन

इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि प्रमाथी मन बुद्धिको भी भलीभाँति मथ देता है, यदि कहो कि कैसे, तो कहते हैं—जिस प्रकार बलवान् रोग रोगसे छुटकारा दिलानेवाली औषधिको ग्रहण नहीं करता है, उसी प्रकार स्वभावतः बलिष्ठ मन विवेकवती बुद्धिको भी नहीं ग्रहण करता है। और भी कहते हैं—मन अति दृढ़ है। जैसे कि छोटी सुईके द्वारा लोहेको सहजतासे नहीं भेदा जा सकता है, वैसे ही अतिसूक्ष्म बुद्धि भी मनको सहज ही नहीं भेद सकती है। यह मन वायुके समान है अर्थात् गगनमें प्रवाहमान वायुके निग्रहके समान कुम्भक आदि अष्टाङ्गयोगके द्वारा मनका भी निग्रह मेरे लिए अत्यन्त दुष्कर है।।३४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—परम चञ्चल एवं बलवान् मनको भगवत्-अनुशीलनके द्वारा किस प्रकार सरल-सहजरूपमें वशीभूत किया जा सकता है, इसका उदाहरण श्रीमद्भागवतके एकादश स्कन्धमें वर्णित उपाख्यानमें दृष्टिगोचर होता है।

अवन्ति देशका एक धनवान् ब्राह्मण अपने पुत्र-परिवारके साथ रहता था। वह धनवान् होनेपर भी अत्यन्त कृपण था। वह पुत्र-परिवार और समाजके सुखके लिए एक कौड़ी भी खर्च नहीं करता था, बल्कि वह धनसंग्रहकी चेष्टामें ही रत रहता था। बड़े होनेपर बच्चे उसके व्यवहारसे क्षुब्ध हो गए। आस-पड़ोस, परिवार और समाजके लोग भी उसके विरोधी हो गए। यहाँ तक कि कर नहीं देनेके कारण राजकर्मचारी भी विरोधी हो गए। कालकी विषम परिस्थितिमें उसका घर जल गया। परिवार और समाजके लोगोंने उसका त्याग कर दिया।

किन्तु, कुछ अच्छे संस्कारोंके कारण साधुसङ्गके द्वारा प्रभावित होकर उसने त्रिदण्डि-भिक्षुका वेश ग्रहण किया। वह अपने सद्गुरुके उपदेशसे शत्रु-मित्र, अपने-पराये, सुख-दुःख, भला-बुरा—सभी विषयोंमें समदर्शी होकर भक्तिके अनुशीलनमें तत्पर हो गया। वह अपने पूर्व परिचित ग्राममें भिक्षाके समय लोगोंके नाना-प्रकारके दुर्व्यवहारसे भी सन्तुष्ट रहता था। यहाँ तक कि लोग उसे पाखण्डी, धूर्त आदि कहकर उसके भिक्षापात्रमें अन्न या रोटी देनेके बदले मल, मूत्र इत्यादि कर देते, तथापि निर्द्वन्द्व चित्तसे भगवत्-चिन्तन करता हुआ अन्तमें उसने भगवान् मुकुन्दकी सेवाको प्राप्त कर लिया।।३४।।

श्रीभगवानुवाच—
असंशयं महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम्।
अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते।।३५।।

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो अर्जुन!) असंशयम् (निःसन्देह) मनः (मन) चञ्चलम् दुर्निग्रहम् (चञ्चल और कठिनाईसे वशमें होनेवाला है) तु (किन्तु) कौन्तेय (हे कुन्तीपुत्र!) अभ्यासेन वैराग्येन च (अभ्यास और वैराग्यके द्वारा) गृह्यते (वशीभूत हो जाता है)।।३५।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे महाबाहो अर्जुन! निःसन्देह मन चञ्चल और कठिनाईसे वशमें होनेवाला है, किन्तु हे कुन्तीपुत्र! अभ्यास और वैराग्यके द्वारा यह वशमें हो जाता है।।३५।।

श्रीविश्वनाथ—उक्तमर्थमङ्गीकृत्य समादधाति—असंशयमिति। त्वयोक्तं सत्यमेव, किन्तु बलवानपि रोगस्तत्प्रशमकौषधसेवया सद्वैद्यप्रयुक्तप्रकारया मुहुरभ्यस्तया यथा चिरकालेन शाम्यत्येव, तथा दुर्निग्रहमपि मनोऽभ्यासेन सद्गुरूपदिष्टप्रकारेण परमेश्वरध्यानयोगस्य मुहुरनुशीलनेन वैराग्येण विषयेष्वनासङ्गेन च गृह्यते स्वहस्तवशीकर्त्तुं शक्यत इत्यर्थः। तथा च पातञ्जलसूत्रम्—*"अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः"* इति। महाबाहो इति संग्रामे त्वया यन्महावीरा अपि विजीयन्ते, स च पिनाकपाणिरपि वशीकृतस्तेनापि किम्?—यदि महावीरशिरोमणिर्मनोनामा प्राधानिको भटो महायोगास्त्रप्रयोगेण जेतुं शक्यते, तदैव महाबाहुतेति भावः। हे कौन्तेयेति तत्र त्वं मा भैषीः—मत्पितुः स्वसुः कुन्त्याः पुत्रे त्वयि मया साहाय्यं विधेयमिति भावः।।३५।।

भावानुवाद—अर्जुनकी बातोंको स्वीकारते हुए श्रीभगवान् उनके संशयका समाधान कर रहे हैं—'असंशयं' इत्यादि। तुमने जो कहा वह सत्य ही है, किन्तु बलवान् रोग भी अच्छे वैद्यके द्वारा दी गई औषधिकी निर्दिष्ट रूपसे नियमित सेवा करनेपर देरसे ही सही, परन्तु समाप्त हो ही जाता है, उसी प्रकार दुर्निग्रह मन भी सद्गुरुके उपदेशानुसार नियमित अभ्यास द्वारा बार-बार परमेश्वरके ध्यानयोगके अनुशीलन और वैराग्य द्वारा वशीभूत किया जा सकता है। पातञ्जलसूत्र (१२) में भी ऐसा पाया जाता है—*'अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोधः'* अर्थात् अभ्यास और वैराग्य द्वारा चित्तवृत्तिका निरोध हो सकता है। हे महाबाहो! युद्धमें तुमने महावीरोंको भी पराजित किया है, यहाँ तक कि पिनाकपाणि शिवजीको प्रसन्न किया है, परन्तु इससे क्या? यदि तुम मन नामक महावीर शिरोमणिको

महायोगास्त्रके प्रयोगसे पराजित कर सकते हो, तभी तुम्हारा 'महाबाहु' नाम सार्थक होगा। हे कौन्तेय! इस विषयमें तुम भयभीत मत होओ, तुम मेरे पिताकी बहनके पुत्र हो, अतः तुम्हारी सहायता करना मेरा कर्त्तव्य है।।३५।।

असंयतात्मना योगो दुष्प्राप इति मे मतिः।
वश्यात्मना तु यतता शक्योऽवाप्तुमुपायतः।।३६।।

अन्वय—असंशयात्मना (अवशीकृत मनवालेके लिए) योगः दुष्प्रापः (योग दुष्प्राप्य है) [तु—किन्तु] यतता वश्यात्मना (यत्नशील और वशीभूत मनवालेके लिए) उपायतः (उपाय द्वारा) अवाप्तुम् शक्यः (प्राप्त किया जा सकता है) इति मे मतिः (यह मेरा मत है)।।३६।।

अनुवाद—अवशीभूत मनवाले व्यक्तिके लिए योग दुष्प्राप्य है, किन्तु यत्नवान् और वशीभूत मनवालेके लिए यह उपाय द्वारा प्राप्त किया जा सकता है—यह मेरा मत है।।३६।।

श्रीविश्वनाथ—अत्रायं परामर्श इत्यत आह—असंयतात्मनाभ्यासवैराग्याभ्यां न संयतं मनो यस्य तेन। ताभ्यां तु वश्यात्मना वशीभूतमनसापि पुंसा यतता चिरं यत्नवतैव योगो मनो-निरोधलक्षणः समाधिरुपायतः साधनभूयस्त्वात् प्राप्तुं शक्यः।।३६।।

भावानुवाद—अब श्रीभगवान् योगके विषयमें परामर्श दे रहे हैं। जिसने अभ्यास और वैराग्य द्वारा अपने मनको संयत नहीं किया, उसका योग सिद्ध नहीं होगा। किन्तु, जिन्होंने अभ्यास और वैराग्य द्वारा अपने मनको संयमित कर लिया है, पुनः पुनः साधनके अवलम्बनसे दीर्घकालमें उन्हें 'योग' अर्थात् मन-निरोध-लक्षणरूपी समाधि प्राप्त हो सकती है।।३६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"मेरा उपदेश यह है कि जो वैराग्य और अभ्यास द्वारा मनको संयत करनेकी चेष्टा नहीं करते हैं, उनके लिए पूर्वोक्त योग कभी भी साधित नहीं होता है। किन्तु, जो यथार्थ उपायका अवलम्बनकर मनको वशमें करनेका प्रयत्न करते हैं, वे अवश्य ही योगमें सिद्ध होते हैं। 'यथार्थ उपायके विषय' से मेरा यही कहना है कि जो भगवदर्पित निष्काम कर्मयोग द्वारा और उसके अङ्गीभूत मेरे ध्यानादि द्वारा चित्तको एकाग्र करनेका अभ्यास करते हैं एवं साथ-ही-साथ जीवन निर्वाहके लिए वैराग्यके साथ विषयको स्वीकार करते है, वे क्रमशः योगसिद्धि प्राप्त करते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३६।।

अर्जुन उवाच—

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति।।३७।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) कृष्ण (हे कृष्ण!) श्रद्धया उपेतः (श्रद्धापूर्वक योगमें प्रवृत्त) [तु—किन्तु] अयतिः (अंसयमित चित्तवाले पुरुष) योगात् (योगसे) चलितमानसः (भ्रष्टचित्तवाले होनेपर) योगसंसिद्धिम् (योग-सिद्धिको) अप्राप्यन् (नहीं प्राप्तकर) काम् गतिम् गच्छति (क्या गति प्राप्त करते हैं)।।३७।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! श्रद्धापूर्वक योगमें प्रवृत्त, किन्तु असंयमित चित्तवाले पुरुष योगसे भ्रष्ट हो जानेपर, योग-सिद्धिको न प्राप्तकर कौन-सी गति प्राप्त करते हैं।।३७।।

श्रीविश्वनाथ—नन्वभ्यास-वैराग्याभ्यां प्रयत्नवतैव पुंसा योगो लभ्यत इति त्वयोच्यते। यस्यैतत् त्रितयमपि न दृश्यते तस्य का गतिरिति पृच्छति। अयतिरल्पयत्नः, अनवर्णाय वागुरितिवदल्पार्थे नञ्। अथ च श्रद्धयोपेतः योगशास्त्रास्तिक्येन तत्र श्रद्धयोपेतो योगाभ्यास प्रवृत्त एव, न तु लोकवञ्चकत्वेन मिथ्याचारः। किन्त्वभ्यास वैराग्ययोरभावेन योगाच्चलितं विषयप्रवणीभूतं मानसं यस्य सः। अतएव योगस्य संसिद्धिं सम्यक् सिद्धिमप्राप्येति यत् किञ्चित् सिद्धिन्तु प्राप्त एवेति योगारुरुक्षा-भूमिकातोऽग्रिमां योगारोहभूमिकायाः प्रथमां कक्षां गत इति भावः।।३७।।

भावानुवाद—अर्जुन प्रश्न कर रहे हैं—"अच्छा! आपने कहा कि अभ्यास और वैराग्य द्वारा प्रयत्नवान् पुरुष ही योग प्राप्त करते हैं। परन्तु, जिनमें इन तीनोंका अभाव है, उनकी क्या गति होती है? जो व्यक्ति योगशास्त्रमें आस्तिक बुद्धि होनेके कारण श्रद्धावान् होकर योगाभ्यासमें प्रवृत्त होते हैं और लोकवञ्चककी भाँति मिथ्याचारी भी नहीं हैं, किन्तु अभ्यास और वैराग्यके अभावमें उनका मन योगसे विचलित होकर विषयोंमें प्रवृत्त हो जाता है। अतएव वे योगको भलीभाँति सिद्ध नही कर पाते हैं, परन्तु थोड़ी-बहुत योग-सिद्धिको तो प्राप्त करते ही हैं। अतः योगकी इच्छा करनेवाले (योगारुरुक्षा-भूमिका) से उपर योगारोह-भूमिकाकी प्रथम कक्षाको प्राप्त ऐसे योगियोंकी क्या गति होती है?"।।३७।।

कच्चिन्नोभयविभ्रष्टश्छिन्नाभ्रमिव नश्यति।
अप्रतिष्ठो महाबाहो विमूढो ब्रह्मणः पथि।।३८।।

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) ब्रह्मणः पथि (ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें) विमूढः (विक्षिप्त) अप्रतिष्ठः (आश्रयहीन) उभय-विभ्रष्टः (कर्ममार्ग और योगमार्गसे पतित) छिन्न अभ्रम् इव (खण्डित मेघके समान) क्वचित् न नश्यति (क्या नष्ट नहीं हो जाते हैं)।।३८।।

अनुवाद—हे महाबाहो! ब्रह्मप्राप्तिके मार्गमें विक्षिप्त और आश्रयहीन तथा कर्ममार्ग एवं योगमार्ग—दोनोंसे पतित पुरुष खण्डित मेघके समान छिन्न-भिन्न होकर क्या नष्ट नहीं हो जाते हैं?।।३८।।

श्रीविश्वनाथ—कच्चिदिति प्रश्ने उभयविभ्रष्टः। कर्ममार्गाच्युतः योगमार्गञ्च सम्यक् प्राप्त इत्यर्थः। छिन्नाभ्रमिवेति यथा छिन्नमभ्रं मेघः पूर्वस्मादभ्राद्-विश्लिष्टमभ्रान्तरं चाप्राप्तं सत् मध्ये विलीयते। तेनास्य इहलोके योगमार्गेऽप्रवेशाद्विषय-भोगत्यागेच्छा सम्यग्वैराग्याभावाद्विषयभोगेच्छा चेति कष्टम्। परलोके च स्वर्गसाधनस्य कर्मणोऽभावात् मोक्षसाधनस्य योगस्याप्यपरिपाकात् न स्वर्गमोक्षावित्युभयलोके एवास्य विनाश इति द्योतितम्। अतो ब्रह्मप्राप्त्युपाये पथि मार्गे विमूढोऽयमप्रतिष्ठः प्रतिष्ठामास्पदमप्राप्तः सन् कच्चित् किं नश्यति न नश्यति वेति त्वं पृच्छ्यसे।।३८।।

भावानुवाद—अर्जुन प्रश्न कर रहे हैं—"दोनों मार्गोंसे भ्रष्ट अर्थात् कर्ममार्गसे च्युत और योगमार्गको अप्राप्त हुए व्यक्तिका क्या होता है? मेघ-शृङ्खलासे विश्लिष्ट (पृथक्) होकर जैसे कि छिन्न मेघ अन्य मेघको न प्राप्तकर वायुमें विलीन हो जाता है, वैसे ही कहीं ऐसे योगीकी गति तो नहीं होती? योगमार्गमें प्रवेश करनेपर उस व्यक्तिमें विषय-भोगके त्यागकी इच्छा रहती है, परन्तु पूर्ण वैराग्य न होनेसे उसकी भोगोंकी इच्छा भी वर्त्तमान रहती है—यह कष्ट की बात है। (स्वर्गसाधन) कर्मके अभावमें परलोकमें उसका स्वर्ग भी नष्ट हो जाता है और मोक्षसाधन योगकी सिद्धि नहीं होनेसे मोक्ष भी नष्ट हो जाता है—इससे ऐसा प्रतीत होता है कि दोनों ही लोकोंमें उसका नाश हो गया है। अतः मैं आपसे पूछता हूँ कि ब्रह्मप्राप्तिके साधनपथमें विमूढ़ और निराश्रय व्यक्तिका नाश होता है अथवा नहीं।।"३८।।

एतन्मे संशयं कृष्ण छेत्तुमर्हस्यशेषतः।
त्वदन्यः संशयस्यास्य छेत्ता न ह्युपपद्यते।।३९।।

अन्वय—कृष्ण (हे कृष्ण!) [त्वमेव—आप ही] मे (मेरे) एतत् संशयम् (इस संशयको) अशेषतः (सम्पूर्णरूपसे) छेत्तुम् (छेदन करनेमें) अर्हसि (समर्थ हैं) हि (क्योंकि) त्वदन्यः (आपके अतिरिक्त) अस्य संशस्य (इस संशयका) छेत्ता (छेदन करनेवालेका) न उपपद्यते (मिलना असंभव है)।।३९।।

अनुवाद—हे कृष्ण! आप ही मेरे इस संशयको सम्पूर्णरूपसे छेदन करनेमें समर्थ हैं, आपके अतिरिक्त किसी और संशय छेदन करनेवालेका मिलना असम्भव है।।३९।।

श्रीविश्वनाथ—एतत् एतम्।।३९।।

भावानुवाद—'संशय'—क्लीव लिङ्ग है अतः इसका विशेषण 'एतत्' के स्थानमें 'एतम्' होना चाहिए।।३९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें अर्जुन कह रहे हैं—"हे कृष्ण! आप ईश्वरोंके भी ईश्वर सर्वेश्वरेश्वर, सभी कारणोंके कारण सर्वकारण एवं सर्वज्ञ हैं। कोई भी देवता अथवा ऋषि आपके समान सर्वज्ञ एवं सर्वशक्तिमान् नहीं हैं। इसलिए आपको छोड़कर दूसरा कोई भी मेरे इस संशयका छेदन करनेमें समर्थ नहीं है।।"३९।।

श्रीभगवानुवाच—
पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत्कश्चिद्दुर्गतिं तात गच्छति।।४०।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवानने कहा) पार्थ (हे पार्थ!) तस्य (उस पुरुषका) न एव इह (न तो इस लोकमें) विनाशः विद्यते (विनाश होता है) न अमुत्र (न ही परलोकमें) हि (क्योंकि) तात (हे तात!) कल्याणकृत् (शुभ अनुष्ठानको करनेवाले) कश्चित् (कोई व्यक्ति) दुर्गतिम् (दुर्गतिको) न गच्छति (नहीं प्राप्त होते हैं)।।४०।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे पार्थ! उस पुरुषका न तो इस लोकमें नाश होता है, न ही परलोकमें, क्योंकि हे तात! शुभ अनुष्ठानकारी कोई व्यक्ति दुर्गतिको नहीं प्राप्त होते हैं।।४०।।

श्रीविश्वनाथ—इह लोके अमुत्र परलोकेऽपि कल्याणं कल्याणप्रापकं योग करोतीति सः।।४०।।

भावानुवाद—वे इहलोक और परलोकमें भी कल्याण प्रापक योग करते हैं।।४०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें भगवान् अर्जुनको 'पार्थ' से सम्बोधितकर अपना परम आत्मीय स्वजन मानकर अत्यन्त प्रीतिपूर्वक समझा रहे हैं। 'तात' सम्बोधनके द्वारा भी अर्जुनके प्रति प्रीति झलक रही है। पिता पुत्ररूपमें स्वयंका विस्तार करते हैं, इसलिए उन्हें 'तत्' कहते हैं, स्व-अर्थमें 'तत्' शब्दमें अण् प्रत्यय प्रयुक्त होकर 'तात्' पद निष्पन्न होता है। श्रीगुरुदेव भी पुत्र स्थानीय शिष्यको स्नेहपूर्वक 'तात्' से सम्बोधित करते हैं। भगवान्ने कहा कि जो श्रद्धापूर्वक योगमें प्रवृत्त होते हैं, उनकी दुर्गति नहीं होती।

"श्रीभगवान्ने कहा—हे पार्थ! वर्त्तमानमें या परवर्त्तीकालमें योगका अनुष्ठान करनेवालेका कभी भी विनाश नहीं होता है। कल्याण प्रापक योगानुष्ठाताकी कभी दुर्गति नहीं होगी। मूल बात यह है कि समस्त मानव दो भागोंमें विभक्त हैं—अवैध और वैध। जो समस्त व्यक्ति केवल इन्द्रिय-तर्पण करते हैं और किसी विधिके वशीभूत नहीं हैं, वे पशुके समान विधिशून्य हैं। सभ्य हो अथवा असभ्य हो, मूर्ख हो अथवा पण्डित हों, दुर्बल हो अथवा बलवान् हो, अवैध व्यक्तिका आचरण सदा ही पशुतुल्य होता है, उनके कार्योंसे किसी प्रकारके लाभकी सम्भावना नहीं है।

वैध लोगोंको तीन श्रेणियोंमें विभाजित किया जाता है—कर्मी, ज्ञानी और भक्त। कर्मियोंको भी सकाम कर्मी और निष्काम कर्मी—इन दो भागोंमें विभक्त किया जाता है। सकाम कर्मीगण अत्यन्त क्षुद्र सुखान्वेषी अर्थात् अनित्य सुखके अभिलाषी होते हैं। उन्हें स्वर्गादिकी प्राप्ति और सांसारिक उन्नति तो प्राप्त होती है, किन्तु वे समस्त सुख ही अनित्य हैं, अतएव जिसे जीवोंका 'कल्याण' कहा जाता है, वह उन्हें अप्राप्य है। जड़से छुटकारा पानेके बाद नित्य आनन्दका लाभ ही जीवोंका 'कल्याण' है। अतः जिस पर्वमें उस नित्यानन्दकी प्राप्ति नहीं है, वह पर्व ही निरर्थक है। कर्मकाण्डमें जब उस नित्यानन्दकी प्राप्तिका उद्देश्य संयुक्त होता है, तभी कर्मको कर्मयोग कहते हैं। उस कर्मयोग द्वारा चित्तशुद्धि, उसके पश्चात् ज्ञानप्राप्ति, तदनन्तर ध्यानयोग और चूड़ान्तमें भक्तियोग प्राप्त होता है।

सकाम कर्ममें जो समस्त आत्मसुखोंका परित्यागकर क्लेश स्वीकार करनेका विधान है, उसके द्वारा कर्मीको भी तपस्वी कहा जाता है। तपस्या जितनी भी हो, परन्तु उसकी अवधि इन्द्रिय-सुखके अतिरिक्त और कुछ नहीं है। असुरगण तपस्याके द्वारा फल प्राप्तकर इन्द्रियतर्पण ही करते हैं। इन्द्रियतर्पणरूपी सीमाका अतिक्रम करनेपर सहज ही जीवोंके

कल्याण-उद्देशक कर्मयोगका आगमन होता है। उस कर्मयोगमें स्थित ध्यानयोगी या ज्ञानयोगी अधिकांशतः कल्याणकारी होते हैं। सकाम कर्मसे जीवोंको जो कुछ प्राप्त होता है, अष्टाङ्गयोगीके सभी अवस्थाओंका फल उससे अच्छा होता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४०।।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते।।४१।।

अन्वय—योगभ्रष्टः (योगभ्रष्ट पुरुष) पुण्यकृताम् (पुण्यवान् व्यक्तियोंके) लोकान् (लोकोंको) प्राप्य (प्राप्तकर) शाश्वतीः समाः (अनेक वर्षों तक) उषित्वा (निवासकर) शुचीनाम् (सदाचार-सम्पन्न) श्रीमताम् गृहे (धनवानोंके गृहमें) अभिजायते (जन्म ग्रहण करते हैं)।।४१।।

अनुवाद—अल्पकालके अभ्यासके बाद योगभ्रष्ट पुरुष पुण्यवान् व्यक्तियोंको प्राप्त होनेवाले लोकोंको प्राप्तकर वहाँ अनेक वर्षों तक निवास करनेके पश्चात् सदाचार-सम्पन्न धनवानोंके गृहमें जन्म ग्रहण करते हैं।।४१।।

श्रीविश्वनाथ—तर्हि कां गतिमसौ प्राप्नोतीत्यत आह—प्राप्येति। पुण्यकृताम् अश्वमेधादियाजिनां लोकानिति योगस्य फलं मोक्षो भोगश्च भवति। तत्रापक्वयोगिनो भोगेच्छायां सत्यां योगभ्रंशे सति भोग एव। परिपक्वयोगिनस्तु भोगेच्छाया असम्भवान्मोक्ष एव। केचित्तु परिपक्वयोगिनोऽपि दैवाद्भोगेच्छायां सत्यां कर्द्दमसौभर्यादिदृष्ट्या भोगमप्याहुरिति। शुचीनां सदाचाराणां श्रीमतां धनिकवणिगादीनां राज्ञां वा।।४१।।

भावानुवाद—ऐसा होने पर वैसे व्यक्तियोंकी क्या गति होती है? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—वे अश्वमेधादि यज्ञोंको करनेवाले पुण्यवान् पुरुषोंके लोकोंमें वास करते हैं। क्योंकि, भोग और मोक्ष—ये दोनों ही योगके फल हैं, अतः भोगकी इच्छाके कारण योगभ्रष्ट हुए अपक्व योगीको भोग ही प्राप्त होता है। किन्तु, परिपक्व योगीके लिए भोगकी इच्छाका होना असम्भव है, अतः उन्हें मोक्ष ही प्राप्त होता है। किन्तु, दैवात् किसी-किसी परिपक्व योगीकी भोग-इच्छा होनेपर कर्दम, सौभरि आदि ऋषियोंके समान उन्हें भोग भी प्राप्त होता है। 'शुचि' का तात्पर्य है—सदाचारपरायण और 'श्रीमताम्' का तात्पर्य है—धनिक-वणिकादि अथवा राजा। योगभ्रष्ट पुरुष स्वर्गादिमें निवासके पश्चात् ऐसे लोगोंके ही घरमें जन्म ग्रहण करते हैं।।४१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अष्टाङ्गयोगसे भ्रष्ट योगियोंको दो भागोंमें विभक्त किया जा सकता है—

प्रथम—जिन्होंने कुछ समय तक इस योगका अवलम्बनकर अभ्यास किया है और कुछ दिनोंके बाद इससे भ्रष्ट हो गए। ऐसे योगी *'नेहाभिक्रमनाशोस्ति'* (गीता २/४०) के अनुसार अधोगति लाभ नहीं करते, बल्कि अश्वमेधादि यज्ञ करनेवाले व्यक्तियोंके द्वारा प्राप्य पुण्य लोकोंमें सुख-भोग करते हैं और इसकी समाप्ति पर सत्-धर्ममें तत्पर योगाभ्यासके योग्य ब्राह्मण अथवा धनी व्यक्तिके घरमें जन्म लाभ करते हैं।

द्वितीय— बहुत समय तक इस योगका साधनकर योगमें परिपक्व होनेपर भी दैववश जिन्हें भोगकी इच्छा हो जाती है, उनमें से कुछ लोग इसी जीवनमें तथा कुछ लोग अगले जन्ममें अपने अभिलषित भोगोंको भोगकर अन्तमें उनसे निर्वेद प्राप्तकर योगानुष्ठानको पूर्ण करते हैं। इसके उदाहरण कर्दम और सौभरि ऋषि हैं। कर्दम ऋषि उच्च कोटिके योगी थे। पिता ब्रह्माकी प्रेरणासे अनिच्छा होनेपर भी देवहूतिके साथ विवाहकर प्रजापतियोंसे भी अधिकरूपमें दाम्पत्य सुखका भोग किया। वे भगवत्-अवतार कपिलदेवजीको पुत्रके रूपमें आविर्भूत कराकर संसार-सुख-भोगका त्यागकर पुनः भगवत्-आराधनामें संलग्न हो गए (श्रीमद्भा. ३/२३) । सौभरि ऋषिका चरित्र गीता (२/६५) में द्रष्टव्य है।।४१।।

अथवा योगिनामेव कुले भवति धीमताम्।
एतद्धि दुर्लभतरं लोके जन्म यदीदृशम्।।४२।।

अन्वय—अथवा (अथवा) धीमताम् योगिनाम् (ज्ञानवान् योगियोंके) कुले (कुलमें) भवति (जन्म ग्रहण करते हैं) इदृशम् यत् जन्म (इस प्रकारका जो जन्म है) एतत् हि लोके (यह इस जगत्में) दुर्लभतरम् (अत्यन्त दुर्लभ है)।।४२।।

अनुवाद—अथवा, बहुकालके अभ्यासके बाद योगभ्रष्ट योगी ज्ञानवान् योगियोंके गृहमें जन्म ग्रहण करते हैं। निःसन्देह इस प्रकारका जन्म इस लोकमें अत्यन्त दुर्लभ है।।४२।।

श्रीविश्वनाथ—अल्पकालाभ्यस्त-योगभ्रंशे गतिरियमुक्त्वा। चिरकालाभ्यस्त-योगभ्रंशे तु पक्षान्तरमाह—अथवेति। योगिनां निमिप्रभृतीनामित्यर्थः।।४२।।

भावानुवाद—अल्पकालके उपरान्त योगभ्रष्ट होनेवालेकी गति कहनेके उपरान्त 'अथवा' इत्यादिसे दीर्घकालके उपरान्त योगभ्रष्ट होनेवालेकी गति बता रहे हैं। 'निमि' इत्यादि योगिगण इसी श्रेणीमें गणित होते हैं।।४२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—दूसरी श्रेणीके योगभ्रष्ट योगियोंमें से कोई कोई तत्त्वज्ञाननिष्ठ योगीके वंशमें जन्म ग्रहणकर योगानुष्ठानको पूर्ण करते हैं। ऐसा जन्म निश्चय ही अत्यन्त दुर्लभ है। ऐसे योगियोंमें 'निमि' महाराजका

उदाहरण दिया जा सकता है। (श्रीमद्भा. ९/१३/१-१०) ।।४२।।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदैहिकम्।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन।।४३।।

अन्वय—कुरुनन्दन (हे कुरुनन्दन!) [वे योगभ्रष्ट पुरुष] तत्र (वहाँ) पौर्वदेहिकम् (पूर्व जन्मजात) तम् (उस) बुद्धिसंयोगम् लभते (परमात्मविषयिणी बुद्धिको प्राप्त करते हैं) ततः च (तदनन्तर) भूयः (पुनः) संसिद्धौ (उस सिद्धिको प्राप्त करनेके लिए) यतते (प्रयत्न करते हैं)।।४३।।

अनुवाद—हे कुरुनन्दन! वे योगभ्रष्ट पुरुष वहाँ पूर्वजन्मजात परमात्म-विषयिणी बुद्धिको प्राप्त करते हैं और तदनन्तर पुनः योगकी संसिद्धिके लिए प्रयत्न करते हैं।।४३।।

श्रीविश्वनाथ—तत्र द्विविधेऽपि जन्मनि बुद्ध्या परमात्मनिष्ठया सह संयोगं पौर्वदैहिकं पूर्वजन्मभवम्।।४३।।

भावानुवाद—दोनों ही प्रकारके जन्मोंमें योगभ्रष्ट योगी पूर्व जन्मके परमात्म-निष्ठायुक्त बुद्धिको प्राप्त करते हैं।।४३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्वोक्त दोनों ही प्रकारके जन्मोंमें पूर्व देहके योगानुष्ठानके संस्कारके फलसे स्वधर्म-निष्ठा और परमात्म-विषयक ज्ञाननिष्ठामूलक बुद्धि प्राप्त होती है। वे स्वाभाविक रूपसे चित्तशुद्धि लाभकर संसिद्धिके लिए निद्रासे उठे हुए व्यक्तिकी भाँति अधिकतर यत्नपूर्वक योगानुष्ठानमें तत्पर हो जाते हैं। अब वे किसी भी विघ्नसे बाधित नहीं होते हैं। इसलिए ऐसे अनुष्ठानकारी योगियोंकी दुर्गति अथवा विनाश नहीं होता।।४३।।

पूर्वाभ्यासेन तेनैव ह्रियते ह्यवशोऽपि सः।
जिज्ञासुरपि योगस्य शब्दब्रह्मातिवर्त्तते।।४४।।

अन्वय—हि (निश्चय ही) तेन पूर्वाभ्यासेन एव (उस पूर्व शरीरमें किए गए अभ्यासके द्वारा ही) अवशः अपि (किसी विघ्नके उपस्थित होनेपर भी) सः (वे) (योगके प्रति) ह्रियते (आकर्षित होते हैं) योगस्य (योगके विषयमें) जिज्ञासुः अपि (जिज्ञासु-मात्र होनेपर भी) शब्दब्रह्म (वेदोक्त कर्ममार्गका) अतिवर्त्तते (अतिक्रमण करते हैं)।।४४।।

अनुवाद—निश्चय ही पूर्व अभ्यासके कारण किसी विघ्नके उपस्थित होनेपर भी वे मोक्षपथके प्रति आकृष्ट हो जाते हैं और योगके विषयमें थोड़ी-सी जिज्ञासा करनेपर ही वेदोक्त कर्ममार्गका उल्लंघन करते हैं।।४४।।

श्रीविश्वनाथ—ह्रियते आकृष्यते, योगस्य योगं जिज्ञासुरपि भवति। अतः शब्दब्रह्म वेदशास्त्रमतिवर्त्तते वेदोक्तकर्ममार्गमतिक्रम्य वर्त्तते, किन्तु योगमार्ग एव तिष्ठतीत्यर्थः।।४४।।

भावानुवाद—ह्रियते का तात्पर्य है—आकर्षित होता है। व्याकरणके अनुसार 'योगस्य' के स्थानपर 'योगं' होना चाहिए। वे योगके प्रति आकृष्ट होकर जिज्ञासु होते हैं, तत्पश्चात् शब्दब्रह्म वेदमें बताये गए कर्ममार्गका अतिक्रमण करते हैं, किन्तु योगमार्गमें अवस्थित रहते हैं।।४४।।

प्रयत्नाद्यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्बिषः।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम्।।४५।।

अन्वय—तु (किन्तु) प्रयत्नात् यतमानः (प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाले) संशुद्धकिल्बिषः (निष्पाप) योगी (योगी) (ही) अनेकजन्मसंसिद्धः (अनेक जन्मोंमें सिद्ध होकर) ततः (तत्पश्चात्) पराम् गति (परम गति) याति (लाभ करते हैं)।।४५।।

अनुवाद—किन्तु, प्रयत्नपूर्वक अभ्यास करनेवाले योगी निष्पाप होकर अनेक जन्मोंमें सिद्ध होनेके पश्चात् परम गति लाभ करते हैं।।४५।।

श्रीविश्वनाथ—एवं योगभ्रंशे कारणं यत्नशैथिल्यमेव—*"अयतिः श्रद्धयोपेतः"* इत्युक्तेः। तस्य च यत्नशैथिल्यवतो योगभ्रष्टस्य जन्मान्तरे पुनर्योगप्राप्तिरेवोक्ता, न तु संसिद्धिः। संसिद्धिस्तु यावद्भिर्जन्मभिस्तस्य योगस्य परिपाकः स्यात्, तावद्भिरेवेत्यवसीयते। यस्तु न कदाचिदपि योगे शैथिल्यप्रयत्नस्तुः, सन् योगभ्रष्टशब्दवाच्यः। किन्तु बहुजन्मविपक्वैश्च सम्यग्योगसमाधिभिः—*"द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम्।।"* इति कर्द्दमोक्तेः। सोऽपि नैकेन जन्मना सिध्यतीत्याह—प्रयत्नाद्यतमानः प्रकृष्टयत्नादपि यत्नवानित्यर्थः। तु-कारः पूर्वोक्ताद्योगभ्रष्टादस्यः भेदं बोधयति। संशुद्धकिल्बिषः सम्यक् परिपक्वकषायः। सोऽपि नैकेन जन्मना सिद्धयतीति सः। परां गतिं मोक्षम्।।४५।।

भावानुवाद—गीता (६/३७) के अनुसार यत्नमें शिथिलता ही योगसे भ्रष्ट होनेका कारण है। वैसे योगभ्रष्ट पुरुषको जन्मान्तरके पश्चात् भी योग-प्राप्ति ही कही गई है, योग-संसिद्धि नहीं। जितने जन्मोंमें योग परिपक्व होगा, उतने जन्मोंके बाद ही संसिद्धि प्राप्त होगी। जो व्यक्ति कभी भी योगके प्रत्यनमें शिथिल नहीं होते हैं, उसे योगभ्रष्ट नहीं कहते हैं। अपितु, अनेक जन्मोंमें योगमें परिपक्व होकर वे सिद्धि लाभ करते हैं। कर्दम मुनिने भी कहा है—'*द्रष्टुं यतन्ते यतयः शून्यागारेषु यत्पदम्।*'

(श्रीमद्भा. ३/२४/२८) अर्थात् जो यतिगण निर्जन स्थानमें भगवान्‌के पादपद्मको दर्शन करने की चेष्टा करते हैं, वे भी एक जन्ममें सिद्धि प्राप्त नहीं करते हैं। इसलिए कहते हैं—'प्रयत्नात् यतमानः' अर्थात् पहलेसे अधिक प्रयत्न करनेपर। 'तु'-कारके द्वारा पूर्वकथित योगभ्रष्ट पुरुषसे इनका भेद दिखा रहे हैं। 'संशुद्धकिल्बिषः' अर्थात् सम्यक् परिपक्व कषाय हो जिनका। वे भी एक जन्ममें संसिद्धि अर्थात् मोक्ष नहीं प्राप्त करते हैं।।४५।।

तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः।
कर्मिभ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन।।४६।।

अन्वय—योगी (योगी) तपस्विभ्यः (तपस्वियोंसे) अधिकः (श्रेष्ठ हैं) ज्ञानिभ्यः अपि (ज्ञानियोंसे भी) अधिकः (श्रेष्ठ हैं) योगी (योगी) कर्मिभ्यः च (कर्मियोंसे भी) अधिकः मतः (श्रेष्ठ माने गए हैं) तस्मात् (अतएव) अर्जुन (हे अर्जुन!) योगी भव (योगी होओ)।।४६।।

अनुवाद—योगीको (परमात्माके उपासकको) तपस्वी, ज्ञानी (ब्रह्मके उपासक) और कर्मीसे श्रेष्ठ माना गया है। अतएव हे अर्जुन! तुम योगी बनो।।४६।।

श्रीविश्वनाथ—कर्मज्ञानतपोयोगवतां मध्ये कः श्रेष्ठ इत्यपेक्षयामाह—तपस्विभ्यः कृच्छ्रचान्द्रायणादि तपोनिष्ठेभ्यो ज्ञानिभ्यो ब्रह्मोपासकेभ्योऽपि योगी परमात्मोपासकोऽधिको मतः इति ममेदमेव मतमिति भावः। यदि ज्ञानिभ्योऽप्यधिकस्तदा किमुत कर्मिभ्य इत्याह—कर्मिभ्यश्चेति।।४६।।

भावानुवाद—कर्म, ज्ञान और योग—इनमें से क्या श्रेष्ठ है? इसके उत्तरमें कहते हैं—तपस्वी अर्थात् कठोर चान्द्रायणादि तपोनिष्ठ व्यक्तिसे ज्ञानी अर्थात् ब्रह्मके उपासक श्रेष्ठ हैं। उन ज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ परमात्माके उपासक योगी हैं—यह मेरा मत है। जब योगी ज्ञानियोंसे भी श्रेष्ठ हैं, तो कर्मियोंकी तो बात दूर ही रहे।।४६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—साधारणतः लोगोंकी धारणा ऐसी होती है कि कर्मी, ज्ञानी, तपस्वी, योगी और भक्त—ये सभी एक समान हैं। आलोच्य श्लोकमें भगवान् इस विषयमें अपना विचार स्पष्ट करते हुए कह रहे हैं कि ये सभी एक नहीं हैं, बल्कि इनमें भी श्रेष्ठताका तारतम्य है। सकाम कर्मी अर्थात् तपस्वीसे निष्काम कर्मयोगी श्रेष्ठ हैं, निष्काम कर्मयोगीसे ज्ञानी श्रेष्ठ हैं, ज्ञानीसे श्रेष्ठ अष्टाङ्गयोगी हैं तथा भक्तियोगी इन सबकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं, जिसका वर्णन अगले श्लोकमें किया जाएगा।।४६।।

योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान्भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥४७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'ध्यानयोगो' नाम षष्ठोऽध्यायः॥

अन्वय—मे मतः (मेरे मतानुसार) सर्वेषाम् योगिनाम् अपि (समस्त योगियोंमें भी) सः युक्ततमः (वे योगी सर्वश्रेष्ठ हैं) [जो] श्रद्धावान् (श्रद्धालु) मद्गतेन अन्तरात्मना (मुझमें आसक्त मनके द्वारा) माम् (मुझे) भजते (भजते हैं)॥४७॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'ध्यानयोगो' नाम षष्ठोऽध्यायस्यान्वयः॥

अनुवाद—मेरे मतानुसार समस्त योगियोंमें भी वे योगी सर्वश्रेष्ठ हैं जो श्रद्धावान् होकर मुझमें आसक्त मनके द्वारा निरन्तर मुझे ही भजते हैं॥४७॥

श्रीमद्भगवद्गीताके षष्ठ अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—तर्हि योगिनः सकाशान्नास्त्यधिकः कोऽपीत्यवसीयते? तत्र मैवं वाच्यमित्याह—योगिनामिति, पञ्चम्यर्थे षष्ठी निर्द्धारणयोगात्—'तपस्विभ्यो ज्ञानिभ्योऽधिकः' इति पञ्चम्यर्थक्रमाच्च योगिभ्यः सकाशादपीत्यर्थः। न केवलं योगिभ्य एकविधेभ्यः सकाशात्, अपि तु योगिभ्यः सर्वेभ्यः नानाविधेभ्यो योगारूढेभ्यः संप्रज्ञातसमाध्यसंप्रज्ञातसमाधिमद्भ्योऽपीति। यद्वा योगाः उपायाः कर्मज्ञानतपोयोगभक्त्यादयस्तद्वतां मध्ये यो मां भजेत, मद्भक्तो भवति स युक्ततम उपायवत्तमः। कर्मी तपस्वी ज्ञानी च योगी मतः, अष्टाङ्गयोगी योगितरः, श्रवणकीर्त्तनादिभक्तिमांस्तु योगितम इत्यर्थः। यदुक्तं श्रीभागवते—*"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्ल्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥"* इति॥४७॥

अग्रिमाध्याष्टकं यद्भक्ति-योगनिरुपकम्।
तस्य सूत्रमयं श्लोको भक्तकण्ठविभूषणम्॥
प्रथमेन कथासूत्रं गीताशास्त्र शिरोमणिः।
द्वितीयेन तृतीयेन तुर्येणाकामकर्म च॥
ज्ञानञ्च पञ्चमेनोक्तं योगः षष्ठेन कीर्त्तितः।
प्राधान्येन तदप्येतत् षट्कं कर्मनिरुपकम्॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु षष्ठोऽध्यायोऽयं सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद—तब क्या योगियोंकी तुलनामें कोई भी श्रेष्ठ नहीं है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—ऐसा मत कहो—'योगिनाम्' इत्यादि। 'योगिनां' शब्दमें षष्ठी विभक्ति है, किन्तु वह पञ्चमी विभक्तिके अर्थमें है, जैसे पूर्वके श्लोकमें 'तपस्विभ्यो-ज्ञानिभ्योऽधिकः' पञ्चमी विभक्तिमें कहा गया है, उसी प्रकार यहाँ भी 'योगिभ्यः' समझना चाहिए अर्थात् योगियोंसे भी उत्तम हैं। मेरे भक्त केवल एक प्रकारके योगीसे नहीं, अपितु समस्त प्रकारके योगियोंसे श्रेष्ठ हैं, चाहे वे योगारूढ़ हों, सम्प्रज्ञात समाधियुक्त हों या असम्प्रज्ञात समाधियुक्त हों। अथवा योगका तात्पर्य है—उपाय अर्थात् कर्म, ज्ञान, तप, योग, भक्ति इत्यादि। इनमें से जो भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं अर्थात् मेरे भक्त हैं, वे ही साधकोंमें उत्तम हैं। कर्मी, तपस्वी एवं ज्ञानी—ये भी योगीके रूपमें स्वीकृत हैं और अष्टाङ्गयोगी योगितर अर्थात् श्रेष्ठ योगीके रूपमें स्वीकृत हैं, किन्तु श्रवण-कीर्त्तनवाले भक्तिमान् योगी ही सर्वश्रेष्ठ योगी हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कथित है—

'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने।।'

(श्रीमद्भा. ६/१४/५)

अर्थात्, हे महामुने! कोटि-कोटि भक्तों और सिद्धोंमें से नारायण-परायण प्रशान्तात्मा पुरुष अत्यन्त दुर्लभ है।।४७।।

परवर्ती आठ अध्यायोंमें जो भक्तियोग निरूपित हुआ है, उसके सूत्रके रूपमें यह श्लोक भक्तोंके कण्ठका विभूषण है। प्रथममें शास्त्रशिरोमणि गीताका कथासूत्र, द्वितीय, तृतीय एवं चतुर्थमें अकाम (निष्काम) कर्म, पञ्चममें ज्ञान और षष्ठ अध्यायमें योगका वर्णन हुआ है। तब भी ये छः अध्याय मुख्यरूपसे कर्मको निरूपित करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताके षष्ठ अध्यायकी साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके षष्ठ अध्यायकी सारार्थवर्षिणी
टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस अध्यायकी समाप्तिपर भगवान् श्रीकृष्णने

सभी योगियोंकी अपेक्षा भक्तियोगीको श्रेष्ठ बताया है। इस श्लोकको विशेष व्याख्या नीचे द्रष्टव्य है—

"जितने भी प्रकारके योगी हैं, सबकी अपेक्षा भक्तियोगके अनुष्ठाता योगी ही श्रेष्ठ हैं। जो श्रद्धावान् होकर मुझे भजते हैं, वे सभी योगियोंसे श्रेष्ठ हैं। वैध मनुष्योंके बीच सकाम कर्मीको 'योगी' नहीं कहा जाता हैं। निष्काम कर्मी, ज्ञानी, अष्टाङ्गयोगी और भक्तियोगानुष्ठाता—ये सभी योगी हैं। वस्तुतः योग एक ही है, दो नहीं। 'योग' एक सोपानमय मार्गविशेष है। उस मार्गका आश्रयकर जीव ब्रह्मपथपर आरूढ़ होते हैं। 'निष्काम कर्मयोग' इस सोपानका प्रथम क्रम है, इसमें ज्ञान और वैराग्य संयुक्त होनेपर 'ज्ञानयोग' रूप इसका द्वितीय क्रम बनता है, इसमें पुनः 'ईश्वर-चिन्ता' रूप ध्यानके संयुक्त होनेपर 'अष्टाङ्गयोग' रूप इसका तृतीय क्रम बनता है। इस तृतीय क्रममें भगवत्प्रीति संयुक्त होनेपर 'भक्तियोग' रूप चतुर्थ क्रम बनता है। इन समस्त क्रमोंके संयुक्त होनेसे जो सोपान बनता है, उसीका नाम 'योग' है। उसी योगकी व्याख्या स्पष्टरूपमें करनके लिए खण्डित योगोंका उल्लेख करना पड़ता है। नित्य कल्याण ही जिनका उद्देश्य है, वे योगका ही अवलम्बन करते हैं, किन्तु प्रत्येक क्रममें उन्नत होकर सर्वप्रथम उस क्रममें निष्ठायुक्त होते हैं और अन्तमें इस क्रमका परित्यागकर ऊपरके क्रममें प्रवेश करनेके लिए पिछले क्रमकी निष्ठाका परित्याग करते हैं। जो किसी-एक क्रमविशेषमें आबद्ध रहते हैं, उस क्रमके नामसे संयुक्त एक खण्ड-योगमें ही उनकी प्रतिष्ठा है। इसलिए कोई 'कर्मयोगी', कोई 'ज्ञानयोगी', कोई 'अष्टाङ्गयोगी' वा कोई 'भक्तियोगीके नामसे परिचित होते हैं। अतएव हे पार्थ! केवल मेरी भक्ति करना ही जिनका चरम उद्देश्य है, वे अन्य तीन प्रकारके योगियोंसे श्रेष्ठ हैं। तुम वही योगी अर्थात् भक्तियोगी होओ।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४७।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके षष्ठ
अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

षष्ठ अध्याय समाप्त।

सप्तमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

मय्यासक्तमनाः पार्थ योगं युञ्जन्मदाश्रयः।
असंशयं समग्रं मां यथा ज्ञास्यसि तच्छृणु।।१।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) पार्थ (हे पार्थ!) मयि (मुझमें) आसक्तमनाः (आसक्तचित्त) [तथा] मदाश्रयः (सन्) (मेरे शरणागत होकर) योगम् युञ्जन् (योगका अनुष्ठान करते-करते) समग्रम् माम् (सम्पूर्णरूपसे मुझे) असंशयम् (निःसन्देह) यथा (जिस प्रकार) ज्ञास्यसि (जानोगे) तत् (उसे) शृणु (श्रवण करो)।।१।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे पार्थ! मुझमें आसक्तचित्त तथा मेरे परायण होकर योगानुष्ठान करते-करते निःसन्देह जिस प्रकार मुझे सम्पूर्णरूपसे जानोगे, उसे श्रवण करो।।१।।

श्रीविश्वनाथ—

कदा सदानन्द-भुवो महाप्रभोः कृपामृताब्धेश्चरणौ श्रयामहे।
यथा यथा प्रोज्झितमुक्तितत्पथा, भक्त्यध्वना प्रेमसुधामयामहे।।
सप्तमे भजनीयस्य श्रीकृष्णैश्वर्यमुच्यते।
न भजन्ते भजन्ते ये ते चाप्युक्ताश्चतुर्विधा।।

प्रथमेनाध्यायषट्केनान्तःकरणशुद्ध्यर्थकनिष्ठकामकर्मसापेक्षौ मोक्षफलसाधकौ ज्ञानयोगावुक्तौ। इदानीमनेन द्वितीयाध्यायषट्केन कर्मज्ञानादिमिश्र श्रवणान्निष्कामत्व सकामत्वाभ्यां च सालोक्यादि साधकः, सर्वमुख्यः कर्मज्ञानादिनिरपेक्ष एव प्रेमवत्पार्षदत्वलक्षणमुक्तिफलसाधकः, तथा*"यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्"* इत्यादौ *"सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा। स्वर्गापवर्गं मद्धाम"* इत्याद्युक्तेर्विनापि साधनान्तरं स्वर्गापवर्गादिनिखिलसाधकश्च परमः स्वतन्त्रः सर्वसुकरोऽपि सर्वदुष्करः श्रीमद्भक्तियोग उच्यते। ननु *"तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति"* इति श्रुतेः, ज्ञानं विना केवलया भक्त्यैव कथं मोक्षः ब्रूषे? मैवं, 'तमेव तत पदार्थं परमात्मानमेव विदित्वा साक्षदनुभूय, न तु त्वं-पदार्थमात्मानं नापि प्रकृतिं नापि वस्तुमात्रं विदित्वा मृत्युमत्येति'—इति

अस्याः श्रुतेरर्थः। तत्र सितशर्करा-रसग्रहणे यथा रसनैव कारणं, न तु चक्षुःश्रोत्रादिकं, तथैव परब्रह्मास्वादे भक्तिरेव कारणम्। भक्तेर्गुणातीतत्वात्तयैव गुणातीतस्य ब्रह्मणो ग्रहणं सम्भवेत, न तु देहाद्यतिरिक्तात्मज्ञानेन सात्विकेन। *"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः"* इति भगवदुक्तेरिति, *"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः"* इत्यत्र सविशेषं प्रतिपादयिष्यामः। ज्ञानयोगयोर्मुक्ति-साधनत्वप्रसिद्धिस्तु तत्रस्थ-गुणीभूतभक्तिप्रभावादेव, तया विना तयोरकिञ्चित्करत्वस्य वहुषः श्रवणात्। किञ्च, अस्यां श्रुतौ विदित्वा इत्यनन्तरम् एव कारस्याप्रयोगादेव। योगव्यवच्छेदाभावे ज्ञापिते सति, तस्मादेव परमात्मनो विदितात् क्वचिदविदितापि मोक्ष इत्यर्थो लभ्यते। ततश्च भक्त्युत्थेन निर्गुणेन परमात्मज्ञानेन मोक्षः। क्वचित्तु भक्त्युत्थं तज्ज्ञानं विनापि केवलेन भक्तिमात्रेण मोक्ष इत्यर्थः पर्यवस्यति। यथा मत्स्यण्डिकापिण्डाद्रसना-दोषेण-लब्धस्वादादपि भुक्तात् तदेकनाश्यो व्याधिर्नश्यत्येवात्र न सन्देहः। "मत्स्यण्डिकाफाणिते खण्ड-विकारो शर्करासिते" इत्यमरः श्रीमदुद्धवेनाप्युक्तं (श्रीमद्भा. १०/४७/५९)-*"नन्वीश्वरोऽनुभजतोऽविदुषोऽपि साक्षाच्छ्रेयस्तनोत्यगदराज ईवोपयुक्तः"* इति । मोक्षधर्मे नारायणीयेऽप्युक्तं—*"या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये। तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः"* इति। एकादशेऽप्युक्तं *"यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्"* इत्यादौ *"सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तोलभतेऽञ्जसा"* इति। अतएव *"यन्नाम सकृत् श्रवणात् पुक्कशोऽपि विमुच्यते संसारात्"* इत्यादौ बहुशो वाक्यैर्भक्त्यैव मोक्षः प्रतिपाद्यते इति। अथ प्रकृतमनुसरामः,—*"योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः॥"* इति त्वद्वाक्येन त्वन्मनस्कत्वे सति त्वज्जनविषयकश्रद्धावत्वमिति त्वया स्वभक्त-विशेषलक्षणमेव कृतमित्यवगम्यते। किन्तु स च कीदृशो भक्तस्त्वदीयज्ञानविज्ञानयोरधिकारी भवतीत्यपेक्षायामाह-मय्यासक्तेति द्वाभ्याम्। यद्यपि *"भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्॥"* इत्युक्तेर्मद्भजनप्रक्रमत एव मदनुभवप्रक्रमोऽपि भवति, तदप्येकग्रासमात्रभोजिनो तथा तुष्टिपुष्टि न स्पष्टे भवतः, किन्तु बहुतरग्रास भोजिन एव। तथैव मयि श्यामसुन्दर पीताम्बरे आसक्तम् आसक्तिभूमिकारूढं मनो यस्य तथाभूत एव त्वं मां ज्ञास्यसि। यथा स्पष्टमनुभविष्यसि, तत् शृणु कीदृशं योगम् मया सह संयोगं युञ्जन् शनैः शनैः प्राप्नुवन् मदाश्रयः, मामेव, न तु ज्ञानकर्मादिकमाश्रयमाणोऽनन्यभक्त इत्यर्थः। अत्र 'असंशयं समग्रम्' इति पदाभ्यां मदीयनिर्विशेषब्रह्मस्वरूपज्ञानं *"क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम्*

अव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥" इत्यग्रिमोक्तेः संशयमेव तथा ज्ञानिनामुपास्यं तद्ब्रह्म परममहतो मम महिमस्वरूपमेव। यदुक्तं मयैव सत्यव्रतं प्रति मत्स्यरूपेण–*"मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम्। वेत्स्यस्यानुगृहीतं मे"* इति; अत्रापि *"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्"* इति। अतो मज्ज्ञानापेक्षया तज्ज्ञानमसमग्रमिति द्योतितम्।।१।।

भावानुवाद—मैं कब श्रीमान् चैतन्यमहाप्रभुके श्रीचरणोंका आश्रय प्राप्त करूँगा, जो कि नित्य आनन्दके निकेतन हैं और कृपाके सागर हैं तथा भुक्ति और मुक्तिके साधनोंका परित्यागकर भक्तिपथका अवलम्बनकर प्रेमसुधाका अधिकारी होऊँगा? सप्तम अध्यायमें भजनीय श्रीकृष्णके ऐश्वर्यसमूह और भजनशील तथा अभजनशीलके भेदसे चार प्रकारके उपासकोंके सम्बन्धमें बताया गया है।

प्रथम छः अध्यायोंमें अन्तःकरणकी शुद्धिके लिए निष्काम कर्मकी अपेक्षा रखनेवाले मोक्षफलदायी ज्ञान और योगके विषयमें बताया गया। अब इन दूसरे छः अध्यायोंमें कर्म-ज्ञानादिसे मिश्र श्रवणसे तथा निष्काम और सकाम कर्मसे प्राप्य सालोक्यादि एवं प्रमुखरूपसे कर्म-ज्ञानादिसे निरपेक्ष प्रेमवत् पार्षदत्व लक्षणयुक्त मुक्तिफलप्रदाता भक्तियोगका वर्णन किया जाएगा। श्रीमद्भागवत (११/२०/३२-३३) में भी कथित है—'*यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्*' और '*सर्वम् वाञ्छति*' अर्थात् कर्म, तपस्या, ज्ञान वैराग्य, योग, दानादि समस्त शुभकर्मोंसे जो भी फल प्राप्त होते हैं, मेरे भक्त भक्तियोगके द्वारा अनायास ही उन समस्त फलोंको प्राप्त कर लेते हैं, यदि वे स्वर्ग, अपवर्ग और वैकुण्ठादि लोकोंको भी चाहते हैं, तो उसे भी वे अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। इन उक्तियोंसे यह स्पष्ट है कि भक्ति परम स्वतन्त्र है और अन्यान्य साधनोंके न करने पर भी उनके फलोंको देनेमें समर्थ है और सुलभ है, तथापि यह भक्तियोग सर्वदुष्कर है।

श्वेताश्वतर उपनिषद (३/८) में कथित है—'*तमेव विदित्वा अतिमृत्युमेति*' अर्थात् उसको जानकर अर्थात् ज्ञानसे मृत्युको अतिक्रम किया जा सकता है। अतः यदि संशय हो कि ज्ञानके बिना केवल भक्तिसे मोक्षकी संभावना ही कहाँ है, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—इस प्रकारकी आपत्ति मत करो; तमेव—'तत्' पदार्थ (परमात्मा) को ही जानकर अर्थात् साक्षात् अनुभवकर मृत्युको पार किया जा सकता है। केवल 'त्वम्' पदार्थ अर्थात् जीवात्मा या प्रकृतिको या वस्तुमात्रको जानकर नहीं—यही इस

श्रुतिका तात्पर्य है। जिस प्रकार मिश्री या शक्करके रसको ग्रहण करनेमें रसना ही कारण है, चक्षु, कर्णादि नहीं, उसी प्रकार भक्ति ही परब्रह्मके आस्वादन अर्थात् उपलब्धिका कारण है। भक्तिके गुणातीत होनेके कारण भक्तिके द्वारा ही गुणातीत ब्रह्मकी उपलब्धि सम्भव है, न कि देहादिसे अतिरिक्त सात्विक आत्मज्ञान द्वारा। *'भक्त्याऽहमेकया ग्राह्यः'* (श्रीमद्भा. ११/१४/२१) अर्थात् मैं एकमात्र भक्तिके द्वारा ही प्राप्य हूँ एवं *"भक्त्या ... तत्त्वतः"* (गीता १८/५५) अर्थात् मेरा जो स्वरूप है, जीव उसे एकमात्र भक्तिके द्वारा ही विशेषरूपसे जान सकता है—इन वाक्योंके द्वारा मैं सविशेषका प्रतिपादन करूँगा। मुक्ति साधनके रूपमें ज्ञान और योग प्रसिद्ध हैं, परन्तु इनमें स्थित गुणीभूता भक्तिके प्रभावसे ही ऐसा सम्भव होता है। भक्तिरहित ज्ञान और योग कोई भी फल देनेमें असमर्थ हैं। भक्तिके बिना इन दोनोंके अकिञ्चितकरत्वके बारेमें बहुधा सुना जाता है। और भी, इस श्रुतिमें 'विदित्वा' पदके बाद 'एव' कारका प्रयोग नहीं हुआ है अर्थात् ऐसा नहीं कहा गया है कि ज्ञानसे ही मोक्ष प्राप्त होता है। अतः यह ध्वनित होता है कि परमात्माको जान लेनेपर अथवा कभी-कभी न जाननेपर भी मोक्ष प्राप्त हो सकता है। अतः भक्तिजनित निर्गुण परमात्म-ज्ञानसे मोक्ष प्राप्त होता है। कहीं-कहीं (भक्तिजनित) परमात्म ज्ञानके बिना भी केवल भक्तिसे ही मोक्ष प्राप्त होता है—ऐसा भी अर्थ पर्यवसित होता है। जिस प्रकार अपने दोषके कारण जिह्वा मिश्रीका आस्वादन नहीं कर सकती है, परन्तु उसी मिश्रीके निरन्तर सेवनसे उसका पित्तदोष दूर हो जाता है और मिश्रीका रसास्वादन भी होने लगता है—इसमें सन्देह नहीं है। अमरकोषके अनुसार मस्त्यण्डिका एवं शर्करा दोनों तुल्यार्थवाचक हैं। श्रीउद्धवजीने कहा है—"जिस प्रकार अमृतके स्वरूपको न जाननेपर भी अमृत सेवनकारीका कल्याण ही करता है, उसी प्रकार कोई श्रीकृष्णके स्वरूपसे अनभिज्ञ व्यक्ति यदि सर्वदा उनका भजन करते हैं, तो श्रीकृष्ण अपने भजनशील अतत्त्वज्ञ व्यक्तिको भी अभीष्ट फल प्रदान करते हैं।" मोक्षधर्ममें श्रीनारायणके लिए भी कहा गया है—"धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष—इन चारों पुरुषार्थोंको प्राप्त करनेके लिए जिन साधनोंका प्रयोजन है, श्रीनारायणके आश्रित व्यक्ति उन साधनोंके बिना ही उन्हें प्राप्त करते हैं।" एकादश स्कन्ध (११/२०/३२-३३) में भी उक्त है—"कर्म-तपादिसे जो कुछ प्राप्त किया जा सकता है, मेरे भक्त भक्तियोग द्वारा अनायास ही उन सबको प्राप्त करते हैं।" और भी, "जिनके नामको एकबार श्रवण

करनेसे ही चाण्डाल भी संसारसे मुक्त होता है।" (श्रीमद्भा. ६/१६/४४) उपरोक्त वाक्योंसे यही प्रतिपादित होता है कि भक्ति द्वारा ही मोक्ष प्राप्त होता है। अनन्तर, "सभी प्रकारके योगियोंमें भी जो श्रद्धावान् होकर अन्तरात्मासे मेरा भजन करते हैं, वे युक्ततम योगी हैं।" (गीता ६/४७) इस भगवत्-वाक्यमें भगवान्में मनवाला एवं भगवत्-जनमें श्रद्धावान् अपने भक्तोंके विशेष लक्षणका ही निर्देश किया है। किन्तु, किस प्रकारके भक्त भगवद्विषयक ज्ञान और विज्ञानके अधिकारी हैं—इस प्रश्नकी अपेक्षामें 'मय्यासक्त' इत्यादि दो श्लोकोंको कह रहे हैं।

श्रीमद्भागवत (११/२/४२) में कथित है—"जैसे, भोक्ताकी तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति तीनों ही एक साथ संघटित होती हैं, वैसे ही भक्ति, भगवदनुभव और विरक्ति एकसाथ संघटित होती हैं।" भोक्ताको केवल एक ग्राससे तुष्टि-पुष्टि आदिका स्पष्ट अनुभव नहीं होता है, अपितु अनेक ग्रास खानवालेको ही होता है, इसके विपरीत इस उक्तिके द्वारा मेरा भजन आरम्भ करनेके साथ-साथ ही मेरा अनुभव होता है। इसी प्रकार जिसका मन मेरे पीताम्बरधारी श्यामसुन्दर स्वरूपके प्रति आसक्त हो जाता है अर्थात् आसक्ति भूमिकामें आरूढ़ हो जाता है, वही मेरा अनुभव करता है—तुम इस प्रकार ही मुझे जानोगे। वह योग कैसा है तथा किस प्रकार मेरा स्पष्ट अनुभव किया जा सकता है, उसे श्रवण करो। शनैः शनैः मेरा संयोग प्राप्तकर वह मेरे ही आश्रित होकर, ज्ञान-कर्मादिके आश्रयके विना भी मेरा अनन्य भक्त बन जाता है।

यहाँ 'असंशयं' और 'समग्रं'—इन दो पदोंसे अपने निर्विशेष बह्मकी प्राप्तिमें रहनेवाले 'संशय' तथा उस स्वरूपकी उपलब्धिकी असमग्रताको इङ्गित किया है, जैसा कि परवर्त्ती अध्याय (१२/५) में भी कहा जाएगा—*"क्लेशोऽधिकतरस्तेषाम् अव्यक्तासक्तचेतसाम्। अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥"* अर्थात् जो निर्गुण ब्रह्ममें चित्त समाहित करते हैं, उन्हें अधिक कष्ट होता है, देहाभिमानी जीव अत्यन्त कष्टपूर्वक उस अव्यक्त भावको प्राप्त होता है। और भी, ज्ञानियोंका उपास्य ब्रह्म भी मुझ परम महानके महिमास्वरूप ही है, जैसा कि मैंने मत्स्यावतारमें राजा सत्यव्रतके प्रति कहा है—"मेरे उपदेशसे तुम अपने हृदयमें परब्रह्म शब्दसे प्रकाशित मेरी महिमासे भी अवगत होओगे।" (श्रीमद्भा. ८/२४/३८) गीता (१४/२१) में भी कहा गया है—"मैं ही ब्रह्मका आश्रय हूँ।" अतएव मेरे श्रीकृष्ण स्वरूपके ज्ञानकी अपेक्षा निर्विशेष ब्रह्मज्ञान असमग्र अर्थात् असम्पूर्ण है।।१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"हे पार्थ! प्रथम छह अध्यायोंमें अन्तःकरणको शुद्ध करनेवाले निष्काम कर्मयोगकी अपेक्षा करनेवाले मोक्षदायी ज्ञान और योग (अष्टाङ्ग) के सम्बन्धमें बताया, दूसरे छह अध्यायोंमें भक्तियोगके सम्बन्धमें बता रहा हूँ, श्रवण करो। मुझमें आसक्तचित्त होकर तथा मेरे आश्रितयोग (भक्तियोगका) अभ्यास करनेसे मत्सम्बन्धी समग्र ज्ञान प्राप्त करोगे—इसमें कुछ भी सन्देह नहीं है। ब्रह्मज्ञानरूप जो ज्ञान है, वह समग्र नहीं है, क्योंकि वह 'सविशेष' ज्ञान नहीं है। जड़ीय-विशेषका परित्यागकर जो एक निर्विशेष चिन्ता प्राप्त की जाती है, उसमें ही निर्विशेष चिन्ताके विषयस्वरूप मरा निर्विशेष आविर्भावरूप ब्रह्म उदित होता है। वह निर्गुण नहीं है, क्योंकि वह देह आदिसे अतिरिक्त जो सात्त्विक ज्ञान है, उतना ही है। भक्ति निर्गुण वृत्तिविशेष है; भक्तिके अवलम्बनसे ही निर्गुणस्वरूप मैं, जीवके निर्गुण नेत्रसे परिलक्षित होता हूँ।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२।।

ज्ञानं तेऽहं सविज्ञानमिदं वक्ष्याम्यशेषतः।
यज्ज्ञात्वा नेह भूयोऽन्यज् ज्ञातव्यमवशिष्यते।।२।।

अन्वय—अहम् (मैं) ते (तुम्हें) सविज्ञानम् (विज्ञानसहित) इदम् ज्ञानम् (इस ज्ञानको) अशेषतः (सम्पूर्णरूपसे) वक्ष्यामि (कहूँगा) यत् ज्ञात्वा (जिसे जानकर) इह (इस संसारमें) भूयः (पुनः) अन्यत् (और कुछ) ज्ञातव्यम् (जानने योग्य) न अवशिष्यते (शेष नहीं रह जाता है)।।२।।

अनुवाद—मैं तुम्हारे लिए विज्ञानसहित इस ज्ञानको सम्पूर्णरूपसे कहूँगा, जिसे जानकर इस संसारमें पुनः और कुछ जानने योग्य शेष नहीं रह जाता है।।२।।

श्रीविश्वनाथ—तत्र मद्भक्तेरासक्तिभूमिकातः पूर्वमपि मे ज्ञानमैश्वर्यमयं भवेत्। तदुत्तरं विज्ञानं माधुर्यानुभवमयं भवेत्। तदुभयमपि त्वं शृण्वित्याह—ज्ञानमिति। अन्यज्ज्ञातव्यं नावशिष्यत इति मन्निर्विशेषब्रह्मज्ञानविज्ञाने अप्येतदन्तर्भूते एवेत्यर्थः।।२।।

भावानुवाद—मेरी भक्तिकी आसक्ति भूमिकासे पूर्व मेरा ज्ञान ऐश्वर्यमय होता है और बादमें विज्ञान अर्थात् माधुर्यका ही अनुभव होता है। तुम उन दोनोंको श्रवण करो, जिससे और कुछ भी तुम्हारे लिए जानने योग्य शेष नहीं रह जाएगा। मेरा निर्विशेष ब्रह्मज्ञान और विज्ञान इसके अन्तर्भूत हैं।।२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—निर्गुणा भक्तिके द्वारा सच्चिदानन्द, ऐश्वर्य-माधुर्यके आधार, स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके पूर्ण स्वरूपकी अनुभूति होती है। श्रीव्यासजीने भक्तियोगके द्वारा ही समाधिकी अवस्थामें भगवत्स्वरूपका

पूर्णरूपमें दर्शन किया *'अपश्यत् पुरुषं पूर्णं ......'* (श्रीमद्भा. १/७/४) इस पूर्णतम भगवत्-दर्शनमें ब्रह्मज्ञान, परमात्मज्ञान एवं विज्ञानको क्रोडीभूत समझना चाहिए। इसलिए भगवत्-ज्ञानको जान लेनेके बाद कुछ भी अवशेष नहीं रह जाता।

निर्गुणा भक्तिका पर्यायवाची प्रेमाभक्ति है। प्रेमाभक्तिको प्राप्त करनेके नौ सोपान हैं—(१) श्रद्धा (२) साधुसङ्ग (३) भजनक्रिया (४) अनर्थ निवृत्ति (५) निष्ठा (६) रुचि (७) आसक्ति—यहाँ तक साधन भक्ति है। इसके पश्चात् (८) भाव (९) प्रेमका उदय। यहाँ भगवान्में आसक्ति होनेसे पूर्व ही साधक भक्तोंको भगवान्का जो ज्ञान प्राप्त होता है, वह ऐश्वर्यमय होता है। किन्तु, आसक्तिके परिपक्व होनेपर उसके हृदयमें माधुर्यका अनुभव होता है—यही विज्ञान है।।२।।

मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिद्यतति सिद्धये।
यततामपि सिद्धानां कश्चिन्मां वेत्ति तत्त्वतः।।३।।

अन्वय—मनुष्याणाम् सहस्रेषु (सहस्र-सहस्र लोगोंमें) कश्चित् (कोई) सिद्धये (सिद्धिके लिए) यतति (यत्न करते हैं) यतताम् सिद्धानाम् अपि (यत्नपरायण सिद्धोंमें भी) कश्चित् (कोई) माम् (मुझे) तत्त्वतः (स्वरूपतः) वेत्ति (जानते हैं)।।३।।

अनुवाद—सहस्र-सहस्र लोगोंमें से कोई एक सिद्धिके लिए यत्न करते हैं और यत्नपरायण सिद्धोंमें भी कोई एक मुझे स्वरूपतः जानते हैं।।३।।

श्रीविश्वनाथ—एतच्च सविज्ञानं मज्ज्ञानं पूर्वमध्यायषट्के प्रोक्तलक्षणैर्ज्ञानिभिर्योगिभिरपि दुर्लभमिति वदन् प्रथमं विज्ञानमाह—मनुष्याणामिति। असंख्यातानां जीवानां मध्ये कश्चिदेव मनुष्यो भवति। मनुष्याणां सहस्रेषु मध्ये कश्चिदेव श्रेयसि यतते। तादृशानामपि मनुष्याणां सहस्रेषु कश्चिदेव मां श्यामसुन्दराकारं तत्त्वतो वेत्ति साक्षादनुभवतीति निर्विशेषब्रह्मानुभवानन्दात् सहस्रगुणाधिकः सविशेषब्रह्मानुभवानन्दः स्यादिति भा।।३।।

भावानुवाद–विज्ञानसहित 'मेरा ज्ञान' पूर्ववर्ती अध्यायोंमें वर्णित लक्षणयुक्त ज्ञानियों और योगियोंके लिए भी दुर्लभ है—इसे कहते हुए श्रीभगवान् 'मनुष्याणाम्' इत्यादिके द्वारा सर्वप्रथम विज्ञान बता रहे हैं। असंख्य जीवोंमें कोई एक मनुष्य होता है, हजारों मनुष्योंमें कोई एक श्रेयः (कल्याण) प्राप्तिके लिए प्रयत्न करता है, वैसे हजारों प्रयत्नशील मनुष्योंमें कोई एक ही मुझ श्यामसुन्दर मुरलीधारीको तत्त्वतः जान पाते हैं अर्थात् साक्षात् अनुभव कर पाते हैं। अतः तात्पर्य यह है कि निर्विशेष ब्रह्मके अनुभवसे प्राप्त आनन्दकी अपेक्षा सविशेष ब्रह्मके अनुभवमें हजारों गुणा अधिक आनन्द प्राप्त होता है।।३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ भगवान् भगवत्-ज्ञानको परम दुर्लभ बता रहे हैं। श्रीमद्भागवत (६/१४/५) में भी इसे परम दुर्लभ बताया गया है, यथा—

'मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः।
सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने॥'

अर्थात्, हे महामुने! ऐसे कोटि-कोटि मुक्तों तथा सिद्धोंमें भी प्रशान्तात्मा नारायणपरायण भक्त अत्यन्त दुर्लभ हैं। पुनः ऐसे ऐश्वर्यपरायण नारायण भक्तोंमें भी माधुर्यपरायण कृष्ण भक्त अत्यन्त विरल हैं। श्रीकृष्णकी माधुरीके आस्वादजनित आनन्द ब्रह्मानन्दकी अपेक्षा कोटि गुणा अधिक होता है, यथा—

'ब्रह्मानन्दो भवेदेषः चेत् परार्द्धगुणीकृतः।
नैति भक्तिसुखाम्भोधेः परमाणु तुलामपि।।'

(भ. र. सि. १/१/२५)

अर्थात्, ब्रह्मानन्दके सुखको ब्रह्माजीकी आयुके दिनोंसे गुणा करनेसे जो सुख प्राप्त होता है, वह श्रीकृष्णकी माधुरीके रसास्वादजनित सुखके अणुमात्रके भी तुल्य नहीं है।

श्रीचैतन्य चरितामृतमें भी ऐसा ही कहा गया है—

'कृष्णविषयक प्रेमा-परमपुरुषार्थ।
जार आगे तृणतुल्य चारि-पुरुषार्थ।।
पञ्चम पुरुषार्थ प्रेमानन्दामृत सिन्धु।
ब्रह्मादि आनन्द जार नहे एक बिन्दु।।'

(चै. च. आ. ७/८४-८५) ।।३।।

भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च।
अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।।४।।

अन्वयः—भूमिः (भूमि) आपः (जल) अनलः (अग्नि) वायुः (पवन) खम् (आकाश) मनः (मन) बुद्धिः (बुद्धि) अहङ्कारः एव च (और अहङ्कार) इति इयम् (इस प्रकार यह) मे प्रकृति (मेरी प्रकृति) अष्टधा भिन्ना (आठ भेदोंवाली है)।।४।।

अनुवाद—मेरी बहिरङ्गा प्रकृति भूमि, जल, अग्नि, पवन, आकाश, मन, बुद्धि और अहङ्कार—इन आठ भागोंमे विभक्त है।।४।।

श्रीविश्वनाथ—अथ भक्तिमते ज्ञानं नाम भगवदैश्वर्यज्ञानमेव, न तु देहाद्यतिरिक्तात्मज्ञानमेवेति। अतः स्वीयैश्वर्यज्ञानं निरूपयन् परापरभेदेन स्वीय प्रकृतिद्वयमाह—भूमिरिति द्वाभ्याम्। भूम्यादिशब्दैः पञ्चमहाभूतानि

सूक्ष्मभूतैर्गन्धादिभिः सहैकीकृत्य संगृह्यन्ते; अहङ्कार-शब्देन तत्कार्यभूतानीन्द्रियाणि; तत्कारणभूत-महत्तत्त्वमपि गृह्यते, बुद्धिमनसोः पृथगुक्तिस्तत्त्वेषु तयोः प्राधान्यात्।।४।।

भावानुवाद—भक्तिके मतसे 'ज्ञान' शब्दसे भगवान्‌के ऐश्वर्यज्ञानका ही बोध होता है, आत्मज्ञानका नहीं। अतः अपने ऐश्वर्यज्ञानको निरूपित करनेके क्रममें 'भूमि' इत्यादि दो श्लोकोंके द्वारा 'परा' और 'अपरा' शक्तिके विषयमें बता रहे हैं। भूमि आदि शब्दसे पञ्चमहाभूत और गन्ध आदि सूक्ष्म भूतसमूहको एक साथ समझना चाहिए। अहङ्कार शब्दसे उनके कार्यभूत इन्द्रियोंको और उनके कारणभूत महत्तत्त्वको समझना चाहिए। बुद्धि और मनकी प्रधानताके कारण ही तत्त्वसमूहमें इनको पृथक्-पृथक् कहा गया है।।४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"भगवत्स्वरूप और भगवत्-ऐश्वर्यज्ञानका ही नाम 'भगवत्-ज्ञान' है। उसकी विवृति यह है कि मैं सदा स्वरूप-संप्राप्त शक्तिसम्पन्न तत्त्वविशेष हूँ, ब्रह्म मेरे शक्तिगत एक निर्विशेष भावमात्र है, उसका (ब्रह्मका) स्वरूप नहीं हैं। सृष्ट जगत्‌की व्यतिरेक चिन्तासे ही ब्रह्मकी साम्बन्धिक अवस्थिति है। परमात्मा भी जगत्‌में मेरे शक्तिगत एक आविर्भाव-विशेष है, फलतः वह भी अनित्य जगत्सम्बन्धी तत्त्वविशेष है, उसका भी नित्य स्वरूप नहीं है। भगवत्स्वरूप ही मेरा नित्य स्वरूप है। उसमें मेरी दो प्रकारकी शक्तिका परिचय प्राप्त होता है। एक शक्तिका नाम 'बहिरङ्गा' या 'मायाशक्ति' है। जड़-जननी होनेके कारण उसे 'अपराशक्ति' भी कहा जाता है। मेरी इस 'अपरा' या जड़-सम्बन्धिनी शक्तिकी तत्त्व-संख्याको लक्ष्य करना चाहिए। भूमि, जल, वायु, अग्नि और आकाश—ये पाँच महाभूत हैं तथा शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—ये पाँच उनकी मात्राएँ हैं—इस प्रकार दश तत्त्व गृहीत होते हैं। अहङ्कार-तत्त्वमें कार्यभूत उनकी इन्द्रियाँ और कारणभूत महत्तत्त्व गृहीत होंगें। केवल तत्त्वसमूहमें प्रधानरूपसे भिन्न-भिन्न कार्य होनेके कारण मन और बुद्धिको तत्त्वके रूपमें अलग बताया गया। फलतः वे एक तत्त्व हैं। ये समुदाय ही मेरी बहिरङ्गा शक्तिगत हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४।।

अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्।
जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।५।।

अन्वय—इयम् तु (किन्तु यह) अपरा (निकृष्टा अर्थात् जड़ा प्रकृति है) इतः (इससे) अन्याम् (भिन्न) मे (मेरी) प्रकृतिम् (प्रकृतिको) पराम्

(उत्कृष्ट) विद्धि (जानो) यया (जिस चेतन शक्तिसे) इदम् जगत् (यह जगत्) धार्यते (अपने कर्म द्वारा भोगनेके लिए गृहीत होता है)।।५।।

अनुवाद—किन्तु, आठ भेदोंवाली यह जड़ा प्रकृति निकृष्टा है। इससे उत्कृष्ट जीवस्वरूपा मेरी एक और प्रकृति जानो, जिसके द्वारा यह जगत् अपने कर्म द्वारा भोगनेके लिए गृहीत होता है।।५।।

श्रीविश्वनाथ—इयं प्रकृतिर्बहिरङ्गाख्या शक्तिरपरानुत्कृष्टा जड़त्वात्। इतोऽन्यां प्रकृतिं तटस्थां शक्तिं जीवभूतां परामुत्कृष्टां विद्धि चैतन्यत्वात्। अस्या उत्कृष्टत्वे हेतुः—यया चेतनया इदं जगत् चेतनं धार्यते स्वभोगार्थं गृह्यते।।५।।

भावानुवाद—जड़ होनेके कारण पूर्व कथित 'बहिरङ्गा-शक्ति' अपरा अर्थात् निकृष्टा है। इससे भिन्न जीवस्वरूपा तटस्था शक्तिको उत्कृष्ट जानो, क्योंकि उसमें चेतनता है। उसकी उत्कृष्टताका हेतु यह है कि चेतनाके द्वारा वह इस जगतको धारण करती है अर्थात् अपने भोगके लिए इस जगतको ग्रहण करती है।।५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"इसके अतिरिक्त मेरी एक तटस्था प्रकृति है, जिसे 'परा-प्रकृति' कहा जाता है। वह प्रकृति चैतन्यस्वरूपा और जीवस्वरूपा है। समस्त जीव उसी शक्तिसे निःसृत होकर इस जड़-जगत्को चैतन्यविशिष्ट किए हुए हैं। मेरी अन्तरङ्गा शक्तिसे निःसृत चित्-जगत् और बहिरङ्गा शक्तिसे निःसृत जड़-जगत्—इन दोनों जगतोंके उपयोगी होनेके कारण जीवशक्तिको 'तटस्था' शक्ति कहा जाता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

इस जगत्में कृष्ण-बहिर्मुख बद्धजीव उक्त तटस्था शक्तिसे ही प्रकट होते हैं। ये बद्धजीव वैकुण्ठ या उसके ऊपर स्थित गोलोक वैकुण्ठसे कृष्णसेवासे विमुख होकर इस जड़-जगत्में आए हैं—यह विचार पूर्णरूपेण भ्राम्रक तथा शास्त्र-सिद्धान्त विरुद्ध है। कृष्णधाममें कृष्णकी सेवा प्राप्तकर किसी भी जीवका पतन होना असम्भव है, यथा—*'यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम'* (गीता १५/६)। चित्रकेतु महाराज एवं जय-विजयका कभी भी पतन नहीं हुआ। भगवत्प्रीतिके लिए स्वेच्छासे इस जगत्में प्रकट होकर उन्होंने बद्ध भूमिकाका अभिनय किया था। चित्-जगत्में कृष्णसेवामें निमग्न जीव बलदेव प्रभुसे अथवा उनके अभिन्न स्वरूप महासङ्कर्षणसे प्रकट होते हैं और ये समस्त जीव नित्यमुक्त होते हैं। उनका पतन कभी भी सम्भव नहीं है।।५।।

एतद्योनीनि भूतानि सर्वाणीत्युपधारय।
अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा।।६।।

अन्वय—सर्वाणि भूतानि (समस्त भूत) एतत् योनीनि (पूर्वोक्त दोनों प्रकृतियोंसे उत्पन्न हुए हैं) इति उपधारय (ऐसा समझो) अहम् (मैं) कृत्स्नस्य जगतः (समस्त जगत्का) प्रभवः (स्रष्टा) तथा प्रलयः (तथा संहारकर्त्ता हूँ)।।६।।

अनुवाद—समस्त भूतोंको पूर्वोक्त मेरी दोनों प्रकृतियोंसे उत्पन्न जानो। मैं समस्त जगत्का स्रष्टा तथा संहारकर्त्ता हूँ।।६।।

श्रीविश्वनाथ—एतच्छक्तिद्वयद्वारैव स्वस्य जगत्कारणत्वमाह—एतदिति। एते मायाशक्ति-जीवशक्ति क्षेत्र-क्षेत्रज्ञ-रूपे योनी कारणभूते येषां तानि स्थावरजङ्गमात्मकानि भूतानि जानीहि। अतः कृत्स्नस्य सर्वस्यास्य जगतः प्रभवो मच्छक्तिद्वयप्रभूतत्वात् अहेमव स्रष्टा, प्रलयतच्छक्तिमति मय्येव प्रलीनभावित्वादहमेवास्य संहर्त्ता।।६।।

भावानुवाद—इन दोनों शक्तियोंके द्वारा श्रीभगवान् स्वयंको जगतका कारण बता रहे हैं—ये दोनों अर्थात् मायाशक्ति और जीवशक्ति क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके रूपमें स्थावर-जङ्गमात्मक सम्पूर्ण भूतोंकी योनि अर्थात् कारणस्वरूपा हैं। अतः दोनों शक्तियोंपर मेरा प्रभुत्व होनेके कारण मैं ही समस्त जगत्का स्रष्टा हूँ तथा प्रलयमें ये मुझ शक्तिमान्में ही प्रलीन हो जाएँगे, अतएव मैं ही इनका संहर्त्ता हूँ।।६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"चित्-अचित् समस्त जड़ और तटस्थ जगत्—इन दानों प्रकृतियोंसे ही निःसृत हैं। अतएव भगवत्स्वरूप मैं ही समस्त जगत्की उत्पत्ति तथा प्रलयका मूल कारण हूँ।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।६।।

मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय।
मयि सर्वमिदं प्रोतं सूत्रे मणिगणा इव।।७।।

अन्वयः—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) मत्तः (मुझसे) परतरम् (श्रेष्ठ) अन्यत् किञ्चित् न अस्ति (और कुछ नहीं है) सूत्रे मणिगणा इव (सूत्रमें मणियोंके सदृश) इदम् सर्वम् (यह सम्पूर्ण जगत्) मयि प्रोतम् (मुझमें पिरोया हुआ है)।।७।।

अनुवाद—हे धनञ्जय! अन्य कुछ भी मुझसे श्रेष्ठ नहीं है, धागेमें मणियोंके सदृश ही यह सम्पूर्ण जगत् मुझमें पिरोया हुआ है।।७।।

श्रीविश्वनाथ—यस्मादेवं तस्मादहमेव सर्वमित्याह—मत्तः परतरमन्यत् किञ्चिदपि नास्ति कार्य-कारणयोरैक्यात् शक्तिशक्तिमतोरैक्याच्च। तथा च श्रुतिः–*"एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म", "नेह नानास्ति किञ्चन"* इति । एवं स्वस्य सर्वात्मकत्वमुक्त्वा सर्वान्र्तयामित्वाञ्चाह—मयीति । सर्वमिदं चिज्जडात्मकं जगत् मत्कार्यत्वात् मदात्मकमपि पूनर्मय्यन्र्तयामिनि प्रोतं ग्रथितं यथा सूत्रे मणिगणाः प्रोताः। मधुसूदन-सरस्वतीपादास्तु सूत्रे मणिगणा इवेति दृष्टान्तस्तु ग्रथितत्वमात्रे, न तु कारणत्वे, कनके कुण्डलादिवदिति तु योग्यो दृष्टान्तः इत्याहुः।।७।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् कहते हैं—इस प्रकार मैं ही सब कुछ हूँ। कार्य और कारण अभिन्न होते हैं तथा शक्ति शक्तिमान् भी अभिन्न होते हैं। श्रुतिमें कहा गया है—*'एकमेवाद्वितीयं ब्रह्म'* (छा. उ. ६/२/१) अर्थात् इस विश्व-सृष्टिसे पूर्व एक अद्वितीय सत् वस्तुमात्र थी। और भी, *'नेह नानास्ति किञ्चन'* अर्थात् एकमात्र अद्वय ब्रह्मके अतिरिक्त नानारूप कुछ भी नहीं है। इस प्रकार पहले अपने सर्वात्मकत्वका वर्णनकर पुनः 'मयि' इत्यादिसे सर्व अन्तर्यामित्वका वर्णन कर रहे हैं। 'सर्वमिदं' अर्थात् चित् और जड़-जगत् मेरे कार्य होनेसे वे मदात्मक अर्थात् मेरे स्वरूप हैं और मुझ अन्तर्यामीमें उसी प्रकार ग्रथित हैं, जिस प्रकार सूत्रमें मणियाँ ग्रथित रहती हैं। किन्तु, मधुसूधन सरस्वतीपादने लिखा है—*'सूत्रे मणिगणा इव'*—इस दृष्टान्तसे मात्र जगत्का भगवान्में ग्रथित होना सिद्ध होता है, भगवान् जगत्के कारण हैं, यह सिद्ध नहीं होता है। किन्तु, 'कुण्डलका कारण सोना है'—यह दृष्टान्त कारणत्वकी सिद्धिके लिए उपयुक्त है।।७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्व श्लोकमें भगवान् अपनेको सृष्टि तथा प्रलयका स्वतन्त्र कारण बताकर वर्त्तमान श्लोकमें अपनेको ही स्थिति अर्थात् सर्व अन्तर्यामी रूपमें पालक भी बता रहे हैं—मैं कृष्ण ही सर्वश्रेष्ठ और समस्त कारणोंका कारण परतत्त्व हूँ। ब्रह्मसंहितामें भी ब्रह्माजी इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन कर रहे हैं—

'ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः।
अनादिरादि गोविन्दः सर्वकारण कारणम्।।' (ब्र. सं. ५/१)

इस विषयको और भी स्पष्ट करेनेके लिए नीचे श्रीबलदेव विद्याभूषणकृत गोविन्दभाष्यका विचार उद्धृत किया जा रहा है—

परब्रह्मस्वरूप श्रीकृष्ण ही सर्वप्रधान परतत्त्व वस्तु हैं। उनसे बढ़कर कुछ भी नहीं है, क्योंकि उनके अतिरिक्त स्वतन्त्र सत्ताशील कोई भी द्वितीय वस्तु उनसे क्षुद्र या उनसे बृहत् नहीं है—'*यस्मात् परं नापरमस्ति*

किञ्चित्' (श्वे. उ. ३/९) इन सभी श्रुतिवाक्योंने सर्वाराध्य ब्रह्मसे श्रेष्ठ किसी अन्य सत्ताको अस्वीकार किया है। वेद (श्वे. उ. ३/८-९) में ऐसा कहा गया है—"मैंने इस आदित्यके समान अन्धकाररहित प्रकाशमय ब्रह्मको जान लिया। उनको जान लेनेसे अमृतत्व और पुरुषार्थकी प्राप्ति होती है। इन महापुरुषका ज्ञान ही अमृतत्व प्राप्त करनेका एकमात्र पथ है। इनसे श्रेष्ठ कुछ भी नहीं है।" इन मन्त्रोंके द्वारा परब्रह्मकी प्रधानता स्वीकार कर और भी कहते हैं—"जो क्रमशः ब्रह्मके शुद्ध स्वरूपको जान लेते हैं, वे अमृतत्वको प्राप्त करते हैं, अन्यथा उनके दुःखोंकी निवृत्ति नहीं होती।" यदि ब्रह्मसे भी श्रेष्ठ किसी वस्तुको स्वीकार करते हैं, तो श्रीकृष्णके द्वारा कथित *'मत्तः परतरं नान्यत् किञ्चिदस्ति धनञ्जय'*—यह भगवत्-वाक्य मिथ्या हो जाएगा।—गोविन्दभाष्य (ब्र. सू. ३/२/३७)

श्वेताश्वतर उपनिषद् (६/८) में भी ठीक ऐसा ही कहा गया है—*'न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते'* अर्थात् (सविशेष) ब्रह्मतत्त्वके बराबर अथवा उनसे बढ़कर कुछ भी नहीं देखा जाता।।७।।

रसोऽहमप्सु कौन्तेय प्रभास्मि शशिसूर्ययोः।
प्रणवः सर्ववेदेषु शब्दः खे पौरुषं नृषु।।८।।

अन्वयः—कौन्तेय (हे अर्जुन!) अहम् (मैं) अप्सु (जलमें) रसः अस्मि (रस हूँ) शशिसूर्ययोः (चन्द्रमा और सूर्यमें) प्रभा (ज्योति हूँ) सर्ववेदेषु (सभी वेदोंमें) प्रणवः (ओंकार हूँ) खे (आकाशमें) शब्दः (शब्द हूँ) नृषु (पुरुषोंमें) पौरुषम् (पुरुषत्व हूँ)।।८।।

अनुवाद—हे कौन्तेय! मैं जलमें रस हूँ, सूर्य और चन्द्रमें ज्योति हूँ, सभी वेदोंमें ओंकार हूँ, आकाशमें शब्द हूँ तथा पुरुषोंमें पुरुषत्व भी मैं ही हूँ।।८।।

श्रीविश्वनाथ—स्वकार्ये जगत्यत्र यथाहमन्तर्यामिरूपेण प्रविष्टो वर्त्ते, तथा क्वचित् कारणरूपेण क्वचित् कार्येषु मनुष्यादिषु साररूपेणाप्यहं वर्त्ते इत्याह—रसोऽहमिति चतुर्भिः। अप्सु रसस्तत् कारणभूतो मद्विभूतिरित्यर्थः । एवं सर्वत्राग्रेऽपि प्रभारूपः प्रणवः "ॐ कारः" सर्ववेदकारणम्। खे आकाशे शब्दस्तत्कारणं नृषु पौरुषं सकल उद्गमविशेष एव मनुष्यसारः।।८।।

भावानुवाद–अपने कार्यरूप इस जगत्में जिस प्रकार मैं अन्तर्यामिरूपमें प्रविष्ट होकर विद्यमान हूँ, उसी प्रकार कहीं कारणरूपसे, कहीं कार्योंमें अर्थात् मनुष्यादिमें साररूपमें मैं ही विद्यमान रहता हूँ। इसीलिए श्रीभगवान् 'रसोऽहम्' इत्यादि चार श्लोकोंको कह रहे हैं। 'अप्सु' अर्थात् जलमें जलका कारणस्वरूप रस मेरी विभूति है। उसी प्रकार प्रभा सूर्य तथा चन्द्रका

एवं ॐकार सभी वेदोंका कारणस्वरूप है। 'ख' अर्थात् आकाशका कारण शब्द है तथा पुरुषोंमें समस्त पौरुषका उद्‌गमविशेष मनुष्यका सार है—वह भी मैं ही हूँ॥८॥

पुण्यो गन्धः पृथिव्याञ्च तेजश्चास्मि विभावसौ।
जीवनं सर्वभूतेषु तपश्चास्मि तपस्विषु।।९।।

अन्वयः—[अहम्—मैं] पृथिव्याम् पुण्यः गन्धः (पृथ्वीका पवित्र गन्ध हूँ) च (और) विभावसौ तेज (अग्निका तेज हूँ) सर्वभूतेषु जीवनम् (सभी भूतोंकी आयु हूँ) तपस्विषु च तपः अस्मि (और तपस्वियोंका तप हूँ)।।९।।

अनुवाद—मैं पृथ्वीका पवित्र गन्ध हूँ, अग्निका तेज हूँ, सभी भूतोंकी आयु हूँ और तपस्वियोंका तप हूँ॥९॥

श्रीविश्वनाथ—*"पुण्योऽविकृतो गन्धः पुण्यस्तु चार्वपि"* इत्यमरः। च-कारो रसादीनामपि पुण्यत्वसमुच्चयार्थः। तेजः सर्ववस्तुपाचनप्रकाशनशीतत्राणादि-सामर्थ्यरूपः सारः; जीवनमायुरेव सारः, तपो द्वन्द्वसहनादिकमेव सारः।।९।।

भावानुवाद—अमरकोषके अनुसार 'पुण्य' शब्दका अर्थ है—अविकृत गन्ध और चारु (सुन्दर) गन्ध। 'च'-कारसे रस आदि विशेष्यके साथ भी पुण्य शब्दका समाहार है। 'तेज' का तात्पर्य है—सभी वस्तुओंके पाचन या पाक, प्रकाशन, शीतसे त्राण इत्यादिमें सामर्थ्यरूप सार। 'जीवन' का तात्पर्य है—आयुरूप सार तथा तपका तात्पर्य है—द्वन्द्वका सहना।।९।।

बीजं मां सर्वभूतानां विद्धि पार्थ सनातनम्।
बुद्धिर्बुद्धिमतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।।१०।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) माम् (मुझे) सर्वभूतानाम् (सभी भूतोंका) सनातनम् बीजम् (नित्य कारण) विद्धि (जानो) अहम् (मैं) बुद्धिमताम् बुद्धिः (बुद्धिमानोंकी बुद्धि) तेजस्विनाम् तेजः (तेजस्वियोंका तेज) अस्मि (हूँ)।।१०।।

अनुवाद—हे पार्थ! मुझे सभी भूतोंका नित्य कारण जानो। मैं बुद्धिमानोंकी बुद्धि तथा तेजस्वियोंका तेज हूँ।।१०।।

श्रीविश्वनाथ—बीजमविकृतं कारणं प्रधानाख्यमित्यर्थः। सनातनं नित्यं बुद्धिमतां बुद्धिरेव सारः।।१०।।

भावानुवाद—'बीज' का तात्पर्य है—अविकृत कारण जिसे 'प्रधान' कहते हैं। 'सनातन' का अर्थ है—नित्य। बुद्धिमानोंका सार उसकी बुद्धि होती है—वह मैं ही हूँ।।१०।।

बलं बलवतां चाहं कामरागविवर्जितम्।
धर्माविरुद्धो भूतेषु कामोऽस्मि भरतर्षभ।।११।।

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतकुलश्रेष्ठ!) अहम् (मैं) बलवताम् (बलवानोंका) काम-राग-विवर्जिताम् (आकांक्षा और आसक्तिशून्य) बलम् (बल हूँ) च (एवं) भूतेषु (सभी भूतोंमें) धर्म-अविरुद्धः (धर्मसङ्गत) कामः अस्मि (सन्तान उत्पत्तिमात्रके उपयोगी काम हूँ)।।११।।

अनुवाद—हे भरतकुलश्रेष्ठ! मैं बलवानोंका आसक्तिरहित और आकांक्षारहित बल तथा सभी भूतोंमें सन्तानोत्पत्तिमात्रके उपयोगी धर्मसङ्गत काम हूँ।।११।।

श्रीविश्वनाथ—कामः स्वजीविकाद्यभिलाषः, रागः क्रोधस्तद्विवर्जितम्, न तद्द्वयोत्थमित्यर्थः। धर्माविरुद्धः स्वभार्यायां पुत्रोत्पत्तिमात्रोपयोगी।।११।।

भावानुवाद—'काम' का तात्पर्य है—जीविका आदिकी अभिलाषा एवं 'राग' का तात्पर्य है—क्रोध। इन दोनोंसे उत्पन्न क्रिया यहाँ ग्राह्य नहीं है। 'धर्माविरुद्ध' का तात्पर्य है—अपनी पत्नीसे ही पुत्रादि उत्पत्तिमात्रके उपयोगी काम।।११।।

ये चैव सात्त्विका भावा राजसास्तामसाश्च ये।
मत्त एवेति तान्विद्धि न त्वहं तेषु ते मयि।।१२।।

अन्वय—ये एव सात्त्विकाः भावाः (जो भी सात्त्विक भावसमूह हैं) ये च (एवं जो) राजसाः तामसाः च (राजसिक और तामसिक भावसमूह हैं) तान् [सर्वान्] (उनको) मत्तः एव [जात] (मुझसे ही उत्पन्न) इति विद्धि (ऐसा जानो) तेषु (उनमें) अहम् न [वर्त्ते] (मैं नहीं हूँ) तु (किन्तु) ते (वे) मयि (मुझमें) [वर्त्तन्ते—वर्तमान हैं]।।१२।।

अनुवाद—जो भी सात्त्विक भावसमूह हैं ओर जो राजसिक तथा तामसिक भावसमूह हैं, वे समस्त मेरी प्रकृतिके गुणकार्य हैं। मैं उन सब गुणोंसे स्वाधीन हूँ, किन्तु वे समस्त मेरी शक्तिके अधीन हैं।।१२।।

श्रीविश्वनाथ—एवं वस्तुकारणभूता वस्तुसारभूताश्च राक्षसाद्याश्च विभूतयः काश्चिदुक्ताः, किन्त्वलमतिविस्तरेण। मदधीनं वस्तुमात्रमेव मद्विभूतिरित्याह—ये चैवेति। सात्त्विकभावाः शमदमादयो देवाद्याश्च, राजसा हर्षदर्पादयोऽसुराद्याश्च। तामसाः शोकमोहादयो राक्षसाद्याश्च, तान् मत्त एवेति मदीयप्रकृतिगुणकार्यत्वात्। तेष्वहं न वर्त्ते, जीववत्तदधीनोऽहं न भवामीत्यर्थः। ते तु मयि मदधीनाः सन्त एव वर्त्तन्ते।।१२।।

भावानुवाद—इस प्रकार वस्तुके कारणभूत, सारभूत राक्षसादि किसी-किसी विभूतिके बारेमें कथित हुआ है, किन्तु और अधिक विस्तारका क्या प्रयोजन है? वस्तुमात्र ही मेरे अधीन हैं एवं वे मेरी विभूतियाँ हैं।

इसके लिए ही कहते हैं—'ये चैव' इत्यादि। शम-दम आदि तथा देवता आदि सात्त्विक भाव हैं, हर्ष-दर्प आदि एवं असुरादि राजसिक तथा शोक-मोहादि और राक्षसादि तामसिक भाव हैं। वे मुझसे ही हैं, किन्तु वे मेरी प्रकृतिके गुण-कार्य कहलाते हैं। अतः मैं उन सबमें (गुण-कार्योंमें) विद्यमान नहीं हूँ अर्थात् जीवोंकी भाँति मैं उनके अधीन नहीं हूँ, किन्तु वे मेरे अधीन होकर ही विद्यमान हैं।।१२।।

त्रिभिर्गुणमयैर्भावैरेभिः सर्वमिदं जगत्।
मोहितं नाभिजानाति मामेभ्यः परमव्ययम्।।१३।।

अन्वय—(पूर्वोक्त इन) त्रिभिः गुणमयैः भावैः (त्रिविध गुणमय भावों द्वारा) सर्वम् जगत् (सम्पूर्ण जगत्) मोहितम् (मोहित है) एभ्यः परम् (इस त्रिगुणातीत) अव्ययम् माम् (अव्ययरूप अर्थात् अविनाशी मुझको) (लोग) न अभिजानाति (नहीं जान पाते हैं)।।१३।।

अनुवाद—पूर्वोक्त त्रिविध गुणमय भावों द्वारा सम्पूर्ण जगत् मोहित है, अतः लोग त्रिगुणातीत तथा अविनाशी मुझको नहीं जान पाते हैं।।१३।।

श्रीविश्वनाथ—नन्वेवम्भूतं त्वां परमेश्वरं कथमयं जनो न जानातीत्यत आह—त्रिभिरिति। गुणमयैः शमदमादि-हर्षादि-शोकाद्यैः भावैः स्वाभावीभूतैर्जगत् जगज्जात-जीववृन्दं मोहितं सत् मां निर्गुणत्वादेभ्यः परमव्ययं निर्विकारम्।।१३।।

भावानुवाद—यदि अर्जुन कहे कि आप परमेश्वरको लोग क्यों नहीं जानते हैं, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—'त्रिभिः' इत्यादि। शम-दम, हर्ष-शोक, राग-द्वेषादि गुणमय भावसमूहके द्वारा स्वभाववश वशीभूत जगत्के जीवसमूह मोहित हैं। अतः वे गुणातीत अर्थात् निर्गुण अथवा गुणोंसे निर्विकार मुझको नहीं जान पाते हैं।।१३।।

दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया।
मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते।।१४।।

अन्वय—एषा (यह) दैवी (जीव-विमोहिनी) गुणमयी (त्रिगुणात्मिका) मम माया (मेरी बहिरङ्गा शक्ति—माया) दुरत्यया हि (निश्चय ही दुस्तरा है) [तु—किन्तु] ये (जो) माम् एव (मुझे ही) प्रपद्यन्ते (आश्रय करते हैं) ते (वे) एताम् मायाम् (इस मायाको) तरन्ति (अतिक्रम कर जाते हैं अर्थात् पार कर जाते हैं)।।१४।।

अनुवाद—यह जीव-विमोहिनी एवं त्रिगुणात्मिका मेरी बहिरङ्गा शक्ति निश्चय ही दुस्तरा है, परन्तु जो मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं, वे इस मायाको पार कर जाते हैं।।१४।।

श्रीविश्वनाथ—ननु तर्हि त्रिगुणमयमोहात् कथमुत्तीर्णा भवन्ति? तत्राह—'दैवी' विषयानन्देन दीव्यन्तीति देवा जीवास्तदीया तेषां मोहयित्रीत्यर्थः। गुणमयी श्लेषेण त्रिवेष्टनमहापाशरूपा। मम परमेश्वरस्य माया बहिरङ्गाशक्तिर्दुरत्यया दुरतिक्रमा। पाशपक्षे, छेत्तुम् उद्ग्रन्थयितुं वा केनाऽप्यशक्येत्यर्थः। किन्तु, मद्वाचि विश्वसिहि इति स्ववक्षः स्पृष्ट्वाह—मां श्यामसुन्दराकारमेव।।१४।।

भावानुवादः—यदि प्रश्न हो कि तब किस प्रकार त्रिगुणमय मोहसे उत्तीर्ण हुआ जाएगा, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—'दैवी' इत्यादि। इस मायाको दैवी कहते हैं, क्योंकि यह विषयानन्दके द्वारा क्रीड़ामग्न देव अर्थात् जीवोंको मोहमें डालनेवाली है। यह माया गुणमयी है। 'गुणमयी'—यहाँ श्लेषोक्तिके द्वारा इसे तीन वेष्टनोंवाली महापाशस्वरूपा बताया गया है। मुझ परमेश्वरकी यह बहिरङ्गा शक्ति दुरतिक्रमा अर्थात् अत्यन्त दुस्तर है। कोई इन रज्जुओंको छेदन करनेमें अर्थात् इनसे बन्धनमुक्त होनेमें समर्थ नहीं है। किन्तु, मेरी बातपर विश्वास करो—ऐसा कहकर अपने वक्षस्थलको स्पर्श करते हुए कहते हैं—'माम्' अर्थात् मुझ श्यामसुन्दराकारके ही अनन्य शरणागत होनेपर इससे उत्तीर्ण हुआ जा सकता है।।१४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान्की परा और अपरा—ये दो प्रकारकी शक्तियाँ हैं, जिसमें प्रथमको अन्तरङ्गा (चित्-शक्ति) और दूसरेको बहिरङ्गा (अचित्, अपरा या माया शक्ति) कहते हैं। उपनिषद्में भी कहा गया है—*'मायान्तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्।'* (श्वे. उ. ४/१०)

अर्थात्, मायाको अपरा शक्ति और मायाके आश्रयभूत पुरुषको महेश्वर समझना चाहिए। श्रीमद्भागवत (८/५/३०) में भी इसकी पुष्टि की गई है, यथा—*'न यस्य कश्चातितितर्त्ति मायां यया जनो मुह्यति वेद नार्थम्।'* अर्थात् जीव मायाशक्ति द्वारा मोहित होता है, इसलिए वह आत्मस्वरूपसे अवगत नहीं हो पाता। भगवान्की उस दुस्तरा मायाको भगवान्की कृपाके बिना कोई भी पार नहीं कर सकता है।

यदि यह प्रश्न हो कि जीवोंके संसार-बन्धनका कारण माया ही है, अतः मायाशक्तिको ही प्रसन्नकर इस संसार-बन्धनसे मुक्त हुआ जा सकता है, हरि-गुरु-वैष्णवोंके चरणाश्रित होनेकी आवश्यकता ही क्या है, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् वर्त्तमान श्लोकमें 'मम माया' पदका प्रयोग कर रहे हैं अर्थात् यह माया स्वतन्त्र नहीं, बल्कि मेरे अधीन है, अतएव संसारसे छुटकारा देनेमें उसकी कोई स्वतन्त्रता नहीं है। इसलिए *'मामेव*

ये प्रपद्यन्ते' के द्वारा वे सूचित कर रहे हैं कि एकमात्र मेरे शरणागत व्यक्ति ही मेरी दुस्तरा मायाको पार कर सकते हैं, दूसरे नहीं।

श्रीमद्भागवत (१०/१४/५८) में भी ऐसा ही कहा गया है—

'समाश्रिता ये पदपल्लवप्लवं महत्पदं पुण्ययशो मुरारेः।
भवाम्बुधिर्वत्सपदं परं पदं पदं पदं यद्विपदां न तेषाम्।।'

जो लोग शिव, ब्रह्मादि महत् पुरुषोंके आश्रयणीय, परम कीर्त्तिविशिष्ट श्रीकृष्णके चरणकमलरूपी नौकाका आश्रय ग्रहण करते हैं, उनके लिए यह भवसागर गोस्पदतुल्य (गोवत्सके खुरसे उत्पन्न गड्ढेके जलके समान) हो जाता है; उनका प्राप्य स्थान परमपद वैकुण्ठ, सभी प्रकारकी विपत्तियोंसे अतीत है।।१४।।

न मां दुष्कृतिनो मूढाः प्रपद्यन्ते नराधमाः।
माययापहृतज्ञाना आसुरं भावमाश्रिताः।।१५।।

अन्वय—दुष्कृतिनः (दूषित कर्म करनेवाले अथवा दुर्भाग्यशील व्यक्तिगण) मूढाः (विवेकशून्य व्यक्तिगण) नराधमाः (मनुष्योंमें नीच व्यक्तिगण) मायया अपहृतज्ञानाः (मायाके द्वारा विलुप्त ज्ञानवाले व्यक्तिगण) आसुरम् भावम् आश्रिताः (एवं आसुर भावयुक्त व्यक्तिगण) माम् (मेरा) न प्रपद्यन्ते (आश्रय नहीं ग्रहण करते हैं)।।१५।।

अनुवाद—दूषित कर्म करनेवाले, विवेकशून्य, मनुष्योंमें नीच, मायाके द्वारा विलुप्त ज्ञानवाले एवं आसुर भावयुक्त व्यक्तिगण मेरा आश्रय ग्रहण नहीं करते हैं।।१५।।

श्रीविश्वनाथ—ननु तर्हि पण्डिता अपि केचित् किमिति त्वां न प्रपद्यन्ते? तत्र ये पण्डितास्ते मां प्रपद्यन्त एवः; पण्डितमानिन एव न मां प्रपद्यन्ते इत्याह—न मामिति। दुष्कृतिनः दुष्टाश्च ते कृतिनः पण्डिताश्चेति ते कुपण्डिता इत्यर्थः। ते च चतुर्विधाः—एके मूढ़ाः पशुतुल्याः कर्मिणः; यदुक्तं-*"नूनं दैवेन विहता ये चाच्युतकथासुधाम्। हित्वा शृण्वन्त्यसद्गाथाः पुरीषमिव विड्भुजः॥"* इति, *"मुकुन्दं को वै न सेवेत विना नरेतरम्"* इति च। अपरे नराधमाः कञ्चित् कालं भक्तिमत्त्वेन प्राप्तनरत्वा अप्यन्ते फलप्राप्तौ न साधनोपयोग इति मत्वास्वेच्छयैवभक्तित्यागिनः—स्वकर्त्तृकभक्तित्यागलक्षणमेव तेषामधमत्वमिति भावः।अपरे शास्त्राध्यापनादिमत्त्वेऽपि माययापहृतं ज्ञानं येषां ते। वैकुण्ठविराजिनी नारायणमूर्त्तिरेव सार्वकालिकी भक्तिप्राप्या, न तु कृष्णरामादिमूर्तिः मानुषीति मन्यमाना इत्यर्थः, यद्वक्ष्यते—*"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्"* इति। ते खलु मां प्रपद्यमाना अपि न मां प्रपद्यन्ते

इति भावः। अपरे आसुरं भावमाश्रिताः। असुराः जरासन्धादयः मद्विग्रहं लक्ष्यीकृत्य शरैर्विद्ध्यन्ति। तथैव दृश्यत्वादिहेतुमत्-कुतर्कैर्मद्विग्रहं वैकुण्ठस्थमपि खण्डयन्त्येव, न तु प्रपद्यन्त इत्यर्थः।।१५।।

भावानुवाद– यदि कहो कि पण्डितगण भी क्यों नहीं आपका आश्रय ग्रहण करते हैं, तो इसका उत्तर यह है कि जो प्रकृत पण्डित हैं, वे मेरे ही शरणागत होते हैं, परन्तु स्वयंको पण्डित माननेवाले ही मेरे शरणागत नहीं होते हैं। इसके लिए ही 'न मां' इत्यादि कहा जा रहा है। 'दुष्कृतिनः' का तात्पर्य है—वे दुष्ट और पुण्यवान कृती भी हैं तथा पण्डित भी हैं, तथापि वे कुपण्डित हैं। ये चार प्रकारके होते हैं—

(१) मूढ़, पशुतुल्य कर्मीलोग—जैसा कि श्रीमद्भागवत (३/३२/१९) में कथित है—"जिस प्रकार विष्ठाभोजी शूकर क्षीरखण्डका परित्यागकर विष्ठा भोजन करता है, उसी प्रकार जो देवताओं द्वारा प्रताड़ित होकर हरिकथारूपी अमृतका परित्यागकर अन्यान्य असत् कथाओंका श्रवण करते हैं, वे अत्यन्त हतभागा हैं। अतः पशुके अतिरिक्त और कौन है, जो मुकुन्दकी सेवा नहीं करेगा।"

(२) नराधम—कुछ समय तक भक्तियुक्त होकर मनुष्यत्व को प्राप्त करनेपर भी अन्तमें ऐसा सोचकर स्वेच्छापूर्वक भक्तिका परित्याग करनेवाले कि फलप्राप्तिमें साधन-भक्तिका कुछ प्रयोजन नहीं है—वे नराधम हैं।

(३) माया अपहृत ज्ञानी लोग—शास्त्रादिका अध्ययन करनेपर भी जिनका ज्ञान माया द्वारा हर लिया जाता है, वे समझते हैं कि वैकुण्ठमें विराजित श्रीनारायण मूर्त्तिमें ही सर्वकालिक भक्ति प्राप्त हो सकती है, श्रीराम-कृष्णादि मूर्त्तियोंमें नहीं, क्योंकि ये मानुषी मूर्त्तियाँ हैं। श्रीभगवान्ने भी गीता (९/११) में कहा है—"मूढ़ व्यक्ति मुझ मनुष्य शरीरधारीकी अवज्ञा करते हैं।" वे निश्चय ही मेरे शरणागत होनेपर भी वस्तुतः मेरे शरणागत नहीं है।

(४) असुर भावाश्रित—जरासन्ध आदि असुर मेरे श्रीविग्रहको लक्ष्यकर बाणोंसे उसे विद्ध करते हैं। इसी प्रकार असुर भावाश्रित लोग वैकुण्ठस्थित मेरे श्रीविग्रहको भी मूर्त्तरूपमें दृष्टिगोचर होनेके कारण कुतर्क द्वारा खण्डन ही करते हैं, मेरे शरणागत नहीं होते हैं।।१५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"असुर भावका आश्रयकर दुष्कृत, मूढ़, नराधम और माया द्वारा आच्छन्न ज्ञानविशिष्ट—ये चार प्रकारके लोग मेरी प्रपत्ति (शरणागति) स्वीकार नहीं करते हैं। (१) नितान्त अवैध जीवनवाले

व्यक्ति ही दुष्कृत हैं, (२) निरीश्वर, नैतिक व्यक्तिगण ही मूढ़ हैं, क्योंकि वे नीतिके अधीश्वर 'मेरा' आश्रय नहीं ग्रहण करते हैं, (३) जो नीतिके 'अङ्ग' के रूपमें मुझे मानते हैं, परन्तु नीतिके ईश्वरके रूपमें नहीं मानते हैं—वे ही नराधम हैं और (४) जो ब्रह्मादि देवताओंकी उपासना करते हैं, किन्तु 'मेरे शक्तिमत्स्वरूप', 'जीवके नित्य चित्स्वरूप', 'अचिद्वस्तुके साथ जीवके अनित्य सम्बन्धस्वरूप' तथा 'मेरे नित्यदासरूप जीवके सम्बन्धस्वरूप' को नहीं जानते हैं—वेदान्त आदि शास्त्रोंका पाठ करनेपर भी माया द्वारा उनका ज्ञान आवृत्त रहता है अर्थात् वे आच्छन्न ज्ञानविशिष्ट रहते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१५।।

चतुर्विधा भजन्ते मां जनाः सुकृतिनोऽर्जुन।
आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ।।१६।।

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ!) आर्त्तः (रोग-शत्रु-भयादिसे अभिभूत) जिज्ञासुः (आत्मज्ञानार्थी) अर्थार्थी (ऐहिक और पारलौकिक भोग चाहनेवाले) ज्ञानी च (एवं तत्त्वज्ञ ज्ञानी) एते (ये) चतुर्विधा सुकृतिनः (वैध जीवनमें अवस्थित चार प्रकारके सुकृतिशील) जनाः (जनसमूह) माम् (मुझको) भजन्ते (भजते हैं)।।१६।।

अनुवाद—हे भरतर्षभ! आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी एवं ज्ञानी—ये चार प्रकारके सुकृतिशील लोग मेरा भजन करते हैं।।१६।।

श्रीविश्वनाथ—तर्हि के त्वां भजन्तं इत्यत आह—चतुर्विधा इति। सुकृतं वर्णाश्रमाचारलक्षणो धर्मस्तद्वन्तः सन्तो मां भजन्ते; तत्र आर्तोरोगाद्यापद्-ग्रस्तस्तन्निवृत्तिकामः, 'जिज्ञासुः' आत्मज्ञानार्थी व्याकरणादिशास्त्रज्ञानार्थी वा, अर्थार्थी क्षितिगजतुरगकामिनीकनकाद्यैहिकपारत्रिकभोगार्थीति,—एते त्रयः, सकामा गृहस्थाः, ज्ञानी विशुद्धान्तःकरणः संन्यासीति चतुर्थोऽयं निष्कामः, इत्येते प्रधानीभूत-भक्त्यधिकारिणश्चत्वारो निरूपिताः। तत्रादिमेषु त्रिषु कर्ममिश्रा भक्तिः, अन्तिमे चतुर्थे ज्ञानमिश्रा, *"सर्वद्वाराणि संयम्य"*इत्यग्रिमग्रन्थे योगमिश्रापि वक्ष्यते। ज्ञानकर्माद्यमिश्रा केवला भक्तिर्या, सा तु सप्तमाध्यायारम्भे एव *"मय्यासक्तमनाः पार्थ"*इत्यनेन उक्ता । पुनश्चाष्टमेऽप्यध्याये *"अनन्यचेताः सततम्"* इत्यनेन, नवमे *"महात्मानस्तु मां पार्थ"* इति श्लोकद्वयेन *"अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्"* इत्यनेन च निरूपयितव्येति। 'प्रधानीभूता' 'केवला' इति द्विविधैव भक्तिर्मध्यमेऽस्मिन्नध्यायषट्के भगवतोक्ता। या तु तृतीया गुणीभूता भक्तिः कर्मिणि, ज्ञानिनि, योगिनि च कर्मादिफलसिद्ध्यर्था दृश्यते,

तस्याः प्रधान्याभावात् न भक्तित्वव्यपदेशः किन्तु तत्र तत्र कर्मादीनामेव प्राधान्यात्। 'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायेन कर्मत्व-ज्ञानत्व-योगत्व-व्यपदेशः, तद्वतामपि कर्मित्वज्ञानित्वयोगित्व व्यपदेशः, न तु भक्तत्वव्यपदेशः। फलञ्च सकामकर्मणः स्वर्गः निष्कामकर्मणो ज्ञानयोगो ज्ञानयोगयोर्निर्वाणमोक्ष इति। अथ द्विधाया भक्तेः फलमुच्यते, तत्र प्रधानीभूतासु भक्तिसु मध्ये आर्त्तादिषु त्रिषु याः कर्ममिश्रास्तिस्रः सकामा भक्त्यः तासां फलं तत्तत्कामप्राप्तिः, विषयसाद्गुण्यात् तदन्ते सुखैश्वर्यप्रधानसालोक्यमोक्षप्राप्तिश्च; न तु कर्मफलस्वर्गभोगान्त इव पातः, यद्वक्ष्यते,-*"यान्ति मद्याजिनो माम्"* इति। चतुर्थ्या ज्ञानमिश्रायास्तत उत्कृष्टायास्तु फलं शान्तरतिः सनकादिष्विव। भक्तभगवत्कारुण्याधिक्यवशात् कस्याश्चित् तस्याः फलं प्रेमोत्कर्षश्च श्रीशुकादिष्विव। कर्ममिश्रा भक्तिर्यदि निष्कामा स्यात् तदा तस्याः फलं ज्ञानमिश्रा भक्तिः, तस्याः फलमुक्तमेव। क्वचिच्च स्वभावादेव दासादिभक्तसङ्गोत्थ-वासना-वशाद्वा ज्ञानकर्मादिमिश्रभक्तिमतामपि दास्यादिप्रेमा स्यात्, किन्तु ऐश्वर्यप्रधानमेवेति। अथ ज्ञानकर्माद्यमिश्रायाः शुद्धाया अन्याकिञ्चनोत्तमा-दिपर्यायाः भक्तेर्बहुप्रभेदाया दास्यसख्यादिप्रेमवत् पार्षदत्वमेव फलमित्यादिकं श्रीभागवतटीकायां बहुशः प्रतिपादितम्। अत्रापि प्रसङ्गवशात् साध्या भक्तिविवेकः संक्षिप्य दर्शितः।।१६।।

भावानुवाद—तब कौन आपका भजन करते हैं—इस प्रश्नके उत्तरमें 'चतुर्विधा' इत्यादि कह रहे हैं। 'सुकृत' अर्थात् वर्णाश्रमधर्मका पालन करनेवाले मेरा भजन करते हैं। 'आर्त्त' अर्थात् रोगादिसे ग्रस्त पुरुष निवृत्तिकी कामनासे मेरा भजन करते हैं। 'जिज्ञासु' अर्थात् आत्मज्ञान चाहनेवाले अथवा व्याकरणादि शास्त्रज्ञानके इच्छुक पुरुष मेरा भजन करते हैं। 'अर्थार्थी' अर्थात् पृथ्वी, हाथी, अश्व, कामिनी, कनकादि ऐहिक और पारलौकिक भोगोंके इच्छुक मेरा भजन करते हैं। 'ज्ञानी' अर्थात् विशुद्ध अन्तःकरणवाले मेरा भजन करते हैं। उपरोक्त प्रथम तीन प्रकारके लोग सकाम गृहस्थ तथा चतुर्थ निष्काम संन्यासी हैं। इन चार प्रकारके लोगोंको प्रधानीभूता भक्तिके अधिकारीके रूपमें निरूपित किया गया है। इनमेंसे प्रथम तीन प्रकारके व्यक्तिगण कर्ममिश्रा भक्ति तथा चतुर्थ प्रकारके व्यक्ति ज्ञानमिश्रा भक्तिका अनुष्ठान करते हैं। *'सर्वद्वाराणि संयम्य'*—इस परवर्ती वाक्यमें योगमिश्रा भक्तिके सम्बन्धमें भी कहा जाएगा। किन्तु कर्म, ज्ञानादिसे रहित केवला भक्तिको सप्तम अध्यायके आरम्भमें ही बताया गया है—

'मय्यासक्तमनाः पार्थ' (गीता ७/१)। पुनः अष्टम अध्याय (८/१४) में भी *'अनन्यचेताः सततम्'* तथा नवम अध्याय (९/१३) में *'महात्मानस्तु मां पार्थ'*—इन दो श्लोकोंके द्वारा केवला भक्ति निरूपित होगी। श्रीभगवान्ने प्रधानीभूता और केवला—इन दोनों प्रकारकी भक्तिके विषयमें गीताके मध्यके छः अध्यायों (७-१२) में बताया है। किन्तु, जो तृतीया गुणीभूता भक्ति कर्मी, ज्ञानी और योगीमें कर्मादि फलसिद्धिके निमित्त दृष्ट होती है, उसमें भक्तिकी प्रधानताका अभाव होनेसे उसे भक्ति नहीं कहा जाता है, अपितु वहाँ वहाँ कर्मादिकी ही प्रधानता रहती है। *'प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ति'* अर्थात् प्रधानतासे ही नाम होता है—इस न्यायोक्तिके अनुसार वहाँ वहाँ कर्मत्व, ज्ञानत्व और योगत्वका ही नाम होता है अर्थात् कर्मवान्, ज्ञानवान् और योगवान्के कर्मित्व, ज्ञानित्व और योगित्वका व्यपदेश हुआ है, किन्तु भक्तितत्वका व्यपदेश (नामकरण) नहीं हुआ है। सकाम कर्मका फल स्वर्ग है, निष्काम कर्मका फल ज्ञान है तथा ज्ञान और योगका फल निर्वाण मोक्ष है। तदनन्तर दो प्रकारकी भक्तिका फल बताया जा रहा है—इनमें से प्रधानीभूता भक्तिमें आर्त्त आदि तीन प्रकारके लोगोंमें जो कर्ममिश्रा भक्ति है, वे तीनों सकाम भक्त हैं तथा उनके वाञ्छित कामनाओंकी पूर्त्ति ही इस भक्तिका फल है। विषयके सद्गुणके कारण अन्तमें उन्हें सुख-ऐश्वर्यप्रधान सालोक्यादि मोक्ष-प्राप्ति होती है और कर्मीके स्वर्गभोगके उपरान्त पतन होनेकी भाँति उनका पतन नहीं होता है। जैसा कि आगे कहा जाएगा—*'यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्'* (गीता ९/२५)। चतुर्थ ज्ञानमिश्रा भक्तिका फल कर्ममिश्रासे श्रेष्ठ है। उन्हें सनकादिकी भाँति शान्त रति प्राप्त होती है। भक्ति तथा भगवान्की विशेष करुणाके कारण इसका उत्कृष्ट फल प्रेमोत्कर्ष है, जो शुकदेव गोस्वामी आदिमें दृष्ट होता है। यदि कर्ममिश्रा भक्ति निष्काम हो, तो उसका फल ज्ञानमिश्रा भक्ति है तथा इसका फल बताया जा चुका है। कभी-कभी ज्ञान-कर्ममिश्रा भक्तिमान्को स्वभाववश अथवा दासादि भक्तोंके सङ्गसे उत्पन्न वासनावश दास्यादि प्रेम हो जाता है, किन्तु वह ऐश्वर्य प्रधान ही होता है। ज्ञान-कर्मादिसे रहित शुद्धा, अनन्या, अकिञ्चना, उत्तमादि पर्यायोंवाली तथा बहुतसे प्रभेदोंवाली भक्तिका फल दास्य, सख्यादि प्रिय पार्षदत्व ही होता है—यह श्रीमद्भागवतकी टीकामें कई स्थलोंपर प्रतिपादित हुआ है। प्रसङ्गवश इस टीकामें भी साध्य भक्तिका विचार संक्षेपमें प्रदर्शित हुआ है।।१६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"दुष्कृत व्यक्तियोंके लिए मेरा भजन करना प्रायः सम्भव नहीं है, क्योंकि वे क्रमोन्नतिके पथ पर नहीं हैं। उनमें से आकस्मिक रूपसे कभी-कभी किसी-किसीको मेरा भजन प्राप्त हुआ है। वैध जीवनमें अवस्थित सुकृतिवान् व्यक्तियोंमें चार प्रकारके लोग मेरे भजनके योग्य हैं। जो काम्य कर्मपरायण हैं, वे प्राप्तक्लेश द्वारा सन्तप्त होकर मेरा स्मरण करते हैं—ये ही आर्त्त हैं। दुष्कृत व्यक्ति भी आर्त्त होकर कभी-कभी मेरा स्मरण करते हैं। पूर्वोक्त मूढ़ नीतिवादिगण तत्त्वजिज्ञासाके क्रममें जब ईश्वरकी प्रयोजनीयताका बोध करते हैं, तब तत्त्व-जिज्ञासारूपसे क्रमशः मेरा स्मरण करते हैं। पूर्वोक्त नराधमगण नीतिगत ईश्वरसे नहीं सन्तुष्ट होनेपर जब नीतिके अधीश्वरको जान पाते हैं, तब वे वैध भक्त होकर अर्थार्थीके रूपसे मेरा स्मरण करते हैं। जब ब्रह्म और परात्मज्ञानको असम्पूर्ण जानकर जीव मेरे शुद्ध ज्ञानका आश्रय करता है, तब माया द्वारा आच्छन्नज्ञानविशिष्ट पुरुषका मायाच्छादन दूर होनेपर पुरुष स्वयंको भगवत्स्वरूपका नित्यदास जानकर मेरी प्रपत्ति स्वीकार करता है। फलतः आर्त्त लोगोंके कामरूप कषाय, जिज्ञासुओंके सामान्य नैतिक ज्ञानबद्धतारूप कषाय, अथार्थियोंके सामान्य पारलौकिक स्वर्गप्राप्तिकी आशारूप कषाय एवं ज्ञानियोंके ब्रह्मलय एवं भगवत्तत्त्वमें अनित्यत्व बुद्धिरूप कषाय दूर होनपर—ये चारों प्रकारके जीव भक्तिके अधिकारी हो सकते हैं। जब तक कषाय वर्त्तमान रहता है, तब तक इन सभी व्यक्तियोंकी भक्ति प्रधानीभूता है। कषाय दूर होनेपर ये 'केवला', 'अकिञ्चना' या 'उत्तमा' भक्ति प्राप्त करते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

मूल श्लोकगत सुकृतिका तात्पर्य वर्ण एवं आश्रम-धर्मके पालनरूप सुकृतिसे है। ऐसे सुकृतिमान् व्यक्ति चार प्रकारसे भगवत्-भजनमें प्रवृत्त होते हैं। इनकी भक्ति प्रधानीभूता भक्ति होती है।

आर्त्त—जरासन्धके द्वारा बन्दी बनाए हुए राजालोग, ग्राह-ग्रस्त गजेन्द्रादि आर्त्तकी श्रेणीमें आते हैं।

जिज्ञासु—आत्मज्ञानके जिज्ञासु शौनकादि इस श्रेणीमें आते हैं।

अर्थार्थी—ध्रुवादि इस श्रेणीमें आते हैं।

उपरोक्त तीनों कर्म-प्रधानीभूता भक्तिके अन्तर्गत हैं।

ज्ञानी—चतुःसनादि ज्ञान-प्रधानीभूता भक्तिके अन्तर्गत हैं।

प्रधानीभूता भक्ति—जिस कर्म, ज्ञान या योगमें भक्तिकी प्रधानता रहती है तथा कर्म, ज्ञान और योग भक्तिके अधीन होते हैं, उसे प्रधानीभूता भक्ति कहते हैं।

केवला भक्ति—

'अन्याभिलाषिता शून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।

आनुकूल्येन कृष्णानुशीलनं भक्तिरुत्तमा।।' (भ. र. सि १/१/११)

अर्थात्, कृष्णसेवाके अतिरिक्त दूसरी-दूसरी कामनाओंसे रहित, निर्भेद ब्रह्मज्ञान, नित्य-नैमित्तिकादि कर्म, योग, तपस्या आदिसे सर्वथा अनावृत एवं अनुकूल भावसे कृष्णानुशीलनको ही उत्तमा भक्ति कहते हैं।

गुणीभूता भक्ति—जिस कर्म, ज्ञान या योगमें भक्तिकी प्रधानता नहीं होती अर्थात् कर्म, ज्ञान या योगका ही वर्चस्व लक्षित होता है तथा जिसमें भक्ति कर्म, ज्ञान एवं योगको स्वर्ग और निर्वाण (मोक्ष) के साधनमें सहायता करती है, उस कर्मका नाम कर्म, ज्ञानका नाम ज्ञान और योगका नाम योग है। ऐसे कर्म, ज्ञान ओर योगको शुद्धा भक्तिकी संज्ञासे अभिहित नहीं किया जा सकता है। इसे गुणीभूता भक्ति कहते हैं। भक्तिकी प्रधानताके अभावमें गुणीभूता भक्तिको भक्तिकी श्रेणीमें परिगणित नहीं किया जाता है। अतः भक्ति दो प्रकारकी ही हुई—केवला तथा प्रधानीभूता।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरजीने श्रीमद्भागवतकी सारार्थदर्शिनी टीकामें भक्ति-तत्त्वका विशद विवेचन किया है। इसके लिए निम्नाङ्कित श्लोकोंकी टीका द्रष्टव्य है—

'आत्मारामश्च मुनयः' (१/७/१०), *'ऋतेऽर्थं यत् प्रतीयेत'* (२/९/३३), *'मुक्तानामपि सिद्धानां'* (६/१४/५), *'यावन्नृकायरथम्'* (७/१५/४५), *'येऽन्येऽरविन्दाक्ष'* (१०/२/३२) ।।१६।।

तेषां ज्ञानी नित्ययुक्त एकभक्तिर्विशिष्यते।
प्रियो हि ज्ञानिनोऽत्यर्थमहं स च मम प्रियः।।१७।।

अन्वय—तेषाम् (उनमें से) नित्ययुक्तः (मुझमें एकाग्रचित्त) एकभक्तिः (एकमात्र मुझमें अनुरक्त) ज्ञानी (तत्त्वविद्) विशिष्यते (श्रेष्ठ हैं) हि (क्योंकि) अहम् (मैं) ज्ञानिनः (ज्ञानीको) अत्यर्थम् प्रियः (अत्यन्त प्रिय हूँ) सः च (और वे भी) मम प्रियः (मुझे प्रिय हैं)।।१७।।

अनुवाद—उनमें से नित्य मुझमें एकाग्रचित्त और एकमात्र मुझमें अनुरक्त तत्वविद् ज्ञानी व्यक्ति श्रेष्ठ हैं, क्योंकि मैं उनको अतिशय प्रिय हूँ और वे भी मुझे प्रिय हैं।।१७।।

श्रीविश्वनाथ—चतुर्णां भक्त्यधिकारिणां मध्ये कः श्रेष्ठः इत्यपेक्षायामाह—तेषां मध्ये ज्ञानी विशिष्यते श्रेष्ठः। 'नित्ययुक्तः नित्यं मयि युज्यते इति सः। ज्ञानाभ्यासवशीकृत-चित्तत्वान्मनस्यैकाग्रचित्त इत्यर्थः। आर्त्ताद्यास्त्रयस्तु नैवम्भूता

इति भावः। ननु सर्वेऽपि ज्ञानी ज्ञानवैयर्थ्यभयात् त्वां भजते एव? तत्राह—एका मुख्या प्रधानीभूता भक्तिरेव, न तु अन्येषां ज्ञानिनामिव ज्ञानमेव प्रधानीभूतं यस्य सः, यद्वा; एका भक्तिरेव तथैवासक्तिमत्वात् यस्य सः नाममात्रेणैव ज्ञानीति भावः। एवम्भूतस्य ज्ञानिनोऽहं श्यामसुन्दराकारोऽत्यर्थमतिशयेन प्रियः साधनसाध्यदशयोः परिहातुमशक्यः। *"ये यथा मां प्रपद्यन्ते"* इति न्यायेन ममापि स प्रियः।।१७।।

भावानुवाद—चार प्रकारके भक्तिके अधिकारियोंमें कौन श्रेष्ठ हैं? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—उनमें वे ज्ञानी ही श्रेष्ठ हैं, जो मुझमें नित्य युक्त हैं। ज्ञानाभ्यास द्वारा उनका चित्त वशीकृत होनेके कारण उनका मन एकाग्रचित्त रहता है। किन्तु आर्त्तादि अन्य तीन प्रकारके लोग ऐसे नहीं होते हैं। तब क्या समस्त ज्ञानिगन ही ज्ञान विफल होनेके भयसे आपका ही भजन करते हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—एकभक्ति—'एका' अर्थात् मुख्या भक्ति ही जिनकी प्रधानीभूता है, न कि अन्य ज्ञानियोंकी भाँति जिनका ज्ञान ही प्रधानीभूत है—वे मेरा भजन करते हैं अथवा एकमात्र भक्तिमें ही जो आसक्त हैं, जिनकी भक्ति एक है—वे नाममात्रके ही ज्ञानी हैं।

इस प्रकार श्यामसुन्दराकार मैं ज्ञानियोंको अतिशय प्रिय होता हूँ। वे साधन और साध्य दोनों ही अवस्थाओंमें इसका परिहार करनेमें असमर्थ हैं—'*ये यथा माम प्रपद्यन्ते*' (गीता ४/११)—इसके अनुसार वे मुझे भी प्रिय हैं।।१७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"कषायशून्य आर्त्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी भी मेरे परायण होकर 'भक्त' होते हैं। किन्तु उनमेंसे ज्ञानी व्यक्ति ज्ञान-कषायका परित्यागकर शुद्ध ज्ञान प्राप्तकर भक्तियोगयुक्त होकर अन्यान्य तीन प्रकारके भक्तोंकी अपेक्षा श्रेष्ठता प्राप्त करते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि स्वभावतः ज्ञानाभ्यास द्वारा चैतन्यस्वरूप जीवका स्वरूप जितना विशुद्ध होता है, कर्मी इत्यादिके कर्म-कषायादि दूर होनेपर भी उनके स्वरूपकी स्थिति उतनी विशुद्ध नहीं होती है। भक्तके सङ्गसे अन्तमें सभीको स्वरूपकी अवस्थिति प्राप्त होती है। साधन दशामें उक्त चार प्रकारके अधिकरियोंमें 'एकभक्ति' विशिष्ट ज्ञानी-भक्त ही मेरे विशुद्ध दास हैं एवं मैं भी उनका अत्यन्त प्रिय हूँ। श्रीशुकदेवादिके भगवत्-ज्ञान-स्फूर्त्ति ही इसके उदाहरण हैं। शुद्ध ज्ञानलब्ध भक्तोंका साधनकालीन भगवत्-कैङ्कर्य विशुद्ध चिन्मय होता है, उसमें जड़गन्ध प्रवेश नहीं कर सकता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१७।।

उदाराः सर्वः एवैते ज्ञानी त्वात्मैव मे मतम्।
आस्थितः स हि युक्तात्मा मामेवानुत्तमां गतिम्।।१८।।

अन्वय—एते सर्व एव (ये सभी) उदाराः (महत् हैं) ज्ञानी तु (किन्तु ज्ञानी) आत्मा एव (आत्मस्वरूप ही हैं) मे मतम् (यही मेरा मत है) हि (क्योंकि) सः (वे) युक्तात्मा (मद्‌गतचित्त होकर) अनुत्तमाम् गतिम् (सवोत्कृष्ट गतिस्वरूप) मामेव (मुझे ही) आस्थितः आश्रय करत हैं)।।१८।।

अनुवाद—ये सभी महत् हैं, किन्तु ज्ञानी व्यक्ति मेरे आत्मस्वरूप हैं—यही मेरा अभिमत है, क्योंकि वे मद्‌गतचित्त होकर सर्वोत्तम गतिस्वरूप मेरा ही आश्रयकर अवस्थान करते हैं।।१८।।

श्रीविश्वनाथ—तर्हि किमार्त्ताद्यास्त्रयस्तव न प्रियास्तत्र न हि, न हीत्याह—उदारा इति। ये मां भजन्ते, मत्तः किञ्चित् कामितं मयापि दित्सितं गृह्णन्ति, ते भक्तवत्सलाय मह्यं बहुप्रदायिनः प्रिया ऐवेति भावः। ज्ञानी त्वात्मैवेति, स हि भजन्नथ च मत्तः किमपि स्वर्गापवर्गादिकं नाकाङ्क्षते इति; अतस्तदधीनस्य मम स आत्मैवेति मम मतं मतिः, यतः स मां श्यामसुन्दराकारमेवानुत्तमां सर्वोत्तमां गतिं प्राप्य आस्थितः निश्चतवान्; न तु मम निर्विशेषस्वरूपब्रह्मनिर्वाणमिति भावः। एवञ्च निष्काम-प्रधानीभूतभक्तिमान् ज्ञानी भक्तवत्सलेन भगवता स्वात्मत्वेनाभिमन्यते; केवलभक्तिमाननन्यस्तु आत्मनोऽप्याधिक्येन। यदुक्तं —*"न तथा मे प्रियतम आत्मयोनिर्न शङ्करः। न च सङ्कर्षणो न श्रीर्नैवात्मा च यथा भवान्।।"* इति, *"नाहमात्मानमाशासे मद्भक्तैः साधुभिर्विना"* इति, *"आत्मारामोऽप्यरीरमत्"* इत्यादि।।१८।।

भावानुवाद—तो क्या आर्त्तादि तीन प्रकारके लोग आपके प्रिय नहीं हैं? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—ना, ना, ऐसा नहीं है। जो मेरा भजन करते हैं, मुझसे कुछ कामना करते हैं तथा मेरे देनेपर उसे ग्रहण करते हैं, वे मुझ भक्तवत्सलको बहुत-कुछ देनेवाले और मेरे प्रिय हैं। किन्तु 'ज्ञानी आत्मैव' अर्थात् ज्ञानी आत्मा ही (अत्यन्त प्रिय) हैं, क्योंकि वे मेरा भजनकर मुझसे स्वर्ग-अपवर्गादि कोई आकांक्षा नहीं करते हैं। अतएव मैं उनके अधीन रहता हूँ, वे मेरे आत्मा ही हैं—ऐसा मेरा मत है। क्योंकि वे मुझ श्यामसुन्दरको ही सर्वोत्तम गति जानकर निश्चिन्त रहते हैं, मेरे निर्विशेषस्वरूप ब्रह्मनिर्वाणका आश्रय नहीं करते हैं। इस प्रकार निष्काम प्रधानीभूत भक्तिमान् ज्ञानीको मैं, भक्तवत्सल भगवान्, अपना आत्मा मानता हूँ। किन्तु, अनन्य अर्थात् केवल-भक्तिमान् पुरुष

मेरे आत्मासे भी अधिक प्रिय हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत (११/१४/१५) में कथित है—"हे उद्धव! भक्तके रूपमें तुम मुझे जितना प्रिय हो, उतना प्रिय मेरा पुत्र ब्रह्मा, शंकर, सङ्कर्षण, लक्ष्मीदेवी अथवा मेरा निजस्वरूप भी नहीं है।" और भी, "अपने भक्त साधुगणके अतिरिक्त मैं निजस्वरूपगत आनन्दकी भी अभिलाषा नहीं करता हूँ।" (श्रीमद्भा. ९/४/६४) "आत्माराम भी रमण किए थे।" (श्रीमद्भा. १०/२९/४२) इत्यादि।।१८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"केवला भक्ति स्वीकार कर पूर्वोक्त चारों प्रकारके अधिकारी परम उदार होते हैं। किन्तु ज्ञानी भक्तकी स्वात्म निष्ठता अर्थात् चैतन्यनिष्ठता अधिक प्रबल होनेके कारण वे चैतन्य गतिरूप जो सर्वोत्तम गति मैं हूँ—उसमें अवस्थित रहते हैं। वे मेरे अत्यन्त प्रिय हैं तथा मुझे अत्यन्त वशीभूत करते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

पूर्व-पूर्व जन्मोंकी पूँजीभूत सुकृति रहनेसे ही लोग भगवान् श्रीकृष्णका भजन करते हैं, अन्यथा कृष्णबहिर्मुख व्यक्ति अन्यान्य देवी-देवताओंकी उपासनामें तत्पर रहते हैं। इसलिए सकाम या निष्काम जो भी व्यक्ति कृष्णका भजन करते हैं, वे उदार बुद्धिसम्पन्न हैं। श्रीमद्भागवतमें भी इसीको श्लोकमें व्यक्त किया गया है—

'अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम्।।'

(श्रीमद्भा. २/३/१०)

इस श्लोकको सारार्थदर्शिनी टीकामें 'उदारधी' शब्दकी इस प्रकार व्याख्या की गई है—'उदारधी' का तात्पर्य है—'सुबुद्धि'; कामसहित अथवा कामरहित हो, यदि वह भगवान्का भजन करता है, तो यही उसके सुबुद्धित्वका चिह्न है तथा ऐसी बुद्धिका अभाव ही दुर्बुद्धित्वका लक्षण है। कामरहित भक्तोंकी तो बात ही क्या, सकाम भक्त भी अपने अभिलषित भोगोंको भोगकर भगवान् या भक्तोंकी कृपासे भगवत्-धाममें भगवत्-सेवा प्राप्त करते हैं, इसलिए इनको उदार बुद्धिसम्पन्न कहा गया है।।१८।।

बहूनां जन्मनामन्ते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते।
वासुदेवः सर्वमिति स महात्मा सुदुर्लभः।।१९।।

अन्वय—सर्वम् वासुदेवः (समस्त वस्तुएँ वासुदेवमय हैं) इति ज्ञानवान् (ऐसे ज्ञानसम्पन्न व्यक्ति) बहूनाम् जन्मनाम् अन्ते (अनेक जन्मोंके बाद) माम् (मुझको) प्रपद्यते (आश्रय करते हैं) सः (ऐसे) महात्मा (महात्मा) सुदुर्लभः (नितान्त दुर्लभ हैं)।।१९।।

अनुवाद—समस्त वस्तुएँ वासुदेवमय हैं—इस प्रकार ज्ञानसम्पन्न पुरुष अनेक जन्मोंके पश्चात् मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं। ऐसे महात्मा नितान्त दुर्लभ हैं।।१९।।

श्रीविश्वनाथ—ननु मामेवानुत्तमां गतिमास्थित इति ब्रूवे अतः स ज्ञानिभक्तस्त्वामेव प्राप्नोति, किन्तु कियतः समयादनन्तरं स ज्ञानी भक्त्याधिकारी भवतीत्यत आह—बहूनामिति। वासुदेवः सर्वमिति—सर्वत्र वासुदेवदर्शी ज्ञानवान् बहूनां जन्मनामन्ते मां प्रपद्यते। तादृश—साधुर्यादृच्छिकसङ्गवशात् मत्प्रपत्तिं प्राप्नोति; स च ज्ञानी भक्तो महात्मा सुस्थिरचित्तः सुदुर्लभः—"*मनुष्याणां सहस्रेषु*" इति मदुक्तेः। ऐकान्तिकभक्तस्तु किमुतेति; स तु अति सुदुर्लभ एवेति भावः।।१९।।

भावानुवाद—अच्छा, आपने कहा कि वे सर्वोत्तम गतिके रूपमें मेरा ही आश्रय ग्रहण करते हैं—अतः वे ज्ञानी भक्त आपको ही प्राप्त करते हैं। किन्तु, ऐसे ज्ञानी कितने समयके पश्चात् भक्तिके अधिकारी होंगे? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—'बहूनाम्' इत्यादि। 'वासुदेवः सर्वम्' सर्वत्र वासुदेवदर्शी ज्ञानवान् बहुत जन्मके बाद मेरे शरणागत होते हैं। वैसे साधु यादृच्छिक सङ्गवश मेरे शरणागत होते हैं अर्थात् जैसा सङ्ग होता है, उस भावके अनुसार ही मेरे शरणागत होते हैं। हजारों-हजारों मनुष्योंमें से कोई एक वैसा सुस्थिरचित्त ज्ञानी भक्त होता है, ऐकान्तिक भक्तकी तो बात ही दूर रहे, वे तो अति सुदुर्लभ हैं।।१९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—आर्त्त आदि चार प्रकारके भक्तोंमें नित्य केवल मुझ कृष्णके प्रति ही निष्ठा रखनेवाले ज्ञानी श्रेष्ठ हैं। जन्म-जन्मान्तरके पश्चात् सुकृतिवान् ज्ञानी संयोगवशतः शुद्ध वैष्णवोंका सङ्ग प्राप्तकर उसके द्वारा वासुदेव स्वरूपसे अवगत होते हैं। वे सर्वत्र ही भगवान् वासुदेवका दर्शन करते हैं अर्थात् समस्त वस्तुओंमें वासुदेवका सम्बन्ध दर्शनकर श्रीकृष्णके प्रति शुद्धा भक्ति लाभ करते हैं। ऐसे महात्मा सुदुर्लभ हैं।

श्रीबलदेव विद्याभूषण इस श्लोककी टीकामें निम्नलिखित विचार प्रकट करते हैं—आर्त्त आदि त्रिविध भक्त मेरी भक्तिके अनुष्ठानके फलस्वरूप अनेक जन्मोंतक उत्तम विषयानन्दको भोगकर अन्तमें उससे विरक्त होकर किसी जन्ममें मेरे स्वरूपतत्त्वको जाननेवाले वैष्णवोंके सङ्गमें मेरे स्वरूपका ज्ञान प्राप्तकर वसुदेवतनय मुझ कृष्णको ही परम तत्त्व जानकर मेरे शरणागत होते हैं।

"जीवसमूह अनेक जन्मोंतक साधन करते-करते ज्ञान लाभ करते हैं अर्थात् चैतन्यनिष्ठ होते हैं। चैतन्यनिष्ठ होनेके समय सर्वप्रथम थोड़े परिमाणमें जड़त्यागकालीन 'अद्वैत-भाव' का अवलम्बन करते हैं, उस समय जड़ीय-विशेषके प्रति घृणाप्रयुक्त विशेष-धर्मके प्रति उदासीन होते हैं। चैतन्य-धर्ममें थोड़ी अवस्थिति होते ही चैतन्यके विशेषधर्मको जानकर उसमें अनुरक्त होते हैं। अनुरक्त होकर वे परमचैतन्यरूप मेरी प्रपत्ति स्वीकार करते हैं। उस समय वे ऐसा सोचते हैं कि यह जड़-जगत् स्वतन्त्र नहीं है, बल्कि यह तो चैतन्य वस्तुका एक हेय प्रतिफलन मात्र है—इसमें भी वासुदेव-सम्बन्ध है। अतएव समस्त (वस्तुएँ) ही 'वासुदेवमय' हैं। जिनकी ऐसी भगवत् प्रपत्ति है—वे महात्मा अति दुर्लभ हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१९।।

कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञानाः　　　प्रपद्यन्तेऽन्यदेवताः।
तं तं नियममास्थाय प्रकृत्या नियताः स्वया।।२०।।

अन्वय—तैः तैः कामैः (आर्त्ति दूर करने आदि कामनाओंके द्वारा) हृतज्ञानाः (जिनका ज्ञान हर लिया गया है, वे लोग) तम् तम् नियमम् (उस उस नियमका) आस्थाय (आश्रयकर) स्वया-प्रकृत्या-नियताः (अपने स्वभावके वशीभूत होकर) अन्य देवताः (अन्य देवताओंको) प्रपद्यन्ते (भजते हैं)।।२०।।

अनुवाद—आर्त्ति आदि दूर करनेकी कामनाओं द्वारा जिनका ज्ञान हर लिया गया है, वे उन उन देवताओंकी आराधनाके उपयुक्त नियमोंका अवलम्बनकर अपने स्वभावके वशीभूत होकर देवताओंको भजते हैं।।२०।।

श्रीविश्वनाथ—ननु आर्त्तादयः सकामा अपि भगवन्तं त्वां भजन्तः कृतार्था इव इत्यवगतम्, ये तु आर्त्तादयः आर्त्तिहानादिकामनया देवतान्तरं भजन्ते, तेषां का गतिरित्यपेक्षायामाह—कामैरिति चतुर्भिः। हृतज्ञाना इति रोगाद्यार्त्तिहराः शीघ्रं यथा सूर्यादयस्तथा न विष्णुरिति नष्टबुद्धयः। प्रकृत्येति स्वया प्रकृत्या नियताः वशीकृताः सन्तस्तेषां दुष्टा प्रकृतिरेव मत्प्रपत्तौ पराङ्मुखीति भावः।।२०।।

भावानुवाद—अच्छा, आर्त्त आदि सकाम व्यक्तिगण भी भगवान् आपका भजनकर कृतार्थकी भाँति हो जाते हैं, इसे मैंने समझ लिया, किन्तु जो आर्त्तादि व्यक्तिगण अपने दुःख-कष्टोंको दूर करनेके लिए देवताओंका भजन करते हैं, उनकी क्या गति होती है? इस प्रश्नकी अपेक्षा कर

श्रीभगवान् 'कामैः' इत्यादि चार श्लोकोंको कह रहे हैं। जो ऐसा समझते हैं कि सूर्यादि देवता रोगादिसे शीघ्र निवारण करते हैं, किन्तु विष्णु ऐसा नहीं करते हैं—वे 'हृतज्ञानाः' अर्थात् भ्रष्टबुद्धिवाले हैं। वे अपनी प्रकृति (स्वभाव) के द्वारा वशीभूत होते हैं, उनकी दुष्टा प्रकृति ही उन्हें मेरी शरणागतिसे विमुख रखती है।।२०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—बुद्धिमान् और सौभाग्यवान् व्यक्ति विविध प्रकारकी कामनाओंके वशीभूत होनेपर भी अपनी कामनाओंकी पूर्त्तिके लिए परमेश्वर श्रीकृष्णका ही भजन करते हैं और कृष्णकी कृपासे अपनी काम्य वस्तुओंको प्राप्त करनेपर भी क्रमशः उन भोगोंसे निस्पृह होकर श्रीकृष्णका भजन लाभ कर सकते हैं। इस विषयमें श्रीमद्भागवतके (२/३/१०) और (५/१९/२६) श्लोक आलोचनीय हैं। किन्तु, मूर्ख और दुर्भागे व्यक्ति कृष्ण विमुखताके कारण राजसिक और तामसिक गुणोंमें आबद्ध होकर यह सोचते हैं कि देवतागण शीघ्र ही कामनाओंकी पूर्त्ति करते हैं। ऐसा सोचकर वे अपनी विविध प्रकारकी कामनाओंकी पूर्त्तिके लिए अपने अपने स्वभावके अनुरूप क्षुद्र-क्षुद्र देवताओंकी आराधनाके द्वारा शीघ्र ही नश्वर फल प्राप्त करते हैं।

"आर्त्तादि व्यक्तिगण कषायशून्य होकर मेरी भक्ति करते हैं। जब तक उनके कषाय दूर नहीं हो जाते, तब तक वे स्वभावतः बहिर्मुख होते हैं। जो कामी होकर भी मेरे स्वरूपका आश्रय ग्रहण करते हैं, वे बहिर्मुखताको आश्रय नहीं देते हैं। मैं अत्यल्प कालमें ही उनके कामको दूर कर देता हूँ। किन्तु, जो मुझसे बहिर्मुख होते हैं, वे काम द्वारा अपहृतज्ञान होकर शीघ्र ही तुच्छ फल प्राप्त करनेके लिए उन उन फलोंको प्रदान करनेवाले देवताओंकी उपासना करते हैं। वे विशुद्ध सत्त्वरूप मुझसे प्रेम नहीं करते, क्योंकि वे अपने अपने तामसिक और राजसिक स्वभावसे चालित होकर उन उन क्षुद्र नियमोंका पालनकर तदनुरूप देवताओंकी उपासना करते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२०।।

यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति।
तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।।२१।।

अन्वय—यः यः भक्त (जो जो सकाम भक्त) याम् याम् तनुम् (जिस जिस देवमूर्त्तिकी) श्रद्धया (श्रद्धापूर्वक) अर्चितुम् इच्छति (पूजा करनेकी इच्छा करता है) अहम् (मैं) तस्य तस्य (उस उसकी) श्रद्धाम् (श्रद्धाको) तामेव (उसमें ही) अचलाम् (दृढ़) विदधामि (करता हूँ)।।२१।।

अनुवाद—जो जो सकाम भक्त जिस जिस देवमूर्त्तिकी श्रद्धापूर्वक पूजा करना चाहता है, मैं अन्तर्यामीरूपमें उस उस भक्तकी श्रद्धा उस उस देवतामें ही दृढ़ कर देता हूँ।।२१।।

श्रीविश्वनाथ—ते ते देवाः पूजां प्राप्य प्रसन्नास्तेषां स्व स्व पूजकानां हितार्थं त्वद्भक्तौ श्रद्धामुत्पादयिष्यन्तीति मावादीर्यतस्ते देवाः स्वभक्तावपि श्रद्धामुत्पादयितुमशक्ताः किं पुनर्मद्भक्तावित्याह—यो य इति। यां यां तनुं सूर्यादिदेवरूपां मदीयां मूर्त्तिविभूतिमर्चितुं पूजयितुम्, तामेव तत्तद्देवताविषयामेव, न तु स्वविषया, श्रद्धामहमन्तर्याम्येव विदधामि, न तु सा सा देवता।।२१।।

भावानुवाद—यदि कहो कि वे वे देवतागण पूजित होकर प्रसन्न होंगे और अपने अपने पूजकोंको मंगलके लिए आपकी भक्तिके प्रति श्रद्धा उत्पादित करेंगे, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—नहीं, ऐसा नहीं है। जब वे देवतागण अपनी ही भक्तिके प्रति श्रद्धा उत्पन्न करानेमें असमर्थ हैं, तो मेरी भक्तिमें कैसे श्रद्धा उत्पन्न कराएँगे। इसलिए वे कहते हैं—'यो यः' इत्यादि। वे जिस जिस देवता अर्थात् सूर्यादि की पूजा करना चाहते हैं, जो कि मेरे ही विभूतिस्वरूप हैं, मैं अन्तर्यामी ही उस उस देवतामें उनकी श्रद्धा उत्पन्न करा देता हूँ, अपने विषयमें नहीं तथा वे देवतागण भी मेरे प्रति श्रद्धा उत्पन्न करानेमें सक्षम नहीं हैं।।२१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—कोई कोई ऐसा समझते हैं कि देवताओंकी पूजा करनेसे देवगण ही भगवान्‌के चरणोंमें भक्तिका उदय करानेमें समर्थ हैं। किन्तु, यहाँ भगवत्-उक्ति द्वारा यह जाना जाता है कि देवपूजक जिस जिस देवताकी विशेष श्रद्धापूर्वक पूजा करनेकी अभिलाषा करते हैं, श्रीकृष्ण अन्तर्यामी स्वरूपसे उनकी श्रद्धाके अनुरूप अपनी विभूतिरूप देवमूर्त्तियोंके प्रति दृढ श्रद्धा विधान किया करते हैं। किन्तु, अपने प्रति बहिर्मुखोंकी श्रद्धा उत्पन्न नहीं करते। जब देवतालोग अपने अपने पूजकोंकी श्रद्धाको अपने प्रति ही उत्पन्न नहीं करा सकते, तो वे भगवान्‌के प्रति श्रद्धा कैसे उत्पन्न करा सकते हैं?।।२१।।

स तया श्रद्धया युक्तस्तस्याराधनमीहते।
लभते च ततः कामान् मयैव विहितान् हि तान्।।२२।।

अन्वय—सः (वह व्यक्ति) तया श्रद्धया युक्तः (उस श्रद्धासे युक्त होकर) तस्याः (उस देवताकी) आराधनम् ईहते (पूजाका प्रयास करता है) च (एवं) मया एव (अन्तर्यामीरूपमें मेरे द्वारा ही) विहितान् (विहित) तान् कामान् (उन कामनाओंको) ततः (उस देवतासे) हि लभ्यते (अवश्य प्राप्त करता है)।।२२।।

अनुवाद—वह व्यक्ति उस श्रद्धासे युक्त होकर उस देवताकी पूजाका प्रयास करता है एवं उन कामनाओंको उस देवतासे प्राप्त करता है, जो कि मेरे ही द्वारा विधान किए गए हैं।।२२।।

श्रीविश्वनाथ—ईहते करोति स तत्तद्देवताराधनात् कामान् आराधनफलानि लभते। न च ते ते कामा अपि तैस्तैर्देवैः पूर्णाः कर्त्तुंशक्यते इत्याह—मयैव विहितान् पूर्णीकृतान्।।२२।।

भावानुवाद—'इहते' का तात्पर्य है—करता है। वे उन उन देवताओंकी आराधनासे अपने अपने कामनाओंको प्राप्त करते हैं, किन्तु वे देवतागण उन उन कामनाओंको भी पूर्ण करनेंमें समर्थ नहीं हैं। इसलिए कहते हैं—'मयैव विहितान्'—वस्तुतः वे कामनाएँ मेरे ही द्वारा पूर्ण की जाती हैं।।२२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—कोई कोई ऐसा समझते हैं कि देवताओंकी आराधना करनेसे उन देवताओंकी कृपासे ही फल प्राप्त होता है, किन्तु वर्त्तमान श्लोकके अनुसार यह सुस्पष्ट है कि देवगण काम्य फलोंको स्वयं देनेमें असमर्थ हैं। भगवान्के द्वारा विहित होकर ही देवपूजकगण उन फलोंको प्राप्त करते हैं। किन्तु, अज्ञानी देवपूजकगण यह नहीं जान पाते कि श्रीभगवान्ने ही अन्तर्यामी रूपसे इन फलोंका विधान किया है। यहाँ यह देखा जाता है कि देवगण जिस प्रकार अपने पूजकोंकी अपने प्रति श्रद्धा उदय नहीं करा पाते, उसी प्रकार अन्तर्यामी श्रीभगवान्के विधानके बिना स्वतन्त्र रूपमें काम्य फलोंको भी प्रदान नहीं कर सकते।।२२।।

अन्तवत्तु फलं तेषां तद्भवत्यल्पमेधसाम्।
देवान् देवयजो यान्ति मद्भक्ता यान्ति मामपि।।२३।।

अन्वय—तु (किन्तु) तेषाम् अल्पमेधसाम् (उन अल्पबुद्धिवालोंका) तत् फलम् (वह फल) अन्तवत् (नश्वर है) देवयज्ञः (देवताओंको पूजनेवाले) देवान् (देवताओंको) यान्ति (प्राप्त होते हैं) मद्भक्ताः (मेरे भक्तगण) माम् अपि (मुझे ही) यान्ति (प्राप्त होते हैं)।।२३।।

अनुवाद—किन्तु, उन अल्प बुद्धिवालोंका वह फल नश्वर है। देवपूजकगण देवताओंको प्राप्त होते हैं तथा मेरे भक्तगण मुझे ही प्राप्त होते हैं।।२३।।

श्रीविश्वनाथ—किन्तु तेषां देवतान्तरभक्तानां फलं तत्तद्देवताराधन-जन्यमन्तवत् नश्वरं कैञ्चित्कालिकं भवति। ननु आराधने श्रमे तुल्येऽपि देवतान्तरभक्तानां फलं नश्वरं करोषि, स्वभक्तानान्त्वनश्वरं करोषीति त्वयि परमेश्वरेऽयमन्यायस्तत्र नायमन्याय इत्याह—देवानिति। देवयजो देवपूजकाः देवानेव यान्ति प्राप्नुवन्ति, मत्पूजका अपि माम्। अयमर्थः—ये हि यत्पूजकास्ते

तान् प्राप्नुवन्त्येवेति न्यायः एव। तत्र यदि देवा अपि नश्वरास्तदा तद्भक्ताः कथमनश्वरा भवन्तु, कथन्तरां वा तद्भजनफलं वा न नश्यतु, अतएव तद्भक्ता अल्पमेधसः उक्ताः। भगवांस्तु नित्यस्तद्भक्ता अपि नित्यास्तद्भक्तिर्भक्तिफलञ्च सर्वं नित्यमेवेति।।२३।।

भावानुवाद—किन्तु, उन उन देवताओंकी आराधनाके द्वारा प्राप्त फल नश्वर होते हैं अर्थात् अल्पकालीन होते हैं। यदि प्रश्न हो कि आराधनामें एक समान श्रम होनेपर भी आप अन्य देवताओंकी पूजा करनेवालोंके फलको नश्वर करते हैं, किन्तु अपने भक्तोंकी आराधनाके फलको अनश्वर करते हैं—यह तो परमेश्वर आपके द्वारा अन्याय है, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—यह अन्याय नहीं है। देवपूजकगण देवताओंको ही प्राप्त होते हैं तथा मेरे पूजक मुझे प्राप्त होते हैं। जो जिनके पूजक हैं, वे उन्हें ही प्राप्त होते हैं। यह न्याय ही है। तब यदि देवतागण ही नश्वर हैं, तो उनके पूजकगण भला किस प्रकार अनश्वर होंगे और उनका भजनफल क्यों नष्ट नहीं होगा? अतः वे भक्तगण अल्पबुद्धिविशिष्ट कहे गए हैं। किन्तु, भगवान् नित्य हैं और उनके भक्तगण भी नित्य हैं, उनकी भक्ति, भक्तिफल सभी नित्य हैं।।।२३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यदि कोई यह प्रश्न करे कि जब देवगण भी भगवान्‌के विभूतिरूप अङ्ग हैं, तब देवभक्तों और भगवद्भक्तोंकी आराधना एक समान है; जब भगवान् स्वयं देवपूजकोंकी श्रद्धाको उन देवताओंके प्रति उत्पन्न करते हैं तथा देवपूजकोंके काम्य फलका विधान भी वे ही करते हैं, तब देवताओंकी आराधना करनेमें क्या हानि है, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—यदि कोई कामनायुक्त होकर देवताओंके शरणागत होता है, तो वह 'हृतज्ञानाः' अर्थात् दुर्बुद्धिपरायण है। वह केवल नश्वर फलोंको ही प्राप्त करता है, इसलिए यहाँ उसे अल्प बुद्धिविशिष्ट बताया जा रहा है। यदि कोई यह कहे कि भगवान् अपने भक्तोंको नित्यफल और देवपूजकोंको नश्वर फल प्रदान करते हैं, अतः वे समदर्शी नहीं बल्कि पक्षपाती हैं, तो इसके उत्तरमें यह कहा जा सकता है कि जो जिस प्रकारकी कामना करेंगे, वे वैसा फल ही प्राप्त करेंगे—यही न्यायसङ्गत है। क्योंकि, देवता तथा देवलोक—दोनों ही अनित्य हैं, अतः देवपूजक नश्वर लोकमें नश्वर फल प्राप्त करते हैं, किन्तु भगवद्भक्त सच्चिदानन्द भगवान् श्रीकृष्णकी आराधनाकर उनके नित्य धाममें उनकी नित्य सेवा प्राप्त करते हैं। इसलिए बुद्धिमान् व्यक्ति सकाम होनेपर भी नित्य-स्वरूप भगवान्‌को छोड़कर अन्य देवी-देवताओंकी उपासना नहीं करते हैं।।२३।।

अव्यक्तं व्यक्तिमापन्नं मन्यन्ते मामबुद्धयः।
परं भावमजानन्तो ममाव्ययमनुत्तमम्।।२४।।

अन्वय—अबुद्धयः (बुद्धिहीन व्यक्तिगण) मम् (मेरे) अनुत्तमम् (सर्वोत्तम) परम् (सर्वश्रेष्ठ) अव्ययम् (अव्यय) भावम् (मायातीत स्वरूप-जन्म-लीला आदिको) अजानन्तः (न जानते हुए) अव्यक्तम् (प्रपञ्चातीत) माम् (मुझको) व्यक्तिम् आपन्नम् (मायिक मनुष्यादिकी भाँति जन्म ग्रहण करनेवाला) मन्यते (मानते हैं)।।२४।।

अनुवाद—बुद्धिहीन व्यक्तिगण मेरे सर्वोत्तम, सर्वश्रेष्ठ, अव्यय, अप्राकृत स्वरूप-जन्म-लीलादिको नहीं जानकर, प्रपञ्चातीत मुझे मायिक मनुष्यादिकी भाँति जन्म ग्रहण करनेवाला मानते हैं।।२४।।

श्रीविश्वनाथ—देवतान्तरभक्तानामल्पमेधसां वार्त्ता दूरे तावदास्ताम्, वेदादि समस्त शास्त्रदर्शिनोऽपि मत्तत्त्वं न जानन्ति। *"अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय प्रसादलेशानुगृहीत एव हि। जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्।।"* इति ब्रह्मणापि मां प्रत्युक्तम्। अतो मद्भक्तान् विना मत्तत्त्व-ज्ञाने सर्वत्र वाल्पबुद्धयः इत्याह—अव्यक्तं प्रपञ्चातीतं निराकारं ब्रह्मैव मां मायिकाकारत्वेनैव व्यक्तिं वसुदेवगृहे जन्मप्राप्तं निर्बुद्धयो मन्यन्ते, मायिकाकारस्यैव दृश्यत्वादिति भावः; यतो मम परं भावं मायातीतं स्वरूपजन्मकर्मलीलादिकमजानन्तः। भावं कीदृशम्? अव्ययं नित्यमनुत्तमं सर्वोत्कृष्टम् *"भावः सत्ता स्वभावाभिप्रायचेष्टात्मजन्मसु। क्रिया-लीला पदार्थेषु"*इति मेदिनी। भगवत्स्वरूपगुणजन्मकर्मलीलानामनाद्यन्तत्वेन नित्यत्वं श्रीरूपगोस्वामिचरणैर्भागवतामृतग्रन्थे प्रतिपादितम्।*"मम परं भावं स्वरूपमव्ययं नित्यविशुद्धोर्जितसत्त्वमूर्त्तिम्"* इति स्वामिचरणैश्चोक्तम्।।२४।।

भावानुवाद—अल्पमेधावी अन्य देवभक्तोंकी तो बात दूर ही रहे, वेदादि समस्त शास्त्रदर्शी भी मेरा तत्त्व नहीं जानते हैं। "हे देव! हे भगवन्! जिन्होंने आपके पादपद्मोंकी करुणाका कणमात्र भी प्राप्त किया है, एकमात्र वे ही आपका यथार्थ माहात्म्य जानते हैं, उनके अतिरिक्त दीर्घकालतक अनुसन्धान करनेपर भी कोई आपको जाननेमें समर्थ नहीं होता है।" (श्रीमद्भा. १०/१४/२९) यह ब्रह्माने मेरे लिए मुझे कहा है। अतएव मेरे भक्तवृन्दके अतिरिक्त अन्य सभी मेरे तत्त्वज्ञानके सम्बन्धमें अल्पबुद्धि-विशिष्ट हैं। इसीलिए कहते हैं—'अव्यक्तम्' इत्यादि। बुद्धिहीन लोग मुझे अव्यक्त प्रपञ्चातीत निराकार ब्रह्म ही मानते हैं और मेरे इस वर्त्तमान

स्वरूपको मायिक आकारयुक्त तथा वसुदेवके घरमें जन्मप्राप्त समझते हैं। वे मुझे मायिक आकारवाला ही समझते हैं, क्योंकि उन्हें मेरा 'पर भाव' अर्थात् मायातीत स्वरूप, जन्म, कर्म, लीला आदिका ज्ञान नहीं है। कैसा भाव? वह भाव जो नित्य और सर्वोत्कृष्ट है। सत्ता, स्वभाव, अभिप्राय, चेष्टा, जन्म, क्रिया, लीला तथा पदार्थ—ये सभी भाव हैं, ऐसा 'मेदिनी' नामक शब्दकोशमें कहा गया है। श्रील रूपगोस्वामीने (लघु) भागवतामृत ग्रन्थमें प्रतिपादित किया है कि भगवानके स्वरूप, गुण, जन्म, कर्म, लीला आदि अन्तरहित हैं, अतः ये नित्य हैं। श्रीधरस्वामीने भी कहा है—"मेरा परम भाव अर्थात् स्वरूप अव्यय अर्थात् नित्य विशुद्ध उर्जित सत्त्वमूर्त्ति है।"।।२४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—सकाम व्यक्ति तो बुद्धिहीन हैं ही, किन्तु यह बड़े आश्चर्यका विषय है कि वेद-वेदान्तादि शास्त्रोंमें पारङ्गत व्यक्ति भी वेदोंके प्रतिपाद्य सर्वशक्तिमान् सच्चिदानन्दघन श्रीकृष्णके जन्म-कर्मादि लीलामय स्वरूपकी अवज्ञाकर उनके निर्विशेष, अव्यय ब्रह्मस्वरूपको ही सर्वश्रेष्ठ मानकर उसकी ही उपासना करते हैं। यह उनकी निर्बुद्धिताका ही परिचय है।।२४।।

नाहं प्रकाशः सर्वस्य योगमायासमावृतः।
मूढोऽयं नाभिजानाति लोको मामजमव्ययम्।।२५।।

अन्वय—योगमायासमावृतः (योगमाया द्वारा आच्छन्न) अहम् (मैं) सर्वस्य प्रकाशः न (सभीके दृष्टिगोचर नहीं होता हूँ) अयम् (यह) मूढः लोकः (अज्ञानी पुरुष) अजम् (जन्मरहित) अव्ययम् (नित्य) माम् (मुझे) न अभिजानाति (नहीं जान पाता है)।।२५।।

अनुवाद—योगमाया द्वारा आवृत मैं सभीके दृष्टिगोचर नहीं होता हूँ। अज्ञानी मानवगण जन्मरहित तथा नित्य मुझे नहीं जान पाते हैं।।२५।।

श्रीविश्वनाथ—ननु यदि त्वं नित्यरूपगुणलीलोऽसि, तदा ते तथाभूता सार्वकालिकी स्थितिः कथं न दृश्यते? तत्राह—नाहमिति। अहं सर्वस्य सर्वदेशकालवर्त्तिनो जनस्य न प्रकाशो न प्रकटः। यथा गुणलीलापरिकरवत्त्वेन सदैव विराजमानोऽपि कदाचिदेव केषुचिदेव ब्रह्माण्डेषु। किञ्च सूर्यो यथा सुमेरुशैलावरणवशात् सर्वदा लोकदृश्यो न भवति, किन्तु कदाचिदेव तथैवाहमपि योगमायया समावृतः। ननु च ज्योतिश्चक्रवर्त्तमानानां प्राणिनां ज्योतिश्चक्रस्थः ज्योतिश्चक्रमध्ये सामस्त्येन सदैव विराजमानोऽपि सूर्यः

सर्वकालदेशवर्त्तिजनस्य न प्रकटः, किन्तु कदाचित्केषु च भारतादिषु खण्डेषु वर्त्तमानस्य जनस्यैव, तथैवाहमिति। स्वधामसु स्वरूपसूर्यो यथा सदैव दृश्यस्तथैव श्रीकृष्णधामनि मथुराद्वारकादौ स्थितानामिदानीन्तनानां जनानां तत्रस्थः कृष्ण कथं न दृश्यो भवति? उच्यते—यदि ज्योतिश्चक्रमध्ये सुमेरुरभविष्यत्तदा तत्रापि तदावृतः सूर्यो दृश्यो नाभविष्यत्। तत्र तु मथुरादि-कृष्णद्युमणि धामनि सुमेरुस्थानीया योगमायैव सदा वर्त्तते इत्यतस्तदावृतः कृष्णार्कः सदा न दृश्यते, किन्तु कादिचदेवेति सर्वमनवद्यम्। अतो मूढो लोको मां श्यामसुन्दराकारं वसुदेवात्मजमप्यजमव्ययं मायिकजन्मादिशून्यं नाभिजानाति। अतएव कल्याणगुण-वारिधिं माम-प्यन्ततस्त्यक्त्वा मन्निर्विशेषरूपं ब्रह्मैवोपासत इति।।२५।।

भावानुवाद—यदि अर्जुन प्रश्न करे कि अच्छा, आप नित्य रूप, गुण, लीलामय हैं, तो उन लीला आदिकी स्थिति सर्वकालमें क्यों नहीं गोचर होती है, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—'नाहम्' इत्यादि। मैं प्रत्येक देश, प्रत्येक काल और प्रत्येक व्यक्तिके निकट प्रकाशित नहीं होता हूँ। जिस प्रकार निरन्तर विद्यमान रहनेपर भी सूर्य सुमेरु पर्वतके आवरणवश सर्वदा लोगोंके दृष्टिगोचर नहीं होता है, उसी प्रकार मैं गुण, लीला, परिकर आदि सहित नित्य विराजमान रहनेपर भी योगमाया द्वारा आवृत होनेके कारण कभी-कभी किसी-किसी बह्माण्डमें प्रकट होता हूँ, सर्वत्र और सर्वदा नहीं। यदि कहो कि समस्त ज्योतिश्चक्रमें विराजमान होकर भी सूर्य ज्योतिश्चक्रमें विराजमान सर्वकालदेशवर्त्ती लोगोंको गोचर नहीं होता, जैसे कि भारत आदि खण्ड देशोंके भी लोगोंको कभी-कभी दिखाई नहीं देता, उसी प्रकार स्वधाममें स्वरूपसूर्य आप जैसे सर्वदा दृष्टिगोचर हैं, वेसे मथुरा, द्वारका आदि धामसमूहमें स्थित वहाँके लोगोंके निकट अभी क्यों नहीं दृष्ट होते हैं, तो इसका उत्तर है—यदि ज्योतिश्चक्रके बीच सुमेरु पर्वत रहे, तो पर्वतके द्वारा आवृत सूर्य दृष्ट नहीं होगा। मथुरा आदि कृष्णसूर्यके धाममें सुमेरु स्थानीय योगमाया सर्वदा वर्त्तमान है। इसके द्वारा आवृत कृष्णरूप सूर्य निरन्तर दृष्टिगोचर नहीं होता है, किन्तु कभी-कभी उन सबके गोचर होता है। इसलिए मूर्ख लोग मेरे श्यामसुन्दर वसुदेवतनय होनेपर भी अज और अव्यय मुझे मायिक जन्म आदिसे रहित नहीं जान पाते हैं। अतएव वे अन्तमें कल्याणगुणसमुद्र मुझे परित्यागकर मेरे निर्विशेष स्वरूप ब्रह्मकी उपासना करते हैं।।२५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—गोलोक वृन्दावनमें श्रीकृष्ण एवं उनकी लीला नित्य ही प्रकट हैं। वे जगत्के जीवोंके प्रति कृपा परवश होकर कभी-कभी अपनी नित्य-लीला-परिकरोंके साथ अवतीर्ण होकर योगमायाका आश्रय लेकर अपनी नित्य-लीलाओंको भी प्रकट करते हैं। किन्तु, अतत्त्वज्ञ व्यक्ति इस रहस्यको नहीं जान पाते। वे अव्यक्त निर्विशेष ब्रह्मको ही परतत्त्व मानते हैं तथा नाम-रूप-गुण-लीला आदिसे युक्त भगवत्स्वरूपको उस अव्यक्तरूपसे ही व्यक्त हुआ मानते हैं। ऐसे व्यक्तियोंको ही यहाँ मूढ़ बताया गया है। महामाया द्वारा इनकी बुद्धि आच्छादित रहनेके कारण ये मूढ़ हैं। यहाँ यह जान लेना उचित है कि भगवान्की माया दो प्रकारकी है—योगमाया (अन्तरङ्गा) तथा महामाया (बहिरङ्गा)। योगमाया ही भगवान्की अघटन-घटन-पटीयसी स्वरूपशक्ति हैं। इन्हींकी छाया महामाया कहलाती है। इनमें से प्रथम (योगमाया) सर्वज्ञ और सर्वशक्तिमान् भगवान् और उनके परिकरोंको मुग्धकर उनकी लीलाओंका योग या सम्पादन कराती है तथा भक्ति-साधन परायण जीवोंका भगवान्से योग कराती हैं, इसीलिए ये योगमाया कहलाती है। इसके विपरीत महामाया जीव-विमोहिनी होती हैं, ये भगवत्-विमुख जीवोंको मोहितकर नाना-प्रकारके कर्मफलमें आबद्ध रखती हैं। जैसे मेघ सूर्यको नहीं ढक सकता, बल्कि पृथ्वीके जीवोंके चक्षुओंको ही आच्छादितकर सूर्यके दर्शनसे वञ्चित रखता है, उसी प्रकार महामाया भगवान्को आवृत नहीं कर सकती, बल्कि जीवोंके ज्ञानको ही आच्छादितकर उन्हें भगवत्-दर्शनसे वञ्चित करती है।

"मैं 'अव्यक्त' था, वर्तमानमें इस सच्चिदानन्दस्वरूप श्यामसुन्दर रूपमें 'व्यक्त' हुआ हूँ—ऐसा मत समझना। मेरा श्यामसुन्दरस्वरूप 'नित्य' है। यह चिज्जगत्के सूर्यस्वरूप स्वयं प्रतिभात होनेपर भी योगमायारूपी छाया द्वारा जन-साधारणकी दृष्टिसे गुप्त (ओझल) रहता है। इसी कारणसे मूढ़लोग अव्ययस्वरूप मुझको नहीं जान पाते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२५।।

वेदाहं समतीतानि वर्त्तमानानि चार्जुन।
भविष्याणि च भूतानि मां तु वेद न कश्चन।।२६।।

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) अहम् (मैं) समतीतानि (अतीत) वर्त्तमानानि (वर्त्तमान) भविष्याणि च (और भविष्यके) भूतानि च (स्थावर-जङ्गम आदि भूतसमूहको) वेद (जानता हूँ) तु (किन्तु) माम् (मुझे) कश्चन (कोई) न वेद (नहीं जानता है)।।२६।।

अनुवाद—हे अर्जुन! मैं भूत, वर्त्तमान तथा भविष्यके स्थावर जङ्गमादि समस्त भूतोंको जानता हूँ, किन्तु मुझे कोई नहीं जानता है।।२६।।

श्रीविश्वनाथ—किञ्च मायया: स्वाश्रयव्यामोहकत्वाभावात् बहिरङ्गा माया, अन्तरङ्गा योगमाया च मम ज्ञानं नावृणोतीत्याह—वेदाहमिति। मान्तु कश्चन प्राकृतोऽप्राकृतश्च लोको महारुद्रादिर्महासर्वज्ञोऽपि न कात्स्न्र्येन वेद यथायोगं मायया योगमायया च ज्ञानावरणादिति भावः।।२६।।

भावानुवाद—जो माया अपने आश्रयतत्त्व अर्थात् मुझे विमोहित नहीं कर सकती है, वह बहिरङ्गा माया है। अन्तरङ्गा माया मेरे ज्ञान को आवृत नहीं करती है, इसलिए 'वेदाहं' इत्यादि कहा जा रहा है। प्राकृत और अप्राकृत लोक महारुद्रादि महासर्वज्ञ भी मुझे सम्पूर्णरूपसे नहीं जान पाते हैं। जिस मायाके द्वारा भगवान्के साथ भक्तोंका योग होता है, उसे योगमाया कहते हैं। किन्तु, अन्य लोगोंका ज्ञान महामाया द्वारा आवृत होता है, अतः वे मुझे नहीं जान पाते हैं।।२६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यदि यहाँ यह प्रश्न हो कि भगवान् योगमायाके द्वारा आवृत हैं अर्थात् मुग्ध होते हैं, तो जीवकी भाँति उनमें भी अज्ञानताका दोष उपस्थित होता है, तो इसके उत्तरमें कहा जा रहा है कि मेरे तेजके द्वारा अभिभूत मेरे अधीन रहनेवाली माया दूरसे ही यवनिका (पर्दा) के रूपमें मेरी सेवामें नियुक्त रहती है। उस मायाके द्वारा मेरी कोई विकृति नहीं होती। माया भगवान्के ज्ञानको ढक नहीं सकती, इसीको समझानेके लिए श्रीभगवान् पुनः कह रहे हैं कि मैं भूत-भविष्य-वर्त्तमान सब कुछ जानता हूँ, किन्तु साधारण लोगोंकी बात ही क्या महारुद्रादि सर्वज्ञ व्यक्ति भी मुझे सम्पूर्णरूपसे नहीं जान पाते, क्योंकि उनका ज्ञान योगमाया द्वारा आच्छादित रहता है। इसीलिए साधारण लोग कृष्णके इस मध्यमाकार श्यामसुन्दर रूपको नित्य नहीं मानते। यहाँ तक कि कृष्णके निर्विशेष प्रकाशरूप ब्रह्म और अंशस्वरूप परमात्माको जानकर भी योगमायाकी कृपा या आश्रयके बिना श्रीकृष्ण-तत्त्व और उनकी लीलाओंका दर्शन असम्भव है।।२६।।

इच्छाद्वेषसमुत्थेन द्वन्द्वमोहेन भारत।
सर्वभूतानि सम्मोहं सर्गे यान्ति परन्तप।।२७।।

अन्वय—परन्तप (हे परन्तप!) भारत (हे भारत!) सर्गे (सृष्टिकालमें) सर्वभूतानि (समस्त प्राणी) इच्छा-द्वेष-समुत्थेन (इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न) द्वन्द्वमोहेन (सुख-दुःखादि द्वन्द्वरूप मोहसे) सम्मोहम् यान्ति (सम्मोहित होते हैं)।।२७।।

अनुवाद—हे परन्तप! हे अर्जुन! सृष्टिके आरम्भमें समस्त जीव इच्छा और द्वेषसे उत्पन्न सुख-दुःख आदि द्वन्द्व विषयोंसे सम्यक्रूपेण मोहित होते हैं।।२७।।

श्रीविश्वनाथ—तन्मायया जीवाः कदारभ्य मुह्यन्तीत्यपेक्षायामाह—इच्छेति। सर्गे जगत्सृष्ट्यारम्भकाले सर्वभूतानि सर्वे जीवाः सम्मोहयन्ति, केन? प्राचीनकर्मोद्बुद्धौ याविच्छाद्वेषौ इन्द्रियाणामनुकूले विषये इच्छा अभिलाषः, प्रतिकूले द्वेषः, ताभ्यां समुत्थः समुद्भूतो यो द्वन्द्वो मानापमानयोः शीतोष्णाद्योः सुखदुःखयोः स्त्रीपुंसायोर्मोहः 'अहं सम्मानितः सुखी, अहमवमानितो दुःखी, ममेयं स्त्री, ममायं पुरुषः'—इत्याद्याकारक आविद्यको यो मोहस्तेन सम्मोहं स्त्रीपुत्रादिष्वत्यन्तासक्तिं प्राप्नुवन्ति, अतएव अत्यन्तासक्तनां न मद्भक्तावधिकारः, यदुद्धवं प्रति मयैव वक्ष्यते—*"यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्। न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।।"*इति।।२७।।

भावानुवाद—जीवगण कबसे आपकी माया द्वारा मोहित हैं? इस प्रश्नकी अपेक्षाकर श्रीभगवान् 'इच्छा' इत्यादि कह रहे हैं। 'सर्ग' अर्थात् सृष्टिके आरम्भसे समस्त जीव सम्मोहित हो रहे हैं। किसके द्वारा—प्राचीन कर्मोंसे उद्बुद्ध इच्छा और द्वेष द्वारा। इन्द्रियोंके अनुकूल विषयोंके प्रति इच्छा और प्रतिकूल विषयोंके प्रति द्वेष—इन दोनोंसे उत्पन्न द्वन्द्व अर्थात् मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःख, स्त्री-पुरुष—इनसे सम्मोहित हो रहे हैं। 'मैं सम्मानित हूँ, अतः सुखी हूँ', 'मैं अपमानित हूँ, अतः दुःखी हूँ', 'यह रमणी मेरी स्त्री है', 'यह पुरुष मेरा स्वामी है' इत्यादि आकारविशिष्ट अविद्याजनित जो मोह है, उसके द्वारा सम्मोहित हो रहे हैं अर्थात् स्त्री-पुत्रादिमें अत्यन्त आसक्त हो जाते हैं। अतएव अत्यासक्त लोगोंका मेरी भक्तिमें अधिकार नहीं है। जैसा कि उद्धवसे मैंने ही कहा है—"भाग्यक्रमसे जिस पुरुषकी मेरी कथामें श्रद्धा हुई है और जिनका विषयके प्रति वैराग्य या अत्यासक्ति नहीं है, उसी पुरुषको भक्तियोगकी सिद्धि होती है।" (श्रीमद्भा. ११/२०/८)।।२७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जीव मायाके द्वारा मोहित होकर ही परमेश्वरके ज्ञानसे वञ्चित रहता है, उस समय इच्छा-द्वेषसे उत्पन्न द्वन्द्व-मोह द्वारा सम्मोहित होनेसे उसकी कृष्ण-विमुखता और भी गाढ़ी हो जाती है। इसका कारण यह है कि शुद्ध अवस्थामें जीव अपनी चित्-इन्द्रियोंके द्वारा भगवान्के नित्यस्वरूपका दर्शन करता है। किन्तु, बद्ध जीव अविद्याके वशीभूत होनेके

कारण इस जगत्में इच्छा-द्वेषसे उत्पन्न द्वन्द्व-मोहसे सम्मोहित रहता है, उस समय उसको विद्वत् प्रतीति नहीं होती। भगवान् अपनी चित्-शक्तिके बलसे अपने नित्य-स्वरूपको प्रकटित करते हैं और चित्-शक्तिके योगसे ही उनके जड़-नेत्रोंके दृष्टिगोचर होते हैं। तथापि, मायाके द्वारा आच्छन्न होकर वे अविद्वत् प्रतीतिको प्राप्त होकर भगवान्के स्वरूपको अनित्य मानते हैं—यही उनका दुर्भाग्य है।।२७।।

येषान्त्वन्तगतं पापं जनानां पुण्यकर्मणाम्।
ते द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ता भजन्ते मां दृढव्रताः।।२८।।

अन्वय—तु (किन्तु) येषाम् (जिन) पुण्यकर्मणाम् जनानाम् (पुण्यकर्मकारी लोगोंका) पापम् अन्तगतम् (पाप नष्ट हो गया है) ते (वे) द्वन्द्वमोहनिर्मुक्ताः (सुख-दुःखादि मोहसे मुक्त व्यक्तिगण) दृढव्रताः (दृढ़व्रती होकर) माम् (मुझे) भजन्ते (भजते हैं)।।२८।।

अनुवाद—किन्तु, जिन पुण्यकर्मकारी लोगोंका पाप नष्ट हो गया है, वे सुख-दुःखादि मोहसे मुक्त होकर अविचलित चित्तसे मुझे भजते हैं।।२८।।

श्रीविश्वनाथ—तर्हि केषां भक्तावधिकार इत्यत आह—येषां पुण्यकर्मणां पापं त्वन्तं गतमन्तकालं प्राप्तं नश्यदवस्थम्, न तु सम्यक् नष्टमित्यर्थः। तेषां सत्त्वगुणोद्रेके सति तमोगुणह्रासः। तस्मिन् सति तत्कार्यो मोहोऽपि ह्रसति। मोहह्रासे सति ते खल्वत्यासक्तिरहिता यादृच्छिकमद्भक्तसङ्गेन भजन्ते मात्रम्। ये तु भजनाद्यभ्यासतः सम्यक् नष्टपापाः ते मोहेन निःशेषेण मुक्ता दृढ़व्रताः प्राप्तनिष्ठाः सन्तो मां भजन्ते। न चैवं पुण्यकर्मैव सर्वविधाया भक्तेः कारणमिति मन्तव्यम्—*"यं न योगेन सांख्येन दानव्रततपोध्वरैः। व्याख्या-स्वाध्यायसंन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि।।"* इति भगवदुक्तेः। केवलभक्तियोगस्य पुण्यादिकर्माश्रयं नैव कारणमिति बहुशः प्रतिपादनात्।।२८।।

भावानुवाद—पुनः, भक्तिमें किसका अधिकार है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—'येषाम्' इत्यादि। पुण्य कर्मोंसे जिनका पाप भलीभाँति नष्ट हो चुका है, उनमें सत्त्व गुणका उद्रेक होनेसे तमोगुणका ह्रास होता है। तमोगुणके ह्रास होनेसे उनके कार्यभूत मोहका भी ह्रास होता है। मोहके ह्रास होनेसे वे यदृच्छाक्रमसे अत्यासक्तिरहित मेरे भक्तके सङ्गमें मेरा भजन करते हैं। किन्तु भजन-अभ्यासक्रममें जिनकी पापराशि भलीभाँति नष्ट हो चुकी हैं और इस प्रकार जो मोहमुक्त हो चुके हैं, वे दृढ़व्रती होकर मेरा भजन करते हैं। केवल पुण्यकर्म ही सब प्रकारसे भक्तिका कारण नहीं है।

श्रीभगवान्‌ने कहा है—"जिसको योग, सांख्य, दान, व्रत, तपस्या, यज्ञानुष्ठान, शास्त्रालोचना एवं संन्यास द्वारा यत्नशील पुरुष भी नहीं प्राप्त करते हैं।" (श्रीमद्भा. ११/१२/९) पुण्यादि कर्मका आश्रय ही केवल-भक्तियोगका कारण नहीं है—यह बहुत प्रकारसे प्रतिपादित हुआ है।।२८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—बद्ध जीवोंको दो प्रकारसे भगवान्‌के भजनमें ऐकान्तिकता प्राप्त होती है। एक प्रकारके जीव मायाबद्ध होकर कृष्ण-भजन नहीं करनेपर भी यदि सौभाग्यवशतः साधुसङ्गमें भगवान्‌की कथाओंमें श्रद्धान्वित होता है, तो इन कथाओंमें वर्णित उनके नाम-रूप-गुणादिका निरन्तर श्रवणकर पाप, अनर्थ और संसार आसक्तिसे मुक्त होकर उनके प्रति निष्ठा लाभ करता है। इसके बाद वह ऐकान्तिक भक्तिमें प्रवेश करता है। दूसरे वे हैं, जिन्हें विषयोंके प्रति पूर्ण वैराग्य नहीं है, तथापि विषयोंके प्रति अधिक आसक्ति नहीं होती, ऐसे जीव सौभाग्यवश सत्सङ्ग लाभकर भजनमें तत्पर होते हैं, जिसके फलस्वरूप उनके सारे पाप, भोगासक्ति एवं मोह दूर हो जाते हैं और वे भजनमें निष्ठा प्राप्त करते हैं। ऐसी निष्ठा होनेपर वे भी ऐकान्तिकी भक्तिमें प्रवेश करते हैं। केवल महत्पुरुषोंका सङ्ग, उनकी कृपा तथा भजनचेष्टा ही भक्ति प्राप्त करनेके उपाय हैं।

"जिससे मेरे इस 'नित्य' स्वरूपकी विद्वत्प्रतीति प्राप्त करनेका अधिकार प्राप्त होता है—उसे श्रवण करो। पापाविष्ट असुर स्वभाववाले लोगोंको विद्वत्-प्रतीति नहीं होती है। जो धर्मसङ्गत जीवन स्वीकारकर प्रभूत पुण्य कर्मोंके द्वारा अपने जीवनसे पापोंको पूर्णरूपेण समाप्तकर चुके हैं, वे ही सर्वप्रथम कर्मयोग स्वीकार करते हैं, बादमें ज्ञान और अन्तमें ध्यानयोग द्वारा समाधिक्रमसे मेरे चित्-तत्त्वको देख पाते हैं। विद्या द्वारा जो प्रतीति होती है, वही 'विद्वत्-प्रतीति' है। वे ही क्रमशः द्वैत-अद्वैतरूप द्वन्द्वसे मुक्त और दृढ़व्रती होकर मेरा भजन करते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२८।।

जरामरणमोक्षाय मामाश्रित्य यतन्ति ये।
ते ब्रह्म तद्विदुः कृत्स्नमध्यात्मं कर्म चाखिलम्।।२९।।

अन्वय—ये (जो) जरा-मरण-मोक्षाय (जरा और मरणसे मुक्त होनेके लिए) माम् (मुझे) आश्रित्य (आश्रयकर) यतन्ति (यत्न करते हैं) ते (वे) तत् ब्रह्म (उस ब्रह्मको) कृत्स्नम् (समस्त) अध्यात्म् (जीवात्माको) अखिलम् कर्म च (और सम्पूर्ण कर्मको अर्थात् नाना प्रकारके कर्म तथा इसके फलस्वरूप संसारप्राप्तिको) विदुः (जानते हैं)।।२९।।

अनुवाद—जो जरा-मरणसे मुक्त होनेके लिए मेरा आश्रयकर साधन करते हैं, वे उस ब्रह्मको, शुद्ध जीवात्मस्वरूपको एवं संसार-बन्धनरूप समस्त कर्मोंको जानते हैं।।२९।।

श्रीविश्वनाथ—तदेवमार्त्ताद्यास्त्रयः सकामा मां भजन्तः कृतार्था भवन्तीति। देवतान्तरं भजन्तस्तु च्यवन्ते इत्युक्त्वा स्वस्याभजनेऽप्यधिकारिणश्चोक्ता भगवता। इदानीमन्यः सकामः चतुर्थोऽपि मद्भक्तोऽस्तीत्याह—जरेति। जरामरणयोर्मोक्षाय नाशाय ये योगिनो यतन्ति यतन्ते, ये मोक्षकामा मां भजन्तीति फलितोऽर्थः, ते तत्प्रसिद्धं ब्रह्म तथा कृत्स्नमात्मानं देहमधिकृत्य—भोक्तृतया वर्त्तमानमध्यात्मं जीवात्मानञ्च अखिलं कर्म नानाविधकर्मजन्यं जीवस्य संसारञ्च मद्भक्तिप्रभावादेव विदुर्जानन्ति।।२९।।

भावानुवाद—श्रीभगवान्ने पहले बताया कि आर्त्तादि सकाम भक्तगण मेरा भजनकर कृतार्थ होते हैं, किन्तु अन्य देवताओंका भजनकर पतित होते हैं अर्थात् संसार प्राप्त करते हैं। ऐसा कहकर वे अपने अभजनमें भी अपनी बात बता रहे हैं—यहाँ भगवान् चतुर्थ प्रकारके अपने सकाम भक्तका उल्लेख कर रहे हैं। जो समस्त योगी जरा-मरणके नाशके लिए प्रयत्न करते हैं अर्थात् जो मोक्षार्थी होकर मेरा भजन करते हैं, फलस्वरूप मेरी भक्तिके प्रभावसे ही प्रसिद्ध ब्रह्म, अध्यात्म अर्थात् समग्र आत्मा या देहको अधिकारकर भोक्तृत्वभावसे विद्यमान जीवात्मा तथा निखिल कर्म अर्थात् अन्य जीवोंके संसार-प्राप्तिके विषयको जान सकते हैं।।२९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान्ने पहले यह बताया कि आर्त्त आदि तीन प्रकारके सकाम भक्त मेरा भजनकर पहले अपने अभिलषित भोगोंको प्राप्त करते हैं, पुनः उन भोगोंको भोगकर, उनको दुःखमय एवं आत्मपतनका कारण जानकर उनसे विरक्त होते हैं। अन्तमें साधुसङ्ग लाभकर कृतार्थ होते हैं तथा ऐकान्तिकी भक्तिद्वारा मेरी सेवा प्राप्त करते हैं। वर्त्तमान श्लोकमें भगवान् चतुर्थ प्रकारके भक्त अर्थात् मोक्षकामी सकाम भक्तोंके विषयमें बता रहे हैं। ऐसे सकाम भक्त शुद्ध भगवद्भक्तोंका सङ्ग लाभकर ब्रह्म सायुज्यके प्रति निस्पृह होकर भगवत्-दास्यरूप अपने शुद्ध स्वरूपमें प्रतिष्ठित होनेकी कामना करते हैं। ऐसे ही सकाम ज्ञानी भक्त यथार्थ मुमुक्षु हैं, ऐसे ही ब्रह्मभूत ज्ञानी भक्त ब्रह्मतत्त्व, अध्यात्मतत्त्व और कर्मतत्त्वसे पूर्णरूपेण अवगत होकर पराभक्ति लाभ करते हैं।।२९।।

साधिभूताधिदैवं मां साधियज्ञञ्च ये विदुः।
प्रयाणकालेऽपि च मां ते विदुर्युक्तचेतसः॥३०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'विज्ञानयोगो' नाम सप्तमोऽध्यायः॥

अन्वय—ये च (और जो) साधिभूताधिदेवम् (अधिभूत और अधिदैवसहित) माम् (मुझे) विदुः (जानते हैं) ते (वे) युक्तचेतसः (मुझमें आसक्त चित्तवाले) प्रयाणकाले अपि (मरणकालमें भी) माम् (मुझे) विदुः (जानते हैं)॥३०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'विज्ञानयोगो' नाम सप्तमोऽध्यायस्यान्वयः॥

अनुवाद—जो समस्त व्यक्ति मुझे अधिभूत, अधिदैव ओर अधियज्ञके साथ जानते हैं, मुझमें आसक्तचित्त वे व्यक्ति अन्तकालमें भी मुझे जानते हैं अर्थात् मृत्युकालमें भी मेरा स्मरण कर पाते हैं॥३०॥

श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तम अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—मद्भक्तिप्रभावात् येषामीदृशं मज्ज्ञानं स्यात्तेषामन्तकालेऽपि तदेव ज्ञानं स्यात्, न त्वन्येषामिव कर्मोपस्थापिता भाविदेहप्राप्त्यनुरूपा मतिरित्याह—साधिभूतेति। अधिभूतादयोऽग्रिमाध्याये व्याख्यास्यन्ते। भक्ता एव हरेस्तत्त्वविदो मायां तरन्ति, ते चोक्ताः षड्विधाः अत्रेत्यध्यायार्थो निरूपितः॥३०॥

इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु सप्तमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥

भावानुवाद—मेरी भक्तिके प्रभावसे जिनको मेरे सम्बन्धमें ज्ञान लाभ हुआ है, अन्तकाल पर्यन्त भी उनको वही ज्ञान वर्त्तमान रहता है, दूसरोंकी भाँति कर्म द्वारा उपस्थापित भावी देहप्राप्तिके अनुरूप उनकी बुद्धि नहीं होती है। इसीलिए 'साधिभूत' इत्यादि कह रहे हैं। 'अधिभूत' इत्यादिकी व्याख्या अगले अध्यायमें होगी॥३०॥

श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तम अध्यायकी साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तम अध्यायकी सारार्थवर्षिणी
टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीभगवान् कह रहे हैं—जो लोग भक्तिके प्रभावसे अधिभूत तत्त्व, अधिदैव तत्त्व और अधियज्ञ तत्त्वके साथ मुझे जानते हैं, वे मरणकालमें भी मुझे स्मरण कर सकते हैं। वे मृत्युके भयसे कातर होकर मुझे भूल नहीं जाते।।३०।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तम अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

सप्तम अध्याय समाप्त।

अष्टमोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—
किं तद् ब्रह्म किमध्यात्मं किं कर्म पुरुषोत्तम।
अधिभूतञ्च किं प्रोक्तमधिदैवं किमुच्यते।।१।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) पुरुषोत्तम (हे पुरुषोत्तम!) तत् ब्रह्म किम् (वह ब्रह्म क्या है) अध्यात्मम् किम् (अध्यात्म क्या है) कर्म किम् (कर्म क्या है) अधिभूतम च किम् प्रोक्तम् (और अधिभूत किसे कहते हैं) अधिदैवम् किम् उच्यते (अधिदैव किसे कहते हैं)।।१।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे पुरुषोत्तम! ब्रह्म क्या है, अध्यात्म क्या है, कर्म क्या है और अधिभूत तथा अधिदैव किसे कहते हैं?।।१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस अध्यायके प्रथम दो श्लोकोंमें अर्जुनने कुल सात प्रश्न किए हैं। पूर्व अध्यायके अन्तमें वर्णित ब्रह्म, अधिभूत, अधिदैव और अधियज्ञ—इन छः शब्दोंका यथार्थ तात्पर्य और प्रयाणकालमें नियतात्म पुरुषगण आपको किस प्रकार जानते हैं—ये सात प्रश्न किए हैं।

भगवान् श्रीकृष्णने इस पूरे अध्यायमें इन्हीं तत्त्वोंका विशद विवेचन करते हुए अर्जुनके समस्त प्रश्नोंका उत्तर दिया है।।१।।

अधियज्ञः कथं कोऽत्र देहेऽस्मिन् मधुसूदन।
प्रयाणकाले च कथं ज्ञेयोऽसि नियतात्मभिः।।२।।

अन्वय—मधुसूदन (हे मधुसूदन!) अत्र देहे (इस देहमें) अधियज्ञः कः (यज्ञके अधिष्ठाता कौन हैं) अस्मिन् (इस देहमें) कथम् (किस प्रकार) स्थितः (अवस्थित हैं) च (एवं) प्रयाणकाले (मृत्युके समय) नियतात्मभिः (संयत चित्तवाले पुरुषोंके द्वारा) कथम् (किस उपायसे) ज्ञेयः असि (ज्ञात होते हैं)।।२।।

अनुवाद—हे मधुसूदन! इस देहमें यज्ञके अधिष्ठाता कौन हैं, वे किस प्रकार अवस्थित हैं एवं वे मृत्युके समय संयतचित्तवाले पुरुषोंको किस उपायसे ज्ञात होते हैं?।।२।।

श्रीविश्वनाथ— *पार्थप्रश्नोत्तरं योगं मिश्रां भक्तिं प्रसङ्गतः।*
शुद्धाञ्च भक्तिं प्रोवाच द्वे गती अपि चाष्टमे।।

पूर्वाध्यायान्ते ब्रह्मादिसप्तपदार्थानां ज्ञानं भगवतोक्तम्। अत्र तेषां तत्त्वं जिज्ञासुः पृच्छति द्वाभ्याम्—अत्र देहे कोऽधियज्ञो यज्ञाधिष्ठाता स चास्मिन् देहे कथं ज्ञेय इत्युत्तरस्यानुषङ्गी।।१-२।।

भावानुवाद—अष्टम अध्यायमें श्रीभगवान्ने पार्थके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए योग एवं प्रसंङ्गवशतः योगमिश्रा भक्ति एवं शुद्धा भक्ति—इन दोनोंके सम्बन्धमें बताया है।

पिछले अध्यायके अन्तमें श्रीभगवान्ने ब्रह्मादि सात पदार्थोंके विषयमें बताया। इस अध्यायमें उन तत्त्वोंकी जिज्ञासासे अर्जुन 'किन्तद्' इत्यादि दो श्लोकोंको कह रहे हैं। इस देहमें अधियज्ञ अर्थात् यज्ञके अधिष्ठाता कौन हैं, इस देहमें उन्हें किस प्रकार जाना जाता है? यही उत्तरका अनुषङ्गी है।।१-२।।

श्रीभगवानुवाच—
अक्षरं परमं ब्रह्म स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते।
भूतभावोद्भवकरो विसर्गः कर्मसंज्ञितः।।३।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) अक्षरम् परमम् (परम अक्षर वस्तु) ब्रह्म (ब्रह्म है) स्वभावः (जीव) अध्यात्मम् उच्यते (अध्यात्म कहलाता है) भूतभावोद्भवकरः (जीवोंके देहादिकी उत्पत्ति तथा वृद्धि करनेवाला) विसर्गः (जीवका संसार) कर्मसंज्ञितः (कर्म नामसे अभिहित होता है)।।३।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—नित्य अक्षर अर्थात् विनाशरहित परम तत्त्व ही ब्रह्म है, शुद्ध जीव अध्यात्म कहलाता है तथा जीवोंकी उत्पत्ति और वृद्धि करनेवाला संसार ही 'कर्म' संज्ञासे अभिहित होता है।।३।।

श्रीविश्वनाथ—उत्तरमाह—अक्षरमिति। न क्षरतीत्यक्षरं; नित्यं यत् परमं तद्ब्रह्म-*"एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्ति"* इति श्रुतेः। स्वभावः स्वमात्मानं देहाध्यासवशाद्भावयति जनयतीति स्वभावो जीवः, यद्वा, स्वं भावयति परमात्मानं प्रापयतीति। 'स्वभावः' शुद्धजीवोऽध्यात्ममुच्यते-अध्यात्म-शब्दवाच्य इत्यर्थः। भूतैरेव भावानां मनुष्यादिदेहानामुद्भवं करोतीति। स विसर्गो जीवस्य संसारः कर्मजन्यत्वात् कर्मसंज्ञः कर्मशब्देन जीवस्य संसार उच्यते इत्यर्थः।।३।।

भावानुवाद—अर्जुनके प्रश्नोंका उत्तर देते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—जिसका क्षय नहीं है अर्थात् जो अक्षर है तथा जो नित्य परम है, वह

ब्रह्म है—"हे गार्गि! ब्राह्मणगण इसे अक्षर कहते हैं।" (वृ. उ. ३/८/८) 'स्वभावः'—जो देहाध्यासवश 'स्वं' अर्थात् आत्माको 'भावयति' अर्थात् सृष्ट करते हैं, वे 'स्वभाव अर्थात् जीव हैं। अथवा, जो स्वं—स्वयंकी भावना कर परमात्माको प्राप्त करते हैं, वे हैं—स्वभाव अर्थात् जीव। 'स्वभावः' अर्थात् शुद्ध जीव अध्यात्म कहलाता है। 'भूतोद्भवकरः'—भूतगणके द्वारा भावसमूह अर्थात् मनुष्यादि देहसमूहको उत्पन्न करनेवाला है, वह विसर्ग जीवका संसार है। कर्मसे जीवका संसार उत्पन्न होता है। जीवके संसारको कर्म कहा गया है।।३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

ब्रह्म—जिनका 'क्षर' अर्थात् च्युति नहीं हैं, उनको अक्षर कहते हैं। उन नित्य, विनाशरहित तथा अवस्थान्तरशून्य अक्षर तत्त्वको ही 'परब्रह्म' कहते हैं। यहाँ चित्-सविशेषमय भगवत्स्वरूप श्रीकृष्णको ही परब्रह्म समझना चाहिए। यद्यपि अक्षर तत्वसे ब्रह्म, परमात्मा तथा स्वयं भगवान्—तीनोंका बोध होता है, तथापि यहाँ 'अक्षर' शब्दसे परब्रह्म स्वयं भगवान् ही अभिप्रेत हैं। इस विषयकी विशेष जानकारीके लिए गीताके (१५/१६-१८) श्लोक आलोचनीय हैं। श्रीमद्भागवत ब्रह्मस्तुति (१०/१४/३२) में भी यही प्रतिपादित हुआ है—*'यन्मित्रं परमानन्दं पूर्णं ब्रह्म सनातनम्'* अर्थात् परमानन्दस्वरूप, सनातन एवं पूर्णब्रह्म श्रीकृष्ण जिनके मित्र हैं।

चैतन्य चरितामृतमें भी ऐसा ही उद्धृत है—*'अहमिह नन्दं वन्दे यस्यालिन्दे परं ब्रह्म'* अर्थात् मैं उन नन्दमहाराजकी नित्य वन्दना करता हूँ, जिनके आँगनमें परब्रह्म नन्दनन्दनके रूपमें क्रीड़ा कर रहे हैं।

अध्यात्म—अध्यात्म शब्दसे 'स्वभाव' अर्थात् स्व-भावमें प्रतिष्ठित जड़सम्बन्धशून्य शुद्ध जीवका बोध होता है। 'स्वं भावयति' अर्थात् देहाभासके द्वारा (देहात्मबुद्धिके कारण) स्थूल शरीरमें 'मैं' की भावना करनेवाला ही स्वभाव है। अथवा, 'स्व भावयति' अर्थात् भगवान्‌की भक्तिका अनुशीलन करनेवाला 'स्वभाव' (जीव) कहलाता है। श्रीपाद बलदेव विद्याभूषणने भी 'स्वभाव' का अर्थ जीवात्मा ही किया है—'जीवात्मनः सम्बन्धी यो भावो.. ..' अर्थात् जीवात्मा सम्बन्धी भावको स्वभाव कहते हैं। वही जीवात्मा देहका आश्रयकर अपनेको विषयोंका भोक्ता समझता है, इसलिए अध्यात्म शब्दसे जीवको अभिहित किया गया है।

विसर्ग—देवताओंके उद्देश्यसे द्रव्य-दानादिरूप यज्ञ, जिससे स्थूल-सूक्ष्म भूतों द्वारा जीवके मनुष्य इत्यादि स्थूल शरीर निर्माणरूप संसारकी सृष्टि होती है। इसीको 'विसर्ग' समझना चाहिए।।३।।

अधिभूतं क्षरो भावः पुरुषश्चााधिदैवतम्।
अधियज्ञोऽहमेवात्र देहे देहभृतां वर ।।४।।

अन्वय—देहभृताम् वर (हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन!) क्षरः भावः (नश्वर पदार्थ) अधिभूतम् (अधिभूत है) पुरुषः च (एवं विराट पुरुष) अधिदैवतम् (देवताओंके अधिपति हैं) अत्र देहे (इस देहमें) अहम् एव (मैं ही) अधियज्ञः (अधियज्ञ हूँ अर्थात् अन्तर्यामीरूपमें यज्ञादि कर्मका प्रवर्त्तक हूँ)।।४।।

अनुवाद—हे देहधारियोंमें श्रेष्ठ अर्जुन! सभी नश्वर पदार्थ अधिभूत हैं, विराट पुरुष अधिदैव अर्थात देवताओंके अधिपति हैं तथा मैं ही इस शरीरमें अधियज्ञ अर्थात् अन्तर्यामीरूपमें यज्ञादि कर्मोंका प्रवर्त्तक हूँ।।४।।

श्रीविश्वनाथ—क्षरो नश्वरो भावः पदार्थो घटपटादिरधिभूतमधिभूतशब्दवाच्यः, पुरुषः समष्टि-विराट, अधिदैवतमधिदैवतशब्दवाच्यः—*"अधिकृत्य वर्त्तमानानि सूर्यादिदैवतानि यत्र"* इति तन्निरुक्तेः। अत्र देहेऽधियज्ञो यज्ञादिकर्मप्रवर्त्तकोऽतन्र्याम्यहं मदंशकत्वादहमेवेत्येवकारेण कथं ज्ञेय इत्यस्योत्तरमन्तर्यामित्वेऽहमेव, मदभिन्नत्वे नैव ज्ञेयः, न त्वध्यात्मादिरिव मद्भिन्नत्वेनेत्यर्थः। देहे देहभृतां वरेति त्वन्तु साक्षान्मत्सखत्वात् सर्वश्रेष्ठ एव भवसीति भावः।।४।।

भावानुवाद—घट-पटादि नश्वर पदार्थ 'अधिभूत' शब्द-वाच्य हैं। निरुक्त (वैदिक शब्दकोश) के अनुसार—जो सूर्यादि देवताओंपर अधिकारकर वर्तमान हैं, वे अधिदैव हैं। यज्ञादि कर्म प्रवर्त्तक अन्तर्यामी अर्थात् अंशरूपमें मैं ही अधियज्ञ हूँ। 'अहमेव' इस पदके 'एव'—कारके द्वारा 'किस प्रकार'—इस संशयका समाधान करते हुए कहते हैं—अभिन्न-स्वरूप अन्तर्यामी रूपमें मैं ही ज्ञेय हूँ। 'अध्यात्म' अर्थात् जीवादिकी भाँति मेरा अंशरूप अन्तर्यामी मुझसे भिन्न नहीं हैं। किन्तु, तुम देहधारियोंमें सर्वश्रेष्ठ हो, क्योंकि तुम मेरे सखा हो।।४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ श्रीभगवान् अर्जुनके तीन प्रश्नोंका उत्तर इस प्रकार दे रहे हैं—

अधिभूत—क्षण-क्षण परिवर्त्तनशील एवं विनाशी स्थूल देहसमूह प्राणियोंका अवलम्बनकर वर्त्तमान रहते हैं, इसलिए घट-पट आदि नश्वर पदार्थोंको 'अधिभूत' कहते हैं।।

अधिदैव—समष्टिस्वरूप विराट पुरुष आदित्य आदि देवताओंपर अधिकारकर वर्तमान रहते हैं, इसलिए उन्हें 'अधिदैव' कहा जाता है।

अधियज्ञ—जीवोंके शरीरमें अन्तर्यामी रूपमें यज्ञादि कर्मप्रवर्त्तक और उसके फलप्रदाताके रूपमें अवस्थित पुरुष ही अधियज्ञ हैं। ये अन्तर्यामी पुरुष कृष्णके स्वांश-तत्त्व हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्में कहा गया है—

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।'

(श्वे. उ. ४/६)

अर्थात्, क्षीरोदशायी पुरुष और जीव उस अनित्य संसाररूप पीपलके वृक्षके ऊपर सखाकी तरह वास करते हैं। उन दोनोंमें से एक अर्थात् जीव अपने कर्मके अनुसार उस वृक्षके फलोंको चख रहा है और दूसरे अर्थात् परमात्मा उन फलोंका भोग न कर साक्षीस्वरूप केवल देख रहे हैं।

श्रीमद्भागवत (२/२/८) में भी श्रीशुकदेव गोस्वामी ऐसा ही कह रहे हैं—*'केचित् स्वदेहान्तर्हृदयावकाशे प्रादेशमात्रं पुरुषं वसन्तम्'* अर्थात् कोई कोई योगी पुरुष अपने अन्तःकरणरूप गुहामें विराजित प्रादेशमात्र पुरुषको स्मरण करते हैं। 'प्रादेशमात्र' शब्दका अर्थ श्रीधरस्वामीने 'अँगूठेसे तर्जनीकी शेष सीमा' किया है। श्रीचक्रवर्त्ती ठाकुरने कहा है—वे उतने ही प्रदेशमें अचिन्त्य शक्ति द्वारा पन्द्रह वर्षीय किशोरके रूपमें अवस्थित हैं। पुनः कठोपनिषद् (२/१/१२) में कथित है—*'अङ्गुष्ठमात्रः पुरुषो मध्य आत्मनि तिष्ठति'*।

इन समस्त प्रमाणोंसे यह प्रमाणित होता है कि अन्तर्यामी परमात्मा साधारण जीवोंके हृदयमें अङ्गुष्ठमात्र प्रदेशमें स्थित हैं, किन्तु विशेष भक्तोंके लिए ये कृष्ण ही पन्द्रह वर्षीय किशोरके रूपमें अवस्थित हैं। जैसे—बिल्वमङ्गलके हृदयमें स्थित अन्तर्यामी पुरुष दिव्य किशोरावस्थावाले श्रीकृष्ण ही हैं—

'चिन्तामणिर्जयति सोमगिरिगुरुर्मे शिक्षागुरुश्च भगवान् शिखिपिच्छ मौलिः'

(कृ. क. १)

अर्थात्, सर्वाभीष्टप्रदाता गुरुरूपा चिन्तामणि एवं सोमगिरि नामक गुरु जययुक्त हों तथा मेरे हृदयमें विराजमान शिक्षागुरु मयूरपिच्छधारी भगवान् श्रीकृष्ण जययुक्त हों। अर्जुनके हृदयस्थित अन्तर्यामी पुरुष उनके रथमें विराजमान स्वयं किशोर कृष्ण हैं।।४।।

अन्तकाले च मामेव स्मरन् मुक्त्वा कलेवरम्।
यः प्रयाति स मद्भावं याति नास्त्यत्र संशयः।।५।।

अन्वय—अन्तकाले च (अन्तकालमें भी) मामेव (मुझे ही) स्मरन् (स्मरण करते हुए) कलेवरम् मुक्त्वा (शरीरको त्यागकर) यः (जो) प्रयाति (प्रकृष्टरूपसे गमन करते हैं) सः (वे) मद्भावम् (मेरे भावको) याति (प्राप्त होते हैं) अत्र संशयः नास्ति (इसमें सन्देह नहीं है)।।५।।

अनुवाद—जो अन्तिम कालमें भी मुझे ही स्मरण करते हुए अपने शरीरको त्यागकर प्रस्थान करते हैं, वे मेरे भावको प्राप्त होते हैं, इसमें कोई संदेह नहीं है।।५।।

श्रीविश्वनाथ—प्रयाणकाले कथं ज्ञेयोऽसीत्यस्योत्तरमाह—अन्तकाले चेति। मामेव स्मरन्निति मत्स्मरणमेव मज्ज्ञानम्, न तु घटपटादिरिवाहं केनापि तत्त्वतो ज्ञातुं शक्य इति भावः। स्मरणरूपज्ञानस्य प्रकारस्तु चतुर्थश्लोके वक्ष्यते।।५।।

भावानुवाद—आप प्रयाणकालमें किस प्रकार ज्ञेय होते हैं? अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—मेरा स्मरण ही मेरा ज्ञान है, किन्तु घट-पट आदिकी भाँति कोई भी मुझे तत्त्वतः नहीं जान सकता है। स्मरणरूप ज्ञान कितने प्रकारका होता है—इसे चार श्लोकोंमें बताया जाएगा।।५।।

यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम्।
तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः।।६।।

अन्वय—कौन्तेय! (हे कुन्तीपुत्र!) [यः—जो] अन्ते (अन्तकालमें) यम् यम् अपि वा भावम् (जिस जिस विषयकी) स्मरन् (चिन्ता करते हुए) कलेवरम् त्यजति (शरीर त्याग करते हैं) सदा (सर्वदा) तद्भावभावितः (उसी विषयके चिन्तनमें तन्मय) (सः—वे) तम् तम् एव (उसी उसी भावको) एति (प्राप्त होते हैं)।।६।।

अनुवाद—हे कौन्तेय्! जो अन्तकाल में जिस जिस विषयकी चिन्ता करते हुए शरीर त्याग करते हैं, सर्वदा उसीके चिन्तनमें तन्मय वे उसी उसी भावको प्राप्त होते हैं।।६।।

श्रीविश्वनाथ—मामेव स्मरन्मां प्राप्नोतीतिवन्मदन्यमपि स्मरन्मदन्यमेव प्राप्नोतीत्याह—यं यमिति। तस्य भावेन भावनेनानुचिन्तनेन भावितो वासितस्तन्मयीभूतः।।६।।

भावानुवाद—जिस प्रकार मुझे स्मरणकर मुझे प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार अन्यको स्मरणकर अन्यको ही प्राप्त होते हैं। इसीलिए श्रीभगवान् 'यं यं' इत्यादि कह रहे हैं। क्योंकि वे उसकी भावना अर्थात् अनुचिन्ता द्वारा तन्मयीभूत हैं।।६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जिस प्रकार मृत्युके समय भगवत्-स्मरणसे भगद्भावकी प्राप्ति होती है, उसी प्रकार अन्यान्य वस्तुओंके स्मरणसे भी वैसे ही भावोंकी प्राप्ति होती है। जैसे महाराज भरतने मृत्युके समय मृगशावकका चिन्तन करनेके कारण अगले जन्ममें मृगका शरीर प्राप्त किया। इसलिए मृत्युकालमें दूसरे विषयोंका स्मरण न हो, केवल भगवान्का स्मरण हो, उसके लिए प्रयत्न करना कर्त्तव्य है। यद्यपि भरत महाराज भावावस्था प्राप्त उच्च कोटिके भक्त थे तथापि भगवत्-इच्छासे लोकशिक्षाके लिए वे मृग-शिशुके रूपमें पैदा हुए। वे जातस्मर होनेके कारण दूसरे और तीसरे जन्मोंमें विषयी लोगोंका सङ्ग न कर भक्तिके अनुशीलनमें ही तत्पर रहे। कर्मफलबाध्य साधारण जीवोंको भरत महाराजके दृष्टान्तसे शिक्षा ग्रहण करनी चाहिए तथा उन्हें भी अपने समान कर्मफलबाध्य मानकर उनके चरणोंमें अपराध नहीं करना चाहिए। श्रीमद्भागवतके पुरञ्जन उपाख्यानमें यह दिखाया गया है कि पुरञ्जन अन्त समयमें किस प्रकार स्त्रीकी चिन्ता करते-करते स्त्रीयोनिको प्राप्त हुए। यही नहीं हमलोग जीवनभर जो कुछ करते हैं, अन्तिम समयमें वैसी ही स्मृति होती है और उसीके अनुरूप अगला जीवन प्राप्त होता है। इसलिए साधकोंको इस जीवनमें श्रीहरिनाम और शुद्धभक्तिका ही अनुशीलन करना चाहिए, जिससे अन्तिम समयमें भगवत्-स्मृति प्रबल होकर हमारे कल्याणका मार्ग प्रशस्त करेगी।।६।।

तस्मात्सर्वेषु कालेषु मामनुस्मर युध्य च।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मामेवैष्यस्यसंशयः ।।७।।

अन्वय—तस्मात् (अतः) सर्वेषु कालेषु (सर्वदा) माम् (मेरा) अनुस्मर (स्मरण करो) युध्य च (और युद्ध करो) मयि (मुझमें) अर्पितमनोबुद्धिः (मन और बुद्धि समर्पित करनेसे) माम् एव (मुझे ही) असंशयः (निःसन्देह) एष्यसि (पाओगे)।।७।।

अनुवाद—अतः निरन्तर मुझे स्मरण करो एवं युद्ध करो। मन और बुद्धि मुझमें समर्पित करनेसे निःसन्देह मुझे ही प्राप्त होओगे।।७।।

श्रीविश्वनाथ—मनः सङ्कल्पकात्मकम्, बुद्धिर्व्यवसायात्मिका।।७।।

भावानुवाद—मन—सङ्कल्पात्मक, बुद्धि—व्यवसायात्मिका।।७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अतएव तुम सर्वदा ही मेरे परब्रह्म भावका स्मरण करते हुए अपना स्वभावविहित कार्य अर्थात् युद्ध करो। इससे तुम्हारा सङ्कल्पात्मक मन और व्यवसायात्मिका बुद्धि मुझमें अर्पित होगीं और तुम मुझे ही प्राप्त करोगे।।७।।

अभ्यासयोगयुक्तेन चेतसा नान्यगामिना।
परमं पुरुषं दिव्यं याति पार्थानुचिन्तयन्।।८।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) अभ्यासयोगयुक्तेन (अभ्यासयोगसे युक्त) न अन्यगामिना (कहीं और न जानेवाले) चेतसा (चित्तसे) दिव्यम् परमम् पुरुषम् (दिव्य परम पुरुषका) अनुचिन्तयन् (निरन्तर चिन्तन करते-करते) तमेव (उन्हें ही) याति (प्राप्त होता है)।।८।।

अनुवाद—हे पार्थ! अभ्यासयोगसे युक्त तथा कहीं और न जानेवाले चित्तसे निरन्तर दिव्य परम पुरुषका चिन्तन करते-करते उन्हें ही प्राप्त होता है।।८।।

श्रीविश्वनाथ—तस्मात् स्मरणाभ्यासिन एवान्तकाले स्वतएव मत्स्मरणं भवति, तेन च मां प्राप्नोतीत्यतश्चेतसो मत्स्मरणमेव परमो योग इत्याह—अभ्यासयोग इति। अभ्यासो मत्स्मरणस्य पुनः पुनरावृत्तिरेव योगस्तद्युक्तेन चेतसा, अतएव नान्यं विषयं गन्तुं शीलं यस्य तेन स्मरणाभ्यासेन चित्तस्य स्वभावविजयोऽपि भवतीति भावः।।८।।

भावानुवाद—इसलिए स्मरणका अभ्यास करनेवालेको अन्तकालमें स्वतः ही मेरा स्मरण होता है और वे इस प्रकार मुझे प्राप्त करते हैं। अतः मेरा स्मरण ही चित्तका परम योग है। इसीलिए 'अभ्यास योग' इत्यादि कह रहे हैं। 'अभ्यासः'—मेरे स्मरणकी पुनः पुनः आवृति ही अभ्यासयोग है। अतएव ऐसे अभ्यासयोगसे युक्त चित्त द्वारा जिनका अन्य विषयोंकी और धावित होनेका स्वभाव नहीं है, उस चित्तसे मेरा निरन्तर स्मरण करना चाहिए। उस स्मरणके अभ्याससे चित्तके स्वभावपर विजय प्राप्त होती है।।८।।

सा. व. प्रकाशिका. वृत्ति—अविच्छिन्न तैलधारावत् निरन्तर भजनकी प्राप्तिके लिए अभ्यासयोगका अवलम्बन करना आवश्यक है। इसलिए अभ्यासयोगके द्वारा अन्यान्य विषयोंसे प्रत्याहारपूर्वक (हटाकर) चित्तको भगवत्-स्मरणमें नियुक्त करना चाहिए। ऐसा होनेसे विक्षिप्त चित्तको जीतकर निरन्तर भगवत्-स्मरणके द्वारा अन्तिम समयमें अनायास ही भगवत्-स्मरण उपस्थित हो जाता है। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा कहा गया है—*'अभ्यासेनात्मनो योगी धारयेदचलं मनः'* अर्थात् अभ्यास द्वारा योगीपुरुष मनको स्थिर करेंगे। इस प्रसङ्गमें गीताका श्लोक (१२/९) द्रष्टव्य है।।८।।

कविं पुराणमनुशासितारमणोरणीयांसमनुस्मरेद् यः।
सर्वस्य धातारमचिन्त्यरूपमादित्यवर्णं तमसः परस्तात्।।९।।
प्रयाणकाले मनसाऽचलेन भक्त्या युक्तो योगबलेन चैव।
भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य सम्यक् स तं परं पुरुषमुपैति दिव्यम्।।१०।।

अन्वय—यः (जो) कविम् (सर्वज्ञ) पुराणम् (अनादि) अनुशासितारम् (सबके नियन्ता) अणोः अणीयांसम् (सूक्ष्मसे भी सूक्ष्मतर) सर्वस्य धातारम् (सबके विधाता) अचिन्त्यरूपम् (चिन्तातीत रूप) आदित्यवर्णम् (सूर्यके सदृश स्वप्रकाशित) तमसः परस्तात् (मायातीत स्वरूपका) प्रयाणकाले (मृत्युकालमें) अचलेन मनसा (निश्चल मनसे) भक्त्या युक्तः (भक्तियोगके साथ) योगबलेन च एव (योगके प्रभावसे ही) भ्रुवोः मध्ये (आज्ञाचक्रमें) प्राणम् (प्राणवायुको) सम्यक् आवेश्य (भलीभाँति स्थापितकर) अनुस्मरेत् (निरन्तर स्मरण करते हैं) सः (वे) तम् दिव्यम् (उस दिव्य) परमम् पुरुषम् (परम पुरुषको) उपैति (प्राप्त होते हैं)।।९-१०।।

अनुवाद—जो एकाग्रचित्त होकर तथा भक्तिसहित योगबलसे दोनों भृकुटियोंके मध्य प्राणवायुको भलीभाँति स्थापितकर सर्वज्ञ, सनातन, अखिल नियन्ता, सूक्ष्मसे सूक्ष्मतर, सबके विधाता, अचिन्त्य रूप, सूर्यके सदृश स्वप्रकाशित और प्रकृतिसे अतीत पुरुषको मृत्यूकालमें स्मरण करते हैं, वे उसी दिव्य परम पुरुषको प्राप्त करते हैं।।९-१०।।

श्रीविश्वनाथ—योगाभ्यासं विना मनसो विषयग्रामान्निवृत्तिर्दुघटा, यच्च विना सातत्येन भगवत्स्मरणमपि दुर्घटमिति युक्तम्। केनचित् योगाभ्यासेन सहितैव भक्तिः क्रियते इति तां योगमिश्रां भक्तिमाह—कविमिति पञ्चभिः। कविं सर्वज्ञं सर्वज्ञोऽप्यन्यः सनकादिः सार्वकालिको न भवत्यत आह—पुराणमनादिं सर्वज्ञोऽनादिरप्यन्तर्यामी स भक्त्युपदेष्टा न भवत्यत आह—अनुशासितारम्, कृपया स्वभक्तिशिक्षकं कृष्णरामादिस्वरूपमित्यर्थः। तादृशकृपालुरपि सुदुर्विज्ञेयतत्त्व एव इत्याह—अणोः सकाशादप्यणीयांसम्। तर्हि स किं जीव इव परमाणुप्रमाणस्तत्राह—सर्वस्य धातारं सर्ववस्तुमात्र-धारकत्वेन सर्वव्यापकत्वात् परं महापरिमाणमपीत्यर्थः, अतएवाचिन्त्यरूपम्। पुरुषविधत्वेन मध्यमपरिमाणमपि तस्यानन्यप्रकाश्यत्वमाह आदित्यवर्णमादित्यवत् स्वपरप्रकाशको वर्णः स्वरूपं यस्य तथा तमसः प्रकृतेः परस्तात् वर्त्तमानं मायाशक्तिमन्तमपि मायातीतस्वरूपमित्यर्थः। प्रयाणकालेऽन्तकालेऽचलेन निश्चलेन मनसा या सततस्मरणमयी भक्तिस्तया युक्तः। कथं मनसो

नैश्चल्यम्? अत आह—योगस्य योगाभ्यासस्य बलेन। योगप्रकारं दर्शयति—भ्रुवोर्मध्ये आज्ञाचक्रे।।९-१०।।

भावानुवाद—योगाभ्यासके बिना विषयोंसे मन की निवृत्ति असम्भव है तथा इसके निरन्तर न होनेसे भगवान्‌का स्मरण भी असम्भव है। किसी भी प्रकारके योगके साथ जो भक्ति की जाती है, उसे योगमिश्रा भक्ति कहते हैं। इसीलिए 'कवि' इत्यादि पाँच श्लोक कह रहे हैं। कविका तात्पर्य है—सर्वज्ञ। सनकादि ऋषि सर्वज्ञ हैं, किन्तु उनकी सर्वज्ञता सार्वकालिक नहीं है। इसीलिए कहते हैं—पुराण अर्थात् अनादि। सर्वज्ञ और अनादि होकर भी अन्तर्यामी भक्तिके उपदेष्टा नहीं होते हैं। इसीलिए कहते हैं—'अनुशासितारम्' अर्थात् राम-कृष्णादि स्वरूपमें कृपापूर्वक अपनी भक्तिकी शिक्षा देनेवाले हैं। वैसे कृपालु भी सुदुर्ज्ञेय तत्व हैं—इसीलिए कहते हैं, वे अणुसे भी अणु हैं। तो क्या वे जीववत् परमाणु (तुल्य) प्रमाण हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—'सर्वस्यधातारं' अर्थात् वे सर्ववस्तुमात्रके ही धारक होनेके कारण तथा सर्वव्यापक होनेके कारण परम महापरिमाणवाले हैं, अतएव वे अचिन्त्य हैं। पुरुष होनेके कारण मध्यम परिमाणवाला होनेपर भी उनके अनन्य प्रकाशत्वके विषयमें बता रहे हैं—'आदित्यवर्णम्' अर्थात् सूर्यके सदृश स्वयं तथा दूसरोंके भी प्रकाशक हैं। वे 'तमसः' अर्थात् प्रकृतिसे परे हैं, वे मायाशक्तिमान् होनेपर भी मायातीतस्वरूप हैं। योगी प्रयाणकालमें निश्चल मनके द्वारा सतत स्मरणमयी शक्तिसे युक्त होकर स्मरण करते हैं। किस प्रकार मनकी निश्चलता प्राप्त होती है? इसके उत्तरमें कहते हैं—योगाभ्यासके बलसे। किस प्रकार का योग? इसके उत्तरमें कहते हैं—आज्ञाचक्रमें प्राणको स्थितकर।।९-१०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्व श्लोकमें अन्तकालमें जिस भगवत्-स्मरणकी बात कही गई है, उसकी विधि वर्त्तमान श्लोकमें बता रहे हैं।

"परम पुरुषका ध्यान बता रहा हूँ, श्रवण करो—वे सर्वज्ञ, सनातन, नियन्ता, अतिसूक्ष्म, सभीके विधाता, जड़बुद्धिके लिए अचिन्त्यस्वरूप नित्य-मध्यमाकार, तथापि स्वप्रकाशवशतः आदित्यवत् स्वरूप-प्रकाशक वर्णविशिष्ट एवं जड़ा प्रकृतिके अतीत तत्त्व हैं। मरणकालमें निश्चल मनवाला होकर भक्तिसहित पूर्व योगाभ्यासवशतः दोनों भृकुटियोंके मध्यमें प्राणको स्थितकर, उस दिव्य पुरुषके समीप प्रयाण करना चाहिए। जिससे कि मरण-क्लेश द्वारा चित्त-विक्षेप न हो, उसके उपायस्वरूप यह योग उपदिष्ट हुआ है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।९-१०।।

यदक्षरं वेदविदो वदन्ति विशन्ति यद्यतयो वीतरागाः।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदं संग्रहेण प्रवक्ष्ये।।११।।

अन्वय—वेदविदः (वेदज्ञ लोग) यत् (जिसे) अक्षरम् (अविनाशी) वदन्ति (कहते हैं) वीतरागाः (वासनारहित) यतयः (संन्यासिगण) यत् (जिसमें) विशन्ति (प्रवेश करते हैं) यत् (जिसकी) इच्छन्तः (अभिलाषाकर) ब्रह्मचर्यम् (ब्रह्मचर्यका) चरन्ति (आचरण करते हैं) तत् पदम् (वह प्राप्य वस्तु) ते (तुम्हें) संग्रहेण (संक्षेपमें) प्रवक्ष्ये (कहूँगा)।।११।।

अनुवाद—वेदज्ञ पण्डितगण जिसे अविनाशी कहते हैं, वासनारहित संन्यासिगण जिसमें प्रविष्ट होते हैं और जिसे प्राप्त करनेकी अभिलाषासे ब्रह्मचारिगण ब्रह्मचर्यका पालन करते हैं, उस प्राप्य वस्तुके विषयमें संक्षेपमें तुम्हें बता रहा हूँ।।११।।

श्रीविश्वनाथ—ननु भ्रुवोर्मध्ये प्राणमावेश्य इत्येतावन्मात्रोक्त्या योगो न ज्ञायते, तस्मात् तत्र योगे प्रकारः कः, किं जप्यम्, किं वा ध्येयम्, किं वा प्राप्यमित्यपि संक्षेपेण ब्रूहीत्यपेक्षायामाह—यदिति त्रिभिः। यदेवाक्षरं ओमित्येकाक्षरवाच्यं ब्रह्मवाचकं वेदज्ञा वदन्ति। यदेव ओमित्येकाक्षरवाच्यं ब्रह्म यतयो विशन्ति, तत्पदं पद्यते गम्यते इति पदं प्राप्यं सम्यक्तया गृह्यतेऽनेनेति संग्रहस्तदुपायस्तेन सह प्रवक्ष्ये शृणु।।११।।

भावानुवाद—'आज्ञाचक्रमें (भ्रूद्वयके मध्यमें) प्राणको आविष्टकर' क्या केवल इतना ही कहनेसे योग द्वारा उसे जाना जा सकता है? अतः उस योगका क्या प्रकार है? जप क्या है ? ध्येय कया है? प्राप्य क्या है? इन्हें भी संक्षेपमें बतावें। इस प्रश्नकी अपेक्षासे श्रीभगवान् 'यद्' इत्यादि तीन श्लोक कह रहे हैं। 'ॐ' ही 'अक्षर' है, यह एकाक्षर ब्रह्मवाचक है—वेदज्ञ व्यक्ति ऐसा कहते हैं। इसी एकाक्षर वाच्य ब्रह्ममें सन्यासिगण प्रवेश करते हैं। वही पद प्राप्त होने योग्य है। उस प्राप्य पदको किस प्रकार प्राप्त किया जा सकता है, उसे उपायसहित बता रहा हूँ, श्रवण करो।।११।।

सर्वद्वाराणि संयम्य मनो हृदि निरुध्य च।
मूर्ध्न्याधायात्मनः प्राणमास्थितो योगधारणाम्।।१२।।
ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन्।
यः प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम्।।१३।।

अन्वय—सर्वद्वाराणि (समस्त इन्द्रियरूप द्वारोंको) संयम्य (रोककर) मनः

(मनको) हृदि (हृदयमें) निरुध्य (निरोधकर) मूर्ध्नि (भ्रूमध्यमें) प्राणम् (प्राणको) आधाय (स्थापितकर) आत्मनः योगधारणाम् (आत्मविषयक योगस्थैर्यका) आश्रितः (आश्रयकर) यः (जो) ओम् (ॐ) इति एकाक्षरम् ब्रह्म (इस एकाक्षर ब्रह्मका) व्याहरन् (उच्चारण करते-करते) माम् (मुझे) अनुस्मरन् (स्मरण करते-करते) देहम् त्यजन् (देहको त्यागकर) प्रयाति (प्रयाण करते हैं) सः (वे) परमाम् गतिम् (श्रेष्ठ गति) याति (लाभ करते हैं)।।१२-१३।।

अनुवाद—जो व्यक्ति सभी इन्द्रियरूप द्वारोंको विषयोंसे संयमितकर, मनको हृदयमें निरोधकर, भ्रूद्वयके मध्यमें प्राणवायुको स्थापित करते हुए आत्मविषयक समाधिरूप योगस्थैर्यसहित 'ॐ'—इस एकाक्षर ब्रह्मवाचक शब्दका उच्चारण करते-करते तथा मुझे ध्यान करते-करते देहत्यागपूर्वक प्रयाण करते हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं।।१२-१३।।

श्रीविश्वनाथ—उक्तमर्थं वदन् योगे प्रकारमाह—सर्वाणि चक्षुरादीन्द्रियद्वाराणि संयम्य बाह्यविषयेभ्यः प्रत्याहृत्य मनश्च हृद्येव निरुध्य विषयान्तरेष्वसङ्कल्प्य मूर्द्धि्न भ्रुवोर्मध्ये एव प्राणमाधाय योगधारणामानखशिख-मन्मूर्त्तिभावनामाश्रितः सन् ओमित्येकमेवाक्षरं ब्रह्मस्वरूपं व्याहरनुच्चारयन्; तद्वाच्यं मामनुस्मरन् अनुध्यायन परमां गतिं मत्सालोक्यम्।।१२-१३।।

भावानुवाद—उक्त अर्थको कहते हुए योगका प्रकार बता रहे हैं—'सर्वाणि' अर्थात् नेत्रादि इन्द्रियद्वारसमूहको बाह्य विषयोंसे प्रत्याहारकर तथा मनको हृदयमें ही निरोधकर अर्थात् अन्य विषयोंका असंकल्पकर, भ्रूद्वयोंके बीचमें ही प्राणको स्थापितकर 'योगधारणाम्' अर्थात् आपादमस्तक मेरी मूर्त्तिका आश्रयकर ब्रह्मस्वरूप ओंकार (ॐ) का उच्चारणकर ओंकारके प्रतिपाद्य—मेरा निरन्तर चिन्तन करते हुए शरीर त्याग करनेपर परमगति प्राप्त करते हैं अर्थात् मेरे सालोक्यको प्राप्त होते हैं।।१२-१३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—ओंकार ब्रह्मका अक्षरात्मक स्वरूप है। श्रीमद्भागवत (२/१/१७) में भी कहा गया है—*'अभ्यसेन्मनसा शुद्धं त्रिवृद् ब्रह्माक्षरं परम्'* अर्थात् 'अ'-कार, 'ऊ'-कार तथा 'म'-कार—तीन अक्षरोंके द्वारा ग्रथित शुद्ध ब्रह्माक्षर प्रणवका मन-ही-मन अभ्यास और आवृत्ति करनी चाहिए। श्रीमन्महाप्रभुजी भी ऐसा ही कहते है-

'प्रणव ये महावाक्य ईश्वरेर मूर्त्ति।
प्रणव हइते सर्ववेद, जगत् उत्पत्ति।।
प्रणव से महावाक्य वेदेर निदान।
ईश्वरस्वरूप प्रणव सर्वविश्वधाम।।'

अर्थात्, प्रणव समस्त वेदोंका सार, महावाक्य है। दूसरे सारे मन्त्र प्रादेशिक वाक्य हैं। ये ईश्वरकी श्रीमूर्त्तिस्वरूप हैं। प्रणवसे ही सारे वेद और जगत्‌की उत्पत्ति होती है। प्रणवरूप महावाक्य ही वेदका सार है, ये भगवत्-स्वरूप तथा समस्त विश्वके आधार हैं।।१२-१३।।

अनन्यचेताः सततं यो मां स्मरति नित्यशः।
तस्याहं सुलभः पार्थ नित्ययुक्तस्य योगिनः।।१४।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) अनन्यचेताः (अन्यभावनाशून्य) यः (जो) माम् (मुझे) सततम् (निरन्तर) नित्यशः (प्रतिदिन) स्मरति (स्मरण करते हैं) तस्य नित्ययुक्तस्य (उन नित्ययुक्त) योगिनः (योगीके लिए) अहम् (मैं) सुलभः (सुलभ हूँ)।।१४।।

अनुवाद—हे पार्थ! जो अन्य भावनाशून्य होकर निरन्तर, प्रतिदिन मुझे स्मरण करते हैं, उन नित्ययुक्त योगीके लिए मैं सुलभ हूँ।।१४।।

श्रीविश्वनाथ—तदेवं 'आर्त्तः' इत्यादिना कर्ममिश्राम्, 'जरामरणमोक्षाय' इत्यनेनापि कर्ममिश्राम्, "कविं पुराणम्" इत्यादिभिर्योगमिश्राञ्च सपरिकरां प्रधानीभूतां भक्तिमुक्त्वा सर्वश्रेष्ठां निर्गुणां केवलां भक्तिमाह—अनन्यचेता इति। न विद्यतेऽन्यस्मिन् कर्मणि ज्ञानयोगे वा अनुष्ठेयत्वेन, तथा देवतान्तरेव आराध्यत्वेन, तथा स्वर्गापवर्गादावपि प्राप्यत्वेन चेतो यस्य। सततं सदेति कालदेशपात्रशुद्ध्याद्यनपेक्षतयैव नित्यशः प्रतिदिनमेव यो मां स्मरति, तस्य तेन भक्तेनाहं सुलभः सुखेन लभ्यः। योगज्ञानाभ्यासादिदुःखमिश्रणाभावादिति भावः। नित्ययुक्तस्य नित्य-मद्‌योगाकाङ्क्षिणः आशंसायां भूतवच्चेति भाविन्यपि योगे आशंसिते क्त-प्रत्ययः। योगिनो भक्तियोगवतः, यद्वा, योगसम्बन्धः दास्यसख्यादिस्तद्वतः।।१४।।

भावानुवाद—इस प्रकार 'आर्त्त' (गीता ७/१६) से आरम्भकर 'जरा मरण मोक्षाय' (गीता ८/९) तक कर्ममिश्रा 'कविं पुराणम्' (गीता ८/९) इत्यादि श्लोकोंके द्वारा योगमिश्रा और सपरिकरा प्रधानीभूता भक्तिके विषयमें बताकर श्रीभगवान् सर्वश्रेष्ठा निर्गुणा, केवला भक्तिके विषयमें बता रहे हैं। जिनका चित्त भक्तिके अतिरिक्त कर्म, ज्ञान, योगादि अनुष्ठानोंमें, अन्य देवताओंकी आराधनामें, स्वर्ग-अपवर्गादि प्राप्य वस्तुओंमें नहीं है, जो काल, देश, पात्रकी शुद्धि आदिकी अपेक्षा न कर प्रतिदिन मेरा ही स्मरण करते हैं—उन भक्तोंके लिए मैं सुलभ अर्थात् सुखलभ्य हूँ अर्थात् उनमें योग, ज्ञानके अभ्यासादिसे उत्पन्न दुःखका अभाव होता है। 'नित्ययुक्तस्य' का तात्पर्य है—नित्य मेरे योगकी आकांक्षा करनेवाले। यदि यह संशय हो कि भविष्यमें भी आप सुलभ होंगे, तो इसके उत्तरमें कहते

हैं कि मैं उनके लिए नित्य सुलभ हूँ। 'योगिनः' का तात्पर्य है—भक्तियोगवान् या दास्य-सख्यादि भावसे युक्त।।१४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"आर्त्त, जिज्ञासु, अथार्थी और ज्ञानीके सम्बन्धमें विचार आरम्भकर जरा-मरण-मोक्षतक तुम्हें कर्मशिक्षा दी अर्थात् कर्मप्रधानीभूता भक्तिके स्वरूपकी व्याख्या की तथा 'कविं पुराणम्' इत्यादि श्लोकसे आरम्भकर अबतक योगमिश्रा अर्थात् योगप्रधानीभूता भक्तिके स्वरूपकी व्याख्या की। इनके बीच-बीचमें केवला भक्तिका अनुभव करानेके लिए कुछ-कुछ संकेत दिया है। अभी केवला भक्तिका स्वरूप बता रहा हूँ, श्रवण करो—जो अनन्यचित्त होकर केवल मेरा ही स्मरण करते हैं, मैं उन नित्ययुक्त भक्तयोगीके लिए सुलभ हूँ अर्थात् प्रधानीभूता भक्तिसे मुझे प्राप्त करना दुर्लभ है—ऐसा जानो।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१४।।

मामुपेत्य पुनर्जन्म दुःखालयमशाश्वतम्।
नाप्नुवन्ति महात्मानः संसिद्धिं परमां गताः।।१५।।

अन्वय—महात्मनः (महात्मागण) माम् उपेत्य (मुझे प्राप्तकर) पुनः (पुनः) दुःखालयम् (दुःखके सागर) अशाश्वतम् (अनित्य) जन्म (जन्म) न आप्नुवन्ति (नहीं प्राप्त होते हैं) (क्योंकि) [ते—वे] परमाम् संसिद्धिम् (श्रेष्ठ सिद्धिको) गताः (प्राप्त हुए हैं)।।१५।।

अनुवाद—महात्मागण मुझे प्राप्त होकर पुनः दुःखके आश्रयस्वरूप अनित्य जन्म नहीं ग्रहण करते हैं, क्योंकि वे परम सिद्धिको प्राप्त हुए हैं।।१५।।

श्रीविश्वनाथ—त्वां प्राप्तवतस्तस्य किं स्यादित्याह—मामिति। दुःखालयं दुःखपूर्णं अशाश्वतम् अनित्यञ्च जन्म नाप्नुवन्ति, किन्तु सुखपूर्णं नित्यभूतं जन्म मज्जन्मतुल्यं प्राप्नुवन्ति, *"शाश्वतस्तु ध्रुवो नित्यः सदातनः सनातनः"* इत्यमरः। यदा वसुदेव गृहे सुखपूर्णं नित्यभूतम् अप्राकृतं मज्जन्म भवेत्तदेव तेषां मद्भक्तानामपि मन्नित्यसङ्गिनां जन्म स्यान्नान्यदा इति भावः। परमामिति अन्ये भक्ताः संसिद्धिं प्राप्नुवन्ति अनन्यचेतसस्तु परमां संसिद्धिं मल्लीला-परिकरतामित्यर्थः। तेनोक्तलक्षणेभ्यः सर्वभक्तेभ्यो दृश्य-श्रैष्ठ्यं द्योतितम्।।१५।।

भावानुवाद—जो आपको प्राप्त करते हैं, उनका क्या होता है? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—उनको दुःखपूर्ण और अनित्य जन्म नहीं प्राप्त होता है, अपितु वे सुखपूर्ण नित्यभूत मेरे जन्मके समान जन्म पाते हैं। शाश्वत, ध्रुव, नित्य, सदातन और सनातन—ये एकार्थ बोधक हैं। (अमरकोष) जिस समय वसुदेवके घरमें मेरा सुखपूर्ण, नित्यभूत अप्राकृत जन्म होता है, उसी समय नित्यसङ्गी मेरे भक्तोंका भी जन्म होता है,

अन्य समय नहीं। 'परमा' शब्दका विशेष तात्पर्य है—अन्य भक्तगण संसिद्धि प्राप्त करते हैं, किन्तु अनन्य चित्तवाले 'परमा संसिद्धि' अर्थात् मेरे लीला परिकरत्वको प्राप्त करते हैं। इससे अनन्यचेता पुरुषकी पूर्वोक्त भक्तोंकी अपेक्षा श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है।।१५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जो लोग कर्म, ज्ञान, योगादिसे निरपेक्ष होकर दूसरे-दूसरे देवताओंका आश्रय न लेकर अनन्या भक्तिके द्वारा केवल कृष्णका ही भजन करते हैं, वे उनको ही प्राप्त करते हैं। उनको और दुःखपूर्ण अनित्य जन्म ग्रहण नहीं करना पड़ता। वे कर्मबन्धन या जन्मबन्धनको पारकर सदाके लिए कृष्णसेवामें निमग्न हो जाते हैं; यथा—

'न कर्मबन्धनं जन्म वैष्णवानाञ्च विद्यते।
विष्णुरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिणः॥'

(ह. भ. वि. १०/११७ धृत पाद्मोत्तर वाक्य)

अर्थात्, वैष्णवोंका कर्मबन्धन नहीं है, विष्णुके परिकर होनेसे तत्त्वविद् व्यक्ति उन्हें मुक्तिभाजन कहते हैं। भगवान्‌के अनन्य भक्त केवला अर्थात् रागानुगा भक्तिका अनुशीलनकर परम संसिद्धि लाभ करते हैं अर्थात् वे स्वरूपसिद्धि एवं वस्तुसिद्धिके माध्यमसे भगवान्‌के लीला-परिकरोंमे परिगणित होकर उनकी सेवामें नियुक्त होते हैं तथा अवतार कालमें भगवान्‌की भाँति प्रकट होकर लीलामें भी लीलाका पोषण करते हैं।।१५।।

आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्त्तिनोऽर्जुन।
मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते।।१६।।

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) आब्रह्मभुवनात् लोकाः (ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त लोक) पुनरावर्त्तिनः (पुनरावर्त्तनशील हैं) तु (किन्तु) कौन्तेय (हे कौन्तेय!) माम् उपेत्य (मुझे प्राप्त होकर) पुनर्जन्म न विद्यते (पुनर्जन्म नहीं होता है)।।१६।।

अनुवाद—हे अर्जुन! ब्रह्मलोकपर्यन्त समस्त लोक पुनरावर्त्तनशील हैं, किन्तु मुझे प्राप्त होकर पुनर्जन्म नहीं होता है।।१६।।

श्रीविश्वनाथ—सर्व एव जीवाः महासुकृतिनोऽपि जायन्ते मद्भक्तास्तु तद्वन्न जायन्त इत्याह—आब्रह्मेति। ब्रह्मणो भुवनं सत्यलोकास्तमभिव्याप्य।।१६।।

भावानुवाद—समस्त जीव ही, यहाँ तक कि महासुकृतिवान् भी जन्म ग्रहण करते हैं, किन्तु मेरे भक्तगण उनकी भाँति जन्म ग्रहण नहीं करते हैं, ब्रह्माके भुवन सत्यलोक तक व्याप्त समस्त जीव जन्म ग्रहण करते हैं।।१६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"ब्रह्मलोक अर्थात् सत्यलोकसे आरम्भकर समस्त लोक ही अनित्य हैं। उन उन लोकोंके जीवोंका पुनर्जन्म सम्भव है। किन्तु, जो केवला भक्तिके विषयरूप मुझे आश्रय करते हैं, उनका पुनर्जन्म नहीं होता है। जो कर्मयोगी, अष्टाङ्गयोगी हैं और प्रधानीभूता भक्तिका आश्रय करते हैं, उनके सम्बन्धमें जो पुनर्जन्म नहीं होनेकी बात कही गई है, उसका तात्पर्य यह है कि केवला भक्ति ही इस समस्त प्रक्रियाका चरम फल या संसिद्धि है। वे क्रमशः केवला भक्ति प्राप्तकर पुनर्जन्मसे उद्धार पाते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१६।।

सहस्त्रयुगपर्यन्तमहर्यद्ब्रह्मणो　　विदुः।
रात्रिं युगसहस्त्रान्तां तेऽहोरात्रविदो जनाः।।१७।।

अन्वय—सहस्त्रयुगपर्यन्तम् (एक हजार चतुर्यग व्यापी) ब्रह्मणः (ब्रह्माका) यत् अह (जो दिन है) युग सहस्त्राभ्याम् (एवं एक हजार चतुर्युग व्यापी) रात्रिम् (रात्रि है, उनको) विदुः (जो जानते हैं) ते जनाः (वे लोग) अहोरात्रविदः (दिन और रातके तत्त्वको जाननेवाले हैं)।।१७।।

अनुवाद—जो व्यक्ति ऐसा जानते हैं कि एक हजार चतुर्युग–पर्यन्त ब्रह्माका दिन तथा एक हजार चतुर्युग पर्यन्त ब्रह्माकी रात्रि होती है, वे रात–दिनके तत्त्वको जाननेवाले हैं।।१७।।

श्रीविश्वनाथ—ननु *"अमृतं क्षेममभयं त्रिमुद्ध्नोर्ऽधायि मूर्द्धसु"* इति (श्रीमद्भा. २/६/१९) द्वितीयस्कन्धोक्त्या, केषाञ्चिन्मते ब्रह्मलोकस्य अभयत्वश्रवणात्, सन्न्यासिभिरपि जिगमिषितत्वात् तत्रत्यानां पातो न सम्भाव्यते? मैवम्, तल्लोकस्वामिनो ब्रह्मणोऽपि पातः स्यात् किमुतान्येषाम् इति व्यञ्जयन्नाह—सहस्त्रं युगानि पर्यन्तोऽवसानं यस्य तद्ब्रह्मणोऽहर्दिनं यद् ये शास्त्राभिज्ञा विदुर्जानन्ति, तेऽहोरात्रविदो जनाः रात्रिमपि तस्या युगसहस्त्रान्तां विदुः। तेन तादृशाहोरात्रैः पक्षमासादिक्रमेण वर्षशतं ब्रह्मणः परमायुरिति। एतदन्ते तस्यापि पातो न कस्यचिद्वैष्णवस्य तस्य बह्मणो मोक्षश्चेति व्यञ्जितम्।।१७।।

भावानुवाद—अच्छा, श्रीमद्भागवतके द्वितीय स्कन्धमें ऐसा कथित है—"तीन लोकोंके उपर 'महर्लोक' उसके ऊपर जन, तप, सत्य, इन तीन लोकोंमें अमृत, क्षेम और अभय संस्थापित हैं।" किसी किसीके मतानुसार ब्रह्मलोकके अभयत्वके बारेमें सुना जाता है, संन्यासिगण भी वहाँ गमन करनेकी कामना करते हैं, अतएव क्या उस लोकमें निवास करनेवालेका पतन सम्भव नहीं है? इस प्रश्नकी अपेक्षाकर श्रीभगवान् उत्तरमें कहते

हैं—नहीं, ऐसा नहीं है। जब उस लोकके स्वामी ब्रह्माका भी पतन होता है, तो अन्य लोगोंकी बात ही क्या है। इसे स्पष्ट करते हुए कहते हैं—जो शास्त्रोंमें अभिज्ञ हैं, वे जानते हैं कि एक हजार चतुर्युगकी अवधिका ब्रह्माका एक दिन होता है। तथा इतने ही अवधिकी ब्रह्माकी एक रात होती है। इस प्रकार दिन, रात, पक्ष, महीनेके क्रमसे एक सौ वर्ष तक ब्रह्माकी परम आयु है। इस अवधिके उपरान्त ब्रह्माका पतन हो जाता है। किन्तु, जो ब्रह्मा वैष्णव होते हैं, वे ही मुक्ति प्राप्त करते हैं।।१७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"मनुष्यकी गणनाके अनुसार एक हजार चतुर्यग तक ब्रह्माका दिन तथा एक हजार चतुर्यग तक उसकी रात्रि होती है। इस प्रकार एक सौ वर्ष तक जीवित रहनेके बाद उसका पतन होता है। जो ब्रह्मा भगवत्परायण होते हैं, उनकी ही मुक्ति होती है। जब ब्रह्माकी ही ऐसी गति है, तो उनके लोकगत संन्यासियोंका अभयत्व कैसे नित्य होगा अर्थात् उनका अभयत्व नित्य नहीं है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१७।।

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके।।१८।।

अन्वय—अहरागमे (दिनके उपस्थित होनेपर) सर्वाः व्यक्तयः (सभी जीव) अव्यक्तात् (अव्यक्तसे) प्रभवन्ति (प्रकाशित होते हैं) रात्र्यागमे (रात्रिकालके उपस्थित होनेपर) तत्र (उस) अव्यक्तसंज्ञके एव (अव्यक्त नामक कारणस्वरूपमें ही) प्रलीयन्ते (प्रलीन हो जाते हैं)।।१८।।

अनुवाद—सभी जीव ब्रह्माके दिनके उपस्थित होनेपर अव्यक्त कारणस्वरूपसे प्रकट होते हैं एवं रात्रिकालके उपस्थित होनेपर उसी अव्यक्त नामक कारणस्वरूपमें लीन हो जाते हैं।।१८।।

श्रीविश्वनाथ—ये तु ततोऽर्वाचीनास्त्रिलोकस्थास्तेषान्तु तस्याहन्यहन्यपि पात इत्याह—अव्यक्तादिति। "अत्र दैनन्दिनसृष्टिप्रलययोराकाशादीनां सत्त्वादव्यक्तशब्देन स्वापापरस्थः प्रजापतिरेवोच्यते" इति मधुसूदन सरस्वतीपादाः ततश्च अव्यक्तात् स्वपापरस्थात् प्रजापतेः सकाशाद्व्यक्तयः शरीरविषयादिरूपा भोगभूमयो भवन्ति व्यवहारक्षमाः स्युः। रात्र्यागमे तस्य स्वापकाले प्रलीयन्ते तस्मिन्नेव तिरोभवन्ति।।१८।।

भावानुवाद—किन्तु, जो उनसे निकृष्ट त्रिलोकवासी हैं, उनका पतन प्रतिदिन होता है। इसीलिए कहते हैं—'अव्यक्तम्' इत्यादि। श्रीपाद मधुसूदन सरस्वती कहते हैं—"प्रतिदिन सृष्टि-प्रलयके उपक्रममें आकाश

आदिकी सत्ता वर्तमान रहती है, अतः यहाँ अव्यक्त शब्दसे (अव्याकृत अवस्था या प्रधानको लक्ष्य नहीं किया जा सकता है) स्वापाप प्रजापति ही सूचित हो रहे हैं।" उस अव्यक्त स्वापापस्थ प्रजापतिसे शरीर-विषय आदिरूप भोग-भूमि सफल होती है अर्थात् व्यवहारके योग्य होती है। रात्रिके आगमनसे उनके निद्राकालमें प्रलय प्राप्त होते हैं।।१८।।

भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवत्यहरागमे।।१९।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) अयम् (ये) सः एव (वे ही) भूतग्रामः (जीवसमूह) भूत्वा भूत्वा (बार-बार उत्पन्न होकर) रात्र्यागमे (रात्रिके आगमनकालमें) प्रलीयते (लीन होते हैं) [पुनः—पुनः] अहरागमे (दिनके आगमनकालमें) अवशः (नियमके अधीन होकर) प्रभवति (प्रादुर्भूत होते हैं)।।१९।।

अनुवाद—हे पार्थ! वही जीवसमूह बार-बार उत्पन्न होकर रात्रिके आगमनकालमें लीन हो जाते हैं तथा पुनः दिनके आगमनकालमें नियमके अधीन होकर प्रादुर्भूत होते हैं।।१९।।

श्रीविश्वनाथ—एवमेव भूतानां चराचरप्राणिनां ग्रामः समूहः।।१९।।

भावानुवाद—इसी प्रकार चराचर प्राणिसमूह उत्पन्न तथा लीन होते हैं।।१९।।

परस्तस्मात्तु भावोऽन्योऽव्यक्तोऽव्यक्तात्सनातनः।
यः स सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु न विनश्यति।।२०।।

अन्वय—तु (किन्तु) तस्मात् अव्यक्तात् (पूर्वोक्त अव्यक्तसे) परः (श्रेष्ठ) अन्यः (अन्य अथवा विलक्षण) सनातनः (अनादि) अव्यक्तः यः भावः (अव्यक्त जो भाव या पदार्थ है) सः (वह) सर्वेषु भूतेषु नश्यत्सु (सभी भूतोंके नष्ट होनेपर भी) न विनश्यति (विनष्ट नहीं होता है)।।२०।।

अनुवाद—किन्तु, पूर्वोक्त अव्यक्त भावसे भी श्रेष्ठ और विलक्षण जो अनादि अव्यक्त भाव है, वह सभी भूतोंके विनष्ट होनेपर भी विनष्ट नहीं होता है।।।२०।।

श्रीविश्वनाथ—तस्मादुक्तलक्षणादव्यक्तात् प्रजापतेर्हिरण्यगर्भात् सकाशात् परः श्रेष्ठः। हिरण्यगर्भस्यापि कारणभूतो योऽन्यः खल्वव्यक्तो भावः सनातनोऽनादिः।।२०।।

भावानुवाद—उस उक्त लक्षणविशिष्ट अव्यक्त अर्थात् प्रजापति हिरण्यगर्भसे भी श्रेष्ठ अर्थात् हिरण्यगर्भके भी कारणस्वरूप जो अन्य अव्यक्त भाव है, वह सनातन है अर्थात् अनादि है।।२०।।

अव्यक्तोऽक्षर इत्युक्तस्तमाहुः परमां गतिम्।
यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।।२१।।

अन्वय—अव्यक्तः अक्षरः इति (उस अव्यक्त भावको जन्म आदिरहित अक्षरतत्त्व कहते हैं) तम् (उसे) परमाम् गतिम् (परम गति) आहुः (कहते हैं) यम् (जिसे) प्राप्य (प्राप्तकर) न निवर्त्तन्ते (संसारमें पुनरागमन नहीं होता है) तत् (वह) मम् (मेरा) परमम् धाम (परम धाम है)।।२१।।

अनुवाद—उस अव्यक्त भावको अक्षर तथा परमगति कहते हैं। जिसे (उस अव्यक्तभावको) प्राप्तकर संसारमें पुनरागमन नहीं होता है, वही मेरा परम धाम अथवा नित्यस्वरूप है।।२१।।

श्रीविश्वनाथ—पूर्वश्लोकोक्तमव्यक्तशब्दं व्याचष्टे—अव्यक्त इति। न क्षरतीत्यक्षरो नारायणः *"एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः"* इति श्रुतेः, मम परमं धाम नित्यं स्वरूपम्; यद्वा, अक्षरः परं धाम ब्रह्मैव मद्धाम मत्तेजोरूपम्।।२१।।

भावानुवाद—'अव्यक्त' इत्यादिसे पूर्वश्लोकमें कथित 'अव्यक्त' शब्दकी व्याख्या कर रहे हैं। जिसका क्षय अथवा नाश नहीं है, वह अक्षर है। नारायण श्रुति कहती है—*'एको नारायण आसीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः'* अर्थात् सर्वप्रथम एकमात्र नारायण थे, ब्रह्मा भी नहीं तथा शिव भी नहीं। मेरा परमधाम नित्यस्वरूप है अथवा ब्रह्म ही मेरा धाम अर्थात् तेजोमय रूप है।।२१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—चराचर लोकसमूहके अनित्यत्वका वर्णनकर वर्त्तमान दो श्लोकोंमें परमेश्वर-तत्त्वका नित्यत्व दिखा रहे हैं। अव्यक्त हिरण्यगर्भसे श्रेष्ठ अवाङ्मनसोगोचर (मन और इन्द्रियोंसे अतीत) सनातन पुरुषका वर्णन कर रहे हैं। इसी अव्यक्त तत्त्वको अक्षर ब्रह्म भी कहते हैं। यही प्राणियोंकी परम गति है, जिसको प्राप्तकर संसारमें पतित होनेकी पुनः सम्भावना नहीं होती, वही इनका परम धाम है।।२१।।

पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया।
यस्यान्तःस्थानि भूतानि येन सर्वमिदं ततम्।।२२।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) भूतानि (भूतसमूह) यस्य (जिनके) अन्तःस्थानि (अभ्यन्तरमें स्थित हैं) येन (जिनके द्वारा) इदम् सर्वम् (यह समग्र जगत्) ततम् (व्याप्त है) सः (वे) परः पुरुषः (परम पुरुष) तु (किन्तु) अनन्या भक्त्या (अनन्या भक्तिसे ही) लभ्यः (प्राप्त होने योग्य हैं)।।२२।।

अनुवाद—किन्तु, हे पार्थ! वे परम पुरुष एकमात्र अनन्या भक्ति द्वारा ही प्राप्त होने योग्य हैं, जिनके अभ्यन्तरमें समस्त भूत स्थित हैं तथा जिनके द्वारा यह समग्र जगत् व्याप्त है।।२२।।

श्रीविश्वनाथ—स च मदंशः परमः पुरुषः न विद्यतेऽन्यत् कर्मज्ञानयोगकामनादिकं यस्यां तयैव। अतएव पूर्वं मयोक्तं *"अनन्यचेताः सततम्"* इति भावः।।२२।।

भावानुवाद—वह मेरा अंश परम पुरुष अनन्या भक्ति द्वारा ही प्राप्य है। 'अनन्या' का तात्पर्य है—जिसमें अन्य अर्थात् कर्म-ज्ञान-योग-कामना आदि नहीं हैं। अतएव पूर्वमें (गीता ८/१४) मैंने कहा है—*'अनन्य चेताः सततम्'*।।२२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्वश्लोकमें वर्णित अव्यक्त अवस्थामें स्थित पुरुष श्रीकृष्णके स्वांश-तत्त्व हैं। समस्त प्राणी इनके ही भीतर अवस्थित हैं तथा समस्त प्राणियोंमें स्थित होनेके कारण ये अन्तर्यामी पुरुष भी हैं। केवल कर्म-ज्ञान-योगादिसे निरपेक्ष अनन्या भक्तिसे ही इनको प्राप्त किया जा सकता है।।२२।।

यत्र काले त्वनावृत्तिमावृत्तिञ्चैव योगिनः।
प्रयाता यान्ति तं कालं वक्ष्यामि भरतर्षभ।।२३।।

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ!) यत्रकाले (जिस काल अथवा मार्गमें) प्रयाताः योगिनः (गमनशील योगिगण) तु (निश्चय) अनावृत्तिम् आवृत्तिम् च एव (अनावृत्ति और आवृति दोनोंको ही) यान्ति (प्राप्त करते हैं) तम् कालम् (उस काल अथवा मार्गके विषयमें) वक्ष्यामि (कहूँगा)।।२३।।

अनुवाद—हे भरतश्रेष्ठ! योगिगण जिस कालमें देहको त्यागकर तथा जिस मार्गसे गमनकर निश्चय ही संसारमें पुनरागमन और अपुनरागमनको प्राप्त होते हैं, उस (कालाभिमानी देवताके द्वारा पालित) मार्गके विषयमें कहूँगा।।२३।।

श्रीविश्वनाथ—ननु *'यं प्राप्य न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम'* इति त्वदुक्त्या त्वद्भक्तास्त्वां प्राप्य न पुनरावर्त्तन्ते इत्युक्तं, न तत्र त्वत्प्राप्तौ कश्चिन्मार्गनियम इत्युक्तः, त्वद्भक्तानाञ्च गुणातीतत्वात्तन्मार्गोऽपि गुणातीत एवावसीयते, न तु सात्त्विकोऽर्चिरादिः, यस्तु मार्गो योगिनो ज्ञानिनः कर्मिणश्चास्ति, तमहं जिज्ञासे इत्यपेक्षायामाह—यत्रेति। प्राणोत्क्रमणानन्तरं तत्र काले कालोपलक्षिते मार्गे प्रयाता अनावृत्तिमावृत्तिञ्च यान्ति तं कालं मार्गं वक्ष्ये इत्यन्वयः।।२३।।

भावानुवाद—अच्छा, आपने कहा—"मेरे उस धामको प्राप्त कर जीवका और पुनरागमन नहीं होता है"—आपकी इस उक्तिसे यही प्रतिपादित हो रहा है कि आपके भक्तगण उस धामको प्राप्तकर पुनः प्रत्यावर्त्तन नहीं करते। किन्तु, उसकी प्राप्तिमें किसी मार्गविशेषका नियम नहीं बताया गया। चूँकि आपके भक्तगण गुणातीत हैं, अतः वह मार्ग भी गुणातीत ही होगा, सात्त्विक अर्चिरादि नहीं। किन्तु, जिस मार्गमें कर्मी, ज्ञानी तथा योगिगण हैं, मैं उस मार्गके विषयमें जिज्ञासा कर रहा हूँ। अर्जुनके उपर्युक्त प्रश्नकी अपेक्षामें श्रीभगवान् 'यत्' इत्यादि कह रहे हैं। प्राणके बहिर्गत होनेपर कालके उपलक्षित पथके अनुसार गमन करनेवालेका पुनरागमन और अपुनरागमन होता है। मैं उस काल अथवा मार्गको कहूँगा।।२३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति–भगवान्के अनन्य भक्त अनायास ही भगवत्-धामको प्राप्त करते हैं। उन्हें कर्मी, ज्ञानी और योगियोंकी भाँति क्लेशपूर्ण सात्त्विक मार्गसे नहीं जाना पड़ता है। निर्गुणा भक्तिके अनुशीलन करनेवाले भक्तोंके निर्गुण होनेके कारण उनका गमनमार्ग और काल भी निर्गुण होता है। भक्तोंको उत्तरायणादि कालकी अपेक्षा नहीं होती। वे जिस कालमें अप्रकट लीलामें प्रवेश करते हैं, वह काल भी निर्गुण होता है।।२३।।

अग्निर्ज्योतिरहः शुक्लः षण्मासा उत्तरायणम्।
तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदो जनाः।।२४।।

अन्वय—अग्निः (अग्नि) ज्योतिः (ज्योति) अहः (शुभदिन) शुक्लः (शुक्लपक्ष) षण्मासाः उत्तरायणम् (छः मासरूप उत्तरायणकाल) तत्र (उस समयमें) प्रयाताः (देहका त्याग करनेवाले) ब्रह्मविदः जनाः (ब्रह्मविद्गण) ब्रह्म गच्छन्ति (ब्रह्मको प्राप्त होते हैं)।।२४।।

अनुवाद—अग्नि, ज्योति, शुभदिन, शुक्लपक्ष, छः मासरूप उत्तरायणकाल—इन समस्त कालोंके अभिमानी देवताओंके मार्गमें जो समस्त ब्रह्मविद् व्यक्ति प्रयाण करते हैं, वे ब्रह्मको प्राप्त होते हैं।।२४।।

श्रीविश्वनाथ—अत्रानावृत्तिमार्गमाह—अग्निरिति। अग्निज्योतिःशब्दाभ्यां *"तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति"* इति श्रुत्युक्त्या अर्चिरभिमानिनी देवतोपलक्ष्यते। अहरित्यहरभिमानिनी, शुक्ल इति पक्षाभिमानिनी, उत्तरायणरूपाः षण्मासा इत्युत्तरायणाभिमानिनी देवता, एतद्रूपो यो मार्गस्तत्र प्रयाता ब्रह्मविदो ज्ञानिनो ब्रह्म प्राप्नुवन्ति। तथा च श्रुतिः *"तेऽर्चिषमभिसम्भवन्त्यर्चिषोऽहरह्न आपूर्यमाण पक्षमापूर्यमाणपक्षाद्यान् षण्मासान्नुदङ्गादित्य एति मासेभ्यो देवलोकम्"* इति।।२४।।

भावानुवाद—यहाँ श्रीभगवान् पुनरागमन नहीं होनेके मार्गके विषयमें बता रहे हैं। छान्दोग्य उपनिषद्में कथित है—'तेऽर्चिषमभिसम्भवन्ति' अर्थात् वे अर्चिके (किरणके) अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। अतः 'अग्नि' तथा 'ज्योति' शब्दसे अर्चिके अभिमानी देवताका बोध होता है। 'अहः' शब्दसे दिनके अभिमानी देवताका बोध होता है। तथा 'उत्तरायण' रूप षण्मास शब्दसे उत्तरायणके अभिमानी देवताका बोध होता है। इस प्रकारके मार्गमें गमनशील 'ब्रह्मविद्' अर्थात 'ज्ञानिगण' ब्रह्मको प्राप्त होते हैं। इस विषयमें श्रुतियाँ कहती हैं—"वे अर्चिके अभिमानी देवताको प्राप्त होते हैं। अर्चिसे क्रमशः दिन, पक्ष और मासके अभिमानी देवताओंको प्राप्त होते हैं, माससे वर्ष तथा वर्षसे आदित्यको (सूर्यको) प्राप्त होते हैं।।"२४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"ब्रह्मविद् पुरुष अग्नि, ज्योति, शुभदिन और उत्तरायणकालमें देहत्यागकर ब्रह्म लाभ करते हैं। 'अग्नि' और 'ज्योति'—इन दोनों शब्दोंसे अर्चि (प्रकाश) के अभिमानी देवता, 'अहः' शब्दसे दिनके अभिमानी देवता, 'शुक्ल' शब्दसे पक्षके अभिमानी देवता तथा 'उत्तरायण' शब्दसे उत्तरायणके अभिमानी देवताको समझना चाहिए अर्थात् तत्त्ववस्तु और कालप्राप्त मन आदि इन्द्रियोंकी प्रसन्नता ही योगीके ब्रह्म प्राप्तिका कारण होती है। इस प्रकारके समयमें मृत्यु प्राप्त होनेपर योगियोंका पुनरागमन नहीं होता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२४।।

धूमो रात्रिस्तथा कृष्णः षण्मासा दक्षिणायनम्।
तत्र चान्द्रमसं ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्त्तते।।२५।।

अन्वय—धूमः (धूमदेवता) रात्रि (रात्रिदेवता) कृष्णः (कृष्णपक्षके देवता) षण्मासाः दक्षिणायनम् (छः मासरूप दक्षिणायनके देवता) तत्र (उस काल अथवा मार्गमें) [प्रयाताः—गमन करनेवाले] योगी (कर्मयोगी) चान्द्रमसम् ज्योतिः (चन्द्रमाकी ज्योतिस्वरूप स्वर्गको) प्राप्य (प्राप्तकर) निवर्त्तते (पुनः संसारमें आगमन करते हैं)।।२५।।

अनुवाद—धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, छः मासरूप दक्षिणायनकाल—इनके देवताओंके मार्गमें गमन करनेवाले कर्मयोगियोंका चन्द्रज्योतिस्वरूप स्वर्गलोकको प्राप्तकर उपभोग करनेके उपरान्त पुनः संसारमें आगमन होता है।।२५।।

श्रीविश्वनाथ—कर्मिणामावृत्तिमार्गमाह—धूम इति। धूमाभिमानिनी देवता, रात्र्यादिशब्दैश्च पूर्ववदेव तत्तदभिमानिन्यस्तिस्त्रो देवता लक्ष्यन्ते। एताभिर्देवताभिरुपलक्षितो यो मार्गस्तत्र प्रयातः कर्मयोगी चान्द्रमसं ज्योतिस्तदुपलक्षितं स्वर्गलोकं प्राप्य तत्र कर्मफलं भुक्त्वा निवर्त्तते पुनरावर्त्तते।।२५।।

भावानुवाद—अब कर्मिगणकी आवृत्तिमार्गके विषयमें बता रहे हैं। धूम, रात्रि इत्यादि शब्दोंसे पूर्वकी भाँति उस उसके अभिमानी देवताको लक्ष्य कर रहे हैं। इन समस्त देवातओंके द्वारा उपलक्षित मार्गमें गमनशील कर्मयोगी चन्द्रमारूप ज्योतिसे लक्षित स्वर्गलोकको प्राप्तकर वहाँ कर्मफलका भोग करते हैं तथा कर्मफलके समाप्त होनेपर संसारमें पुनरावर्त्तन करते हैं।।२५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—धूम, रात्रि, कृष्णपक्ष, दक्षिणायनरूप छः मास और चन्द्रज्योतिः अर्थात् उस उस अभिमानी देवता या इन्द्रियक्रिया द्वारा कर्मयोगिगण पुनरावृत्ति मार्गको प्राप्त होते हैं।।२५।।

शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्त्तते पुनः।।२६।।

अन्वय—शुक्ल-कृष्णे (शुक्ल और कृष्ण) जगतः (जगत्के) एते गती हि (ये दो मार्ग ही) शाश्वते (सनतान) मते (स्वीकार किए गए हैं) एकया (एकके द्वारा) अनावृत्तिम् (मोक्ष) याति (प्राप्त होता है) अन्यया (दूसरेके द्वारा) पुनः आवर्त्तते (पुनरावर्त्तन होता है)।।२६।।

अनुवाद—कृष्ण और शुक्ल—जगत्के ये दो मार्ग ही सनातन स्वीकार किए गए हैं। एकके द्वारा मोक्ष प्राप्त होता है तथा दूसरेके द्वारा संसारमें पुनरावर्त्तन होता है।।२६।।

श्रीविश्वनाथ—उक्तौ मार्गावुपसंहरति—शुक्लकृष्णे इति। शाश्वते अनादि संसारस्यानादित्वात् एकया शुक्लयाऽनावृत्तिं मोक्षमन्यया कृष्णयाऽऽवर्त्तते पुनः पुनरत्र जायते।।२६।।

भावानुवाद—अब श्रीभगवान् पूर्वकथित दोनों मार्गोंका उपसंहार कर रहे हैं—शाश्वत अर्थात् अनादि संसारमें दो सनातन मार्ग हैं—प्रथम शुक्ल पक्षीय मार्ग द्वारा मोक्ष तथा द्वितीय कृष्णपक्षीय मार्ग द्वारा संसारमें पुनर्जन्म होता है।।२६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्वोक्त अर्चिरादि मार्ग अर्थात् 'देवयान' ज्ञानप्रकाशक होनेके कारण शुक्ला गतिके नामसे भी प्रसिद्ध है एवं धूम आदि मार्ग 'पितृयान' अन्धकारमय, तमोमय होनेके कारण कृष्णा गतिके नामसे प्रसिद्ध है। ये दोनों गतियाँ अनादि कालसे ही इस जगत्में प्रवर्त्तित हैं। ब्रह्मवित् योगी शुक्ला गतिका अवलम्बनकर देवयानमें अर्चिरादि लोकोंसे होकर क्रमपथसे मोक्ष लाभ करते हैं, किन्तु इष्टपूर्त्तादि अनुष्ठानोंको करनेवाले योगी कृष्णा गतिका अवलम्बनकर पितृयानसे धूमादि देवताओंका

अनुवर्त्तनकर चन्द्रलोकमें ज्योतिस्वरूप सुख भोगकर अन्तमें पुनः संसारमें प्रत्यावर्त्तन करते हैं।

देवयान तथा पितृयानके विषयमें विशेषरूपसे छान्दोग्य उपनिषदमें वर्णन किया गया है।।२६।।

नैते सृती पार्थ जानन् योगी मुह्यति कश्चन।
तस्मात् सर्वेषु कालेषु योगयुक्तो भवार्जुन।।२७।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) एते सृती (इन दोनों मार्गोंको) जानन् (जानकर) कश्चन योगी (कोई योगी) न मुह्यति (मोहप्राप्त नहीं होते हैं) तस्मात् (अतः) अर्जुन (हे अर्जुन!) सर्वेषु कालेषु (सर्वदा) योगयुक्तः भव (योगपरायण होओ)।।२७।।

अनुवाद—हे पार्थ! इन दोनों मार्गोंसे अवगत होकर कोई भी योगी मोहग्रस्त नहीं होते हैं। अतः हे अर्जुन! सर्वदा योगपरायण होओ।।२७।।

श्रीविश्वनाथ—एतन्मार्गद्वयज्ञानं विवेकोत्पादकमतस्तद्वन्तं स्तौति—नैते इति। योगयुक्तः समाहितचित्तो भव।।२७।।

भावानुवाद—इन दोनों मार्गोंका ज्ञान विवेक उत्पन्न करता है, अतएव वैसे ज्ञानीकी प्रशंसा करते हुए 'नैते' इत्यादि कह रहे हैं।

वे अर्जुनसे कहते हैं—तुम योगयुक्त अर्थात् समाहित चित्तवाला होओ।।२७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"इन दोनों मार्गोंके तात्त्विक पार्थक्यसे अवगत होकर, इन दोनोंसे अतीत जो भक्तिमार्ग है—उसका अवलम्बनकर योगयुक्त व्यक्ति कभी भी मोहग्रस्त नहीं होते हैं अर्थात् दोनों ही मार्गोंको क्लेशप्रद जानकर अनन्य भक्तियोगका अवलम्बन करते हैं। हे अर्जुन! तुम उसी योगका अवलम्बन करो।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२७।।

वेदेषु यज्ञेषु तपःसु चैव दानेषु यत्पुण्यफलं प्रदिष्टम्।
अत्येति तत्सर्वमिदं विदित्वा योगी परं स्थानमुपैति चाद्यम्।।२८।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'तारकब्रह्मयोगो' नामाष्टमोऽध्यायः।।

अन्वय—वेदेषु (वेदोंके पठनमें) यज्ञेषु (यज्ञोंमें) तपःसु (तपस्याओंमें) दानेषु च एव (और दान आदिमें) यत् (जो) पुण्यफलम् प्रदिष्टम्

(पुण्यफलका उपदेश हुआ है) इदम् (यह) विदित्वा (जानकर) योगी (भक्तियोगी) तत् सर्वम् (उन सबका) अत्येति (अतिक्रमण करते हैं) च (एवं) आद्यम् (आदि) परम् स्थानम् (अप्राकृत नित्य स्थानको) उपैति (प्राप्त करते हैं)।।२८।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'तारकब्रह्मयोगो' नामाष्टमोऽध्यायस्यान्वयः।।

अनुवाद—मेरे द्वारा कथित इस तत्त्वसे अवगत होकर भक्तियोगी वेदपाठ, यज्ञानुष्ठान, तपस्या और दान–कर्मादिके भी जो समस्त पुण्यफल शास्त्रोंमें उपदिष्ट हुए हैं—उनका अतिक्रमणकर अप्राकृत, नित्य स्थानको प्राप्त करते हैं।।२८।।

श्रीमद्भगवद्गीताके अष्टम अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—एतदध्यायोक्तार्थज्ञानफलमाह—वेदेष्विति। तत् सर्वमत्येति अतिक्रम्य च योगी भक्तमान्, ततोऽपि श्रेष्ठं स्थानमाद्यमप्राकृतं नित्यं प्राप्नोति।।२८।।

भक्तानां सर्वतः श्रैष्ठं पूर्वोक्तं तेष्वपि स्फुटम्।
अनन्यभक्तस्येत्यर्थोऽत्राध्याये व्यञ्जितोऽभवत्।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
श्रीगीतास्वष्टमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद—इस अध्यायमें कथित अर्थके ज्ञानफलको 'वेदेषु' इत्यादिसे बता रहे हैं। 'तत् सर्वम् अत्येति' अर्थात् उन समस्त फलोंका अतिक्रमणकर योगी अर्थात् भक्तिमान् उनसे भी श्रेष्ठ आदि–अप्राकृत श्रेष्ठ स्थानको प्राप्त होते हैं।।२८।।

पहले भी भक्तोंका श्रेष्ठत्व कथित हुआ है। किन्तु, अभी वह और भी स्पष्टरूपसे कहा गया। अनन्य भक्तोंका श्रेष्ठत्व ही इस अध्यायमें प्रतिपादित हुआ है।

श्रीमद्भगवद्गीताके अष्टम अध्यायकी साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके अष्टम अध्यायकी सारार्थवर्षिणी
टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"भक्तियोगका अवलम्बन करनेसे तुम किसी भी फलसे वञ्चित नहीं होओगे। वेदपाठ, यज्ञानुष्ठान, तपस्या, दान इत्यादि

जितने भी प्रकारके ज्ञान और कर्म हैं, उन सबके जो फल हैं—तुम उन्हें भक्तियोग द्वारा प्राप्तकर अनादि और परम (अप्राकृत) स्थानको प्राप्त होओ।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

'यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्।
योगेन दानधर्मेण श्रेयोभिरितरैरपि।।
सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा।
स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति।।'

(श्रीमद्भा. ११/२०/३२-३३)

अर्थात्, कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य आदि साधनोंके द्वारा जो भी प्राप्त होता है, उन समस्त फलोंको मेरे भक्तगण भक्तियोग द्वारा अनायास ही प्राप्त करते हैं। महाभारतमें वर्णन है—

'या वै साधनसम्पत्ति पुरुषार्थ चतुष्टये।
तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः।।'

(महाभारत मोक्षधर्मीय वाक्य)

अर्थात् चारों पुरुषार्थोंसे प्राप्त सम्पतिको भगवान्के आश्रित भक्तजन उन उन क्लेशोंके बिना ही प्राप्त करते हैं।

श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर भी ऐसा ही कहते हैं कि केवला भक्ति द्वारा समस्त मङ्गलोंकी प्राप्ति होती है, किन्तु भक्तिके बिना कुछ भी प्राप्त नहीं होता। इसलिए अन्वय-व्यतिरेक भावसे भक्ति ही समस्त श्रेयः साधनोंके रूपमें निर्णीत है।

नारद पञ्चरात्रमें भी कथित है—

'हरिभक्ति महादेव्याः सर्वा मुक्त्यादिसिद्धयः।
भुक्तयश्चाद्भुतास्तस्याश्चेटिकावदनुव्रताः ।।' (ना. प. रा.)

अर्थात्, नहीं चाहनेपर भी अनन्य भक्तोंके निकट स्वयं ब्रह्मविद्या एवं अणिमा आदि अष्ट सिद्धिसमूह मूर्त्ति धारणकर उपस्थित होती हैं।

इसी श्लोकके विद्वत्-रञ्जन भाष्यमें श्रीभक्तिविनोद ठाकुर लिखते हैं—"जिस समय अनन्य श्रद्धाके साथ साधुसङ्गमें मेरा भजन करते-करते अनर्थ दूर होता है, उस समय वही श्रद्धा निष्ठाके रूपमें परिणत होती है। श्रद्धाके पूर्व ही समस्त पाप दूर हो जाते हैं, किन्तु तत्त्वजड़ता और उपास्यके सम्बन्धमें चिन्तामल वर्तमान रहते हैं। ये साधुसङ्गमें भजन करते-करते दूर होते हैं। ज्ञानमिश्रा भाव, योगमिश्रा भाव और भुक्ति-मुक्ति

दूषित भाव—ये सभी भजन-तत्त्वके अनर्थ हैं। भजन जितने परिमाणमें इन सब अनर्थोंसे परिशुद्ध होता है, भक्तिवृत्ति उतनी ही केवला होकर विशुद्ध तत्त्व भगवान्का आश्रय करती है। यही अष्टम अध्यायका तात्पर्य है।।"२८।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके अष्टम
अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

अष्टम अध्याय समाप्त।

नवमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

इदन्तु ते गुह्यतमं प्रवक्ष्याम्यनसूयवे।
ज्ञानं विज्ञानसहितं यज्ज्ञात्वा मोक्ष्यसेऽशुभात्।।१।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) इदम् (इस) गुह्यतमम् (गुह्यतम) विज्ञानसहितम् ज्ञानम् तु (विज्ञानयुक्त केवल शुद्धभक्ति-लक्षणयुक्त ज्ञानको) अनसूयवे (दोषमुक्त) ते (तुम्हें) प्रवक्ष्यामि (कहूँगा) यत् (जिसे) ज्ञात्वा (जानकर) अशुभात् (अशुभ अर्थात् दुःखमय संसारसे) मोक्ष्यसे (मुक्त हो जाओगे)।।१।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे अर्जुन! मैं दोषमुक्त तुम्हें विज्ञानयुक्त, केवल शुद्धभक्ति-लक्षणसे युक्त यह ज्ञान कहूँगा, जिसे जानकर तुम इस दुःखमय संसारसे मुक्त हो जाओगे।।१।।

श्रीविश्वनाथ— ***आराध्यत्वे प्रभोर्दासैरैश्वर्यं यदपेक्षितम्।***
तत्शुद्धभक्तेरुत्कर्षश्चोच्यते नवमे स्फुटम्।।

कर्मज्ञानयोगादिभ्यः सकाशात् भक्तेरेव उत्कर्षः। सा च भक्तिः 'प्रधानीभूता' 'केवला' चेति सप्तमाष्टमयोरुक्तम्। तत्रापि केवलाया अतिप्रवलाया ज्ञानवदन्तःकरणशुद्ध्याद्यनपेक्षिण्या भक्तेः स्पष्टतया एव सर्वोत्कर्षः। तस्यामपेक्षितमैश्वर्यञ्च वक्तुं नवमोऽयमध्याय आरभ्यते। सर्वशास्त्रसारभूतस्य गीता-शास्त्रस्यापि मध्यममध्यायाष्टकमेव सारम्, तस्यापि मध्यमौ नवमदशमावेव सारावित्यतोऽत्र निरूपयिष्यमाणमर्थं स्तौति—इदन्त्विति त्रिभिः। द्वितीय-तृतीयाध्यायादिषु यदुक्तं मोक्षोपयोगिज्ञानं 'गुह्यम्', सप्तमाष्टमयोर्मत्प्राप्त्युपयोगि-ज्ञानं—ज्ञायतेऽनेन भगवत्तत्त्वमिति 'ज्ञानं'—भक्तितत्त्वं—'गुह्यतरं', अत्र तु 'केवलशुद्धभक्तिलक्षणं ज्ञानं' 'गुह्यतमं' प्रकर्षेणैव तुभ्यं वक्ष्यामि। अत्र तु ज्ञान-शब्देन भक्तिरवश्यं व्याख्येया, न तु प्रथमषट्कोक्तं प्रसिद्धं ज्ञानम्, परश्लोकेऽव्ययमनश्वरमिति विशेषणदानाद्गुणातीतत्वलाभाद्गुणातीता भक्तिरेव, न तु ज्ञानम्, तस्य सात्त्विकत्वात्।*'अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य'* इत्यग्रिमश्लोके धर्मशब्देनापि भक्तिरेवोच्यते। अनसूयवेऽमत्सरायेत्यन्योऽपीदममत्सरायैवोपदिशेदिति

विधिर्व्यञ्जितः। विज्ञानसहितं मदपरोक्षानुभवपर्यन्तमित्यर्थः। अशुभात् संसाराद्भक्तिप्रतिबन्धकादन्तरायाद्वा।।१।।

भावानुवाद—प्रभुके दास भगवान्‌की आराधनाके लिए जिस ऐश्वर्यको जाननेकी अपेक्षा करते हैं, उसे तथा शुद्धभक्तिके उत्कर्षको इस नवम अध्यायमें स्पष्टरूपसे कहा गया है।

कर्म, ज्ञान, योग आदिकी अपेक्षा भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ है। वह भक्ति दो प्रकारकी है—प्रधानीभूता और केवला। इनका वर्णन सप्तम तथा अष्टम अध्यायोंमें हुआ है। उनमें केवला भक्ति अतिशय प्रबला है तथा ज्ञानकी भाँति अन्तःकरण शुद्ध होनेकी अपेक्षा नहीं रखती। अतएव स्पष्टतः यह केवला भक्ति सबसे श्रेष्ठ है। इसके लिए अपेक्षित भगवान्‌के ऐश्वर्यका वर्णन नवम अध्यायमें प्रारम्भ कर रहे हैं। बीचके आठ अध्याय समस्त शास्त्रोंका सार गीताशास्त्रके भी सार हैं। नवम तथा दशम अध्याय इनके भी सारस्वरूप हैं। अतः 'इदं तु' इत्यादि तीन श्लोंकोंमें निरूपित किये जानेवाले विषयकी प्रशंसा कर रहे हैं—द्वितीय तथा तृतीय अध्यायमें मोक्षके उपयोगी ज्ञानको 'गुह्य' बताया गया। सप्तम तथा अष्टम अध्यायमें मुझे प्राप्त करानेके उपयोगी ज्ञानका वर्णन हुआ, जिससे भगवत्-तत्त्वका ज्ञान होता है तथा ऐसे भक्ति-तत्त्वको 'गुह्यतर' बताया गया। किन्तु यहाँ केवल शुद्धभक्तिके लक्षणवाले ज्ञानको कहूँगा, जो कि 'गुह्यतम' है। यहाँ ज्ञान शब्दकी व्याख्यासे भक्तिको ही समझना चाहिए, न कि प्रथम छः अध्यायोंमें कथित प्रसिद्ध ज्ञान। अगले श्लोकमें 'अव्यय' अर्थात् 'अनश्वर' विशेषणका प्रयोग होनेसे गुणातीत होनेके कारण ज्ञानसे भक्तिको ही लक्ष्य किया जा रहा है, न कि पूर्वकथित ज्ञानको, क्योंकि वह ज्ञान सात्विक होता है, निर्गुण या गुणातीत नहीं। *'अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप'* इस अग्रिम श्लोकमें 'धर्म' शब्दसे भी भक्ति ही कही गई है। यहाँ 'अनसूयवे' अर्थात् 'अमत्सर' कहनेका तात्पर्य है—मत्सरतासे रहित व्यक्तिके लिए ही यह उपदेश है, दूसरेके लिए नहीं। 'विज्ञान सहितं' अर्थात् मेरे अपरोक्षानुभव पर्यन्त इस उपदेशको सुनाऊँगा, जो तुम्हें इस अशुभ, भक्ति प्रतिबन्धक संसारसे मुक्त कर देगा अर्थात् तुम सभी प्रकारके विघ्नोंसे रहित हो जाओगे।।१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीकृष्णने सातवें तथा आठवें अध्यायोंमें प्रधानीभूता एवं केवला भक्तिका वर्णनकर, उनमें क्या पार्थक्य है—यह भी दिखाया। वर्त्तमान अध्यायमें केवला भक्तिकी सर्वश्रेष्ठता और भी परिस्फुटरूपसे बता रहे हैं। इसमें अन्तःकरणकी शुद्धिकी भी अपेक्षा नहीं

होती। अत्यन्त दुराचारी, अनर्थग्रस्त व्यक्तिके भी हृदयमें कृपापूर्वक प्रवेशकर यह उसे परम पवित्र और विश्व-वन्दनीय सर्वश्रेष्ठ महाभागवत बना देती है। अतः यह स्वयं प्रबला है।

द्वितीय और तृतीय अध्यायमें मोक्षके उपयोगी जिस आध्यात्मिक ज्ञानका वर्णन किया गया है, वह गुह्य है। सातवें तथा आठवें अध्यायमें जिस भक्तिजनक भगवत्तत्त्व-ज्ञानका वर्णन किया गया है, वह गुह्यतर है तथा वर्तमान अध्यायमें केवला भक्ति-सम्बन्धी जिस ज्ञानका उपदेश दे रहे हैं, यह गुह्यतम है। इस गुह्यतम ज्ञानके द्वारा ही संसाररूप अशुभसे मुक्ति प्राप्त होती है। गुह्यतम शुद्धाभक्ति-सम्बन्धी यह ज्ञान परम विज्ञानमय है। ईश्वर विषयक ज्ञान विलास अथवा अनुभूतिके सहित विशेषरूपमें जानना ही विज्ञान है। भगवान्‌ने ब्रह्माजीको कहा है—

'ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञान समन्वितम्।
सरहस्यं तदङ्गं च गृहाण गदितं मया।।'

(श्रीमद्भा. २/९/३०)

अर्थात्, मेरा ज्ञान अद्वय और परम गुह्य है। वह अद्वय होते हुए भी चार नित्य भेदोंवाला है—ज्ञान, विज्ञान, रहस्य और तदङ्ग। जीव-बुद्धिसे तुम इसे समझ नहीं पाओगे, मेरी कृपासे इसकी उपलब्धि करो। ज्ञान मेरा स्वरूप है, विज्ञान भक्ति-सम्बन्ध है, जीव मेरा रहस्य है, प्रधान मेरा ज्ञानाङ्ग है। इन चारों तत्त्वोंकी नित्य अद्वयता और नित्य रहस्यगत भेद मेरी अचिन्त्य शक्तिका परिणाम है।

भगवान्‌ने प्रिय उद्धवको भी ऐसा ही कहा है—

'अथैतत् परमं गुह्यं शृण्वतो यदुनन्दन।
सुगोप्यमपि वक्ष्यामि त्वं मे भृत्यः सुहृत् सखा।।'

(श्रीमद्भा. ११/११/४९)

अर्थात्, हे यदुनन्दन! इस परम गुह्य ज्ञानको सुनो। सुगोपनीय होनेपर भी मैं तुम्हें इसे कहूँगा, क्योंकि तुम मेरे भृत्य और सुहृद सखा हो।

श्रीशौनकादि ऋषियोंने सूत गोस्वामीसे विज्ञानमय गुह्य तत्त्वको वर्णन करनेके लिए प्रार्थना की—

'वेत्थं त्वं सौम्य तत्सर्वं तत्त्वतस्तदनुग्रहात्।
ब्रूयुः स्निग्धस्य शिष्यस्य गुरवो गुह्यमप्युत।।'

(श्रीमद्भा. १/१/८)

अर्थात्, गुरुवर्ग स्निग्ध स्वभाववाले शिष्योंको अत्यन्त निगूढ़ रहस्यका भी वर्णन करते हैं। यहाँ भी भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको ईर्ष्या-द्वेषरहित सुस्निग्ध हृदयवाला पुरुष निर्देशकर इस गुह्यतम ज्ञानका उपदेश दे रहे हैं अर्थात् प्रकृत तत्त्वज्ञ गुरु उपयुक्त शिष्यको ही गुह्यतम ज्ञानका उपदेश करते हैं। इस विषयमें श्वेताश्वतर उपनिषद् (६/२२-२३) भी ऐसा ही उपदेश प्रदान करती है—

'वेदान्ते परमं गुह्यं पुराकल्पे प्रचोदितम्।
नाप्रशान्ताय दातव्यं नापुत्रायाशिष्याय वा पुनः॥
यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्था प्रकाशन्ते महात्मनः॥'

(श्वे. उ. ६/२२-२३)

अर्थात्, यह भगवत् उपासना-तत्त्व वेदान्तका सार है तथा परम निगूढ़ है। पुरा कालमें श्वेताश्वतर ऋषिकी आराधनासे प्रसन्न होकर श्रीभगवान्ने इसे उनके हृदयमें प्रकाशित किया। अतएव जो शुद्ध भक्त नहीं हैं, ऐसे किसी व्यक्तिके लिए यह उपदेश नहीं है। किन्तु, प्रशान्त भगवद्भक्त पुत्र या शिष्यको यह उपदेश दिया जा सकता है। इनके अतिरिक्त स्नेहवश भी अन्य किसीको यह नहीं देना चाहिए।

जिस साधककी भगवान्में पराभक्ति है तथा जैसी भक्ति भगवान्में है, वैसी ही भक्ति अपने गुरुदेवमें भी है, उसी महात्माके हृदयमें इन श्रुतियोंका रहस्यमय अर्थ सम्पूर्णरूपसे प्रकाशित होता है।

इस विषयमें गीताके श्लोक (१८/५४-५८) भी द्रष्टव्य हैं॥१॥

राजविद्या राजगुह्यं पवित्रमिदमुत्तमम्।
प्रत्यक्षावगमं धर्म्यं सुसुखं कर्त्तुमव्ययम्॥२॥

अन्वय—इदम् (यह ज्ञान) राजविद्या (सभी विद्याओंमें श्रेष्ठ) राजगुह्यम् (गोपनीय विषयोंमें श्रेष्ठ) उत्तमम् पवित्रम् (अतिशय पवित्र) प्रत्यक्षावगमम् (प्रत्यक्ष अनुभूतिका विषय) धर्म्यम् (धर्मसङ्गत) कर्त्तुम् सुसुखम् (सुखसाध्य) अव्ययम् (और सनातन है)॥२॥

अनुवाद—यह ज्ञान सभी विद्याओंका राजा, गोपनीय विषयोंका राजा, अतिशय पवित्र, प्रत्यक्ष अनुभवयोग्य, धर्मसङ्गत, बिना कष्टके साधित होने योग्य और सनातन है॥२॥

श्रीविश्वनाथ—किञ्च, इदं ज्ञानं राजविद्या विद्या उपासना विविधा एव भक्तयः, तासां राजा राजदन्तादित्वात् परनिपातः। गुह्यानां राजेति भक्तिमात्रमेवातिगुह्यं तस्य बहुविधस्यापि राजेत्यतिगुह्यतमं पवित्रमिदमिति सर्वपापप्रायश्चित्तत्वात्। त्वं—पदार्थज्ञानाच्च सकाशादपि पावित्र्यकरम्। अनेकजन्मसहस्रसञ्चितानां सर्वेषामपि पापानां स्थूलसूक्ष्मावस्थानां तत्कारणस्याज्ञानस्य च सद्य एवोच्छेदकम्, अतः सर्वोत्तमं पावनमिदमेवेति मधुसूदनसरस्वतीपादाः। प्रत्यक्ष एवावगमोऽनुभवो यस्य तत्। *"भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः। प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्।।"* इत्येकादशोक्तेः प्रतिपदमेव भजनानुरूपभगवदनुभवलाभात्। धर्म्यं धर्मादनपेतं सर्वधर्माकरणेऽपि सर्वधर्मसिद्धेः *"यथा तरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्ध-भुजोपशाखाः। प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां, तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या।।"* इति नारदोक्तेः। कर्त्तुं सुसुखमिति कर्मज्ञानादाविव नात्र कोऽपि कायवाङ्मानस-क्लेशातिशयः, श्रवण-कीर्त्तनादिभक्तेः श्रोत्रादीन्द्रियव्यापारमात्रत्वादव्ययं कर्मज्ञानादिवन्न नश्वरं निर्गुणत्वात्।।२।।

भावानुवाद—और भी, यह ज्ञान राजविद्या है। विद्या या उपासना विविध प्रकारकी होती है, किन्तु भक्ति ही उनका राजा है, यह गुह्य विषयोंमें राजा है अर्थात् भक्तिमात्र ही अतिगुह्य है, अनेक प्रकारकी होनेपर भी विज्ञानसहित यह ज्ञान उन सबका राजा है अर्थात् अतिगुह्यतम है। सभी पापोंका प्रायश्चित्त होनेके कारण यह पवित्र है। यह 'त्वं'-पदार्थके ज्ञानसे भी अधिक पवित्रकर है। श्रीपादमधुसूदन सरस्वती कहते हैं—"हजारों जन्मोंसे सञ्चित समस्त प्रकारके पापसमूहके स्थूल और सूक्ष्म अवस्थाओं तथा उनके कारण—अज्ञानको निमेषमात्रमें छेदन करनेवाली है, अतएव यह सर्वोत्तम पावन है।" जिसका प्रत्यक्ष अनुभव हो सके, वही 'प्रत्यक्षावगमम्' है—"जैसे भोजनमें तल्लीन व्यक्तिको प्रत्येक ग्रासके सङ्ग-सङ्ग भोजनजनित सुख, उदरपूर्त्ति एवं क्षुधा-निवृत्तिजनित तुष्टि—ये तीनों फल एकसाथ प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार हरिभजनपरायण व्यक्तिको भजनके सङ्ग-सङ्ग प्रेम, परमेश्वरका अनुभव एवं विषयोंसे विरक्ति—ये तीनों ही एक साथ प्राप्त होते हैं।" (श्रीमद्भा. ११/२/४०) एकादश स्कन्धकी इस उक्तिके अनुसार भजनके अनुरूप भगवत्-अनुभव प्राप्त होता है। यह 'धर्म्यं' है अर्थात् धर्मके बहिर्भूत नहीं है। अन्य समस्त धर्मोंके नहीं करनेपर भी इससे सर्वधर्म सिद्ध होते हैं। देवर्षि नारदने कहा है—"जैसे वृक्षके मूलको जलसे सींचनेसे वृक्षके तना,

शाखा, प्रशाखा इत्यादि समस्त ही तृप्त होते हैं, उसी प्रकार एकमात्र भगवान् अच्युतकी आराधनासे ही अन्यान्य सबकी उपासना हो जाती है।" (श्रीमद्भा. ४/३१/१४) 'कर्त्तुं सुसुखम्'—कर्म-ज्ञानादिके समान भक्तिमें काय-मन-वाक्य द्वारा अधिक कष्ट नहीं है। श्रवण-कीर्त्तनादि भक्तिमें केवल कान आदि इन्द्रियोंका कार्य है। निर्गुण होनेके कारण भक्ति कर्म, ज्ञान आदिके समान नश्वर नहीं है।।२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस नवें अध्यायमें निर्गुणा, केवला भक्तिका वर्णन किया गया है। यह केवला भक्तिरूप ज्ञान सर्वविद्या चूड़ामणि, परम गोपनीय, सर्वापेक्षा पवित्रकारी, प्रत्यक्ष अनुभवस्वरूप, सर्वधर्म-फलप्रद, सुखसाध्य तथा अक्षय फलयुक्त है।

यहाँ विद्या शब्दका तात्पर्य 'उपासना' से है, अतः यह सभी प्रकारकी उपासनाओंमें श्रेष्ठतम है। समस्त विद्याओंमें श्रेष्ठ होनेके कारण ही इस केवला भक्तिको **राजविद्या** तथा सब प्रकारके गुह्य विषयोंमें श्रेष्ठतम होनेके कारण इसे **राजगुह्य** कहा गया है।

पवित्रमिदमुत्तमम्—दान, तर्पण, चान्द्रायण व्रत आदि प्रायश्चित्तोंके द्वारा पापोंका क्षय होनेपर भी आत्यन्तिकरूपसे उनका क्षय नहीं होता। यहाँ तक कि तपस्या ओर ब्रह्मचर्यादिके द्वारा पापोंका क्षय होनेपर भी पुनः पाप-अंकुरके उद्गम होनेकी सम्भावना रहती है। किन्तु, श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंके अनुसार केवला भक्तिके द्वारा आत्यन्तिकरूपसे पापोंका ध्वंस हो जाता है। यहाँ तक कि केवला भक्तिके आनुषङ्गिक फलसे ही पापोंका समूल ध्वंस हो जाता है अर्थात् पाप करनेकी वासना भी नष्ट हो जाती है। भक्तिके अतिरिक्त प्रायश्चित्त, बह्मचर्य, तपस्यादिके द्वारा यह सम्भव नहीं है—*'केचित् केवलया भक्त्या वासुदेवपरायणाः'* (श्रीमद्भा. ६/१/१५) और भी, *'न तथा ह्यघवान् राजन् पूयेत तप आदिभिः'* (श्रीमद्भा. ६/१/१६)। श्रीभक्तिरसामृत-सिन्धुमें केवला भक्तिको सर्वप्रथम क्लेशघ्नी कहा गया है। 'क्लेशघ्नी' का तात्पर्य पाप, पापबीज, अविद्या, प्रारब्ध, अप्रारब्ध—सबको सम्पूर्णरूपेण विनाश करनेवालीसे है।

'अप्रारब्धं फलं पापं कूटं बीजं फलोन्मुखम्।
क्रमेनैव प्रलीयते विष्णुभक्तिरतात्मनाम्।।'

(पद्मपुराण)

केवला भक्ति केवल स्थूल और सूक्ष्म उपाधियोंको ही पवित्र नहीं करती, अपितु आत्माको भी पवित्र और प्रसन्न करनेवाली होती है—*'ययाऽऽत्मा सम्प्रसीदति'* (श्रीमद्भा. १/२/६)। भक्ति आत्माराम, आप्तकाम पुरुषोंके भी आत्मारामत्व और आप्तकामत्वका त्याग कराकर उसे कृष्णसेवानन्दमें आकर्षित करती है—*'आत्मारामश्च मुनयो'* (श्रीमद्भा. १/७/१०)।

प्रत्यक्ष अनुभवस्वरूप—"जिस प्रकार भोजनकारी व्यक्तिको प्रत्येक ग्रासके साथ-साथ तुष्टि, पुष्टि और क्षुधानिवृत्ति होती है, उसी प्रकार साधक भक्तको भजन कालमें अर्थात् साधन दशामें ही भक्ति, इष्टदेवकी अनुभूति और विषयोंसे विरक्ति—ये समस्त एक साथ अनुभव होते हैं।"

'भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः।
प्रपद्यमानस्य यथाश्नतः स्युस्तुष्टिः पुष्टिः क्षुदपायोऽनुघासम्।।'

(श्रीमद्भा. ११/२/४२)

भक्तिके अतिरिक्त कर्म, योग, ज्ञानादि साधकोंको ऐसा प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता है। ब्रह्मसूत्रमें भी कहा गया है—*'प्रकाशश्च कर्मण्यभ्यासात्'* अर्थात् भक्तिमें इतना सामर्थ्य है कि भक्तिके प्रारम्भ करनेमात्रसे अपना अनुभव प्रदान करती है।

सर्वधर्म-फलप्रद—भक्तिका अनुष्ठान करनेसे समस्त धर्मोंका सम्पूर्ण फल तथा इसके अतिरिक्त वेद, उपनिषदादि श्रुतियोंके प्रतिपाद्य भगवत्-प्रेमकी भी प्राप्ति होती है। श्रीगीतामें कहे गए *'सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज'*—इस श्लोकके अनुसार समस्त धर्मों अर्थात् वर्णाश्रम धर्म, कर्म, ज्ञान, योगादि तथा शारीरिक और मानसिक समस्त पथोंका परित्यागकर एकमात्र केवला भक्तिका आश्रयकर श्रीकृष्णका भजन करनेसे उक्त समस्त धर्मोंका फल सरल सहजरूपमें सुखपूर्वक पाया जाता है। यथा—*'संसिद्धिः हरितोषणम्'* (श्रीमद्भा. १/२/१३) और *'सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा'* (श्रीमद्भा. ११/२०/३३)। केवला भक्तिमें अन्यान्य धर्मोंका अनुष्ठान नहीं होनेपर भी गुरु-शुश्रूषा आदि जीवका स्वरूपगत धर्म उसमें विद्यमान रहता है। श्रुतिमें भी *'आचार्यवान् पुरुषो वेद'* आदि मन्त्रोंके द्वारा उक्त मतकी पुष्टि होती है। देवर्षि नारदकी उक्तिसे भी इसका प्रतिपादन होता है—

'यथातरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या।।'

(श्रीमद्भा. ४/३१/१४)

अर्थात्, जिस प्रकार वृक्षके मूलमें भलीभाँति जल-सिंचनसे उसके स्कन्ध-शाखा-प्रशाखा-पत्र-पुष्पादि सभीका पोषण होता है और जिस प्रकार भोजनसे प्राणोंको तृप्त करनेपर सभी इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान्‌की पूजा करनेसे ही सबकी पूजा हो जाती है।

सुख-साध्य—ज्ञान-योगादिकी भाँति केवला भक्तिके साधनमें कोई क्लेश नहीं है। क्लेशकी बात तो दूर ही रहे, इसके साधनमें भी सुखकी अनुभूति होती है, इसलिए इसे 'सुखसाध्य' कहा जाता है। जिह्वा, कर्णादि इन्द्रियोंके द्वारा मधुर हरिनाम और भगवत्-लीला-कथाओंके स्पर्शमात्रसे ही अथवा तुलसी-पत्र तथा एक गण्डुष जलादि उपकरणके द्वारा ही इस भक्तिका साधन होता है। प्रह्लाद महाराजने भी असुर बालकोंको यह शिक्षा दी है—*'न ह्यच्युतं प्रीणयतो बह्वायासो'* (श्रीमद्भा. ७/६/१९) अर्थात् भगवान् अच्युत श्रीकृष्णको प्रसन्न करनेमें बहुत परिश्रमकी आवश्यकता नहीं होती। इस श्लोककी टीकामें श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुरने कहा है—"कुटुम्बके भरण-पोषण अथवा उनको प्रसन्न करनेमें जिस प्रकार अत्यधिक क्लेश होता है, श्रीहरिको प्रसन्न करनेमें वैसे किसी क्लेशकी आवश्यकता नहीं होती; सबके अन्तःकरणमें अन्तर्यामीके रूपमें सदा-सर्वदा विद्यमान रहनेके कारण उनके अन्वेषणमें भी कोई क्लेश नहीं है। समस्त कालोंमें, समस्त अवस्थाओंमें, सब प्रकारसे, यहाँ तक कि मानस उपचारके द्वारा भी, सेवाके सङ्कल्पमात्रसे, श्रवण-कीर्त्तनादि किसी भी एक भक्ति-अङ्गके पालनसे भगवान्‌की प्रीति साधित होती है। इसीलिए भक्ति-साधनमें कोई कष्ट नहीं है। साधनके समय भी आनन्दकी अनुभूति होती है—*'सुखाराध्यमृजुभिरनन्यशरणैर्नृभिः'* (श्रीमद्भा. ३/१९/३६) अर्थात् अनन्य शरणागत, सरल चित्तवाले मनुष्यमात्रके लिए श्रीकृष्ण सुखाराध्य हैं। गौतमीय तन्त्रमें भी कथित है—

'तुलसीदलमात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः।।'

अक्षय फलप्रद—कर्म-ज्ञान-योगादि साधन नश्वर हैं अर्थात् सिद्धि हो जानेपर स्वयं निरस्त हो जाते हैं; किन्तु भक्ति साधन और सिद्धि—दोनों ही अवस्थाओंमें विद्यमान रहती है, क्योंकि भक्ति ही साधन भी है तथा साध्य भी। मुक्तावस्थामें भी भक्तिका अभाव नहीं देखा जाता, बल्कि यह और पूर्ण तथा शुद्धरूपसे साधित होती है, इसलिए यह अक्षय है।।२।।

अश्रद्दधानाः पुरुषा धर्मस्यास्य परन्तप।
अप्राप्य मां निवर्त्तन्ते मृत्युसंसारवर्त्मनि।।३।।

अन्वय—परन्तप (हे परन्तप!) अस्य धर्मस्य (मेरी भक्तिरूप इस धर्मके प्रति) अश्रद्दधानाः (श्रद्धाशून्य) पुरुषाः (व्यक्तिगण) माम् (मुझे) अप्राप्य (नहीं प्राप्तकर) मृत्यु-संसार-वर्त्मनि (मृत्युयुक्त संसारपथमें) निवर्त्तन्ते (भ्रमण करते रहते हैं)।।३।।

अनुवाद—हे परन्तप! मेरी भक्तिरूप इस धर्मके प्रति श्रद्धाविहीन व्यक्तिगण मुझे प्राप्त न होकर मृत्युयुक्त संसारपथमें भ्रमण करते रहते हैं।।३।।

श्रीविश्वनाथ—नन्वेवमस्य धर्मस्यातिसुकरत्वे सति को नाम संसारी स्यात्? तत्राह—'अश्रद्दधानाः'। अस्येति कर्मणि षष्ठी आर्षी। इमं धर्ममश्रद्दधानाः शास्त्रवाक्यैः प्रतिपादितं भक्तेः सर्वोत्कर्षं स्तुत्यर्थवादमेव मन्यमाना आस्तिक्येन न स्वीकुर्वन्ति। ये ते उपायान्तरैर्मत्प्राप्तये कृतप्रयत्ना अपि मामप्राप्य मृत्युव्याप्ते संसारवर्त्मनि नितरामतिशयेन वर्त्तन्ते।।३।।

भावानुवाद—यदि अर्जुनके मनमें संशय हो कि यह धर्म इतना सहज-साध्य है, तो कोई व्यक्ति संसारी क्यों होता है, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—'अश्रद्दधानाः' इत्यादि। 'अस्य' अर्थात् 'भक्तिका'—यहाँ कर्ममें षष्ठी विभक्तिका प्रयोग आर्ष है। शास्त्रवाक्यों द्वारा भक्तिकी सर्वोत्कृष्टता प्रतिपादित होनेपर भी अश्रद्धावान् व्यक्तिगण इस धर्मको अतिस्तुति समझते हैं तथा आस्तिक्य बुद्धिके साथ स्वीकार नहीं करते हैं। जो इस प्रकारके (भक्तिपथ त्यागी) व्यक्ति हैं, वे मुझे प्राप्त करनेके लिए अन्य प्रकारसे प्रकृष्ट यत्न करनेपर भी मुझे न प्राप्तकर मृत्युव्याप्त संसारमार्गमें ही भ्रमण करते रहते हैं।।३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जो लोग भक्तिकी ऐसी महिमा जान-सुनकर भी इसे अतिस्तुति समझते हैं और इसीलिए वे भक्तिके प्रति विश्वास नहीं कर पाते—ऐसे अश्रद्धालु लोग भगवद्भक्तिका आश्रय न कर पुनः पुनः संसारमें आवागमन करते हैं। श्रद्धा ही भक्तिका मूल है। भक्ति द्वारा ही भक्तवत्सल भगवान्‌की प्राप्ति होती है। चैतन्य चरितामृतमें भी इस विचारकी पुष्टि की गई है—

'श्रद्धावान् जन हय भक्ति अधिकारी।'

और भी,

'ब्रह्माण्डत्र भ्रमिते कोन भाग्यवान जीव।
गुरु-कृष्ण प्रसादे पाय भक्ति-लता बीज।।'

अर्थात्, ब्रह्माण्डमें भ्रमण करते-करते कोई विरला सौभाग्यवान् जीव श्रीगुरुदेवकी कृपासे भक्ति-लताका बीज प्राप्त करता है। श्रीगुरुदेव जीवोंके हृदयमें कृष्ण-सेवाकी वासनाका संचार करते हैं। इसी सेवाकी वासनासे पारमार्थिक श्रद्धा उत्पन्न होती है, जो भक्तिका मूल कारण है। अश्रद्धालु भाग्यहीन व्यक्ति समस्त शास्त्रोंमें प्रतिपादित भक्ति-मार्गका आश्रय नहीं ग्रहणकर सत्कर्म-ज्ञान-योग-तपस्यादि अन्यान्य साधनोंके द्वारा श्रीभगवान्‌को पानेका यत्न करते हैं। किन्तु, उनका यह मनोरथ व्यर्थ होता है—*'यं न योगेन.........यत्नवानपि'* (श्रीमद्भा. ११/१२/९)। श्रीमद्भागवतमें और भी कहा गया है—*'य इह यतन्ति............व्यसनशतान्विताः'* (श्रीमद्भा. १०/८७/३३)। इस श्लोककी श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरकी व्याख्याका सार यह है—जो लोग श्रीगुरुदेवके चरणकमलोंकी परिचर्या (भक्ति-पथका प्रधान आश्रय) का परित्यागकर योगादि द्वारा मनका दमन करना चाहते हैं, वे व्यर्थमनोरथ होकर नाना प्रकारके विघ्न और विपत्तियोंसे पूर्ण भवसिन्धुमें पतित होते हैं। श्रीगीता (१२/२० तथा ३/३१) में भी भगवान्‌ने विशदरूपसे इसका वर्णन किया है।।३।।

मया ततमिदं सर्वं जगदव्यक्तमूर्त्तिना।
मत्स्थानि सर्वभूतानि न चाहं तेष्ववस्थितः।।४।।

अन्वय—अव्यक्तमूर्त्तिना मया (मेरी इन्द्रियातीत मूर्त्ति द्वारा) इदम् सर्वम् जगत् (यह सम्पूर्ण जगत्) ततम् (व्याप्त है) सर्वभूतानि (समस्त भूत) मत्स्थानि (मुझमें अवस्थित हैं) अहम् च (किन्तु मैं) तेषु (उनमें) न अवस्थितः (अवस्थित नहीं हूँ)।।४।।

अनुवाद—इन्द्रियातीत मेरी मूर्त्ति द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है तथा समस्त भूत मुझमें अवस्थित हैं, किन्तु मैं उनमें अवस्थित नही हूँ।।४।।

श्रीविश्वनाथ—मद्दास्यभक्तावेतन्मात्रं मदैश्वर्यज्ञानं मद्भक्तैरपेक्षितव्यमित्याह सप्तभिः। अव्यक्ता अतीन्द्रिया मूर्त्तिः स्वरूपं यस्य तेन मया कारणभूतेन सर्वमिदं जगत् ततं व्याप्तम्। अतएव मत्स्थानि मयि कारणभूते पूर्णचैतन्यस्वरूपे स्थितानि सर्वाणि भूतानि चराचराणि सन्ति। एवमपि घटादिषु स्वकार्येषु मृदादिवत्तेषु भूतेषु नाहमवस्थितोऽसङ्गत्वात्।।४।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् कह रहे हैं—मेरी दास्यभक्तिमें ही मेरे भक्तोंको इतने ऐश्वर्य ज्ञानकी अपेक्षा रहती है। आगामी दसवें श्लोक तक इसे ही बताया जा रहा है। जिनकी अव्यक्त या अतीन्द्रिय मूर्त्ति अर्थात् स्वरूप है, उन कारणभूत मेरे द्वारा यह सम्पूर्ण जगत् व्याप्त है। अतएव मुझ कारणभूतमें अर्थात् पूर्ण चैतन्यस्वरूपमें चर-अचर समस्त भूत स्थित हैं। तथापि, मैं उनमें नहीं हूँ। जिस प्रकार घटादिमें मृत्तिका अवस्थित रहती है, मैं उस प्रकार भूतोंमें अवस्थित नही हूँ।।४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

परिणाम—दूध एक शुद्ध पदार्थ है। अम्लके संयोगसे वही दहीका रूप धारण करता है, इसे ही विकार कहते हैं। अतः दही दूधका ही परिणाम है।

विवर्त्त—किसी एक वस्तुमें दूसरी वस्तुके भ्रम होनेका नाम विवर्त्त है, यथा—रज्जुमें सर्पका भ्रम अथवा सीपमें रजतका भ्रम विवर्त्त कहलाता है।

यहाँ श्रीकृष्णके उपदेशका सार यह है कि जगत् मेरा परिणाम नहीं है अथवा रज्जुमें सर्प-भ्रमकी भाँति जीव या जगत् मेरा विवर्त्त नहीं है अर्थात् मेरी सत्तामें जीव और जगत्की भ्रान्ति नहीं होती। मैं एक सत्य वस्तु हूँ, जीव और जगत् भी सत्य हैं। जीव और जगत् मेरी शक्तिके परिणाम हैं। जीव नित्य है, किन्तु जगत् सत्य होते हुए भी अनित्य अर्थात् नाशवान है। चूँकि जीव और जगत् मेरी अभिन्न शक्तिके परिणाम हैं, इसलिए युगपत इनसे मेरा भेद और अभेद है। किन्तु, शास्त्रगम्य होनेके कारण साधारण बुद्धिसे इसे अनुभव नहीं किया जा सकता, इसलिए यह अचिन्त्य है। जहाँ भेद तथा अभेद दोनों ही प्रतीतियाँ हैं, वहाँ भेदकी प्रतीति ही प्रबल होती है, अभेदकी नहीं। अतएव मैं जीव और जगत्से पृथक् पूर्ण चैतन्यस्वरूप हूँ।।४।।

न च मत्स्थानि भूतानि पश्य मे योगमैश्वरम्।
भूतभृन्न च भूतस्थो ममात्मा भूतभावनः।।५।।

अन्वय—मे (मेरे) ऐश्वरम् योगम् (असाधारण योगैश्वर्यको) पश्य (देखो) भूतानि च (समस्त भूत भी) न मत्स्थानि (मुझमें स्थित नहीं हैं) मम आत्मा (मेरा स्वरूप) भूतभृत् (भूतोंको धारण करनेवाला) भूतभावनः (भूतोंका पालन करनेवाला है) न भूतस्थः (किन्तु मैं भूतोंमें अवस्थित नही हूँ)।।५।।

अनुवाद—मेरे असाधारण योगैश्वर्यको तो देखो, भूतसमूह मुझमें अवस्थित नही भी हैं। यद्यपि मेरा स्वरूप भूतधारक तथा भूतपालक का है, तथापि मैं उनमें अवस्थित नही हूँ।।५।।

श्रीविश्वनाथ—तत एव मयि स्थितान्यपि भूतानि न मत्स्थानि ममासङ्गत्वादेवेति भावः। ननु तर्हि तव जगद्व्यापकत्वं जगदाश्रयत्वञ्च पूर्वोक्तं विरुद्धमित्याह—पश्य मे योगमैश्वरम् असाधारणं योगैश्वर्यमघटित-घटना-चातुर्यमयम्। अन्यदप्याश्चर्यं पश्येत्याह—भूतानि विभर्त्ति धारयति इति भूतभृत्, भूतानि भावयति पालयतीति भूतभावनः। एवम्भूतोऽपि ममात्मा भूतस्थो न भवति ममेति भगवति देहिदेह-विभागाभावात् 'राहोः शिरः' इतिवत् अभेदेऽपि षष्ठी। अयं भावः—यथा जीवो देहं दधत् पालयन्नपि तस्मिन्नासक्त्या देहस्थ एव भवति, एवमहं भूतानि दधत् पालयन्नपि मायिकसर्वभूत-शरीरोऽपि न तत्रस्थो निःसङ्गत्वादिति।।५।।

भावानुवाद—अतएव मुझमें अवस्थित समस्त भूत भी मेरे स्वरूपमें अवस्थित नहीं है, क्योंकि मैं असङ्ग हूँ। यदि कहो कि इससे पूर्वकथित आपके जगद्व्यापकत्व और जगदाश्रयत्वका विरोध होता है, तो इसका उत्तर यह है कि मेरे असाधारण योगैश्वर्य अर्थात् अघटितको घटित करनेवाले ऐश्वर्यको देखो, यह उसका ही कार्य (प्रभाव) है। मेरे और भी आश्चर्यको देखो—जो भूतोंको धारण करते हैं, वे भूतभृत हैं; जो भूतोंका पालन करते हैं, वे भूतभावन हैं—इस प्रकार होनेपर भी मेरा आत्मा भूतस्थ नहीं है अर्थात् भूतस्वरूपमें अवस्थित नहीं है। मुझ भगवान्में देह-देहीका भेद नहीं है। 'राहोः शिरः'—यहाँ जिस प्रकार अभेदमें षष्ठीका प्रयोग है, उसी प्रकार यहाँ षष्ठीका प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार जीव देहको धारण तथा पालनकर आसक्तिवश देहमें ही अवस्थान करता है, मैं इस प्रकार भूतोंको धारण-पालन करनेपर भी, मायिक भूत-शरीरमें स्थित होता हुआ भी अनासक्त होनेके कारण उनमें नही हूँ।।५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—मैं समग्र भौतिक जगत्में व्याप्त हूँ और समस्त भूत मुझमें अवस्थित हैं, तथापि वे मेरे स्वरूपमें अवस्थित नहीं हैं—इस विषयको और भी स्पष्ट करते हुए श्रीभगवान् अर्जुनको बता रहे हैं कि मैं समस्त भूतोंका धारक तथा पालक होनेपर भी भूतोंमें स्थित नहीं हूँ। श्रीमद्भागवतमें भी इस सिद्धान्तकी पुष्टि की गई है—

'एतदीशनमीशस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः न युज्यते'

(श्रीमद्भा. १/११/३८)

अर्थात्, ईश्वर प्रकृतिमें अधिष्ठित रहनेपर भी प्राकृतिक गुणोंमें लिप्त नहीं होते। यही ईश्वरका आश्चर्यजनक ईश्वरत्व है। यह अघटन-घटन कार्य ही ऐश्वर्ययोग है।

"मैंने कहा कि समस्त भूत मुझमें ही अवस्थित हैं। इससे यह मत समझो कि मेरे शुद्धस्वरूपमें समस्त भूत स्थित हैं। मेरी मायाशक्तिका जो प्रभाव है, वे (समस्त भूत) उसमें ही स्थित हैं। तुम जीव-बुद्धि द्वारा इसका सामञ्जस्य नहीं कर पाओगे, अतएव इसे मेरा ऐश्वर्य-योग समझकर मेरे शक्ति-कार्यको मेरे कार्य-बोधसे मुझे 'भूतभृत', 'भूतस्थ' और 'भूतभावन' जानकर यह विचार स्थिर करो कि मुझमें देह-देहीका भेद नहीं होनेके कारण मैं सर्वस्थ होकर भी नितान्त निःसङ्ग हूँ।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।५।।

यथाकाशस्थितो नित्यं वायुः सर्वत्रगो महान्।
तथा सर्वाणि भूतानि मत्स्थानीत्युपधारय।।६।।

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) वायुः (वायु) सर्वत्रगः (सर्वव्यापी) महान् (अपरिसीम) [अपि—होनेपर भी] नित्यम् (नित्य) आकाशस्थितः (आकाशमें अवस्थित है) तथा (उसी प्रकार) सर्वाणि भूतानि (समस्त भूत) मत्स्थानि (मुझमें स्थित हैं) इति उपधारय (ऐसा जानो)।।६।।

अनुवाद—जिस प्रकार सर्वव्यापी तथा अपरिसीम होनेपर भी वायु सदा ही आकाशमें स्थित है, उसी प्रकार समस्त भूत मुझमें अवस्थित हैं—ऐसा जानो।।६।।

श्रीविश्वनाथ—असङ्ग मयि भूतानि स्थितान्यपि न स्थितानि तेष्वपि अहं स्थितोऽपि न स्थित इत्यत्र दृष्टान्तमाह—यथेति। यथैवासङ्गस्वभावे आकाशे स्थितो नित्यं वातीति वायुः सर्वदा चलनस्वभावः, अतएव सर्वत्र गच्छतीति सर्वत्रगः, महान् परिमाणतः यथा स्वाकाशस्य असङ्गत्वात् तत्र स्थितोऽपि न स्थितः, आकाशोऽपि वायौ स्थितोऽपि न स्थितोऽसङ्गत्वात् एव, तथैव असङ्गस्वभावे मयि सर्वाणि भूतानि आकाशादीनि महान्ति सर्वत्रगानि स्थितानि नापि स्थितानि इत्युपधारय विमृश्य निश्चिनु। ननु तर्हि *"पश्य मे योगमैश्वरम्"* इति भगवदुक्तं योगैश्वर्यस्यातर्क्यत्वं कथं सिद्धमभूत् दृष्टान्तलाभात्? उच्यते-आकाशस्य जडत्वादेवासङ्गत्वम्, चेतनस्य तु असङ्गत्वं जगदधिष्ठानाधिष्ठातृत्वे एव परमेश्वरं विना नान्यत्रास्तीत्यतर्क्यत्वं सिद्धमेव, तदप्याकाशदृष्टान्तो लोकबुद्धिप्रवेशार्थ एव ज्ञेयः।।६।।

भावानुवाद—'असङ्ग' अर्थात् समस्त भूत मुझमें स्थित रहनेपर भी वे मुझमें नहीं हैं तथा मैं समस्त भूतोंमें रहने पर भी उनमें नहीं हूँ—इस सम्बन्धमें दृष्टान्त देते हुए 'यथा' इत्यादि कह रहे हैं। वायुका स्वभाव है—सर्वदा गमनशील रहना, अतः इसे 'सर्वग' अर्थात् सर्वत्र गमनशील कहा गया है तथा परिणाममें यह असीम है, अतः इसे महान कहा गया है। जिस प्रकार असङ्ग स्वभावविशिष्ट आकाशमें स्थित होनेपर भी यह (वायु) आकाशमें स्थित नहीं है तथा आकाश भी असङ्ग होनेके कारण वायुमें स्थित होनेपर भी वायुमें स्थित नहीं है, उसी प्रकार असङ्ग स्वभावविशिष्ट समस्त भूत अर्थात् सर्वगत आकाशादि महाभूतसमूह मुझमें स्थित होकर भी मुझमें अवस्थित नहीं हैं—इसे विचारपूर्वक निश्चय करो अर्थात् धारण करो। यदि अर्जुन यह प्रश्न करे कि अच्छा, तो आपके द्वारा उक्त 'मेरे योगैश्वर्यको देखो'—इस योगैश्वर्यका अतर्क्यत्व दृष्टान्त द्वारा किस प्रकार सिद्ध हुआ? अर्थात्, जब आपने उदाहरण द्वारा इसे समझा ही दिया, तो यह अतर्क्य कहाँ रहा? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—आकाश जड़ होकर ही 'असङ्ग' है, किन्तु चेतनका असङ्गत्व जगदधिष्ठानके अधिष्ठातृत्व होनेके कारण परमेश्वरके अतिरिक्त अन्यत्र असम्भव है—इसके द्वारा ही इसका अतर्क्यत्व सिद्ध होता है। यहाँ जो आकाशका दृष्टान्त दिया गया है, वह साधारण लोगोंकी बुद्धिमें सहज ही सिद्धान्तको प्रवेश करानेके लिए दिया गया है, प्रकृतरूपमें अतर्क्य वस्तुकी तुलनाका कोई स्थल नहीं है।।६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ *'पश्य मे योगमैश्वरम्'* का एक गूढ़ तात्पर्य है, वह यह कि भगवत्-तत्त्व या भगवान्‌का साक्षात्कार भगवान्‌की कृपासे ही सम्भव है। भगवान्‌की कृपाके बिना भगवत्-दर्शन सम्भव नहीं है। भगवत्-सेवोन्मुखी वृत्ति अर्थात् भक्तिके द्वारा भगवान्‌का साक्षात्कार होता है। इसकी पुष्टि ब्रह्मसंहितामें की गई है—

'प्रेमाञ्जनच्छुरित भक्तिविलोचनेन सन्तः सदैव हृदयेषु विलोकयन्ति।
यं श्यामसुन्दरं अचिन्त्यगुणस्वरूपं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।'

(ब्र. सं. ५/३८)

अर्थात्, प्रेमाञ्जन द्वारा अनुरञ्जित भक्ति-नेत्रसे ही भक्तगण अपने हृदयमें श्रीगोविन्दका सदैव दर्शन करते हैं। भगवान् सर्वव्यापी होनेपर भी सर्वदा मध्यमाकार श्रीकृष्णस्वरूपमें विराजमान रहते हैं। जिस प्रकार सूर्य पृथक् स्वस्वरूपमें स्थित होकर भी अपने प्रकाशसे सम्पूर्ण ब्रह्माण्डमें व्याप्त है, उसी प्रकार भगवान् भी अपनी योगमायाके द्वारा अपने पृथक् स्वस्वरूपमें

विराजमान रहकर भी अखिल चराचर जगत्‌में व्याप्त हैं। इसीलिए यहाँ कृष्ण कृपापूर्वक अर्जुनको यह स्पष्टरूपसे कह रहे हैं कि हे अर्जुन! स्थूल इन्द्रियोंके द्वारा मेरी अनुभूति या दर्शन कदापि सम्भव नहीं है। मैं तुम्हें स्वयं कृपाकर दिखा रहा हूँ। मेरी अघटन-घटन-पटीयसी योगमायाकी शक्ति आश्चर्यजनक है। इसीका आश्रयकर मैं समस्त भूतोंको धारणकर भी मैं इनसे सर्वथा निर्लिप्त हूँ।

"इस प्रकारके सम्बन्धका जड़ीय उदाहरण सन्तोषजनक नहीं है, अतएव बद्धजीव इस तत्त्वको धारण नहीं कर पाते हैं। तथापि, मोटे तौरपर इसे समझानेके लिए एक उदाहरण दे रहा हूँ, विचारपूर्वक इसे भलीभाँति धारण करनेमें अक्षम होनेपर भी तुम उपधारणा कर सकोगे (अर्थात् थोड़ा-बहुत समझ सकते हो)। आकाश एक सर्वव्यापक वस्तु है, इसमें परमाणु इत्यादिकी जो चालना है, वह सर्वत्र गतिविशिष्ट है, तथापि आकाश सभीका आधार होकर भी उनसे निःसङ्ग है। इसी प्रकार मेरी शक्तिसे ही समस्त जीवोंकी उत्पत्ति और गति होने पर भी आकाश-सदृश मैं सर्वदा निःसङ्ग हूँ।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।६।।

सर्वभूतानि कौन्तेय प्रकृतिं यान्ति मामिकाम्।
कल्पक्षये पुनस्तानि कल्पादौ विसृजाम्यहम्।।७।।

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) कल्पक्षये (प्रलयकालमें) सर्वाणि भूतानि (समस्त भूत) मामिकाम् प्रकृतिम् (मेरी प्रकतिमें) यान्ति (लीन हो जाते हैं) पुनः (पुनः) कल्पादौ (सृष्टिकालमें) अहम् (मैं) तानि (उन सभीका) विसृजामि (विशेष भावसे सृजन करता हूँ)।।७।।

अनुवाद—हे कौन्तेय! प्रलयकालमें समस्त भूत मेरी प्रकतिमें लीन हो जाते हैं तथा पुनः सृष्टिकालमें मैं उन सभीका विशेष भावसे सृजन करता हूँ।।७।।

श्रीविश्वनाथ—ननु अधुना दृश्यमानानि एतानि भूतानि त्वयि स्थितानि इत्यवगम्यते महाप्रलये क्व यास्यन्तीत्यपेक्षायामाह—सर्वेति। मामिकां मदीयां मम त्रिगुणात्मिकायां मायाशक्तौ लीयन्त इत्यर्थः। पुनः कल्पक्षये प्रलयान्ते सृष्टिकाले तानि विशेषेण सृजामि।।७।।

भावानुवाद—अच्छा, वर्त्तमानमें दृश्यमान समस्त भूत आपमें अवस्थित जाने जाते हैं, किन्तु महाप्रलयमें वे कहाँ जाएँगे? अर्जुनसे इस प्रश्नकी अपेक्षाकर श्रीभगवान् कहते हैं—'सर्व' इत्यादि। वे मेरी त्रिगुणात्मिका मायाशक्तिमें लीन हो जाते हैं तथा पुनः प्रलयके अन्तमें अर्थात् सष्टिके आरम्भकालमें मैं उनकी विशेषभावसे सृष्टि करता हूँ।।७।।

सा. व. प्रकाशिका. वृत्ति—इस भौतिक जगत्का सृजन, पालन और संहार पूर्णतया भगवान्की इच्छासे होता है । यहाँ 'कल्पक्षय' का तात्पर्य ब्रह्माकी आयु समाप्त होनेसे है। इस विषयका वर्णन पहले कर दिया गया है। ब्रह्माकी आायु समाप्त होनेपर महाप्रलय होता है, उस समय भूतसमूह भगवान्की बहिरङ्गा प्रकृतिमें अपनी कर्मवासनाके साथ प्रवेश कर जाते हैं तथा अगले कल्पके आरम्भमें पुनः भगवत्-इच्छासे प्रकृति द्वारा सृष्ट होते हैं तथा अपनी पूर्व वासनाओंके अनुसार विभिन्न योनियोंको प्राप्त होते हैं। इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतके श्लोक (१२/४/५-६) द्रष्टव्य हैं।।७।।

प्रकृतिं स्वामवष्टभ्य विसृजामि पुनः पुनः।
भूतग्राममिमं कृत्स्नमवशं प्रकृतेर्वशात्।।८।।

अन्वय—स्वाम् (अपनी) प्रकृतिम् (त्रिगुणत्मिका प्रकृतिका) अवष्टभ्य (आश्रयकर) प्रकृतेः वशात् (प्राचीन कर्मनिमित्त स्वभाववश) अवशम् (कर्म इत्यादिके परतन्त्र) इदम् कृत्स्नम् (इस समग्र) भूतग्रामम् (भूतसमूहको) पुनः पुनः (बार-बार) विसृजामि (सृजन करता हूँ)।।८।।

अनुवाद—अपनी त्रिगुणात्मिका प्रकृतिका आश्रयकर मैं प्राचीन स्वभाववश कर्मादिके परतन्त्र इस समग्र भूतसमूहकी पुनः पुनः सृष्टि करता हूँ।।८।।

श्रीविश्वनाथ—ननु असङ्गो निर्विकारश्च त्वं कथं सृजसीत्यपेक्षायामाह—प्रकृतिमिति। स्वां स्वीयाम् अवष्टभ्य अधिष्ठाय प्रकृतेर्वशात् स्वीयस्वभाववशात् प्राचीनकर्मनिमित्तादिति यावत्, अवशं कर्मादि-परतन्त्रम्।।८।।

भावानुवाद—यदि अर्जुन प्रश्न करे कि अच्छा, आप तो निःसङ्ग तथा निर्विकार हैं, तब आप सृष्टि किस प्रकार करते हैं, तो इस प्रश्नकी अपेक्षाकर श्रीभगवान् उत्तर देते हैं—मैं अपनी प्रकृतिमें अधिष्ठित होकर अपने स्वभाव अर्थात् प्राचीन कर्म हेतु वशीभूत, कर्मादि परतन्त्र भूतसमूहकी सृष्टि करता हूँ।।८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यह भौतिक जगत् भगवान्की अपरा शक्तिकी परिणति या अभिव्यक्ति है। जहाँ तक जीवका सम्बन्ध है, वे भगवान्की तटस्था शक्ति अथवा जीव शक्तिकी परिणति हैं। ये नित्य हैं। भौतिक जगत्की भाँति जीवोंका सृजन नहीं होता है। वे भौतिक प्रकृतिमें केवल गर्भस्थ किए जाते हैं, जहाँसे वे अपने अपने पूर्वकर्मके अनुसार विभिन्न योनियोंमें प्रवेशकर अपने कर्मफलोंका भोग करते हैं। प्रसङ्गवश यह कहना आवश्यक है कि पशु-पक्षी-मनुष्यादि सारी योनियाँ एक साथ ही उत्पन्न होती हैं। डार्विनके द्वारा प्रतिपादित जैव विकासवादका आधुनिक सिद्धान्त

सम्पूर्णरूपसे निराधार तथा भ्रामक है, क्योंकि करोड़ों वर्षोंके बाद भी मनुष्यसे और विकसित कोई प्राणी क्यों नहीं हुआ है? भगवान् इतना करनेपर भी इन क्रियाकलापसे सर्वथा असङ्ग और निर्विकार रहते हैं। उनकी शक्तिकी परिणतिसे ही जीव और जगत् प्रकटित होता है।।८।।

न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति धनञ्जय।
उदासीनवदासीनमसक्तं तेषु कर्मसु।।९।।

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) तेषु कर्मसु (उन कर्मोंमें) असक्तम् (आसक्तिरहित) च (और) उदासीनवत् आसीनम् (उदासीनकी भाँतिअवस्थित) माम् (मुझे) तानि कर्माणि (वे सृष्टि आदि कर्म) न निबध्नन्ति (नहीं बाँधते हैं)।।९।।

अनुवाद—हे धनञ्जय! उन सृष्टि आदि कर्मोंमें अनासक्त और उदासीनकी भाँति अवस्थित मुझे वे कर्म नहीं बाँधते हैं।।९।।

श्रीविश्वनाथ—नन्वेवञ्च नाना-कर्माणि कुर्वतस्तव जीववद्बन्धः कथं न स्यादत आह—न चेति। तानि सृष्ट्यादीनि। कर्मासक्तिर्हि बन्धहेतुः, स चाप्तकामत्वान्मम नास्ति उदासीनवदिति। अन्य उदासीनो यथा विवदमानानां दुःख-शोकादि-संसृष्टो न भवति, तथैवाहमित्यर्थः।।९।।

भावानुवाद—अच्छा, इस प्रकार विविध कर्म करनेपर भी जीवोंकी भाँति आपका बन्धन क्यों नहीं होता है? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् 'न च' इत्यादि कह रहे हैं। सृष्टि आदि कर्मोंमें आसक्ति ही बन्धनका कारण है, किन्तु आप्तकाम मैं आसक्त नहीं हूँ। इसीलिए कहते हैं—'उदासीनवत्' अर्थात् जैसे कोई अन्य उदासीन व्यक्ति दूसरोंके दुःख-शोकादि द्वारा संसृष्ट (संयुक्त) नहीं होता, वैसे ही मैं भी सृष्टि आदि कार्योंमें उदासीनके सृदश रहता हूँ।।९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"किन्तु, हे धनञ्जय! वे समस्त कर्म मुझे आबद्ध नहीं कर सकते हैं। मैं उन कर्मोंमें अनासक्त और उदासीनवत् रहता हूँ। किन्तु, वस्तुतः मैं उदासीन नहीं हूँ, बल्कि चिदानन्दमें ही सर्वदा आसक्त हूँ। उस चिदानन्दकी पुष्टिकारिणी मेरी बहिरङ्गा माया और तटस्था शक्ति ही इस भूतसमूहकी सृष्टि करती हैं। इसके द्वारा मेरा स्वरूप विचलित नहीं होता। ये भूतसमूह मायाके वशीभूत होकर जो-जो करते हैं, उससे मेरे शुद्ध चिदानन्द-विलासकी ही पुष्टि होती है। जड़ीय कार्योंके सम्बन्धमें मेरा उदासीनभाव सहज ही परिलक्षित होता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।९।।

मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम्।
हेतुनानेन कौन्तेय जगद्विपरिवर्त्तते।।१०।।

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) मया अध्यक्षेण (मेरी अध्यक्षतामें) प्रकृतिः (प्रकृति) सचराचरम् (चर-अचरसहित सम्पूर्ण जगत्को) सूयते (प्रसव करती है) अनेन हेतुना (इसी कारणसे) जगत् (जगत्) विपरिवर्त्तते (पुनः पुनः उत्पन्न होता है)।।१०।।

अनुवाद—हे कौन्तेय! मेरी अध्यक्षतामें बहिरङ्गा प्रकृति या माया शक्ति चर-अचरसहित सम्पूर्ण जगत्को प्रसव करती है, इसी कारणसे यह जगत् पुनः पुनः परिवर्त्तित (उत्पन्न) होता है ।।१०।।

श्रीविश्वनाथ—ननु सृष्ट्यादिकर्त्तुस्तवेदमौदासीन्यं न प्रत्येमि इत्यत आह—मयेति। अध्यक्षेण मम निमित्तभूतेन प्रकृतिः सचराचरं जगत् सूयते प्रकृतिरेव जगत् जनयति, मम अत्राध्यक्षता-मात्रम्;—यथा कस्यचित् अम्बरीषादेरिव भूपतेः प्रकृतिभिरेव राज्यकृत्यं निर्वाह्यते, अत्रोदासीनस्य भूपतेः सत्तामात्रमिति यथा तस्य राजसिंहासने सत्तामात्रेण विना प्रकृतिभिः किमपि न शक्यते कर्त्तुम, तथैव ममाधिष्ठानलक्षणमध्यक्षत्वं विना प्रकृतिरपि जडा किमपि कर्त्तुं न शक्नोतीति भावः। अनेन मदधिष्ठानेन हेतुनेदं जगत् विपरिवर्त्तते पुनः पुनर्जायते।।१०।।

भावानुवाद—यदि अर्जुनको संशय हो कि सृष्टि आदिके कर्त्ता आप इस प्रकारसे उदासीन हैं—मुझे यह विश्वास नहीं हो रहा है, तो इस संशयको दूर करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—'मया' इत्यादि। 'अध्यक्षेण मया'— निमित्त-मात्र मेरे द्वारा प्रकृति समग्र चराचर जगत्को प्रसव करती है। यहाँ मेरी अध्यक्षता मात्र है, जिस प्रकार अम्बरीषादि राजाओंकी प्रकृति ही राजकार्योंका निर्वाह करती है, यहाँ उदासीन राजा सत्तामात्र हैं; जिस प्रकार उनके राजसिंहासनके सत्तामात्रके बिना प्रकृति या प्रजागण कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं हैं, उसी प्रकार मेरे अधिष्ठान-लक्षण अध्यक्षताके बिना जड़ा-प्रकृति भी कुछ भी करनेमें समर्थ नहीं है। 'अनेन हेतुना' अर्थात् मेरे अधिष्ठान द्वारा यह जगत् पुनः पुनः प्रादुर्भूत होता है।।१०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान् गुणाधीश और मायाके अधीश्वर हैं, सृष्टि आादि कार्योंमें जड़ा-प्रकृतिके अधिष्ठाता और निमित्त कारण भी हैं। उनके कटाक्ष द्वारा उद्बुद्ध होकर प्रकृति चराचर जगतका पुनः पुनः सृजन करती है। प्रकृति उनके अधीन होनेके कारण उनसे सृजनशक्ति प्राप्त करती

है, अन्यथा जड़ा-प्रकृति सृजनका कार्य नहीं कर सकती; जैसे किसी लोहेमें अग्नि प्रवेशकर किसी वस्तुको जला देती है, अग्निशक्तिरहित लोहा किसी भी वस्तुको जलानेमें समर्थ नहीं है। अतएव कृष्ण ही जगत्के मूल कारण हैं। जड़ा-प्रकृति अजागल स्तनकी भाँति केवल बाह्य दिखावेके लिए है।।१०।।

अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्।
परं भावमजानन्तो मम भूतमहेश्वरम्।।११।।

अन्वय—मूढाः (अविवेकी लोग) मम (मेरे) मानुषीम् तनुम् (मनुष्याकृति श्रीविग्रहके) आश्रितम् (आश्रित) परमभावम् (परमभावको) अजानन्तः (नहीं जानकर) भूतमहेश्वरम् (भूतसमुदायके महान ईश्वर) माम् (मुझे) अवजानन्ति (मायिक मनुष्यबुद्धिसे अवज्ञा करते हैं)।।११।।

अनुवाद—मूर्ख व्यक्ति मनुष्याकृति-श्रीविग्रह-आश्रित मेरे परमभावको न जानकर मायिक मनुष्यबुद्धिसे भूतसमुदायके महान ईश्वर मेरे प्रति अवज्ञा करते हैं।।११।।

श्रीविश्वनाथ—ननु च, सत्यमनन्तकोटीब्रह्माण्डव्यापी सच्चिदानन्दविग्रहः कारणार्णवशायी महापुरुषः स्वप्रकृत्या जगत् सृजतीति यः प्रसिद्धः, स एव हि भवान्; किन्तु वसुदेवसूनोस्तवेयं मानुषी तनुरित्येतदंशेनैव केचित्तव निकर्षं वदन्तीत्यत आह—अवजानन्तीति। मम मानुष्यास्तनोरस्याः परं भावं कारणार्णवशायिमहापुरुषादिभ्योऽप्युत्कृष्टं स्वरूपमजानन्त एव ते। कीदृशम्? भूतं सत्यं यद्ब्रह्म, तच्च तन्महेश्वरञ्चेति, तन्महेश्वरपदं सत्यान्तरव्यावर्त्तकमत्र ज्ञेयम्—"युक्ते क्ष्मादावृते भूतम्" इत्यमरः। *"तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्दविग्रहं वृन्दावनसुरभूरुहभावनासीनं सततं स-मरुद्गणोऽहं परमया स्तुत्या तोषयामि"* इति श्रुतेः; *"नराकृति परब्रह्म"* इति स्मृतेश्च, ममास्याः मानुष्यास्तनोः सच्चिदानन्दमयत्वं मदभिज्ञभक्तैरुच्यत एव, तथा सर्वब्रह्माण्डव्यापित्वञ्च बाल्ये मन्मात्रा श्रीयशोदया दृष्टमेव; यद्वा, मानुषीं तनुमेव विशिनष्टि—परमुत्कृष्टं भावं सत्तां विशुद्धं सत्त्वं सच्चिदानन्दस्वरूपमित्यर्थः। *"भावः सत्ता स्वभावाभिप्रायः"* इत्यमरः। परं भावमपि विशिनष्टि—मम भूतमहेश्वरं मम सृज्यानि भूतानि ये ब्रह्माद्यास्तेषामपि महान्तमीश्वरम्। तस्माज्जीवस्येव मम परमेश्वरस्य तनुर्न भिन्ना; तनुरेवाहम्, अहमेव तनुः, साक्षाद्ब्रह्मैव—*"शाब्दं ब्रह्म दधद्वपुः"* इति मदभिज्ञशुकोक्तेरिति भवादृशैस्तु विश्वस्यतामिति भावः।।११।।

भावानुवाद—अच्छा, सत्य ही अनन्तकोटि ब्रह्माण्डव्यापी सच्चिदानन्द-विग्रह कारणार्णवशायी महापुरुष जो अपनी प्रकृति द्वारा जगत्की सृष्टि करनेवालेके रूपमें प्रसिद्ध हैं, वे आप ही हैं। किन्तु, वसुदेवपुत्र आपके इस मनुष्य-शरीरका

दर्शनकर कोई कोई आपकी उत्कर्षताको नहीं स्वीकार करता है। अर्जुनके इस संशयका निवारण करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—मेरे इस दृश्यमान मनुष्य शरीर, जो कि कारणार्णवशायी महान पुरुषादिसे भी उत्कृष्ट स्वरूप है, उसके परमभावको नहीं जानकर ही वे लोग अवज्ञा करते हैं। कैसा स्वरूप? इसके उत्तरमें कहते हैं—'भूत' अर्थात् ब्रह्म जो कि सत्य-स्वरूप है, मैं उसका भी महेश्वर हूँ अर्थात् परम सत्यस्वरूप मैं हूँ। यहाँ 'महेश्वर' पदको 'सत्यान्तर व्यवर्त्तक' अर्थात् अन्य सत्य-निषेधकके रूपमें जानना चाहिए। अमरकोषके अनुसार—*'मुक्तो क्ष्मादावृते भूतम्'* अर्थात् 'मुक्त' क्ष्मा (पृथ्वी) द्वारा आवृत पदार्थको भूत कहते हैं। गोपालतापनी श्रुतिमें वर्णन है—"वृन्दावनके अमर वृक्षोंके कुञ्जमें आसीन एकमात्र सच्चिदानन्द विग्रह गोविन्दको मरुद्गणके साथ मैं परम स्तुति द्वारा तुष्ट करती हूँ। श्रीमद्भागवत (९/२३/२०) में भी 'नराकृति परब्रह्म' कहा गया है। मेरे इस मानुषी शरीरका सच्चिदानन्दमयत्व एकमात्र मेरे तत्त्वसे अभिज्ञ भक्तोंके द्वारा ही परिकीर्त्तित होता है एवं इस शरीरमें ही मैं जो बह्माण्डव्यापी हूँ—यह मेरे बाल्यकालमें मेरी माता श्रीयशोदाने दर्शन किया है। अथवा, 'परं भावम्' का तात्पर्य है—उत्कृष्ट सत्ता अर्थात् विशुद्ध सत्त्व सच्चिदानन्दरूप। अमरकोषमें 'भाव, सत्ता, स्वभाव, अभिप्राय'—इनका व्यवहार पर्यायवाचीके रूपमें देखा जाता है। 'परमभाव' को और विशेषभावसे दिखा रहे हैं—मैं 'मम भूतमहेश्वरम्' हूँ अर्थात् ब्रह्मादि जो मेरे सृष्ट भूतसमूह हैं, उनका भी महान ईश्वर हूँ। इसलिए जीवके समान मुझ परमेश्वरका शरीर मुझसे भिन्न नहीं है अर्थात् मैं ही तनु हूँ, साक्षात् ब्रह्म ही हूँ। श्रीमद्भागवत (३/२१/८) में कथित है—शब्द ब्रह्मने सच्चिदानन्द शरीर धारण किया। यह मेरे तत्त्वको जाननेवाले श्रीशुकदेव गोस्वामीकी उक्ति है, अतएव तुम्हारे समान व्यक्तिगण (जिनको मेरा तत्त्व परिज्ञात है), इसपर विश्वास करते हैं।।११।।

सा. व. प्रकाशिका. वृत्ति—श्रीकृष्ण सम्पूर्ण विष्णुतत्त्वके मूल हैं। उपनिषदोंमें वर्णित निर्विशेष ब्रह्म उनकी अङ्गज्योति है। जगद्व्यापी परमात्मा उनके अंश हैं। वैकुण्ठाधिपति श्रीनारायण उनके स्वांश-विलासरूप हैं। श्रीकृष्ण ही समस्त अवतारोंके मूल अवतारी सर्वेश्वरेश्वर एवं परात्पर तत्त्व वस्तु हैं। सर्वभूतमहेश्वर, निखिल जगत्के एकमात्र स्वामी, सत्य-सङ्कल्प, सर्वज्ञ, सर्वशक्तिमान्, महाकारुणिक श्रीकृष्णका दर्शनकर मूढ़लोग उनकी अवज्ञा करते हैं। ऐसे मूढलोग श्रीवसुदेवनन्दन या यशोदानन्दन श्रीकृष्णस्वरूपको

साधारण लोगोंकी भाँति प्राकृत और मरणशील मानते हैं। कुछ लोग श्रीकृष्णके देहको प्राकृत और नश्वर मानते हैं; उनके देहमें एक आत्माकी कल्पनाकर उस आत्माको ही परमात्मा समझते हैं। ऐसा समझने वाले मूढ़ हैं, क्योंकि शास्त्रोंमें श्रीकृष्णके शरीरको सच्चिदानन्द बताया गया है तथा उनमें देह देहीका भेद नहीं है—

(क) *'ॐ सच्चिदानन्दरूपाय कृष्णाय'* (गो. ता. १/१)

(ख) *'तमेकं गोविन्दं सच्चिदानन्द विग्रहं'*

(ग) *'द्विभुजं मौन-मुद्राढ्यं वनमालिनमीश्वरम्'*

(घ) *'ईश्वरः परमः कृष्णः सच्चिदानन्द विग्रहः'* (ब्र. सं. ५/१)

(ङ) *'अपश्यं गोपामनिपद्यमानमा'* (ऋग्वेद १/२२/१६६/३१)

(च) *'गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्'* (श्रीमद्भा. ७/१०/४८)

(छ) *'साक्षाद् गूढं परं ब्रह्म मनुष्यलिङ्गम्'* (श्रीमद्भा. ७/१५/१५)

(ज) *'यत्रावतीर्णो भगवान् परमात्मा नराकृतिः'* (श्रीमद्भा. ९/२३/२०)

श्रीकृष्णचैतन्य महाप्रभुजीने काशीवासी किसी विप्रको उपदेश दिया था—कृष्णस्वरूप तथा कृष्णनाम—दोनों अभिन्न हैं; उनके नाम, विग्रह तथा स्वरूप—तीनों सच्चिदानन्दस्वरूप एक ही तत्त्व हैं। उनमें देह-देही, नाम-नामीका कोई भेद नहीं है।

जो लोग सच्चिदानन्द श्रीकृष्णस्वरूपको प्राकृत मानते हैं, वे घोर अपराधी हैं। चैतन्यचरितामृतमें कहा गया है—कृष्णकी समस्त लीलाओंमें नरलीला सर्वोत्तम है। उनका गोपवेशधारी, हाथोंमें वंशी धारण किया हुआ, नवकिशोर, नटवर स्वरूप ही सभी रूपोंमें श्रेष्ठ तथा परम मधुर है।

"मैंने जिन बातोंको कहा, उनसे तुम यही स्थिर करो कि मेरा स्वरूप सच्चिदानन्द है, मेरे अनुग्रहसे मेरी शक्ति समस्त कार्य करती है, किन्तु मैं समस्त कार्योंसे स्वतन्त्र हूँ। इस जड़-जगत्में मैं जो लक्षित (दृष्ट) हो रहा हूँ, वह भी केवल मेरा अनुग्रह और शक्तिका प्रभाव-मात्र है। मैं समस्त जड़ीय विधियोंसे अतीत तत्त्व हूँ, इसीलिए चैतन्यस्वरूप होकर भी मैं अपने स्वरूपमें प्रपञ्चमें प्रकाशित (गोचर) होता हूँ। मानव, जो कि अणुत्व है, वृहत्व और अव्यक्तत्व आदि असीम भावोंका विशेष आदर करता है, वह एकमात्र उनकी मायाबद्ध बुद्धिका कार्य है, किन्तु वह मेरा परमभाव नहीं है। मेरा परमभाव यह है कि मैं नितान्त अलौकिक, मध्यमाकारस्वरूप होकर भी अपनी शक्ति द्वारा युगपत (एक साथ) सर्वव्यापी

तथा परमाणुसे भी क्षुद्र हूँ। मेरा यह स्वरूप-प्रकाश केवल अचिन्त्यशक्तिके प्रभावसे ही होता है। मूढ़ लोग मेरी इस सच्चिदानन्द मूर्त्तिको मानव शरीर समझकर यह स्थिर करते हैं कि मानव मैंने प्रपञ्च-विधिके बाध्य होकर औपाधिक शरीर ग्रहण किया है। वे यह नहीं समझ पाते हैं कि इस स्वरूपमें ही मैं समस्त भूतोंका महेश्वर हूँ। अतः अविद्वत्-प्रतीति द्वारा वे मुझमें एक क्षुद्रभाव अर्पित (आरोपित) करते हैं। जिनकी विद्वत्-प्रतीति उदित हो गई है, वे मेरे इस स्वरुपको 'नित्य सच्चिदानन्द तत्त्व' के रूपमें समझ सकते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।११।।

मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।१२।।

अन्वय—[ते—वे] मोघाशाः (निष्फल आशा) मोघकर्माणः (निष्फल कर्म) [च—और] मोघज्ञानाः (निष्फल ज्ञानवाले) विचेतसः (विक्षिप्तचित्त होकर) मोहिनीम् (मोहिनी) राक्षसीम् (तामसी) आसुरीम् च (और राजसी प्रकृतिके ही) श्रिताः (आश्रित) भवन्ति (होते हैं)।।१२।।

अनुवाद—वे निष्फल आशा, निष्फल कर्म और निष्फल ज्ञानवाले विक्षिप्तचित्त होकर मोहिनी, तामसी और राजसी प्रकृतिके ही आश्रित होते हैं।।१२।।

श्रीविश्वनाथ—ननु ये मानुषीं मायामयीं तनुमाश्रितोऽयमीश्वर इति मत्वा त्वामवजानन्ति, तेषां का गतिस्तत्राह—मोघाशा इति। यदि भक्ता अपि स्युस्तदपि मोघाशा भवन्ति, मत्सालोक्यादिमभिवाञ्छितं न प्राप्नुवन्ति। यदि ते कर्मिणस्तदा मोघकर्माणः कर्मफलं स्वर्गादिकं न लभन्ते; यदि ते ज्ञानिनस्तर्हि मोघज्ञाना ज्ञानफलं मोक्षं न विन्दन्ति, तर्हि ते किं प्राप्नुवन्तीत्यत आह—राक्षसीमिति। ते राक्षसीं प्रकृतिं राक्षसानां स्वभावं श्रिताः प्राप्ताः भवन्तीत्यर्थः।।१२।।

भावानुवाद—अच्छा, जो मायामयी मनुष्य शरीरधारी ईश्वर समझकर आपकी अवज्ञा करते हैं, उनकी क्या गति होती है? अर्जुनके इस प्रश्नकी अपेक्षाकर श्रीभगवान् कहते हैं—यद्यपि वे भक्त हों, तथापि वे निष्फल आशावाले होते हैं अर्थात् सालोक्यादिको प्राप्त करनेकी उनकी आशा निष्फल हो जाती है। यदि वे कर्मी हैं, तो वे स्वर्गादि कर्मफलको नहीं प्राप्त कर पाते हैं। यदि वे ज्ञानी हैं, तो ज्ञानके फल मोक्षको नहीं जान पाते हैं। अच्छा, तब वे पाते क्या हैं? इसके उत्तरमें कहते हैं—'राक्षसी' इत्यादि। वे राक्षसोंकी प्रकृति अर्थात् स्वभावको प्राप्त होते हैं।।१२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्व श्लोकमें वर्णित सच्चिदानन्द श्रीकृष्णके अप्राकृत नर तनुकी अवज्ञा करनेवाले लोगोंकी क्या गति होती है—इसे इस श्लोकमें बताया गया है। उनकी कामना, कर्म तथा ज्ञान—सब कुछ व्यर्थ हो जाते हैं। यहाँ तक कि वे विक्षिप्तचित्त होकर विवेकको नष्ट करनेवाली राक्षसी और आसुरी प्रकृतिका आश्रयकर परमार्थसे च्युत हो जाते हैं। बृहद्वैष्णवमें ऐसा कहा गया है कि-

'यो वेत्ति भौतिकं देहं कृष्णस्य परमात्मनः।
स सर्वस्माद्वहिष्कार्यः श्रौतस्मार्त्तविधानतः।।'

अर्थात्, जो लोग परमात्मा श्रीकृष्णके देहको पाञ्चभौतिक समझते हैं, वे श्रुति और स्मृतिके विधानके अनुसार सभी कर्माधिकारोंसे बहिष्कृत किए गए हैं, ऐसे पापियोंका मुखदर्शन होनेपर वस्त्रोंके साथ स्नान करनेकी विधि है। ऐसे व्यक्ति हिंसादिपूर्ण तामसी, राक्षसी तथा विवेक-विलोपनी मोहिनी प्रकृतिका आश्रयकर नरकके भागी होते हैं।।१२।।

महात्मानस्तु मां पार्थ दैवीं प्रकृतिमाश्रिताः।
भजन्त्यनन्यमनसो ज्ञात्वा भूतादिमव्ययम्।।१३।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) तु (किन्तु) महात्मानः (महात्मागण) दैवीम् प्रकृतिम् (दैवी प्रकतिका) आश्रिताः (आश्रयकर) अनन्यमनसः (अनन्यचित्त) [सन्तः—होकर] माम् (मुझे) भूतादिम् (समस्त भूतोंका आदि कारण) [च—और] अव्ययम् (अविनाशी) ज्ञात्वा (जानकर) भजन्ति (भजन करते हैं)।।१३।।

अनुवाद—हे पार्थ! किन्तु महात्मागण दैवी प्रकृतिका आश्रयकर, मुझे समस्त भूतोंका आदि कारण तथा अविनाशी जानकर, अनन्य चित्तसे निरन्तर मेरा भजन करते हैं।।१३।।

श्रीविश्वनाथ—तस्माद् ये महात्मानः यादृच्छिक-मद्भक्तिकृपया महात्मत्वं प्राप्तास्ते तु मानुषा अपि दैवीं प्रकृतिं देवानां स्वभावं प्राप्ताः सन्तो मां मानुषाकारमेव भजन्ते। न विद्यतेऽन्यत्र ज्ञानकर्मान्यकामनादौ मनो येषां ते। मां भूतादिं *"मया ततमिदं सर्वम्"* इत्यादि मदैश्वर्यज्ञानेन भूतानां ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तानां कारणम्। अव्ययं सच्चिदानन्दविग्रहत्वादनश्वरं ज्ञात्वेति ममाराध्यत्वे मद्भक्तैरेतावन्मात्रं मज्ज्ञानमपेक्षितव्यम्। इयमेव त्वं-पदार्थज्ञानकर्माद्यनपेक्षा भक्तिरनन्या सर्वश्रेष्ठा राजविद्या राजगुह्यमिति द्रष्टव्यम्।।१३।।

भावानुवाद—अतः जो महात्मा हैं अर्थात् मेरी भक्तिकी कृपासे जिन्हें महानता प्राप्त हो चुकी है, वे मनुष्य होनेपर भी 'दैवीम् प्रकृतिम्' अर्थात् देवताओंके स्वभावको प्राप्तकर मुझ मनुष्याकारका ही भजन करते हैं। ज्ञान-कर्म-अन्य कामनादिमें जिनका मन नहीं है, वे अनन्यमना हैं तथा वे 'मया ततमिदम् सर्वम्' इत्यादि ऐश्वर्य ज्ञान द्वारा मुझे ब्रह्मासे लेकर तृण आदि पर्यन्त समस्त भूतोंका कारण जानते हैं। वे मुझे 'अव्यय' अर्थात् सच्चिदानन्द-विग्रहके रूपमें अनश्वर जानते हैं। मेरी आराधनाके सम्बन्धमें मेरे भक्तोंको इसी प्रकारके ज्ञान और इतने ही ज्ञानकी अपेक्षा है। इससे त्वम्-पदार्थके ज्ञान तथा कर्मादिकी अपेक्षासे रहित अनन्या भक्ति, सर्वश्रेष्ठ राजविद्या और राजगुह्यके रूपमें देखना चाहिए।।१३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यदि कोई यह प्रश्न करे कि तब कौन व्यक्ति श्रीकृष्णके सच्चिदानन्द रूपका आदरकर भजन करते हैं, तो इस प्रश्नके उत्तरमें इस श्लोकमें कहते हैं—जो लोग भक्त और भगवान्‌की अहैतुकी कृपा लाभकर शुद्धा भक्तिका आश्रय लेते हैं, वे महात्मा ही सच्चिदानन्दस्वरूप श्रीकृष्णका भजन करते हैं। ऐसे महात्मा अत्यन्त दुर्लभ हैं। गीतामें भी इस सिद्धान्तकी पुष्टि होती है। ऐसे महात्मागण दैवी प्रकृति-सम्पन्न होते हैं। इसके विपरीत व्यक्ति आसुरी प्रकृतिवाले होते हैं। पद्मपुराणमें कहा गया है—*'विष्णुभक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः'* अर्थात् स्मृतिशास्त्रमें विष्णुभक्तोंको देवता और उसके विपरीत व्यक्तियोंको असुर कहा गया है।।१३।।

सततं कीर्त्तयन्तो मां यतन्तश्च दृढव्रताः।
नमस्यन्तश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते।।१४।।

अन्वय—[ते—वे] सततम् (निरन्तर) माम् (मेरा) कीर्त्तयन्तः (कीर्त्तन करते हुए) दृढवताः च (और दृढ़व्रती) [सन्तः—होकर] यतन्तः (यत्न करते हुए) भक्त्या च (और भक्तिसहित) नमस्यन्तः (प्रणाम करते हुए) नित्ययुक्तः (नित्ययुक्त भावसे) माम् (मेरी) उपासते (उपासना करते हैं)।।१४।।

अनुवाद—वे निरन्तर मेरे नाम-गुण-रूप-लीलादिका कीर्त्तन करते हुए, दृढ़व्रती होकर यत्न करते हुए तथा भक्तिसहित प्रणाम करते हुए नित्ययुक्त भावसे मेरी उपासना करते हैं।।१४।।

श्रीविश्वनाथ—भजन्तीत्युक्तं तद्भजनमेव किमित्यत आह—सततं सदेति नात्र कर्मयोग इव कालदेशपात्रशुद्धाद्यपेक्षा कर्त्तव्येत्यर्थः,—*"न देशनियमस्तत्र न कालनियमस्तथा। नोच्छिष्टादौ निषेधोऽस्ति श्रीहरेर्नाम्नि लुब्धक।।"* इति स्मृतेः।

यतन्तो यतमानाः—यथा कुटुम्बपालनार्थं दीनाः गृहस्थाः धनिकद्वारादौ धनार्थं यतन्ते तथैव मद्भक्ताः कीर्त्तनादिभक्तिप्राप्त्यर्थं साधुसभादौ यतन्ते, प्राप्य च, भक्तिमधीयमानं शास्त्रं पठतः इव पुनः पुनरभ्यस्यन्ति च। एतावन्ति नामग्रहणानि एतावत्यः प्रणतयः एतावत्यः परिचर्याश्चावश्यकर्त्तव्याः इत्येवं दृढानि व्रतानि नियमाः येषां ते, यद्वा, दृढानि अपतितानि एकादश्यादि-व्रतानि नियमा येषां ते। नमस्यन्तश्च इति चकारः श्रवणपादसेवनाद्यनुक्तसर्वभक्तिसंग्रहार्थः। नित्ययुक्ता भाविनं मन्नित्यसंयोगमाकाङ्क्षन्तः आशंसायां भूतवच्चेति वर्त्तमानेऽपि भूतकालिकः क्त-प्रत्ययः। अत्र मां कीर्त्तयन्त एव मामुपासत इति मत्कीर्त्तनादिकमेव मदुपासनमिति वाक्यार्थः। अतो मामिति न पौनरुक्त्यमाशङ्कनीयम्।।१४।।

भावानुवाद—आपने कहा—वे मेरा भजन करते हैं, परन्तु आपका भजन है क्या? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—वे सतत मेरा कीर्त्तन करते हैं अर्थात् मेरे कीर्त्तनमें कर्मयोगकी भाँति काल, देश और पात्रकी शुद्धि-अशुद्धिकी अपेक्षा कर्त्तव्य नहीं है। स्मृति (विष्णु धर्मोत्तर) कहती है—"श्रीहरिके नाम-कीर्त्तनके प्रति लुब्ध व्यक्तिके लिए देश और कालका नियम नहीं है तथा जूठे मुखकी बात ही क्या, किसी भी प्रकारकी अशुचि (अपवित्र) अवस्थामें इसका निषेध नहीं है।" वे दृढ़व्रती होकर 'यतन्तः' अर्थात् यत्न करते हैं, जिस प्रकार दीन गृहस्थ कुटुम्बके पालनके लिए धनकी अपेक्षासे धनी व्यक्तिके पास यत्न करते हैं, उसी प्रकार मेरे भक्तगण कीर्त्तनादि भक्ति प्राप्त करनेके लिए साधुगणकी सभामें यत्न करते हैं एवं भक्ति-लाभ करनेपर भी पठित शास्त्रोंके पाठकी भाँति पुनः पुनः इसका अभ्यास करते हैं। इतनी संख्यामें नामग्रहण, इतनी बार प्रणति एवं इसी प्रकार परिचर्यादि अथवा एकादशी आदि व्रत करनेमें जो दृढ़ हैं अर्थात् जिनका नियम कभी टूटता नहीं है, वे यत्नवान् हैं। अवश्य करणीय है—जिनका इस प्रकारका दृढ़व्रत या नियम है, वे ही यत्नवान् हैं। 'नमस्यन्तश्च'—यहाँ 'च'-कारसे तात्पर्य है—श्रवण, पादसेवनादि समस्त प्रकारके भक्ति अङ्गोंका प्रयोजन है, जिनका वर्णन हुआ है। वे 'नित्ययुक्ताः' होते हैं अर्थात् भविष्यमें मेरे नित्य संयोग की आकांक्षा करते हैं। इस श्लोकमें 'माम् कीर्त्तयन्ते', 'माम् उपासते'—इन दोनों पदोंका यही तात्पर्य है कि मेरा कीर्त्तनादि ही मेरी उपासना है। अतः 'माम्' शब्दसे पुनरुक्ति दोषकी आशंका नहीं है।।१४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्वोक्त महात्मागण कैसे भजन करते हैं, इस श्लोकमें यही बता रहे हैं—वे सदा-सर्वदा मेरे नाम, रूप, गुण तथा लीलाओंका कीर्त्तन किया करते हैं—*'भक्तियोगो भगवति तन्नाम ग्रहणादिभिः'* (श्रीमद्भा. ६/३/२२)। इस कीर्त्तनाख्या भक्तिमें देश, काल और पात्र-शुद्धिकी अपेक्षा नहीं होती—*'न देश नियमो राजन् न काल नियमस्तथा। विद्यते नात्र सन्देहो विष्णोर्नामानुकीर्त्तने।।'* (वैष्णव चिन्तामणि) स्कन्द पुराणमें भी कहा गया है—*'चक्रायुधस्य नामानि सदा सर्वत्र कीर्त्तयेत्'* अर्थात् चक्रधारी श्रीहरिका नाम सदा-सर्वदा तथा सर्वत्र कीर्त्तनीय है। श्रीचैतन्यमहाप्रभुजीने शिक्षाष्टकमें *'कीर्त्तनीय सदा हरि'* का उपदेश किया है।

सामान्य व्यक्ति प्रचार अथवा वोटके माध्यमसे महात्मा नहीं बन सकता, अथवा इसके द्वारा उसे महात्मा नहीं बनाया जा सकता। इस श्लोकसे स्वयं श्रीकृष्णने महात्माके स्वरूप-लक्षणका वर्णन किया है। आत्माके भी आत्मा श्रीकृष्णके परम पावन नाम-रूप और लीला-कथाओंके श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणमें सदा-सर्वदा तत्पर रहनेवाले पुरुष ही 'महात्मा' शब्दवाच्य हैं। इसके अतिरिक्त सत्कर्मी, ज्ञानी, योगी, तपस्वी तथा भगवान्‌को निराकार, निर्विशेष, निःशक्तिक माननेवाले व्यक्तिको गीतामें महात्मा नहीं कहा गया है। कोई भी व्यक्ति ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ अथवा संन्यास किसी आश्रममें सद्‌गुरुका पदाश्रयकर कृष्णभक्तिका अनुशीलन करनेपर यथार्थ महात्मा हो सकता है।

"ये विद्वत्-प्रतीतियुक्त महात्मा भक्तगण सर्वदा मेरे नाम रूप, गुण और लीलाका कीर्त्तन करते हैं अर्थात् श्रवण-कीर्त्तनादि नवधा भक्तिका आचरण करते हैं। मेरे इस सच्चिदानन्दस्वरूपके नित्य दासत्वको प्राप्त करनेके लिए वे समस्त शारीरिक, मानसिक, सामाजिक और आध्यात्मिक क्रियाओंमें दृढ़व्रती होकर मेरा अनुशीलन करते हैं। जिससे कि सांसारिक कर्ममें चित्त विक्षिप्त न हो, इसके लिए संसार-निर्वाह-कालमें भक्तियोग द्वारा मेरी शरणापत्ति स्वीकार करते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१४।।

ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये यजन्तो मामुपासते।
एकत्वेन पृथक्त्वेन बहुधा विश्वतोमुखम्।।१५।।

अन्वय—अन्ये अपि च (अन्य कोई कोई) ज्ञानयज्ञेन (ज्ञानयज्ञ द्वारा) यजन्तः (यजन करते हुए) एकत्वेन (अभेद भावसे) पृथक्त्वेन (पृथक् भावसे) बहुधा (विविध देवरूपसे) विश्वतोमुखम् (सर्वात्मक) माम् (मेरी) उपासते (उपासना करते हैं)।।१५।।

अनुवाद—अन्य कोई कोई ज्ञानयज्ञसे यजन करते हुए, कोई अभेद भावसे, कोई पृथक् भावसे, कोई नाना देवतारूपसे और कोई सर्वात्मक भावसे मेरी उपासना करते हैं।।१५।।

श्रीविश्वनाथ—तदेवं अत्राध्याये पूर्वाध्याये च अनन्यभक्त एव महात्मशब्दवाच्यः, आर्त्तादिसर्वभक्तेभ्यः श्रेष्ठ इति दर्शितम्। अथान्येऽपि अनुक्तपूर्वा ये त्रिविधा भक्ताः पूर्वतो न्यूनाः 'अहंग्रहोपासकाः' 'प्रतीकोपासकाः' विश्वरूपोपासकास्तान् दर्शयति। ज्ञानयज्ञेनेति अन्ये न महात्मनः पूर्वोक्त-साधनानुष्ठानासमर्था इत्यर्थः, ज्ञानयज्ञेन *"तं वा अहमस्मि भगवो देवता अहं वै त्वमसि"*इत्यादि-श्रुत्युक्तमहंग्रहोपासनं ज्ञानं स एव परमेश्वरयजनरूपत्वात् यज्ञस्तेन, चकार एवार्थे, अपि-शब्दः साधनान्तरत्यागार्थः, एकत्वेन उपास्योपासकयोरभेदचिन्तनरूपेण। ततोऽपि न्यूना अन्ये पृथक्त्वेन भेदचिन्तनरूपेण *'आदित्यो ब्रह्मेत्यादेशः'* इत्यादि श्रुत्युक्तेन प्रतीकोपासनेन ज्ञानयज्ञेन। "अन्ये ततोऽपि मन्दा बहुधा बहुभिः प्रकारैर्विश्वतोमुखं विश्वरूपं सर्वात्मानं मामेवोपासते" इति मधुसूदन-सरस्वतीपादानां व्याख्या। अत्र*'नादेवो देवमर्च्चयेत्'* इति तान्त्रिकदृष्ट्या गोपालोऽहम् इति भावनावत्त्वे या गोपालोपासना, सा 'अहंग्रहोपासना'। तथा "यः परमेश्वरो विष्णुः स हि सूर्य एव नान्यः; स हि इन्द्र एव नान्यः, स हि सोम एव नान्यः" इत्येवं भेदेन एकस्या एव भगवद्विभूतेर्या उपासना सा 'प्रतीकोपासना'। 'विष्णुः सर्वः' इति समस्त-विभूत्युपासना विश्वरूपोपासनेति ज्ञानयज्ञस्य त्रैविध्यम्, यद्वा, एकत्वेन पृथक्त्वेन इत्येक एव 'अहंग्रहोपासना'—'गोपालोऽहं' 'गोपालस्य दासोऽहम' इत्युभयभावनामयी समुद्रगामिनी नदीव समुद्रभिन्नाऽभिन्ना चेति। तदा च ज्ञानयज्ञस्य द्वैविध्यम्।।१५।।

भावानुवाद—इस अध्याय एवं पूर्व अध्यायोंमें अनन्य भक्तको ही 'महात्मा' शब्दसे सम्बोधित किया गया है तथा यह प्रदर्शित हुआ है कि वे आर्त्तादि समस्त अन्य प्रकारके भक्तोंसे श्रेष्ठ हैं। अनन्तर, पूर्वमें नहीं कहे गए अन्य तीन प्रकारके भक्तोंके विषयमें बता रहे हैं, जो आर्त्तदि भक्तोंसे भी भिन्न श्रेणीके हैं। ये हैं—'अहंग्रहोपासक', 'प्रतीकोपासक' तथा 'विश्वरूपोपासक'। ये लोग महात्मा नहीं हैं, क्योंकि पूर्वोक्त साधनके अनुष्ठानमें असमर्थ हैं। श्रुतिमें ज्ञानयज्ञका तात्पर्य इस प्रकार बताया गया है—"हे ऐश्वर्यसम्पन्न देवपुरुष! जो आप हैं, वही मैं हूँ, जो मै हूँ, वही आप हैं।" यही अहंग्रहोपासना है तथा ज्ञानीगण इसी यजनरूप यज्ञसे परमेश्वरकी

उपासना करते हैं। यहाँ 'च'-कारका प्रयोग 'एवं' के अर्थ में हुआ है तथा 'अपि' शब्दका प्रयोग 'अन्य साधनोंके त्याग करने' के अर्थमें हुआ है। 'एकत्वेन' का तात्पर्य है—उपास्य और उपासककी अभेद चिन्ता। इस प्रकारके यजनसे भी तुच्छ 'पृथक्त्वेन' उपासना है, जिसमें उपासकगण श्रुतिकथित—"आदित्य ही ब्रह्म है—यही आदेश है"—इन वाक्योंके अनुसार प्रतीकोपासनारूप ज्ञान यज्ञद्वारा यजन करते हैं। "इनसे भी जो मन्द बुद्धिवाले हैं, वे बहुत प्रकारसे विश्वरूप सर्वात्माके रूपमें मेरी उपासना करते हैं।"—यह श्रीपाद मधुसूदन सरस्वतीकी व्याख्या है। तन्त्रमें कहा गया है—*'नादेवो देवमर्चयेत्'* इस तन्त्र वाक्यकी दृष्टिसे अदेवता अर्थात् जो देवता नहीं हैं, वे देवताका अर्चन नही करेंगे। 'मैं गोपाल हूँ'—इस भावनासे गोपालकी उपासना ही अहंग्रहोपासना है। इसी प्रकार, जो परमेश्वर विष्णु हैं, उनके अतिरिक्त और कोई सूर्य नहीं हैं, वे ही इन्द्र हैं और कोई इन्द्र नहीं है, वे ही सोम हैं और कोई सोम नहीं हैं, इस प्रकार आकार भेद द्वारा एक ही भगवान्की विभूतियोंकी जो उपासना है, वही 'प्रतीकोपासना' है। 'विष्णु ही समस्त (वस्तु) हैं'—इस प्रकारके ज्ञानसे जो समस्त विभूतियोंकी उपासना की जाती है, वही 'विश्वरूपोपासना' है। इस प्रकार ज्ञानयज्ञके तीन प्रकार प्रदर्शित हुए। अथवा, एकत्व तथा पृथक्त्व—ये एक ही हैं। 'अहंग्रहोपासना' अर्थात् 'मैं' गोपाल हूँ'—ऐसी भावना तथा 'मैं गोपालका दास हूँ'—ऐसी भावना—ये दोनों भावनाएँ समुद्रगामिनी नदीके समान समुद्रसे भिन्न भी हैं तथा समुद्रसे अभिन्न भी हैं। इस रूपमें ज्ञानयज्ञ दो प्रकारका है।।१५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—आर्त्त आदि भक्तोंकी अपेक्षा अनन्य भक्त सर्वश्रेष्ठ और 'महात्मा' शब्दवाच्य हैं—ऐसा बताकर उनकी अपेक्षा न्यून और भी तीन प्रकारके उपासकोंके विषयमें बताया जा रहा है। ये तीनों प्रकारके उपासक अनन्य भक्तोंके द्वारा अनुष्ठित साधनको करनेमें असमर्थ होनेके कारण ही एकत्व, पृथक्त्व और बहुधा या विश्वतोमुख आदि तत्त्व-विचारके साथ गुणीभूता भक्तियुक्त ज्ञानयज्ञ द्वारा श्रीभगवान्की उपासना करते हैं।

"हे अर्जुन! आर्त्त आदि भक्तोंकी अपेक्षा श्रेष्ठ जो 'महात्मा' शब्दवाच्य अनन्य भक्तगण हैं, उन्हें मैंने अनेक प्रकारसे दिखाया। अब उनसे भी निम्न जो और भी तीन प्रकारके भक्त हैं, जिनके विषयमें पहले नहीं कहा गया है, उनके विषयमें बता रहा हूँ। पण्डितगण उन तीनों प्रकारके भक्तोंको 'अहंग्रहोपासक', 'प्रतीकोपासक' एवं 'विश्वरूपोपासक' कहते हैं।

इन तीनोंमें अहंग्रहोपासक ही प्रधान हैं, वे स्वयंको 'भगवान्' कहकर अभिमानसहित उपासना करते हैं—यही परमेश्वरका यजनरूप एक प्रकारका यज्ञ है। इस अभेदज्ञानरूप यज्ञका यजन करते हुए अहंग्रहोपासकगण ब्रह्मकी उपासना करते हैं। 'प्रतीकोपासकगण' उनकी अपेक्षा तुच्छ हैं। वे स्वयंको भगवान्से पृथक् जानकर सूर्य और इन्द्रादिको 'भगवत्-विभूति' कहकर उनकी उपासना करते हैं। उनसे भी मन्दबुद्धिवाले व्यक्तिगण 'विश्वरूप' के रूपमें भगवान्की उपासना करते हैं। इस प्रकार ज्ञानयज्ञका त्रिविधत्व लक्षित होता हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१५।।

अहं क्रतुरहं यज्ञः स्वधाहमहमौषधम्।
मन्त्रोऽहमहमेवाज्यमहमग्निरहं हुतम्।।१६।।
पिताहमस्य जगतो माता धाता पितामहः।
वेद्यं पवित्रमोङ्कार ऋक् साम यजुरेव च।।१७।।
गतिर्भर्त्ता प्रभुः साक्षी निवासः शरणं सुहृत्।
प्रभवः प्रलयः स्थानं निधानं बीजमव्ययम्।।१८।।
तपाम्यहमहं वर्षं निगृह्णाम्युत्सृजामि च।
अमृतञ्चैव मृत्युश्च सदसच्चाहमर्जुन।।१९।।

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) अहम् (मैं) क्रतुः (अग्निष्टोमादि श्रौत कर्म हूँ) अहम् (मैं) यज्ञः (वैश्वदेव आदि स्मार्त्त कर्म हूँ) स्वधा (पितृदेव श्राद्धादि हूँ) अहम् (मैं) औषधम् (औषधि हूँ) अहम् (मैं) मन्त्रः (मन्त्र हूँ) अहम् एव आज्यम् (मैं ही घृत हूँ) अहम् अग्निः (मैं अग्नि हूँ) अहम् हुतः (मैं होम हूँ) अहम् अस्य जगतः (मैं इस जगत्का) पिता माता धाता पितामहः (जनक, जननी, विधाता, पितामह) वेद्यम् (ज्ञेय वस्तु) पवित्रम् (पवित्र) ओंकारः (ॐ कार) ऋक् साम यजुः एव च (ऋक्, साम और यजुर्वेद भी हूँ) [अहम्—मैं] गतिः (कर्मफल) भर्त्ता (पति) प्रभुः (नियन्ता) साक्षी (शुभ-अशुभ द्रष्टा) निवासः (आश्रयस्थल) शरणम् (रक्षक) सुहृत् (हितकारी) प्रभवः (स्रष्टा) प्रलयः (प्रलयकर्त्ता) स्थानम् (आधार) निधान (लयस्थान) बीजम् (कारण) अव्ययम् (अविनाशी हूँ) [अहम्—मैं] तपामि (ताप प्रदान करता हूँ) वर्षम् उत्सृजामि (वृष्टि करता हूँ) निगृह्णामि च (और आकर्षण करता हूँ) अहम् एव अमृतम् (मैं ही मोक्ष) मृत्युः च (और मृत्यु हूँ) सत् असत् च (और स्थूल तथा सूक्ष्म हूँ)।।१६-१९।।

अनुवाद—हे अर्जुन! मैं अग्निष्टोमादि श्रौत कर्म हूँ, वैश्वदेवादि स्मार्त्त कर्म हूँ, मैं श्राद्धका अन्न हूँ, मैं औषधि हूँ, मैं मन्त्र हूँ, मैं घृत हूँ, मैं अग्नि हूँ, मैं होम हूँ। मैं ही जगत्का माता, पिता, धाता और पितामह हूँ। मैं ज्ञेय वस्तु हूँ, मैं शोधक हूँ, मैं ॐकार हूँ एवं मैं ही ऋक्, साम, यजुर्वेदादि हूँ। मैं सबकी कर्मफलरूप गति, भर्त्ता, प्रभु, साक्षी, निवास, शरण, सुहृत्, सृष्टि, स्थिति तथा लय–क्रिया हूँ। मैं आधार एवं अव्यय बीज हूँ, मैं ही ताप प्रदान करता हूँ, वर्षा देता हूँ तथा उसका आकर्षण करता हूँ। मैं अमृत हूँ, मै मत्यु हूँ तथा मैं ही स्थूल और सूक्ष्म समस्त वस्तु हूँ।।१६–१९।।

श्रीविश्वनाथ—बहुधोपासते कथं त्वामेव इत्याशङ्क्य आत्मनो विश्वरूपत्वं प्रपञ्चयति चतुर्भिः। क्रतुः श्रौतोऽग्निष्टोमादिः यज्ञः, स्मार्त्तो वैश्वदेवादिः, औषधम् औषधि-प्रभवमन्नम्, 'पिता' व्यष्टिसमष्टिसर्वजगदुत्पादनात्, 'माता' जगतोऽस्य स्वकुक्षि—मध्य एव धारणात्, 'धाता' जगतोऽस्य पोषणात्, 'पितामहः' जगत्स्रष्टुः ब्रह्मणोऽपि जनकत्वात्, वेद्यं ज्ञेयं वस्तु, पवित्रं शोधकं वस्तु, गतिः फलं, भर्त्ता पतिः, प्रभुर्नियन्ता, 'साक्षी' शुभाशुभद्रष्टा, 'निवासः' आस्पदं, 'शरणं' विपद्भ्यस्त्राता, 'सुहृत्' निरुपाधिहितकारी, 'प्रभवाद्याः' सृष्टिसंहार–स्थितयः क्रियाश्चाहं, 'निधानं' निधिः पद्मशङ्खादिः, 'बीजं' कारणम्, 'अव्यवम्' अविनाशि, न तु व्रीह्यादिवन्नश्वरम्, आदित्यो भूत्वा निदाघे तपामि, प्रावृषि वर्षम् उत्सृजामि, कदाचिच्चैव ग्रहरूपेण वर्षं निगृह्णामि च। 'अमृतं' मोक्षः, 'मृत्युः' संसारः, 'सदसत्' स्थूलसूक्ष्मः,—एतत् सर्वम् अहमेव इति मत्वा विश्वतोमुखं मामुपासते इति पूर्वेणान्वयः।।१६–१९।।

भावानुवाद—लोग क्यों बहुत प्रकारसे आपकी उपासना करते हैं? इस प्रश्न की अपेक्षामें श्रीभगवान् चार श्लोकोंमें अपने विश्वरूपत्वको विस्तारपूर्वक बता रहे हैं । 'क्रतुः' का तात्पर्य है—श्रुतिविहित अग्निष्टोमादि यज्ञ तथा स्मार्त स्मृतिविहित वैश्वदेवादि यज्ञ। 'औषधम्' का तात्पर्य है—औषधिसे उत्पन्न अन्न। 'पिता'—व्यष्टि और समष्टि समस्त जगत्का उपादान होनेके कारण पिता हूँ। 'माता'—इस जगत्को अपने गर्भमें धारण करनेके कारण माता हूँ। इस जगत्का पालन–पोषण करता हूँ, अतः धाता हूँ तथा जगत्के स्रष्टा ब्रह्मका भी जनक हूँ, अतः पितामह हूँ। 'वेधम्' का तात्पर्य है—ज्ञेय वस्तु तथा 'पवित्रम्' का तात्पर्य है—शोधन करनेवाला। 'गति' अर्थात् फल, 'भर्त्ता' अर्थात् पति, 'प्रभु' अर्थात् नियन्ता, 'साक्षी' अर्थात् शुभ–अशुभ द्रष्टा, 'निवासः' अर्थात् आस्पद, 'शरण' अर्थात् विपत्तियोंके त्राता, 'सुहृद'

अर्थात् निरुपाधिक हितकारी मैं ही हूँ। 'प्रभवाद्या' अर्थात् सष्टि, संहार एवं स्थिति कार्य करनेवाला मैं ही हूँ। मैं 'निधानम्' अर्थात् निधि हूँ अर्थात् पद्म-शंख आदिसे युक्त हूँ। 'बीज' अर्थात् कारण, 'अव्ययम्' अर्थात् अविनाशी अर्थात् व्रीहि (चावल) आदिके समान नश्वर नहीं हूँ। आदित्य रूपमें मैं ग्रीष्मकालमें ताप प्रदान करता हूँ एवं कभी ग्रह रूपमें वृष्टि-निवारण करता हूँ। 'अमृत' अर्थात् मोक्ष, 'मृत्युः' अर्थात् संसार, 'सदसत्' अर्थात् स्थूल-सूक्ष्म—ये समस्त मैं ही हूँ। इस प्रकारसे जानकर वे मुझ विश्वतोमुखकी उपासना करते हैं—यही पूर्व श्लोकके साथ अन्वय है।।१६-१९।।

त्रैविद्या मां सोमपाः पूतपापा यज्ञैरिष्ट्वा स्वर्गतिं प्रार्थयन्ते।
ते पुण्यमासाद्य सुरेन्द्रलोकमश्नन्ति दिव्यान् दिवि देवभोगान्।।२०।।

अन्वय—त्रैविद्याः (त्रिवेद-सम्मस्त सकाम कर्मपरायण) यज्ञैः (यज्ञोंके द्वारा) माम् (इन्द्रादिके रूपमें मेरी) इष्ट्वा (पूजाकर) सोमपाः (यज्ञके अवशिष्ट सोमरसका पानकर) पूतपापाः (निष्पाप) [सन्तः—होकर] स्वर्गतिम् (स्वर्ग-गमनकी) प्रार्थयन्ते (प्रार्थना करते हैं) ते (वे) पुण्यम् (पुण्यफलके रूपमें) सुरेन्द्र लोकम् (देवराज इन्द्रके लोकको) आसाद्य (पाकर) दिवि (स्वर्गमें) दिव्यान् देवभोगान् (दिव्य देवभोग्य वस्तुओंका) अश्नन्ति (उपभोग करते हैं)।।२०।।

अनुवाद—त्रिवेदोक्त सकाम कर्मपरायण व्यक्तिगण यज्ञोंके द्वारा मेरी पूजाकर, यज्ञके अवशिष्ट सोमरसका पानकर निष्पाप होकर स्वर्ग-गमनकी प्रार्थना करते हैं। पुण्यफलके रूपमें इन्द्रलोकको प्राप्तकर वे दिव्य देवभोग्य भोगोंका उपभोग करते हैं।।२०।।

श्रीविश्वनाथ—एवं त्रिविधोपासनावन्तोऽपि भक्ता एव मामेव परमेश्वरं जानन्तो मुच्यन्ते। ये कर्मिणस्ते न मुच्यन्ते एव इत्याह द्वाभ्यां—त्रैविद्या इति। ऋग्‌यजुःसामलक्षणास्तिस्रो विद्या अधीयन्ते जानन्ति वा त्रैविद्या वेदत्रयोक्तकर्मपरा इत्यर्थः। यज्ञैर्मामिष्ट्वा इन्द्रादयो ममैव रूपाणीत्यजानन्तोऽपि वस्तुत इन्द्रादिरूपेण मामेव इष्ट्वा यज्ञशेषं सोमं पिबन्तीति सोमपास्ते पुण्यं प्राप्य।।२०।।

भावानुवाद—इस प्रकार तीन प्रकारके उपासक भक्तगण मुझे ही परमेश्वर जानकर मुक्त होते हैं। किन्तु, जो कर्मी हैं, उन्हें मुक्ति नहीं मिलती है। इसलिए श्रीभगवान् 'त्रैविद्या' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। जो ऋक्, यजुः और सामवेद—इन तीनोंकी विद्याको जानते हैं, वे 'त्रैविद्या' अर्थात् तीनों वेदोंमें कथित कर्मपरायण हैं। वे यज्ञ द्वारा मेरी ही पूजा करते हैं। इन्द्रादि

देवतागण मेरे ही रूप हैं—यह नहीं जानते हुए भी वस्तुतः वे इन्द्रादि रूपमें मेरी ही पूजा करते हैं तथा यज्ञके अवशेष सोमरसका पान करते हैं। सोमरस पीनेवाले वे पुण्य लाभकर स्वर्गसुखका भोग करते हैं।।२०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"इस प्रकार त्रिविध उपासनामें यदि भक्तिका गन्ध रहे, तभी 'परमेश्वर' के रूपमें मेरी उपासनाकर जीव क्रमशः अपने-अपने कषायोंका परित्यागकर मेरी शुद्धा भक्ति लाभरूप मोक्ष प्राप्त करता है। अहंग्रहोपासनामें अपने प्रति उपासककी जो भगवद्बुद्धि है, वह भक्तिके आलोचना-क्रमसे दूर होकर शुद्ध भक्तिमें परिणत हो सकती है। प्रतीकोपासनामें जो अन्य देवताओंके प्रति भगवद्बुद्धि है, वह तत्त्व-आलोचना और साधु-सङ्गके क्रमसे दूर होकर सच्चिदानन्द-स्वरूप मुझमें ही पर्यवसित हो सकती है। विश्वरूपोसनामें जो अनिश्चित परमात्म-ज्ञान है, वह मेरे स्वरूपके आविर्भाव-क्रमसे दूर होकर सच्चिदानन्द-स्वरूप मध्यमाकार मुझमें ही घनीभूत हो सकता है। किन्तु, इन त्रिविध उपासनाओंमें जिसका भगवद्वैमुख्य लक्षणरूप कर्म-ज्ञानमें आग्रह रहता है, उसको नित्यमंगलस्वरूप भक्ति नहीं प्राप्त होती है। 'अभेद साधकगण' क्रमशः भगवद्वैमुख्यवशतः मायावादरूप कुतर्कके जालमें पतित हो जाते हैं। 'प्रतीकोपासकगण' ऋक्, साम और यजुर्वेदमें उल्लिखित कर्मतन्त्रमें आबद्ध होकर उक्त वेदत्रयकी कर्मोपदेशिनी विद्यात्रयका अध्ययनकर सोमपान द्वारा निष्पाप होते हैं, क्रमशः यज्ञों द्वारा मेरी उपासनाकर स्वर्ग-प्राप्तिकी प्रार्थना करते हैं। वे पुण्यके फलसे प्राप्य देवलोकमें दिव्य देवभोगोंको प्राप्त होते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२०।।

ते तं भुक्त्वा स्वर्गलोकं विशालं क्षीणे पुण्ये मर्त्यलोकं विशन्ति।
एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते।।२१।।

अन्वय—ते (वे) तम् विशालम् (उस विशाल) स्वर्गलोकम् (स्वर्गलोकको) भुक्त्वा (भोगकर) पुण्ये क्षीणे (पुण्यके क्षय होनेपर) मर्त्यलोकम् विशन्ति (मृत्युलोकमें आगमन करते हैं) एवम् (इस प्रकार) त्रयीधर्मम् (वेद-विहित कर्मोंके) अनुप्रपन्नाः (अनुसरणकारी) कामकामाः (भोगोंकी कामना करनेवाले पुरुष) गतागतम् (पुनः पुनः संसारमें आवागमन) लभन्ते (प्राप्त करते हैं)।।२१।।

अनुवाद—वे उस विशाल स्वर्गलोकका भोग करनेके पश्चाात् पुण्यके क्षीण होनेपर मृत्युलोकमें पतित होते हैं। इस प्रकार तीनों वेदोंमें उक्त सकाम कर्मोंका अनुष्ठान करनेवाले पुनः पुनः संसारमें आवागमनको प्राप्त होते हैं।।२१।।

श्रीविश्वनाथ—गतागतं पुनः पुनर्मृत्युजन्मनी।।२१।।

भावानुवाद—'गतागतं' का तात्पर्य है—जन्म-मृत्यु।।२१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्वश्लोकमें वर्णित भगवत्-विमुख कामकामी व्यक्तिगण स्वर्गादिके सुखोंको भोगकर पुनः संसारमें पतित होते हैं तथा पुनः पुनः जन्म-कर्म फलप्रद गतिको प्राप्त होते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी इसकी पुष्टि की गई है—

'स चापि भगवद्धर्मात् काममूढः पराङ्मुखः।
यजते क्रतुभिर्देवान् पितृंश्च श्रद्धयान्वितः।।'

(श्रीमद्भा. ३/३२/२)

अर्थात्, वे व्यक्ति भगवदाराधनारूप आत्मधर्म (सेवा) से विमुख तथा काममूढ़ होकर कर्ममार्गमें श्रद्धायुक्त होकर विविध यज्ञोंके द्वारा प्राकृत देवता ओर पितृ-पुरुषोंकी उपासना करते हैं।

'कर्मवल्लीमवलम्ब्य तत आपदः कथञ्चिन्नरकाद्विमुक्तः पुनरप्येवं संसाराध्वनि वर्त्तमानो नरलोकसार्थमुपयाति एवमुपरि गतोऽपि।।'

(श्रीमद्भा. ५/१४/४१)

अर्थात्, इस प्रकारसे प्राणिगण कर्मवल्लीका आश्रय ग्रहणकर स्वर्ग प्राप्त करते हैं एवं नरकरूप आपदसे थोड़ा विमुक्त अवश्य होते हैं, किन्तु पुण्यके क्षय होनेपर उन्हें भी पुनः मर्त्यलोकमें प्रवेश करना पड़ता है।

'तावत् स मोदते स्वर्गे यावत् पुण्यं समाप्यते।
क्षीणपुण्यः पतत्यर्वागनिच्छन् कालचालितः।।'

(श्रीमद्भा. ११/१०/२६)

अर्थात्, जब तक भोगके द्वारा पुण्यकी समाप्ति नहीं होती है, तब तक पुरुष स्वर्गके सुखका भोग करते हैं, अनन्तर पुण्यक्षय होनेपर इच्छा नहीं रहनेपर भी काल द्वारा चालित होकर अधःपतित होते हैं।।२१।।

अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते।
तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।२२।।

अन्वयः—अनन्याः (अन्य कामनारहित) माम् चिन्तयन्तः (मेरी चिन्तामें निरत) ये जनाः (जो व्यक्तिगण) पर्युपासते (सर्वतोभावेन मेरी उपासना करते हैं) तेषाम् (उन) नित्याभियुक्तानाम् (नित्य मुझमें एकनिष्ठ व्यक्तियोंका) योगक्षेमम् (योग और क्षेम) अहम् वहामि (मैं वहन करता हूँ)।।२२।।

अनुवाद—अन्य कामनारहित तथा मेरी चिन्तामें निरत जो व्यक्तिगण सर्वतोभावेन मेरी उपासना करते हैं, नित्य मुझमें एकनिष्ठ उन व्यक्तियोंका योग और क्षेम मैं वहन करता हूँ।।२२।।

श्रीविश्वनाथ—मदनन्यभक्तानां सुखन्तु न कर्मप्राप्यं किन्तु मद्दत्तमेव इत्याह—अनन्या इति। नित्यमेव सदैवाभियुक्तानां पण्डितानामिति तदन्ये नित्यमपण्डिता इति भावः; यद्वा नित्यसंयोगस्पृहावतां योगध्यानादिलाभः क्षेमं तत्पालनञ्च तैरनपेक्षितमप्यहमेव वहामि, अत्र करोमीत्यप्रयुज्य वहामीतिप्रयोगात् तेषां शरीरपोषणभारो मयैवोह्यते, यथा स्व-कलत्रपुत्रादिपोषणभारो गृहस्थेनेति भावः। न चान्येषामिव तेषामपि योगक्षेमं कर्म प्राप्यमेवेत्यत आत्मारामस्य सर्वत्रोदासीनस्य परमेश्वरस्य तव किं तद्वहनेनेति वाच्यम्—*"भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन् मनःकल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम्"*इति श्रुतेर्मदनन्य-भक्तानां निष्कामत्वेन नैष्कर्म्यात् तेषु दृष्टं सुखं मद्दत्तमेव तत्र मम सर्वत्रोदासीनस्यापि स्वभक्तवात्सल्यमेव हेतुर्ज्ञेयः। न चैवं त्वयि स्वेष्टदेवे स्वनिर्वाहभारं ददानास्ते भक्ताः प्रेमशून्या इति वाच्यम्; तैर्मयि स्वभारस्य सर्वथैवानर्पणात् मयैव स्वेच्छया ग्रहणात्। न च सङ्कल्पमात्रेण विश्वसृष्ट्यादिकर्त्तुं ममायं भारो ज्ञेयः, यद्वा भक्तजनासक्तस्य मम स्वभोग्यकान्ताभारवहनमिव तदीय-योग-क्षेमवहनमति सुखप्रदमिति।।२२।।

भावानुवाद—मेरे भक्तोंका सुख कर्मफल द्वारा प्राप्त नहीं, अपितु मेरे द्वारा प्रदत्त है। 'नित्याभियुक्तानां' अर्थात् जो सर्वदा ही विशेषरूपसे मुझमें अभी युक्त हैं—उन पण्डितोंका सुख मेरे द्वारा प्रदत्त है, इनके अतिरिक्त अन्य सभी अपण्डित हैं अथवा इसका दूसरा अर्थ है—नित्य संयोगके आकांक्षी लोगोंको योग-ध्यानादिकी प्राप्ति मेरे द्वारा प्रदत्त होती है 'क्षेम' अर्थात् उनके अपेक्षा नहीं करनेपर भी मैं ही उनका पालन करता हूँ, उनका भार वहन करता हूँ। यहाँ श्रीभगवान्ने 'करोमि' शब्दका प्रयोग नहीं कर 'वहामि' का प्रयोग किया है। इसका तात्पर्य यह है कि उनके शरीर-पोषणका भार मैं ही वहन करता हूँ, जैसे कि गृहस्थ अपने पुत्रादिके पोषणका भार वहन करता है। अन्य लोगोंकी भाँति इनका योग क्षेम कर्मसे प्राप्त होनेवाला नहीं है। अतएव सर्वत्र उदासीन, आत्माराम, परमेश्वर आपके लिए उनके भारको वहन करनेका क्या प्रयोजन है? गोपाल तापनी उपनिषद (पूर्व विभाग-१५) में भी कथित है—"भक्तिका अर्थ है—इनका भजन अर्थात् ऐहिक और पारलौकिक उपाधियोंका परित्यागकर केवल उन भगवान्में ही जो मनोनिवेश है, उसे 'नैष्कर्म्य' कहते हैं।" मेरे अनन्य भक्तगण निष्काम

होते हैं, इस 'नैष्कर्म्य'के कारण उनका जो सुख दृष्टिगोचर होता है, वह मेरे द्वारा प्रदत्त है। मेरे सर्वत्र उदासीन होनेपर भी स्व-भक्तवात्सल्यको ही इसका (भक्तोंके प्रति यह सुख प्रदान) कारण जानो। अतः अपने इष्टदेवके ऊपर अपने पालन-पोषणका भार डालनेके कारण वे भक्तगण प्रेमरहित हैं—ऐसा कहना उचित नहीं है क्योंकि उनके द्वारा अपने भारको सर्वथा नहीं अर्पण करनेपर भी मैं ही स्वेच्छापूर्वक उसे ग्रहण करता हूँ। सङ्कल्पमात्रसे ही समस्त ब्रह्माण्डोंकी सृष्टि करनेवाले मेरे लिए यह भार भार है ही नहीं। अथवा, भक्तजनमें आसक्त मेरे लिए अपने भक्तोंका भार वहन करना उसी प्रकार अत्यन्त सुखप्रद है, जिस प्रकार लोगोंको अपनी भोग्या पत्नीका भार वहन करनेमें सुख प्राप्त होता है।।२२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीभगवान् किस प्रकार भक्तोंका योगक्षेम वहन करते हैं, इसके लिए नीचे एक सत्य घटना दी जा रही है—

अर्जुन मिश्र नामक एक दरिद्र ब्राह्मण थे, किन्तु थे परम भगवद्भक्त। इन्होंने श्रीमद्भगवद्गीताकी एक टीका लिखी है। ये नित्य प्रातःकाल भजन कार्यसे निबटकर एक प्रहर दिन चढ़ने तक श्रीगीताकी टीका लिखा करते थे। उसके बाद भिक्षाके लिए बाहर चले जाते। भिक्षामें जो कुछ पाते पत्नीके आगे रख देते। वे बड़े प्रेमसे रन्धन करतीं, भगवान्‌को भोग लगाकर स्वामीको महाप्रसाद भोजन करातीं और जो कुछ बचता सन्तुष्ट चित्तसे स्वयं पा लेतीं। उनके सभी कपड़े फटे-पुराने थे। केवल एक धोती कुछ अच्छी थी, जो बाहर पहनकर जानेके उपयुक्त थी। जब ब्राह्मण उसे पहनकर भिक्षाके लिए बाहर जाते, तो ब्राह्मणी चिथड़ोंसे अपने अङ्गोंको ढककर लज्जा निवारण करतीं। स्वामी जब भिक्षासे लौटते, तब ब्राह्मणी उसी धोतीको पहनकर बाहर आतीं-जातीं और गृहकार्योंको सम्पन्न करतीं। फिर भी दरिद्रताको भगवान्‌की देन समझकर दोनों सर्वदा सन्तुष्ट रहते। 'गृहदेवता श्रीगोपीनाथजी कृपाकर जो कुछ भिक्षा दे देते हैं, उसे उनको निवेदितकर महाप्रसाद पाते हैं'—सर्वदा उनकी ऐसी ही भावना होती। उनके दिन आनन्दसे कटते। सांसारिक दुःख-कष्टसे वे तनिक भी विचलित नहीं होते।

इसी प्रकार नियमितरूपसे गीताकी टीका लिखी जाती। एक दिन ब्राह्मण भजनसे निवृत्त होकर टीका लिखने बैठे। '**अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ....नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्**' (गीता ९/२२) श्लोककी टीका लिखनी थी। श्लोक पढ़ते ही एक जटिल समस्या पैदा हुई। वे किसी प्रकार भी उसका समाधान नहीं कर पा रहे थे। जो स्वयं भगवान् हैं, जो सम्पूर्ण

विश्व-ब्रह्माण्डके एकमात्र अधीश्वर हैं, क्या वे अपना अनन्य भावसे भजन करनेवाले व्यक्तियोंका योग-क्षेम स्वयं वहन करते हैं? नहीं, ऐसा कदापि सम्भव नहीं। यदि यह सत्य है, तो मेरी अवस्था ऐसी क्यों है? मैं तो अनन्य भावसे केवल उन्हींका भरोसा करता हूँ; मैने अपना यथासर्वस्व उन्हींके चरणोंमें अर्पण कर दिया है, फिर भी मुझे ऐसा दारिद्र्य-दुःख क्यों भोगना पड़ता है? अतः 'नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्' भगवान्‌के मुखारविन्दसे निकला हुआ वाक्य नहीं, बल्कि प्रक्षिप्त प्रतीत होता है। वे अपनी बुद्धिसे गुत्थीको जितना ही सुलझानेकी चेष्टा करते और अधिक उलझते जाते। धीरे-धीरे उनका सन्देह बढ़ता गया। आखिर उन्होंने उस अंशको लाल स्याहीकी तीन रेखाओंसे काट दिया और ग्रन्थ लिखना बन्दकर भिक्षाके लिए निकल पड़े।

इधर करुणामय प्रणतपाल भगवान्‌ने देखा कि मेरे भक्तके मनमें मेरे वचनोंपर सन्देह उत्पन्न हुआ है। वे अति मनोहर सुकुमार श्याम वर्णका बालक वेश धारणकर दो टोकरियोंमें प्रचुर चावल, दाल, तरकारी और घी वगैरह सामान भरकर बहँगीपर रखकर उसे स्वयं अपने कन्धोंपर वहन करते हुए मिश्रजीके दरवाजेपर पहुँचे। दरवाजा भीतरसे बन्द था। उन्होंने पहले दरवाजा खटखटाया और फिर जोर-जोरसे पुकारने लगे—माताजी! माताजी!! बेचारी ब्राह्मणीके पास कोई कपड़ा नहीं था। चिथड़ोंको लपेटकर किसीके सामने जाय भी तो कैसे? वे लज्जावशतः चुपचाप बैठी रहीं। किन्तु, दरवाजेकी खटखटाहट और पुकारनेकी आवाज बन्द होनेके बदले क्रमशः बढ़ती गई। आखिर लाचार होकर दरवाजा खोल दिया। बालक भार उठाकर भीतर आँगनमें रखकर वहीं एक ओर खड़ा हो गया। ब्राह्मणी लज्जासे सिमटी-सी मुख नीचे कर घरके भीतर घुस गईं। बालक वेशधारी भगवान्‌ने ब्राह्मणीसे कहा—

"माँ! पण्डितजीने (मिश्रजीने) मुझे यह सीधा (भोजनकी कच्ची सामग्री) देकर भेजा है। आप इसे भीतर रख लें।"

ब्राह्मणी अब तक लज्जाके मारे घरमें मुख नीचा किए हुए खड़ी थीं। बालकके मधुर शब्दोंको सुनकर आँगनमें देखा—बड़ी-बड़ी दो टोकरियाँ खाद्य-द्रव्योंसे भरी हुई हैं। इतना बड़ा सीधा उन्होंने अपने जीवनभर कभी नहीं देखा था। बालकके बार-बार कहनेसे वे सामानोंको एक-एक कर घरमें रखने लगीं। आनन्द और उत्साहसे सामानोंको ले जानेके समय बार-बार बालकके मुखारविन्दकी ओर निहारती जाती थीं।

बालकका सुन्दर मुख-मण्डल देखकर वे निहाल हो गईं—अहो! कितना सुन्दर मुख है, श्याम वर्णमें इतना अलौकिक सौन्दर्य हो सकता है—इसकी जीवनमें कभी कल्पना तक नहीं की थी। वे ठगी-सी रह गईं। देखते-देखते उनकी दृष्टि बालकके वक्षस्थलपर पड़ी। उन्होंने देखा कि उसकी छातीपर तीन लम्बे-लम्बे दाग पड़े हैं, मानो किसीने अभी अभी किसी तेज अस्त्रसे चीर दिया हो और खून निकल रहा हो। वे आतुर होकर बोलीं—"बेटा! तुम्हारे वक्षस्थलको किस निर्ममने चीरा? हाय हाय! ऐसे सुकोमल अङ्गोपर आघात करनेसे तो पाषाण हृदय भी गल जाय।" बालक वेशधारी श्रीकृष्णने कहा—"माँ! मुझे सीधा लोनेमें कुछ देर हो गई थी, इसलिए मिश्रजीने स्वयं मेरी छातीको चीर दिया।"

"ऐं! उन्होंने तुम्हारी छातीको चीर दिया?"—ब्राह्मणीकी आँखे सजल हो आईं—"अच्छा, घर आने दो, उनसे पूछूँगी, तुम्हारे सुकोमल अङ्गोपर उन्होंने किस प्रकार निष्ठुर होकर हाथ उठाया? बेटा! दुःख न करो। थोड़ी देर ठहर जा, अभी रसोई तैयार करती हूँ। तुम ठाकुरजीका प्रसाद पाकर जाना।"

ब्राह्मणीने बालकको आँगनमें बैठाकर रसोईके आयोजनमें व्यस्त हो गयीं। इधर भगवान्‌ने सोचा—"जिस उद्देश्यके लिए मैंने इन सामानोंको स्वयं वहन कर लाया था, वह तो पूर्ण हो गया। ब्राह्मण अब घर आकर हाथों-हाथ मेरे वाक्यकी सत्यताका प्रमाण पा जाएँगे। उन्हें फिर कभी भी मेरे वाक्योंपर अविश्वास या सन्देह न होगा।" इस तरह भक्तका सन्देह दूर करनेकी व्यवस्थाकर वे तत्क्षण अन्तर्द्धान हो गए।

इधर ब्राह्मणको आज बहुत चेष्टा करनेपर भी कुछ भिक्षा न मिली। निराश होकर घर लौटे। सोचा—"ठाकुरजीकी ऐसी ही इच्छा है।" दरवाजा खटखटाते ही ब्राह्मणीने दरवाजा खोल दिया। घरमें प्रवेश करते ही पत्नीको रन्धनका आयोजन करते देखकर बोले—"रसोईका आयोजन तो कर रही हो, पर आज कुछ भी भिक्षा नहीं मिली। क्या बनाओगी?"

"क्यों? कुछ देर पहले ही तो आपने उस बालकके हाथ जो इतना बड़ा सीधा भेजा है, हम दोनों उसे छः महीनोंमें भी समाप्त नहीं कर सकेंगे। फिर 'रसोई क्या होगी'—ऐसा क्यों कहते हैं।"—ब्राह्मणीको कुछ विस्मय हुआ। "किन्तु आपका हृदय पाषाण जैसा इतना कठोर हो सकता है—मैं पहले तो ऐसा नहीं जानती थी। इस निरीह बालकके सुकोमल अङ्गोपर

आपने कैसे आघात किया? थोड़ी भी दया न आयी? उसकी छाती चिर जानेसे लाल-लाल तीन दाग हो गए हैं, मानो अभी-अभी रक्त निकल पड़ेगा।"

मिश्रजीके आश्चर्यका ठिकाना न रहा। उन्होंने कहा—"आखिर बात क्या है? साफ-साफ कहो। मैंने न तो कोई सामान भेजा है और न ही किसी बालकको मारा है। मेरी समझमें कुछ नहीं आ रहा है।"

ब्राह्मणीने पतिदेवकी बात सुनकर उन्हें घरमें रखे चावल दाल, आटा आदि सामानोंको दिखलाया और आँगनमें बैठे बालकके वक्षस्थलमें चिरे हुए दागोंको दिखलानेके लिए उन्हें साथ लेकर आँगनमें आईं। देखा, वहाँ बालक नहीं है। कहाँ गया? इधर उधर खोजा, बाहरका दरवाजा पूर्ववत् बन्द था। दोनों हैरान होकर एक दूसरेकी तरफ देखने लगे। मिश्रजीको अब कुछ भी समझना बाकी नहीं रहा। उनकी आँखोंसे अविरल अश्रुधारा प्रवाहित होने लगी। फिर भी रहा-सहा सन्देह दूर करनेके लिए हाथ-पैर धोकर ठाकुरजीके घरमें गए और गीता-ग्रन्थको खोलकर देखा—आज सबेरे उन्होंने लाल स्याहीकी जिन तीन रेखाओंसे *"नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्"* को काट दिया था, अब वे तीनों रेखाएँ नहीं हैं। वे आनन्दसे गद्गद् होकर ठाकुर घरसे निकल आए और रोते-रोते पत्नीसे बोले—"प्रिये! तुम धन्य हो, आज तुम्हें गोपीनाथजीके साक्षात् दर्शन मिले। ये सभी सामान वे स्वयं वहन कर लाए हैं। भला मैं इतना सामान कहाँ पाऊँगा? आज सबेरे गीताकी टीका लिखनेके समय मुझे भगवान्की वाणीपर सन्देह हुआ था। मैंने सन्देहयुक्त अंशको लाल स्याहीकी तीन रेखाओंसे काट दिया था। इसीसे हमारे गोपीनाथजीका सुकोमल वक्षःस्थल चिर गया। वे परम करुणामय हैं। उन्होंने अपनी वाणीकी सत्यता प्रमाणितकर मेरे जैसे नास्तिकका सन्देह दूर करनेके लिए कितना कष्ट उठाया है।" वे आगे बोल न सके, गला रुद्ध हो गया। वे प्रेममें विभोर होकर 'हा गोपीनाथ! हा गोपीनाथ!!' कहकर गिर पड़े। ब्राह्मणी गोपीनाथके सामने सुध-बुध खोई-सी खड़ी थी, उनकी भी आँखें बरस पड़ीं। कुछ देर बाद ब्राह्मणको चेतना आई। उन्होंने स्नानादि नित्य क्रिया समाप्तकर गोपीनाथजीका भोग लगाया और परम प्रीतिके साथ दोनोंने महाप्रसाद पाया। फिर वे नियमित रूपसे गीताकी टीका लिखने लगे। उनका जीवन अत्यन्त प्रेममय हो उठा।

"तुम ऐसा मत समझना कि सकाम त्रिविधोपासकगण सुख लाभ करते हैं और मेरे भक्तगण क्लेश पाते हैं। मेरे भक्तगण अनन्यरूपसे मेरी ही

चिन्ता करते हैं। वे देह-यात्राके लिए भक्तियोगके अविरूद्ध समस्त विषय स्वीकार करते हैं। अतएव वे नित्य अभियुक्त हैं। वे निष्काम होकर समस्त वस्तुओंको मुझे ही अर्पित करते हैं। मैं ही उन्हें समस्त अर्थ-धनादि प्रदान करता हूँ। उनका पालन करता हूँ। इसका तात्पर्य यह है कि भक्तियोगविहित विषयोंको स्वीकार करनेसे बाह्य दृष्टिसे समस्त विषय भोग तो होते हैं और इस विषयमें सकाम प्रतीकोपासकगण एवं मेरे भक्तोंमें कोई भेद नहीं हैं, परन्तु भक्तोंकी कोई कामना न रहनेपर भी मैं उनके योग और क्षेमको वहन करता हूँ। मेरे भक्तोंको विशेष लाभ यह है कि वे मेरे प्रसाद (कृपा) से समस्त विषयोंको यथायोग्य भोगकर अन्तमें नित्य-आनन्दको प्राप्त करते हैं। प्रतीकोपासकगण इन्द्रियसुख भोगकर पुनः कर्मक्षेत्रमें उपस्थित होते हैं—उन्हें नित्य सुख नहीं प्राप्त होता है। समस्त विषयोंमें उदासीन होकर भी भक्त-वात्सल्यवशतः मैं भक्तोंके उपकारकी चेष्टाकर आनन्द प्राप्त करता हूँ। इसमें मेरे भक्तोंका थोड़ा भी अपराध नहीं है, क्योंकि वे मेरे निकट कुछ भी प्रार्थना नहीं करते हैं, मैं स्वयं उनके अभावको पूर्ण करता हूँ।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२२।।

येऽप्यन्यदेवताभक्ता यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेऽपि मामेव कौन्तेय यजन्त्यविधिपूर्वकम्।।२३।।

अन्वयः—हे कौन्तेय (हे कौन्तेय!) ये (जो समस्त) अन्यदेवताभक्ताः अपि (अन्य देवताओंके भक्तगण भी जो) श्रद्धया अन्विताः (श्रद्धायुक्त) [सन्तः—होकर] यजन्ते (अराधना करते हैं) ते अपि (वे भी) माम् एव (मुझे ही) यजन्ते (पूजते हैं) अविधिपूर्वकम् (किन्तु मुझे प्राप्त करानेवाले विधिसे विहीन होकर)।।२३।।

अनुवाद—हे कौन्तेय! जो लोग श्रद्धापूर्वक अन्य देवताओंकी अराधना करते हैं, वे भी अविधिपूर्वक मेरी ही अराधना करते हैं।।२३।।

श्रीविश्वनाथ—ननु च ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये इत्यनेन त्वया स्वस्यैवोपासना त्रिविधोक्ता, तत्र बहुधा विश्वतोमुखमिति तृतीयाया उपासनाया ज्ञापनार्थम् "*अहं क्रतुरहं यज्ञः*" इत्यादिना स्वस्य विश्वरूपत्वं दर्शितम्, अतः कर्मयोगेन कर्माङ्गभूतेन्द्रादियाजकास्तथा प्राधान्येनैव देवतान्तरभक्ता अपि त्वद्भक्ता एव। कथं तर्हि ते न मुच्यन्ते? यदुक्तं—"*त्वया गतागतं कामकामा लभन्ते*" इति, "*अन्तवत्तु फलं तेषाम्*" इति च तत्राह—येऽपीति। सत्यं मामेव यजन्तीति किन्त्वविधिपूर्वकं—मत्प्रापकं विधिं विनैव यजन्त्यतः पुनरावर्त्तन्ते।।२३।।

भावानुवाद—अच्छा, आपने *'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये'*—इसके अनुसार अपनी उपासनाको त्रिविधा बताया, इसमें भी *'बहुधा विश्वतोमुखम्'*—इस वाक्यसे तृतीय उपासनाके सम्बन्धमें बतानेके लिए आपने 'मैं क्रतु, मैं यज्ञ' इत्यादि वाक्योंसे अपने विश्वरूपत्वको प्रदर्शित किया। अतएव कर्मयोगमें कर्मके अङ्गीभूत इन्द्रादि देवताओंके उपासकगण एवं प्रधानभावसे अन्य देवताओंके भक्तगण भी आपके ही भक्त हैं, अतः वे लोग क्यों नहीं मुक्त होंगे? आपने और भी तो कहा है—"कामकामी व्यक्तिगण आवागमनको प्राप्त होते हैं।" (गीता ९/२१) इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—यह सत्य है कि वे मेरी ही आराधना करते हैं, किन्तु वे इसे अविधिपूर्वक करते हैं अर्थात् मुझे प्राप्त करनेकी जो विधि है, उसका पालन किए बिना मेरी आराधना करते हैं, अतः वे संसारमें पुनरावर्त्तन करते हैं।।२३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अच्छा सभी देवता भगवान्के 'विभूतिस्वरूप' अथवा 'भगवत्-तनु' हैं और जिस प्रकारसे भी देवताओंकी पूजा क्यों न की जाय, वह पूजा भगवान्को ही प्राप्त होती है, किन्तु देवताओंके उपासक स्वर्गादि लोकोंमें उन उन देवताओंको प्राप्त होकर वहाँके नश्वर फलोंको भोगकर पुनः इस जगत्में लौटते हैं, और भगवान्के ऐकान्तिक उपासक भगवत्-धाममें भगवत्-सेवा प्राप्तकर पुनः इस जगत्में नहीं आते हैं। जब दोनों ही प्रकारकी उपासनाएँ भगवान्को ही प्राप्त होती हैं, तो दोनोंके फलमें ऐसा भेद क्यों है?

इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीकृष्ण अर्जुनको बता रहे हैं—"देवगण मुझसे पृथक् कोई स्वतन्त्र ईश्वर नहीं हैं, किन्तु देवताओंकी उपासना करनेवाले उन उन देवताओंको स्वतन्त्र ईश्वर मानकर उनकी उपासना करते हैं, अतः उनकी पूजा अविधिपूर्वक है।

श्रीमद्भागवतमें भी इस विषयको स्पष्ट करते हुए बताया गया है—

'यथातरोर्मूलनिषेचनेन तृप्यन्ति तत्स्कन्धभुजोपशाखाः।
प्राणोपहाराच्च यथेन्द्रियाणां तथैव सर्वार्हणमच्युतेज्या।।'

अर्थात्, जिस प्रकार वृक्षके मूलमें भलीभाँति जल-सिंचन करनेसे उसके स्कन्ध-शाखा-प्रशाखा-पत्र-पुष्पादि सभीका पोषण होता है और जिस प्रकार भोजनसे प्राणोंको तृप्त करनेपर सभी इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं, उसी प्रकार श्रीभगवान्की पूजा करनेसे ही सबकी पूजा हो जाती है। इस श्लोककी टीकाका भावार्थ यह है कि जिस प्रकार पेड़की जड़में पानी सींचनेसे उसकी

शाखा-प्रशाखादि समस्त पुष्ट होते हैं, उसके पत्तों, डालियों तथा फल-फूलोंमें पानी देनेसे वैसा फल नहीं होता, तथापि यदि कोई यह कहे कि जैसे पेड़की जड़, शाखादिमें पानी देनेसे कोई हानि नहीं होगी, बल्कि कुछ लाभ ही होगा, उसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णकी पूजाके साथ-साथ अन्यान्य देवताओंकी पूजा करनेमें हानि क्या है, तो इसके उत्तरमें एक दूसरा उदाहरण भी दे रहे हैं—जैसे आहारके द्वारा प्राणोंकी तृप्ति होनेपर शरीरकी समस्त इन्द्रियाँ पुष्ट होती हैं, किन्तु कान, आँख, नाक, मुखादिमें आहार देनेसे बधिरता, अन्धापन एवं मृत्यु होती है, उसी प्रकार दूसरे दूसरे देवताओंकी स्वतन्त्र ईश्वर-बुद्धिसे पूजा करनेसे विपरीत फल ही प्राप्त होते हैं। इसलिए अनन्यरूपसे कृष्णकी पूजा ही साक्षात् विधि है। और भी—

'सर्व एव यजन्ति त्वां सर्वदेवमयेश्वरम्।
येऽप्यन्यदेवताभक्ता यद्यप्यन्यधियः प्रभो।।
यथाद्रिप्रभवा नद्यः पर्जन्यापूरिताः प्रभो।
विशन्ति सर्वतः सिन्धुं तद्वत् त्वां गतयोऽन्ततः।।'

(श्रीमद्भा. १०/४०/९-१०)

इस श्लोकका पाठकर अधिकांश लोग ऐसा समझ सकते हैं कि जैसे पर्वतसे निकली हुई नदियाँ वर्षाके जलसे परिपूर्ण तथा अनेक शाखाओंमें विभक्त होकर विभिन्न दिशाओंसे एक ही समुद्रमें प्रविष्ट होती हैं, वैसे ही विभिन्न मार्गोंकी उपासनाएँ अन्तमें भगवान्‌में ही पर्यवसित होती हैं, इस प्रकार अन्यान्य देवताओंकी पूजाके द्वारा श्रीकृष्णपूजाका ही फल प्राप्त होगा। किन्तु, यह बात ठीक नहीं है। उपर्युक्त दोनों श्लोकोंकी श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरकी टीकाका भावार्थ यह है—"कर्मी, योगी आदि उपासकगण आपकी ही उपासना करते हैं, क्योंकि आप ही सर्वदेवमय और सर्वेश्वरेश्वर हैं। यद्यपि कोई कोई यह समझकर स्वयंको अन्य देवताओंमें बुद्धिविशिष्ट मानते हैं कि 'मैं शिवका अर्चन करता हूँ', मैं सूर्यका अर्चन करता हूँ', 'मैं गणेशका अर्चन करता हूँ', किन्तु वे आपकी ही उपासना करते हैं।

"अच्छा, यदि आप कहें कि वे मेरी पूजा करते हैं, अतः वे मुझे ही प्राप्त होंगे, तो ऐसा नहीं है। उनके द्वारा की गई पूजा-अर्चनादि अवश्य आपको प्राप्त होती हैं, किन्तु अर्चन करनेवाले स्वयं आपको नहीं प्राप्त होते हैं। नदियाँ पर्वतसे निःसृत होकर वर्षाके जलसे परिपूर्ण होती हैं। यत्र-तत्र वर्षा करनेवाले मेघका जल एकत्र होकर नदीका रूप धारण करता है। समस्त नदियाँ अनेक स्थलोंसे बहती हुई अन्तमें समुद्रमें प्रविष्ट होती हैं।

जिस प्रकार पर्वतसे उत्पन्न नदियाँ ही समुद्रमें मिलती हैं, उनका उद्‌गमस्थल पर्वत स्वयं नहीं, उसी प्रकार मार्गभूत अर्चन इत्यादि ही आपको प्राप्त होते हैं, अर्चकगण नहीं। यहाँ भगवान्‌की उपमा सिन्धुसे, वेदकी मेघसे, नाना प्रकारकी पूजा-विधियोंकी जलसे, पूजककी पर्वतसे, नाना प्रकारके देवताओंकी नाना स्थलोंसे है। जिस प्रकार वे नदियाँ नाना देशोंको पार करती हुई समुद्रमें मिलती हैं, उसी प्रकार पूजा भी विभिन्न देवताओंके माध्यमसे विष्णुको प्राप्त होती है, किन्तु पर्वतरूप पूजक विष्णुसे नहीं मिलता।"

अर्थात्, समुद्रसे वाष्प उत्पन्न होकर मेघका रूप धारणकर पर्वतोंके ऊपर बरसता है। वही जलराशि एकत्रित होकर नदीके रूपमें विभिन्न देशोंमें विभिन्न नामोंसे परिचित होनेपर भी अन्तमें उसी समुद्रमें गमन करती है, उसी प्रकार श्रीभगवान्‌से निःसृत व श्रुतिकी नाना प्रकारकी पूजा-विधियाँ उन उन अधिकारियों द्वारा अनुष्ठित होकर नाना देवपूजाओंके रूपमें परिचित होनेपर भी वे पूजा-अर्चन देवताओंके माध्यमसे अन्तमें भगवान् विष्णुको ही प्राप्त होते हैं। किन्तु, पूजक या अर्चक अपने अपने उपास्य देवताको ही प्राप्त होता है और उसके द्वारा अनित्य पदको प्राप्त होता है, उसे कृष्णके नित्य धाममें नित्य सेवा नहीं प्राप्त होती।

"वस्तुतः सच्चिदाननद मैं ही एकमात्र परमेश्वर हूँ। मुझसे स्वतन्त्र कोई देवता नहीं है। अपने स्वरूपमें मैं सर्वदा ही प्रपञ्चसे अतीत अप्राकृत सच्चिदानन्द तत्त्व हूँ। अनेक व्यक्तिगण सूर्यादि देवताओंकी उपासना करते हैं अर्थात् प्रपञ्चमें आबद्ध मनुष्यगण मायाके गुणों द्वारा प्रतिभात मेरे वैभवोंको ही अन्यान्य देवता समझकर उनकी आराधना करते हैं। किन्तु विचारपूर्वक देखनेसे पता चलता है कि वे (मेरी विभूति या देवतागण) मेरे गुणावतार हैं। उनके तत्त्व और मेरे स्वरूप-तत्त्वसे अवगत होकर जो लोग उन देवताओंको मेरे गुणावतारके रूपमें भजते हैं, उनका भजन वैध अर्थात् उन्नति-सोपान-सम्मत है। जो नित्य मानकर इन देवताओंकी उपासना करते हैं, वे अविधिपूर्वक आराधना करते हैं—इस कारणसे उन्हे नित्यफल प्राप्त नहीं होता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२३।।

अहं हि सर्वयज्ञानां भोक्ता च प्रभुरेव च।
न तु मामभिजानन्ति तत्त्वेनातश्च्यवन्ति ते।।२४।।

अन्वय—हि (क्योंकि) अहम् एव (मैं ही) सर्वयज्ञानाम् (समस्त यज्ञोंका) भोक्ता च प्रभुः च (भोक्ता और प्रभु हूँ) तु (किन्तु) ते (वे लोग) माम्

(मुझे) तत्त्वेन (स्वरूपतः) न अभिजानन्ति (नहीं जानते हैं) अतः (अतः) च्यवन्ति (मुझे प्राप्त करानेवाले पथसे च्युत हो जाते हैं अर्थात् संसारमें प्रत्यावर्त्तन करते हैं)।।२४।।

अनुवाद—क्योंकि मैं ही समस्त यज्ञोंका भोक्ता तथा प्रभु हूँ, किन्तु वे लोग मुझे स्वरूपतः नहीं जानते हैं, अतः वे संसारमें प्रत्यावर्त्तन करते हैं।।२४।।

श्रीविश्वनाथ—अविधिपूर्वकत्वमेवाह—अहमिति। देवतान्तर-रूपेणाहमेव भोक्ता प्रभुः स्वामी फलदाता चाहमेवेति। मान्तु तत्त्वेन न जानन्ति—यथा सूर्यस्याहमुपासकः सूर्य एव मयिप्रसीदतु, सूर्य एव मदभीष्टं फलं ददातु—सूर्य एव परमेश्वर इति तेषां बुद्धिर्न तु परमेश्वरो नारायण एव सूर्यः, स एव तादृशश्रद्धोत्पादकः, स एव मह्यं सूर्योपासनाफलप्रद इति बुद्धिरतस्तत्त्वतो मदभिज्ञानाभावात्ते च्यवन्ते भगवान्नारायण एव सूर्यादिरूपेणाराध्यते इति भावनया विश्वतोमुखं मामुपासीनास्तु मुच्यन्त एव। तस्मान्मद्विभूतिषु सूर्यादिषु पूजा मद्विभूतिज्ञानपूर्विकैव कर्त्तव्या, न त्वन्यथेति द्योतितम्।।२४।।

भावानुवाद—अविधिपूर्वक क्या है—इसके उत्तरमें 'अहं' इत्यादि कह रहे हैं। अन्य देवताओंके रूपमें मैं ही भोक्ता, प्रभु तथा स्वामी हूँ एवं फलदाता भी मैं ही हूँ। किन्तु प्रतीकोपासकगण तत्त्वतः मुझे नहीं जानते हैं। यथा—वे सोचते हैं कि मैं सूर्यका उपासक हूँ, सूर्य ही मेरे उपर प्रसन्न होवें, सूर्य ही मेरा अभीष्ट फल दान करें, सूर्य ही परमेश्वर हैं। उनकी बुद्धिमें यह बात नहीं आती है कि परमेश्वर नारायण ही सूर्य हैं। वे नारायण ही उनकी वैसी श्रद्धा उत्पन्न करनेवाले हैं, वे ही मुझे सूर्य-उपासनाका फल देनेवाले हैं। अतः तत्त्वतः मेरे अभिज्ञानके अभावमें वे च्युत हो जाते हैं। किन्तु, जो ऐसा सोचते हैं कि भगवान् नारायण ही सूर्यादिके रूपमें आराधित होते हैं, ऐसी भावनाके साथ विश्वतोमुख मेरी आराधना करते हैं, वे मुक्त ही हो जाते हैं। अतः सूर्यादि मेरी विभूतियोंकी पूजा मेरे विभूति-ज्ञानसे ही करना कर्त्तव्य है, अन्य प्रकारसे नहीं, यही प्रकाशित हुआ।।२४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अन्यान्य देवताओंकी पूजा अविधिपूर्वक क्यों है? उस अविधिपूर्वक पूजाका फल क्या है? इसे वर्त्तमान श्लोकमें स्पष्ट कर रहे हैं—मैं ही इन्द्रादिके रूपमें सभी यज्ञोंका भोक्ता हूँ। मैं ही सबका प्रभु, पालक, नियन्ता तथा फल प्रदाता हूँ। देवताओंको मेरी विभूति नहीं जानकर देवपूजकगण देवताओंको ही स्वतन्त्र ईश्वर और फलदाता

मानकर विश्वासपूर्वक उनकी पूजा करते हैं, किन्तु वे मेरे तत्त्वसे अवगत नहीं होनेके कारण मेरे प्रति श्रद्धारहित होते हैं—ऐसी पूजा अविधिपूर्वक है। ऐसी अतात्त्विक उपासनाके फलस्वरूप वे तत्त्वसे च्युत होकर जन्म-मरणके चक्रमें फँस जाते हैं।

किन्तु, सूर्यादि देवताओंको मेरी विभूति समझकर पूजा करनेसे क्रमशः उन्नत सोपानमें आरोहणकर मेरे तत्त्वविद् भक्तोंकी कृपासे मेरे स्वरूपका विज्ञान प्राप्त करनेपर सच्चिदानन्दस्वरूप मुझ कृष्णमें ही उनकी बुद्धि परिनिष्ठित हो सकती है। श्रुतियोंमें इस सिद्धान्तकी पुष्टि की गई है—

'नाराणाद्ब्रह्मा जायते, नारायणादिन्द्रो जायते, नारायणाद्द्वादशादित्या रुद्राः, सर्वदेवताः सर्व ऋषयः सर्वाणि भूतानि नारायणादेव समुत्पद्यते नारायणे प्रलीयन्ते।'

स्मृतियोंने भी ऐसा ही प्रतिपादित किया है—*'ब्रह्माशम्भुस्तथैवार्कः चन्द्रमाश्च शतक्रतुः। एवमाद्यास्तथैवान्ये युक्ता वैष्णव तेजसा।। जगत्कार्यावसाने तु वियुज्यन्ते च तेजसा। वितेजसश्च ते सर्वे पञ्चत्वमुपयान्ति ते।'*

अन्यान्य उपनिषद् इत्यादिमें भी ऐसा ही देखा जाता है। पूर्वोक्त श्रुति और स्मृति वचनोंके द्वारा देवताओं और सर्वेश्वरेश्वर विष्णुमें भेद परिलक्षित होता है तथा इन समस्त देवताओंसे विष्णुका सर्वश्रेष्ठत्व प्रमाणित होता है, तथापि कहीं कहीं किसी किसी देवताविशेषको विष्णुके समान कहा गया है। वहाँ उन देवातओंका सामर्थ्य विष्णुके अधीन होनेके कारण ही ऐसा कहा गया है अथवा विष्णुके अत्यन्त प्रिय होनेके कारण ही कहा गया है।

यदि कोई ऐसा समझे कि ऐसा होनेसे सभी देवताओंको नारायण मानकर ही पूजना उचित है, तो इसके उत्तरमें यह वक्तव्य है कि नारायणसे ही सबकी उत्पत्ति, स्थिति और लय विदित होता है, किन्तु ऐसा होनेपर भी वे सभी न नारायण हैं और न हो सकते हैं, क्योंकि शास्त्रोंमें ऐसा कहा गया है कि अन्यान्य देवताओं और जीवोंको श्रीभगवान्के साथ एक समान समझनेसे भयङ्कर अपराध होता है। ऐसे अपराधियोंको पाषण्डी भी कहा गया है—

'यस्तु नारायणं देवं ब्रह्मरुद्रादि दैवतैः।
समत्वेनैव वीक्षेत स पाषण्डी भवेद्ध्रुवम्।।'

जिस प्रकार स्वतन्त्र ईश्वर समझकर देवताओंकी पूजा करना अविधि है, उसी प्रकार ईश्वरके साथ देवताओं तथा जीवोंको समान मानना भी पाषण्डता है। अतएव देवताओंको श्रीनारायणकी विभूति मानकर पूजा करना ही विश्वरूपोपासकोंके लिए विधि है। इस विषयमें शास्त्रोंकी दो प्रकारकी व्यवस्था देखी जाती है। नारद पञ्चरात्रमें कथित है—

'अन्तर्यामि भगवद्‌दृष्ट्यैव सर्वाराधनं विहितम्'

अर्थात्, अन्तर्यामी भगवत्-दृष्टिसे ही सबकी पूजा विहित है।

तथा, विष्णुयामलादिके मतानुसार—

'विष्णुपादोदकेनैव पितृणां तर्पणक्रिया। विष्णोर्निवेदितान्नेन यष्टव्यं देवतान्तरमित्यादि प्रकारेण विहितमिति।।'

अर्थात्, विष्णुके चरणोदकके द्वारा ही पितृपुरुषोंके तर्पण इत्यादि क्रियाओंको करना चाहिए तथा विष्णुको निवेदित अन्नादिके द्वारा ही देवताओंको प्रसन्न करना चाहिए।।२४।।

यान्ति देवव्रता देवान् पितॄन् यान्ति पितृव्रताः।
भूतानि यान्ति भूतेज्या यान्ति मद्याजिनोऽपि माम्।।२५।।

अन्वयः—देवव्रताः (देवताओंको पूजनेवाले) देवान् यान्ति (देवलोकको प्राप्त होते हैं) पितृव्रताः (पितरोंको पूजनेवाले) पितॄन् यान्ति (पितृलोकको प्राप्त होते हैं) भूतेज्याः (भूतोंको पूजनेवाले) भूतानि यान्ति (भूतलोकको प्राप्त होते हैं) मद्याजिनः (मुझे पूजनेवाले) माम् अपि (मुझे ही) यान्ति (प्राप्त होते हैं)।।२५।।

अनुवाद–देवपूजकगण देवलोकको प्राप्त होते हैं, पितृपूजकगण पितृलोकको प्राप्त होते हैं, भूतपूजकगण भूतलोकको प्राप्त होते हैं और मेरी पूजा करनेवाले मुझे ही प्राप्त होते हैं।।२५।।

श्रीविश्वनाथ—ननु च तत्तद्देवतापूजापद्धतौ यो यो विधिरुक्तस्तेनैव विधिना सा सा देवता पूज्यत एव। यथा विष्णुपूजापद्धतौ य एव विधिस्तेनैव वैष्णवा विष्णुं पूजयन्त्यतो देवतान्तरभक्तानां को दोषः इति चेत्? सत्यंतर्हि तां तां देवतां तद्भक्ताः प्राप्नुवन्त्येव इत्ययं न्याय एव इत्याह—यान्तीति। तेन तत्तद्देवतानामपि नश्वरत्वात् तत्तद्देवताभक्ताः कथमनश्वरा भवन्तु। *"अहन्त्वनश्वरो नित्यो मद्भक्ता अप्यनश्वराः"* इति ते नित्या एवेति द्योतितम्—*"भवानेकः शिष्यते शेषसंज्ञः"*इति, *"एको नारायण एवासीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः"* इति, *"परार्द्धान्ते सोऽबुध्यत गोपरूपो मे पुरस्तादाविर्वभूव"* इति, *"न च्यवन्ते च मद्भक्ता महत्यां प्रलयादपि"* इत्यादि-श्रुतिभ्यः।।२५।।

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि उन उन देवताओंकी पूजा-पद्धतिमें जिन जिन विधियोंके विषयमें कहा गया है, उन उन विधियोंसे वे वे देवता पूजित होते हैं। जिस प्रकार विष्णु-पूजाकी जो विधि है, उस विधिसे वैष्णवगण उनकी पूजा करते हैं, अतएव अन्यान्य भक्तगणका दोष ही क्या है? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—यह सत्य है, इसलिए वे देवभक्तगण उन देवताओंको ही प्राप्त करते हैं—यह न्याय ही है। जब वे देवतागण ही नश्वर हैं, तो भला उनके भक्तगण किस प्रकार अनश्वर होंगे? किन्तु, मैं अनश्वर और नित्य हूँ और मेरे भक्तगण भी अनश्वर और नित्य हैं। श्रीमद्भागवत द्वारा भी यह प्रमाणित होता है—*'भवानेकः शिष्यते शेषसञ्ज्ञः'* अर्थात् अनन्त संज्ञावाच्य एक आप ही वर्तमान रहते हैं। और भी, (१) *'एको नारायण एवासीन्न ब्रह्मा न च शङ्करः'* अर्थात् पूर्वमें एक नारायण ही थे, ब्रह्मा और शिव भी नहीं थे। तथा (२) *'परार्द्धान्ते सोऽबुध्यत गोपरूपा मे पुरस्तादाविर्बभूव'* अर्थात् परार्द्धके अन्तमें उन्होंने समझा कि मैं गोपरूपसे उनके सम्मुख आविर्भूत हुआ था। (गो. ता.) (३) *'न च्यवन्ते च मद्भक्ता महत्यां प्रलयादपि'* अर्थात् मेरे भक्तगण सुमहत प्रलयमें भी च्युत या पुनरावर्त्तित नहीं होते हैं।।२५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ देवपूजकोंका तथा भगवद्भक्तोंका भेद तथा दोनोंके द्वारा प्राप्त किए जानेवाले फलोंमें भी भेदका प्रदर्शन कर रहे हैं। कोई कोई ऐसा कह सकते हैं कि जैसे शास्त्रोंमें दी गई विष्णुपूजाकी विधिके अनुसार ही वैष्णवगण विष्णुकी पूजा करते हैं, उसी प्रकार हमलोग भी शास्त्रकी विधिके अनुसार ही देवताओंको पूजते हैं, तो हमलोगोंकी पूजा अविधिपूर्वक कैसे हुई? उसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—शास्त्रविधिके अनुसार जो जिसकी पूजा करते हैं, वे उसे ही प्राप्त करेंगे। यही न्यायसंगत है। इसलिए देवपूजकगण देवलोकोंको प्राप्त होते हैं और चूँकि देवगण तथा देवलोक—दोनों ही नश्वर हैं इसलिए उनके उपासक भी नश्वर फल ही प्राप्त करते हैं इसके विपरीत मेरा धाम और मैं नित्य शाश्वत तथा आनन्दस्वरूप हूँ, अतः मेरे उपासकगण मेरे नित्यधाममें मेरी ही आनन्दमयी सेवा प्राप्त करते हैं। श्रीमद्भागवत (१/२/२७) में भी कहा गया है—*'समशीला भजन्ति'* अर्थात् देवपूजकगण सात्त्विक दर्श-पौर्णमास्यादि अनुष्ठानोंके द्वारा इन्द्रादिका पूजन करते हैं। पितृपूजकगण राजस श्राद्धादिके द्वारा पितृपुरुषोंका यजन करते हैं तथा भूतपूजकगण तामस बलि आदिके द्वारा यक्ष, राक्षस

और विनायकोंकी पूजा करते हैं, किन्तु मेरे भक्तगण निर्गुण होते हैं, वे सहज सुलभ द्रव्योंके द्वारा भक्तिपूर्वक मेरी पूजा किया करते हैं। यदि यह कहो कि देवपूजक भी तो आपके प्रति श्रद्धा रखते हैं, क्योंकि सर्वदेवपूजामें नारायणकी भी पूजा देखी जाती है, तो इसका उत्तर है— सर्वदेवपूजामें जो नारायणकी पूजा होती है, वह केवल कार्यसिद्धिके लिए होती है, उसे यथार्थ श्रद्धा नहीं कही जा सकती है। देवपूजकोंकी ऐसी धारणा होती है कि मैं इन्द्रादिका उपासक हूँ, इन्द्रादि हमारे उपास्य हैं, हमारी पूजासे सन्तुष्ट होकर इन्द्रादि ही अभीष्ट फल प्रदान करेंगे। इसके विपरीत मेरे भक्त ऐसा समझते हैं कि मैं सर्वशक्तिमान् सर्वेश्वरेश्वर वासुदेवका उपासक हूँ केवल वे ही मेरे आराध्य हैं, उनकी प्रीतिके लिए ही उनकी रुचिके अनुसार उपचारोंके द्वारा उनकी उपासना कर रहा हूँ। वे प्रसन्न होकर मुझे अभीष्ट फल प्रदान करेंगे। सामान्यतः दोनों अनुष्ठानोंके एक समान दीखनेपर भी देवपूजकगण मेरी भक्तिसे विमुख होनेके कारण देवलोकमें सीमित भोगोंको भोगकर वहाँसे पुनः जन्म-मृत्युके प्रवाहमें पतित होते हैं। किन्तु, मेरे अनन्य भक्तगण मेरे नित्यधाममें मुझ सच्चिदानन्दकी सेवा प्राप्तकर वहाँसे पुनः प्रत्यावर्त्तन नहीं करते। मेरे साथ अनन्त सुखोंका अनुभव करते हुए मेरे साथ विलास करते हैं।।२५।।

पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।२६।।

अन्वयः—यः (जो) भक्त्या (भक्तिपूर्वक) मे (मह्यम्—मेरे लिए) पत्रम् (पत्र) पुष्पम् (पुष्प) फलम् (फल) तोयम् (जल) प्रयच्छति (प्रदान करते हैं) अहम् (मैं) प्रयतात्मनः (शुद्धचित्त भक्तका) भुक्त्युपहृतम् (भक्तिपूर्वक प्रदत्त) तत् (वह) अश्नामि (ग्रहण करता हूँ)।।२६।।

अनुवाद—जो भक्तिपूर्वक मुझे पत्र, पुष्प, फलादि प्रदान करते हैं, मैं उन शुद्धचित्त भक्तोंके द्वारा भक्तिपूर्वक प्रदत्त उन समस्त वस्तुओंको ग्रहण करता हूँ।।२६।।

श्रीविश्वनाथ—वरं देवतान्तरभक्तवायासाधिक्यं, न तु मद्भक्तावित्याह—पत्रमिति। अत्र भक्त्येति करणं,-तृतीयायां भक्त्युपहृतमिति पौनरुक्तं स्यात्, अतः सहार्थे तृतीया, भक्त्या सहिता, मद्भक्ता इत्यर्थः। तेन मद्भक्तभिन्नो जनस्तात्कालिक्या भक्त्या यत् प्रयच्छति, तत् तेनोपहृतमपि पत्रपुष्पादिकं नैवाश्नामीति द्योतितम्। ततश्च मद्भक्त एव पत्रादिकं यद्ददाति, तत् तस्याहमश्नामि यथोचितमुपयुञ्जे।

कीदृशम्? भक्त्या उपहृतं न तु कस्यचिदनुरोधादिना दत्तमित्यर्थः। किञ्च मद्भक्तस्याप्यपवित्रशरीरत्वे सति नाश्नामीत्याह—प्रयतात्मनः शुद्धशरीरस्येति रजस्वलादयो, व्यावृत्ताः, यद्वा प्रयतात्मनः शुद्धान्तःकरणस्य, मद्भक्तं विना नान्यः शुद्धान्तःकरण इति। *"धौतात्मापुरुषः कृष्णपादमूलं न मुञ्चति"* इति परीक्षिदुक्तेर्मत्–पादसेवात्यागासामर्थ्यमेव शुद्धचित्तत्वचिह्नम्, अतः क्वचित् कामक्रोधादिसत्वेऽपि उत्खातदंष्ट्रोरगदंशवत्तस्याकिञ्चित्करत्वं ज्ञेयम्।।२६।।

भावानुवाद—बल्कि अन्य देवताकी आराधनामें अधिक क्लेश है, किन्तु मेरी भक्तिमें कोई क्लेश या कष्ट नहीं है अर्थात् मेरी भक्ति अनायास ही साधित होने योग्य है। यहाँ भक्ति ही कारण है। श्लोकके तृतीय पादमें 'भक्त्युपहृतम्' शब्दका प्रयोग हुआ है। द्वितीय पादमें भी 'भक्त्या' का प्रयोग हुआ है। अतः दो बार इस शब्दके प्रयोगसे पुनरुक्ति होती है। अतएव सहार्थे तृतीया सूत्रानुसार तृतीया पादके शब्दका तात्पर्य है—भक्तिसे युक्त अर्थात् मेरे भक्तगण। अतः मेरे भक्तगणके अतिरिक्त यदि कोई तात्कालिक भक्तिके साथ जो भी प्रदान करता है, उसके उस तात्कालिक भक्तिसहित प्रदत्त पत्र–पुष्पादिको नहीं ग्रहण करता हूँ। अतएव मेरे भक्तगण पत्रादि जो कुछ देते हैं, मैं उस द्रव्यका 'अश्नामि' अर्थात् यथोचित उपभोग करता हूँ। किन्तु, वह वस्तु भक्तिसहित समर्पित होनी चाहिए न कि किसीके अनुरोध करनेसे दी हुई। और भी, यदि मेरे भक्तका भी शरीर अपवित्र हो, तो मैं उसके प्रदत्त वस्तुको अस्वीकार कर देता हूँ, इसलिए कहते हैं—'प्रयतात्मनः' अर्थात् जिसका शरीर शुद्ध है। इस कथनसे रजस्वलादिका निषेध किया गया है। अथवा, 'प्रयतात्मा' का तात्पर्य है—जिनका अन्तःकरण शुद्ध है, उनके प्रदत्त वस्तुको स्वीकार करता हूँ; और मेरे भक्तके अतिरिक्त अन्य किसीका भी अन्तःकरण शुद्ध नहीं है। परीक्षित महाराजने कहा है—"पवित्र (शुद्ध) आत्मावाले पुरुष श्रीकृष्ण–पादपद्मका त्याग नहीं करते हैं।" 'शुद्धचित्त' होनेका लक्षण यही है कि मेरी चरणसेवाका त्याग करनेमें वे असमर्थ होंगे। अतएव यदि कभी किन्हींके चित्तमें काम–क्रोधादि देखा भी जाता है, तो उन्हें विषदन्तहीन सर्पके डँसनेके समान कुछ भी अनर्थ नहीं करनेवाला समझना चाहिए।।२६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवत्–भजनके अक्षय और अनन्त फलका वर्णनकर इस श्लोकमें सुख–साध्यत्वके सम्बन्धमें बता रहे हैं। पत्र–पुष्प फल या जल कोई सुलभ द्रव्य भक्तिपूर्वक भगवान्को अर्पित होनेपर अनन्त

विभूतिशाली तथा पूर्णकाम होनेपर भी भगवान् यथोचितरूपमें उसका उपभोग करते हैं अथवा भक्तोंकी प्रीतिसे उनको भूख और तृष्णा लग जाती है और वे भक्तिके आवेशमें उन द्रव्योंको प्रेमसे आरोगते हैं। भक्त विदुरके घरमें उनकी पत्नीके हाथोंसे कृष्णने केलेके छिलकेको भी बड़े प्रेमसे खाया था। श्रीकृष्णने अपने प्रिय सखा सुदामा विप्रके द्वारा लाये हुए सूखे तण्डुलके खूदको अत्यन्त प्रेमसे खाते हुए कहा था—

'पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति।
तदहं भक्त्युपहृतमश्नामि प्रयतात्मनः।।'

(श्रीमद्भा. १०/८१/४)

इसका तात्पर्य यह है कि वस्तु स्वादिष्ट हो या अस्वादिष्ट हो, किन्तु यह बहुत ही स्वादिष्ट है—यदि इस बुद्धिसे भक्त मुझे भक्तिपूर्वक देता है, तो वह वस्तु मेरे लिए परम स्वादिष्ट हो जाती है। उस समय मुझे और कोई विचार नहीं रहता। मैं उसे खाता हूँ। यहाँ तक कि आहार और घ्राणके अयोग्य पुष्पादिको भी मैं बड़े प्रेमसे मुग्ध होकर ग्रहण करता हूँ। यदि कोई कहे कि दूसरे-दूसरे देवताओंके भक्तोंके द्वारा भक्तिपूर्वक निवेदित वस्तुको भगवान् ग्रहण करते हैं अथवा नहीं, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—नहीं! मेरे भक्त जो कुछ देते हैं, मैं केवल उसे ही ग्रहण करता हूँ, दूसरेके द्वारा प्रदत्त वस्तुको नहीं। महाराज नाभिके यज्ञमें आविर्भूत भगवान्‌को ऋत्विकोंने कहा था—

'परिजनानुरागविरचितशबलसंशब्दसलिलसितकिसलयतुलसिकादूर्वाङ्कुरैरपि सम्भृतया सपर्यया किल परम परितुष्यसि।।'

(श्रीमद्भा. ५/३/५)

अर्थात्, आपके भक्तजन अनुरागसे भरे, रुद्ध गलेसे स्तुतिवाक्य, जल, कोमल पल्लव, तुलसी और दुर्वाङ्कुरके द्वारा जो पूजा करते हैं, आप निश्चय ही उस पूजाके द्वारा विशेषरूपसे सन्तुष्ट होते हैं।

हरिभक्तिविलासमें गौतमीय तन्त्रसे उद्धृत वाक्यमें भी ऐसा ही देखते हैं—

'तुलसीदल मात्रेण जलस्य चुलुकेन वा।
विक्रीणीते स्वमात्मानं भक्तेभ्यो भक्तवत्सलः।।'

श्रीमन्महाप्रभुने भक्त शुक्लाम्बरकी भिक्षाकी झोलीसे एक मुष्टि सूखे चावलको मुखमें चबाते हुए कहा था—

'प्रभु बले तोर खूदकण मुई खाऊँ।
अभक्तेर अमृत उलटि ना चाऊँ।।'

अर्थात्, श्रीमन्महाप्रभुने कहा—शुक्लाम्बर! मैं तुम्हारे खूद तण्डुलको भी ग्रहण करता हूँ, परन्तु अभक्तके अमृतको पलटकर देखना भी नहीं चाहता हूँ।

देवर्षि नारदने भी प्रचेताओंसे कहा है—*'न भजति कुमनीषिणां स ईज्या'* अर्थात् पाण्डित्य, धन तथा उच्च कुलके मदमें प्रमत्त होकर श्रीहरिकी अनन्य सेवा करनेवाले भगवद्भक्तोंका तिरस्कार करनेवाले कुमनीषियोंकी पूजा श्रीहरि कभी भी ग्रहण नहीं करते हैं।

भगवान्ने अपने श्रीमुखसे उद्धवको ऐसा ही उपदेश दिया है—अभक्तोंके द्वारा प्रचुररूपमें प्रदत्त उपहारसे भी मैं सन्तुष्ट नहीं होता हूँ। और भी बड़े स्पष्टरूपमें इसी सिद्धान्तकी पुष्टि करते हुए सुदामासे कहा है—

'अण्वप्युपाहृतं भक्तैः प्रेम्णा भूर्येव मे भवेत्।
भूर्यप्यभक्तोपहृतं न मे तोषाय कल्पते।।'

(श्रीमद्भा. १०/८१/३)

अर्थात्, भक्तों द्वारा अर्पित उपहार अणुमात्र होनेपर भी मैं उसे प्रचुररूपमें ग्रहण करता हूँ, किन्तु अभक्तोंके द्वारा प्रदत्त प्रचुर उपहार भी मेरा सन्तोष विधान नहीं कर सकते।

यहाँ 'प्रयतात्मा' शब्दका तात्पर्य भक्ति द्वारा शुद्ध अन्तःकरणवाले भक्त से है। भगवान् ऐसे शुद्धान्तःकरणवाले भक्तों द्वारा प्रदत्त भोज्य पदार्थोंको प्रीतिपूर्वक खाते हैं, दूसरेके द्वारा प्रदत्त वस्तुको नहीं। प्रह्लाद महाराजजीने भी ऐसा ही कहा है—*'इति पुंसार्पिता विष्णो' 'अर्पितैव सती यदि क्रियते'* अर्थात् अपनेको भगवान्के चरणोंमें अर्पित करनेके पश्चात् श्रवण, कीर्त्तनादि अङ्गोंका अनुष्ठान करनेपर वह शुद्धा भक्ति है, अन्यथा नहीं। इसका तात्पर्य यह है कि पूर्ण शरणागतिके साथ भक्तिके अङ्गोंका पालन करनेपर ही अन्तःकरण शुद्ध होता है तथा ऐसे भक्तोंका ही नेवैद्य भगवान् प्रीतिपूर्वक ग्रहण करते हैं।।२६।।

यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।२७।।

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) यत् करोषि (जो भी कर्मानुष्ठान करते हो) यत् अश्नासि (जो कुछ द्रव्य भोजन करते हो) यत् जुहोषि (जो होम

करते हो) यत् ददासि (जो भी दान करते हो) यत् तपस्यसि (जो भी तप करते हो) तत् (उन सबको) मदर्पणम् (मुझे समर्पण) कुरुष्व (करो)।।२७।।

अनुवाद—हे कौन्तेय! तुम जो भी कर्मका अनुष्ठान करते हो, जो कुछ भोजन करते हो, जो होम करते हो, जो भी दान करते हो तथा जो भी तप करते हो, उन सबको मुझे समर्पण करो।।२७।।

श्रीविश्वनाथ—ननु च "आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी" इत्यारभ्य एतावतीषु त्वदुक्तासु भक्तिषु मध्ये खल्वहं कां भक्तिं करवै इत्यपेक्षायां, भो अर्जुन! साम्प्रतं तावत्तव कर्मज्ञानादीनां त्यक्तुमशक्यत्वात् सर्वोत्कृष्टायां केवलायामनन्यभक्तौ नाधिकारो नापि निकृष्टायां सकामभक्तौ, तस्मात्त्वं निष्कामां कर्मज्ञानमिश्रां प्रधानीभूतामेव भक्तिं कुर्वित्याह—यत् करोषीति द्वाभ्याम्। लोकिकं वैदिकं वा यत् कर्म त्वं करोषि, यदश्नासि व्यवहारतो भोजनपानादिकं यत् करोषि, यत्तपस्यसि तपः करोषि, तत् सर्वं मय्येवार्पणं यस्य तद् यथा स्यात्, तथा कुरु। न चायं निष्कामकर्मयोग एव न तु भक्तियोग इति वाच्यम्। निष्काम कर्मिभिः शास्त्रविहितं कर्मैव भगवत्यर्प्यते, न तु व्यवहारिकं किमपि कृतम्, तथैव सर्वत्र दृष्टेः। भक्तैस्तु स्वात्ममनः प्राणेन्द्रियव्यापारमात्रमेव स्वेष्टदेव भगवत्यर्प्यते। यदुक्तं भक्तिप्रकरण एव—*"कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा वुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्। करोति यद् यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्।।"* इति। ननु च जुहोषीति हवनमिदमर्चनभक्त्यङ्गभूतं विष्णूद्देश्यकमेव, तपस्यतीति तपोऽप्येतदेकादश्यादिव्रतरूपमेव अत इयमनन्यैव भक्तिः किमिति नोच्यते? सत्यम् अनन्या भक्तिर्हि कृत्वापि न भगवत्यर्प्यते किन्तु भगवत्यर्पितैव क्रियते, यदुक्तं श्रीप्रह्लादेन—*"श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणम्"* इत्यत्र *"इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा क्रियते"* इत्यस्य व्याख्या च श्रीस्वामिचरणानां–"भगवति विष्णौ भक्तिः क्रियते, सा चार्पितैव सती यदि क्रियते, न तु कृता सती पश्चादर्प्येत इत्यतः पद्यमिदं न केवलायां पर्यवसेदिति।।२७।।

भावानुवाद—अच्छा, *'आर्त्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी'* (श्रीगीता ७/१६) से आरम्भकर अभी तक आपके द्वारा कथित विविध प्रकारकी भक्तियोंमें से मैं किस प्रकारकी भक्तिका अनुसरण करूँ? अर्जुनके इस आशङ्काका निवारण करते हुए श्रीभगवान् कहते है—हे अर्जुन! अभी तुम कर्म-ज्ञानादिका परित्याग करनेमें असमर्थ हो, अतः सर्वोत्कृष्टा या केवला या अनन्या भक्तिमें तुम्हारा अधिकार नहीं है तथा निकृष्टा सकाम भक्तिमें भी तुम्हारा अधिकार नहीं

है; अतएव तुम निष्काम कर्म–ज्ञानमिश्रा प्रधानीभूता भक्तिका अनुसरण करो। इसीलिए 'यत् करोषि' इत्यादि दो श्लोकोंको कह रहे हैं। तुम लौकिक अथवा वैदिक जो कुछ कर्म करो, व्यवहारवशतः जो कुछ भोजन–पान करो, जो भी तप करो—उन सबमें ऐसी भावना करो जिससे वे सभी मुझे अर्पित हो सकें। किन्तु यह न तो निष्काम कर्मयोग ही है, न ही इसे भक्तियोग कहा जा सकता है। निष्काम कर्मपरायण व्यक्तिगण शास्त्रविहित कर्मोंको ही भगवान्‌को अर्पित करते हैं, व्यावहारिक कृत कर्म नहीं—ऐसा ही सर्वत्र देखा जाता है। किन्तु, भक्तगण स्वकीय आत्मा, मन, प्राण एवं समस्त इन्द्रियोंके कार्यमात्रको ही अपने इष्टदेव भगवान्‌को अर्पित करते हैं। जैसा कि भक्ति प्रकरणमें कहा गया है—शरीर, वाक्य, मन, इन्द्रियसमूह, बुद्धि अथवा आत्मा द्वारा या स्वभाववश अनुसरण–क्रमसे भक्त जो कुछ करते हैं, उन सबको परात्पर श्रीनारायणको समर्पण करते हैं। (श्रीमद्भा. ११/२/३६) यदि प्रश्न हो कि 'जुहोषि' अर्थात् हवन कार्य भक्तिके अङ्गीभूत विष्णुके उद्देश्यसे कृत अर्चनके सदृश तथा 'तपस्यसि' अर्थात् यह तप भी एकादशी व्रतके समान है, तो इन्हें भी अनन्या भक्ति क्यों नहीं कहा जाता है, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—यह ठीक है, किन्तु अनन्या भक्तिमें अनुष्ठित होनेके बाद कर्म भगवान्‌को अर्पित नहीं होता, बल्कि भगवान्‌को अर्पित होनेके बाद अनुष्ठित होता है। श्रीप्रह्लाद महाराजने भी कहा है—

'श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम्।।
इतिपुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नवलक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्।।'

(श्रीमद्भा. ७/५/२३–२४)

यहाँ यह स्पष्ट देखा जाता है कि विष्णुको अर्पित करते हुए ही उनकी भक्ति की जाती है, न कि करनेके बाद अर्पित होती है।

श्रीधरस्वामिपाद इसकी व्याख्यामें कहते हैं—विष्णुकी भक्तिका अनुष्ठान विष्णुमें अर्पित करते हुए किया जाता है, न कि अनुष्ठान करनेके बाद उसे अर्पित किया जाता है। अतएव यह श्लोक केवला भक्तिमें पर्यवसित नहीं होता है।।२७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जो लोग भगवान्‌के द्वारा कथित सर्वश्रेष्ठा अनन्याभक्तिका आश्रय लेनेमें असमर्थ हैं, अथच अत्यन्त निकृष्ट भक्तिके

अनुष्ठानमें भी जिनकी रुचि नहीं है, उन लोगोंके लिए निष्काम-कर्म-ज्ञान मिश्रा प्रधानीभूता भक्तिका आश्रय करनेका उपदेश देते हुए श्रीकृष्ण अपने प्रिय सखा अर्जुनको निमित्त बनाकर लोकसंग्रहके लिए ही अपने निखिल कर्मोंको भगवान्‌को अर्पित करनेका उपदेश दे रहे हैं।

यहाँ 'लौकिक वैदिक सभी कर्मोंको मुझे अर्पित करो'—इस भगवत्-भक्तिके द्वारा यह नहीं समझना चाहिए कि जो कुछ करें, जो कुछ खाएँ पिएँ, उसमें दोषकी कोई बात नहीं हैं। उन सबको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पण करनेका भान रहनेसे ही काम हो जाएगा अथवा वैदिक कर्म भी जिस किसी देवताके उदेश्यसे क्यों न हो, जिस किसी सङ्कल्पके साथ क्यों न हो, केवल अन्तमें जड़कर्मोंमें निरत स्मार्तोंकी भाँति 'श्रीकृष्णाय समर्पणमस्तु' मंत्र पढनेसे ही समर्पण हो जाएगा। इसलिए श्रीधरस्वामी आदि सभीने इस श्लोककी टीकामें यह गूढ़ तात्पर्य प्रकाशित किया है कि वे सभी कर्म यथायथरूपमें भगवान्‌को अर्पित हों, वैसा करो अर्थात् भगवान्‌की प्रीतिके उद्देश्यसे किए गए कर्म ही उनको समर्पण किए जायँ। श्रीमद्भागवत (१/५/३६) में भी देवर्षि नारदने कहा है—*'कुर्वाणा यत्र कर्माणि भगवच्छिक्षया'* अर्थात् शरणागत भक्त भगवान्‌के लिए प्रीतिप्रद कर्म (सेवा कर) भगवान्‌को अर्पित करते हैं। इस श्लोककी टीकामें श्रीचक्रवर्त्ती ठाकुरने कर्मी और भक्तके कर्ममें पार्थक्य प्रदर्शित करते हुए लिखा है—कर्मी केवल वैदिक कर्मोंको भगवान्‌को अर्पित करते हैं, वह भी इसलिए कि कर्मकी उनकी कामना विफल न हो जाय। किन्तु, भक्तगण 'भगवान ही मेरे प्रभु है'—ऐसी भावनाकर अपने लौकिक, वैदिक, दैहिकादि समस्त कर्मोंको भगवान्‌की प्रीतिके लिए ही उनके चरणोंमें समर्पित करते हैं। दोनोंमें यही महान पार्थक्य है।

इस सिद्धान्तकी पुष्टि श्रीमद्भागवतमें नवयोगेन्द्र संवादमें भी की गई है—

'कायेन वाचा मनसेन्द्रियैर्वा बुद्ध्यात्मना वानुसृतस्वभावात्।
करोति यद्यत् सकलं परस्मै नारायणायेति समर्पयेत्तत्।।'

(श्रीमद्भा. ११/२/३६)

इस श्लोककी टीकामें श्रील भक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद'ने लिखा है—तन-मन-वचन-बुद्धि-अहंकार-चित्तादि समस्त इन्द्रियोंके द्वारा अनुष्ठित होनेपर भी उसे कर्मियोंके भोगपर धर्मके समान नहीं समझना चाहिए। पूर्वोक्त

प्रकारसे भगवत्-समर्पित कर्मके फलसे क्रमशः जीवोंकी विमुखता दूर हो जाती है। स्वरूपमें स्थित जीव समस्त कार्योंको भगवत्-सेवाके उद्देश्यसे ही किया करते हैं। यदि सुकृतिशाली कर्मी सम्प्रदाय भक्तोंके आदर्शोंका अनुसरणकर अपने सभी कर्मोंको भगवान्‌के चरणोंमें समर्पित करें, तो वे शीघ्र ही कर्ममिश्रा भक्तिसे ऊपर उठकर भक्तमें परिगणित हो सकते हैं।

"हे अर्जुन! अब तुम अपने अधिकारको स्थिर कर लो। तुम धर्मवीरके रूपमें मेरे साथ अवतीर्ण होकर मेरी लीला-पुष्टिके कार्यमें नियुक्त हो, अतएव तुम निरपेक्ष (शान्त) भक्त या सकाम भक्तमें परिगणित नहीं हो सकते हो। अतः निष्काम-कर्म-ज्ञान मिश्रा भक्ति ही तुम्हारे द्वारा अनुष्ठित होगी। इसलिए तुम्हारा कर्त्तव्य यह है कि तुम जो भी तपस्या करो—उन सबको मुझे अर्पित करो। व्यवहारिक मतसे अन्य सङ्कल्पकोंके साथ कर्मके किए जानेके बाद लोग अवशेषमें उसे मुझे अर्पित करते हैं, वह कुछ भी नहीं है अर्थात् व्यर्थ है। तुम मूलमें ही कर्मका अर्पणकर भक्तिका अनुष्ठान करो।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२७।।

शुभाशुभफलैरेवं मोक्ष्यसे कर्मबन्धनैः।
संन्यासयोगयुक्तात्मा विमुक्तो मामुपैष्यसि।।२८।।

अन्वय—एवम् (इस प्रकार) शुभ-अशुभफलैः (शुभ और अशुभ फलरूप) कर्मबन्धनैः (कर्मबन्धनोंसे) मोक्ष्यसे (मुक्त होओगे) संन्यासयोगयुक्तात्मा (कर्मफलत्यागरूप योगसे युक्त होकर) विमुक्तः (मुक्तगणमें विशिष्ट होकर) माम् उपैष्यसि (मुझे प्राप्त होओगे)।।२८।।

अनुवाद—इस प्रकार तुम शुभ तथा अशुभ फलरूप कर्मबन्धनसे मुक्त होओगे तथा कर्मफलत्यागरूप योगसे युक्त होकर मुक्तगणमें विशिष्ट होकर मुझे प्राप्त होओगे।।२८।।

श्रीविश्वनाथ—शुभाशुभफलैरनन्तैः कर्मरूपैर्बन्धनैर्विमोक्ष्यसे। *"भक्तिरस्य भजनं तदिहामुत्रोपाधिनैरास्येनामुष्मिन्मनःकल्पनमेतदेव नैष्कर्म्यम्"* इति श्रुतेः। संन्यासः कर्मफलत्यागः, स एव योगः तेन युक्त आत्मा मनो यस्य सः। न केवलं युक्त एव भविष्यसि, अपि तु विमुक्तो मुक्तेष्वपि विशिष्टः सन् मामुपैष्यसि साक्षात् परिचरितुं मन्निकटमेष्यसि,—*"मुक्तानामपि सिद्धानां नारायणपरायणः। सुदुर्लभः प्रशान्तात्मा कोटिष्वपि महामुने।।"* इति स्मृतेः। *"मुक्तिं ददाति कर्हिचित्स्म न भक्तियोगम्"* इतिशुकोक्तेः, मुक्तेः सकाशादपि साक्षान्मत्प्रेमसेवया उत्कर्षोऽयमेवेति भावः।।२८।।

भावानुवाद—इस प्रकार तुम अनन्त शुभ और अशुभ फलवाले कर्मरूप बन्धनसे मुक्त होओगे । श्रीगोपाल तापनी उपनिषद्में कथित है—श्रीकृष्णका भजन ही भक्ति है, इस भक्तिसे लौकिक और पारलौकिक उपाधि अर्थात् फलकामनासे रहित होकर केवल उनमें (भजनमें) ही मन लग जानेको नैष्कर्म्य कहते हैं। अतः कर्मफलका त्याग ही संन्यास है। जिनका आत्मा अर्थात् मन ऐसे योगसे युक्त है, वे योगयुक्तात्मा हैं। ऐसे योगसे युक्त होकर तुम केवल मुक्त नहीं, वरं विमुक्त होओगे अर्थात् मुक्तोंमें विशिष्ट होकर साक्षात् मेरी परिचर्याके लिए मेरे निकट आओगे। श्रीमद्भागवत (६/१४/५) में वर्णित है—"हे महामुने! इस प्रकार करोड़ों मुक्त और सिद्धगणमें भी नारायण-परायण प्रशान्तात्मा भक्त अत्यन्त दुर्लभ हैं।" और भी, "वे मुक्ति तो प्रदान करते हैं, किन्तु भक्ति नहीं देते हैं।" (श्रीमद्भा. ५/६/१८) श्रीशुकदेव गोस्वामीकी इस उक्तिसे यह पता चलता है कि मुक्तिकी अपेक्षा मेरी साक्षात् प्रेम-सेवाका उत्कर्ष है।।२८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्वोक्त प्रधानीभूता भक्तिका आश्रयकर अपने समस्त कर्मोंको भगवानको अर्पित करनेसे चित्त शुद्ध होता है। इसके द्वारा वे शुभ तथा अशुभ कर्मबन्धनोंसे मुक्त होकर मुक्तोंमें विशेष स्थान प्राप्त करते हैं तथा अन्तमें भगवान्को प्राप्त करते हैं। यहाँ यह विशेषरूपमें समझना चाहिए कि वे मुक्तिसे भी श्रेष्ठ श्रीभगवान्की प्रेममयी सेवा प्राप्त करते हैं।।२८।।

समोऽहं सर्वभूतेषु न मे द्वेष्योऽस्ति न प्रियः।
ये भजन्ति तु मां भक्त्या मयि ते तेषु चाप्यहम्।।२९।।

अन्वय—अहम् (मैं) सर्वभूतेषु (सभी भूतोंमें) समः (सम अर्थात् समदर्शी हूँ) मे (मेरा) न द्वेष्यः अस्ति (कोई अप्रिय नहीं है) न प्रियः (और न प्रिय है) तु (किन्तु) ये (जो) भक्त्या (भक्तिपूर्वक) माम् भजन्ति (मुझे भजते हैं) ते (वे) मयि (मुझमें) [यथाः आसक्ताः—जिस प्रकार आसक्त हैं] अहम् अपि (मैं भी) तेषु च (उनके प्रति) [तथा आसक्तः—उसी प्रकार आसक्त रहता हूँ]।।२९।।

अनुवाद—मैं सभी भूतोंमें सम अर्थात् समदर्शी हूँ। न तो कोई मेरा अप्रिय है और न ही प्रिय है। किन्तु, जो भक्तिपूर्वक मुझे भजते हैं, वे जिस प्रकार मुझमें आसक्त हैं, मैं भी उनमें उसी प्रकार आसक्त रहता हूँ।।२९।।

श्रीविश्वनाथ—ननु भक्तानेव विमुक्तीकृत्य स्वं प्रापयसि, न त्वभक्तानिति चेत्तर्हि तवापि किं रागद्वेषादिकृतं वैषम्यमस्ति? नेत्याह—समोऽहमिति। ते भक्ता मयि वर्त्तन्ते, अहमपि तेषु वर्त्ते इति व्याख्याने भगवत्येव सर्वं जगद्वर्त्तत एव, भगवानपिसर्वजगत्सु वर्त्तत एव इति नास्ति विशेषः, तस्मात् *"ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्"* इति न्यायेन, मयि ते आसक्ता भक्ता वर्त्तन्ते यथा तथाहमपि तेष्वासक्त इति व्याख्येयम्। अत्र कल्पवृक्षादि-दृष्टान्तस्त्वेकांशेनैव ज्ञेयः, न हि कल्पवृक्षफलाकाङ्क्षया तदाश्रिता आसज्जन्ति नापि कल्पवृक्षः स्वाश्रितेष्वासक्तः, नापि स आश्रितस्य वैरिणो द्वेष्टि, भगवांस्तु स्वभक्तवैरिणं स्वहस्तेनैव हिनस्ति; यदुक्तं प्रह्लादाय—*"यदा द्रुह्येद्धनिष्येऽपि वरोर्जितम्"*इति। केचित्तु तु-कारस्य भिन्नोपक्रमार्थत्वमाख्याय भक्तवात्सल्यलक्षणन्तु वैषम्यं मयि विद्यत एवेति, तच्च भगवतो भूषणं न तु दूषणमिति व्याचक्षते। तथा हि भगवतो भक्तवात्सल्यमेव प्रसिद्धं न तु ज्ञानि-वात्सल्यं योगिवात्सल्यं वा—यथा ह्यन्यो जनः स्व-दासेष्वेव वत्सलो, नान्यदासेषु तथैव भगवानपि स्वभक्तेष्वेव वत्सलो न रुद्रभक्तेषु, नापि देवीभक्तेष्विति।।२९।।

भावानुवाद—यदि अर्जुन कहे कि हे कृष्ण! आप अपने भक्तोंको ही विमुक्तकर अपने निकट ले जाते हैं, अभक्तोंको नहीं, तब तो आपमें भी राग-द्वेषादिकृत विषमता है, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—नहीं! नहीं! मैं सम हूँ। वे भक्त मुझमें रहते हैं, मैं भी उनमें रहता हूँ। इस व्याख्याके अनुसार भगवान्में ही सम्पूर्ण जगत् रहता है और भगवान् भी सम्पूर्ण जगत्में रहते हैं, इसमें कोई विशेषता नहीं हैं। अतः *'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'* अर्थात् जो जिस भावसे मेरी शरण ग्रहण करते हैं, मैं भी उसी प्रकार उनको भजता हूँ—इस कथानुसार भक्तगण जिस प्रकार मुझमें आसक्त रहते हैं, मैं भी उसी प्रकार आसक्त होकर उनमें वर्तमान रहता हूँ—ऐसा समझना चाहिए। इस विषयमें कल्पवृक्षादिके दृष्टान्तको आंशिक ही समझना चाहिए, क्योंकि जो फलकी आकांक्षासे कल्पवृक्षके आश्रित होते हैं, वस्तुतः वे कल्पवृक्षमें नहीं उसके फलमें आसक्त होते हैं। कल्पवृक्ष भी अपने आश्रितके प्रति आसक्त नहीं होता है और आश्रितसे वैर रखनेवालेके प्रति भी द्वेषी नहीं होता है। किन्तु, भगवान् भक्तोंके वैरीको अपने हाथोंसे हनन करते हैं। जैसा कि भगवान्ने प्रह्लादके उद्देश्यसे कहा है—जिस समय हिरण्यकशिपु प्रह्लादके प्रति द्रोहाचरण करेगा, उस समय ब्रह्माके वरदानसे शक्तिशाली होनेपर भी मैं निश्चय ही उसका

विनाश करूँगा। कोई कोई 'तु'-कारका भिन्न उपक्रमसे ऐसी व्याख्या करते हैं—भक्त-वात्सल्य लक्षणरूप वैषम्य मुझमें ही विद्यमान है एवं वह सर्वदा भूषणस्वरूप है, कभी दूषणस्वरूप नहीं। इस प्रकार भगवान्‌की भक्तवत्सलता ही प्रसिद्ध है, ज्ञानी-वत्सलता अथवा योगी-वत्सलता नहीं। जिस प्रकार मनुष्य अपने दासके प्रति वत्सल होता है, दूसरेके दासके प्रति नहीं, उसी प्रकार भगवान् भी अपने भक्तोंके प्रति वत्सल होते हैं, रुद्र या देवी भक्तोंके प्रति नहीं।।२९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यदि कोई ऐसा पूर्वपक्ष करे कि श्रीभगवान् अपने भक्तोंको विमुक्ति प्रदानकर अपने श्रीचरणोंकी प्रेममयी सेवा प्रदान करते हैं, किन्तु अभक्तोंके लिए ऐसा नहीं करते; ऐसा करनेसे क्या उनमें राग-द्वेषसे उत्पन्न वैषम्यका दोष नहीं लगता, तो इसका उत्तर यह है कि वे सबमें समदर्शी हैं, उनके लिए कोई द्वेष्य अथवा प्रिय नहीं है। वे मनुष्यादि सभी प्राणियोंको उनके कर्मोंके अनुसार सृजन एवं पालन-पोषण किया करते हैं। यदि यह कहा जाय कि जीवोंको उनके कर्मोंके अनुसार पालन कार्यमें वे किसीको सुख, किसीको दुःख, किसीको मोक्षादि फल प्रदान करते हैं, उनके इस व्यवहारमें क्या राग-द्वेषजनित वैषम्य दोष परिलक्षित नहीं होता है, तो इसका उत्तर श्रीमद्भागवतमें इस प्रकार दिया गया है—

'न तस्य कश्चिद्दयितः प्रतीपो न ज्ञातिबन्धुर्न परो न च स्वः।
समस्य सर्वत्र निरञ्जनस्य सुखे न रागः कुत एव रोषः।।'

(श्रीमद्भा. ६/१७/२२)

अर्थात्, वे सभी प्राणियोंमें सम हैं, कोई भी उनका प्रिय-अप्रिय नहीं है। जब अनासक्त पुरुषोंमें विषय-सुखमें आसक्ति ही नहीं है, तब विषय सुखकी प्रतिकूलतामें क्रोधका होना किस प्रकार सम्भव है। अगले श्लोकमें ऐसा ही देखा जाता है—

'तथापि तच्छक्तिविसर्ग एषां सुखाय दुःखाय हिताहिताय।
बन्धाय मोक्षाय च मृत्युजन्मनोः शरीरिणां संसृतयेऽवकल्पते।।'

(श्रीमद्भा. ६/१७/२३)

अर्थात्, भगवान् मूल कर्त्ता होनेपर भी स्वयं जीवोंके सुख-दुःख-बन्धन-मोक्षादिके हेतु नहीं हैं। जीवोंके कर्मफलके अनुसार उनकी गुण-माया ही पाप-पुण्यादिका नियमनकर उसीके अनुरूप जीवोंके जन्म-मृत्यु-सुख दुःखादिका हेतु होती है। यह सत्य है कि उनकी मायाशक्तिका कार्य उन्हींका कार्य माना जाएगा, क्योंकि शक्ति तथा शक्तिमान् अभिन्न हैं, तथापि उनमें वैषम्य दोषकी कल्पना नहीं की जा सकती, क्योंकि जीव अपने अपने

कर्मका ही फल भोगते हैं। इस श्लोककी टीकामें श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुर सूर्य और उल्लू आदिका उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार सूर्यका प्रकाश उल्लू और कुमुद आदिके लिए दुःखप्रद होता है, किन्तु चकवा पक्षी एवं कमल आदिके लिए सुखप्रद होता है, तथापि इसके लिए सूर्यमें वैषम्यका दोष नहीं होता, इसी प्रकार भगवान्‌की माया जीवोंके कर्मके अनुसार फल प्रदान करती है, इससे भगवान्‌में वैषम्य दोषका आरोप नहीं किया जा सकता है। इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतका निम्नलिखित श्लोक विवेचनीय है—

'न यस्य वध्यो न च रक्षणीयो नोपेक्षणीयादरणीयपक्षः।
अथापि सर्गस्थितिसंयमार्थं धत्ते रजःसत्त्वतमांसि काले।।'

(श्रीमद्भा. ८/५/२२)

सभी जीवोंके प्रति भगवान्‌की यह साधारण विधि है, किन्तु अपनी विशेष विधि मूल श्लोकके 'तु' कार द्वारा कह रहें हैं—जो लोग श्रवण-कीर्त्तनादि भक्तिके अङ्गोंके पालन द्वारा परम अनुरक्त होकर मेरा भजन करते हुए मुझमें अवस्थित होते हैं, सर्वेश्वरेश्वर मैं भी भक्तिपूर्वक उनमें अवस्थित होता हूँ। मणि-स्वर्णके अनुसार भगवान्‌की भी भक्तोंमें भक्ति होती है, यथा शुकदेव गोस्वामी कहते है—*'भगवान् भक्तभक्तिमान्'* (श्रीमद्भा. १०/८६/५९) और भी श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—*'तथापि भक्तं भजते महेश्वर'* अर्थात् जिस प्रकार भक्त भगवान्‌में आसक्त होते हैं, उसी प्रकार भगवान् भी भक्तमें आसक्त होते हैं। परस्पर प्रेमका ऐसा ही वैशिष्ट्य है। श्रीमद्भागवतमें ऐसा उल्लिखित है—"जिन भक्तोंने भगवान्‌के चरणकमलोंको अपने प्रेमपाशमें बाँध रखा है, श्रीभगवान् ऐसे प्रेमी भक्तोंका कभी भी त्याग नहीं करते।" *'विसृजति हृदयं न यस्य साक्षात्'* (श्रीमद्भा. ११/२/५५) इस श्लोकमें जिस प्रकार हृदगत् सम्बन्धकी बात कही गई है, उसी प्रकार उनका बाह्य-सम्बन्ध भी प्रतिपादित हुआ है, जैसे—*'बहिस्तुमयथा स्मृतेराचाराच्च'* (ब्र.सू. ३/४/४३)—श्रीगोविन्दभाष्य द्रष्टव्य।

आदि पुराणमें भी इस सिद्धान्तकी पुष्टि की गई है—

'अस्माकं गुरवो भक्ता भक्तानां गुरवो वयम्।
मद्भक्ता यत्र गच्छन्ति तत्र गच्छामि पार्थिव।।'

अर्थात्, भगवान् कहते हैं कि भक्त मेरे गुरु हैं तथा भक्तोंका गुरु मैं हूँ, भक्त जहाँ जहाँ गमन करते हैं, मैं भी वहाँ वहाँ गमन करता हूँ।

जिस प्रकार कल्पवृक्ष अपने आश्रय ग्रहणकारीके भावोंके तारतम्यसे ही फल प्रदान करता है, अनाश्रितोंको नहीं, उसी प्रकार आश्रितों और अनाश्रितोंके प्रति फल-प्रदानमें भेद रहनेपर भी भगवान्‌में कोई वैषम्य नहीं होता। किन्तु, कल्पवृक्षसे भगवान्‌का वैशिष्टय यह है कि कल्पवृक्ष अपने आश्रितोंके अधीन नहीं होता, किन्तु भगवान् अपने भक्तोंके अधीन होते हैं। इसलिए भक्ति-सम्बन्धके द्वारा ही उनमें सौहार्द, द्वेष और उपेक्षा देखी जाती है। जैसे अम्बरीष महाराजके प्रति सौहार्द, किन्तु उनके विद्वेषी दुर्वासा आदिके प्रति द्वेष और उपेक्षा प्रसिद्ध है। भगवान् सबके प्रति सम हैं—यह बात ठीक है, किन्तु इससे भी महत्वपूर्ण बात यह है कि भगवान् अपने भक्तोंके प्रति पक्षपाती होते हैं। इस विषयमें श्रीमद्भागवत, गीतादि शास्त्र साक्षी हैं।।२९।।

अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्।
साधुरेव स मन्तव्यः सम्यग्व्यवसितो हि सः।।३०।।

अन्वय—चेत् (यदि) सुदुराचारः अपि (विशेष रूपसे दुराचारी व्यक्ति भी) अनन्यभाक् (अनन्य भजनपरायण) [सन्—होकर] माम् (मुझे) भजति (भजता है) सः (वह) साधुः एव मन्तव्यः (साधु ही मानने योग्य है) हि (क्योंकि) सः (वह) सम्यक्-व्यवसितः (निश्चयात्मिका बुद्धिवाला है)।।३०।।

अनुवाद—यदि सुदुराचारी व्यक्ति भी अनन्य भजनपरायण होकर मेरा भजन करता है, तो वह भी साधु ही मानने योग्य है, क्योंकि वह मेरी भक्तिमें निश्चयात्मिका बुद्धिवाला है।।३०।।

श्रीविश्वनाथ—स्वभक्तेष्वासक्तिर्मम स्वाभाविक्येव भवति सा दुराचारेऽपि भक्ते नापयाति तमप्युत्कृष्टमेव करोमीत्याह—अपि चेदिति। सुदुराचारः परहिंसा-परदार-परद्रव्यादिग्रहण-परायणोऽपि मां भजते चेत्, कीदृग्भजनवानित्यत आह—अनन्यभाक् मत्तोऽन्यदेवतान्तरं मद्भक्तेरन्यत् कर्मज्ञानादिकं, मत्कामनातोऽन्यां राज्यादिकामनां न भजते स साधुः। नन्वेतादृशे कदाचारे दृष्टे सति कथं साधुत्वम्? तत्राह—मन्तव्यो मननीयः साधुत्वेनैव स ज्ञेय इति यावत्; मन्तव्यमिति विधिवाक्यं अन्यथा प्रत्यवायः स्यात्; अत्र मदाज्ञैव प्रमाणमिति भवः। ननु त्वां भजत इत्येतदंशेन साधुः परदारादिग्रहणांशेनासाधुश्च स मन्तव्यस्तत्राह—एवेति। सर्वेणाप्यंशेन साधुरेव मन्तव्यः कदापि तस्यासाधुत्वं न द्रष्टव्यमिति भावः। सम्यग्व्यवसितः निश्चयो यस्य सः। दुस्त्यजेन स्वपापेन नरकं तिर्यग्योनीर्वा यामि ऐकान्तिकं श्रीकृष्णभजनन्तु नैव जिहासामीति स शोभनमध्यवसायं कृतवानित्यर्थः।।३०।।

भावानुवाद—अपने भक्तोंके प्रति मेरी आसक्ति स्वाभाविक ही है। उसके दुराचारी होनेपर भी वह आसक्ति दूर नहीं होती है एवं मैं उसे भी श्रेष्ठ ही कर देता हूँ। 'सुदुराचारः'—अर्थात् परहिंसा-परदार-परद्रव्यादिके परायण होकर भी यदि मेरा भजन करता है, तो वह साधु ही है। वह किस प्रकार भजनवान् होना चाहिए? इसके उत्तरमें कहते हैं—'अनन्यभाक्' अर्थात् जो मेरे अतिरिक्त अन्य देवताओंका भजन नहीं करता है, मेरी भक्तिके अतिरिक्त ज्ञान-कर्मादिका अनुष्ठान नहीं करता है, मेरी प्राप्तिकी कामनाके अतिरिक्त राज्य-सुखादि कोई कामना नहीं करता है, वह साधु है। अच्छा, इस प्रकार कदाचारके दृष्ट होनेपर उसका साधुत्व ही कहाँ रहा? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—'मन्तव्यः' अर्थात् उसे साधु ही समझना होगा। 'मन्तव्यः'—इस शब्दसे विधि (नियम) सूचित होती है, अतः यदि ऐसा न माना जाय तो उससे दोष होगा। इस विषयमें मेरा आदेश ही प्रमाण है। यदि कहा जाय कि वह व्यक्ति आपका भजन करता है और दुराचारी भी है, अतः उसे अंशतः असाधु मानना चाहिए, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—'एव' अर्थात् पूर्ण अंशमें उसे साधु मानना होगा, कभी भी उसका असाधुत्व नहीं देखना होगा। क्योंकि, वह 'सम्यक्व्यवसितः' अर्थात् दृढ़ निश्चयवान् है। उसका निश्चय ऐसा होता है—अपने पापोंसे भले ही नरक अथवा पशु-पक्षी योनियोंमें चला जाऊँ, किन्तु ऐकान्तिक कृष्ण-भक्तिका कभी भी परित्याग नहीं करूँगा।।३०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस वर्त्तमान श्लोकमें भक्त-वत्सल भगवान् यह प्रतिज्ञाकर भक्तिके अचिन्त्य प्रभावका वर्णन कर रहे हैं कि यदि मेरा भक्त किसी निन्दित कर्ममें संलग्न दृष्ट भी होता है, तो शीघ्र ही मैं उसे परम उत्कृष्ट बना देता हूँ। जो लोग अनन्या भक्तिका आश्रय ग्रहण करते हैं, उन सिद्ध पुरुषोंमें किसी दुराचारकी सम्भावना नहीं है। अज्ञ लोगोंकी दृष्टिमें दुराचारी दृष्टिगोचर होनेपर भी यथार्थमें वे दुराचारी नहीं हैं। वे यथार्थतः साधु ही हैं। अज्ञोंकी तो बात दूर ही रहे, बड़े-बड़े विज्ञलोग भी वैष्णवोंकी क्रिया-मुद्राको नहीं समझ पाते हैं, यथा—

'वैष्णवेर क्रिया मुद्रा विज्ञे ना बुझय।' (चै. च)

प्राकृत इन्द्रियोंके द्वारा उत्तमाधिकारी भक्तोंके आचरणका विचार करना सम्भवपर नहीं है। चैतन्यमहाप्रभुने कहा है—

'सुन विप्र महाधिकारी येवा हय।
तबे तान दोष-गुण किछु ना जन्मय।।'

(चै. भा. अ. ६/२६)

अर्थात्, श्रीचैतन्य महाप्रभु नवद्वीपवासी विप्रको श्रीमन्नित्यानन्द प्रभुके विषयमें सावधान करते हुए कह रहे हैं कि भक्तिके महाधिकारी उत्तम भागवतोंमें प्राकृत गुण-दोष स्पर्श करनेकी कोई सम्भावना नहीं है। उनके प्रति दोष दृष्टि रखनेवाला व्यक्ति नरकगामी होता है। श्रीकृष्णने उद्धवजीको भी ऐसा ही उपदेश दिया है—

'न मय्येकान्तभक्तानां गुणदोषोद्भवा गुणाः।
साधूनां समचित्तानां बुद्धेः परमुपेयुषाम्॥'

(श्रीमद्भा. ११/२०/३६)

अर्थात्, राग-द्वेष आदिसे रहित, सर्वत्र समबुद्धिसम्पन्न एवं बुद्धिसे अतीत भगवत्-वस्तु-प्राप्त मेरे एकान्त भक्तोंके लिए विहित या निषिद्ध कर्मसे उदित पुण्य या पापकी सम्भावना नहीं है।

तथापि, एक बात हमेशा स्मरण रखनी चाहिए कि वैसे अनन्य भक्तोंका आचरण अनुकरणीय नहीं है। उनकी निन्दा भी न करें तथा उनका सङ्ग भी नहीं करें।

'तेजीयषां न दोषाय वह्नेः सर्वभुजो यथा।' (श्रीमद्भा. १०/३३/३०)

अर्थात्, महाभागवतोंके बाह्य दुराचार जैसे प्रतीत होनेवाले आचरणके प्रति कटाक्ष करनेवाले व्यक्तियोंका विनाश अवश्यम्भावी है। जिस प्रकार आग शुभ-अशुभ समस्त पदार्थोंको जलाकर भी पवित्र ही रहती है, उसी प्रकार तेजस्वी महापुरुषोंमें बाह्यतः दोष दृष्टिगोचर होनेपर भी वे सर्वदा पवित्र ही रहते हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसा वर्णन है कि जगद्गुरु ब्रह्माके किसी दुर्ज्ञेय आचरणके प्रति उपहास करनेके कारण उनके पौत्र मरीचि-पुत्रोंको असुर योनिकी प्राप्ति हुई थी।

सिद्धोंकी तो बात ही क्या, अनन्या भक्तिके साधकोंमें भी प्राक्तन् संस्कारवश हठात् कोई दुराचार दृष्टिगोचर होनेपर उन्हें भी साधु ही समझना चाहिए। इस श्लोकका यही गूढ़ तात्पर्य है। पूर्वोक्त श्रीमद्भागवतके (११/२०/३६) श्लोककी टीकामें श्रीचक्रवर्त्ती ठाकुरने ऐसा ही कहा है।

जगद्गुरु श्रीकृष्ण कह रहे हैं—अनन्य भजन परायण अर्थात् मेरे अतिरिक्त अन्यान्य देवी-देवताओंका भजन नहीं करनेवाले, मेरी भक्तिके अतिरिक्त कर्म-ज्ञान-योगादिका आश्रय नहीं ग्रहण करनेवाले, मेरी प्रीतिके अतिरिक्त कोई भी कामना नहीं करनेवाले, अधिकन्तु केवल मुझे ही स्वामी या परमपुरुषार्थ मानकर भजन करनेवाले भक्तोंकी रुचि स्वभावतः ही दुराचारमें

नहीं होती। किन्तु, दैववश हठात् साम्बन्धिक आचरणवशतः कोई दोष परिलक्षित होनेपर भी उसे साधु ही मानना होगा, यह मेरी विशेष आज्ञा है। इसका उल्लंघन करनेसे प्रत्यवाय होता है। यहाँ वैसे भक्तोंको साधु ही माननेका कारण बता रहे हैं—उनका व्यवसाय सम्यक् है, क्योंकि उनकी मेरे प्रति निश्चयात्मक ऐकान्तिक निष्ठा है।

इस विषयमें श्रीमद्भागवतके *'जातश्रद्धः मत्कथासु'* (११/२०/२७-२८) श्लोकमें *'श्रद्धालुः दृढनिश्चयः'*—इसकी टीकामें 'दृढ़निश्चय' की व्याख्या करते हुए श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर कहते हैं—गृह आदिमें मेरी आसक्ति रहे, न रहे अथवा वृद्धि प्राप्त हो; भजनमें करोड़ों विघ्न हो अथवा न हो, यदि अपराधके कारण नरक भी जाना पड़े, भले ही कामके वशीभूत हो जाऊँ, किन्तु किसी भी परिस्थितिमें ज्ञान-कर्म-योगादि साधनोंको अङ्गीकार नहीं कर सकता; यदि स्वयं ब्रह्मा भी ऐसा करनेका आदेश दें, तब भी ऐसा नहीं कर सकता। इस प्रकारका जिसका दृढ निश्चय है, वे 'दृढ़निश्चयः' हैं।

"जो अनन्यचित्त होकर मेरा भजन करते हैं, सुदुराचारी होनेपर भी उन्हें साधु ही मानना चाहिए, क्योंकि उनका कार्य सर्वतोभावेन सुन्दर है। सुदुराचार शब्दका अर्थ ठीक प्रकारसे समझना चाहिए। बद्धजीवका आचार दो प्रकारका होता है—'साम्बन्धिक' और 'स्वरूपगत'। शरीर-रक्षा, समाज-रक्षा और मनकी उन्नतिके सम्बन्धमें शौच, पुण्य, पुष्टिकर और अभावनिर्वाही इत्यादि जितने प्रकारके आचार अनुष्ठित होते हैं—वे सभी साम्बन्धिक हैं। शुद्धजीवस्वरूप आत्माका मेरे प्रति जो चित्कार्यरूप भजन आचार है, वह जीवका स्वरूपगत आचार है। इसीका दूसरा नाम 'अमिश्रा' अथवा 'केवला' भक्ति है। बद्धदशामें जीवकी केवला भक्ति भी साम्बन्धिक आचारके साथ अनिवार्य सम्बन्ध वहन करती है। अनन्य भजनरूपी भक्ति उदित होनेपर भी शरीर धारण करने तक साम्बन्धिक आचार अवश्य रहेगा। भक्तिके उदित होनेपर अन्य वस्तुमें जीवकी रुचि नहीं रहती है। रुचि जितने परिमाणमें कृष्णके प्रति समृद्ध होती है, उतने ही परिमाणमें अन्य विषयोंके प्रति दूर होती है। अन्य विषयोंके प्रति रुचि पूर्णरूपसे समाप्त न होनेतक कभी-कभी इतर रुचि बलप्रकाशपूर्वक कदाचारका अवलम्बन करती है, परन्तु कृष्ण-रुचि द्वारा शीघ्र ही दमित हो जाती है। भक्तिके उन्नति-सोपानपर आरूढ़ जीवका व्यवसाय सर्वाङ्गसुन्दर है। उक्त घटनाक्रमसे कभी यदि इसमें दुराचार ही नहीं, बल्कि सुदुराचार (अर्थात् परहिंसा, परद्रव्यहरण, परदारधर्षणादि, जिसमें भक्तकी सहज रुचि नहीं हो सकती है) भी दृश्य हो, तो वह भी अविलम्ब

ही दूर हो जाएगा एवं इसके द्वारा प्रबल-प्रवृत्तिरूपी मेरी भक्ति दूषित नहीं होती है—यही जानना चाहिए। पहले मत्स्यादि भोजन और स्त्री-सङ्गादिको लक्ष्यकर किसी किसी परम भक्तको असाधु नहीं समझना चाहिए।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३०।।

क्षिप्रं भवति धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं निगच्छति।
कौन्तेय प्रतिजानीहि न मे भक्तः प्रणश्यति।।३१।।

अन्वय—[सः—वह] क्षिप्रम् (शीघ्र ही) धर्मात्मा (धर्मात्मा) भवति (हो जाता है) [च—और] शश्वत् शान्तिम् (शाश्वत शान्तिको) निगच्छति (प्राप्त होता है) कौन्तेय (हे कौन्तेय!) मे भक्त (मेरा भक्त) न प्रणश्यति (नष्ट नहीं होता है) प्रतिजानीहि (यह प्रतिज्ञा कर लो)।।३१।।

अनुवाद—वह शीघ्र ही धर्मात्मा होकर शाश्वत शान्ति प्राप्त करता है। हे कौन्तेय! यह प्रतिज्ञा कर लो कि मेरा भक्त कभी नष्ट नहीं होता है।।३१।।

श्रीविश्वनाथ—ननु तादृशस्याधर्मिणः कथं भजनं त्वं गृह्णासि कामक्रोधादिदूषितान्तःकरणेन निवेदितमन्नपानादिकं कथमश्नासीत्यत आह—क्षिप्रं शीघ्रमेव स धर्मात्मा भवति। अत्र क्षिप्रं भावी स धर्मात्मा शश्वच्छान्तिं गमिष्यति इति अप्रयुज्य 'भवति' 'गच्छति' इति वर्त्तमानप्रयोगात् अधर्मकरणानन्तरमेव मामनुस्मृत्य कृतानुतापः क्षिप्रमेव धर्मात्मा भवति। हन्त हन्त! मत्तुल्यः कोऽपि भक्तलोकं कलङ्कयन्नधमो नास्ति, तद्धिङ्मामिति शश्वत् पुनः पुनरपि शान्तिं निर्वेदं नितरां गच्छति, यद्वा, कियतः समयादनन्तरं तस्य भावि धर्मात्मत्वं तदानीमपि सूक्ष्मरूपेण वर्त्तत एव। तन्मनसि भक्तेः प्रवेशात् यथा पीते महौषधे सति तदानीं कियत्कालपर्यन्तं नश्यदवस्थो ज्वरदाहो वा विषदाहो वर्त्तमानोऽपि न गण्यत इति ध्वनिः। ततश्च तस्य भक्तस्य दुराचारत्वगमकाः कामक्रोधाद्या उत्खातदंष्ट्रोरगदंशवदकिञ्चित्करा एव ज्ञेया इत्यनुध्वनिः। अतएव शश्वत् सर्वदैव शान्तिं कामक्रोधाद्युपशमं नितरां गच्छति अतिशयेन प्राप्नोतीति दुराचारत्वदशायामपि स शुद्धान्तःकरण एवोच्यत इति भावः। ननु यदि स धर्मात्मा स्यात्तदा नास्ति कोऽपि विवादः, किन्तु कश्चिद्दुराचारभक्तो जन्मपर्यन्तमपि दुराचारत्वं न जहाति तस्य का वार्त्तेत्यतो भक्तवत्सलो भगवान् सप्रौढि सकोपमिवाह—कौन्तेयेति। मे भक्तो न प्रणश्यति, तदपि प्राणनाशे अधःपातं न याति। कुतर्ककर्कशवादिनो नैतन्मन्येरन्निति शोकशङ्काव्याकुलमर्जुनं प्रोत्साहयति—हे कौन्तेय, पटहकाहलादि—महाघोषपूर्वकं विवदमानानां सभां गत्वा बाहुमुत्क्षिप्य निःशङ्कं प्रतिजानीहि प्रतिज्ञां कुरु। कथम्? मे मम परमेश्वरस्य

भक्तो दुराचारोऽपि न प्रणश्यत्यपि तु कृतार्थ एव भवति ततश्च ते तत्प्रौढिविजृम्भिविध्वंसितकुतर्काः सन्तो निःसंशयं त्वामेव गुरुत्वेनाश्रयेरन् इति स्वामिचरणाः। ननु कथं भगवान् स्वयमप्रतिज्ञाय प्रतिज्ञातुमर्जुनमेवादिदेश— यथैवाग्रे *"मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे"* इति वक्ष्यते तथैवात्रापि "कौन्तेय! प्रतिजानेऽहं न मे भक्तः प्रणश्यति" इति कथं नोक्तम्? भगवता तदानीमेव विचारितं भक्तवत्सलेन मया स्वभक्तापकर्षलेशमप्यसहिष्णुना स्वप्रतिज्ञां खण्डयित्वापि स्वापकर्षमङ्गीकृत्यापि भक्तप्रतिज्ञैव रक्षिता वहुत्र; यथा तत्रैव भीष्मयुद्धे स्वप्रतिज्ञामप्यपाकृत्य भीष्मप्रतिज्ञैव रक्षिष्यते। बहिर्मुखा वादिनो वैतण्डिका मत्प्रतिज्ञां श्रुत्वा हसिष्यन्ति, अर्जुनप्रतिज्ञा तु पाषाणरेखेवेति ते प्रतियन्ति। अतोऽर्जुनमेव प्रतिज्ञां कारयामीत्यत्रैतादृशदुराचारस्याप्यनन्य-भक्तिश्रवणादनन्यभक्ताभिधायक-वाक्येषु सर्वत्र न विद्यतेऽन्यत्स्त्रीपुत्राद्यासक्ति-विधर्मशोकमोहकामक्रोधादिकं यत्रेति कुपण्डितव्याख्या न ग्राह्येति।।३१।।

भावानुवाद—यदि प्रश्न किया जाय कि वैसे अधार्मिक व्यक्तिका भजन आप किस प्रकार ग्रहण करते हैं, काम-क्रोधादि द्वारा दूषित अन्तःकरणवाले व्यक्ति द्वारा निवेदित अन्न-पानादि किस प्रकार भोजन करते हैं, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—वे शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाते हैं। यहाँ कहा गया है कि वे शीघ्र ही धर्मात्मा होकर शाश्वत शान्ति प्राप्त करते हैं। यहाँ भविष्यत कालके पदका प्रयोग न कर 'भवति' 'गच्छति'—इत्यादि वर्त्तमान कालका पद प्रयुक्त हुआ है। इससे यह सिद्ध होता है कि अधर्म आचरणके पश्चात् ही अनुताप करते हुए मुझे पुनः पुनः स्मरणकर शीघ्र ही धर्मात्मा हो जाते हैं। "हाय! हाय! भक्तिके नामको कलङ्कित करनेवाला मेरे जैसा कोई और अधम नहीं है, अतः मुझे धिक्कार है।"—इस प्रकार पुनः पुनः अनुताप करते हुए नित्य शान्तिको प्राप्त होते हैं। अथवा, कुछ समयके बाद धर्मात्मत्व प्राप्त करनेपर भी यह (अधर्म) सूक्ष्मरूपमें वर्त्तमान रहता है। जैसे कि महौषध पान करनेपर भी कुछ समय तक नाशवान् ज्वरका ताप या विषका ताप रहता है, वैसे ही उनके मनमें भक्ति प्रवेश करते ही दुराचारादि दूर हो जाते हैं, परन्तु सूक्ष्मरूपसे कुछ समय तक वर्त्तमान रहते हैं। किन्तु, बादकी अवस्थामें दुराचारादि बोधक काम-क्रोधादि विद्यमान रहनेपर भी वह विषदन्तहीन सर्पके दंशके सदृश प्रभावहीन होता है—ऐसा जानना चाहिए। अतएव 'शश्वत्' सर्वदा ही 'शान्तिम्' अर्थात् काम-क्रोध आदिका उपशम अद्वितीयरूपमें प्राप्त होता है। दुराचारकी अवस्थामें भी वे शुद्ध अन्तःकरणवाले ही कहलाते हैं।

श्रीधरस्वामिपाद कहते हैं—यदि वे धर्मात्मा हो जायँ, तो कोई विवाद नहीं है, किन्तु दुराचारी भक्त अन्तकाल तक दुराचारका त्याग न कर पाये, तो उनके विषयमें क्या कहा जाएगा? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् बलपूर्वक क्रोधसहित कहते हैं—*'कौन्तेय मे भक्तो न प्रणश्यति'*—प्राण छूटनेपर भी उनका अधःपतन नहीं होता है। कुतर्कके कारण कठोर वचन बोलनेवाले इसे स्वीकार नहीं करेंगे—ऐसा सोचकर वे शोक और शङ्कासे व्याकुल अर्जुनको उत्साह प्रदान करते हुए कहते हैं—हे कौन्तेय! डंकेकी चोटसे महाध्वनि करते हुए विवाद करनेवालोंकी सभामें जाकर दोनों हाथोंको उपर करते हुए निःसन्देह 'प्रतिजानीहि' अर्थात् प्रतिज्ञा करो कि मुझ परमेश्वरका भक्त दुराचारी होनेपर भी विनष्ट नहीं होता है, अपितु कृतार्थ ही होता है। ऐसा होनेपर तुम्हारी वाक्-चातुरीसे उनके कुतर्क खण्डित हो जाएँगे एवं निश्चय ही वे तुम्हें गुरु मानकर तुम्हारा आश्रय ग्रहण करेंगे।

यहाँ पुनः यह आपत्ति हो सकती है कि भगवान्ने स्वयं प्रतिज्ञा न कर अर्जुनको प्रतिज्ञा करनेका आदेश क्यों दिया? जैसा कि श्रीभगवान् (गीता १८/६५) में कहेंगे—"तुम मुझे प्राप्त होओगे ही, मैं तुम्हारे निकट सत्य ही प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो", वैसे ही यहाँ भी भगवान्ने क्यों नहीं कहा कि हे कौन्तेय! मैं प्रतिज्ञा करता हूँ कि मेरे भक्तका विनाश नहीं होता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—उस समय श्रीभगवान्ने विचार किया कि मैं अपने भक्तोंका लेशमात्र भी अपकर्ष सहनेमे अक्षम हूँ, अतः अनेक स्थानोंपर अपनी प्रतिज्ञाके खण्डन द्वारा अपना अपकर्ष स्वीकारकर भी भक्तकी प्रतिज्ञाकी रक्षा करता हूँ। जैसा कि इस युद्धमें ही अपनी प्रतिज्ञाको भङ्गकर भीष्मकी प्रतिज्ञाकी रक्षा करूँगा। जो बहिर्मुख तथा वितण्डावादी हैं, वे मेरी प्रतिज्ञाको सुनकर हँसेंगे, किन्तु अर्जुनके द्वारा की गई प्रतिज्ञा उनके लिए पत्थरकी लकीरकी भाँति होगी। अतः अर्जुनके द्वारा ही उन्होंने प्रतिज्ञा करवाई।

ऐसे दुराचारीकी भी अनन्य भक्तिके बारेमें श्रवणकर कुछ लोग इस प्रकारका अर्थ करते हैं कि स्त्री-पुत्रादिके प्रति आसक्तिजनित शोक, मोह, क्रोधादि विधर्म जिसमें नहीं हैं, वही अनन्य भक्त है, किन्तु कुपण्डितोंकी ऐसी व्याख्या ग्राह्य नहीं है।।३१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अनन्य भक्तिसाधकोंकी दुराचारमें स्वाभाविक रुचि नहीं होती और हो भी नहीं सकती, तथापि दैववश हठात् किसी दुराचारमें

प्रवृत्ति हो भी जाय, तो वह स्थायी नहीं होती अथवा अनन्या भक्तिका अचिन्त्य प्रभाव नष्ट नहीं होता। हृदयस्थित अनन्या भक्तिके अचिन्त्य प्रभावसे वह दुराचार शीघ्र ही विदूरित हो जाता है तथा वे पाप-पुण्यसे निर्मुक्त होकर भक्तिजनित परम शान्तिको प्राप्त करते हैं। अनन्य भक्तोंका कभी भी विनाश नहीं होता है—भक्त-वत्सल भगवान् वर्त्तमान श्लोकमें अपने प्रियतम सखा अर्जुनके मुखसे यह प्रतिज्ञा करा रहे हैं।

श्रीनृसिंह पुराणमें भी ऐसा कहा गया है कि—

'भगवति च हरावनन्यचेता भृशमलिनोऽपि विराजते मनुष्यः।
नहि शशकलुच्छविः कदाचित्तिमिरपराभवतामुपैति चन्द्रः॥'

अर्थात्, भगवान् श्रीहरिमें ऐकान्तिकरूपसे अपने चित्तको सन्निविष्ट करनेवाले भक्तोंमें बाह्यतः अत्यन्त दुराचार देखे जानेपर भी वे हृदयस्थित भक्तिके प्रभावसे सर्वदा अपनी महिमामें वैसे ही प्रतिष्ठित रहते हैं, जैसे पूर्णचन्द्र मृग चिह्नसे कलङ्कित होनेपर भी अन्धकारके द्वारा पराभूत नहीं होता। श्रीउद्धवजीने भी ऐसा ही कहा है—

'बाध्यमानोऽपि मद्भक्तो विषयैरजितेन्द्रियः।
प्रायः प्रगल्भया भक्त्या विषयैर्नाभिभूयते॥'

(श्रीमद्भा. ११/१४/१८)

इस श्लोककी टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरजीने लिखा है—जातभाव (जिनके हृदयमें भावका उदय हो चुका है) शुद्ध भक्तोंकी तो बात अलग ही रहे, जब भक्तिमें प्रवृत्त प्रारम्भिक अवस्थावाले साधक-भक्त भी कृतार्थ हो जाते हैं, तो निष्ठावस्था तथा भावावस्थाको क्रमशः प्राप्त होनेवाले भक्तोंके विषयमें क्या कहा जाय? अथवा, जिस प्रकार ज्ञान-प्रकरणमें दुराचारी ज्ञानी तथा उसके ज्ञान—दोनोंकी निन्दा देखी जाती है, उस प्रकार भक्ति-प्रकरणमें दुराचारी होनेपर भक्त या उनकी भक्ति निन्दनीय नहीं होती।

इस विषयमें नवयोगेन्द्रमें अन्यतम करभाजन ऋषि भी ऐसा कहते हैं—

'स्वपादमूलं भजतः प्रियस्य त्यक्त्वान्यभावस्य हरिः परेशः।
विकर्म यच्चोत्पतितं कथञ्चित् धुनोति सर्वं हृदि सन्निविष्टः॥'

(श्रीमद्भा. ११/५/४२)

अर्थात्, जो प्रेमी भक्त अपने प्रियतम भगवान्के चरणकमलोंका अनन्यभावसे अर्थात् दूसरी भावनओं, आस्थाओं, वृत्तियोंको छोड़कर भजन

करते हैं, पहली बात तो यह है कि उनसे पापकर्म होते ही नहीं, परन्तु यदि कभी किसी प्रकार हो भी जायँ, तो परमपुरुष भगवान् श्रीहरि उनके हृदयमें बैठकर वह सब धो देते हैं और उनके हृदयको शुद्ध कर देते हैं।

यदि कोई यह कहे कि यदि कोई भक्त पापाचारमें लिप्त हो जाय तो उन्हें अवश्य ही प्रायश्चित्त करना होगा, तो इसके उत्तरमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

'यदि कुर्यात् प्रमादेन योगी कर्म विगर्हितम्।
योगेनैव दहेदंहो नान्यत् तत्र कदाचन।।'

(श्रीमद्भा. ११/२०/२५)

अर्थात्, योगी (भक्तियोगी) कभी निन्दित कर्म करता ही नहीं; परन्तु यदि कभी उनसे प्रमादवश कोई अपराध हो जाय, तो योगके द्वारा ही उस पापको जला डालें, कृच्छ्र चान्द्रायण आदि दूसरे व्रत कभी न करें।

श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें भी ऐसा ही निर्णीत हुआ है—

'निषिद्धाचारतो दैवात् प्रायश्चित्तन्तु नोचितम्।
इति वैष्णवशास्त्राणां रहस्यं तद्विदां मतम्।।

अर्थात्, भक्ति-साधक दैववश किसी निषिद्ध कर्ममें प्रवृत्त भी हो जायँ, तो उनके लिए प्रायश्चित्त करना उचित नहीं है, क्योंकि (भक्तिका प्रभाव ही प्रायश्चित्तका कार्य करता है, इसलिए) पृथक्रूपमें प्रायश्चित्तकी आवश्यकता नहीं रहती। वैष्णव-शास्त्रोंका यही रहस्य है।

यदि कोई पूर्वपक्ष करे कि 'मेरे भक्तोंका विनाश नहीं होता'—भगवान् स्वयं यह प्रतिज्ञा नहीं कर अर्जुनसे क्यों करवाई, तो उत्तर यह है कि भक्तवत्सल श्रीभगवान् अपनी प्रतिज्ञा भंगकर भी भक्तकी प्रतिज्ञाकी रक्षा करते हैं, जैसा कि कुरुक्षेत्रके युद्धमें भीष्मकी प्रतिज्ञाकी रक्षाकर अपनी प्रतिज्ञाको तोड़ डाला था।।३१।।

मां हि पार्थ व्यपाश्रित्य येऽपि स्युः पापयोनयः।
स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्।।३२।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) पापयोनयः (अधम कुलमें उत्पन्न) स्त्रियः (स्त्रीगण) वैश्यः (वैश्यगण) तथा शूद्राः (एवं शूद्रगण) ये अपि (जो भी) स्युः (हों) ते अपि (वे भी) माम् (मुझे) व्यपाश्रित्य (आश्रयकर) पराम् गतिम् (उत्तम गति) यान्ति (प्राप्त करते हैं)।।३२।।

अनुवाद—हे पार्थ! अधम कुलमें उत्पन्न स्त्री, वैश्य, शूद्रादि जो भी हों, वे मेरा आश्रय ग्रहणकर उत्तम गतिको प्राप्त करते हैं॥३२॥

श्रीविश्वनाथ—एवं कर्मणा दुराचाराणामागन्तुकान् दोषान् मद्भक्तिर्न गणयतीति किं चित्रम्? यतो जात्यैव दुराचारणां स्वाभाविकानपि दोषान् मद्भक्तिर्न गणयतीत्याह—मामिति। पापयोनयोऽन्त्यजा म्लेच्छा अपि; यदुक्तम्—*"किरातहूणान्ध्रपुलिन्दपुक्कशा, आभीरकङ्का यवनाः खशादयः। येऽन्ये च पापास्तदुपाश्रयाश्रयाः शुध्यन्ति तस्मै प्रभविष्णवे नमः॥" "अहो बत श्वपचोऽतो गरीयान् यज्जिह्वाग्रे वर्त्तते नाम तुभ्यम्। तेपुस्तपस्ते जुहुवुः सस्नुरार्या, ब्रह्मानूचुर्नाम गृणन्ति ये ते॥"* किं पुनः स्त्रीवेश्याद्या अशुद्ध्यलीकादिमन्तः?॥३२॥

भावानुवाद—इस प्रकार मेरी भक्ति कर्मवशतः दुराचारी व्यक्तिके आगन्तुक दोषोंकी गणना नहीं करती है—इसमें क्या आश्चर्य है? क्योंकि मेरी भक्ति जातिगत दुराचारी व्यक्तियोंके स्वाभाविक दोषोंकी गणना नहीं करती। अन्त्यज, म्लेच्छादिको 'पापयोनयः' कहा गया है। जैसा कि श्रीमद्भागवत (२/४/१८) में भी कहा गया है—किरात, हूण, अन्ध्र, पुलिन्द, पुक्कश, आभीर, शुह्म, यवन और खसादि जो समस्त लोग जातिगत पापसे दुष्ट हैं एवं जो कर्मसे भी पापयुक्त हैं, वे भी जिन भगवान्‌के आश्रित भागवतस्वरूप सद्‌गुरुके चरणाश्रयमात्रसे ही जातिगत और कर्मगत दोषोंसे शुद्ध हो जाते हैं, उन शीलतः प्रभुतासम्पन्न भगवान्‌को नमस्कार है। और भी, जिनकी जिह्वाके अग्रभागमें आपका नाम एक बार भी उच्चरित होता है, वे चण्डाल गृहमें आविर्भूत होनेपर भी इस नामोच्चारणके कारण पूज्यतम हैं। जो आपके नामका कीर्त्तन करते हैं, वे सभी प्रकारकी तपस्या, यज्ञ, सभी तीर्थोंमें स्नान, सभी वेदोंका अध्ययन और सदाचारादि समाप्त कर चुके हैं। (श्रीमद्भा. ३/३३/७) अतः अशुद्धि और मिथ्या बोलनेवाली स्त्री-वेश्यादिकी बात ही क्या है?॥३२॥

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्व श्लोकमें अनन्य भक्ति-परायण साधकोंके आकस्मिक बाह्य दुराचारोंके देखे जानेपर भी उन्हें साधु माननेका ही उपदेश देकर इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि अनन्य भक्तिपूर्वक मेरा आश्रय ग्रहण करनेवाला अन्त्यज, म्लेच्छादि पाप-योनियोंमें अथवा शूद्रादि नीच कुलमें उत्पन्न व्यक्ति भी, यहाँ तक कि वेश्यादि स्वाभाविक दुराचारविशिष्ट स्त्रियाँ भी मेरी भक्तिके प्रभावसे बहुत शीघ्र ही योगियोंके लिए भी दुर्लभ परा-गति प्राप्त करती हैं।

श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेव गोस्वामीने कहा है—*'किरातहूणान्ध्र पुलिन्द पुक्कशा'*(श्रीमद्भा. २/४/१८) इस श्लोकको टीकामें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर लिखते हैं—महापापात्मा व्यक्तिगण भी केवला भक्तिके गन्धमात्रसे युक्त होनेपर कृतार्थ हो जाते हैं। किरात आदि जातिगत पापी तथा कर्मगत पापी भी भक्ति द्वारा पवित्र हो जाते हैं, किन्तु वे तभी शुद्ध होते हैं, जबकि शुद्ध वैष्णवोंको ही गुरुरूपमें वरण करें। क्योंकि सद्गुरुका चरणाश्रय ग्रहण करनेमात्रसे ही जाति तथा कर्मगत दोषोंसे युक्त पतित भी परम पवित्र बन जाते हैं। श्रीलरूप गोस्वामीने भक्तिरसामृतसिन्धुमें भक्ति द्वारा प्रारब्ध और अप्रारब्ध पापोंके समूल नाश होनेकी बात बताई है। किरात आदिकी अशुद्धताका कारण दुर्जातिमें उनका जन्म ग्रहण करना है। यह दुर्जातित्वरूप जो उनका पाप है, वह प्रारब्धके कारण है। अतएव वह भी भक्तिके गन्धमात्रसे दूर हो जाता है। इस सम्बन्धमें श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुर और भी कहते हैं—व्यावहारिक जगत्में सामान्य अनभिज्ञ लोग दीक्षित व्यक्तियोंका भी दीक्षाके पूर्वके वंश, जाति इत्यादिसे ही परिचय देते हैं। वस्तुतः पारमार्थिक विचारसे दीक्षित व्यक्तियोंमें दीक्षासे पूर्व की जाति इत्यादिका दोष नहीं होता। सद्गुरुके निकट दीक्षित व्यक्तियोंमें जाति आदि सामान्य विचार करनेसे ऐसे विचार करनेवाले ही पतित होते हैं, उस दीक्षित व्यक्तिकी कोई हानि नहीं होती है। वैष्णवोंकी निन्दा करनेवाला प्रायश्चित्तका पात्र होता है। देवहूतिने भी कहा है—

'यन्नामधेयश्रवणानुकीर्त्तनाद् यत्प्रह्वणाद्यत्स्मरणादपि क्वचित्।
श्वादोऽपि सद्यः सवनाय कल्पते कुतः पुनस्ते भगवन्नु दर्शनात्।।'

(श्रीमद्भा. ३/३३/६)

अर्थात्, आपके नामके श्रवण-कीर्त्तन, आपके नमस्कार और आपके स्मरण आदिके द्वारा चण्डाल भी सद्य अर्थात् जन्मातरकी अपेक्षा नहीं कर सोमयज्ञके योग्य होता है। हे भगवन्! आपके दर्शनका क्या अतुलनीय प्रभाव है, यह कहा नहीं जा सकता।

इसकी टीकामें श्रीलभक्तिसिद्धान्त सरस्वती 'प्रभुपाद' कहते हैं—जो सामान्य चण्डाल अपने प्रारब्ध कर्मानुसार अन्त्यज कुलमें जन्म ग्रहणकर जीवनकाल पर्यन्त जातिके अनुरूप घृणित कर्मोंमें ही लिप्त हैं, वैसे लोगोंके लिए इस श्लोककी अवतारणा नहीं हुई है। इसके विपरीत श्वपच कुलमें जन्म ग्रहण करनेपर भी कुलगत दुराचारोंमें रुचि विशिष्ट न होकर सद्गुरुके द्वारा

दीक्षित होकर भगवत्-सेवामें तत्पर रहनेवाले वैष्णवोंके लिए ही इस श्लोकको अवतारणा हुई है। ऐसे सत्-लक्षणविशिष्ट लोगोंके विषयमें यह निश्चित है कि उन्होंने पूर्व जन्ममें सम्पूर्ण निष्ठाके साथ ब्राह्मण कुलके आचरणका पालन किया है। इनलोगोंने पूर्व जन्ममें तपस्या, यज्ञ, तीर्थस्नान, वेदपाठादि समाप्त कर लिया है तथा मूढ़जनको विमोहित एवं विज्ञजनमें आदर्श-स्थापनके लिए असुर कुलमें जन्म ग्रहण करनेका अभिनय किया है।

इतिहास समुच्चयमें भी भगवान्ने कहा है—

'न मेऽभक्तश्चतुर्वेदी मद्भक्तः श्वपचः प्रियः।
तस्मै देयं ततो ग्राह्यं स च पूज्यो यथा ह्यम्।।'

चतुर्वेदपाठी अर्थात् चारों वेदोंको जाननेवाला ब्राह्मण होनेपर भी भक्त होगा ही, ऐसा नहीं है। मेरा भक्त चाण्डाल कुलमें उत्पन्न होनेपर भी मेरा प्रिय है और भक्त ही यथार्थ दानपात्र एवं ग्रहणपात्र है। चण्डालकुलमें उत्पन्न होनेपर भी मेरा भक्त मेरी भाँति ब्राह्मणादि सभीका पूज्य है।

श्रीभक्तिविनोद ठाकुर कहते हैं—इस प्रकार भगवान्के नामका आश्रय करनेवाले व्यक्तिका चण्डालके घरमें जो जन्म है, उसे केवल भक्तिपोषक दैन्य सिद्धिके लिए जानना चाहिए।

श्रीनारद मुनिकी कृपासे व्याधका उद्धार, श्रीश्रीगौर-नित्यानन्दकी कृपासे जगाई-मधाईका उद्धार एवं ठाकुर हरिदासकी कृपासे वेश्याका उद्धार—इन सबके विषयमें भी जाना जाता है।।३२।।

किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्या भक्ता राजर्षयस्तथा।
अनित्यमसुखं लोकमिमं प्राप्य भजस्व माम्।।३३।।

अन्वय—पुण्याः ब्राह्मणाः (सदाचारपरायण ब्राह्मणगण) तथा राजर्षयः (एवं राजर्षिगण) भक्ताः (भक्त) [सन्—होकर] [पराम् गतिम् यान्ति—परा-गति प्राप्त करते हैं] किम् पुनः (इसे पुनः कहना अनावश्यक है) [अतः त्वम्—अतः तुम] अनित्यम् (अस्थायी) असुखम् (दुःखपूर्ण) इमम् लोकम् (इस मनुष्य लोकको) प्राप्य (प्राप्त होकर) माम् भजस्व (मेरा भजन करो)।।३३।।

अनुवाद—सदाचारसम्पन्न ब्राह्मणगण एवं भक्त राजर्षिगण परागति प्राप्त करेंगे, इसमें क्या सन्देह है? अतएव इस अनित्य और दुःखपूर्ण मनुष्य लोकको प्राप्तकर तुम मेरा भजन करो।।३३।।

श्रीविश्वनाथ—ततोऽपि किं पुनर्ब्राह्मणाः पुण्याः सत्कुलाः सदाचाराश्च ये भक्ताः? तस्मात्त्वं मां भजस्व।।३३।।

भावानुवाद—तो भला सत्कुल और सदाचारी ब्राह्मणादि जो भक्तगण हैं, उनके लिए क्या कहना? अतः हे अर्जुन! तुम मेरा भजन करो।।३३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यदि जातिगत दुराचारसम्पन्न लोग भी अनन्य भक्तिका आश्रयकर शीघ्र ही सदाचारपरायण होकर परागति लाभ कर सकते हैं, तो सत्कुलमें जन्म ग्रहण करनेवाले सदाचारी व्यक्ति श्रीभगवान्का अनन्यभावसे आश्रयकर उनको प्राप्त करेंगे, इसमें आश्चर्यकी क्या बात है? इस श्लोकमें अर्जुनको लक्ष्यकर श्रीभगवान् जीवमात्रको यह शिक्षा दे रहे हैं कि इस अनित्य एवं दुःखमय संसारमें रहकर उनके नित्य आनन्दमय स्वरूपका भजन अवश्य करना चाहिए।

इस श्लोकमें भौतिक संसारको परिवर्त्तनशील, नश्वर या दुःखमय घोषित किया गया है, किन्तु इसे मिथ्या नहीं बताया गया है। कुछ दार्शनिक ऐसी कल्पना करते हैं कि संसार मिथ्या है, किन्तु उनका यह विचार गीताके सिद्धान्तके विपरीत है। श्रीकृष्णका धाम अप्राकृत जगत् कहलाता है। वह नित्य तथा आनन्दमय है। उस धामको प्राप्त होनेवाले जीव कभी वहाँसे च्युत नहीं होते हैं।।३३।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।३४।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'राजगुह्ययोगो' नाम नवमोऽध्यायः।

अन्वय—मन्मनाः (मेरे परायण चित्तवाला) मद्भक्तः (मेरा भक्त) मद्याजी (मेरे पूजापरायण) भव (होओ) एवम् (इस प्रकार) आत्मानम् (मन और देह) [मयि—मुझमें] युक्त्वा (नियोगकर) मत्परायणः (मेरे परायण होकर) माम् एव (मुझे ही) एष्यसि (प्राप्त होओगे)।।३४।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'राजगुह्ययोगो' नाम नवमोऽध्यायस्यान्वयः।।

अनुवाद—मेरे परायण चित्तवाला, मेरा भक्त तथा मेरे पूजापरायण होओ। इस प्रकार तुम देह और मनको मुझमें नियुक्तकर मेरे परायण होकर मुझे ही प्राप्त होओगे।।३४।।

श्रीमद्भगवद्गीताके नवम अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—भजनप्रकारं दर्शयन्नुपसंहरति—मन्मना इति। एवमात्मानं मनो देहञ्च युक्त्वा मयि नियोज्य।।३४।।

पात्रापात्रविचारित्वं स्वस्पर्शात् सर्वशोधनम्।
भक्तेरेवात्रैतदस्या राजगुह्यत्वमीक्ष्यते।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु नवमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद—मन्मना इत्यादिसे भजनकी प्रणाली बताते हुए इस अध्यायको समाप्त कर रहे हैं। 'आत्मानम्' अर्थात् मन और देहको मुझमें नियुक्तकर मेरा भजन करो।।३४।।

अपने स्पर्शमात्रसे ही भक्ति पात्र-अपात्रादि सभीको पवित्र कर देती है—यही राजगुह्य कहलानेवाले इस नवम अध्यायमें कथित हुआ है।

श्रीमद्भगवद्गीताके नवम अध्यायकी साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके नवम अध्यायकी सारार्थवर्षिणी
टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—कृष्णप्रेम ही जीवमात्रके लिए चरम प्रयोजन है। शुद्धा वा अनन्या भक्ति ही उक्त प्रयोजन-प्राप्तिका एकमात्र उपाय है। शुद्ध जीव ही भगवद्भजनके लिए योग्य पात्र हैं तथा विशुद्ध श्रीकृष्णस्वरूप परतत्त्व ही शुद्ध जीवोंके चरम उपास्य हैं। जब तक सिद्धान्तसे पूर्णरूपेण अवगत नहीं हुआ जाय, तब तक परमार्थ-चेष्टा सर्वाङ्गसुन्दर नहीं हो सकती। ज्ञान, कर्म तथा योगसे सम्पूर्णरूपेण मुक्त शुद्धा भक्ति ही सप्तम और अष्टम अध्यायमें कथित हुई है। नवम अध्यायमें केवल उपास्य तत्त्वकी शुद्धताका वर्णन हुआ है। शुद्ध उपास्य तत्त्वका वर्णन करनेके लिए उपास्य तत्त्वकी भाँति प्रतीत होनेवाले देवी-देवताओंकी उपासनासे उत्पन्न दोषोंका वर्णन करना आवश्यक है। इसलिए विज्ञानके द्वारा विशुद्ध चित्स्वरूप श्रीकृष्णमूर्तिका नित्य-सिद्धत्व प्रदर्शित हुआ है। इस नित्यमूर्त्तिविशिष्ट परमेश्वरके प्रभावरूप ब्रह्म तथा परमात्माकी ही ज्ञानी-योगी तथा याज्ञिकगण उपासना करते हैं, किन्तु शुद्ध भक्त परमार्थ तत्त्वके इन खण्ड भावोंकी उपासना नहीं कर नित्यमूर्त्ति श्रीकृष्णकी ही उपासना करेंगे। श्रीकृष्णके नित्यस्वरूपसे पृथक् अन्यान्य देवी-देवताओंकी उपासना नितान्त अज्ञानका कार्य है, क्योंकि उन देवताओंकी उपासना करनेसे खण्डभावविशिष्ट गति

प्राप्त होती है। भक्तियोगमें यही बात है कि अन्यान्य देवी-देवताओंकी उपासनासे विरत होकर अन्याभिलाषसे रहित होकर दृढ़ विश्वासपूर्वक श्रीकृष्णस्वरूपके श्रवण-कीर्त्तन-स्मरणादि नवधा भक्तिका अनुशीलन करते हुए देहयात्राका निर्वाह करना चाहिए। ऐसे अनन्य भक्त प्रारम्भिक अवस्थामें सुदुराचारी होनेपर भी कर्मी-ज्ञानी-योगीकी अपेक्षा श्रेष्ठ हैं। अतः वे साधु ही हैं, क्योंकि थोड़े ही दिनोंमें ऐकान्तिक भावमें दृढ़ होनेपर उनका चरित्र सब प्रकारसे निर्मल हो जाएगा।

भगवान्‌की शुद्धभक्ति ही उक्त प्रेमरूप उस फलको उत्पन्न करेगी। शुद्ध भक्तका कभी भी नाश अथवा पतन नहीं होता, क्योंकि भगवान् स्वयं उनके योग-क्षेमको वहन करते हैं। अतः शुद्ध भक्तियोगका अवलम्बनकर देहयात्राका निर्वाह करना ही बुद्धिमानोंका कार्य है।।३४।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके नवम अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

नवम अध्याय समाप्त।

दशमोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—
भूय एव महाबाहो शृणु मे परमं वचः।
यत्तेऽहं प्रीयमाणाय वक्ष्यामि हितकाम्यया।।१।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) महाबाहो (हे महाबाहो!) भूयः एव (पुनः) मे (मेरे) परमम् वचः (श्रेष्ठ वचनको) शृणु (सुनो) यत् (जिसे) अहम् (मैं) प्रीयमाणाय (प्रेमवान्) ते (तुम्हें) हितकाम्यया (हितकी इच्छासे) वक्ष्यामि (कहूँगा)।।१।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे महाबाहो! पुनः पहलेकी अपेक्षा मेरे श्रेष्ठ वचनको सुनो, जिसे मैं तुझ प्रेमवान्के हितकी इच्छासे कहूँगा।।१।।

श्रीविश्वनाथ— *ऐश्वर्यं ज्ञापयित्वोचे भक्तिं यत् सप्तमादिषु।*
सरहस्यं तदेवोक्तं दशमे सविभूतिकम्।।

आराध्यत्वज्ञानकारणमैश्वर्यं यदेव पूर्वत्र सप्तमादिषूक्तम्, तदेव सविशेषं भक्तिमतामानन्दार्थं प्रपञ्चयिष्यन् *"परोक्षवादा ऋषयः परोक्षञ्च मम प्रियम्"* इति न्यायेन किञ्चिद्दुर्बोधतयैवाह—भूय इति, पुनरपि राजविद्या राजगुह्यमिदमुच्यत इत्यर्थः। हे महाबाहो इति, यथा बाहुबलं सर्वाधिक्येन त्वया प्रकाशितम्, तथैतद्बुद्ध्याबुद्धिबलमपि सर्वाधिक्येन प्रकाशयितव्यमिति भावः। शृण्विति शृण्वन्तमपि तं वक्ष्यमाणेऽर्थे सम्यगवधारणार्थमेव। परमं पूर्वोक्तादप्युत्कृष्टम्। ते त्वामतिविस्मितीकर्त्तुं—"क्रियार्थोपपदस्य च" इति चतुर्थी, यतः, प्रीयमाणाय प्रेमवते।।१।।

भावानुवाद—सप्तम आदि पूर्व अध्यायोंमें ऐश्वर्य ज्ञापनपूर्वक जिस भक्ति-तत्त्वके विषयमें कहा गया है, वही रहस्यसहित भगवद्विभूतिनामक दशम अध्यायमें वर्णित हो रहा है।

सप्तमादि अध्यायोंमें आराध्यत्व-ज्ञानके कारणस्वरूप जिस ऐश्वर्यादिके सम्बन्धमें कहा गया है, भक्तिमान् व्यक्तियोंके आनन्दके लिए उसका ही विशदरूपमें वर्णन कर रहे हैं। "ऋषियोंकी वाणी परोक्षरूपसे होती है ओर मुझे भी परोक्ष ही प्रिय है।"—श्रीमद्भागवत (११/२१/३५) की

इस उक्तिके अनुसार विषयके थोड़ा दुर्बोध होनेके कारण ही कहते हैं—'भूयः' अर्थात् *'राजविद्या राजगुह्यमिदम्'* को पुनः कह रहा हूँ। हे महाबाहो! जिस प्रकार तुमने सबकी अपेक्षा अधिक बाहुबलका प्रकाश किया है, उसी प्रकार यहाँ भी तुम सबसे अधिक बुद्धिबलका प्रकाश करनेके योग्य हो। श्रवणशील तुमको जो कहा जा रहा है, उसे भलीभाँति अवधारण करनेके लिए ही 'शृणु' कहा जा रहा है। 'परमम्' का तात्पर्य है—पूर्वकथित विषयसे भी उत्कृष्ट।।१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—सप्तम, अष्टम और नवम अध्यायमें भजनीय परमेश्वर-तत्त्वके ऐश्वर्यादिका वर्णनकर दशम अध्यायमें उनकी विभूतियोंका वर्णन किया जा रहा है। किसी महान, परम दुर्लभ एवं अदेय वस्तुको गुप्त रखकर प्रकारान्तररूपसे वर्णन करनेका नाम परोक्षवाद है—सन्दर्भ। इसलिए परोक्षवाद वेदका एक स्वभाव है। आत्मगोपन करना भी भगवान्‌का एक स्वभाव है। श्रीचैतन्यचरितामृतमें यह कहा गया है—*'आपना लुकाइते कृष्ण नाना यत्न करे।'* परोक्षवादमें वर्णित विषय सामान्य लोगोंके लिए दुर्बुद्ध है, परन्तु आत्मगोपन करनेकी चेष्टा करनेपर भी भगवान् भक्तोंके निकट प्रकाशित होते हैं—*'तथापि ताहार भक्त जानये ताँहारे।'* इसलिए भक्तिका आश्रयकर विशेष मनोयोगपूर्वक इस विभूति-योग-अध्यायका अनुशीलन करना आवश्यक है।।१।।

न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः।
अहमादिर्हि देवानां महर्षीणाञ्च सर्वशः।।२।।

अन्वय—सुरगणाः (देवतागण) मे (मेरे) प्रभवम् (श्रेष्ठ जन्म-वृत्तान्तको) न विदुः (नहीं जानते हैं) न महर्षयः (महर्षिगण भी नहीं जानते हैं) हि (क्योंकि) अहम् (मैं) देवानाम् (देवताओंका) महर्षीणाञ्च (और महर्षियोंका) सर्वशः (सर्वतोभावेन) आदिः (आदि कारण हूँ)।।२।।

अनुवाद—देवतागण तथा महर्षिगण भी मेरे लीला-प्रभव अर्थात् प्रपञ्चमें आविर्भूत होनेके तत्त्वको नहीं जानते हैं, क्योंकि सभी प्रकारसे मैं देवताओं और महर्षियोंका आदि कारण हूँ।।२।।

श्रीविश्वनाथ—एतच्च केवलं मदनुग्रहातिशयेनैव वेद्यं नान्यथेत्याह—न मे इति। मम प्रभवं प्रकृष्टं सर्वविलक्षणं भवं देवक्यां जन्म देवगणा न जानन्ति, ते विषयाविष्टत्वान्न जानन्तु, ऋषयस्तु जानीयुस्तत्राह—न महर्षयोऽपि। तत्र हेतुः—अहमादिः कारणं सर्वशः सर्वैरेव प्रकारैः, न हि

पितुर्जन्मतत्त्वं पुत्रा जानन्तीति भावः। *"न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः"* इत्यग्रिमानुवादादत्र प्रभव-शब्दस्यान्यार्थता न कल्प्या।।२।।

भावानुवाद—किन्तु यह केवल मेरे अतिशय अनुग्रहसे ही ज्ञेय है, अन्य किसी प्रकारसे नहीं। 'मम प्रभवम्' अर्थात् देवकीसे उत्पन्न मेरे सर्वविलक्षण तत्त्वको देवतागण भी नहीं जानते हैं। यदि प्रश्न हो कि विषयाविष्ट होनेके कारण देवतागण इसे नहीं भी जान सकते हैं, किन्तु ऋषिगण तो इसे जानते हैं, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—नहीं! ऋषिगण भी इसे नहीं जानते हैं, क्योंकि मैं सर्वतोभावेन उनका आदिकारण हूँ अर्थात् जिस प्रकार इस जगत्में पुत्र अपने पिताके जन्म-तत्त्वको नहीं जानता है, उसी प्रकार वे भी मेरे तत्त्वको नहीं जानते हैं। "हे भगवन्! देवगण हो या दानवगण—कोई भी आपका जन्म तत्त्वतः नहीं जानते हैं।"—इस परवर्ती वाक्य (गीता १०/१४) के अनुसार भी 'प्रभव' शब्दका यही अर्थ है, अतः अन्य अर्थकी कल्पना नहीं करनी चाहिए।।२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भक्तिके बिना किसी भी अन्य उपायसे भगवत्-कृपा नहीं पाई जा सकती है। इसे दूसरे शब्दोंमें इस प्रकार कहा जा सकता है कि भगवत्-अनुग्रहके बिना अपने बलसे लाख चेष्टा करनेपर भी भगवत्-तत्त्वसे नहीं अवगत हुआ जा सकता। श्रीमद्भागवतमें भी देखा जाता है—

'प्रजापतिपतिः साक्षाद्भगवान् गिरिशो मनुः।
दक्षादयः प्रजाध्यक्षा नैष्ठिकाः सनकादयः।।
मरीचिरत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः।
भृगुर्वसिष्ठ इत्येते मदन्ता ब्रह्मवादिनः।।
अद्यापि वाचस्पतयस्तपोविद्यासमाधिभिः।
पश्यन्तोऽपि न पश्यन्ति पश्यन्तं परमेश्वरम्।।'

(श्रीमद्भा. ४/२९/४२-४४)

ब्रह्मा, शिव, सनकादि, भृगु, वशिष्ठादि प्रमुख ब्रह्मवादिगण दर्शनकी चेष्टासे तप-विद्या-समाधि इत्यादिके द्वारा आज तक चेष्टा करनेपर भी उस परमेश्वरका दर्शन नहीं कर सके। और भी,

'अथापि ते देव पदाम्बुजद्वयप्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन्महिम्नो न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्।।'

(श्रीमद्भा. १०/१४/२९)

अर्थात्, हे भगवन्! आप अत्यन्त दुर्ज्ञेय हैं। त्रिलोकीमें ऐसा कौन है, जो आपकी लीला कहाँ, किसलिए, कब और कैसे होती है—इसे जान सके। फिर भी अपने भक्तोंके हृदयमें स्वयं स्फुरित होनेवाले भगवन्! जो लोग आपके श्रीचरणकमलोंका तनिक-सा भी कृपा-प्रसाद प्राप्त कर लेते हैं, उससे अनुगृहीत हो जाते हैं, वे ही आपकी सच्चिदानन्दमयी महिमाका तत्त्व जान पाते हैं। इसके अतिरिक्त दूसरा कोई भी ज्ञान-वैराग्यादि साधनोंके द्वारा बहुत काल तक प्रचुर प्रयत्नकर अनुसन्धान करनेपर भी आपकी महिमाका यथार्थ ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता।

"मैं ही देवताओं और महर्षियोंका आदि कारण हूँ, अतएव वे लोग मेरे लीला-प्रभव अर्थात् प्रापञ्चिक जगत्में नराकार स्वरूपमें मेरे प्रकट होनेके तत्त्वसे नहीं अवगत हो सकते हैं। देवतागण या महर्षिगण—सभी अपने बुद्धिबलसे मेरे तत्त्वका अन्वेषण करते हैं। उसमें वे लोग प्रापञ्चिक-बुद्धिभेद करनेके यत्नसहित प्रपञ्चके विपरीत किसी अव्यक्त, अपरिस्फुट, निर्गुण, स्वरूपहीन शुष्क 'ब्रह्म' को ही आंशिकरूपमें उपलब्धकर ऐसा सोचते हैं कि यही परम तत्त्व है। किन्तु, वह परम तत्त्व नहीं है। परम तत्त्वरूप मैं सर्वदा अचिन्त्य शक्ति द्वारा स्वप्रकाश, निर्दोष, गुणसम्पन्न ओर नित्यस्वरूपविशिष्ट सच्चिदानन्द मूर्त्ति हूँ। मेरी अपरा-शक्तिसे मेरा प्रतिभात स्वरूप ही 'ईश्वर' है। अपरा शक्ति द्वारा बद्धजीवोंकी चिन्तासे अतीत मेरा एक अस्फुट स्वरूप ही 'ब्रह्म' है। अतएव 'ईश्वर' या 'परमात्मा' तथा 'ब्रह्म'—मेरी ये दो स्फूर्तियाँ ही सृष्टवस्तुमें अन्वय और व्यतिरेक भावसे लक्षित होती हैं। मैं स्वयं भी अपनी अचिन्त्य शक्तिक्रमसे कभी प्रपञ्चमें अपने स्वरूपमें उदित होता हूँ, उस समय पूर्वोक्त धी-शक्ति-सम्पन्न देवता और महर्षिगण मेरी अचिन्त्य-शक्तिके सामर्थ्यको न समझकर स्वयं माया द्वारा भ्रान्त होकर मेरे इस स्वरूपाविर्भावको 'ईश्वर-तत्त्व' समझते हैं एवं शुष्क 'ब्रह्म-भाव' को श्रेष्ठ जानकर उसमें अपने स्वरूपको लीन करनेका प्रयास करते हैं। किन्तु, मेरे भक्तगण अपने क्षुद्र ज्ञानकी परिचालनासे अचिन्त्य-तत्त्वकी गतिको असहज जानकर मेरे प्रति भक्ति-वृत्तिका ही अनुशीलन करते हैं। इससे मैं दयार्द्र होकर सहज ज्ञान द्वारा उनको अपनी स्वरूपानुभूति प्रदान करता हूँ।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२।।

यो मामजमनादिञ्च वेत्ति लोकमहेश्वरम्।
असंमूढः स मर्त्त्येषु सर्वपापैः प्रमुच्यते।।३।।

अन्वय—यः (जो) माम् (मुझे) अनादिम् (अनादि) अजम् (जन्मरहित) लोकमहेश्वरम् च (और सभी लोकोंका महेश्वर) वेत्ति (जानते हैं) सः (वे) मर्त्येषु (मनुष्योंमें) असंमूढः (मोहशून्य होकर) सर्वपापैः (सभी पापोंसे) प्रमुच्यते (विमुक्त होते हैं)।।३।।

अनुवाद—जो मुझे अनादि, जन्मरहित ओर सभी लोकोंके महेश्वरके रूपमें जानते हैं, वे मनुष्योंमें मोहशून्य होकर सभी पापोंसे विमुक्त होते हैं।।३।।

श्रीविश्वनाथ—ननु परब्रह्मणः सर्वदेशकालापरिच्छिन्नस्य तवैतद्देहस्यैव जन्म देवा ऋषयश्च जानन्त्येव, तत्र स्वतर्जन्या स्ववक्षः स्पृष्ट्वाह—यो मामिति। यो मामजं वेत्ति, किं परमेष्ठिनं न अनादिं सत्यं तर्हि अनादित्वादजमजन्यं परमात्मानं त्वां वेत्त्येव, तत्राह—चेति। अजमजन्यं वसुदेवजन्यञ्च मामनादिमेव यो वेत्ति इत्यर्थः। मामिति-पदेन वसुदेवजन्यत्वं बुध्यते—*"जन्म कर्म च मे दिव्यम्"*इति मदुक्तेः, मम जन्मवत्त्वं परमात्मत्वात् सदैवाजत्वं च इत्युभयमपि मे परमं सत्यं अचिन्त्यशक्तिसिद्धमेव। यदुक्तं—*"अजोऽपि सन्नव्ययात्मा सम्भवामि"* इति, तथा चोद्धव-वाक्यं—*"कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते"* इत्याद्यनन्तरं *"खिद्यति धीर्विदामिह"* इति, अत्र श्रीभागवतामृतकारिका च—*"तत्तन्न वास्तवं चेत् स्याद्विदां बुद्धिभ्रमस्तदा। न स्यादेवेत्यतोऽचिन्त्या शक्तिर्नानासु कारणम्।।* तस्मात् यथा मम बाल्ये दामोदरत्व-लीलायामेकदैव किङ्किण्या बन्धनात् परिच्छिन्नत्वं दाम्ना स्वाबन्धादपरिच्छिन्नत्वं चातर्क्यमेव, तथैव ममाजत्व-जन्मवत्त्वे चातर्क्ये एव।" दुर्बोधमैश्वर्यञ्चाह—लोकमहेश्वरं तव सारथिमपि सर्वेषां लोकानां महान्तमीश्वरं यो वेद, स एव मर्त्त्येषु मध्ये असंमूढः सर्वपापैर्भक्ति-विरोधिभिः। यस्तु अजत्वानादित्व-सर्वेश्वरत्वान्येव वास्तवानि स्युर्जन्मवत्त्वादीनि तु अनुकरणमात्रसिद्धानीति व्याचष्टे, स संमूढ़ एव सर्वपापैर्न प्रमुच्यते इत्यर्थः।।३।।

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि सर्व देश-कालादिकी सीमासे अतीत परब्रह्म आपके इस देहका जन्म क्या देवतागण और ऋषिगण जानते हैं, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् अपनी तर्जनीसे अपने वक्षस्थलको स्पर्शकर कहते हैं—'यो माम्' इत्यादि। जो मुझे जन्मरहित जानते हैं, वे ही वस्तुतः मुझे जानते हैं। अच्छा, तो क्या परमेष्ठी ब्रह्मा अनादि सत्य नहीं हैं?

यदि वे अनादि हैं, तो अज अर्थात् जन्म-कारणरहित परमात्मा आपको जानते ही हैं? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—'च' इत्यादि। 'अजन्य' अर्थात् जन्म-कारणरहित और वसुदेवसे जात मुझको जो अनादि जानते हैं, वे ही तत्त्वज्ञ हैं। यहाँ 'माम्' शब्दसे वसुदेव-जन्यत्व अर्थात् वसुदेवसे उत्पन्न—यही अर्थ बोध होता है। 'मेरे जन्म और कर्म दिव्य हैं'—गीता (४/९) में मेरी इस उक्तिके अनुसार परमात्मा होनेके कारण मेरा जन्म ग्रहण करना और अजन्मा होना—दोनों ही मेरी अचिन्त्य-शक्तिसे सिद्ध हैं और परम सत्य हैं। जैसा कि गीता (४/६) में कथित है—"जन्मरहित होनेपर भी अविनाशी मैं उत्पन्न होता हूँ।" उद्धवने भी कहा है—

'कर्माण्यनीहस्य भवोऽभवस्य ते दुर्गाश्रयोऽथारिभयात्पलायनम्।
कालात्मनो यत्प्रमदायुताश्रयः स्वात्मन्रतेः खिद्यति धीर्विदामिह।।'

(श्रीमद्भा. ३/४/१६)

अर्थात्, प्रभो! आप निःस्पृह होकर भी कर्म करते हैं, अजन्मा होकर भी जन्म लेते हैं, कालरूप होकर भी शत्रुके डरसे भागते हैं और द्वारकाके किलेमें जाकर छिपे रहते हैं तथा स्वात्माराम होकर भी सोलह हजार स्त्रियोंके साथ रमण करते हैं—इन विचित्र चरित्रोंको देखकर विद्वानोंकी बुद्धि भी चक्करमें पड़ जाती है ।

इस विषयमें श्रीभागवतामृतकारकी कारिका है—"विद्वानोंका बुद्धिभ्रम यद्यपि वास्तविक नहीं है, तथापि उसका न होना ही उचित है। अतएव अचिन्त्यशक्ति ही नानात्व या विभिन्नत्वका कारण है। जिस प्रकार बचपनमें मेरी दामोदर लीलामें एक ही समय किङ्किणी द्वारा मेरे उदरके बद्ध होनेके कारण मेरा परिच्छिन्नत्व अर्थात् सीमाविशिष्ट होना तथा दूसरी ओर यशोदा मैयाके द्वारा विशाल रज्जुसे भी उसी उदरका बद्ध नहीं होनेके कारण मेरा अपरिच्छिन्नत्व अर्थात् सीमारहित होना अतर्क्य ही है, उसी प्रकार एक ही साथ मेरा जन्म ग्रहण करना और अजन्मा होना अतर्क्य है।" अपने दुर्बोध ऐश्वर्यके विषयमें बता रहे हैं—'लोक महेश्वरम्' अर्थात् हे अर्जुन! तुम्हारे इस सारथीको जो लोक-महेश्वरके रूपमें जानते हैं, वे मनुष्योंके बीच 'असंमूढ' अर्थात् समस्त प्रकारके पापों अर्थात् भक्ति-विरोधियोंसे मुक्त होते हैं। किन्तु, जो मेरे अजत्व, अनादित्व, सर्वेश्वरत्व आदिको तो वास्तव मानते हैं, परन्तु जन्मादि ग्रहण करनेको अनुकरण-मात्र मानते हैं—वे संमूढ़ हैं और पापोंसे मुक्त नहीं होते हैं।।३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ भगवान्‌को अज अर्थात् अजन्मा कहा गया है। द्वितीय अध्यायमें जीवात्माओंको भी अज कहा गया है। जीव अज होनेपर भी भगवान्‌का विभिन्नांश तत्त्व है—*'ममैवांशो जीवलोकः'।* जीव अणुचित् वस्तु है, किन्तु भगवान् पूर्णचित् वस्तु हैं। जीव भगवान्‌की मायाके वशीभूत हैं, किन्तु भगवान् मायापति हैं। बद्धजीवोंका स्थूल शरीर परिवर्त्तनशील है, किन्तु भगवान्‌का शरीर सच्चिदानन्द, अपरिवर्त्तशील और नित्य है। यदि इस लोकमें भगवान् अवतरित भी होते हैं, तो वे योगमायाके द्वारा अपने नित्य स्वरूपमें ही अवतरित होते हैं। वे सृष्टिके पूर्व भी थे, अब भी हैं और भविष्यमें भी रहेंगे—*'अहमेवासमेवाग्रे'* (श्रीमद्भा. २/९/३२) *'भगवानेक आसेदम्'* (श्रीमद्भा. ३/५/२३), *'अनादिरादिर्गोविन्दः'* (ब्र. सं. ५/१) *'एको ह वै नारायण आसीत्'* आदि विभिन्न श्रुति मन्त्रोंके द्वारा भी इस सिद्धान्तका प्रतिपादन होता है। इस श्लोकमें बताया गया कि भगवान् अज होनेपर भी अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे वसुदेव-देवकी तथा नन्द-यशोदाके नित्य पुत्र हैं। भगवान्‌के इस स्वरूपको केवला भक्तिके द्वारा ही जाना जा सकता है, अन्य साधनोंसे नहीं।

श्रीकृष्णको साधारण मनुष्य नहीं समझना चाहिए। यदि यह कहा जाय कि वे देवकीनन्दन या यशोदानन्दनके रूपमें विख्यात हैं, तो अजन्मा किस प्रकार हुए? इसका उत्तर श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंमें इस प्रकार दिया गया है कि श्रीकृष्ण साधारण शिशुकी भाँति जन्म ग्रहण नहीं किए, वे कंसके कारागारमें वसुदेव-देवकीके समक्ष शंख, चक्र, गदा, पद्म, विभिन्न प्रकारके अलङ्कारों तथा केशादिसे अलङ्कृत होकर किशोर स्वरूपमें प्रकट हुए। बादमें वसुदेव-देवकीकी प्रार्थनासे शिशु हो गए। गोकुलमें यशोदानन्दनके रूपमें द्विभुज स्वरूपमें यशोदाके गर्भसे जन्म ग्रहण नहीं करनेकी लीला दिखानेपर भी शिशु अवस्थामें ही पूतना-शकटासुर आदि महाभयङ्कर और बलवान असुरोंको सद्गति प्रदान करना तथा अपने शिशु-मुखमें अखिल ब्रह्माण्डका दर्शन कराना इत्यादि कार्य साधारण शिशुओंका नहीं है। इसलिए श्रीकृष्ण स्वयं-भगवान्, समस्त ईश्वरोंके ईश्वर, सबके आदि एवं स्वयं अनादि हैं।।३।।

बुद्धिर्ज्ञानमसंमोहः क्षमा सत्यं दमः शमः।
सुखं दुःखं भवोऽभावो भयञ्चाभयमेव च।।४।।
अहिंसा समता तुष्टिस्तपो दानं यशोऽयशः।
भवन्ति भावा भूतानां मत्त एव पृथग्विधाः।।५।।

अन्वय—बुद्धिः (सूक्ष्म अर्थको निश्चय करनेकी शक्ति) ज्ञानम् (आत्म-अनात्म विवेक) असंमोहः(व्यग्रताका अभाव) क्षमा (सहिष्णुता) सत्यम् (सत्य वचन) दमः (बाह्य इन्द्रियोंका संयम) शमः (अन्तःकरणका संयम) सुखम् (सुख) दुःखम् (दुःख) भवः (जन्म) अभावः (मृत्यु) भयम् (भय) च अभयम् (और अभय) अहिंसा (अहिंसा) समता (समता) तुष्टिः (सन्तोष) तपः (वेदोक्त काय-क्लेश) दानम् (दान) यशः अयशः (यश-अपयश) भूतानाम् (प्राणियोंके) [एतानि—ये समस्त] पृथग्विधाः भावाः (विभिन्न प्रकारके भाव) मत्तः एव (मुझसे ही) भवन्ति (उत्पन्न होते हैं)।।४-५।।

अनुवाद—बुद्धि, ज्ञान, असम्मूढ़ता, सहिष्णुता, सत्यवादिता, शम, दम, सुख, दुःख, जन्म, मृत्यु, भय, अभय, अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश और अपयश—प्राणियोंके ये समस्त नाना प्रकारके भाव मुझसे ही उत्पन्न होते हैं ।।४-५।।

श्रीविश्वनाथ—न च शास्त्रज्ञाः स्वबुद्ध्यादिभिः मत्तत्वं ज्ञातुं शक्नुवन्ति, यतो बुद्ध्यादीनां सत्त्वादिवन्मायागुणजन्यत्वान्मत्त एव जातानामपि गुणातीते मयि नास्ति स्वतः प्रवेशयोग्यतेत्याह—वुद्धिः सूक्ष्मार्थनिश्चयसामर्थ्यम्, ज्ञानमात्मानात्मविवेकः, असम्मोहो वैयग्र्याभावः—एते त्रयो भावा मत्तत्त्वज्ञानहेतुत्वेन सम्भाव्यमाना इव, न तु हेतवः। प्रसङ्गादन्यानपि भावान् लोकेषु दृष्टान् न स्वत एवोद्भूतानाह—'क्षमा' सहिष्णुत्वम्, 'सत्यं' यथार्थभाषणं, 'दमो' बाह्येन्द्रियनिग्रहः, 'शमो'ऽन्तरिन्द्रियनिग्रहः—एते सात्त्विकाः। 'सुखं' सात्त्विकम्, 'दुःखं' तामसम्, 'भवाभावौ' जन्ममृत्युदुःखविशेषौ, 'भयं' तामसम् 'अभयं' ज्ञानोत्थं सात्त्विकम्, राजसाद्युत्थं राजसम्, 'समता' आत्मौपम्येन सर्वत्र सुखदुःखादि-दर्शनम् 'अहिंसा-समते' सात्त्विक्यौ, 'तुष्टिः' सन्तुष्टिः, सा निरुपाधिः सात्त्विकी, सोपाधिस्तु राजसी, तपो-दानेऽपि सोपाधिनिरुपाधित्वाभ्यां सात्त्विक-राजसे, यशोऽयशसी अपि तथा। मत्त इति—एते मन्मायातो भवन्तोऽपि शक्तिशक्तिमतोरैक्यात् मत्त एव।।४-५।।

भावानुवाद—शास्त्रज्ञ व्यक्तिगण अपनी अपनी बुद्धि द्वारा मेरे तत्त्वको जाननेमें असमर्थ हैं, क्योंकि बुद्धि आदि मायाके सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेके कारण मुझसे ही उत्पन्न होते हैं, तथापि गुणातीत मुझमें इसके स्वतः प्रवेशकी योग्यता नहीं है। इसीलिए कहते हैं—'बुद्धि' अर्थात् सूक्ष्मार्थके निश्चयमें समर्थ, 'ज्ञानम्' अर्थात् आत्म-अनात्म विवेक, 'असंमोह' अर्थात् व्यग्रताका अभाव—ये तीन प्रकारके भाव मेरे तत्त्वज्ञानके विषयमें सम्भावित हेतु हैं, तथापि ये तीनों (साक्षात्) हेतु नहीं हैं, प्रसङ्गक्रमसे अन्य भाव भी लोगोंमें देखे जाते हैं, किन्तु वे स्वतः ही उत्पन्न नहीं हैं। इसीलिए कहते हैं—'क्षमा' अर्थात् सहिष्णुता, 'सत्य' अर्थात् यथार्थ भाषण, 'दमः' अर्थात् बाह्य इन्द्रियोंका निग्रह, 'शमः' अर्थात् अन्तः इन्द्रियोंका निग्रह—ये सभी सात्त्विक हैं। 'सुख' सात्त्विक है, 'दुःख' तामसिक है, 'भवाभवौ' अर्थात् जन्म-मृत्यु एक दुःखविशेष हैं, भय तामसिक है, ज्ञानसे उत्पन्न होनेके कारण 'अभय' सात्त्विक है, परन्तु रजोगुणसे उत्पन्न होनेपर यह राजसिक है। 'समता' का तात्पर्य है—अपने समान ही सर्वत्र समभावपूर्वक सुख-दुःखदि का दर्शन करना। 'समता' तथा 'अहिंसा' सात्त्विक हैं। 'तुष्टि' अर्थात् सन्तुष्टि निरुपाधिक होनेपर सात्त्विक और सोपाधिक होनेपर राजसिक है। 'तप' और 'दान' उपाधियुक्त और उपाधिरहित होने पर क्रमशः राजसिक और सात्त्विक हैं। 'यश' और 'अयश' को भी इसी प्रकार समझना चाहिए। ये सभी मेरी मायासे उत्पन्न हैं, किन्तु शक्तिमान् और शक्तिके अभिन्न होनेके कारण इन्हें मुझसे ही उत्पन्न समझना चाहिए।।४-५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान् ही सबके आदि, मूलकारण एवं सर्वेश्वरेश्वर हैं—यहाँ इसका प्रतिपादन हो रहा है। जड़-चेतन सभी विषय अचिन्त्य-भेदाभेदरूपमें उनसे ही सम्बन्धित हैं।

"शास्त्रज्ञ पुरुषगण सुबुद्धि द्वारा भी मेरा तत्त्व नहीं जान पाते हैं। इसका कारण यह है कि सूक्ष्मार्थ-निश्चय-सामर्थ्यरूपी बुद्धि, आत्म-अनात्म-विवेकरूप ज्ञान, असम्मोह, क्षमा, सत्य, दम, शम, सुख, दुःख, भव (जन्म), अभाव (मृत्यु) अहिंसा, समता, तुष्टि, तप, दान, यश और अयश—ये सभी जीवोंके भाव हैं। मैं इन सबका आदि कारण तो हूँ, किन्तु मैं इनसे पृथक् हूँ। मेरे अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्वको जान लेनेके पश्चात् और कुछ भी अज्ञात नहीं रहता है। जिस प्रकार शक्ति और शक्तिमान् अभिन्न होकर भी भिन्न हैं, उसी प्रकार शक्तिमान् मैं तथा मेरी शक्तिसे निःसृत समस्त वस्तुएँ और भावमय-जगत् नित्य अभिन्न होते हुए भी भिन्न हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४-५।।

महर्षयः सप्त पूर्वे चत्वारो मनवस्तथा।
मद्भावा मानसा जाता येषां लोक इमाः प्रजाः।।६।।

अन्वय—सप्त महर्षयः (सप्त महर्षिगण) पूर्वे (उनके पूर्वके) चत्वारः (सनकादि चार कुमार) तथा मनवः (तथा स्वायम्भुव आदि मनुगण) मद्भावाः (जिनका जन्म मुझसे हुआ) मानसाः जाताः (और जो मेरे मनसे उत्पन्न हुए) लोके (इस लोकमें) इमाः (ये ब्राह्मणादि) येषाम् (जिनके) प्रजाः (पुत्र-पौत्राादि हैं)।।६।।

अनुवाद—मरीचि आदि सात महर्षिगण, उनके भी पूर्वके सनकादि चार ब्रह्मर्षिगण एवं स्वायम्भुवादि चौदह मनुगण—सभी मेरे हिरण्यगर्भ रूपसे मनःसंकल्प-मात्रसे उत्पन्न हुए हैं। इस जगत्में ये ब्राह्मणादि उनके ही पुत्र-पौत्र या शिष्य-प्रशिष्य रूपमें परिपूरित हैं।।६।।

श्रीविश्वनाथ—बुद्धिज्ञानासंमोहान् स्वतत्त्वज्ञानेऽसमर्थानुक्त्वा तत्त्वतोऽपि तत्रासमर्थानाह—महर्षयः सप्त मरीच्यादयस्तेभ्योऽपि पूर्वेऽन्ये चत्वारः सनकादयो मनवश्चतुर्द्दश स्वायम्भुवादयो मत्त एव हिरण्यगर्भात्मनः सकाशाद्भवो जन्म येषां ते। मानसा मन आदिभ्य उत्पन्ना जाताः अभूवन्नित्यर्थः—येषां मरीच्यादीनां सनकादीनाञ्चेमा ब्राह्मणाद्या लोके वर्त्तमानाः प्रजाः पुत्रपौत्रादिरूपाः शिष्य प्रशिष्यरूपाश्च।।६।।

भावानुवाद—बुद्धि, ज्ञान, असंमोहादिको अपने तत्त्वज्ञानमें असमर्थ बताकर तत्त्वतः भी इनके असामर्थ्यको दिखा रहे हैं—मरीचि आदि सप्तर्षि, उनके भी पूर्वके सनकादि चार कुमार और स्वायम्भुवादि चौदह मनु मुझसे ही अर्थात् हिरण्यगर्भात्मक मुझसे उत्पन्न हुए हैं। वे मेरे मन इत्यादिसे उत्पन्न हुए थे। मरीचि आदि एवं सनकादिके पुत्र-पौत्रादि रूपमें तथा शिष्य-प्रशिष्य रूपमें ब्राह्मणादि सन्ततिगण पृथ्वीमें वर्त्तमान हैं।।६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ श्रीभगवान् अपनेसे उत्पन्न ब्रह्माण्डकी प्रजाका वंशानुक्रमसे वर्णन कर रहे हैं। ब्रह्मा इस ब्रह्माण्डके आदि जीव हैं, ये महाविष्णुकी हिरण्यगर्भ नामक शक्तिसे उत्पन्न हैं। ब्रह्माजीसे सनक, सनन्दन, सनातन, सनत—ये चारों कुमार, तत्पश्चात् भृगु, मरीचि, अत्रि, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु और वशिष्ठ—ये सप्तर्षि उत्पन्न हुए। तत्पश्चात् (१) स्वायम्भुव (२) स्वारोचिष (२) उत्तम (४) तामस (५) रैवत (६) चाक्षुष (७) वैवस्वत (८) सावर्णि (९) दक्षसावर्णि (१०) ब्रह्मसावर्णि (११) धर्मसावर्णि (१२) रुद्रपुत्र (सावर्णि) (१३) रोच्य (देवसावर्णि) (१४) भौत्यक (इन्द्रसावर्णि)—ये चौदह मनु उत्पन्न हुए। ये समस्त कृष्णके शक्तिसम्भूत हिरण्यगर्भसे उत्पन्न हुए। इनके ही वंश या शिष्य-प्रशिष्यकी परम्परामें ब्राह्मणादि प्रजाएँ सारे जगत्में विस्तृत हुई हैं।।६।।

एतां विभूतिं योगञ्च मम यो वेत्ति तत्त्वतः।
सोऽविकल्पेन योगेन युज्यते नात्र संशयः।।७।।

अन्वय—यः (जो) मम (मेरी) एताम् (इन समस्त) विभूतिम् च योगम् (विभूतियों और भक्तियोगको) तत्त्वतः (यथायथरूपमें) वेत्ति (जानते हैं) सः (वे) अविकल्पेन (निश्चल) योगेन (तत्त्वज्ञानसे) युज्यते (युक्त होते हैं) अत्र संशयः न (इसमें कोई सन्देह नहीं है)।।७।।

अनुवाद—जो मेरी इन समस्त विभूतियों और भक्तियोगके विषयको यथार्थ रूपमें जानते हैं, वे मेरे निश्चल तत्त्वज्ञान द्वारा युक्त होते हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है।।७।।

श्रीविश्वनाथ—किन्तु *भक्त्याहमेकया ग्राह्यः* इति मदुक्तेर्मदनन्यभक्त एव मत्प्रसादान्मद्वाचि दृढमास्तिक्यं दधानो मत्तत्त्वं वेत्तीत्याह—एतां संक्षेपेणैव वक्ष्यमाणां विभूतिं योगं भक्तियोगञ्च यस्तत्त्वतो वेत्ति, मत्प्रभोः श्रीकृष्णस्य वाक्यादिदमेव परमं तत्त्वमिति दृढतरास्तिक्यवानेव यो वेत्ति सः। अविकल्पेन निश्चलेन योगेन मत्तत्त्वज्ञानलक्षणेन युज्यते युक्तो भवेदत्र नास्ति कोऽपि सन्देहः।।७।।

भावानुवाद—किन्तु *'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः'* (श्रीमद्भा. ११/१४/२१) अर्थात् ऐकान्तिकी भक्ति द्वारा ही मैं लभ्य हूँ—मेरी इस उक्तिके अनुसार मेरे अनन्य भक्तगण ही मेरी कृपासे मेरे वचनोंमें दृढ़ आस्तिक्य भाव धारणकर मेरे तत्त्वसे अवगत होते हैं। इसीलिए कहते हैं—'एषां' इत्यादि। जो संक्षेपमें ही कथित विभूतियोंको एवं भक्तियोगको तत्त्वसे जानते हैं अर्थात् जो दृढ़तर आस्तिकवान् होकर ऐसा समझते हैं कि ये वचन मेरे प्रभु श्रीकृष्णके हैं, अतः यही परम तत्त्व है, वे मेरे निश्चल तत्त्वज्ञान-लक्षण-योग द्वारा युक्त होते हैं—इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है।।७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—ब्रह्माण्डके सञ्चालनके लिए विभिन्न लोकोंमें अनेक देवता नियुक्त हैं। जिनमें ब्रह्मा, चारों कुमार, सप्तर्षि तथा प्रजापति प्रमुख हैं। मूलतः ये सभी कृष्णसे उत्पन्न हैं। इसलिए भगवान् श्रीकृष्ण समस्त पितामहोंके आदि पितामह हैं। भगवान्‌के इस ऐश्वर्यको जानकर अटूट विश्वास और दृढ़ श्रद्धापूर्वक तथा संशयरहित होकर श्रीकृष्णका भजन करना चाहिए, अन्यथा कृष्णकी महानताको भलीभाँति नहीं जाननेसे उनके प्रति अनन्या भक्ति सम्भव नहीं है।।७।।

अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते।
इति मत्वा भजन्ते मां बुधा भावसमन्विताः।।८।।

अन्वय—अहम् (मैं) सर्वस्य (सभीकी) प्रभवः (उत्पत्तिका कारण हूँ) मत्तः (मुझसे) सर्वम् (सभी) प्रवर्त्तते (कार्यमें प्रवृत्त होते हैं) इति मत्वा (इस प्रकार समझकर) बुधाः (पण्डितगण) भावसमन्विताः (भावयुक्त होकर) माम् (मुझे) भजन्ते (भजते हैं)।।८।।

अनुवाद—मैं सबकी उत्पत्तिका कारण हूँ, मुझसे ही सभी कार्यमें प्रवृत्त होते हैं—इस प्रकार समझकर पण्डितगण भावयुक्त होकर मुझे भजते हैं।।८।।

श्रीविश्वनाथ—तत्र महैश्वर्यलक्षणां विभूतिमाह—अहं सर्वस्य प्राकृताप्राकृत-वस्तुमात्रस्य प्रभवः उत्पत्ति-प्रादुर्भावयोः हेतुः। मत्त एवान्तर्यामिस्वरूपात् सर्वं जगत् प्रवर्त्तते चेष्टते, तथा मत्त एव नारदाद्यवतारात्मकात् सर्वं भक्तिज्ञानतपःकर्मादिकं साधनं तत्तत् साध्यञ्च प्रवृत्तं भवति। ऐकान्तिक-भक्तिलक्षणं योगमाह—इति मत्त्वा आस्तिक्यतो ज्ञानेन निश्चित्य इत्यर्थः। भावो दास्यसख्यादिस्तद्युक्ताः।।८।।

भावानुवाद—इनमें से महैश्वर्य लक्षणयुक्त विभूतिको बताते हुए कहते हैं—मैं प्राकृत और अप्राकृत वस्तु-मात्रका 'प्रभव' अर्थात् प्रादुर्भाव (उत्पत्ति) का कारण हूँ। अन्तर्यामीस्वरूप मुझसे ही समस्त जगत् कार्यरत होता है एवं नारदादि अवतारके रूपमें मुझसे ही सभी भक्ति-ज्ञान-तप-कर्मादि साधन तथा उस-उसके साध्यमें प्रवृत्त होते हैं। ऐकान्तिक भक्तियोगका लक्षण बताते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—'इति मत्वा' इत्यादि अर्थात् इस प्रकार आस्तिक्य ज्ञान द्वारा निश्चयकर दास्य-सख्यादि भावोंसे युक्त होकर भजन करने वाले पण्डित हैं।।८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीकृष्ण प्राकृत एवं अप्राकृत जगत्के मूल हैं। तत्त्वविद् वैष्णवोंकी कृपा और उनके उपदेशोंसे निःसन्देहरूपमें इस प्रकारका तत्त्वज्ञान सम्भव है। ऐसे तत्त्वज्ञानके द्वारा ही साधुओंका चित्त शुद्ध भगवद्भक्तिमें स्थिर होता है। आधुनिक कपोलकल्पित भक्तिरहित टीकाओं अथवा तत्त्वज्ञानहीन तथाकथित भ्रान्त गुरु या भक्त नामधारी व्यक्तियोंके उपदेश या संगसे शुद्ध तत्त्वज्ञान सम्भव नहीं है।

श्रीमद्भागवतमें भी इसकी पुष्टि की गई है—

'अहं ब्रह्मा च शर्वश्च जगतः कारणं परम्।
आत्मेश्वर उपद्रष्टा स्वयंदृगविशेषणः।।'

(श्रीमद्भा. ४/७/५०)

'नारायणः परो देवस्तस्माज्जातश्चतुर्मुखः।
तस्माद्रुद्रोऽभवद्देवः स च सर्वज्ञतां गतः।।'

(वराहपुराण)

अर्थात्, नारायण ही परम देव हैं, उनसे ही ब्रह्मा, रुद्र आदि सभी उत्पन्न हुए हैं, वे नारायण ही सर्वज्ञ हैं। ये नारायण कृष्णके वैभव विलास हैं। अन्यत्र वेदोंमें भी कृष्णको देवकीका पुत्र बताया गया है—*'ब्रह्मण्यो देवकीपुत्राः'* इत्यादि।।८।।

मच्चित्ता मद्गतप्राणा बोधयन्तः परस्परम्।
कथयन्तश्च मां नित्यं तुष्यन्ति च रमन्ति च।।९।।

अन्वय—मच्चित्ताः (मुझे समर्पित चित्तवाले) मद्गतप्राणाः (मुझे समर्पित प्राणवाले) नित्यम् (सर्वदा) परस्परम् (एक-दूसरेको) माम् (मेरा तत्त्व) बोधयन्तः (जनाते हुए) च (एवं) कथयन्तः (नाम, रूपादिका कीर्त्तन करते हुए) तुष्यन्ति च रमन्ति च (सन्तोष और आनन्दका अनुभव करते हैं)।।९।।

अनुवाद—जो अपने चित्त तथा प्राण मुझे समर्पित कर दिए हैं, वे सर्वदा एक-दूसरेको मेरा तत्त्व बताते हुए एवं मेरे नाम, रूपादिका कीर्त्तन करते हुए सन्तोष लाभ करते हैं और आनन्दका अनुभव करते हैं।।९।।

श्रीविश्वनाथ—एतादृशा अनन्यभक्ता एव मत्प्रसादाल्लब्धबुद्धियोगः पूर्वोक्तलक्षणं दुर्बोधमपि मत्तत्त्वज्ञानं प्राप्नुवन्तीत्याह—मच्चित्ता मद्रूपनामगुण-लीलामाधुर्यास्वादेष्वेव लुब्धमनसः, मद्गतप्राणाः मां विना प्राणान् धर्त्तुमसमर्था-अन्नगतप्राणा नरा इतिवत्; बोधयन्तः भक्तिस्वरूपप्रकारादिकं सौहार्द्देन ज्ञापयन्तः, मां महामधुररूपगुणलीलामहोदधिं कथयन्तो मद्रूपादिव्याख्यानेनोत्कीर्त्तनादिकं कुर्वन्त-इत्येवं सर्वभक्तिष्वतिश्रैष्ठ्यात् स्मरणश्रवणकीर्त्तनान्युक्तानि। तुष्यन्ति च रमन्ति चेति भक्त्यैव सन्तोषश्च रमणञ्चेति रहस्यम्, यद्वा साधनदशायामपि भाग्यवशात् भजने निर्विघ्ने सम्पद्यमाने सति तुष्यन्ति, तदैव भाविस्वीयसाध्यदशामनुस्मृत्य रमन्ति च मनसा स्वप्रभुणा सह रमन्ति चेति रागानुगा भक्तिर्द्योतिता।।९।।

भावानुवाद—ऐसे अनन्य भक्त ही मेरी कृपासे बुद्धियोग प्राप्त करते हैं एवं दुर्बोध होनेपर भी पूर्वोक्त लक्षणयुक्त तत्त्वज्ञान प्राप्त करते हैं। 'मच्चिताः' वे हैं, जिनका मन मेरे नाम, रूप, गुण, लीला और माधुर्यके ही आस्वादनके प्रति लुब्ध है तथा 'मद्गतप्राणाः' वे हैं, जो मेरे बिना अपने प्राणोंको धारण करनेमें असमर्थ हैं, जिस प्रकार मनुष्य अन्नके

बिना प्राण-धारण नहीं कर सकता है। ऐसे व्यक्ति 'बोधयन्तः' अर्थात् भक्तिके स्वरूप-प्रकारादिको सौहार्दपूर्वक एक-दूसरेको बताते हैं तथा 'मां' अर्थात् महामधुर रूप-गुण-लीलाके महावारिधि मेरे रूपादिका व्याख्यान और उच्च स्वरसे कीर्त्तन करते हुए आनन्द प्राप्त करते हैं। इस तरह सभी प्रकारकी भक्तियोंमें से श्रवण, कीर्त्तन और स्मरणको ही अतिश्रेष्ठ कहा गया है। वे भक्ति द्वारा ही सन्तोष और आनन्द प्राप्त करते हैं, यही रहस्य है अथवा साधन दशामें भी भाग्यवश भजनके निर्विघ्न सम्पन्न होनेसे सन्तुष्ट होते हैं। उस अवस्थामें वे भविष्यमें होनेवाले अपने साध्य दशाका स्मरणकर मन-ही-मन अपने प्रभुके साथ रमण करते हैं। श्रीभगवान्‌के उपरोक्त कथनसे रागानुगा-भक्ति ही प्रकाशित हुई है।।९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वर्त्तमान श्लोकमें अनन्य भक्तोंके स्वभाव और भक्तिके प्रकारका वर्णन कर रहे हैं। यहाँ 'मद्‌गतप्राणाः' का तात्पर्य यह है कि भक्तजन मुझे छोड़कर प्राण-धारणमें भी असमर्थ होते हैं, जैसे जलके बिना मछलियाँ जीवित नहीं रह सकतीं। इसके विपरीत जैसे कोई मछली जलसे निकलकर सुख प्राप्त करनेकी लालसासे तट-प्रदेशमें विचरण करने जाती है, तो वह शीघ्र ही मृत्युको प्राप्त होती है, उसी प्रकार हरिविमुख जीव जीवित रहते हुए भी मृत हैं।

"वैसे अनन्य चित्तवालोंका चरित्र इस प्रकारका होता है—वे अपने चित्त और प्राणोंको भलीभाँति मुझमें समर्पितकर परस्पर भावोंका आदान-प्रदान और हरिकथाका कथोपकथन करते रहते हैं। इस प्रकार साधनकी अवस्थामें श्रवण-कीर्त्तन द्वारा भक्ति-सुख और साध्यावस्थामें अर्थात् प्रेमकी प्राप्ति हो जानेपर मेरे साथ रागमार्गमें व्रज-रसके अन्तर्गत मधुर रसपर्यन्त सम्भोगपूर्वक रमण-सुख प्राप्त करते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।९।।

तेषां सततयुक्तानां भजतां प्रीतिपूर्वकम्।
ददामि बुद्धियोगं तं येन मामुपयान्ति ते।।१०।।

अन्वय—तेषाम् सततयुक्तानाम् (मेरे नित्य-संयोगके आकांक्षी) प्रीतिपूर्वकम् (प्रीतिपूर्वक) भजताम् (भजन करनेवालेको) तम् (वह) बुद्धियोगम् (बुद्धियोग) ददामि (प्रदान करता हूँ) येन (जिसके द्वारा) ते (वे) माम् (मुझको) उपयान्ति (प्राप्त होते हैं)।।१०।।

अनुवाद—मेरे नित्य-संयोगकी अभिलाषासे प्रीतिपूर्वक भजनशील उन लोगोंको मैं वह बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिसके द्वारा वे मुझे प्राप्त होते हैं।।१०।।

श्रीविश्वनाथ—ननु तुष्यन्ति च रमन्ति च इति त्वदुक्त्या त्वद्भक्तानां भक्त्यैव परमानन्दो गुणातीत इत्यवगतं, किन्तु तेषां त्वत्साक्षात्प्राप्तौ कः प्रकारः? स च कुतः सकाशात्तैरवगन्तव्य इत्यपेक्षायामाह—तेषामिति। सततयुक्तानां नित्यमेव मत्संयोगाकाङ्क्षिणां तं बुद्धियोगं ददामि, तेषां हृद्‌वृत्तिष्वहमेव उद्भावयामीति, स बुद्धियोगः स्वतोऽन्यस्माच्च कुतश्चिदप्य-धिगन्तुमशक्यः, किन्तु मदेक-देयस्तदेकग्राह्य इति भावः। मामुपयान्ति मामुपलभन्ते साक्षान्मन्निकटं प्राप्नुवन्ति।।१०।।

भावानुवाद—अच्छा, वे सन्तोष और आनन्द प्राप्त करते हैं—आपकी इस उक्तिसे आपकी भक्ति द्वारा ही आपके भक्तोंको परमानन्दकी प्राप्ति और उनके गुणातीत होनेकी बात स्पष्ट हो गई, किन्तु वे किस प्रकार आपका साक्षात्कार करते हैं एवं वे किनसे इस साक्षात्कारकी विधि सीखते हैं? अर्जुनके इस प्रश्नकी अपेक्षाकर श्रीभगवान् 'तेषाम्' इत्यादि कह रहे हैं—नित्य ही मेरे संयोगाकांक्षी उनलोगोंके हृदयमें मैं ही समस्त वृत्तियोंको उद्भावित करता हूँ। वह बुद्धियोग स्वयं अथवा किसी अन्यसे नहीं प्राप्त किया जा सकता, बल्कि केवल मेरे द्वारा ही प्रदेय है एवं उनके द्वारा ही ग्रहणीय है। इस बुद्धियोगसे युक्त होकर वे मुझे प्राप्त होते हैं।।१०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें यह बताया गया है कि अनन्य भक्तजन कैसे भगवान्‌का साक्षात्कार लाभ करते हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—जो लोग प्रीतिपूर्वक निरन्तर मेरा भजन करते हैं, मैं स्वयं उनको बुद्धियोग प्रदान करता हूँ, जिससे वे सरल-सहज रूपमें मेरा साक्षात्कार करते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

'साक्षाद्भगवतोक्तेन गुरुणा हरिणा नृप।
विशुद्धज्ञानदीपेन स्फुरता विश्वतोमुखम्।।'

(श्रीमद्भा. ४/२८/४१)

अर्थात्, हे राजन स्वयं भगवान्‌ने ही गुरुके रूपमें उनके (मलयध्वजके) हृदयमें ज्ञान-आलोकका प्रकाश किया था। *'विशेषानुग्रहश्च'*—इस वेदान्तसूत्र (३/८/३८) के द्वारा भी यह बताया गया है कि भगवत्-कृपाके द्वारा ही भगवत्-दर्शन होता है।।१०।।

तेषामेवानुकम्पार्थमहमज्ञानजं तमः।
नाशयाम्यात्मभावस्थो ज्ञानदीपेन भास्वता।।११।।

अन्वय—तेषाम् (उनलोगोंको) अनुकम्पार्थम् एव (अनुग्रह करनेके निमित्त ही) अहम् (मैं) आत्मभावस्थः (उनकी बुद्धिवृत्तिमें स्थित होकर) भास्वता (प्रदीप्त) ज्ञानदीपेन (ज्ञानरूप दीपकके आलोकसे) अज्ञानजम् (अज्ञानजनित) तमः (संसाररूप अन्धकारको) नाशयामि (नष्ट कर देता हूँ)।।११।।

अनुवाद—उन लोगोंके ऊपर अनुग्रह करनेके लिए ही उनकी बुद्धिवृत्तिमें स्थित होकर मैं प्रदीप्त ज्ञानरूप दीपकके आलोकसे अज्ञानसे उत्पन्न संसाररूप अन्धकारको नष्ट कर देता हूँ।।११।।

श्रीविश्वनाथ—ननु च विद्यादिवृत्तिं विना कथं त्वदधिगमः तस्मात्तैरपि तदर्थं यतनीयमेव? तत्र न हि न हीत्याह—तेषामेव न त्वन्येषां योगिनाम् अनुकम्पार्थं—मदनुकम्पा येन प्रकारेण स्यात्तदर्थमित्यर्थः। तैर्मदनुकम्पाप्राप्तौ कापि चिन्ता न कार्या यतस्तेषां मदनुकम्पा-प्राप्त्यर्थमहमेव यतमानो वर्त्त एवेति भावः। आत्मभावस्थः तेषां बुद्धिवृत्तौ स्थितः। ज्ञानं मदेकप्रकाश्यत्वान्न सात्त्विकं निर्गुणत्वेऽपि भक्त्युत्थज्ञानतोऽपि विलक्षणं यत्तदेव दीपस्तेन। अहमेव नाशयामीति तैः कथं तदर्थं प्रयतनीयम्? *"तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्"* इति मदुक्तेस्तेषां व्यवहारिकः पारमर्थिकश्च सर्वोऽपि भारो मया वोढुमङ्गीकृत एवेति भावः।

श्रीमद्गीता सर्वसारभूता भूतापतापहृत्।
चतुःश्लोकीयमाख्याता ख्याता सर्वनिशर्मकृत्।। ।।११।।

भावानुवाद—यदि अर्जुन कहे कि विद्यावृत्तिके अतिरिक्त कोई आपको किस प्रकार प्राप्त कर सकता है, अतः वे विद्याके लिए यत्न करेंगे ही, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—नहीं! नहीं! मैं केवल अपने अनन्य भक्तोंपर किस प्रकार कृपा करता हूँ—यह बात कह रहा हूँ, योगी इत्यादिके लिए नहीं। मेरी कृपा प्राप्त करनेके लिए उन्हें कोई चिन्ता नहीं करनी पड़ती है, क्योंकि वे किस प्रकार मेरी अनुकम्पा प्राप्त करेंगे—इसके लिए मैं ही यत्नशील रहता हूँ। 'आत्मभावस्थ' अर्थात् उनकी बुद्धि वृत्तिमें स्थित होकर ज्ञानरूप दीपसे हृदयके अन्धकारको दूर कर देता हूँ अर्थात् एकमात्र मुझे प्रकाशित करनेवाला होनेके कारण ज्ञान सात्त्विक नहीं, अपितु निर्गुण है, निर्गुण होनेपर भी जो ज्ञान भक्तिसे उत्पन्न ज्ञानसे

भी विलक्षण ज्ञान है, उस ज्ञानदीप द्वारा मैं ही उनके हृदयके अन्धकारको नष्ट करता हूँ। अतः वे लोग इसके लिए क्यों प्रयत्न करेंगे? "जो सर्वदा मेरे प्रति एकनिष्ठ हैं, उनका योग-क्षेम मैं ही वहन करता हूँ।"—गीता (८/२२) की इस उक्तिके अनुसार उनके व्यवहारिक और पारमार्थिक सभी भारोंको मैंने ही वहन करना स्वीकार किया है।

उपर्युक्त चार श्लोक श्रीगीताके सारभूत श्लोकके रूपमें विख्यात हैं और सभी जीवोंके तापहारी तथा सर्वमङ्गलकारी हैं।।११।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—ज्ञानी और योगी अपनी बुद्धिवृत्ति आदिके द्वारा ज्ञान प्राप्त करनेका प्रयास करते हैं। किन्तु, इसके द्वारा वे असफल ही होते हैं। किन्तु, अनन्य भक्त ऐकान्तिकरूपमें भगवान्‌का आश्रय ग्रहण करनेके कारण श्रीभगवत्-कृपासे भगवत्-ज्ञानको अनायास ही प्राप्त कर लेते हैं। चूँकि भक्त भगवान्‌के बिना प्राण भी नहीं धारण कर पाते, इसलिए वे भगवान्‌के अत्यन्त कृपापात्र होते हैं। श्रीबलदेव विद्याभूषणकी टीकामें हम देखते हैं—"उनको एकान्त भावसे अनुगृहीत करनेवाला मैं योग-क्षेमकी भाँति बुद्धिवृत्तिको भी उद्‌भाषित कर देता हूँ। उनके जीवन-निर्वाहादि सभी भार मेरे ऊपर ही हैं। उन्हें किसी भी वस्तुके लिए कोई प्रयत्न नहीं करना पड़ता है।"

"इस प्रकार भक्तियोगका अनुष्ठान करनेवालोंके समीप अज्ञान रह नहीं सकता है। कुछ लोगोंके मनमें इस प्रकारका विचार उपस्थित होता है कि जो 'अतत्' को दूर करनेके क्रममें 'तत्'-वस्तुका अनुसन्धान करते हैं, वे ही यथार्थ ज्ञान प्राप्त करते हैं, केवल भक्ति-भावका अनुशीलन करनेसे ही वह दुर्लभ ज्ञान नहीं प्राप्त होगा। हे अर्जुन! इसकी मूल कथा यह है कि अपनी बुद्धि द्वारा अनुशीलन करनेसे क्षुद्र जीव कभी भी असीम सत्य-तत्त्वका ज्ञान नहीं प्राप्त कर सकता है। कितना ही विचार क्यों न करे, अंशमात्र भी विशुद्ध ज्ञान नहीं प्राप्त करेगा। किन्तु यदि मैं कृपा करूँ, तो अनायास ही मेरी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे क्षुद्र जीवको सम्यक्-ज्ञान प्राप्त हो सकता है। जो मेरे एकान्त भक्त हैं, वे अनायास ही मुझे आत्मभावस्थकर मेरे अलौकिक ज्ञान-दीप द्वारा आलोकित होते हैं। विशेष अनुकम्पापूर्वक मैं उनके हृदयमें अवस्थित होकर जड़संगवशतः अज्ञानसे उत्पन्न अन्धकारको सम्पूर्णरूपेण नाश करता हूँ। जिस शुद्धज्ञानमें जीवका अधिकार है, वह भक्तिके अनुशीलनसे ही उदित होता है, न कि तर्कके द्वारा प्राप्त होता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

जिस प्रकार श्रीमद्भागवतमें चतुश्लोकी श्रीमद्भागवतका सार है, तथा स्वयं भगवान्‌के द्वारा ब्रह्माको इसका उपदेश दिया गया है, उसी प्रकार उपर्युक्त चार श्लोक (८-११) गीताके सारस्वरूप हैं। इसलिए ये श्लोकसमूह चतुश्लोकी गीताके नामसे प्रसिद्ध हैं। गीताका सार भक्ति है—कृष्णने स्वयं अर्जुनको इसे बताकर इन चार श्लोकोंमें अनन्या भक्तिका स्वरूप बताया। इस अनन्या भक्तिका आश्रय ग्रहण करनेपर कृष्ण कृपाकर साधकको संसार-समुद्रसे अनायास ही पार कराकर व्रजधाममें अपनी रसमयी भक्तिमें प्रवेश कराते हैं।।११।।

अर्जुन उवाच—
परं ब्रह्म परं धाम पवित्रं परमं भवान्।
पुरुषं शाश्वतं दिव्यमादिदेवमजं विभुम्।।१२।।
आहुस्त्वामृषयः सर्वे देवर्षिर्नारदस्तथा।
असितो देवलो व्यासः स्वयञ्चैव ब्रवीषि मे।।१३।।

अन्वय—अर्जुन उवाच (अर्जुनने कहा) भवान् (आप) परम् ब्रह्म (परब्रह्म) परम् धाम (परम धाम) परमम् पवित्रम् (परम पवित्र हैं) [अहम् वेद्मि—यह मैं जानता हूँ] सर्वे ऋषयः (समस्त ऋषिगण) देवर्षिः नारदः (देवर्षि नारद) तथा असितः देवलः व्यासः (तथा असित, देवल और व्यास) त्वम् (आपको) शाश्वतम् पुरुषम् (नित्य पुरुषाकार) दिव्यम् (स्वयं-प्रकाश) आदिदेवम् (आदिदेव) अजम् (अजन्मा) विभुम् (और व्यापक) आहुः (कहते हैं) च (तथा) स्वयम् एव (आप स्वयं ही) मे (मुझे) ब्रवीषि (कहते हैं)।।१२-१३।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—आप परम ब्रह्म, परम धाम तथा परम पवित्र अर्थात् अविद्यादि मलको नाश करनेवाले हैं—मैं यह जानता हूँ। समस्त ऋषिगण; यथा—देवर्षि नारद, असित, देवल, व्यासादि भी आपको नित्य-पुरुष, दिव्य, आदिदेव, अजन्मा और व्यापक कहते हैं तथा आप स्वयं ही मुझे ऐसा कह रहे हैं।।१२-१३।।

श्रीविश्वनाथ—सङ्क्षेपेणोक्तमर्थं विस्तरेण श्रोतुमिच्छन् स्तुतिपूर्वकमाह—परमिति। परं सर्वोत्कृष्टं धाम श्यामसुन्दरं वपुरेव परंब्रह्म,—"गृहदेहत्विट्प्रभावा धामानि" इत्यमरः। तद्धामैव भवान् भवति। जीवस्येव तव देह-देहि-विभागो नास्तीति भावः। धाम कीदृशम्? परं पवित्रं द्रष्टृणामविद्यामालिन्यहरम्, अतएव ऋषयोऽपि त्वां शाश्वतं पुरुषमाहुः पुरुषाकारस्यास्य नित्यत्वं वदन्ति।।१२-१३।।

भावानुवाद—संक्षेपमें कथित उक्त अर्थको विस्तृतरूपसे सुननेको इच्छुक होकर अर्जुन स्तुति करते हुए 'परं' इत्यादि कह रहे हैं। 'परं' अर्थात् सर्वोत्कृष्ट 'धाम' अर्थात् श्यामसुन्दर वदनवाले आप परब्रह्म हैं। अमरकोषमें कहा गया है—"गृह, देह, त्विट्, प्रभाव तथा धाम—ये एक ही तात्पर्यवाले हैं।" वही धाम आप हैं। जीवके समान आपमें देह और देहीका भेद नहीं है। धामका स्वरूप कैसा है? इसके उत्तरमें कहते हैं—'परं पवित्रम्' अर्थात् यह देहका स्वरूप देखनेवालेकी अविद्यारूपी मलिनताको नाश करनेवाला है। अतः ऋषिगण भी आपको 'शाश्वतं पुरुषमाहुः' अर्थात् शाश्वत पुरुष कहते हैं अर्थात् इस पुरुषाकारके नित्यत्वका कीर्त्तन करते हैं।।१२-१३।।

सर्वमेतदृतं मन्ये यन्मां वदसि केशव।
न हि ते भगवन् व्यक्तिं विदुर्देवा न दानवाः।।१४।।

अन्वय—केशव (हे केशव!) माम् (मुझे) यत् (जो कुछ) वदसि (कहते हैं) एतत् सर्वम् (इन सबको) ऋतम् (सत्य) मन्ये (मानता हूँ) हि (क्योंकि) भगवन् (हे भगवन्!) ते व्यक्तिम् (आपके तत्त्व या जन्मको) दानवाः न विदुः (दानवगण नहीं जानते हैं) देवाः न (एवं देवतागण भी नहीं)।।१४।।

अनुवाद—हे केशव! आप मुझे जो कुछ कहते हैं, मैं इन सबको सत्य मानता हूँ, क्योंकि हे भगवन्! आपके तत्त्व अथवा जन्मको न तो देवतागण जानते हैं, न ही दानवगण।।१४।।

श्रीविश्वनाथ—नात्र मम कोऽप्यविश्वास इत्याह—सर्वमिति। किञ्च, ते ऋषयः परं ब्रह्मधामानं त्वाम् अजं आहुरेव, न तु ते व्यक्तिं जन्म विदुः—परब्रह्मरूपस्य तव अजत्वं जन्मवत्त्वञ्च किं प्रकारमिति तु न विदुरित्यर्थः। अतएव *"न मे विदुः सुरगणाः प्रभवं न महर्षयः"* इति यस्त्वयोक्तं तत सर्वं ऋतं सत्यमेव मन्ये। हे केशव,—को ब्रह्मा ईशो रुद्रश्च तावपि वयसे स्वतत्त्वाज्ञानेन वध्नासि किं पुनर्देवदानवाद्याः त्वां न विदन्तीति वाच्यम् इति भावः।।१४।।

भावानुवाद—अर्जुन कहते हैं—इस विषयमें मुझे तनिक भी अविश्वास नहीं है। अन्य ऋषिगण पर ब्रह्मरूप आपको अजन्मा जानते हैं, किन्तु वे आपके 'व्यक्तिम्' अर्थात् जन्मको नहीं जानते हैं। परब्रह्मस्वरूप आपका अजत्व और जन्मवत्त्व दोनों ही किस प्रकार सम्भव हैं—ये वे नहीं जानते हैं। अतएव आपने जो कुछ कहा है—"देवगण और महर्षिगण मेरे

आविर्भावके विषयमें नहीं जानते हैं।" (गीता १०/१२) इत्यादि, इन सबको मैं सत्य ही स्वीकार करता हूँ। हे केशव! 'क' अर्थात् ब्रह्मा, 'ईश' अर्थात् रुद्र—इन दोनोंको ही जब आपने अपने वयसमें अपने तत्त्वके विषयमें अज्ञान द्वारा आबद्ध रखा है, तब देव और दानवादि, जो आपको जान नहीं सकते हैं, उनके विषयमें क्या कहा जाय?।।१४।।

स्वयमेवात्मनात्मानं वेत्थ त्वं पुरुषोत्तम।
भूतभावन भूतेश देवदेव जगत्पते।।१५।।

अन्वय—पुरुषोत्तम (हे पुरुषोत्तम!) भूतभावन (सभी भूतोंके पिता) भूतेश (हे भूतेश!) देवदेव (हे देवोंके देव!) जगत्पते (हे जगत्‌के नाथ!) त्वम् (आप) स्वयम् एव (स्वयं ही) आत्मना (अपने द्वारा) आत्मानम् (अपनेको) वेत्थ (जानते हैं)।।१५।।

अनुवाद—हे पुरुषोतम! हे भूतभावन! हे भूतेश! हे देव-देव! हे जगत्पते! आप स्वयं ही अपनी शक्ति द्वारा स्वयंको जानते हैं।।१५।।

श्रीविश्वनाथ—तस्मात्त्वं स्वयमेवात्मानं वेत्थ इति एव-कारेण तवाजत्व-जन्मवत्त्वादीनां दुर्घटानामपि वास्तवत्वमेव त्वद्भक्तो वेत्ति, तच्च केन प्रकारेणेति तु सोऽपि न वेत्तीत्यर्थः। तदप्यात्मना स्वेनैव वेत्थ न साधनान्तरेण। अतएव त्वं पुरुषेषु महत्स्रष्टादिष्वपि मध्ये उत्तमः, न केवलमुत्तम एव, यतो भूतभावनः, भूता भूतभावनरूपा ये तदादयः परमेष्ठ्यन्तास्तेषामीशः न केवलमीश एव, यतो देवैस्तैरेव देवः क्रीडा यस्येति त्वत्क्रीडोपकरणभूता एव ते इत्यर्थः। तदप्यपारकारुण्यवशाद्जगद्-वर्त्तिनामस्मादृशानामपि त्वमेव पतिर्भवसीति चतुर्णां सम्बोधनपदानामर्थः; यद्वा पुरुषोत्तमत्वमेव विवृणोति—हे भूतभावन सर्वभूतपितः, पितापि कश्चिन्नेष्टे, तत्राह—हे भूतेश, भूतेशोऽपि कश्चिन्नाराध्यस्तत्राह—हे देव-देव देवाराध्योऽपि कश्चिन्न पालयतीति, तत्राह—हे जगत्पते।।१५।।

भावानुवाद—अतः आप स्वयं ही स्वयंको जानते हैं। 'एव'-कार द्वारा यह प्रतिपादित होता है कि आपके भक्त आपके दुर्घट अजत्व और जन्मवत्त्व आदिकी वास्तविकताको तो जानते हैं, किन्तु यह किस प्रकार सिद्ध होता है, इसे वे भी नहीं जानते हैं। वह (तो) भी आप स्वयं ही जानते हैं, अन्य साधनों द्वारा नहीं। अतएव 'त्वं पुरुषोत्तम'—आप पुरुषोंमें उत्तम हैं अर्थात् महत् स्रष्टादि (महत्-तत्त्वकी सृष्टि करनेवाले महाविष्णु)

से भी श्रेष्ठ हैं। आप केवल उत्तम ही नहीं हैं, क्योंकि भूतभावन आप परमेष्ठी ब्रह्मापर्यन्त सभीके ईश हैं। आप केवल ईश ही नहीं हैं, क्योंकि आप देवदेव हैं अर्थात् ब्रह्मा, शिव, आदि देवताओंके साथ क्रीड़ा करनेवाले हैं अर्थात् ब्रह्मा आदि आपकी क्रीड़ाके उपकरण हैं। और भी, आप जगत्पति हैं अर्थात् आप अपार करुणावश जगत्में रहनेवाले मेरे जैसे समस्त जीवोंके भी पति हैं। श्लोकमें वर्णित चारों सम्बोधन पुरुषोत्तम शब्दकी ही व्याख्यामात्र हैं; यथा—हे भूतभावन आप सभी भूतोंके पिता हैं। पिता होनेपर भी कोई कोई प्रभुत्व नहीं करते, किन्तु हे भूतेश! आप सभी भूतोंके ईश हैं। भूतेश होकर कोई कोई आराध्य नहीं होते, किन्तु हे देवदेव! आप देवताओंके भी आराध्य हैं। इतने पर भी हो सकता है, कोई पालन न करे, किन्तु हे जगत्पते! आप जगत्के पालक हैं।।१५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुन भगवान् श्रीकृष्णकी विभूतियोंको विस्तृतरूपमें श्रवण करनेके लिए भगवान्‌की उक्तियोंका समर्थन करते हुए कह रहे हैं कि अपने अचिन्त्य तत्त्वकी महिमा केवल आप ही जानते हैं। देव, दानव और मनुष्य कोई भी अपनी स्वतन्त्रचेष्टासे आपकी महिमाका कण भी नहीं जान सकते। केवल अनन्य भक्त ही आपकी कृपासे कुछ जान सकते हैं। इसलिए मेरे उपर कृपा करें।

"हे भूतभावन, हे भूतेश, हे देवदेव, हे जगत्पते, हे पुरुषोत्तम, आप स्वयं ही चित्-शक्ति द्वारा अपने व्यक्तितत्व (जन्मतत्त्व) से अवगत हैं। जगत्‌की सृष्टिके पूर्व जो सनातन मूर्त्ति रहती है, वही सच्चिदानन्द मूर्त्ति किस प्रकार जड़विधिसे स्वतन्त्ररूपमें जड़जगत्में व्यक्त होती है—इसे देवता अथवा मनुष्य कोई भी अपनी अपनी युक्ति द्वारा नहीं समझ सकते हैं। आप जिनपर कृपा करते हैं, केवल वे ही इसे समझ सकते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१५।।

वक्तुमर्हस्यशेषेण दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
याभिर्विभूतिभिर्लोकानिमांस्त्वं व्याप्य तिष्ठसि।।१६।।

अन्वय—याभिः विभूतिभिः (जिन समस्त विभूतियोंके द्वारा) त्वम् (आप) इमान् लोकान् (इस सम्पूर्ण जगत्‌को) व्याप्य (व्याप्तकर) तिष्ठसि (अवस्थित हैं) दिव्याः आत्मविभूतयः (अपनी उन समस्त दिव्य विभूतियोंको) त्वम् हि (आप ही) अशेषेण (सम्पूर्णरूपसे) वक्तुम् अर्हसि (कहनेमें समर्थ हैं)।।१६।।

अनुवाद—जिन समस्त विभूतियोंके द्वारा आप इस सम्पूर्ण जगत्में व्याप्त होकर अवस्थित हैं, केवल आप ही अपनी उन समस्त दिव्य विभूतियोंको सम्पूर्णरूपसे कहनेमें समर्थ हैं।।१६।।

श्रीविश्वनाथ—तव तत्त्वं दुर्गमस्तव विभूतिष्वेव मम जिज्ञासा जायत इति द्योतयन्नाह—वक्तुमिति। दिव्या उत्कृष्टाया आत्मविभूतयस्तावद्वक्तुमर्हसीत्यन्वयः। नन्वशेषेण मद्विभूतयः सर्वा वक्तुमशक्या एव, तत्राह—याभिरिति।।१६।।

भावानुवाद—आपका तत्त्व दुर्गम है, आपकी विभूतिके विषयमें मुझे जिज्ञासा हो रही है। यदि आप कहें कि सम्पूर्णरूपमें मेरी विभूतियोंको नहीं कहा जा सकता है, तो आपके जो उत्कृष्ट आत्मविभूतिसमूह हैं, उन्हें ही बतावें।।१६।।

कथं विद्यामहं योगिंस्त्वां सदा परिचिन्तयन्।
केषु केषु च भावेषु चिन्त्योऽसि भगवन्मया।।१७।।

अन्वय—योगिन् (हे योगमाया शक्तिविशिष्ट!) कथम् (किस प्रकार) सदा (निरन्तर) परिचिन्तयन् (ध्यान करते-करते) अहम् (मैं) त्वाम् (आपको) विद्याम् (जानूँगा) भगवन् (हे भगवन्!) केषु केषु (और किन किन) भावेषु (पदार्थोंमें) [आप] मया (मेरे द्वारा) चिन्त्यः असि (चिन्तनीय हैं)।।१७।।

अनुवाद—हे योगमाया-शक्तिविशिष्ट! हे भगवान्! किस प्रकार निरन्तर चिन्ता करते-करते मैं आपको जानूँगा और किन किन पदार्थोंमें किन किन भावोंसे आप मेरे द्वारा चिन्तनीय हैं।।१७।।

श्रीविश्वनाथ—योगो योगमायाशक्तिर्वर्त्तते यस्य, हे योगिन् वनमालीतिवत्। त्वामहं कथं परिचिन्तयन् सन् त्वां सदा विद्यां जानीयाम्? *"भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः"* इति त्वदुक्तेः। तथा केषु भावेषु पदार्थेषु त्वं चिन्त्यः त्वच्चिन्तनभक्तिर्मया कर्त्तव्या इत्यर्थः।।१७।।

भावानुवाद—'वनमाली' शब्दकी भाँति ही 'योगिन्' शब्दका तात्पर्य है—जिनमें योगमाया शक्ति विद्यमान है। अर्जुन कहते हैं—हे योगिन्! किस उपायसे आपकी सम्यक् चिन्ता करते-करते सर्वदा आपको जान पाऊँगा? गीता (१८/५५) में आपने कहा है—"भक्ति द्वारा ही मेरे विभुत्व और मेरे स्वरूपसे यथार्थरूपमें अवगत होते हैं।" आपकी इस उक्तिके अनुसार ही मैं यह जिज्ञासा कर रहा हूँ, तथा किन किन 'भावों' अर्थात् पदार्थोंमें आपकी चिन्तन-भक्ति करना मेरा कर्त्तव्य है।।१७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुन पूर्व श्लोकमें श्रीभगवान्‌से उनकी विभूतियोंको वर्णन करनेकी प्रार्थनाकर इस श्लोकमें यह विशेषरूपसे प्रार्थना कर रहे हैं कि किन किन विषयोंमें विभूतियाँ किन रूपोंमें अवस्थित हैं। भगवान् श्रीकृष्णमें अघटन-घटन-पटीयसी योगमाया सदा विराजमान रहती है। इसलिए उनको अर्जुनने 'योगिन्' पदसे सम्बोधित किया है अर्थात् योगमायाका आश्रय होनेके कारण केवल आप ही अपनी विभूतियोंका वर्णन करनेमें समर्थ हैं—यहाँ इस विषयका निर्देश कर रहे हैं।।१७।।

विस्तरेणात्मनो योगं विभूतिञ्च जनार्दन।
भूयः कथय तृप्तिर्हि शृण्वतो नास्ति मेऽमृतम्।।१८।।

अन्वय—जनार्दन (हे जनार्दन!) आत्मनः (अपने) योगम् (योगैश्वर्य) विभूतिम् च (एवं विभूतियोंको) भूयः (पुनः) विस्तरेण (विस्तृतरूपमें) कथय (कहें) हि (क्योंकि) अमृतम् (आपकी कथामृत) शृण्वतः (सुनते-सुनते) मे (मेरी) तृप्तिः नास्ति (तृप्ति नहीं होती)।।१८।।

अनुवाद—हे जनार्दन! आप अपने योगैश्वर्य और विभूतियोंको पुनः विस्तृतरूपसे कहें, क्योंकि आपकी कथामृतको श्रवण करते हुए मेरी तृप्ति नहीं होती।।१८।।

श्रीविश्वनाथ—ननु *"अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते"* इत्यनेनैव सर्वे पदार्था मद्विभूतयः मदुक्ता एव विभूतयः तथा *"इति मत्वा भजन्ते माम्"* इति भक्तियोगश्चोक्त एव? तत्राह—विस्तरेणेति। हे जनार्द्दनेति—मादृशजनानां त्वमेव हितोपदेशमाधुर्येण लोभमुत्पाद्य अर्द्दयसे याचयसीति वयं किं कुर्म इति भावः। तदुपदेशरूपममृतं शृण्वतः श्रुतिरसनया आस्वादयतः।।१८।।

भावानुवाद—'*अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्त्तते*' (गीता १०/८) अर्थात् मैं समग्र विश्वका कारण हूँ तथा मुझसे ही सभी कोई कार्यमें प्रवृत्त होते हैं एवं '*इति मत्वा भजन्तो माम्*' अर्थात् ऐसा जानकर पण्डितगण मेरा भजन करते हैं। इसके द्वारा आप कह रहे हैं कि सभी पदार्थ मेरी विभूतियाँ हैं और पण्डितगण भक्तियोगसे मुझे भजते हैं। हे जनार्दन! मेरे जैसे व्यक्तिको हितोपदेशरूप माधुर्य द्वारा लोभ उत्पन्न कराकर 'विस्तरेण' अर्थात् विस्तृतरूपसे कहनेकी प्रार्थना करवाते हैं, इसमें मैं क्या करूँ? आपके उपदेशरूप अमृतको अपने कर्णरूपी रसनाके द्वारा आस्वादनकर मैं तृप्त नहीं हो रहा हूँ, अतः आप पुनः विस्तारपूर्वक इसे बतावें।।१८।।

श्रीभगवानुवाच—

हन्त ते कथयिष्यामि दिव्या ह्यात्मविभूतयः।
प्राधान्यतः कुरुश्रेष्ठ नास्त्यन्तो विस्तरस्य मे।।१९।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) हन्त कुरुश्रेष्ठ (हे कुरुश्रेष्ठ!) अहम् (मैं) प्राधान्यतः (प्रधान-प्रधान) दिव्याः (अलौकिक) आत्मविभूतयः (अपनी विभूतियोंको) ते (तुमसे) कथयिष्यामि (कहूँगा) हि (क्योंकि) मे (मेरी) विस्तरस्य (विभूतियोंके विस्तारका) अन्तः नास्ति (अन्त नहीं है)।।१९।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे कुरुश्रेष्ठ! मैं तुम्हें अपनी प्रधान-प्रधान अलौकिक विभूतियोंको कहूँगा, क्योंकि मेरी विभूतियोंके विस्तारका अन्त नहीं है।।१९।।

श्रीविश्वनाथ—हन्तेत्यनुकम्पायां प्राधान्यतः प्राधान्येन यतस्तासां विस्तरस्यान्तो नास्ति विभूतयो विभूतीर्दिव्या उत्तमा एव न तु तृणेष्टकाद्याः। अत्र विभूतिशब्देन प्राकृताप्राकृतवस्तून्येवोच्यते तानि सर्वाण्येव भगवच्छक्ति-समुद्भूतत्त्वाद्भगवद्रूपेणैव तारतम्येन ध्येयत्वेनाभिमतानि ज्ञेयानि।।१९।।

भावानुवाद—'हन्त' पद यहां अनुकम्पा सूचक है। श्रीभगवान् कहते हैं—मैं प्रधानरूपसे अपने विभूतियोंको कहूँगा, क्योंकि इनके विस्तारका अन्त नहीं है। 'विभूतयः'—विभूतिसमूह, 'विभूतयः' का प्रयोग द्वितीयाकी जगह प्रथमामें हुआ है। 'दिव्याः' अर्थात् मैं अपने उत्तम विभूतियोंको ही कहूँगा, न कि तृण आदि तुच्छ विभूतियोंको। यहाँ विभूति शब्दसे प्राकृत और अप्राकृत समस्त वस्तुओंका बोध हो रहा है। वे सभी भगवान्की शक्तिसे सम्भूत हैं, अतएव भगवत्-रूपके साथ तारतम्य भावसे ध्येय जानना चाहिए।।१९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—विभूतियोगको वर्णन करनेकी अर्जुनकी प्रार्थना सुनकर सर्वप्रथम 'हन्त' पदके द्वारा अर्जुनके प्रति महान अनुकम्पा प्रकाशकर यह सूचित कर रहे हैं कि मेरी अनन्त विभूतियोंका वर्णन करना असम्भव है, इसलिए मैं तुम्हारे लिए अपनी प्रधान-प्रधान विभूतियोंका ही वर्णन करूँगा। विभूतियाँ साक्षात् भगवान्की शक्तिसे उद्भूत होनेके कारण भगवत्-रूपमें ही समझी जानी चाहिए, तथापि भगवान् उन विभूतियोंसे पृथक् उनके आधारस्वरूप द्विभुज श्यामसुन्दर रूपमें सदा अवस्थित हैं। विभूतियोंका वर्णनकर उपसंहार करते हुए कृष्णने स्वयं ही यह कहा है—मैं केवल एक अंशके द्वारा इस समस्त चराचर जगत्में व्याप्त हूँ, पूर्ण रूपसे

नहीं। इस जगत्‌में जो कुछ विभूतियुक्त वस्तुएँ या गुण हैं, वे सभी भगवान्‌के तेजसे ही उद्भूत हुए हैं—ऐसा समझना चाहिए।

अतः कृष्णकी उक्तियोंसे यह स्पष्टरूपसे दिखाई देता है कि भगवान्‌का स्वरूप इन विभूतियोंके अतिरिक्त स्वतन्त्ररूपमें भी विराजमान है और वह स्वरूप व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णरूप ही है।।१९।।

अहमात्मा गुडाकेश सर्वभूताशयस्थितः।
अहमादिश्च मध्यञ्च भूतानामन्त एव च।।२०।।

अन्वय—गुडाकेश (हे गुडाकेश!) अहम् (मैं) सर्वभूताशयस्थितः (सभी जीवोंके हृदयमें स्थित) आत्मा (अन्तर्यामी हूँ) अहम् एव (मैं ही) भूतानाम् (सभी जीवोंकी) आदिः च (उत्पत्तिका कारण) मध्यम् च (स्थितिका कारण) अन्तः च (और संहारका कारण हूँ)।।२०।।

अनुवाद—हे गुडाकेश! मैं सभी जीवोंके हृदयमें स्थित अन्तर्यामी हूँ तथा मैं ही सभी जीवोंकी उत्पत्ति, स्थिति और प्रलयका कारण हूँ।।२०।।

श्रीविश्वनाथ—अत्र प्रथमं मामवैकांशेन सर्वविभूतिकारणं त्वं भावयेत्याह—अहमिति। आत्मा प्रकृत्यन्तर्यामी महत्स्रष्टा पुरुषः परमात्मा। हे गुडाकेश, जितनिद्र, इति ध्यानसामर्थ्यं सूचयति। सर्वभूतो यो वैराजस्तस्याशये स्थित इति समष्टिविराडन्तर्यामी। तथा सर्वेषां भूतानामादिर्जन्म मध्यं स्थितिः अन्तः संहारः, तत्तद्धेतुरहमित्यर्थः।।२०।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् कहते हैं—हे अर्जुन! तुम मुझे ही एकांशसे समस्त विभूतियोंका कारण समझो। मैं 'आत्मा' अर्थात् प्रकृतिका अन्तर्यामी महत्स्रष्टा पुरुष परमात्मा हूँ। 'गुडाकेश' शब्दका तात्पर्य है—निद्राविजयी, इससे श्रीभगवान् अर्जुनके ध्यान करनेकी समर्थताको सूचित कर रहे हैं। मैं 'सर्वभूताशयस्थितः'—सर्वभूत जो वैराज है, उसके आशयमें स्थित समष्टि-विराट-अन्तर्यामी हूँ एवं सभी जीवोंके आशयमें स्थित होनेके कारण व्यष्टि-विराट-अन्तर्यामी हूँ। मैं ही भूतोंके 'आदि' अर्थात् जन्म, 'मध्य' अर्थात् स्थिति एवं 'अन्त' अर्थात् संहारका कारण हूँ।।२०।।

आदित्यानामहं विष्णुर्ज्योतिषां रविरंशुमान्।
मरीचिर्मरुतामस्मि नक्षत्राणामहं शशी।।२१।।

अन्वय—अहम् (मैं) आदित्यानाम् (द्वादश आदित्योंमें) विष्णुः (विष्णु) ज्योतिषाम् (प्रकाश देनेवालोंमें) अंशुमान् (महाकिरणशाली) रविः (सूर्य

हूँ) मरुताम् (वायुगणमें) मरीचिः अस्मि (मरीचि हूँ) नक्षत्राणाम् (नक्षत्रोंमें) अहम् (मैं) शशी (चन्द्रमा) अस्मि (हूँ)।।२१।।

अनुवाद—मैं द्वादश आदित्योंमें विष्णु नामक आदित्य, प्रकाश देनेवालोंमें महाकिरणशाली सूर्य, समग्र वायुगणमें मरीचि नामक वायु तथा नक्षत्रोंमें चन्द्र हूँ।।२१।।

श्रीविश्वनाथ—अथ निर्द्धारण-षष्ठ्या क्वचित् सम्बन्ध-षष्ठ्या च विभूतीराह यावदध्यायसमाप्तिः। आदित्यानां द्वादशानां मध्ये विष्णुरहमिति—तन्नामा सूर्यो मद्विभूतिरित्यर्थः; एवं सर्वत्र प्रकाशकानां ज्योतिषां मध्ये अंशुमान् महाकिरणमाली रविरहम्, मरीचिः पवनविशेषः।।२१।।

भावानुवाद—अब कहीं निर्धारण-षष्ठीसे और कहीं सम्बन्ध-षष्ठीसे अध्यायके अन्ततक विभूतियोंका वर्णन कर रहे हैं। द्वादश आदित्योंमें से मैं विष्णु ही विष्णु नामक सूर्य हूँ, जो कि मेरी विभूति है। एवं, सर्वत्र प्रकाश देनेवाले ज्योतियोंमें 'अंशुमान्' अर्थात् महाकिरणमाली रवि मैं ही हूँ। मैं ही 'मरीचि' अर्थात् एक पवन-विशेष हूँ।।२१।।

वेदानां सामवेदोऽस्मि देवानामस्मि वासवः।
इन्द्रियाणां मनश्चास्मि भूतानामस्मि चेतना।।२२।।

अन्वय—अहम् (मैं) वेदानाम् (वेदोंमें) सामवेदः अस्मि (सामवेद हूँ) देवानाम् (देवताओंमें) वासवः अस्मि (इन्द्र हूँ) इन्द्रियाणाम् (इन्द्रियोंमें) मनः अस्मि (मन हूँ) भूतानाम् च (और जीवोंमें) चेतना अस्मि (चेतना हूँ)।।२२।।

अनुवाद—मैं वेदोंमें सामवेद, देवताओंमें इन्द्र, इन्द्रियोंमें मन और जीवोंमें चेतना हूँ।।२२।।

श्रीविश्वनाथ—वासव इन्द्रः; भूतानां सम्बन्धिनी चेतना ज्ञानशक्तिः।।२२।।

भावानुवाद—'वासवः' का तात्पर्य है—इन्द्र; 'भूतानां' का तात्पर्य है—जीव-सम्बन्धिनी तथा 'चेतना' का तात्पर्य है—ज्ञानशक्ति।।२२।।

रुद्राणां शङ्करश्चास्मि वित्तेशो यक्षरक्षसाम्।
वसूनां पावकश्चास्मि मेरुः शिखरिणामहम्।।२३।।

अन्वय—अहम् (मैं) रुद्राणाम् (रुद्रोंमें) शङ्करः अस्मि (शङ्कर हूँ) यक्षरक्षसाम् च (यक्ष और राक्षसोंमें) वित्तेशः (कुबेर हूँ) वसूनाम् (आठ वसुओंमे) पावकः अस्मि (अग्नि हूँ) शिखरिणाम् च (एवं पर्वतोंमें) मेरुः (सुमेरु हूँ)।।२३।।

अनुवाद—मैं रुद्रोंमें शङ्कर, यक्ष और राक्षसोंमें कुबेर, अष्ट वसुओंमें अग्नि तथा पर्वतोंमें सुमेरु हूँ।।२३।।

श्रीविश्वनाथ—वित्तेशः कुबेरः।।२३।।

भावानुवाद—'वित्तेशः' का तात्पर्य है—कुबेर।।२३।।

पुरोधसाञ्च मुख्यं मां विद्धि पार्थ बृहस्पतिम्।
सेनानीनामहं स्कन्दः सरसामस्मि सागरः।।२४।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) माम् (मुझे) पुरोधसाम् (पुरोहितोंमें) मुख्यम् (प्रधान) बृहस्पतिम् विद्धि (बृहस्पति जानो) अहम् (मैं) सेनानीनाम् (सेनापतियोंमें) स्कन्दः (कार्त्तिकेय) सरसाम् (जलाशयोंमें) सागरः अस्मि (समुद्र हूँ)।।२४।।

अनुवाद—हे पार्थ! मुझे पुरोहितोंमें प्रधान बृहस्पति जानो। मैं सेनापतियोंमें कार्त्तिकेय तथा जलाशयोंमें समुद्र हूँ।।२४।।

श्रीविश्वनाथ—सेनानीनामित्यार्षम्; स्कन्दः कार्त्तिकेयः।।२४।।

भावानुवाद—'सेनान्यां' की जगह 'सेनानीनाम्' का प्रयोग आर्ष प्रयोग है। 'स्कन्दः' का तात्पर्य है—कार्त्तिकेय।।२४।।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम्।
यज्ञानां जपयज्ञोऽस्मि स्थावराणां हिमालयः।।२५।।

अन्वय—अहम् (मैं) महर्षीणाम् (महर्षियोंमें) भृगुः (भृगु हूँ) गिराम् (वाक्योंमें) एकम् अक्षरम् अस्मि (एकाक्षर ॐ-कार हूँ) यज्ञानाम् (यज्ञोंमें) जपयज्ञः अस्मि (जपयज्ञ हूँ) स्थावराणाम् (स्थावरोंमें) हिमालयः (हिमालय हूँ)।।२५।।

अनुवाद—मैं महर्षियोंमें भृगु, वाक्योंमें एकाक्षर ॐकार, यज्ञोंमें जपयज्ञ और स्थावरोंमें हिमालय हूँ।।२५।।

श्रीविश्वनाथ—एकमक्षरं प्रणवः।।२५।।

भावानुवाद—'एकमक्षरं' का तात्पर्य है—प्रणव।।२५।।

अश्वत्थः सर्ववृक्षाणां देवर्षीणाञ्च नारदः।
गन्धर्वाणां चित्ररथः सिद्धानां कपिलो मुनिः।।२६।।

अन्वय—अहम् (मैं) सर्ववृक्षाणाम् (सभी वृक्षोंमें) अश्वत्थः (पीपल हूँ) देवर्षीणाम् च (देवर्षियोंमें) नारदः (नारद हूँ) गन्धर्वाणाम् (गन्धर्वोंमें) चित्ररथः (चित्ररथ हूँ) सिद्धानाम् (सिद्धोंमें) कपिलः मुनिः (कपिल मुनि हूँ)।।२६।।

अनुवाद—मैं वृक्षोंमें पीपल, देवर्षियोंमें नारद, गन्धर्वोंमें चित्ररथ तथा सिद्धोंमें कपिल मुनि हूँ।।२६।।

उच्चैःश्रवसमश्वानां विद्धि माममृतोद्भवम्।
ऐरावतं गजेन्द्राणां नराणाञ्च नराधिपम्।।२७।।

अन्वय—माम् (मुझे) अश्वानाम् (घोड़ोंमें) अमृतोद्भवम् (अमृत-मन्थनसे उत्पन्न) उच्चैःश्रवसम् (उच्चैःश्रवा) गजेन्द्राणाम् (हाथियोंमें) ऐरावतम् (ऐरावत) नराणाम् च (मनुष्योंमें) नराधिपतिम् (नरपति) विद्धि (जानो)।।२७।।

अनुवाद—मुझे घोड़ोंमें अमृत-मन्थनसे उत्पन्न उच्चैःश्रवा, हाथियोंमें ऐरावत और मनुष्योंमें नरपति जानो।।२७।।

श्रीविश्वनाथ—अमृतोद्भवममृतमथनोद्भूतम्।।२७।।

भावानुवाद—'अमृतोद्भवम्' का तात्पर्य है—अमृतके मन्थनसे उत्पन्न।।२७।।

आयुधानामहं वज्रं धेनूनामस्मि कामधुक्।
प्रजनश्चास्मि कन्दर्पः सर्पाणामस्मि वासुकिः।।२८।।

अन्वय—आयुधानाम् (अस्त्रोंमें) अहम् (मैं) वज्रम् (वज्र हूँ) धेनुनाम् (गौओंमें) कामधुक् अस्मि (कामधेनु हूँ) प्रजनः (सन्तानोंमें उत्पत्तिका कारण) कन्दर्पः च अस्मि (काम भी हूँ) सर्पाणाम् (सर्पोंमें) वासुकिः अस्मि (वासुकि हूँ)।।२८।।

अनुवाद—अस्त्रोंमें वज्र, गौओंमें कामधेनु, सर्पोंमें वासुकी तथा सन्तानोत्पत्तिका कारण काम भी मैं ही हूँ।।२८।।

श्रीविश्वनाथ—कामधुक् कामधेनुः; कन्दर्पाणां मध्ये प्रजनः प्रजोत्पत्तिहेतुः कन्दर्पोऽहम्।।२८।।

भावानुवाद—'कामधुक्' का तात्पर्य है—कामधेनु; कन्दर्पोंमें प्रजाकी उत्पत्तिका कारण—कन्दर्प मैं ही हूँ।।२८।।

अनन्तश्चास्मि नागानां वरुणो यादसामहम्।
पितॄणामर्यमा चास्मि यमः संयमतामहम्।।२९।।

अन्वय—अहम् (मैं) नागानाम् (नागोंमें) अनन्तः च अस्मि (अनन्त भी हूँ) यादसाम् (जलचरोंमें) वरुणः (वरुण हूँ) पितॄणाम् (पितरोंमें) अर्यमा अस्मि (अर्यमा नामक पितर हूँ) च (और) संयमताम् (दण्ड देनेवालोंमें) यमः (यमराज हूँ)।।२९।।

अनुवाद—नागोंमें अनन्त, जलचरोंमें वरुण, पितरोंमें अर्यमा नामक पितर और दण्ड देनेवालोंमें यमराज भी मैं ही हूँ।।२९।।

श्रीविश्वनाथ—यादसां जलचराणाम् संयमतां दण्डयताम्।।२९।।

भावानुवाद—'यादसाम्' का तात्पर्य है—जलचर, 'संयमताम्' का तात्पर्य है—दण्ड देनेवाला।।२९।।

प्रह्लादश्चास्मि दैत्यानां कालः कलयतामहम्।
मृगाणाञ्च मृगेन्द्रोऽहं वैनतेयश्च पक्षिणाम्।।३०।।

अन्वय—दैत्यानाम् (दैत्योंमें) प्रह्लादः अस्मि (प्रह्लाद हूँ) कलयताम् (वशीकारियोंमें) अहम् (मैं) कालः (काल हूँ) मृगाणाम् (पशुओंमें) अहम् (मैं) मृगेन्द्रः (सिंह हूँ) पक्षिणाम् (पक्षियोंमें) वैनतेयः (गरुड हूँ)।।३०।।

अनुवाद—मैं दैत्योंमें प्रह्लाद, वशीकारियोंमें काल, पशुओंमें सिंह और पक्षियोंमें गरुड हूँ।।३०।।

श्रीविश्वनाथ—कलयतां वशीकुर्वताम्, मृगेन्द्रः सिंहः, वैनतेयः गरुडः।।३०।।

भावानुवाद—'कलयतां' का तात्पर्य है—वशीकारियोंमें, 'मृगेन्द्र' का तात्पर्य है—सिंह तथा 'वैनतेय' का तात्पर्य है-गरुड।।३०।।

पवनः पवतामस्मि रामः शस्त्रभृतामहम्।
झषाणां मकरश्चास्मि स्रोतसामस्मि जाह्नवी।।३१।।

अन्वय—अहम् (मैं) पवताम् (वेगवान् अथवा पवित्र करनेवालोंमें) पवनः अस्मि (पवन हूँ) शस्त्रभृताम् (शस्त्र धारण करनेवालोंमें) रामः (परशुराम हूँ) झषाणाम् (मछलियोंमें) मकरः अस्मि (मगर हूँ) स्रोतसाम् च (और नदियोंमें) जाह्नवी अस्मि (गङ्गा हूँ) ।।३१।।

अनुवाद—मैं ही वेगवान् और पवित्रकारी वस्तुओंमें पवन, शस्त्रधारी पुरुषोंमें शक्त्यावेश-लब्ध जीवविशेष परशुराम, जलचरोंमें मगर एवं नदियोंमें गङ्गा हूँ।।३१।।

श्रीविश्वनाथ—पवतां वेगवतां पवित्रीकुर्वतां वा मध्ये, रामः परशुरामः तस्यावेशावतारत्वादावेशानाञ्च जीवविशेषत्वाद् युक्तमेव विभूतित्वम्, तथा च भागवतामृतधृत-पाद्मवाक्यं—"*एतत्ते कथितं देवि जामदग्नेर्महात्मनः। शक्त्यावेशावतारस्य चरितं शार्ङ्गिणः प्रभोः।।*" "*आविष्टो भार्गवे चाभूत्*" इति च। आवेशावतारलक्षणञ्च तत्रैव भागवतामृते यथा—"*ज्ञानशक्त्यादिकलया यत्राविष्टो जनार्द्दनः। त आवेशा निगद्यन्ते जीवा एव महत्तमाः।।*" इति; झषाणां मत्स्यानां मकरो मत्स्यजातिविशेषः स्रोतसां स्रोतस्वतीनाम्।।३१।।

भावानुवाद—मैं 'पवतां' अर्थात् वेगशाली वा पवित्रकारी वस्तुओंमें पवन हूँ। 'रामः' का तात्पर्य 'परशुराम' से है। आवेशावतार होनेके कारण ये आवेशसमूह जीव-विशेष होकर भगवान्की विभूतिसे युक्त होकर विभूतिमें परिगणित होते हैं। इस विषयमें भागवतामृत ग्रन्थमें पद्मपुराणके वाक्यको उद्धृत किया गया है—"हे देवि! धनुर्धारी शक्त्यावेशावतार जामदग्न्य (जमदग्निके पुत्र परशुराम) प्रभुके सम्पूर्ण चरित्रको तुम्हारे निकट व्यक्त किया।" और भी, "श्रीभगवान् भृगुनन्दन परशुराममें आविष्ट हुए थे।" उस भागवतामृत ग्रन्थमें आवेशावतारके लक्षण भी बताए गए हैं—"ज्ञानशक्ति आदि कलाक्रमसे श्रीभगवान् जनार्दन जिनमें आविष्ट होते हैं, वे महत्तम जीवगण ही आवेशावतारके रूपमें परिगणित होते हैं।" 'झषाणां' अर्थात् मत्स्योंमें मैं मत्स्यजाति विशेष 'मगरमच्छ' हूँ। 'स्रोतसाम्' अर्थात् नदियोंमें मैं 'गङ्गा' हूँ।।३१।।

सर्गाणामादिरन्तश्च मध्यञ्चैवाहमर्जुन।
अध्यात्मविद्या विद्यानां वादः प्रवदतामहम्।।३२।।

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) अहम् एव (मैं ही) सर्गाणाम् (आकाशादि सृष्ट वस्तुओंकी) आदिः अन्तः मध्यम् च (उत्पत्ति, लय और स्थिति हूँ) विद्यानाम् (समस्त विद्याओंमें) अध्यात्मविद्या (आत्मज्ञान हूँ) अहम् (मैं) प्रवदताम् (वक्ताके वाद, जल्प और वितण्डा—इन तीन प्रकारकी कथाओंमें) वादः (तत्त्व-निर्णय करनेवाला वाद हूँ)।।३२।।

अनुवाद—हे अर्जुन! मैं ही आकाशादि सृष्ट वस्तुओंकी आदि, स्थिति और अन्त हूँ। मैं विद्याओंमें अध्यात्म विद्या अर्थात् आत्मज्ञान तथा वक्ताके वाद, जल्प और वितण्डा—इन तीन कथाओंमें तत्त्व-निर्णय करनेवाला वाद हूँ।।३२।।

श्रीविश्वनाथ—सृज्यन्त इति सर्गा आकाशादयस्तेषामादिः सृष्टिः अन्तः संहारः, मध्यं पालनञ्च इति सृष्टिस्थितिप्रलया मद्विभूतित्वेन ध्येया इत्यर्थः। अहमादिश्च मध्यञ्चेत्यत्र सृष्ट्यादिकर्त्ता परमेश्वर एवोक्तः। विद्यानां ज्ञानानां मध्ये अध्यात्मविद्या आत्मज्ञानम्, प्रवदतां स्वपक्षस्थापन-परपक्षदूषणादिरूपजल्प-वितण्डादिकुर्वतां वादस्तत्त्वनिर्णयः प्रवृत्तिसिद्धान्ते यः सोऽहम्।।३२।।

भावानुवाद—जो सृष्ट होता है, उसे सर्ग कहते हैं; जैसे—आकाशादि। मैं इनका 'आदि' अर्थात् सृष्टि, 'अन्त' अर्थात् संहार और 'मध्य' अर्थात् पालन हूँ। अतः सृष्टि, स्थिति और प्रलय मेरी विभूति होनेके कारण ध्येय हैं। 'मैं ही आदि, मध्य और अन्त हूँ'—इससे यह प्रतिपादित होता

है कि परमेश्वर ही सृष्टि आदिके कर्त्ता हैं। मैं विद्याओंमें अध्यात्म विद्या अर्थात् आत्मज्ञान हूँ। 'प्रवदतां' अर्थात् स्वपक्ष-स्थापन एंव विपक्ष-दूषणादिरूप जल्प-वितण्डा-वादमें से जो 'वाद' अर्थात् तत्त्वनिर्णय-प्रवृत्ति और सिद्धान्त है, वह मैं हूँ।।३२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें भगवान्ने सब प्रकारकी विद्याओंमें अध्यात्मविद्याको अपनी विभूति बताया है। मनुष्य अपनी बुद्धिवृत्तिकी परिचालानाकर ज्ञातव्य विषयोंमें जो शिक्षा लाभ करता है, उसे विद्या कहते हैं। शास्त्रकारोंने अठारह विद्याओंका वर्णन किया है, किन्तु उसमें भी चौदह प्रधान हैं—

'अङ्गानि वेदश्चत्वारो मीमांसा न्याय विस्तरः।
धर्मशास्त्रं पुराणञ्च विद्याह्येतां चतुर्दशः।।
आयुर्वेदो धनुर्वेदो गान्धर्वाश्चेति ते त्रयः।
अर्थशास्त्रं चतुर्थञ्च विद्या ह्यष्टादशः ताः।।'

(विष्णुपुराण)

अर्थात्, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, ज्योतिष, निरुक्त और छन्द—ये छः वेदाङ्गके नामसे परिचित; ऋक्, साम, यजुः और अथर्व—ये चार वेद, मीमांसा, न्याय, धर्मशास्त्र और पुराण—ये छः, कुल चौदह मुख्य विद्याएँ हैं। इन विद्याओंके अनुशीलनसे मानवबुद्धि प्रखर होती है तथा नाना प्रकारके विषयोंका ज्ञान परिवर्द्धित होता है। यह ज्ञान मानवकी जीविका-निर्वाहमें सहायता करता है तथा धर्म-पथको भी प्रदर्शित करता है। किन्तु, जिस विद्याके द्वारा मनुष्य अमृतत्वकी प्राप्ति करता है, भवबन्धनसे निर्मुक्त होता है तथा परब्रह्म विषयक पूर्ण ज्ञान लाभकर अक्षर वस्तुको जान सकता है, वह अध्यात्म-विद्या पूर्वोक्त विद्याओंसे श्रेष्ठ है। यह अध्यात्म-विद्या ही भगवान्की विभूति है। भगवद्गीता और उपनिषद् भी इसी अध्यात्म-विद्याकी श्रेणीमें परिगणित हुए हैं। तथापि श्रीमद्भागवतके दसवें स्कन्धमें वर्णित व्रजवासियोंकी रसमयी भक्ति उद्धवके आध्यात्मिक ज्ञानसे कोटिगुणा श्रेष्ठ है। क्योंकि यह रसमयी भक्ति कृष्ण-स्वरूपकी ह्लादिनी और संवितका सार-स्वरूप है अर्थात कृष्णका ही स्वरूप है। तात्पर्य यह कि प्रेमाभक्तिकी एक आंशिक विभूति ही अध्यात्म विद्या है। श्रीचैतन्य चरितामृतमें राय रामानन्द तथा श्रीचैतन्य महाप्रभुके संवादमें पाया जाता है—

'प्रभु बले—कौन विद्या विद्या मध्ये सार।
राय कहे—कृष्ण भक्ति बिना विद्या नहीं आर।।'

प्रभुने पूछा—समस्त विद्याओंमें सर्वश्रेष्ठ विद्या क्या है?

रायने कहा—कृष्ण भक्तिके बिना और कोई विद्या नहीं है।

श्रीमद्भागवत (४/२९/५०) में भी ऐसा कहा गया है—*'सा विद्या तन्मतिर्यया'* अर्थात् जिसके द्वारा श्रीभगवान्‌के चरणोंमें मति हो, वही यथार्थ विद्या है। और भी—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीय वार्त्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्मनोभिर्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि तैस्त्रिलोक्याम्।।

(श्रीमद्भा. १०/१४/३)

श्रील जीव गोस्वामीने इस श्लोकमें 'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य' का एक गूढ़ तात्पर्य बताया है, वह यह है कि निर्विशेष, निराकार, जीव-ब्रह्म-ऐक्यवाद ज्ञान भक्ति-विरोधी है। इसकी तो बात ही क्या 'ज्ञान त्वदीयस्वरूपैश्वर्यमहिमाविचारे' अर्थात् वे षड्-ऐश्वर्यपूर्ण स्वयं-भगवान् हैं, उनके अंशोंके अंश, कलाओंसे जगत्‌की सृष्टि-स्थिति और प्रलय होता है—इन विषयोंका विशेषरूपसे अनुशीलनका भी प्रयास नहीं कर तीर्थ-पर्यटनादिका भी परिश्रम नहीं कर भगवान्‌की लीला-कथाओंको प्रीतिपूर्वक श्रवण करनेसे ही सर्वत्र अजेय कृष्ण भी वशीभूत हो जाते हैं।

श्रीभगवान्‌ने यह भी कहा है कि वादी-प्रतिवादियोंके सम्बन्धमें जो वाद है, वह भी मैं ही हूँ अर्थात् लोग विचार, युक्ति और तर्क द्वारा जो सत्य या तत्त्व निर्धारित करते है, वह 'वाद' भी मैं ही हूँ। तर्क और विचारके स्थलमें वाद, जल्पना और वितण्डा—ये तीन बातें प्रसिद्ध हैं।

जब एक पक्ष अपने मतकी प्रतिष्ठाके लिए निरन्तर विपक्षके मतमें दोषारोपण करता है, तो उसे जल्प कहते हैं। सत्यको दूर रखकर, विचार और युक्तिको छोड़कर परस्पर जो दोषारोपण किया जाता है, उसे वितण्डा कहते हैं। इसका लक्ष्य सत्यका निर्धारण न होकर केवल पाण्डित्यका प्रदर्शन होता है और इसमें विजयकी इच्छा बलवती होती है। तत्त्व-फल निर्णायक परम सत्यकी प्रतिष्ठा ही जिस विचारका उद्देश्य होता है, उसे वाद कहते हैं। यह वाद ही अन्य सबसे श्रेष्ठ है।

तत्त्वदर्शी गुरु और ज्ञानपिपासु शिष्य परस्पर मिलित होकर तत्त्व-निर्णयके लिए परस्पर सदालाप द्वारा जो तत्त्व-वस्तुका निर्णय करते हैं, उसीको वाद कहते हैं। इसमें एक दूसरेको पराजित करनेकी इच्छा अथवा पाण्डित्यका अभिमान नहीं होता।।३२।।

अक्षराणामकारोऽस्मि द्वन्द्वः सामासिकस्य च।
अहमेवाक्षयः कालो धाताहं विश्वतोमुखः।।३३।।

अन्वय—अहम् (मैं) अक्षराणाम् (अक्षरोंमें) अकारः अस्मि (अकार हूँ) सामासिकस्य (समासोंमें) द्वन्द्वः (द्वन्द्व समास हूँ) अहम् एव (मैं ही) अक्षयः कालः (संहारकर्त्ताओंमें महाकाल रुद्र हूँ) च (और) अहम् (मैं) विश्वतोमुखः (सृष्ट प्राणियोंमें चतुर्मुख) धाता (ब्रह्मा हूँ)।।३३।।

अनुवाद—मैं अक्षरोंमें 'अ'-कार एवं समासोंमें द्वन्द्व समास हूँ। मैं ही संहार करनेवालोंमें महाकाल रुद्र और सृष्ट प्राणियोंमें चतुर्मख ब्रह्मा हूँ।।३३।।

श्रीविश्वनाथ—सामासिकस्य समास-समूहस्य मध्ये 'द्वन्द्वः' उभयपदार्थ-प्रधानत्वेन तस्य समासेषु श्रैष्ठ्यात्, अक्षयः कालः संहर्तॄणां मध्ये महाकालो रुद्रः विश्वतोमुखश्चतुर्भ्योऽहं धाता स्रष्टॄणां मध्ये ब्रह्मा।।३३।।

भावानुवाद—समासोंमें मैं द्वन्द्व समास हूँ। दोनों पद प्रधान होनेके कारण द्वन्द्व समास श्रेष्ठ होता है। मैं 'अक्षयः कालः' अर्थात् संहार करनेवालोंमें महाकाल रुद्र हूँ। सृष्ट प्राणियोंमें मैं 'विश्वतोमुखः' अर्थात् चार मुखवाला ब्रह्मा हूँ।।३३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अक्षरोंमें मैं 'अ'-कार हूँ। 'अ'-कार आदि-वर्ण तथा सर्ववाग्मय होनेके कारण सर्वश्रेष्ठ है। श्रुतिमें भी ऐसा ही प्रतिपादित हुआ है—*'अक्षराणामकारोऽस्मि'* (श्रीमद्भा. ११/१६/१२)। भगवान्ने स्वयंको समासोंमें द्वन्द्व समास बताया है। जब दो या दोसे अधिक शब्द अपने जोड़नेवाले विभक्ति-चिह्नोंको छोड़कर एवं परस्पर मिलकर एक शब्द बन जाते हैं, तो उस एक पद बननेकी क्रियाको समास कहते हैं तथा उस एक पदको 'समस्त-पद' कहते हैं। समास प्रधानतः छः हैं—(१) द्वन्द्व, (२) बहुब्रीहि, (३) कर्मधारय, (४) तत्पुरुष, (५) द्विगु और (६) अव्ययीभाव। इनमेंसे द्वन्द्व सबसे श्रेष्ठ है, क्योंकि अन्यान्य समासोंमें पूर्वपद अथवा उत्तरपद प्रधान रहता है अथवा दो पद मिलकर तीसरे अर्थका निर्देश करते हैं, किन्तु द्वन्द्व समासमें प्रत्येक पद ही प्रधान होता है, यथा—रामकृष्ण, राधाकृष्ण। इसलिए भगवान्ने द्वन्द्व समासको अपनी विभूति बताया है।।३३।।

मृत्युः　सर्वहरश्चाहमुद्भवश्च　भविष्यताम्।
कीर्त्तिः श्रीर्वाक् च नारीणां स्मृतिर्मेधा धृतिः क्षमा।।३४।।

अन्वय–अहम् (मैं) सर्वहरः मृत्युः (सर्वहारी मृत्यु हूँ) च (और) भविष्यताम् (भावी छः विकारोंमें) उद्भवः (जन्म हूँ) नारीणाम् (नारियोंमें) कीर्त्तिः (कीर्त्ति) श्री (कान्ति) वाक् (संस्कृत वाणी) स्मृतिः (स्मृति) मेधा (मेधा) धृतिः (धृति) क्षमा (और क्षमा हूँ)।।३४।।

अनुवाद—मैं सर्वहारी मृत्यु और भावी छः विकारोंमें से प्रथम विकार जन्म हूँ। मैं स्त्रियोंमें कीर्त्ति, श्री, वाणी, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा हूँ।।३४।।

श्रीविश्वनाथ—प्रतिक्षणिकानां मृत्युनां मध्ये सर्वहरः सर्वस्मृतिहरो मृत्युहरम्, यदुक्तं—'मृयुरत्यन्तविस्मृतिः' इति। भविष्यतां भाविनां प्राणिविकाराणां मध्ये उद्भवः प्रथमविकारो जन्माहम्, नारीणां मध्ये कीर्त्तिः ख्यातिः, श्रीः कान्तिः वाक् संस्कृता वाणीति तिस्रः, तथा स्मृत्यादयश्चतस्रः, च-कारात् मूर्त्यादयश्चान्या धर्मपत्न्यश्चाहम्।।३४।।

भावानुवाद—मैं प्रतिक्षण मरनेवालोमें 'सर्वहरः' अर्थात् सभी स्मृतियोंको हरनेवाला मृत्यु हूँ। जैसा कि श्रीमद्भागवत (११/२२/३९) में भी कथित है—*'मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः'* अर्थात् अत्यन्त विस्मृति ही मृत्यृ है। 'भविष्यतां' अर्थात् प्राणियोंके भावी विकारोंमें प्रथम विकार 'जन्म' मैं ही हूँ। स्त्रियोंमें 'कीर्त्ति'—ख्याातिʻ 'श्री'—कान्ति, 'वाक्'—संस्कृत वाणी—ये तीन और स्मृति, मेधा, धृति, क्षमा—ये चार तथा 'च'—कार द्वारा मूर्त्ति आदि धर्मपत्नीसमूह भी मैं हूँ।।३४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ भगवान्‌ने कहा कि नारियोंमें कीर्त्ति, श्री, स्मृति, मेधा, धृति और क्षमा मैं हूँ। इसका तात्पर्य दो प्रकारसे लिया गया है। स्त्रियोंमें जो कीर्त्ति, सौन्दर्य, मधुर वाणी, स्मरण शक्ति, मेधा अर्थात् तीक्ष्ण बुद्धि, धृति अर्थात् धारण करनेकी शक्ति और क्षमा आदि गुण हैं, वह मैं ही हूँ—जैसे भगवती सीता, उमा, रुक्मिणी, द्रौपदी। विशेषतः व्रज गोपियोंमें यश, सौन्दर्य, मधुरवाणी, स्मृति शक्ति, तीक्ष्ण विवेचना, धारण शक्ति और क्षमा आदि जो गुण हैं, वे सभी गुण भगवान्‌की विभूतियाँ हैं।

प्रजापति दक्षकी चौबीस कन्याओंमें से कीर्त्ति, मेधा, धृति, स्मृति, और क्षमा सभी प्रकारसे आदर्श महिलाएँ हैं। कीर्त्ति, मेधा और धृतिका विवाह धर्मसे हुआ, स्मृतिका अङ्गिरासे और क्षमाका महर्षि पुलहसे हुआ। श्री महर्षि भृगुकी कन्याका नाम है, जो दक्षकन्या ख्यातिके गर्भसे उत्पन्न

हुई थी। भगवान् विष्णुने इसका पाणि ग्रहण किया था। वाक् ब्रह्माजीकी कन्या है। उपरोक्त सातों नाम जिन गुणोंका निर्देश करते हैं, ये सातों नारियाँ उन विभिन्न गुणोंकी अधिष्ठात्री देवियाँ हैं। इन्हें श्रेष्ठ नारियोंकी श्रेणीमें रखा गया है। इसलिए भगवान्ने इन्हें अपनी विभूति बताया है।।३४।।

बृहत्साम तथा साम्नां गायत्रीच्छन्दसामहम्।
मासानां मार्गशीर्षोऽहमृतूनां कुसुमाकरः।।३५।।

अन्वय—अहम् (मैं) साम्नाम् (सामवेदोंमें) बृहत्-साम (इन्द्रस्तुतिरूप बृहत्-साम हूँ) छन्दसाम् (छन्दोंमें) गायत्री (गायत्री हूँ) मासानाम् (महीनोंमें) मार्गशीर्ष (अग्रहायण हूँ) ऋतूनाम् (ऋतुओंमें) कुसुमाकरः (वसन्त हूँ)।।३५।।

अनुवाद—मैं सामवेदोंमें इन्द्रस्तुतिरूप बृहत्-साम, छन्दोंमें गायत्री, महीनोंमें अग्रहायण तथा ऋतुओंमें वसन्त हूँ।।३५।।

श्रीविश्वनाथ—वेदानां सामवेदोऽस्मीत्युक्तम्, तत्र साम्नामपिमध्यं बृहत् साम—"त्वामृद्धिं हवामहे" इत्यस्यां ऋचि विगीयमानं बृहत् साम, छन्दसां मध्ये गायत्रीनाम छन्दः; कुसुमाकरो वसन्तः।।३५।।

भावानुवाद—श्रीभगवान्ने पहले बताया है कि वेदोंमें मैं सामवेद हूँ। अभी बता रहे हैं कि उस सामसमूहमें बृहत्-साम हूँ। *'त्वामृद्धिं हवामहे'* इत्यादि गाये जानेवाले ऋक्-मन्त्रसे बृहत्-साम अभिप्रेत है। छन्दोंमें गायत्री नामक छन्द एवं ऋतुओंमें 'कुसुमाकरः' अर्थात् वसंत मैं ही हूँ।।३५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान्, उनके नाम-गुण-लीला-कथा-स्तव-स्तुति—ये सभी अभिन्न हैं। सामवेदमें भगवत्-स्वरूप इन स्तव-स्तुतियोंके होनेके कारण इसे चारों वेदोंमें श्रेष्ठ बताया गया है और इसे विभूति कहा गया है। गायत्री भगवत्-स्वरूप प्रकाशिका हैं, इसलिए इन्हें वेदमाता भी कहा गया है, इसलिए भगवान्ने इसे अपनी विभूति बताया है। बारह महीनोंमें मार्गशीर्ष या अग्रहायण मासको भगवान्ने अपनी विभूति बताया है। उस समय न तो अधिक ताप रहता है और न अधिक शीत रहता है तथा उस समय नाना वैदिक कार्य अनुष्ठित होते हैं। इस महीनेके आरम्भ होनेके ठीक पूर्व ही समस्त लीला-चक्रवर्त्तिणी रासलीला अनुष्ठित होती है। प्रकृति चरम शृङ्गारमय रहती है तथा गृहस्थोंके घरोंमें नई फसलोंका आगमन होता है। 'अग्रहायण' का तात्पर्य है—वर्षका पहला, अतः भगवान्ने इसे अपनी विभूति बताया है। ऋतुओंमें वसंत ऋतु सर्वश्रेष्ठ है। यह

ऋतुराजके नामसे भी प्रसिद्ध है। इसमें प्रकृति अपने पुराने परिधानोंका परित्यागकर नये परिधानोंसे अलंकृत होती है। जड़-चेतन समस्त वस्तुओंमें नवजीवनका संचार होता है। इसी ऋतुमें कृष्णकी हिंडोल-लीला तथा वसंतोत्सव अनुष्ठित होते हैं। विशेषतः महाभावस्वरूपा श्रीमती राधिकाके भाव एवं कान्तिको अङ्गीकार करनेवाले श्रीचैतन्य महाप्रभुके आविर्भावका समय होनेके कारण यह और भी श्रेष्ठ है। इसलिए भगवान्ने इसे अपनी विभूति बताया है।।३५।।

द्यूतं छलयतामस्मि तेजस्तेजस्विनामहम्।
जयोऽस्मि व्यवसायोऽस्मि सत्त्वं सत्त्ववतामहम्।।३६।।

अन्वय—अहम् (मैं) छलयताम् (छल करनेवालोंमें) द्यूतम् (जुआ हूँ) तेजस्विनाम् (तेजस्वियोंमें) तेजः (तेज हूँ) (विजयी होनेवालोंमें) जयः अस्मि (जय हूँ) [उद्यमियोंमें] व्यवसायः अस्मि (उद्यम हूँ) अहम् (मैं) सत्त्ववताम् (बलवानोंमें) सत्त्वम् (बल हूँ)।।३६।।

अनुवाद—मैं छल करनेवालोंमें जुआ हूँ, तेजस्वियोंमें तेज हूँ, विजयी होनेवालोंमें जय हूँ, उद्यमी पुरुषोंमें उद्यम हूँ एवं बलवानोंमें बल हूँ।।३६।।

श्रीविश्वनाथ—छलयतामन्योऽन्यवञ्चनपराणां सम्बन्धि द्यूतमस्मि, जेतॄणां जयोऽस्मि, व्यवसायिनामुद्यमवतां व्यवसायोऽस्मि, सत्त्ववतां बलवतां सत्त्वं बलमस्मि।।३६।।

भावानुवाद—मैं ही 'छलयताम्'—परस्पर वञ्चनपर लोगोंमें जुआ हूँ, जय करनेवालोंमें मैं जय हूँ, उद्यमशील लोगोंमें मैं 'व्यवसाय' अर्थात् उद्यम हूँ तथा 'सत्त्ववतां' अर्थात् बलवानोंमें 'सत्त्व' अर्थात् बल हूँ।।३६।।

वृष्णीनां वासुदेवोऽस्मि पाण्डवानां धनञ्जयः।
मुनीनामप्यहं व्यासः कवीनामुशना: कविः।।३७।।

अन्वय—वृष्णीनाम् (वृष्णियोंमें) वासुदेवः अस्मि (वासुदेव हूँ) पाण्डवानाम् (पाण्डवोंमें) धनञ्जयः (अर्जुन हूँ) मुनीनाम् अपि (मुनियोंमें भी) अहम् (मैं) व्यासः (व्यासदेव हूँ) कवीनाम् (कवियोंमे) उशनाः कविः (शुक्राचार्य नामक कवि हूँ)।।३७।।

अनुवाद—मैं वृष्णियोंमें वासुदेव, पाण्डवोंमें अर्जुन, मुनियोंमें व्यास एवं कवियोंमें शुक्राचार्य नामक कवि हूँ।।३७।।

श्रीविश्वनाथ—वृष्णीनां मध्ये वासुदेवो वसुदेवो मत्पिता मद्विभूतिः—'प्रज्ञादित्वात् स्वार्थिकोऽण्'; 'वृष्णीनामहमेवास्मि' इत्यनुक्तेरस्यान्यार्थता नेष्टा।।३७।।

भावानुवाद—वृष्णियोंमें मैं वासुदेव हूँ अर्थात् मेरे पिता वसुदेव मेरी विभूति हैं। यहाँ 'वसुदेव' पदमें 'अण्' प्रत्यय युक्त होकर 'वासुदेव' शब्द निष्पन्न हुआ है।

वृष्णियोंमें 'वासुदेव' मैं ही हूँ—यहाँ यह अर्थ स्वीकृत नहीं होता, क्योंकि भगवान् अपनी विभूतियोंका वर्णन कर रहे हैं, न कि अपने स्वरूपका। 'वासुदेव' उनका एक स्वरूप है, विभूति नहीं।।३७।।

दण्डो दमयतामस्मि नीतिरस्मि जिगीषताम्।
मौनं चैवास्मि गुह्यानां ज्ञानं ज्ञानवतामहम्।।३८।।

अन्वय—अहम् (मैं) दमयताम् (दमनकारियोमें) दण्डः अस्मि (दण्ड हूँ) जिगीषताम् (जीतनेकी अभिलाषा करनेवालोंमें) नीतिः अस्मि (नीति हूँ) गुहानाम् (गुह्य रखनेवालोंमें) मौनम् अस्मि (मौन हूँ) ज्ञानवताम् (और ज्ञानियोंमें) ज्ञानम् (ज्ञान हूँ)।।३८।।

अनुवाद—मैं दमनकारियोंमें दण्ड, जीतनेकी अभिलाषा करनेवालोंमें नीति, गोपनीय रखनेवालोंमें मौन और ज्ञानियोंमें ज्ञान हूँ।।३८।।

श्रीविश्वनाथ—दमनकर्त्तृनां सम्बन्धी दण्डोऽहम्।।३८।।

भावानुवाद—मैं दमनकरनेवालोंसे सम्बन्धित दण्ड हूँ।।३८।।

यच्चापि सर्वभूतानां बीजं तदहमर्जुन।
न तदस्ति विना यत्स्यान्मया भूतं चराचरम्।।३९।।

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) यत् च (और जो) सर्वभूतानाम् (समस्त जीवोंमें) बीजम् (मूलकारण बीज है) तत् (वह) अपि (भी) अहम् (मैं) अस्मि (हूँ) चराचरम् (चर और अचर) तत् (वह) भूतम् (वस्तु) न अस्ति (नहीं है) यत् (जो) मया विना (मेरे बिना) स्यात् (हो)।।३९।।

अनुवाद—हे अर्जुन! समस्त जीवोंमें जो मूलकारण अर्थात् बीज है, वह भी मैं ही हूँ। चर और अचर वस्तुओंमें ऐसी कोई वस्तु नहीं है, जिसकी सत्ता मेरे बिना हो।।३९।।

श्रीविश्वनाथ—बीजं प्ररोहकारणं यत्तदहमस्मि तत्र हेतुः—मया विना यत् स्यात् चरमचरं वा तन्नैवास्ति मिथ्यैवेत्यर्थः।।३९।।

भावानुवाद—बीजका तात्पर्य है—प्ररोह अर्थात् उद्भवका कारण। श्रीभगवान् कहते हैं—मैं ही समस्त जीवोंका प्ररोह कारण हूँ। मुझ प्ररोह कारणके अतिरिक्त किसी चर-अचरका जन्म है—यह मिथ्या ही है।।३९।।

नान्तोऽस्ति मम दिव्यानां विभूतीनां परन्तप।
एष तूद्देशतः प्रोक्तो विभूतेर्विस्तरो मया।।४०।।

अन्वय—परन्तप (हे परन्तप!) मम (मेरी) दिव्यानाम् विभूतिनाम् (दिव्य विभूतियोंका) अन्तः न अस्ति (अन्त नहीं है) तु (किन्तु) विभूतेः एष विस्तारः (विभूतियोंका यह विस्तार) उद्देशतः (संक्षेपमें) मया (मेरे द्वारा) प्रोक्तः (कहा गया)।।४०।।

अनुवाद—हे परन्तप! मेरी दिव्य विभूतियोंका अन्त नहीं है, किन्तु विभूतियोंका यह विस्तार मैंने तुम्हें संक्षेपपूर्वक सुनाया।।४०।।

श्रीविश्वनाथ—प्रकरणमुपसंहरन्ति—नान्तोऽस्तीति एष तु विस्तरो बाहुल्यमुद्देशतो नाममात्रत एव कृतः।।४०।।

भावानुवाद—इस विभूति-प्रकरणका उपसंहार करते हुए कहते हैं—'नान्तोऽस्ति' इत्यादि। मेरी विभूतियोंका जो विस्तार है, उसे 'उद्देशतः' अर्थात् संक्षेपमें कहा गया।।४०।।

यद्यद्विभूतिमत्सत्त्वं श्रीमदूर्जितमेव वा।
तत्तदेवावगच्छ त्वं मम तेजोऽंशसंभवम्।।४१।।

अन्वय—विभूतिमत् (ऐश्वर्ययुक्त) श्रीमत् (सौन्दर्य या सम्पत्ति-विशिष्ट) उर्जितम् एव वा (अथवा शक्ति-प्रभावादियुक्त) यत् यत् (जो जो) सत्त्वम् (वस्तु है) तत् तत् एव (उस उसको) त्वम् (तुम) मम (मेरे) तेजांश (तेज या शक्तिके अंशसे) संभवम् (उत्पन्न) अवगच्छ (जानो)।।४१।।

अनुवाद—ऐश्वर्ययुक्त, सौन्दर्य या सम्पत्तियुक्त तथा शक्ति-प्रभावादिसे युक्त जो जो वस्तुएँ हैं, उन समस्त वस्तुओंको तुम मेरे तेज या शक्तिके अंशसे उत्पन्न जानो।।४१।।

श्रीविश्वनाथ—अनुक्ता अपि त्रैकालिकीर्विभूतीः संग्रहीतुमाह—यद्यदिति। विभूतिमदैश्वर्ययुक्तम्, श्रीमत् सम्पत्तियुक्तम् बलप्रभावाद्यधिकं सत्त्वं वस्तुमात्रम्।।४१।।

भावानुवाद—यहाँ श्रीभगवान् अनुक्त त्रैकालिकी विभूतियोंको एकसाथ कह रहे हैं—'यत् यत्' इत्यादि। 'विभूतिमत्' का तात्पर्य है—ऐश्वर्ययुक्त, 'श्रीमत्' का तात्पर्य है—सम्पत्तियुक्त और 'उर्जित' का तात्पर्य है—अधिक बल तथा प्रभावादिसे युक्त तथा 'सत्त्व' अर्थात् वस्तु-मात्र।।४१।।

अथवा बहुनैतेन किं ज्ञातेन तवार्जुन।
विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्।।४२।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'विभूतियोगो' नाम दशमोऽध्यायः।

अन्वय—अथवा (अथवा) अर्जुन (हे अर्जुन!) एतेन (इस) बहुना ज्ञातेन (पृथक्-पृथक् उपदिष्ट ज्ञानसे) तव (तुम्हारा) किम् (क्या प्रयोजन है) अहम् (मैं) इदम् (इस) कृत्स्नम् (समस्त) जगत् (जगत्को) एकांशेन (एकांशसे) विष्टभ्य (धारणकर) स्थितः (अवस्थित हूँ)।।४२।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'विभूतियोगो' नाम दशमोऽध्यायस्यान्वयः।

अनुवाद—अथवा, हे अर्जुन! इस पृथक्-पृथक् उपदिष्ट ज्ञानसे तुम्हारा क्या प्रयोजन है? तुम मात्र इतना जानो कि मैं अपने एकांशसे इस समस्त जगत्को धारणकर अवस्थित हूँ।।४२।।

श्रीमद्भगवद्गीताके दशम अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—बहुना पृथक्पृथग्ज्ञातेन किं फलं समुदितमेव जानीहीत्याह—विष्टभ्येति। एकांशेनैकेनैवांशेन प्रकृत्यन्तर्यामिना पुरुषरूपेणैवेदं सृष्टं जगद्विष्टभ्याधिष्ठानत्वाद्विधृत्याधिष्ठातृत्वादधिष्ठाय, नियन्तृत्वान्नियम्य, व्यापकत्वाद्व्याप्य, कारणत्वात् सृष्ट्वो स्थितोऽस्मि।।४२।।

विश्वं श्रीकृष्ण एवातः सेव्यस्तद्दत्तया धिया।
स एवास्वाद्यमाधुर्य इत्यध्यायार्थ ईरितः।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु दशमोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद—'बहुना' अर्थात् पृथक्-पृथक् जाननेसे तुम्हारा क्या प्रयोजन? अतः सबको एक साथ ही जानो। मैं एक ही अंशसे प्रकृतिके अन्तर्यामी पुरुषरूपमें इस सृष्ट जगत्को धारण करता हूँ। 'विष्टभ्य'—अधिष्ठानत्वको विशेष भावसे धारणकर, अधिष्ठातृत्वके कारण अधिष्ठित होकर, नियन्ताके रूपमें इसे अधीनकर, व्यापकत्वके रूपमें व्याप्त होकर, कारणत्वके रूपमें सृष्टिकर अवस्थित हूँ।।४२।।

भगवान् श्रीकृष्णके द्वारा प्रदत्त बुद्धिसे ऐसा जानकर कि इस विश्वको वे ही धारण करते हैं, उनकी ही सेवा करनी चाहिए और उनके माधुर्यका आस्वादन करना ही कर्त्तव्य है—यही दशम अध्यायमें कहा गया है।।

श्रीमद्भगवद्गीताके दशम अध्यायकी साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके दशम अध्यायकी सारार्थवर्षिणी
टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"पूर्व अध्यायमें विशुद्ध कृष्णभक्तिका उपदेश दिया गया है, उसमें ऐसा सन्देह होता है कि अन्यान्य देवताओंकी उपासनामें भी तो कृष्णसेवा हो सकती है। इस सन्देहको दूर करनेके लिए श्रीभगवान्ने इस अध्यायमें कहा कि विधि (ब्रह्मा), रुद्र आदि देवतागण मेरी विभूतिमात्र हैं। मैं सबका आदि, अज, अनादि और सर्वमहेश्वर हूँ। इस प्रकार विचारपूर्वक विभूति-तत्त्वको जान लेनेपर अनन्य भक्तिमें और कोई बाधा नहीं है। परमात्मा जो कि मेरे एक अंश हैं, उनके द्वारा समस्त जगत्में प्रविष्ट होकर मैंने समस्त विभूतियोंका प्रकाश किया है। भक्तजन मेरे विभूति-तत्त्वसे अवगत होकर भगवत्-ज्ञान लाभकर शुद्ध भक्तिके साथ श्रीकृष्णरूपमें मेरा भजन करेंगे। इस अध्यायके अष्टम, नवम, दशम और एकादश श्लोकमें शुद्ध भजन तथा उस भजनके फलका वर्णन किया गया है। समस्त विभूतियोंके आकरस्वरूप श्रीकृष्णका भजन ही जीवके नित्यधर्मरूप प्रेमको प्राप्त करानेवाला है—यही इस अध्यायका निष्कर्ष है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४२।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके दशम
अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

दशम अध्याय समाप्त।

एकादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—
मदनुग्रहाय परमं गुह्यमध्यात्मसंज्ञितम्।
यत्त्वयोक्तं वचस्तेन मोहोऽयं विगतो मम॥१॥

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) मदनुग्रहाय (मुझे अनुगृहीत करनेके लिए) त्वया (आपके द्वारा) यत् परमम् गुह्यम् (जो परम गोपनीय) अध्यात्मसंज्ञितम् (आत्मविभूति-विषयक) वचः (वचन) उक्तम् (कहा गया) तेन (उसके द्वारा) मम (मेरा) अयम् मोहः (यह अज्ञानजनित मोह) विगतः (दूर हुआ)॥१॥

अनुवाद—अर्जुनने कहा! मुझे अनुगृहीत करनेके लिए आपके द्वारा जो परम गोपनीय आत्मविभूति-विषयक वचन कहा गया है, उसके द्वारा मेरा यह अज्ञानजनित मोह दूर हुआ॥१॥

श्रीविश्वनाथ— ***एकादशे विश्वरूपं दृष्ट्वा संभ्रान्तधीः स्तवन्।***
पार्थ आनन्दितो दर्शयित्वा स्वं हरिणा पुनः॥

पूर्वाध्यायान्ते *"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितो जगत्"* इति सर्वविभूत्याश्रयमादिपुरुषं स्वप्रियसखस्यांशं श्रुत्वा परमानन्दनिमग्नस्तद्रूपं दिदृक्षमाणो भगवदुक्तमभिनन्दति—मदनुग्रहायेति त्रिभिः। अध्यात्ममिति सप्तम्यर्थे अव्ययीभावादात्मनीत्यर्थः। आत्मनि या या संज्ञा विभूतिलक्षणा, सा संजाता यस्य तद्वचः, मोहस्त्वदैश्वर्यज्ञानम्॥१॥

भावानुवाद—एकादश अध्यायमें अर्जुन श्रीभगवान्‌के विश्वरूपके दर्शनसे सन्त्रस्तबुद्धि होकर स्तव करने लगे। पुनः भगवान् श्रीहरिने निजरूपका दर्शन कराकर अर्जुनको आनन्द प्रदान किया।

पूर्व अध्यायके अन्तमें श्रीभगवान्‌ने कहा—"एकांश-मात्रसे ही मैं इस समस्त जगत्‌को धारणकर अवस्थित हूँ।" समस्त विभूतियोंके आश्रय, आदिपुरुष तथा अपने प्रिय सखाके अंशों (विभूतियों) को श्रवणकर परमानन्दमें निमग्न अर्जुन उस रूपके दर्शनकी कामनासे 'मदनुग्रहाय' इत्यादि तीन श्लोकोंमें भगवान्‌की उक्तिका अभिनन्दन कर रहे हैं।

सप्तमीके अर्थमें अव्ययीभाव समास होनेके कारण 'अध्यात्म' शब्दका तात्पर्य है—आत्मनि अर्थात् आत्मामें विभूतिलक्षणरूपी जो जो संज्ञा है, वह जिनसे उत्पन्न हुई है, उनके वाक्योंको श्रवणकर अर्जुनका 'मोह' अर्थात् आपके (भगवान्के) ऐवश्र्यके विषयमें जो अज्ञान था, वह दूर हो गया।।१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पिछले अध्यायमें भगवान्के द्वारा कथित अतिरहस्यमय, परमगुह्य आत्मतत्त्वका उपदेश श्रवणकर अर्जुनका मोह कुछ सीमा तक दूर हो गया। वे इस विषयको भलीभाँति समझ गए कि श्रीकृष्ण ही परतत्त्वकी सीमा स्वयं-भगवान् हैं तथा वे अपने एक अंशसे परमात्माके रूपमें सम्पूर्ण जगत्में प्रविष्ट होकर किस प्रकार अपनी अनन्त विभूतियोंका प्रकाश करते हैं। ऐसा होनेपर भी वे समस्त विभूतियोंके उद्‌गमस्थल होकर उनसे पृथक् अपने नित्य द्विभुज श्यामसुन्दर स्वरूपमें विराजमान रहते हैं। अब वे भगवान्का अभिनन्दन करते हुए उस ज्ञानको विज्ञानरूपमें अनुभव करना चाहते हैं। इसीलिए वे कह रहे हैं—"अब मेरा व्यतिरेक चिन्तारूपी मोह दूर हो गया है।" इसका गूढ़ तात्पर्य यह है कि वे उनका विश्वरूप दर्शन करना चाहते हैं।।१।।

भवाप्ययौ हि भूतानां श्रुतौ विस्तरशो मया।
त्वत्तः कमलपत्राक्ष माहात्म्यमपि चाव्ययम्।।२।।

अन्वय—कमलपत्राक्ष (हे कमलनयन!) त्वत्तः (आपसे) हि (ही) भूतानाम् (भूतोंकी) भवाप्ययौ (उत्पत्ति और लय) मया (मेरे द्वारा) विस्तरशः (विस्तृतरूपमें) श्रुतौ (सुना गया) च (एवं) अव्ययम् (नित्य) माहात्म्यम् अपि (माहात्म्य भी) श्रुतम् (श्रुत हुआ)।।२।।

अनुवाद—हे कमलनयन! मैंने आपसे ही भूतोंकी उत्पत्ति और लयको विस्तारपूर्वक सुना तथा आपके नित्य माहात्म्यको भी सुना।।२।।

श्रीविश्वनाथ—अस्मिन् षट्के तु भवाप्ययौ सृष्टिसंहारौ त्वत्त इति '*अहं कृत्स्नस्य जगतः प्रभवः प्रलयस्तथा*' इत्यादिनाऽव्ययं माहात्म्यं सृष्ट्यादि-कर्त्तृत्वेऽप्यविकारासङ्गादिलक्षणम्—'*मया ततमिदं सर्वम्*' इति '*न च मां तानि कर्माणि निबध्नन्ति*' इत्यादिना।।२।।

भावानुवाद—इन मध्यवर्ती छः अध्यायोंमें यह बताया गया कि सृष्टि और संहार—सभीके मूल आप ही हैं, यथा—"भगवत्स्वरूप मैं ही समग्र जगत्की उत्पत्ति और प्रलयका कारण हूँ।" (गीता ७/६) आप 'अव्यय' हैं अर्थात् सृष्टि आदि करनेपर भी आप अविकार और असङ्ग (अनासक्त) रहते हैं, यथा—"मेरे द्वारा यह समस्त जगत् व्याप्त है।" (गीता ९/४) तथा "ये कार्यसमूह भी मुझे आबद्ध नहीं कर सकते हैं।" (गीता ९/९)।।२।।

एवमेतद् यथात्थ त्वमात्मानं परमेश्वर।
द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम।।३।।

अन्वय—परमेश्वर (हे परमेश्वर!) त्वम् (आपने) आत्मानम् (अपने ऐश्वर्यके विषयमें) यथा (जैसा) आत्थ (कहा) एतत् (यह) एवम् (ऐसा ही है) [तथापि] पुरुषोत्तम (हे पुरुषोत्तम!) ते (आपके) ऐश्वरम् रूपम् (उस ऐश्वरिक रूपको) द्रष्टुम् (देखनेकी) इच्छामि (इच्छा करता हूँ)।।३।।

अनुवाद—हे परमेश्वर! आपने अपने ऐश्वर्यके विषयमें जैसा कहा, वैसा ही है, तथापि हे पुरुषोत्तम! मैं आपके ऐश्वर्यमय रूपको देखनेकी इच्छा करता हूँ।।३।।

श्रीविश्वनाथ—इदानीमात्मानं त्वं यथात्थ *"विष्टभ्याहमिदं कृत्स्नमेकांशेन स्थितः"* इति, तच्चैवमेव मम नात्र कोऽप्यविश्वासोऽस्तीति भावः। किन्तु तदपि कृतार्थवुभूषया तवैश्वरं तद्रूपं द्रष्टुमिच्छामि येनैकांशेनेश्वररूपेण त्वं जगत् विष्टभ्य वर्त्तसे तस्यैव ते रूपमहमिदानीं चक्षुर्भ्यां द्रष्टुमिच्छामीत्यर्थः।।३।।

भावानुवाद—'आत्मानं त्वं यथात्थ' अर्थात् आपने अपनेको जिस प्रकार कहा—"मैं ही एकांशमात्र द्वारा व्याप्त होकर इस जगत्‌में अवस्थान करता हूँ।" (गीता १०/४२)—यह यथार्थ ही है। इस विषयमें मुझे तनिक भी अविश्वास नहीं है। तथापि, स्वयंको ही कृतार्थ करनेकी वासनासे मैं आपके ऐश्वर-रूपको देखनेकी इच्छा करता हूँ। अर्थात्, जिस एकांशसे आप ईश्वरके रूपमें जगत्‌में प्रविष्ट होकर विद्यमान है, आपके उस रूपको ही अपने नेत्रोंसे देखना चाहता हूँ।।३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ अर्जुन भगवान्‌के ऐश्वर्यपूर्ण रूपका दर्शन करनेकी अभिलाषासे कह रहे हैं—"हे परमेश्वर! आपके अद्भुत, अनन्त विभूतियोंका मैंने श्रवण किया। इसमें मुझे तनिक भी संशय नहीं रहा। किन्तु, अब मुझे आपके इस ऐश्वरिक रूपके दर्शनकी उत्कण्ठा हो रही है। आप सर्वान्तर्यामी हैं। इसलिए आप मेरे अन्तरकी अभिलाषाको भी जानते हैं। आप मेरी इस अभिलाषाको पूर्ण करनेमें समर्थ भी हैं।" यदि कोई यह शंका करे कि अर्जुन माधुर्यमय विग्रह श्रीकृष्णके नित्य-सखा हैं, फिर वे ऐश्वर्य द्योतक विराट या विश्वरूपके दर्शनकी अभिलाषा क्यों कर रहे हैं, तो इसका उत्तर यह है कि जैसे मधुर रसका आस्वादन करनेवाला व्यक्ति कभी-कभी कटु और अम्लरस (नीम-पत्ता व अचार आदि) को खानेकी अभिलाषा करता है, उसी प्रकार श्रीकृष्णके माधुर्यका

निरन्तर आस्वादन करनेवाले अर्जुनको भी उनके ऐश्वर्य-सूचक विश्वरूपके दर्शनकी अभिलाषा हुई है। इसका एक और आशय यह है कि यद्यपि अर्जुनको भगवान्‌के ऐश्वर्य और माहात्म्यके विषयमें किसी प्रकारका अविश्वास नहीं है, फिर भी अपनेको कृतार्थ करनेके लिए उस ऐश्वर-रूपको देखनेकी अभिलाषा कर रहे हैं।।३।।

मन्यसे यदि तच्छक्यं मया द्रष्टुमिति प्रभो।
योगेश्वर ततो मे त्वं दर्शयात्मानमव्ययम्।।४।।

अन्वय—प्रभो (हे प्रभो!) यदि (यदि) तत् (आपका वह रूप) मया (मेरे द्वारा) द्रष्टुम् शक्यम् (देखना सम्भव है) इति मन्यते (ऐसा आप मानते हैं) ततः (तो) योगेश्वर (हे योगेश्वर!) त्वम् (आप) मे (मुझे) अव्ययम् (अविनाशी) आत्मानम् (अपनेको) दर्शय (दिखावें)।।४।।

अनुवाद—हे प्रभो! यदि आप ऐसा मानते हैं कि मेरे द्वारा आपके उस ऐश्वर्यमय रूपको देखना सम्भवपर है, तो हे योगेश्वर! आप मुझे अपने अविनाशी रूपको दिखावें।।४।।

श्रीविश्वनाथ—योगेश्वरेति—अयोग्यस्यापि मम तद्दर्शनयोग्यतायां तव योगैश्वर्यमेव कारणमिति भावः।।४।।

भावानुवाद—अर्जुन कहते हैं कि मैं आपके उस रूपके दर्शनके अयोग्य हूँ, तथापि आपके योगेश्वर होनेके कारण आपके योगैश्वर्यके प्रभावसे यह सम्भव है।।४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्व श्लोकमें अर्जुन श्रीभगवान्‌के ऐश्वर-रूपकोदर्शन करनेकी अभिलाषा व्यक्तकर वर्त्तमान श्लोकमें उनकी सम्मति ले रहे हैं—"हे प्रभो! हे सर्वस्वामिन्! हे योगेश्वर! मैंने अपनी आन्तरिक अभिलाषा आपके समक्ष प्रकट की है। मेरे अयोग्य होनेपर भी यदि आप मुझे अनुग्रहका पात्र समझते हैं, तो अनुग्रहपूर्वक विश्वरूपका दर्शन करावें।"

"जीव अणुचैतन्य है, अतः वह विभुचैतन्य भगवान्‌की क्रियाओंको भलीभाँति नहीं समझ सकता है। मैं जीव हूँ, आपके अनुग्रहसे मैं आपके स्वरूप-तत्त्वमें अधिकार प्राप्तकर भी जीवकी चिन्तासे अतीत आपके ऐश्वर- स्वरूपके परिमाणको समझनेमें असमर्थ हूँ। आप योगेश्वर एवं मेरे प्रभु हैं। अतः आप अपने योगैश्वर्यका मुझे दर्शन करावें, जो कि स्वरूपतः अव्यय और चित्स्वरूप है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४।।

श्रीभगवानुवाच—
पश्य मे पार्थ रूपाणि शतशोऽथ सहस्रशः।
नानाविधानि दिव्यानि नानावर्णाकृतीनि च।।५।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) पार्थ (हे पार्थ!) मे (मेरे) नानाविध (नाना प्रकार) नाना वर्णाकृतीनि (नाना वर्ण और आकृतिविशिष्ट) शतशः (शत-शत्) अथ सहस्त्रः (और हजार-हजार) दिव्यानि रूपाणि (दिव्य रूपोंको) पश्य (देखो)।।५।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे पार्थ! मेरे नाना प्रकार एवं अनेक वर्ण तथा आकृतिसम्पन्न सैकड़ों-हजारों दिव्य रूपोंको देखो।।५।।

श्रीविश्वनाथ—ततश्च स्वांशस्य प्रकृत्यन्तर्यामिनः प्रथमपुरुषस्य*"सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्"* इति पुरुषसूक्त-प्रोक्तं रूपं प्रथममिदं दर्शयामि, पश्चात् प्रस्तुतोपयोगित्वेन तस्यैव कालरूपत्वमपि ज्ञापयिष्यामीति मनसि विमृष्य अर्जुनं प्रति सावधानो भवेत्यभिमुखीकरोति। पश्येति रूपाणीति एकस्मिन्नपि मत्स्वरूपे शतशो मत्स्वरूपाणि मद्विभूतीः।।५।।

भावानुवाद—सर्वप्रथम इसे अपने अंश प्रकृतिके अन्तर्यामी प्रथम पुरुषके 'सहस्रशीर्ष, सहस्र नेत्र, तथा सहस्र पदयुक्त' रूपको दिखाऊँगा, जो कि पुरुष-सूक्तमें कहा गया है। उसके बाद प्रस्तावित विषयके उपयोगी उस स्वांश (अपने अंश) के ही कालरूपत्वको जनाऊँगा—मन-ही-मन ऐसा विचारकर भगवान् अर्जुनको 'सावधान होओ'—ऐसा कहते हुए, अपनी ओर अभिमुख कर रहे हैं। 'पश्य', 'रूपाणि'—इन दो शब्दोंमें श्रीभगवान् कह रहे हैं—मेरे एक ही स्वरूपमें मेरे सैकड़ों स्वरूपसमूह अर्थात् विभूतिसमूह हैं, तुम इन्हें देखो।।५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुनकी आन्तरिक अभिलाषाको जानकर भगवान् प्रकृतिके अन्तर्यामी सहस्रशीर्षा, सहस्राक्ष-रूप (जो पुरुषसूक्तमें वर्णित है) एवं अपने स्वांश रूपको प्रदर्शित करनेके लिए तथा एकांशमें वर्त्तमान अपनी अनन्त विभूतियोंका दर्शन करानेके लिए अर्जुनको सावधान कर रहे हैं अर्थात् इसके बहाने आशीर्वाद कर रहे हैं कि तुम इस रूपको देखनेके योग्य हो। यहाँ 'पार्थ' सम्बोधनसे अपना सम्बन्ध भी ज्ञापन कर रहे हैं।।५।।

पश्यादित्यान् वसून् रुद्रानश्विनौ मरुतस्तथा।
बहून्यदृष्टपूर्वाणि पश्याश्चर्याणि भारत।।६।।

अन्वय—भारत (हे भारत!) आदित्यान् (द्वादश आदित्योंको) वसून् (अष्ट वसुओंको) रुद्रान् (एकादश रुद्रोंको) अश्विनौ (दोनों अश्विनी कुमारोंको) तथा मरुतः (उनचास मरुद्गणको) पश्य (देखो) [एवं] अदृष्टपूर्वाणि (पहले न देखे हुए) बहूनि (विविध) आश्चर्याणि (आश्चर्यमय रूपोंको) पश्य (देखो)।।६।।

अनुवाद—हे भारत! तुम द्वादश आदित्यों, अष्ट वसुओं, दोनों अश्विनी कुमारों, उनचास मरुद्गण एवं पहले न देखे हुए विविध आश्चर्यमय रूपोंको देखो।।६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ भगवान्के द्वारा अर्जुनको 'भारत' से सम्बोधित करनेका अभिप्राय यह है कि परम पुण्यवान परमभक्त राजर्षि भरतके वंशमें जन्म ग्रहण करनेके कारण अर्जुन भी परम धार्मिक एवं ऐकान्तिक भगवद्भक्त है। अतः वह इस अदृष्टपूर्वरूपको दर्शन करनेका अधिकारी है।।६।।

इहैकस्थं जगत्कृत्स्नं पश्याद्य सचराचरम्।
मम देहे गुडाकेश यच्चान्यद् द्रष्टुमिच्छसि।।७।।

अन्वय—गुडाकेश (हे गुडाकेश!) मम (मेरे) इह देहे (इस शरीरमें) एकस्थम् (एकत्र स्थित) सचराचरम् (चर-अचरसहित) कृत्स्नम् जगत् (सम्पूर्ण विश्व) यत् च अन्यत् (और अन्य जो कुछ) द्रष्टुम् इच्छसि (देखनेकी इच्छा करते हो) अद्य (अभी) पश्य (देखो)।।७।।

अनुवाद—हे गुडाकेश! अभी मेरे इस शरीरमें एकत्र स्थित चर-अचरसहित सम्पूर्ण जगत्को देखो तथा तुम अन्य जो कुछ देखनेकी इच्छा करते हो, उसे भी देखो।।७।।

श्रीविश्वनाथ—परिभ्रमता त्वया वर्षकोटिभिरपि द्रष्टुमशक्यं कृत्स्नमपि जगत् इह प्रस्तावे एकस्मिन्नपि मद्देहावयवे तिष्ठति इति एकस्थं यच्चान्यत् स्वजयपराजयादिकञ्च ममास्मिन् देहे जगदाश्रयभूतकारणरूपे।।७।।

भावानुवाद—तुम कोटि-कोटि वर्षों तक परिभ्रमण करते-करते जिसे नहीं देख पाओगे, वह समग्र जगत् भी मेरे शरीरके एक अवयवमें ही स्थित है—इसीको बतानेके लिए श्रीभगवान् 'एकस्थं यच्चान्यत्' कह रहे हैं—तुम्हारी जय अथवा पराजय जो कुछ भी है, वह जगत्के आश्रयभूत इस देहमें कारणरूपसे विद्यमान है।।७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीभगवान् पुनः यह कह रहे हैं कि तुम हमारे इस विश्वरूपके भीतर सचराचर समग्र जगत्का अभी दर्शन करो। तुम जिस विश्वरूपको मेरी कृपासे देख रहे हो, उसे तुम कोटि-कोटि वर्षोंमें कठोर परिश्रम करनेपर भी नहीं देख सकोगे। तुम इस विश्वरूपमें मुझे, चर-अचर सम्पूर्ण विश्वको तथा कुरुक्षेत्रके युद्धमें तुम्हारी जय या पराजय क्या होगी—उसे भी देखो। साथ ही, और जो कुछ दर्शन करना चाहते हो, देख लो। यहाँ 'गुडाकेश' का तात्पर्य है—'गुडाका' अर्थात् नींद अथवा अज्ञान् एवं 'ईश' अर्थात् स्वामी। इसके द्वारा भगवान् उनको सावधानीपूर्वक उस रूपको देखनेका निर्देश कर रहे हैं। साथ ही इससे जय-पराजय सम्बन्धी सारी शङ्काएँ दूर हो जाएँगी तथा अर्जुन यह जान सकेंगे कि इस जगत्का सारा व्यापार विधिके द्वारा पूर्वनियोजित है। अर्जुन या अन्य कोई इस व्यवस्थाको परिवर्त्तित करनेमें असमर्थ है।।७।।

न तु मां शक्यसे द्रष्टुमनेनैव स्वचक्षुषा।
दिव्यं ददामि ते चक्षुः पश्य मे योगमैश्वरम्।।८।।

अन्वय—तु (किन्तु) एव (निश्चय ही) माम् (मुझे) अनेन स्वचक्षुषा (अपने इन प्राकृत नेत्रोंसे) द्रष्टुम् (देखनेमें) न शक्यसे (समर्थ नहीं हो) [अतएव] ते (तुम्हें) दिव्यम् चक्षुः (दिव्य नेत्र) ददामि (प्रदान करता हूँ) मे (मेरी) ऐश्वरम् (ऐश्वरिक) योगम् (योगशक्तिको) पश्य (देखो)।।८।।

अनुवाद—किन्तु, निश्चय ही तुम अपने इन प्राकृत नेत्रोंसे मुझे देखनेमें समर्थ नहीं हो, अतएव मैं तुम्हें दिव्य नेत्र प्रदान करता हूँ और इससे तुम मेरी ऐश्वरिक योगशक्तिका दर्शन करो।।८।।

श्रीविश्वनाथ—इदमिन्द्रजालं मायामयं वा रूपमित्यर्जुनो मा मन्यताम्, किन्तु सच्चिदानन्दमयमेव स्वरूपमन्तर्भूतसर्वजगत्कमतीन्द्रियत्वेनैव विश्वसितुमित्येतदर्थमाह—न त्विति। अनेनैव प्राकृतेन स्वचक्षुषा मां चिद्घनाकारं द्रष्टुं न शक्यसे न शक्नोषीत्यतस्तुभ्यं दिव्यमप्राकृतं चक्षुर्ददामि, तेनैव पश्येति प्राकृतनरमानिनमर्जुनं कमपि चमत्कारं प्रापयितुमेव; यतो हि अर्जुनो भगवत्पार्षदमुख्यत्वात् नरावतारत्वाच्च प्राकृत-नर इव, न चर्मचक्षुष्कः। किञ्च साक्षाद्भगवन्माधुर्यमेव यः स्वचक्षुषा साक्षादनुभवति, सोऽर्जुनो भगवदंशं द्रष्टुं तेनाशक्नुवन् दिव्यं चक्षुर्गृह्णीयादिति कः खलु न्यायः? एके त्वेवमाचक्षते—भगवतो नरलीलत्वमहामाधुर्यैकग्राहि सर्वोत्कृष्टं यद्भवति, तच्चक्षुरनन्यभक्त इव भगवतो देवलीलत्वसम्पदं नैव गृह्णाति, न हि

सितोपलरसास्वादिनी रसना खण्डं गुडं वा स्वादयितुं शक्नोति। तस्मादर्जुनाय तत्प्रार्थितश्चमत्कारविशेषं दातुं देवलीलत्वमयैश्वर्यं जिग्राहयिषुर्भगवान् प्रेमरसाननुकूलं दिव्यममानुषमेव चक्षुर्ददाविति। तथा दिव्यचक्षुर्दानाभि-प्रायोऽध्यायान्ते व्यक्तीभविष्यतीति।।८।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् कहते हैं—"अर्जुन! इस रूपको इन्द्रजाल या मायामय नहीं, बल्कि सच्चिदानन्दमय समझो।" "यह समग्र जगत् जिस (स्वरूप) में अन्तर्भूत है, वह स्वरूप इन्द्रियातीत है।"—यह विश्वास दिलानेके लिए श्रीभगवान् 'न तु' इत्यादि कह रहे हैं। श्रीकृष्ण कहते हैं—"तुम अपने 'अनेनैव' अर्थात् प्राकृत चक्षुसे 'मां' अर्थात् मुझ चिद्घनाकारको दर्शन करनेमें सक्षम नहीं होओगे। अतएव मैं तुम्हें 'दिव्यम्' अर्थात् अप्राकृत चक्षु देता हूँ और इस दिव्य चक्षुसे तुम मेरा दर्शन करो।" प्राकृत नराभिमानी अर्जुनको चमत्कृतमात्र करना ही उपरोक्त कथनसे अभिप्रेत है, क्योंकि भगवान्के मुख्य पार्षद एवं नरावतार होनेके कारण अर्जुनके नेत्र प्राकृत मनुष्यके चर्मचक्षुके समान नहीं हैं। दूसरी ओर, जो अपने नेत्रोंसे भगवान्के माधुर्यका साक्षात् भावसे अनुभव करते हैं, वे अर्जुन अपने उन्हीं नेत्रोंसे भगवान्के अंश (विश्वरूप) के दर्शनमें असमर्थ होकर दिव्य चक्षु ग्रहण करेंगे, यह कैसा न्याय है। कोई कोई ऐसा कहते हैं—(जो) सर्वोत्कृष्ट चक्षु भगवान्के नरलीलारूप महामाधुर्यको ग्रहण करनेवाले हैं, अनन्य भक्तकी भाँति वे चक्षु भी भगवान्के देवलीलारूप ऐश्वर्यके दर्शनमें प्रवृत्त नहीं होते, जैसे कि मिश्रीका आस्वादन करनेवाली जिह्वा गुड़का आस्वादन नहीं कर सकती। इसीलिए अर्जुनके प्रार्थनानुसार चमत्कार-विशेष प्रदान करनेके लिए देवलीलारूप ऐश्वर्य ग्रहण करानेके लिए भगवान्ने अर्जुनके प्रेमरसके अनुकूल दिव्य अर्थात् अमानुष चक्षु ही प्रदान किया था। दिव्य चक्षु प्रदान करनेका और अभिप्राय इस अध्यायके अन्तमें व्यक्त होगा।।८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुन श्रीकृष्णके नित्य-सिद्ध परिकर हैं। वे अपने प्रेममय नेत्रोंसे श्रीकृष्णके नित्य माधुर्यमय रूपका दर्शन एवं आस्वादन करते हैं। किन्तु, विश्वरूप दर्शनकी अभिलाषा होनेके कारण यहाँ दिव्य चक्षु प्रदान करनेकी बात कही गई है। साधारण, स्थूल चक्षुकी अपेक्षा दिव्य-चक्षु श्रेष्ठ है। तथापि, यह अर्जुनके स्वाभाविक निरुपाधिक प्रेममय चक्षुसे अत्यन्त तुच्छ और हेय है। भगवान्का वह विश्वरूप जड़नेत्रोंसे नहीं देखा जा सकता, उसे भगवत्-कृपासे प्राप्त दिव्य

दृष्टिसे ही देखा जा सकता है। परन्तु, साधारण चक्षु अथवा दिव्य दृष्टिके द्वारा भगवान्‌के माधुर्यमय श्रीविग्रहका दर्शन सम्भव नहीं है।

श्रीबलदेव विद्याभूषणने अपनी टीकामें इस विषयको और भी स्पष्ट किया है—"श्रीकृष्णने अपने देवाकाररूप-विश्वरूपका दर्शन करानेके लिए अर्जुनको तदुपयोगी दिव्य चक्षु तो प्रदान किया था, किन्तु वैसा दिव्य मन नहीं। वैसा मन दिए जानेपर विश्वरूपके दर्शनमें अर्जुनकी रुचि होती, किन्तु इस विश्वरूपमें अर्जुनकी रुचि नहीं हुई—ऐसा स्पष्ट बताया गया है, क्योंकि विश्वरूपके दर्शनसे विस्मित होनेपर भी उन्होंने कृष्णसे स्वाभाविक सच्चिदानन्दमय द्विभुज रूप दर्शन करानेकी ही प्रार्थना की थी।"

श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा कहा गया है—

'एकदार्भकमादाय स्वाङ्कमारोप्य भामिनी।
प्रस्नुतं पाययामास स्तनं स्नेहपरिप्लुता।।
पीतप्रायस्य जननी सा तस्य रुचिरस्मित्।
मुखं लालयती राजञ्जृम्भतो ददृशे इदम्।।
खं रोदसी ज्योतिरनीकमाशाः सूर्येन्दुवह्निश्वसनाम्बुधींश्च।
द्वीपान् नगांस्तद्दुहितृर्वनानि भूतानि यानि स्थिरजङ्गमानि।।
सा वीक्ष्य विश्वं सहसा राजन् संजातवेपथुः।
सम्भील्य मृगशावाक्षी नेत्रे आसीत् सुविस्मिता।।'

(श्रीमद्भा. १०/७/३४-३७)

एक दिनकी बात है, यशोदा मैया शिशु कृष्णको अपनी गोदमें बैठाकर स्तन-पान करा रही थीं। वे कृष्णके मन्दमुस्कानयुक्त मनोहर कपोलोंका चुम्बन करने लगीं। ठीक उसी समय शिशुने जम्भाई ली और अपने मुखमें मैयाको विश्वरूपका दर्शन कराया। सहसा शिशुके मुखमें विश्वरूपका दर्शनकर वे अत्यन्त विस्मित हुईं, उनका शरीर काँपने लगा, उनके नेत्र बन्द हो गए। वे सोचने लगीं—"हाय! मेंने यह क्या देखा। वे डर गईं कि कहीं किसी की नजर तो नहीं लग गई या किसीने कोई जादू-टोना तो नहीं कर दिया।" उन्होंने कुल पुरोहितको बुलाकर रक्षामन्त्रसे कृष्णका अभिषेक करवाया। तब कहीं वे चैनकी साँस ले पाईं। श्रील सनातन गोस्वामीने इस श्लोककी टीकामें एक गूढ़ रहस्यका उद्‌घाटन किया है—"यशोदा मैयाने बिना किसी दिव्य-चक्षुके द्वारा ही किस प्रकार कृष्णके विश्वरूपका दर्शन किया? श्रीकृष्णके प्रेमानन्द लक्ष्मीकी

दासी-स्वरूपा कोई ऐश्वरी शक्ति लीलापुष्टिके लिए यशोदा देवीको विस्मयरसका आस्वादन कराकर उनके प्रेमका नवीनीकरण कर रही हैं।"

श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरकी टीकाका मर्म इस प्रकार है—"यह ऐश्वरी शक्ति यशोदाके वात्सल्यज्ञानको शिथिल नहीं कर सकी। श्रीहरिकी यह शक्ति प्रेमदेवीकी परीक्षाके लिए उपस्थित हुई, किन्तु प्रेमदेवीका अमित प्रभाव देखकर उनका दासीत्व ग्रहण की। यहाँ यशोदा मैयाका वात्सल्य प्रेम ही प्रेमदेवी है।"

श्रीमद्भागवतमें अन्यत्र भी ऐसा देखा जाता है—

'एकदा क्रीडमानास्ते रामाद्या गोपदारकाः।
कृष्णो मृदं भक्षितवानिति मात्रे न्यवेदयन्॥
सा गृहीत्वा करे कृष्णमुपालभ्य हितैषिणी।
यशोदा भयसम्भ्रान्तपेक्षणाक्षमभाषत॥
कस्मान्मृदमदान्तात्मन् भवान् भक्षितवान् रहः।
वदन्ति तावका ह्येते कुमारास्तेऽग्रजोऽप्ययम्॥'

श्रीकृष्ण उवाच—

'नाहं भक्षितवानम्ब सर्वे मिथ्याभिशंसिनः।
यदि सत्यगिरस्तर्हि समक्षं पश्य मे मुखम्॥
यद्येवं तर्हि व्यादेहीत्युक्तः स भगवान् हरिः।
व्यादत्ताव्याहतैश्वर्यः क्रीडामनुजबालकः॥
सा तत्र ददृशे विश्वं जगत् स्थास्नु च खं दिशः।
साद्रिद्वीपाब्धिभूगोलं सवाय्वग्नीन्दुतारकम्॥
ज्योतिश्चक्रं जलं तेजो नभस्वान् वियदेव च।
वैकारिकाणीन्द्रियाणि मनो मात्रा गुणास्त्रयः॥
एतद् विचित्रसहजीवकालस्वभावकर्माशयलिङ्गभेदम्।
सूनोस्तनौ वीक्ष्य विदारितास्ये व्रजं सहात्मानमवाप शङ्काम्॥'

(१०/८/३२-३९)

और एक दिनकी बात है, श्रीकृष्ण श्रीदाम, सुबल, बलरामादि गोप बालकोंके साथ ब्रह्माण्ड घाटमें खेल रहे हैं। शिशु कृष्णने सबकी आँखोंसे बचकर एक मिट्टीका ढेला खा लिया। किन्तु, किसी प्रकार गोप बालकोंने यह देख लिया और मैया यशोदासे इसकी उलाहना दी। यशोदाजी दौड़ी हुई आईं और कृष्णका हाथ पकड़कर डाँटने-डपटने लगीं। कृष्णने भयसे

काँपते हुए कहा—"मैया! मैनें मिट्टी नहीं खाई। ये सारे बालक झूठ बोल रहे हैं। यदि विश्वास नहीं हो, तो तू स्वयं ही मेरा मुख देख ले।" ऐसा कहकर कृष्णने अपने मुखमें स्थावर-जङ्गम-अन्तरिक्ष आदि समस्त विश्व तथा अपने धामादिका भी दर्शन करा दिया। माधुर्य लीलामें ऐश्वर्य आदृत नहीं होनेपर भी उपयुक्त अवसरपर स्वयं प्रकटित हो जाता है अर्थात् माधुर्य लीलामें ऐवर्श्य प्रकट नहीं रहनेपर भी उसमें ऐश्वर्यका अभाव नहीं होता है। श्रीकृष्ण सम्पूर्ण ऐश्वर्य और माधुर्यके आधारस्वरूप हैं। किसी विशेष लीलाके अवसरपर दोनोंकी आवश्यकता होनेपर ऐश्वर्य स्वयं ही प्रकाशित हो पड़ता है। सत्य-सङ्कल्पता शक्तिके द्वारा प्रेरित होकर ऐश्वरी शक्ति प्रकट होकर, विश्वरूप दिखाकर यशोदादेवीको विस्मयरसमें निमग्नकर कृष्णके प्रति उनका जो कोप था, उसे विस्मृत करा दी। यही उसकी सेवा है अर्थात् इस प्रकार ऐश्वरी शक्तिने प्रेमदेवीकी सेवा की। कृष्ण क्रीड़ा-मनुज बालक हैं, इसीलिए लीलाकी पुष्टि तथा भक्तोंका प्रेम-वर्द्धन करनेके लिए लीला-विस्तारपूर्वक यदा-कदा ऐश्वर्यका प्रकाश करते हैं।

चैतन्य चरतामृतमें ऐसा देखा जाता है कि अद्वैताचार्यने श्रीचैतन्य महाप्रभुसे गीतामें वर्णित विश्वरूपको दर्शन करानेके लिए प्रार्थना की थी। श्रीचैतन्य महाप्रभुने उनके अनुरोधपर महाभारतमें घटित समस्त घटनाओंका अवलोकन कराया तथा विश्वरूप भी दिखाया। श्रीअद्वैताचार्यने उनके इस विश्वरूपको देखकर अपनी आँखें मूँद लीं। श्रीचैतन्य महाप्रभुने उस रूपका संगोपनकर अपने स्वाभाविक रूपको दिखाकर उन्हें स्वस्थ किया।

"तुम मेरे भक्त हो, तुम अपने निरुपाधिक प्रेमचक्षु द्वारा मेरे कृष्णस्वरूपका दर्शन करते हो। मेरा योगैश्वर्यमय स्वरूप साम्बन्धिक भावगत है, अतः (अप्रयोजनीय होनेके कारण) निरुपाधिक प्रेमचक्षु द्वारा लक्षित नहीं होता है। स्थूल जड़-दर्शक चक्षु भी मेरे ऐश्वर-स्वरूपको लक्ष्य नहीं कर सकता है। जो चक्षु सोपाधिक, किन्तु स्थूल नहीं हैं, उसे दिव्य चक्षु कहा जाता है। मैं तुम्हें वही दिव्य चक्षु प्रदान कर रहा हूँ, इसके द्वारा तुम मेरे ऐश्वर-स्वरूपका दर्शन करो। युक्तिमय और दिव्यचक्षु प्राप्त व्यक्तिगण मेरे निरुपाधिक कृष्णस्वरूपकी अपेक्षा सोपाधिक ऐश्वर्यरूपमें सहज ही प्रीति प्राप्त करते हैं, क्योंकि उनके निरुपाधिक प्रेममय चक्षु निमीलित (बन्द) रहते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।८।।

संजय उवाच—
एवमुक्त्वा ततो राजन् महायोगेश्वरो हरिः।
दर्शयामास पार्थाय परमं रूपमैश्वरम्।।९।।

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) राजन् (हे राजन्!) एवम् उक्त्वा (ऐसा कहकर) ततः (उसके बाद) महायोगेश्वरः (महायोगेश्वर) हरिः (श्रीहरिने) पार्थाय (अर्जुनको) परमम् ऐश्वरम् रूपम् (परम ऐश्वर्यमय रूप) दर्शयामास (दिखलाया)।।९।।

अनुवाद—सञ्जयने कहा—हे राजन्! इस प्रकार कहनेके बाद महायोगेश्वर श्रीहरिने अर्जुनको अपना परम ऐश्वर्यमय रूप दिखलाया।।९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—ऐसा कहकर श्रीभगवान्‌ने अर्जुनको विश्वरूप दिखाया। सञ्जय छः श्लोकोंमें उसी विषयको अन्धराज धृतराष्ट्रसे बता रहे हैं—श्रीकृष्ण महान एवं योगेश्वर हैं। विश्वरूप दर्शनके लिए उन्होंने अर्जुनको दिव्य चक्षु प्रदान किया है, इसलिए अर्जुन श्रीकृष्णके अत्यन्त प्रिय हैं। तात्पर्य यह कि अर्जुनके लिए युद्धमें विजय प्राप्त करना एक साधारण बात है। अब तो भगवत्-कृपासे लौकिक एवं पारलौकिक सब प्रकारसे अर्जुनका कल्याण होगा—इसमें सन्देह नहीं है। इसके द्वारा सञ्जयने यह भी इङ्गित किया कि धृतराष्ट्रकी अपने पुत्रोंके विजयकी आशा समूल नष्ट हो रही है।।९।।

अनेकवक्त्रनयनमनेकाद्भुतदर्शनम् ।
अनेकदिव्याभरणं दिव्यानेकोद्यतायुधम्।।१०।।
दिव्यमाल्याम्बरधरं दिव्यगन्धानुलेपनम्।
सर्वाश्चर्यमयं देवमनन्तं विश्वतोमुखम्।।११।।

अन्वय—अनेक-वक्त्र-नयनम् (अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त) अनेकात्-अद्भुत-दर्शनम् (अनेक आश्चर्याकृति वाले) अनेक-दिव्य-आभरणम् (अनेक दिव्य आभूषणोंसे भूषित) दिव्य-अनेक-उद्यत-आयुधम् (अनेक दिव्य अस्त्रधारी) दिव्य-माल्य-अम्बरधरम् (दिव्य माला और वस्त्रोंसे सुशोभित) दिव्य-गन्ध-अनुलेपनम् (दिव्य गन्ध द्वारा अनुलिप्त) सर्व-आश्चर्यमयम् (सभी आश्चर्योंसे युक्त) देवम् (कान्तियुक्त) अनन्तम् (अनन्त) विश्वतोमुखः (सर्वत्र मुखवाले) [रूपको देखा]।।१०-११।।

अनुवाद—अर्जुनने भगवान्‌के अनेक मुख और नेत्रोंसे युक्त, अनेक आश्चर्याकृतिवाले, अनेक दिव्य आभूषणोंसे भूषित, अनेक दिव्य अस्त्रधारी, दिव्य माला और वस्त्रोंसे सुशोभित, दिव्य गन्ध द्वारा अनुलिप्त, सभी आश्चर्योंसे युक्त, कान्तियुक्त, अनन्त तथा सर्वत्र मुखवाले रूपको देखा।।१०–११।।

श्रीविश्वनाथ—विश्वतः सर्वतो मुखानि यस्य तत्।।१०-११।।

भावानुवाद—'विश्वतोमुखम्' अर्थात् जिसका मुख सर्वत्र है।।१०-११।।

दिवि सूर्यसहस्रस्य भवेद् युगपदुत्थिता।
यदि भाः सदृशी सा स्याद्भासस्तस्य महात्मनः।।१२।।

अन्वय—यदि (यदि) दिवि (आकाशमें) सूर्यसहस्रस्य (हजार सूर्यकी) भाः (प्रभा) युगपत् (एकसाथ) उत्थिता भवेत् (उदित हो) [तर्हि—तब] सा (वह प्रभा) तस्य महात्मनः (महात्मा विश्वरूपकी) भासः सदृशी (प्रभाके समान) स्यात् (हो सके)।।१२।।

अनुवाद—यदि एक हजार सूर्यकी प्रभा एक साथ आकाशमें उदित हो, तो कदाचित् वह प्रभा उन महात्मा विश्वरूपकी प्रभाके समान हो।।१२।।

श्रीविश्वनाथ—एकदैव यदि भाः कान्तिरुत्थिता भवेत्, तदा तस्य महात्मनः विश्वरूपपुरुषस्य भासः प्रभायाः कान्तेः कथञ्चित् सदृशी भवेत्।।१२।।

भावानुवाद—यदि एक ही समय हजार सूर्यकी कान्ति उदित हो, तो वह शायद थोड़े परिमाणमें उन विश्वरूप पुरुषकी 'प्रभा' अर्थात् कान्तिके तुल्य हो।।१२।।

तत्रैकस्थं जगत्कृत्स्नं प्रविभक्तमनेकधा।
अपश्यद्देवदेवस्य शरीरे पाण्डवस्तदा।।१३।।

अन्वय—तदा पाण्डवः (उस समय अर्जुनने) देवदेवस्य (देवदेव विश्वरूपके) तत्र शरीरे (उस विराट शरीरमें) अनेकधा प्रविभक्तम् (अनेक रूपोंमें विभक्त) कृत्स्नम् (समग्र) जगत् (विश्वको) एकस्थम् (एकत्र स्थित) अपश्यत् (देखा)।।१३।।

अनुवाद—उस समय अर्जुनने देवोंके देव विश्वरूपके उस विराट शरीरमें अनेक रूपोंमें विभक्त समग्र विश्वको एकत्र स्थित देखा।।१३।।

श्रीविश्वनाथ—तत्र तस्मिन् युद्धभूमावेव देवदेवस्य शरीरे जगत् ब्रह्माण्डं कृत्स्नं सर्वमेव गणयितुमशक्यमित्यर्थः। प्रविभक्तं पृथक्पृथक्तया

स्थितमेकस्थमेकदेशस्थं प्रतिरोमकूपस्थं प्रतिकुक्षिस्थं वा इत्यर्थः। अनेकधा मृन्मयं हिरण्मयं मणिमयं वा पञ्चाशत्कोटियोजनप्रमाणं शतकोटियोजनप्रमाणं लक्षकोट्यादियोजन प्रमाणं वा इत्यर्थः।।१३।।

भावानुवाद—उस युद्धभूमिमें ही अर्जुनने उन देवदेवके शरीरमें अनगिनत ब्रह्माण्डोंको देखा। वे पृथक्-पृथक् भावसे उनके एक देश (भाग) में अर्थात् प्रत्येक रोमकूपमें अथवा प्रत्येक कुक्षिमें स्थित थे। वे 'अनेकधा' अर्थात् मृन्मय, हिरण्मय, मणिमय थे अथवा कोई पचास योजन, कोई सौ कोटि योजन तथा कोई कोई लाख कोटि योजन परिमाणवाला था।।१३।।

ततः स विस्मयाविष्टो हृष्टरोमा धनञ्जयः।
प्रणम्य शिरसा देवं कृताञ्जलिरभाषत।।१४।।

अन्वय—ततः (उसके बाद) सः धनञ्जयः (वे अर्जुन) विस्मयाविष्टः (विस्मित) [च—और] हृष्टरोमाः (रोमाञ्चित) [सन्—होकर] शिरसा प्रणम्य (मस्तक द्वारा प्रणामकर) कृताञ्जलिः (हाथ जोड़कर) देवम् (विश्वरूपधारी श्रीकृष्णको) अभाषत (कहने लगे)।।१४।।

अनुवाद—उसके बाद वे अर्जुन विस्मित और रोमाञ्चित होकर मस्तक द्वारा प्रणामकर कृताञ्जलिपूर्वक विश्वरूपधारी श्रीकृष्णसे इस प्रकार कहने लगे।।१४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—महायोगेश्वर श्रीकृष्णने अर्जुनको जो विश्वरूप दिखाया वह सर्वाश्चर्यमय, परम उज्ज्वल, अद्भुत दर्शनीय, नाना प्रकारके दिव्य आभरणोंसे अलङ्कृत, असीम और सर्वव्यापी था। अर्जुनने उन परमदेव श्रीकृष्णके शरीरमें सम्पूर्ण जगत्‌को एक स्थानमें अवस्थित तथा नाना प्रकारसे विभक्त रूपमें भी दर्शन किया। इस भयानक रूपका दर्शनकर अर्जुन कहीं भयभीत होकर भाग नहीं गया हो—धृतराष्ट्रकी ऐसी शङ्काको दूर करते हुए सञ्जयने कहा कि कृष्ण-तत्त्ववेत्ता अर्जुन सत्त्वगुणविशिष्ट भक्त हैं, कृष्णके वैसे सहस्रशीर्षा रूपका दर्शनकर भयभीत नहीं होकर उन्होंने अद्भुतरसका अनुभव किया। अर्जुन स्वाभाविक धीरता-सम्पन्न होनेपर भी उस अद्भुत भावमें आविष्ट होनेके कारण रोमाञ्चित और पुलकित हो उठे। वे नतमस्तक होकर नमस्कार करते हुए हाथ जोड़कर कहने लगे। यहाँ भयके कारण अर्जुनके नेत्र बन्द नहीं हुए, बल्कि उनमें अद्भुतरसका सञ्चार हुआ। यहाँ विश्वरूप श्रीकृष्ण इस रसके विषय-आलम्बन हैं, अर्जुन उसके आश्रय-आलम्बन हैं। अर्जुनका पुनः पुनः उस रूपको देखना

उद्दीपन है। प्रणति और अञ्जलिबन्धन अनुभाव हैं। रोमाञ्च आदि सात्त्विक भाव हैं। आक्षिप्त मति, धृति और हर्ष आदि सञ्चारी भाव हैं। यहाँ विस्मय स्थायी भाव है। अर्जुनके इस स्थायी भावके उपर पूर्वोक्त सामग्रियाँ मिलित होकर विस्मय रसको प्रकाशित कर रही हैं। अद्भुतरसके सम्बन्धमें श्रीभक्तिरसामृत सिन्धुमें श्रीरूपगोस्वामीने इस प्रकार लिखा है—

'आत्मोचितैर्विभवाद्यै स्वाद्यत्वं भक्तचेतसि।
सा विस्मय-रतिर्नीताद्भुत भक्तिरसो भवेत्।।'

(भ. र. सि. ४/२/१)

अर्थात्, यदि आत्मोचित (स्वयंके लिए उचित) विभावादि सामग्रियोंके सम्मिलनसे विस्मय-रति साधक भक्तके हृदयमें आस्वादनीय होती है, तो उसे अद्भुत भक्तिरस कहते हैं।।१४।।

अर्जुन उवाच—

पश्यामि देवांस्तव देव देहे सर्वांस्तथा भूतविशेषसङ्घान्।
ब्रह्माणमीशं कमलासनस्थमृषींश्च सर्वानुरगांश्च दिव्यान्।।१५।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अजुर्नने कहा) देव (हे देव!) तव देहे (आपके देहमें) सर्वान् देवान् (समस्त देवताओंको) भूतविशेषसङ्घान् (अनेक जीव-समुदायको) कमलासनस्थम् (कमलासनपर विराजमान) ब्रह्मानम् (ब्रह्माको) ईशम् (शिवको) सर्वान् दिव्यान् (सभी दिव्य) ऋषीन् च (ऋषियोंको) उरगान् च (और सर्पोंको) पश्यामि (देख रहा हूँ)।।१५।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे देव! मैं आपके शरीरमें समस्त देवताओं, अनेक जीवसमुदाय, कमलासनपर विराजमान ब्रह्मा, शिव, सभी दिव्य ऋषियों तथा सर्पोंको देख रहा हूँ।।१५।।

श्रीविश्वनाथ—भूतविशेषानां जरायुजादीनां सङ्घान्, कमलासनस्थं पृथ्वीपद्म-कर्णिकायां सुमेरौ स्थितं ब्रह्माणम्।।१५।।

भावानुवाद—'भूतविशेषाणां' का तात्पर्य है—जरायुजादि जीवोंका समूह तथा 'कमलासनस्थं' का तात्पर्य है—पृथ्वीपद्मकर्णिका सुमेरु पर्वतमें स्थित ब्रह्मा।।१५।।

अनेकबाहूदरवक्त्रनेत्रं पश्यामि त्वां सर्वतोऽनन्तरूपम्।
नान्तं न मध्यं न पुनस्तवादिं पश्यामि विश्वेश्वर विश्वरूप।।१६।।

अन्वय—विश्वेश्वर, विश्वरूप (हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप!)

अनेक-बाहु-उदर-वक्त्र-नेत्रम् (असंख्य बाहु-उदर-मुख-नयनविशिष्ट) अनन्तरूपम् (अनन्त रूपधारी) त्वाम् (आपको) सर्वतः (सर्वत्र ही) पश्यामि (देखता हूँ) पुनः (पुनः) तव (आपके) न आदिम् (न आदिको) न मध्यम् (न मध्यको) न अन्तम् (न अन्तको) पश्यामि (देखता हूँ)।।१६।।

अनुवाद—हे विश्वेश्वर! हे विश्वरूप! आपके असंख्य बाहु, उदर, मुख और चक्षुवाले अनन्त रूपोंको सर्वत्र ही देखता हूँ, पुनः आपका आदि, मध्य और अन्त—कुछ भी नहीं देखता हूँ।।१६।।

श्रीविश्वनाथ—हे विश्वेश्वर, आदिपुरुष।।१६।।

भावानुवाद—'विश्वेश्वर' का तात्पर्य है—आदिपुरुष।।१६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुन कहते हैं—"हे विश्वरूप! आपके इस शरीरमें अनेक बाहु, उदर, मुख, नेत्र और सर्वव्यापी अनन्त रूपोंको देख रहा हूँ, किन्तु इनके आदि-मध्य-अन्तकी कोई धारणा नहीं कर पा रहा हूँ।"।।१६।।

किरीटिनं गदिनं चक्रिणञ्च तेजोराशिं सर्वतो दीप्तिमन्तम्।
पश्यामि त्वां दुर्निरीक्ष्यं समन्ताद्दीप्तानलार्कद्युतिमप्रमेयम्।।१७।।

अन्वय—त्वाम् (आपको) किरीटिनम् (मुकुट) गदिनम् (गदा) चक्रिणम् च (और चक्रसे युक्त) सर्वतः (सर्वत्र) दीप्तिमन्तम् (प्रकाशमान) तेजोराशिम् (तेजके पुञ्ज) दुर्निरीक्ष्यम् (दुर्दर्शनीय) दीप्तानलार्कद्युतिम् (प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके समान ज्योतिर्मान) अप्रेमयम् (अपरिसीम) समन्तात् (सर्वत्र) पश्यामि (देखता हूँ)।।१७।।

अनुवाद—मैं मुकुट, गदा और चक्रसे युक्त, पूर्णरूपेण प्रकाशमान तेजपुञ्जस्वरूप, दुर्दर्शनीय, प्रज्वलित अग्नि और सूर्यके समान ज्योतिर्मय और अपरिसीम आपको सर्वत्र देखता हूँ।।१७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—विश्वरूपको देखकर अर्जुन कह रहे हैं—"हे विश्वेश्वर! आपके श्रीअङ्ग, मस्तक, किरीट, गदा, चक्रादिको करोड़ों सूर्य जैसे तेजपुञ्जसे पूर्ण देख रहा हूँ। इनकी ओर दृष्टिपात करना दुःसाध्य है। मैं सभी दिशाओंमें इनका दर्शन कर रहा हूँ। इसका आदि-अन्त कुछ भी निश्चय नहीं कर पा रहा हूँ।" यदि कहा जाय कि फिर ऐसे रूपका अर्जुन किस प्रकार दर्शन कर रहे हैं, तो इसका उत्तर यह है कि भगवान्ने अनुग्रहपूर्वक अर्जुनको दिव्य-चक्षु दिया था, उसीसे वे सहज रूपमें इसका दर्शन कर रहे हैं।।१७।।

त्वमक्षरं परमं वेदितव्यं त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
त्वमव्ययः शाश्वतधर्मगोप्ता सनातनस्त्वं पुरुषो मतो मे।।१८।।

अन्वय—त्वम् (आप) वेदितव्य (मुक्त पुरुषोंके जानने योग्य) परमम् अक्षरम् (परब्रह्म हैं) त्वम् (आप) अस्य विश्वस्य (इस विश्वके) परम् निधानम् (परम आश्रय हैं) त्वम् (आप) अव्ययः (अविनाशी) शाश्वत-धर्म-गोप्ता (सनातन धर्मके रक्षक हैं) त्वम् (आप) सनातनः पुरुषः (सनातन पुरुष हैं) [ईति—ऐसा] मे (मेरा) मतः (मत है)।।१८।।

अनुवाद—आप मुक्त पुरुषोंके जानने योग्य परम अक्षरतत्त्व (परब्रह्म) हैं, आप इस विश्वके परम आश्रय हैं, आप अविनाशी और सनातन धर्मरक्षक हैं तथा आप सनातन पुरुष हैं—ऐसा मेरा मत है।।१८।।

श्रीविश्वनाथ—वेदितव्यं मुक्तैर्ज्ञेयं यदक्षरं ब्रह्मतत्त्वम्, निधानं लयस्थानम्।।१८।।

भावानुवाद—'वेदितव्यं' का तात्पर्य है—मुक्त पुरुषोंके द्वारा ज्ञेय, 'यदक्षरं' अर्थात् ब्रह्मतत्त्व तथा 'निधानं' अर्थात् लयस्थान।।१८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अचिन्त्य महैश्वर्यपूर्ण रूपका दर्शनकर अर्जुनने यह निश्चय किया कि ये ही परम वेदितव्य अक्षर तत्त्व हैं। और पराविद्याके ही द्वारा इन्हें जाना जा सकता है। ये सबके आश्रय, अव्यय और अविनाशी पुरुष हैं। शाश्वत अर्थात् सनातन धर्मके भी उद्गम स्थल एवं रक्षक ये ही हैं।

'स कारणं कारणाधिपाधिपो न चास्य कश्चिजनिता न चाधिपः।'

(श्वे. उ. ६/९)

इस मन्त्रमें वर्णित सनातन, सर्व कारणोंके कारण पुराण पुरुष ये ही हैं।।१८।।

अनादिमध्यान्तमनन्तवीर्यमनन्तबाहुं शशिसूर्यनेत्रम्।
पश्यामि त्वां दीप्तहुताशवक्त्रं स्वतेजसा विश्वमिदं तपन्तम्।।१९।।

अन्वय—[अहम्—मैं] अनादि-मध्य-अन्तम् (आदि, मध्य और अन्तरहित) अनन्तवीर्यम् (अनन्त वीर्यवाले) अनन्तबाहुः (अनन्त भुजायुक्त) शशि-सूर्य-नेत्रम् (चन्द्र और सूर्य जैसे नेत्रयुक्त) दीप्तहुताशवक्त्रम् (प्रज्वलित अग्निके समान मुखवाले) स्वतेजसा (अपने तेज द्वारा) इदम् विश्वम् (इस विश्वको) तपन्तम् (सन्ताप देनेवाले) त्वाम् (आपको) पश्यामि (देखता हूँ)।।१९।।

अनुवाद—मैं आदि-मध्य-अन्तरहित, अनन्त वीर्यशाली, अनन्त भुजायुक्त, चन्द्र-सूर्य जैसे नेत्रयुक्त, प्रज्वलित अग्निके समान मुखवाले तथा अपने तेजसे इस विश्वको सन्ताप देनेवाले आपको देखता हूँ।।१९।।

श्रीविश्वनाथ—अनादीत्यत्र महाविस्मयरससिन्धुनिमग्नस्यार्जुनस्य वचसि पौनरुक्त्यं न दोषाय; यदुक्तम्—'*प्रमादे विस्मये हर्षे द्विस्त्रिरुक्तं न दुष्यति*'।।१९।।

भावानुवाद—महाविस्मय समुद्रमें निमग्न अर्जुनके द्वारा 'अनादि' इत्यादि वाक्यके प्रयोगसे पुनरुक्ति दोष नहीं होता है, क्योंकि ऐसा कहा भी गया है—प्रमाद, विस्मय और हर्षमें एक विषयकी द्विरुक्ति, त्रिरुक्ति आदि दूषणीय नहीं हैं।।१९।।

द्यावापृथिव्योरिदमन्तरं हि व्याप्तं त्वयैकेन दिशश्च सर्वाः।
दृष्ट्वाद्भुतं रूपमिदं तवोग्रं लोकत्रयं प्रव्यथितं महात्मन्।।२०।।

अन्वय—त्वया (आपसे) एकेन हि (अकेले ही) द्यावापृथिव्योः (स्वर्ग और पृथ्वीका) इदम् अन्तरम् (यह मध्यभाग अर्थात् अन्तरिक्ष) व्याप्तम् (व्याप्त है) सर्वाः दिशः च (और सभी दिशाएँ भी) [व्याप्त हैं] महात्मन् (हे महात्मन्!) तव (आपकी) इदम् अद्भुतम् (यह अद्भुत) उग्रम्-रूपम् (उग्रमूर्त्ति) दृष्ट्वा (देखकर) लोकत्रयम् (तीनों लोक) प्रव्यथितम् (अत्यन्त भयभीत और व्यथित हो रहे हैं)।।२०।।

अनुवाद—अकेले आपसे ही स्वर्ग और पृथ्वीके बीचका भाग अर्थात् अन्तरिक्ष तथा सभी दिशाएँ व्याप्त हैं। हे महात्मन्! आपकी इस अद्भुत मूर्त्तिको देखकर तीनों लोक अत्यन्त भयभीत तथा व्यथित हो रहे हैं।।२०।।

श्रीविश्वनाथ—अथ प्रस्तुतोपयोगित्वात्तस्यैव रूपस्य कालरूपत्वं दर्शयामास—द्यावेत्यादिदशभिः।।२०।।

भावानुवाद—अनन्तर भगवान् प्रस्तावके उपयोगी होनेके कारण (प्रयोजनीय) उस (विश्व) रूपके ही कालरूपत्वको 'द्यावा' इत्यादि दश श्लोकोंमें दिखा रहे हैं।।२०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुन भगवान्के इस कालरूपको देखकर कह रहे हैं कि हे सर्वाश्रय! आपके इस विश्वरूपके द्वारा पृथ्वी, अन्तरिक्ष, आकाश एवं समस्त दिशाएँ परिव्याप्त हो रही हैं। आप अकेले ही त्रिभुवनमें व्याप्त हैं। आपके इस अलौकिक महाद्भुत रूपका दर्शनकर सभी त्रिलोकवासी भयसे व्याकुल और विचलित हो उठे हैं।

यहाँ लक्ष्य करनेकी बात यह है कि अकेले अर्जुन इस विश्वरूपका दर्शन नहीं कर रहे हैं, बल्कि कुरूक्षेत्रके इस महाद्भुत युद्धको ब्रह्मादि देवता, अनेक असुर, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस, किन्नर और मानवादि भी अपने अपने भावोंके अनुसार कोई मित्रभावसे, कोई शत्रुभावसे तो कोई उदासीनभावसे देख रहे हैं। उनमें से केवल भक्तिमान् लोग ही भगवत्कृपासे दिव्य चक्षुसम्पन्न होकर इस विश्वरूपका दर्शन कर रहे थे। केवल अर्जुन ही स्वप्नाश्रित व्यक्तिकी भाँति स्वाप्निक रथ-अश्वादिकी भाँति विश्वरूपका दर्शन कर रहे थे—ऐसा नहीं, क्योंकि व्यास, सञ्जय, भीष्मपितामह, ब्रह्मा प्रभृति बहुतसे लोग भगवान्के इस ऐश्वरिक रूपके दर्शनके साक्षी हैं। यही इस श्लोकका गूढ़ रहस्य है।।२०।।

अमी हि त्वां सुरसङ्घा विशन्ति केचिद्भीताः प्राञ्जलयो गृणन्ति।
स्वस्तीत्युक्त्वा महर्षिसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां स्तुतिभिः पुष्कलाभिः।।२१।।

अन्वय—अमी (ये समस्त) सुरसङ्घाः (देवसमूह) त्वान् हि (आपमें ही) विशन्ति (प्रवेश करते हैं) केचित् (कोई कोई) भीताः (भयभीत होकर) प्राञ्जलयः (हाथ जोड़कर) गृणन्ति (स्तव करते हैं) महर्षि-सिद्ध-सङ्घाः (महर्षि और सिद्धसमूह) स्वस्ति इति उक्त्वा (स्वस्ति वाक्य उच्चारणकर) पुष्कलाभिः स्तुतिभिः (प्रचुर मनोरम स्तवोंके द्वारा) वीक्षन्ते (दर्शन करते हैं)।।२१।।

अनुवाद—ये समस्त देवगण आपमें ही प्रवेश कर रहे हैं, कोई कोई भयभीत होकर हाथ जोड़कर स्तव कर रहे हैं, महर्षि और सिद्धगण स्वस्ति वाक्योंका उच्चारणकर प्रचुर मनोरम स्तवोंके द्वारा आपका दर्शन कर रहे हैं।।२१।।

श्रीविश्वनाथ—त्वा त्वाम्।।२१।।

भावानुवाद—'त्वा' अर्थात् 'त्वाम्'।।२१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुन विश्वरूपके कालरूपत्वको देखकर उसमें आविष्ट हो गए और पुनः कहने लगे—युद्धक्षेत्रमें समागत देवगण शरणागत होकर आपमें प्रवेश कर रहे हैं। कोई कोई डरकर भागनेको उद्यत हैं, किन्तु भागनेमें असमर्थ होनेके कारण हाथ जोड़कर कातरभावसे प्रार्थना कर रहे हैं—'प्रभो! मेरी रक्षा करें', साथ ही महर्षि और सिद्धपुरुष युद्धका भीषण परिणाम देखकर कह रहे हैं—विश्वका मङ्गल हो।।२१।।

रुद्रादित्या वसवो ये च साध्या विश्वेऽश्विनौ मरुतश्चोष्मपाश्च।
गन्धर्वयक्षासुरसिद्धसङ्घा वीक्षन्ते त्वां विस्मिताश्चैव सर्वे॥२२॥

अन्वय—ये (जो) रुद्रादित्याः (रुद्र और आदित्यगण) वसवः (अष्ट वसु) च साध्याः (एवं साध्य देवतागण) विश्वे (विश्वदेवगण) अश्विनौ (दोनों अश्विनीकुमार) मरुतः (मरुद्गण) उष्मपाश्च (एवं पितृगण) गन्धर्व-यक्ष-असुर-सिद्ध-सङ्घाः (गन्धर्व, यक्ष, असुर और सिद्धगण हैं) सर्व एव (सभी) विस्मिताः (विस्मित) [सन्तः—होकर] त्वाम् (आपको) वीक्षन्ते (देखते हैं)॥२२॥

अनुवाद—जो (ग्यारह) रुद्र और (बारह) आदित्यगण, अष्ट वसु, साध्य देवगण, विश्वदेवगण, दोनों अश्विनीकुमार, मरुद्गण, पितृगण, गन्धर्व, यक्ष, राक्षस और सिद्धगण हैं—वे सभी विस्मित होकर आपको देख रहे हैं॥२२॥

श्रीविश्वनाथ—उष्माणं पिबन्तीत्युष्मपाः पितरः—*"उष्मभागा हि पितरः"* इति श्रुतेः॥२२॥

भावानुवाद—जो उष्मा ग्रहण करते हैं, वे 'उष्मपाः' हैं। श्रुतिमें भी कहा गया है—*'उष्मभागा हि पितरः'* अर्थात् पितृगणका भाग उष्मा है॥२२॥

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान्के इस ऐश्वर-रूपको केवल अर्जुन ही नहीं, बल्कि रुद्रगण, द्वादश आदित्य, अष्ट वसु, साध्यगण, विश्वदेवगण, दोनों अश्विनीकुमार, मरुद्गण, उष्मपा आदि पितृगण, चित्ररथ आदि गन्धर्वगण कुबेर आदि यक्षगण, विरोचन आदि दैत्यगण, कपिल आदि सिद्धपुरुष—ये सभी विस्मित होकर देख रहे हैं। यहाँ 'उष्मपाः' का तात्पर्य है—उष्ण द्रव्य पान करनेवाले पितृगण॥२२॥

रूपं महत्ते बहुवक्त्रनेत्रं महाबाहो बहुबाहूरुपादम्।
बहूदरं बहुदंष्ट्राकरालं दृष्ट्वा लोकाः प्रव्यथितास्तथाहम्॥२३॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) बहु-वक्त्र-नेत्रम् (अनेक मुख और नेत्रोंवाले) बहु-बाहु-उरु-पादम् (असंख्य बाहु, उरु और चरणोंवाले) बहूदरम् (अनेक उदरोंवाले) बहुदंष्ट्राकरालम् (बहुतसे दातोंके कारण विकराल) ते (आपके) महत् रूपम् (विराट्रूपको) दृष्ट्वा (देखकर) लोकाः (सभी लोग) तथा (तथा) अहम् (मैं) प्रव्यथिताः (अत्यन्त भयभीत हो रहा हूँ)॥२३॥

अनुवाद—हे महाबाहो! अनेक नेत्रोंवाले, असंख्य बाहु, उरु और पैरोंवाले, अनेक उदरोंवाले तथा अनेक दातोंके कारण विकराल आपके विराट रूपको देखकर सभी लोग तथा मैं अत्यन्त भयभीत हो रहा हूँ॥२३॥

नभःस्पृशं दीप्तमनेकवर्णं व्यात्ताननं दीप्तविशालनेत्रम्।
दृष्ट्वा हि त्वां प्रव्यथितान्तरात्मा धृतिं न विन्दामि शमञ्च विष्णो।।२४।।

अन्वय—विष्णो (हे विष्णो!) नभःस्पृशः (आकाशव्यापी) दीप्तम् (तेजोमय) अनेकवर्णम् (अनेक वर्णोंवाले) व्यात्ताननम् (फैलाये हुए मुखोंवाले) दीप्तविशालनेत्रम् (प्रज्वलित विशाल नेत्रोंवाले) त्वाम् हि (आपको) दृष्ट्वा (देखकर) प्रव्यथितान्तरात्मा (भयभीत अन्तःकारणवाला) अहम् (मैं) धृतिम् (धैर्य) शमम् च (और शान्ति) न विन्दामि (नहीं पाता हूँ)।।२४।।

अनुवाद—हे विष्णो! आकाशव्यापी, तेजोमय, अनेक वर्णोंवाले, फैलाये हुए मुखोंवाले तथा प्रज्वलित विशाल नेत्रोंवाले आपको देखकर भयभीत अन्तःकरणवाला मैं धैर्य और शान्ति नहीं पाता हूँ।।२४।।

श्रीविश्वनाथ—शमम् उपशमम्।।२४।।

भावानुवाद—'शमं' का तात्पर्य हैं—उपशम अर्थात् शान्ति।।२४।।

दंष्ट्राकरालानि च ते मुखानि दृष्ट्वैव कालानलसन्निभानि।
दिशो न जाने न लभे च शर्म प्रसीद देवेश जगन्निवास।।२५।।

अन्वय—ते (आपके) दंष्ट्राकरालानि (भीषण दाँतोंके कारण विकराल) कालानलसन्निभानि च (और प्रलयकालीन अग्निके समान) मुखानि (मुखसमूह) दृष्ट्वा एव (देखकर ही) [अहम्—मैं] दिशः न जानि (दिशाओंका निर्णय नहीं कर पाता हूँ) शर्म च (और सुख भी) न लभे (नहीं प्राप्त करता हूँ) देवेश (हे देवेश!) जनन्निवास (हे जगन्निवास!) [त्वम्—आप] प्रसीद (प्रसन्न होवें)।।२५।।

अनुवाद—आपके विकराल दाँतोंको तथा प्रलयकालीन अग्निके समान मुखोंको देखकर ही मैं दिशाओंका निर्णय नहीं कर पाता हूँ और सुख भी नहीं प्राप्त करता हूँ। अतः हे देवेश! हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होवें।।२५।।

अमी च त्वां धृतराष्ट्रस्य पुत्राः सर्वे सहैवावनिपालसङ्घैः।
भीष्मो द्रोणः सूतपुत्रस्तथासौ सहास्मदीयैरपि योधमुख्यैः।।२६।।
वक्त्राणि ते त्वरमाणा विशन्ति दंष्ट्राकरालानि भयानकानि।
केचिद्विलग्ना दशनान्तरेषु सन्दृश्यन्ते चूर्णितैरुत्तमाङ्गैः।।२७।।

अन्वय—अमी (ये सभी) धृतराष्ट्रस्य पुत्राः (धृतराष्ट्रके पुत्रगण) सर्वे (समस्त) अवनिपालसङ्घैः सह एव (राजाओंके साथ ही) तथा भीष्मः द्रोणः

(तथा भीष्म, द्रोण) असौ सूतपुत्रः च (और कर्ण) अस्मदीयैः (हमारे पक्षके) योधमुख्यैः (प्रधान योद्धाओंके) सह अपि (सहित ही) त्वाम् त्वरमाणाः (आपकी ओर वेगसे धावित होकर) ते (आपके) दंष्ट्राकरालानि (भीषण दाँतोंके कारण विकराल) भयानकानि (भयङ्कर) वक्त्राणि (मुखगुहाओंमें) विशन्ति (प्रवेश कर रहे हैं) केचित् (कोई कोई) चूर्णितैः उत्तमाङ्गैः (चूर्णितमस्तक होकर) दशनान्तरेषु (दाँतोंके मध्य भागमें) विलग्नाः (संलग्न होकर) संदृश्यते (भलीभाँति दीख रहे हैं)।।२६–२७।।

अनुवाद—ये धृतराष्ट्रके पुत्रगण समस्त राजाओंको सङ्गकर भीष्म, द्रोण, कर्ण और हमारे पक्षके योद्धागणसहित ही आपकी ओर तीव्र गतिसे धावित होकर आपके विकराल दन्तयुक्त भयानक मुखगुहाओंमें प्रवेश कर रहे हैं, कोई कोई चूर्णितमस्तक होकर आपके दाँतोंके मध्यभागमें संलग्न दीख रहे हैं।।२६–२७।।

यथा नदीनां बहवोऽम्बुवेगाः समुद्रमेवाभिमुखा द्रवन्ति।
तथा तवामी नरलोकवीरा विशन्ति वक्त्राण्यभितो ज्वलन्ति।।२८।।

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) नदीनाम् (नदियोंके) बहवः अम्बुवेगाः (बहु जलप्रवाह) अभिमुखाः (समुद्रकी ओर अभिमुख होकर) समुद्रमेव (समुद्रमें ही) द्रवन्ति (प्रवेश करते हैं) तथा (उसी प्रकार) अमी (ये समस्त) नरलोकवीराः (नरवीर) तव (आपके) अभितः (सर्वत्र) ज्वलन्ति (प्रज्वलित) वक्त्राणि (मुखोंमें) विशन्ति (प्रवेश कर रहे हैं)।।२८।।

अनुवाद—जिस प्रकार नदियोंका जल अत्यधिक वेगसे समुद्रकी ओर अभिमुख होकर समुद्रमें ही प्रवेश करता है, उसी प्रकार ये समस्त नरवीर सर्वत्र प्रज्वलित आपके मुखोंमें प्रवेश कर रहे हैं।।२८।।

यथा प्रदीप्तं ज्वलनं पतङ्गा विशन्ति नाशाय समृद्धवेगाः।
तथैव नाशाय विशन्ति लोकास्तवापि वक्त्राणि समृद्धवेगाः।।२९।।

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) पतङ्गाः (पतङ्गगण) नाशाय (मरनेके लिए) समृद्धवेगाः (प्रबल वेगसे) प्रदीप्तम् ज्वलनम् (प्रज्वलित अग्निमें) विशन्ति (प्रवेश करते हैं) तथा (उसी प्रकार) लोकाः अपि (ये लोग भी) नाशाय (मरनेके लिए ही) समृद्धवेगाः (अतिवेगसे) तव (आपके) वक्त्राणि (मुखोंमें) विशन्ति (प्रविष्ट हो रहे हैं)।।२९।।

अनुवाद—जिस प्रकार पतङ्गें मरनेके लिए प्रबल वेगसे प्रज्वलित अग्निमें प्रवेश करते हैं, उसी प्रकार ये लोग भी मरनेके लिए अति वेगसे आपके मुखोंमें प्रविष्ट हो रहे हैं।।२९।।

लेलिह्यसे ग्रसमानः समन्ताल्लोकान् समग्रान् वदनैर्ज्वलद्भिः।
तेजोभिरापूर्य जगत्समग्रं भासस्तवोग्राः प्रतपन्ति विष्णो।।३०।।

अन्वय—विष्णो (हे विष्णो!) [त्वम्—आप] जलद्भिः वदनैः (प्रज्वलित मुखों द्वारा) समग्रान् लोकान् (समस्त लोकोंको) ग्रसमानः (ग्रास करते हुए) समन्तात् (सभी ओरसे) लेलिह्यसे (पुनः पुनः अवलेहन कर रहे हैं अर्थात् चाट रहे हैं) तव (आपकी) उग्राः भासः (तीव्र ज्योति) समग्रम् जगत् (समग्र जगत्को) तेजोभिः (तेजके द्वारा व्याप्तकर) प्रतपन्ति (सन्तप्त कर रही है)।।३०।।

अनुवाद—हे विष्णो! आप अपने प्रज्वलित मुखों द्वारा समस्त लोकोंको ग्रास करते हुए उसे सभी ओरसे पुनः पुनः अवलेहन कर (चाट) रहे हैं। आपकी तीव्र ज्योति सम्पूर्ण जगत्को तेजके द्वारा व्याप्तकर सन्तप्त कर रही है।।३०।।

आख्याहि मे को भवानुग्ररूपो नमोऽस्तु ते देववर प्रसीद।
विज्ञातुमिच्छामि भवन्तमाद्यं न हि प्रजानामि तव प्रवृत्तिम्।।३१।।

अन्वय—उग्ररूपः (उग्ररूपधारी) भवान् (आप) कः (कौन हैं) मे (मुझे) आख्याहि (बतावें) ते (आपको) नमः अस्तु (प्रणाम करता हूँ) देववर (हे देवश्रेष्ठ!) प्रसीद (प्रसन्न होवें) आद्यम् (आदि कारण) भवन्तम् (आपको) विज्ञातुम् (विशेष रूपसे जाननेकी) इच्छामि (इच्छा करता हूँ) हि (क्योंकि) [अहम्—मैं] तव (आपकी) प्रवृत्तिम् (प्रवृत्तिको) न प्रजानामि (नहीं जानता हूँ)।।३१।।

अनुवाद—हे देवश्रेष्ठ! आपको मेरा नमस्कार है, आप प्रसन्न होवें। कृपया मुझे बतावें कि उग्ररूपधारी आप कौन हैं? मैं आदि कारण आपको विशेष रूपसे जाननेकी इच्छा करता हूँ, क्योंकि मैं आपकी प्रवृत्तिको नहीं जानता हूँ।।३१।।

श्रीभगवानुवाच—

कालोऽस्मि लोकक्षयकृत्प्रवृद्धो लोकान् समाहर्तुमिह प्रवृत्तः।
ऋतेऽपि त्वां न भविष्यन्ति सर्वे येऽवस्थिताः प्रत्यनीकेषु योधाः।।३२।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) [अहम्—मैं] लोकक्षयकृत् (लोकोंका नाश करनेवाला) प्रवृद्धः कालः अस्मि (अति उत्कट काल

हूँ) लोकान् (लोकोंका) समाहर्त्तुम् (संहार करनेके लिए) इह (अभी) प्रवृत्तः (प्रवृत्त हुआ हूँ) प्रत्यनीकेषु (प्रतिपक्षमें) ये योद्धाः (जो योद्धागण) अवस्थिताः (अविस्थत हैं) [ते—वे] सर्वे (समस्त) त्वाम् ऋते अपि (तुम्हारे [द्वारा हत हुए] बिना भी) न भविष्यन्ति (जीवित नहीं रहेंगे)।।३२।।

अनुवाद—श्रीभगवान्‌ने कहा—मैं लोकोंका नाश करनेवाला अत्युत्कट काल हूँ और लोकोंका संहार करनेके लिए ही अभी प्रवृत्त हुआ हूँ। प्रतिपक्षमें जो योद्धागण हैं, वे तुम्हारे द्वारा हत हुए बिना भी जीवित नहीं रहेंगे।।३२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीभगवान् अर्जुनको कह रहे हैं—मैं सर्वसंहारक कालरूप हूँ। इस समय मैंने विराट रूप धारण किया है। मैं अभी दुर्योधन आदिका संहार करनेको प्रस्तुत हूँ। इस रूपकी प्रवृत्तिका परिणाम तुम जान लो कि तुम पाँचों पाण्डवोंके अतिरिक्त इस युद्धक्षेत्रसे कोई भी जीवित नहीं लौटेगा। तुम या तुम्हारे समान योद्धाओंकी चेष्टाके बिना ही सभी कालके विकराल कवलमें अवश्य ही पतित होंगे। क्योंकि, मैंने कालरूपमें उन सबकी आयुको हर लिया है। दोनों पक्षके जो वीर यहाँ उपस्थित हैं, युद्धके बिना भी उन सबका मृत्युके मुखमें प्रवेश होना अवश्यम्भावी है। अर्जुन! ऐसी स्थितिमें युद्धसे निवृत्त होनेपर तुम स्वधर्मसे च्युत तो हो ही जाओगे, किन्तु वे लोग भी बच नहीं सकेंगे।।३२।।

तस्मात्त्वमुत्तिष्ठ यशो लभस्व जित्वा शत्रून्भुङ्क्ष्व राज्यं समृद्धम्।
मयैवैते निहताः पूर्वमेव निमित्तमात्रं भव सव्यसाचिन्।।३३।।

अन्वय—तस्मात् (अतः) त्वम् (तुम) उत्तिष्ठ (उठो) यशः लभस्व (कीर्त्ति लाभ करो) शत्रून् जित्वा (शत्रुओंको जीतकर) समृद्धम् राज्यम् (समृद्ध राज्यका) भुङ्क्ष्व (भोग करो) मया एव (मेरे द्वारा ही) एते (ये समस्त) पूर्वमेव (पूर्व ही) निहताः (निहत हुए हैं) सव्यसाचिन् (हे सव्यसाचिन्!) [त्वम्—तुम] निमित्तमात्रम् भव (निमित्तमात्र बन जाओ)।।३३।।

अनुवाद—अतः तुम उठो और शत्रुओंको जीतकर कीर्त्ति लाभ करो एवं समृद्ध राज्यका भोग करो। ये समस्त योद्धागण मेरे द्वारा पूर्व ही निहत हो चुके हैं। अतः हे सव्यसाचिन्! तुम निमित्तिमात्र बन जाओ।।३३।।

द्रोणञ्च भीष्मञ्च जयद्रथञ्च कर्णं तथान्यानपि योधवीरान्।
मया हतांस्त्वं जहि मा व्यथिष्ठा युध्यस्व जेतासि रणे सपत्नान्।।३४।।

अन्वय—मया (मेरे द्वारा) हतान् (पूर्व ही विनाशप्राप्त) द्रोणम् च (द्रोणका) भीष्मम् च (भीष्मका) जयद्रथम् च (जयद्रथका) कर्णम् (कर्णका)

तथा अन्यान् (तथा अन्यान्य) योधवीरान् अपि (वीर योद्धाओंका भी) त्वम् (तुम) जहि (वध करो) मा व्यथिष्ठाः (व्यथित मत होओ) रणे (युद्धमें) सपत्नान् (शत्रुओंको) जेतासि (जीतोगे) [अतः] युध्यस्व (युद्ध करो)।।३४।।

अनुवाद—मेरे द्वारा पूर्व ही विनाशप्राप्त द्रोण, भीष्म, जयद्रथ, कर्ण तथा अन्यान्य वीर योद्धाओंका भी तुम वध करो, व्यथित मत होओ। तुम युद्धमें शत्रुओंको जीतोगे, अतः युद्ध करो।।३४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ 'भीष्म-द्रोण-जयद्रथ-कर्णादिका मैंने पहले ही विनाशकर दिया है' का गूढ़ तात्पर्य है। भगवान् कह रहे हैं कि जिस समय कौरव पक्षके योद्धागण सबके समक्ष सभामें द्रौपदीको निर्वस्त्रकर अपमानितकर रहे थे, उसी समय उनके इस घोर वैष्णवापराधके कारण वे सभी मेरे द्वारा मारे गए हैं। केवल तुम्हें यशस्वी बनानेके लिए इन शत्रुओंको यन्त्र-प्रतिमाकी भाँति (पुतलीके समान) तुम्हारे समक्ष खड़ा किया है अर्थात् ये जीवनरहित हैं। तुम इनके संहारका निमित्तमात्र बनो।

श्रीकृष्णने महाभारत युद्धमें उपस्थित वीरोंकी आयु युद्धसे पूर्व ही हर ली थी। श्रीमद्भागवतमें भीष्मके स्तवमें ऐसा कहा गया है—

'सपदि सखिवचो निशम्य मध्ये निजपरयोर्बलयो रथं निवेश्य।
स्थितवति परसैनिकायुरक्ष्णा हृतवति पार्थसखे रतिर्ममास्तु।।'

(श्रीमद्भा. १/९/३५)

अर्थात्, सखा अर्जुनके इस बातको सुनकर कि दोनों सेनाओंके बीचमें मेरे रथको स्थापित करें, जो तत्क्षण दोनों सेनाओंके बीच अपना रथ ले आए और वहाँ स्थित होकर ये द्रोण हैं, ये भीष्म हैं—इस प्रकार परिचय देनेके बहाने अपनी दृष्टिसे ही शत्रुपक्षके सैनिकोंकी आयु छीन ली, उन पार्थसखा भगवान् श्रीकृष्णमें मेरी परम रति हो।।३४।।

सञ्जय उवाच—

एतच्छ्रुत्वा वचनं केशवस्य कृताञ्जलिर्वेपमानः किरीटी।
नमस्कृत्वा भूय एवाह कृष्णं सगद्गदं भीतभीतः प्रणम्य।।३५।।

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) केशवस्य (भगवान् श्रीकेशवके) एतत् वचनम् (इस वचनको) श्रुत्वा (श्रवणकर) वेपमानः (कम्पायमान) किरीटी (अर्जुनने) कृताञ्जलिः [सन्] (होथ जोड़कर) नमस्कृत्य (नमस्कार कर) भीतभीतः (अत्यन्त भयभीत होकर) भूयः एव

(पुनः) प्रणम्य (प्रणामकर) सगद्‌गदम् (गद्‌गद-भावसे) कृष्णम् (श्रीकृष्णको) आह (कहा)।।३५।।

अनुवाद—सञ्जयने कहा—भगवान् श्रीकेशवके इन वचनोंको श्रवणकर कम्पायमान अर्जुनने हाथ जोड़कर, नमस्कारकर तथा अत्यन्त भयभीत होते हुए पुनः प्रणामकर गद्‌गद होकर श्रीकृष्णसे कहा।।३५।।

श्रीविश्वनाथ—नमस्कृत्वा इत्यार्षम्।।३५।।

भावानुवाद—नमस्कृत्वा—यह आर्ष प्रयोग है।।३५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—सञ्जयके मुखसे कृष्ण और अर्जुनके कथोपकथनको सुनकर महाराज धृतराष्ट्र निःसंशयपूर्वक समझ गए कि भीष्म-द्रोण प्रमुख अजेय महारथी भी मारे जाएँगे। अतः दुर्योधनके विजयकी कोई सम्भावना नहीं हैं। ऐसी परिस्थितिमें सन्धिके प्रस्तावके लिए यत्न करना चाहिए—धृतराष्ट्रके मनमें ऐसा विचार उदित हुआ, किन्तु बाह्यतः वे कुछ नहीं बोले। बुद्धिमान् सञ्जय उनके मनोभावको ताड़ गए और तुरन्त ही इसके पश्चात् जो कुछ हुआ उसे धृतराष्ट्रसे कहने लगे। इधर कृष्णके वचनोंको सुनकर अर्जुन काँपने लगे। वे पुनः पुनः नमस्कार करते हुए बड़े व्याकुल होकर गद्‌गद कण्ठसे निवेदन करने लगे।।३५।।

अर्जुन उवाच—

स्थाने हृषीकेश तव प्रकीर्त्या जगत्प्रहृष्यत्यनुरज्यते च।
रक्षांसि भीतानि दिशो द्रवन्ति सर्वे नमस्यन्ति च सिद्धसङ्घाः।।३६।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) हृषीकेश (हे हृषीकेश!) तव (आपके) प्रकीर्त्या (नाम-गुणादिके माहात्म्यके कीर्त्तनसे) जगत् प्रहृष्यति (जगत् अत्यन्त हर्षित हो रहा है) अनुरज्यते च (और अनुरागको भी प्राप्त हो रहा है) रक्षांसि (राक्षसगण) भीतानि (भयभीत होकर) दिशः (चारों ओर) द्रवन्ति (पलायन कर रहे हैं) सर्वे च सिद्धसङ्घाः (और सिद्धोंके समुदाय) नमस्यन्ति (नमस्कार कर रहे हैं) [एतत्—ये समस्त] स्थाने (युक्तियुक्त हैं)।।३६।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे हृषीकेश! आपके नाम, रूप, गुणादिके कीर्त्तनसे जगत् अत्यन्त हर्षित हो रहा है एवं आपके प्रति अनुरागको प्राप्त हो रहा है, राक्षसगण भयभीत होकर चारों ओर पलायन कर रहे हैं एवं सिद्धोंके समुदाय आपको नमस्कार कर रहे हैं—ये सभी युक्तियुक्त ही हैं।।३६।।

श्रीविश्वनाथ—भगवद्विग्रहस्यातिप्रसन्नत्वमतिघोरत्वञ्चेदमुन्मुखविमुख-विषयकमिति सहसैव ज्ञात्वा तदेव तत्त्वं व्याचक्षाणः स्तौति, स्थाने इत्यव्ययं

युक्तमित्यर्थः।हे हृषीकेश, स्वभक्तेन्द्रियाणां स्वाभक्तेन्द्रियाणाञ्च स्वाभिमुख्ये स्ववैमुख्ये च प्रवर्त्तक, तव प्रकीर्त्त्या त्वन्माहात्म्यसंकीर्त्तनेन जगदिदं प्रहृष्यत्यनुरज्यते अनुरक्तं भवतीति युक्तमेव जगतोऽस्य त्वदौन्मुख्यादिति भावः। तथा रक्षांसि राक्षसासुरदानवपिशाचादीनि भीतानि भूत्वा दिशो द्रवन्ति दिशः प्रतिपलायन्ते इत्येतदपि स्थाने युक्तमेव तेषां त्वद्वैमुख्यादिति भावः। तथा त्वद्भक्त्या ये सिद्धास्तेषां सङ्घाः। सर्वे नमस्यन्ति चेत्यपि युक्तमेव तेषां त्वद्भक्तत्वादिति भावः। श्लोकोऽयं रक्षोघ्नमन्त्रत्वेन मन्त्रशास्त्रे प्रसिद्धः।।३६।।

भावानुवाद—अर्जुन भगवान्‌के श्रीविग्रहके प्रति उन्मुख लोगोंके लिए विग्रहकी प्रसन्नता तथा विमुख लोगोंके लिए विकरालताको जानकर इस तत्त्वकी व्याख्या करते हुए स्तुति करने लगे। 'स्थाने'—अव्यय शब्द है तथा इसका अर्थ है—'युक्ति' अर्थात् उचित। इस श्लोकके सभी खण्डोंके साथ इसका अन्वय होगा। अर्जुनने भगवान्‌को हृषीकेशसे सम्बोधित किया अर्थात् जो भक्तोंकी इन्द्रियोंको अपनी ओर अभिमुख तथा अभक्तोंकी इन्द्रियोंको विमुख करते हैं, वे हृषीकेश हैं। 'तव प्रकीर्त्या' अर्थात् आपके माहात्म्यके संकीर्त्तनसे यह जगत् (आपके प्रति) अनुरक्त हो रहा है—यह उपयुक्त ही है, क्योंकि यह जगत् आपके प्रति उन्मुख है। तथा, राक्षसगण, असुर, दानव, पिशाचादि भयभीत होकर सभी दिशाओंमें भाग रहे हैं—यह भी उपयुक्त ही है, क्योंकि वे आपसे विमुख हैं। तथा, आपकी भक्ति द्वारा जो सिद्ध हो चुके हैं उनके समुदाय आपको नमस्कार कर रहे हैं—यह भी युक्तियुक्त ही है, क्योंकि वे आपके ही भक्त हैं। यह श्लोक मन्त्रशास्त्रमें 'रक्षोघ्न' मन्त्रके रूपमें प्रसिद्ध है।।३६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीभगवत्-विग्रहका एक अत्यन्त अलौकिक प्रभाव है कि उसे देखकर भक्तोंको बड़ी प्रसन्नता होती है, किन्तु उनसे विमुख आसुरी प्रकृतिके जीवोंको वह श्रीविग्रह यमराजकी भाँति दिखाई देता है। मथुराकी रङ्गभूमिमें नवकिशोर, चारुदर्शन श्रीकृष्णको देखकर नन्दादि पूज्यजन, मित्रमण्डली और यादवोंको अत्यन्त आनन्द हुआ, किन्तु इसके विपरीत कंसको वे साक्षात् मृत्युस्वरूप, पहलवानोंको व्रज-कठोर शरीरवाले, दुष्ट राजाओंको दण्ड देनेवाले शासक तथा योगियोंको परमतत्त्वके रूपमें प्रत्यक्षीभूत हुए। इसीलिए भगवान्‌का यश-कीर्त्तन सुनकर उन्मुख जीव उल्लसित और अनुरक्त होते हैं, किन्तु विमुख असुर-राक्षसादि भयभीत होकर भाग जाते हैं। सिद्धगण उनके प्रति शरणागत होते हैं। यह उन-उनके लिए युक्तियुक्त है।।३६।।

कस्माच्च ते न नमेरन्महात्मन् गरीयसे ब्रह्मणोऽप्यादिकर्त्रे।
अनन्त देवेश जगन्निवास त्वमक्षरं सदसत्तत्परं यत्।।३७।।

अन्वय—महात्मन्! अनन्त! देवेश! जगन्निवास! ब्रह्मणः अपि (ब्रह्मासे भी) गरीयसे (श्रेष्ठ) आदिकर्त्रे (आदि कर्त्ता) ते (आपको) [सभी] कस्मात् न नमेरन् (क्यों नहीं नमस्कार करेंगे) सत् (कार्य) असत् (कारणसे) परम् (श्रेष्ठ) यत् अक्षरम् (जो अक्षर ब्रह्म है) तत् (वह) त्वम् (आप हैं)।।३७।।

अनुवाद—हे महात्मन! हे देवेश! हे अनन्त! हे जगन्निवास! आप ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ तत्त्व, आदि सृष्टिकर्त्ता हैं। आप ही सत् और असत्से अतीत अक्षर-तत्त्व ब्रह्म हैं, अतः वे आपको क्यों नहीं नमस्कार करेंगे?।।३७।।

श्रीविश्वनाथ—ते कस्मान्न नमेरन्, अपि तु नमेरन्नेव—आत्मनेपदमार्षम्। सत् कार्यमसत् कारणञ्च ताभ्यां परं यदक्षरं ब्रह्म तत् त्वम्।।३७।।

भावानुवाद—अर्जुनने कहा—वे क्यों नहीं आपको नमस्कार करेंगें अर्थात् करेंगें ही। यहाँ 'नमेरन्' का आत्मनेपदी प्रयोग आर्ष है। 'सत्' का तात्पर्य है—कार्य तथा 'असत्' का तात्पर्य है—कारण। इन दोनोंसे जो श्रेष्ठ है, वह अक्षर ब्रह्म आप हैं।।३७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्वश्लोकमें अर्जुनने श्रीभगवान्को ब्रह्मादिका नमस्य बताकर यहाँ उनके सर्वात्मकत्वका प्रतिपादन कर रहे हैं—देव, ऋषि, गन्धर्व प्रभृति सभी आपको प्रणाम करेंगे ही, बिना किए रह नहीं सकते, क्योंकि एकमात्र आप अद्वितीय, अचिन्त्य, अद्भुत शक्तिसम्पन्न, सर्वश्रेष्ठ परमपुरुष हैं। विश्व-स्रष्टा ब्रह्माके भी आदि स्रष्टा आप ही हैं। इसलिए आप ब्रह्मासे भी श्रेष्ठ हैं।

अर्जुनने यह भी कहा कि श्रीभगवान् केवल सभीके नमस्य हैं—ऐसा ही नहीं, वे सर्वात्मक होनेके कारण सर्वमय भी हैं। वे अक्षर ब्रह्मतत्त्व, जीवतत्त्व, प्रकृतितत्त्व—इन सबसे परम उत्कृष्ट हैं एवं इनसे भिन्न हैं, भिन्न होनेपर भी उनकी अचिन्त्य शक्तिसे सभी तत्त्वोंका प्रकाश होता है, अतः वे सर्वरूप भी हैं। किन्तु, ऐसा होनेपर भी सभी भगवान् नहीं हैं अथवा भगवान्के समान भी नहीं हैं। सभी उनकी शक्तिके कार्य या परिणाम हैं। इस दृष्टिसे वे ही सब कुछ हैं, क्योंकि उनके अतिरिक्त पृथक् रूपमें स्वतन्त्र सत्तायुक्त कोई भी दूसरी वस्तु या तत्त्व नहीं है। इसलिए उनको असमोर्द्ध्व परमतत्त्व कहा जाता है। इसी दृष्टिसे कहीं-कहीं श्रुतियोंमें

'*सर्वं खल्विदं ब्रह्म*' (छा. उ. ३/१४/१) '*नेह नानास्तिकिञ्चन*' (वृ. उ. ४/४/१९, क. उ. २/१/११) आदि कहे गए हैं। यहाँ जीव-जड़ात्मक विश्व सभी ब्रह्म हैं—ऐसा कहा गया है। ब्रह्मके अतिरिक्त और कुछ नहीं। किन्तु,

'*नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानामेको बहूनां यो विदधाति कामान्*'

(क. उ. २/१३, श्वे. उ. ६/१०)

इन श्रुतियोंमें परब्रह्मको नित्योंमें परम नित्य एवं चेतन वस्तुओंमें परम चेतन कहा गया है। यहाँ जीवात्मा या जीव नित्य और चेतन हैं तथा संख्यामें अनन्त हैं, किन्तु परब्रह्म परम नित्य, परम चेतन तथा एक हैं। अतएव अचिन्त्य-भेदाभेद सिद्धान्त ही श्रुतिसम्मत और सुविमल तत्त्व है।।३७।।

त्वमादिदेवः पुरुषः पुराणस्त्वमस्य विश्वस्य परं निधानम्।
वेत्तासि वेद्यञ्च परञ्च धाम त्वया ततं विश्वमनन्तरूप।।३८।।

अन्वय—त्वम् (आप) आदिदेवः (आदिदेव) पुराणः पुरुषः (प्राचीनतम पुरुष हैं) त्वम् [एव] (आप ही) अस्य विश्वस्य (इस विश्वका) परम् निधानम् (एकमात्र लयस्थान) वेत्ता वेद्यम् च (ज्ञाता और ज्ञेय) परम् धाम च (और परम धाम) असि (हैं) अनन्तरूप (हे अनन्तरूप!) त्वया (आपके द्वारा) विश्वम् (विश्व) ततम् (व्याप्त है)।।३८।।

अनुवाद—आप आदिदेव, प्राचीनतम पुरुष, इस विश्वका एकमात्र लयस्थान, ज्ञाता और ज्ञेय तथा परम धाम हैं। हे अनन्तरूप! आपके द्वारा यह विश्व व्याप्त है।।३८।।

श्रीविश्वनाथ—निधानं लयस्थानं परं धाम गुणातीतः स्वरूपम्।।३८।।

भावानुवाद—'निधानं' का तात्पर्य है—लयस्थान तथा 'परं धाम' का तात्पर्य है—गुणातीत स्वरूप।।३८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीकृष्ण ही आदिदेव, सबके परमाश्रय और सर्वव्यापक हैं। पराशक्तिका वैभव ही धाम होनेके कारण वे धामस्वरूप हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद्में भी इसका प्रतिपादन किया गया है—

'*तमीश्वराणां परमं महेश्वरं तं देवतानां परमञ्च दैवतम्।*
पतिं पतीनां परमं परस्ताद् विदाम देव भुवनेशमीड्यम्।।'

(श्वे. उ. ६/७)

और भी—

'*पराश्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।*'

(श्वे. उ. ६/८) ।।३८।।

वायुर्यमोऽग्निर्वरुणः शशाङ्कः प्रजापतिस्त्वं प्रपितामहश्च।
नमो नमस्तेऽस्तु सहस्रकृत्वः पुनश्च भूयोऽपि नमो नमस्ते।।३९।।

अन्वय—त्वम् (आप) वायुः (वायु) यमः (यम) अग्निः (अग्नि) वरुणः (वरुण) शशाङ्कः (चन्द्र) प्रजापतिः (ब्रह्मा) प्रपितामहः च (और उनके भी जनक हैं) ते (आपको) सहस्रकृत्वः नमः (हजारों बार नमस्कार है) पुनश्च नमः (पुनः नमस्कार है) भूयः अपि (पुनः) ते नमः (आपको नमस्कार है)।।३९।।

अनुवाद—आप वायु, यम, अग्नि, वरुण, चन्द्र, प्रजापति तथा ब्रह्माके भी पिता हैं। अतः आपको मेरा हजारों बार नमस्कार है, पुनः पुनः नमस्कार है।।३९।।

नमःपुरस्तादथ पृष्ठतस्ते नमोऽस्तु ते सर्वत एव सर्व।
अनन्तवीर्यामितविक्रमस्त्वं सर्वं समाप्नोषि ततोऽसि सर्वः।।४०।।

अन्वय—सर्व (हे सर्वस्वरूप!) ते (आपको) पुरस्तात् (सम्मुख) अथ (अनन्तर) पृष्ठतः (पश्चात्से) नमः (नमस्कार है) ते (आपको) सर्वतः एव (सभी ओरसे) नमः अस्तु (नमस्कार है) अनन्तवीर्य (हे अनन्त शक्तिसम्पन्न!) अमितविक्रमः (असीम प्राक्रमी) त्वम् (आप) सर्वम् (सम्पूर्ण जगत्को) समाप्नोषि (व्याप्त किए हुए हैं) ततः (इस कारणसे) [त्वम्—आप] सर्वः असि (सर्वस्वरूप हैं)।।४०।।

अनुवाद—हे सर्वस्वरूप! आपको आगे, पीछे एवं सभी ओरसे नमस्कार है। हे अनन्तवीर्य और महापराक्रमी! आप समस्त जगत्को व्याप्त किए हुए हैं, अतः आप सर्वस्वरूप हैं।।४०।।

श्रीविश्वनाथ—सर्वं स्वकार्यं जगत् आप्नोषि व्याप्नोषि स्वर्णमिव कटककुण्डलादिकमतस्त्वमेव सर्वः।।४०।।

भावानुवाद—जिस प्रकार स्वर्ण स्वकार्यसे कवच-कुण्डलादिमें व्याप्त रहता है, उसी प्रकार आप भी स्वकार्यसे जगत्में व्याप्त हैं, अतः आप 'सर्व' हैं।।४०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुन श्रीकृष्णको सबका नमस्य जानकर उन सर्वमय देवको पुनः पुनः प्रणाम करने लगे। अतिशय श्रद्धा और आदरवशतः उक्त प्रणामको पर्याप्त न समझकर पुनः आगे-पीछे, दाएँ-बाएँ समस्त दिशाओंसे उन अनन्तवीर्य, अपरिमेय शक्तिशाली, सर्वात्मा, सर्वस्वरूप

श्रीकृष्णको प्रणाम करने लगे। श्रीमद्भागवतमें श्रीशुकदेव गोस्वामीके वचनोंमें भी ऐसा पाया जाता है—

'वस्तुतो ज्ञानतामत्र कृष्णं स्थास्नु चरिष्णु च।
भगवद्रूपमखिलं नान्यद्वस्त्विह किञ्चन।।'

(श्रीमद्भा. १०/१४/५६)।।४०।।

सखेति मत्वा प्रसभं यदुक्तं हे कृष्ण हे यादव हे सखेति।
अजानता महिमानं तवेदं मया प्रमादात्प्रणयेन वापि।।४१।।
यच्चावहासार्थमसत्कृतोऽसि विहारशय्यासनभोजनेषु।
एकोऽथवाप्यच्युत तत्समक्षं तत्क्षामये त्वामहमप्रमेयम्।।४२।।

अन्वय—तव (आपकी) इदम् महिमानम् (इस महिमाको) अजानता (नहीं जानकर) प्रमादतः (प्रमादवश) प्रणयेन वा अपि (अथवा प्रणयवश) सखा इति मत्वा [आप] (सखा हैं—ऐसा मानकर) हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे! इति (इस प्रकार) यत् (जो) प्रसभम् (हठपूर्वक) मया (मेरे द्वारा) उक्तम् (कहा गया) अच्युत (हे अच्युत!) विहार-शय्या-आसन-भोजनेषु (विहार, शयन, आसन और भोजन इत्यादिके समय) एकः (निर्जनमें) अथवा तत्समक्षम् (अथवा अन्यान्य बन्धुओंके समक्ष) अवहासार्थम् (परिहासके लिए) [आप, जो] असत्कृतः असि (असम्मानित हुए हैं) तत् (उन सबके लिए) [अहम्—मैं] त्वाम् (आपसे) अप्रमेयम् (अपरिसीम) क्षामये (क्षमा-याचना करता हूँ)।।४१-४२।।

अनुवाद—आपकी इस महिमाको नहीं जानकर मैंने सखा मानकर प्रमादवश अथवा प्रणयवश हठपूर्वक आपको जो हे कृष्ण! हे यादव! हे सखे! इत्यादिसे सम्बोधित किया है तथा हे अच्युत! परिहासके लिए एकान्तमें अथवा अन्यान्य बन्धुओंके समक्ष विहार, शयन, आसन, भोजनादिके समय आप मेरे द्वारा जो असम्मानित हुए हैं, उन सबके लिए मैं आपसे अपरिसीम क्षमा-याचना करता हूँ।।४१-४२।।

श्रीविश्वनाथ—हन्त हन्तैतादृश-महामहैश्वर्यमत्त्वय्यहं कृतमहापराध-पुञ्जोऽस्मीत्यनुतापमाविष्कुर्वन्नाह—सखेतीति। हे कृष्णेति—त्वं वसुदेवनाम्नो नरस्यार्द्धरथत्वेनाप्यप्रसिद्धस्य पुत्रः कृष्ण इति प्रसिद्धः। अहन्तु नरपतेः पाण्डोरतिरथस्य पुत्रोऽर्जुन इति प्रसिद्धः। हे यादवेति—यदुवंश्यस्य तव नास्ति राजत्वम्, मम तु पुरुवंश्यस्यास्त्येव राजत्वम्; हे सखेति—सन्धिरार्षः, तदपि त्वया सह मम यत्सख्यं तत्र तव पैत्रिकः प्रभावो न हेतुः, नापि कौलिकः, किन्तु तावक एवेत्यभिप्रायतो यत् प्रसभं स तिरस्कारमुक्तं मया तत् क्षामये

क्षमयामीत्युत्तरेणान्वयः। तवेदं विश्वरूपात्मकं स्वरूपमेव महिमानं प्रमादाद्वा प्रणयेन स्नेहेन वा, परिहासार्थं विहारादिष्वसत्कृतोऽसि त्वं सत्यवादी निष्कपटः परमसरल इत्यादिवक्रोक्त्या तिरस्कृतोऽसि, त्वमेकः सखीन् विनैव रहसि अथवा तत्समक्षं तेषां परिहसतां सखीनां समक्षं पुरतोऽसि यदा स्थितः तदा जातं तत्सर्वमपराधं सहस्रं क्षामये—हे प्रभो क्षमस्वेत्यनुनयामीत्यर्थः।।४१-४२।।

भावानुवाद—"हाय! हाय! ऐसे महामहैश्वर्यवान् आपके प्रति मैंने अनगिनत अपराध किए हैं।"—इस प्रकारका अनुताप करते हुए अर्जुन 'सखेति', 'कृष्णेति' इत्यादि कह रहे हैं। अर्जुन कहते हैं—आप अर्धरथीके रूपमें भी अप्रसिद्ध वासुदेव नामक मनुष्यके पुत्र कृष्णके रूपमें प्रसिद्ध हैं। किन्तु, मैं अतिरथी राजा पाण्डुके पुत्र अर्जुनके रूपमें प्रसिद्ध हूँ। 'हे यादव'—यदुवंशी आपका राजत्व भी नहीं है, किन्तु पुरुवंशी मेरा राजत्व है। 'हे सखे'—यहाँ जो सन्धि हुई है, वह आर्ष प्रयोग है। तथापि, आपके साथ मेरा जो सखा-भाव है, वह आपके पैतृक कारण अथवा कुलके प्रभावसे नहीं, अपितु आपके कारण ही है। इसी अभिप्रायसे (सख्यभावके कारण) मैंने आपको हठपूर्वक, तिरस्कारसहित ऐसे वचनोंको कहा है, उसके लिए मैं आपसे क्षमा-प्रार्थना करता हूँ—यही उत्तरपदके साथ अन्वय है। उस प्रमादवश अथवा स्नेहवश परिहासके निमित्त क्रीड़ा-कौतुकमें आपके इस विश्वरूपात्मक स्वरूपकी महिमा तिरस्कृत हुई है अर्थात् एकान्तमें अथवा सखाओंके समक्ष 'आप सत्यवादी, निष्कपट, परम सरल हैं' इत्यादि वक्रोक्तियोंके द्वारा जो तिरस्कृत हुए हैं—इस प्रकारके हजारों अपराधोंके लिए मैं क्षमा माँगता हूँ। हे प्रभो! आप मुझे क्षमा करें, यही आपसे अनुनय करता हूँ।।४१-४२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुन श्रीकृष्णके विभूतिस्वरूप महैश्वर्यमय इस विश्वरूपका दर्शनकर ऐश्वर्यज्ञानके उदयसे स्वाभाविक सख्यरसको भूल गए। उन्होंने अबसे पहले सख्य भावसे कृष्णको जो हे सखे, हे यादव, हे कृष्ण इत्यादिसे सम्बोधित किया था, उसके लिए वे अनुताप करते हुए पुनः पुनः क्षमा माँगने लगे।।४१-४२।।

पितासि लोकस्य चराचरस्य त्वमस्य पूज्यश्च गुरुर्गरीयान्।
न त्वत्समोऽस्त्यभ्यधिकः कुतोऽन्यो लोकत्रयेऽप्यप्रतिमप्रभाव।।४३।।

अन्वय—अप्रतिम प्रभाव (हे अनुपम प्रभाववाले!) त्वम् (आप) अस्य चराचरस्य (इस चर और अचर) लोकस्य (लोकके) पिता (पिता) पूज्यः (पूज्य) गुरुः (गुरु) च गरीयान् (और गुरुश्रेष्ठ) असि (हैं) लोकत्रये (तीनों

लोकोंमें) त्वत् समः अपि (आपके समान भी) अन्यः न अस्ति (अन्य कोई नहीं है) अभ्यधिकः कुतः (तो अधिक कहाँसे होगा)।।४३।।

अनुवाद—हे अनुपम प्रभावविशिष्ट! आप इस चराचर विश्वके पिता, पूज्य, गुरु और गुरुश्रेष्ठ हैं। तीनों लोकोंमें जब आपके समान ही कोई नहीं है, तो भला आपसे बढ़कर कहाँसे होगा?।।४३।।

तस्मात्प्रणम्य प्रणिधाय कायं प्रसादये त्वामहमीशमीड्यम्।
पितेव पुत्रस्य सखेव सख्युः प्रियः प्रियायार्हसि देव सोढुम्।।४४।।

अन्वय—तस्मात् (इसलिए) अहम् (मैं) कायम् प्रणिधाय (अपने शरीरको आपके चरणोंमें गिराकर) प्रणम्य (प्रणामकर) ईड्यम् (स्तुतिके योग्य) त्वाम् ईशम् (आप ईश्वरके समीप) प्रसादये (प्रसन्न होनेके लिए प्रार्थना करता हूँ) देव (हे देव!) पुत्रस्य पिता इव (पुत्रके पिताकी भाँति) सख्युः सखा इव (सखाके सखाकी भाँति) प्रियायाः प्रियः (प्रियाके प्रियकी भाँति) सोढुम् (क्षमा करनेमें) अर्हसि (समर्थ हैं)।।४४।।

अनुवाद—इसलिए मैं आपके चरणोंमें अपने शरीरको प्रणिपातकर प्रणाम करते हुए स्तुत्य आप परमेश्वरसे प्रसन्न होनेकी प्रार्थना करता हूँ। हे देव! जैसे पिता पुत्रको, सखा सखाको तथा प्रिय अपनी प्रियाको क्षमा कर देते हैं, वैसे ही आप भी क्षमा करनेमें समर्थ हैं।।४४।।

श्रीविश्वनाथ—कायं प्रणिधाय भूमौ दण्डवन्निपात्य; प्रियायार्हसीति सन्धिरार्षः।।४४।।

भावानुवाद—'कायं प्रणिधाय' का तात्पर्य है—भूमिपर दण्डकी भाँति पतित होकर। यहाँ 'प्रियायार्हसि'—यह सन्धि आर्ष है।।४४।।

अदृष्टपूर्वं हृषितोऽस्मि दृष्ट्वा भयेन च प्रव्यथितं मनो मे।
तदेव मे दर्शय देव रूपं प्रसीद देवेश जगन्निवास।।४५।।

अन्वय—देव (हे देव!) [तव—आपके] अदृष्टपूर्व (पहले कभी न देखे हुए) [इदम् रूपम्—इस रूपको] दृष्ट्वा (देखकर) हृषितः अस्मि (आनन्दित हो रहा हूँ) मे (मेरा) मनः (मन) भयेन (भयसे) प्रव्यथितम् च [प्रपीड़ित भी हो रहा है] देवेश (हे देवेश!) तत् रूपम् एव (अपने उस रूपको ही) मे (मुझे) दर्शय (दिखावें) जगन्निवास (हे जगन्निवास!) प्रसीद (प्रसन्न होवें)।।४५।।

अनुवाद—हे देव! पहले कभी न देखे हुए आपके इस रूप (विश्वरूप) को देखकर मैं आनन्दित हो रहा हूँ। हे देवेश! आप अपना वही रूप (चतुर्भुज रूप) मुझे दिखावें। हे जगन्निवास! आप प्रसन्न होवें।।४५।।

श्रीविश्वनाथ—यद्यप्यदृष्टपूर्वमिदं ते विश्वरूपात्मकं वपुर्दृष्ट्वा हृषितोऽस्मि, तदप्यस्य घोरत्वाद्भयेन मनः प्रव्यथितमभूत्। तस्मात्तदेव मानुषं रूपं मत्प्राणकोट्यधिकप्रियं माधुर्यपारावारं वसुदेवनन्दनाकारं मे दर्शय प्रसीदेति अलं तवैतादृशैश्वर्यस्य दर्शनायेति भावः। देवेशेति त्वं सर्वदेवानामीश्वरः सर्वजगन्निवासो भवस्येवेति मया प्रतीतमिति भावः। अत्र विश्वरूपदर्शनकाले सर्वस्वरूपमूलभूतं नराकारं कृष्णवपुस्तत्रैव स्थितमपि योगमायाच्छादितत्वादर्जुनेन न दृष्टमिति गम्यते।।४५।।

भावानुवाद—अर्जुन कहते हैं—"आपके इस अदृष्टपूर्व विश्वरूपात्मक शरीरको देखकर मैं हर्षित हो रहा हूँ, तथापि पुनः इसकी विकरालताको देखकर मेरा मन भयसे व्याकुल हो रहा है। अतः मेरे प्राणोंसे कोटि गुणासे भी अधिक प्यारे माधुर्य-पारावार वासुदेवनन्दनाकार अपने उसी रूपको दिखावें। आप कृपा करें, आपका इतना ऐश्वर्य-दर्शन ही यथेष्ठ है। आप देवेश अर्थात् सभी देवोंके ईश्वर, जगन्निवास अर्थात् समस्त जगत्‌की निवास भूमि हैं—यही मुझे प्रतीत हो रहा है।" विश्वरूप दर्शनके समय मूलभूत नराकार वपुके उस स्थानपर ही रहनेपर भी योगमायाके द्वारा आच्छादित होनेके कारण अर्जुन उसे नहीं देख पा रहे थे—यही विदित होता है।।४५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीकृष्ण असमोर्द्ध्व तत्त्व हैं। इस सम्बन्धमें स्वयं भगवान् ही कह रहे हैं—*'ममाहमेवाभिरूपः कैवल्यात्'* (श्रीमद्भा. ५/३/१६) अर्थात् मैं अद्वितीय पुरुष हूँ, अपने समान केवल मैं ही हूँ। मुझसे बढ़करकी तो बात ही क्या, कोई मेरे समान भी नहीं है। श्वेताश्वतर उपनिषद् (६/८) में भी कथित है—*'न तत् समश्चाभ्यधिकश्च दृश्यते।'* श्रीचैतन्य चरितामृतके बीसवें परिच्छेदमें कहा गया है—

'कृष्णेर स्वरूप-विचार सुन, सनातन।
अद्वय ज्ञान-तत्त्व, व्रजे व्रजेन्द्रनन्दन।।'

श्रीकृष्णका प्रभाव अचिन्त्य है, वे चराचर विश्वके पूज्य पिता और आदिगुरु हैं। वे ही जीवोंके चरम सेव्य तत्त्व हैं—इस विचारसे अर्जुन

उनको पुनः पुनः प्रणामकर बोले—“जगत्में पिता पुत्रका, सखा सखाका और प्रियतम प्रियाका दोष नहीं ग्रहण करते। प्रभु होकर भी सख्य–वात्सल्य–मधुर–रसगत सम्बन्धसे आप कृपापूर्वक उन सबसे समानताका व्यवहारकर प्रसन्न होते हैं। आपकी महिमा एवं तत्त्वके विचारसे मेरे पूर्व व्यवहार आपके प्रति अनुचित होनेपर भी नित्य सम्बन्धके विचारसे वे अनुचित नहीं हैं, अतः आप प्रसन्न होवें। यद्यपि आपका यह विश्वरूप मैंने पहले कभी नहीं देखा, तथापि इस समय देखकर मेरा कौतूहल अवशान्त हो गया। इसे देखकर प्रसन्न होनेपर भी रूपकी भयङ्करताके कारण मेरा मन व्याकुल हो रहा है। अतः मेरे कोटि–कोटि प्राणोंसे भी अधिक प्रिय माधुर्यकी पराकाष्ठा अपना वासुदेवनन्दन रूप पुनः दर्शन करावें। जिस समय अर्जुन विश्वरूपका दर्शन कर रहे थे, उस समय नराकार वासुदेवनन्दन कृष्ण अर्जुनके सम्मुख अवस्थित रहनेपर भी योगमायाके द्वारा आच्छादित थे, अतः अर्जुन उन्हें नहीं देख सके और चतुर्भुज रूपको दिखानेकी प्रार्थना करने लगे।।४५।।

किरीटिनं गदिनं चक्रहस्तमिच्छामि त्वां द्रष्टुमहं तथैव।
तेनैव रूपेण चतुर्भुजेन सहस्रबाहो भव विश्वमूर्त्ते।।४६।।

अन्वय—अहम् (मैं) त्वाम् (आपको) तथा एव (वैसा ही) किरीटिनम् (मुकुटधारी) गदिनम् (गदाधारी) चक्रहस्तम् (चक्रधारी) द्रष्टुम् (देखनेकी) इच्छामि (इच्छा करता हूँ) सहस्रबाहो (हे हजारों भुजाओंवाले!) विश्वमूर्त्ते (हे विश्वमूर्त्ते!) तेन (उस) चतुर्भुजेन रूपेण एव (चतुर्भुज रूपमें ही) [प्रकट] भव (होवें)।।४६।।

अनुवाद—मैं आपको उस मुकुटधारी, गदाधारी, चक्रधारी रूपमें ही देखनेकी इच्छा करता हूँ। हे सहस्रबाहो! हे विश्वमूर्त्ते! आप उस चतुर्भुज रूपमें ही प्रकट होवें।।४६।।

श्रीविश्वनाथ—किञ्च, यदैश्वर्यं दर्शयिष्यसि, तदा तव नरलीलत्वेन वसुदेवनन्दनाकारेणैव यदस्मदादिभिर्दृष्टं पूर्वं तदेवैश्वर्यं परमरसमयमस्मादृश–लोकमनोनयनाह्लादकं दर्शय, न पुनरादृष्टपूर्वमिदं देवलीलविश्वरूपादिपुरुष–रूपेणाद्यप्रत्यक्षीकृतमैश्वर्यमस्मन्मनोनयनारोचकमित्यभिप्रायेणाह—किरीटिनं दिव्य–महार्घ्यरत्नकिरीटयुक्तं, तथैवेति यथा अस्माभिः कदाचिद्दृष्टम्, त्वं जन्मसमये च त्वत्पितृभ्यां यथादृष्टः, हे विश्वमूर्त्ते, हे सम्प्रति सहस्रबाहो, इदं रूपमुपसंहृत्य तेनैव चतुर्भजरूपेण भव आविर्भव।।४६।।

भावानुवाद—"आप और जब कभी अपने ऐश्वर्यका दर्शन करावें, तो अपने नरलीलाके वासुदेवनन्दनाकार रूपका ही दर्शन करावें, जो कि मैंने पहले भी देखा है। आप मुझे उसी परम रसमय, मन-नयनको आनन्द प्रदायक रूपका दर्शन करावें, यह अदृष्टपूर्व रूप नहीं। देवलीलाके विश्वरूप पुरुषका ऐश्वर्य मेरे मन-नयनको रुचिकर नहीं लगा।"—इस अभिप्राय से अर्जुन कहते हैं—"आप दिव्य महामूल्य रत्नमय मुकुटयुक्त रूपका ही दर्शन दें, जो कि मेरे द्वारा कभी दृष्ट हुआ था अथवा जिस रूपसे आप जन्मके समय अपने माता-पिताके द्वारा दृष्ट हुए थे। हे विश्वमूर्त्ते! अथवा हे सहस्रबाहो! इस वर्त्तमान रूपको अप्रकटकर उस चतुर्भुज रूपमें ही आविर्भूत होवें।"।।४६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीकृष्णका स्वरूप नवकिशोर, नटवर, गोपवेश तथा वेणुकर है। यही कृष्णका नित्य रूप है। माधुर्यमय विग्रह होनेपर भी उनमें ऐश्वर्य परिपूर्णरूपेण विराजमान रहता है। ऐश्वर्यका प्रकाश हो अथवा न हो, यदि नरलीलाके अनुरूप भावका तनिक भी व्यतिक्रम नहीं होता है, तो उसे ही माधुर्य कहते हैं। जैसे पूतना-वधके समय ऐश्वर्य प्रकाशित होनेपर भी कृष्णके शिशुभावका व्यतिक्रम नहीं हुआ। नरलीलागत भावकी अपेक्षा न कर केवल ऐश्वर-भावके आविष्कारको ऐश्वर्य कहते हैं। जैसे—आविर्भाव कालमें वसुदेव-देवकीके निकट नाना अलङ्कार और परिच्छदोंसे विभूषित होकर शिशु-भावका व्यक्तिक्रमकर आविर्भूत हुए, यह ऐश्वर्यमयी लीला है। यहाँ अर्जुनका विश्वरूप दर्शन करना ऐश्वर्यमयी लीला है, तदनन्तर अर्जुनने नरलीलाके अनुरूप चतुर्भुज रूपको दिखानेकी प्रार्थना की, जिसे वे कभी-कभी देखते थे। श्रीकृष्ण यादवों एवं पाण्डवोंके साथ द्विभुज रूपमें लीला-विलास करते समय कभी-कभी अपना चतुर्भुजरूप भी दिखलाते थे। द्वारिकाकी लीला कुछ ऐश्वर्यमयी है, किन्तु व्रजकी सारी लीलाएँ माधुर्यमयी हैं। जब द्रौपदीके पाँचों पुत्रोंकी हत्या करनेवाले अश्वत्थामाको पाशसे बाँधकर अर्जुनने द्रौपदीके चरणोंमें डाल दिया, उस समय द्रौपदीने तो उसे क्षमाकर दिया, किन्तु भीम उसे मार डालना चाहते थे। उसे समय दोनोंकी प्रतिज्ञाकी रक्षाके लिए तथा अर्जुनकी बुद्धिकी तीक्ष्णताकी परीक्षाके लिए कृष्णने चतुर्भुज मूर्त्ति धारण की थी—

'निशम्य भीमगदितं द्रौपद्याश्च चतुर्भुजः।
आलोक्य वदनं सख्युरिदमाह हसन्निव।।'

(श्रीमद्भा. १/७/५२)

एक समय रुक्मिणी देवीसे परिहास करते समय रुक्मिणी देवी परिहासका यथार्थ रहस्य न समझ सकीं और भूतलपर गिरकर मूर्च्छित हो गईं। उस समय कृष्ण चतुर्भुज रूपका प्रकाशकर उनको दो हाथोंसे उठाने लगे तथा दो हाथोंसे उनके विक्षिप्त केशराशिको सँवारने लगे तथा उनके मुखका मार्जन करने लगे—

'पर्यङ्कादवरुहयाशु तामुत्थाप्य चतुर्भुजः।
केशान् समुह्य तद्वक्त्रं प्रामृजत् पद्मपाणिना।।'

(श्रीमद्भा. १०/६०/२६)

किन्तु, एक दिन व्रजलीलामें कृष्ण रासके समय हठात् अन्तर्धान हो गए। गोपियाँ उन्हें ढूँढने लगीं। कृष्ण कुछ दूरपर इनके ढूँढनेके मार्गमें चतुर्भुज रूपमें खड़े हो गए। गोपियाँ उन्हें प्रणामकर द्विभुज श्यामसुन्दरको ढूँढते हुए आगे बढ़ गईं । इतने में महाभावमयी श्रीमती राधिकाजी उनको ढूँढती हुई वहाँ उपस्थित हुईं। श्रीमतीजी को देखते ही वे भावविभोर हो गए और लाख चेष्टा करनेपर भी चतुर्भुज रूपका संवरण किए बिना नहीं रह सके और द्विभुज रूपमें प्रकट हो गए।

"अभी मैं आपके उस चतुर्भुज मूर्त्तिको देखनेकी इच्छा करता हूँ, जिसके मस्तकपर मुकुट तथा हाथोंमें गदा, चक्रादि आयुध हैं। चतुर्भुजाकार मूर्त्तिसे ही आप स्थितिकालमें सहस्रबाहुविशिष्ट (हजारों भुजावाले) विश्वरूप मूर्त्तिको उदित कराते हैं। हे कृष्ण! मैं निःसन्देह यह जान गया कि आपका द्विभुज सच्चिदानन्दमय रूप ही सर्वोपरि तत्त्व है एवं यह सभी जीवोंको आकर्षित करनेवाला तथा सनातन है। उस द्विभुज मूर्त्तिके ऐवश्र्य विलासरूप आपकी चतुर्भुज नारायण मूर्त्ति नित्य विराजमान है एवं जिस समय जगत्की सृष्टि होती है, उस समय उसी चतुर्भुज रूपसे यह विश्वरूप विराट मूर्त्ति आविर्भूत होती है। इस परमज्ञानके द्वारा ही मेरा कौतूहल चरितार्थ हुआ।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४६।।

श्रीभगवानुवाच—

मया प्रसन्नेन तवार्जुनेदं रूपं परं दर्शितमात्मयोगात्।
तेजोमयं विश्वमनन्तमाद्यं यन्मे त्वदन्येन न दृष्टपूर्वम्।।४७।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) अर्जुन (हे अर्जुन!) प्रसन्नेन मया (प्रसन्न मेरे द्वारा) आत्मयोगात् (आत्मयोग-बलसे) तव (तुम्हें) तेजोमयम् (तेजोमय) विश्वम् (विश्वरूपी) अनन्तम् (अनन्त) आद्यम्

(आदि) मे (मेरे) इदम् परम् श्रेष्ठम् (इस श्रेष्ठ रूपको) दर्शितम् (दिखाया गया) यत् (जो) त्वदन्येन (तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसीके द्वारा) न दृष्टपूर्वम् (पहले नहीं देखा गया)।।४७।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे अर्जुन! मैंने प्रसन्न होकर अपने आत्मयोग-बलसे तुम्हें तेजोमय, विश्वरूपी, अनन्त, आदि इस श्रेष्ठ रूपको दिखाया, जो तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसीके द्वारा पहले नहीं देखा गया।।४७।।

श्रीविश्वनाथ—भो अर्जुन, 'द्रष्टुमिच्छामि ते रूपमैश्वरं पुरुषोत्तम' इति त्वत्प्रार्थनयैवेदं मया मदंशस्य विश्वरूपपुरुषस्य रूपं दर्शितम्। कथमत्र ते मनः प्रव्यथितमभूत्? यतः प्रसीद प्रसीदेत्युक्त्या तन्मानुषमेव रूपं मे दिदृक्षसे, तस्मात् किमिदमाश्चर्यं ब्रूषे? इत्याह—मयेति। प्रसन्नेनैव मया तव तुभ्यमेवेदं रूपं दर्शितम्, नान्यस्मै यतस्त्वत्तोऽन्येन केनापि एतन्न पूर्वं दृष्टम्, तदपि त्वमेतन्न स्पृहयसि किमिति भावः।।४७।।

भावानुवाद—हे अर्जुन! तुमने मुझसे प्रार्थना की कि हे पुरुषोत्तम! आपके उस ऐश्वर-रूपको देखनेकी इच्छा करता हूँ। गीता (११/३) इसीलिए मैंने अपने अंशरूप विश्वरूप पुरुषका रूप दिखाया। इससे तुम्हारा मन व्याकुल क्यों हुआ? क्योंकि तुम 'कृपा करें', 'कृपा करें'—इस प्रकार कहकर मेरे मनुष्य रूपको देखनेकी इच्छा कर रहे हो, यह कैसी आश्चर्यकी बात कर रहे हो? मैंने प्रसन्न होकर ही तुम्हें इस रूपको दिखाया, दूसरेको नहीं। तुम्हारे अतिरिक्त अन्य किसीने इसे पहले नहीं देखा, तथापि तुम इसे क्यों नहीं देखना चाहते हो?।।४७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान् श्रीकृष्णने अर्जुनसे कहा कि तुम्हारी प्रार्थनाके अनुसार मैंने प्रसन्नतापूर्वक तुम्हें अपनी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा अपने अंशगत इस तेजोमय विश्वरूपका दर्शन कराया। श्रीबलदेव विद्याभूषणने अपने भाष्यमें वैदुर्यमणि एवं कुशल अभिनेताकी भाँति कृष्णके इस प्रकाशका वर्णन किया है। जैसे वैदुर्यमणि एक होकर भी नाना प्रकारके रङ्गोंको प्रकाशितकर दर्शकोंको परितृप्त करती है तथा कुशल अभिनेता एक होकर भी नाना प्रकारके रूपोंको धारणकर लोकरञ्जन करता है, उसी प्रकार कृष्णने एक होनेपर भी अपने भीतर अवस्थित विश्वरूपका दर्शन कराया है। कृष्णके कथनका यह गूढ़ तात्पर्य है। कृष्ण पुनः कहने लगे कि तुम्हारे कारण देवताओंने भी इसका दर्शन किया तथा बहुतसे भक्तोंने भी इसे देखा। इससे पहले और किसीने इस रूपका दर्शन नहीं किया है। जिस समय मैं पाण्डवोंका दूत बनकर दुर्योधनकी सभामें उपस्थित

हुआ तथा नाना प्रकारकी युक्तियोंसे कौरव पक्षसे पाण्डवोंको आधा राज्य दिलवानेके लिए चेष्टा की, उस समय दुष्ट दुर्योधनने मुझे कैद करनेकी चेष्टा की। उस समय मैंने धृतराष्ट्र और नाना देशोंके राजाओं, सम्भ्रान्त व्यक्तियोंके सम्मुख इस विश्वरूप प्रकाश किया। भीष्म, द्रोण और सभामें उपस्थित सभी ऋषिगण उस तेजका दर्शन करनेमें असमर्थ होकर अपने नेत्रोंको बन्द कर लिए। केवल धृतराष्ट्रकी प्रार्थनासे थोड़े कालके लिए उन्हें दिव्य दृष्टि दी थी, जिससे वे मुझे देख सकें; किन्तु तुम मेरे सखा हो, अतः प्रसन्न होकर तुम्हें जिस रूपका दर्शन कराया है, इससे पूर्व वह और किसीको नही दिखाया।।४७।।

न वेदयज्ञाध्ययनैर्न दानैर्न च क्रियाभिर्न तपोभिरुग्रैः।
एवंरूपः शक्य अहं नृलोके द्रष्टुं त्वदन्येन कुरुप्रवीर।।४८।।

अन्वय—कुरुप्रवीर (हे कुरुप्रवीर!) नृलोके (नरलोकमें) त्वदन्येन (तुम्हारे अतिरिक्त और किसीके द्वारा) वेदयज्ञाध्यनैः न (न वेदयज्ञ और अध्ययनके द्वारा) दानैः न (न दानके द्वारा) क्रियाभिः न (न अग्निहोत्रादि कर्मोंके द्वारा) उग्रैः तपोभिः च न (और न ही उग्र तपस्याओंके द्वारा) एवंरूपः अहम् (ऐसा विश्वरूप-विशिष्ट मैं) द्रष्टुम् शक्यः (देखने योग्य हूँ)।।४८।।

अनुवाद—हे कुरुप्रवीर! तुम्हारे अतिरिक्त अन्य कोई वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, क्रिया और उग्र तपस्याओंके द्वारा इस लोकमें ऐसे विश्वरूपविशिष्ट मुझको दर्शन करनेमें समर्थ नहीं है।।४८।।

श्रीविश्वनाथ—तुभ्यं दर्शितमिदं रूपन्तु वेदादिसाधनैरपि दुर्लभमित्याह—न वेदेति। त्वत्तोऽन्येन न केनाप्यहमेवंरूपः द्रष्टुं शक्यः; शक्य अहमिति—यद्वयलोपावार्षौ। तस्मादलभ्यलाभमात्मनो मत्वा त्वमस्मिन्नेवेश्वरे सर्वदुर्लभे रूपे मनोनिष्ठांकुरु एतद्रूपं दृष्ट्वाप्यलं ते पुनर्मे मानुषरूपेण दिदृक्षितेनेति भावः।।४८।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् कहते हैं—मैंने तुम्हें जो रूप दिखाया, वह वेदादि साधनोंके द्वारा भी दुर्लभ हैं। मैं तुम्हें छोड़कर अन्य किसी को भी यह रूप दिखानेमें समर्थ नहीं हूँ। 'शक्य अहम्'—यहाँ दो 'य' पदका लोप आर्ष है। अतएव मनमें ऐसा सोचकर कि मैंने अलभ्य वस्तुको प्राप्त किया है, सर्वदुर्लभ उस रूपके प्रति ही निष्ठा रखो। तुम मेरे इस रूपको देखकर भी पुनः मेरे मनुष्य रूपको देखनेकी इच्छा क्यों करते हो?।।४८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"हे कुरुप्रवीर! किसीने वेदाध्ययन, यज्ञ, दान, क्रिया और उग्र तपस्या द्वारा इस लोकमें मेरे आत्मयोग-जनित विश्वरूपका दर्शन नहीं किया, केवल तुमने इसका दर्शन किया। जिन समस्त जीवोंने देवावस्थाको प्राप्त किया है, वे ही दिव्य चक्षु और दिव्य मन द्वारा मेरे इस विश्वरूपका दर्शन और स्मरण करते हैं। इस जड़ (जगत्) में जो मूढ़-प्रतीतिमें आबद्ध हैं, वे इस दिव्य रूपको नहीं देख पाते हैं, किन्तु मेरे भक्तगण मूढ़ता और दिव्यताको भेदकर मेरे योगमें नित्य चित्-तत्त्वमें अवस्थित हैं, अतएव वे तुम्हारी तरह विश्वरूपका दर्शन करनेपर भी सुखी नहीं होकर मेरे चिन्मय नित्यरूपके दर्शनकी लालसा करते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४८।।

मा ते व्यथा मा च विमूढभावो दृष्ट्वा रूपं घोरमीदृङ्ममेदम्।
व्यपेतभीः प्रीतमनाः पुनस्त्वं तदेव मे रूपमिदं प्रपश्य।।४९।।

अन्वय—मम (मेरे) ईदृक् (इस प्रकार) घोरम् (भयङ्कर) इदम् रूपम् (इस रूपको) दृष्ट्वा (देखकर) ते (तुम्हें) व्यथा (भय) मा [आस्ति] (न हो) विमूढभावः च (एवं विमूढ़भाव) मा [अस्तु] (नहीं हो) पुनः (पुनः) व्यपेतभीः (भयशून्य) प्रीतमनाः [सन्] (प्रीतियुक्त मनवाला होकर) मे (मेरे) इदम् (इस) तत् एव (उसी) रूपम् (चतुर्भुज रूपका) प्रपश्य (प्रकृष्ट रूपमें दर्शन करो)।।४९।।

अनुवाद—मेरे इस भयङ्कर रूपको देखकर तुम भय और विमूढ़ भावको नहीं प्राप्त होओ। तुम पुनः भयरहित होकर तथा प्रीतियुक्त मनवाला होकर मेरे उसी चतुर्भुज रूपका प्रकृष्ट रूपमें दर्शन करो।।४९।।

श्रीविश्वनाथ—भोः परमेश्वर, मां त्वं किं न गृह्णासि? यदनिच्छतेऽपि मह्यं पुनरिदमेव बलाद्दित्ससि; दृष्ट्वेदं तवैश्वर्यं मम गात्राणि व्यथन्ते, मनो मे व्याकुली भवति, मुहुरहं मूर्च्छामि, तवास्मै परमैश्वर्याय दूरत एव मम नमो नमोऽस्तु, न कदाप्यहमेवं द्रष्टुं प्रार्थयिष्ये, क्षमस्व क्षमस्व; तदेव मानुषाकारं वपुरपूर्वमाधुर्यस्मितहसितसुधासारवर्षिमुखचन्द्रं मे दर्शय दर्शयेति व्याकुलमर्जुनं प्रति साश्वासमाह—मा ते इति।।४९।।

भावानुवाद—"हे परमेश्वर! आप मुझे क्यों नहीं कृतार्थ कर रहे हैं। मेरे नहीं चाहनेपर भी आप बलपूर्वक अपने इसी रूपका दर्शन कराना चाहते हैं। आपके इस ऐश्वर-रूपको देखकर मेरा शरीर व्यथित तथा मन व्याकुल हो रहा है, मैं बार-बार मूर्च्छित हो रहा हूँ। मैं आपके इस परम ऐश्वर्य रूपको दूरसे ही नमस्कार करता हूँ, मैं पुनः कभी इस रूपको दिखानेकी प्रार्थना नहीं करूँगा, आप इसके लिए क्षमा करें, क्षमा

करें। आप उसी नराकार शरीर एवं माधुर्य-स्मित हास्यसे सुधारसकी वर्षा करनेवाले मुखचन्द्रका दर्शन करावें, उसीका दर्शन करावें।"—ऐसे व्याकुल अर्जुनको आश्वासन देते हुए श्रीभगवान् 'मा ते' इत्यादि कह रहे हैं।।४९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुन भयानक विश्वरूपका दर्शनकर भयभीत एवं व्याकुल हो गए। श्रीभगवान् उन्हें सान्त्वना प्रदान करते हुए बोले—"अब तुम भयभीत एवं व्याकुल मत होओ। दुराचारी दुर्योधनकी सभामें जिस समय द्रौपदीका अपमान किया जा रहा था, उस समय भीष्म-द्रोणादि चुपचाप बैठे रहे। युधिष्ठिरादि भी रक्षा करनेमें असमर्थ होकर सिर झुकाकर बैठे थे। दुर्योधन-कर्णादि नाना प्रकारकी कूटोक्तियाँ और परिहास कर रहे थे दुःशासन ताल ठोंककर पूरी शक्तिसे द्रौपदीका चीर खींच रहा था। ऐसी असहाय परिस्थितिमें द्रौपदी अनन्य रूपसे मेरे शरणागत हुई, उस समय मैंने अधार्मिक उन दुराचारी दुर्योधनादिका विनाश करनेका सङ्कल्प लिया। अतएव यह संहार कार्य मेरे द्वारा ही संघटित होगा। तुम तो निमित्तमात्र हो। तुम्हें यह विश्वास दिलानेके लिए ही मैंने इस उग्र, विकराल और संहारक रूपका दर्शन कराया है। तुम मेरे नित्य सखा हो, अतः मैं जानता हूँ कि मेरा यह रूप तुम्हें रुचिप्रद नहीं होगा। अब तुम निर्भय होकर अपने प्रार्थित रूपका दर्शन करो।"

"मूढ़बुद्धिवाले लोग इस विश्वरूप-चिन्तापर विश्वास नहीं करते। इस भयानक रूपको देखकर तुम्हें व्यथा या विमूढ़ता नहीं होनी चाहिए। मेरे भक्तगण शान्तिप्रिय हैं एवं वे मेरे सच्चिदानन्द रूपके पक्षपाती होते हैं। अतएव मेरे विश्वरूपके सम्बन्धमें तुम्हें इस प्रकारकी व्यथा या विमूढ़ता न हो—मैं तुम्हें यह आशीर्वाद देता हूँ। इस विश्वरूपके साथ मेरे माधुर्य-परायण भक्तोंका कोई प्रयोजन नहीं है। किन्तु, तुम मेरे लीला-सखा हो, अतः मेरी समस्त लीलाओंमें ही तुम्हें उपकरण बनना होगा। तुम्हारा इस प्रकार व्यथित होना उचित नहीं है, अतएव भयका परित्यागकर प्रीतमना होकर मेरे नित्य रूपका दर्शन करो।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४९।।

सञ्जय उवाच—

इत्यर्जुनं वासुदेवस्तथोक्त्वा स्वकं रूपं दर्शयामास भूयः।
आश्वासयामास च भीतमेनं भूत्वा पुनः सौम्यवपुर्महात्मा।।५०।।

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) वासुदेवः (वासुदेवने) अर्जुनम् (अर्जुनको) इति उक्त्वा (ऐसा कहकर) भूयः (पुनः) तथा स्वकम् रूपम् (अपने उसी चतुर्भुज रूपको) दर्शयामास (दिखाया) महात्मा (उदार

हृदयवाले) [श्रीकृष्ण] सौम्यवपुः भूत्वा (प्रसन्नमूर्त्ति होकर) पुनः (पुनः) भीतम् एनम् (भयभीत अर्जुनको) आश्वासयामास (आश्वस्त किया)।।५०।।

अनुवाद—सञ्जयने कहा—महात्मा वासुदेव श्रीकृष्णने ऐसा कहकर अर्जुनको पुनः अपने उसी चतुर्भुज रूपको दिखाया। उन्होंने पुनः प्रसन्नमूर्त्ति धारणकर भयभीत अर्जुनको आश्वस्त किया।।५०।।

श्रीविश्वनाथ—यथा स्वांशस्य महोग्ररूपं दर्शयामास, तथा महामधुरं स्वकं रूपं चतुर्भजं किरीटगदाचक्रादियुक्तं तत्प्रार्थितं मधुरैश्वर्यमयं भूयो दर्शयामास। ततः पुनः स महात्मा सौम्यवपुः कटककुण्डलोष्णीषपीताम्बरधरो द्विभुजो भूत्वा भीतमेनमाश्वासयामास।।५०।।

भावानुवाद—इस प्रकार अपने अंशके महोग्र रूपको दिखाकर अर्जुनके द्वारा प्रार्थित मुकुट-गदा-चक्रादिसे विभूषित चतुर्भुज मुधर-ऐश्वर्यमय रूपको दिखाया। पुनः उन महात्माने ही कटक-कुण्डल-पगड़ी-पीताम्बरादिसे युक्त द्विभुज सौम्य वपुका प्रकाशकर भयभीत अर्जुनको आश्वासन दिया।।५०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अनन्तर जो घटित हुआ, उसे सञ्जय बता रहे हैं—भगवान् श्रीकृष्णने अपना सहस्रशीर्ष रूपका सङ्गोपन किया तथा नीलोत्पल, श्यामलादि गुणयुक्त उस चतुर्भुज रूपको प्रकट किया, जो कि देवकीनन्दनके रूपमें कंसके कारागारमें प्रकट किया था। अन्तमें परम सौम्य द्विभुज मूर्त्ति दिखाकर भयभीत अर्जुनको सान्त्वना दी।।५०।।

अर्जुन उवाच—
दृष्ट्वेदं मानुषं रूपं तव सौम्यं जनार्दन।
इदानीमस्मि संवृत्तः सचेताः प्रकृतिं गतः।।५१।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) जनार्दन (हे जनार्दन!) तव (आपके) इदम् सौम्यम् (इस मनोहर) मानुषम् रूपम् (मानुष रूपको) दृष्ट्वा (देखकर) इदानीम् (अब) [अहम्—मैं] सचेताः (प्रसन्नचित्त) संवृत्तः अस्मि (हो गया हूँ) प्रकृतिम् गतः (और अपनी पूर्व स्थितिको प्राप्त हो गया)।।५१।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे जनार्दन! आपके इस मनोहर नराकार रूपको देखकर अब मैं प्रसन्नचित्त हो गया तथा अपनी पूर्वस्थितिको प्राप्त हो गया।।५१।।

श्रीविश्वनाथ—ततश्च महामधुरमूर्त्तिं कृष्णमालोक्यानन्दसिन्धुस्नातः सन्नाह—इदानीमेवाहं सचेताः संवृत्तः सचेता अभूवं, प्रकृतिं गतः स्वास्थ्यं प्राप्तोऽस्मि।।५१।।

भावानुवाद—तत्पश्चात् महामधुरमूर्त्ति श्रीकृष्णको देखकर आनन्द-सिन्धुमें स्नात होते हुए अर्जुनने कहा—अब मैं प्रसन्नचित्त हुआ तथा मैं अपनी 'प्रकृतिं' अर्थात् स्वास्थ्यको भी प्राप्त किया।।५१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—उस समय निर्भय होकर अर्जुन महामाधुर्यमय श्रीकृष्णका चतुर्भुज रूपमें और तत्पश्चात् द्विभुज श्यामसुन्दरके रूपमें दर्शन पाकर परमानन्दित होकर कहने लगे—"जनार्दन! आपके इस परम सौम्य नराकार रूपका दर्शनकर मैं स्वस्थ हुआ। मैंने अपनी स्वाभाविक प्रकृति प्राप्त की।" श्रीकृष्ण यादवों एवं पाण्डवोंके साथ द्विभुज एवं कभी-कभी चतुर्भुज रूपमें भी क्रीड़ा करते हैं। इसलिए चतुर्भुज रूपको भी मानुष रूप कहा गया है। श्रीमद्भागवत (७/१०/४८) में भी कृष्णके मानुष-रूपका वर्णन पाया जाता है—*'गूढं परं ब्रह्म मनुष्य लिङ्गम्'*।।५१।।

श्रीभगवानुवाच—

सुदुर्दर्शमिदं रूपं दृष्टवानसि यन्मम।
देवा अप्यस्य रूपस्य नित्यं दर्शनकाङ्क्षिणः।।५२।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) मम् (मेरे) यत् (जो) इदम् (इस) सुदुर्दर्शम् (अत्यन्त दुःखपूर्वक भी अदर्शनीय) रूपम् (रूपको) दृष्टवान् असि (देखा है) देवाः अपि (देवगण भी) अस्य रूपस्य (इस रूपके) नित्यम् दर्शनाकाङ्क्षिणः (दर्शनकी नित्य अभिलाषा करते हैं)।।५२।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—तुमने मेरे जो इस अत्यन्त दुर्लभ रूपका दर्शन किया, देवगण भी इसके दर्शनकी नित्य अभिलाषा करते हैं।।५२।।

श्रीविश्वनाथ—दर्शितस्य स्वरूपस्य माहात्म्यमाह—सुदुर्दर्शमिति त्रिभिः। देवता अप्यस्य दर्शनाकाङ्क्षिणः एव, न तु दर्शनं लभन्ते। त्वन्तु नैवेद्यमपि स्पृहयसि मन्मूलस्वरूपनराकारमहामाधुर्य नित्यास्वादिने त्वच्चक्षुषे कथमेतद्रोचताम्? अतएव मया "दिव्यं ददामि ते चक्षुः" इति दिव्यं चक्षुर्दत्तम्, किन्तु दिव्यचक्षुरिव दिव्यं मनो न दत्तम्; अतएव दिव्यचक्षुषापि त्वया न सम्यक्तया रोचितं मन्मानुषरूपमहामाधुर्यैकग्राहिमनस्कत्वात्, दिव्यं मनोऽपि तुभ्यमदास्यं, तदा देवलोक इव भवानप्येतद्विश्वरूपपुरुषस्वरूपमरोचयिष्यदेवेति भवः।।५२।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् 'सुदुर्दर्शम्' इत्यादि तीन श्लोकोंके द्वारा दिखाए गए स्वरूपका माहात्म्य बता रहे हैं। देवतागण भी इस रूपके दर्शनाकांक्षी हैं, किन्तु वे भी इसका दर्शन नहीं पाते हैं। किन्तु, तुम इसकी भी आकांक्षा

नहीं करते हो। यह ठीक ही है, क्योंकि तुम मेरे मूल नराकार स्वरूपके महामाधुर्यका नित्य आस्वादन करनेवाले हो, अतएव तुम्हारे नेत्रोंको यह रूप किस प्रकार रुचिकर होगा। मैं तुम्हें दिव्य चक्षु देता हूँ—ऐसा कहकर मैंने तुम्हें दिव्य चक्षु तो दिया, किन्तु दिव्य चक्षुके समान दिव्य मन नहीं दिया। अतएव एकमात्र मेरे मनुष्य रूपके महामाधुर्यको ग्रहणकारी मनवाला होनेके कारण दिव्य चक्षुके द्वारा भी तुम्हें वह रूप सम्यक्‌रूपेण रूचिप्रद नहीं हुआ। यदि तुम्हें दिव्य मन भी प्रदान करता, तो देवगणकी भाँति तुम भी मेरे विश्वरूप पुरुष-स्वरूपके प्रति रुचियुक्त हो पाते।।५२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—उक्त श्लोकमें श्रीकृष्ण अपने नर-रूपकी महिमा तथा अर्जुनके प्रति अपनी कृपाकी सुदुर्लभता प्रदर्शनपूर्वक कह रहे हैं—"तुम मेरे इस जिस नर-रूपका दर्शनकर रहे हो, उसका दर्शन करना अत्यन्त दुर्लभ है। देवता भी इस रूपका दर्शन नहीं कर पाते। श्रीमद्भागवतमें दशम स्कन्धके गर्भ-स्तोत्रमें उसे देव-दुर्लभ दर्शन कहा गया है। तुम मेरे इस नराकार रूपके महामाधुर्यका आस्वादन करनेवाला नित्य भक्त हो, इसलिए यह परमेश्वर-रूप तुम्हारे लिए रुचिप्रद नहीं हुआ। मैंने तुम्हें दिव्य चक्षु तो दिया था, किन्तु दिव्य मन नहीं दिया। यदि दिव्य मन भी दे देता, तो देवताओंकी भाँति तुम्हें भी यह विश्वरूप रुचिप्रद होता। तुम मेरे नित्य सखा हो, तुम अपना सख्य भाव कदापि त्याग नहीं सकते। इसलिए तुम्हें नराकार रूप ही प्रिय है।

"श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन! तुम अभी मेरे जिस रूपको देख रहे हो, वह सुदुर्दर्शनीय (अत्यन्त दुर्लभ) है। ब्रह्मा-रुद्रादि देवतागण भी इस नित्य रूपके दर्शनाकाङ्क्षी हैं। यदि कहो कि सभी लोग तो इस मनुष्य शरीरका दर्शन कर रहे हैं, अतः यह किस प्रकार दुर्दर्शनीय हुआ, तो मैं तुम्हें इसका तत्त्व बता रहा हूँ, ध्यानपूर्वक श्रवण करो—मेरे इस सच्चिदानन्द कृष्णरूपके सम्बन्धमें तीन प्रकारकी प्रतीति हैं—विद्वत्-प्रतीति, अविद्वत्-प्रतीति तथा यौक्तिक-प्रतीति। अविद्वत् मूढ़ प्रतीति द्वारा मानवगण मेरे इस मायिक अर्थात् जड़-धर्माश्रित और अनित्य प्रतीतिको 'सत्य' कहकर अङ्गीकार करते हैं, इससे वे इस स्वरूपके परम भावको नहीं जान पाते हैं। यौक्तिक अथवा दिव्य प्रतीति द्वारा ज्ञानाभिमानी पुरुष तथा देवतागण इस प्रतीतिको जड़-धर्माश्रित और अनित्य समझकर या तो मेरी विश्वव्यापी मूर्त्तिको नहीं तो विश्वातिरिक्त व्यतिरेक-भावगत निर्विशेष-ब्रह्मको 'नित्यतत्त्व' समझकर मेरे इस नराकारको 'अर्चनोपाय' के रूपमें सिद्धान्त

करते हैं। विद्वत् प्रतीति द्वारा मेरे इस मनुष्य रूपको साक्षात् 'सच्चिदानन्द-धाम' समझकर चित्-चक्षुविशिष्ट भक्तगण मेरा साक्षात्कार प्राप्त करते हैं। अतएव इस प्रकारका दर्शन देवताओंके लिए भी दुर्लभ है। देवताओंमें ब्रह्मा और शिव ही मेरे शुद्धभक्त हैं, अतएव वे इस रूपके दर्शनकी लालसा करते हैं। मेरी शुद्ध-सख्यभक्तिका आश्रय करनेके कारण मेरी कृपासे तुम विश्वरूपादिका दर्शनकर नित्यरूपके सर्वश्रेष्ठत्वको जान सके।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।५२।।

नाहं वेदैर्न तपसा न दानेन न चेज्यया।
शक्य एवंविधो द्रष्टुं दृष्टवानसि यन्मम।।५३।।

अन्वय—माम् (मुझे) यथा (जिस रूपमें) दृष्टवान् असि (देखा है) एवंविधः (ऐसा रूपविशिष्ट) अहम् (मैं) वेदैः (वेदोंके द्वारा) तपसा (तपस्याके द्वारा) दानेन (दानके द्वारा) इज्यया च (एवं यज्ञके द्वारा) द्रष्टुम् न शक्य (दर्शनयोग्य नहीं हूँ)।।५३।।

अनुवाद—तुमने जिस रूपमें मुझे देखा, इस रूपमें मैं न वेद, तपस्या तथा दानके द्वारा और न ही यज्ञके द्वारा दर्शनीय हूँ।।५३।।

श्रीविश्वनाथ—किञ्च युष्मदस्पृहणीयमप्येतत् स्वरूपमन्ये पुरुषार्थसारत्वेन ये स्पृहयन्ति, तैर्वेदाध्ययनादिभिरपि साधनैरेतज्ज्ञातुं द्रष्टुञ्चाशक्यमेवेति प्रतीहीत्याह—नाहमिति।।५३।।

भावानुवाद—तुम्हारे अस्पृहणीय (अवाञ्छित) इस स्वरूपको यदि कोई पुरुषार्थ-सार समझकर देखनेकी आकांक्षा भी करे, तो वे वेदाध्ययनादि साधनोंके द्वारा भी इस रूपमें मुझे जानने और देखनेमें समर्थ नहीं हैं—तुम यह विश्वास करो।।५३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भक्त अर्जुनने भगवान्के जिस परम सौम्य नित्य नराकार रूपका दर्शन किया उसे कोई वेदपाठ-तपस्या-दान-अर्चनादिके द्वारा नहीं दर्शन कर सकता है। श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

'यं न योगेन सांख्येन दानव्रत तपोऽध्वरैः।
व्याख्यास्वाध्याय संन्यासैः प्राप्नुयाद् यत्नवानपि।।'

(श्रीमद्भा. ११/१२/९)

और भी,

'न साधयति मां योगो न सांख्यं धर्म उद्धव'

(श्रीमद्भा. ११/१४/२०) ।।५३।।

भक्त्या त्वनन्यया शक्यो अहमेवंविधोऽर्जुन।
ज्ञातुं द्रष्टुञ्च तत्त्वेन प्रवेष्टुञ्च परन्तप।।५४।।

अन्वय—परन्तप (हे परन्तप!) अर्जुन (अर्जुन!) अनन्या (केवला) भक्त्या तु (भक्तिके द्वारा ही) एवंविधः (ऐसा रूपविशिष्ट) अहम् (मैं) तत्त्वेन (यथायथ रूपसे) ज्ञातुम् (जानने) द्रष्टुम् (देखने) प्रवेष्टुम् च (और प्रवेश करनेमें) शक्यः (समर्थ हुआ जाता हूँ)।।५४।।

अनुवाद—हे परन्तप अर्जुन! एकमात्र अनन्या भक्तिके द्वारा ही ऐसा रूपविशिष्ट मैं तत्त्वतः जानने, देखने और प्रवेश करनेमें समर्थ हुआ जाता हूँ।।५४।।

श्रीविश्वनाथ—तर्हि केन साधनेनैतत् प्राप्यते? इत्यत् आह—भक्तत्या त्विति। शक्य अहमिति—यद्वयलोपावार्षौ। यदि निर्वाणमोक्षेच्छा भवेत्, तदा तत्त्वेन ब्रह्मस्वरूपत्वेन प्रवेष्टुमपि अनन्यया भक्त्यैव शक्यो नान्यथा। ज्ञानिनां गुणीभूतापि भक्तिरन्तिमसमये ज्ञानसंन्यासानन्तरमुर्वरिता अल्पीयस्य नान्यैव भवेत्तयैव तेषां सायुज्यं भवेदिति, *"ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्"* इत्यत्र प्रतिपादयिष्यामः।।५४।।

भावानुवाद—"तो फिर आप किस साधनसे प्राप्य हैं?"—अर्जुनके इस प्रश्नकी अपेक्षाकर श्रीभगवान् 'भक्त्या' इत्यादि कह रहे हैं। 'शक्य अहम्'—यहाँ दो 'य' का लोप आर्ष है। यदि निर्वाण मोक्षकी भी वासना हो, तो भी अनन्य भक्तिके द्वारा ही ब्रह्मस्वरूपमें प्रवेश करनेमें समर्थ हुआ जा सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है। ज्ञानियोंकी गुणाभूता भक्ति भी अन्तिम समयमें ज्ञान-संन्यासके बाद अल्प ही विकसित होती है, और कुछ नहीं होता है। इसके द्वारा उन्हें सायुज्य मुक्ति प्राप्त होती है। "अनन्तर मुझे स्वरूपतः जानकर मुझमें ही प्रवेश करते हैं।" गीता (१८/५५)—इससे मैं बादमें इसे प्रतिपादित करूँगा।।५४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस सौम्य नराकार रूपका दर्शन केवल अनन्य भक्तिके द्वारा ही सम्भव है। इस सम्बन्धमें श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

'केवलेन हि भावेन गोप्यो गावो नगा मृगाः।
येऽन्ये मूढधियो नागाः सिद्धाः मामीयुरञ्जसा।।'

(श्रीमद्भा. ११/१२/८)

'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः श्रद्धयात्मा प्रियः सताम्।'

(श्रीमद्भा. ११/१४/२१) ।।५४।।

मत्कर्मकृन्मत्परमो मद्भक्तः सङ्गवर्जितः।
निर्वैरः सर्वभूतेषु यः स मामेति पाण्डव।।५५।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'विश्वरूपदर्शनयोगो' नाम एकादशोऽध्यायः।

अन्वय—पाण्डव (हे पाण्डव!) यः (जो) मत्कर्मकृत (मेरे लिए ही कर्म करते हैं) मत्परमः (मेरे परायण हैं) मद्भक्तः (मेरे श्रवण-कीर्त्तनादि विविध भक्तियुक्त हैं) सङ्गवर्जितः (आसक्तिरहित हैं) सर्वभूतेषु निर्वैरः (सभी भूतोंके प्रति द्वेषरहित हैं) सः (वे) माम् इति (मुझे प्राप्त होते हैं)।।५५।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'विश्वरूपदर्शनयोगो' नाम एकादशोऽध्यायस्यान्वयः।।

अनुवाद—हे पाण्डव! जो मेरे लिए ही कर्म करते हैं, मेरे परायण हैं, मेरे श्रवण-कीर्त्तनादि भक्तिके विविध अङ्गोंका पालन करनेवाले हैं, आसक्तिरहित हैं तथा सभी भूतोंके प्रति राग-द्वेषरहित हैं, वे मुझे प्राप्त होते हैं।।५५।।

श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—अथ भक्तिप्रकरणोपसंहारार्थं सप्तामाध्यायादिषु ये ये भक्ता उक्तास्तेषां सामान्यलक्षणमाह—मत्त्कर्मकृदिति। सङ्गवर्जितः सङ्गरहितः।।५५।।

कृष्णस्यैव महैश्वर्यं ममैवास्मिन् रणे जयः।
इत्यर्जुनो निश्चिकायेत्यध्यायार्थो निरूपितः।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतास्वेकादशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद—अनन्तर भक्ति प्रकरणका उपसंहार करनेके लिए सप्तमादि अध्यायोंमें जिन जिन भक्तोंके विषयमें कहा गया है—उनका सामान्य लक्षण बताते हुए 'मत्कर्मकृत', सङ्गवर्जितः' इत्यादि कहा जा रहा है।।५५।।

अर्जुन श्रीकृष्णके महैश्वर्य एवं युद्धमें अपने विजय होनेको निश्चित कर पाये—यही इस एकादश अध्यायका अर्थ निरूपित हुआ।।

श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश अध्यायकी साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश अध्यायकी सारार्थवर्षिणी टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें श्रीकृष्ण अनन्या भक्तिका आश्रय

ग्रहण करनेवाले भक्तोंके लिए आचरणीय भक्तिके अङ्गोंका वर्णनकर रहे हैं—जो लोग आसक्तिरहित तथा समस्त प्राणियोंके प्रति द्वेषरहित होकर मेरी अनन्या भक्ति अर्थात् भगवत्-सम्बन्धी मन्दिर निर्माण, मार्जन, तुलसी-सेवा, हरिकथा-श्रवण-कीर्त्तन-स्मरणादि करते हैं, वे ही मेरे भक्त हैं। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा कहा गया है—

'ममार्चास्थापने श्रद्धा स्वतः संहृत्य चोद्यमः।
उद्यानोपवनाक्रीड-पुरमन्दिर कर्मणि।।
सम्मार्जनोपलेपाभ्यां सेकमण्डलवर्त्तनैः।
गृहशुश्रूषणं मह्यं दासवद्यदमायया।।'

(श्रीमद्भा. ११/११/३८-३९)

अर्थात्, मन्दिरोंमें मेरी मूर्त्तियोंकी स्थापनामें श्रद्धा रखे। यदि यह काम अकेला न कर सके तो औरोंके साथ मिलकर उद्योग करे। मेरे लिए पुष्पवाटिका, बगीचे, क्रीड़ाके स्थान, नगर और मन्दिर बनवाए। सेवककी भाँति श्रद्धा-भक्तिके साथ निष्कपट भावसे मेरे मन्दिरोंकी सेवा-शुश्रूषा करे, झाड़े-बुहारे, लीपे-पोते, छिड़काव करे और तरह-तरहके कार्य करे।

श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने लिखा है—"जो मत्परायण हैं अर्थात् जो स्वर्गादिको पुरुषार्थ नहीं जानकर एकमात्र मुझे ही पुरुषार्थ जानते हैं, जो मेरे भक्त हैं अर्थात् मेरे नाम-रूपादिके श्रवण-कीर्त्तनादि नौ प्रकारके भक्तिरसमें निरत हैं, जो सङ्गवर्जित अर्थात् फलकी आसक्तिसे रहित हैं एवं मुझसे विमुख लोगोंके सङ्गसे रहित हैं, जो सभी भूतोंके प्रति वैरशून्य हैं अर्थात् अपने पूर्व कर्मोंको ही अपने क्लेशका कारण जानकर अपने प्रति शत्रुका व्यवहार करनेवालेके प्रति भी शत्रुभावसे रहित हैं, अधिकन्तु सदयभावयुक्त हैं, वे ही इस कृष्णस्वरूप मुझको प्राप्त करते हैं, दूसरे नहीं।"

"इस अध्यायमें विश्वरूप, कालरूप, यहाँ तक कि विष्णुरूपकी अपेक्षा भी श्रीकृष्णरूपका आश्रयनीयत्व प्रदर्शित हुआ है। स्वरूप-विग्रहको छोड़कर साम्बन्धिक विग्रहसे भक्तोंका कोई प्रयोजन नहीं हैं। श्रीकृष्ण-विग्रह ही निखिलरसामृतसिन्धु और परम माधुर्यभावका एकमात्र निधान है, यही इस अध्यायका निष्कर्ष है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर (विद्वत्-रञ्जन)।।५५।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके एकादश
अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

एकादश अध्याय समाप्त।

द्वादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—
एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते।
ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः।।१।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा!) एवम् (इस प्रकारसे) सततयुक्ताः (निरन्तर आपमें निष्ठायुक्त) ये भक्ताः (जो भक्तगण) त्वाम् (आपकी) पर्युपासते (उपासना करते हैं) ये च अपि (और जो) अव्यक्त (निर्विशेष) अक्षरम् (ब्रह्मकी) [पर्युपासते—उपासना करते हैं] तेषाम् (उन दोनोंमें) के योगवित्तमाः (कौन श्रेष्ठ योगवेत्ता हैं)।।१।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—आपके पूर्वोक्त उपदेशानुसार जो भक्तयोगी निष्ठायुक्त होकर निरन्तर श्यामसुन्दर रूपकी उपासना करते हैं तथा जो निर्विशेष अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हैं, उन दोनोंमें कौन श्रेष्ठ योगवेत्ता हैं?।।१।।

श्रीविश्वनाथ— ***द्वादशे सर्वभक्तानां ज्ञानिभ्यः श्रैष्ठ्यमुच्यते।***
भक्तेष्वपि प्रशस्यन्ते येऽद्वेषादिगुणान्विताः।।

भक्तिप्रकरणस्योपक्रमे *'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां समे युक्ततमो मतः।।'* इति भक्तेः सर्वोत्कर्षो यथाश्रुतः, तथैवोपसंहारेऽपि तस्या एव सर्वोत्कर्षं श्रोतुकामः पृच्छति। एवं सततयुक्ता 'मत्कर्मकृन्मत्परमः' इति त्वदुक्तलक्षणा भक्तास्त्वां श्यामसुन्दराकारं ये पर्युपासते, ये चाव्यक्तं निर्विशेषमक्षरम्—*"एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा अभिवदन्त्यस्थूलमनण्वह्रस्वम्"* इत्यादि श्रुत्युक्तं ब्रह्म उपासते, तेषामुभयेषां योगविदां मध्ये केऽतिशयेन योगविदश्च त्वत्प्राप्तौ श्रेष्ठमुपायं जानन्ति, न लभन्ते वा, ते योगवित्तरमा इति वक्तव्ये योगवित्तमा इत्युक्तिर्योगवित्तराणामपि बहूनां मध्ये के योगवित्तमा इत्यर्थं बोधयति।।१।।

भावानुवाद—द्वादश अध्यायमें ज्ञानियोंकी अपेक्षा सभी भक्तोंकी श्रेष्ठताके बारेमें कहा गया है। भक्तोंमें भी जो अद्वेषादि गुणोंसे युक्त हैं, उनकी ही प्रशंसा की गई है।

भक्ति प्रकरणके उपक्रम (भूमिका) में अर्जुनने यह श्रवण किया कि जो श्रद्धायुक्त होकर तथा मद्गतचित्तसे मेरा भजन करते हैं, वे सभी प्रकारके योगियोंमें युक्ततम अर्थात् श्रेष्ठ हैं, यही मेरा अभिमत है। (गीता ६/४७) जिस प्रकार इन वाक्योंमें अर्जुनने भक्तकी सर्वश्रेष्ठताके विषयमें श्रवण किया, उसी प्रकार उपसंहारमें भी भक्तकी सर्वश्रेष्ठताके विषयमें श्रवण करनेको इच्छुक होकर ऐसी जिज्ञासा कर रहे हैं। आपने 'सततयुक्ताः' का तात्पर्य बताया—जो व्यक्ति मेरे कर्मानुष्ठान-परायण हैं। जो व्यक्ति आपके द्वारा कथित उपरोक्त लक्षणोंसे युक्त होकर 'त्वां' अर्थात् श्यामसुन्दस्वरूप आपकी उपासना करते हैं तथा जो निर्विशेष अक्षर ब्रह्मकी उपासना करते हैं, जिसे वृहदारण्यक श्रुतिमें इस प्रकार कहा गया है—"हे गार्गि! ब्राह्मणगण उस अक्षर ब्रह्मको अस्थूल, अनणु (असूक्ष्म) अह्रस्व प्रभृति कहते हैं।"—इन दोनों प्रकारके योगविदोंमें से कौन श्रेष्ठ हैं अर्थात् कौन आपको जाननेका श्रेष्ठ उपाय जानते हैं अथवा कौन आपको प्राप्त करते हैं? यहाँ मूल श्लोक में 'योगवित्तमाः' कहा गया है, दो वस्तुओंमें तुलनाके लिए 'योगवित्तर' का प्रयोग होता है, किन्तु 'योगवित्तम' कहनेका यही तात्पर्य है कि योगवित्तरोंमें कौन श्रेष्ठ है?॥१॥

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—शीघ्र-से-शीघ्र भगवत्-प्राप्तिके लिए जितने भी साधन हैं, उनमें शुद्ध भक्ति ही एकमात्र सरल, सहज, स्वाभाविक एवं अमोघ प्रभावशाली साधन है। इस अध्यायमें इस विशुद्धा भक्तिका ही प्रतिपादन हुआ है।

अर्जुन अब तक भगवान् श्रीकृष्णके उपदेशोंको बड़े सावधानीसे श्रवण कर रहे थे। श्रीकृष्णने छठे अध्यायमें *'योगिनामपि सर्वेषां'* श्लोकके माध्यमसे कर्मयोगी, ध्यानयोगी और तपयोगी अदि सभी प्रकारके योगियोंमें भक्तियोगीको श्रेष्ठ बताया। सप्तम अध्यायमें *'मय्यासक्तमनाः'* श्लोकके द्वारा यह बताया कि भक्तियोगका आश्रय करना ही श्रेयस्कर है। अष्टम अध्यायमें *'प्रयाणकाले मनसा अचलेन'* श्लोकके द्वारा योगबलकी महिमा, नवम अध्यायमें 'ज्ञानयज्ञेन चाप्यन्ये' श्लोकके द्वारा ज्ञानयोगकी बात तथा एकादश अध्यायके अन्तमें *'मत्कर्मकृन् मत्परमो'* श्लोकके द्वारा पुनः भक्तियोगकी श्रेष्ठताका वर्णन किया। इन विभिन्न योगोंकी बातोंको सुनकर मानो अर्जुन यह स्थिर न कर सके कि यशोदानन्दन श्यामसुन्दर श्रीकृष्णरूप सविशेष स्वरूपकी उपासना श्रेष्ठ है अथवा निःशक्तिक, निराकार एवं

अव्यक्तस्वरूप निर्विशेष ब्रह्मकी उपासना श्रेष्ठ है। इन दोनों प्रकारके उपासकोंमें यथार्थतः कौनसे योगी योगवित्तम हैं। यहाँ 'योगवित्तम' शब्दके द्वारा अर्जुन यह जानना चाहते हैं कि सभी प्रकारके योगियोंमें कौन श्रेष्ठ हैं?

"अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! आपने अभी तक जो उपदेश दिए, उनसे मैंने यह जाना कि योगी दो प्रकारके हैं। एक प्रकारके योगी समस्त शारीरिक और सामाजिक कर्मोंको आपकी अनन्या भक्तिकी अधीनता-शृंखलामें बद्धकर आपकी उपासना करते हैं। अन्य प्रकारके योगिगण शारीरिक और सामाजिक कर्मोंको निष्काम कर्मयोग द्वारा आवश्यकतानुसार स्वीकारकर अक्षर और अव्यक्तरूप आपके आध्यात्मिक योगका अवलम्बन करते हैं। इन दोनों प्रकारके योगियोंमें कौन श्रेष्ठ हैं?"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१।।

श्रीभगवानुवाच—
मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः।।२।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) ये (जो) परया श्रद्धया उपेताः (निर्गुण श्रद्धायुक्त होकर) मनः (मनको) मयि (मुझमें) आवेश्य (आविष्टकर) नित्ययुक्ताः (सततयुक्त होकर) माम् (मुझे) उपासते (भजते हैं) ते (वे) युक्ततमाः (श्रेष्ठ योगविद्) [हैं] मे मताः (यही मेरा मत है)।।२।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—जो निर्गुणा श्रद्धाके साथ मेरे श्यामसुन्दर स्वरूपमें मनोनिवेशकर अनन्य भक्तिसहित निरन्तर मेरी उपासना करते हैं, वे श्रेष्ठ योगविद् हैं, यही मेरा अभिमत है।।२।।

श्रीविश्वनाथ—तत्र मद्भक्ता श्रेष्ठा इत्याह—मयि श्यामसुन्दराकारे मन आवेश्याविष्टं कृत्वा नित्ययुक्ता मन्नित्ययोगकाङ्क्षिणः परया गुणातीतया श्रद्धया; यदुक्तं—*"सात्त्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी। तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा।"* इति। ते मे मदीया अनन्यभक्ता युक्ततमा योगवित्तमा इत्यर्थः। तेनानन्यभक्तेभ्यो न्यूना अन्ये ज्ञानकर्मादिमिश्रभक्तिमन्तो योगवित्तमा इत्यर्थोऽभिव्यञ्जितो भवति। ततश्च ज्ञानाद्भक्तिः श्रेष्ठा भक्तावप्यनन्यभक्तिः श्रेष्ठा इत्युपपादितम्।।२।।

भावानुवाद—अर्जुनके उपरोक्त प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—वैसी स्थितिमें भक्तगण ही श्रेष्ठ हैं, जो श्यामसुन्दराकार मुझमें मनको आविष्टकर 'परया श्रद्धया' अर्थात् गुणातीता श्रद्धाके साथ नित्य मेरे योगाकांक्षी हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवतमें भी कथित है—"आत्मविषयिणी श्रद्धा सात्त्विकी, कर्मविषयिणी श्रद्धा राजसी, अधर्मविषयिणी श्रद्धा तामसी एवं मेरी सेवाविषयिणी श्रद्धा निर्गुणा होती है।" (श्रीमद्भा. ११/२५/२७) इस श्लोकमें कहा गया है कि 'मे'—मेरे अनन्य भक्त 'युक्ततमाः'—योगवित्तम हैं। अतएव अनन्य भक्तकी अपेक्षा न्यून ज्ञान-कर्मादि-मिश्र अन्य भक्तिमान् पुरुष योगवित्तर हैं, योगवित्तम नहीं। इसलिए ज्ञानसे श्रेष्ठ है भक्ति तथा भक्तिमें अनन्या भक्ति ही श्रेष्ठ है—यही प्रमाणित हुआ।।२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुनके प्रश्नको सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण अत्यन्त प्रसन्न होकर कहने लगे—"जो लोग मेरे श्यामसुन्दररूपमें मनोनिवेशपूर्वक गुणातीता श्रद्धाके साथ सदा-सर्वदा अनन्य भावसे मरी उपासना करते हैं, मैं ऐसे भक्तोंको ही सर्वश्रेष्ठ योगी समझता हूँ।" ऐसे अनन्य भक्तगण ही यथार्थमें श्रेष्ठतम योगी हैं। ज्ञान-कर्म आदिसे मिश्र भक्तियुक्त योगी श्रेष्ठतर हैं। इसलिए ज्ञानयोगकी अपेक्षा भक्तियोग श्रेष्ठ है, क्योंकि इसमें शुद्धा एवं अनन्या भक्ति होती है। मूल श्लोकमें उल्लिखित 'श्रद्धा' शब्दका तात्पर्य है—शास्त्र, गुरु और भगवान्के वचनोंमें दृढ़ विश्वास—

'श्रद्धा शब्दे—विश्वास कहे सुदृढ़ निश्चय।
कृष्णभक्ति कैले सर्वकर्म कृत हय।।'

(चै. च. म. २२/६२)

अर्थात्, वह निश्चयात्मक विश्वास कि श्रीकृष्णकी ही भक्ति करनेसे समस्त कर्मोंका करना हो जाता है—श्रद्धा कहलाता है। अन्यत्र भी ऐसा पाया जाता है—

'श्रद्धा तु अन्योपाय वर्जं कृष्णोन्मुखी चित्तवृत्ति विशेषः।'

अर्थात्, अन्य उपायोंसे रहित केवल श्रीकृष्णके प्रति उन्मुख चित्तवृत्तिको ही श्रद्धा कहते हैं।

श्रीमद्भागवतमें चार प्रकारकी श्रद्धाका उल्लेख है—

'सात्विक्याध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी।
तामस्य धर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणा।।'

(श्रीमद्भा. ११/२५/२७)

अर्थात्, आध्यात्मिक शास्त्रोंमें जो श्रद्धा देखी जाती है, वह सात्त्विकी, कर्मकाण्ड-सम्बन्धी श्रद्धा राजसी, अधर्म-सम्बन्धी श्रद्धा तामसी और मेरी सेवाओंमें जो श्रद्धा होती है, वह निर्गुणा होती है। यहाँ यह जान लेना आवश्यक है कि निर्गुण शब्दका तात्पर्य प्रकृतिसे अतीत अप्राकृत गुणोंसे है, न कि सम्पूर्णरूपसे गुणरहित होना। इसलिए ऐसी निर्गुणा श्रद्धासे युक्त होनेवाले भक्तियोगी ही श्रेष्ठ हैं, भगवान् श्रीकृष्णका यही अभिप्राय है।।२।।

ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्।।३।।
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्र समबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः।।४।।

अन्वय—ये तु (किन्तु जो) इन्द्रियग्रामम् (इन्द्रियोंको) संनियम्य (संयमितकर) सर्वत्र (सभी वस्तुओंमें) समबुद्धयः (समदृष्टिसम्पन्न) सर्वभूतहिते रताः [सन्तः] (और सभी भूतोंके कल्याणमें रत होकर) अनिर्देश्यम् (निर्देशके अतीत, अनिर्वचनीय) अव्यक्तम् (प्राकृत रूपादिसे रहित) सर्वत्रगम् (सर्वव्यापी) अचिन्त्यम् च (एवं तर्कातीत) कूटस्थम् (सर्वकालव्यापी, नित्य एकरूप) अचलम् (वृद्धि आदिसे रहित) ध्रुवम (नित्य) अक्षरम् (ब्रह्मकी) पर्युपासते (उपासना करते हैं) ते (वे) मामेव (मुझे ही) प्राप्नुवन्ति (प्राप्त होते हैं)।।३-४।।

अनुवाद—किन्तु, जो इन्द्रियोंको संयमितकर सभी वस्तुओंमें समदृष्टिसम्पन्न होकर एवं सभी भूतोंके कल्याणमें रत होकर अनिर्देश्य, अव्यक्त, सर्वव्यापी, अचिन्त्य, कूटस्थ, अचल और नित्य मेरे निर्विशेष अक्षर ब्रह्मस्वरूपकी उपासना करते हैं, वे मुझे ही प्राप्त होते हैं।।३-४।।

श्रीविश्वनाथ—मदीय-निर्विशेषब्रह्मस्वरूपोपासकास्तु दुःखित्वात्ततो न्यूना इत्याह—ये त्विति द्वाभ्याम्। अक्षरं ब्रह्म, अनिर्द्देश्यं शब्देन व्यपदेष्टुमशक्यम्, यतोऽव्यक्तं रूपादिहीनम्, सर्वत्रगं सर्वदेशव्याप्यचिन्त्यं तर्कागम्यम्, कूटस्थं सर्वकालव्यापि,—*"एकरूपतया तु यः कालव्यापी स कूटस्थः"* इत्यमरः। अचलं वृद्ध्यादिरहितम् ध्रुवं नित्यम्। मामेवेत्यक्षरस्य तस्य मत्तो भेदाभावात्।।३-४।।

भावानुवाद—किन्तु, मेरे निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपकी उपासना करनेवाले मेरे भक्तोंसे न्यून हैं—इसे बतानेके लिए 'ये तु' इत्यादि दो श्लोकोंको कहा जा रहा है। 'अक्षर' अर्थात् ब्रह्म अनिर्देश्य है अर्थात् शब्द द्वारा इसका

निर्देश नहीं किया जा सकता है, क्योंकि यह 'अव्यक्त'—रूपादि विहीन, 'सर्वत्रग'—सर्वव्यापी, 'अचिन्त्य'—तर्क द्वारा अगम्य, 'कूटस्थ'—सर्वकालव्यापी अर्थात् जो समस्तकालोंमें एकरूपविशिष्ट है—अमरकोष, 'अचलं'—वृद्धि आदिसे रहित और 'ध्रुवं'—नित्य है। 'मामेव' का तात्पर्य है—मुझे ही अर्थात् उस अक्षर ब्रह्ममें तथा मुझमें कोई भेद नहीं हैं।।३–४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीभगवान् कहते हैं—जो लोग इन्द्रियोंको संयमितकर सर्वत्र समदर्शन और समस्त प्राणियोंके हित साधनमें तत्पर होकर मेरे अक्षय, अनिर्देश्य, अव्यक्त और निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपकी उपासना करते हैं, वे बहुत क्लेशकर साधनके पश्चात् मुझमें ही स्थिति लाभ करते हैं। *'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'* श्लोकके द्वारा यह विदित हुआ जाता है कि निर्विशेष तत्त्वके आश्रय श्रीकृष्ण ही हैं, इसलिए निर्विशेष ब्रह्मोपासक भी गौणरूपमें श्रीकृष्णके ही आश्रित हैं। श्रीकृष्ण सभी उपास्य तत्त्वोंके आश्रय और परम उपास्य हैं। इसलिए तदाश्रित उपास्य तत्त्वके आश्रितवर्ग भी श्रीकृष्णके ही आश्रित हैं, जैसे—श्रीरामचन्द्र, श्रीनारायण, श्रीनृसिंहदेव, निर्विशेष ब्रह्म आदि मूलतः कृष्णतत्त्वके ही आश्रित हैं, किन्तु इनमें से पहले तीन स्वरूप तदेकात्मरूप हैं तथा इन तीनोंमें भी रसके विचारसे परस्पर कुछ उत्कृष्टता है। उसी प्रकार इनके आश्रितवर्गमें भी परस्पर तारतम्य है। ब्रह्म श्रीकृष्णकी अङ्गकान्ति है अर्थात् कृष्णके केवल चिद् अंशकी असम्पूर्ण अभिव्यक्ति है, इसलिए निर्विशेष ब्रह्मको पानेवाले अर्थात् सायुज्य मुक्तिको पानेवाले प्रकारान्तरसे श्रीकृष्णके ही आश्रित हुए। किन्तु, उनमें सेवा, आनन्द आदिकी अनुभूति नहीं है, इसलिए श्रीकृष्णके द्वारा सायुज्य आदि मुक्तियोंके दिये जानेपर भी भक्तगण उन्हें स्वीकार नहीं करते—

'सालोक्यसार्ष्टिसामीप्यसारूप्यैकत्वमप्युत ।
दीयमानं न गृह्णन्ति विना मत्सेवनं जनाः।।'

(श्रीमद्भा. ३/२९/१३)

यहाँ कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि सच्चिदानन्द मूर्त्ति श्यामसुन्दर श्रीकृष्णकी उपासनाकी अपेक्षा अक्षर ब्रह्मकी उपासना श्रेष्ठ है, किन्तु स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण सुस्पष्ट रूपसे अपने अनन्य भक्तोंको ही सर्वश्रेष्ठ बता रहे हैं तथा निराकार निर्विशेष ब्रह्मके उपासकोंको उनसे निकृष्ट बता रहे हैं। पुनः कुछ लोगोंकी धारणा यह है कि ब्रह्मकी उपासना अधिकतर क्लेश–साध्य है तथा दीर्घकालमें साधित होती है, अतः वह क्यों नहीं श्रेष्ठ होगी? उनका यह मानना है कि सगुण और निर्गुण भेदसे

ब्रह्म दो प्रकारका है—निर्गुण, निराकार ब्रह्म मूल और सर्वोच्च तत्त्व है, इसकी उपासना कष्टकर होनेके कारण साधारण लोग उसे करनेमें असमर्थ है, किन्तु सगुण साकार उपासना सहजसाध्य होनेके कारण इसे सभी कर सकते हैं। यहाँ यह समझना अत्यन्त आवश्यक है कि यह भ्रान्त धारणा है। कृष्ण ही मूल तत्त्व हैं, ब्रह्म उनका आश्रित तत्त्व तथा अङ्गकान्तिमात्र है। गीताशास्त्र (१५/१८) में स्वयं श्रीकृष्णने पुरुषोत्तमस्वरूप स्वयंको अक्षर तथा कूटस्थसे श्रेष्ठ बतलाया है।

गीताके टीकाकार श्रीबलदेव विद्याभूषण, श्रीरामानुजाचार्य आदिने अक्षर-स्वरूपको जीव-स्वरूप अथवा प्रत्यगात्म-स्वरूप बताया है—*अक्षरं जीवस्वरूपं* (बलदेव), *प्रत्यगात्मा* (रामानुज)। पुरुषोत्तमस्वरूप परब्रह्मको स्पष्टतः अक्षरस्वरूप तथा कूटस्थसे भिन्न माना गया है। गीताके पन्द्रहवें अध्यायका पन्द्रहवाँ तथा सोहलवाँ श्लोक द्रष्टव्य है—*'कूटस्थोऽक्षर उच्यते', 'उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः'* (गीता १५/१५-१६)। इसके अतिरिक्त ब्रह्मोपासक लोग जीवको ही ब्रह्म मानते हैं—*'जीवो ब्रह्मैव नापरः'।* वे लोग कहते हैं—जीवका अज्ञान दूर होनेपर ब्रह्मज्ञानी ब्रह्म ही हो जाता है। जीव यदि ब्रह्मत्व लाभ करता है, तो ऐसा होनेपर भी किसी शास्त्रमें यह नहीं देखा जाता है कि जीव परब्रह्मत्व लाभ करता है। श्रीकृष्ण ही परब्रह्म हैं—विभिन्न श्रुतियों और स्मृतियोंके द्वारा यह प्रतिपादित होता है। वेदान्तमें भी ऐसा निषेध किया गया है कि जीव परब्रह्मत्व लाभ करता है।

यह बात भी सदा स्मरण रखनी चाहिए कि शास्त्रोंमें जो भगवान्‌को सगुण, साकार, सविशेष बताया गया है, वह प्रकृतिसे अतीत अप्राकृत और चिन्मय है। इसलिए श्रीभगवान् एक साथ सगुण और निर्गुण दोनों ही हैं। सगुण और निर्गुण दो तत्त्व नहीं हैं।।३-४।।

क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते।।५।।

अन्वय—अव्यक्तासक्तचेतसाम् (निर्विशेष स्वरूपमें आसक्तचित्त) तेषाम् (उन लोगोंको) अधिकतरः क्लेशः (अधिकतर क्लेश है) हि (क्योंकि) अव्यक्ता गतिः (निर्विशेष ब्रह्मविषयक निष्ठा) देहवद्भिः (देहाभिमानी जीवोंके द्वारा) दुःखम् अवाप्यते (दुःखसे प्राप्त होती है)।।५।।

अनुवाद—निर्विशेष ब्रह्मस्वरूपमें आसक्तचित्त व्यक्तियोंको अधिकतर क्लेश होता है, क्योंकि देहाभिमानियोंके द्वारा अव्यक्तविषयक निष्ठा दुःखपूर्वक प्राप्त होती है।।५।।

श्रीविश्वनाथ—तर्हि केनांशे तेषामपकर्षस्तत्राह—क्लेश इति। न केनापि व्यज्यते इत्यव्यक्तं ब्रह्म तत्रैवासक्तचेतसां तदेवानुवुभुषूणां तेषां तत्प्राप्तौ क्लेशोऽधिकतरः; हि यस्मादव्यक्ता गतिः केनापि प्रकारेण व्यक्तीभवति, सा गतिर्देहवद्भिर्जीवैर्दुःखं यथा भवत्येवमवाप्यते। तथा हीन्द्रियाणां शब्दादिज्ञानविशेष एव शक्तिः, न तु विशेषेतरज्ञाने इति। अत इन्द्रियनिरोधस्तेषां निर्विशेषज्ञानमिच्छतामवश्य-कर्त्तव्य एव। इन्द्रियाणां निरोधस्तु स्रोतस्वतीनामिव निरोधो दुष्कर एव, यदुक्तं सनत्कुमारेण—*"यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या, कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः। तद्वन्न रिक्तमतयो यतयो निरुद्ध-स्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्।।" "क्लेशो महानिह भवार्णवमप्लवेशं, षड्वर्गनक्रमसुखेन तितीर्षयन्ति। तत् त्वं हरेर्भगवतो भजनीयमङ्घ्रिं कृत्वोडुपं व्यसनमुत्तर दुस्तरार्णम्।"* इति तावता क्लेशेनापि सा गतिर्यद्यवाप्यते, तदपि भक्तिमिश्रेणैव। भगवति भक्तिं विना केवलब्रह्मोपासकानान्तु केवल क्लेश एव लाभो, न तु ब्रह्मप्राप्तिः, यदुक्तं ब्रह्मणा-*"तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते नान्यद्यथा स्थूलतुषावघातिनाम्"* इति।।५।।

भावानुवाद—तो फिर उनका (ज्ञानियोंका) अपकर्ष किस प्रकार हुआ? अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् कह रहे हैं—'क्लेशः' इत्यादि। जो 'अव्यक्त'—ब्रह्म किसीके द्वारा व्यक्त नहीं होता है, जो उसमें 'आसक्त-चेतसां' हैं अर्थात् उसे अनुभव करनेके अभिलाषी हैं, उन्हें उसकी प्राप्तिमें अधिकतर क्लेश होता है। क्योंकि जिसकी गति किसी प्रकार व्यक्त नहीं होती है, वह जीवोंको दुःखपूर्वक प्राप्त होती है। इन्द्रियाँ शब्दादि ज्ञानविशेषको ही ग्रहण करनेमें सक्षम हैं, विशेष इतर ज्ञानको नहीं। अतएव निर्विशेष ज्ञानके इच्छुक लोगोंके लिए इन्द्रियोंका निरोध करना नितान्त आवश्यक कर्त्तव्य है। किन्तु, इन्द्रियोंका निरोध नदियोंके प्रवाहको निरोध करनेके समान दुष्कर है, जैसा कि सनत्कुमारने कहा है—"भक्तगण भगवान्‌के पादपद्मके पत्रसदृश अङ्गुलियोंकी कान्तिका भक्तिपूर्वक स्मरण करते-करते जिस प्रकार कर्मवासनामय हृदयग्रन्थिका अनायास ही छेदन करते हैं, भक्तिरहित निर्विषयी योगिगण इन्द्रियोंको संयतकर भी उस प्रकार उसे छेदन करनेमें समर्थ नहीं होते। अतएव इन्द्रिय निग्रहादिकी चेष्टा छोड़कर श्रीवासुदेवका भजन करो।" "जो इन्द्रियादि घड़ियालोंसे परिपूर्ण इस

संसार-समुद्रको योगादि द्वारा उत्तीर्ण होनेकी इच्छा करते हैं, भव समुद्रको पार करनेकी नौकाके समान भगवदाश्रयके बिना उन्हें अत्यन्त क्लेश होता है। अतएव हे राजन्! आप भी उसी भजनीय भगवान्के पादपद्मको नौका बनाकर इस व्यसन-सङ्कुल सुदुस्तर समुद्रसे उत्तीर्ण होवें।" (श्रीमद्भा. ४/२२/३९-४०) इतने क्लेशके बाद भी यदि वह गति प्राप्त होती है, तो भक्तिकी सहायतासे ही। भगवान्की भक्तिके बिना केवल ब्रह्मकी उपासना करनेवालेको केवल क्लेश ही प्राप्त होता है, ब्रह्म प्राप्ति भी नहीं होती। जैसा कि ब्रह्माजीने कहा है—"उन्हें चावलकी भूसी कूटनेके समान केवल क्लेश ही प्राप्त होता है।" (श्रीमद्भा. १०/१४/४)।।५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—निर्विशेष ब्रह्मके उपासकोंको साधन और सिद्धि दोनों समयोंमें क्लेश देखा जाता है। कोई भी साधन भक्तिके सहयोगके बिना किसी प्रकारका फल देनेमें असमर्थ है। निर्विशेष ब्रह्मोपासक ब्रह्मज्ञानकी प्राप्तिके लिए गौणरूपमें भक्तिका सहारा लेते हैं। भक्तिदेवी गौणरूपमें उन्हें गौणफल अर्थात् ब्रह्मज्ञानकी प्राप्ति कराकर अन्तर्हित हो जाती हैं, इसलिए ये ब्रह्मोपासकगण परम उपादेय भगवान्के नाम-रूप-गुण-लीला आदिके आस्वादनसे वञ्चित रहते हैं। वे आत्मविनाशस्वरूप सायुज्य मुक्तिके महादुःखसमुद्रमें सदाके लिए लीन हो जाते हैं। इसलिए श्रीमद्भागवत (१०/१४/४) में *'श्रेयः स्मृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो'* श्लोकके द्वारा निर्विशेष ज्ञानियोंके साधन और साध्य दोनों ही अवस्थाओंको क्लेशकर बताया गया है। इसके विपरीत भक्ति साधन तथा साध्य दोनों ही स्थितियोंमें परम सुखकर एवं परम मङ्गलप्रद बतलाई गई है—

'यत्पादपङ्कजपलाशविलासभक्त्या कर्माशयं ग्रथितमुद्ग्रथयन्ति सन्तः।
तद्वन्न रिक्तमतयो यतयोऽपि रुद्धस्रोतोगणास्तमरणं भज वासुदेवम्।।'

(श्रीमद्भा. ४/२२/३९)

और भी,

'संसारसिन्धुमतिदुस्तरमुत्तितीर्षोर्नान्यः प्लवो भगवतः पुरुषोत्तमस्य।
लीलाकथारसनिषेवणमन्तरेण पुंसो भवेद् विविधदुखःदवार्दितस्य।।'

(श्रीमद्भा. १२/४/४०)

अर्थात्, विविध प्रकारके क्लेशजनक दावानलसे झुलसे हुए अत्यन्त दुस्तर समुद्रको पार करनेकी अभिलाषा रखनेवाले व्यक्तियोंके लिए पुरुषोत्तम भगवान् श्रीहरिकी लीला-कथाओंके रस-सेवनके अतिरिक्त और कोई प्लव या नौका नहीं है।

"ज्ञानयोगी और भक्तयोगीमें यही भेद है कि उपायकालमें भक्तयोगी अतिसहज ही परात्पर वस्तुका अनुशीलनकर फलकालमें निर्भय होकर उसे प्राप्त करते हैं। ज्ञानयोगी सर्वदा अव्यक्त तत्त्वमें निष्ठावान् होकर उपायकालमें व्यतिरेक चिन्ताका जो कष्ट है, उसे भोगते हैं। व्यतिरेक चिन्ताका तात्पर्य है—सहज प्रीतिके विपरीत चिन्ता, अतः यह जीवोंके लिए दुःखजनक है। फलकालमें भी इसमें निर्भयता नहीं है, क्योंकि साधनकाल अतिवाहित (व्यतीत) करनेसे पहले ही मेरे नित्य स्वरूपकी उपलब्धि नहीं कर पानेसे चरमगति भी उनके लिए दुःखदायी है। जीव नित्य-चिन्मय वस्तु है। जीव यदि अव्यक्त अवस्थामें लीन हो जाय, तो उसके उपादेय अवस्थाका नाश होता है। यदि उसका स्व-स्वरूप उदित होता है, तो उसका विपरीत-स्वरूप जो अहंग्रह-बुद्धि है, उसको परित्याग करनेमें भी कष्ट होता है। देहविशिष्ट होकर उपायकाल या फलकालमें अव्यक्तका ध्यान आरम्भ करनेसे वह जीव दुःखरूप फल ही लाभ करता है। वस्तुतः जीव चैतन्यस्वरूप तथा चित्-देहविशिष्ट होता है। अतएव अव्यक्त भावको केवल जीवका स्वरूपविरोधी और दुःखजनक भावके रूपमें ही जानना चाहिए। भक्तियोग ही जीवके लिए मङ्गलजनक है। ज्ञानयोग भक्तिसे रहित, स्वतन्त्र होनेपर सर्वत्र अमङ्गल ही उत्पन्न करता है। अतएव निराकार, निर्विकार, सर्वव्यापी और निर्विशेष स्वरूपकी उपासनासे जो अध्यात्म-योग साधित होता है, वह प्रशस्त नहीं है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।५।।

ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः।
अनन्येनैव योगेन मां ध्यायन्त उपासते।।६।।
तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसारसागरात्।
भवामि न चिरात् पार्थ मय्यावेशितचेतसाम्।।७।।

अन्वय—ये तु (किन्तु जो) सर्वाणि कर्माणि (समस्त कर्म) मयि संन्यस्य (मुझमें न्यस्तकर) मत्पराः [सन्तः] (मेरे परायण होकर) अनन्येन एव योगेन (अनन्य भक्तियोगसे ही) माम् (मुझे) ध्यायन्तः (ध्यानपूर्वक) उपासते (भजते हैं) पार्थ (हे पार्थ!) मयि (मुझमें) आवेशितचेतषाम् (आसक्तचित्त) तेषाम् (उनका) अहम् (मैं) न चिरात् (अचिरात्) मृत्युसंसार-सागरात् (मृत्युयुक्त संसार-समुद्रसे) समुद्धर्त्ता भवामि (उद्धार-कर्त्ता होता हूँ)।।६-७।।

अनुवाद—किन्तु जो लोग समस्त कर्म मेरी प्राप्तिके लिए अर्पितकर मेरे परायण होकर अनन्य भक्तियोगसे मेरा ध्यान करते हुए मुझे भजते हैं, हे पार्थ! मुझमें आसक्तचित्त उन लोगोंको शीघ्र ही मैं इस मृत्युरूप संसार-सागरसे पार कर देता हूँ।।६-७।।

श्रीविश्वनाथ—भक्तानान्तु ज्ञानं विनैव केवलया भक्त्यैव सुखेन संसारान्मुक्तिरित्याह—ये त्विति। मयि मत्प्राप्त्यर्थं संन्यस्य त्यक्त्वा सन्न्यासशब्दस्य त्यागार्थत्वात्, अनन्येनैव ज्ञान-कर्म-तपस्यादिरहितेनैव योगेन भक्तियोगेन। यदुक्तं—*"यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्"* इत्यनन्तरं *"सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा। स्वर्गापवर्ग मद्धाम कथञ्चिद्यदि वाञ्छति।।"* इति, मोक्षधर्मे नारायणीये च—*"या वै साधनसम्पत्तिः पुरुषार्थचतुष्टये। तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः।।"*इति। ननु तदपि तेषां संसारतरणे कः प्रकार इति चेत्? सत्यम्, तेषां संसारतरणप्रकारे जिज्ञासा नैव जायते, यतस्तत्प्रकारं विनैवाहमेव तांस्तारयामीत्याह—तेषामिति। तेन भगवतो भक्तेष्वेव वात्सल्यं न तु ज्ञानिष्विति ध्वनिः।।६-७।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् कहते हैं—"ज्ञानके बिना केवल भक्ति द्वारा ही भक्तगण सुखपूर्वक संसारसे मुक्त होते हैं। यहाँ संन्यास शब्दका तात्पर्य है—त्याग। जो मुझे प्राप्त करनेके लिए समस्त कर्मोंको मेरे लिए त्यागकर कर्म-ज्ञान-तपादिसे रहित होकर अनन्य भक्तिसे मेरी उपासना करते हैं, वे सुखपूर्वक संसारसे मुक्त होते हैं।" जैसा कि श्रीमद्भागवत (११/२०/३२-३३) में कहा गया है—"कर्म, तपस्या ज्ञान एवं वैराग्यसे जो होता है—उसके अतिरिक्त भी मेरे भक्त यदि स्वर्ग, मोक्ष, मेरे धामादि जो कुछ इच्छा करते हैं, वे समस्त मेरे भक्तियोगसे सहज ही प्राप्त करते हैं।" नारायणीय मोक्षधर्ममें भी कथित है—चारों पुरुषार्थोंकी जो साधन-सम्पत्ति है, श्रीनारायणके आश्रित मनुष्य उन सबको साधनके बिना ही प्राप्त कर लेते हैं।"

यदि प्रश्न हो कि फिर संसारसे पार होनेका उनका क्या प्रकार (साधन) है, तो सुनो—यह जिज्ञासा करना ही अनुचित है कि वे किस प्रकार संसारसे उत्तीर्ण होंगे। क्योंकि, साधनके बिना ही, मैं ही उनका उद्धार करता हूँ।

इसके द्वारा भक्तके प्रति भगवानका वात्सल्य भाव प्रकट होता है तथा ज्ञानीके प्रति वात्सल्य नहीं है—यही समझा जाता है।।६-७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—उपरोक्त दोनों श्लोकोंमें श्रीभगवान् अपनी अनन्या भक्ति और अनन्य भक्तकी महिमाका वर्णन कर रहे हैं, इस अनन्या भक्तिके द्वारा अनन्य भक्त भगवत्-कृपासे बड़ी सुगमतासे भवसागरको पारकर परम आनन्दमयी भगवत्-प्रेमसेवाको प्राप्त कर लेते हैं।

ब्रह्मकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय स्वयं कृष्ण ही हैं, ये कृष्ण परमात्माके एवं समस्त अवतारोंके अंशी स्वयं-भगवान् हैं। भक्त भगवान्के इस यथार्थ स्वरूपको जानकर भक्तोंके सङ्गमें केवला भक्तिका आश्रय ग्रहण करते हैं। इनको पूर्वोक्त कथित निर्विशेष, निराकार उपासकोंकी भाँति साधन और साध्यमें क्लेश नहीं उठाना पड़ता। ये अल्प समयमें ही बड़ी सुगमतासे भगवान्की प्रेममयी सेवाको प्राप्त कर लेते हैं। ऐसी केवला भक्तिका आश्रय करनेवाले भक्तोंका परिचय देते हुए श्रीभगवान् कहते हैं कि ऐसे ऐकान्तिक भक्तिपरायण भक्तजन अपने-अपने वर्ण-आश्रमके विहित समस्त कर्मोंको भक्तिका विघ्न समझकर, उन्हें सम्पूर्ण रूपसे त्यागकर, मेरी प्रेममयी सेवाको ही एकमात्र पुरुषार्थ समझकर, मेरे नाम-रूप-गुण-लीला इत्यादिके श्रवण-कीर्त्तन-स्मरणरूप मेरे अनन्य भक्तियोग द्वारा मेरी उपासना करते हैं। साधन कालमें भी अर्थात् श्रवण और कीर्त्तन आदि करते समय मुझमें तन्मय हो जाते हैं। ऐसे मुझमें आविष्ट एवं अनुरक्तचित्त भक्तको मैं इस दुस्तर संसार-समुद्रसे शीघ्र ही पार कर देता हूँ। इन्हें ज्ञानियों और योगियोंकी भाँति संसार-सागरसे उद्धारके विषयमें कोई भी चिन्ता नहीं करनी पड़ती। यहाँ तक कि वे मेरी प्राप्तिके विषयमें विलम्ब नहीं सहन कर पाते, इसलिए मैं उन्हें गरुड़के पीठपर आरोहण कराकर अत्यन्त शीघ्र अपने धाममें ले आता हूँ। ज्ञानियों एवं योगियोंकी भाँति उन्हें अर्चि आदि गतियोंके क्रमसे मुक्ति लाभ नहीं करनी पड़ती। मैं स्वयं स्वेच्छापूर्वक उनको मायिक संसारसे मुक्त कराकर अपने धाममें लाकर, अपनी प्रेममयी सेवामें नियुक्त कर देता हूँ।

"जो मेरे भगवत्-स्वरूपका अवलम्बन करनेवाले हैं, जो अपने समस्त शारीरिक और सामाजिक कर्मोंको सम्पूर्णरूपेण मेरी भक्तिके अधीनकर स्वीकार करते हैं एवं मत्सम्बन्धीय अनन्य भक्तियोग द्वारा मेरे नित्य श्रीविग्रहका ध्यान और उपासना करते हैं, मुझमें आविष्टचित्तवाले उन लोगोंको मैं अतिशीघ्र ही मृत्यु-संसार-सागरसे पार कर देता हूँ अर्थात् बद्धावस्थामें मायिक संसारसे मुक्ति दान करता हूँ एवं मायाबन्धनके नष्ट

होनेपर अभेदबुद्धिरूप मृत्युसे जीवात्माकी रक्षा करता हूँ। अव्यक्त रूपमें आसक्तचित्त व्यक्तियोंकी अभेद बुद्धिजनित निःसहायता ही उनके अमङ्गलका कारण है। मेरी प्रतिज्ञा है—*'ये यथा मां प्रपद्यन्ते तांस्तथैव भजाम्यहम्'*—इसके द्वारा यह ज्ञात होता है कि अव्यक्तका ध्यान करनेवाले पुरुषगण मेरे अव्यक्त स्वरूपमें लीन होते हैं। इसमें मेरी क्या क्षति है? अभेदवादी जीवोंके द्वारा इस प्रकारकी गति प्राप्त करनेसे उनका स्वरूपगत उपादयेत्व दूरीभूत (नष्ट) होता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।६-७।।

मय्येव मन आधत्स्व मयि बुद्धिं निवेशय।
निवसिष्यसि मय्येव अत ऊर्द्ध्वं न संशयः।।८।।

अन्वय—मयि एव (श्यामसुन्दराकार मुझमें ही) मनः (मनको) आधत्स्व (स्थिर करो अर्थात् स्मरण करो) मयि (मुझमें) बुद्धिम् (बुद्धिको) निवेशय (अर्पित करो अर्थात् मनन करो) अतः ऊर्द्ध्वम् (इस प्रकार देहके अन्त होनेपर) मयि एव (मेरे समीप ही) निवसिष्यसि (निवास करोगे) संशयः न (इसमें कोई सन्देह नहीं है)।।८।।

अनुवाद—श्यामसुन्दराकार मुझमें ही मनको स्थिर करो, मुझमें बुद्धिको अर्पित करो, इस प्रकारसे देहके अन्त होनेपर मेरे समीप ही वास करोगे—इसमें कोई सन्देह नहीं है।।८।।

श्रीविश्वनाथ—यस्मान्मद्भक्तिरेव श्रेष्ठा, तस्मात्त्वं भक्तिमेव कुर्विति तामुपदिशति—मय्येवेति त्रिभिः। एव-कारेण निर्विशेषव्यावृत्तिः। मयि श्यामसुन्दरे पीताम्बरे वनमालिनि मन आधत्स्व मत्स्मरणं कुर्वित्यर्थः। तथा मयि बुद्धिं विवेकवतीं निवेशय, मन्मननं कुर्वित्यर्थः। तच्च मननं ध्यानप्रतिपादकशास्त्रवाक्यानुशीलनम्, ततश्च मय्येव निवसिष्यसीतिच्छान्दसम्, मत्समीप एव निवासं प्राप्स्यसीत्यर्थः।।८।।

भावानुवाद—"क्योंकि मेरी भक्ति ही श्रेष्ठ है, अतएव तुम भक्ति ही करो"—अर्जुनको यह उपदेश देते हुए श्रीभगवान् 'मय्येव' इत्यादि तीन श्लोकोंको कह रहे हैं। 'एव'-कारके द्वारा निर्विशेषस्वरूपका निषेध किया गया है। श्रीभगवान् कहते हैं—'मयि' अर्थात् श्यामसुन्दर, पीताम्बरधारी, वनमाली मुझमें अपने मनको आधान करो अर्थात् मेरा स्मरण करो। और, अपनी विवेकवती बुद्धि मुझमें निवेशित करो अर्थात् मेरा मनन करो। और, वह मनन भी ध्यानप्रतिपादक शास्त्रवाक्यके अनुशीलनसे होना चाहिए। इसके बाद तुम वेदकथित मेरे समीप ही निवास करोगे।।८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ श्रीकृष्ण कुछ श्लोकोंमें अपने अनन्य भक्तों द्वारा अपनायी जानेवाली साधन-प्रणालीका वर्णन कर रहे हैं। उन्होंने अर्जुनको सर्वप्रथम यह कहा कि अर्जुन! मैं वर्णाश्रम धर्मका त्यागकर मेरे परायण अनन्य भक्तको शीघ्र ही संसार-सागरसे उद्धारकर प्रेममयी सेवा प्रदान करता हूँ। अतः तुम परब्रह्म परात्परतत्त्व मुझमें ही अपने मनको समाहित करो अर्थात् अपने चित्तसे सारी विषय-वासनाओंको दूरकर मुझमें ही अपने चित्तको निमग्न रखो। सङ्कल्पात्मक और विकल्पात्मक मनको सारे विषय-भोगोंसे निवृत्तकर भगवत्-विषयमें निविष्ट करनेके लिए बुद्धिको श्रीभगवान्में अर्पण करना आवश्यक है। व्यवसायात्मिका बुद्धिके द्वारा भगवत्-स्वरूपसे अवगत होकर, उन्हींको एकमात्र सेव्य जानकर, उन्हींके श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण आदि साधनके द्वारा बुद्धिवृत्तिको भगवत्-विषयिणी करनेपर उसके अधीन मन भी अपने आप भगवत्-चिन्तनमें निमग्न हो सकेगा। ऐसा होनेपर ही तुम सर्वदा मेरे सानिध्यमें ही निवास कर सकोगे।

अतएव श्रीभगवान् अर्जुनको लक्ष्यकर हम सभीको यह उपदेश दे रहे हैं कि भक्ति ही सर्वश्रेष्ठ साधन और साध्य है। इसलिए इनके श्यामसुन्दर आकार, नित्यस्वरूपमें ही मनोनिवेशपूर्वक उनका निरन्तर स्मरण करना तथा बुद्धिको भी उन्हें ही अर्पण करना एकान्त कर्त्तव्य है। ऐसा होनेपर साधन भक्तिके सर्वोच्च फलस्वरूप पार्षद गति एवं निरुपाधिक प्रेमकी प्राप्ति होगी, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। इसके द्वारा यह बताया गया कि भक्तियोगकी गति एवं प्राप्ति सर्वोत्तम है।।८।।

अथ चित्तं समाधातुं न शक्नोषि मयि स्थिरम्।
अभ्यासयोगेन ततो मामिच्छाप्तुं धनञ्जय।।९।।

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) अथ (और यदि) मयि (मुझमें) चित्तम् (चित्तको) स्थिरम् समाधातुम् (स्थिर भावसे स्थापित) न शक्नोषि (नहीं कर सकते हो) ततः (तो) अभ्यासयोगेन (अभ्यासयोग द्वारा) माम् (मुझे) आप्तुम् इच्छ (पानेकी इच्छा करो)।।९।।

अनुवाद—हे धनञ्जय! और यदि तुम मुझमें चित्तको स्थिर भावसे स्थापित नहीं कर सकते हो, तो अभ्यासयोग द्वारा मुझे पानेकी इच्छा करो।।९।।

श्रीविश्वनाथ—साक्षात्-स्मरणासमर्थं प्रति तत्प्राप्त्युपायमाह अथेति। अभ्यासयोगेन अन्यत्रान्यत्र गतमपि मनः पुनः पुनः प्रत्याहृत्य मद्रूप एव स्थापनमभ्यासः, स एव योगस्तेन। प्राकृतत्वादिति कुत्सितरूपरसादिषु चलन्त्या मनो-नद्यास्तेषु चलनं निरुध्यातिसुभद्रेषु मदीयरूपरसादिषु तच्चलनं शनैः शनैः सम्पादयेत्यर्थः। हे धनञ्जयेति—बहून् शत्रून् जित्वा धनमाहृतवता त्वया मनोऽपि जित्वा ध्यानधनं ग्रहीतुं शक्यमेवेति भावः।।९।।

भावानुवाद—साक्षात् स्मरण करनेमें असमर्थ व्यक्तिके लिए उसकी प्राप्तिका उपाय बताते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—एक स्थानसे दूसरे स्थानमें धावित मनका पुनः पुनः प्रत्याहारकर मेरे रूपमें ही स्थापित करनेका अभ्यास करो। यही योग है। इसके द्वारा प्राकृत कुत्सित रूप-रसादिकी ओर धावित मनोनदीके इन समस्त प्रवाहको निरुद्धकर अतिसुन्दर मेरे रूप-रसादिमें धीरे-धीरे मनकी गतिका सम्पादन करो। हे 'धनञ्जय'! बहुत शत्रुओंको जीतकर धन-आहरणकारी तुम मनको भी जीतकर ध्यानरूप धन लाभ करनेमें समर्थ हो।।९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीभगवान्ने पूर्वश्लोकमें सबको अपने प्रति एकनिष्ठ होकर अनन्य भावसे मन और बुद्धिको अपनेमें निविष्ट करनेका उपदेश दिया। यदि कोई यह प्रश्न करे कि जिनकी मनोवृत्ति सागरकी ओर अभिमुख गङ्गाकी भाँति बड़े वेगसे श्रीभगवान्के प्रति प्रधावित होती है, वे अतिशीघ्र भगवान्को प्राप्त कर लेते हैं, इसमें तनिक भी सन्देहकी बात नहीं है, किन्तु जिनकी चित्तवृत्ति वैसी वेगवती नहीं है, वे किस उपायसे भगवान्को प्राप्त कर पाएँगे? इसके उत्तरमें श्रीभगवान्ने दूसरी व्यवस्था दी, वह यह कि जो लोग पूर्वोक्त उपयोंके द्वारा अपने चित्तको स्थिर भावसे समाहित करनेमें असमर्थ हैं, उनको अभ्यास योगके द्वारा मुझे प्राप्त करनेका यत्न करना चाहिए। तात्पर्य यह है कि मुझे छोड़कर अन्यान्य विषयोंमें आकृष्ट चित्तको धीरे-धीरे प्रत्याहार कर मुझमें स्थापन करनेकी चेष्टा करनी चाहिए। इसी चेष्टाका नाम अभ्यास योग है। इस अभ्यास योगके द्वारा चित्त धीरे-धीरे मेरे प्रति आसक्त होनेसे मेरी प्राप्ति सुलभ हो सकेगी।

"जिस निरुपाधिक प्रेमके विषयका उल्लेख किया, उसे मत्-निष्ठ अन्तःकरणका व्यापार जानो। इसके साधनके लिए अभ्यासका प्रयोजन होता है। यदि तुम मुझमें चित्तको समाधान करनेमें अक्षम हो, तो तुम्हारे पक्षमें अभ्यासयोग ही श्रेयस्कर है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।९।।

अभ्यासेऽप्यसमर्थोऽसि मत्कर्मपरमो भव।
मदर्थमपि कर्माणि कुर्वन् सिद्धिमवाप्स्यसि।।१०।।

अन्वय—अभ्यासे अपि (अभ्यासयोगमें भी) [यदि] असमर्थः (अक्षम) असि (होओ) [तो] मत्कर्मपरमः (मेरे कर्मपरायण) भव (होओ) मदर्थम् (मेरी प्रीतिके लिए) कर्माणि (श्रवण-कीर्त्तनादि कर्म) कुर्वन् अपि (करनेपर भी) सिद्धिम् (सिद्धि) अवाप्स्यसि (लाभ करोगे)।।१०।।

अनुवाद—यदि तुम अभ्यासयोगमें भी असमर्थ होओ, तो मेरे कर्मपरायण होओ। मेरी प्रीतिके लिए श्रवण-कीर्त्तन आदि कर्मोंको करनेसे ही तुम सिद्धि लाभ करोगे।।१०।।

श्रीविश्वनाथ—अभ्यासेऽपीति—यथा पित्तदूषिता रसना मत्स्यण्डिकां नेच्छति तथैवाविद्या-दूषितं मनस्त्वद्रूपादिकं मधुरमपि न गृह्णातीत्यतस्तेन दुर्ग्रहेण महाप्रबलेन मनसा सह योद्धुं मया नैव शक्यते इति मन्यसे चेदिति भावः। मत्कर्माणि परमाणि यस्य सः। कर्माणि मदीय-श्रवणकीर्त्तन-वन्दनार्चन-मन्मन्दिरमार्जनाभ्युक्षणपुष्पाहरणादि-परिचरणानि कुर्वन् विनापि मत्स्मरणं सिद्धिं प्रेमवत्पार्षदत्वलक्षणां प्राप्स्यसीति।।१०।।

भावानुवाद—हे अर्जुन! यदि तुम्हारा ऐसा भाव है कि अभ्यासमें भी मैं समर्थ नहीं हूँ अर्थात् जिस प्रकार पित्तसे दूषित जिह्वा मिश्रीकी इच्छा नहीं करती है, उसी प्रकार अविद्यासे दूषित मन आपके मधुर रूपादिको भी ग्रहण नहीं करता है, अतएव मैं उस दुर्ग्रह महाप्रबल मनके साथ युद्ध करनेमें सक्षम नहीं हूँ, तो श्रवण करो—तुम मेरे श्रेष्ठ कर्मोंको करता हुआ अर्थात् मेरी कथाका श्रवण, कीर्त्तन, वन्दन, अर्चन, मेरे मन्दिर-मार्जन, प्रोक्षण, पुष्पचयन, परिचर्यादि करते-करते मेरे स्मरणके बिना ही प्रेमवत्-पार्षदत्व-लक्षणा सिद्धि प्राप्त करोगे।।१०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीकृष्णने पूर्वश्लोकमें अभ्यासयोगका अवलम्बन करनेका उपदेश दिया, किन्तु अर्जुनने बड़ी नम्रताके साथ पूछा—"प्रभो! मन वायुसे भी अत्यन्त अधिक चञ्चल है, इसलिए मुझमें ऐसे परम दुर्निवार मनको अभ्यास योगके द्वारा विषयोंसे प्रत्याहार करनेकी शक्ति नहीं है। मैंने पहले भी *'चञ्चलं हि मनः कृष्ण'* (गीता ६/३४) श्लोकके द्वारा आपके श्रीचरणोंमें यही निवेदन किया था, अतः मुझे क्या करना चाहिए?" मुस्कराते हुए श्रीकृष्णने एक तीसरी व्यवस्था दी—यदि कोई अभ्यासयोगमें भी असमर्थ हो, तो उसे परमार्थ अर्थात् भक्तिके अनुकूल

कर्मोंका आचरण करना चाहिए। मन्दिर निर्माण, मन्दिर मार्जन, पुष्पवाटिका एवं तुलसी कानन लगाना तथा जल-सिञ्चनके द्वारा उसकी सेवा, रक्षा, पुष्प-चयन आदि सहज-साध्य श्रीभगवत्-सेवासे सम्बन्धित कार्योंका अनुष्ठान करते-करते, श्रीभगवत्-विग्रह एवं मन्दिरके उद्देश्यसे अन्यान्य क्रियाओंका अनुष्ठान करते-करते, उन भगवत्-क्रियाओंके प्रभावसे मन सहज ही वशीभूत हो जाता है और उन भगवत्-सम्बन्धी क्रियाओंके चिन्तन-मनन आदिमें नियुक्त हो जाता है। धीरे-धीरे शुद्ध वैष्णव-आनुगत्यमें श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण आदि शुद्ध भक्ति-साधनमें तत्पर रहकर क्रमशः भगवत्-सेवामयी सिद्धिको प्राप्त कर लेता है। इस प्रसङ्गमें श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

'मल्लिङ्गमद्भक्तजन-दर्शन-स्पर्शनार्चनम्।
परिचर्या स्तुतिः प्रह्वगुणकर्मानुकीर्त्तनम्।।'

(श्रीमद्भा. ११/११/३४)

अर्थात्, हे उद्धव! मेरे श्रीविग्रह आदि और मेरे भक्तोंका दर्शन, स्पर्शन, पूजन, सेवन, स्तवन, नमन, गुण-कर्मादिका कीर्त्तन, श्रवण आदिमें श्रद्धा सर्वदा मेरा ध्यान, लब्ध वस्तुओंको मुझे समर्पण, दास्य भावसे आत्मनिवेदन, वैदिकी और तान्त्रिकी दीक्षा संस्कार, मेरे व्रतोंका पालन, मेरे उद्देश्यसे पुष्पदान, फलदान, श्रीमन्दिर सम्मार्जन, लेपन, जल-सिञ्चन आदि अनुष्ठानोंके द्वारा साधक क्रमशः सर्वोच्च भगवत्-प्रेमरूप फल अथवा पार्षदरूपी गतिको प्राप्त करता है। पूर्वोक्त साधनसमूह शुद्ध भक्तिमूलक नहीं हैं—ऐसा सन्देह करना उचित नहीं। केवल विशेष अधिकारीके लिए सरल या सुगम उपायके रूपमें उपदिष्ट हैं।।१०।।

अथैतदप्यशक्तोऽसि कर्त्तुं मद्योगमाश्रितः ।
सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्।।११।।

अन्वय—अथ (यदि) एतत् अपि (इसे भी) कर्त्तुम् (करनेमें) अशक्तः असि (अक्षम होओ) ततः (तो) मद्योगम् (मुझमें समस्त कर्मोंके अर्पणरूप योगका) आश्रितः (आश्रयकर) यतात्मवान् (संयतचित्तसे) सर्वकर्मफलत्यागम् कुरु (समस्त कर्मोंके फलका त्याग करो)।।११।।

अनुवाद—यदि तुम इस अभ्यास योगको करनेमें भी अक्षम होओ, तो मुझमें समस्त कर्मोंके अर्पणरूप योगका आश्रयकर संयतचित्तसे समस्त कर्मोंके फलका त्याग करो।।११।।

श्रीविश्वनाथ—एतदपि कर्त्तुमशक्तश्चेत्तर्हि मद्योगमाश्रितः मयि सर्वकर्मसमर्पणम्, मद्योगस्तमाश्रितः सन् सर्वकर्मफलत्यागं प्रथमषट्कोक्तं कुरु। अयमर्थः—प्रथमषट्के भगवदर्पितनिष्कामकर्मयोग एव मोक्षोपाय उक्तः; द्वितीयषट्केऽस्मिन् भक्तियोगे एव भगवत्प्राप्त्युपाय उक्तः। स च भक्तियोगो द्विविधः—भगवन्निष्ठोऽन्तःकरणव्यापारो बहिष्करणव्यापारश्च। तत्र प्रथमस्त्रिविधः—स्मरणात्मको, मननात्मकश्चाखण्ड-स्मरणासामर्थ्ये तदनुरागिनां तदभ्यासरूपश्चेति त्रिक एवायं मन्दधियां दुर्गमः, सुधियां निरपराधानान्तु सुगम एव; द्वितीयः श्रवणकीर्त्तनात्मकस्तु सर्वेषामेव सुगम एवोपायः। एवमुभयोपायवन्तोऽधिकारिणः सर्वतः प्रकृष्टा द्वितीयषट्केऽस्मिन्नुक्ताः। एतत्कृत्यऽसमर्था इन्द्रियाणां भगवन्निष्ठीकृतावश्रद्धालवश्च भगवदर्पितनिष्कामकर्मिणः प्रथमषट्कोक्ताधिकारिणोऽस्मान्निकृष्टा एवेति।।११।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् कहते हैं—"यदि तुम इसे करनेमें असमर्थ हो, तो मेरे योगका आश्रयकर सभी कर्मोंको मुझे अर्पित करता हुआ समस्त कर्मफलोंका त्याग करो, जैसा कि प्रथम छः अध्यायोंमें कहा गया है।"

प्रथम छः अध्यायोंमें भगवदर्पित निष्काम कर्मयोगको ही मोक्ष प्राप्तिका उपाय बताया गया है। द्वितीय छः अध्यायमें भक्तियोगको ही भगवत्-प्राप्तिका उपाय बताया गया है। यह भक्तियोग दो प्रकारका है—भगवत्-निष्ठ अन्तःकरणका व्यापार और बहिष्करणका व्यापार। पुनः इनमें से प्रथम भी तीन प्रकारका है—स्मरणात्मक, मननात्मक एवं निरन्तर स्मरणमें असमर्थ होनेपर उसके अनुरागी लोगोंका अभ्यासरूप भक्तियोग। ये तीनों ही मन्दबुद्धिवालोंके लिए दुर्गम हैं, किन्तु निरपराध सुबुद्धिपरायण व्यक्तियोंके लिए सुगम ही हैं। किन्तु दूसरे प्रकारका भक्तियोग अर्थात् श्रवण-कीर्त्तनात्मक व्यापार सभीके लिए सुगम उपाय है। इन दोनों प्रकारके उपायोंमें रत व्यक्तिगण अन्य सभीकी अपेक्षा उत्कृष्ट हैं—यह इस द्वितीय छः अध्यायोंमें कहा जा रहा है। इन्हें करनेमें असमर्थ, इन्द्रियोंको भगवन्निष्ठ करनेमें अश्रद्धावान् तथा प्रथम छः अध्यायोंमें उक्त अधिकारी—भगवदर्पित निष्काम कर्मकारिगण इनकी अपेक्षा निकृष्ट ही हैं।।११।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्वश्लोकमें श्रीकृष्णने *'मत्कर्मपरमो भव'* के द्वारा भगवान्के मन्दिरका मार्जन, पुष्पवाटिका, तुलसीकाननका सिञ्चन आदिका उपदेश दिया। इसे सुनकर अर्जुनने सोचा कि यदि कोई महाकुलीन वंशमें जन्म ग्रहण करनेके कारण ऐसे सरल, सहज और सुखकर भगवत्-सेवा कार्योंको तुच्छ समझे अथवा लोक समाजमें एक प्रतिष्ठित

व्यक्ति होनेके कारण ऐसे सेवा-कार्योंको करनेमें असमर्थ हो, तो उसे क्या करना चाहिए? भगवान् श्रीकृष्ण उनके मनोभावको समझकर वर्त्तमान श्लोकमें चौथी व्यवस्था दे रहे हैं—"ऐसे भगवत्-क्रियाओंमें भी असमर्थ रहेनेपर साधकको भगवदर्पित निष्काम कर्मयोगका अवलम्बन करना ही उचित है।" जड़ीय अभिमानवशतः हमें श्रीमन्दिर-मार्जन आदि सेवाओंसे विरत रहना उचित नहीं; सातों द्वीपोंके अधीश्वर होनेपर भी महाराज अम्बरीष अपने हाथोंसे श्रीमन्दिर-मार्जन आदि सेवाओंमें सदा-सर्वदा तत्पर रहते थे। श्रीचैतन्य चरितामृतके अनुसार महाराज प्रतापरुद्र श्रीजगन्नाथ पुरी धामके प्रसिद्ध श्रीजगन्नाथ देवकी रथयात्राके अवसरपर श्रीरथके सामने झाड़ू देनेकी सेवा करते थे। उनकी ऐसी सेवाको देखकर श्रीचैतन्य महाप्रभु अत्यन्त सन्तुष्ट हुए थे। इसलिए श्रीगुरुवर्गके निर्देशानुसार श्रीभगवान्की निकृष्ट सेवा भी हमारे लिए परम मङ्गलजनक है। लौकिक अभिमानवश अपनेको श्रेष्ठ मानकर मन्दिर-मार्जन आदि सेवाओंको तुच्छ समझनेपर परमार्थसे च्युत हो जाना पड़ता है।

यदि कोई बड़प्पन आदिके कारण भगवत्-उपदिष्ट सेवा-कार्योंको करनेमें असमर्थ हो, तो करुणामय भगवान् श्रीकृष्ण वैसे लोगोंके लिए यह व्यवस्था दे रहे हैं कि वे वर्णाश्रम-धर्मके विहित कर्मोंको फलकी कामनासे रहित होकर करें और उसका फल भगवान्को अर्पण करें।

श्रीभगवान्ने क्रमानुसार चार श्रेणियोंके अधिकारियोंके लिए चार प्रकारका विधान दिया है—

(१) भगवत्-स्वरूपमें मनको स्थिरकर भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीला आदिका श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण आदिके माध्यमसे निरुपाधिक प्रेम लाभ करनेका यत्न करेंगे। यह स्वाभाविक अनुरागका (रागानुगा) मार्ग है।

(२) जो लोग उपरोक्त अनुराग मार्गसे भगवान्में अपने चित्तको समाविष्ट करनेमें असमर्थ हैं, उनके लिए वैधी भक्तिरूप मार्गका आश्रयकर अभ्यास योगका अवलम्बन करना ही श्रेयस्कर है।

(३) जो लोग इस वैध प्रणालीरूप अभ्यासयोगमें भी असमर्थ हैं, उनके लिए भगवत्-कर्म-परायण होना ही आवश्यक है। इस प्रकार भगवत्-कर्म-परायण होनेपर क्रमशः अभ्यासयोगकी सिद्धि होनेपर चित्त श्रीभगवान्के चरणकमलोंमें स्थिर हो जाता है।

(४) यदि कोई श्रीभगवान्‌के सेवारूप कर्मके आचरणमें भी असमर्थ हो, तो उनके लिए श्रीभगवान्‌के शरणागत होकर समस्त कर्मफलोंका परित्यागकर वैदिक कर्मोंका आचरण करना ही श्रेयस्कर है। ऐसे कर्माचरणके फलस्वरूप क्रमशः स्व-स्वरूप और पर-स्वरूप पराभक्ति प्राप्तिरूप क्रमपथकी प्राप्ति होती है।।११।।

श्रेयो हि ज्ञानमभ्यासाज्ज्ञानाद्ध्यानं विशिष्यते।
ध्यानात्कर्मफलत्यागस्त्यागाच्छान्तिरनन्तरम् ।।१२।।

अन्वय—हि (क्योंकि) अभ्यासात् (अभ्याससे) ज्ञानम् (ज्ञान) श्रेयः (श्रेष्ठ है) ज्ञानात् (ज्ञानकी अपेक्षा) ध्यानम् (मेरा स्मरण) विशिष्यते (श्रेष्ठ है) ध्यानात् (ध्यानसे) कर्मफलत्यागः [स्यात्] (कर्मफलका त्याग होता है) त्यागात् अनन्तरम् (त्यागके बाद) शान्तिः (मेरे अतिरिक्त अन्य विषयोंमें इन्द्रियोंकी उपरति) [भवति—होती है]।।१२।।

अनुवाद—क्योंकि, अभ्याससे श्रेष्ठ है—ज्ञान (मयि बुद्धिं निवेशय—इस सन्दर्भमें कथित 'ध्यान प्रतिपादक शास्त्रानुशीलनरूप' मनन), इस ज्ञानकी अपेक्षा मेरा स्मरणरूप ध्यान श्रेष्ठ है, ध्यानसे कर्मफलत्याग होता है अर्थात् स्वर्गादि सुख और मोक्षकी आकांक्षा नहीं रहती है तथा त्यागके बाद शान्ति प्राप्त होती है।।१२।।

श्रीविश्वनाथ—अथोक्तानां स्मरणमननाभ्यासानां यथापूर्वं श्रैष्ठ्यं स्पष्टीकृत्याह—श्रेयो हीति। अभ्यासाज्ज्ञानं मयि बुद्धिं निवेशयेत्युक्तं मन्मननं श्रेयः श्रेष्ठम्; अभ्यासे सत्यायासत एव ध्यानं स्यात्, मनने सति त्वनायासत एव ध्यानमिति विशेषात्; तस्मात् ज्ञानादपि ध्यानं विशिष्यते—श्रेष्ठमित्यर्थः, कुतः? इत्यत आह—ध्यानात् कर्मफलानां स्वर्गादिसुखानां निष्कामकर्मफलस्य मोक्षस्य च त्यागस्तत्स्पृहाराहित्यं स्यात्, स्वतः प्राप्तस्यापि तस्योपेक्षा। निश्चलध्यानात् पूर्वन्तु भक्तानामजातरतीनां मोक्षत्यागेच्छैव भवेत्। निश्चलध्यानवतां तु मोक्षोपेक्षा, सैव मोक्षलधुताकारिणी, यदुक्तं भक्तिरसामृतसिन्धो—*"क्लेशघ्नी शुभदा"* इत्यत्र षडभिः पदैरेतन्माहात्म्यं कीर्त्तितमिति। यदुक्तम्—"न *पारमेष्ठ्यं न महेन्द्रधिष्ण्यं न सार्वभौमं न रसाधिपत्यम्। न योगसिद्धीरपुनर्भवं वा मय्यर्पितात्मेच्छति मद्विनान्यत्।"* इति। मय्यर्पितात्मा मद्ध्याननिष्ठः। त्यागाद्वैतृष्ण्यादनन्तरमेव शान्तिर्मद्रूपगुणादिकं विना सर्वविषयेष्वेवेन्द्रियाणामुपरतिः। अत्र पूर्वार्द्धे 'श्रेयः' इति 'विशिष्यते' इति पदद्वयेनान्वयादुत्तरार्द्धेतु 'अनन्तरम्' इत्यनेनैवान्वयादेषैव व्याख्या सम्यगुपपद्यते नान्येत्यवधेयम्।।१२।।

भावानुवाद—तदनन्तर, कथित अभ्यास, मनन और स्मरणमें से क्रमशः श्रेष्ठताका तारतम्य बताते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—'श्रेयं' इत्यादि। ज्ञान—'मुझमें अपनी बुद्धि निविष्ट करो'—मेरा ऐसा मनन अभ्याससे श्रेष्ठ है। अभ्यासमें आयासपूर्वक (कष्टपूर्वक) ध्यान होगा, किन्तु मनन होनेपर अनायास ही ध्यान होता है, यही ज्ञानकी श्रेष्ठता है। उस ज्ञानसे श्रेष्ठ ध्यान है, यदि कहो क्यों, तो उत्तर है—ध्यानसे 'कर्मफलत्याग' होता है अर्थात् स्वर्गसुखादि कर्मफल, निष्काम कर्मफल अर्थात् मोक्षकी स्पृहा भी दूर हो जाती है। इनके स्वतः प्राप्त होनेपर भी इनकी उपेक्षा कर दी जाती है। निश्चल ध्यान होनेके पूर्व, जिन भक्तोंमें रति उत्पन्न नहीं हुई है, उन्हें मोक्ष-त्यागकी इच्छा होती है, किन्तु जिन्हें निश्चल ध्यान प्राप्त हो जाता है, वे मोक्षकी उपेक्षा कर देते हैं, इस भक्तिको ही 'मोक्षलघुताकारिणी' कहा गया है—जैसा कि भक्तिरसामृत सिन्धु ग्रन्थमें 'क्लेशघ्नी, शुभदा' इत्यादि छः पदोंमें इसका माहात्म्य वर्णित हुआ है।

श्रीमद्भागवत (११/१४/१४) में भी कहा गया है कि जिन्होंने अपना चित्त मुझे समर्पित कर दिया है, वे मुझे छोड़कर बह्मपद, इन्द्रपद, सार्वभौमपद, पाताल-राज्यका आधिपत्य, अणिमा आदि योगसिद्धि अथवा मोक्षपदको भी प्राप्त करनेकी इच्छा नहीं करते हैं। उपर्युक्त श्रीमद्भागवतके श्लोकमें वर्णित 'मय्यर्पितात्मा' का तात्पर्य है—मेरे ध्याननिष्ठ। 'त्यागात्'—वितृष्णाके बाद ही 'शान्ति' प्राप्त होती है अर्थात् मेरे रूप-गुणादिके अतिरिक्त अन्य समस्त विषयोंमें इन्द्रियोंकी उपरति प्राप्त होती है। इस श्लोकके पूर्वार्द्धमें 'श्रेयं' और 'विशिष्यते'—इन दोनों पदोंके साथ अन्वय और उत्तरार्द्धमें 'अनन्तरम्' पदके साथ अन्वय होनेके कारण उपर्युक्त व्याख्या ही युक्तिसंगत है, अन्य प्रकारकी व्याख्या नहीं।।१२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—स्मरणात्मक, मननात्मक और अभ्यासात्मक—पूर्वोक्त इन तीन प्रकारकी भक्तियोंमें से अभ्यासकी अपेक्षा मननात्मक ज्ञान श्रेष्ठ है अर्थात् श्रीभगवान्में बुद्धि निवेशरूप मनन ही श्रेष्ठ है। मननात्मक ज्ञानकी अपेक्षा स्मरणात्मक ध्यान श्रेष्ठ है, क्योंकि मननात्मक ज्ञानमें बहुत परिश्रम और कष्टसे ध्यान लगाना होता है; किन्तु मनन सिद्ध होनेपर ध्यान अर्थात् स्मरण अनायास ही सिद्ध होता है। ध्यान सिद्ध होनेपर स्वर्ग आदि सुख और मोक्षसुखकी स्पृहा भी दूर हो जाती है। भोग, मोक्षकी स्पृहा दूर होनेपर भगवान्के रूप, गुण आदिमें चित्त

आसक्त हो जाता है, ऐसी स्थितिमें अन्यान्य विषयोंके प्रति उपरति होनेपर स्वतः ही शान्तिकी उपलब्धि होती है। यदि ध्यानकी सिद्धि न हो, तो ध्यानके अभ्यासमें असमर्थ साधकके लिए भगवदर्पित निष्काम कर्मयोगका अवलम्बन करना चाहिए। इसके द्वारा क्रमशः शान्त चित्तसे भगवद्भक्तिका अनुशीलन किया जा सकता है।

"हे अर्जुन! एकमात्र साधन-भक्ति ही निरुपाधिक प्रेमको प्राप्त करनेका उपाय है। इस भक्तियोगके दो प्रकार हैं—भगवत्-निष्ठ अन्तःकरणका व्यापार और बहिष्करणका व्यापार। भगवत्-निष्ठ अन्तःकरणका व्यापार तीन प्रकारका है—स्मरणात्मक, मननात्मक एवं अभ्यासात्मक। किन्तु, जिनकी बुद्धि मन्द है, उनके लिए ये तीनों प्रकारके अन्तःकरणके व्यापार दुर्गम हैं। श्रवण-कीर्त्तनरूप बहिष्करण अर्थात् बाह्येन्द्रियोंका व्यापार सभीके लिए सुगम है। अतएव मेरे सम्बन्धमें मनन अथवा बुद्धि ही उत्कृष्ट ज्ञान है एवं यही अभ्याससे श्रेष्ठ है [ज्ञानयोगवाला ज्ञान नहीं]। अभ्यासके समय यत्नपूर्वक ध्यान किया जाता है, किन्तु अभ्यासका फल जो मनन है, उसके उपस्थित होनेसे अनायास ही ध्यान होता है। केवल-ज्ञानकी अपेक्षा ध्यानकी श्रेष्ठता है, क्योंकि ध्यानके स्थिर होनेपर सामान्य स्वर्गसुख अथवा मोक्षसुखकी स्पृहा दूर होती है। इन दोनों स्पृहाओंके दूर होनेपर मेरे रूप-गुणादिके अतिरिक्त समस्त इन्द्रिय-विषयोंमें उपरतिरूपी शान्ति उपस्थित होती है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१२।।

अद्वेष्टा सर्वभूतानां मैत्रः करुण एव च।
निर्ममो निरहङ्कारः समदुःखसुखः क्षमी।।१३।।
सन्तुष्टः सततं योगी यतात्मा दृढनिश्चयः।
मय्यर्पितमनोबुद्धिर्यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१४।।

अन्वय—सर्वभूतानाम् (समस्त भूतोंके प्रति) अद्वेष्टा (द्वेषरहित) मैत्रः (तुल्य व्यक्तिमें मित्रभाव वर्त्तमान) करुणः एव च (और हीन व्यक्तिके प्रति कृपालु) निर्ममः (पुत्र-कलत्रादिके प्रति ममताशून्य) निरहङ्कारः (देहमें अहङ्कारशून्य) समदुःखसुखः (प्रारब्ध फलकी भावना द्वारा सुख तथा दुःखमें समज्ञानसम्पन्न) क्षमी (सहिष्णु) सततम् सन्तुष्टः (सर्वदा सन्तुष्ट) योगी (भक्तियोगयुक्त) यतात्मा (संयत इन्द्रियोंवाला) दृढनिश्चयः (अनन्या भक्तिमें दृढ़निश्चयी) मयि (मुझमें) अर्पितमनोबुद्धिः (मन-बुद्धि अर्पणकारी अर्थात्

मेरे स्मरण-मननपरायण) यः (जो) मद्भक्तः (मेरे भक्त हैं) सः (वे) मे (मेरे) प्रियः (प्रिय हैं)।।१३-१४।।

अनुवाद—सभी भूतोंके प्रति द्वेषरहित, मित्रभावापन्न, कृपालु, पुत्र-कलत्रादिमें ममताशून्य, देह आदिमें अहङ्कारशून्य, सुख तथा दुःखमें समभावापन्न, क्षमाशील, सर्वदा प्रसन्नचित्त, भक्तियोगयुक्त, संयत इन्द्रियोंवाले, दृढ़सङ्कल्पवान् और मुझमें मन, बुद्धि अर्पण करनेवाले मेरे जो भक्त हैं, वे मेरे प्रिय हैं।।१३-१४।।

श्रीविश्वनाथ—एतादृश्याः शान्त्या भक्तः कीदृशो भवतीत्यपेक्षायां बहुविधभक्तानां स्वभावभेदानाह—अद्वेष्टेत्यष्टभिः। अद्वेष्टा द्विषत्स्वपि द्वेषं न करोति, प्रत्युत मैत्रो मित्रतया वर्त्तते, करुण एषामसद्गतिर्मा भवत्विति बुद्ध्या तेष्वपि कृपालुः। ननु कीदृशेन विवेकेन द्विषत्स्वपि मैत्रीकारुण्ये स्याताम्, तत्र विवेकं विनैवेत्याह—'निर्ममो', 'निरहङ्कार' इति—पुत्रकलत्रादिषु ममत्वाभावाद्देहे चाहङ्काराभावात् तस्य मद्भक्तस्य क्वापि द्वेष एव नैव फलति, कुतः पुनर्द्वेषजनितदुःखशान्त्यर्थं तेन विवेकः स्वकर्त्तव्य इति भावः। ननु तदप्यन्यकृतपादुकामुष्टिप्रहारादिभिर्देहव्यथाधीनं दुःखं किञ्चिद्भवत्येव? तत्राह—समदुःखसुखम्; यदुक्तं भगवता चन्द्रार्द्धशेखरेण—*"नारायणपराः सर्वे न कुतश्चन बिभ्यति। स्वर्गापवर्गनरकेष्वपि तुल्यार्थदर्शिनः।।"* इति। सुखदुःखयोः साम्यं समदर्शित्वम्, तच्च मम प्रारब्धफलमिदमवश्यभोग्यमिति भावनामयं, साम्येऽपि सहिष्णुनैव दुःखं सह्यत इत्याह—क्षमी क्षमवान्, क्षम सहने धातुः। नन्वेतादृशस्य भक्तस्य जीविका कथं सिध्येत्? तत्राह सन्तुष्टः—यदृच्छोपस्थिते किञ्चिद्यत्नोपस्थिते वा भक्ष्यवस्तुनि सन्तुष्टः। ननु समदुःखसुख इत्युक्तम् तत् कथं स्वभक्ष्यमालक्ष्य सन्तुष्ट इति तत्राह—'सततं योगी' भक्तियोगयुक्तो भक्तिसिद्ध्यर्थमिति भावः। यदुक्तम्—*"आहारार्थं यतेतैव युक्तं तत्प्राणधारणम्। तत्त्वं विमृश्यते तेन तद्विज्ञाय परं व्रजेत्"* इति। किञ्च दैवादप्राप्तभक्ष्योऽपि 'यतात्मा' संयतचित्तः क्षोभरहित इत्यर्थः। दैवाच्चित्तक्षोभे सत्यपि तदुपशमार्थमष्टाङ्गयोगाभ्यासादिकं नैव करोतीत्याह—दृढ़निश्चयोऽनन्यभक्तिरेव मे कर्त्तव्येति निश्चयस्तस्य न शिथिलीभवतीत्यर्थः। सर्वत्र हेतुः—मय्यर्पितमनोबुद्धिर्मत्स्मरणमननपरायण इत्यर्थः। ईदृशो भक्तस्तु मे प्रियो मामतिप्रीणयतीत्यर्थः।।१३-१४।।

भावानुवाद—"उपर्युक्त शान्तिवान् भक्त किस प्रकारके होते हैं?"—अर्जुनके इस प्रश्नकी अपेक्षामें श्रीभगवान् 'अद्वेष्टा' इत्यादि आठ श्लोकोंमें अनेक प्रकारके भक्तोंके स्वभाव-भेदके विषयमें बता रहे हैं।

अद्वेष्टा वे हैं जो अपने प्रति द्वेष करनेवालेके प्रति द्वेष नहीं करते हैं, प्रत्युत मित्रताका भाव ही रखते हैं। ऐसे व्यक्तियोंकी असद्‌गति नहीं हो—इस बुद्धिसे करुणावश वे कृपालु भी होते हैं। यदि प्रश्न हो कि किस प्रकार विवेक द्वारा द्वेषीके प्रति मित्रता और कारुण्यका भाव प्रदर्शित होता है, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—यह बिना विवेकके ही होता है। 'निर्ममः' अर्थात् पुत्र-कलत्र आदिमें ममताके अभावमें तथा देहमें अहङ्कारके अभावके कारण मेरे उन भक्तोंका किसीके प्रति द्वेषभाव नहीं रहता है, पुनः वे क्यों द्वेषजनित दुःखकी शान्तिके लिए विवेक स्वीकार करेंगे। यदि कहा जाय कि यदि कोई दूसरा व्यक्ति पादुका अथवा मुष्टिकादिके द्वारा प्रहार करे, तो क्या उन्हें शारीरिक पीड़ाके कारण तनिक भी दुःख नहीं होगा, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—वे 'समदुःखसुखम्' अर्थात् सुख-दुःखमें समान रहते हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवतमें चन्द्रार्द्धशेखर (शिवजी) ने भी कहा है—"नारायण-परायण भक्तगण किसी भी प्रकार भीत नहीं होते हैं, क्योंकि वे स्वर्ग, मोक्ष एवं नरकको एक समान देखते हैं। सुख और दुःख को समान समझना ही 'समदर्शित्व' है।" और भी, वे ऐसी भावना करते हैं कि यह मेरा प्रारब्ध फल है, इसे मुझे अवश्य ही भोगना पड़ेगा। वे समदर्शी होकर सहिष्णु व्यक्तिकी भाँति दुःखको सहन करते हैं। इस अभिप्रायसे श्रीभगवान् कहते हैं—वे 'क्षमी' अर्थात् क्षमावान् होते हैं। 'क्षम' धातुका प्रयोग 'सहन करना' के अर्थमें होता है।

अच्छा, इस प्रकार भक्तकी जीविकाका निर्वाह कैसे होता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—'सन्तुष्टः' अर्थात् वे यदृच्छाक्रमसे प्राप्त अथवा अत्यल्प यत्नसे प्राप्त भक्ष्य वस्तुसे ही सन्तुष्ट रहते हैं। अच्छा, पहले तो 'समदुःख-सुख' कहा गया, तो पुनः स्वभक्ष्यके दर्शनसे किस प्रकार सन्तुष्ट हुए? इसके उत्तरमें कहते हैं—'सततं योगी' अर्थात् वे भक्तियोगयुक्त भक्तिके विषयमें सिद्धि प्राप्त करने के लिए ऐसा करते हैं। जैसा कि कहा गया है—"प्राण धारणके लिए आहारके लिए प्रयत्न करेंगे ही। इस प्रकारका प्राणधारण युक्त है। इसके द्वारा तत्त्व-विषयकी चिन्ता होती है। उसे विशेष जाननेसे ब्रह्म-प्राप्ति होती है।" दैवात् यदि उन्हें खानेके लिए न भी मिले तो 'यतात्मा'—संयतचित्त व्यक्ति क्षोभरहित होते हैं। दैवात् चित्तका क्षोभ उपस्थित होनेपर भी वे इसे शान्त करनेके लिए अष्टाङ्गयोगाभ्यास आदि नहीं करते हैं। इसके लिए कहते हैं—'दृढ़निश्चयः' अर्थात् भगवान्‌की अनन्या

भक्ति ही कर्त्तव्य है, वे इस प्रकारका निश्चयकर शिथिल नहीं होते हैं, वे मेरे स्मरण-मननपरायण होते हैं। ऐसे भक्त मुझे प्रिय हैं अर्थात् मुझे अत्यन्त प्रीति प्रदान करते हैं।।१३-१४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्व-पूर्व श्लोकोंमें सनिष्ठित ऐकान्तिक भक्तोंके पृथक्-पृथक् साधनका वर्णनकर सात श्लोकोंमें उनके गुणोंको प्रदर्शित कर रहे हैं। यहाँ अद्वेष्टाका तात्पर्य यह है कि अपने प्रति किसीके द्वेष करनेपर भी वे उनसे द्वेष नहीं करते। वे यह समझते हैं कि परमेश्वर द्वारा प्रदत्त यह मेरे प्रारब्धका फल है, इसलिए उनमें किसीके प्रति विद्वेषकी भावना नहीं होती। अधिकन्तु, सबमें परमेश्वरका अधिष्ठान जानकर उनके प्रति मित्रभावापन्न होते हैं। किसी कारणवश किसीको दुःखी देखकर उसके दुःखको दूर करनेका प्रयत्न करते हैं, इसलिए वे दयालु होते हैं। देह और दैहिक वस्तुओंको प्रकृतिका विकार और इन्हें आत्म-स्वरूपसे भिन्न जानकर उनमें ममतारहित होते हैं। इसीलिए दैहिक व्यापारमें भी आत्म-अभिमानसे रहित होते हैं। सांसारिक सुख-दुःख उपस्थित होनेपर आनन्द या विषादसे व्याकुल नहीं होते। वे सुख और दुःख दोनोंको बराबर समझते हैं। क्षमाशील होनेके कारण वे सहिष्णु होते हैं। हानि-लाभ, यश-अपयश, जय-पराजय—सभी अवस्थाओंमें वे प्रसन्नचित्त होनेके कारण योगी हैं अर्थात् श्रीगुरुदेव द्वारा प्रदत्त साधनोंमें निष्ठावान् रहते हैं। 'यतात्मा' का तात्पर्य है—जितेन्द्रिय। किसी भी कुतर्क आदिके द्वारा विचलित नहीं होनेके कारण वे दृढ़निश्चययुक्त होते हैं। संसारका कोई भी क्लेश उन्हें भगवद्भक्तिसे विचलित नहीं कर पाता। ऐकान्तिक भक्तोंका यह एक विशेष गुण है। मैं भगवान्‌का सेवक हूँ—वे इस सुदृढ़ विश्वाससे युक्त होते हैं। उनकी मन-बुद्धि सभी कुछ श्रीभगवान्‌के चरणोंमें समर्पित होते हैं, इसलिए ऐसे भक्त श्रीभगवान्‌के प्रिय होते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी श्रीकृष्णने भक्त उद्धवसे इन लक्षणोंका वर्णन किया है—

'कृपालुरकृतद्रोहस्तितिक्षुः सर्वदेहिनाम्।
सत्यसारोऽनवद्यात्मा समः सर्वोपकारकः।।
कामैरहतधीर्दान्तो मृदुः शुचिरकिञ्चनः।
अनीहो मितभुक् शान्तः स्थिरो मच्छरणो मुनिः।।
अप्रमत्तो गम्भीरात्मा धृतिमाञ्जितषड्गुणः।
अमानी मानदः कल्पो मैत्रः कारुणिकः कविः।।'

(श्रीमद्भा. ११/११/२९)

और भी,

'कृपालु, अकृतद्रोह, सत्यसार, सम।
निर्दोष, वदान्य, मृदु, शुचि, अकिञ्चन।।
सर्वोपकारक, शान्त, कृष्णैकशरण।
अकाम, निरीह, स्थिर, विजित-षड्गुण।।
मितभुक्, अप्रमत्त, मानद, अमानी।
गम्भीर, करुण, मैत्र, कवि, दक्ष, मौनी।।'

(चै. च. म. २२/७५-७७) ।।१३-१४।।

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः।।१५।।

अन्वय—यस्मात् (जिनसे) लोकः (कोई लोग) न उद्विजते (उद्वेगको नहीं प्राप्त होते हैं) यः च (और जो) लोकात् (किसीसे) न उद्विजते (उद्वेगको प्राप्त नहीं होते हैं) यः च (और जो) हर्षामर्षभयोद्वेगैः (प्राकृत हर्ष, असहिष्णुता, भय और उद्वेगसे) मुक्तः (मुक्त हैं) सः (वे) मे (मेरे) प्रियः (प्रिय हैं)।।१५।।

अनुवाद—जिनसे कोई उद्वेगको नहीं प्राप्त होते तथा जो किसीसे उद्वेगको नहीं प्राप्त होते एवं जो प्राकृत हर्ष, असहिष्णुता, भय और उद्वेगसे मुक्त हैं, वे मेरे प्रिय हैं।।१५।।

श्रीविश्वनाथ—किञ्च, *"यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना, सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः"* इत्याद्युक्तेर्मत्प्रीतिजनका अन्येऽपि गुणा मद्भक्त्या मुहुरभ्यस्तया स्वतएवोत्पद्यन्ते, तानपि त्वं शृण्वित्याह—यस्मादिति पञ्चभिः। हर्षादिभिः प्राकृतैर्हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्त इत्यादिनोक्तानपि कांश्चिद्गुणान् दुर्लभत्वज्ञापनार्थं पुनराह—यो न हृष्यतीति।।१५।।

भावानुवाद—और भी, "भगवान्में जिनकी अकिञ्चना भक्ति है, देवगण समस्त गुणोंके साथ उनमें ही सम्यक् अवस्थान करते हैं" (श्रीमद्भा. ५/१८/१२) इत्यादि। श्रीमद्भागवतकी इन उक्तियोंसे भी पुष्ट होता है कि मेरे प्रीतिजनक अन्य गुणसमूह भी बारम्बार मेरी भक्तिके अभ्यास द्वारा स्वतः ही उत्पन्न होते हैं। उन गुणोंको तुम श्रवण करो—'प्राकृत हर्षादिसे मुक्त होना'—इन गुणोंके अतिरिक्त भी कुछ गुणोंके दुर्लभत्वको बताते हुए पुनः कहते हैं—'यो न हृष्यति' इत्यादि।।१५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान् श्रीकृष्ण भक्तिके प्रभावसे भक्तोंमें स्वाभाविक रूपसे प्रकाशित होनेवाले और भी कतिपय गुणोंका वर्णन इन श्लोकोंमें कर रहे हैं—पूर्वोक्त समस्त प्राणियोंमें हिंसारहित, मित्रभावापन्न एवं दयालु मेरे भक्तोंके व्यवहारसे किसीके भी अनिष्ट होनेकी आशंका नहीं होनेके कारण उनके द्वारा कोई भय या उद्वेगको प्राप्त नहीं होता। सुख और दुःखमें समदर्शी होनेके कारण कोई किसी भी प्रकारसे उन्हें उद्विग्न नहीं कर सकता। अभीष्ट विषयोंके लाभ होनेपर न उनको हर्ष होता है और न दूसरेके उत्कर्षसे द्वेष होता है तथा न किसी वस्तुके नाशकी चिन्तासे भय आदिके द्वारा चित्त उद्विग्न होता है। तात्पर्य यह कि हर्ष, द्वेष, भय, उद्वेग आदिसे मुक्त भक्त ही मुझे सर्वाधिक प्रिय हैं।।१५।।

अनपेक्षः शुचिर्दक्ष उदासीनो गतव्यथः।
सर्वारम्भपरित्यागी यो मद्भक्तः स मे प्रियः।।१६।।

अन्वय—अनपेक्षः (व्यवहारिक कार्योंमें अपेक्षाशून्य) शुचिः (अन्दर तथा बाहर शुद्ध) दक्षः (निपुण) उदासीनः (व्यवहारिक विषयोंमें अनासक्त) गतव्यथः (अपकृत होकर भी उद्वेगरहित) सर्वारम्भपरित्यागी (भक्तिके प्रतिकूल समस्त उद्यमोंसे रहित) यः मद्भक्तः (मेरे जो भक्त हैं) सः (वे) मे (मेरे) प्रियः (प्रिय हैं)।।१६।।

अनुवाद—व्यवहारिक कार्योंमें अपेक्षाशून्य, पवित्र, निपुण, अनासक्त उद्वेगरहित एवं भक्ति-प्रतिकूल समस्त उद्यमोंसे रहित मेरे जो भक्त हैं, वे मेरे प्रिय हैं।।१६।।

श्रीविश्वनाथ—अनपेक्षो व्यवहारिककार्यापेक्षारहितः, उदासीनो व्यवहारिक-लोकेष्वनासक्तः, सर्वान् व्यवहारिकान् दृष्टादृष्टार्थांस्तथा पारमार्थिकानपि कांश्चित् शास्त्राध्यापनादीनारम्भानुद्यमान् परिहर्त्तुं शीलं यस्य सः।।१६।।

भावानुवाद—वे 'अनपेक्षः' अर्थात् व्यवहारिक कार्योंमें अपेक्षाशून्य तथा 'उदासीनः' व्यवहारिक लोकसमूहमें अनासक्त होते हैं। समस्त व्यवहारिक दृष्ट और अदृष्ट फल तथा शास्त्र-अध्यापनादि किसी किसी आरम्भिक उद्यमोंका भी परित्याग करनेका उनका स्वभाव हो जाता है।।१६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—और भी कहते हैं—मेरे जो भक्त अनपेक्ष अर्थात् बिना इच्छाके स्वतः प्राप्त विषयमें स्पृहाशून्य, बाहर-भीतरसे पवित्र, वेदादि शास्त्रोंके विचारोंका सार ग्रहण करनेमें दक्ष, पक्षपातशून्य, उदासीन,

दूसरोंके द्वारा अपकार किए जानेपर भी मनोवेदनाशून्य (दुःखरहित), अपनी भगवद्भक्तिके प्रतिकूल पाप-पुण्य किसी भी कार्यके प्रति तनिक भी चेष्टा नहीं करते हैं, वे मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।।१६।।

यो न हृष्यति न द्वेष्टि न शोचति न काङ्क्षति।
शुभाशुभपरित्यागी भक्तिमान् यः स मे प्रियः।।१७।।

अन्वय—यः (जो) न हृष्यति (लौकिक प्रिय वस्तुके प्राप्त होनेपर हर्षित नहीं होते) न द्वेष्टि (न अप्रिय वस्तुकी उपस्थितिसे द्वेष करते हैं) न शोचति (लौकिक प्रिय वस्तुके नष्ट होनेपर शोक नहीं करते हैं) न काङ्क्षति (अप्राप्त वस्तुकी आकाङ्क्षा नहीं करते हैं) शुभाशुभपरित्यागी (पुण्य और पाप कर्मका परित्याग करनेवाले) यः (जो) भक्तिमान् (भक्तिमान् हैं) सः (वे) मे (मेरे) प्रियः (प्रिय हैं)।।१७।।

अनुवाद—जो लौकिक प्रिय वस्तुके प्राप्त होनेपर हर्षित नहीं होते हैं और न अप्रिय वस्तुके प्राप्त होनेपर द्वेष करते हैं, जो प्रिय वस्तुके नष्ट होनेपर शोक नहीं करते हैं और अप्राप्त वस्तुकी आकांक्षा भी नहीं करते हैं, जो पाप तथा पुण्य—दोनोंका परित्याग करनेवाले हैं एवं जो मेरे प्रति भक्तिमान् हैं, वे भक्त ही मेरे प्रिय हैं।।१७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जो प्रिय पुत्र या शिष्यको प्राप्तकर आनन्दसे आत्मविभोर नहीं हो जाते अथवा अप्रिय पुत्र या शिष्य पाकर उनसे द्वेष नहीं करते, प्रिय वस्तुके विनाशसे शोकमें मग्न नहीं होते, अप्राप्त प्रिय वस्तुओंके लिए कामना नहीं करते, पाप और पुण्यका सर्वथा त्याग करनेवाले और मुझमें भक्ति रखनेवाले ऐसे भक्त मुझे प्रिय हैं।।१७।।

समः शत्रौ च मित्रे च तथा मानापमानयोः।
शीतोष्णसुखदुःखेषु समः सङ्गविवर्जितः।।१८।।
तुल्यनिन्दास्तुतिर्मौनी सन्तुष्टो येन केनचित्।
अनिकेतः स्थिरमतिर्भक्तिमान् मे प्रियो नरः।।१९।।

अन्वय—शत्रौ च (शत्रुमें) मित्रे च (और मित्रमें) तथा (तथा) मानापमानयोः (मानमें और अपमानमें) समः (समभाववाले) शीतोष्ण-सुख-दुःखेषु (शीत, उष्ण, सुख और दुःखमें) समः (हर्ष-विषादरहित) सङ्गविवर्जितः (आसक्तिरहित) तुल्यनिन्दास्तुतिः (निन्दा-स्तुतिमें समज्ञानवाले) मौनी (संयत वाणीवाले अथवा इष्टका मनन करनेवाले) येन केनचित्त् सन्तुष्टः

(येन-केन-प्रकारेण शरीर निर्वाहकर संतुष्ट रहनेवाले) अनिकेतः घरकी आसक्तिसे रहित) स्थिरमतिः (परमार्थके विषयमें स्थिर चित्तवाले) भक्तिमान् (भक्तिमान्) नरः (मनुष्य) मे (मेरे) प्रियः (प्रिय हैं)।।१८-१९।।

अनुवाद—जो भक्तिमान् मनुष्य शत्रु-मित्र, मान-अपमान, शीत-उष्ण, सुख-दुःखमें समभावापन्न हैं; जिनकी वाणी संयत है; जो कुछ प्राप्त होता है, उसीसे सन्तुष्ट रहते हैं; गृहासक्तिरहित तथा स्थिरबुद्धिवाले हैं; वे मेरे प्रिय हैं।।१८-१९।।

श्रीविश्वनाथ—अनिकेतः प्राकृतस्वास्पदासक्तिशून्यः।।१९।।

भावानुवाद—'अनिकेतः'—प्राकृत आस्पद अर्थात् गृहादिमें आसक्तिशून्य।।१९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीकृष्ण अपने प्रिय भक्तोंके स्वाभाविक गुणोंका वर्णनकर अब दो श्लोकोंमें उसका उपसंहार कर रहे हैं—शत्रु और मित्रके प्रति समभावयुक्त, मान और अपमानमें तुल्यदर्शी, सर्दी-गर्मी और सुख-दुःखमें समदर्शी, कभी किसी प्रकारका कुसङ्ग नहीं करनेवाले, किसीके द्वारा निन्दित होनेपर दुःखी अथवा स्तुति किए जानेपर सुखी नहीं होनेवाले, भगवत्-कथाके अतिरिक्त कुछ नहीं बोलनेवाले, भगवत्-इच्छासे शरीर-यात्राके उपयोगी किसी प्रकारके स्वादहीन या स्वादयुक्त वस्तुओंसे सन्तुष्ट रहनेवाले, किसी एक स्थानमें निवास नहीं करनेवाले, परमार्थके विषयमें स्थिर एवं निश्चयात्मक बुद्धिवाले ऐसे भक्त मुझे प्रिय हैं।।१८-१९।।

ये तु धर्मामृतमिदं यथोक्तं पर्युपासते।
श्रद्दधाना मत्परमा भक्तास्तेऽतीव मे प्रियाः।।२०।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'भक्तियोगो' नाम द्वादशोऽध्यायः।।

अन्वय—ये तु (और जो) यथोक्तम् (उक्त प्रकार) इदम् धर्मामृतम् (इस धर्मरूप अमृतकी) पर्युपासते (उपासना करते हैं) ते (वे सभी) श्रद्दधानाः (श्रद्धावान्) मत्परमाः (मेरे परायण) भक्ताः (भक्तगण) मे (मेरे) अतीव प्रियाः (अत्यन्त प्रिय हैं)।।२०।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'भक्तियोगो' नाम द्वादशोऽध्यायस्यान्वयः।।

अनुवाद—और जो उक्त उस धर्मरूप अमृतकी उपासना करते हैं, वे सभी श्रद्धावान् मेरे परायण भक्तगण मुझे अत्यन्त प्रिय हैं।।२०।।

श्रीमद्भगवद्गीताके द्वादश अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—उक्तान् बहुविध-स्वभक्तनिष्ठान् धर्मानुपसंहरन् कार्तत्स्न्येनैत-ल्लिप्सूनां तच्छ्रवणविचारणादिफलमाह—ये त्विति। एते भक्त्युत्थशान्त्युत्थ-धर्माः, न प्राकृता गुणाः—*"भक्त्या तुष्यति कृष्णो न गुणैः"* इत्युक्तिकोटितः। 'तु'-भिन्नोपक्रमे उक्तलक्षणा भक्ता एकैकसुस्वभावनिष्ठाः। एते तु तत्सर्वसल्लक्षणेप्सवः साधका अपि तेभ्यः सिद्धेभ्योऽपि श्रेष्ठाः, अतएवातीवेति पदम्।।२०।।

सर्वश्रेष्ठा सुखमयी सर्वसाध्यसुसाधिका।
भक्तिरेवाद्भुतगुणेत्यध्यायार्थो निरूपितः।।
निम्बद्राक्षे इव ज्ञानभक्ती यद्यपि दर्शिते।
आद्रीयेते तदप्येते तत्तदास्वाद-लोभिभिः।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु द्वादशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद—पूर्वकथित अनेक प्रकारके स्वभक्तनिष्ठ धर्मोंका उपसंहार करते हुए इसे प्राप्त करनेकी इच्छा करनेवालोंके श्रवण, पाठ और विचारादिके प्राप्त फलको बता रहे हैं। ये समस्त भक्तिजनित-शान्तिजनित धर्म हैं, प्राकृत गुण नहीं। 'कृष्ण भक्तिसे ही तुष्ट होते हैं, गुणसे नहीं'—इस प्रकारकी असंख्य उक्तियाँ हैं। यहाँ 'तु' का प्रयोग भिन्न उपक्रममें हुआ है। उक्त लक्षणयुक्त भक्तगण एक-एक सुस्वभावनिष्ठ होते हैं। किन्तु, उन समस्त लक्षणोंके पिपासु ये सभी साधकगण भी उन समस्त सिद्धगणसे श्रेष्ठ होते हैं। इसीलिए यहाँ 'अतीव' पदका प्रयोग हुआ है।।२०।।

सर्वश्रेष्ठा सुखमयी सर्वसाध्यसुसाधिका भक्तिके ऐसे गुण इस अध्यायमें निरूपित हुए। यद्यपि निम्ब और द्राक्षके समान ज्ञान और भक्ति प्रदर्शित हुए हैं, तथापि उन उन आस्वादके लोभी साधकगण अपनी अपनी आकांक्षानुसार ही उसे ग्रहण करते हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताके द्वादश अध्यायकी साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके द्वादश अध्यायकी सारार्थवर्षिणी
टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अब अध्यायका उपसंहार करते हुए भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं—जो मेरे परायण होकर श्रद्धापूर्वक मेरे द्वारा वर्णित इस धर्मामृतकी सम्यक् रूपसे आराधना करते हैं, वे मेरे भक्त मुझे अत्यन्त प्रिय हैं। भक्तिके द्वारा ही भगवान् सन्तुष्ट होते हैं, केवल गुणोंके द्वारा नहीं। भक्तोंमें भक्तिके प्रभावसे समस्त गुण स्वाभाविक रूपमें ही उदित होते हैं। हरिविमुख अभक्तोंमें महत्-गुण उदित होनेकी सम्भावना नहीं—

'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्यकुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।।'

(श्रीमद्भा. ५/१८/१२)

यहाँ श्रीधर स्वामिपादने लिखा है—"निर्गुण और सगुण उपासनामें क्या श्रेष्ठ है—यही द्वादश अध्यायका तात्पर्य है।"

श्रीबलदेव विद्याभूषण प्रभुने लिखा है—"समस्त प्रकारके साधनोंमें एकमात्र महाप्रभावशाली शुद्धा भक्ति ही बिना क्लेशके शीघ्र ही भगवत्-प्राप्तिका उपाय है—यही इस अध्यायका सार है।"

"जो मेरे परायण होकर श्रद्धासहित आनुपूर्विक (क्रमपूर्वक) मेरे द्वारा वर्णित धर्मामृतकी उपासना करते हैं, वे ही मेरे भक्त हैं, अतएव मेरे अत्यन्त प्रिय हैं। मेरे द्वारा उक्त क्रमोन्नति-पथसे जीवको निरुपाधिक प्रेम प्राप्त होता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२०।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके द्वादश
अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

द्वादश अध्याय समाप्त।

त्रयोदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—
प्रकृतिं पुरुषञ्चैव क्षेत्रं क्षेत्रज्ञमेव च।
एतद्वेदितुमिच्छामि ज्ञानं ज्ञेयञ्च केशव।।१।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) केशव (हे केशव!) प्रकृतिम् पुरुषम् एव च (प्रकृति एवं पुरुष) क्षेत्रम् क्षेत्रज्ञम् एव च (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ) ज्ञानम् ज्ञेयम् च (ज्ञान और ज्ञेय) एतद् (ये समस्त) वेदितुम् (जाननेकी) इच्छामि (इच्छा करता हूँ)।।१।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे केशव! मैं प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान और ज्ञेय—इन सबको जाननेकी इच्छा करता हूँ।।१।।

श्रीविश्वनाथ—

नमोऽस्तु भगवद्भक्तौ कृपया स्वांशलेशतः।
ज्ञानादिष्वपि तिष्ठेत्तत् सार्थकीकरणा यया।।
षट्के तृतीयेऽत्र भक्तिमिश्रं ज्ञानं निरूप्यते।
तन्मध्ये केवला भक्तिरपि भङ्ग्या प्रकृष्यते।।
त्रयोदशे शरीरञ्च जीवात्म–परमात्मनोः।
ज्ञानस्य साधनं जीवः प्रकृतिश्च विविच्यते।।

तदेवं द्वितीयेन षट्केन केवलया भक्त्या भगवत्प्राप्तिः; ततोऽन्या अहंग्रहोपासनाद्यास्तिस्र उपासनाश्चोक्ताः। अथ प्रथमषट्कोदितानां निष्कामकर्मयोगिनां भक्तिमिश्रज्ञानादेव मोक्षस्तच्च ज्ञानं संक्षेपादुक्तमपि पुनः क्षेत्र–क्षेत्रज्ञादिविवेचनेन विवरितुं तृतीयं षट्कमारभते।।१।।

भावानुवाद—उस भगवद्भक्तिको नमस्कार कर रहा हूँ, जो ज्ञानादिको सार्थक करनेके लिए कृपापूर्वक अपने अंशलेश द्वारा उसमें भी अवस्थान करती है। इस तीसरे षट्कमें भक्तिमिश्रा ज्ञान निरूपित हुआ है, तथापि बीच–बीचमें भङ्गीके साथ केवला भक्तिका उत्कर्ष कथित हुआ है। तेरहवें अध्यायमें शरीर, जीवात्मा, परमात्मा, ज्ञानका साधन, जीव और प्रकृतिके विषयमें विशेषरूपसे विचार किया है।

द्वितीय छः अध्यायोंमें यह बताया गया है कि केवला भक्तिके द्वारा भगवान्की प्राप्ति होती है। इसके अतिरिक्त अहंग्रहोपासनादि तीन प्रकारकी उपासनाओंके विषयमें भी बताया गया। निष्काम कर्मयोगिगणको भक्तिमिश्र ज्ञानसे मोक्ष होता है—प्रथम छः अध्यायोंमें इस ज्ञानके विषयमें संक्षेपपूर्वक बताया गया है। पुनः क्षेत्र-क्षेत्रज्ञादिका विचारपूर्वक वर्णन करनेके लिए तृतीय षट्कका आरम्भ कर रहे हैं।।१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीमद्भगवद्गीतामें अठारह अध्याय हैं। इन अठारह अध्यायोंको तीन भागोंमें विभक्त किया गया है—पहला षट्क, दूसरा षट्क और तीसरा षट्क। पहले छः अध्यायोंमें निष्काम कर्मयोग, भक्तिमिश्र ज्ञान, जीवात्मा और परमात्माके ज्ञानके लिए उपयोगी विषयोंका वर्णन किया गया है। दूसरे छः अध्यायोंमें केवला भक्तिकी महिमा, परा और अपरा भक्तिका विवेचन, भगवान्के स्वरूपकी महिमा, भक्तके स्वरूपकी महिमा, विभिन्न प्रकारकी उपासनाओंमें भक्तिका वैशिष्ट्य और उसकी सर्वश्रेष्ठता आदि विषयोंका विचार किया गया। प्रस्तुत तीसरे षट्क अर्थात् छः अध्यायोंमें प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विवेचन करते हुए पहले संक्षेपमें वर्णित तत्त्वज्ञानका विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है तथा अन्तिम अठारहवें अध्यायमें श्रीगीताके सर्वगुह्यतम उपदेशका भी वर्णन किया गया है। इस अध्यायके पहले श्लोकमें अर्जुन प्रकृति, पुरुष, क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ, ज्ञान, और ज्ञेय आदि तत्त्वोंको जाननेके लिए प्रश्न कर रहे हैं। किसी किसी टीकाकारने प्रश्नमूलक इस प्रथम श्लोकको छोड़ दिया है।।१।।

श्रीभगवानुवाच—
इदं शरीरं कौन्तेय क्षेत्रमित्यभिधीयते।
एतद्यो वेत्ति तं प्राहुः क्षेत्रज्ञ इति तद्विदः।।२।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) कौन्तेय (हे कौन्तेय!) इदम् शरीरम् (यह शरीर) क्षेत्रम् इति (क्षेत्र नामसे) अभिधीयते (अभिहित होता है) यः (जो) एतत् (इसको) वेत्ति (जानते हैं) तद्विदः (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानसे सम्पन्न व्यक्तिगण) तम् (उनको) क्षेत्रज्ञः इति (क्षेत्रज्ञ नामसे) प्राहुः (अभिहित करते हैं)।।२।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे कौन्तेय! यह शरीर 'क्षेत्र' नामसे अभिहित होता है तथा जो इसे जानते हैं, क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानसे सम्पन्न व्यक्तिगण उन्हें 'क्षेत्रज्ञ' नामसे अभिहित करते हैं।।२।।

श्रीविश्वनाथ—तत्र किं क्षेत्रं कः क्षेत्रज्ञः? इत्यपेक्षायामाह—इदमिति। इदं सेन्द्रियं भोगायतनं शरीरं क्षेत्रम्, संसारवृक्षस्य प्ररोहभूमित्वात्। तद्यो वेत्ति बन्धदशायामहं ममेत्यभिमन्यमानं स्वसम्बन्धित्वेनैव जानाति, मोक्षदशायां त्वहं ममेत्यभिमानरहितः स्वसम्बन्धरहितमेव जो जानाति, तम् उभयावस्थं जीवं क्षेत्रज्ञमिति प्राहुः—कृषीबलवत् स एव क्षेत्रज्ञस्तत्फलभोक्ता च; यदुक्तं भगवता—"*अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः। हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम्।।*" अस्यार्थः—गृध्यन्तीति गृध्राः ग्रामेचराः बद्धजीवाः अस्य वृक्षस्यैकं फलं दुःखमदन्ति परिणामतः स्वर्गादेरपि दुःखरूपत्वात्, अरण्यवासा हंसा मुक्तजीवा एकफलं सुखमदन्ति, सर्वथा सुखरूपस्यापवर्गस्याप्येतज्जन्यत्वात्। एवमेकमपि संसारवृक्षं बहुविध-नरकस्वर्गापवर्गप्रापकत्वाद्बहुरूपं मायाशक्तिसमुद्भूतत्वान्मायामयम्। इज्यैः पूज्यैः पूज्यैर्गुरुभिः कृत्वा यो वेदेति तद्विदः क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्वेदितारः।।२।।

भावानुवाद—अतएव क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ क्या हैं—इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—इन्द्रियोंके साथ भोगोंकी निवास-स्थली यह शरीर ही क्षेत्र अर्थात् संसाररूप वृक्षकी प्ररोहभूमि है। जो बद्धदशामें 'मैं' और 'मेरा' का अभिमान अपने (शरीर) सम्बन्धमें करते हैं, किन्तु मुक्तदशामें 'मैं' तथा 'मेरा' अभिमानसे रहित अर्थात् (शरीर) सम्बन्धसे रहित होते हैं, इन दोनों ही अवस्थाओंके जीवोंको 'क्षेत्रज्ञ' कहा जाता है। कृषकके समान वे ही क्षेत्रज्ञ तथा उस फलके भोक्ता हैं। श्रीमद्भागवत (११/१२/२३) में श्रीभगवान् कहते हैं—'*अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः। हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम्।।*' इसका अर्थ है—ग्रहण करनेके अर्थमें गृध्र (लालची) अर्थात् ग्रामेचर बद्धजीव इस संसाररूप वृक्षके एक फल—दुःखका भोजन करते हैं, स्वर्गादि भी परिणाममें दुःखकर ही हैं; अन्य प्रकारके अरण्यवासी हंसके समान मुक्त जीव अपवर्गरूप अन्य फल—सुखका भोजन करते हैं, क्योंकि अपवर्ग सर्वथा सुखस्वरूप है। इस प्रकार एक ही संसार-वृक्ष अनेक प्रकारके स्वर्ग, नरक, अपवर्गादिको प्राप्त करानेवाला होनेके कारण बहुरूप है। माया शक्तिसे उत्पन्न होनेके कारण यह मायामय है। पूज्य गुरुका वरणकर जो इस रहस्यको जानते हैं, वे ही 'क्षेत्र' और 'क्षेत्रज्ञ' के ज्ञाता हैं।।२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुनके प्रश्नोंको सुनकर भगवान् श्रीकृष्ण कह रहे हैं—बद्ध जीवोंके भोगायतन (विषयोंको भोगने योग्य) प्राण तथा इन्द्रियोंके साथ इस शरीरको क्षेत्र कहते हैं। जो इस देहको बद्ध अवस्थामें

भोगसाधक तथा मोक्षसाधकके रूपमें जानता है, दोनों अवस्थाओंमें अवस्थित उस जीवको ही क्षेत्रज्ञ कहा जाता है, किन्तु इस देहमें आत्मबुद्धि रखनेवाले जीव देहके तत्त्वको नहीं जानते हैं, इसलिए वे क्षेत्रज्ञ नहीं कहलाते—
'शरीरात्मावादी तु क्षेत्रज्ञो न,—क्षेत्रत्वेन तज्ज्ञानाभावात्' (श्रीबलदेव)

जो लोग इस शरीरको ही 'मैं' मानकर इसे केवल भोगसाधक समझते हैं, वे लोग जड़ीय अभिमानमें प्रमत्त होकर संसारमें बद्ध होते हैं। वे जन्म-जन्मान्तरों तक दुःख ही प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो प्राकृत अभिमानसे रहित होकर मनुष्य शरीरमें रहकर हरिभजन करते हैं, वे क्रमशः मोक्षसुख और तदनन्तर भगवत्-सेवानन्द प्राप्तकर कृतकृत्य हो जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी इस विचारकी पुष्टि की गई है—

'अदन्ति चैकं फलमस्य गृध्रा ग्रामेचरा एकमरण्यवासाः।
हंसा य एकं बहुरूपमिज्यैर्मायामयं वेद स वेद वेदम्।।'

(श्रीमद्भा. ११/१२/२३)

अर्थात् कामी गृहस्थ इसके दुःखरूप फलको और हंस अर्थात् विवेकी संन्यासी इसके सुखरूप फलका आस्वादन किया करते हैं।

"भगवान्ने कहा—हे अर्जुन! मैंने परम रहस्यस्वरूप भक्तितत्त्वको स्पष्टरूपसे समझानेके लिए पहले आत्माके 'स्वरूप' एवं बद्ध जीवोंके कर्मसमूहकी व्याख्या की। निरुपाधिक भक्तिके स्वरूपको भी बताया। उसमें ज्ञान, कर्म तथा भक्तिरूप त्रिविध अभिधेयका विचार समाप्त हुआ। अब विज्ञान-विचार द्वारा ज्ञान तथा वैराग्यकी विशेष व्याख्या कर रहा हूँ, जिसे श्रवणकर निरुपाधिक भक्तितत्त्वमें तुम्हारी अधिकतर दृढ़ता होगी। जिस समय मैंने ब्रह्माको भागवत-शास्त्रके मूल चतुःश्लोकीका उपदेश दिया था, उस समय भी *'ज्ञानं परमगुह्यं मे यद्विज्ञान समन्वितम्। सरहस्यं तदङ्ग्च्च गृहाण गदितं मया।।'*—इस वाक्य द्वारा ज्ञान, विज्ञान, रहस्य और तदङ्ग—इन चार विषयोंका उपदेश दिया था। इन चारों विषयोंको भलीभाँति न समझनेसे रहस्योदय नहीं होता है। अतएव तुम्हें भी विज्ञान उपदेशपूर्वक रहस्योपयोगिनी बुद्धि अर्पित करता हूँ। विशुद्ध भक्तिके उदित होनेपर अहैतुकी ज्ञान और वैराग्य सहज ही उदित होते हैं। तुम भक्तिका आचरण करते हुए इन दो आनुषङ्गिक फलोंका अनुभव करो। हे कौन्तेय! इस शरीरका ही नाम 'क्षेत्र' है, जो इस क्षेत्रसे अवगत होते हैं, वे ही 'क्षेत्रज्ञ' हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२।।

क्षेत्रज्ञञ्चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोर्ज्ञानं यत्तज्ज्ञानं मतं मम।।३।।

अन्वय—भारत (हे भारत!) सर्वक्षेत्रेषु (समस्त क्षेत्रोंमें) माम् च अपि (मुझे ही) क्षेत्रज्ञम् (क्षेत्रज्ञ) विद्धि (जानो) क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः (देहरूप क्षेत्र तथा जीव और ईश्वररूप क्षेत्रज्ञका) यत् ज्ञानम् (जो तत्त्वज्ञान है) तत् ज्ञानम् (वही ज्ञान) मम मतम् (मेरा अभिमत है)।।३।।

अनुवाद—हे भारत! समस्त क्षेत्रोंमें मुझे ही क्षेत्रज्ञ जानो। देहरूप क्षेत्र तथा जीव और ईश्वररूप क्षेत्रज्ञका जो तत्त्वज्ञान है, मेरे मतमें वही ज्ञान है।।३।।

श्रीविश्वनाथ—एवं क्षेत्रज्ञानाज्जीवात्मनः क्षेत्रज्ञत्वमुक्तम्, परमात्मनस्तु ततोऽपि कात्स्न्र्येन सर्वक्षेत्रज्ञत्वात् क्षेत्रज्ञत्वमाह—क्षेत्रज्ञमिति। सर्वक्षेत्रेषु नियन्तृत्वेन स्थितं मां परमात्मानं क्षेत्रज्ञं विद्धि। जीवानां प्रत्येकमेकैकक्षेत्रज्ञानां तदपि न कृत्स्नम्। ममत्वेकस्यैव सर्वक्षेत्रज्ञत्वं कृत्स्नमेवेति विशेषो ज्ञेयः। किं ज्ञानमित्यपेक्षायामाह—क्षेत्रेण सह क्षेत्रज्ञयोर्जीवात्मपरमात्मनोर्यज्ज्ञानं क्षेत्रजीवात्मपरमात्मनां यज्ज्ञानमित्यर्थः। तदेव ज्ञानं मम मतं सम्मतं च। त्र *"उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः"* इत्युत्तरग्रन्थविरोधात् व्याख्यान्तरेणैकात्मवादपक्षो नानु कर्त्तव्यः।।३।।

भावानुवाद—इस प्रकार क्षेत्रज्ञानके कारण जीवात्माका क्षेत्रज्ञत्व बताया गया, किन्तु उससे भी पूर्णरूपसे सभी क्षेत्रोंको जाननेके कारण परमात्माका क्षेत्रज्ञत्व बताया जा रहा है—'क्षेत्रज्ञम्' इत्यादि। श्रीभगवान् कहते हैं—"सभी क्षेत्रोंमें नियन्ताके रूपसे स्थित मुझ परमात्माको क्षेत्रज्ञके रूपमें जानो। जीवसमूह एक-एक क्षेत्रका क्षेत्रज्ञ है और वह भी सम्पूर्ण नहीं है। किन्तु मैं अकेले ही सभी क्षेत्रोंको सम्पूर्णरूपसे जाननेवाला हूँ, इसे ही मेरी विशेषता समझो।" ज्ञान क्या है? इस प्रश्नकी अपेक्षामें कहते है—"क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा और परमात्माका जो ज्ञान है अर्थात् क्षेत्र, जीवात्मा और परमात्माके ज्ञानको ही ज्ञान कहते हैं। वही ज्ञान मेरे सम्मत है।" किन्तु, दोनों पुरुषों (क्षेत्रज्ञ) में से उत्तम पुरुषको परमात्मा कहा जाता है। इस ग्रन्थके उत्तर विभाग (गीता १५/१७) में कहे गए वाक्यसे विरोधाभास होनेके कारण एकात्मवाद-व्याख्या अनुकरणीय नहीं है।।३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पिछले श्लोकमें 'क्षेत्रज्ञ' शब्दसे देहमें अवस्थित जीव या देहीका बोध होनेपर भी प्रस्तुत श्लोकमें श्रीभगवान् सर्व अन्तर्यामी,

सर्वेश्वर, सर्वनियन्ता तथा परमात्माके रूपमें अपनेको ही सम्पूर्ण क्षेत्रज्ञ बता रहे हैं, जीवको नहीं। श्रीबलदेव विद्याभूषणकी टीकाका सार इस प्रकार है—"जीवसमूह अपने भोग और मोक्षके साधनस्वरूप अपने अपने क्षेत्रका ज्ञान प्राप्तकर क्षेत्रज्ञ होनेपर भी प्रजाकी भाँति इस शरीरमें अवस्थित रहते हैं, किन्तु मैं अकेला उन सबका नियामक और भरण-पोषण करनेवालेके रूपमें सभी क्षेत्रोंको जाननेवाला सम्पूर्ण क्षेत्रज्ञ अर्थात् राजाकी भाँति अवस्थित रहता हूँ।" स्मृतिमें भी देखा जाता है—

'क्षेत्राणि हि शरीराणि बीजं चापि शुभाशुभे।
तानि वेत्ति स योगात्मा ततः क्षेत्रज्ञ उच्यते॥'

अर्थात्, सम्पूर्ण शरीर ही क्षेत्रस्वरूप है और शुभ-अशुभ कर्म उस शरीरके बीज अर्थात् कारणस्वरूप हैं। वे योगात्मा पुरुष सभी क्षेत्रों अर्थात् शरीरोंके तत्त्वसे अवगत हैं, इसीलिए वे पूर्ण क्षेत्रज्ञ कहे जाते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा देखा जाता है—

'क्षेत्रज्ञाय नमस्तुभ्यं सर्वाध्यक्षाय साक्षिणे।' (श्रीमद्भा. ८/३/१३)

इस श्लोककी टीकामें श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुर कहते हैं—

'क्षेत्रं देहद्वयं तत्त्वेन जानातीति क्षेत्रज्ञोऽन्तर्यामी।'

अर्थात्, स्थूल और सूक्ष्म शरीरके तत्त्वको जाननेवाले अन्तर्यामीको क्षेत्रज्ञ कहते हैं। और भी कहा गया है—*'क्षेत्रज्ञः सर्वभूतानामिति'* (श्रीमद्भा. ८/१७/११) अर्थात् सभी भूतोंको जाननेवालेको क्षेत्रज्ञ कहते हैं।

श्रीकृष्णके कथनका यह तात्पर्य है कि देहरूप क्षेत्र और उसका ज्ञाता—दोनों अवस्थाओंमें अवस्थित जीवात्मा तथा सर्वान्तर्यामी, मूल क्षेत्रज्ञ परमात्मा—इनका ज्ञान ही यथार्थ ज्ञान है। इनमें से परमात्मा स्वरूपतः क्षर अर्थात् बद्धजीव और अक्षर अर्थात् मुक्त जीवसे भिन्न और उनसे श्रेष्ठ हैं। इसलिए जीवात्मा और परमात्मा एक ही हैं—यह विचार कपोलकल्पित और शास्त्रविरुद्ध है। *'नित्यो-नित्यानाम् चेतनश्चेतनानाम्'*—श्रुतिके इस मन्त्रमें भी समस्त नित्य जीवरूप चेतनाओंमें परमात्माको श्रेष्ठ तथा सबका संचालक और नियामक बताया गया है। गीतामें सर्वत्र ही इसी सिद्धान्तकी पुष्टि देखी जाती है। श्रीकृष्णने भी अर्जुनको यही बताया है कि जीव होनेके कारण तुम इस तथ्यको पुनः पुनः भूल जाते हो, किन्तु, परमेश्वर होनेके कारण मैं कभी नहीं भूलता। *'ममैवांशो जीवभूतः सनातनः'* के अनुसार जीव भगवान्का एक क्षुद्र अंश है। किन्तु, यह अंश सनातन है, वह किसी भी अवस्थामें भगवान्से मिलकर एकाकार

नहीं हो सकता। यदि कहो कि अज्ञानताके द्वारा ब्रह्म ही जीव हुआ है एवं मुक्त होनेपर वह ब्रह्म ही है, तो यह कहना भी युक्ति, तर्क और शास्त्रके अनुसार असंगत है, क्योंकि, परब्रह्म समस्त अवस्थाओंमें ज्ञानस्वरूप रहता है, अज्ञान कभी भी उसे स्पर्श नहीं कर सकता—*'सत्यं ज्ञानमनन्तम् ब्रह्म'।* (श्रुति) परब्रह्म कभी भी मायाके वशीभूत अज्ञानी नहीं होते। हजारों श्रुतिमन्त्र इसके प्रमाण हैं। इसलिए इस भौतिक शरीरमें दो क्षेत्रज्ञ हैं—एक जीवात्मा तथा दूसरा परमात्मा। परमात्मा भिन्न-भिन्न शरीरोंमें अवस्थित भिन्न-भिन्न जीवात्मरूप क्षेत्रज्ञोंके भी नियामक, संचालक, अन्तर्यामी और साक्षीस्वरूप हैं। ये दोनों कदापि एक नहीं हैं।

"क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके विचारसे तीन तत्त्व देखोगे। उन तीनों तत्त्वोंके नाम हैं—ईश्वर, जीव और जड़। जिस प्रकार एक-एक शरीरमें जीवात्मरूप एक-एक क्षेत्रज्ञ है, उसी प्रकार मुझे ही समस्त जड़जगत्में प्रधान क्षेत्रज्ञके रूपमें 'ईश्वर' के नामसे जानो। अपनी ऐशी शक्ति द्वारा मैं परमात्माके रूपमें सर्वक्षेत्रज्ञ हूँ। इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका विचारकर जिन्हें तीन तत्त्वोंका बोध हो गया है, उनका ज्ञान ही विज्ञान है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३।।

तत् क्षेत्रं यच्च यादृक् च यद्विकारि यतश्च यत्।
स च यो यत्प्रभावश्च तत्समासेन मे शृणु।।४।।

अन्वय—तत् क्षेत्रम् (वह क्षेत्र) यत् च (जो और) यादृक् (जैसा है) च (और) यद्विकारी (जिन विकारोंवाला है) यतः यत् च (और जिससे जिस कारणसे उत्पन्न हुआ है) सः च (एवं वह क्षेत्रज्ञ) यः (जिस प्रकार स्वरूपवाला) यत् प्रभावः च (और जिस प्रभाववाला है) शृणु (श्रवण करो।।४।।

अनुवाद—वह क्षेत्र क्या है, वह कैसा है, उसका विकार कैसा है, वह किस प्रयोजनसे, किससे उत्पन्न हुआ है एवं वह क्षेत्रज्ञ जिस स्वरूपवाला तथा प्रभाववाला है, ये सब मुझसे संक्षेपमें सुनो।।४।।

श्रीविश्वनाथ—संक्षेपेणोक्तमर्थं विवरितुमारभते—तत् क्षेत्रं शरीरं यच्च महाभूतप्राणेन्द्रियादि संघातरूपम्, यादृक् यादृशमिच्छादिधर्मकम्, यद्विकारि वैरिप्रियादिविकारैर्युक्तम्, यतश्च प्रकृतिपुरुषसंयोगादुद्भूतम्, यदिति यैः स्थावरजङ्गमादिभेदैर्भिन्नमित्यर्थः। स क्षेत्रज्ञो जीवात्मा परमात्मा च। यत् तदिति नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चेति 'एकशेषः'। समासेन संक्षेपेण।।४।।

भावानुवाद—पहले संक्षेपमें कहे गए अर्थका विस्तारपूर्वक वर्णन आरम्भ कर रहे हैं—उसका क्षेत्र अर्थात् शरीर क्या है? वह महाभूत प्राण तथा इन्द्रियोंका संघातरूप है। वह जिस प्रकार इच्छा आदि धर्मयुक्त है, वैरी-प्रिय आदि विकारयुक्त है और प्रकृति तथा पुरुषके संयोगसे उत्पन्न है, स्थावर-जङ्गम आदि रूपमें भिन्न है, उन्हें मुझसे सुनो। वह क्षेत्रज्ञ जीवात्मा तथा परमात्मा है। यहाँ 'क्षेत्र' के लिए क्लीव लिंगका व्यवहार होनेके कारण 'क्षेत्रज्ञ' के लिए भी जो क्लीव लिंगका व्यवहार हुआ है, वह केवल व्याकरणगत है।।४।।

ऋषिभिर्बहुधा गीतं छन्दोभिर्विविधैः पृथक्।
ब्रह्मसूत्रपदैश्चैव हेतुमद्भिर्विनिश्चितैः।।५।।

अन्वय—ऋषिभिः (ऋषियोंके द्वारा) बहुधा (विविध प्रकारसे) गीतम् (वर्णित हुआ है) विविधैः (विभिन्न) छन्दोभिः (वेदवाक्यों द्वारा) पृथक् (पृथक् भावसे) हेतुमद्भिः च (एवं युक्तिपूर्ण) विनिश्चितैः (निश्चित सिद्धान्तयुक्त) ब्रह्मसूत्रपदैः एव (वेदान्तके वाक्यसमूह द्वारा भी) [गीतम्—कीर्त्तित हुआ है]।।५।।

अनुवाद—वह तत्त्व ऋषियोंके द्वारा अनेक प्रकारसे वर्णित हुआ है, विविध वेदवाक्यों द्वारा पृथक्-पृथक्रूपसे कीर्त्तित हुआ है एवं युक्तिपूर्ण, निश्चित सिद्धान्तयुक्त वाक्योंमें ब्रह्मसूत्रके पदों द्वारा भी कीर्त्तित हुआ है।।५।।

श्रीविश्वनाथ—कैर्विस्तरेणोक्तस्यायं संक्षेपः? इत्यपेक्षायामाह—ऋषिभि-र्वशिष्ठादिभिर्योगशास्त्रेषु, छन्दोभिर्वेदैश्च, ब्रह्मसूत्राणि—"*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*" इत्यादीनि तान्येव सूत्राणि, ब्रह्म पद्यते ज्ञायते एभिरिति तानि तथा तैः कीदृशैर्हेतुमद्भिः,"*ईक्षतेर्नाशब्दम्*", "*आनन्दमयोऽभ्यासात्*"इति युक्तिमद्भिर्विनिश्चितै-र्विशेषतो निश्चितार्थैः।।५।।

भावानुवाद—"किसने विस्तारपूर्वक इसका वर्णन किया है, जिसे मुझे आप संक्षेपमें सुना रहे हैं?"—अर्जुनके इस प्रश्नकी अपेक्षामें श्रीभगवान् कहते हैं—"वशिष्ठ आदिने योगशास्त्रोंमे इसका वर्णन किया है तथा 'छन्दोभिः' अर्थात् वेदोंमें इसका वर्णन है। ब्रह्मसूत्रमें '*अथातो ब्रह्मजिज्ञासा*' (ब्र. सू. १/१/१) इत्यादि सूत्रोंमें इसका वर्णन है। इनके द्वारा ब्रह्म निश्चित होता है, अतः इन्हें 'पद' कहा जाता है।" वह (ब्रह्म) कैसा है? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं कि यह हेतुकगण द्वारा '*इक्षतेर्नाशब्दम्*' (ब्र. सू. १/१/५) '*आनन्दमयोऽभ्यासात्*' (ब्र. सू. १/१/१२) इत्यादि निश्चित अर्थसमूहके द्वारा विशेषभावसे निरूपित हुआ है।।५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीकृष्णके द्वारा कथित क्षेत्र और क्षेत्रज्ञका तत्त्व सर्ववादी सम्मत है। वेद, उपनिषद्, ब्रह्मसूत्र आदि प्रामाणिक ग्रन्थोंमें उक्त सिद्धान्तका स्पष्टरूपमें प्रतिपादन किया गया है। वेद अपौरुषेय हैं। वे सर्वमान्य हैं। वेदोंके सार भागको उपनिषद् या वेदान्त कहते हैं। भगवत्-अवतार श्रीकृष्ण द्वैपायन वेदव्यासने वेदोंमें परस्पर विरोधाभास-सा दीखनेवाले वेदवाक्योंका समन्वयकर इसे सूत्ररूपमें लिखा, जो वेदान्तसूत्र कहलाता है। वेदान्तमें *'इक्षतेर्नाशब्दम्'* (ब्र. सू. १/१/५) *'आनन्दमयोऽभ्यासात्'* (ब्र. सू. १/१/१२) आदि सूत्रोंमें इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की गई है। *'इक्षतेर्नाशब्दम्'* का तात्पर्य है—ब्रह्मको देखा जा सकता है और उसको अनुभव किया जा सकता है, क्योंकि वह 'न अशब्दम्' अर्थात् शब्दसे अगोचर नहीं, बल्कि गोचर है। क्योंकि, *'शास्त्रयोनित्वात्'* (ब्र. सू. १/१/३) अर्थात् ब्रह्म शास्त्रोंके द्वारा जाना और अनुभव किया जाता है। ब्रह्म वेदोंका प्रतिपाद्य है, अतः वह 'अशब्द' अर्थात् शब्दातीत नहीं है। तो फिर उनका दर्शन कैसे होता है? इसके उत्तरमें आगे कहते हैं—*'आनन्दमयोऽभ्यासात्'* अर्थात् परमानन्दमय ब्रह्मके अनुशीलन अर्थात् भक्तिके अनुशीलनसे उसका दर्शन और अनुभव किया जा सकता है। इनके द्वारा परब्रह्मका पूर्ण क्षेत्रज्ञत्व सिद्ध होता है तथा देखनेवाले या अनुभव करनेवाले या आनन्दमय पुरुषका अभ्यास करनेवाले अर्थात् भक्ति करनेवाले जीवकी आंशिक या गौण क्षेत्रज्ञता सिद्ध होती है। साथ ही ब्रह्मसूत्र (२/३/१६) में ही *'नात्माश्रुतेर्नित्यत्वाच्च ताभ्यः'*—इस सूत्रके द्वारा जीवोंको आंशिक क्षेत्रज्ञ तथा *'परात्तु तच्छ्रुतेः'* (ब्र. सू. २/३/३९) के द्वारा परब्रह्मको जीवात्मासे श्रेष्ठ स्वीकार करते हुए पूर्ण क्षेत्रज्ञ माना गया है।

इस श्लोकमें ऋषियोंके द्वारा अर्थात् वशिष्ठ आदि ऋषियोंके द्वारा लिखित ग्रन्थों तथा छन्दोंका तात्पर्य वेदससमूहसे है। ऋजु शाखामें ऐसा कहा गया है—*'तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः सम्भूतः'* इत्यादिना *'ब्रह्म पुच्छं प्रतिष्ठा'* इत्यस्तेनान्नमयं-प्राणमय-मनोमय-विज्ञानमयानन्दमयाः पञ्च पुरुषाः पठितास्तेष्वन्नमयादित्रयं जड क्षेत्रस्वरूपं, ततो भिन्नो विज्ञानमयो जीवस्तस्य भोक्तेति जीवक्षेत्रज्ञस्वरूपं, तस्माच्च भिन्नः सर्वान्तर आनन्दमय इतीश्वरक्षेत्रज्ञस्वरूपमुक्तम्।* (तै. उ. २/१/२)

अर्थात् अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय—इन पाँचों पुरुषोंमें अन्नमय, प्राणमय और मनोमय—ये तीनों जड़-क्षेत्रस्वरूप

हैं। इनसे भिन्न विज्ञानमय पुरुष जीव है, जो शरीररूप क्षेत्रका ज्ञाता अर्थात् गौण क्षेत्रज्ञ है। इन दोनोंसे भिन्न सबके अन्तर्यामी आनन्दमय पुरुष हैं। ये आनन्दमय पुरुष ही परमेश्वर, सर्वनियन्ता, साक्षी एवं मूल क्षेत्रज्ञ हैं।।५।।

महाभूतान्यहंकारो बुद्धिरव्यक्तमेव च।
इन्द्रियाणि दशैकञ्च पञ्च चेन्द्रियगोचराः।।६।।
इच्छा द्वेषः सुखं दुःखं संघातश्चेतना धृतिः।
एतत् क्षेत्रं समासेन सविकारमुदाहृतम्।।७।।

अन्वय—महाभूतानि (आकाश आदि महाभूत) अहङ्कारः (अहङ्कार) बुद्धिः (बुद्धि) अव्यक्तम् एव च (और अव्यक्त प्रकृति) दश इन्द्रियाणि (दश इन्द्रियाँ) एक च (और एक मन) पञ्च च इन्द्रियगोचराः (शब्द-स्पर्शादि पाँच इन्द्रियोंके विषय) इच्छा (इच्छा) द्वेषः (द्वेष) सुखम् (सुख) दुःखम् (दुःख) संघातः (शरीर) चेतना (ज्ञानात्मिका मनोवृत्ति) धृतिः (धैर्य) सविकारम् (विकारसहित) एतत् क्षेत्रम् (यह क्षेत्र) समासेन (संक्षेपमें) उदाहृतम् (कहा गया)।।६-७।।

अनुवाद—पाँच महाभूत, अहङ्कार, बुद्धि, प्रकृति, एकादश इन्द्रियाँ, शब्द-स्पर्शादि पाँच इन्द्रियोंके विषय (तन्मात्राएँ); इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, शरीर, ज्ञान और धैर्य—इन विकारोंके साथ संक्षेपमें क्षेत्रके विषयमें कहा गया।।६-७।।

श्रीविश्वनाथ—तत्र क्षेत्रस्य स्वरूपमाह-महाभूतान्याकाशादीन्यहङ्कारस्ततकारणम्, बुद्धिर्विज्ञानात्मकं महत्तत्त्वमहङ्कारकारणमव्यक्तं प्रकृतिर्महत्तत्त्वकारणमिन्द्रियाणि श्रोत्रादीनि दशैकञ्च मनः, इन्द्रियगोचराः पञ्च शब्दादयो विषयास्तदेवं चतुर्विंशतितत्त्वात्मकमिति। इच्छादयः प्रसिद्धाः, संघातः पञ्चमहाभूतपरिणामो देहः, चेतना ज्ञानात्मिका मनोवृत्तिर्धृतिर्धैर्यम् इच्छादयश्चैते मनोधर्माः एव न त्वात्मधर्माः। अतः क्षेत्रान्तः पातिन एव उपलक्षणञ्चैतत् सङ्कल्पादीनाम्—तथा च श्रुतिः—"कामः सङ्कल्पो विचिकित्सा श्रद्धाधृतिर्ह्रीर्धीर्भीरित्येतत् सर्व मन एव" इति अनेन यादृगिति प्रतिज्ञाताः क्षेत्रधर्मा दर्शिताः। एतत् क्षेत्रं सविकारं जन्मादिषड्विकारसहितम्।।६-७।।

भावानुवाद—तत्पश्चात् श्रीभगवान् क्षेत्रका स्वरूप बता रहे हैं—क्षिति, जल, तेज, वायु और आकाश, इनका कारण अहङ्कार, विज्ञानात्मिका बुद्धि, अहङ्कारका कारण महत्-तत्त्व, महत्-तत्त्वका कारण प्रकृति, कान आदि दश इन्द्रियाँ तथा एक मन, इन्द्रियोंके गोचर होने योग्य शब्दादि पाँच विषयसमूह—ये ही चौबीस तत्त्व कहे गए। इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, पञ्च महाभूतोंका परिणाम शरीर, ज्ञानमय मनोवृत्ति चेतना, धैर्य—ये सब मनोधर्म हैं, आत्मधर्म नहीं। अतएव ये लक्षण क्षेत्रके ही अन्तर्गत हैं

एवं इनके द्वारा सङ्कल्प आदि भी उपलक्षित होते हैं। श्रुतिमें कहा गया है—"काम, सङ्कल्प, सन्देह, श्रद्धा, अश्रद्धा, धैर्य, विरक्ति, लज्जा, बुद्धि, भय—ये सभी मन हैं।" इनके द्वारा पूर्वकथित क्षेत्रके धर्म प्रदर्शित हुए। 'एतद् क्षेत्रम् सविकारम्'—यह क्षेत्र जन्मादि छः विकारोंसे युक्त है।।६-७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वशिष्ठ, देवल, असित आदि ऋषियोंके वचनोंसे, वेदमन्त्रोंसे तथा वेदान्तसूत्रके द्वारा यहा निर्णीत होता है कि मिट्टी, जल, अग्नि, वायु और आकाश—ये पञ्च महाभूत, अहङ्कार, महत्-तत्त्व तथा महत्-तत्त्वका कारण प्रकृति, नेत्र, कर्ण, नासिका, जिह्वा और त्वचा, वाक्, पैर, पाणि, गुदा और उपस्थ—ये दस बाह्य इन्द्रियाँ और मनरूपी एक अन्तः इन्द्रिय तथा रूप, रस, गन्ध, स्पर्श और शब्द ये पाँच विषय—ये कुल चौबीस प्राकृत तत्त्व ही क्षेत्र हैं। इन चौबीस तत्त्वोंका अनुशीलन करनेपर यह जाना जा सकता है कि क्षेत्र किसे कहते हैं तथा क्यों? इच्छा, द्वेष, सुख, दुःख, संघात अर्थात् पञ्च महाभूतोंके परिणामस्वरूप देहके समस्त व्यापार, चिदाभासरूप मनकी वृत्ति तथा धृति—ये क्षेत्रके विकार हैं, अतएव इन्हें भी क्षेत्रके अन्तर्गत समझना चाहिए।

पाठकोंकी सुविधाके लिए नीचे चौबीस तत्त्वोंकी तालिका दी जा रही है—

चौबीस तत्त्वोंकी तालिका

।।६-७।।
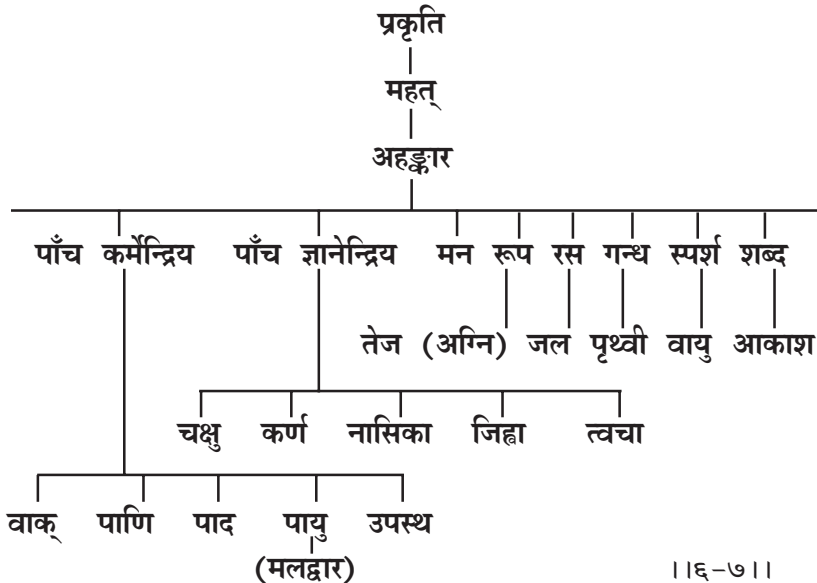
अमानित्वमदम्भित्वमहिंसा क्षान्तिरार्जवम्।
आचार्योपासनं शौचं स्थैर्यमात्मविनिग्रहः।। ८।।
इन्द्रियार्थेषु वैराग्यमनहङ्कार एव च।
जन्ममृत्युजराव्याधिदुःखदोषानुदर्शनम् ।। ९।।
असक्तिरनभिष्वङ्गः पुत्रदारगृहादिषु।
नित्यञ्च समचित्तत्वमिष्टानिष्टोपपत्तिषु।।१०।।
मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी।
विविक्तदेशसेवित्वमरतिर्जनसंसदि ।।११।।
अध्यात्मज्ञाननित्यत्वं तत्त्वज्ञानार्थदर्शनम्।
एतज्ज्ञानमिति प्रोक्तमज्ञानं यदतोऽन्यथा।।१२।।

अन्वय—अमानित्वम् (मानशून्यता) अदम्भित्वम् (दम्भहीनता) अहिंसा (अहिंसा) क्षान्तिः (क्षमा) आर्जवम् (सरलता) आचार्योपासनम् (सद्गुरुकी सेवा) शौचम् (बाह्य और अन्तःकरणकी पवित्रता) स्थैर्यम् (चित्तकी स्थिरता) आत्मविनिग्रहः (देह और इन्द्रियोंका संयम) इन्द्रियार्थेषु वैराग्यम् (शब्द-स्पर्शादि विषयभोगोंसे वैराग्य) अनहङ्कारः एव च (एवं अहङ्कार-शून्यता) जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःखदोषानुदर्शनम् (जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि इत्यादिमें दुःखरूप दोषका पुनः पुनः चिन्तन) पुत्र-दार-गृहादिषु (पुत्र, स्त्री, गृह आदिमें) असक्तिः (प्रीतिका त्याग) अनभिष्वङ्गः (दूसरोंके सुख-दुःखमें आवेशका अभाव) इष्टानिष्टोपपत्तिषु (प्रिय और अप्रिय विषयकी प्राप्तिमें) नित्यम् (सदा) समचित्तत्वम् च (चित्तका सम रहना) मयि च (और मुझमें) अनन्ययोगेन (ऐकान्तिक निष्ठायोगसे) अव्यभिचारिणी (अव्यभिचारिणी) भक्तिः (भक्ति) विविक्तदेशसेवित्वम् (निर्जन स्थानमें वास करनेका स्वभाव) जनसंसदि (विषयासक्त मनुष्योंके संघमें) अरतिः (अरुचि) अध्यात्मज्ञाननित्यत्वम् (तत्त्वज्ञानके प्रयोजन मोक्षकी आलोचना) इति एतत् (ये सभी) ज्ञानम् (ज्ञान) प्रोक्तम् (कहे गए) यत् (जो) अतः (इनसे) अन्यथा (विपरीत हैं) [तत्—वे] अज्ञानम् (अज्ञान हैं)।।८-१२।।

अनुवाद—मानशून्यता, दम्भहीनता, अहिंसा, क्षमा, सरलता, सद्गुरुकी सेवा, अन्दर-बाहरकी पवित्रता, चित्तकी स्थिरता, देह-इन्द्रियोंका संयम, शब्द-स्पर्शादि विषयभोगोंसे वैराग्य, अहङ्कारशून्यता, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख इत्यादिमें

दुःखरूप दोषका अनुदर्शन, पुत्र–स्त्री–गृहादिमें आसक्तिका त्याग और दूसरेके सुख–दुखमें आवेशका अभाव, प्रिय–अप्रिय वस्तुकी प्राप्तिमें चित्तका सम रहना और मुझमें ऐकान्तिक निष्ठापूर्वक अव्यभिचारिणी भक्ति, निर्जनवासमें प्रीति, विषयासक्त मनुष्योंके संघमें अरुचि, आत्मविषयक ज्ञानकी नित्य आलोचना, त त्त्वज्ञानके प्रयोजन मोक्षकी आलोचना—ये सब ज्ञान कहे गए हैं और जो इनके विपरीत हैं, वे अज्ञान हैं।।८–१२।।

श्रीविश्वनाथ—उक्तलक्षणात् क्षेत्राद्विविक्ततया ज्ञेयौ जीवात्मपरमात्मानौ क्षेत्रज्ञौ विस्तरेण वर्णयिष्यन् तज्ज्ञानस्य साधनान्यमानित्वादीनि विंशतिमाह पञ्चभिः। अत्राष्टादश भक्तानां ज्ञानिनाञ्च साधारणानि किन्तु भक्तैः *"मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी"* इत्येकमेव भगवदनुभवसाधनत्वेन यत्नतः क्रियते। अन्यानि सप्तदशोक्ताभ्यासवतां तेषां स्वत एवोत्पद्यन्ते न तु तेषु यत्न इति साम्प्रदायिकाः। अन्तिमे द्वे तु ज्ञानिनामसाधारणे एव। अत्रामानित्वादीनि विस्पष्टार्थानि। शौचं वाह्यमाभ्यन्तरञ्च तथा च स्मृतिः—"शौचञ्च द्विविधं *प्रोक्तं वाह्यमाभ्यन्तरं तथा। मृज्जलाभ्यां स्मृतं वाह्यं भावशुद्धिस्तथान्तरम्।।"* इति, आत्मविनिग्रहः शरीरसंयमः; जन्मादिषु दुःखरूपस्य दोषस्यानुदर्शनं पुनः पुनः पर्यालोचनम्; असक्तिः पुत्रादिषु प्रीतित्यागोऽनभिष्वङ्गः पुत्रादीनां सुखेदुःखे चाहमेव सुखी दुःखीत्यध्यासाभाव, इष्टानिष्टयोर्व्यवहारिकयोरुपपत्तिषु प्राप्तिषु नित्यं सर्वदा समचित्तत्वम्; मयि श्यामसुन्दराकारेऽनन्ययोगेन ज्ञानकर्मतपोयोगाद्यमिश्रणेन भक्तिः चकाराद्ज्ञानादि–मिश्रणप्राधान्येन च। आद्या भक्तैरनुष्ठेया, द्वितीया ज्ञानिभिरिति केचिदन्ये त्वनन्या भक्तिर्यथा प्रेम्णः साधनं तथा परमात्मानुभवस्यापीति ज्ञापनार्थमत्र षट्केऽप्युक्तिरिति भक्ता व्याचक्षते, ज्ञानिनस्त्वनन्येन योगेन सर्वात्मदृष्ट्येति। 'अव्यभिचारिणी'—प्रतिदिनमेव कर्त्तव्या, 'केनापि निवारयितुमशक्या' इति मधुसूदनसरस्वतीपादाः। आत्मानमधिकृत्य वर्त्तमानां ज्ञानमध्यात्मज्ञानम्, तस्य नित्यत्वं नित्यानुष्ठेयत्वं पदार्थशुद्धिनिष्ठत्वमित्यर्थः। तत्त्वज्ञानस्यार्थः प्रयोजनं मोक्षस्तस्य दर्शनं स्वाभीष्टत्वेनालोचनमित्यर्थः। एतद्विंशतिकं ज्ञानं साधारण्येन जीवात्म- परमात्मनोर्ज्ञानस्य साधनम्। असाधारणं परमात्मज्ञानं त्वग्रे वक्तव्यम्। ततोऽन्यथास्माद्विपरीतं मानित्वादिकम्।।८–१२।।

भावानुवाद—उपरोक्त पाँच श्लोकोंमें पूर्वोक्त क्षेत्रके लक्षणोंसे पृथक्‌रूपमें जानने योग्य क्षेत्रज्ञ अर्थात् जीवात्मा और परमात्माका विस्तारपूर्वक वर्णन करते हुए श्रीभगवान् मानशून्यता इत्यादि बीस साधन

कह रहे हैं। इनमें से अठारह गुण ज्ञानी तथा भक्त दोनोंके लिए सामान्य हैं, किन्तु *'मयि चानन्ययोगेन भक्तिरव्यभिचारिणी'*—भगवान्‌की इस उक्तिके अनुसार भगवत्-अनुभवके साधनके लिए यत्नपूर्वक एकनिष्ठा भक्ति करना भक्तोंका ही कर्त्तव्य है। कथित अव्यभिचारिणी भक्तिका अभ्यास करनेवाले भक्तोंके निकट अमानित्व आदि सत्तरह सद्‌गुण स्वतः उदित होते हैं, उन उन गुणोंको प्राप्त करनेके लिए यत्न नहीं करना पड़ता है, यही भक्त सम्प्रदायका विचार है। किन्तु, जो अन्तिम दो गुण हैं, वे ज्ञानियों के लिए असाधारण गुण हैं। इस श्लोकके 'अमानित्व' इत्यादि शब्दोंका अर्थ स्पष्ट ही है। 'शौचम्' का स्मृतिमें अर्थ है—अन्दर-बाहरकी शुद्धता। स्मृतिमें पाया जाता है—"बाह्य और अन्तःके भेदसे शौच दो प्रकारका है। मिट्टी और जल इत्यादिसे बाह्य शौच होता है तथा भावकी शुद्धताको अन्तःकरणका शौच कहा जाता है।" 'आत्मनिग्रह' का तात्पर्य है—शरीरका संयम। 'जन्म इत्यादिमें दुःखरूप दोषका अनुदर्शन' का अर्थ है—पुनः पुनः उसकी पर्यालोचना। 'असक्तिः' अर्थात् पुत्रादिमें प्रीतिका त्याग, 'अनभिष्वङ्गः' अर्थात् पुत्रादिके सुख-दुःखसे मैं सुखी अथवा दुःखी हूँ—इस प्रकारके आरोपका अभाव। 'इष्टानिष्टोपपत्तिषु' का अर्थ है—व्यवहारिक वस्तुकी उपपत्ति अथवा प्राप्तिमें सर्वदा समान भावका होना। 'मयि' का तात्पर्य है—श्यामसुन्दर आकारवाले मुझमें, 'अनन्ययोगेन'—ज्ञानयोग-तपयोग आदि द्वारा अमिश्र भक्ति। यहाँ 'च'-कार द्वारा ज्ञानमिश्रादि प्रधानीभूता भक्तिका भी बोध होता है। प्रथम प्रकारकी अनन्या भक्ति ही भक्तोंके द्वारा अनुष्ठेय है, दूसरे प्रकारकी भक्ति (प्रधानीभूता) ज्ञानियोंके लिए अवलम्बनीय है—ऐसा किसी किसी भक्तका मत है। भक्तगण कहते हैं-"अनन्या भक्ति जिस प्रकार प्रेमका साधन है, उसी प्रकार परमात्माके अनुभवके भी अनुकूल है।" इसी रहस्यको बतानेके लिए इस षट्कमें भी अव्यभिचारिणी भक्तिका माहात्म्य कीर्त्तित हुआ है। किन्तु, ज्ञानियोंके मतमें 'अनन्य योग' का अर्थ है—सर्वत्र आत्मदृष्टि होना और 'अव्यभिचारिणी' का अर्थ है—प्रतिदिन ही अनुष्ठेय। श्रीपाद मधुसूदन सरस्वती 'अव्यभिचारिणी' का तात्पर्य बताते हैं—"जिसका किसीसे निवारण न किया जा सके।" 'अध्यात्मज्ञानम्' का तात्पर्य है—आत्माका आश्रयकर विद्यमान ज्ञान, पदार्थकी शुद्धिके लिए यह नित्य अनुष्ठेय है। 'तत्त्वज्ञानर्थ दर्शनम्'—तत्वज्ञानके अर्थ अर्थात् प्रयोजन—मोक्षका दर्शन, अपना अभीष्ट जानकर उसकी आलोचना। ये

बीस ज्ञान साधारण भावसे जीवात्मा और परमात्माके ज्ञानके साधन हैं। असाधारण परमात्म-ज्ञान आगे बताया जाएगा। उपरोक्त लक्षणोंके विपरीत जो 'मानित्वादि' लक्षण हैं—वे अज्ञानके लक्षण हैं।।८-१२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"अमानित्व, दम्भहीनत्व, अहिंसा, क्षमा, सरलता, आचार्यकी उपासना अर्थात् गुरुसेवा, शौच, स्थिरता, आत्मनिग्रह, इन्द्रियोंके विषयोंसे वैराग्य, अहङ्कारशून्यता, जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि-दुःख इत्यादिका दोष-दर्शन, पुत्र आदिमें आसक्तिशून्यता, पुत्र आदिके सुख-दुःखमें उदासीनता, सर्वदा चित्तकी समभावावस्था, मुझमें अनन्या और अव्यभिचारिणी भक्ति, निर्जन स्थानमें अवस्थिति, जनाकीर्ण स्थानमें अरुचि, अध्यात्म-ज्ञानमें नित्यत्व बुद्धि, तत्त्वज्ञानमें प्रयोजनस्वरूप मोक्षका अनुसन्धान—अनभिज्ञ व्यक्तिगण इन बीस व्यापारकी 'क्षेत्रविकार' के रूपमें आशङ्का करते हैं। वस्तुतः ये प्रत्यक् ज्ञानस्वरूप हैं। इनका आश्रय करनेसे विशुद्ध तत्त्व लाभ होता है। ये क्षेत्रके विकार नहीं हैं, बल्कि 'क्षेत्रविकार-नाशक' औषधस्वरूप हैं। इन बीस व्यापारोंमें से मुझमें अनन्या और अव्यभिचारिणी भक्ति ही अवलम्बनीय है। अन्य उन्नीस व्यापार भक्तिके अवान्तर फलके रूपमें क्षेत्रकी शुद्धता और अन्तमें जीवके अशुद्ध क्षेत्रका नाशकर नित्यसिद्ध क्षेत्रका उदय कराते हैं। भक्तिदेवीके सिंहासनस्वरूप इन उन्नीस व्यापारोंको 'ज्ञान' अर्थात् 'स-विज्ञान ज्ञान' के रूपमें जानना चाहिए। इनके अतिरिक्त जो कुछ हैं, वे अज्ञान हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

समस्त प्रकारके साधनोंमें अनन्या और अव्यभिचारिणी भक्ति ही मुख्य है। भक्तिका आश्रय ग्रहण करनेपर उपर्युक्त साधन-गुणसमूह स्वयं ही उदित होते हैं। इसीलिए शुद्ध भक्त अनन्या भक्तिको ही स्वरूप-लक्षणके रूपमें ग्रहण करते हैं। ऐसा होनेपर तटस्थ लक्षणवाले गुणसमूह आनुषङ्गिक रूपमें प्रकाशित हो पड़ते हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसा कहा गया है—

'यस्यास्ति भक्तिर्भगवत्यकिञ्चना सर्वैर्गुणैस्तत्र समासते सुराः।
हरावभक्तस्य कुतो महद्गुणा मनोरथेनासति धावतो बहिः।।'

(श्रीमद्भा. ५/१८/१२)

अर्थात्, जिन पुरुषकी भगवान्‌में निष्काम भक्ति है, उनके हृदयमें समस्त देवता धर्म-ज्ञानादि सम्पूर्ण सद्गुणोंके सहित सदा निवास करते हैं। किन्तु जो भगवान्‌का भक्त नहीं है, उसमें महापुरुषोंके वे गुण कहाँसे आ सकते है? वह तो तुच्छ बाहरी विषयोंकी ओर ही दौड़ता रहता है।

ज्ञानी लोग सदाचार, अहिंसा, आत्मसंयम, निरहंकार इत्यादि सद्‌गुणोंका तो अभ्यास करते हैं, किन्तु श्रीभगवान्‌की अनन्या और अव्यभिचारिणी भक्तिका प्रयत्न नहीं करते है। यदि इनमें थोड़ी-बहुत भक्ति देखी जाती है, तो वह ज्ञान-सिद्धि और मुक्तिके लिए होती है, उसे गुणीभूता भक्ति ही समझना चाहिए, स्वरूपसिद्धा नहीं। अद्वैतवादी इसी श्रेणीमें आते हैं।।८-१२।।

ज्ञेयं यत्तत् प्रवक्ष्यामि यज्ज्ञात्वामृतमश्नुते।
अनादि मत्परं ब्रह्म न सत्तन्नासदुच्यते।।१३।।

अन्वय—यत् (जो) ज्ञेयम् (जानने योग्य है) यत् (जिसे) ज्ञात्वा (जानकर) अमृतम् (मोक्ष) अश्नुते (प्राप्त होता है) तत् (उसे) प्रवक्ष्यामि (प्रकृष्टरूपेण कहूँगा) तत् (वह) अनादि (नित्य) मत्परम् (मेरा आश्रित) ब्रह्म (ब्रह्म) न सत् (कार्यातीत) न असत् (कारणातीत) उच्यते (कहा जाता है)।।१३।।

अनुवाद—जो जानने योग्य है तथा जिसे जानकर मोक्ष प्राप्त होता है, उसे भलीभाँति कहूँगा—वह आदिरहित, मेरा आश्रित ब्रह्म कार्यातीत और कारणातीत कहा जाता है।।१३।।

श्रीविश्वनाथ—एवं साधनैर्ज्ञेयो जीवात्मा परमात्मा च तत्र परमात्मैव सर्वगतो 'ब्रह्म' शब्देनोच्यते। तच्च ब्रह्म 'निर्विशेष' 'सविशेषञ्च' क्रमेण ज्ञानीभक्तयोरुपास्यम्। देहगतोऽपि चतुर्भुजत्वेन ध्येयः 'परमात्म'—शब्देनोच्यते। तत्र प्रथमं ब्रह्माह—ज्ञेयमिति। अनादि न विद्यते आदिर्यस्य मत्स्वरूपत्वान्नित्यमित्यर्थः। 'मत्परम्' अहमेव पर उत्कृष्ट आश्रयो यस्य तत् 'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' इति मदग्रिमोक्तेः। तदेव किमित्यपेक्षायामाह—तद् ब्रह्म—न सत्, नाप्यसत् कार्यकारणातीतमित्यर्थः।।१३।।

भावानुवाद—इस प्रकार साधनसमूहसे जीवात्मा और परमात्मा ज्ञेय हैं। इनमें परमात्माको ही सर्वगत ब्रह्म शब्दसे लक्ष्य किया जाता है एवं वे ब्रह्म निर्विशेष और सविशेषके भेदसे क्रमशः ज्ञानी और भक्तके उपास्य हैं। देहगत होनेपर भी चतुर्भुज रूपमें ध्येय होनेके कारण वे परमात्मा कहलाते हैं। इनमें से सर्वप्रथम ब्रह्मके विषयमें बताया जा रहा है—'ज्ञयेम्' इत्यादि। अनादिका तात्पर्य है—जिसका आदि नहीं है, मेरा स्वरूप होनेके कारण जो नित्य है। 'मत्परं' का तात्पर्य है—मैं ही जिसका 'पर' अर्थात्

उत्कृष्ट आश्रय हूँ, जैसा कि बादमें भी बताया जाएगा—*'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाह'* अर्थात् मैं ही ब्रह्मका आश्रय हूँ। 'किन्तु, वह ब्रह्म क्या है?'—इस प्रश्नकी अपेक्षामें कहते हैं—वह ब्रह्म सत् भी नहीं है तथा असत् भी नहीं है अर्थात् कार्य-कारणसे अतीत है।।१३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीभगवान् ज्ञानके साधनोंका वर्णनकर वर्त्तमान श्लोकमें उस ज्ञानके द्वारा साध्य, ज्ञेय परतत्त्वका विषय वर्णन कर रहे हैं। ज्ञानी लोग परतत्त्वको निर्विशेष ब्रह्म मानते हैं। वे परतत्त्वको नाम-रूप-गुण-लीला-परिकर आदिसे रहित, निःशक्तिक, गुण-क्रिया आदि समस्त विशेषताओंसे रहित शून्यकी भाँति कल्पना करते हैं, किन्तु ऐकान्तिकी और अव्यभिचारिणी भक्तिका आश्रय करनेवाले शुद्ध भक्तगण प्राकृत, हेय गुणोंसे रहित, अप्राकृत निखिल गुणों, शक्तियों, रसोंके आधार चिद्विलासमय परब्रह्मरूप स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णको ही परतत्त्वके रूपमें दर्शन करते हैं। यद्यपि कहीं-कहीं प्रसङ्गवश श्रुतियोंमें तत्त्व वस्तुको निर्विशेष बताया गया है, किन्तु इससे श्रीभगवान्में केवल प्राकृत विशेषताओंका ही निषेध किया गया है, न कि अप्राकृत विशेषताओंका। क्योंकि, शास्त्रोंने ही इस गूढ़ रहस्यको स्वयं प्रकाशित किया है—

'या या श्रुतिर्जल्पति निर्विशेषं सा साभिधत्ते सविशेषमेव।
विचारयोगे सति हन्त तासां प्रायो वलीयः सविशेषमेव।।'

(हयशीर्ष पञ्चरात्र)

अर्थात्, जिन जिन श्रुतियोंने तत्त्व-वस्तुको पहले निर्विशेष बताया है, उन्हीं श्रुतियोंने सविशेष तत्त्वका भी प्रतिपादन किया है, निर्विशेषका नहीं। निर्विशेष और सविशेष—ये दोनों ही भगवान्के नित्य गुण हैं, तथापि गम्भीररूपसे विचार करनेपर सविशेष तत्त्व ही प्रबल हो उठता है। क्योंकि, जगत्में सविशेष तत्त्वका ही अनुभव होता है, निर्विशेष तत्त्वकी अनुभूति नहीं होती। श्रीकृष्णके आश्रित होनेके कारण इस श्लोकमें भी निर्विशेष ज्ञानियोंके ही ज्ञेय वस्तुके लिए 'मत्पर' शब्दका उल्लेख किया गया है।

'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम् अमृतस्याव्ययस्य च।' (गीता १४/२०)

इस श्लोकमें विस्तृतरूपमें इस विषयका वर्णन किया जाएगा।

शास्त्रोंमें कहीं कहीं जीवको भी ब्रह्म कहा गया है। किन्तु, इसीलिए जीवको सम्पूर्णरूपसे परब्रह्म नहीं कहा जा सकता, क्योंकि जीव सब

प्रकारसे ब्रह्मके साथ अभिन्न नहीं है। जीव अणुचैतन्य है और परब्रह्म पूर्णचेतन वस्तु हैं। चिद्गुणकी इस आंशिक समानताके कारण ही कहीं-कहीं जीवको ब्रह्म कहा जाता है। गीतामें जीवोंके लिए जो 'ब्रह्मभूत' और 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' इत्यादि शब्दोंका व्यवहार किया गया है, उसका गूढ़ तात्पर्य नहीं समझ पानेके कारण ही कुछ लोग भ्रान्त धारणा बना लेते हैं कि जीव भी ब्रह्म हो जाता है। *'ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा'* श्लोकमें इसका विस्तारसे वर्णन किया जाएगा।

जीवात्मा और परमात्मा—इन दोनोंके ज्ञेय वस्तु होनेपर भी परमात्माके अनुशीलनके द्वारा ही परमात्माके आश्रित जीवतत्त्वका ज्ञान प्राप्त होता है। जीव अनादि, भगवत्परायण, आंशिक ब्रह्म, सत् और असत्के अतीत है।

"हे अर्जुन! मैंने तुम्हें क्षेत्रज्ञका तत्त्व कहा। क्षेत्र कहनेसे जो शरीरका बोध होता है, उसके स्वरूप, विकार और विकारघ्न प्रक्रियाको बताया। जीवात्मा तथा परमात्मा उस क्षेत्रके ज्ञाता हैं—यह भी बताया। उस विज्ञान द्वारा जो तत्त्व ज्ञेय है, अभी उसे बता रहा हूँ, श्रवण करो। ज्ञेय वस्तु अनादि, 'मत्पर' अर्थात् मुझपर आश्रित तत्त्व एवं सत-असत् दोनोंसे अतीत ब्रह्म है। उससे अवगत होनेसे मेरा भक्तिरूप अमृत भोग होता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१३।।

सर्वतः पाणिपादं तत् सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्।
सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति।।१४।।

अन्वय—तत् (वह ब्रह्म) सर्वतः (सर्वत्र) पाणिपादम् (हाथ-पैरवाला) सर्वतः (सर्वत्र) अक्षिशिरोमुखम् (चक्षु, मस्तक और मुखोंवाला) सर्वतः श्रुतिमत् (सर्वत्र कानवाला) लोके (जगतमें) सर्वम् आवृत्य (सभी वस्तुओंको व्याप्तकर) तिष्ठति (अवस्थित है)।।१४।।

अनुवाद—वह ब्रह्म सर्वत्र हाथ, पैर, चक्षु, मस्तक, मुख और कानवाला है तथा जगत्में सभी वस्तुओंको व्याप्तकर स्थित है।।१४।।

श्रीविश्वनाथ—नन्वेवं ब्रह्मणः सदसद्विलक्षणत्वे सति *"सर्वंखल्विदं ब्रह्म"* *'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'*इत्यादि श्रुतिर्विरुध्येतेत्याशङ्क्य स्वरूपतः कार्यकारणातीतत्वेऽपि शक्तिशक्तिमतोरभेदात् कार्यकारणात्मकमपि तदित्याह—सर्वत एव पाणयः

पादाश्च यस्य तत्, ब्रह्मादिपिपीलिकान्तानां पाणिपादवृन्दैः सर्वत्रदृष्टैरेव तद्ब्रह्मैवासंख्यपाणिपादैर्युक्तमित्यर्थः। एवमेव सर्वतोऽक्षीत्यादि।।१४।।

भावानुवाद—इस प्रकार ब्रह्मके सत् और असत्से विलक्षण होनेके कारण *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* (छा. ३/१४/१) अर्थात् ये समस्त ही ब्रह्म हैं, *'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'* अर्थात् ब्रह्म ही सब हैं—इन श्रुति-वाक्योंसे विरोध होता है? इस प्रश्नकी आशङ्काकर स्वरूपतः कार्य-कारणसे अतीत होनेपर भी शक्ति और शक्तिमान्के अभेद होनेके कारण वे ब्रह्म कार्य-कारणात्मक है—इसे ही निरूपित कर रहे हैं। इसीलिए कह रहे हैं—सर्वत्र ही उनके हस्त-पादादि हैं अर्थात् सर्वत्र दृष्ट ब्रह्मासे चींटी पर्यन्त सभीके हस्त और पादसमूह द्वारा वे ब्रह्म ही असंख्य हस्त और पादयुक्त हैं। इसी प्रकार सर्वत्र आँखादिवाला भी जानना चाहिए।।१४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्व श्लोकमें ब्रह्मको सत् और असत्से अतीत अर्थात् कार्य ओर कारणसे अतीत बताया गया है। ऐसा देखकर यदि कोई यह प्रश्न करता है कि ऐसा होनेसे श्रुतियोंमें कहे गए *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'* एवं *'ब्रह्मैवेदं सर्वम्'* इन वेदवाक्योंकी सार्थकता क्या है, तो इसका उत्तर यह है कि वेदान्तमें *'शक्तिशक्तिमतोरभेदः'* यह सूत्र दिया गया है। इस सूत्रके अनुसार श्रीभगवान्के स्वरूपतः कार्य और कारणसे अतीत होनेपर भी शक्ति और शक्तिमान् दोनोंके अभिन्न होनेके कारण शक्तिका कार्य भी शक्तिमान्का ही कार्य है। इस विचारसे दृश्य जगत् आदि सभी कार्य शक्तिके परिणाम होनेके कारण भगवत्स्वरूप ही हैं। इसी विचारको समझानेके लिए वर्तमान श्लोक कहा जा रहा है। ब्रह्म-वस्तुके सर्वव्यापक होनेके कारण उनके अन्तर्भुक्त तथा आश्रित जीवोंके हस्त-चरण आदिके माध्यमसे वे ही सर्वत्र व्याप्त होकर विराजमान हैं। सर्वव्यापक होनेके कारण उनके अनन्त सिर, आँख, पैर और नेत्र हैं। किन्तु, जीवात्मा न तो सर्वव्यापक है और न उसके अनन्त हाथ, सिर, पैर आदि हो सकते हैं। परमात्मा सर्वशक्तिमान् हैं, जीवके लिए ऐसा नहीं कहा जा सकता।

"जिस प्रकार किरणसमूह सूर्यका आश्रयकर प्रकाशित हैं, उसी प्रकार मेरे प्रभावसे ही ब्रह्मतत्त्वने बृहत्त्वकी सीमाको प्राप्त किया है। ब्रह्मासे चींटी तक अनन्त जीवोंके अवस्थानस्वरूप वह ब्रह्मतत्त्व सर्वत्र अनन्त हाथ-पैर-चक्षु-सिर-मुख-कर्ण इत्यादि सबको संयुक्तरूपमें आवृतकर विराजमान है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१४।।

सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।
असक्तं सर्वभृच्चैव निर्गुणं गुणभोक्तृ च॥१५॥

अन्वय—[वह] सर्वेन्द्रियगुणाभासम् (सभी इन्द्रियों एवं गुणोंका प्रकाशक) सर्वेन्द्रियविवर्जितः (प्राकृत इन्द्रियोंसे रहित) असक्तम् (अनासक्त) सर्वभृत् च एव (सबका पालक) निर्गुणम् (प्राकृत गुणरहित) गुणभोक्तृ च (और षडैश्वर्योंका भोक्ता है)॥१५॥

अनुवाद—वह ज्ञेय वस्तु सभी इन्द्रियों एवं गुणोंका प्रकाशक है, किन्तु स्वयं प्राकृत (जड़) इन्द्रियोंसे रहित है, वह अनासक्त होकर भी सबका पालक प्राकृत गुणरहित होनेपर भी षडैश्वर्य गुणोंका भोक्ता है॥१५॥

श्रीविश्वनाथ—किञ्च सर्वाणीन्द्रियाणि गुणानिन्द्रियविषयांश्चाभासयतीति *"तच्चक्षुषश्चक्षुः"* इत्यादि श्रुतेः, यद्वा सर्वेन्द्रियैर्गुणैः शब्दादिभिश्चाभासते विराजतीति तत्। तदपि सर्वेन्द्रियविवर्जितं प्राकृतेन्द्रियादिरहितम्, तथा च श्रुतिः—*"अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः"* इत्यादि, *"परास्य शक्तिर्बहुधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च"* इति श्रुतिप्रसिद्धस्वरूपशक्त्यास्पदत्वादिति भावः। असक्तमासक्तिशून्यं, सर्वभृत् श्रीविष्णुस्वरूपेण सर्वपालकं, निर्गुणं सत्त्वादिगुणरहिताकारम्। किञ्च गुणभोक्तृत्रिगुणातीत—'भग' शब्द वाच्य—षड्गुणास्वादकम्॥१५॥

भावानुवाद—और भी, वह सभी इन्द्रियोंके गुण अर्थात् इन्द्रियोंके विषयसमूहका आभास अथवा प्रकाश करता है। श्रुति कहती है—*'तच्चक्षुषश्चक्षुः'* (के. उ. १/२) अर्थात् वे चक्षुके भी चक्षु हैं अथवा *'सर्वेन्द्रियैर्गुणैः'*—इन्द्रियोंके गुण शब्द आदि द्वारा प्रकाश करते हैं अर्थात् विराज करते हैं। तथापि, वे 'सर्वेन्द्रिय वर्जितम्' अर्थात् प्राकृत इन्द्रियोंसे रहित हैं। श्रुति कहती है—उनके प्राकृत हस्त-पाद आदि इन्द्रियोंके नहीं होनेपर भी वे ग्रहण, गमन, दर्शनादि करते हैं।

'परास्य शक्तिर्बहुधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञान बलक्रिया च' (श्वे. उ. ६/८) अर्थात् उस ब्रह्मके विविध प्रकारकी पराशक्तियोंके विषयमें सुना जाता है, वे स्वाभाविकी ज्ञान, बल और क्रियाशक्ति-सम्पन्न हैं। क्योंकि, उनका वह श्रुतिप्रसिद्ध स्वरूप शक्तिका आस्पद है।

वे आसक्तिशून्य तथा 'सर्वभूत' अर्थात् श्रीविष्णुस्वरूपमें सबके पालक हैं। वे 'निर्गुण' अर्थात् सत्त्व आदि गुणोंसे रहित आकारविशिष्ट हैं तथा 'गुणभोक्तृ' अर्थात् गुणातीत 'भग' शब्दवाच्य हैं—छः गुणोंके आस्वादक हैं॥१५॥

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वह ब्रह्म वस्तु समस्त इन्द्रियोंके गुणों और विषयोंका प्रकाशक है। श्रुतिमें भी ऐसा देखा जाता है—*'तच्चक्षुषश्चक्षुः'* (के. उ. १/२) अर्थात् वे नेत्रोंके भी नेत्र हैं। वे प्राकृत इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी अप्राकृत इन्द्रियवाले हैं। श्वेताश्वतर उपनिषद् (३/१९) में भी ऐसा कहा गया है—

'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स श्रुणोत्यकर्णः'

अर्थात्, भगवान्के प्राकृत हस्त-चरण आदि नहीं रहनेपर भी वे चलते हैं, ग्रहण करते हैं; उनके प्राकृत नेत्र, कर्ण नहीं रहनेपर भी वे देखते और सुनते हैं अर्थात् उनके अप्राकृत हस्त-चरण-नेत्र-कर्ण आदि हैं। इसलिए ब्रह्म निर्विशेष नहीं सविशेष हैं। प्राकृत गुणोंसे रहित होनेपर भी वे अप्राकृत षडैश्वर्यपूर्ण एवं भोक्ता भी हैं।।१५।।

बहिरन्तश्च भूतानामचरं चरमेव च।
सूक्ष्मत्वात्तदविज्ञेयं दूरस्थं चान्तिके च तत्।।१६।।

अन्वय—तत् (वह ज्ञेय वस्तु) भूतानाम् (सभी भूतोंके) अन्तः बहिः च (अन्दर और बाहर स्थित है) अचरम् चरम् एव च (और स्थावर-जङ्गमात्मकरूप जगत् भी है) तत् (वह वस्तु) सूक्ष्मत्वात् (सूक्ष्म होनेके कारण) अविज्ञेयम् (दुर्ज्ञेय) दूरस्थम् च अन्तिके च (दूर तथा निकट है)।।१६।।

अनुवाद—वह तत्त्ववस्तु सभी भूतोंके अन्दर और बाहर वर्त्तमान है, उससे ही स्थावर-जङ्गमात्मक जगत् है, अत्यन्त सूक्ष्म होनेके कारण वह दुर्ज्ञेय है तथा एक ही साथ दूर और निकटमें स्थित है।।१६।।

श्रीविश्वनाथ—भूतानां स्वकार्याणां वहिश्चान्तश्च यथा देहानामाकाशादिकम्, अचरं स्थावरं चरं जङ्गमञ्च भूतजातं तदेव कार्यस्य कारणात्मकत्वात्। एवमपि रूपादिभिन्नत्वात् तदविज्ञेयमिदं तदिति स्पष्टं ज्ञानार्हं न भवतीत्यतएवाविदुषां योजनकोट्यन्तरमिव दूरस्थम्, विदुषां पुनः स्वगृहस्थित-मिवान्तिके च तत्स्वदेह एवान्तर्यामित्वात्,—*"दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यत् स्विहैवं निहितं गुहायाम्"* इत्यादि—श्रुतिभ्यः।।१६।।

भावानुवाद—वे भूतों अर्थात् अपने कार्यसमूह [विश्व] के बाहर तथा भीतर सर्वत्र उसी प्रकार अवस्थित हैं, जिस प्रकार देह आदिमें आकश। कार्यका कारण होनेके कारण स्थावर-जङ्गात्मक जो समस्त भूत हैं, वे समस्त वे ही हैं। किन्तु, ऐसा होनेपर भी रूप आदि भिन्न होनेके कारण,

वे स्पष्ट ज्ञानके विषय नहीं हैं। अतएव अज्ञोंके लिए वे कोटि योजन दूर हैं। किन्तु, विद्वानोंके देहमें अन्तर्यामी होनेके कारण उसी प्रकार निकट हैं, जिस प्रकार अपने घरमें स्थित व्यक्ति। वे दूरसे भी सुदूर एवं निकटसे भी निकट हैं। जो देखने में सक्षम हैं, उनके लिए वे उनके हृदयरूपी गुहामें दृष्ट होते हैं, जैसा कि मुण्डक उपनिषद् (३/१/७) में कहा गया है—*'दूरात् सुदूरे तदिहान्तिके च पश्यात्स्विहैव निहितं गुहायाम्'*।।१६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—उन परतत्त्व परमेश्वरसे ही चर-अचर सभी प्राणियोंकी उत्पत्ति होती है। वे सभी प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीरूपमें तथा बाहरमें सर्वव्यापकरूपमें वर्तमान हैं। चराचर सम्पूर्ण विश्व उनकी शक्तिका कार्य होनेके कारण वे ही सब कुछ हैं। *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'*—श्रुतिमें ऐसा कहे जानेपर भी उनके रूप आदि दूसरोंसे भिन्न है। वे स्वयं ही अपने समान हैं। वे असमोद्ध्र्व हैं अर्थात् बड़े होनेकी तो बात ही क्या, उनके समान भी कोई नहीं है। परन्तु, अतिशय सूक्ष्म-तत्त्व होनेके कारण सभी उन्हें नहीं जान सकते हैं। एकमात्र ऐकान्तिक भक्तगण ही अनन्या भक्तिके प्रभावसे उन्हें जानते हैं। इसलिए वे अत्यन्त दूर और अत्यन्त निकट भी हैं। अनन्य भक्तोंके लिए निकट और अभक्तोंके लिए बहुत दूर हैं—*'तदेजति तन्नेजति तद्दूरे तद्वदन्तिके।'* (ई. उ. ५)।।१६।।

अविभक्तञ्च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्।
भूतभर्त्तृ च तज्ज्ञेयं ग्रसिष्णु प्रभविष्णु च।।१७।।

अन्वय—तत् (वह वस्तु) अवभिक्तम् (अविभक्त होकर भी) भूतेषु च (भूतोंमें) विभक्तमिव च (विभक्तके समान) स्थितम् (अवस्थित है) [उसे] भूतभर्त्तृ च (सभी भूतोंका पालक एवं) ग्रसिष्णु (संहारक) प्रभविष्णु च (तथा सृष्टिकर्त्ता) ज्ञेयम् (जानो)।।१७।।

अनुवाद—वह वस्तु अविभक्त (अखण्ड) होकर भी सभी भूतोंमें विभक्त (खण्ड) की भाँति अवस्थित है। तुम उसे सभी भूतोंका पालक, संहारक तथा सृष्टिकर्त्ता जानो।।१७।।

श्रीविश्वनाथ—भूतेषु स्थावरजङ्गमात्मकेष्वविभक्तं कारणात्मना भिन्नं कार्यात्मना विभक्तं भिन्नमिव स्थितम्, तदेव श्रीनारायणस्वरूपं सत्, भूतानां 'भर्त्तृ' स्थितिकाले पालकम्, प्रलयकाले 'ग्रसिष्णु' संहारकम्; स्थितिकाले 'प्रभविष्णु' च —नानाकार्यात्मना प्रभवनशीलम्।।१७।।

भावानुवाद—वे चर तथा अचर भूतसमूहमें कारण रूपसे 'अविभक्त' अर्थात् अभिन्न तथा कार्यरूपसे 'विभक्त' अर्थात् भिन्न भावसे स्थित हैं, वे ही श्रीनारायण-स्वरूप होकर स्थितिकालमें भूतोंके पालक, प्रलयकालमें संहारक एवं सृष्टिकालमें नाना कार्यरूपमें उत्पत्तिशील हैं।।१७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वे परम तत्त्व समस्त प्राणियोंमें भिन्न-भिन्न रूपोंमें प्रतीत होनेपर भी वे अविभक्त एक अखण्डरूपमें स्थित हैं। श्रुतिमें भी ऐसा देखा जाता है—*'एकः सन्तं बहुधा दृश्यमानं'* अर्थात् वे एक होकर भी अनेक रूपोंमें देखे जाते हैं। स्मृतियाँ भी यही कहती हैं—*'एक एव परो विष्णुः सर्वत्रापि न संशयः'* अर्थात् एक ही परमात्मा विष्णु सर्वत्र अवस्थित हैं, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। किन्तु, एक होकर भी वे अपनी अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे सूर्यकी भाँति बहुत रूपोंमें प्रतीत होते हैं। वे ही सभी जीवोंके अन्तःकरणमें व्यष्टि अन्तर्यामीके रूपमें तथा बाहरमें सर्वव्यापी समष्टिपुरुष परमात्मा परमेश्वरके रूपमें देखे जाते हैं। वे भूतसमूहके पालक और संहारकर्ता भी हैं—

'यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते येन जातानि जीवन्ति यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति तद्ब्रह्म तद्विजिज्ञासस्य।।' (तै. उ. ३/१) ।।१७।।

ज्योतिषामपि तज्ज्योतिस्तमसः परमुच्यते।
ज्ञानं ज्ञेयं ज्ञानगम्यं हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्।।१८।।

अन्वय—तत् (वह) ज्योतिषाम् अपि (सूर्य आदिका भी) ज्योतिः (प्रकाशक) तमसः परम् (अज्ञानसे अतीत) उच्यते (कहा जाता है) (वह) ज्ञानम् (ज्ञान) ज्ञेयम् (ज्ञेय) ज्ञानगम्यम् (ज्ञान द्वारा प्राप्य) सर्वस्य हृदि (सबके हृदयमें) धिष्ठितम् (अधिष्ठित है)।।१८।।

अनुवाद—वह सभी ज्योतिर्मय वस्तुओंका भी प्रकाशक है, वह अज्ञानसे अतीत है, वह ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञानगम्य है तथा सबके हृदयमें अधिष्ठित है।।१८।।

श्रीविश्वनाथ—ज्योतिषां चन्द्रादित्यादीनामपि तज्ज्योतिः प्रकाशकं येन सूर्यस्तपति तेजसेन्द्रः—*"न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।"* इत्यादि श्रुतेः। अतएव तमसोऽज्ञानात् परं तेनास्पृष्टम् उच्यते—*"आदित्यवर्णं तमसः परस्तात्"* इत्यादि—श्रुतेः। ज्ञानं तदेव बुद्धिवृत्तावभिव्यक्तं सत् ज्ञानमुच्यते, तदेव रूपाद्याकारेण परिणतं ज्ञेयञ्च, तदेव ज्ञानगम्यं पूर्वोक्तेनामानित्वादि-ज्ञानसाधनेन प्राप्यमित्यर्थः। तदेव परमात्मस्वरूपं सत् सर्वस्य प्राणिमात्रस्य हृदि धिष्ठितं नियन्तृतयाधिष्ठाय स्थितमित्यर्थः।।१८।।

भावानुवाद—वे चन्द्र-सूर्यादिकी भी ज्योति अर्थात् प्रकाशक हैं। श्रुतिमें इसका प्रमाण है—'जिनके तेजसे प्रदीप्त होकर सूर्य ताप वितरण करता है'—'सूर्यस्तपति तेजसेन्द्रः'; 'उनके निकट सूर्य, चन्द्र, तारे आदि शोभा नहीं पाते, विद्युत भी शोभा नहीं पाते, अग्निकी तो बात ही क्या? उनके दीप्त होनेसे उनकी दीप्तिसे ही दीप्तिमय होकर ये सभी शोभा प्राप्त करते हैं, उनकी दीप्तिसे ये सब विशेषरूपसे प्रकाश पाते हैं—*'न तत्र सूर्यो भाति न चन्द्रतारकां नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तं अनुभाति सर्वं तस्य भाषा सर्वमिदं विभाति।'* (क. उ. २/२/१५)

अतएव वे अज्ञानसे परे हैं अर्थात् उन्हे अज्ञान उन्हें छू भी नहीं सकता। श्रुतिमें भी है—वे आदित्य वर्णवाले तथा तमसे परे हैं। वे जब बुद्धिवृत्तिमें सवर्तभावेन अभिव्यक्त होते हैं, तब वह ज्ञान कहलाता है। वे ही रूप आदिके आकारमें परिणत होकर ज्ञेय और ज्ञानगम्य हैं अर्थात् वे ही अमानित्व इत्यादि पूर्वोक्त ज्ञानके उपायसे प्राप्य हैं। वे ही परमात्मस्वरूप होकर प्राणिमात्रके हृदयमें स्थित हैं।।१८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वे सम्पूर्ण क्षेत्रज्ञ परमेश्वर सूर्य-चन्द्र-अग्नि आदि ज्योतिर्मय पदार्थोंके भी मूल प्रकाशक हैं—

'न तत्र.....................................विभाति।' (क. उ. २/२/१५)

उन स्वप्रकाश परब्रह्मको सूर्य, चन्द्र, तारे अथवा विद्युत प्रकाशित नहीं कर सकते, फिर अग्निकी तो बात ही क्या? किन्तु उन स्वप्रकाश ब्रह्मसे ही सूर्य आदि ज्योतिर्मय पदार्थ प्रकाशित होते हैं। उन परब्रह्मकी अङ्गकान्तिसे चर-अचर सम्पूर्ण जगत् प्रकाशित होता है। श्रीमद्भागवतमें भी इस सिद्धान्तकी पुष्टि की गई है—

'मद्भयाद्वाति वातोऽयं सूर्यस्तपति मद्भयात्।
वर्षतीन्द्रो दहत्यग्निर्मृत्युश्चरति मद्भयात्।।'

(श्रीमद्भा. ३/२५/४२)

अर्थात्, मेरे भयसे वायु प्रवाहित होती है तथा सूर्य तपते हैं।

कठोपनिषद्में और भी देखा जाता है—

'भयादस्याग्निस्पति भयात्तपति सूर्यः' (क. उ. २/३/३)

अर्थात्, परब्रह्मके भयसे अग्नि प्रज्वलित होता है तथा सूर्य तपते हैं। वे परत त्त्व 'तमसः परम्'—अज्ञानसे परे अर्थात् परम निर्मल हैं अथवा प्रकृतिसे अतीत हैं। श्रुति भी ऐसा ही कहती है—*'आदित्य वर्णं तमसः*

परस्तात्' अर्थात् वे प्रकृतिसे परे आदित्य अर्थात् गौरकान्तियुक्त हैं। वे ज्ञान, ज्ञाता और ज्ञेय तीनों ही हैं।

ज्ञानस्वरूप— *'विज्ञान आनन्दघनं ब्रह्म'* (श्रुति)—ब्रह्म विशेष ज्ञानस्वरूप और घनीभूत आनन्दस्वरूप हैं।

ज्ञेयस्वरूप—मोक्षकी इच्छा करनेवालोंके लिए वे शरण्य हैं, इसलिए वे ज्ञेयस्वरूप हैं—*'तं ह देवमात्मबुद्धि-प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये'।* इस श्रुतिके अनुसार वे ज्ञानगम्य हैं।

ज्ञाता—सभीके हृदयमें साक्षी, नियन्ता और अन्तर्यामीरूपमें अवस्थित होनके कारण वे ज्ञाता भी हैं। इस विषयमें *'द्वासुपर्णा'* (श्वे. उ. ४/६-७) *'तमेव विदित्वा'* एवं *'अस्तः प्रविष्टः शास्ता'* इत्यादि श्रुतिके श्लोक द्रष्टव्य हैं।।१८।।

इति क्षेत्रं तथा ज्ञानं ज्ञेयञ्चोक्तं समासतः।
मद्भक्त एतद्विज्ञाय मद्भावायोपपद्यते।।१९।।

अन्वय—इति (इस प्रकार) क्षेत्रम् (शरीर) तथा ज्ञानम् (तथा ज्ञान) ज्ञेयम् च (एवं ज्ञेय) समासतः (संक्षेपमें) उक्त्वम् (उक्त हुआ) मद्भक्तः (मेरे भक्त) एतत् (ये समस्त) विज्ञाय (जानकर) मद्भावाय (मेरे प्रेम प्राप्त करनेके) उपपद्यते (योग्य होते हैं)।।१९।।

अनुवाद—इस प्रकार क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय संक्षेपमें कहे गए। मेरे भक्त इन सबसे अवगत होकर प्रेमाभक्ति प्राप्त करनेके योग्य होते हैं।।१९।।

श्रीविश्वनाथ—उक्तं क्षेत्रादिकमधिकारिफलसहितमुपसंहरति—इतीति। 'क्षेत्रम्'—महाभूतादि धृत्यन्तम् (६-७), 'ज्ञानम्'—अमानित्वादि तत्त्वज्ञानार्थदर्शनान्तम् (८-१२), 'ज्ञेयं' 'ज्ञानगम्यञ्च'—अनादीत्यादि धिष्ठितमित्यन्तम् (१३-१८), एकमेव तत्त्वं ब्रह्म-भगवत्-परमात्म-शब्दवाच्यञ्च संक्षेपेणोक्तम्। मद्भक्तो भक्तिमज्ज्ञानी मद्भावाय मत्सायुज्याय, यद्वा मद्भक्तो ममैकान्तिको दासः एतद्विज्ञाय मत्प्रभोरेतावदैश्वर्यमिति ज्ञात्वा मयि भावाय प्रेम्ने उपपद्यते उपपन्नो भवति।।१९।।

भावानुवाद—यहाँ भगवान् उक्त क्षेत्र आदिका ज्ञान अधिकारी और फलके साथ समाप्त कर रहें हैं। 'महाभूत' से आरम्भकर 'धृति' पर्यन्त (गीता १३/६-७) क्षेत्रके विषय में बताया गया। 'अमानित्व' से आरम्भकर 'तत्त्व ज्ञानके प्रयोजनकी आलोचना' तक (गीता १३/८-१२) ज्ञानके विषयमें बताया गया। 'अनादि' से आरम्भकर 'धिष्ठितं' तक (१३/१३-१८) 'ज्ञेय'

और 'ज्ञानगम्य' के विषयमें कहा गया। एक ही तत्त्व ब्रह्म, भगवान् और परमात्म शब्दवाच्य हैं—यह संक्षेप में कथित हुआ। 'मद्भक्तः' अर्थात् भक्तिमान् ज्ञानी 'मद्भावाय' अर्थात् मेरा सायुज्य प्राप्त करते हैं। अथवा मद्भक्त—मेरे एकान्तिक दास 'मेरे प्रभुका ऐश्वर्य इतना अधिक है'—ऐसा जानकर मेरे प्रेमके योग्य होते हैं अर्थात् प्रेमाभक्ति प्राप्त करनेके योग्य होते हैं।।१९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें श्रीभगवान्ने स्पष्टरूपसे बताया है कि कर्मी, ज्ञानी, योगी, तपस्वी तथा निर्विशेष मायावादी गीताके यथार्थ तत्त्वको नहीं समझ सकते। इसे केवल भगवद्भक्त ही समझ सकते हैं। 'मद्भक्त' शब्दका यही गूढ़ तात्पर्य है। गीतामें वर्णित ज्ञेय, ज्ञाता और ज्ञानका तत्त्व समझनेके लिए सर्वप्रथम भक्त बनना चाहिए। इसके लिए सद्गुरु पदाश्रयकर भक्तिका अनुशीलन करना नितान्त आवश्यक है।

"हे अर्जुन! मैंने संक्षेपतः तुम्हें क्षेत्र, ज्ञान और ज्ञेय—इन तीन तत्त्वोंके विषयमें कहा। इसीको विज्ञान सहित ज्ञान कहते हैं। भगद्भभक्तगण इसी ज्ञानको प्राप्तकर मेरी निरुपाधिक-प्रेमभक्ति प्राप्त करते हैं। जो भक्त नहीं है, वे केवल निरर्थक साम्प्रदायिक अभेदवादका आश्रय ग्रहणकर यथार्थ ज्ञानसे वञ्चित होते हैं। 'ज्ञान' और कुछ नहीं, केवल भक्तिदेवीके पीठस्वरूप है—भक्तिके आश्रयरूप जीवात्माकी सत्त्वशुद्धि मात्र है। पुरुषोत्तम तत्त्वके विचारमें यह और भी स्पष्ट किया जाएगा।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१९।।

प्रकृतिं पुरुषञ्चैव विद्ध्यनादी उभावपि।
विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसम्भवान्।।२०।।

अन्वय—प्रकृतिम् (प्रकृति) पुरुषम् च एव (एवं पुरुष) उभौ अपि (दोनोंको ही) अनादि (अनादि) विद्धि (जानो) विकारान् च (एवं विकारसमूहको) गुणान् च (और गुणसमूहको) प्रकृतिसम्भवान् एव (प्रकृतिसे ही उत्पन्न) विद्धि (जानो)।।२०।।

अनुवाद—प्रकृति एवं पुरुष दोनोंको ही अनादि जानो एवं विकारसमूह और गुणसमूहको प्रकृतिसे ही उत्पन्न जानो।।२०।।

श्रीविश्वनाथ—परमात्मानमुक्त्वा क्षेत्रज्ञ-शब्दवाच्यं जीवात्मानं वक्तुं कुतस्तस्य मायासंश्लेषः कदारम्भः तदभूदित्यपेक्षायामाह—प्रकृतिं मायां पुरुषं जीवञ्च उभावपि अनादि न विद्यते आदिकारणं ययोः तथाभूतौ विद्धि,

अनादेरीश्वरस्य मम शक्तित्वात्। "*भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।*" इति मदुक्तेः मायाजीवयोरपि मत्शक्तितत्वेन अनादित्वात् तयोः संश्लेषोऽप्यनादिरिति भावः। तत्र मिथः संश्लिष्टयोरपि तयोर्वस्तुतः पार्थक्यमस्त्येव इत्याह—विकारांश्च देहेन्द्रीयादीन् गुणांश्च गुणपरिणामान् सुखदुःखशोकमोहादीन् प्रकृतिसम्भूतान् प्रकृत्युद्भूतान् विद्धीति क्षेत्राकारपरिणतायाः प्रकृतेः सकाशाद्भिन्नमेव जीवं विद्धीति भावः।।२०।।

भावानुवाद—परमात्माके विषयमें पहले बताकर अब 'क्षेत्रज्ञ' शब्दवाच्य जीवात्माके विषयमें बता रहे हैं। 'इस क्षेत्रज्ञका सम्बन्ध मायासे क्यों हुआ तथा यह कब आरम्भ हुआ?'—इस प्रश्नकी अपेक्षामें श्रीभगवान् कहते हैं—'प्रकृति' अर्थात् माया और 'पुरुष' अर्थात् जीव दोनों ही अनादि हैं अर्थात् इनका आदि कारण नहीं है। मुझ अनादि ईश्वरकी शक्ति होनेके कारण ही ये अनादि हैं, ऐसा जानो। गीता (७/४-५) में भी कहा गया है—'*भूमिरापोऽनलो वायुः खं मनो बुद्धिरेव च। अहङ्कार इतीयं मे भिन्ना प्रकृतिरष्टधा।। अपरेयमितस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्। जीवभूतां महाबाहो ययेदं धार्यते जगत्।।*'—मेरी इस उक्तिके अनुसार माया और जीव मेरी शक्ति होनेके कारण अनादि हैं, अतएव इनका संश्लेष या सम्बन्ध भी अनादि है। किन्तु, परस्पर सम्बन्धित होनेपर भी वस्तुतः दोनोंमें पार्थक्य है, इसीलिए कहते हैं—'विकारांश्च'—देह और इन्द्रियोंको तथा 'गुणांश्च'—गुणके परिणाम सुख, दुःख, शोक, मोह आदिको 'प्रकृति सम्भूतान्'—प्रकृतिसे उत्पन्न जानो। जीवको क्षेत्रके आकारमें परिणत प्रकृतिसे भिन्न ही जानो।।२०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—क्षेत्र, आंशिक क्षेत्रज्ञ जीव, पूर्ण क्षेत्रज्ञ परमेश्वर, ज्ञान और ज्ञेय—इन विषयोंका वर्णनकर उक्त श्लोकमें क्षेत्रके विकार अर्थात् काम, क्रोध, स्नेह, भय आदि एवं क्षेत्रज्ञ जीवके साथ मायाका सम्बन्ध किस प्रकार हुआ—यह व्यक्त कर रहे हैं। प्रकृति अर्थात् माया एवं जीव—ये दोनों ही परमेश्वरकी शक्ति होनेके कारण अनादि अथवा नित्य हैं। जड़ा-प्रकृतिको अपरा और जीवको परा प्रकृति कहा गया है।

श्रीचैतन्य चरितामृतके मध्यलीला बीसवें परिच्छेदमें वर्णित सनातन शिक्षामें भी ऐसा देखा जाता है—

'जीवेर स्वरूप हय कृष्णेर नित्यदास।
कृष्णेर तटस्था-शक्ति 'भेदाभेद प्रकाश'।।
सूर्यांशु-किरण, येन अग्नि ज्वालाचय।
स्वाभाविक कृष्णेर तीन प्रकार शक्ति हय।।
कृष्णेर स्वाभाविक तीनशक्ति परिणति।
चिच्छक्ति, जीवशक्ति आर मायाशक्ति।।
कृष्ण भूलि सेई जीव अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार-दुःख।।'

अर्थात्, जीव स्वरूपतः कृष्णका नित्यदास है। कृष्णकी तटस्थाशक्ति ही अनन्त जीवोंके रूपमें परिणत होती है। चूँकि शक्ति और शक्तिमान् दोनों अभिन्न हैं, इसलिए शक्तिपरिणत अणुचित् जीव भी कृष्णसे कुछ विषयोंमें अभिन्न है। किन्तु कुछ दृष्टियोंमें नित्य भिन्न भी है। भगवान् विभुचित् हैं, जीव अणुचित् है। चित्की दृष्टिसे दोनोंमें अभेद भाव है, किन्तु भगवान् पूर्ण चित्-वस्तु और जीव अणुचित्-वस्तु है। भगवान् मायाके पति हैं, जीव मायाके वश्य है। भगवान् सृष्टि, स्थिति, प्रलयके कारण हैं, जीव इनका कारण नहीं है। दृष्टान्तके लिए कहा जा सकता है कि जैसे सूर्यसे किरणें निकलती हैं, उन किरणोंमें अनगिनत परमाणु दृष्टिगोचर होते हैं, उसी प्रकार कृष्णकी शक्तिरूपी किरणोंमें असंख्य जीवरूप परमाणु बहिर्गत होते हैं। एक दूसरे उदाहरणके द्वारा भी इसे समझाया गया है। जैसे अग्निसे छोटे-छोटे अनगिनत स्फुलिंग बहिर्मुख होते हैं, उसी प्रकार भगवान्से अनगिनत चित्-परमाणुरूप जीव बहिर्गत होते हैं। ये दोनों ही उदाहरण सच्चिदानन्द भगवत्स्वरूप एवं अणुचित जीवके सम्बन्धमें आंशिकरूपमें अथवा शाखाचन्द्र न्यायसे उस वस्तुको समझानेके लिए दिए गए हैं। इस जगत्का कोई प्राकृत उदाहरण परब्रह्मके सम्बन्धमें पूर्णरूपसे घटित नहीं होता, केवल आंशिक दिग्दर्शनके लिए ये उपमाएँ कुछ सीमा तक ही कार्य करती हैं। कृष्ण परतत्त्वकी सीमा हैं। उनकी स्वाभाविक एक पराशक्ति है। उसे अन्तरङ्गा शक्ति, चित्शक्ति, पराशक्ति आदि भी कहा गया है। वह कृष्णकी स्वाभाविकी स्वरूपशक्ति है, वही शक्ति तीन रूपोंमें प्रकाशित होकर कार्य करती है। वही चित्-जगत्को प्रकाशित करनेपर चित्-शक्ति, असंख्य जीवोंका प्रकाश करनेपर जीव-शक्ति तथा मायिक ब्रह्माण्डको प्रकाशित करनेपर माया-शक्ति नाम धारण करती

है। जीव भगवत्-इच्छासे तटस्था-शक्ति अथवा जीव शक्तिसे प्रकाशित होनेके कारण स्वरूपतः कृष्णका नित्यदास है, किन्तु स्वरूपतः अणु होनेके कारण वह मायाके वशीभूत होने योग्य होता है। इस मायिक जगत्में अवस्थित जीव अनादि कालसे अपनी स्वतन्त्रताका अपव्यवहारकर मायाके संसर्गके कारण अनादि कालसे कृष्णस्वरूप और अपने स्वरूप दोनोंको भूलकर जन्म-मरणके चक्करमें पड़े हुए हैं तथा नाना प्रकारके त्रितापोंसे दग्ध होते हैं। इस संसार-चक्रमें पड़े हुए जीव सौभाग्यवश साधुसङ्ग होनेपर अपने स्वरूपसे अवगत होकर भक्तिका अवलम्बन करते हैं तथा पुनः भगवत्-सेवामें नियुक्त होकर स्वस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो सकते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी इसी सिद्धान्तकी पुष्टि की गई है—

'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा।।'

(श्रीमद्भा. ११/२/३७)

अर्थात्, जीव भगवान्का नित्य दास है, परन्तु भगवान्से विमुख होनेके कारण वह अपने स्वरूपको भूल गया है, इसलिए वह कृष्ण-सेवारूप अपने नित्य-स्वरूपसे च्युत हो गया तथा मायाके संसर्गसे उसमें देहात्मबुद्धि उत्पन्न हुई और उसी कारणसे मायिक देह-गेह आदिके लिए उसे सर्वदा भय लगा रहता है। वह कृष्ण-मायासे मुग्ध होकर नाना प्रकारके कष्टोंको भोगता है। किसी सौभाग्यसे सद्गुरुका चरणाश्रयकर अनन्या भक्तिका आश्रय करनेपर कोई कोई बुद्धिमान् व्यक्ति कृष्णका भजनकर मायासे उत्तीर्ण हो जाते हैं। और भी,

'सेयं भगवतो माया यन्नयेन विरुध्यते।
ईश्वरस्य विमुक्तस्य कार्पण्यमुत बन्धनम्।।'

(श्रीमद्भा. ३/७/९)

भगवान्की माया अघटन-घटन-पटीयसी अर्थात् सम्भवको भी असम्भव और असम्भवको भी सम्भव करनेवाली शक्तिविशेष है। विमुक्त ईश्वरकी करुणा-प्राप्ति अर्थात् जीवकी संसाररूपी बन्धनसे मुक्ति तथा संसार-बन्धन दोनों भगवान्की इसी मायासे सम्भव होता है। यह बात केवल युक्तिके बलपर नहीं समझी जा सकती। भगवान्की इस अचिन्त्य शक्तिके प्रभावको तर्क द्वारा नहीं समझा जा सकता है। भगवान्की अचिन्त्य शक्तिके द्वारा जीवका मायाके प्रति मोह होता है तथा वह भगवत्-कृपाको अनुभव नहीं कर पाता है।

"क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके ज्ञानका क्या फल होगा, वह बता रहा हूँ। जड़बद्ध जीवसत्तामें तीन तत्त्व लक्षित होंगे—प्रकृति, पुरुष और जीवात्मा। समस्त क्षेत्र ही प्रकृति है, जीव ही पुरुष है और इन दोनोंके बीच जो मेरा आविर्भाव है, वह परमात्मा है। प्रकृति और पुरुष दोनों ही अनादि, जड़ीयकालके पूर्वसे ही हैं, जड़ीयकालमें उन दोनोंका जन्म नहीं हैं। मेरी ही शक्तिसे मेरे परम अस्तित्वरूप चिन्मयकालमें उनका उदय हुआ है। जड़ा-प्रकृति मुझमें लीन थी, कार्यकालमें जड़ीय कालका आश्रयकर प्रकाशित हुई है। जीव मेरा नित्यशक्तिगत तत्त्व है, मेरे प्रति विमुखताके कारण वह जड़ा-प्रकृतिमें प्रविष्ट हुआ है। वास्तविक जीव शुद्ध चित्-तत्त्व है। मेरी पराशक्ति-क्रमसे उसमें एक तटस्थ-धर्म निहित होनेके कारण उसने जड़ा-प्रकृतिकी भी उपयोगिता प्राप्त की है। 'चित्' (जीव) किस प्रकार 'जड़' में आबद्ध हुआ है, यह तुम बद्धयुक्ति और बद्धज्ञान द्वारा निर्णय नहीं कर पाओगे, क्योंकि मेरी अचिन्त्य शक्ति तुम्हारे ज्ञानके अधीन नहीं है। तुम्हें इतना जानना ही आवश्यक है कि बद्धजीवके विकारसमूह और गुणसमूह जड़ा-प्रकृतिसे उत्पन्न हैं, ये जीवके स्वधर्मगत तत्त्व नहीं हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२०।।

कार्यकारणकर्त्तृत्वे हेतुः प्रकृतिरुच्यते।
पुरुषः सुखदुःखानां भोक्तृत्वे हेतुरुच्यते।।२१।।

अन्वय—कार्यकारणकर्त्तृत्वे (कार्य-कारणके कर्त्तृत्वके विषयमें) प्रकृतिः (प्रकृति) हेतुः उच्यते (कारण कही जाती है) सुखदुःखानाम् (सुख-दुःखके) भोक्तृत्वे (भोक्तृत्वके विषयमें) पुरुषः (पुरुषको) हेतुः उच्यते (कारण कहा जाता है)।।२१।।

अनुवाद—जड़ीय कार्य और कारणके कर्त्तृत्वके विषयमें प्रकृतिको हेतु कहा जाता है तथा जड़ीय सुख-दुःख आदिके भोक्तृत्वके विषयमें पुरुष अर्थात् बद्धजीवको ही हेतु कहा जाता है।।२१।।

श्रीविश्वनाथ—तस्य माया संश्लेषं दर्शयति—कार्यं शरीरं कारणानि सुखदुःखसाधनानीन्द्रियाणि कर्त्तार इन्द्रियाधिष्ठातारो देवास्तत्र तथाध्यासेन पुरुषस्य तद्भावापत्तौ हेतुः प्रकृतिरेव स्यात्—प्रकृतिरेव पुरुषसंसर्गात् कार्यादिरूपेण परिणता स्यात्, अविद्याख्यया स्ववृत्त्या तदध्यासप्रदा च स्यादित्यर्थः। तत्कृतसुखदुःखानां भोक्तृत्वे तु पुरुषो जीव एव हेतुः। अयं भावः—यद्यपि कार्यत्वकारणत्वकर्तृत्वभोक्तृत्वानि प्रकृतिधर्मा एव स्युस्तदपि

कार्यत्वादिषु जडांशप्राधान्यात्, सुखदुःखसंवेदनरूपे भोगे तु चैतन्यांश-प्राधान्यात्, प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्तीति न्यायात् कार्यत्वादिषु प्रकृतिर्हेतुर्भोक्तृत्वे पुरुषो हेतुरित्युच्यत इति।।२१।।

भावानुवाद—अब श्रीभगवान् जीवका मायासे सम्बन्ध दिखा रहे हैं—'कार्य' अर्थात् शरीर, 'कारण' अर्थात् सुख-दुःखके साधन—इन्द्रियाँ, 'कर्त्ता' अर्थात् इन्द्रियोंके अधिष्ठातृ देवगण। पुरुष जो कर्त्तापनका भाव आरोपित करता है, वह अध्यासवश (मिथ्या ज्ञानके कारण) ही है; प्रकृति ही वस्तुतः इसका कारण है, वहाँ प्रकृति ही पुरुषके संसर्गसे कार्य इत्यादिके रूपमें परिणत होती है। अविद्या नामवाली माया अपनी वृत्तिसे उस अध्यास (मिथ्या ज्ञान) को प्रदान करती है। किन्तु पुरुष अर्थात् जीव ही मायाकृत सुख-दुःखके भोक्तृत्वका हेतु होता है। यद्यपि कार्य, कारण, कर्त्तृत्व, भोक्तृत्वादि प्रकृतिके ही धर्म हैं, तथापि कार्यत्व इत्यादिमें जड़-अंशकी प्रधानता होती है; सुख-दुःख संवेदनरूप भोगमें चैतन्य अंशकी ही प्रधानता होती है। प्रधानताके अनुसार ही किसी वस्तुका नामकरण होता है। कार्यत्व इत्यादिमें प्रकृति तथा भोक्तृत्वमें पुरुषको हेतु कहा जाता है।।२१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जड़ीय कार्य, कारण और कर्त्तृत्वके विषयमें प्रकृति ही हेतु है, किन्तु जड़ीय सुख, दुःख आदिके भोक्ताके विषयमें बद्धजीवको ही हेतु बताया गया है। यहाँ एक बात सर्वदा स्मरण योग्य है कि प्राकृत सुख-दुःख आदिका भोक्ता शुद्धजीव नहीं है, किन्तु तटस्था शक्तिसे प्रकटित जीव मायाके संसर्गसे उत्पन्न देहमें आत्मबुद्धि करनेके कारण प्राकृत सुख-दुःख आदि भोगनेका अभिमान करता है। इस विषयमें श्रीकपिलदेवजी कहते हैं—

'कार्यकारणकर्त्तृत्वे कारणं प्रकृतिं विदुः।
भोक्तृत्वे सुखदुःखानां पुरुषं प्रकृतेः परम्।।'

(श्रीमद्भा. ३/२६/८)

अर्थात्, हे मातः! कार्यरूप शरीर, कारणरूप इन्द्रिय तथा कर्त्तारूप इन्द्रिय-अधिष्ठातृ देवताओंके कर्त्तृत्वके विषयमें तत्त्वविद्गण प्रकृतिको ही कारण मानते हैं। क्योंकि कूटस्थ आत्मामें परमात्माका प्राधान्य विद्यमान रहता है, इसलिए वह निरुपाधिक है एवं प्रकृतिके कार्योंसे निर्विकार है। प्रकृतिके परिणामभूत देह आदिमें अभिमान होनेके कारण प्रकृतिकी वहाँ प्रधानता होती है। इसलिए कर्त्तृत्वके विषयमें पण्डितों द्वारा प्रकृतिको ही

कारण माना जाता है। किन्तु, सुख–दुःख आदि कर्मफलोंको भोगनेमें प्रकृतिसे भिन्न पुरुषको ही हेतु कहा गया है। यद्यपि कर्त्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही एक अहङ्कारके अधीन हैं, तथापि देह आदि जड़का कार्य होनेके कारण, उनमें प्रकृतिकी प्रधानता है तथा सुख–दुःख भोगक्रिया चैतन्यके बिना नहीं होती, इसलिए प्रकृति द्वारा वशीभूत चैतन्यकी ही वहाँ प्रधानता मानी गई है। किन्तु, यह भी स्मरण रखना चाहिए कि इन दोनोंका कर्त्तृत्व ईश्वरके कर्त्तृत्वके अधीन है। माया और जीव दोनों ही ईश्वरके अधीन हैं।।२१।।

पुरुषः प्रकृतिस्थो हि भुङ्क्ते प्रकृतिजान् गुणान्।
कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु।।२२।।

अन्वय—पुरुषः (जीव) प्रकृतिस्थः हि (प्रकृतिमें अवस्थित होकर ही) प्रकृतिजान् (प्रकृतिसे उत्पन्न) गुणान् (विषयसमूह) भुङ्क्ते (भोग करता है) गुणसङ्गः (प्रकृतिके गुणोंका संग ही) अस्य (इस पुरुषके) सदसद्योनिजन्मषु (सत्–असत् योनियोंमें जन्मका) कारणम् (कारण है)।।२२।।

अनुवाद—प्रकृतिमें अवस्थित होकर ही पुरुष प्रकृतिसे उत्पन्न विषयसमूहका भोग करता है तथा प्रकृतिके गुणोंका संग ही सत्–असत् योनियोंमें इस पुरुषके जन्मका कारण है।।२२।।

श्रीविश्वनाथ—किन्तु तत्रानाद्यविद्या-कृतेनाध्यासेनैव कर्तृत्वभोक्तृत्वादिकं तदीयमपि धर्मं स्वीयं मन्यते तत एवास्य संसार इत्याह—पुरुष इति। प्रकृतिस्थः प्रकृतिकार्यदेहे तादात्म्येन हि स्थितः। प्रकृतिजान् अन्तःकरणधर्मान् शोकमोहसुखदुःखादीन् गुणान् स्वीयानेवाभिमन्यमानो भुङ्क्ते। तत्र कारणं गुणसङ्गः, गुणमयदेहेषु अस्यानासङ्गस्याप्यात्मनः सङ्गोऽविद्याकल्पितः। क्व भुङ्क्ते? इत्यपेक्षायामाह—सतीषु देवादियोनिषु असतीषु तिर्यगादियोनिषु शुभाशुभकर्मकृतासु यानि जन्मानि तेषु।।२२।।

भावानुवाद—अनादि अविद्याकृत अध्यास द्वारा ही जीव कर्त्तृत्व–भोक्तृत्व आदि प्रकृतिके धर्मोंको अपना समझता है। इसी कारणसे जीवकी संसार–दशा है। जीव प्रकृतिके कार्य देहमें ही तादात्म्यक्रमसे आत्मबुद्धिकर अवस्थित है तथा 'प्रकृतिजान्'—अन्तःकरणके धर्म शोक–मोह–दुःख इत्यादि गुणोंको अपना कहकर अभिमानपूर्वक उनका भोग करता है। उसका कारण है—'गुणसङ्गः' अर्थात् असङ्ग होनेपर भी आत्माका गुणमय देहमें यह संग

अविद्या-कल्पित है। कहाँ भोग करता है—इसकी अपेक्षामें कहते हैं—'सतीषु' अर्थात् साधु-देवता आदि योनियोंमें तथा 'असतीषु'—पशु-पक्षी आदि योनियोंमें शुभ-अशुभ कर्मोंके अनुसार जो जन्म होता है, उनमें सुख-दुःख भोग करता है।।२२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—तटस्थ स्वभाववाले जीव कृष्णसे विमुख होनेपर देहमें आत्मबुद्धिकर जड़के कर्त्तृत्व और भोक्तृत्वरूप अभिमानको ग्रहणकर संसारी हो पड़ते हैं तथा नाना प्रकारके योनियोंमें जन्म लाभकर सुख-दुःख प्राप्त करते हैं। वे मायामुग्ध जीव अनादि कालसे जन्म-मरणके चक्रमें पड़कर सांसारिक दुःखोंको भोगते हैं, कभी स्वर्गमें, कभी नरकमें, कभी राजा, कभी प्रजा, कभी विप्र, कभी शूद्र, कभी कीड़े-मकोड़े, कभी दैत्य, कभी दास, कभी प्रभु, कभी सुखी और कभी दुःखीके रूपमें जन्म ग्रहण करते हैं। जीव चित्-कण तथा भगवत्-दास होकर भी कृष्ण-बहिर्मुख भोग-वाञ्छाओंके कारण निकटमें रहनेवाली मायाके द्वारा आक्रान्त होता है। जैसे पिशाची द्वारा ग्रस्त जीवोंकी मति आच्छन्न हो जाती है, उसी प्रकार मायाग्रस्त जीवोंकी मति आच्छन्न हो जाती है। भगवान् और भक्तोंकी कृपासे उनको सत्सङ्ग-प्राप्ति होनेपर वे मायासे मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर भगवत्-सेवासुखका आस्वादन करते हैं—

'कृष्ण भूलि सेइ जीव अनादि-बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार-दुःख।।
कभु स्वर्गे उठाय, कभु नरके डुबाय।
दण्ड्य जने राजा येन नदीते चुबाय।।'

(चै. च. म. २०/११७-११८) ।।२२।।

उपद्रष्टानुमन्ता च भर्त्ता भोक्ता महेश्वरः।
परमात्मेति चाप्युक्तो देहेऽस्मिन्पुरुषः परः।।२३।।

अन्वय—अस्मिन देहे (इस देहमें) परः पुरुषः (जीवसे भिन्न पुरुष) उपद्रष्टा (साक्षी) अनुमन्ता च (और अनुमोदनकारी) भर्त्ता (धारक) भोक्ता (पालक) महेश्वरः (महेश्वर) परमात्मा च इति अपि (एवं परमात्मा इत्यादि भी) उक्तः (कहे जाते हैं)।।२३।।

अनुवाद—इस देहमें जीवामात्मासे भिन्न पुरुष साक्षी, अनुमोदनकारी, धारक, पालक, महेश्वर और परमात्मा इत्यादि भी कहे जाते हैं।।२३।।

श्रीविश्वनाथ—जीवात्मानमुक्त्वा परमात्मानमाह—उपद्रष्टेति। यद्यपि *अनादि मत् परम् ब्रह्मेत्यादिना* हृदि सर्वस्य धिष्टितमित्यनेन च सामान्यतो विशेषतश्च परमात्मा प्रोक्त एव, तदपि तस्य जीवात्मसाहित्येनापि पृथगेव स्पष्टतया देहस्थत्वज्ञापनार्थमियमुक्तिर्ज्ञेया। अस्मिन् देहे परोऽन्यः पुरुषो यो महेश्वरः स परमात्मेति चाप्युक्तः, परमात्मेति च नाम्नाप्युक्तो भवतीत्यर्थः, अत्र परम-शब्द एकात्मवादपक्षे स्वांश इति द्योतनार्था जीवस्य उप-समीपे पृथक्स्थित एव द्रष्टा साक्षी। अनुमन्तानुमोदनकर्त्ता सन्निधिमात्रेणानुग्राहकः— "साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च" इति श्रुतेः। तथा भर्त्ता धारको भोक्ता पालकः।।२३।।

भावानुवाद—जीवात्माके विषयमें कहनेके बाद अब 'उपद्रष्टा' इत्यादिसे परमात्माके विषयमें बता रहे हैं। यद्यपि *'अनादि मत्परं ब्रह्म'* (गीता १३/१३) से लेकर *'हृदि सर्वस्य धिष्ठितम्'* (गीता १३/१८) तकके श्लोकोंके द्वारा सामान्य और विशेष भावसे परमात्माके ही विषयमें कहा गया है, तथापि जीवात्माके निकट रहकर भी परमात्मा पृथक् हैं—इसे स्पष्ट करते हुए परमात्माके इस देहमें स्थित होनेकी उक्ति की जा रही है, ऐसा समझना चाहिए। इसी देहमें 'पर' अर्थात् जो अन्य पुरुष महेश्वर हैं, वे परमात्मा हैं। 'परमात्मा' शब्दसे भी आत्मासे इनकी श्रेष्ठता सिद्ध होती है। यहाँ 'परम' शब्द एकात्मवादके पक्षमें स्वांश है, इसे ही प्रकाश करनेके लिए कहते हैं कि जीवके 'उप' अर्थात् समीपमें पृथक् अवस्थित होकर ही वे द्रष्टा अर्थात् साक्षी हैं। 'अनुमन्ता' अर्थात् अनुमोदनकर्त्ताका तात्पर्य है—निकटमें अवस्थान करते हुए ही वे अनुग्राहक हैं। गोपाल तापनीमें कहा गया है—*'साक्षी चेताः केवलो निर्गुणश्च'* अर्थात् पुरुष साक्षी, चेता, केवल और निर्गुण है। इसी प्रकार 'भर्त्ता' का तात्पर्य है—धारक एवं 'भोक्ता' का तात्पर्य है—पालक।।२३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जीवात्माके साथ इस शरीरमें साक्षीके रूपमें रहनेवाले परमात्मा जीवोंसे पृथक् हैं, वे साधारण जीव नहीं है। अद्वैतवादी जीवात्मा और परमात्माको एक मानते हैं। किन्तु इस श्लोकसे यह स्पष्ट है कि प्रत्येक शरीरमें साक्षी और अनुमति देनेवाले परमात्मा जीवात्मासे भिन्न हैं। जीवात्माओंसे श्रेष्ठ होनेके कारण ही वे परमात्मा अर्थात् श्रेष्ठ

आत्मा कहलाते हैं। ये परमात्मा स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके अंशके अंश एक कलास्वरूप हैं। बिना उनकी अनुमतिके जीवात्मा कुछ भी नहीं कर सकता। जीवात्माएँ अनन्त हैं, परन्तु परमात्मा उनके साथ परम हितैषी सखाके रूपमें नित्य विराजमान रहते हैं। ये परमात्मा जीवोंके साथ विराजमान रहनेपर भी जीव एवं मायाके प्रभु हैं।

भगवान्ने जीवोंको स्वतन्त्रतारूपी एक अमूल्य निधि प्रदान की है। इस स्वतन्त्रताका सदुपयोग करनेपर वह सहज ही भगवान्के नित्य धाममें भगवान्की प्रेममयी सेवा-रसका आस्वादन कर सकता है, अन्यथा स्वतन्त्रताका दुरुपयोग करनेपर वह मायाबद्ध होकर त्रितापोंसे दग्ध होता हुआ जन्म-मरणके चक्रमें फँस जाता है। अतः मायाके वशीभूत होनेवाला जीव मायापति भगवान् कैसे हो सकता है? अतः ऐसा विचार शास्त्र-विरुद्ध एवं भ्रान्त है।

श्रुतियोंमें स्पष्टरूपसे परमात्माको जीवात्मासे भिन्न बताया गया है—*'नित्यो नित्यानाम् चेतनश्चेतनानाम्'* (श्वे. ६/१३) अर्थात् वे समस्त नित्य वस्तुओंमें परम नित्य हैं अर्थात् वे सर्वश्रेष्ठ नित्य वस्तु हैं और समस्त चेतन वस्तुओंमें वे चैतन्यदाता मूल चेतन हैं। और भी,

'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्योऽभिचाकशीति।।'

(श्वे. ४/६, मुण्डक ३/१/१,)

अर्थात्, क्षीरोदशायी पुरुष और जीव इस अनित्य संसाररूप पीपलके वृक्षके ऊपर सखाकी तरह वास करते हैं। उन दोनोंमें से एक अर्थात् जीव अपने कर्मोंके अनुसार उस वृक्षके फलोंको चख रहा है और दूसरे अर्थात् परमात्मा उन फलोंका उपभोग नहीं कर साक्षीस्वरूप केवल देख रहे हैं।

'सुपर्णावेतौ सदृशौ सखायौ यदृच्छयैतो कृतनीडौ च वृक्षे।
एकस्तयोः खादति पिप्पलान्नमन्यो निरन्नोऽपि बलेन भूयान्।।'

(श्रीमद्भा. ११/११/६)

अर्थात्, एक समान चिन्मय धर्मवाले सखा भावापन्न जीव और ईश्वररूपी दो पक्षी दैववश देहरूप वृक्षके हृदयरूप घोंसलेमें निवास करते हैं। इनमें से जीवरूपी पक्षी देहरूप पीपल वृक्षके कर्मरूप फलका भोग करता है और दूसरा ईश्वररूप पक्षी फलका भोग नहीं कर नित्यानन्दमें सर्वदा तृप्त रहकर ज्ञान आदि शक्तियोंके बलसे सुखपूर्वक विराजमान है।

"जीव मेरा सखा है, अपने तटस्थ स्वभावमें विशुद्धरूपसे अवस्थित होने पर वह मेरी सम्मुखता प्राप्त करता है। तटस्थ स्वभाव ही उसकी स्वाधीनता है। इस स्वभाव (स्वतन्त्रता) के द्वारा मेरा विमल प्रेम प्राप्त करनेसे ही जैव-धर्मकी चरितार्थता है। जब जीव उस स्वभाव (स्वतन्त्रता) का अपव्यवहारकर प्राकृत-क्षेत्रमें प्रवेश करता है, तब मैं भी उस समय परमात्माके रूपमें उसका सहचर होता हूँ। अतएव मैं ही उन जीवोंके समस्त कार्योंका उपद्रष्टा (साक्षी), अनुमन्ता (अनुमति प्रदान करनेवाला), भर्त्ता, भोक्ता और महेश्वररूपमें 'परमात्मा' के नामसे परमपुरुषके रूपमें सर्वदा लक्षित होता हूँ। जड़वद्ध होकर जीवके जो समस्त कर्म अनुष्ठित होते हैं, मैं उनका फल प्रदान करता हूँ।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२३।।

य एवं वेत्ति पुरुषं प्रकृतिञ्च गुणैः सह।
सर्वथा वर्त्तमानोऽपि न स भूयोऽभिजायते।।२४।।

अन्वय—यः (जो) एवं (इस प्रकार) पुरुषम् (पुरुषको) गुणैः सह (गुण आदिके साथ) प्रकृतिम् (मायाशक्तिको) च (और जीवशक्तिको) वेत्ति (जानते हैं) सः (वे) सर्वथा वर्त्तमानः अपि (जड़जगत्में अवस्थान करते हुए भी) भूयः (पुनः) न अभिजायते (जन्म ग्रहण नहीं करते हैं)।।२४।।

अनुवाद—जो इस प्रणालीसे पुरुष-तत्त्व (परमात्मा), सगुणा माया (प्रकृति) और जीव-तत्त्वसे अवगत होते हैं, वे जड़जगत्में अवस्थान करनेपर भी पुनर्जन्म नहीं प्राप्त करते हैं।।२४।।

श्रीविश्वनाथ—एतज्ज्ञानफलमाह—य इति। पुरुषं परमात्मानं प्रकृतिं मायाशक्तिं, च—कारात् जीवशक्तिञ्च सर्वथा वर्त्तमानोऽपि लयविक्षेपादि-पराभूतोऽपि।।२४।।

भावानुवाद—अब ज्ञानका फल बताते हुए कहते हैं—जो 'पुरुष' अर्थात् परमात्माको, 'प्रकृति' अर्थात् मायाशक्तिको तथा 'जीवशक्ति' (च-कारसे जीवशक्तिको भी समझना चाहिए) को जान लेते हैं, वे लय-विक्षेप द्वारा पराभूत होनेपर भी पुनर्जन्म नहीं लाभ करते हैं।।२४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भक्ति-तत्त्व, जीव-तत्त्व तथा परमात्म-तत्त्वसे तथा इन तीनोंके परस्पर सम्बन्धसे अवगत होकर साधक मुक्त होनेका अधिकारी होता है, तत्पश्चात् वह सत्पुरुषों एवं सद्गुरुकी कृपासे शुद्धा भक्तिका अनुशीलन करते-करते क्रमशः श्रद्धा, निष्ठा, रुचि, आसक्ति, भाव और भगवत्प्रेम प्राप्तकर भगवत्-धाममें प्रवेश करता है। यह निश्चित

है कि भगवत्-धामसे कभी उसका पतन नहीं हुआ है, न कभी होता है। बद्धजीव पहले भगवत्-धाममें भगवत्-सेवामें नियुक्त थे, किन्तु दैवयोगसे वे संसारमें गिर गए हैं—यह विचार सर्वथा शास्त्र-विरुद्ध एवं कपोलकल्पित है। यदि युक्तिके लिए इसे मान भी लिया जाय, तो यह प्रश्न उठता है कि इतने कठोर साधनाके बाद जिस भगवत्-धामकी प्राप्ति हुई, यदि वहाँसे भी इस संसारमें पुनः पतन हो जाए, तो फिर भक्ति और प्रेमका महत्व ही क्या रहा? चित्रकेतु महाराज या भगवत्-परिकर जय-विजयका उदाहरण इस विषयमें नहीं दिया जा सकता, क्योंकि वे भगवत्-परिकर थे। वे भगवत्-इच्छासे ही जीवोंके कल्याणके लिए भगवत्-लीलाकी पुष्टिके लिए जगत्में अवतरित हुए थे। उनको साधारण बद्ध जीव मानना घोर अपराध है। श्रील विश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने इसे 'माधुर्य-कादम्बिनी' में दिखाया है। इसलिए भगवत्-धाम प्राप्त करनेवाला जीव पुनः संसार-बन्धनको प्राप्त नहीं होता, यदि आता भी है, तो भगवत्-इच्छासे लीला-परिकरके रूपमें ही आता है, बद्ध होनेके लिए नहीं—

'न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।।'
(गीता १५/६) ।।२४।।

ध्यानेनात्मनि पश्यन्ति केचिदात्मानमात्मना।
अन्ये सांख्येन योगेन कर्मयोगेन चापरे।।२५।।

अन्वय—केचित् (भक्तगण) ध्यानेन (भगवत्-चिन्ता द्वारा) आत्मनि (हृदयमें) आत्मानम् (परमात्माको) आत्मना (स्वयं ही) पश्यति (देखते हैं) अन्ये (ज्ञानिगण) सांख्येन (आत्म-अनात्म-विवेक द्वारा) अपरे (योगिगण) योगेन (अष्टाङ्गयोग द्वारा) [अपरे—अन्य कोई कोई] कर्मयोगेन च (निष्काम कर्मयोग द्वारा भी) [पश्यति—दर्शनकी चेष्टा करते हैं]।।२५।।

अनुवाद—भक्तगण भगवत्-चिन्ता द्वारा स्वयं ही हृदयमें परम पुरुषका दर्शन करते हैं। ज्ञानिगण सांख्ययोग द्वारा, योगिगण अष्टाङ्गयोग द्वारा एवं कोई कोई निष्काम कर्मयोग द्वारा भी उनके दर्शनकी चेष्टा करते हैं।।२५।।

श्रीविश्वनाथ—अत्र साधन-विकल्पमाह—ध्यानेनेति द्वाभ्याम्—केचिद्भक्ता ध्यानेन भगवच्चिन्तनेनैव, 'भक्त्या मामभिजानाति' इत्यग्रिमोक्तेः आत्मनि मनस्यात्मना स्वयमेव नत्वन्येन केनाप्युपकारकेनेत्यर्थः। 'अन्ये' ज्ञानिनः

सांख्यमात्मानात्मविवेकस्तेन 'अपरे' योगिनो योगेनाष्टांगेन कर्मयोगेन निष्कामकर्मणा च। अत्र सांख्याष्टाङ्गयोगनिष्कामकर्मयोगाः परमात्मदर्शने परस्परैव हेतवो न तु साक्षाद्धेतवस्तेषां सात्त्विकत्वात् परमात्मनस्तु गुणातीतत्वात्। किञ्च, *"ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्" इति भगवदुक्तेर्ज्ञानादि-संन्यासानन्तरमेव "भक्त्याहमेकया ग्राह्यः"* इत्युक्तेर्ज्ञानं विमुच्य तया भक्त्यैव पश्यन्ति।।२५।।

भावानुवाद—वर्त्तमान दो श्लोकोंमें अब आत्मज्ञानके साधनके विषयमें बता रहे हैं। कोई कोई भक्त भगवान्‌की चिन्ता द्वारा ही मनमें स्वयं उनका दर्शन करते हैं, जैसा कि बादमें भी बताया जाएगा—'*भक्त्या मामभिजानाति*' (गीता १८/५५)। किन्तु, अन्य किसी उपासकों द्वारा मैं दर्शनीय नहीं हूँ—'अन्ये' अर्थात् ज्ञानिगण 'सांख्येन' अर्थात् आत्म-अनात्म विवेक द्वारा, 'अपरे' अर्थात् योगिगण 'योगेन'—अष्टाङ्गयोग द्वारा एवं कर्मयोगी निष्काम कर्मयोग द्वारा मेरे दर्शनकी चेष्टा करते हैं। यहाँ सांख्य, अष्टाङ्गयोग और निष्काम कर्मयोग परस्पर भावसे परमात्माके दर्शनके कारण हैं, साक्षात् कारण नहीं, क्योंकि ये सब सात्त्विक हैं और परमात्मा गुणातीत हैं। श्रीमद्भागवत (११/१९/१) में भी कहा गया है—'*ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्*' अर्थात् ज्ञानका मुझमें संन्यास करो। और भी, '*भक्त्याहमेकया ग्राह्यः*' (श्रीमद्भा. ११/१४/२१) अर्थात् मैं ऐकान्तिकी भक्ति द्वारा ही प्राप्य हूँ। भगवान्‌की इन उक्तियोंसे स्पष्ट है ज्ञान आदिका संन्यासकर ज्ञानशून्य भक्तिसे ही वे प्राप्य हैं।।२५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें भगवान् श्रीकृष्ण यह बता रहे हैं कि पूर्वोक्त श्लोकमें वर्णित विशुद्ध आत्मज्ञान कैसे प्राप्त हो सकता है। शास्त्रोंमें सांख्ययोग, अष्टाङ्गयोग, निष्काम कर्मयोग आदि उपायोंका वर्णन दृष्टिगोचर होनेपर भी भक्तियोगके द्वारा ही ऐसा विशुद्ध ज्ञान सरल सहजरूपमें पाया जा सकता है। श्रीमद्भागवत (११/१४/२१) के उद्धव-संवादमें स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—'*भक्त्याहमेकया ग्राह्यः*' अर्थात् ऐकान्तिकी या केवला भक्तिके द्वारा ही मैं प्राप्त होता हूँ। वे और भी कह रहे हैं—

'योगास्त्रयो मया प्रोक्ता नृणां श्रेयोविधित्सया।
ज्ञानं कर्म च भक्तिश्च नोपायोऽन्योऽस्ति कुत्रचित्।।

निर्विण्णानां ज्ञानयोगो न्यासिनामिह कर्मसु।
तेष्वनिर्विण्णचित्तानां कर्मयोगस्तु कामिनाम्।।
यदृच्छया मत्कथादौ जातश्रद्धस्तु यः पुमान्।
न निर्विण्णो नातिसक्तो भक्तियोगोऽस्य सिद्धिदः।।'

(श्रीमद्भा. ११/२०/६-८)

अर्थात्, मैंने मनुष्योंके कल्याणके लिए तीन प्रकारके योगोंको बताया। ये हैं—कर्मयोग, ज्ञानयोग और भक्तियोग। इनके अतिरिक्त मुझे प्राप्त करनेका और कोई दूसरा उपाय नहीं है। संसारसे सम्पूर्ण विरक्त व्यक्ति ज्ञानयोगके अधिकारी होते हैं, किन्तु जो लोग न तो संसारसे अत्यन्त विरक्त ही हैं और न ही आसक्त हैं, दैवयोगसे हमारी लीलाकथाओंके प्रति श्रद्धा रखते हैं, वे भक्तिके अधिकारी हैं, वे शीघ्र ही भक्तिका अनुशीलनकर शीघ्र ही सिद्धि प्राप्त करते हैं। किन्तु, इन तीनों योगोंमें भी भक्तियोग ही सर्वोत्तम है। यथार्थमें भक्ति द्वारा ही मैं सम्पूर्णरूपसे प्राप्त होता हूँ—यह अत्यन्त गूढ़ रहस्य है—*'न साधयति मां योगो'* (श्रीमद्भा. ११/१४/२०) अर्थात् कर्मयोग, ज्ञानयोग, जप, तप, होम, स्वाध्याय आदिके द्वारा मैं प्रसन्न नहीं होता। भक्तिके द्वारा ही मैं वशीभूत होता हूँ। गीता (६/४६) में भी कहा गया है—

'योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना।
श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।'

"हे अर्जुन! परमार्थके सम्बन्धमें बद्धजीव दो भागोंमें विभक्त हैं—बहिर्मुख और अन्तर्मुख। नास्तिक, जड़वादी, सन्देहवादी, केवलनैतिक—इस प्रकारके लोग परमार्थ-बहिर्मुखमें ही परिगणित हैं। किन्तु, विश्वासयुक्त जिज्ञासु पुरुष, कर्मयोगी और भक्त—ये अन्तर्मुखी हैं। भक्तगण ही सर्वश्रेष्ठ हैं, क्योंकि वे प्रकृतिसे अतिरिक्त (परे) आत्मतत्त्वमें चित्-आश्रय द्वारा परमात्माका ध्यान करते हैं। ईशानुसन्धित्सु (ईशका अनुसन्धान करनेवाले) सांख्ययोगिगण द्वितीय श्रेणीमें स्थित हैं, वे चौबीस तत्त्वमयी प्रकृतिकी आलोचनाकर पच्चीसवें तत्त्व जीवको शुद्ध चित्स्वरूप जानकर, छब्बीसवें तत्त्व जो भगवान् हैं, उनमें क्रमशः भक्तियोगका विधान करते हैं। इनकी अपेक्षा न्यूनश्रेणीमें कर्मयोगिगण वर्तमान हैं, वे निष्काम कर्मयोग द्वारा भगवत्-आलोचनाकी सुविधा प्राप्त करते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२५।।

अन्ये त्वेवमजानन्तः श्रुत्वान्येभ्य उपासते।
तेऽपि चातितरन्त्येव मृत्युं श्रुतिपरायणाः।।२६।।

अन्वय—अन्ये तु (किन्तु, कुछ अन्य लोग) एव अजानतः (तत्त्वको इस प्रकार न जानकर) अन्येभ्यः (अन्य उपदेशकोंके निकट) श्रुत्वा (श्रवणकर) उपासते (उपासना करते हैं) ते अपि (वे भी) श्रुतिपरायणाः (उपदेश श्रवणपरायण होकर) मृत्युम् च (मृत्युरूप संसारका) अतितरन्ति (अतिक्रमण करते हैं)।।२६।।

अनुवाद—किन्तु, कुछ अन्य लोग इस प्रकार तत्त्वको न जानकर अन्य आचार्योंके निकट उपदेश श्रवणकर उपासना करते हैं, वे भी श्रवणनिष्ठ होकर क्रमशः मृत्युरूप संसारका अवश्य अतिक्रमण करते हैं।।२६।।

श्रीविश्वनाथ—अन्य इतस्ततः कथा-श्रोतारः।।२६।।

भावानुवाद—'अन्ये' का तात्पर्य है—यहाँ-वहाँ कथा श्रवण करनेवाला।।२६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें श्रीभगवान् एक महत्वपूर्ण विधिकी बात बता रहे हैं। वह यह कि कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो न तो नास्तिक होते हैं, न संशयवादी अथवा न तो मायावादी और न ही दार्शनिक हैं। वे समाजके साधारण व्यक्ति होनेपर भी पूर्वजन्मके संस्कारसे साधारणतः श्रद्धालु होते हैं। वे लोग इधर-उधर सत्सङ्गमें भगवत्कथाका श्रवणकर अन्य उपदेशकोंके निकट उपदेश आदि श्रवणकर मेरी उपासना करनेका प्रयत्न करते हैं। तदनन्तर शुद्ध भक्तोंका संग पानेपर शुद्धरूपमें हरिकथा श्रवण करनेका सुयोग पाकर अन्तमें भक्ति-तत्त्वमें प्रवेश करते हैं और अन्तमें मुझे प्राप्त करते हैं।

आधुनिक तथाकथित सभ्य समाजमें आत्मज्ञानके विषयमें कोई शिक्षा नहीं दी जाती, किन्तु श्रीमद्भगवद्गीता और श्रीमद्भागवतमें श्रवणकी विधिको अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बताया गया है। विशेषतः श्रीचैतन्य महाप्रभुने श्रवण और कीर्त्तनके विषयपर अत्यधिक बल दिया है। उन्होंने ही इस आधुनिक विश्वमें 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।।'—इस हरिनामके श्रवण-कीर्त्तनपर विशेष जोर दिया है। उनका मुख्य उपदेश यह है कि भगवत्कथा और श्रीहरिनामके श्रवण, कीर्त्तन, स्मरणके प्रभावसे ही सहजरूपमें भगवान्‌की सेवा प्राप्त की जा सकती है। चतुर्मुख ब्रह्मा, श्रीनारद गोस्वामी, श्रीवेदव्यास, श्रीशुकदेव

गोस्वामी, महाराज परीक्षित, प्रह्लाद महाराज आदिने इसी पद्धतिसे भगवान्‌का साक्षात्कार किया था।

श्रीहरिदास ठाकुरजी श्रीचैतन्य महाप्रभुके परिकरोंमें से एक हैं। वे यवन कुलमें उत्पन्न होनेपर भी नित्य निरन्तर तीन लाख हरिनाम कीर्त्तन करते थे। समाजके छोटे-बड़े सभी लोग उनकी खूब श्रद्धा करते थे। ऐसा देखकर वहाँका प्रसिद्ध जमींदार श्रीहरिदास ठाकुरसे ईर्ष्या करने लगा। उसने हरिदासजीको लोगोंकी दृष्टिमें गिरानेके लिए प्रचुर अर्थका लोभ दिखाकर एक परम रूपवती किशोरी वेश्याको रातके समय उनके निकट भेजा। हरिदास ठाकुरजी भगवती गङ्गाके किनारे एक निर्जन स्थानमें एकाग्र चित्तसे 'हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे। हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे।।'—महामन्त्रका उच्च स्वरसे संख्यापूर्वक जप कर रहे थे। पास ही तुलसीका चबूतरा था, चाँदनी रात थी। वेश्या उनके निकट जाकर हाव-भाव एवं भङ्गीके द्वारा अपने मनकी अभिलाषा उनसे प्रकट की। किन्तु, हरिदास ठाकुर पर इसका तनिक भी प्रभाव नहीं हुआ। अन्तमें उसने स्पष्ट शब्दोंमें उनसे प्रार्थना की। हरिदास ठाकुरने कहा कि मैंने एक करोड़ हरिनाम जपनेका सङ्कल्प लिया है। बस थोड़ी ही देरमें संख्या पूर्ण हो जानेपर तुम्हारी अभिलाषा पूर्ण करूँगा। आश्वासन पाकर वेश्या उनके निकट ही रातभर बैठकर नाम पूर्ण होनेकी प्रतीक्षा करने लगी। प्रातःकाल होनेपर लोक-समाजके डरसे वह अपने घर लौट आई। दूसरी रात वह पुनः आकर उनके पास बैठ गई। हरिदास ठाकुरजीने आज भी उसे कहा कि मेरा नाम पूर्ण होने ही वाला है। वह रात भी पहले रातकी भाँति ही बीत गई। तीसरी रात भी वह पुनः आई। हरिदास ठाकुर जोर-जोरसे हरिनाम करने लगे। अहो! शुद्ध भक्तके मुखसे उच्चारित हरिनाम श्रवणका ऐसा चमत्कारपूर्ण फल हुआ कि वेश्याका हृदय बदल गया। वह उनके चरणोंमें गिर पड़ी और रो-रोकर क्षमा माँगने लगी। हरिदास ठाकुरने प्रसन्न होकर कहा कि मैं तो पहले दिन ही इस स्थानको छोड़कर कहीं अन्यत्र चला जाता, किन्तु तुम्हारे लिए ही यहाँ रुका हुआ था। बड़ी प्रसन्नताकी बात है कि तुम्हारा हृदय परिवर्त्तित हो गया। श्रीहरिनामके श्रवण और कीर्त्तनकी यह अव्यर्थ महिमा है। तुम इस आश्रममें निर्भय होकर निरन्तर हरिनाम करना। तुलसी एवं भगवती गङ्गाकी सेवा करना। उसने ऐसा ही किया। उसकी जीवनधारा बदल गई। बड़े-बड़े

भक्त लोग भी उस परम वैष्णवीका दर्शन करनेके लिए उस आश्रमपर पहुँचने लगे। दीन-हीन और अकिञ्चन रहकर भजन करते-करते कुछ ही दिनोंमें वह भगवान्के धाम चली गई।

इस प्रकार श्रवण-कीर्त्तनके द्वारा साधारण व्यक्ति भी भगवान्को प्राप्त कर करता है।।२६।।

यावत्संजायते किञ्चित् सत्त्वं स्थावरजङ्गमम्।
क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ।।२७।।

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतवंशियोंमें श्रेष्ठ!) यावत् (जो कुछ) स्थावरजङ्गमम् (स्थावर-जङ्गमात्मक) सत्त्वम् (प्राणी) सञ्जायते (उत्पन्न होते हैं) तत् (वे समस्त) क्षेत्रक्षेत्रज्ञसंयोगात् (क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे) [उत्पन्न होते हैं, ऐसा] विद्धि (जानो)।।२७।।

अनुवाद—हे भरतर्षभ! जो भी स्थावर-जङ्गमात्मक प्राणी उत्पन्न होते हैं, वे सभी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न होते हैं—ऐसा जानो।।२७।।

श्रीविश्वनाथ—उक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति यावदध्यायसमाप्ति। यावदिति यत्प्रमाणकं निकृष्टमुत्कृष्टं वा सत्त्वं प्राणिमात्रम्।।२७।।

भावानुवाद—जिस विषयका वर्णन पहले हो चुका है, उसे ही विस्तारपूर्वक अध्यायके अन्त तक बता रहे हैं। 'यावत्' अर्थात् जितने भी निकृष्ट अथवा उत्कृष्ट 'सत्त्वं' अर्थात् प्राणी हैं, वे सभी क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके संयोगसे उत्पन्न हैं।।२७।।

समं सर्वेषु भूतेषु तिष्ठन्तं परमेश्वरम्।
विनश्यत्स्वविनश्यन्तं यः पश्यति स पश्यति।।२८।।

अन्वय—यः (जो) सर्वेषु भूतेषु (सभी भूतोंमें) समम् (समभावसे) तिष्ठन्तम् (अवस्थित) विनश्यत्सु (विनाशशीलोंमें) अविनश्यन्तम् (अविनाशी) परमेश्वरम् (परमेश्वरको) पश्यति (देखते हैं) सः (वे) पश्यति (वास्तवमें देखते हैं)।।२८।।

अनुवाद—जो सभी भूतोंमें समभावसे अवस्थित, विनाशशीलोंमें अविनाशी परमेश्वरको देखते हैं, वे ही यथार्थदर्शी हैं।।२८।।

श्रीविश्वनाथ—परमात्मानं त्वेवं जानीयादित्याह—सममिति। विनश्यत्स्वपि देहेषु यः पश्यति स एव ज्ञानीत्यर्थः।।२८।।

भावानुवाद—किन्तु, परमात्माको इस प्रकारसे जानो—वे विनाशशील देहमें समभावसे स्थित हैं। जो ऐसा देखते हैं, वे ही ज्ञानी हैं।।२८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जो लोग तत्त्वदर्शी महात्माओंके सङ्गके प्रभावसे शरीर, शरीरी (आत्मा) और आत्माके सखा परमात्माको एकसाथ अनुभव करते हैं, वे ही यथार्थ ज्ञानी हैं। किन्तु इसके विपरीत सत्सङ्गसे रहित व्यक्ति ही यथार्थ अज्ञानी हैं। ये लोग केवल शरीरको ही देखते हैं तथा नश्वर शरीरको ही 'मैं' समझते हैं। शरीरके नष्ट होनेपर ये लोग ऐसा समझते हैं कि सब कुछ नष्ट हो गया। किन्तु, ज्ञानी व्यक्ति शरीरके नाश होनेपर भी आत्मा और परमात्माका अस्तित्व अनुभव करते हैं। एक शरीरके नष्ट होनेपर आत्मा अपनी इन्द्रियों और सूक्ष्म शरीरके साथ किसी दूसरे शरीरमें प्रविष्ट हो जाता है। उसके सखा परमात्मा भी साक्षीके रूपमें जीवात्माके साथ ही विराजमान रहते हैं। जो लोग ऐसा जानते हैं, वे ही यथार्थ ज्ञानी हैं।।२८।।

समं पश्यन् हि सर्वत्र समवस्थितमीश्वरम्।
न हिनस्त्यात्मनात्मानं ततो याति परां गतिम्।।२९।।

अन्वय—हि (क्योंकि) [वे] सर्वत्र (सभी भूतोंमें) समम् (समभावसे) समवस्थितम् (सम्यक्‌रूपेण अवस्थित) ईश्वरम् (ईश्वरको) पश्यन् (देखकर) आत्मना (मनके द्वारा) आत्मानम् (स्वयंको) न हिनस्ति (अधःपतित नहीं करते हैं) ततः (इसीलिए) पराम् गतिम् (परम गति) याति (प्राप्त करते हैं)।।२९।।

अनुवाद—क्योंकि, वे सभी भूतोंमें समभावसे सम्यक्‌रूपेण अवस्थित परमेश्वरको देखकर मनके द्वारा स्वयंको अधःपतित नहीं करते हैं, इसीलिए परम गति प्राप्त करते हैं।।२९।।

श्रीविश्वनाथ—आत्मना मनसा कुपथगामिनात्मानं जीवं न हिनस्ति नाधःपातयति।।२९।।

भावानुवाद—'आत्मना' अर्थात् कुपथगामी मन द्वारा 'आत्मानं'—जीवको 'न हिनस्ति'—अधःपतित नहीं करते हैं।।२९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—बद्धजीव प्रकृतिके विभिन्न गुणों और कर्मोंमें आबद्ध होकर विभिन्न अवस्थाओंको प्राप्त होता है, किन्तु परमेश्वर विभिन्न जीवोंके हृदयमें अवस्थान करनेपर भी सर्वत्र ही समभावसे विराजमान रहते हैं। जो लोग ऐसा समझते हैं, वे लोग अन्तमें परमगति प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत जो लोग मनके द्वारा भगवान्‌के ऐश्वर्य और गुण-महिमाका चिन्तन नहीं करते, विषय-भोगोंमें फँसे रहते हैं, वे आत्मघाती हैं और

अधःपतित होते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा कहा गया है—

'नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा।।'

(श्रीमद्भा. ११/२०/१७)

अर्थात्, हे उद्धव! यह मनुष्य शरीर समस्त शुभफलोंकी प्राप्तिका मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होनेपर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार सागरसे पार जानेके लिए यह एक सुदृढ़ नौकाके समान है। शरण-ग्रहणमात्रसे ही गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवारका संचालन करने लगते हैं और स्मरण मात्रसे ही मैं अनुकूल वायुके रूपमें इसे लक्ष्यकी ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होनेपर भी जो इस शरीरको पाकर संसार-सागरसे पार होनेकी चेष्टा नहीं करता, वह आत्मघाती है।।२९।।

प्रकृत्यैव च कर्माणि क्रियमाणानि सर्वशः।
यः पश्यति तथात्मानमकर्त्तारं स पश्यति।।३०।।

अन्वय—यः (जो) सर्वशः कर्माणि (सभी कर्मोंको) प्रकृत्या एव च (प्रकृतिके द्वारा ही) क्रियमाणानि (सम्पादित) पश्यति (देखते हैं) तथा (तथा) आत्मानम् (आत्माको) अकर्त्तारम् (अकर्त्ता) [पश्यति—देखते हैं] सः (वे) पश्यति (यथार्थमें देखते हैं)।।३०।।

अनुवाद—जो सभी कर्मोंको प्रकृतिके द्वारा ही सम्पादित देखते हैं तथा आत्माको अकर्त्ता देखते हैं, वे ही यथार्थमें देखते हैं।।३०।।

श्रीविश्वनाथ—प्रकृत्यैव देहेन्द्रियाद्याकारेण परिणतया सर्वशः सर्वाण्यात्मानं जीवं देहाभिमानेनैवात्मनः कर्त्तृत्वम्, न तु स्वत इत्येवं यः पश्यतीत्यर्थः।।३०।।

भावानुवाद—'प्रकृत्यैव'—देह और इन्द्रियके रूपमें परिणत प्रकृति ही सभी कार्य करती है। जो जीव देहमें आत्मबुद्धि होनेके कारण अपना कर्त्तृत्व समझता है, वह अवास्तव दर्शन करता है। किन्तु, जो यह देखता है कि कर्म करनेवाला मैं नहीं हूँ, वही ठीक देखता है।।३०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—प्रकृतिकी क्रिया और गुणों द्वारा परिचालित होकर बद्धजीव अपनेको प्राकृत कर्मोंका कर्त्ता अभिमान करता है। किन्तु, वह यथार्थतः कर्त्ता नहीं है, भगवान्ने इसे पहले ही बताया है। परमेश्वर सभी प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामी रूपसे सबके प्रेरक होनेपर भी अकर्त्ता ही हैं। परमेश्वरकी तो बात ही क्या, शुद्ध जीवात्मा भी अपनेको प्राकृत इन्द्रियोंके द्वारा किए गए प्राकृत कर्मोंका कर्त्ता अभिमान नहीं करता।

जो ऐसा जानते हैं, वे ही यथार्थ ज्ञानी हैं। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा कहा गया है—

'शोक-हर्ष-भय-क्रोध-लोभ-मोहस्पृहादयः ।
अहङ्कारस्य दृश्यन्ते जन्म मृत्युश्च नात्मनः।।'

(श्रीमद्भा. ११/२८/१५)

अर्थात्, हे उद्धव! प्राकृत अहङ्कार ही शोक, हर्ष, भय, क्रोध, लोभ, मोह, स्पृहा और जन्म-मृत्युका कारण होता है। शुद्ध आत्मासे इनका कोई सम्बन्ध नहीं।

तन्त्र भागवतमें भी ऐसा ही देखा जाता है—*'अहङ्कारात्तु संसारो भवेज्जीवस्य न स्वतः'* अर्थात् प्राकृत अहङ्कारसे ही जीवोंका जन्म-मरणरूप संसार उपस्थित होता है, शुद्ध जीवोंका इस प्राकृत अहङ्कारसे कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु, शुद्ध जीवोंमें कृष्णदासका अभिमान, मध्यमाकार, नाम-रूप-गुण-क्रिया आदि सभी अप्राकृत अर्थात् चिन्मय होते हैं। वह निराकार निर्विशेष नहीं है।।३०।।

यदा भूतपृथग्भावमेकस्थमनुपश्यति।
तत एव च विस्तारं ब्रह्म संपद्यते तदा।।३१।।

अन्वय—यदा (जब) [सः—वे] भूतपृथग्भावम् (भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको) एकस्थम् (एक प्रकृतिमें स्थित) ततः एव च (एवं उस प्रकृतिसे ही) विस्तारम् (उत्पन्न) अनुपश्यति (जान पाते हैं) तदा (तब) [सः—वे] ब्रह्म सम्पद्यते (ब्रह्मभावको प्राप्त करते हैं)।।३१।।

अनुवाद—जब वे भूतोंके पृथक्-पृथक् भावको एक ही प्रकृतिमें स्थित और उस प्रकृतिसे ही उत्पन्न जान पाते हैं, तब वे ब्रह्मभाव प्राप्त करते हैं।।३१।।

श्रीविश्वनाथ—यदा भूतानां स्थावरजङ्गमानां पृथक् भावः तत्तदाकारगतं पार्थक्यमेकस्थमेकस्यां प्रकृतावेव स्थितं प्रलयकाले अनुपश्यत्यालोचयति। ततः प्रकृतेः सकाशादेव भूतानां विस्तारं सृष्टिसमयेऽनुपश्यति तदा ब्रह्म सम्पद्यते ब्रह्मैव भवतीत्यर्थः।।३१।।

भावानुवाद—जब प्रलयकालमें स्थावर-जङ्गमके आकारगत पार्थक्यको एक ही प्रकृतिमें आलोचना करते हैं (देखते हैं) तथा बादमें सृष्टिकालमें उन्हें प्रकृतिके निकटसे ही विस्तारित जान पाते हैं, तब वे 'ब्रह्म सम्पद्यते'— ब्रह्म ही होते हैं।।३१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—देहात्म बुद्धिके कारण ही कोई किसीको देवता, किसीको मनुष्य, किसीको कुत्ता, बिल्ली, शूद्र, हिन्दू, मुसलमान आदि विभिन्न रूपोंमें देखता है। यह भौतिक भेदभाव देहात्म बुद्धिके कारण होता है। देहात्म बुद्धिसे ही भगवान्‌की विस्मृति होती है। शुद्ध वैष्णवोंके सङ्गके प्रभावसे भगवत्-स्मृतिके उदित होते ही उसका सारा अज्ञान दूर हो जाता है—उसके सारे भौतिक भेदभाव दूर हो जाते हैं। वह सब समय सर्वत्र समदर्शन करता हुआ अष्टगुणयुक्त ब्रह्मभावमें स्थित हो जाता है और अन्तमें पराभक्ति लाभ करता है। विशेष प्रकारके आठ गुणोंसे युक्त जीवात्माको शास्त्रोंमें कहीं-कहीं ब्रह्म या ब्रह्मभूत कहा गया है। ये आठ गुण हैं—'*य आत्मापहतपाप्ना विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघित्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः स विजिज्ञासितव्यः*' अर्थात् जो आत्मा सम्पूर्णरूपसे विषय-वासना आदिरूप दुःखोंसे मुक्त, जरा आदि तापोंसे रहित, मृत्युरहित, शोकरहित, भोग-बुद्धिसे रहित, जड़ीय आकांक्षाओंसे रहित, सत्यकाम और सत्यसंकल्प है, उस आत्माका अन्वेषण करना चाहिए तथा उसीसे अवगत होना चाहिए। '*ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा*' (गीता १८/५४) में भी यह बताया गया है कि ब्रह्मभूत आत्मा अन्तमें पराभक्ति लाभ करता है। पराभक्ति लाभ करना ही जीवके लिए उपयुक्त है। परमब्रह्मको पराभक्ति प्राप्त होती है—ऐसा कहना उचित नहीं है, क्योंकि परम ब्रह्मके चरणोंकी सेवा ही पराभक्ति है।

"जिस समय विवेकी पुरुष स्थावर-जङ्गमात्मक भूतसमूहके उस उस आकारागत पार्थक्यको प्रलयकालमें एकमात्र प्रकृतिमें ही अवस्थित देखते हैं एवं सृष्टिके समय उस एक प्रकृतिसे ही भूतोंके विस्तार (उत्पत्ति) को जान पाते हैं, उस समय वे प्रकृतिगत भेदबुद्धिसे रहित होते हैं। उस समय वे शुद्ध चित्-तत्त्वनिष्ठ होकर चिदाकार-सम्बन्धसे ब्रह्मके साथ एकता लाभ करते हैं। इस अभेद बुद्धिको प्राप्तकर जीव द्रष्टृस्वरूप परमात्माका दर्शन किस प्रकार करता है, यह आगे बता रहा हूँ।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३१।।

अनादित्वान्निर्गुणत्वात् परमात्मायमव्ययः।
शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते।।३२।।

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) अनादित्वात् (अनादि होनेके कारण) [तथा] निर्गुणत्वात् (निर्गुण होनेके कारण) अयम् अव्ययः परमात्मा (ये अव्यय परमात्मा) शरीरस्थः अपि (शरीरमें रहकर भी) न करोति (कर्म नहीं करते हैं) न लिप्यते (न कर्मफलसे लिप्त होते हैं)।।३२।।

अनुवाद—हे कौन्तेय! अनादि तथा निर्गुण होनेके कारण ये अव्यय परमात्मा शरीरमें स्थित होकर भी न कर्म करते हैं और न ही कर्मफलसे लिप्त होते हैं।।३२।।

श्रीविश्वनाथ—ननु *"कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु"* इत्युक्तम्। तत्र देहगतत्वेन तुल्यत्वेऽपि जीवात्मैव गुणलिप्तः संसरति, न तु परमात्मेति। कुत इत्यत आह—अनादित्वादिति। न विद्यते आदिः कारणं यतः स अनादिः—यथा पञ्चम्यन्तपदार्थेन 'अनुत्तम' शब्देन परमोत्तम उच्यते, तथैवानादिशब्देन परमकारणमुच्यते। ततश्चानादित्वात् परमकारणत्वात्-निर्गुणत्वान्निर्गता गुणाः सृष्ट्यादयो यतस्तस्य भावस्तत्त्वं तस्माच्च जीवात्मनो विलक्षणोऽयं परमात्मा। अव्ययः सर्वदैव सर्वथैव स्वीय-ज्ञानानन्दादिव्ययरहितः, शरीरस्थोऽपि तद्धर्माग्रहणान्न करोति, जीववन्न कर्त्ता न भोक्ता च भवति न च लिप्यते शरीरगुणलिप्तश्च न भवति।।३२।।

भावानुवाद—यदि कहो कि गीता (१३/२२) में आपने *'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि-जन्मसु'* कहा है—उस स्थलमें जीवात्मा और परमात्माके समानरूपसे देहमें रहते हुए भी, जीवात्मा ही गुणलिप्त होकर संसार-दशाको प्राप्त होता है, परमात्मा नहीं। किन्तु, यदि प्रश्न हो—किस प्रकार, तो उसका उत्तर इस प्रकार है—जिसका आदि कारण नहीं है, वे अनादि हैं। जिस प्रकार पञ्चमी अन्त पदार्थके साथ अनुत्तमका प्रयोग होने पर उसका अर्थ होता है—परमोत्तम, इसी प्रकार यहाँ 'अनादि' शब्दका तात्पर्य है—परम कारण। क्योंकि मूल श्लोकमें पञ्चमीके अर्थमें 'अनादित्वात्' का प्रयोग हुआ है अतः इसका अर्थ है—परम कारण होनेके कारण। 'निर्गुणत्वात्'—निर्गत गुणसमूह अर्थात् सृष्टि आदि जिनसे होती हैं, वे ऐसे तत्त्व हैं। अतः इन कारणोंसे वे जीवात्मासे विलक्षण हैं और वे परमात्मा हैं। वे अव्यय हैं अर्थात् वे सर्वदा सभी प्रकारके अपने ज्ञान और आनन्द आदिके व्ययसे रहित हैं। शरीरमें स्थित होकर भी शरीरके धर्मको नहीं ग्रहण करते हैं अर्थात् जीवकी भाँति कर्त्ता, भोक्ता नहीं होते हैं और शरीरके गुणोंसे लिप्त नहीं होते हैं।।।३२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—देहमें अवस्थित परमात्मा अव्यय, अनादि और निर्गुण होनेके कारण जीवकी भाँति क्षेत्रके धर्म अर्थात् देहके धर्ममें लिप्त नहीं होते। जड़-दर्शनसे निर्मुक्त ब्रह्म-भावमें ब्रह्मभूत शुद्ध जीव जब सम्पूर्ण क्षेत्रज्ञ अन्तर्यामी परमेश्वरको जड़ीय विषयोंसे सर्वथा

निर्लेप जान लेता है, तब वह भी देहमें रहता हुआ भी देह-धर्मसे सम्पूर्ण निर्लिप्त हो जाता है।

"ब्रह्मसम्पन्न जीव उस समय यह देख पाते हैं कि परमात्मा अव्यय, अनादि और निर्गुण हैं, वे जीवात्माके साथ इस शरीरमें अवस्थान करते हुए भी क्षेत्रधर्ममें बद्धजीवकी भाँति लिप्त नहीं होते हैं। अतएव ब्रह्मसम्पन्न जीव भी उक्त ज्ञानका आश्रयकर और लिप्त नहीं होते हैं। लिप्त न होकर भी जीव क्षेत्रका व्यवहार किस प्रकार करते हैं, श्रवण करो।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३२।।

यथा सर्वगतं सौक्ष्म्यादाकाशं नोपलिप्यते।
सर्वत्रावस्थितो देहे तथात्मा नोपलिप्यते।।३३।।

अन्वय—यथा (जिस प्रकार) सर्वगतम् (सर्वत्र अवस्थित) आकाशम् (आकाश) सौक्ष्म्यात् (सूक्ष्म होनेके कारण) न उपलिप्यते (लिप्त नहीं होता है) तथा (उसी प्रकार) सर्वत्र देहे (सर्वत्र देहमें) अवस्थितः (अवस्थित) आत्मा (आत्मा) न उपलिप्यते (दैहिक गुण-दोषादिसे) लिप्त नहीं होता है)।।३३।।

अनुवाद—जिस प्रकार सर्वत्र अवस्थित आकाश सूक्ष्म होनेके कारण लिप्त नहीं होता है, उसी प्रकार सम्पूर्ण देहमें अवस्थित परमात्मा भी दैहिक गुण-दोषादिसे लिप्त नहीं होते हैं।।३३।।

श्रीविश्वनाथ—अथ दृष्टान्तमाह—यथा सर्वत्र पङ्कादिष्वपि स्थितमप्याकाशं सोक्ष्म्यादसङ्गत्वात् पङ्कादिभिर्न लिप्यते, तथैव परमात्मा दैहिकैर्गुणैर्दोषैश्च न युज्यत इत्यर्थः।।३३।।

भावानुवाद—यहाँ दृष्टान्त देते हुए कह रहे हैं—'यथा सर्वत्र' अर्थात् कीचड़ इत्यादिमें अवस्थित आकाश असङ्गवशतः कीचड़ इत्यादिसे लिप्त अथवा संयुक्त नहीं होता, उसी प्रकार परमात्मा देहसे सम्बन्धित गुण-दोषसे लिप्त नहीं होते।।३३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जिस प्रकार आकाश सर्वगत होनेपर भी निसङ्ग अर्थात् निर्लिप्त रहता है, उसी प्रकार ब्रह्मभाव-सम्पन्न शुद्ध जीव भी देहमें अवस्थित रहनेपर भी देहधर्ममें लिप्त नहीं होता, वह उससे सदा निर्लिप्त रहता है।।३३।।

यथा प्रकाशयत्येकः कृत्स्नं लोकमिमं रविः।
क्षेत्रं क्षेत्री तथा कृत्स्नं प्रकाशयति भारत॥३४॥

अन्वय—भारत (हे भारत!) यथा (जिस प्रकार) एकः रविः (एक सूर्य) इमम् कृत्स्नम् लोकः (इस सम्पूर्ण जगत्को) प्रकाशयति (प्रकाशित करता है) तथा (उसी प्रकार) क्षेत्री (परमात्मा) कृत्स्नम् क्षेत्रम् (समग्र देहको) प्रकाशयति (प्रकाशित करते हैं)॥३४॥

अनुवाद—हे भारत! जिस प्रकार एक सूर्य इस सम्पूर्ण जगत्को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार परमात्मा समग्र देहको प्रकाशित करते हैं॥३४॥

श्रीविश्वनाथ—प्रकाशकत्वात् प्रकाश्यधर्मैर्न युज्यत इति सदृष्टान्तमाह—यथेति। रविर्यथा प्रकाशकः प्रकाश्यधर्मैर्न युज्यते तथा क्षेत्री परमात्मा, *"सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः। एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते शेकदुःखेन बाह्यः॥"* इति श्रुतेः॥३४॥

भावानुवाद—प्रकाशत्वके कारण प्रकाश्य वस्तुके धर्मसे युक्त नहीं होते हैं, इसे दृष्टान्तसहित कहते हैं—जिस प्रकार सूर्य प्रकाशक है, किन्तु प्रकाशित होने योग्य वस्तुके धर्मसे युक्त नहीं होता, उसी प्रकार 'क्षेत्री'—परमात्मा भी 'क्षेत्र'—शरीरके धर्मसे युक्त नहीं होते।

कठोपनिषद्में भी कथित है—

'सूर्यो यथा सर्वलोकस्य चक्षुर्न लिप्यते चाक्षुषैर्बाह्यदोषैः।
एकस्तथा सर्वभूतान्तरात्मा न लिप्यते लोकदुःखेन बाह्यः॥'

(क. उ. २/२/११)

अर्थात्, जिस प्रकार सूर्य सबके चक्षुस्वरूप होकर भी किसीके चक्षुके दोष अथवा किसी बाह्य दोषसे लिप्त नहीं होता, उसी प्रकार एक ही परमात्मा सर्वभूतोंमें अवस्थित होकर भी लोगोंके सुख-दुःखके भागी नहीं होते॥३४॥

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जिस प्रकार एक ही सूर्य समग्र जगत्को प्रकाशित करता है, उसी प्रकार आत्मा देहके एक स्थानमें अवस्थित होकर सम्पूर्ण देहको प्रकाशित अर्थात् चेतन धर्मसे युक्त करता है। ब्रह्मसूत्रमें भी ऐसा देखा जाता है—*'गुणाद्वालोकवत्'* (ब्र. सू. २/३/२४)। जीवात्मा अणु होनेपर भी चिद्गुण द्वारा सारे शरीरमें व्याप्त रहता है। यहाँ श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुरने 'क्षेत्री' शब्दसे परमात्माको निर्देशित किया है, क्योंकि परमात्मा ही सम्पूर्ण क्षेत्रज्ञ हैं, जीव आंशिक क्षेत्रज्ञ है। चित्-जीव एक-एक शरीरका क्षेत्रज्ञ है, किन्तु परमेश्वर एक ही समयमें सभी क्षेत्रोंके सम्पूर्ण क्षेत्रज्ञ हैं॥३४॥

क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा।
भूतप्रकृतिमोक्षञ्च ये विदुर्यान्ति ते परम्।।३५।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'प्रकृति-पुरुषविवेकयोगो' नाम त्रयोदशोऽध्यायः।

अन्वय— ये (जो) एवं (इस प्रकार) क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः (क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञके) अन्तरम् (भेद) भूतप्रकृतिमोक्षम् च (एवं प्रकृतिसे भूतगणके मोक्षके उपायको) ज्ञानचक्षुषा (ज्ञानचक्षु द्वारा) विदुः (जानते हैं) ते (वे) परम् (परम पद) यान्ति (प्राप्त करते हैं)।।३५।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'प्रकृति-पुरुषविवेकयोगो' नाम दशोऽध्यायस्यान्वयः।।

अनुवाद—जो इस प्रकार क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके भेद एवं ज्ञानचक्षु द्वारा प्रकृतिसे भूतगणके मोक्षके उपायसे अवगत होते हैं, वे परमपद प्राप्त करते हैं।।३५।।

श्रीमद्भगवद्गीताके त्रयोदश अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—अध्यायार्थमुपसंहरति—क्षेत्रेण सह क्षेत्रज्ञयोर्जीवात्म-परमात्मनोर्यथा भूतानां प्राणिनां प्रकृतेः सकाशान्मोक्षं मोक्षोपायं ध्यानादिकञ्च ये विदुस्ते परं पदं यान्ति।।३५।।

द्वयोः क्षेत्रज्ञयोर्मध्ये जीवात्मा क्षेत्रधर्मभाक्।
वध्यते मुच्यते ज्ञानादित्यध्यायार्थ ईरितः।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
त्रयोदशोऽयं गीतासु सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद—यहाँ अध्यायके तात्पर्यका उपसंहार कर रहे हैं—जो क्षेत्रके साथ 'क्षेत्रज्ञयोः'—जीवात्मा और परमात्माको जानते हैं तथा जिस प्रकार प्रकृतिसे प्राणिगणका मोक्ष हो सकता है, उस ध्यानादि उपायको जानते हैं, वे श्रेष्ठ स्थान प्राप्त करते हैं।।३५।।

दोनों क्षेत्रज्ञोंमें से क्षेत्र-धर्मभोगी जीवात्मा बद्ध होता है एवं वही ज्ञानके उदयसे मुक्त होता है—यही इस तेरहवें अध्यायमें निरूपित हुआ है।

श्रीमद्भगवद्गीताके त्रयोदश अध्यायकी साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके त्रयोदश अध्यायकी सारार्थवर्षिणी
टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें इस विषयका उपसंहार करते हुए कह रहे हैं कि बुद्धिमान् मनुष्यको शरीर, शरीरके ज्ञाता आत्मा तथा आत्माके सखा सम्पूर्ण क्षेत्रज्ञ परमात्माके वैशिष्ट्यको भलिभाँति समझना चाहिए। जो लोग ऐसा अनुभव करते हैं, वे परम गतिको प्राप्त होते हैं।

श्रद्धालु व्यक्तियोंको पहले-पहल तत्त्वदर्शी भक्तोंका सङ्ग करना उचित है। उनके सङ्गमें महाप्रभावशाली हरिकथाका श्रवण करनेपर उन्हें भगवत्-तत्त्व, जीव-तत्त्व, माया-तत्त्व तथा भक्ति-तत्त्वका अनायास ही ज्ञान हो जाता है। तत्पश्चात् उनकी देहात्मबुद्धि दूर होनेपर अन्तमें वे परम गति प्राप्त करते हैं।

"जड़ा-प्रकृतिके समस्त कार्य ही 'क्षेत्र' हैं। परमात्मा और आत्मरूप द्विविध तत्त्वात्मक आत्मतत्त्व ही 'क्षेत्रज्ञ' हैं। जो व्यक्ति इस अध्यायमें वर्णित प्रणालीके अनुसार ज्ञान-चक्षु द्वारा क्षेत्र एवं क्षेत्रज्ञके भेद एवं समस्त भूतोंके जड़निष्ठ प्रवृत्तिके मोक्षसे अवगत होते हैं, वे क्षेत्र और क्षेत्रज्ञसे परतत्त्व जो भगवान् हैं, उनसे अनायास अवगत होते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३५।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके त्रयोदश अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

त्रयोदश अध्याय समाप्त।

चतुर्दशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

परं भूयः प्रवक्ष्यामि ज्ञानानां ज्ञानमुत्तमम्।
यज्ज्ञात्वा मुनयः सर्वे परां सिद्धिमितो गताः।।१।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) ज्ञानानाम् (ज्ञान-साधनसमूहमें) उत्तमम् (मुख्य) परम् (श्रेष्ठ) ज्ञानम् (उपदेश) भूयः प्रवक्ष्यामि (पुनः कहूँगा) यत् (जिसे) ज्ञात्वा (जानकर) सर्वे मुनयः (समस्त मुनिगण) इतः (इस देहबन्धनसे) पराम् सिद्धिम् (परामुक्ति) गताः (प्राप्त किए हैं)।।१।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—सभी ज्ञान-साधनोंमें अत्युत्तम एक ज्ञान-उपदेश तुम्हें कहूँगा, जिसे जानकर मुनिगण इस देहबन्धनसे परामुक्ति प्राप्त किए हैं।।१।।

श्रीविश्वनाथ— *गुणाः स्युर्बन्धकास्ते तु फलैर्ज्ञेयाश्चतुर्दशे।*
गुणात्यये चिह्नततिर्हेतुर्भक्तिश्च वर्णिता।।

पूर्वाध्याये *"कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनिजन्मसु"* इत्युक्तम्। तत्र के गुणाः, कीदृशो गुणसङ्गः, कस्य गुणस्य सङ्गात् किं फलं स्यात्, गुणयुक्तस्य किं किं वा लक्षणम्, कथं वा गुणेभ्यो मोचनमित्यपेक्षायां वक्ष्यमाणमर्थं स्तुवानो वक्तुं प्रतिजानीते—परमिति। ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमुपदेशं परमत्युत्तमम्।।१।।

भावानुवाद—मायाके तीनों गुण ही बन्धनके कारण हैं—ऐसा उनके फलसे ही अनुमानित होता है। भक्ति उन तीनों गुणोंके विनाश होनेके लक्षणोंका कारण है, यही इस चौदहवें अध्यायमें वर्णित हो रहा है।

पिछले अध्यायमें कहा गया है कि *'कारणं गुणसङ्गोऽस्य सदसद्योनि-जन्मसु'* (गीता १३/२२) अर्थात् गुणोंमें आसक्ति ही जीवके शुभ-अशुभ योनियोंमें जानेका कारण है। वहाँ गुण कौनसे हैं, गुणसङ्ग किस प्रकारका है, किस गुणसङ्गका क्या फल है, गुणयुक्तके क्या लक्षण हैं, गुणोंसे किस प्रकार मुक्ति लाभ हो? इन बातोंकी अपेक्षाकर बादमें कहे जाने योग्य बातोंको प्रस्तावपूर्वक कहनेकी प्रतिज्ञा कर रहे हैं—'परम' इत्यादि। 'ज्ञानम्' का तात्पर्य है—जिसके द्वारा जाना जाय अर्थात् उपदेश 'परम्'—अति उत्तम।।१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—तेरहवें अध्यायमें यह स्पष्ट बताया जा चुका है कि साधारण व्यक्ति भी सत्सङ्गमें शरीर, शरीरी अर्थात् जीवात्मा और परमात्माको तत्त्वतः जान लेनेपर भवबन्धनसे मुक्त हो सकता है। जीव प्रकृतिके गुणोंके सङ्गसे ही भौतिक जगत्में बद्ध हुआ है। इस अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्ण भक्त अर्जुनको यह विस्तारपूर्वक बता रहे हैं कि प्रकृतिके गुण कौन-कौन हैं, वे किस प्रकार क्रिया करते हैं, किस प्रकार जीवको बाँधते हैं तथा किस प्रकारसे जीव इन गुणोंसे मुक्त होकर परमगतिको प्राप्त करता है। इस ज्ञानको प्राप्तकर अनेक ऋषि-मुनियोंने सिद्धि प्राप्त की है तथा परमपदको प्राप्त कर चुके हैं। इस ज्ञानको जान लेनेपर साधारण लोग भी गुणोंसे अतीत होकर परमपदको प्राप्त कर लेते हैं।।१।।

इदं ज्ञानमुपाश्रित्य मम साधर्म्यमागताः।
सर्गेऽपि नोपजायन्ते प्रलये न व्यथन्ति च।।२।।

अन्वय—इदम् ज्ञानम् उपाश्रित्य (इस ज्ञानका आश्रयकर) मुनयः (मुनिगण) मम् (मेरे) साधर्म्यम् (सारूप्य-धर्मको) आगताः [सन्तः] (प्राप्तकर) सर्गे अपि (सृष्टिकालमें भी) न उपजायन्ते (जन्म-ग्रहण नहीं करते हैं) प्रलये च (और प्रलयकालमें भी) न व्यथन्ति (मृत्यु-यन्त्रणा नहीं प्राप्त करते हैं)।।२।।

अनुवाद—इस ज्ञानका आश्रयकर मुनिगण मेरे सारूप्य-धर्मको प्राप्तकर सृष्टिकालमें जन्म ग्रहण नहीं करते हैं तथा प्रलयकालमें मृत्यु-यन्त्रणा भी भोग नहीं करते हैं।।२।।

श्रीविश्वनाथ—साधर्म्यं सारूप्यलक्षणां मुक्तिम्, न व्यथन्ति न व्यथन्ते।।२।।

भावानुवाद—'साधर्म्यं' का तात्पर्य है—सारूप्यलक्षणा मुक्ति। 'न व्यथन्ति'—दुःखको प्राप्त नहीं होते हैं।।२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—आत्मज्ञान प्राप्त होनेपर साधक जीव भगवान्‌का-सा धर्म प्राप्त करता है अर्थात् उसके बहुतसे गुण आंशिक रूपमें श्रीभगवान्‌के समान ही हो जाते हैं। वह जीवन-मरणके चक्रसे मुक्त हो जाता है, किन्तु मुक्त होनेपर भी पार्षदके रूपमें उसका अस्तित्व बना रहता है। वह स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर नित्य निरन्तर भगवान्‌के चरणकमलोंकी प्रेममयी सेवामें तत्पर हो जाता है। अतएव मुक्तिके बाद भी भक्तगण अपना स्वरूप त्याग नहीं करते। भगवान् श्रीकृष्णके सारे

कथनोंका तात्पर्य यही है कि जीवात्मा परमात्मामें सम्पूर्ण रूपसे मिलकर एकाकार नहीं हो जाता, बल्कि जीवोंके शुद्धस्वरूपका अस्तित्व भगवान्से पृथक् रहनेपर भी रहता है और शुद्धस्वरूपमें वे भगवान्की प्रेममयी सेवामें सदा तत्पर रहते हैं। श्रीलचक्रवर्त्ती ठाकुर तथा श्रीधरस्वामी आदि महानुभावोंने 'साधर्म्य' का तात्पर्य सारूप्य मुक्ति ही माना है। श्रीबलदेव विद्याभूषण कृत प्रमेय रत्नावली नामक ग्रन्थके चतुर्थ प्रमेयकी टीकामें कहा है कि मुण्डकोपनिषद (३/१/३) के श्लोकमें वर्णित 'साम्य' तथा गीता (१४/२) में लिखित 'साधर्म्य' शब्दोंका तात्पर्य मोक्ष-अवस्थामें भी जीव और ईश्वरका भेद है—ऐसा समझना चाहिए। उन्होंने *'ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति'* श्लोकके 'ब्रह्मैव' पदका अर्थ ब्रह्मतुल्य बताया है। 'एव'-कार का प्रयोग तुलनाके अर्थमें किया जाता है। इसलिए 'ब्रह्मैव' का तात्पर्य होगा—भगवान्के समान धर्मकी प्राप्ति अर्थात् जन्म-मरणसे रहित होना। किन्तु, सृष्टि इत्यादि करनेका गुण उसमें कदापि नहीं होगा। श्रीलबलदेव विद्याभूषणने वर्त्तमान श्लोकको टीका में लिखा है—

इदमिति—गुरूपासनयेदं वक्ष्यमाणं ज्ञानमुपाश्रित्य प्राप्य जनाः सर्वेशस्य मम नित्याविर्भूतगुणाष्टकस्य साधर्म्यं साधनाविर्भावितेन तदष्टकेन साम्यमागताः सन्तः सर्गे नोपजायन्ते, सृजिकर्मतां नाप्नुवन्ति, प्रलये न व्यथन्ते—मृति कर्मताञ्च न यान्तीति जन्ममृत्युभ्यां रहिता मुक्ता भवन्तीति मोक्षे जीव-बहुत्वमुक्तम्, "तद्विष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः" इत्यादि श्रुतिभ्यश्चैतदवगतम्।

अर्थात्, गुरुकी उपासना द्वारा उपरोक्त ज्ञानको प्राप्तकर श्रद्धालु जीव भक्तिका साधन करते-करते उपास्य भगवान्के नित्य गुणोंमें से आठ गुणोंको आंशिक रूपमें प्राप्तकर जन्म-मरणसे मुक्त हो जाता है। श्रुतियोंमें मोक्षकी अवस्थामें भी जीवोंका बहुत्व देखा जाता है अर्थात् एक से अधिक जीवोंको देखा जाता है—*'तदविष्णोः परमं पदं सदा पश्यन्ति सूरयः'* अर्थात् सूरिगण—मुक्तगण मुक्त अवस्थामें विष्णुके परमपदका सदा-सर्वदा दर्शन करते हैं। 'साम्य' शब्दका उल्लेख मुण्डक श्रुतिमें भी देखा जाता है—

'यदा पश्यः पश्यते रुक्मवर्णं ...... निरञ्जनः परमं साम्यमुपैति।'

श्रीमद्भागवत (११/५/४८) में भी देखा जाता है—*'तत्साम्यमापुः'*।

"ज्ञान सामान्यतः सगुण होता है। निर्गुण ज्ञानको 'उत्तम ज्ञान' कहा जाता है। उस निर्गुण ज्ञानका आश्रय ग्रहण करनेसे जीव मेरे साधर्म्य अर्थात्

सारूप्य-धर्मको प्राप्त करता है। जड़बुद्धि मानवगण ऐसा सोचते हैं कि प्राकृत धर्म, प्राकृत रूप और प्राकृत अवस्थाका परित्याग करनेसे जीव धर्म, रूप और अवस्थासे रहित हो जाता है। वे यह नहीं जानते हैं कि जिस प्रकार जड़-जगत्में 'विशेष' नामक धर्म द्वारा सभी वस्तुओंका आपसमें पार्थक्य है, उसी प्रकार जड़ाप्रकृतिका अतिक्रमकर मेरा जो 'वैकुण्ठ-धाम' है, वहाँ भी एक विशुद्ध 'विशेष-धर्म' है। उस 'विशेष' द्वारा वहाँ अप्राकृत रूप और अप्राकृत अवस्था नित्य व्यवस्थापित हैं, उन्हें मेरा 'निर्गुण-साधर्म्य' कहा जाता है। निर्गुण-ज्ञान द्वारा प्रथमतः सगुण जगत्का अतिक्रमकर निर्गुण-ब्रह्म प्राप्त होता है एवं उसके बाद अप्राकृत गुणसमूह उदित होते हैं। ऐसा होनेपर सृष्टिके समय जीव जड़-जगत्में और नहीं जन्म लेता है और प्रलयमें आत्मविनाशरूप व्यथा भी नहीं प्राप्त करता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२।।

मम योनिर्महद्ब्रह्म तस्मिन् गर्भं दधाम्यहम्।
सम्भवः सर्वभूतानां ततो भवति भारत।।३।।

अन्वय—भारत (हे भारत!) महत् ब्रह्म (महत् ब्रह्मरूप प्रकृति) मम (मेरी) योनिः (योनि अर्थात् गर्भाधान-स्थान है) तस्मिन् (उसमें) अहम् (मैं) गर्भम् (चेतनपुञ्जरूप बीज) दधामि (अर्पण करता हूँ) ततः (उससे) सर्वभूतानाम् (सभी भूतोंकी) सम्भवः (उत्पत्ति) भवति (होती है)।।३।।

अनुवाद—हे भारत! महत्-ब्रह्मरूपी प्रकृति मेरी योनि अर्थात् गर्भाधान स्थान है। उसमें मैं तटस्थ प्रभावरूप जीव (बीज) का आधान करता हूँ। उससे ही समस्त जीवोंका जन्म होता है।।३।।

श्रीविश्वनाथ—अथानाद्यविद्याकृतस्य गुणसङ्गस्य बन्धहेतुताप्रकारं वक्तुं क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोः सम्भवप्रकारमाह—मम परमेश्वरस्य योनिर्गर्भाधानस्थानं महद्ब्रह्म देशकालानवच्छिन्नत्वात् महत्, वृंहणात् कार्यरूपेण वृद्धेर्हेतोर्ब्रह्म प्रकृतिरित्यर्थः। श्रुतावपि क्वचित् प्रकृतिर्ब्रह्मेति निर्दिश्यते। तस्मिन्नहं गर्भं दधाम्यादधामि। *"इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम् जीवभूताम्"* इत्यनेन चेतनपुञ्जरूपा या जीव-प्रकृतिस्तटस्थशक्तिरूपा निर्दिष्टा, सा सकलप्राणिजीवतया गर्भशब्देनोच्यते, ततो मत्कृतात् गर्भाधानात् सर्वभूतानां ब्रह्मादीनां सम्भवः उत्पत्ति।।३।।

भावानुवाद—अनादि अविद्याकृत गुणसङ्ग किस प्रकार बन्धनका कारण होता है, उसे बतानेके लिए यह बता रहे हैं कि क्षेत्र और क्षेत्रज्ञकी

उत्पत्ति किस प्रकार होती है। 'मम्'—मुझ परमेश्वरकी योनि अर्थात् गर्भाधानका स्थान महत्-ब्रह्म है। देश और कालके द्वारा जिसका परिच्छेद न किया जा सके, जिसकी सीमा नहीं निर्धारित की जा सके, वही 'महत्' है; 'वृंहणात्'—कार्यरूपसे वृद्धिहेतु ब्रह्म अर्थात् प्रकृति। इस प्रकार 'महत्' तथा 'ब्रह्म' शब्द मिलकर 'महद्ब्रह्म' शब्द निष्पन्न हुआ है।

श्रुतिमें भी कहीं-कहीं प्रकृतिको ब्रह्म द्वारा निर्देशित किया गया है। उस प्रकृतिमें मैं गर्भ 'ददामि' आधान करता हूँ—*'इतस्त्वन्यां प्रकृतिं विद्धि मे पराम्, जीवभूताम्'* (गीता ७/५)—इस वाक्यमें चेतनपुञ्जरूप जो जीव-प्रकृति तटस्थ-शक्तिके रूपमें निर्दिष्ट है, वह सभी प्राणियोंका जीवन होनेके कारण गर्भ शब्दसे कथित हुई है। 'ततः'—मेरे द्वारा किए हुए गर्भाधानसे 'सर्वभूतानां'—ब्रह्मादि समस्त जीवोंकी उत्पत्ति होती है।।३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस प्राकृत जगत्में क्षेत्र और क्षेत्रज्ञ अर्थात् देह और देही जीवात्माके संयोगसे ही सब कुछ घटित होता है। प्रकृति और जीवरूप पुरुषका यह संयोग परमेश्वरकी इच्छासे ही सम्भव होता है। बिच्छू धानके ढेरमें अपने अंडे देती है। लोग कहते हैं कि बिच्छू धानसे पैदा हुए, किन्तु वास्तवमें धान बिच्छूके जन्मका कारण नहीं है। बिच्छूके अंडोंसे ही वे पैदा होते हैं। उसी प्रकार जीवोंके जन्मका कारण भौतिक प्रकृति नहीं है। बीजरूप जीव भगवान्के द्वारा ही प्रदत्त होते हैं, किन्तु साधारण लोगोंको ऐसा प्रतीत होता है कि जीव प्रकृतिसे ही उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक जीव अपने पूर्व कर्मोंके अनुसार भिन्न-भिन्न शरीरोंको प्राप्त होता है। प्रकृति भगवान्की अध्यक्षतामें भिन्न-भिन्न भौतिक शरीरमात्रकी सृष्टि करती है। जीव उन शरीरोंमें आत्मबुद्धिकर अपने पूर्व कर्मोंके अनुसार सुख-दुःख भोग करता है। किन्तु, इस बातको भलीभाँति जान लेना चाहिए कि जीव एवं जगत्की सब प्रकारकी अभिव्यक्तियोंके मूल कारण परमेश्वर ही हैं।

"जड़ा-प्रकृतिका मूल तत्त्व ही जगत्की मातृयोनि है। मैं उसी जगद्योनि प्रकृति-संज्ञावाले ब्रह्ममें गर्भाधान करता हूँ। उससे ही समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती है। मेरी परा-प्रकृतिका जड़-प्रभाव ही यह ब्रह्म है। उसमें ही इस तटस्थ-प्रभावरूप 'जीव' का आधान करता हूँ। इससे ही ब्रह्मा आदि सभी जीवोंका जन्म होता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३।।

सर्वयोनिषु कौन्तेय मूर्त्तयः सम्भवन्ति याः।
तासां ब्रह्म महद्योनिरहं बीजप्रदः पिता॥४॥

अन्वय—कौन्तेय (हे कुन्तीनन्दन!) सर्वयोनिषु (सभी योनियोंमें) याः मूर्त्तयः (जो समस्त शरीर) सम्भवन्ति (उद्भूत होते हैं) महत् ब्रह्म (प्रकृति) ताषाम् (उन सबकी) योनिः (मातृस्थानीय उत्पत्तिस्थान) [च—और] अहम् (मैं) बीजप्रदः (बीज आधानकारी) पिता (पितास्वरूप हूँ)।।४।।

अनुवाद—हे कुन्तीनन्दन! देव, पशु इत्यादि समस्त योनियोंमें जो शरीर उत्पन्न होते हैं, महत्-ब्रह्म अर्थात् प्रकृति उनकी योनि अर्थात् जननीस्वरूपा है और मैं बीज आधानकर्त्ता पितास्वरूप हूँ॥४॥

श्रीविश्वनाथ—न केवलं सृष्ट्युत्पत्तिसमय एव सर्वभूतानां प्रकृतिर्माता अहं पिता, अपि तु सर्वदैवेत्याह—सर्वाषु योनिषु देवाद्यासु स्तम्बपर्यन्तासु या मूर्त्तयो जङ्गमस्थावरात्मिका उत्पद्यन्ते, तासां मूर्त्तिनां महद्ब्रह्म प्रकृतिः—योनिरुत्पत्तिस्थानं माता, अहं—बीजप्रदः गर्भाधानकर्त्ता पिता।।४।।

भावानुवाद—केवल सृष्टिके समय ही प्रकृति सभी भूतोंकी माता तथा मैं पिता हूँ, ऐसा नहीं है, अपितु सर्वदा ही प्रकृति माता है एवं मैं पिता हूँ। देवगणसे लेकर तृण-गुल्मादि समस्त योनियोंमें स्थावर-जङ्गमात्मक जो सभी मूर्त्तियाँ (शरीर) उत्पन्न होती हैं, महत् ब्रह्म अर्थात् प्रकृति उन सबकी योनि अर्थात् उत्पत्तिस्थान (माता) है और मैं बीजप्रद अर्थात् गर्भाधानकर्त्ता पिता हूँ।।४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वर्त्तमान श्लोकमें यह स्पष्टरूपसे कहा गया है कि भगवान् श्रीकृष्ण ही समस्त जीवोंके आदि पिता हैं। भौतिक प्रकृतिरूपा माता तथा बीजप्रदाता भगवान्के द्वारा ही इस जगत्में सभी जीव प्रकट होते हैं। पृथ्वीके भीतर, बाहर, जलमें, आकाशमें, जीव सर्वत्र हैं। सप्त पाताल एवं सप्त ऊद्ध्र्व लोकोंमें भी जीव हैं। इनके अतिरिक्त वैकुण्ठ एवं गोलोक आदि धामोंमें सर्वत्र ही जीव हैं। वैकुण्ठ आदिमें मुक्त जीव पार्षदके रूपमें होते हैं तथा ब्रह्माण्डके भीतर बद्ध जीव विभिन्न स्थितियोंमें आच्छादित, संकुचित, मुकुलित, विकसित एवं पूर्ण विकसित रूपमें अवस्थित रहते हैं।।४।।

सत्त्वं रजस्तम इति गुणाः प्रकृतिसम्भवाः।
निबध्नन्ति महाबाहो देहे देहिनमव्ययम्॥५॥

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) प्रकृतिसम्भवाः (प्रकृतिसे उत्पन्न) सत्त्वम् रजः तमः इति गुणाः (सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण) देहे

(शरीरमें) [अवस्थित] अव्ययम् (निर्विकार) देहिनम् (देही जीवको) निबध्नन्ति (बाँधते हैं)।।५।।

अनुवाद—हे महाबाहो! प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्व, रज और तम—ये तीन गुण शरीरमें अवस्थित निर्विकार देही अर्थात् जीवको बाँधते हैं।।५।।

श्रीविश्वनाथ—तदेवं प्रकृतिपुरुषाभ्यां सर्वभूतोत्पत्तिं निरूप्य इदानीं के गुणा उच्यन्ते? तेषु सङ्गात् जीवस्य कीदृशो बन्ध इत्यपेक्षायामाह—सत्त्वमिति। देहे प्रकृतिकार्ये गुणाः तादात्म्येन स्थितं देहिनं जीवं वस्तुतोऽव्ययं निर्विकारमसङ्गिनमप्यनाद्यविद्यया कृताद्गुणसङ्गादेव हेतोर्गुणा निबध्नन्ति।।५।।

भावानुवाद—इस प्रकार प्रकृति और पुरुषसे सभी जीवोंकी उत्पत्तिका निरूपणकर अब यह बता रहे हैं कि वे गुण क्या हैं, उनके सङ्गसे जीव किस प्रकार बद्ध होता है? इन प्रश्नोंके उत्तरमें श्रीभगवान् कह रहे हैं कि 'देहे' अर्थात् प्रकृतिके कार्यमें अभेद चिन्तासे अवस्थित जीव 'गुणाः' गुणोंसे आबद्ध होता है। यह जीव वस्तुतः अव्यय, निर्विकार और असङ्ग है, तथापि अनादि अविद्या द्वारा कृत गुणसङ्गके कारण गुणसमूह ही जीवको बाँधते हैं।।५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—सत्त्व, रजः, तमः—ये तीनों गुण प्रकृतिसे उत्पन्न होते हैं। जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलय—इन तीन कार्योंके लिए इन तीनों गुणोंका प्रादुर्भाव होता है। इन तीनों गुणोंकी साम्यावस्थामें प्रकृति अव्यक्त रहती है अर्थात् उस समय सृष्टि, स्थिति, प्रलयरूप कार्य नहीं होते हैं—

'प्रकृतिर्गुणसाम्यं वै प्रकृतेर्नात्मनो गुणाः।
सत्त्वं रजस्तम इति स्थित्युत्पत्यन्त हेतवः।।'

(श्रीमद्भा. ११/२२/१२)

और भी, *'सत्त्वं रजस्तम इति प्रकृतेर्गुणाः'*। (श्रीमद्भा. १/२/२३)

तटस्था शक्ति द्वारा प्रकटित जीव कृष्णसे विमुख होनेके कारण जड़ा-प्रकृतिका संसर्ग प्राप्त करते हैं। जीव स्वरूपतः मायासे अतीत होनेपर भी मायाके संसर्गसे प्रकृतिसे उत्पन्न देहमें 'मैं' और 'मेरा' का अभिमानकर संसारके बन्धनमें पड़े हुए हैं। कपिलदेव माता देवहूतिको यह स्पष्टरूपसे उपदेश दे रहे हैं—

'एवं पराभिध्यानेन कर्त्तृत्वं प्रकृतेः पुमान्।
कर्मसु क्रियमानेषु गुणैरात्मनि मन्यते।।

तदस्य संसृतिर्बन्धः पारतन्त्र्यञ्च तत्कृतम्।
भवत्यकर्त्तुरीशस्य साक्षिणो निर्वृतात्मनः।।'

(श्रीमद्भा. ३/२६/६-७)

अर्थात्, इस प्रकार प्रकृतिमें अध्यास होनेके कारण जीव प्रकृतिके गुणसञ्जात कर्मोंमें अपना कर्त्तृत्वाभिमान करता है। वस्तुतः जीव केवल साक्षी है, वह किसी कर्मका कर्त्ता नहीं है। वह 'ईश' शब्दावाच्य ईश्वरका पराशक्तिरूप है और स्वयं सुखस्वरूप है। किन्तु, उसका ऐसा कर्त्तृत्वाभिमान होनेके कारण ही उसका जन्म-मृत्यु-प्रवाहरूप संसार होता है, इससे ही बन्धन होता है एवं इस बन्धनसे ही भोगविषयकी पराधीनता उपस्थित होती है—

'स एष यर्हि प्रकृतेर्गुणेष्वभिविसज्जते।
अहङ्कार विमूढात्मा कर्त्ताहमिति मन्यते।।
तेन संसार पदवीमवशोऽभ्येत्यनिर्वृतः।
प्रासङ्गिकैः कर्मदोषैः सदसन्मिश्रयोनिषु।।'

(श्रीमद्भा. ३/२७/२-३)

अर्थात्, वह जीव किसी समय सुख-दुःखादिरूप प्रकृतिके गुणोंमें विशेषरूपसे आसक्त हो जाता है, उसी समय अहङ्कारके कारण विमूढ़ होकर ऐसा मानता है कि 'मैं कर्त्ता हूँ'। उस कर्त्तापनके अभिमानके कारण अवश होकर जीव प्रकृतिके संसर्गकृत कर्मदोषसे देवता, मनुष्य, पशु आदि उत्तम-अधम अनेक योनियोंमें परिभ्रमण करता है और कर्म-अधीन सुख-दुःखके उपभोगसे नहीं निवृत्त हो पानेके कारण संसारकी पदवी प्राप्त करता है।।५।।

तत्र सत्त्वं निर्मलत्वात् प्रकाशकमनामयम्।
सुखसङ्गेन बध्नाति ज्ञानसङ्गेन चानघ।।६।।

अन्वय—अनघ (हे निष्पाप!) तत्र (उन तीनों गुणोंसे) निर्मलत्वात् (निर्मल होनेके कारण) प्रकाशकम् (प्रकाशक) अनामयम् (आमय अथवा दोषसे रहित शान्त) सत्त्वम् (सत्त्वगुण) सुखसङ्गेन (सुख-सङ्गके द्वारा) ज्ञानसङ्गेन च (और ज्ञानके सङ्ग द्वारा) [देहिनम्—जीवको] बध्नाति (आबद्ध करता है)।।६।।

अनुवाद—हे निष्पाप! उन तीनों गुणोंमें से निर्मल होनेके कारण प्रकाशक तथा दोषरहित शान्त सत्त्वगुण ज्ञान और सुखके सङ्ग द्वारा जीवको आबद्ध करता है।।६।।

श्रीविश्वनाथ—तत्र सत्त्वस्य लक्षणं बन्धकत्व प्रकारञ्चाह—तत्रेति अनामयं निरुपद्रवं शान्तमित्यर्थः, शान्तत्वात् स्वकार्येण सुखेन यः सङ्गः प्रकाशकत्वात् स्वकार्येण ज्ञानेन च यः सङ्गः 'अहं सुखी, अहं ज्ञानी' चेत्युपाधिधर्मयोरपि सुखज्ञानयोरविद्ययैव जीवस्याभिमानः तेन तं बध्नाति। हे अनघेति—त्वन्तु 'अहं सुखी, अहं ज्ञानी' इत्यभिमानलक्षणमघं मा स्वीकुर्विति भावः।।६।।

भावानुवाद—इनमें से सत्त्वगुणके लक्षण तथा यह किस प्रकार जीवको बाँधता है, ये बताए जा रहे हैं। 'अनामयम्'—उपद्रवरहित या शान्त। शान्त होनेके कारण अपने कार्यमें सुखसहित साथ जो आसक्ति है, प्रकाशक होनेके कारण अपने कार्यमें ज्ञानके साथ जो आसक्ति है अर्थात् 'मैं सुखी हूँ' और 'मैं ज्ञानी हूँ'—इस प्रकार दोनों औपाधिक धर्मोंमें जो सुख और ज्ञान है, अविद्याके कारण जीवको यह जो अभिमान है—वही जीवको आबद्ध करता है। किन्तु, हे अनघ! तुम 'मैं सुखी हूँ', 'मैं ज्ञानी हूँ'—इस अभिमान लक्षणको, 'अघ' अर्थात् पापको नहीं स्वीकार करना।।६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्व श्लोकमें प्रकृति अपने गुणोंके द्वारा जीवको कैसे शरीरमें बाँध देती हैं, इसका वर्णन हुआ। वर्त्तमान श्लोकमें सर्वप्रथम सत्त्वगुणके द्वारा जीव किस प्रकार बद्ध होता है, इसे बताया जा रहा है। तीनों गुणोंमें सत्त्वगुण अपेक्षाकृत निर्मल, प्रकाशक तथा उपद्रवरहित होनेके कारण जीवको सुख और ज्ञानके साथ बाँधता है अर्थात् मैं सुखी हूँ, मैं ज्ञानी हूँ—ऐसे सात्त्विक अभिमानके द्वारा आबद्ध करता है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि त्रिगुणोंमें सात्त्विकगुण श्रेष्ठ होनेके कारण सत्त्वगुणका आश्रय करनेसे ही मुक्ति हो जाती है। किन्तु, यह बात ठीक नहीं है। श्रीलबलदेव विद्याभूषणने इस श्लोककी टीकामें इस सात्त्विक जड़-चेतन-विवेक विषयक लौकिक ज्ञान और सुखको शारीरिक—इन्द्रिय-तृप्तिरूप सुख बताया है। ऐसे ज्ञान और सुखमें आसक्ति होनेसे इनको प्राप्त करानेवाले कर्मोंमें प्रवृत्ति होती है तथा उस कर्मफलका अनुभव करनेके लिए अर्थात् भोगनेके लिए पुनः दूसरे शरीरको ग्रहण करना पड़ता है तथा पुनः इसमें आसक्त होकर कर्ममें प्रवृत्त होना पड़ता है। इस प्रकार यह चक्र चलता रहता है और उसे जन्म-मरणके चक्रसे छुटकारा नहीं मिलता है। इस श्लोकमें अर्जुनके लिए 'अनघ' शब्दके प्रयोगका तात्पर्य यह है कि ऐसा सात्त्विक अभिमान भी 'अघ' अर्थात् पाप ही है। इसलिए अर्जुनको (साधकोंको) ऐसे सात्त्विक अभिमानको भी ग्रहण करनेसे निषेध किया गया है।।६।।

रजो रागात्मकं विद्धि तृष्णासङ्गसमुद्भवम्।
तन्निबध्नाति कौन्तेय कर्मसङ्गेन देहिनम्।।७।।

अन्वय—कौन्तेय (हे कुन्तीपुत्र!) रजः (रजोगणुको) रागात्मकम् (अनुरञ्जनरूप) तृष्णासङ्गसमुद्भवम् (विषयोंकी अभिलाषा और आसक्तिसे उत्पन्न) विद्धि (जानो) तत् (वह रजोगुण) कर्मसङ्गेन (कर्मकी आसक्ति द्वारा) देहिनम् (जीवको) निबध्नाति (बाँधता है)।।७।।

अनुवाद—हे कुन्तीपुत्र! रजोगुणको रागात्मक और विषयोंकी अभिलाषा तथा आसक्तिसे उत्पन्न जानो। वह रजोगुण कर्मकी आसक्ति द्वारा जीवको बाँधता है।।७।।

श्रीविश्वनाथ—रजोगुणं रागात्मकमनुरञ्जनरूपं विद्धि। 'तृष्णा' अप्राप्तेऽर्थे अभिलाषः, 'सङ्ग' प्राप्तेऽर्थे आसक्तिः, तयोः समुद्भवो यस्मात् तद्रजः देहिनं दृष्टादृष्टार्थेषु कर्मसु सङ्गेनासक्त्या बध्नाति 'तृष्णा' सङ्गाभ्यां कर्मस्वासक्तिर्भवति।।७।।

भावानुवाद—रजोगुणको रागात्मक अर्थात् प्रीति-सम्पादक जानो। अप्राप्त विषयकी अभिलाषाको तृष्णा कहते हैं और प्राप्त विषयमें आसक्तिको सङ्ग कहते हैं। जिससे इन दोनोंकी उत्पत्ति होती है, वही रजोगुण देहीको दृष्ट-अदृष्ट अर्थ अर्थात् कर्मसमूहमें आसक्ति द्वारा आबद्ध करता है। तृष्णा और सङ्ग द्वारा ही कर्मसमूहमें आसक्ति होती है।।७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—बद्धजीवोंको विषयोंमें आसक्तिरूप रंगसे रंग देनेके कारण इसे रजोगुण कहते हैं। स्त्री और पुरुषका पारस्परिक आकर्षण ही रजोगुणकी विशेषता है। वह देहधारी प्राणियोंमें भौतिक भोगके लिए लालसा उत्पन्न कराता है। ऐसा मनुष्य समाज या राष्ट्रमें सम्मान, रूपवती स्त्री, सुन्दर सन्तान तथा सुखी परिवार चाहता है। ये रजोगुणके लक्षण हैं। ऐसे रजोगुणके द्वारा सारा संसार भोग-विषयोंमें आसक्त होकर मायाके बन्धनमें पड़ा हुआ है। आधुनिक सभ्यतामें सर्वत्र ही रजोगुणका प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। प्राचीनकालमें सत्त्वगुणकी प्रधानता थी। यदि सतोगुणी लोगोंको ही संसारसे मुक्ति नहीं मिल पाती, तो रजोगुणी लोगोंकी बात ही क्या है?।।७।।

तमस्त्वज्ञानजं विद्धि मोहनं सर्वदेहिनाम्।
प्रमादालस्यनिद्राभिस्तन्निबध्नाति भारत।।८।।

अन्वय—भारत (हे भारत!) तमः तु (किन्तु तमोगुणको) अज्ञानजम् (अज्ञानसे उत्पन्न) सर्वदेहिनाम् (सभी जीवोंका) मोहनम् (मोह) विद्धि

(जानो) तत् (वह) प्रमादालस्यनिद्राभिः (प्रमाद, आलस्य और निद्राके द्वारा) [देही—जीवको] निबध्नाति (बाँधता है)।।८।।

अनुवाद—किन्तु, हे भारत! अज्ञानसे उत्पन्न तमोगुणको सभी जीवोंका मोह जानो। वह प्रमाद, आलस्य और निद्रा द्वारा देहीको आबद्ध करता है।।८।।

श्रीविश्वनाथ—अज्ञानजमज्ञानात् स्वीयफलात् जातं प्रतीतमनुमितं भवतीत्यज्ञानजमज्ञानजनकमित्यर्थः। 'मोहनं' भ्रान्तिजनकम्, 'प्रमादः' अनवधानम् 'आलस्यम्' अनुद्यमो, 'निद्रा' चित्तस्यावसादः।।८।।

भावानुवाद—'अज्ञानजम्'—अपने फल अज्ञानसे ही इसका अनुमान होता है अर्थात् यह प्रतीत होता है। इसीलिए यह अज्ञानज या अज्ञानजनक कहलाता है। 'मोहन'—भ्रान्तिजनक, 'प्रमादः'—अनवधान अर्थात् अमनोयोग, 'आलस्यम्'—अनुद्यम अर्थात् उद्यमहीनता, 'निद्रा'—चित्तका अवसाद—ये तमोगुणके लक्षण है।।८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—तीन प्रकारके गुणोंमें तमोगुण सबसे निकृष्ट होता है। यह सत्त्वगुणसे सर्वथा विपरीत होता है। तमोगुणी व्यक्ति एक प्रकारसे पागल हो जाता है, क्योंकि वह सम्पूर्ण रूपसे विवेकहीन होकर शरीर और शारीरिक भोगोंको ही यथासर्वस्व मान लेता है। सभी लोग देखते हैं कि उनके पिता-पितामह मर गए, वह भी मरेगा, उनकी सन्तान भी मरेंगी अर्थात् मृत्यु निश्चित है, तथापि वे लोग झूठ, बेईमानी, कपटता, हिंसा आदिका भी आश्रय लेकर धन आदि विषयोंका संग्रह करते हैं, आत्माका अनुशीलन नहीं करते, यही उनका पागलपन है। ऐसा पागल बना देना ही तमोगुणकी विशेषता है। मादक द्रव्योंका सेवन करना, माँस, मछली, अण्डे, मदिरा आदिका सेवनकर निष्क्रिय बने रहना, आलस्य, प्रमाद तथा अधिक शयन अधिक तमोगुणी व्यक्तिके लक्षण हैं। साधक जीवोंको इनसे बचनेकी चेष्टा करनी चाहिए।।८।।

सत्त्वं सुखे सञ्जयति रजः कर्मणि भारत।
ज्ञानमावृत्य तु तमः प्रमादे सञ्जयत्युत।।९।।

अन्वय—भारत (हे भारत!) सत्त्वम् (सत्त्वगुण) सुखे (सुखमें) सञ्जयति (आसक्त करता है) रजः (रजोगुण) कर्मणि (कर्ममें) [सञ्जयति—आसक्त करता है] तमः तु (किन्तु तमोगुण) ज्ञानम् (ज्ञानको) आवृत्य (आच्छन्नकर) प्रमादे (मनोयोगहीनतामें) सञ्जयति (संयुक्त करता है)।।९।।

अनुवाद—हे भारत! सत्त्वगुण सुखमें तथा रजोगुण कर्ममें आसक्त करता है, किन्तु तमोगुण ज्ञानको आच्छन्नकर मनोयोगहीनतामें संयुक्त करता है।।९।।

श्रीविश्वनाथ—उक्तमेवार्थं संक्षेपेन पुनर्दर्शयति—सत्त्वं कर्त्तृसुखे स्वीयफले आसक्तं जीवं 'सञ्जयति' वशीकरोति निबध्नातीत्यर्थः, 'रजः' कर्त्तृकर्मणि आसक्तं जीवं बध्नाति, 'तमः' कर्त्तृप्रमादेऽभिरतं तं ज्ञानमावृत्य अज्ञानमुत्पाद्येत्यर्थः।।९।।

भावानुवाद—पहले कथित अर्थोंको ही पुनः संक्षेपूर्वक कह रहे हैं—सत्त्वगुण अपने फल-सुखमें आसक्त जीवको आबद्ध करता है। रजोगुण कर्ममें आसक्त जीवको बाँधता है। तमोगुण ज्ञानको आच्छादितकर अज्ञानको उत्पादितकर जीवको प्रमादमें अभिरत करता है।।९।।

रजस्तमश्चाभिभूय सत्त्वं भवति भारत।
रजः सत्त्वं तमश्चैव तमः सत्त्वं रजस्तथा।।१०।।

अन्वय—भारत (हे भारत!) सत्त्वः (सत्त्वगुण) रजः तमः च (रजः और तमोगुणको) अभिभूय (पराभूतकर) भवति (उद्भूत होता है) रजः (रजोगुण) सत्त्वम् तमः च एव (सत्त्व और तमोगुणको) तथा (उसी प्रकार) तमः (तमोगुण) सत्त्वम् रजः (सत्त्व और रजोगुणको) [अभिभूय भवति—पराभूतकर उद्भूत होता है]।।१०।।

अनुवाद—हे भारत! रजोगुण और तमोगुणको पराभूतकर सत्त्वगुण उत्पन्न होता है। इसी प्रकार सत्त्व और तमोगुणको पराभूतकर रजोगुण एवं सत्त्व तथा रजोगुणको पराभूतकर तमोगुण उत्पन्न होता है।।१०।।

श्रीविश्वनाथ—उक्तं स्व-स्वकार्यं सुखादिकं प्रति गुणाः कथं प्रभवन्तीत्य-पेक्षायामाह—रजस्तमश्चेति गुणद्वयमभिभूय तिरस्कृत्य सत्त्वं भवति—अदृष्टवशादुद्भवति, एवं रजोऽपि सत्त्वं तमश्चेति गुणद्वयमभिभूयोद्भवति तमोऽपि स्वत्त्वं रजश्चोभावपि गुणावर्भिभूयोद्भवति।।१०।।

भावानुवाद—पूर्वकथित अपने-अपने सुखादि कार्योंके प्रति गुणसमूह किस प्रकार प्रभावका विस्तार करते हैं? इस प्रश्नकी अपेक्षामें श्रीभगवान् कहते हैं—भाग्यफलसे सत्त्वगुण रजः और तमः गुणोंको पराभूतकर उद्भूत होता है। इसी प्रकार रजोगुण भी सत्त्व और तमः गुणोंको पराभूतकर भाग्यफलसे उत्पन्न होता है। तमोगुण भी सत्त्व और रजः गुणोंको पराभूतकर उद्भूत होता है।।१०।।

सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते।
ज्ञानं यदा तदा विद्याद्विवृद्धं सत्त्वमित्युत।।११।।

अन्वय—यदा (जिस समय) अस्मिन् देहे (इस देहमें) सर्वद्वारेषु (कर्ण-नासिका आदि इन्द्रियोंमें) प्रकाशः (विषयका यथार्थ प्रकाशरूप) ज्ञानम् (ज्ञान) उपजायते (उत्पन्न होता है) तदा (उस समय) सत्त्वम् (सत्त्वगुण) विवृद्धम् (वृद्धिको प्राप्त हुआ है) इति विद्यात् (ऐसा जानना चाहिए) उत (आत्मोत्थ सुखात्मक प्रकाश द्वारा भी सत्त्वकी वृद्धिको जानना चाहिए)।।११।।

अनुवाद—जिस समय इस देहमें कर्ण-नासिकादि ज्ञानेन्द्रियोंके द्वारमें विषयके स्वरूप-प्रकाशरूप ज्ञानका उदय होता है, उस समय ऐसा जानना चाहिए कि सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई है और सुख-प्रकाशरूप चिह्न द्वारा भी सत्त्वगुणकी वृद्धिको जानना चाहिए।।११।।

श्रीविश्वनाथ—वर्द्धमानो गुण एव स्वापेक्षया क्षीणावितरौ गुणावभिभवतीत्युक्तम्। अतस्तेषां वृद्धिलिङ्गान्याह—सर्वेति त्रिभिः। सर्वद्वारेषु श्रोत्रादिषु यदा प्रकाशः स्यात्, कीदृशः? ज्ञानं वैदिकशब्दादियथार्थज्ञानात्मकं, तदा तादृशज्ञानलिङ्गेनैव सत्त्वं विवृद्धमिति जानीयात्। उत-शब्दादात्मोत्थसुखात्मकः प्रकाशश्च यदेति।।११।।

भावानुवाद—पहले यह कहा गया है कि वृद्धिप्राप्त गुण ही अपनी अपेक्षा क्षीण अन्य दोनों गुणोंको पराभूत करता है। अभी 'सर्व' इत्यादि तीन श्लोकोंमें उनकी वृद्धिप्राप्तिके चिह्नसमूह (लक्षणों) को बताया जा रहा है। जब नाक-कान आदि इन्द्रियोंमें वैदिक शब्दादिका यथार्थ ज्ञान होने लगे, तब उन ज्ञानचिह्नोंके द्वारा ऐसा समझना चाहिए कि सत्त्वगुणकी वृद्धि हुई है। 'उत्' शब्दका अर्थ है—आत्मासे उत्पन्न सुखात्मक प्रकाश।।११।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—किन किन लक्षणोंसे किन किन गुणोंकी प्रबलताका ज्ञान होता है, इस विषयको बताया जा रहा है। जब कर्ण-नेत्र आदि इन्द्रियोंके माध्यमसे वस्तु-सम्बन्धी ज्ञान तथा विषयोंके प्रति सुखात्मक भाव प्रकाशित हो, तब ऐसा समझना चाहिए कि सत्त्वगुणकी वृद्धि हो रही है। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा ही कहा गया है—

'यदेतरौ जयेत् सत्त्वं भास्वरं विशदं शिवम्।
तदा सुखेन युज्येत धर्मज्ञानादिभिः पुमान्।।'

(श्रीमद्भा. ११/२५/१३)

अर्थात्, सत्त्वगुण प्रकाशक, निर्मल और शान्त है। जिस समय वह रजोगुण और तमोगुणको दबाकर बढ़ता है, उस समय जीव सुख, धर्म और ज्ञान आदिका भाजन हो जाता है। और भी, *'पुरुषं सत्त्वसंयुक्तमनुमीयाच्छमादिभिः'* (श्रीमद्भा. ११/२५/९) अर्थात् शम आदि लक्षणोंसे युक्त पुरुषको सत्त्वगुणयुक्त समझो। मायिक गुणोंसे युक्त होनेपर मेरी भक्ति भी सगुणा होती है। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा देखा जाता है—

'यदा भजति मां भक्त्या निरपेक्षः स्वकर्मभिः।
तं सत्त्वप्रकृतिं विद्यात् पुरुषं स्त्रियमेव वा।।'

(श्रीमद्भा. ११/२५/१०)

अर्थात्, सात्त्विक व्यक्ति—स्त्री हो या पुरुष, अपने कर्मसमूहसे निरपेक्ष होकर भगवत्-भजनमें अनुप्राणित होता है। सगुण भक्तिके विषयमें गीतामें कहा गया है—

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम्।।'

(गीता ९/२७) ।।११।।

लोभः प्रवृत्तिरारम्भः कर्मणामशमः स्पृहा।
रजस्येतानि जायन्ते विवृद्धे भरतर्षभ।।१२।।

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ!) लोभः (लोभ) प्रवृत्तिः (नाना यत्नपरता) कर्मणाम् आरम्भः (कर्मसमूहका आरम्भ) अशमः (भोगमें अशान्ति) स्पृहा (विषयकी अभिलाषा) एतानि (ये सब) रजसि विवृद्धे (रजोगुणके वर्द्धित होने पर) जायन्ते (उत्पन्न होते हैं)।।१२।।

अनुवाद—हे भरतश्रेष्ठ! लोभ, नाना यत्नपरता, कर्मोंका आरम्भ, भोगमें अशान्ति और विषय-भोगकी अभिलाषा, ये सब रजोगुणके बढ़नेपर उत्पन्न होते हैं।।१२।।

श्रीविश्वनाथ—प्रवृत्तिर्नाना प्रयत्नपरता; कर्मणामारम्भः गृहादिनिर्माणोद्यमः, अशमो विषयभोगानुपरतिः।।१२।।

भावानुवाद—'प्रवृत्ति'—नाना प्रयत्नपरता, 'कर्मणामारम्भः'—गृह आदिके निर्माणमें उद्यम अर्थात् चेष्टा, 'अशमः'—विषयभोगमें अनुपरति अर्थात् निवृत्तिका अभाव।।१२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—रजोगुण वृद्धिके लक्षण और परिचय—

लोभ—अनेक प्रकारसे धन आदिका आगमन होनेपर भी और भी धनसंग्रहकी पिपासा।

प्रवृत्ति—सर्वदा कर्म करनेकी प्रवृत्ति।

कर्मारम्भ—बड़े-बड़े भवननिर्माण आदिका उद्यम।

अशम—इस कार्यको कर वह करूँगा—ऐसे सङ्कल्प और विकल्पका क्रम चलता रहना। विषयभोगसे इन्द्रियोंकी निवृत्तिका अभाव।

स्पृहा—इधर-उधर अच्छी-बुरी भोगकी वस्तुओंको देखते ही उन्हें पानेकी इच्छा। विषय भोगोंकी पिपासा।

श्रीमद्भागवतमें भी कहा गया है—

'यदा जयेत्तमः सत्त्वं रजः सङ्गं भिदा चलम्।
तदा दुःखेन युज्येत कर्मणा यशसा श्रिया।।'

(श्रीमद्भा. ११/२५/१४)

अर्थात्, जब आसक्ति और भेद ज्ञानका जनक, चञ्चल स्वभावविशिष्ट रजोगुण अपने प्रभावसे सत्त्वगुण तथा तमोगुणको पराजित कर देता है, तब मनुष्य दुःख-कर्म-यश-श्रीके द्वारा युक्त होता है। और भी देखा जाता है—*'कामादिभी रजोयुक्त'* (श्रीमद्भा. ११/२५/९) अर्थात् काम आदि लक्षणोंके द्वारा रजोगुणकी वृद्धिको समझना चाहिए। रजोगुणी व्यक्तिके गुणीभूता भक्ति-लक्षणमें भी ऐसा कहा गया है—*'यदा आशिष आशास्य मां भजेत स्वकर्मभिः। तां रजः प्रकृतिं विद्यात्'* अर्थात् जब साधक भगवत्-उपासनाके द्वारा विषय-भोगोंकी प्रार्थना करता है, तब उस भजनको राजस भजन और उस व्यक्तिको रजोगुण प्रकृतिसे सम्पन्न समझना चाहिए।।१२।।

अप्रकाशोऽप्रवृत्तिश्च प्रमादो मोह एव च।
तमस्येतानि जायन्ते विवृद्धे कुरुनन्दन।।१३।।

अन्वय—कुरुनन्दन (हे कुरुनन्दन!) अप्रकाशः (विवेकका अभाव) अप्रवृत्ति (प्रयत्नहीनता) प्रमादः (अन्यमनस्कता) मोहः एव च (मिथ्या अभिनवेश आदि) एतानि (ये सब) तमसि (तमोगुणकी) विवृद्धि (वृद्धि होनेपर) जायन्ते (उत्पन्न होते हैं)।।१३।।

अनुवाद—हे कुरुनन्दन! विवेकका अभाव, प्रयत्नहीनता, अन्यमनस्कता, मिथ्या अभिनिवेश आदि—ये सब तमोगुणकी वृद्धि होनेपर उत्पन्न होते हैं।।१३।।

श्रीविश्वनाथ—'अप्रकाशो' विवेकाभावः, शास्त्रविहितशब्दादिग्रहणम् 'अप्रवृत्तिः' प्रयत्नमात्रराहित्यम्, 'प्रमादः' कण्ठादिधृतेऽपि वस्तुनि नास्तीति प्रत्ययः, 'मोहो' मिथ्याभिनिवेशः।।१३।।

भावानुवाद—'अप्रकाशः'—विवेकका अभाव, शास्त्रके अविहित अर्थात् निषिद्ध शब्दादिका ग्रहण, 'अप्रवृत्तिः'—उद्यमका अभाव, 'प्रमादः'—कण्ठ आदिमें धृत (अर्थात् सम्मुख उपस्थित) वस्तु भी नहीं हैं—ऐसा विश्वास, 'मोहः'—मिथ्या विषयमें अभिनिवेश।।१३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें तमोगुण-वृद्धिके लक्षणोंका वर्णन किया जा रहा है—

अप्रकाश—विवेकका नाश अथवा ज्ञानका अभाव। ऐसी स्थितिमें शास्त्र-निषिद्ध विषयोंको ग्रहण करनेकी पिपासा देखी जाती है।

अप्रवृत्ति—शास्त्रविहित कर्त्तव्यके विषयमें अनुसन्धानरहित होना। मेरे भाग्यमें ऐसा नहीं है—ऐसा विश्वासकर कर्त्तव्यके विषयमें उदासीन रहना।

मोह—किसी वस्तुके साथ अनित्य सम्बन्धको नित्य मानकर आसक्त होना अर्थात् मिथ्या अभिनिवेश।

श्रीमद्भागवत्में भी ऐसा देखा जाता है—

'यदा जयेद् रजः सत्त्वं तमो मूढं लयं जडम्।
युज्येत शोकमोहाभ्यां निद्रया हिंसयाशया।।'

(श्रीमद्भा. ११/२५/१५)

अर्थात्, जब विवेकको आवृत और भ्रष्ट करनेवाला जड़-तमोगुण रजोगुण और सत्त्वगुणको पराभूत करता है, तब पुरुष अर्थात् जीवोंमें शोक, मोह, निद्रा, हिंसा और अभिलाषा आदिकी प्रबलता देखी जाती है।

अन्यत्र भी, *'क्रोधाद्यैस्तमसा युतम्'* (श्रीमद्भा. ११/२५/९) अर्थात् क्रोध आदि लक्षणोंसे तमोगुणकी अधिकताका अनुमान करना चाहिए। तामसिक व्यक्तिके भगवत्-भजनके भी लक्षणमें भी ऐसा कहा गया है—*'हिंसामाशास्य तामसम्'* (श्रीमद्भा. ११/२५/११) अर्थात् हिंसा-कामनासे मेरी आराधना करनेवालेको तामसी समझना चाहिए।।१३।।

यदा सत्त्वे प्रवृद्धे तु प्रलयं याति देहभृत्।
तदोत्तमविदां लोकानमलान् प्रतिपद्यते।।१४।।

अन्वय—यदा तु (और जब) सत्त्वे प्रवृद्धे (सत्त्वगुणकी वृद्धि होकर) देहभृत् (जीव) प्रलयम् याति (मृत्यु प्राप्त करता है) तदा (तब) उत्तमविदाम् (हिरण्यगर्भ आदिके उपासकोंके) अमलान् लोकान् (सुखप्रद, रजः तमः से रहित, लोकोंको) प्रतिपद्यते (प्राप्त करता है)।।१४।।

अनुवाद—और, जब कोई सत्त्वगुणकी वृद्धि होनेपर शरीर छोड़ता है, तो वह हिरण्यगर्भ आदिके उपासकोंके सुखप्रद (रजोगुण और तमोगुणसे रहित) लोकोंको प्राप्त करता है।।१४।।

श्रीविश्वनाथ—'प्रलयं याति' मृत्युं प्राप्नोति। तदा उत्तमं विन्दति लभन्ते इत्युत्तमविदो हिरण्यगर्भाद्युपासकास्तेषां लोकानमलान् सुखप्रदान्।।१४।।

भावानुवाद—मृत्युके बाद जो सतोगुणी व्यक्ति उत्तम लोकोंको प्राप्त करते हैं, वे उत्तमविद् हिरण्यगर्भादिके उपासकोंके सुखप्रद लोकमें गमन करते हैं।।१४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—मृत्युके समय जिस गुणकी वृद्धि रहती है, उसी गुणके अनुरूप दूसरे जन्ममें फल प्राप्त होता है। सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय यदि मृत्यु हो, तो हिरण्यगर्भ आदिके उपासकोंके सुखप्रद निर्मल लोककी प्राप्ति होती है। श्रीमद्भागवत (११/२५/२२) में भी ऐसा कहा गया है—*'सत्त्वे प्रलीनाः स्वर्यान्ति'* अर्थात् सत्त्वगुणकी वृद्धिके समय मरनेवाले स्वर्गलोकको प्राप्त करते हैं।।१४।।

रजसि प्रलयं गत्वा कर्मसङ्गिषु जायते।
तथा प्रलीनस्तमसि मूढयोनिषु जायते।।१५।।

अन्वय—रजसि [विवृद्धे सति] (रजोगुणके बढ़नेपर) प्रलयम् गत्वा (मृत्यु होनेपर) कर्मसङ्गिषु (कर्मासक्त मनुष्योंके बीच) जायते (जन्म लेता है) तथा (उसी प्रकार) तमसि [विवृद्धे सति] (तमोगुणके बढ़नेपर) प्रलीनः [सन्] (मरने पर) मूढयोनिषु (पशु आदि मूढ़ योनियोंमें) जायते (जन्म लेता है)।।१५।।

अनुवाद—जो जीव रजोगुणके बढ़नेपर देहत्याग करता है, वह कर्ममें आसक्त मनुष्योंके बीच जन्म लेता है, इसी प्रकार तमोगुणके बढ़नेपर देहत्याग करनेवाला पशु आदि मूढ़ योनियोंमें जन्म लेता है।।१५।।

श्रीविश्वनाथ—कर्मसङ्गिषु कर्मासक्तमनुष्येषु।।१५।।

भावानुवाद—'कर्मसङ्गी' का तात्पर्य हैं—कर्ममें आसक्त मनुष्य।।१५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—रजोगुणकी वृद्धिके समय मृत्यु होनेपर काम्य कर्मोंमें आसक्त मनुष्यके कुलमें जन्म होता है। तमोगुणकी अत्यन्त वृद्धि रहनेके समय मृत्यु होनेपर पशु योनिमें जन्म होता है। कुछ लोगोंका विचार है कि एक बार मनुष्य जन्म प्राप्त होनेके बाद आत्माका पतन नहीं होता है। किन्तु, उक्त श्लोकसे पता चलता है कि मनुष्य शरीर

लेनेपर भी यदि कोई व्यक्ति सत्त्वगुण अङ्गीकार करनेके बदले तमोगुण ग्रहण करता है, तो वह मृत्युके बाद पशुयोनिको प्राप्त होता है। हिंसा आदि कार्योंमें लिप्त होनेपर नरकको भी प्राप्त होता है। वहाँसे लौटकर फिर वह कब मनुष्य जन्म प्राप्त कर पाएगा, इसका कुछ भी ठीक नहीं है। इसलिए प्रत्येक मनुष्यका कर्त्तव्य होता है कि वह क्रमशः तमोगुणसे ऊपर उठकर रजोगुण ग्रहण करे तथा रजोगुणसे ऊपर उठकर सत्त्वगुणमें प्रतिष्ठित हो। पुनः शुद्ध भक्तोंके सङ्गमें शुद्धा भक्तिका आश्रयकर निर्गुण स्वभावमें प्रतिष्ठित हो। ऐसा निर्गुण साधक ही निर्गुणा भक्तिका आश्रयकर भगवान्‌का साक्षात्कार प्राप्त करता है। इस प्रकार उसका जीवन कृतकृत्य हो जाता है। विशेषतः *'मरणे या मतिः सा गतिः'* अर्थात् मरनेके समय जैसी मति रहती है वैसी ही गति होती है, अतः मरणकालमें केवल भगवान्‌का स्मरण करना ही कर्त्तव्य है। भगवान्‌के स्मरणके द्वारा निर्गुणा भक्ति प्राप्तकर जीवन सार्थक किया जा सकता है।।१५।।

कर्मणः सुकृतस्याहुः सात्त्विकं निर्मलं फलम्।
रजसस्तु फलं दुःखमज्ञानं तमसः फलम्।।१६।।

अन्वय—सुकृतस्य कर्मणः (सात्त्विक कर्मका) निर्मलम् सात्त्विकम् (निर्मल, सात्त्विक) फलम् (फल) रजसः तु (और राजसिक कर्मका) दुःखम् फलम् (दुःखमय फल) तमसः (तामसिक कर्मका) अज्ञानम् फलम् (अज्ञानमय फल) [होता है] [पण्डितगण] आहुः (कहते हैं)।।१६।।

अनुवाद—पण्डितगण ऐसा कहते हैं कि सात्त्विक कर्मका सुखमय सात्त्विक फल होता है, राजसिकका कर्मका दुःखमय फल तथा तामसिक कर्मका अज्ञानमय फल होता है।।१६।।

श्रीविश्वनाथ—सुकृतस्य सात्त्विकस्य कर्मणः सात्त्विकमेव निर्मलं निरुपद्रवम्, अज्ञानमचेतनता।।१६।।

भावानुवाद—सात्त्विक कर्मका सात्त्विक और निर्मल अर्थात् उपद्रवरहित फल होता है। अज्ञानका तात्पर्य है—अचेतनता।।१६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—सत्त्वगुणमें स्थित व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन, सामाजिक आौर सार्वजनिक जीवनके लिए हितकारी कार्योंमें तत्पर रहते हैं। उनके द्वारा किए गए कार्योंको पुण्य कर्म कहते हैं। पुण्य-कर्म करनेवाले व्यक्ति संसारमें सुखी रहते हैं। ऐसे लोगोंको ही साधु-सङ्ग प्राप्त होनेकी सम्भावना अधिक होती है। रजोगुण-सम्पन्न व्यक्तियोंके द्वारा किए गए कर्म

दुःखके कारण होते हैं। क्षणिक भौतिक सुखके लिए किए गए कार्य व्यर्थ होते हैं। ऐसे लोगोंका सार क्लेश-ही-क्लेश होता है, उसमें कोई वास्तविक सुख नहीं है। तमोगुण प्रधान व्यक्तिके समस्त कार्य अत्यन्त दुःखदायी होते हैं। उन्हें मृत्युके बाद भी कीड़े-मकोड़े, पशु-पक्षियोंकी योनिमें जाना पड़ता है। पशुओंका वध और उनका माँस खाना तमोगुणका प्रधान लक्षण है। पशुहिंसक यह नहीं जानते हैं कि भविष्यमें यही पशु किसी-न-किसी रूपमें उसका भी वध करेगा—यह प्रकृतिका नियम है। मनुष्य समाजमें यदि कोई किसी मनुष्यकी हत्या करता है, तो उसे प्राण-दण्ड दिया जाता है—यह राष्ट्रका विधान है। किन्तु आज्ञानी लोग यह नहीं जानते है कि इन सारे ब्रह्माण्डोंके मूल नियामक परमेश्वर हैं। उनके राज्यमें एक चींटीकी भी हत्या करना वे नहीं सह सकते। इसलिए उन्हें अवश्य ही दण्ड भोगना पड़ता है। अपने तुच्छ स्वादके लिए पशुवधमें संलग्न रहना एक भीषणतम अपराध है। इनमें से गोवध तो सर्वाधिक दण्डनीय कार्य है। गाय-बैल माता-पिताके समान हैं। इसीलिए वैदिक एवं पौराणिक साहित्यमें गोवधको भीषणतम पापमय कार्य बताया गया है।

गाय माताकी भाँति अपने दूधसे तथा बैल पिताकी भाँति अपने श्रमसे कृषि आदि द्वारा हमारा पालन-पोषण करनेवाले माता-पिताके समान हैं। आधुनिक तथाकथित सभ्य मानव-समाज अज्ञानतावश इस तथ्यकी उपेक्षा करता है। इससे व्यक्तिगत, समष्टिगत पतनका मार्ग प्रशस्तकर वे सर्वनाशके कगारपर पहुँच रहे हैं और समाजको भी पहुँचा रहे हैं। आधुनिक मानव-सभ्यतामें रजोगुण और तमोगुणकी प्रधानता है। यह सबके लिए महाघातक है। बुद्धिमान् मनुष्योंको इस महान संकटसे मानवताको बचानेके लिए सत्त्वगुणमें प्रतिष्ठित होकर भगवद्भक्ति तथा हरिनाम सङ्कीर्त्तनका आश्रय लेना आवश्यक है। सत्सङ्गमें भगवत्-स्मृतिके आते ही मनुष्यका सारा अज्ञान दूर हो जाता है। उसके सारे भौतिक भेदभाव दूर हो जाते हैं। ऐसा होनेपर वह सर्वत्र परमेश्वरका दर्शन करता है।।१६।।

सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं रजसो लोभ एव च।
प्रमादमोहौ तमसो भवतोऽज्ञानमेव च।।१७।।

अन्वय—सत्त्वात् (सत्त्वगुणसे) ज्ञानम् (ज्ञान) सञ्जायते (उत्पन्न होता है) रजसः (रजोगुणसे) लोभः एव (लोभ ही) च (एवं) तमसः (तमोगुणसे)

प्रमादमोहौ (प्रमाद, मोह) अज्ञानम् च (और अज्ञान) भवतः (होता है)।।१७।।

अनुवाद—सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है। रजोगुणसे लोभ उत्पन्न होता है और तमोगुणसे प्रमाद, मोह तथा अज्ञान उत्पन्न होता है।।१७।।

ऊर्द्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्था मध्ये तिष्ठन्ति राजसाः।
जघन्यगुणवृत्तिस्था अधो गच्छन्ति तामसाः।।१८।।

अन्वय—सत्त्वस्थाः (सतोगुणी व्यक्तिगण) ऊर्द्ध्वम् गच्छन्ति (ऊपरके लोकोंमें जाते हैं) राजसाः (रजोगुणी व्यक्तिगण) मध्ये (मनुष्यलोकमें) तिष्ठन्ति (रहते हैं) जघन्यगुणवृत्तिस्थाः (प्रमाद-आलस्यादि परायण) तामसाः (तमोगुणी व्यक्तिगण) अधोगच्छन्ति (नीचेके लोकोंमें जाते हैं)।।१८।।

अनुवाद—सतोगुणी व्यक्तिगण ऊपरके लोकोंमें जाते हैं, रजोगुणी व्यक्तिगण मनुष्यलोकमें रहते है एवं आलस्य-प्रमादादि परायण तमोगुणी व्यक्तिगण नीचेके लोकोंमें जाते हैं।।१८।।

श्रीविश्वनाथ—सत्त्वस्थाः सत्त्वतारतम्येनोर्द्ध्वं सत्यलोकपर्यन्तम्, मध्ये मनुष्यलोक एव। जघन्यश्चासौ गुणश्चेति तस्य वृत्तिः प्रमादालस्यादिस्तत्र स्थिता अधोगच्छन्ति नरकं यान्ति।।१८।।

भावानुवाद—सत्त्वगुणके तारतम्यसे व्यक्तिगण सत्यलोक तक जाते हैं रजोगुणी 'मध्य' अर्थात् मनुष्यलोकमें ही रहते हैं। 'जघन्य' का अर्थ है—निकृष्ट एवं इसकी वृत्तियाँ हैं—प्रमाद, आलस्यादि। इनमें स्थित व्यक्तिगण नरकमें जाते हैं।।१८।।

नान्यं गुणेभ्यः कर्त्तारं यदा द्रष्टानुपश्यति।
गुणेभ्यश्च परं वेत्ति मद्भावं सोऽधिगच्छति।।१९।।

अन्वय—यदा (जिस समय) द्रष्टा (जीव) गुणेभ्यः (तीनों गणुोंसे) अन्यम् (पृथक् किसीको) कर्त्तारम् (कर्त्ताके रूपमें) न अनुपश्यति (नहीं देखता है) गुणेभ्यः च (और गुणोंसे) परम् (अतीत आत्माको) वेत्ति (जान पाता है) [तदा—उस समय] सः (वह जीव) मद्भावम् (मेरी भावरूपी शुद्धभक्तिको) अधिगच्छति (प्राप्त करता है)।।१९।।

अनुवाद—जिस समय जीव तीनों गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्त्ताके रूपमें नहीं देखता है और गुणोंसे अतीत आत्माको जान पाता है, उस समय वह भावरूपी शुद्धा भक्तिको प्राप्त करता है।।१९।।

श्रीविश्वनाथ—गुणकृतं संसारं दर्शयित्वा गुणातीतं मोक्षं दर्शयति—नान्यमिति द्वाभ्याम्। गुणेभ्यः कर्त्तृकरणविषयाकारेण परिणतेभ्योऽन्यं कर्त्तारं द्रष्टा जीवो यदा नानुपश्यति, किन्तु गुणा एव सदैव कर्त्तार इत्येवमनुपश्यति अनुभवतीत्यर्थः। गुणेभ्यः परं व्यतिरिक्तमेवात्मानं वेत्ति, तदा स द्रष्टा मद्भावं मयि सायुज्यमधिगच्छति प्राप्नोति। तत्र तादृश-ज्ञानानन्तरमपि मयि परां भक्तिं कृत्वैवेत्युपान्तश्लोकार्थदृष्ट्या ज्ञेयम्।।१९।।

भावानुवाद—गुणकृत संसारको दिखानेके बाद अब 'नात्यं' इत्यादि दो श्लोकोंमें गुणातीत मोक्षको दिखा रहे हैं। जब जीव कर्त्ता-करण-विषयके रूपमें परिणत गुणोंके अतिरिक्त अन्य किसीको कर्त्ता नहीं देखता है, अपितु गुणसमूह ही सर्वदा कर्त्ता हैं—यही दर्शन करता है अर्थात् अनुभव करता है, आत्माको गुणोंसे श्रेष्ठ और भिन्न ही देखता है, तब वह द्रष्टा (जीव) 'मद्भावं' अर्थात् मुझमें सायुज्य प्राप्त करता है। उस समय वैसे ज्ञानको प्राप्त करने पर भी वह मेरी भक्ति द्वारा ही मुझे प्राप्त करता है—यह छब्बीसवें श्लोकके अर्थसे स्पष्ट हो जाएगा।।१९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—चींटीसे लेकर मनुष्य तक तथा तृण-गुल्मसे आरम्भकर पेड़-पौधे, नदी एवं पर्वतोंकी योनियोंमें भी रहनेवाले जीव गुणोंसे बँधे हुए असहायकी भाँति कार्य कर रहे हैं। वस्तुतः इन समस्त कर्मोंमें प्रकृतिके तीन गुणोंके अतिरिक्त और कोई कर्त्ता नहीं है। किन्तु, प्रकृतिके भी मूल नियामक परमेश्वर हैं, तथापि वे परमेश्वर प्रकृति और प्रकृतिके गुणोंके नियामक होनेपर भी इनसे सर्वथा परे हैं। जो ऐसा तत्त्व जान लेते हैं, वे भी प्रकृति तथा प्रकृतिके गुणोंको लांघकर परमपदको प्राप्त होते हैं। किन्तु, कोई भी व्यक्ति अपने बुद्धि-विवेकके द्वारा ऐसा नहीं जान सकता, इसीलिए तत्त्वविद् महापुरुषोंका सङ्ग करना नितान्त आवश्यक है। कोई भी जीव कितना भी निकृष्ट क्यों न हो साधु-पुरुषोंके सङ्गमें शीघ्र और अनायास ही इन तीनों गुणोंसे अतीत हो सकता है।।१९।।

गुणानेतानतीत्य त्रीन् देही देहसमुद्भवान्।
जन्ममृत्युजरादुःखैर्विमुक्तोऽमृतमश्नुते ।।२०।।

अन्वय—देही (जीव) देहसमुद्भवान् (देहको उत्पन्न करनेवाले) एतान् त्रीन् गुणान् (इन तीनों गुणोंका) अतीत्य (अतिक्रमणकर) जन्ममृत्युजरादुःखैः (जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखसे) विमुक्तः (मुक्त होकर) अमृतम् (मोक्ष) अश्नुते (प्राप्त करता है)।।२०।।

अनुवाद—जीव देहको उत्पन्न करनेवाले इन तीनों गुणोंका अतिक्रमणकर जन्म, मृत्यु, जरा और दुःखसे मुक्त होकर मोक्ष प्राप्त करता है।।२०।।

श्रीविश्वनाथ—ततश्च सोऽपि गुणातीत एवोच्यते इत्याह—गुणानिति।।२०।।

भावानुवाद—उपरोक्त अवस्थाको प्राप्त करनेके बाद वह भी गुणतीत हो जाता है—इसीलिए कहते हैं—'गुणान्' इत्यादि।।२०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—ब्रह्मभाव प्राप्त व्यक्ति जन्म-मृत्यु-जरा-व्याधि इत्यादि क्लेशोंसे अभिभूत नहीं होते। भक्तिमिश्र ज्ञानिजन भी ज्ञानकी सिद्धि होनेपर ज्ञानका परित्यागकर भगवान्के चरणकमलोंमें पराभक्ति प्राप्त करते हैं तथा अन्तमें सेवानन्दमें तत्पर रहकर प्रेमामृतका रसास्वादन करते हैं। इसके विपरीत निर्विशेष ज्ञानी केवल ज्ञानका साधनकर कोई भी फल नहीं प्राप्त करते—'*श्रेयः सृतिं भक्तिमुदस्य*' (श्रीमद्भा. १०/१४/४) श्रीभगवान्के शुद्ध भक्त ही प्रकृतिके गुणोंसे अतीत होते हैं, दूसरे नहीं।।२०।।

अर्जुन उवाच—
कैर्लिङ्गैस्त्रीन् गुणानेतानतीतो भवति प्रभो।
किमाचारः कथं चैतांस्त्रीन् गुणानतिवर्त्तते।।२१।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) प्रभो (हे प्रभो!) कैर्लिङ्गैः (किन किन चिह्नों द्वारा) एतान् त्रीन् गुणान् अतीतः (इन तीनों गुणोंसे अतीत व्यक्तिका) [ज्ञेयः] भवति (ज्ञान होता है) किमाचारः (उनके क्या आचार होते हैं) कथम् च (एवं किस उपायसे) एतान् त्रीन् गुणान् (इन तीनों गुणोंको) अतिवर्त्तते (अतिक्रम करते हैं)।।२१।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे प्रभो! तीनों गुणोंसे अतीत व्यक्तिके क्या लक्षण हैं, उनके क्या आचार होते हैं एवं किस उपायसे वे तीनों गुणोंको पार करते हैं?।।२१।।

श्रीविश्वनाथ—*'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा?'* इत्यादिना द्वितीयाध्याये पृष्टमप्यर्थं पुनस्ततोऽपि विशेषवुभुत्सया पृच्छति 'कैर्लिङ्गैः' इत्येकः प्रश्नः, कैश्चिह्नैस्त्रिगुणातीतः स ज्ञेय इत्यर्थः, 'किमाचारः?' इति द्वितीयः, 'कथञ्चैतान्? इति तृतीयः, गुणातीतत्त्वप्राप्तेः किं साधनमित्यर्थः। 'स्थितप्रज्ञस्य का भाषा?' इत्यादौ स्थितप्रज्ञो गुणातीतः कथं स्यादिति तदानीं न पृष्टमिदानीं तु पृष्टमिति विशेषः।।२१।।

भावानुवाद—द्वितीय अध्यायमें 'स्थितप्रज्ञके क्या लक्षण हैं'—इसका उत्तर पानेके बाद भी उसे विशेषपूर्वक जाननेको उत्सुक होकर अर्जुन पुनः प्रश्न

कर रहे हैं। प्रथम प्रश्न—'वे गुणातीत हैं', यह किन किन लक्षणोंसे जाना जाता है? द्वितीय प्रश्न—'उनका आचरण कैसा होता है?' तृतीय प्रश्न—'किस प्रकार तीनों गुणोंको पार किया जा सकता है अर्थात् गुणातीत्वको प्राप्त करनेके क्या साधन हैं?' द्वितीय अध्यायमें जब अर्जुनने 'स्थितप्रज्ञके क्या लक्षण हैं?'—यह प्रश्न पूछा था, तब यह नहीं पूछा था कि वे किस प्रकार गुणातीत होते हैं। किन्तु, यहाँ यह विशेष रूपमें जिज्ञासा कर रहे हैं।।२१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अर्जुनने इस श्लोकमें गुणातीत पुरुषोंके लक्षण, उनके आचरण, उनके द्वारा ग्रहण किए गए साधनोंको जाननेके लिए प्रश्न किया है। ये प्रश्न मनुष्यमात्रके लिए अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। गीताका अनुशीलन करनेवाले सच्चे जिज्ञासुओंके लिए यह प्रश्न आवश्यक है, जिससे वे तामसिक, सात्त्विक, आौर राजसिक गुणोंको लांघकर निर्गुणा स्थितिमें पहुँच सकें तथा भगवद्भक्तिका अनुशीलनकर भगवत्-सेवारूप चरम लक्ष्यको प्राप्त कर सकें।।२१।।

श्रीभगवानुवाच—

प्रकाशञ्च प्रवृत्तिञ्च मोहमेव च पाण्डव।
न द्वेष्टि संप्रवृत्तानि न निवृत्तानि काङ्क्षति।।२२।।
उदासीनवदासीनो गुणैर्यो न विचाल्यते।
गुणा वर्तन्त इत्येवं योऽवतिष्ठति नेङ्गते।।२३।।
समदुःखसुखः स्वस्थः समलोष्टाश्मकाञ्चनः।
तुल्यप्रियाप्रियो धीरस्तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः।।२४।।
मानापमानयोस्तुल्यस्तुल्यो मित्रारिपक्षयोः।
सर्वारम्भपरित्यागी गुणातीतः स उच्यते।।२५।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) पाण्डव (हे पाण्डव!) [जो] प्रकाशम् च (प्रकाश) प्रवृत्तिञ्च (प्रवृत्ति) मोहम् एव च (एवं मोह) सम्प्रवृत्तानि (स्वतः प्राप्त होनेपर) न द्वेष्टि (द्वेष नहीं करते) निवृत्तानि (उनकी निवृत्ति) न काङ्क्षते (नहीं चाहते) यः (जो) उदासीनवत् (उदासीनकी भाँति) आसीनः (अवस्थित) गुणैः (और गुणके कार्य सुख-दुःख आदिसे) न विचाल्यते (विचलित नहीं होते) गुणाः (गुणसमूह) [अपने अपने कार्योंमें]

वर्त्तन्ते (प्रवृत्त हैं) इति एवं (ऐसा विचारकर) अवतिष्ठति (स्थिर रहते हैं) न इङ्गते (विचलित नहीं होते हैं) [यः—जो] समदुःखसुखः (सुख और दुःखमें समान रहनेवाले) स्वस्थः (स्वरूपनिष्ठ) समलोष्टाश्मकाञ्चनः (मिट्टी, पत्थर और सोनेमें समान बुद्धिसम्पन्न) तुल्यप्रियाप्रियः (प्रिय और अप्रिय वस्तुमें तुल्य ज्ञानवाले) धीरः (बुद्धिमान्) तुल्यनिन्दात्मसंस्तुतिः (अपनी निन्दा और स्तुतिमें समान ज्ञानवाले) मानापमानयोः (मान और अपमानमें) तुल्यः (समान) मित्रारिपक्षयोः तुल्यः (मित्र और शत्रुके लिए समान हैं) सर्वारम्भपरित्यागी (देहधारणके कर्मके अतिरिक्त सभी कर्मोंको त्यागनेवाले हैं) सः (वे) गुणातीतः उच्यते (गुणातीत कहलाते हैं)।।२२—२५।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे पाण्डव! जो प्रकाश, प्रवृत्ति एवं मोहके स्वतः प्राप्त होनेपर उनसे द्वेष नहीं करते तथा उनकी निवृत्तिकी भी अभिलाषा नहीं करते हैं, जो उदासीनकी भाँति अवस्थित हैं और गुणके कार्य सुख–दुःख आदिसे विचलित नहीं होते हैं, गुणसमूह अपने अपने कार्योंमें प्रवृत्त हो रहे हैं—ऐसा जानकर स्थिर रहते हैं तथा चञ्चल नहीं होते हैं, जो सुख–दुःखको समान समझते हैं, स्वरूपनिष्ठ हैं, मिट्टी, पत्थर और सोनेको समान समझते हैं, बुद्धिमान् हैं, अपनी निन्दा–स्तुतिमें समान भाववाले हैं, मित्र और शत्रुके प्रति समान हैं, देहधारणके अतिरिक्त सभी कर्मोंका परित्याग करनेवाले हैं, वे गणातीत कहलाते हैं।।२२—२५।।

श्रीविश्वनाथ—तत्र 'कैर्लिङ्गैर्गुणातीतो भवति?' इति प्रथम प्रश्नस्योत्तरमाह— प्रकाशं सर्वद्वारेषु देहेऽस्मिन् प्रकाश उपजायते इति सत्त्वकार्यम् प्रवृत्तिञ्च रजःकार्यम्, मोहञ्च तमःकार्यम्—उपलक्षणमेतत् सत्त्वादीनां सर्वाण्यपि कार्याणि यथायथं संप्रवृत्तानि स्वतःप्राप्तानि दुःखबुद्ध्या यो न द्वेष्टि, गुणकार्याण्येतानि निवृत्तानि भवन्तीति सुखबुद्ध्या च यो न काङ्क्षति, स गुणातीत उच्यते इति चतुर्थेनान्वयः। संप्रवृत्तानीतिक्लीवत्वमार्षम्। 'किमाचारः?' इति द्वितीयप्रश्नस्योत्तरमाह— उदासीनवदिति त्रिभिः। गुणकार्यैः सुखदुःखादिभिर्यो न विचाल्यते स्वरूपावस्थानान्न च्यवते अपि तु गुणा एव स्व–स्व–कार्येषु वर्त्तन्ते इत्येवेति। एभिर्मम सम्बन्ध एव नास्तीति विवेकज्ञानेन यस्तूष्णीमवतिष्ठति—परस्मैपदमार्षम्, 'नेङ्गते' न क्वापि दैहिककृत्ये यतते। *'गुणातीतः स उच्यते'* इति गुणातीतस्यैतानि चिह्नान्येतानाचारांश्च दृष्ट्वैव गुणातीतो वक्तव्यो न तु गुणातीतत्वोपपत्तिः, वावदूको गुणातीतो वक्तव्य इति भावः।।२२–२५।।

भावानुवाद—"वे किन चिह्नोंसे गुणातीत लक्षित होते हैं?"—इस प्रथम प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—'इस देहके समस्त इन्द्रियोंमें जब ज्ञान प्रकाशित होता है' (गीता १४/११)—सत्त्वगुणका यह कार्य एवं रजोगुणका कार्य—प्रवृत्ति तथा तमोगुणका कार्य—मोह—ये सब तीनों गुणोंके उपलक्षण हैं। तीनों गुणोंके समस्त कार्योंके यथायोग्यरूपमें स्वतः प्रवृत्त होनेपर भी जो दुःख-बुद्धिसे द्वेष नहीं करते तथा इनके निवृत्त होनेपर भी सुख-बुद्धिसे आकांक्षा नहीं करते, वे गुणातीत कहलाते हैं। २५ वें श्लोकके साथ इसका अन्वय है। ('सं प्रवृत्तानि' पदमें क्लीव लिङ्गका व्यवहार आर्ष-प्रयोग है) 'किमाचारः'—इस द्वितीय प्रश्नके उत्तरमें 'उदासीनवत्' इत्यादि तीन श्लोकोंको कह रहे हैं। सुख-दुःख आदि गुणकार्य द्वारा जो विचलित नहीं होते हैं अर्थात् अपने-स्वरूपावस्थासे विचलित नहीं होते हैं, अपितु ऐसा विचार करते हैं कि गुणसमूह ही अपने अपने कार्यमें अवस्थित हैं, इनके साथ मेरा सम्बन्ध ही नहीं हैं—इस प्रकार विचारपूर्वक विवेकज्ञान होनेसे वे मौनी रहते हैं। (अवतिष्ठति पदका परस्मैपद प्रयोग आर्ष-प्रयोग है) जो किसी प्रकारके दैहिक कार्योंके लिए यत्न नहीं करते हैं, वे ही गुणातीत कहलाते हैं। इन वाक्योंमें गुणातीत व्यक्तिके इन सभी चिह्नों एवं आचारोंको देखकर ही, उन्हें ही गुणातीत कहा जाता है। किन्तु, गुणातीत्वकी उपलब्धिका प्रचार करनेवाले वाचाल व्यक्तियोंको गुणातीत नहीं कहा जाता है।।२२—२५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीभगवान् अर्जुनके तीनों प्रश्नोंको सुनकर पहले गुणातीत पुरुषोंके लक्षण बता रहे हैं—सत्त्वगुणका कार्य है—प्रकाशित करना, रजोगुणका कार्य है—प्रवृत करना तथा तमोगुणका कार्य है—मोहित करना। जब प्रकृतिके इन तीनों गुणोंके अपने अपने कार्यमें प्रवृत होनेपर जीवात्मा दुःखबुद्धिसे उनसे द्वेष नहीं करता है अथवा इनके निवृत्त होनेपर सुखबुद्धिसे इसकी आकांक्षा भी नहीं करता है, तब वह गुणातीत कहलाता है। उनका आचरण कैसा होता है? इसके उत्तरमें कहते हैं—गुणातीत पुरुष सुख-दुःखसे विचलित नहीं होकर उदासीनकी भाँति अवस्थित रहते हैं। सांसारिक सुख-दुःख, सर्दी-गर्मी, लाभ-हानि, जय-पराजय आदिको एक समान समझकर निरपेक्ष होकर ऐसा समझते हैं कि आत्माके साथ इनका कोई सम्बन्ध नहीं हैं। ऐसा समझकर दैहिक कार्योंमें निश्चेष्ट रहकर अपने आत्म-अनुशीलनमें तत्पर रहते हैं।

"अर्जुनके तीन प्रश्नोंको सुनकर श्रीभगवान् कहने लगे—तुम्हारा प्रथम प्रश्न यह है कि गुणातीत व्यक्तिके क्या चिह्न हैं? इसका उत्तर यह है कि द्वेष और आकांक्षासे रहित होना ही उनके चिह्न हैं। बद्धजीव जड़जगत्में अवस्थित होकर जड़ा-प्रकृतिके सत्त्व, रजः और तमः गुणोंमें अधीन हैं। केवल सम्पूर्ण मुक्तिलाभ होनेपर ही तीनों गुणोंका नाश होता है। किन्तु, जब तक भगवान्की इच्छाके अनुसार लिङ्गभङ्गरूपी मुक्ति नहीं प्राप्त होती है, तब तक एकमात्र द्वेष और आकांक्षाका परित्याग करना ही निर्गुणता प्राप्त करनेका उपाय जानना चाहिए। देहके रहते समय 'प्रकाश', 'प्रवृत्ति' और 'मोह' (सत्व, रजः, और तमः गुणसे उत्पन्न होनेके कारण) अवश्य ही देहके साथ अनुस्यूत रहेंगे। किन्तु, तुम्हें इन सबके प्रति आकांक्षाके द्वारा प्रवृत्त नहीं होना चाहिए और द्वेष द्वारा उनकी निवृत्तिकी भी चेष्टा नहीं करनी चाहिए—ये दोनों चिह्न जिनमें लक्षित होते हैं, वे ही निर्गुण हैं। जो चेष्टा और विशेष स्वार्थपर आग्रह द्वारा संसारमें प्रवृत्त हैं अथवा जो संसारको 'मिथ्या' जानकर चेष्टापूर्वक वैराग्यका अभ्यास करते हैं, वे निर्गुण नहीं हैं।

"तुम्हारा द्वितीय प्रश्न यह है कि गुणातीत व्यक्तिके आचार क्या हैं? उनके आचार इस प्रकार होते हैं—'गुणसमूह मेरे शरीरमें अपने अपने कार्य कर रहे हैं'—वे ऐसा समझते हैं। वे गुणोंको स्वयं कार्य करने देते हैं और स्वयं उनसे पृथक् रहकर चैतन्यस्वरूप उदासीन व्यक्तिकी भाँति उनसे लिप्त नहीं होते हैं। उनकी देह-चेष्टा द्वारा दुःख, सुख, मिट्टी, पत्थर, सोना, प्रिय, अप्रिय, निन्दा और स्तुति—ये समस्त उपस्थित होते हैं, किन्तु उनके प्रति समान दृष्टि रखते हैं एवं स्वस्थ अर्थात् चैतन्यस्थ होकर उनको 'तुल्य' ज्ञान करते हैं। उनके सांसारिक व्यवहार द्वारा जो मान, अपमान, शत्रु, मित्र आदिका संघटन होता है, वे उन सबको व्यवहारमें न्यस्तकर ऐसा समझते हैं कि मुझ चैतन्यस्वरूपसे उनका कोई सम्बन्ध नहीं है। आसक्ति और वैराग्यके जितने प्रकारके आरम्भ हैं, उनका परित्यागकर वे 'गुणातीत' नाम प्राप्त करते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२२—२५।।

माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते।
स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।।२६।।

अन्वय—यः (जो) माम् च (मुझ परमेश्वरकी ही) अव्यभिचारेण (ऐकान्तिक भावसे) भक्तियोगेन (भक्तियोग द्वारा) सेवते (सेवा करते हैं)

सः (वे) एतान् गुणान् (इन गुणोंको) समतीत्य (अतिक्रमकर) ब्रह्मभूयाय (ब्रह्मानुभवके) कल्पते (योग्य होते हैं)।।२६।।

अनुवाद—जो ऐकान्तिक भावसे श्यामसुन्दराकार मुझ परमेश्वरकी ही भक्तियोग द्वारा सेवा करते हैं, वे इन गुणोंको पारकर ब्रह्मानुभवके योग्य होते हैं।।२६।।

श्रीविश्वनाथ—'कथञ्चैतान् गुणानतिवर्त्तते?' इति तृतीयप्रश्नस्योत्तरमाह—माञ्चेति। 'च'—एवार्थे, मामेव श्यामसुन्दराकारं परमेश्वरं भक्तियोगेन यः सेवते, स एव ब्रह्मभूयाय ब्रह्मत्वाय ब्रह्मानुभवायेति यावत्, *"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः"* इति मद्वाक्ये एकयेति विशेषणोपन्यासात् *"मामेव ये प्रपद्यन्ते मायामेतां तरन्ति ते"* इत्यत्रापि एव-कारप्रयोगात् भक्त्या विना प्रकारान्तरेण ब्रह्मानुभवो न भवतीति निश्चयात्; भक्तियोगेन कीदृशेन? अव्यभिचारेण कर्मज्ञानाद्यमिश्रेण निष्कामकर्मणो न्यासश्रवणात्। *"ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्"* इति ज्ञानिनां चरमदशायां ज्ञानस्यापि न्यासश्रवणात्, भक्तियोगस्य तु क्वापि न्यासाश्रवणात् भक्तियोग एव सोऽव्यभिचारः, तेन कर्मयोगमिव ज्ञानयोगमपि परित्यज्य यद्यव्यभिचारेण केवलेनैव भक्तियोगेन सेवते, तर्हि ज्ञानी अपि गुणातीतो भवति, नान्यथा। अनन्यभक्तस्तु *"निर्गुणो मदपाश्रयः"* इत्येकादशोक्तेर्गुणातीतो भवत्येव अत्रेदं तत्त्वं *"सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः। तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः।।"* इत्यत्रासङ्गिनः कर्मिणो ज्ञानिनो वा सात्त्विकत्वेनैव साधकत्वावगतेस्तत्साहचर्यात् *"निर्गुणो मदपाश्रयः"* इति भक्तः साधक एवावगम्यते, ततश्च ज्ञानी ज्ञानसिद्धः सन्नेव सात्त्विकत्वं परित्यज्य गुणातीतो भवति। भक्तस्तु साधकदशामारभ्यैव गुणातीतो भवतीत्यर्थो लभ्यते। अत्र च-कारोऽवधारणार्थ इति स्वामिचरणाः। "मामेवेश्वरं नारायणमव्यभिचारेण भक्तियोगेन द्वादशाध्यायोक्तेन यः सेवते" इति मधुसूदनसरस्वतीपादाश्च व्याचक्षतेस्म।।२६।।

भावानुवाद—"किस प्रकार तीनों गुणोंका अतिक्रमण किया जा सकता है?"—इस तृतीय प्रश्नके उत्तरमें 'माञ्च' इत्यादि कह रहे हैं। 'च' का तात्पर्य है—निश्चित रूपसे मुझे ही। जो श्यामसुन्दरकार मुझ परमेश्वरकी ही भक्तियोगसे सेवा करते हैं, केवल वे ही 'ब्रह्मभूयाय'—ब्रह्मके अनुभवयोग्य होते हैं। "मैं ऐकान्तिकी भक्तिसे ही प्राप्य हूँ।" (श्रीमद्भा. ११/१४/२१)—इस वाक्यमें 'एकया' इस विशेषण पदके प्रयोगसे यही सिद्ध होता है। गीता (६/१४) के अनुसार भी 'जो मेरे प्रति ही प्रपन्न होते हैं, वे मायासे उत्तीर्ण होते हैं'—इस वाक्यमें भी 'एव'-कारके प्रयोगसे यह निश्चित हुआ

है कि भक्तिके अतिरिक्त अन्य किसी प्रकारसे ब्रह्मका अनुभव नहीं होता है। 'अव्यभिचारेण' का तात्पर्य है—कर्म-ज्ञान आदिके मिश्रणसे रहित। निष्काम कर्मका भी त्याग सुना जाता है। 'ज्ञानका भी मुझमें संन्यास करो' (श्रीमद्भा. ११/१९/९)—इस वाक्यके अनुसार ज्ञानियोंकी चरम दशामें ज्ञानका भी त्याग सुना जाता है, किन्तु भक्तियोगका न्यास कहीं नहीं सुना जाता है। भक्तियोग ही अव्यभिचार है। अतएव कर्मयोगके समान ज्ञानयोगका भी परित्यागकर यदि 'अव्यभिचार' अर्थात् केवला भक्तिकी ही सेवा करें, तो ज्ञानी भी गुणातीत हो जाते हैं, इसका कोई अन्य उपाय नहीं है। श्रीमद्भागवत (११/१५/२६) में कथित है कि मेरे आश्रित कर्त्ता निर्गुण हैं अर्थात् अनन्य भक्त ही गुणातीत होते हैं—

'सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः॥'

(श्रीमद्भा. ११/२५/२६)

अर्थात्, अनासक्त कर्त्ता सात्त्विक, रागान्ध कर्त्ता राजसिक, स्मृतिभ्रष्ट कर्त्ता तामसिक एवं मेरे आश्रित कर्त्ता 'निर्गुण' नामसे अभिहित होते हैं। इस श्लोकमें अनासक्त कर्मी अथवा ज्ञानी सात्त्विक होनेके कारण तत्साहचर्य साधक (सात्त्विक साधक) के रूपमें परिचित हुए हैं और 'मेरे' आश्रयकर्त्ता निर्गुण होते हैं—इस वाक्यसे यह जाना जाता है कि भक्त ही साधक हैं। ज्ञानी ज्ञानमें सिद्ध होकर सात्त्विकता परित्यागकर गुणातीत होते हैं। श्रीधरस्वामिपादने कहा है—इस श्लोकका 'च' अवधारणके अर्थमें प्रयुक्त हुआ है। श्रीमधुसूदन सरस्वतीपाद व्याख्या करते हैं—जो मुझ इश्वर नारायणकी ही द्वादश अध्यायमें कथित अव्यभिचार भक्तियोगसे सेवा करते हैं॥२६॥

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्वोक्त गुणातीत पुरुष किस प्रकार तीनों गुणोंको अतिक्रम करते हैं, इस तृतीय प्रश्नका उत्तर देते हुए भगवान् कह रहे हैं—अव्यभिचारी अर्थात् ऐकान्तिकी भक्तियोगके द्वारा मेरे इस श्यामसुन्दर रूपकी सेवा करते-करते मेरे भक्त इन गुणोंको आनुषङ्गिकरूपमें अनायास ही पार कर जाते हैं और मेरे स्वरूपको अनुभव करने योग्य हो जाते हैं। भगवान्के आश्रित भक्त निर्गुण हो जाते हैं, इस विषयकी पुष्टि श्रीमद्भागवत (११/२५/२६) में भी देखी जाती है—*'निगुर्णो मदपाश्रयः'* अर्थात् जो लोग मेरा ऐकान्तिकरूपसे आश्रय ग्रहण करते हैं, वे निर्गुण हैं।

'मदपाश्रय' शब्दका तात्पर्य है—'मदेकशरणो भक्तः' अर्थात् एकमात्र मेरा शरण ग्रहण करनेवाले भक्त ही मेरे आश्रित और निर्गुण है।

श्रीमद्भागवतमें और भी देखा जाता है—

'हरिर्हि निर्गुणः साक्षात् पुरुषः प्रकृतेः परः।
स सर्वदृगुपद्रष्टा तं भजन् निर्गुणो भवेत्।।'

(श्रीमद्भा. १०/८८/५)

अर्थात्, श्रीहरि ही साक्षात् निर्गुण पुरुष तथा प्रकृतिके गुणोंसे अतीत हैं। वे सबके उपद्रष्टा हैं। जो उनका ही भजन करते हैं, वे भी निर्गुण हो जाते हैं।

यहाँ 'ब्रह्मभूयाय' शब्दका तात्पर्य 'ब्रह्मतत्त्व' को अनुभव करने योग्य' से है। भक्तिके अनुशासनके बिना ब्रह्मके अनुभवका दूसरा उपाय नहीं है। किसी भी विषयका अनुभव करनेके लिए अनुभवकारी और अनुभव किए जानेवाले (अनुभवनीय) विषय (परब्रह्म)—इन दोनोंकी नित्य पृथक् स्थिति आवश्यक है। निर्विशेषवादी लोग मुक्तिके पश्चात् दोनोंकी पृथक् स्थिति स्वीकार नहीं करते। इसलिए उनमें अनुभव करनेका सामर्थ्य नहीं होता। इसके विपरीत भक्तलोग ही ब्रह्मके अनुभवके योग्य होते हैं। केवल भक्तिके द्वारा ही ब्रह्मकी कृपासे ब्रह्मानुभवकी शक्ति प्राप्त होती है—*'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः'* (श्रीमद्भा.११/१४/२१) अर्थात् एकमात्र भक्तिके द्वारा ही मैं प्राप्य हूँ—इसे स्पष्टरूपसे श्रीमद्भागवतमें कहा गया है। केवल ज्ञानके द्वारा मुक्ति नहीं होती। उसमें किसी-न-किसी प्रकारसे भक्तिकी सहायतासे ही मुक्ति होती है। श्रीमद्भागवतमें बहुत श्लोकोंमें इस विषयको स्पष्ट रूपसे कहा गया है—

'नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते ज्ञानमलं निरञ्जनम्'

(श्रीमद्भा. १/५/१२)

अर्थात्, जब भगवद्भावसे रहित निष्काम एवं निर्मल ज्ञानकी ही शोभा नहीं अर्थात् वह निरर्थक है, तो फिर नित्य दुःखदायी, हेय, काम्य कर्मकी बात ही क्या है? ऐसे ज्ञानी लोग *'स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः'* अर्थात् ज्ञानके उच्च सोपानपर पहुँचकर भी वहाँसे भ्रष्ट हो जाते हैं।

इसके लिए श्रीमद्भागवतके निम्नलिखित श्लोक द्रष्टव्य हैं—(१०/२/३२) (१०/२०/३२) (११/१४/२१) (१०/२३/४६) (४/३१/१२)। वर्त्तमान श्लोकके ब्रह्मभूयाय पदके द्वारा कोई कोई जीव और ब्रह्मके

ऐक्यका अर्थ करते हैं। किन्तु, मुक्तिके पश्चात् भी जीव ब्रह्ममें एकाकार नहीं हो जाता। छान्दोग्य उपनिषद्‌में ब्रह्मभूत व्यक्तिके आठ लक्षण बताए गए हैं—*'आत्माऽपहतपाप्ना विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्सङ्कल्पः सोऽन्वेष्टव्यः।'* अर्थात्

(१) अपहत पाप—मायाकी अविद्या आदि पापवृत्तियोंसे सम्बन्धशून्य होना।

(२) विजर—जरा (बुढ़ापा) आदिसे रहित नित्य नवीन।

(३) विमृत्यु—पुनः पतनकी सम्भावनासे रहित होना।

(४) विशोक—सुख-दुःख आदिसे रहित होना।

(५) विजिघत्स—भोग वासनाओंसे रहित होना।

(६) अपिपासु—भगवत्-सेवाके बिना दूसरी अभिलाषाओंसे सर्वथा रहित होना।

(७) सत्यकाम—कृष्ण सेवाके अनुकूल कामनायुक्त होना।

(८) सत्यसङ्कल्प—जो भी कामना करते हैं, वह सिद्ध होती है।

'सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानं' (गीता १४/१७)—गीताकी इस उक्तिके अनुसार सत्त्वगुणसे ज्ञान उत्पन्न होता है, इसलिए ज्ञानी व्यक्ति सात्त्विक होते हैं। ज्ञानी ज्ञानकी सिद्धिके पश्चात् सात्त्विक भावका परित्यागकर गुणातीत अर्थात् निर्गुण होते हैं। किन्तु भक्तोंकी यह विशेषता है कि वे साधन दशाके आरम्भसे ही गुणातीत हुआ करते हैं।

'मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे।
तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयाऽऽत्मभूयाय च कल्पते वै।।'

(श्रीमद्भा. ११/२९/३४)

अर्थात्, मर्त्य व्यक्ति जिस समय समस्त कर्मोंको त्यागकर मेरे निकट आत्मनिवेदन करते हैं, उसी समय वे अमृतत्व प्राप्त होकर (अर्थात् निर्गुण होकर) मेरे अत्यन्त प्रियजन हो जाते हैं। श्रीचक्रवर्त्ती ठाकुरने *'ज्ञानं विशुद्धम् परमार्थमेकम्'* (श्रीमद्भा. ५/१२/११) श्लोककी टीकामें *'मर्त्यो यदा'* (श्रीमद्भा. ११/२९/३४) की व्याख्या करते हुए लिखा है—भगवत्- भक्तिका आश्रय लेनेपर भगवान् साधनके प्रारम्भसे ही अपने शरणागत भक्तोंकी चिकित्सा आरम्भ करते हैं अर्थात् निर्गुण करना आरम्भ कर देते हैं। इसका तात्पर्य यह है—साधक भक्तिका अनुशीलन करते-करते क्रमशः निष्ठा-रुचि-आसक्ति और रतिकी भूमिकामें आरूढ़ होनेपर सम्पूर्ण रूपसे

निर्गुण हो जाता है, तब मिथ्याभूत वस्तुओं (देह-गेह) से उसका कोई भी सम्बन्ध नहीं रहता। भक्तिकी अचिन्त्य शक्तिके द्वारा भक्तिके उपदेशके समय ही भक्तके गुणातीत देह-इन्द्रिय-मन आदि मेरे द्वारा ही भक्तिकी महिमा दिखानेके लिए अलक्षित रूपमें सृष्ट होते हैं तथा मिथ्याभूत देह आदि अलक्षितरूपमें ही दूर हो जाते हैं। उस समय वह जीव शुद्ध होकर मेरे धाममें अवस्थित रहकर अपने स्वरूपमें प्रतिष्ठित होकर मेरे सेवासुखका रसास्वादन करनेके योग्य हो जाता है।

श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुरने अनेक स्थानोंपर इस विषयको स्पष्ट किया है कि भक्त साधक-अवस्थामें ही गुणातीत हो जाते हैं। उनकी तो बात ही क्या, भक्तों द्वारा भक्तिपूर्वक प्रदत्त पत्र-पुष्प-फल-जल-चन्दन आदि द्रव्य भी, जो भगवद्विमुख लोगोंकी दृष्टिमें प्राकृत पदार्थ होते हैं, वे भी निर्गुण तथा अप्राकृत भावको प्राप्त हो जाते हैं। चैतन्य चरितामृतमें भी इसका अनुमोदन किया गया है—

'प्रभु कहे-वैष्णव देह 'प्राकृत' कभु नय।
'अप्राकृत' देह भक्तेर 'चिदानन्दमय'।।'

(चै. च. अ. ४/१९१) ।।२६।।

ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहममृतस्याव्ययस्य च।
शाश्वतस्य च धर्मस्य सुखस्यैकान्तिकस्य च।।२७।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'गुणत्रयविभागयोगो' नाम चतुर्दशोऽध्याय।।

अन्वय—हि (क्योंकि) अहम् (मैं) ब्रह्मणः (ब्रह्मकी) अव्ययस्य (अव्यय) अमृतस्य च (अमृत अर्थात् मोक्षकी) शाश्वतस्य धर्मस्य च (सनातन धर्मकी) ऐकान्तिकस्य सुखस्य च (और ऐकान्तिक भक्तिसम्बन्धी प्रेमरूप सुखकी) प्रतिष्ठा (प्रतिष्ठा हूँ)।।२७।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'गुणत्रयविभागयोगो' नाम चतुर्दशोऽध्यायस्यान्वयः।।

अनुवाद—क्योंकि, मैं (निर्विशेष) ब्रह्म , अव्यय मोक्ष, सनातन धर्म और ऐकान्तिक भक्तिसम्बन्धी प्रेमरूप सुखकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय हूँ।।२७।।

श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्दश अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—ननु त्वद्भक्तानां कथं निर्गुणब्रह्मत्त्वप्राप्तिः, सा त्वद्वितीयतदेकानुभवेनैव सम्भवेत्तत्राह—ब्रह्मणो हीति। यस्मात् परमप्रतिष्ठात्वेन प्रसिद्धं यद्ब्रह्म तस्याप्यहं प्रतिष्ठा—प्रतिष्ठीयतेऽस्मिन्निति प्रतिष्ठा आश्रयोऽन्नमयादिषु श्रुतिषु सर्वत्रैव प्रतिष्ठा-पदस्य तथार्थत्वात्, तथामृतस्य प्रतिष्ठा किं स्वर्गीय-सुधायाः न अव्ययस्य नाशरहितस्य मोक्षस्येत्यर्थः, तथा शाश्वतस्य धर्मस्य साधनफलदशयोरपि नित्यस्थितस्य भक्त्याख्यस्य परमधर्मस्याहं प्रतिष्ठा, तथा तत्प्राप्यस्यैकान्तिकभक्तसम्बन्धिनः सुखस्य प्रेम्णश्चाहं प्रतिष्ठा, अतः सर्वस्यापि मदधीनत्वात् कैवल्यकामनया कृतेन मद्भजनेन ब्रह्मणि लीयमानो ब्रह्मत्वमपि प्राप्नोति। अत्र "ब्रह्मणोऽहं प्रतिष्ठा घनीभूतं ब्रह्मैवाहं यथा घनीभूतप्रकाश एव सूर्यमण्डलं तद्वदित्यर्थः" इति स्वामिचरणाः। सूर्यस्य तेजोरूपत्वेऽपि यथा तेजस आश्रयत्त्वमप्युच्युते, एवं मे कृष्णस्य ब्रह्मरूपत्वेऽपि ब्रह्मणः प्रतिष्ठात्वमपि, अत्र श्रीविष्णुपुराणमपि प्रमाणम्-*"शुभाश्रयः स चित्तस्य सर्वगस्य तथात्मनः"* इति, व्याख्यातञ्च तत्रापि स्वामिचरणैः-"सर्वगस्यात्मनः परः ब्रह्मणोऽप्याश्रयः प्रतिष्ठा, तदुक्तं भगवता *ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्"* इति। तथा विष्णुधर्मेऽपि नरकद्वादशीप्रसङ्गे-*"प्रकृतौ पुरुषे चैव ब्रह्मण्यपि च स प्रभुः। यथैक एव पुरुषो वासुदेवो व्यवस्थितः।।"* इति; तत्रैव मासर्क्षपूजाप्रसङ्गे-*"यथाच्युतत्त्वं परतः परस्मात् स ब्रह्मभूतात् परतः परात्मा"* इति; तथा हरिवंशेऽपि विप्रकुमारानयनप्रसङ्गे अर्जुनं प्रति श्रीभगवद्वाक्यम् (विष्णुपर्व ११४ अः, ११-१२) *"तत्परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत्। ममैव तद्घनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत।।"* इति; ब्रह्मसंहितायामपि—*"यस्य प्रभा प्रभवतो जगदण्ड-कोटिकोटिष्वशेषवसुधादिविभूतिभिन्नम्। तद्ब्रह्म निष्कलमनन्तमशेषभूतं गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि।।"* इति; अष्टमस्कन्धे—*"मदीयं महिमानञ्च परं ब्रह्मेति शब्दितम्। वेत्स्यस्यनुगृहीतं मे संप्रश्नैर्विवृतं हृदि।।"* इति भगवदुक्तिश्च। मधुसूदनसरस्वतीपादाश्च व्याचक्षतेस्म यथा—"ननु त्वद्भक्तस्त्वद्भावमाप्नोतु नाम कथं ब्रह्मभावाय कल्पते ब्रह्मणः सकाशात्तवान्यत्वादित्याशङ्क्याह—ब्रह्मणो हीति। 'प्रतिष्ठा' पर्याप्तिरहमेवेति—पर्याप्तिः परिपूर्णता इत्यमरः। *पराकृतमनद्वन्द्वं परं ब्रह्म नराकृति। सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजमहम्।।"* इत्युपश्लोकयामासुश्च।।२७।।

अनर्थ एव त्रैगुण्यं निस्त्रैगुण्यं कृतार्थता।
तच्च भक्त्यैव भवतीत्यध्यायार्थो निरूपितः।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
चतुर्द्दशोऽयं गीतासु सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि आपके भक्तोंको किस प्रकार निर्गुण ब्रह्मत्त्वकी प्राप्ति होती है, वह प्राप्ति तो अद्वितीय (तदेक) तदेकात्मताके अनुभवसे ही सम्भव है, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—क्योंकि, परमप्रतिष्ठा प्राप्त जो प्रसिद्ध ब्रह्म है, उसकी भी प्रतिष्ठा मैं ही हूँ। मुझमें प्रतिष्ठित होनेके कारण मैं उसकी प्रतिष्ठा अर्थात् आश्रय हूँ। अन्नमय आदि समस्त श्रुतिवाक्योंमें भी सर्वत्र प्रतिष्ठा शब्दका यही तात्पर्य है। और, 'अमृतस्य'—अमृतकी भी प्रतिष्ठा मैं हूँ। तो क्या यह अमृत स्वर्गीय सुधा है? नहीं! इसका तात्पर्य नाशरहित मोक्ष है। 'शाश्वतस्य धर्मस्य'—साधन और फलदशामें भी नित्य स्थित भक्ति नामक परम धर्मकी भी प्रतिष्ठा मैं हूँ। अतएव सभी मेरे अधीन होनेके कारण कैवल्यकी कामनासे अनुष्ठित मेरे भजनसे ब्रह्ममें लीयमान ब्रह्मत्त्व भी प्राप्त होता है। इस श्लोकमें श्रीधरस्वामिपाद कहते हैं—"मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ अर्थात् मैं घनीभूत ब्रह्म ही हूँ, वैसे ही जैसे कि सूर्यमण्डल घनीभूत प्रकाश ही है।" जैसे सूर्य तेजरूप होनेपर भी तेजके आश्रयके रूपमें जाना जाता है, उसी प्रकार मैं कृष्णस्वरूप होनेपर भी ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ। इस विषयमें विष्णु पुराणमें भी प्रमाण है—"वे विष्णु सभी मङ्गलोंके आधारस्वरूप हैं, वे चित्त एवं सर्वव्यापी आत्माके आश्रय हैं।" इस श्लोकको भी व्याख्या श्रीधरस्वामिपाद इस प्रकार करते है—"सर्वज्ञ आत्मा अर्थात् परब्रह्मका आश्रय अर्थात् प्रतिष्ठा विष्णु हैं। जैसा कि भगवान्ने गीतामें कहा है—मैं ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ।" विष्णु धर्ममें नरक द्वाद्वशीके प्रसङ्गमें कहा गया है—"प्रकृति, पुरुष एवं ब्रह्ममें भी एकमात्र पुरुष वासुदेव ही प्रभु हैं, यही स्थिर हुआ है।" इसी ग्रन्थमें मास-पक्ष-पूजाके प्रसङ्गमें कहा गया है—"जिस प्रकार अच्युत परतत्त्व होते हुए भी परम ब्रह्मभूत हैं, वह होते हुए भी परम आत्मा हैं।" हरिवंश पुराण (विष्णु पर्व ११४, अ. ११-१२) में भी विप्रकुमारको लानेके प्रसङ्गमें अर्जुनसे श्रीभगवान् कहते हैं कि वे सर्वश्रेष्ठ परम ब्रह्म ही समस्त जगत्का विभाग करते हैं, हे अर्जुन! उस घनज्योतिको मेरा ही तेजस्वरूप जानना चाहिए। ब्रह्मसंहितामें भी पाया जाता है—"जिनकी प्रभासे उत्पन्न ब्रह्म अनन्त कोटि ब्रह्माण्डमें अशेष वसुधा आदि द्वारा विभाग करनेवाला है, मैं उन आदिपुरूष गोविन्दका भजन करता हूँ।" श्रीमद्भागवतके अष्टम स्कन्धमें भी राजा सत्यवान्से मत्स्य भगवान्ने कहा है कि मेरी कृपासे अपने प्रश्नोंके उत्तरस्वरूप अपने हृदयमें विस्तारित परब्रह्म नामसे

विख्यात मेरी महिमाको जान सकोगे। श्रीमधुसूदन सरस्वतीपादकी टीकामें कहा गया है—"अच्छा, आपके भक्त आपके भावको प्राप्त करनेपर भी किस प्रकार ब्रह्मभावके योग्य होते हैं? क्योंकि, आप ब्रह्मसे भिन्न हैं, इसी आशंकासे आप कहते हैं—'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्' 'प्रतिष्ठा' अर्थात् मैं ही पर्याप्त हूँ। 'पर्याप्ति' का अर्थ अमरकोषके अनुसार है—परिपूर्णता। इसे छोड़कर एक और श्लोक कहते हैं—

'पराकृतमनद्वन्द्वं परं ब्रह्म नराकृति।
सौन्दर्यसारसर्वस्वं वन्दे नन्दात्मजमहम्।।'

अर्थात्, जिस नराकार परब्रह्मने मेरे मनके विवादको धिक्कृत किया है, मैं सर्वसौन्दर्यके सारभूत तेजःस्वरूप उन नन्दनन्दनकी वन्दना करता हूँ।" उन्होंने (मधसूदन सरस्वतीने) ऐसे श्लोककी भी रचना की है।।२७।।

त्रैगुण्य ही अनर्थ है एवं निस्त्रैगुण्यता ही जीवकी कृतार्थता है एवं वही 'भक्ति' है—यही इस अध्यायमें निरूपित हुआ।

श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्दश अध्यायकी साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्दश अध्यायकी सारार्थवर्षिणी
टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"यदि कहो कि ब्रह्मसम्पत्ति ही सभी साधनोंका फल है, तो ब्रह्मभूत व्यक्ति किस प्रकार आपके निर्गुण प्रेमका सम्भोग करते हैं, तो सुनो—अपनी नित्य निर्गुण अवस्थामें मैं स्वरूपतः भगवान् हूँ। मेरी जड़ा-शक्तिमें मेरी तटस्था-शक्तिके चैतन्य-बीजके आधानके समय प्रथमोक्त शक्तिका जो आदि प्रकाश है, वही मेरा 'ब्रह्म'-स्वभाव है। जड़बद्ध जीव ज्ञान-आलोचनाक्रमसे जब उच्चोच्च अवस्था प्राप्त करते-करते मेरे ब्रह्मधामको प्राप्त होता है, तब वह निर्गुण अवस्थाकी प्रथम सीमाको प्राप्त होता है। सीमाको प्राप्त करनेके पूर्व जड़विशेष-त्यागरूप एक 'निर्विशेष' भाव उपस्थित होता है, उसमें अवस्थित होकर शुद्धभक्तियोगका आश्रय होनेसे वह निर्विशेषता दूर होकर चिद्विशेष हो जाता है। इस क्रमानुसारसे ज्ञानमार्गमें सनकादि ऋषिगण और वामदेव आदि निर्विशेष आलोचकगण निर्गुण भक्तिरसरूप अमृत प्राप्त किए हैं। जिनकी मुमुक्षारूप दुर्वासनावश दुर्भाग्यक्रमसे ब्रह्मतत्त्वमें सम्यक् अवस्थिति नहीं होती है, वे ही चरम अवस्थामें निर्गुण भक्ति नहीं प्राप्त कर पाते

हैं। वस्तुतः निर्गुण सविशेष तत्त्वस्वरूप मैं ही ज्ञानियोंकी चरमगति ब्रह्मकी प्रतिष्ठा अथवा आश्रय हूँ। अमृतत्व, अव्ययत्व, नित्यत्व, नित्यधर्मरूप प्रेम एवं ऐकान्तिक सुखरूप व्रजरस—ये समस्त ही निर्गुण सविशेषतत्त्वरूप कृष्ण-स्वरूपका आश्रयकर वर्त्तमान रहते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

विष्णु ही एकमात्र मुक्तिदाता हैं—*'मुक्तिप्रदाता सर्वेषां विष्णुरेव न संशयः।'*

श्रुति भी कहती है—*'तमेव विदित्वाति मृत्युमेति।'* (श्वे. उ. ३/८) अर्थात् उन्हें जान लेनेसे ही मृत्युके कवलसे उद्धार हो जाता है।

पद्मपुराणमें भी पाया जाता है—

'विष्णोरनुचरत्वं हि मोक्षमाहुर्मनीषिनः'

अर्थात्, तत्त्वदर्शी मनीषियोंने भगवान्‌के चरणकमलोंकी सेवाको ही मोक्ष माना है।

स्कन्दपुराणमें कहा गया है—*'कैवल्यदः परं ब्रह्म विष्णुरेव सनातनः।'*

अर्थात्, श्रीविष्णु ही कैवल्यसे परे और सनातन हैं।।२७।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके चतुर्दश अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

चतुर्दश अध्याय समाप्त।

पञ्चदशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—

ऊर्द्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम्।
छन्दांसि यस्य पर्णानि यस्तं वेद स वेदवित्।।१।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) [यह संसार] ऊर्द्ध्वमूलम् (ऊपरकी ओर जड़वाला) अधःशाखम् (नीचेकी ओर शाखाओंवाला) अव्ययम् (नित्य) अश्वत्थम् (अवश्त्थ वृक्षविशेष है) प्राहुः (शास्त्रमें कहा गया है) छन्दांसि (कर्मका प्रतिपादन करनेवाले वाक्यसमूह) यस्य (जिसके) पर्णानि (पत्ते हैं) तम् (उस वृक्षको) यः (जो) वेद (जानते हैं) सः (वे) वेदवित् (वेदज्ञ हैं)।।१।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—यह संसार ऊपरकी ओर जड़वाला तथा नीचेकी ओर शाखाओंवाला अश्वत्थ वृक्षविशेष है—ऐसा शास्त्रोंमें कहा गया है। कर्मका प्रतिपादन करनेवाले वे वाक्यसमूह जिसके पत्ते हैं, जो उसे जानते हैं, वे वेदज्ञ हैं।।१।।

श्रीविश्वनाथ— ***संसारच्छेदकोऽसङ्ग आत्मेशांशः क्षराक्षरात्।***
उत्तमः पुरुषः कृष्णः इति पञ्चदशे कथा।।

पूर्वाध्याये *"माञ्च योऽव्यभिचारेण भक्तियोगेन सेवते। स गुणान् समतीत्यैतान् ब्रह्मभूयाय कल्पते।।"* इत्युक्तम्। तत्र तव मनुष्यस्य भक्तियोगेन कथं ब्रह्मभाव इति चेत्, सत्यमहं; मनुष्य एव किन्तु ब्रह्मणोऽपि तस्य प्रतिष्ठा परमाश्रय इत्यस्य सूत्ररूपस्य वृत्तिस्थानीयोऽयं पञ्चदशाध्याय आरभ्यते तत्र सगुणान् समतीत्य इत्युक्तमिति, गुणमयोऽयं संसारः कः, कुतो वायं प्रवृत्तः, त्वद्भक्ता संसारमतिक्राम्यन् जीवो वा कः, ब्रह्मभूयाय कल्पते इत्युक्तं ब्रह्म वा किं, ब्रह्मणः प्रतिष्ठा त्वं वा क इत्याद्यपेक्षायां प्रथममतिशयोक्त्यलङ्कारेण संसारोऽयमद्भुतोऽश्वत्थवृक्ष इति वर्णयति–ऊर्द्ध्वे सर्वलोकोपरितले सत्यलोके प्रकृतिबीजोत्थ–प्रथम–प्ररोहरूप–महत्–तत्त्वात्मकश्चतुर्मुख एक एव मूलं यस्य तम्, अधः–स्वर्भुवोभूर्लोकेष्वनन्ताः देवगन्धर्वकिन्नरासुरराक्षसप्रेतभूत–मनुष्यगवाश्वादिपशुपक्षिकृमिकीटपतङ्गस्थावरान्ताः शाखा यस्य तमश्वत्थं धर्मादि चतुर्वर्गसाधकत्वादश्वत्थमुत्तमं वृक्षम्, श्लेषेण–भक्तिमतां न श्वः

स्थास्यतीत्यश्वत्थं नष्टप्रायमित्यर्थोऽभक्तानां त्वव्ययमनश्वरम्। छन्दांसि *"वायव्यं श्वेतमालभेत, भूमिकाम ऐन्द्रमेकादशकपालं निर्वपेत् प्रजाकामः"* इत्याद्याः कर्मप्रतिपादका वेदाः संसारवर्द्धकत्वात् पर्णानि,—*"वृक्षो हि पर्णैः शोभते; यस्तं जानाति, स वेदज्ञः। तथा च उद्ध्र्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः"* इति कठवल्ली श्रुतिः।।१।।

भावानुवाद—श्रीकृष्ण संसारके बन्धनको छेदनेवाले तथा असङ्ग हैं। आत्मा अर्थात् जीव ईश्वरका अंश है। कृष्ण ही क्षर तथा अक्षर दोनोंसे उत्कृष्ट पुरुष हैं। ये सब बातें पन्द्रहवें अध्यायमें आलोचित हुई हैं।

पिछले अध्याय (गीता १४/२६) में कहा गया कि जो अनन्या भक्तिसे मेरी उपासना करते हैं, वे तीनों गुणोंका अतिक्रमणकर ब्रह्मानुभूतिके योग्य होते हैं। वहाँ यदि यह प्रश्न हो कि भक्तियोग द्वारा मनुष्यरूप आपकी उपासना करनेसे ब्रह्मभाव किस प्रकार प्राप्त होता है, तो इसका उत्तर यह है कि वास्तवमें मैं मनुष्य ही हूँ, किन्तु मैं उस ब्रह्मकी भी प्रतिष्ठा अर्थात् परम् आश्रय हूँ—इस सूत्रवाक्यके वृत्तिस्वरूप यह प्रन्दहवाँ अध्याय आरम्भ हो रहा है। वहाँ (गीता १४/२६) यह कहा गया है कि वे गुणसमूहका अतिक्रमकर ब्रह्मानुभवके योग्य होते हैं। तो, यह गुणमय संसार क्या है? यह कहाँसे उत्पन्न हुआ है? उनकी भक्ति द्वारा संसारका अतिक्रमण करनेवाले जीव ही कौन हैं? ब्रह्मानुभूतिके योग्य होते हैं—इस वाक्यमें कथित ब्रह्म ही क्या है? ब्रह्मकी प्रतिष्ठा आप ही कौन हैं? इन प्रश्नोंकी अपेक्षामें सर्वप्रथम अतिशयोक्ति अलङ्कार द्वारा संसारका वर्णन करते हुए कहते हैं कि यह संसार अद्भुत अश्वत्थ वृक्ष है। सभी लोकोंसे ऊपर सत्यलोकमें प्रकृतिरूप बीजसे उत्थित प्रथम प्रारोहरूप (अंकुर) वह महत्-तत्त्वात्मक चतुर्मुख एक ही मूलवाला है। 'अधः' अर्थात् स्वर्ग-भुवः, भूलोक आदिमें अनन्त देवता, गन्धर्व, किन्नर, असुर, राक्षस, प्रेत-भूत, मनुष्य, गाय, अश्व आदि पशु, पक्षी, कृमि, कीट, पतङ्ग, स्थावार तक इसकी शाखाएँ हैं। धर्म आदि चारों पुरुषार्थोंको सम्पन्न करनेवाला होनेके कारण यह उत्तम कहलाता है। इसका दूसरा अर्थ इस प्रकार है—भक्तिमान् लोगोंके लिए यह संसार आगामी कलको नहीं रहेगा अर्थात् नष्टप्राय है, किन्तु अभक्तोंके लिए यह 'अव्ययम्' अर्थात् अनश्वर है। 'छन्दांसि'—ऐश्वर्यकामी पुरुष श्वेत छाग (बकरा) द्वारा वायुदेवताका यज्ञ करेंगे, सन्तानकामी व्यक्ति एकादश इन्द्र देवताओंका यज्ञ करेंगे—इन

कर्म-प्रतिपादकोंका वर्णन वेदोंमें है। अतः संसारका वर्द्धन करनेवाला होनेके कारण वेद वृक्षके पत्तेके समान हैं। पत्र द्वारा ही वृक्ष शोभा पाता है, जो यह जानते हैं, वे वेदज्ञ हैं। कठोपनिषद् (२/३/१) में भी कहा गया है—यह संसार ऊपर मूलवाला, नीचे शाखावाला, सनातन अश्वत्थ वृक्ष है।।१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्व अध्यायमें यह बताया गया है कि एकमात्र श्रीकृष्णकी भक्तिसे ही जीव ब्रह्मानुभूतिके योग्य होता है, क्योंकि श्रीकृष्ण ही ब्रह्मके एकमात्र आश्रय हैं। वर्त्तमान अध्यायमें उक्त कृष्णस्वरूपका ज्ञान भलीभाँति व्यक्त करनेके लिए पुरुषोत्तम-योगका वर्णन कर रहे हैं। संसारके मूल आश्रय श्रीकृष्ण ही सर्वोपरि तत्त्व हैं। उनके विभिन्नांश जीव उन्हें नहीं मानकर और उनकी सेवा त्यागकर अनादिकालसे जन्म-मरणरूप संसारके प्रवाहमें पड़कर विभिन्न योनियोंमें भ्रमण करते हुए त्रितापोंके द्वारा परितप्त हो रहे हैं। वे पुनः पुनः कर्मफलोंमें आसक्त होकर किसी भी प्रकारसे संसार-चक्रसे निकल नहीं पाते। भगवान् श्रीकृष्ण अहैतुकी कृपावश ऐसे असहाय जीवोंको कर्मचक्रसे निकालनेके लिए, संसारके प्रति वैराग्य उदित करानेके लिए इस अध्यायमें संसारतत्त्वके विषयमें बड़े ही रोचक ढंगसे उपदेश दे रहे हैं। वे संसारकी तुलना एक पीपल वृक्षके साथ करते हुए इस विषयको सरल रूपमें समझा रहे हैं—जिस प्रकार पीपलका वृक्ष असंख्य शाखा-प्रशाखा-पत्र-फूल-फलके रूपमें एक विराट महावृक्षके रूपमें सुविस्तृत है, उसी प्रकार यह संसार भी ऋक्, साम, यजुः और अथर्वरूप नाना शाखाओंमें नाना प्रकारके आपात मधुर काम्य कर्म प्रतिपादक श्रुतिवाक्यरूप पत्रों द्वारा विस्तृत होकर कर्मफलबाध्य बद्ध जीवोंके निकट धर्म-अर्थ-काम-मोक्षरूप फल देनेवाला प्रतीत हो रहा है। यह इतना आपात मधुर है कि बद्धजीव यह जान नहीं पाता कि परिणाममें यह विषमय है और उसकी ओर आकर्षित हो जाता है। किन्तु, भक्त लोग उसके फलकी विषाक्तताकी उपलब्धिकर वैराग्यरूप अस्त्र द्वारा छेदन योग्य वृक्षके रूपमें इसका वर्णन करते हैं। साथ ही *'न श्वः स्थास्यति'* अर्थात् आगामी कल यह नहीं रहेगा, इसीलिए इसे अश्वत्थ वृक्ष कहा गया है। जो लोग इस संसारको ऐसा जानते हैं, वे ही वेदज्ञ हैं। भगवान्ने इस श्लोकमें मायावादियोंकी इस मान्यताका स्पष्टरूपसे खण्डन किया है कि यह संसार मिथ्या या स्वप्न है। समस्त शास्त्रों एव भगवान्के वचनोंसे

यह प्रतिपादित तथ्य है कि संसार-प्रवाह सत्य और नित्य है, किन्तु परिवर्त्तनशील या नश्वर है।

"श्रीभगवान्‌ने कहा—हे अर्जुन! यदि तुम इस प्रकार सोचते हो कि वेदवाक्योंका अवलम्बनकर संसारका आश्रय लेना ही अच्छा है, तो सुनो—कर्म द्वारा निर्मित यह संसार अश्वत्थ वृक्षविशेष है। कर्माश्रित व्यक्तिके लिए इसका नाश नहीं है। इस वृक्षकी जड़ ऊपर है। कर्म-प्रतिपादक वेदवाक्यसमूह इसके पत्ते हैं, इसकी शाखाएँ नीचेके भागमें फैली हुई हैं अर्थात् यह वृक्ष सर्वोद्ध्र्व तत्त्वस्वरूप मुझसे जीवके कर्मफल प्राप्त करानेवालेके रूपमें स्थापित है। जो इस वृक्षके नश्वरत्वसे अवगत हैं, वे ही इसके तत्त्वको जाननेवाले हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१।।

अधश्चोर्द्ध्वं प्रसृतास्तस्य शाखा गुणप्रवृद्धा विषयप्रवालाः।
अधश्च मूलान्यनुसन्ततानि कर्मानुबन्धीनि मनुष्यलोके।।२।।

अन्वय—तस्य (उस संसारवृक्षके) गुणप्रवृद्धाः (तीनों गुणों द्वारा वर्द्धित) विषयप्रवालाः (विषयरूप पल्लवोंसे युक्त) शाखाः (शाखाएँ) अधः (मनुष्य-पशु आदि निम्न योनियोंमें) ऊर्द्ध्वम् च (और देवता आदि ऊर्द्ध्व योनियोमें) प्रसृताः (विस्तृत हुए हैं) मनुष्यलोके (मनुष्य लोकमें) कर्मानुबन्धीनि (कर्मप्रवाहजनक) मूलानि (भोगवासनारूप जटासमूह) अधः च (नीचेकी ओर) अनुसन्ततानि (सर्वदा विकसित हो रहे हैं)।।२।।

अनुवाद—तीनों गुणों द्वारा वर्द्धित उस संसारवृक्षके विषयरूप पल्लवयुक्त शाखाएँ मनुष्य, पशु आदि निम्न योनियोंमें तथा देवता आदि उच्च योनियोंमें फैली हुई हैं। कर्मप्रवाहजनक भोगवासनारूपी जटाएँ नीचेकी ओर सर्वदा विकसित हो रही हैं।।२।।

श्रीविश्वनाथ—अधः पश्वादियोनिषु ऊर्द्ध्व देवादियोनिष्विप्रसृतास्तस्य संसारवृक्षस्य शाखा गुणैः सत्त्वादिवृत्तिभिर्जलसेकैरिव प्रवृद्धा, विषयाः शब्दादयः प्रवालाः पल्लवस्थानीया यासां ताः। किञ्च तस्य मूले सर्वलोकैरलक्षितो महानिधिः कश्चिदस्तीत्यनुमीयते। यमेव मूलजटाभिरवलम्ब्य स्थितस्य तस्याश्वत्थवृक्षस्यापि वटवृक्षस्येव शाखास्वपि बाह्या जटाः सन्तीत्याह—अधश्चेति। ब्रह्मलोकमूलस्यापि तस्याधश्च मनुष्यलोके कर्मा-नुबन्धिनी कर्मानुलम्बीनि मूलान्यनुसन्ततानि निरन्तरं विस्तृतानि भवन्ति। कर्मफलानां यत्तस्ततो भोगान्ते पुनर्मनुष्यजन्मन्येव कर्मसु प्रवृत्तानि भवन्तीत्यर्थः।।२।।

भावानुवाद—'अधः'—पशु आदि योनियोंमें, ऊर्द्ध्वे—देव आदि योनियोंमें उस संसारवृक्षके शाखासमूह फैले हुए हैं। जलसिंचनकी भाँति सत्त्वादि वृत्तियोंसे उनका सिंचन होता है। शब्द आदि विषयसमूह उनके पल्लव हैं। और भी, उसकी जड़में सभी लोगोंसे अलक्षित कोई महानिधि है, ऐसा अनुमान करते हैं। यह (महानिधि) मूलजटाओंके द्वारा जिसको अवलम्बनकर अवस्थित है, वटवृक्ष (बरगद) की भाँति उस वृक्षकी भी बाह्य जटाएँ और शाखासमूह हैं। ब्रह्मलोकमें इसका मूल होनेपर भी इसकी जड़ें मनुष्यलोकमें हैं। कर्मका अनुलम्बन करनेवाले मूलसमूह निरन्तर विस्तृत होते हैं। जहाँ कहीं कर्मफलसमूहका भोग समाप्त होनेपर पुनः जीव मनुष्य-जन्ममें ही कर्ममें प्रवृत्त होता है।।२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"इस वृक्षकी कितनी शाखाएँ तो तमोगुणका आश्रयकर अधोगामी हुई हैं, कितनी ही शाखाएँ रजोगुणका आश्रयकर समान भावसे हैं और कितनी ही सत्त्वगुणका अवलम्बनकर ऊपरकी ओर विस्तृत हो रही हैं। जड़ीय विषयसुख ही इन शाखाओंके पल्ल्व हैं। वटवृक्षकी भाँति इस अश्वत्थवृक्षके जटासमूह अधोभागमें कर्मफल अनुसन्धानपूर्वक विस्तृत हो रहे हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२।।

न रूपमस्येह तथोपलभ्यते नान्तो न चादिर्न च संप्रतिष्ठा।
अश्वत्थमेनं सुविरूढमूलमसङ्गशस्त्रेण दृढेन छित्त्वा।।३।।
ततः पदं तत् परिमार्गितव्यं यस्मिन् गता न निवर्त्तन्ति भूयः।
तमेव चाद्यं पुरुषं प्रपद्ये यतः प्रवृत्तिः प्रसृता पुराणी।।४।।

अन्वय—इह (इस संसारमें) अस्य (इस वृक्षका) रूपम् (रूप) तथा (पूर्वोक्ति रूपसे) न उपलभ्यते (नहीं उपलब्ध होता है) [अस्य—इसका] अन्तः न (अन्त नहीं जाना जाता है) आदिः च न (आदि भी नहीं जाना जाता है) संप्रतिष्ठा च न (एवं स्थिति भी उपलब्ध नहीं होती है) सुविरूढमूलम् (सृदृढ़ मूलवाले) अश्वत्थम् (अश्वत्थको) तीव्रेण (तीव्र) असङ्गशस्त्रेण (वैराग्यरूप कुठारसे) छित्वा (छेदनकर) ततः (इसके पश्चात्) ये पद गताः (जिस पदको प्राप्तकर) [कोई] भूयः न निवर्त्तन्ति (पुनरागमन नहीं करते हैं) यतः (जिनसे) पुराणी (पुरातन) प्रवृत्ति (संसार-प्रवाह) प्रसृता (विस्तृत हुआ है) तमेव (उस) आद्यम् पुरुषम् च (आदि पुरुषके) प्रपद्ये [शरणागत होता हूँ] तत् पदम् (उस वस्तुका) परिमार्गितव्यम् (अन्वेषण करना कर्त्तव्य है)।।३-४।।

अनुवाद—इस जगत्‌में संसारवृक्षका स्वरूप पूर्वोक्त प्रकारसे नहीं उपलब्ध होता है, इसका आदि और अन्त नहीं देखा जाता है तथा इसकी स्थिति भी समझमें नहीं आती है। अत्यन्त दृढ़ मूलवाले इस संसारवृक्षको तीव्र वैराग्यरूप कुठारसे छेदन करनेके पश्चात् संसारके मूल उस श्रीभगवत्–पादपद्मका अन्वेषण करना कर्त्तव्य है। जो पद प्राप्त होनेपर पुनः संसारमें प्रत्यावर्त्तन नहीं करना होता है, जिनसे यह अनादि संसार–प्रवाह विस्तृत हुआ है, उस आदि पुरुषके शरणागत होता हूँ—इस प्रकारकी भावनाकर उनके प्रति शरणागत होना चाहिए।।३–४।।

श्रीविश्वनाथ—किञ्चेह मनुष्यलोकेऽस्य रूपं स्वरूपं तथा सनिश्चयं नोपलभ्यतेसत्योऽयं मिथ्यायं नित्योऽयमिति वादिमतवैविध्यादिति भावः। न चान्तोऽवसानोऽपर्यन्तत्वात्, न चादिरनादित्वात्, न च संप्रतिष्ठाश्रयः, किंवाधारः कोऽयमित्यपि नोपलभ्यते तत्त्वज्ञानाभावादिति भावः। यथा तथायं भवतु जीवमात्रदुःखैकनिदानस्यास्य छेदकं शस्त्रम् असङ्गं ज्ञात्वा तेनैनं छित्त्वैवास्य मूलतलस्थो महानिधिरन्वेष्टव्य इत्याह—अश्वत्थमिति। असङ्गोऽत्र अनासक्तिः सर्वत्र वैराग्यमिति यावत् तेन शस्त्रेण कुठारेण छित्वा स्वतः पृथक्कृत्य ततस्तस्य मूलभूतं तत्पदं वस्तु महानिधिरूपं ब्रह्म परिमार्गितव्यमन्वेष्टव्यम्, कीदृशं तदत आह—यस्मिन् गता यत् पदं प्राप्ताः सन्तो भूयो न निवर्त्तन्ते न चावर्त्तन्ते इत्यर्थः। अन्वेषणप्रकारमाह—यत एषा पुराणी चिरन्तनी संसारप्रवृत्तिः प्रसृता विस्तृता तमेवाद्यं पुरुषं प्रपद्ये भजामीति भक्त्यान्वेष्टव्यमित्यर्थः।।३–४।।

भावानुवाद—इस मनुष्यलोकमें उस वृक्षका स्वरूप पूर्ववर्णित प्रकार (रूप) से निश्चय ही नहीं जाना जा सकता है—यह सत्य है, यह मिथ्या है, यह नित्य है—ऐसे भिन्न-भिन्न मत पाए जाते हैं। इसकी सीमा नहीं होनेके कारण यह अन्तहीन तथा आदि नहीं होनेके कारण अनादि है। और इसका आश्रय भी नहीं है। इसका आधार क्या है? यह क्या है? तत्त्वज्ञानके अभावमें यह भी अवगत नहीं हुआ जाता है। अच्छा, जो कुछ भी हो, असङ्गको जीवमात्रके दुःखका एकमात्र निदान जानकर, इस वृक्षका छेदक शस्त्र जानकर, उसके द्वारा ही इसे छेदकर इसके मूलमें स्थित महानिधिका अनुसन्धान करना चाहिए। इसीलिए कहते हैं—'अश्वत्थ' इत्यादि। यहाँ 'असङ्ग' शब्दका अर्थ है—सर्वत्र ही वैराग्य। इस वैराग्यरूप कुठारसे उसे काटकर अलग कर देनेके बाद उसके मूलस्वरूप उस वस्तु अर्थात् महानिधिरूप ब्रह्मका अन्वेषण करना चाहिए। वह मूल वस्तु कैसी

है? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—उस पद (मूल वस्तु) को प्राप्त करनेसे पुनरावृत्ति नहीं होती है। 'उसका अनुसन्धान किस प्रकार किया जाय?'—इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—जिससे यह चिरन्तनी संसार-प्रवृत्ति विस्तृत हुई है, उस आदि पुरुषका ही आश्रय करो अर्थात् भजन करो। भक्तिपूर्वक उसका अन्वेषण करना कर्त्तव्य है।।३-४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—साधारण मनुष्य इस संसाररूप वृक्षका तत्त्व नहीं जान सकते अर्थात् इसका आदि, अन्त या आश्रय निर्णय करनेमें असमर्थ हैं। महत्-तत्त्व, अहङ्कार आदिके क्रमानुसार संसार-सृष्टिकी बातसे अवगत होनेपर भी वे यह नहीं जान पाते कि प्रकृतिके मूल आश्रय परमेश्वर ही सबके आश्रय हैं। भगवत्-विमुखताके कारण जीव माया द्वारा मोहित होकर त्रिगुणमय संसारमें पतित हुआ है तथा त्रिगुणों द्वारा परिचालित होकर क्रमानुसार संसारमें ऊर्द्ध्व, अधः भ्रमण करता हुआ अत्यन्त क्लान्त हो जाता है। उस संसाररूप वृक्षका शेष नहीं देखकर वह इस संसाररूप वृक्षके छेदनकी आवश्यकता अनुभव करने लगता है। सत्सङ्ग द्वारा प्राप्त भक्ति-अनुशीलनके बलसे ही संसारके प्रति तीव्र वैराग्य लाभकर संसारकी आसक्तिको छेदन करना सम्भव है—उस समय ऐसा समझकर भाग्यवान् जीव परमतत्त्व श्रीहरिके चरणोंमें शरणागत होकर भगवान्‌का भजन करने लगता है। श्रीहरिके भजनके फलसे संसारसे निवृत्त होकर पुनः भगवत्-धाममें भगवान्‌की सेवाको प्राप्त करता है। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा देखा जाता है—

'तस्यैव हेतोः प्रयतेत कोविदो न लभ्यते यद्भ्रमतामुपर्यधः।
तल्लभ्यते दुःखवदन्यतः सुखं कालेन सर्वत्रगभीररंहसा।।'

(श्रीमद्भा. १/५/१८)

अर्थात्, पण्डितगण उस चित्सुखके लिए यत्न करेंगे, जो ब्रह्मलोक-पर्यन्त ऊपरके लोकोंसे लेकर सुतल आदि अधोलोकोंमें भ्रमणकर भी प्राप्त नहीं होता। परन्तु, गम्भीर काल-प्रभावसे विषय-सुख भी दुःखकी भाँति बिना किसी प्रयत्नके ही प्राचीन कर्मवशतः सभी अवस्थाओंमें प्राप्त होते हैं, यहाँ तक कि नरकमें भी।

और भी,

'भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा।।'

(श्रीमद्भा. ११/२/३७)

अर्थात्, परमेश्वरसे च्युत होकर जीवकी स्मृति नष्ट हो गई है। च्युत होकर मायागुणरूप द्वितीय विषयमें अभिनिवेश होनेके कारण देहात्माभिमानजनित भय उत्पन्न हुआ है। जीव माया द्वारा बद्ध है, अतएव पण्डितगण श्रीगुरुका चरणश्रयकर अनन्या भक्तिसहित उन श्रीकृष्णका भजनकर मायासे पार होते हैं।।३-४।।

निर्मानमोहा जितसङ्गदोषा अध्यात्मनित्या विनिवृत्तकामाः।
द्वन्द्वैर्विमुक्ताः सुखदुःखसंज्ञैर्गच्छन्त्यमूढाः पदमव्ययं तत्।।५।।

अन्वय—निर्मानमोहाः (गर्व और मिथ्या अभिनिवेशरहित) जितसङ्गदोषाः (आसक्तिरूप दोषसे रहित) अध्यात्मनित्याः (आत्म-अनुशीलनमें तत्पर) विनिवृत्तकामाः (भोगकी अभिलाषासे रहित) सुखदुःखसंज्ञैः द्वन्द्वैः (सुख-दुःख नामक द्वन्द्वसे) विमुक्तः (मुक्त) अमूढाः (मुक्त पुरुषगण) तत् (उस) अव्ययम् पदम् (अव्यय पदको)) गच्छति (प्राप्त करते हैं)।।५।।

अनुवाद—गर्व तथा मोहशून्य, आसक्तिरूप दोषसे रहित, आत्म-अनुशीलनमें तत्पर, भोगकी अभिलाषासे रहित, सुख-दुःख नामक द्वन्द्वसे रहित मुक्त पुरुषगण उस अव्यय पदको प्राप्त करते हैं।।५।।

श्रीविश्वनाथ—तद्भक्तौ सत्यां जनाः कीदृशा भूत्वा तत्पदं प्राप्नुवन्तीत्यपेक्षायाम् आह—निर्मानेति। अध्यात्मनित्याः अध्यात्मविचारो नित्यानित्यकर्त्तव्यो येषां ते परमात्मालोचनतत्पराः।।५।।

भावानुवाद—उनकी भक्ति होनेसे लोग किस प्रकार उनका पद प्राप्त करते हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—'निर्मान' इत्यादि। 'अध्यात्मनित्याः'—जो अध्यात्म अर्थात् नित्य-अनित्य विचारपरायण हैं, वे परमात्माकी आलोचनामें तत्पर रहते हैं।।५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ 'पदम अव्ययम्' का तात्पर्य 'शाश्वत पद' से है। भगवान्के श्रीचरणकमलोंकी प्रेममयी सेवा ही वह शाश्वत पद है। भगवान्के धाममें भगवान्के श्रीचरणोंकमलोंकी रसमयी सेवा प्राप्त करनेके लिए सर्वप्रथम भगवान्के श्रीचरणकमलोंमें शरणागत होना आवश्यक है। किन्तु, भगवान्का शरण ग्रहण करना भी सरल-सहज नहीं है। जीव जब तक स्थूल और सूक्ष्म शरीरके मिथ्याभिमानसे प्रमत्त रहता है, तब तक वह अपनेको प्रकृतिका स्वामी मानता है। ऐसी स्थितिमें वह भगवान् अथवा भगवान्के भक्तोंकी अवज्ञा करने लगता है, उनके उपदेशोंको स्वीकार नहीं करता। किन्तु, सांसारिक ठोकर खानेपर भक्त

या भगवान्‌की कृपासे वह अनुभव करने लगता है कि प्रकृतिके स्वामी परमेश्वर हैं, मैं कुछ भी नहीं कर सकता, मैं सर्वथा असहाय हूँ। जीवन-मरण, हानि-लाभ, यश-अपयश सब कुछ परमेश्वरके ही हाथोंमें है। मैं तो उनके हाथोंकी कठपुतलीमात्र हूँ। इस तथ्यको हृदयङ्गमकर वह भगवान्‌के चरणोंमें शरणागत होता है। उस समय उसके भक्ति-अनुशीलनका मार्ग प्रशस्त हो जाता है। आजका भगवद्विमुख मानव यह समझता है कि यह भूमि, राज्य और पृथ्वी मेरी है। मानव समाज ही इसका प्रभु है। किन्तु, यह सम्पूर्ण भ्रान्त धारणा है। ऐसी भ्रान्त धारणा ही बन्धन और सारे दुःखोंकी जड़ है। शरणागति ही परमार्थ या भक्ति-राज्यकी द्वारस्वरूपा है।।५।।

न तद्भासयते सूर्यो न शशाङ्को न पावकः।
यद्‌गत्वा न निवर्त्तन्ते तद्धाम परमं मम।।६।।

अन्वय—यत् (जिस वस्तुको) गत्वा (प्राप्तकर) [शरणागत व्यक्ति] न निवर्त्तन्ते (पुनरागमन नहीं करते हैं) तत् (वह) मम (मेरा) परमम् (सर्वप्रकाशक) धाम (तेज है) तत् (उसे) सूर्यः (सूर्य) चन्द्रः (चन्द्र) पावकः (और अग्नि) [कोई] न भासयते (प्रकाशित नहीं कर सकता)।।६।।

अनुवाद—जिस वस्तुको प्राप्तकर शरणागत व्यक्तियोंका पुनरागमन नहीं होता है, वह मेरा सर्वप्रकाशक तेज है, उसे सूर्य, चन्द्र, अग्नि इत्यादि कोई प्रकाशित नहीं कर सकता है।।६।।

श्रीविश्वनाथ—तत्पदमेव कीदृशमित्यपेक्षायामाह—न तदिति। औष्ण्यशैत्यादि दुःखरहितं तत् स्वप्रकाशमिति भावः। तन्मम परमं धाम सर्वोत्कृष्टम् अजडम् अतीन्द्रियं तेजः सर्वप्रकाशम्, यदुक्तं हरिवंशे—*"तत् परं परमं ब्रह्म सर्वं विभजते जगत्। ममेव तद्‌घनं तेजो ज्ञातुमर्हसि भारत।।"* इति, *न तत्र सूर्यो भाति, न चन्द्रतारकं, नेमा विद्युतो भान्ति कुतोऽयमग्निः। तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।।"* इति श्रुतिभ्यश्च।।६।।

भावानुवाद—वह पद अथवा स्थान कैसा है? इस प्रश्नके उत्तरमें 'न तत्' इत्यादि कह रहे हैं। वह उष्णता-शीत इत्यादि दुखोंसे रहित और स्वप्रकाशित है। मेरा वह परमधाम सर्वोत्कृष्ट, अजड़ और अतीन्द्रिय (इन्द्रियातीत) है, वह तेजः अर्थात् सर्वप्रकाशक है। हरिवंशमें कहा गया है—"उससे श्रेष्ठ परब्रह्म समस्त जगत्‌को विभक्त अर्थात् भिन्न रूपोंमें प्रतीयमान किए हैं। हे भारत! उसे मेरा ही धनीभूत तेज जानना चाहिए।" कठोपनिषद् (२/२/१५) में कहा गया है कि "अग्निकी तो बात दूर रहे

उनके निकट सूर्यकी दीप्ति नहीं है, चन्द्र-तारेकी ज्योति नहीं है, इन विद्युतोंकी आभा नहीं हैं, उनके प्रकाशसे ही सभी प्रकाशित हैं, उनका ही तेज सबका प्रकाश है।।६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वर्त्तमान श्लोकमें भगवान्‌के धामका स्वरूप बताया गया है। इस धामको प्राप्त कर लेनेपर पुनः इस संसारमें नहीं लौटना पड़ता है। सूर्य, चन्द्र, अग्नि, विद्युत आदि वहाँ प्रकाश नहीं देते। वह धाम स्वप्रकाशमान है। उस परमधामका नाम गोलोक, कृष्णलोक, व्रज, गोकुल या वृन्दावन है। स्वयं-भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण इस परमधाममें अपने परिकरोंके सहित नित्य विलासपरायण रहते हैं। प्रेमा भक्ति अर्थात् रागानुगा भक्तिके अनुशीलनसे ही, विशेषतः व्रज गाोपियोंकी आनुगत्यमयी भक्तिके अनुशीलनके द्वारा ही इस धामकी प्राप्ति होती है। अन्यान्य कारणों, साधनोंके द्वारा इसकी प्राप्ति असम्भव है। श्रीकृष्णने यहाँ 'परमं मम' पदसे इसी धामको निर्देशित किया है।

"सूर्य, चन्द्र और अग्नि मेरे उस अव्यय धामको नहीं प्रकाशित कर सकते। मेरे उस धामको प्राप्तकर जीव आनन्दप्राप्तिसे और वञ्चित नहीं होता है। मूल तत्त्व यह है कि जीवकी दो अवस्थाएँ हैं—संसार और मुक्ति। संसार-दशामें जीव देहात्माभिमानवशतः जड़सङ्गका इच्छुक होता है। मुक्त-दशामें शुद्ध जीव निरन्तर मेरे पवित्र (सेवा) भावके आस्वादक होते हैं। इस अवस्थाको प्राप्त करनेके लिए संसारमें भवस्थित पुरुषका असङ्ग अर्थात् वैराग्यरूप शस्त्र द्वारा संसाररूप अश्वत्थ वृक्षका छेदन करना कर्त्तव्य है। जड़ीय वस्तुमें आसक्तिको सङ्ग कहा जाता है। जो व्यक्ति जड़में अवस्थित होकर भी जड़ा-आसक्तिको त्यागनेमें समर्थ हैं, उनका स्वभाव निर्गुण है। वे ही निर्गुणा भक्ति प्राप्त करते हैं। सत्सङ्गको भी असङ्ग कहा जाता है। अतएव संसारी जीवको जड़ीय आसक्तिका परित्याग और सत्सङ्ग अर्थात् भक्तसङ्गके आश्रय द्वारा संसारका समूल छेदन करना चाहिए। जो केवल संन्यास-चिह्न धारणकर वैराग्यका आचरण करते हैं, उनका संसार नष्ट नहीं होता है। अन्याभिलाष त्यागकर परम रसरूप मेरी भक्तिका अवलम्बन करनेसे संसारनाशरूपी मुक्ति ही जीवके अवान्तर फलस्वरूप उपस्थित होती है। अतएव बारहवें अध्यायमें जिस भक्तिका उपदेश है, वही मङ्गलाकांक्षी जीवोंका एकमात्र प्रयोजन है। पिछले अध्यायमें समस्त ज्ञानकी सगुणता और भक्तिके सेवकके रूपमें शुद्ध ज्ञानकी निर्गुणता कही गई है। इस अध्यायमें सभी प्रकारके वैराग्यकी सगुणता एवं भक्तिके आनुषङ्गिक फलस्वरूप इतर वैराग्यकी भी निर्गुणता प्रदर्शित हुई।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।६।।

ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः।
मनः षष्ठानीन्द्रियाणि प्रकृतिस्थानि कर्षति।।७।।

अन्वय—मम एव (मेरा ही) अंशः (विभिन्नांश) सनातनः (सनातन)) जीवभूतः (जीव) जीवलोके (इस जगत्में) प्रकृतिस्थानि (प्रकृतिमें स्थित होकर) मनः षष्ठानि इन्द्रियाणि (मन और पाँच इन्द्रियोंको) कर्षति (आकर्षित करता है)।।७।।

अनुवाद—मेरा ही विभिन्नांश, सनातन जीव इस जगत्में प्रकृतिमें स्थित होकर मन और पाँच इन्द्रियोंको आकर्षित करता है।।७।।

श्रीविश्वनाथ—त्वद्भक्त्या संसारमतिक्राम्यन् तत्पदगामी जीवः कः इत्यपेक्षायामाह—ममैवांश इति। यदुक्तं वाराहे–*"स्वांशश्चाथ विभिन्नांश इति द्वेधायमिष्यते। विभिन्नांशस्तु जीवः स्यात्"* इति। सनातनो नित्यः स च बन्धदशायां मन एव षष्ठं येषां तानीन्द्रियाणि प्रकृतावुपाधौ स्थितानि कर्षति। ममैवैतानीति स्वीयत्वाभिमानेन गृहीतां पादार्गलश्रृङ्खलामिव कर्षति।।७।।

भावानुवाद—आपकी भक्ति द्वारा संसारका अतिक्रमणकर आपके पदमें पहुँचनेवाले जीव कौन हैं? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते है—'ममैवांश' इत्यादि। वराह पुराणमें कहा गया है—"भगवान्का अंश दो प्रकारका है—स्वांश और विभिन्नांश। इनमें से विभान्नांश ही जीव है।" जीव सनातन अर्थात् नित्य है और वह बद्धदशामें प्रकृतिकी उपाधिमें स्थित मन और पाँचों इन्द्रियोंको आकर्षित करता है। ये सब मेरे हैं—अपने इस अभिमान द्वारा पाँवोंको बाँधनेवाले जंजीरको स्वीकार करनेकी भाँति आकर्षित करता है।।७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वर्त्तमान श्लोकमें श्रीभगवान् जीवतत्त्वके विषयका वर्णन कर रहे हैं। जीव भगवान्का अंश है, किन्तु कैसा अंश है—इसे समझना चाहिए। भगवान्का अंश दो प्रकारका होता हैं—स्वांश और विभिन्नांश। उनमें से स्वांश विष्णु-तत्त्व हैं। मत्स्य, कूर्म, नृसिंह, राम आदि अवतारसमूह उनके स्वांश-तत्त्व हैं। जीव विभिन्नांश-तत्त्व है। जब सच्चिदानन्द भगवान् अन्य शक्तियोंसे विलग केवल तटस्था शक्तिके साथ युक्त होते हैं, उस समय उनके जो अंश होते हैं, वे विभिन्नांश-तत्त्व हैं। इसको इस प्रकार भी कहा गया है—भगवान्से अभिन्न तटस्था-शक्ति या जीव-शक्तिसे उत्पन्न जीव विभिन्नांश-तत्त्व हैं। कुछ विषयोंमें भगवान्से अभिन्न और कुछ विषयोंमें भगवान्से भिन्न होनेके कारण भगवान्से इसका अचिन्त्य-भेदाभेद सम्बन्ध है। इसीको दार्शनिक भाषामें अचिन्त्य-भेदाभेद-तत्त्व

कहा गया है। जीवोंकी दो अवस्थाएँ हैं—बद्ध और मुक्त। मुक्तावस्थामें जीव मायिक उपाधियोंसे रहित होकर भगवान्‌की सेवामें तत्पर रहता है, किन्तु, बद्धावस्थामें वह स्थूल और सूक्ष्म शरीररूप मायिक उपाधियोंसे आवृत होकर संसारमें फँसा हुआ है। श्रीमद्भागवतमें इसे इस रूपमें व्यक्त किया गया है—

'एकस्यैव ममांशस्य जीवस्यैव महामते।
बन्धोऽस्याविद्ययानादिर्विद्यया च तथेतरः।।'

(श्रीमद्भा. ११/११/४)

और भी, *'यया सम्मोहितो जीवः'* (श्रीमद्भा. १/७/५)। जो लोग यह मानते हैं कि जीव ही ब्रह्म है, श्रीभगवान् उनके भ्रान्त विचारका *'ममैवांशो जीवलोकः'* श्लोकके द्वारा खण्डन कर रहे हैं। इसके अतिरिक्त जो यह कहते हैं कि ब्रह्म ही मायाका आश्रय ग्रहण करनेपर जीवके रूपमें परिचित होता है और मायामुक्त होते ही पुनः ब्रह्म हो जाता है, भगवान् 'सनातनः' शब्दके द्वारा इस मतका भी निराकरण कर रहे हैं, क्योंकि इस श्लोकके द्वारा यह स्पष्ट है कि जीव सनातन तत्त्व है। उसका कभी भी लय अथवा नाश नहीं होता। मुक्त या बद्ध सभी अवस्थाओंमें जीव नित्य है और जीव जीव ही रहता है, ब्रह्म नहीं हो जाता। गीता (२/२३-२४) में इस तथ्यका प्रतिपादन किया गया है। जीव यदि सब प्रकारसे ब्रह्मसे अभिन्न होता अथवा जीव ही ब्रह्म होता तो उससे संसार-बन्धनमें आना नहीं होता अथवा उसे सांसारिक दुःख-कष्ट नहीं भोगना होता। *'सत्यं ज्ञानं अनन्तम्'*—इस शास्त्रोक्त विचारसे ब्रह्मका भ्रम या अज्ञान सम्भव नहीं हैं। इसलिए, श्रीचैतन्य महाप्रभुने प्रसिद्ध अद्वैतवादी सार्वमौम भट्टाचार्यको कहा था—"जहाँ शास्त्रोंने परमेश्वरको मायाधीश तथा जीवोंको मायाके अधीन (मायावश्य) प्रतिपादित किया है, वहाँ आप जीवको ईश्वरसे अभिन्न मान रहे हैं—यह सर्वथा शास्त्रविरुद्ध तथ्य है।" श्रुतियाँ तो स्पष्ट घोषणा करती हैं कि जीव ब्रह्म नहीं है; यथा—मायायुक्त पुरुष जहाँ वैकुण्ठ-मूर्ति धारणकर वैकुण्ठनाथ श्रीनारायणकी सेवा करते हैं अर्थात् सारूप्य मुक्ति लाभकर श्रीनारायणकी सेवा करते हैं—*'वसन्ति यत्र पुरुषाः सर्वे वैकुण्ठमूर्त्तयः'*। इसके विपरीत जो लोग संसारको मिथ्या एवं जीव तथा ब्रह्मको एक मानते हैं, गीतामें श्रीकृष्णमुख विगलित 'जीवभूतः' 'ममांशः', 'सनातनः'—ये उक्तियाँ उनके मतोंकी असारता प्रदर्शित करती हैं। कुछ अन्य मायावादी लोग जीव और जड़को ब्रह्मका प्रतिबिम्ब मानते हैं, किन्तु यह विचार भी

कपोलकल्पित और असार है। जब ब्रह्म सर्वव्यापक है, तब उसका प्रतिबिम्ब कैसे सम्भव हो सकता है। दूसरी बात—प्रतिबिम्ब देखनेवाला तथा प्रतिबिम्बत होनेका स्थल क्या है? यदि जीवको द्रष्टा और प्रतिबिम्बित होनेका स्थल अज्ञान मानते हैं, तो ब्रह्मके अतिरिक्त जीव और अज्ञानतारूपी माया—ब्रह्मसे पृथक इन दो वस्तुओंकी सत्ताको स्वीकार करना पड़ता है, फिर ब्रह्म *'एकमेवाद्वितीयम्'* कैसे रहा तथा ब्रह्मकी सर्वव्यापकता ही कहाँ रही? तीसरी बात—ब्रह्म अविषय है अर्थात् वह निःशक्तिक, निर्विकार और निर्गुण तत्त्व है। जब जड़ीय द्रव्य आकाशका ही खण्ड नहीं हो सकता, तब ब्रह्मका परिच्छेद (खण्ड) कैसे सम्भव हो सकता है। इसलिए ब्रह्म खण्ड-खण्ड होकर जीव हुआ है, मायावादियोंका यह परिच्छेदवाद भी पूर्णरूपसे निराधार सिद्ध है। शास्त्रोंमें ब्रह्मको अविकारी बताया गया है, इसलिए प्रतिबिम्बवाद और परिच्छेदवाद—मायावादियोंके ये दोनों ही विचार भ्रान्त हैं। यदि यह पूर्वपक्ष हो कि *'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'तत्त्वमसि'* आदि श्रुतिवाक्योंकी संगति कैसे सम्भव है, तो इसके उत्तरमें उपनिषद्, वेदान्त आदि शास्त्र कहते हैं कि भगवान्की शक्ति ही जीव और जगत्के रूपमें परिणत हुई है, चूँकि भगवान् और भगवान्की शक्ति अभिन्न हैं, अतः केवल इस दृष्टिसे ही जीव और जगत्को भी एक प्रकारसे ब्रह्म ही बताया गया है। किन्तु, *'नित्योनित्यानां चेतनश्चेतनानाम्'* आदि श्रुतिवाक्योंमें तथा गीतामें विभिन्न स्थलोंपर कहे गए वचनोंसे जीव, ब्रह्म तथा भगवान्का भेद प्रतिपादित होता है, यथा—मैं क्षर और अक्षरसे अतीत पुरुषोत्तम तत्त्व हूँ। (गीता १५/१८) अतः सबकुछ ब्रह्ममय होते हुए भी परब्रह्म स्वयं-श्रीकृष्ण सबसे अतीत ही हैं। *'तत्त्वमसि'* का यह तात्पर्य कि 'तुम वही हो'—शास्त्रविरुद्ध है। इसका वास्तविक तात्पर्य है—'तुम उनके हो' अर्थात् भगवान्के दास हो। 'तत्त्वमसि' का अर्थ सर्वश्रुतियोंके द्वारा प्रतिपादित है—औरकी तो बात ही क्या आचार्य शंकरने भी *'ऋतं पिबन्तो सुकृतस्य लोके गुहां प्रविष्टो परमे परार्द्धे'* (क. उ. १/३/१) तथा *'गुहां प्रविष्टावात्मनौ हि तद्दर्शनात्'* (ब्र. सू. १/२/११३)—इन दोनोंकी व्याख्यामें 'आत्मानौ' से दो पुरुषोंकी स्थितिको स्वीकार किया है। ये हैं— विज्ञानात्मा (जीव) तथा परमात्मा। श्रुतियोंमें अनेक स्थलोंपर परमेश्वरको विभु और जीवस्वरूपको अणु बताकर जीव और ब्रह्ममें भेद दिखाया गया है—

(क) *'यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गा'* (वृ. उ. २/१/२०)
(ख) *'बालाग्रशतभागस्य शतधा'* (श्वे. उ. ५/९)
(ग) *'ऐषोऽनुरात्मा'* (मु. उ. ३/१/९)
(घ) *'यथा समुद्रे वहवस्तरङ्गा'* (तत्त्व मुक्तावली. १०)
(ङ.) *'अणु हि जीवं प्रतिदेहभिन्नं'* (निम्बार्ककृतदशश्लोकी)
(च) *'ह्लादिन्या संविदाश्लिष्टः सच्चिदानन्द ईश्वरः। स्वाविद्या-संवृतो जीवः संक्लेश निकराकरः'* (श्रीधरस्वामी)
(छ) *'यः सर्वेषुभूतेषु तिष्ठन् सर्वेभ्यो भूतेभ्योऽन्तरो'* (वृ.उ. टीका ३/६/१५)

"यदि कहो कि इस प्रकार जीवोंकी दो दशा कैसे हुई, तो सुनो—मैं पूर्ण सच्चिदानन्द भगवान् हूँ। मेरा दो प्रकारका अंश है—स्वांश और विभिन्नांश। स्वांश रूपमें मैं राम-नृसिंह आदिके रूपमें लीला करता हूँ, विभिन्नांश रूपमें नित्य-दासके रूपमें जीवका प्रकाश हुआ है। स्वांश-प्रकाशमें मेरा अहं-तत्त्व सम्पूर्णरूपसे रहता है। विभिन्नांश प्रकाशमें मेरा परमेश्वरीय 'अहं-तत्त्व' नहीं रहता है। इससे जीवके एक स्वसिद्ध 'अहं-तत्त्व' का उदय होता है। उस विभिन्नांशगत तत्त्वस्वरूप जीवकी दो दशाएँ होती हैं—मुक्त दशा और बद्ध दशा। दोनोंही दशाओंमें जीव सनातन अर्थात् नित्य है। मुक्त दशामें जीव सम्पूर्णरूपसे मेरे आश्रित और प्रकृतिके सम्बन्धसे रहित होता है। बद्ध दशामें जीव अपनी उपाधिरूप प्रकृतिमें स्थित मन और पाँच बाह्येन्द्रियाँ—इन छः इन्द्रियोंको अपने तत्त्वबोधसे आकर्षित करता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।७।।

शरीरं यदवाप्नोति यच्चाप्युत्क्रामतीश्वरः।
गृहीत्वैतानि संयाति वायुर्गन्धानिवाशयात्।।८।।

अन्वय—ईश्वरः (देहकी इन्द्रियोंका स्वामी जीव) यत् (जिस) शरीरम् (शरीरको) अवाप्नोति (प्राप्त होता है) यत् च अपि (और जिस शरीरसे) उत्क्रामति (बहिर्गत होता है) वायुः (वायु) आशयात् (पुष्पादिसे) गन्धान् इव (गन्धकी भाँति) एतानि (इन छः इन्द्रियोंको) गृहीत्वा (ग्रहणकर) संयाति (गमन करता है)।।८।।

अनुवाद—इन्द्रियोंका स्वामी देही जीव जिस शरीरको प्राप्त करता है और जिस शरीरसे बहिर्गत होता है, अपनी छः इन्द्रियोंके साथ उसी प्रकार गमन करता है, जिस प्रकार वायु पुष्पादिसे गन्ध लेकर गमन करती है।।८।।

श्रीविश्वनाथ—तान्याकृष्य किं करोतीत्यपेक्षायामाह—शरीरमिति। यत् स्थूलशरीरं कर्मवशादवाप्नोति, यच्च यस्माच्च शरीरादुत्क्रामति निष्क्रामति ईश्वरः देहेन्द्रियादिस्वामी-जीवः, तस्मात्तत्र एतानीन्द्रियाणि भूतसूक्ष्मैः सह गृहीत्वैव संयाति वायुर्गन्धानिवेति वायुर्यथाशयाद्गन्धाश्रयात् स्रक्‌चन्दनादेः सकाशात् सूक्ष्मावयवैः सह गन्धान् गृहीत्त्वान्यत्र याति तद्वदित्यर्थः।।८।।

भावानुवाद—इन्द्रियोंका आकर्षणकर वह क्या करता है? इस प्रश्नकी अपेक्षामें श्रीभगवान् 'शरीरम्' इत्यादि कह रहे हैं। ईश्वर—देह और इन्द्रियोंका अधिपति कर्मके वशीभूत होकर जिस स्थूल शरीरको प्राप्त करता है और जिस शरीरसे बहिर्गत होता है, पूर्व शरीरसे सूक्ष्मभूतके साथ इन इन्द्रियोंको ग्रहणकर ही नए शरीरमें गमन करता है, जिस प्रकार वायु गन्धके आश्रय माल्य-चन्दनादिसे सूक्ष्म अवयवोंके साथ गन्धको ग्रहणकर अन्य स्थानपर जाती है।।८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—बद्धावस्थामें जीव किस प्रकार देहान्तर लाभ करता है—इसे बता रहे हैं। मृत्युके बाद ही बद्धावस्था समाप्त नहीं होती। जीव जब तक भगवत्-भजनके द्वारा संसारसे मुक्त नहीं हो जाता, तब तक वह अपने कर्मोंके संस्कारवश जन्म-जन्मान्तरको प्राप्त होता है। जन्म-जन्मान्तर कैसे होता है—इसे एक दृष्टान्तके द्वारा समझा रहे हैं। जिस प्रकार वायु फूलोंसे सुगन्धको ग्रहण करती है, फूलोंको अपने साथ नहीं ले जाती, फूल अपने स्थानपर ही स्थित रहता है, इसी प्रकार जीव मृत्युके समय अपने स्थूल शरीरका परित्यागकर वासनाओंसे युक्त मन और इन्द्रियोंको ग्रहणकर दूसरे स्थूल देहका आश्रय करता है। इस प्रकार वह बारम्बार अपने कर्मोंकी वासनाके अनुसार दूसरा शरीर प्राप्त करता है। श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा ही कहा गया है—

'मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्त्तते।।'

(श्रीमद्भा. ११/२२/३६)

अर्थात्, कर्मसंस्कारयुक्त मन ही पाँचों इन्द्रियोंके साथ एक देहसे दूसरे देहमें गमन करता है। आत्मा उससे भिन्न है, तथापि अहङ्कारके द्वारा वह मनका अनुगमन करता है। और भी,

'देहेन जीवभूतेन लोकाल्लोकमनुव्रजन्।
भुञ्जान एव कर्मानि करोत्यविरतं पुमान्।।'

(श्रीमद्भा. ३/३१/४३)

"मरनेके बाद ही बद्ध दशाका अन्त हो जाता है, ऐसा नहीं है। जीव कर्मके अनुसार स्थूल शरीर प्राप्त करता है और समय उपस्थित होनेपर उसका परित्याग करता है। एक शरीरसे अन्य शरीरमें जानेके समय वह शरीर-सम्बधिनी कर्मवासनाको अपने साथ ले जाता है। जिस प्रकार वायु गन्धके आधारस्वरूप पुष्प-चन्दन इत्यादिसे गन्ध लेकर अन्यत्र गमन करती है, उसी प्रकार जीव एक स्थूल शरीरसे दूसरे स्थूल शरीरमें सूक्ष्म अवयवके साथ इन्द्रियोंको लेकर प्रयाण करता है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।८।।

श्रोत्रञ्चक्षुः स्पर्शनञ्च रसनं घ्राणमेव च।
अधिष्ठाय मनश्चायं विषयानुपसेवते।।९।।

अन्वय—अयम् (यह जीव) श्रोत्रम् (कान) चक्षुः (आँख) स्पर्शनम् (त्वचा) रसनम् (जिह्वा) घ्राणम् (नासिका) मनः च (और मनका) अधिष्ठाय (आश्रयकर) विषयान् (शब्दादि विषयसमूह) उपसेवते (भोग करता है)।।९।।

अनुवाद—यह जीव कान, आँख, त्वचा, जिह्वा, नासिका और मनका आश्रयकर शब्द आदि विषयोंका उपभोग करता है।।९।।

श्रीविश्वनाथ—तत्र गत्वा किं करोतीत्यत आह—श्रोत्रमिति। श्रोत्रादीनीन्द्रियाणि मनश्चाधिष्ठायाश्रित्य विषयान् शब्दादीनुपभुङ्क्ते।।९।।

भावानुवाद—वहाँ जाकर क्या करता है—इस प्रश्नके उत्तरमें 'श्रोत्रम्' इत्यादि कह रहे हैं। कर्ण इत्यादि इन्द्रियों और मनका आश्रयकर शब्दादि विषयोंका उपभोग करता है।।९।।

उत्क्रामन्तं स्थितं वापि भुञ्जानं वा गुणान्वितम्।
विमूढा नानुपश्यन्ति पश्यन्ति ज्ञानचक्षुषः।।१०।।

अन्वय—विमूढाः (मूढ़ व्यक्तिगण) उत्क्रामन्तम् (देहसे जानेके समय) स्थितम् वा अपि (अथवा देहमें रहते समय) भुञ्जानम् वा (अथवा विषय-भोगके समय) गुणान्वितम् [जीवम्] (इन्द्रिय आदिसे युक्त जीवको) न अनुपश्यन्ति (नहीं देख पाते हैं) ज्ञानचक्षुषः (विवेकिगण) पश्यन्ति (देख पाते हैं)।।१०।।

अनुवाद—अविवेकी मूढ़ लोग देहसे जानेके समय अथवा रहते समय अथवा विषय-भोगके समय इन्द्रियोंसे समन्वित इस जीवको नहीं देख पाते हैं, किन्तु विवेकी लोग इसे देख पाते हैं।।१०।।

श्रीविश्वनाथ—ननु यस्मात् देहान्निष्क्रामति यस्मिन् देहे वा तिष्ठति तत्र स्थित्वा वा यथा भोगान् भूङ्क्ते इत्येवं विशेषं नोपलभामहे? तत्राह—उत्क्रामन्तं देहान्निष्क्रामन्तमं स्थितं देहान्तरे वर्त्तमानञ्च विषयान् भुञ्जानञ्च गुणान्वितमिन्द्रियादिसहितं विमूढा अविवेकिनः ज्ञानचक्षुषो विवेकिनः।।१०।।

भावानुवाद—अच्छा, जिस देहसे बहिर्गत होते हैं अथवा जिस देहमें स्थित होते हैं, वहाँ रहकर जो विषयोंका भोग करते हैं, यह ठीक प्रकारसे नहीं समझ पाया? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—अविवेकी व्यक्तिगण देहसे बहिर्गत होते समय, देहमें रहते समय और विषयसमूह भोग करते समय इन्द्रिययुक्त आत्माको नहीं जान पाते हैं, किन्तु ज्ञानचक्षुवाले विवेकी व्यक्ति इसे जान पाते हैं।।१०।।

यतन्तो योगिनश्चैनं पश्यन्त्यात्मन्यवस्थितम्।
यतन्तोऽप्यकृतात्मानो नैनं पश्यन्त्यचेतसः।।११।।

अन्वय—यतन्तः (यत्नशील) योगिनः च (योगयुक्त व्यक्तिगण) आत्मनि (शरीरमें) अवस्थितम् (अवस्थित) एनम् (इस आत्माको) पश्यन्ति (देखते हैं) अकृतात्मनः (अशुद्धचित्त) अचेतसः (अविवेकिगण) यतन्तः अपि (यत्न करनेपर भी) एनम् (इसे) न पश्यन्ति (नहीं देखते हैं)।।११।।

अनुवाद—यत्नशील, योगयुक्त लोग शरीरमें स्थित इस आत्माको देखते हैं, किन्तु अशुद्धचित्त, अविवेकी लोग यत्न करनेपर भी इसे नहीं देखते हैं।।११।।

श्रीविश्वनाथ—ते च विवेकिनो यतमाना योगिन एवेत्याह—यतन्त इति। अकृतात्मानोऽशुद्धचित्ताः।।११।।

भावानुवाद—वे विवेकी यत्नशील योगी ही आत्माको जानते हैं, अशुद्धचित्त लोग नहीं।।११।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—विवेकी और यत्नशील योगिगण श्रवण-कीर्त्तनरूप भक्तियोगका अनुशीलनकर देहमें अवस्थित आत्माका अनुभव या दर्शन किया करते हैं, किन्तु भगवद्भक्तिहीन अशुद्ध चित्तवाले व्यक्ति इस दुर्ज्ञेय आत्म-तत्त्वको नहीं जान पाते।।११।।

यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्।
यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।।१२।।

अन्वय—आदित्यगतम् (सूर्यस्थित) यत् (जो) तेजः (तेज) चन्द्रमसि (चन्द्रमें स्थित) यत् (जो) [तेज] आग्नौ च (और अग्निमें स्थित) यत्

(जो) [तेज] अखिलम् जगत् (समस्त जगत्को) भासयते (प्रकाशित करता है) तत् तेजः (उस तेजको) मामकम् (मेरा) विद्धि (जानो)।।१२।।

अनुवाद—सूर्य, चन्द्रमा और अग्निका जो तेज समस्त जगत्को प्रकाशित करता है, उस तेजको मेरा ही जानो।।१२।।

श्रीविश्वनाथ—तदेवं जीवस्य बद्धावस्थायां यत् यत् प्राप्यवस्तु, तत्राहमेव सूर्यचन्द्राद्यात्मकः सन् उपकरोमीत्याह—यदिति त्रिभिः। आदित्यस्थितं तेज एवोदयपर्वते प्रातरुदित्य जीवस्य दृष्टादृष्टभोगसाधनकर्मप्रवर्त्तनार्थं जगद्भासयते एवञ्च यच्चन्द्रमसि अग्नौ च तत्तदखिलं मामकमेव सूर्यादिसंज्ञोऽहमेव भवामीत्यर्थः। मत्तेजस एव तत्तद्विभूतिरिति भावः।।१२।।

भावानुवाद—बद्धावस्थामें जीवकी जो जो प्राप्य वस्तुएँ हैं, उन सबमें मैं ही सूर्य, चन्द्र आदिके रूपमें उपकार करता हूँ। 'यदा' इत्यादि तीन श्लोकोंमें यही बताया जा रहा है। सूर्यमें स्थित तेजके रूपमें प्रातःकालमें उदय-पर्वतसे उदित होकर जीवके दृष्ट और अदृष्ट भोगको पूर्ण करनेवाले कर्मके प्रवर्त्तनके लिए जगत्में प्रकाश करता हूँ। अग्नि तथा चन्द्रमें भी जो तेज है, वह भी मेरा ही है। मैं ही सूर्य, चन्द्रादि नामवाला हूँ। मेरे तेजसे ही वे सब विभूतिके रूपमें परिगणित हुए है।।१२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भक्तिहीन अज्ञानी व्यक्ति देहात्मबुद्धिके कारण यह नहीं समझ पाता कि सम्पूर्ण जगत्की सारी वस्तुओं, भावों, पदार्थों, क्रियाओं तथा गुणों—इन सबकी सत्ताके अथवा उनकी अभिव्यक्तियोंके मूल कारण परमेश्वर हैं। वह पृथ्वी, जल, अग्नि, वायु, आकाश, चन्द्र, सूर्य, विद्युत आदिको ही सारी सत्ताओंका मूल कारण समझता है। श्रीकृष्ण यहाँ स्पष्टरूपसे कह रहे हैं कि सूर्य, चन्द्र, अग्नि या विद्युत मुझसे ही उत्पन्न होते हैं। भगवान् ही जीवोंको भोग और मोक्ष देनेवाले हैं। वे अपने आंशिक तेजको सूर्य-चन्द्र आदिमें प्रवेश कराकर उनके द्वारा जीवोंके दृष्ट-अदृष्ट भोगसाधनोंको उत्पन्न कराते हैं। भगवत्-कथित इस विभूतियोगका अनुशीलन करनेपर जीव भक्तियोगका अनुशीलनकर सहज ही उपरोक्त तत्त्वका अनुधावन कर सकता है, किन्तु मायामुग्ध जीव इस सत्यकी उपलब्धि नहीं कर पाते। वे प्राकृत स्थूल अहङ्कारके वशीभूत होकर जल, वायु, सूर्य, चन्द्र आदि सबपर प्रभुत्व जमाकर उन्हें अपने भौतिक सुखोंमें प्रयोग करनेकी व्यर्थ चेष्टा करते हैं। इन व्यर्थके प्रयासोंको छोड़कर भगवत्-शरणागतिके द्वारा भक्तिका अनुशीलन करना ही उनके लिए उचित है। इस सरल-सहज उपायसे ही वे शाश्वत शांति और सुखको प्राप्त कर सकते हैं, अन्यथा नहीं।

"यदि कहो, संसारमें स्थित जीव जड़के अतिरिक्त और कुछ भी आलोचना करनेमें समर्थ नहीं हैं, तो वह किस प्रकार चित्त-आलोचना करेगा, तो सुनो जड़-जगत्‌में भी मेरी चित्-सत्ता देदीप्यमान है। इसका अवलम्बन करनेसे ही क्रमशः शुद्ध-चित्‌की प्राप्ति और जड़का नाश सम्भव है। सूर्य, चन्द्र और अग्निमें समस्त जगत्‌को प्रकाश करनेवाला जो तेज देखते हो, वह मेरा ही है, किसी औरका नहीं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१२।।

गामाविश्य च भूतानि धारयाम्यहमोजसा।
पुष्णामि चौषधीः सर्वाः सोमो भूत्वा रसात्मकः।।१३।।

अन्वय—च (और) अहम् (मैं) ओजसा (शक्ति द्वारा) गाम् आविश्य (पृथ्वीमें अधिष्ठित होकर) भूतानि (चर-अचर प्राणिमात्रको) धारयामि (धारण करता हूँ) च (और) रसात्मकः (अमृतमय) सोमः भूत्वा (चन्द्र होकर) सर्वाः ओषधीः (समस्त औषधियोंको) पुष्णामि (पुष्ट करता हूँ)।।१३।।

अनुवाद—और, मैं ही अपनी शक्ति द्वारा पृथ्वीमें अधिष्ठित होकर चर-अचर प्राणिमात्रको धारण करता हूँ। मैं ही अमृतमय चन्द्र होकर समस्त औषधियोंको पुष्ट करता हूँ।।१३।।

श्रीविश्वनाथ—गां पृथ्वीम् ओजसा स्वशक्त्या आविश्य अधिष्ठाय अहमेव चराचराणि भूतानि धारयामि तथाहमेवामृतरसमयः सोमो भूत्वा व्रीह्याद्योषधीः संवर्द्धयामि।।१३।।

भावानुवाद—पृथ्वीको अपनी शक्ति द्वारा अधिष्ठितकर मैं ही चराचर भूतसमूहको धारण करता हूँ एवं मैं ही अमृत रसमय 'सोम' अर्थात् चन्द्र होकर ब्रीहि इत्यादि औषधसमूहका भलीभाँति वर्द्धन करता हूँ।।१३।।

अहं वैश्वानरो भूत्वा प्राणिनां देहमाश्रितः।
प्राणापानसमायुक्तः पचाम्यन्नं चतुर्विधम्।।१४।।

अन्वय—अहम् (मैं) वैश्वानरः भूत्वा (जठराग्नि होकर) प्राणिनाम् देहम् (प्राणियोंके शरीरका) आश्रितः (आश्रयकर) प्राणापानसमायुक्तः (प्राण और अपान वायुके संयोगसे) चतुर्विधम् अन्नम् (चार प्रकारके अन्न) पचामि (पचाता हूँ)।।१४।।

अनुवाद—मैं जठराग्नि होकर प्राणियोंके शरीरका आश्रयकर प्राण-अपान वायुके संयोगसे चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ।।१४।।

श्रीविश्वनाथ—वैश्वानरो जठरानलः प्राणापानाभ्यां तदुद्दीपकाभ्यां सहितः चतुर्विधं 'भक्ष्यं' 'भोज्यं' 'लेह्यं' 'चूष्यम्'—'भक्ष्यं' दन्तछेद्यं भ्रष्टचणकादि, 'भोज्यं' ओदनादि, 'लेह्यं' गुड़ादि, 'चूष्यम्' इक्षुदण्डादि।।१४।।

भावानुवाद—जठराग्निके रूपमें मैं उसके उत्प्रेरक प्राण-अपान वायुके साथ संयुक्त होकर भक्ष्य, भोज्य, लेह्य और चूष्य—इन चार प्रकारके अन्नोंको पचाता हूँ। दाँत द्वारा खण्डित होनेवाले भूँजा, छोला इत्यादि भक्ष्य हैं। चावल इत्यादि भोज्य हैं। गुड़ इत्यादि लेह्य हैं। गन्ना इत्यादि चूष्य हैं।।१४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—कीट-पतंगसे लेकर मनुष्य तक किसी देहधारी प्राणीमें भोज्य पदार्थोंको पचानेकी भी स्वतन्त्र शक्ति नहीं है। श्रीभगवान् कहते है—"जीवोंके शरीरमें मैं ही जठराग्निके रूपमें अन्नको पचाता हूँ।" इसलिए जो भोजन भी नहीं पचा सकता वह क्या कर सकता है? अतः बल-बुद्धिका वृथा अहङ्कार न कर भगवान्के चरणकमलोंमें ही शरणागत होना उसके लिए अत्यन्त आवश्यक है। इससे यह भी समझना चाहिए कि परमेश्वर ही पृथ्वीमें अधिष्ठित होकर अपनी शक्ति द्वारा भूतोंको धारण कर रहे हैं, उनकी शक्तिके बिना कुछ भी होना सम्भव नहीं है।।१४।।

सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो मत्तः स्मृतिर्ज्ञानमपोहनञ्च।
वेदैश्च सर्वैरहमेव वेद्यो वेदान्तकृद्वेदविदेव चाहम्।।१५।।

अन्वय—अहम् (मैं) सर्वस्य (सभी प्राणियोंके) हृदि (हृदयमें) सन्निविष्टः (अन्तर्यामीरूपसे प्रविष्ट हूँ) मत्तः (मुझसे) स्मृति (स्मृति) ज्ञानम् (ज्ञान) अपोहनम् च (और दोनोंका नाश) [होता है] सर्वैः वेदैः च (सभी वेदों द्वारा) अहम् एव (एकमात्र मैं ही) वेद्यः (ज्ञातव्य, जानने योग्य हूँ) वेदान्तकृत (वेदान्तकर्त्ता) वेदवित् च (और वेदज्ञ हूँ)।।१५।।

अनुवाद—मैं सभी प्राणियोंके हृदयमें अन्तर्यामीके रूपमें प्रविष्ट हूँ। मुझसे ही स्मृति, ज्ञान तथा दोनोंका नाश होता है। सभी वेदोंमें एकमात्र मैं ही जानने योग्य हूँ। मैं ही वेदान्तकर्त्ता और वेदज्ञ हूँ।।१५।।

श्रीविश्वनाथ—यथैव जठरे जठराग्निरहं तथैव सर्वस्य चराचरस्य हृदि सन्निविष्टो बुद्धितत्त्वरूपोऽहमेव; यतः मत्तो बुद्धितत्त्वादेव पूर्वानुभूतार्थ विषयानुस्मृतिर्भवति, तथा विषयेन्द्रिययोगजं ज्ञानञ्च अपोहनं स्मृतिज्ञानयोरपगमश्च भवतीति। जीवस्य बद्धावस्थायां स्वस्योपकारकत्त्वमुक्तवा मोक्षावस्थायां

यत्प्राप्यं तत्राप्युपकारकत्वमाह—वेदैरिति। वेदव्यासद्वारा वेदान्तकृदहमेव, यतो वेदवित् वेदार्थतत्त्वज्ञोऽहमेव—मत्तोऽन्यो वेदार्थं न जानातीत्यर्थः।।१५।।

भावानुवाद—जिस प्रकार मैं जठरमें स्थित वैश्वानर अग्नि हूँ, उसी प्रकार सभी चराचर प्राणियोंके हृदयमें प्रविष्ट बुद्धितत्त्व हूँ, क्योंकि मुझसे ही अर्थात् बुद्धितत्त्वसे ही पहले अनुभव किए गए विषयोंका स्मरण होता है और विषयोंके सहित इन्द्रियोंके संयोग द्वारा ज्ञान होता है। स्मृति और ज्ञानका अपगम अर्थात् नाश भी मेरे द्वारा ही होता है। जीवके बद्धदशामें स्वकृत उपकारको कहनेके बाद अब मोक्षदशामें प्राप्य उपकारके विषयमें बता रहे हैं—वेदव्यास द्वारा मैं ही वेदान्तका कर्त्ता हूँ, क्योंकि वेदका अर्थ जाननेवाला मैं ही हूँ अर्थात् मेरे अतिरिक्त और कोई भी वेदके अर्थको नहीं जानता है।।१५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"मैं ही सभी जीवोंके हृदयमें ईश्वररूपसे अवस्थित हूँ। मुझसे ही जीवोंके कर्मफलके अनुसार स्मृति, ज्ञान और दोनोंकी अपगति होती है। अतएव मैं केवल जगत्-व्यापी ब्रह्ममात्र नहीं हूँ। अपितु 'जीवके हृदयमें स्थित' कर्मफल देनेवाला परमात्मा भी हूँ। पुनः केवल 'ब्रह्म' या परमात्माके रूपमें ही जीवोंका उपास्य नहीं, अपितु जीवके नित्य-मङ्गलका विधान करनेवाला जीवका उपदेष्टा भी हूँ। मैं ही सभी वेदोंमें जानने योग्य भगवान्, वेदान्तकर्त्ता तथा वेदान्तको जाननेवाला हूँ। अतएव सभी जीवोंके मङ्गलके लिए 'प्रकृतिगत ब्रह्म', 'जीवके हृदयगत ईश्वर या परमात्मा' एवं 'परमार्थदाता भगवान्'—इन तीन प्रकाश द्वारा बद्धजीवोंका उद्धारकर्त्ता हूँ।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१५।।

द्वाविमौ पुरुषौ लोके क्षरश्चाक्षर एव च।
क्षरः सर्वाणि भूतानि कूटस्थोऽक्षर उच्यते।।१६।।

अन्वय—क्षरः (क्षर) अक्षरः एव च (और अक्षर) इमौ द्वौ (ये दोनों) पुरुषौ (पुरुषतत्त्व) लोके (चौदह लोकोंमें) [प्रसिद्ध हैं] सर्वाणि भूतानि (चराचर भूतसमूहको) क्षरः (क्षर) [और] कूटस्थः (कूटस्थ पुरुषको) अक्षर (अक्षर) उच्यते (कहा जाता है)।।१६।।

अनुवाद—क्षर और अक्षर—ये दो पुरुषतत्त्व चौदह लोकोंमें प्रसिद्ध हैं। इनमें से चराचर भूतसमूहको क्षर और कूटस्थ पुरुषको अक्षर कहा जाता है।।१६।।

श्रीविश्वनाथ—यस्मादहमेव वेदवित् तस्मात् सर्ववेदार्थनिष्कर्षं संक्षेपेण ब्रवीमि शृणु इत्याह—द्वाविमाविति त्रिभिः। लोके चतुर्दशभुवनात्मके जडप्रपञ्चे इमौ द्वौ पुरुषौ चेतनौ स्तः, कौ तावत आह—क्षरं स्वस्वरूपात् क्षरति विच्युतो भवतीति क्षरो जीवः स्वरूपान्न क्षरतीत्यक्षर ब्रह्मैव,—*"एतद्वै तदक्षरं गार्गि ब्राह्मणा विविदिषन्ति"* इति श्रुतेः *"अक्षरं ब्रह्म परमम्"* इति स्मृतेश्च अक्षर-शब्दो ब्रह्मवाचक एव दृष्टः। क्षराक्षरयोरर्थं पुनर्विशदयति सर्वाणि भूतानि एको जीव एव अनाद्यविद्ययास्वरूपविच्युतः सन् कर्मपरतन्त्रः समष्ट्यात्मको ब्रह्मादिस्थावरान्तानि भूतानि भवतीत्यर्थः। जात्या वा एकवचनम्। द्वितीयपुरुषोऽक्षरस्तु कूटस्थ एकेनैव स्वरूपेणाविच्युतिमता सर्वकालव्यापी।*"एकरूपतया तु यः कालव्यापी, स कूटस्थः"*इत्यमरः।।१६।।

भावानुवाद—क्योंकि मैं ही वेदवित् हूँ, अतः संक्षेपमें सभी वेदोंका सार कहूँगा, सुनो। इसके लिए 'द्वाविमौ इत्यादि तीन श्लोक कहे जा रहे हैं। चौदह भुवनोंवाले इस लोकमें दो चेतन पुरुष हैं। वे कौन हैं—इसके उत्तरमें कहते हैं—अपने स्वरूपसे विच्युत हो जानेवाला क्षर-जीव तथा अपने स्वरूपसे विच्युत नहीं होनेवाला अक्षर-ब्रह्म। श्रुति कहती हैं—"ब्रह्मविद् ब्राह्मणगण इन्हें ही अक्षर कहते हैं।" स्मृतिमें भी ब्रह्मको ही अक्षर कहा गया है—*'अक्षरं ब्रह्म परमम्।'* 'क्षर ' और 'अक्षर' शब्दोंके अर्थको पुनः विशेषरूपसे बताते हुए कह रहे हैं—'सर्वाणि भूतानि'। एक ही जीव अनादि अविद्या द्वारा स्वरूपसे विच्युत होकर कर्मवशतः समष्टि-आत्मक ब्रह्मासे लेकर स्थावरान्त भूतोंमें प्रकाशित होता है। यहाँ जातिवाचक संज्ञाके लिए एकवचन प्रयुक्त हुआ है। किन्तु, द्वितीय, अक्षर पुरुष 'कूटस्थ' अर्थात् एक ही अविच्युत स्वरूपसे सर्वकालव्यापी है। अमरकोषमें पाया जाता है—जो एकरूपसे सर्वकालव्यापी है, वही कूटस्थ है।।१६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"यदि कहो कि प्रकृति एक है—यह तो समझ गया, किन्तु चैतन्यस्वरूप कितने पुरुष हैं, यह नहीं समझ पाया, तो सुनो—वस्तुतः लोकमें दो ही पुरुष नहीं हैं; उनके नाम—'क्षर' और 'अक्षर' हैं। विभिन्नांशगत चैतन्यरूप जीव ही 'क्षर' पुरुष है। अपने स्वरूपसे क्षरणशील तटस्थ स्वभाववशतः ही जीवको क्षर पुरुष कहा जाता है। जो कभी भी अपने स्वरूपसे च्युत नहीं होते हैं, वे स्वांश-तत्त्व ही 'अक्षर' पुरुष हैं। अक्षर पुरुषका दूसरा नाम कूटस्थ पुरुष भी है। उस कूटस्थ

अक्षर पुरुषके तीन प्रकाश हैं—जगत्‌के सृष्ट होनेपर जगत्‌में सर्वव्यापी सत्तास्वरूपमें एवं उसके (जगत्‌के) समस्त धर्मोंकी विपरीत अवस्थामें जो अक्षर पुरुष लक्षित होते हैं, वे ही ब्रह्म हैं। अतएव ब्रह्म जगत्-सम्बन्धी तत्त्वविशेष हैं, स्वतन्त्र तत्त्व नहीं। और, जगत्‌में चित्स्वरूप जीवोंको आश्रय देकर जो प्रकाश थोड़े परिमाणमें शुद्ध चित्-तत्त्वके प्रकाशक हैं, वे ही परमात्मा हैं। वे भी जगत्-सम्बन्धी तत्त्वविशेष हैं, स्वतन्त्र नहीं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर

तीसरा कूटस्थ प्रकाश स्वयं भगवत्-तत्त्व हैं, जिसका वर्णन अठारहवें श्लोकमें किया जाएगा।।१६।।

उत्तमः पुरुषस्त्वन्यः परमात्मेत्युदाहृतः।
यो लोकत्रयमाविश्य बिभर्त्यव्यय ईश्वरः।।१७।।

अन्वय—तु (किन्तु) अन्यः (पूर्वोक्तसे भिन्न) उत्तमः पुरुषः (एक उत्तम पुरुष) परमात्मा इति (परमात्मा शब्दसे) उदाहृतः (कथित होते हैं) यः (जो) ईश्वरः (ईश्वर) [तथा] अव्ययः (निर्विकार) [हैं, एवं] लोकत्रयम् (त्रिलोकमें) आविश्य (प्रविष्ट होकर) बिभर्ति (पालन करते हैं)।।१७।।

अनुवाद—किन्तु, पूर्वोक्त क्षर और अक्षर तत्त्वसे भिन्न एक अन्य उत्तम पुरुष परमात्मा कहलाते हैं, जो ईश्वर और निर्विकार हैं तथा तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर उनका पालन करते हैं।।१७।।

श्रीविश्वनाथ—ज्ञानिभिरूपास्यं ब्रह्मोक्त्वा योगिभिरूपास्यं परमात्मानमाह—उत्तम इति। तु-शब्दः पूर्ववैशिष्ट्यद्योतकः। ज्ञानिभ्यश्चाधिको योगीत्युपासक वैशिष्ट्यादेवोपास्यवैशिष्ट्यं च लभ्यते। परमात्मतत्त्वमेव दर्शयति—य ईश्वरः ईशनशीलोऽव्ययो निर्विकार एव सन् लोकत्रयं कृत्स्नमाविश्य विभर्त्ति धारयति पालयति च।।१७।।

भावानुवाद—ज्ञानियोंके उपास्य ब्रह्मके बारेमें बतानेके बाद 'उत्तमः' इत्यादि द्वारा योगियोंके उपास्य परमात्माके बारेमें बता रहे हैं। 'तु' शब्द पहलेकी अपेक्षा विशेष होनेका द्योतक है। गीता (६/४६) में कहा गया है—*'ज्ञानिभ्यश्चाधिको योगी'* अर्थात् योगी ज्ञानियोंसे श्रेष्ठ हैं। इस वाक्यसे यही जाना जाता है कि उपासकका वैशिष्ट्य होनेके कारण उपास्यका भी वैशिष्ट्य है। परमात्म-तत्त्वको इस प्रकार बता रहे हैं—जो ईश्वर अर्थात् नियामक हैं, 'अव्ययः' अर्थात् निर्विकार भावसे ही समग्र त्रिलोकमें प्रविष्ट होकर उसे धारण करते हैं और उसका पालन करते हैं, वे परमात्मा हैं।।१७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"वे परमात्मारूप द्वितीय अक्षर पुरुष सामान्यतः ब्रह्मरूप अक्षर पुरुषसे उत्तम हैं। वे ही ईश्वर हैं एवं तीनों लोकोंमें प्रविष्ट होकर पालनकर्त्ताके रूपमें विराजमान हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१७।।

यस्मात् क्षरमतीतोऽहमक्षरादपि चोत्तमः।
अतोऽस्मि लोके वेदे च प्रथितः पुरुषोत्तमः।।१८।।

अन्वय—यस्मात् (क्योंकि) अहम् (मैं) क्षरम् अतीतः (क्षरसे अतीत) अक्षरात् अपि च (और अक्षरसे भी) उत्तमः (श्रेष्ठ हूँ) अतः (अतः) लोके (जगत्में) वेदे च (और वेदमें) पुरुषोत्तमः (पुरुषोत्तमके नामसे) प्रथितः अस्मि (प्रसिद्ध हूँ)।।१८।।

अनुवाद—क्योंकि मैं क्षरसे भी अतीत तथा अक्षरसे भी श्रेष्ठ हूँ, अतः जगत्में और वेदमें पुरुषोत्तमके नामसे प्रसिद्ध हूँ।।१८।।

श्रीविश्वनाथ—योगिभिरुपास्यं परमात्मानमुक्त्वा भक्तैरुपास्यं भगवन्तं वदन भगवत्त्वेऽपि स्वस्य कृष्णस्वरूपस्य पुरुषोत्तम इति नाम व्याचक्षाणः सर्वोत्कर्षमाह—यस्मादिति। क्षरं पुरुषं जीवात्मानम् अतीतः अक्षरात् पुरुषात् ब्रह्मत उत्तमादविकारात् परमात्मनः पुरुषादप्युत्तमः। *"योगिनामपि सर्वेषां मद्गतेनान्तरात्मना। श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः।।"* इति उपासकवैशिष्ट्यादेवोपास्य-वैशिष्ट्यलाभात्, च-काराद्भगवतो वैकुण्ठनाथादेः सकाशादपि *"एते चांशकलाः पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्"* इति सूतोक्तेरहमुत्तमः। अत्र यद्यप्येकमेव सच्चिदानन्द-स्वरूपं वस्तु ब्रह्मपरमात्मभगवत्शब्दैरुच्यते, न तु वस्तुतः स्वरूपतः कोऽपि भेदोऽस्ति, *"स्वरूपद्वयाभावात्"* (श्रीमद्भा. ६/९/३५) इति षष्ठस्कन्धोक्तेः, तदपि तत्तदुपासकानां साधनतः फलतश्च भेददर्शनात् भेद इव व्यवह्रियते। तथा हि ब्रह्मपरमात्मभगवदुपासकानां क्रमेण तत्तत्प्राप्तिसाधनं ज्ञानं योगो भक्तिश्च, फलञ्च ज्ञानयोगयोर्वस्तुतो मोक्ष एव, भक्तेस्तु प्रेमवत् पार्षदत्वञ्च, तत्र भक्त्या विना ज्ञानयोगाभ्यां *"नैष्कर्म्यमप्यच्युतभाववर्जितं न शोभते"*इति, *"पुरेह भूमन् बहवोऽपि योगिनः"* इत्यादि दर्शनात् न मोक्ष इति। ब्रह्मोपासकैः परमात्मोपासकैः स्वसाध्यफलसिद्ध्यर्थं भगवतो भक्तिरवश्यं कर्त्तव्यैव भगवदुपासकैस्तु स्वसाध्यफलसिद्ध्यर्थं न ब्रह्मोपासनापि परमात्मोपासना क्रियते,—*"न ज्ञानं न च वैराग्यं प्रायः श्रेयो भवेदिह"* इति, *"यत् कर्मभिर्यत्तपसा ज्ञानवैराग्यतश्च यत्"* इत्यादौ *"सर्वं मद्भक्तियोगेन मद्भक्तो लभतेऽञ्जसा। स्वर्गापवर्गं मद्धाम कथञ्चिद् यदि वाञ्छति।।"* इति, *"या वै साधनसम्पत्तिः*

पुरुषार्थचतुष्टये। तया विना तदाप्नोति नरो नारायणाश्रयः।।" इत्यादि वचनेभ्यः। अतएव भगवदुपासनया स्वर्गापवर्गप्रेमादीनि सर्वफलान्येव लब्धुं शक्यन्ते। ब्रह्म-परात्मोपासनया तु न प्रेमादीनीत्यत एव ब्रह्मपरमात्माभ्यां भगवदुत्कर्षः खलु अभेदेऽप्युच्यते, यथा तेजस्त्वेनाभेदेऽपि ज्योतिर्दीपाग्निपुञ्जेषु मध्ये शीताद्यार्त्तिक्षयाद्धेतोरग्निपुञ्ज एव श्रेष्ठ उच्यते, तत्रापि भगवतः श्रीकृष्णस्य तु परम एवोत्कर्षः, यथा अग्निपुञ्जादपि सूर्यस्य, येन ब्रह्मोपासना-परिपाकतो लभ्यो निर्वाण-मोक्षः स्वद्वेष्टृभ्योऽप्यघबक-जरासन्धादिभ्यो महापापिभ्यो दत्तः इति। अतएव *"ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्"* इत्यत्र यथावदेव व्याख्यातं श्रीस्वामिचरणैः। श्रीमधुसूदनसरस्वतीपादैरपि *"चिदानन्दाकारं जलदरुचिसारं श्रुतिगिरां, व्रजस्त्रीणां हारं भवजलधिपारं कृतधियाम्। विहन्तुं भूभारं विदधदवतारं मुहुरहो ततो बारं बारं भजत कुशलारम्भकृतिनः।।"* इति, *"वंशीविभूषितकरान्नवनीरदाभात् पीताम्बरादरूण-विम्बफलाधरौष्ठात्। पूर्णेन्दुसुन्दरमुखादरविन्दनेत्रात् कृष्णात् परं किमपि तत्त्वमहं न जाने।।"* इति, *"प्रमाणतोऽपि निर्णीतं कृष्णमाहात्म्यमद्भुतम् न शक्नुवन्ति ये सौढुं ते मूढा निरयं गताः।।"* इत्युक्तवद्भिः कृष्णे सर्वोत्कर्ष एव व्यवस्थापितः इत्यतः "द्वाविमौ" इत्यादि श्लोकत्रयस्यास्य व्याख्यायामस्यामभ्यसूया नाविष्कर्त्तव्या, नमोऽस्तु केवलविद्भ्यः।।१८।।

भावानुवाद—योगियोंके उपास्य परमात्माके बारेमें बतानेके बाद भक्तोंके उपास्य भगवान्‌को बताते हुए यह भी कह रहे हैं कि मैं पुरुषोत्तम कृष्ण ही वह भगवत्-तत्त्व हूँ तथा पुरुषोत्तम स्वरूपकी सर्वोत्कृष्टताका प्रतिपादन कर रहे हैं—यह स्वरूप-तत्त्व 'क्षर' पुरुष जीवात्मासे अतीत है, 'अक्षर' ब्रह्मसे उत्तम है तथा निर्विकार परमात्मा-पुरुषसे भी उत्तम है। गीता (६/४६) के अनुसार उपासकके वैशिष्ट्यसे उपास्यका वैशिष्ट्य प्रतिपादित होता है। तथा, सर्वश्रेष्ठ उपास्य (भगवत्-तत्त्व) में भी 'च'-कार द्वारा स्वयं भगवान् कृष्णकी वैकुण्ठनाथ नारायणादिसे भी श्रेष्ठता प्रतिपादित हुई है। श्रीमद्भागवत (१/३/१८) में श्रीसूत गोस्वामीने कहा है—"कोई इस पुरुषके अंश अथवा कला हैं, किन्तु कृष्ण ही स्वयं-भगवान् हैं।" सूत गोस्वामीकी इस उक्तिके अनुसार मैं उत्तम हूँ। यद्यपि यहाँ एक ही सच्चिदानन्द रूपविशिष्ट वस्तु ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् शब्द द्वारा कहे जा रहे हैं, तथापि उनमें स्वरूपतः कोई भेद नहीं हैं। श्रीमद्भागवत (६/९/३५) में कहा गया है—*'स्वरूपद्वयाभावात्'* अर्थात् आपमें दो स्वरूप नहीं हैं। तथापि, उस उस

(ब्रह्म–परमात्मा–भगवान्) वस्तुके उपासकोंके साधन और फलका भेद दीखनेसे भेदके समान व्यवहृत होता है। ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्के उपासकगणके लिए उस उसकी प्राप्तिके साधन क्रमशः ज्ञान योग और भक्ति हैं। वस्तुतः ज्ञान और योगका फल मोक्ष ही है एवं भक्तिका फल प्रेमवत्–पार्षदत्व है। श्रीमद्भागवत (१/५/१२) में कहा गया है— "नैष्कर्म्यरूप ब्रह्मज्ञान अच्युतभाव अर्थात् भगवान्की भक्तिसे रहित होनेपर अधिक शोभा नहीं पाता है।" तथा, "हे भूमन्! प्राचीनकालमें इस लोकमें अनेक योगी हुए हैं, किन्तु जब उन्हें योग आदि द्वारा आपकी प्राप्ति नहीं हुई, तब उन्होंने अपने समस्त कर्म आपके चरणोंमें समर्पित कर दिए, तब उन्हें आपकी भक्ति प्राप्त हुई एवं उस भक्तिसे आपके स्वरूपका ज्ञान प्राप्तकर उन्हें बड़ी सुगमतासे आपके पदकी प्राप्ति हुई।" (श्रीमद्भा. १०/१४/५) इन वाक्योंसे यह जाना जाता है कि भक्तिके बिना ज्ञान और योगसे मोक्ष नहीं प्राप्त होता है। ब्रह्मके उपासकगण और परमात्माके उपासकगणके लिए अपने अपने साधनफलकी सिद्धिके लिए भगवान्की भक्ति अवश्य करणीय है, किन्तु भगवान्के उपासकोंको अपने साध्यकी सिद्धिके लिए ब्रह्म अथवा परमात्माकी उपासना नहीं करनी पड़ती। श्रीमद्भगवत (११/२०/३१) में कहा गया है—"मेरे भक्तियोगी पुरुषके लिए संसारमें ज्ञान या वैराग्यको श्रेयः साधन नहीं माना जााता है।" और भी, "कर्म, तपस्या, ज्ञान, वैराग्य आदि द्वारा जो कुछ प्राप्त होता है, मेरे भक्तगण मेरे भक्तियोग द्वारा सहज ही स्वर्ग, मोक्ष, मेरा वैकुण्ठधाम अथवा जो कुछ चाहें, उसे प्राप्त करते हैं।" "चारों पुरुषार्थोंके लिए जो कुछ साधन–सम्पत्ति है, उसके अतिरिक्त भी श्रीनारायणके अश्रित व्यक्ति प्राप्त करते हैं।" (श्रीमद्भा. ११/२०/३२–३३) अतएव भगवान्की उपासनासे स्वर्ग, अपवर्ग (मुक्ति) एवं प्रेम इत्यादि सभी प्रकारके फल प्राप्त होते हैं। किन्तु, ब्रह्म और परमात्माकी उपासनासे प्रेम आदि नहीं पाए जाते हैं। अतएव ब्रह्म और परमात्मासे भगवान्का अभेद होनेपर भी भगवान्का ही श्रेष्ठत्व कहा गया है। जिस प्रकार ज्योति, दीप, अग्निपुञ्ज—सभी तेजस्वी पदार्थ होनेके कारण अभिन्न होनेपर भी ठण्ड इत्यादि क्लेशोंको दूर करनेके कारण अग्निपुञ्जको ही श्रेष्ठ कहा जाता है, वहाँ भी अग्निपुञ्जकी अपेक्षा सूर्यकी प्रधानता है, इसी प्रकार भगवान् श्रीकृष्णका ही परमोत्कर्ष है। ब्रह्मकी उपासनाके सिद्ध होनेपर जो निर्वाणरूप मोक्ष प्राप्त होता है, वह

श्रीकृष्ण अपने विद्वेषी, महापापी अघ, बक, जरासन्ध आदिको भी प्रदान किए हैं। अतएव श्रीधरस्वामीपादने—'मैं ही ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ'—इस वाक्यकी यथायथ व्याख्याकी है। श्रीमधुसूदन सरस्वतीपादने भी निम्नलिखित उक्तियों द्वारा श्रीकृष्णके ही सर्वोत्कर्षको प्रतिपादित किया है, यथा—"श्रुतियोंमें कथित चिदानन्दाकार, जलदरुचि सार, व्रजगोपियोंके हारस्वरूप, बुद्धिमान् लोगोंके लिए भवसमुद्रसे पार होनेके उपायस्वरूप, भूभारहरणके लिए अवतारलीला ग्रहण करनेवाले श्रीकृष्णचन्द्रका ही कुशलारम्भकारी साधकगण बार-बार भजन करें।" वंशीविभूषित करयुक्त, नवनीरदवर्ण, पीताम्बर वस्त्रधारी, अरुण बिम्बफल जैसे होठोंवाले, पूर्णिमाके चाँद जैसे मुखवाले कमलनयन श्रीकृष्णसे श्रेष्ठ कोई भी तत्त्व मैं नहीं जानता हूँ।" "प्रमाणोंके द्वारा भी श्रीकृष्णका अद्भुत माहात्म्य निर्णीत हुआ है, जो इसे नहीं सह सकते हैं, वे मूढ़ एवं नरकगामी हैं।" इन वाक्योंसे उन्होंने श्रीकृष्णका उत्कर्ष ही स्थापित किया है। अतएव 'द्वौ इमौ' (गीता १४/१६) इत्यादि तीन श्लोकोंकी ऐसी व्याख्याके प्रति असूया (रोष) प्रकट करना अनुचित है। 'केवलविद्' अभेदवादियोंको नमस्कार है।।१८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीमद्भागवतमें इसे और भी स्पष्टरूपसे बताया गया है—

'वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयं।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दते।।'

(श्रीमद्भा. १/२/११)

तत्त्वविद् व्यक्तिगण वास्तव वस्तुको अद्वय ज्ञान कहते हैं। उसी अद्वय-ज्ञान-तत्त्व वस्तुको कोई 'ब्रह्म' कोई 'परमात्मा' और कोई 'भगवान्' के नामसे पुकारते हैं। एक ही परतत्त्व-ज्ञानको ज्ञानी लोग ज्ञानयोगके द्वारा ब्रह्मके रूपमें अनुभव करते हैं, योगी लोग उन्हें परमात्माके रूपमें अनुभव करते हैं तथा भक्त लोग भक्तियोगके माध्यमसे उनको भगवान्के रूपमें दर्शन करते हैं। भक्त लोग ऐश्वर्यमयी भक्तिके द्वारा वैकुण्ठनाथ नारायणका तथा माधुर्यमयी प्रेमाभक्तिके द्वारा, व्रजभावमयी उपासनाके द्वारा स्वयं-भगवान् व्रजेन्द्रनन्दन श्यामसुन्दरके रूपमें उसी परतत्त्वका अनुभव और सेवन करते है। ब्रह्म, परमात्मा एवं भगवान्—तीनों दर्शन एक नहीं हैं। इन दर्शनोंमें तारतम्य विद्यमान हैं। जल, हिम एवं कुहासा तत्त्वतः एक होनेपर भी जलको बर्फ या कुहासा अथवा कुहासेको बर्फ या जल

नहीं कहा जा सकता। इसी प्रकार स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण ही परतत्त्वकी सीमा हैं। उसी परतत्त्वकी पहली प्रतीति ब्रह्म, दूसरी प्रतीति परमात्मा और तीसरी प्रतीति स्वयं-भगवान् हैं—ये तीनों एक नहीं हैं। इसीलिए शास्त्रोंमें परमब्रह्मको ब्रह्मसे श्रेष्ठ बताया गया है। *'ब्रह्मणो हि प्रतिष्ठाहम्'*—गीताके इस श्लोकमें इसे भलीभाँति स्पष्ट किया गया है। इसलिए ब्रह्म और आत्मामें 'परम' विशेषण युक्तकर परमब्रह्म, परमात्मा आदिको श्रेष्ठ बताया गया है। किन्तु, भगवान् शब्दके पहले 'परम' विशेषणका प्रयोग कभी नहीं देखा जाता है। इसलिए स्वयं-भगवान् ही परतत्त्वकी चरम सीमा हैं, परमात्मा और ब्रह्म उनकी ही दो प्रतीतियाँ हैं। कृष्णकी अङ्गकान्तिको ब्रह्म तथा उनके अंशांशको परमात्मा कहा गया है।

"तृतीय एवं सर्वोत्कृष्ट अक्षर पुरुषका नाम 'भगवान्' है। मैं वही भगवत्-तत्त्व हूँ। मैं क्षर-पुरुष 'जीव' से अतीत एवं अक्षर-पुरुष 'ब्रह्म' और 'परमात्मा' से उत्तम हूँ। अतएव जगत्में तथा वेदमें मुझे पुरुषोत्तम कहा जाता है। अतः यही सिद्धान्त जानना चाहिए कि पुरुष दो हैं—क्षर और अक्षर। अक्षर-पुरुषके तीन प्रकाश हैं—सामान्य प्रकाश 'ब्रह्म', उत्तम प्रकाश 'परमात्मा' और सर्वोत्तम प्रकाश 'भगवान्'।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१८।।

यो मामेवमसंमूढो जानाति पुरुषोत्तमम्।
स सर्वविद्भजति मां सर्वभावेन भारत।।१९।।

अन्वय—भारत (हे भारत!) यः (जो) एवम् (इस प्रकार) असम्मूढ़ (मोहशून्य होकर) माम् (मुझे) पुरुषोत्तमम् (पुरुषोत्तम) जानाति (जानते हैं) सः (वे) सर्ववित् (सर्वज्ञ) सर्वतोभावेन (सब प्रकारसे) माम् (मुझे) भजति (भजते हैं)।।१९।।

अनुवाद—हे भारत! जो इस प्रकार मोहशून्य होकर मुझे पुरुषोत्तम जानते हैं, वे सर्वज्ञ हैं एवं सभी प्रकारसे मुझे ही भजते हैं।।१९।।

श्रीविश्वनाथ—नन्वेतस्मिंस्त्वया व्यवस्थापितेऽप्यर्थे वादिनो विवदन्त एव, तत्र विवदन्तां ते मन्मायामोहिताः, साधुस्तु न मुह्यतीत्याह—यो मामिति। असंमूढो वादिनां वादैरप्राप्तसम्मोहः। स एव सर्ववित् अनधीतशास्त्रोऽपि स एव सर्वशास्त्रार्थतत्त्वज्ञः। तदन्यः किलाधीताध्यापितसर्वशास्त्रोऽपि संमूढः सम्यङ्मूर्ख एवेति भावः। तथा य एवं जानाति, स एव मां सर्वतोभावेन भजति, तदन्यो भजन्नपि न मां भजतीत्यर्थः।।१९।।

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि वादिगण आपके इस व्यवस्थापित अर्थमें विवाद करते हैं, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—मेरी मायासे मुग्ध वे विवाद करते हैं, किन्तु साधुगण मोहित नहीं होते हैं। 'वाद' द्वारा असंमूढ़वादियोंको मोह प्राप्त होता है। शास्त्राध्ययन न करनेपर भी वे ही सर्वविद् अर्थात् सर्वज्ञ और सभी शास्त्रोंके अर्थके जाननेवाले हैं, जो मुझे पुरुषोत्तम जानते हैं। उनके अतिरिक्त अन्यलोग सभी शास्त्रोंका अध्ययन और अध्यापनकर भी संमूढ़ अर्थात् सम्यक् मूर्ख हैं। इस प्रकार जो मुझे सर्वोत्तम जानते हैं, वे सभी प्रकारसे मुझे भजते हैं। उनके अतिरिक्त अन्य लोग भजन करनेपर भी मेरा भजन नहीं करते हैं।।१९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—योगियोंके उपास्य परमात्म-तत्त्वका निरूपणकर भगवान् श्रीकृष्ण स्वयं अपने पुरुषोत्तम-तत्त्व और उसकी महिमाका वर्णन कर रहे हैं। वे क्षर पुरुष जीवसे परे तथा अक्षर पुरुष ब्रह्म और परमात्मासे भी उत्तम होनेके कारण पुरुषोत्तम नामसे प्रसिद्ध हैं, जीवात्मा और परमात्माके भी आश्रयस्वरूप हैं। गीताके विभिन्न स्थलोंमें इसका प्रतिपादन किया गया है। उपासकके वैशिष्ट्यसे भी उपास्यका वैशिष्ट्य जाना जाता है—*'श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः'* (गीता ६/४६)—इस श्लोकमें भी समस्त प्रकारके योगियोंमें श्रद्धापूर्वक भगवत्-भजन करनेवाले भक्तियोगीको ही श्रेष्ठ बताया गया है। अतः भक्तोंके उपास्य भगवान्का ही सर्वापेक्षा अधिक वैशिष्ट्य प्रतिपादित होता है। श्रीमद्भागवत (१/३/२८) में भी कहा गया है—*'एते चांश कला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं'* अर्थात् कृष्ण ही स्वयं भगवान् हैं। श्रीभक्तिरसामृतसिन्धुमें भी तत्त्वकी दृष्टिसे श्रीनारायणस्वरूप तथा श्रीकृष्णस्वरूपको अभिन्न मानकर भी रसतत्त्वकी दृष्टिसे कृष्णस्वरूपका अधिक वैशिष्ट्य दिखाया गया है—

'सिद्धान्ततस्त्वभेदेऽपि श्रीश-कृष्णस्वरूपयोः।
रसेनोत्कृष्यते कृष्णरूपमेषा रसस्थितिः।।'

(भ. र. सि. पू. वि. २/३२)

अर्थात्, सिद्धान्ततः श्रीकृष्ण तथा श्रीनारायणमें कोई भेद नहीं रहनेपर भी रसके दृष्टिकोणसे श्रीकृष्णस्वरूपकी ही उत्कर्षता है, यही रसकी स्थिति है।।१९।।

इति गुह्यतमं शास्त्रमिदमुक्तं मयानघ।
एतद्बुद्ध्वा बुद्धिमान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत॥२०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'पुरुषोत्तमयोगो' नाम पञ्चदशोऽध्यायः।

अन्वय—अनघ भारत (हे निष्पाप भारत!) इति (इस प्रकारसे) इदम् गुह्यतमम् (गुह्यतम अर्थात् अतिरहस्यपूर्ण) शास्त्रम् (शास्त्र) मया उक्तवम् (मेरे द्वारा कहा गया) एतत् (इसको) बुद्ध्वा (जानकर) बुद्धिमान् (बुद्धिमान् लोग) कृतकृत्यः च (और भी कृतार्थ) स्यात् (होते हैं)॥२०॥

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे 'पुरुषोत्तमयोगो' नाम पञ्चदशोऽध्यायस्यान्वयः॥

अनुवाद—हे निष्पाप अर्जुन! इस प्रकार यह अतिरहस्यपूर्ण शास्त्र मेरे द्वारा कहा गया। इसे जानकर बुद्धिमान् लोग और भी कृतार्थ हो जाते हैं॥२०॥

श्रीमद्भगवद्गीताके पञ्चदश अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—अध्यायार्थमुपसंहरति—इतीति। विंशत्या श्लोकैरेभिरतिरहस्यं शास्त्रमेव सम्पूर्णं मयोक्तम्॥२०॥

जडचैतन्यवर्गाणां विवृतं कुर्वता कृतम्।
कृष्ण एव महोत्कर्ष इत्यध्यायार्थ ईरितः॥
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतास्वयं पञ्चदशः सङ्गतः सङ्गतः सताम्॥

भावानुवाद—'इति' द्वारा श्रीभगवान् अध्यायका उपसंहार कर रहे हैं। श्रीभगवान् कहते हैं—मैंने इन बीस श्लोकोंमें अतिरहस्यपूर्ण शास्त्र सम्पूर्ण रूपसे कहा॥२०॥

जड़ और चेतनसमूहके विचारके बाद इस अध्यायमें यही निर्णीत हुआ कि श्रीकृष्ण ही महोत्कर्षस्वरूप हैं।

श्रीमद्भगवद्गीताके पञ्चदश अध्यायकी साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके पञ्चदश अध्यायकी सारार्थवर्षिणी
टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ भगवान्‌ने इस विषयका उपसंहार करते हुए इस अध्यायमें वर्णित पुरुषोत्तम-योगको गुह्यतम शास्त्र बताया है। यहाँ

गुह्यतम शास्त्र कहनेका तात्पर्य यह है कि भक्तोंके अतिरिक्त इस तत्त्वका ज्ञान लाभ करनेमें दूसरे अक्षम हैं। अर्जुन भगवान्के अत्यन्त प्रिय भक्त हैं, इसलिए उन्हें ही इस परम गोपनीय तत्त्वका ज्ञान दे रहे हैं। जो लोग भक्त-कृपासे इस गोपनीय तत्त्वका ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे, उनका जीवन कृतार्थ है।

"हे अनघ! यह पुरुषोत्तमयोग ही सर्वगुह्यतम शास्त्र है। इससे अवगत होनेपर बुद्धिमान् जीव कृतकृत्य हो जाता है। हे भारत! इस योगसे अवगत होनेपर भक्तिके आश्रयगत और विषयगत समस्त कषाय दूर हो जाते हैं। भक्ति एक वृत्तिविशेष है। भक्तिकी क्रियाका सुन्दरतापूर्वक सम्पादन करनेके लिए इसके आश्रयस्थल जीवकी शुद्धता तथा विषयस्थल भगवान्का पूर्ण आविर्भाव—ये दो नितान्त आवश्यक हैं। जब तक भगवत्-तत्त्वमें ब्रह्मबुद्धि या परमात्मबुद्धि रहती है, तब तक जीव विशुद्ध-भक्ति-क्रिया नहीं प्राप्त करता है। पुरुषोत्तम बुद्धि होनेपर ही भक्ति विशुद्धभावसे परिचालित होती है।

भक्तियोगके साधनकालमें साधुसङ्ग और शुद्ध भजनके स्मरणबलसे जिन चार बृहत्-अनर्थोंकी निवृत्तिका होना आवश्यक है, उनमें संसारके प्रति आसक्तिरूप हृदयकी दुर्बलता तृतीय अनर्थ है। शुद्ध जीवने भगवान्के द्वारा प्रदत्त स्वतन्त्रताका अपव्यवहारकर मायाको भोगनेकी जो वासना की थी, वही उसका प्रथम हृदयदौर्बल्य है। बादमें संसारमें परिभ्रमण करते-करते विषयमें जो आसक्ति हुई, वही उसका द्वितीय हृदयदौर्बल्य है। इन दोनों हृदयदौर्बल्योंसे ही अन्य समस्त अनर्थोंकी उत्पत्ति हुई है। प्रथम पाँच श्लोकोंमें उक्त दौर्बल्य-नाशके लक्षण शुद्ध वैराग्यके विषयमें बताया गया है। षष्ठ श्लोकसे आरम्भकर अध्याय समाप्त होने तक भक्तिसे उत्पन्न युक्त-वैराग्यके साथ पुरुषोत्तम-तत्त्वकी आलोचनाकी व्यवस्था लक्षित होती है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२०।।

जड़ और चैतन्यका पार्थक्य एवं चैतन्य-तत्त्वका प्रकाश-भेद-विचार इस अध्यायमें लक्षित होते हैं।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके पञ्चदश
अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

पञ्चदश अध्याय समाप्त।

षोडशोऽध्यायः

श्रीभगवानुवाच—
अभयं सत्त्वसंशुद्धिर्ज्ञानयोगव्यवस्थितिः।
दानं दमश्च यज्ञश्च स्वाध्यायस्तप आर्जवम्।।१।।
अहिंसा सत्यमक्रोधस्त्यागः शान्तिरपैशुनम्।
दया भूतेष्वलोलुप्त्वं मार्दवं ह्रीरचापलम्।।२।।
तेजः क्षमा धृतिः शौचमद्रोहो नातिमानिता।
भवन्ति सम्पदं दैवीमभिजातस्य भारत।।३।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्ने कहा) भारत (हे भारत!) अभयम् (भयशून्यता) सत्त्वसंशुद्धिः (चित्तकी प्रसन्नता) ज्ञानयोगव्यवस्थितिः (ज्ञानके उपायमें निष्ठा) दानम् (दान) दमः च (बाह्य इन्द्रियोंका संयम) यज्ञः च (यज्ञ) स्वाध्यायः (वेदपाठ) तपः (ब्रह्मचर्य आदि) आर्जवम् (सरलता) अहिंसा (अहिंसा) सत्यम् (सत्यवादिता) अक्रोधः (क्रोधशून्यता) त्यागः (स्त्री-पुत्र आदिमें ममताका त्याग) शान्तिः (शान्ति) अपैशुनम् (दूसरेकी निन्दाका वर्जन) भूतेषु दया (जीवोंके प्रति दया) अलोलुप्तम् (लोभशून्यता) मार्दवम् (मृदुता) ह्रीः (लज्जा) अचापलम् (अचपलता) तेजः (तेज) क्षमा (क्षमा) धृतिः (धैर्य) शौचम् (बाह्य और अन्दरकी शुद्धि) अद्रोह (द्रोहशून्यता) नातिमानिता (अभिमानशून्यता) [एतानि—ये सभी] दैवीम् (सात्त्विकी) सम्पदम् अभिजातस्य (सम्पद्‌के साथ उत्पन्न व्यक्तिमें) भवन्ति (उदित होते हैं)।।१-३।।

अनुवाद—श्रीभगवान्ने कहा—हे भारत! अभयता, चित्तकी प्रसन्नता, ज्ञानके उपायमें निष्ठा, दान, बाह्य इन्द्रियोंका संयम, यज्ञ, स्वाध्याय, तप, सरलता, अहिंसा, सत्यवादिता, क्रोधशून्यता, स्त्री-पुत्र आदिमें ममताका त्याग, शान्ति, परनिन्दाशून्यता, दया, लोभशून्यता, मृदुता, लज्जा, अचपलता, तेज, क्षमा, धैर्य, बाह्य और अन्दरकी शुद्धि, द्रोहशून्यता, अभिमानशून्यता—ये सब गुण दैवी सम्पद्‌के साथ उत्पन्न व्यक्तिमें प्रकट होते हैं अर्थात् शुभक्षणमें जन्म होनेपर ये सब प्राप्त होते हैं।।१-३।।

श्रीविश्वनाथ— ***षोडशे सम्पदं दैवीमासुरीमप्यवर्णयत्।***
सर्गञ्च द्विविधं दैवमासुरं प्रभुरक्षरात्।।

अनन्तराध्याये *"ऊद्ध्र्वमूलमधःशाखम्"* इत्यादिना वर्णितस्य संसाराश्वत्थवृक्षस्य फलानि न वर्णितानि इत्यनुस्मृत्यास्मिन्नध्याये तस्य द्विविधानि मोचकानि बन्धकानि च फलानि वर्णयिष्यन् प्रथमं मोचकान्याह—अभयमिति त्रिभिः। त्यक्तपुत्रकलत्रादिक एकाकी निर्जने वने कथं जीविस्यामीति भयराहित्यमभयम्, सत्त्वसंशुद्धिः चित्तप्रसादः, ज्ञानयोगे ज्ञानोपाये अमानित्वादौ व्यवस्थतिः परिनिष्ठा, दानं स्वभोज्यस्यान्नादेः यथोचितं संविभागः, 'दमो' बाह्येन्द्रियसंयमः, 'यज्ञो' देवपूजा, 'स्वाध्यायः' वेदपाठः, आदीनि स्पष्टानि, 'त्यागः' पुत्रकलत्रादिषु ममता-त्यागः, अलोलुपत्वं लोभाभावः—एतानि षड्विंशतिरभयादीनि दैवीं सात्त्विकीं सम्पदमभिलक्ष्य जातस्य सात्त्विकाः सम्पदः प्राप्तिव्यञ्जके क्षणे जन्मलब्धवतः पुंसो भवन्ति।।१-३।।

भावानुवाद—सोलहवें अध्यायमें भगवान् श्रीकृष्णने दैवी और आसुरी सम्पदाका वर्णन किया है एवं साथ-साथ दैव और असुर इन दो प्रकारके सर्गों (प्रवृत्ति) का भी वर्णन किया है।

पन्द्रहवें अध्यायमें 'ऊद्ध्र्वमूलमधःशाखम्'—इन वाक्योंमें वर्णित संसाररूप अश्वत्थ वृक्षके फलके बारेमें नहीं बताया गया। इसीको स्मरणकर इस अध्यायमें उस वृक्षके दो फल—मोचक और बन्धकके बारेमें बताते हुए सर्वप्रथम तीन श्लोकोंमें मोचकरूप फलके विषयमें बता रहे हैं। पुत्र-कलत्र (स्त्री) आदिके बिना एकाकी निर्जन वनमें किस प्रकार जीवन धारण करूँगा—इस प्रकारके भयसे रहित अवस्थाको अभय कहा जाता है। चित्तकी प्रसन्नताको सत्त्व-संशुद्धि कहा जाता है। 'ज्ञानयोगे'—ज्ञानके उपाय मानशून्यता आदिमें परिनिष्ठा; 'दानं'—अपने भोग्य अन्न आदिका यथायोग्य विभागकर दूसरेको अर्पण करना; 'दमः'—बाह्य और अन्तः इन्द्रियोंका संयम; 'यज्ञ'—देवपूजा, 'स्वाध्यायः'—वेदपाठ। अन्य शब्दोंका अर्थ स्पष्ट है। 'त्यागः'—पुत्र-कलत्र आदिमें ममताका त्याग, 'अलोलुप्त्वं'—लोभका अभाव, अभय आदि—ये छब्बीस हैं। ये दैवी अर्थात् सात्त्विकी सम्पत्तिको लक्ष्यकर कहे गए हैं। सात्त्विकी सम्पत्तिसमूहकी प्राप्ति अर्थात् प्रकाशक क्षणमें जन्म ग्रहण करनेवालेको ये प्राप्त होते हैं।।१-३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्व अध्यायमें संक्षेपमें वर्णित दैवी और आसुरी गुण-प्रवृत्तियोंका इस अध्यायमें विस्तारपूर्वक वर्णन कर रहे हैं। आसुरी प्रकृतिके लोग मायाके जालमें पड़कर विभिन्न आसुरी योनियोंमें जन्म लेकर दुःख और कष्ट प्राप्त करते हैं। इसके विपरीत दैवी प्रवृत्तिवाले लोग

दैवी गुणोंसे सम्पन्न होकर दुःखपूर्ण जन्म-मरणके सागरको लाँघकर भगवद्भक्तिके द्वारा क्रमशः परमार्थके पथपर अग्रसर होते हैं तथा अन्तमें भगवान्‌के धाममें भगवान्‌के सेवासुखका रसास्वादन करते हैं। ऐसे मुक्त पुरुषोंका इस संसारमें पुनः पतन नहीं होता।

ये दैवी गुणसमूह शुभ समयमें जन्म लेनेवाले उत्तम पुरुषोंमें दैवी परिवेशमें गर्भाधान आदिसे पूर्ण, शुभगुणोंसे सम्पन्न माता-पिताके सन्तानमें ही सम्भव हैं। उक्त श्लोकगत 'अभिजातस्य' पदका यही गूढ़ तात्पर्य है। माता-पिताको कम-से-कम कुत्ते-बिल्लियोंकी भाँति सन्तान उत्पन्न नहीं करनी चाहिए। गीतामें श्रीकृष्णने स्वयं कहा है कि सुसंतान उत्पन्न करनेमें मैं मैथुन हूँ। इसलिए मैथुन-जीवन गर्हित नहीं है, किन्तु केवल इन्द्रिय-सुखभोगके लिए पशुवत् मैथुन नरकस्वरूप है।

वर्णाश्रम व्यवस्थामें संन्यासीको सामाजिक चारों वर्णों एवं आश्रमोंका प्रधान गुरु माना जाता है। ब्राह्मणको क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र—तीनों वर्णोंका गुरु माना गया है। किन्तु, यथार्थ संन्यासी ब्राह्मणके भी गुरु हैं। किन्तु उन संन्यासीमें सभी दैवी गुणोंका होना परम आवश्यक है। शुद्ध भक्तोंमें ये सभी गुण दृष्टिगोचर होते हैं। भक्ति-साधक शरणागत भक्तको निर्भय होना चाहिए। भगवान् मेरे रक्षक हैं, वे सब समय मेरे साथ हैं, सब कुछ देखते और जानते हैं, वे मेरे पालक भी हैं—साधकोंमें ऐसा दृढ़विश्वास होना चाहिए। ऐसा विश्वास होनेपर भक्त गृह या वन जहाँ कहीं भी क्यों न रहें, सम्पूर्णरूपसे निर्भय रहते हैं। प्रह्लाद महाराज, द्रौपदी, पाँचों पाण्डव, हरिदास ठाकुर आदि इसके जीते-जागते उदाहरण हैं। श्रीहरिदास ठाकुर कट्टर मुसलमानोंके कठोर शासनमें नवद्वीपके बाईस बाजारोंमें जल्लादोंकी मार खाते हुए भी निर्भय बने रहे। जल्लादोंने उन्हें मारकर गंगाजीमें प्रवाहित कर दिया, किन्तु वे पूर्ववत् स्वस्थ शरीरसे भगवती भागीरथीके प्रवाहसे निकलकर अपनी भजनकुटीमें पहुँचे। यह देखकर काजी और सभी लोग चमत्कृत हो गए। अतः भक्ति साधकोंको सर्वदा निर्भय होना चाहिए।

स त्त्व-संशुद्धिका तात्पर्य आत्म-शुद्धिसे है। भक्ति-साधकोंका चरित्र पवित्र होता है। विशेषतः घरमें स्त्री-पुत्र आदिको छोड़कर आए हुए संन्यासी-ब्रह्मचारियोंको स्त्रियोंके साथ घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रखना चाहिए। उनके लिए निर्जन स्थानमें स्त्रियोंसे हँसी-मजाक करना, बातें करना निषिद्ध

हैं। श्रीचैतन्य महाप्रभुजी इस विषयमें बड़े ही कठोर थे। वह स्त्री जातिके प्रति घृणाका भाव नहीं था, बल्कि त्यक्तगृह संन्यासी-ब्रह्मचारियोंके लिए यह प्रतिबन्धता है। पुरुषोंके लिए स्त्रियोंका तथा स्त्रियोंके लिए पुरुषोंका सङ्ग निषिद्ध है। चैतन्य महाप्रभुजीने प्रिय छोटे हरिदासको इसीलिए सदाके लिए त्याग दिया था। किसी भी वस्तुकी ओर भोग-दृष्टिसे देखना भी एक प्रकारसे स्त्रीसङ्ग है। कृष्ण ही सबके भोक्ता हैं और सभी कृष्णके भोग्य हैं। अतः अपनेको कृष्णदास मानकर साधकोंको सदा पवित्र रहना चाहिए।

तत्त्वज्ञानके अनुशीलनमें संलग्न रहना ही ज्ञानयोगमें व्यवस्थिति है। समस्त योगोंमें सङ्कीर्त्तन यज्ञको प्रधान माना गया है। हिंसाका तात्पर्य जीव हिंसासे है। तन, मन और वचनसे किसीको कष्ट नहीं देनेका नाम ही अहिंसा है। विशेषतः पशुओंकी हिंसा नहीं करनी चाहिए। किसी भी जीवके प्रगतिशील जीवनको न रोकना ही अहिंसा है। किसी भी देहधारी प्राणीका असमयमें ही वध कर देनेपर उस प्राणीको पुनः उसी योनिमें लौटकर शेष दिन पूरे करनेके बाद ही दूसरी योनिमें जाना पड़ता है। अतः अपने स्वाद या स्वार्थके लिए किसी भी प्राणीकी प्रगतिको रोकना नहीं चाहिए, यही अहिंसा है। उपरोक्त छब्बीस गुण दैवी गुण कहलाते हैं। इन गुणोंका अभ्यास करनेपर क्रमशः आत्मज्ञान-अनुभूतिके सर्वोच्च पद तक उठा जा सकता है।

"श्रीभगवान्ने कहा—अभी तुम्हारे मनमें यह संशय हो सकता है कि सभी शास्त्रोंमें सात्त्विक धर्मका आचरण करते हुए ज्ञान प्राप्त करनेकी व्यवस्था है, इसका तत्त्व क्या है? इस संशयको दूर करनेके अभिप्रायसे मैं कहता हूँ कि संसाररूप अश्वत्थ वृक्षके दो फल हैं। एक फल जीवके गाढ़-बन्धनको पूर्ण करनेवाला है और दूसरा फल संसारसे मुक्ति देनेवाला है। सत्त्व-संशुद्धि ही जीवके लिए 'अभय' है। जीव शुद्धसत्त्वमय है। बद्धदशामें उसका शुद्धसत्त्व धर्म गुणीभूत हो गया है। सत्त्व-संशुद्धिके अभिप्रायसे समस्त शास्त्रोंने ज्ञानयोगकी व्यवस्था दी है, वे सभी 'दैवी सम्पद' हैं। जिन कार्योंसे जीवके सत्त्व-संशुद्धिका व्याघात होता है, वे सभी 'आसुरी-सम्पद' हैं। अभय, स त्त्व-शुद्धि, ज्ञानयोग, दान, दम, यज्ञ, तप, सरलता, वेदपाठ, अहिंसा, सत्य, अक्रोध, त्याग, शान्ति, परनिन्दावर्जन, दया, अलोलुपता, मृदुता, ह्रीं (लज्जा), अचपलता, तेज, क्षमा, घृति, शौच, अद्रोह, अभिमानशून्यता—इन छब्बीस गुणोंको 'दैवी-सम्पद्' कहा जाता

है। शुद्धक्षणमें जन्म होनेपर ये सम्पद् प्राप्त होते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१-३।।

दम्भो दर्पोऽभिमानश्च क्रोधः पारुष्यमेव च।
अज्ञानं चाभिजातस्य पार्थ सम्पदमासुरीम्।।४।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) दम्भः (ख्यातिके लिए धर्मानुष्ठान) दर्पः (धन-विद्या आदिके कारण अहङ्कार) अभिमानः (दूसरेके निकट पूजाकी आकांक्षा) क्रोधः (क्रोध) पारुष्यम् एव च (निष्ठुरता) अज्ञानम् च (एवं अविवेकता) [ये सब] आसुरीम् (आसुरी) सम्पदम् अभिजातस्य (सम्पद्के अभिमुख उत्पन्न व्यक्तिको) [भवन्ति—होते हैं]।।४।।

अनुवाद—हे पार्थ! दम्भ, दर्प, अभिमान, क्रोध, निष्ठुरता और अविवेक आसुरी सम्पदके अभिमुख उत्पन्न व्यक्तिमें होते हैं अर्थात् असत्-जात व्यक्तिको ये आसुरी सम्पद् प्राप्त होते हैं।।४।।

श्रीविश्वनाथ—बन्धकानि फलान्याह—'दम्भः' स्वस्याधार्मिकत्वेऽपि धार्मिकत्वप्रख्यापनम्, 'दर्पो' धनविद्यादिहेतुको 'गर्वोऽभिमानो'ऽन्यकृतसम्माननाकाङ्क्षित्वं कलत्रपुत्रादिष्वासक्तिर्वा, 'क्रोधः' प्रसिद्धः, 'पारुष्यं' निष्ठुरता, अज्ञानमविवेकः, आसुरीमित्युपलक्षणं राक्षसीमपि सम्पदमभिजातस्य राजस्यास्तामस्याश्च सम्पदः प्राप्तिसूचकक्षणे जन्म लब्धवतः पुंसः एतानि दम्भादीनि भवन्तीत्यर्थः।।४।।

भावानुवाद—अब श्रीभगवान् संसारमें बाँधनेवाले फलोंका वर्णन कर रहे हैं—अधार्मिक होनेपर भी अपनेको धार्मिकके रूपमें स्थापित करना 'दम्भ' है। धन विद्या आदिके गर्वको 'दर्प' कहते हैं। दूसरेसे सम्मान पानेकी अभिलाषा अथवा पुत्र-कलत्र आदिमें आसक्तिको अभिमान कहते हैं। क्रोधका अर्थ स्पष्ट है। 'पारुष्यं'—निष्ठुरता, 'अज्ञानम्'—अविवेक। आसुरी सम्पद् राक्षसी सम्पद्का भी उपलक्षण है अर्थात् आसुरी सम्पद् थोड़ी दूरीसे राक्षसी सम्पद्को लक्ष्य करती है। इस प्रकार राजस और तामस सम्पद्-समूहको प्राप्त करनेवाले क्षणमें उत्पन्न व्यक्तिमें 'दम्भ' इत्यादि उदित होते हैं।।४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जिनका जन्म अत्यन्त अशुभ मुहूर्तमें होता है अर्थात् जिनके शुभ संस्कार नहीं होते, वे आसुरी स्वभाववाले लोग धर्म और आत्मविद्याका ढोंग दिखाकर भोले-भाले लोगोंको ठगकर कनक, कामिनी और प्रतिष्ठाके संग्रहमें ही जीवनकी इति कर्त्तव्यता समझते हैं। भले ही वे उन सिद्धान्तोंका पालन नहीं करते हैं, फिर भी उनको बड़ा ही अभिमान रहता है। छोटी-छोटी बातोंपर ही क्रुद्ध हो पड़ते हैं। नम्रताकी

तो उनमें गन्ध भी नहीं होती। वे बड़े निष्ठुर और विवेकरहित होते हैं। ये सभी आसुरी गुण हैं। इनसे बचनेकी चेष्टा करनी चाहिए।।४।।

दैवी सम्पद्विमोक्षाय निबन्धायासुरी मता।
मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि पाण्डव।।५।।

अन्वय—दैवी सम्पद् (दैवी सम्पद्) मोक्षाय (मोक्षका कारण) आसुरी [सम्पद्] (आसुरी सम्पद्) निबन्धाय (बन्धनका कारण) मता (कहा जाता है) पाण्डव (हे पाण्डव!) मा शुचः (शोक मत करो) [त्वम्—तुम] दैवीम् सम्पदम् (दैवी सम्पद्को) अभि (लक्ष्यकर) जातः असि (उत्पन्न हुए हो)।।५।।

अनुवाद—दैवी सम्पद्को मोक्षका कारण तथा आसुरी सम्पद्को बन्धनका कारण कहा जाता है। हे पाण्डव! तुम शोक मत करो, क्योंकि तुम दैवी सम्पद्को लक्ष्यकर उत्पन्न हुए हो।।५।।

श्रीविश्वनाथ—एतयोः सम्पदोः कार्यं दर्शयति—दैवीति। हन्त हन्त शरप्रहारैर्बन्धून् जिघांसोः पारुष्यक्रोधादिमतो ममैवेयमासुरीसम्पत् संसारबन्धप्रापिका दृश्यते इति खिद्यन्तमर्जुनमाश्वासयति—मा शुच इति। पाण्डवेति तव क्षत्रियकुलोत्पन्नस्य संग्रामे पारुष्यक्रोधाद्याः धर्मशास्त्रे विहिता एव, तदन्यत्रैव ते हिंसाद्या आसुरी सम्पदिति भावः।।५।।

भावानुवाद—अब श्रीभगवान् दोनों प्रकारके सम्पदोंके कार्यको दिखा रहे हैं। यदि अर्जुन यह चिन्ता करे कि हाय! हाय! वाणोंके प्रहारसे अपने बन्धुओंकी हत्या करनेकी इच्छा करनेवाले मुझमें निष्ठुरता और क्रोध आदि आसुरी सम्पदोंको देख जा रहा है, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् आश्वासन देते हुए अर्जुनसे कह रहे हैं—'मा शुचः' इत्यादि। तुम क्षत्रिय कुलमें उत्पन्न हुए हो, अतः युद्धमें निष्ठुरता, क्रोध आदिका रहना धर्मशास्त्रके द्वारा ही विदित है। इसके अतिरिक्त अन्य स्थानोंमें हिंसा आदिका रहना आसुरी सम्पद् है।।५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"दैवी सम्पद् द्वारा ही मोक्ष-चेष्टा सम्भव है और आसुरी सम्पद् द्वारा ही बन्धन होता है। हे अर्जुन! वर्णाश्रम धर्मका आचरण करते हुए ज्ञानयोग द्वारा सत्त्व-संशुद्धि होती है। तुम्हें क्षत्रिय वर्णके द्वारा दैवी सम्पद् प्राप्त हुआ है। धर्मयुद्धमें स्वजनका नाश और बाणोंका बौछार इत्यादि कार्य शास्त्रानुसार करनेसे वे आसुरी

सम्पद्में परिगणित नहीं होते हैं। अतएव इस उपदेशको श्रवणकर तुम अपने शोकका परित्याग करो।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।५।।

द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।
दैवो विस्तरशः प्रोक्त आसुरं पार्थ मे शृणु।।६।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) अस्मिन् लोके (इस संसारमें) द्वौ भूतसर्गौ (दो प्रकारकी भूतसृष्टि है) दैवः (दैवी प्रकृति) आसुरः एव च (और आसुरी प्रकृति) दैवः (दैवी प्रकृतिके विषयमें) विस्तरशः (विस्तारसे) प्रोक्तः (कहा गया है) मे (मेरे निकट) आसुरः (आसुरी प्रकृतिके बारेमें) शृणु (सुनो)।।६।।

अनुवाद—हे पार्थ! इस संसारमें दो प्रकारकी भूतसृष्टि है—दैवी और आसुरी। दैवी प्रकृतिके विषयमें विस्तारसे कहा गया है। अभी मेरे निकट आसुरी प्रकृतिके विषयमें सुनो।।६।।

श्रीविश्वनाथ—तदपि विषण्णमर्जुनं प्रति आसुरीसम्पदं प्रपञ्चयितुमाह—द्वाविति। विस्तरशः प्रोक्त इति अभयं सत्त्वसंशुद्धिरित्यादि।।६।।

भावानुवाद—तब भी श्रीभगवान्! विषण्ण अर्जुनके प्रति आसुरी सम्पद्का वर्णन विस्तृत भावसे कर रहे हैं। 'अभयं सत्त्व-संशुद्धि' इत्यादि श्लोकोंमें दैवी सम्पद् विस्तृत रूपसे कहा गया है।।६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान् श्रीकृष्णने आसुरी गुणोंका विस्तारपूर्वक जो वर्णन किया है, उसका तात्पर्य इन दुर्गुणोंको जानकर सर्वतोभावेन उनका वर्जन करना है। पद्मपुराणमें देखा जाता है—

'द्वौ भूतसर्गौ लोकेस्मिन् दैव आसुर एव च।
विष्णुभक्तः स्मृतो दैव आसुरस्तद्विपर्ययः।।'

अर्थात्, भगवान्का भजन करनेवाले भक्तोंको देवता कहा गया है तथा इसके विपरीत भक्त-भगवत्-विद्वेषियोंको असुर कहा गया है। जो लोग शास्त्रोंके उपदेशानुसार सांसारिक राग-द्वेषसे मुक्त होकर भक्तिका अनुष्ठान करते हैं, उन्हें देवता समझना चाहिए और जो लोग शास्त्रोंका उल्लंघनकर प्राकृत राग-द्वेषके अधीन होकर अधर्मका आचरण करते हैं, वे असुर हैं।।६।।

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च जना न विदुरासुराः।
न शौचं नापि चाचारो न सत्यं तेषु विद्यते।।७।।

अन्वय—आसुराः जनाः (असुर लोग) प्रवृत्तिम् (धर्ममें प्रवृत्ति) निवृत्तिम्

च (और अधर्मसे निवृत्ति) न विदुः (नहीं जानते हैं) तेषु (उनमें) शौचम् न (शौच नहीं) आचारः न अपि (आचार भी नहीं) सत्यम् न च (और सत्य भी नहीं) विद्यते (होता है)।।७।।

अनुवाद—असुर लोग धर्ममें प्रवृत्ति और अधर्मसे निवृत्ति नहीं जानते हैं। उनमें शौच, आचार तथा सत्य नहीं होता है।।७।।

श्रीविश्वनाथ—धर्मे प्रवृत्तिम्, अधर्मान्निवृत्तिम्।।७।।

भावानुवाद—'प्रवृत्ति' का अर्थ है—धर्ममें प्रवृत्ति और निवृत्तिका अर्थ है—अधर्मसे निवृत्ति।।७।।

असत्यमप्रतिष्ठं ते जगदाहुरनीश्वरम्।
अपरस्परसम्भूतं किमन्यत् कामहेतुकम्।।८।।

अन्वय—ते (वे लोग) जगत् (जगत्को) असत्यम् (मिथ्या) अप्रतिष्ठम् (निराश्रय) अनीश्वरम् (ईश्वरशून्य) अपरस्पर सम्भूतम् (एक दूसरेके संसर्गसे उत्पन्न अथवा अपने-आप उत्पन्न) अन्यत् किम् (और क्या) कामहेतुकम् (केवल काममूलक) आहुः (कहते हैं)।।८।।

अनुवाद—वे लोग जगत्को मिथ्या, आश्रयहीन, ईश्वरशून्य, एक दूसरेके संसर्गसे अथवा स्वतः उत्पन्न कहते हैं। इतना ही नहीं वे इसे केवल काममूलक कहते हैं।।८।।

श्रीविश्वनाथ—असुराणां मतमाह—असत्यं मिथ्याभूतं। भ्रमोपलब्धमेव, जगत्ते वदन्ति। 'अप्रतिष्ठं' प्रतिष्ठा आश्रयस्तद्रहितम्—न हि खपुष्पस्य किञ्चदधिष्ठानमस्तीति भावः। अनीश्वरं मिथ्याभूतत्वादेवेश्वरकर्त्तृकमेतन्न भवति। स्वेदजादीनामकस्मादेव जातत्वात् अपरस्परसम्भूतमन्यत् किं वक्तव्यम्? कामहेतुकं—कामो वादिनामिच्छैव हेतुर्यस्य तत्। मिथ्याभूतत्वादेव ये यथा कल्पयितुं शक्नुवन्ति, तथैवैतदिति। केचित् पुनरेवं व्याचक्ष्यते—'असत्यं' नास्ति सत्यं वेदपुराणादिकं प्रमाणं यत्र तत्, तदुक्तं—*"त्रयो वेदस्य कर्त्तारो मुनिभण्डनिशाचराः"* इत्यादि, 'अप्रतिष्ठं' नास्ति धर्माधर्मरूपा प्रतिष्ठा व्यवस्था यत्र तत् धर्माधर्मावपि भ्रमोपलब्धाविति भावः। 'अनीश्वरम्' ईश्वरोऽपि भ्रमेणैवोपलभ्यते इति भावः। ननु स्त्रीपुंसयोः परस्पर प्रयत्नविशेषात् जगदिदम् उत्पन्नं दृश्यते, तत्र नैतदपीत्याह—अपरस्परसम्भूतमिति। मातापितृभ्यां बालक उत्पद्यत इत्यपि भ्रम एव कुलालस्य घटोत्पादने ज्ञानमिव मातापित्रोस्त्वादृश-बालोत्पादने किल नास्ति ज्ञानमिति भावः। 'किमन्यत्' अन्यत् किं

वक्तव्यमिति भावः। तस्मादिदं जगत् 'कामहेतुकं' कामेन स्वेच्छयैव हेतुका हेतुकल्पका यत्र तत्, युक्तिबलेन ये यत् परमाणुमायेश्वरादिकं जल्पयितुं शक्नुवन्ति, ते तदेव तस्य हेतुं वदन्तीत्यर्थः।।८।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् असुरोंका मत बता रहे हैं—ये लोग जगत्को 'असत्यम्'—मिथ्याभूत भ्रमसे उत्पन्न बताते हैं। जिसका कोई आश्रय नहीं है, उसे 'अप्रतिष्ठ' कहते हैं। वे कहते हैं—जिस प्रकार आकाशकुसुमका कोई आश्रय नहीं है, उसी प्रकार जगत्का भी कोई आश्रय नहीं है। 'अनीश्वरम्'—मिथ्याभूत होनेसे यह ईश्वर द्वारा रचित नहीं है, अपितु स्वेदज आदिके समान अकस्मात् उत्पन्न होनेवाला या परस्पर संसर्गके बिना उत्पन्न होनेवाला है। इतना ही नहीं, वे कहते हैं कि काम अर्थात् वादियोंकी इच्छा ही इसका कारण है। मिथ्याभूत कहनेसे यह सिद्ध होता है कि लोग अपनी अपनी कल्पनाके द्वारा मनगढ़ंत व्याख्या करते हैं। पुनः कोई यह कहते हैं कि वेद, पुराण आदिमें जो प्रमाण हैं, वे असत्य हैं। वे कहते हैं—*'त्रयो वेदस्य कर्त्तारो मुनिभण्ड निशाचराः'* अर्थात् मुनि, भण्ड और निशाचर वेदको बनानेवाले हैं। 'अप्रतिष्ठम्'—इसमें धर्म-अधर्मकी कोई प्रतिष्ठा अर्थात् व्यवस्था नहीं है। धर्म-अधर्म भ्रमसे प्राप्त हुए हैं। 'अनीश्वरम्'—ईश्वर भी भ्रम द्वारा ही कल्पित हुए हैं। यदि कहो कि यह जगत् स्त्री-पुरुषके परस्पर प्रयत्नसे उत्पन्न दीखता है, तो इसके उत्तरमें वे कहते हैं—'अपरस्पर सम्भूतम्' अर्थात् इसमें वैसा प्रयत्न नहीं है। माता-पितासे भी बालककी जो उत्पत्ति दीख पड़ती है, वह भी भ्रम ही है। जब कोई कुम्भकार मिट्टीसे घड़ा बनाता है, तब उसे तो यह ज्ञान रहता है कि मैं क्या बना रहा हूँ, किन्तु सन्तानके उत्पादनमें माता-पिताको यह ज्ञान नहीं रहता है, अतः सन्तान-उत्पत्तिमें जो प्रक्रिया देखी जाती है, वह भी भ्रम ही है। हे अर्जुन! इससे अधिक और क्या कहा जाय, वे कहते हैं—काम स्वेच्छा ही जगत्का हेतु है। युक्ति द्वारा वे परमाणु, माया, ईश्वर आदि जो कुछ जल्पना कर सकते हैं, उसे ही जगत्का हेतु बताते हैं।।८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—प्रस्तुत श्लोकमें श्रीभगवान् असुर स्वभावविशिष्ट मनुष्योंके सिद्धान्त या मतका वर्णन कर रहे हैं। इस श्लोकमें श्रीबलदेव विद्याभूषणकी टीकाका सार इस प्रकार है—

"(१) मायावादियोंके विचारसे जगत् असत्य, अप्रतिष्ठित और अनीश्वर है। यह जगत् असत्य अर्थात् रज्जुमें सर्पकी भाँति भ्रान्तिमात्र है, अप्रितिष्ठत अर्थात् आकाश-कुसुमकी भाँति निराश्रय है और अनीश्वर अर्थात् जिसके जन्म आदि कारणका कोई ईश्वर नहीं है।

(२) स्वभाववादी बौद्धोंके विचारसे जगत् अपरस्पर सम्भूत है; स्त्री-पुरुषके सम्भोगसे उत्पन्न नहीं है। वह स्वभावसे ही उत्पन्न होता है।

(३) चार्वाकके विचारसे यह जगत् 'कामहेतुकम्' अर्थात् स्त्री-पुरुषके कामरूप प्रवाहसे ही उत्पन्न है।

(४) जैनियोंके मतसे काम अर्थात् स्वेच्छा ही इस जगत्का हेतु है।

वेदादि प्रामाणिक शास्त्रोंको अस्वीकारकर अपने अपने कपोलकल्पित युक्तियोंके आधारपर ये लोग जगत्का कारण निश्चित करनेकी व्यर्थ चेष्टा करते हैं।"

श्रीकृष्णने *'मयाध्यक्षेण प्रकृति सूयते स चराचरम्'*—गीता (९/१०) के इस कथनके द्वारा यह स्पष्ट रूपसे बताया है कि चर-अचर यह सारा भौतिक जगत् मेरी ही अध्यक्षतामें प्रकृति द्वारा सृष्ट है। सत्यसङ्कल्प भगवान्की इच्छासे प्रकटित यह जगत् भी सत्य है, किन्तु परिवर्त्तनशील और नश्वर है। असुरोंमें शुद्ध और पूर्ण विवेक नहीं रहनेके कारण वे तरह-तरहके अस्थिर, नास्तिक्यपूर्ण सिद्धान्तोंकी कल्पना करते हैं।

"आसुरी स्वभाववाले लोग ही इस जगत्को 'असत्य', 'आश्रयहीन' और 'अनीश्वर' कहते हैं। उनका सिद्धान्त यह है कि 'कार्य-कारण' का परस्पर सम्बन्ध विश्वकी सृष्टिका कारण नहीं है अर्थात् कारणशून्य कार्य होनेपर ईश्वरकी कोई प्रयोजनीयता नहीं है। कोई कहते हैं कि ईश्वर हैं, किन्तु उन्होंने कामपरवश होकर सृष्टि की है, अतः वे हमारी उपासनाके योग्य नहीं हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।८।।

एतां दृष्टिमवष्टभ्य नष्टात्मानोऽल्पबुद्धयः।
प्रभवन्त्युग्रकर्माणः क्षयाय जगतोऽहिताः।।९।।

अन्वय—एताम् (इस आसुर) [व्यासदेव रचित श्रीमद्भागवतरूप भाष्य-सहित वेदान्तदर्शनसे भिन्न मायावाद आदि] दृष्टिम् (दर्शन अथवा सिद्धान्तका) अवष्टभ्य (आश्रयकर) नष्टात्मानः (आत्मतत्त्वहीन) अल्पबुद्धयः (देहात्माभिमानी) उग्रकर्माणः (हिंसा आदि कर्मपरायण) अहिताः (अहितकारी असुरगण) जगतः (जगत्के) क्षयाय (ध्वंसके लिए) प्रभवन्ति (जन्म लेते हैं)।।९।।

अनुवाद—इस आसुर दर्शन अथवा सिद्धान्तका आश्रयकर आत्मतत्त्वहीन, देहात्माभिमानी, हिंसादि कर्मपरायण असुरगण जगत्के ध्वंसके लिए जन्म लेते हैं।।९।।

श्रीविश्वनाथ—एवं वादिनोऽसुराः केचिन्नष्टात्मानः केचिदल्पज्ञानाः केचिदुग्रकर्माणः स्वच्छन्दाचारा महानारकिनो भवन्तीत्याह–एतामित्येकादशभिः। अवष्टभ्यालम्ब्य।।९।।

भावानुवाद—इस प्रकार असुरगण कोई कोई नष्टात्मा, कोई कोई अल्पज्ञानवाले, कोई कोई उग्र कर्मकरनेवाला स्वेच्छाचारी महानारकी होता है। इसीलिए 'एताम्' इत्यादि ग्यारह श्लोकोंको कह रहे हैं। 'अवष्टभ्य' का तात्पर्य है—आश्रयकर।।९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—आत्मज्ञान रहित आसुरी श्रेणीके लोग मानव सभ्यताके विकासके नामपर नाना प्रकारके नए-नए आविष्कार करते हैं। कम-से-कम समयमें अधिक-से-अधिक प्राणियोंका वध करनेके लिए आयुधों और यन्त्रोंका आविष्कार हो रहा है, जिनके द्वारा दूर-दूरके महाद्वीपोंके लोगोंका संहार किया जा सके। ऐसे आविष्कारोंके ऊपर उन्हें गर्व है। इन अस्त्रोंके कारण किसी भी क्षण संसारका विनाश हो सकता है। ईश्वर और वेदोंमें विश्वास न होनेके कारण ही आसुर समाज संसारको ध्वंस करनेका कार्य कर रहा है, संसारकी शन्ति तथा सुखके लिए नहीं।।९।।

काममाश्रित्य दुष्पूरं दम्भमानमदान्विताः।
मोहाद्गृहीत्वाऽसद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्तेऽशुचिव्रताः।।१०।।

अन्वय—[ते—वे लोग] दुष्पूरम् (कभी पूर्ण न होनेवाली) कामम् (वासनाका) आश्रित्य (आश्रयकर) दम्भमानमदान्विताः (दम्भ, मान और मदयुक्त होकर) मोहात् (मोहवश) असद्ग्राहान् (असत् विषयमें आग्रह) गृहीत्वा (ग्रहणकर) अशुचिव्रताः (भ्रष्ट आचरणोंको लेकर) प्रवर्त्तन्ते (क्षुद्र देवताओंकी आराधनामें प्रवृत्त होते हैं)।।१०।।

अनुवाद—वे लोग कभी न पूर्ण होनेवाली वासनाओंका आश्रयकर दम्भ, मान और मदयुक्त होकर मोहवश असत्-विषयोंमें आग्रहयुक्त होकर तथा भ्रष्ट आचरणोंको लेकर क्षुद्र देवताओंकी आराधनामें प्रवृत्त होते हैं।।१०।।

श्रीविश्वनाथ—असद्ग्राहान् प्रवर्त्तन्ते कुमते एव प्रवृत्ता भवन्ति। अशुचीनि शौचाचारवर्जितानि व्रताानि येषां ते।।१०।।

भावानुवाद—'असद् ग्राहान् प्रवर्त्तन्ते'—कुमतमें प्रवृत्त होते हैं। 'अशुचिव्रताः'—जिसने शौच (अच्छा) आचारको छोड़कर गर्हित व्रतोंको ग्रहण किया है।।१०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—ईश्वर और वेदोंके सिद्धान्तोंको नहीं माननेवाले आसुर स्वभाववाले लोग धनसंग्रह तथा उसके द्वारा कामके उपभोगमें ही मनुष्य जीवनको कृतकृत्य समझते हैं। इसके लिए वे झूठी प्रतिष्ठा और वृथा अहङ्कारके मदमें चूर होकर मद्य, मांस, अवैध स्त्रीसङ्ग तथा द्यूतक्रीड़ा आदि अपवित्र कार्योंमें आसक्त रहते हैं तथा वैदिक सिद्धान्तोंका उपहास करते हैं। आधुनिक निरीश्वर समाज ऐसे लोगोंकी ही प्रशंसा करता है। ये लोग समाजको ध्वंसताके कगारपर बैठाकर भी अपनेको बुद्धिमानहोनेका अभिमान करते हैं।।१०।।

चिन्तामपरिमेयाञ्च प्रलयान्तामुपाश्रिताः।
कामोपभोगपरमा एतावदिति निश्चिताः।।११।।
आशापाशशतैर्बद्धाः कामक्रोधपरायणाः।
ईहन्ते कामभोगार्थमन्यायेनार्थसञ्चयान्।।१२।।

अन्वय—प्रलयान्ताम् (मृत्यु तक) अपरिमेयाम् च (और अपरिमेय) चिन्ताम् (चिन्ताका) उपाश्रिताः (आश्रयकर) कामोपभोगपरमा (कामका उपभोग ही चरम कार्य है) एतावत् इति (इस प्रकार) निश्चिताः (निश्चयकर) आशापाशशतैः (सैकड़ों आशाओंके द्वारा) बद्धः (बद्ध होकर) काम-क्रोधपरायणाः (काम-क्रोध द्वारा आविष्ट वे व्यक्तिगण) कामभोगार्थम् (कामभोगके लिए) अन्यायेन (अन्यायपूर्वक) अर्थसञ्चयान् (अर्थसंग्रहकी) ईहन्ते (चेष्टा करते हैं)।।११-१२।।

अनुवाद—मृत्युपर्यन्त असीम चिन्ताका आश्रयकर, 'कामका उपभोग ही चरम कार्य है'—इस प्रकार निश्चयकर सैकड़ों आशाओंमें आबद्ध, काम और क्रोधपरायण वे व्यक्तिगण कामभोगके लिए अन्यायपूर्वक अर्थसंग्रहकी चेष्टा करते हैं।।११-१२।।

श्रीविश्वनाथ—प्रलयान्तां प्रलयो मरणं तत्पर्यन्ताम्। एतावदितीन्द्रियाणि विषयसुखे मज्जन्तु नाम, का चिन्तेत्येतावदेव शास्त्रार्थतात्पर्यमिति निश्चितं येषां ते।।११-१२।।

भावानुवाद—'प्रलयन्ताम्'—मरने तक। 'एतावदिति'—जिन्होंने शास्त्रका तात्पर्य यह निश्चित किया है कि इन्द्रियाँ विषय-सुखमें डूबी रहें, चिन्ता किस बात की?।।११-१२।।

इदमद्य मया लब्धमिदं प्राप्स्ये मनोरथम्।
इदमस्तीदमपि मे भविष्यति पुनर्धनम्।।१३।।

अन्वय—अद्य (आज) मया (मेरे द्वारा) इदम् (यह) लब्धम् (प्राप्त हुआ है) इदम् (यह) मनोरथम् (मनोरथ) प्राप्स्ये (पाऊँगा) इदम् (यह) अस्ति (है) पुनः (पुनः) इदमपि धनम् (यह धन भी) मे (मेरा) भविष्यति (होगा)।।१३।।

अनुवाद—वे ऐसा सोचते हैं—आज मैंने यह प्राप्त किया, यह मनोरथ पूर्ण करूँगा, यह मेरा है, पुनः यह धन भी मेरा होगा।।१३।।

असौ मया हतः शत्रुर्हनिष्ये चापरानपि।
ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं बलवान् सुखी।।१४।।

अन्वय—मया (मेरे द्वारा) असौ शत्रु (ये शत्रु) हतः (हत हुए हैं) च (और) अपरान् अपि (अन्यान्य शत्रुओंका भी) हनिष्य (विनाश करूँगा) अहम् (मैं) ईश्वरः (ईश्वर) भोगी (भोक्ता) अहम् (मैं) सिद्धः (सिद्ध) बलवान् (बलवान) सुखी (और सुखी हूँ)।।१४।।

अनुवाद—मेरे द्वारा ये शत्रुगण मारे गए हैं और अन्यको भी मारूँगा। मैं ईश्वर, भोक्ता, सिद्ध, बलवान और सुखी हूँ।।१४।।

आढ्योऽभिजनवानस्मि कोऽन्योऽस्ति सदृशो मया।
यक्ष्ये दास्यामि मोदिष्य इत्यज्ञानविमोहिताः।।१५।।

अन्वय—[अहम—मैं] आढ्यः (धनी) अभिजनवान् (कुलीन) अस्मि (हूँ) मया सदृशः (मेरे समान) अन्यः कः अस्ति (और कौन है) [मैं] यक्ष्ये (त्याग करूँगा) दास्यामि (दान करूँगा) मोदिस्य (आनन्द प्राप्त करूँगा) इति (इस प्रकार) अज्ञानविमोहिताः (अज्ञान द्वारा विमूढ़) [होकर कहते हैं]।।१५।।

अनुवाद—मैं धनी और कुलीन हूँ; मेरे समान और कौन है; मैं यज्ञ करूँगा, दान करूँगा और आनन्द प्राप्त करूँगा—वे अज्ञान द्वारा विमोहित होकर इस प्रकार कहते हैं।।१५।।

अनेकचित्तविभ्रान्ता मोहजालसमावृताः।
प्रसक्ताः कामभोगेषु पतन्ति नरकेऽशुचौ।।१६।।

अन्वय—अनेकचित्तविभ्रान्ताः (विभिन्न मनोरथों द्वारा विक्षिप्त) मोहजाल समावृताः (मोहजालसे आवृत होकर) कामभोगेषु (विषय-भोगोंमें) प्रसक्ताः

(अत्यन्त आसक्त वे व्यक्तिगण) अशुचौ (अपवित्र) नरके (नरकमें) पतन्ति (पतित होते हैं)।।१६।।

अनुवाद—नाना मनोरथों द्वारा विक्षिप्त, मोहजालसे आवृत तथा विषयभोगोंमें अत्यन्त आसक्त वे व्यक्तिगण अपवित्र नरकमें पतित होते हैं।।१६।।

श्रीविश्वनाथ—अशुचौ नरके वैतरण्यादौ।।१६।।

भावानुवाद—'अशुचौ नरके'—वैतरणी आदि नरकमें।।१६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—आसुरिक व्यक्ति नाना प्रकारकी वृथा चिन्ताओंसे उद्विग्न होकर तथा मोहजालमें बँधकर भी अपनेको ईश्वर मानता है। वह स्वयं उपदेशक बनकर अपने अनुयायियोंको उपदेश देता है—"तुम स्वयं ईश्वर हो, जो चाहो कर सकते हो; मूर्ख व्यक्ति ही ईश्वरपर विश्वास करता है, ईश्वर नामकी कोई दूसरी वस्तु नहीं है।" वे लोग एक विशेष विमान बनानेकी कल्पना करते हैं, जिससे वे किसी भी उच्च लोक तक पहुँच जाएँगे। वे वैदिक यज्ञों, अनुष्ठानों एवं भक्ति-साधनमें विश्वास नहीं करते। ऐसे असुरोंमें रावण एक प्रधान असुर था। उसने एक ऐसी सीढ़ी बनानेकी योजना प्रस्तुत की थी कि एक साधारण व्यक्ति भी वैदिक यज्ञोंको सम्पन्न किए बिना ही उस सीढ़ी का अवलम्बनकर स्वर्गलोकमें जा सके। किन्तु, वह दूसरे दिन ही श्रीरामचन्द्रजीके हाथों मारा गया। उसकी कल्पना चकनाचूर हो गई। आजकल आसुरी प्रकृतिके लोग यान्त्रिक विधिसे उच्चतर लोकोंमें पहुँचनेका प्रयास कर रहे हैं। वे यह नहीं जानते कि वे विनाशके पथपर अग्रसर हो रहे हैं। यहाँ 'मोहजाल समावृता' का तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार मछली जिह्वाकी उत्कट लालसासे जालमें फँसकर अपना जान गँवा देती है, उसी प्रकार आसुरी प्रकृतिके लोग भी मोहजालमें फँसकर उससे किसी भी प्रकार निकल नहीं पाते और विनष्ट हो जाते हैं।।१६।।

आत्मसम्भाविताः स्तब्धा धनमानमदान्विताः।
यजन्ते नामयज्ञैस्ते दम्भेनाविधिपूर्वकम्।।१७।।

अन्वय—आत्मसम्भाविताः (स्वयं गर्वित) स्तब्धाः (नम्रतारहित) धनमानमदान्विताः (धनके कारण मान और मदयुक्त) ते (वे असुरगण) दम्भेन (दम्भपूर्वक) नामयज्ञैः (नाममात्र यज्ञ द्वारा) अविधिपूर्वकम् (अविधिपूर्वक) यजन्ते (यज्ञ करते हैं)।।१७।।

अनुवाद—स्वयं गर्वित, अनम्र, धनके कारण मान और मदसे युक्त वे असुरगण दम्भपूर्वक नाममात्र यज्ञ द्वारा अविधिपूर्वक यज्ञ करते हैं।।१७।।

श्रीविश्वनाथ—आत्मनैव सम्भाविताः पूज्यतां नीताः, न तु साधुभिः कैश्चिदित्यर्थः। अतएव स्तब्धा अनम्राः। नाममात्रेणैव ये यज्ञास्ते नामयज्ञास्तैः।।१७।।

भावानुवाद—'आत्मसम्भाविताः'—वे स्वयं ही स्वयंको पूज्य समझते हैं, किन्तु कोई भी साधु उसे सम्मान नहीं देते, अतएव वे 'स्तब्धाः' अर्थात् अनम्र, अविनीत हैं। 'नामयज्ञैः'—नाममात्रके जो यज्ञ हैं, वे उनसे यजन करते हैं।।१७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—दैव एवं आसुरिक स्वभाववाले व्यक्तियोंके लक्षण तथा कर्मोंके बारेमें अवगत होकर अर्जुनने कृष्णसे यह पूछा कि जो लोग शास्त्रीय विधि-निषेधोंका पालन न कर स्वेच्छाचारी होकर अपनी अपनी कल्पनाके अनुसार कल्पित देवताओंकी उपासना करते हैं, उनकी उपासना किस श्रेणीमें आती है। आजकल अधिकांश लोग शास्त्रीय विधियोंका उल्लंघनकर मनमानेरूपसे देवी-देवताओं-मनुष्योंकी पूजा करते हैं। इस विषयमें हमें कृष्णका उपदेश श्रवण करना आवश्यक है।।१७।।

अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधञ्च संश्रिताः।
मामात्मपरदेहेषु प्रद्विषन्तोऽभ्यसूयकाः।।१८।।

अन्वय—[ते—वे] अहङ्कारम् (अहङ्कार) बलम् (बल) दर्पम् (दर्प) कामम् (काम) क्रोधम् च (और क्रोधका) संश्रिताः (आश्रय लेकर) आत्मपरदेहेषु (परमात्मपरायण साधुओंके देहमें अवस्थित) माम् (मुझसे) प्रद्विषन्तः (द्वेषकर) अभ्यसूयकाः (साधुओंके गुणोंमें दोषारोपण करते हैं)।।१८।।

अनुवाद—वे अहङ्कार, बल, दर्प, काम और क्रोधका आश्रयकर परमात्म-परायण साधुओंके देहमें अवस्थित मुझसे द्वेषकर साधुओंके गुणोंमें दोषोंका आरोप करते हैं।।१८।।

श्रीविश्वनाथ—मां परमात्मानममानयन्त एव प्रद्विषन्तः, यद्वा आत्मपराः परमात्मपरायणाः साधवस्तेषां देहेषु स्थितं मां प्रद्विषन्तः साधुदेहद्वेषादेव मद्द्वेष इति भावः। अभ्यसूयकाः साधूनां गुणेषु दोषारोपकाः।।१८।।

भावानुवाद—वे मुझ परमात्माको अस्वीकारकर मुझसे द्वेष करते हैं अथवा 'आत्मपराः'—परमात्मपरायण साधुओंके देहमें अवस्थित मुझसे द्वेष करते हैं, क्योंकि साधुओंके देहके प्रति द्वेष करना ही मुझसे द्वेष करना है। 'अभ्यसूयकाः'—साधुओंके गुणसमूहमें दोषका आरोप करनेवाले।।१८।।

तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान्।
क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु।।१९।।

अन्वय—अहम् (मैं) द्विषतः (साधुओंसे द्वेष करनेवाले) क्रूरान् अशुभान् (क्रूर और अशुभ कर्म करनेवाले) नराधमान् (नराधम) तान् (उन सबको) संसारेषु (संसारमें) आसुरीषु (आसुरी) योनिषु एव (योनियोंमें ही) अजस्र (अनवरत) क्षिपामि (निक्षेप करता हूँ)।।१९।।

अनुवाद—मैं साधुओंसे द्वेष करनेवाले, क्रूर और अशुभ कर्म करनेवाले तथा नराधम उन सबको संसारमें आसुरी योनियोंमें अनवरत निक्षेप करता हूँ (फेंकता हूँ)।।१९।।

आसुरीं योनिमापन्ना मूढा जन्मनि जन्मनि।
मामप्राप्यैव कौन्तेय ततो यान्त्यधमां गतिम्।।२०।।

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) जन्मनि जन्मनि (जन्म-जन्ममें) आसुरीम् योनिम् (आसुरी योनिको) आपन्नाः (प्राप्तकर) मूढाः (वे मूढ़ लोग) माम् (मुझे) अप्राप्य एव (नहीं प्राप्तकर ही) ततः (उसकी अपेक्षा) अधमाम् (निकृष्टतर) गतिम् यान्ति (गति प्राप्त करते हैं)।।२०।।

अनुवाद—हे कौन्तेय! जन्म-जन्ममें आसुरी योनि प्राप्तकर वे मूढ़ लोग मुझे नहीं प्राप्त करनेके कारण ही उससे भी अधम गति प्राप्त करते हैं।।२०।।

श्रीविश्वनाथ—मामप्राप्यैवेति, न तु मां प्राप्येति। वैवस्वतमन्वन्तरीयाष्टाविंश-चतुर्युगद्वापरान्तेऽवतीर्णं मां कृष्णं कंसादिरूपास्ते प्राप्य प्रद्विषन्तोऽपि मुक्तिमेव प्राप्नुवन्तीति। भक्तिज्ञानपरिपाकतो लभ्यामपि मुक्तिं तादृशपापिभ्योऽप्यहमपार-कृपासिन्धुर्ददामि। *"निभृत-मरुन्मनोऽक्षदृढयोगयुजो हृदि यन्मुनय उपासते तदरयोऽपि ययुः स्मरणात्"*इति श्रुतयोऽप्याहुः। अतः पूर्वोक्तो ममैव सर्वोत्कर्षो वरीवर्त्तीति भागवतामृतकारिका यथा—*"मां कृष्णरूपिणं यावन्नाप्नुवन्ति मम द्विषः। तावदेवाधमां योनिं प्राप्नुवन्तीति हि स्फुटम्।।"* इति।।२०।।

भावानुवाद—'मामप्राप्यैव' अर्थात् वे मुझे नहीं प्राप्तकर अधम योनियोंमें पतित होते हैं। वैवस्वत मन्वन्तरके अट्ठाइसवें चतुर्युगमें द्वापरके अन्तमें अवतीर्ण मुझ कृष्णको ही प्राप्त होकर मेरे विद्वेषी कंस आदि भी मुक्ति प्राप्त करते हैं। भक्तिमिश्र ज्ञानकी परिपक्व अवस्थामें जो मुक्ति प्राप्त होती है, अपार करुणासिन्धु मैं कंस जैसे पापीको भी वह दुर्लभ मुक्ति प्रदान करता हूँ। श्रुति-स्तुति (श्रीमद्भा. १०/८६/२३) में कहा गया है—"हे

प्रभो! मुनिगण निर्जनमें वायु, मन, इन्द्रिय आदिका निरोधकर दृढ़ योगयुक्त होकर जिस तत्त्वकी उपासना करते हैं, शत्रुगणने भी आपका स्मरणकर उसी तत्त्वको प्राप्त किया है।" अतएव पूर्वकथित मेरा सर्वोत्कर्ष सर्वोपरि अवस्थित है। भागवतामृतकी कारिकामें भी पाया जाता है कि जब तक मेरे विद्वेषिगण मुझ कृष्णको प्राप्त नहीं होते हैं, तब तक वे अधम योनि ही प्राप्त करते रहते हैं। यह सुस्पष्ट है।।२०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—उन्नीसवें श्लोकमें कृष्णने ऐसा कहा है कि साधु-विद्वेषी, निष्ठुर एवं नराधम व्यक्तियोंको मैं दुःखजनक आसुरी योनियोंमें निक्षेप करता हूँ। इसपर यदि कोई प्रश्न करता है कि भगवान्‌का ऐसा व्यवहार समदर्शी नहीं होकर क्या भेद-भाव एवं वैषम्यका द्योतक नहीं है, तो इसका उत्तर यह है—यद्यपि ईश्वर *'कर्त्तुमकर्त्तुमन्यथा कर्त्तुम् समर्थः'* अर्थात् वे सब कुछ करनेमें समर्थ हैं, फिर भी साधारणतः जीव अपने अपने कर्मोंका फल ही भोग किया करते हैं। इसलिए वेद, भक्त और भगवान्‌के द्रोही पापिष्ठ लोग अपने अपने कर्मोंका फल भोग करनेके लिए आसुरी योनिमें पुनः पुनः गमन करते हैं। पुनः पुनः आसुरी योनिमें जानेके कारण वे अपराधोंका मार्जन करनेका सुयोग नहीं पाते हैं। मनुष्य जीवनमें किए हुए पापों एवं अपराधोंका प्रायश्चित्त मनुष्य जीवनमें ही नहीं होनेसे पशु-पक्षी आदि अधम योनियोंमें गमन करनेके बाद संशोधनका सुयोग नहीं होता। मनुष्यके अतिरिक्त सभी योनियाँ केवल भोग योनियाँ हैं। श्रील मधुसूदन सरस्वती इस प्रसङ्गमें लिखते हैं—

'ईहैव नरकब्याधेश्चिकित्सां न करोति यः।
गत्वा निरौषधं स्थानं सरुजः किं करिष्यति।।'

अर्थात्, जो व्यक्ति इस मनुष्य शरीरमें ही नरकरूप व्याधिकी चिकित्सा नहीं कर पाता, वह रोगी औषधविहीन स्थानमें पहुँचकर क्या करेगा?

ईश्वर वैषम्य दोषसे रहित हैं—इस विषयकी विशद व्याख्या पहले की गई है। यहाँ एक बात स्मरण रखनेकी आवश्यकता है कि जिन्होंने अभिशापके कारण हिरण्यकशिपु, हिरण्याक्ष, रावण, कुम्भकर्ण, शिशुपाल, दन्तवक्र आदिके रूपमें क्षत्रिय कुलमें जन्म ग्रहण किया है, उन्होंने प्रत्यक्षरूपमें श्रीनृसिंह, श्रीवराह, श्रीराम और श्रीकृष्ण आदि भगवत्-अवतारोंको अपना शत्रु मानकर उनका विरोध किया, किन्तु उन उन अवतारोंके द्वारा मारे जानेके कारण आसुरी योनिको त्यागकर उन्होंने परमपद प्राप्त किया

है। विशेषकर श्रीकृष्णके हाथों मारे जानेपर उनकी सुगति हुई। इसमें ध्यान देने योग्य यह बात है कि वे सभी वेद और वैदिक कर्मोंमें विश्वास रखनेवाले, वैदिक यज्ञ इत्यादिको करनेवाले तथा अप्रत्यक्ष रूपसे सर्वनियन्ता, कालशक्ति और सर्वेश्वरको माननेवाले थे।

इसके द्वारा सभी अवतारोंमें कृष्णकी सर्वोत्तमता एवं सर्वोपरि तत्त्व-महिमा तथा हतारिगतिदायकत्व वैशिष्ट्य प्रतिपादित होता है। अन्यान्य भगवत्-अवतारोंके द्वारा मारे जानेपर भगवत्-विद्वेषियोंको स्वर्ग आदिमें प्रचुर भोग, उत्तम कुल आदिकी प्राप्ति होती है, किन्तु अवतारी कृष्णके द्वारा मारे जानेपर सारूप्य, सालोक्य, सार्ष्टि आदि मुक्तियाँ अथवा परिकररूपमें भगवत्-सेवाकी प्राप्ति भी होती है। इसलिए कृष्णको ही समस्त अवतारोंका मूल कहा गया है—*'एते चांश कला पुंसः कृष्णस्तु भगवान् स्वयं।'* यहाँ तक कि पूतनाको भी उन्होंने धातृके समान गति दी। गौर अवतारमें तो उन्होंने जगाई-मधाई और चाँद काजीको भगवत्-प्रेम तक प्रदान किया। प्रस्तुत श्लोकमें कृष्ण स्वयं 'माम् प्राप्यैव' में 'एव'-कारके द्वारा इसी गूढ़ तत्त्वका प्रकाश कर रहे हैं।।२०।।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः।
कामः क्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत्।।२१।।

अन्वय—कामः (काम) क्रोधः (क्रोध) तथा लोभः (और लोभ) इदम् त्रिविधम् (ये तीन) आत्मनः नाशनम् (आत्मनाशक) नरकस्य द्वारम् (नरकके द्वार हैं) तस्मात् (अतएव) एतत् त्रयं (इन तीनोंका) त्यजेत् (त्याग करना चाहिए)।।२१।।

अनुवाद—काम, क्रोध और लोभ—ये तीन आत्मनाशक नरकके द्वार हैं। अतएव इन तीनोंका त्याग करना चाहिए।।२१।।

श्रीविश्वनाथ—तदेवमासुरीः सम्पत्तीर्विस्तार्य प्रोक्ता इत्यतः साधूक्तम्—*"मा शुचः सम्पदं दैवीमभिजातोऽसि भारत्"* इति, किंवासुराणामेतन्त्रिकमेव स्वाभाविकमित्याह—त्रिविधमिति।।२१।।

भावानुवाद—इस प्रकार आसुरी सम्पत्तिका वर्णन विस्तृत रूपसे किया गया, अतएव 'हे अर्जुन! तुम दैवी सम्पद्के साथ आए हो, अतः तुम शोकाकुल नहीं होओ' (गीता १६/५)—यह ठीक ही कहा गया है। अथवा, असुरोंके लिए ये तीन दोष (काम, क्रोध, लोभ) स्वाभाविक हैं, इसीलिए कहते हैं—'त्रिविधम्' इत्यादि।।२१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्वोक्त आसुर गुणसमूह आत्मविनाशी और नरकके द्वार हैं। उनमें से काम, क्रोध और लोभ—ये तीन ही सबके मूल हैं। कल्याणकामी मनुष्यमात्रको उनका सब प्रकारसे वर्जन करना उचित है। कर्मी, ज्ञानी और योगी अनेक प्रयत्न करनेपर भी इनका दमन करनेमें समर्थ नहीं होते, किन्तु शुद्धभक्त साधुसङ्गके प्रभावसे अनायास ही इन तीनोंको हरिसेवामें नियुक्तकर शत्रु-दमनका एक अपूर्व उदाहरण उपस्थित करते हैं।।२१।।

एतैर्विमुक्तः कौन्तेय तमोद्वारैस्त्रिभिर्नरः।
आचरत्यात्मनः श्रेयस्ततो याति परां गतिम्।।२२।।

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) एतैः त्रिभिः (इन तीन) तमोद्वारैः (नरकके द्वारोंसे) विमुक्तः (विमुक्त) नरः (लोग) आत्मनः श्रेयः (अपना मङ्गल) आचरति (आचरण करते हैं) ततः (इससे) पराम् गतिम् (श्रेष्ठ गति) याति (प्राप्त करते हैं)।।२२।।

अनुवाद—हे कौन्तेय! इन तीन नरकके द्वारोंसे मुक्त व्यक्ति आत्म-कल्याणका आचरण करते हैं, जिससे वे श्रेष्ठ गति प्राप्त करते हैं।।२२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"इन तीन तमोद्वारोंसे मुक्त होकर मनुष्यको आत्माके कल्याणके लिए आचरण करना चाहिए, इसीसे परागति प्राप्त करनी चाहिए। तात्पर्य यह है कि सत्त्वसंशुद्धिके उपायस्वरूप वैध जीवनका अवलम्बनकर धर्मका आचरण करते-करते कृष्णभक्ति उपलब्ध होती है, जो कि परागति है। शास्त्रमें कर्म और ज्ञानके जो उपाय और उपेयत्व कहे गए हैं, उनका मूल तत्त्व यह है कि विशुद्ध कर्म और ज्ञानका सम्बन्ध ठीक रहनेसे ही जीवको सत्त्व-संशुद्धिरूप अभय पद प्राप्त होता है। यही भक्तिदेवीकी दासीस्वरूपा मुक्ति है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२२।।

यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः।
न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।२३।।

अन्वय—यः (जो) शास्त्रविधिम् (शास्त्रकी विधिका) उत्सृज्य (त्यागकर) कामचारतः (स्वेच्छाचारके भावसे) वर्त्तते (कार्यमें प्रवृत्त होता है) सः (वह) सिद्धिम् (सिद्धिको) न अवाप्नोति (नहीं प्राप्त करता है) न सुखम् (और सुख भी नहीं) न पराम् गतिम् (और न परागति)।।२३।।

अनुवाद—जो शास्त्रीय विधियोंका उल्लंघनकर स्वेच्छाचारवश कार्यमें प्रवृत्त होता है, वह न तो सिद्धि, न सुख और न ही परागतिको प्राप्त करता है।।२३।।

श्रीविश्वनाथ—आस्तिक्यवत एव श्रेय इत्याह—य इति। कामचारतः।।२३।।

आस्तिका एव विन्दन्ति सद्गतिं सन्त एव ते।
नास्तिका नरकं यान्तीत्यध्यायार्थो निरूपितः।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतासु षोडशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद—आस्तिक्य ही श्रेयः अर्थात् कल्याणजनक है, इसीलिए 'यः' इत्यादि कह रहे हैं। 'कामचारतः'—स्वेच्छाचार नरकका कारण है।।२३।।

जो आस्तिक हैं, वे ही साधु हैं एवं सद्गति प्राप्त करते हैं। जो नास्तिक हैं, वे नरकमें जाते हैं। यही इस अध्यायका अर्थ है।

श्रीमद्भगवद्गीताके षोडश अध्यायकी साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके षोडश अध्यायकी सारार्थवर्षिणी
टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—शास्त्रविधियोंकी उपेक्षा करनेवाले उच्छृंखल व्यक्तियोंका कल्याण होना सम्भव नहीं है—

श्रुति-स्मृति-पुराणदि-पञ्चरात्रविधिं विना।
ऐकान्तिकी हरेर्भक्तिः उत्पातायैव कल्पते।। ।।२३।।

तस्माच्छास्त्रं प्रमाणं ते कार्याकार्यव्यवस्थितौ।
ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तं कर्म कर्तुमिहार्हसि।।२४।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'दैवासुरसम्पद्विभागयोगो' नाम षोडशोऽध्यायः।।

अन्वय—तस्मात् (अतएव) कार्याकार्यव्यवस्थितौ (कार्य और अकार्यकी व्यवस्थाके विषयमें) शास्त्रम् (शास्त्र) ते (तुम्हारा) प्रमाण (प्रमाण है) इह (इस कर्मविषयमें) शास्त्रविधानोक्तम् (शास्त्र-विधानमें कथित) कर्म (कर्म) ज्ञात्वा (जानकर) कर्त्तुम् अर्हसि (करनेके निमित्त योग्य होओ)।।२४।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'दैवासुरसम्पद्विभागयोगो' नाम षोडशोऽध्यायस्यान्वयः।।

अनुवाद—अतएव कार्य-अकार्यकी व्यवस्थाके विषयमें शास्त्र ही तुम्हारे लिए प्रमाण है। इस कर्त्तव्य-विषयमें शास्त्रमें उपदिष्ट कर्मसे अवगत होकर उसे करनेके निमित्त योग्य होओ।।२४।।

श्रीमद्भगवद्गीताके षोडश अध्यायका अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अतएव कल्याणकामी व्यक्तियोंके लिए गुरुवर्गके आनुगत्यमें अपने अपने अधिकारके अनुसार शास्त्रीय विधियोंको जानकर श्रीहरिभक्तिका अनुशीलन करना ही समुचित है। बहिर्मुख लोगोंके द्वारा प्रशंसित तथाकथित उपदेशकोंके काल्पनिक विचारोंको प्रमाण मानकर शास्त्र-विरोधी आचरण करना बुद्धिमान् व्यक्तिका कर्त्तव्य नहीं है। हमारे लिए क्या कर्त्तव्य और क्या अकर्त्तव्य है, इस विषयमें भ्रम आदि दोषोंसे रहित अपौरुषेया श्रुतियाँ ही प्रमाण हैं। भ्रम, प्रमाद, इन्द्रियोंकी अपटुता, दूसरेको ठगनेकी इच्छा—इन चारों दोषोंसे युक्त उपदेशकोंके वचन प्रामाणिक नहीं हैं।

विशेष द्रष्टव्य—स्वतन्त्रतापूर्वक भगवान्‌की सेवासे विमुखता ही मूल अपराध है। इसलिए भगवान्‌की दासीरूपा माया ही जीवके बन्धनका हेतु है। जीव मायाबद्ध होकर भगवान्‌को प्रकाशित करनेवाली सात्त्विकताका परित्यागकर तमोधर्मगत आसुरिक स्वभाववाला होता है। उस समय साधु-निन्दा, बहु-ईश्वरबुद्धि तथा अनीश्वर-बुद्धि, गुरुकी अवज्ञा, शास्त्रोंकी अवहेलना, भक्तिकी महिमाको 'प्रशंसामात्र' समझना, कर्म तथा ज्ञानको भक्तिके रूपमें स्थापन करना, भक्तिमें अविश्वास, अपात्रको भक्तिका विक्रय आदि अनेक अपराध उत्पन्न होते हैं। इस आसुरिक स्वभावका परित्यागकर शास्त्रीय श्रद्धाके साथ नवधा भक्ति-साधन करनेकी कर्त्तव्यता ही इस अध्यायमें उपदिष्ट हुई है।

"अतएव कार्य-अकार्यकी व्यवस्थामें शास्त्र ही एकमात्र प्रमाण है। शास्त्रका तात्पर्य 'भक्ति' है—इसे जानकर तुम कर्म करनेके योग्य होओ।

आस्तिकताके द्वारा सद्‌गति होती है और नास्तिकोंको नरकमें जाना पड़ता है—यही इस अध्यायका अर्थ है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२४।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके षोडश अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

षोडश अध्याय समाप्त।

सप्तदशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—
ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य यजन्ते श्रद्धयान्विताः।
तेषां निष्ठा तु का कृष्ण सत्त्वमाहो रजस्तमः।।१।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुने कहा) कृष्ण (हे कृष्ण!) ये (जो) शास्त्रविधिम् (शास्त्रकी विधिको) उत्सृज्य (त्यागकर) श्रद्धयान्विताः (श्रद्धायुक्त होकर) यजन्ते (पूजा आदि करते हैं) तेषाम् तु (उनकी) निष्ठा का (स्थिति क्या है) सत्त्वम् (सात्त्विकी) आहो (अथवा) रजः तमः (राजसी या तामसी)।।१।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! जो लोग शास्त्रकी विधियोंको त्यागकर श्रद्धायुक्त होकर पूजा इत्यादि करते हैं, उनकी निष्ठा या स्थिति क्या है? वे सात्त्विक अथवा राजसिक या तामसिक क्या हैं?।।१।।

श्रीविश्वनाथ— ***अथ सप्तदशे वस्तु सात्त्विकं राजसं तथा।***
तामसञ्च विविच्योक्तं पार्थ प्रश्नोत्तरं यथा।।

नन्वासुरसर्गमुक्त्वा तदुपसंहारे *"यः शास्त्रविधिमुत्सृज्य वर्त्तते कामचारतः। न स सिद्धिमवाप्नोति न सुखं न परां गतिम्।।"* इति त्वयोक्तम्, तत्राहमिदं जिज्ञासे इत्याह—ये इति। ये शास्त्रविधिमुत्सृज्य कामचारतो वर्त्तन्ते, किन्तु कामभोगरहिता एव श्रद्धयान्विताः सन्तो यजन्ते तपोयज्ञ-ज्ञानयज्ञ-जपयज्ञादिकं कुर्वन्ति, तेषां का निष्ठा स्थितिः किमालम्बनमित्यर्थः। तत् किं सत्त्वम्, आहोस्वित् रजः अथवा तमस्तद्ब्रूहीत्यर्थः।।१।।

भावानुवाद—अर्जुनके प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान्ने सात्त्विक, राजसिक और तामसिक वस्तुके विषयमें बताया है।

अर्जुन पूछते हैं—अच्छा, आसुर सर्ग (उत्पत्ति) के विषयमें बतानेके बाद उसके उपसंहारमें आपने कहा कि जो लोग शास्त्रविधिका उल्लङ्घनकर स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त होते हैं, वे सिद्धि, सुख अथवा परमगति नहीं प्राप्त कर पाते हैं। (गीता १६/२३) यहाँ मैं यह प्रश्न करता हूँ कि जो शास्त्रविधिका उल्लङ्घनकर स्वेच्छाचारमें प्रवृत्त होते हैं, किन्तु कामके भोगसे

रहित तथा श्रद्धायुक्त होकर 'यजन्ते' अर्थात् तपोयज्ञ, ज्ञानयज्ञ, जपयज्ञ आदिका अनुष्ठान करते हैं, उनकी 'निष्ठा' अर्थात् स्थिति क्या है अर्थात् आलम्बन क्या है? वह सत्त्व है अथवा रजः अथवा तमः, यह कृपापूर्वक बतावें।।१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"इतना सुनकर अर्जुनने कहा—हे कृष्ण! मुझे संशय उपस्थित हुआ। आपने गीता (४/३९) में कहा कि श्रद्धावान् लोग ही ज्ञान प्राप्त करते हैं, पुनः गीता (१६/२३) में कहा कि जो शास्त्रविधिको त्यागकर कामनाके साथ (कर्ममें) प्रवृत्त होते हैं, उनको सिद्धि, सुख या परागति नहीं प्राप्त होती है। यहाँ प्रश्न होता है कि यदि श्रद्धा शास्त्रके विपरीतरूपमें (अनुशीलित) हो, तो क्या होता है? इस प्रकारके श्रद्धावान् लोग ज्ञानयोग आदिका फल जो सत्त्वसंशुद्धि है, क्या उसे नहीं प्राप्त करते हैं? अतएव मुझे स्पष्टरूपसे बतावें कि जो शास्त्रविधिका परित्यागकर श्रद्धापूर्वक भजन करते हैं, उनकी निष्ठाको क्या सात्त्विकी कहा जाएगा अथवा राजसी या तामसी?"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१।।

श्रीभगवानुवाच—
त्रिविधा भवति श्रद्धा देहिनां सा स्वभावजा।
सात्त्विकी राजसी चैव तामसी चेति तां शृणु।।२।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्‌ने कहा) देहिनाम् (मनुष्योंकी) श्रद्धा (श्रद्धा) सात्त्विकी (सात्त्विकी) राजसी च एव (और राजसी) तामसी च (और तामसी) इति (ये) त्रिविधा भवति (तीन प्रकारकी होती है) सा (वह) श्रद्धा (श्रद्धा) स्वभावजा (प्राचीन संस्कारसे उत्पन्न है) ताम् शृणु (उसे श्रवण करो)।।२।।

अनुवाद—श्रीभगवान्‌ने कहा—मनुष्योंकी श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। वह पूर्वजन्मोंके संस्कारसे उत्पन्न होती है, उसे सुनो।।२।।

श्रीविश्वनाथ—भो अर्जुन! प्रथमं शास्त्रविधिमनुत्सृज्य यजतां निष्ठां शृणु, पश्चात् शास्त्रविधित्यागिनां निष्ठां ते वक्ष्यामीत्याह—त्रिविधेति। स्वभावः प्राचीनसंस्कारविशेषस्तस्माज्जाता श्रद्धा, सा च त्रिविधा।।२।।

भावानुवाद—हे अर्जुन! पहले उनकी निष्ठा श्रवण करो जो शास्त्रकी विधियोंका उल्लंघन नहीं कर भजन करते हैं। बादमें इन विधियोंका उल्लंघनकर भजन करनेवालोंकी निष्ठा कहूँगा। 'स्वभावजा' का तात्पर्य है—प्राचीन संस्कारसे उत्पन्न श्रद्धा। यह भी तीन प्रकारकी है।।२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जो लोग शास्त्रीय विधि-विधानोंको कष्टकर जानकर अथवा आलस्यवश शास्त्रीय विधियोंका परित्यागकर स्वेच्छापूर्वक केवल पूर्व जन्मोंके संस्कारसे उदित लौकिक श्रद्धापूर्वक अन्यान्य देवी-देवताओंकी पूजा करते हैं, उनकी श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। किन्तु, शास्त्रविद् शुद्ध भक्तोंके आनुगत्यमें भगवद्भक्तिके अनुशीलनमें जो श्रद्धा देखी जाती है, वह निर्गुणा होती है। इसमें भी एक विचार यह है कि प्रारम्भिक अवस्थामें भक्तिसाधककी यह श्रद्धा सात्त्विकी हो सकती है, किन्तु साधुसङ्गके प्रभावसे वह शीघ्र ही निर्गुणा श्रद्धाके रूपमें प्रतिष्ठित हो जाती है। उस समय वह शास्त्रोंके विधि-विधानोंका समुचित रूपसे पालन करता हुआ श्रद्धापूर्वक हरिनाम और हरिकथाका श्रवण-कीर्त्तन-स्मरण करता हुआ अग्रसर होने लगता है।।२।।

सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः।।३।।

अन्वय—भारत (हे भारत!) सर्वस्य श्रद्धा (सबकी श्रद्धा) सत्त्वानुरूपा (अन्तःकरणके अनुरूप) भवति (होती है) अयम् पुरुषः (यह पुरुष) श्रद्धामयः (श्रद्धावान् है) यः (जो व्यक्ति) यच्छ्रद्धः (जैसी पूज्य वस्तुमें श्रद्धावान् है) सः (वह व्यक्ति भी) सः एव (वैसा ही है)।।३।।

अनुवाद—हे भारत! सबकी श्रद्धा अपने अपने अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है, अतएव जो व्यक्ति जैसी पूज्य वस्तुमें श्रद्धा करता है, वह भी वैसा ही चित्तवाला होता है।।३।।

श्रीविश्वनाथ—सत्त्वमन्तःकरणं त्रिविधम्—सात्त्विकं, राजसं, तामसञ्च, तदनुरूपा सात्त्विकान्तःकरणानां सात्त्विक्येव श्रद्धा, राजसान्तःकरणानां राजस्येव, तामसान्तःकरणानां तामस्येवेत्यर्थः। यच्छ्रद्धः यस्मिन् यजनीये देवेऽसुरे राक्षसे वा श्रद्धावान् यो भवति, स एव भवति तत्तच्छब्देनैव व्यपदिश्यत इत्यर्थः।।३।।

भावानुवाद—'सत्त्वम्' अर्थात् अन्तःकरण तीन प्रकारका है—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। तदनुरूप सात्त्विक अन्तःकरणवालेकी श्रद्धा सात्त्विकी होती है, राजसिक अन्तःकरणकी राजसी तथा तामसिक अन्तःकरणकी तामसी। 'यच्छ्रद्धः'—जिसका यजनीय जो होता है, वह भी वैसा ही होता है अर्थात् देवता असुर या राक्षस आदिको पूजनेवाले क्रमशः वैसे ही होते हैं। 'तत्-तत्' शब्दसे यही निर्दिष्ट होता है।।३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जीवोंके शुद्धस्वरूपमें जो श्रद्धा या रति होती है, वह आत्मगत अर्थात् स्वरूपगत होती है। वह स्वरूपगत श्रद्धा केवल भगवत्-विषयक होती है। वही श्रद्धा निर्गुणा होती है। किन्तु, वद्धावस्थामें जीवोंका स्वरूपगत स्वभाव विकृत हो जाता है, उस समय प्रकृतिके संसर्गसे शुभाशुभ कर्मोंके कारण विकृत श्रद्धा जिस कोटिके पूज्यके प्रति नियुक्त होती है, उसीके अनुरूप वह सात्त्विकी, राजसी और तामसी श्रद्धाके रूपमें जानी जाती है।

"हे भारत! सभी लोग श्रद्धामय हैं। जिस पुरुषका जैसा सत्त्व (अन्तःकरण) है, उसकी श्रद्धा भी वैसी ही है। जिसकी जिसमें श्रद्धा है, वह भी वैसा ही है। मूल तत्त्व यह है कि जीव स्वभावतः मेरा अंश है, अतएव वह निर्गुण है। जो जीव मुझसे अपना सम्बन्ध भूल गया है, वह सगुण हो गया है। इस बद्धदशाके प्रवेशकालमें प्राचीन संस्कारवश उसका एक सगुण स्वभाव हुआ है, उस स्वभावसे ही उसका अन्तःकरण गठित हुआ है। उस अन्तःकरणको ही सत्त्व कहते हैं। सत्त्वसंशुद्धि ही अभय पद है। संशुद्ध सत्त्वकी श्रद्धा है—निर्गुणा भक्तिबीज एवं अशुद्ध सत्त्वकी श्रद्धा है—सगुणा। श्रद्धा जब तक निर्गुणा अथवा निर्गुणाको उद्देश्य करनेवाली नहीं है, तब तक उसका ही नाम काम है। कामात्मिका सगुणा श्रद्धाकी व्याख्या कर रहा हूँ, श्रवण करो।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।३।।

यजन्ते सात्त्विका देवान् यक्षरक्षांसि राजसाः।
प्रेतान्भूतगणांश्चान्ये यजन्ते तामसा जनाः।।४।।

अन्वय—सात्त्विकाः जनाः (सात्त्विक गुणवाले लोग) देवान् यजन्ति (सत्त्व प्रकृतिवाले देवताओंकी पूजा करते हैं) राजसाः (रजोगुणवाले लोग) यक्षरक्षांसि (रजोगुणी यक्ष और राक्षसोंकी पूजा करते हैं) अन्ये तामसः (अन्य तमोगुणवाले लोग) प्रेतान् भूतगणान् च (तमोगुणवाले भूत-प्रेतोंकी) यजन्ते (पूजा करते हैं)।।४।।

अनुवाद—सात्त्विक गुणवाले लोग देवताओंकी पूजा करते हैं, जो कि सात्त्विक हैं, रजोगुणवाले लोग यक्ष और राक्षसोंकी पूजा करते हैं, जो कि राजसी हैं तथा तमोगुणवाले लोग भूत-प्रेतोंकी पूजा करते हैं, जो कि तामसी हैं।।४।।

श्रीविश्वनाथ—उक्तमर्थं स्पष्टयति—सात्त्विकान्तःकरणाः सात्त्विक्या श्रद्धया सात्त्विकशास्त्रविधिना सात्त्विकान् देवानेव यजन्ते, देवेष्वेव श्रद्धावत्वात् देवा एवोच्यन्ते। एवं राजसा राजसान्तःकरणाः इत्यादि विवरितव्यम्।।४।।

भावानुवाद—पहले कही गई बातको स्पष्ट करते हुए बोल रहे हैं—सात्त्विक अन्तःकरणवाले लोग सात्त्विकी श्रद्धा द्वारा सात्त्विक शास्त्रकी विधिके अनुसार सात्त्विक देवताओंको पूजते हैं। देवताओंके प्रति श्रद्धावान् होनेके कारण वे भी देवता ही कहलाते हैं। इसी प्रकार राजसिक और तामसिक अन्तःकरणवालोंके लिए भी समझना चाहिए।।४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें भगवान् लौकिकी श्रद्धासे विभिन्न देवताओंकी पूजा करनेवालोंकी श्रद्धाका प्रकार भेद बता रहे हैं। शास्त्रके अनुसार केवल भगवान् ही पूजनीय हैं। किन्तु, नाना प्रकारकी लौकिक कामनाओंसे परिचालित होकर जो लोग विभिन्न देवताओं या वस्तुओंकी पूजा करते हैं, उनकी श्रद्धा तीन प्रकारकी होती है—सात्त्विकी, राजसी और तामसी। जो लोग सात्त्विकी श्रद्धावाले हैं, वे ब्रह्मा, शिव, इन्द्र, चन्द्र सूर्य आदिकी पूजा करते हैं। उसी प्रकार जिनकी श्रद्धा राजसी होती है, वे दुर्गा, यक्ष, राक्षस आदिकी पूजा करते हैं तथा तामसी श्रद्धावाले व्यक्ति भूत-प्रेत आदिकी पूजा करते हैं। कभी-कभी एक ही देवताकी पूजा तीनों गुणोंमें होती है। जैसे प्रलयके समय मार्कण्डेयजी द्वारा शिवजीकी आराधना तथा कागभुषुण्डिजीके द्वारा शिवजीकी आराधना सात्त्विकी है, जिसके द्वारा मार्कण्डेयजी एक कल्प तक जीवित रहे तथा विश्वकी सृष्टि इत्यादिका उन्हें ज्ञान हुआ एवं कागभुषुण्डिजीको श्रीरामचन्द्रजीकी भक्ति प्राप्त हुई। वाणासुर, रावण आदिके द्वारा की गई शिवकी आराधना राजसी है तथा भस्मासुर आदिके द्वारा की गई आराधना तामसी है। इसी प्रकार दुर्गा आदिकी पूजामें भी तीनों प्रकारकी श्रद्धाओंका सम्मिश्रण देखा जाता है। किन्तु, सत्सङ्गके प्रभावसे इन तीनों प्रकारकी श्रद्धाएँ क्रमशः तामसीसे राजसी, राजसीसे सात्त्विकी और सात्त्विकीसे निर्गुणाके रूपमें बदल सकती है।

निर्विशेषवादियोंकी श्रद्धा भी सात्त्विकी होती है। वे ब्रह्मको निराकार, निर्विशेष इत्यादि मानते हैं। इसलिए वे पाँच देवताओंके रूपकी कल्पनाकर उनकी पूजा करते है। इससे वे चित्तकी शुद्धि तथा बादमें ज्ञान प्राप्त करनेकी चेष्टा करते हैं।।४।।

अशास्त्रविहितं घोरं तप्यन्ते ये तपो जनाः।
दम्भाहङ्कारसंयुक्ताः कामरागबलान्विताः।।५।।
कर्शयन्तः शरीरस्थं भूतग्राममचेतसः।
माञ्चैवान्तःशरीरस्थं तान् विद्ध्यासुरनिश्चयान्।।६।।

अन्वय—दम्भ, अहङ्कार-संयुक्ताः (दम्भ और अहङ्कारसे युक्त)

काम-राग-बलान्विताः (काम, राग और बलयुक्त) ये अचेतसः जनाः (जो अविवेकी लोग) शरीरस्थम् (शरीरमें स्थित) भूतग्रामम् (भूतसमूहको) अन्तःशरीरस्थम् (अन्तःशरीरमें स्थित) माम् च एव (मुझे) कर्शयन्तः (कृश अर्थात् क्षीणकर) अशास्त्रविहितम् (अशास्त्रीय विधिसे) घोरम् तपः (कठिन तपस्या) तप्यन्ते (करते हैं) तान् (उनको) असुरनिश्चयान् (आसुरिक धर्ममें निष्ठित) विद्धि (जानो)।।५-६।।

अनुवाद—दम्भ, अहङ्कार, काम, आसक्ति और बलसे युक्त जो अविवेकी लोग शरीरमें स्थित भूतसमूहको तथा अन्तःकरणमें स्थित मुझे क्षीणकर अशास्त्रीय विधिसे कठिन तपस्या करते हैं, उनको आसुरिक धर्ममें निष्ठित जानो।।५-६।।

श्रीविश्वनाथ—यत्त्वया पृष्टं—"*यै शास्त्रविधिमुत्सृज्य (कामभोगरहिताः) श्रद्धया यजन्ते तेषां का निष्ठा*" इति, तस्योत्तरमधुना शृण्वित्याह—अशास्त्रेति द्वाभ्याम्। घोरं प्राणिभयकरं तपस्तप्यन्ते कुर्वन्तीत्युपलक्षणमिदं जपयागादिकमप्यशास्त्रीयं कुर्वन्ति। कामाचरण-राहित्यं श्रद्धान्वितत्वञ्च स्वत एव लभ्यते। दम्भाहङ्कारसंयुक्ता इति—दम्भाहङ्काराभ्यां विना शास्त्रविध्युल्लङ्घ-नानुपपत्तेः, 'कामः' स्वस्याजरामरत्वराज्याद्यभिलाषः, रागस्तपस्यासक्तिः, 'बलं' हिरण्यकशिपुप्रभृतीनामिव तपःकरणसामर्थ्यं, तैरन्विताः शरीरस्थमारम्भकत्वेन देहस्थितम्। भूतानां पृथिव्यादीनां ग्रामं समूहं कर्षयन्तः कृशीकुर्वन्तो माञ्च मदंशभूतं जीवञ्च दुःखयन्तः। आसुरनिश्चयान् असुराणामेव निष्ठायां स्थितानित्यर्थः।।५-६।।

भावानुवाद—हे अर्जुन! तुमने पूछा—हे कृष्ण! जो लोग शास्त्रकी विधियोंको त्यागकर श्रद्धायुक्त होकर पूजा इत्यादि करते हैं, उनकी स्थिति क्या है? वे सात्त्विक अथवा राजसिक या तामसिक क्या हैं?

अब 'अशास्त्र' इत्यादि दो श्लोकोंमें इसका उत्तर सुनो। जो 'घोर' अर्थात् प्राणियोंको भय देनेवाले तपस्या आदिका अनुष्ठान करते हैं, इसके उपलक्षणमें जो अशास्त्रीय जप-यज्ञ आदिको भी करते हैं, उनमें काम-आचरणका त्याग और श्रद्धा स्वतः ही पाई जाती है। दम्भ और अहङ्कारके बिना शास्त्रविधिका उल्लंघन नहीं हो सकता है। 'कामः'—अपने अजरत्व, अमरत्व और राज्य आदिकी अभिलाषा, 'रागः'—तपस्यामें आसक्ति, 'बल'—हिरणकशिपु आदि की भाँति तपस्या करनेका सामर्थ्य—जो इन सबसे युक्त हैं, वे 'शरीरस्थं'—आरम्भकालमें ही देहमें स्थित

'भूतग्रामं'—भूत (पृथ्वी आदि) 'ग्रामं' (समूह) को कृश (क्षीण) करते हैं एवं मुझे तथा मेरे अंशभूत जीवात्माको भी दुःख प्रदान करते हैं। ऐसे व्यक्ति आसुरी निष्ठामें स्थित होते हैं।।५-६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीकृष्ण यहाँ अर्जुनको यह बता रहे हैं कि जो लोग अपनी कामनाओंकी पूर्त्तिके लिए शास्त्र-विधियोंका उल्लंघनकर अशास्त्रीय घोर तपस्या आदि करते हैं, उनका वह उपवास, तपस्या आदि पूर्वोक्त सात्त्विकी, राजसी और तामसीसे बहिर्भूत होता है। ऐसे लोग बड़े मन्दभागी होते हैं। ये लोग पाखण्डियोंके सङ्ग-प्रभावसे शास्त्र-विरुद्ध लोकभयंकर तपस्या करते हैं। ऐसी तपस्यामें वृथा कष्टकर उपवास, अपने देहके मांस द्वारा होम, नरबलि, पशुबलि आदि हिंसात्मक कर्मोंके द्वारा अपनी आत्मा तथा परमात्माको भी क्लेश प्रदान करते हैं। ऐसे लोगोंको क्रूर स्वभावविशिष्ट असुर ही समझना चाहिए। आजकल कुछ लोग स्वार्थवश अथवा राजनैतिक कार्योंसे अशास्त्रीय उपवास आदि व्रत धारण करते हैं। शास्त्रोंमें पारमार्थिक नीतिके लिए ही उपवासकी विधि दी गई है, राजनैतिक या सामाजिक नीतिके लिए नहीं। एकादशी व्रतके दिन निर्जला व्रत रखकर हरिकीर्त्तनके माध्यमसे रात्रि जागरणका विधान शास्त्रोंमें देखा जाता है, किन्तु आजकल लोग शास्त्रीय विधियोंका उल्लंघनकर मद्य-मांसका सेवनकर नाना प्रकारके कुत्सित और अभद्र गाने गाकर रात्रि जागरण करते हैं। ऐसा रात्रि जागरण भी त्रिविध प्रकारकी श्रद्धाओंसे बहिर्भूत और क्लेशदायी है। ऐसे उपवास और जागरण जनहितकर भी नहीं हैं। वस्तुतः ये लोग गर्व, अहङ्कार, काम और भौतिक भोगके प्रति अत्यासक्तिके कारण ऐसा करते हैं। इसके द्वारा शरीरको भी वृथा कष्ट दिया जाता है। इससे स्वयं एवं दूसरोंकी भी शान्ति भंग होती है। कभी-कभी ऐसे हठपूर्वक उपवासोंके द्वारा मृत्यु भी हो जाती है। ऐसे लोग पुनः पुनः आसुरी योनियोंमें भटकते हुए दुःख पाते हैं। दैववश शुद्ध भक्तोंका संग पानेसे उनका भी कल्याण हो सकता है। नलकुबेर-मणिग्रीव, महाराज सुरत आदि इसके उदाहरण हैं।।५-६।।

आहारस्त्वपि सर्वस्य त्रिविधो भवति प्रियः।
यज्ञस्तपस्तथा दानं तेषां भेदमिमं शृणु।।७।।

अन्वय—सर्वस्य (सबको) आहारः तु अपि (आहार भी) त्रिविधः (तीन प्रकारका) प्रियः भवति (प्रिय होता है) तथा (वैसे) यज्ञः (यज्ञ) तपः

(तपस्या) दानम् (दान) [तीन प्रकारके हैं] तेषाम् (उन सबके) इमम् भेदम् (इस भेदको) शृणु (सुनो)।।७।।

अनुवाद—जैसे आहार भी सबको तीन प्रकारका प्रिय होता है, वैसे ही यज्ञ, तपस्या और दान भी तीन प्रकारके होते हैं। उन सबके इस भेदको सुनो।।७।।

श्रीविश्वनाथ—तदेवं ये शास्त्रविधित्यागिनः कामचारेण वर्त्तन्ते पूर्वाध्यायोक्ताः, ये चास्मिन्नध्याये आसुरशास्त्रविधिना यक्षरक्षप्रेतादीन् यजन्ते, ये चाशास्त्रीयं तप-आदिकं कुर्वन्ति ते सर्वे आसुरसर्गमध्यगता एव भवन्तीति प्रकरणार्थः तथाप्याहारादीनां वक्ष्यमाणानां त्रैविध्यात्तद्वतां यथायोगं दैवमासुरञ्च सर्गं स्वयमेव विविच्य जानीहीत्याह—आहारस्त्वित्यादि त्रयोदशभिः।।७।।

भावानुवाद—इस प्रकार पिछले अध्यायमें कथित 'जो शास्त्रविधिका त्यागकर स्वेच्छाचारी होते हैं' एवं इस अध्यायमें कथित 'आसुरिक शास्त्रविधिके अनुसार यक्ष-राक्षस-प्रेत आदिकी पूजा करते हैं'—ये सभी आसुर श्रेणीमें ही प्रवष्टि होते हैं, यही इस प्रकरणका अर्थ है। तथापि, कहे जानेवाले आहार आदिके तीन भेद होनेके कारण उनके दैव और आसुर श्रेणी की विवेचना स्वयं कर लेनी चाहिए। इसीलिए 'आहारस्तु' इत्यादि तेरह श्लोक कहे जा रहे हैं।।७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान् श्रीकृष्ण श्रद्धाका विषय वर्णनकर आहार, यज्ञ आदिके विषयमें विशेषरूपसे बतानेके लिए इनके भी तीन-तीन भेद बताए हैं। जो लोग जिस गुणसे युक्त होते हैं, उनकी वैसे ही आहारमें रुचि, वैसे यज्ञ, तप और दानमें भी रुचि देखी जाती है। वर्त्तमान समयमें कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि आहारके साथ धर्मका कोई सम्बन्ध नहीं है। कुछ लोग ऐसा भी समझते हैं कि *'शरीरमाद्यं खलु धर्मसाधनम्'* अर्थात् शरीर-रक्षा ही सब प्रकारके धर्म-साधनोंका मूल है। यहाँ यह विचारणीय है कि जो लोग इन्द्रिय-तर्पण या विषय-भोगको ही मनुष्य जीवनका एकमात्र उद्देश्य समझते हैं, वे लोग इन्द्रिय-तृप्तिके लिए मद्य, मांस, अण्डे यहाँ तक कि गोमांस आदि खानेमें ही अधिक तृप्तिका अनुभव करते हैं। किन्तु, सौभाग्यवश जिन लोगोंने ऐसा समझ लिया है कि विषय-भोगकी प्रवृत्तिने ही जीवोंको मायाके बन्धनमें डाला है और मायाके द्वारा बद्ध होनेके फलस्वरूप जीव जन्म-जन्मान्तरोंमें नाना प्रकारके क्लेश भोग रहा है और उन सारे क्लेशोंसे निवृत्त होनेके लिए विषय-भोगकी स्पृहाका वर्जन करना अत्यन्त आवश्यक है, वे लोग मानव जीवनमें ही सर्वप्रथम

शुद्ध सात्त्विक आहार ग्रहण करनेकी आवश्यकता समझते हैं। वे मायाके त्रिगुणोंको पार करनेके लिए सर्वप्रथम रजोगुणके द्वारा तमोगुण, सत्वगुणके द्वारा रजोगुण और निर्गुणके द्वारा मायिक सत्वगुणको ध्वंस करनेकी चेष्टा करते हैं। साधु-सन्तों और शास्त्रोंने मनोनिग्रहको ही धर्मसाधनकी जड़ बताया है। देहके साथ मनका निकटतम सम्बन्ध है, इसलिए जैसा खाद्य होता है, उसीके अनुरूप मानसिक वृत्ति भी अच्छी या बुरी प्रस्तुत होती है—ऐसा सर्वत्र ही दृष्टिगोचर हो रहा है। ऐसे अखाद्य और आसुरी खाद्योंको ग्रहणकर आज विश्वके अधिकांश लोग व्यभिचार, छल, कपटता और हिंसाके कार्योंमें लिप्त हो रहे हैं, सदाचार नामकी कोई भी चीज नहीं रही है। इसलिए विवेकवान् लोगोंको सोच-विचारकर ऐसे ही भोजन ग्रहण करनेकी चेष्टा करनी चाहिए, जिससे शरीर-पुष्टिके साथ-साथ निर्मल बुद्धिवृत्तिकी भी पुष्टि हो।

इसीलिए भगवान्‌ने तीन प्रकारके गुणोंको प्रकाश करनेवाले तीन प्रकारके आहारोंका वर्णन किया है। जो लोग सात्त्विक गुणोंका आश्रय ग्रहण करना चाहते हैं, राजसिक और तामसिक आहारोंमें रुचि नहीं होकर सात्त्विक खाद्योंमें ही उनकी रुचि देखी जाती है।

श्रीरामानुजाचार्यजीने इस श्लोककी टीकामें आहारके विषयमें श्रुतियोंसे दो प्रमाण प्रस्तुत किए हैं—(क) *अन्नमयं हि सौम्य मनः* (ख) *आहार शुद्धौ सत्त्वशुद्धिः*। इससे यह सहज ही समझा जा सकता है कि श्रुतियोंने भी हमें सावधान किया है कि आहार-शुद्धिसे ही अन्तःकरणकी शुद्धि होती है। इसलिए हमें शास्त्रनिषिद्ध खाद्योंके परित्यागकी आवश्यकता है। श्रीमद्भागवतमें और भी स्पष्टरूपसे श्रीकृष्णने स्वयं ही बताया है—

'पथ्यं पूतमनायस्तमाहार्यं सात्त्विकं स्मृतम्।
राजसं चेन्द्रियप्रेष्ठं तामसं चार्त्तिदाशुचि।।'

(श्रीमद्भा. ११/२५/२८)

अर्थात्, सब प्रकारसे हितकर, पवित्र, अनायास ही प्राप्त आहार सात्त्विक होता है। अधिक कटु, अम्ल, लवण आदिसे युक्त इन्द्रिय-तृप्तिकर आहार राजसिक है, गिड़गिड़ाकर माँगा गया और अपवित्र आहार तामसिक होता है, किन्तु शास्त्र विहित, मुझे निवेदित खाद्य पदार्थ निर्गुण होता है। श्लोकमें दिए गए 'च'-कारके द्वारा श्रील चक्रवर्ती ठाकुर और श्रीधरस्वामी दोनोंने भगवान्‌को निवेदित वस्तुओंको निर्गुण माना है। जो लोग इन शास्त्रीय विधियोंका उल्लंघनकर स्वेच्छाचारपूर्वक जैसे-तैसे अपवित्र आहार ग्रहण करते हैं, उनको आसुर श्रेणीके अन्तर्गत ही मानना होगा।।७।।

आयुःसत्त्वबलारोग्यसुखप्रीतिविवर्द्धनाः ।
रस्याः स्निग्धाः स्थिरा हृद्या आहाराः सात्त्विकप्रियाः॥८॥

अन्वय—आयुः-सत्त्व-बलारोग्य-सुखप्रीतिविवर्द्धनाः (आयु, उत्साह, बल, आरोग्य, सुख और प्रीतिवर्द्धक) रस्याः (रसयुक्त) स्निग्धाः (स्निग्ध) स्थिराः (स्थिर गुणवाले) हृद्याः (मनोरम) आहाराः (आहारसमूह) सात्त्विकप्रियाः (सात्त्विक लोगोंको प्रिय होते हैं)॥८॥

अनुवाद—आयु, उत्साह, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढ़ानेवाले रसयुक्त, स्निग्ध, स्थायी, हृदयग्राही आहारसमूह सात्त्विक प्रकृतिवालोंको प्रिय होते हैं॥८॥

श्रीविश्वनाथ—आयुरिति —सात्त्विकाहारवतामायुर्वर्द्धते इति प्रसिद्धिः, सत्त्वमुत्साहो रस्या इति केवलगुडादीनां रस्यत्वेऽपि रूक्षत्वमत आह—स्निग्धा इति, दुग्धफेनादीनां रस्यत्वस्निग्धत्वेऽप्यस्थैर्यमत आह—स्थिरा इति, पनसफलादीनां रस्यत्वस्निग्धत्वस्थिरत्वेऽपि हृदुदराद्यहितत्वमत आह—हृद्या हृदुदर-हिता इति, तेन स-गव्यशर्करा शालिगोधुमान्नादय, एव रस्यत्वादिचतुष्टय-गुणवत्त्वात् सात्त्विकलोकप्रिया ज्ञेयास्तेषां प्रियत्वे सत्येव सात्त्विकत्वञ्च ज्ञेयम्। किञ्च, गुणचतुष्टयवत्त्वेऽप्यपावित्र्ये सति सात्त्विकप्रियतादर्शनात्त्वत्र पवित्रा इत्यपि विशेषणं देयम्, तामसप्रियेष्वमेध्यपददर्शनात्॥८॥

भावानुवाद—जगत्‌में यह प्रसिद्ध है कि सात्त्विक पदार्थके भोजनसे आयु बढ़ती है। 'सत्त्वम्' का अर्थ है—उत्साह। 'रस्याः'—केवल गुड़ आदि पदार्थ रसवान होनेपर भी रूखे होते हैं, इसीलिए कहते हैं—'स्निग्धाः'—दुग्ध-मलाई इत्यादि रस्य और स्निग्ध हैं, तथापि ये अस्थिर हैं। इसीलिए कहते हैं—'स्थिराः' कटहल आदि फल रस्य स्निग्ध और स्थिर हैं, किन्तु हृदय और उदरके लिए अपकार करनेवाले हैं। इसीलिए कहते हैं—हृदय तथा उदरके लिए हितकर। अतः गव्य (दूध, दही इत्यादि) तथा शक्करके साथ गोधूम (गेहूँ) शालि (एक प्रकारका चावल) अन्न आदि ही सत्त्व इत्यादि चार गुणोंसे युक्त होनेके कारण सात्त्विक लोगोंको प्रिय हैं—ऐसा जानना चाहिए। किन्तु, उपरोक्त चारों गुणोंसे युक्त होकर भी यदि कोई वस्तु अपवित्र हो, तो सात्त्विक व्यक्तियोंके लिए वह प्रिय नहीं है। इसीलिए श्लोकमें 'पवित्र' विशेषण पद देना भी कर्त्तव्य है। क्योंकि गीता (१७/१०) में 'अमेध्य' विशेषण पद तामस-प्रिय लोगोंके लिए व्यवहृत हुआ है॥८॥

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वर्त्तमान श्लोकमें भगवान् यह बता रहे हैं कि खाद्य वस्तुओंके तारतम्यसे गुणोंका तारतम्य होता है। साधारणतः कल्याणकामी व्यक्तिको सात्त्विक आहार ही ग्रहण करना उचित है। सात्त्विक

आहार स्वास्थ्यवर्द्धक होनेके साथ-साथ आयुवर्द्धक है, साथ ही पवित्र होनेके नाते धर्मवर्द्धक भी है। ऐसे पवित्र आहारके द्वारा देह और मन पवित्र होनेपर सब प्रकारसे कल्याणप्रद है। दूधका सेवन करनेसे मनकी वृत्ति किस प्रकारकी होती है तथा मद्यपानसे मनकी वृत्ति जिस प्रकारकी होती है, इन दो प्रकारकी वृत्तियोंको सहज ही देखा और अनुभव किया जा सकता है। कुसंग, कुशिक्षा और कुसंस्कारके कारण लोग सात्त्विक आहार ग्रहण करनेसे विरत रहते हैं।।८।।

कट्वम्ललवणात्युष्णतीक्ष्णरुक्षविदाहिनः ।
आहारा राजसस्येष्टा दुःखशोकामयप्रदाः।।९।।

अन्वय—कटु-अम्ल-लवण-अत्युष्ण-तीक्ष्ण-रुक्ष-विदाहिनः (अतिकटु, खट्टे, लवणयुक्त, बहुत गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक) दुःख-शोक-कामयप्रदाः (दुःख, शोक और रोगजनक) आहाराः (आहारसमूह) राजसस्य (राजस व्यक्तिको) इष्टाः (प्रिय हैं)।।९।।

अनुवाद—अधिक कड़वे, खट्टे, लवणयुक्त, गरम, तीखे, रूखे, दाहकारक, दुःख, शोक तथा रोगप्रद आहारसमूह राजस व्यक्तिको प्रिय हैं।।९।।

श्रीविश्वनाथ—'अतिः'—शब्दः कट्वादिषु सप्तस्वपि सम्बध्यते। अतिकटुनिम्बादिरत्यम्ललवणोष्णः प्रसिद्ध एवातितीक्ष्णो मूलिकाविषादिर्मरीच्याद्या वा, अतिरूक्षो हिङ्गुको द्रवादिर्विदाही दाहकरो भृष्टचणकादिः—एते दुःखादिप्रदाः। तत्र दुःखं तात्कालिको रसनाकण्ठादिसन्तापः, शोकः पश्चाद्भाविदौर्मनस्यमामयो रोगः।।९।।

भावानुवाद—'अति' शब्द कटु इत्यादि सात शब्दोंके साथ है। अति-कटु नीम आदि, अति-अम्ल, अति-लवण, अति-उष्ण, अति-तीक्ष्ण मूली, विष अथवा मरीच (काली मिर्च) इत्यादि, अति रुक्ष हींग इत्यादि, दाहकारी भुने चने इत्यादि दुःख, रोग, शोक प्रदान करते हैं। इनमें से 'दुःख'—तात्कालिक जिह्वा, कर्ण इत्यादिका संताप तथा शोक—आगे होनेवाले इनके फलकी दुश्चिन्ता है। 'आमय' का अर्थ है—रोग।।९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—राजसिक भोजनके द्वारा जीभ, कण्ठ और पेटमें ज्वाला, वायु, अपच साथ-साथ होते हैं और बादमें दुश्चिन्ता होनेके कारण मानसिक अशान्ति तथा नाना प्रकारके रोग उत्पन्न होते हैं। इस प्रकार मनुष्य जीवन दुःखी हो जाता है। इसके अतिरिक्त इन खाद्योंसे विकृत मनकी रुचि धर्मविरुद्ध कार्योंमें होने लगती है। इसीलिए सात्त्विकी प्रवृत्तिके लोग ऐसे आहार ग्रहण नहीं करते हैं।।९।।

यातयामं गतरसं पूति पर्युषितञ्च यत्।
उच्छिष्टमपि चामेध्यं भोजनं तामसप्रियम्।।१०।।

अन्वय—यातयामम् (एक प्रहर पहले बना हुआ ठंडा द्रव्य) गतरसम् (नीरस) पूति (दुर्गन्धयुक्त) पर्युषितम् च (बासी) उच्छिष्टम् (उच्छिष्ट) अपि च अमेध्यम् (एवं अपवित्र) यत् भोजनम् (जो भोजन है) [तत्—वह] तामसप्रियम् (तामस पुरुषको प्रिय होता है)।।१०।।

अनुवाद—एक प्रहर पहले बना हुआ ठंडा, नीरस, दुर्गन्धयुक्त, बासी, उच्छिष्ट (जूठा) और अपवित्र आहारसमूह तामस पुरुषको प्रिय होते हैं।।१०।।

श्रीविश्वनाथ—यातो यामः प्रहरो यस्य पक्वस्योदनादेस्तद्यातयामं शैत्यावस्थां प्राप्तमित्यर्थः, गतरसं त्यक्तस्वाभाविकरसं निष्पीडितरसं पक्वाम्रत्वगष्ट्यादिकं वा, पूति दुर्गन्धम्, पर्युषितं दिनान्तरं पक्वमुच्छिष्टं गुर्वादिभ्योऽन्येषां भुक्तावशिष्टममेध्यमभक्ष्यं कलञ्जादि। ततश्चैवं पर्यालोच्य स्वहितैषिभिः सात्त्विकाहार एव सेव्य इति भावः। वैष्णवैस्तु सोऽपि भगवदनिवेदितस्त्याज्य एव, भगवन्निवेदितमन्नादिकन्तु निर्गुणभक्तलोकप्रियमिति श्रीभागवताज्ज्ञेयम्।।१०।।

भावानुवाद—'यातयामम्'—जो अन्न एक प्रहरसे पहलेका बना हुआ है अर्थात् जो शीतल हो गया है, 'गतरसम्'—जिसका स्वाभाविक रस नष्ट हो गया है, जिसका रस निकल गया है अथवा पके हुए आमका छिलका, गुठली आदि, 'पूति'—दुर्गन्ध, 'पर्युषितम्'—पिछले दिनका पका हुआ, 'उच्छिष्ट'—गुरुवर्गके अतिरिक्त अन्य किसीके भोजनका अवशिष्ट अन्न, 'अमेध्य'—अभक्ष्य मांस, तम्बाकू इत्यादि। इसलिए अपने हितके बारेमें विचारकर हितकामी पुरुष सात्त्विक आहारका ही सेवन करेंगें। किन्तु, वैष्णवगण भगवान्‌को निवेदित नहीं होनेपर इसे भी त्याग देंगे। श्रीमद्भागवतसे यह जाना जाता है कि भगवान्‌को निवेदित अन्न निर्गुण होता है और भक्तोंको यही प्रिय होता है।।१०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—आहारका उद्देश्य शरीरको स्वस्थ एवं शक्तिशाली रखना, मनको पवित्र बनाना तथा आयुको बढ़ाकर उसे परमार्थमें प्रवृत्त करना है। प्राचीनकालमें विद्वान् लोग ऐसा ही भोजन ग्रहण करते थे, जो आयु और स्वास्थ्यवर्द्धक होते हैं। दूध-दही, गुड़-चावल, गेहूँ, फल और सब्जियाँ—ये सतोगुणी व्यक्तियोंको प्रिय होते हैं।

अधिकतर लोग ऐसा समझते हैं कि देव-देवियोंकी पूजामें जो मद्य-मांस आदिका प्रयोग होता है, उनको खानेमें कोई दोष नहीं है। शास्त्रोंमें भी ऐसा देखा जाता है, किन्तु यह बात सर्वथा भ्रम है। क्योंकि शास्त्रोंमें यज्ञादिके समय पशुवध मद्यपान आदिकी जो व्यवस्था देखी जाती है, वह केवल अत्यन्त तामस और प्रवृत्ति मार्गके लोगोंको निवृत्ति मार्गमें लौटानेके लिए ही एक तात्कालिक व्यवस्था और कौशलमात्र है श्रीमद्भागवतमें इस विचारकी पुष्टि की गई है—

'लोके व्यवायामिषमद्यसेवा नित्यास्तु जन्तोर्न हि तत्र चोदना।
व्यवस्थितिस्तेषु विवाहयज्ञसुराग्रहैरासु निवृत्तिरिष्टा।।'

(श्रीमद्भा. ११/५/११)

अर्थात्, संसारमें देखा जाता है कि मद्य, मांस और मैथुनकी ओर प्राणियोंकी स्वाभविक प्रवृत्ति होती है, तब उन्हें इनमें प्रवृत्त करनेके लिए विधान तो हो ही नहीं सकता। ऐसी स्थितिमें विवाह, यज्ञ और शौत्रामणि यज्ञके द्वारा ही उनके सेवनकी व्यवस्था दी गई है, इसका अर्थ है—लोगोंकी उच्छृङ्खल प्रवृत्तिका नियन्त्रण, उनका मर्यादामें स्थापन। वास्तवमें इनकी ओरसे लोगोंको हटाना ही वेदोंका गूढ़ तात्पर्य है। और भी,

'यद् घ्राणभक्षो विहितः सुरायास्तथा पशोरालभनं न हिंसा।
एवं व्यवायः प्रजया न रत्या इमं विशुद्धं न विदुः स्वधर्मम्।।'

(श्रीमद्भा. ११/५/१३)

शास्त्रोंमें उपरोक्त उद्देश्यसे ही यज्ञादिके समय मद्यको सूँघनेमात्रकी विधि दी गई है, पीनेकी नहीं। इसी प्रकार हिंसा और मांस खानेकी नहीं बल्कि स्पर्शकर उत्सर्ग करनेकी विधि है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि मांस-भक्षणमें दोष होनेपर भी मछलीके भक्षणमें कोई दोष नहीं, क्योंकि कि मछली तो जलका फूल-फल है, किन्तु मनुसंहितामें इसे सर्वाधिक निषिद्ध बताया गया है—

'यो यस्य मांसमश्नाति स तन्मांसाद उच्यते।
मत्स्यादः सर्वमांसादस्तस्मान्मत्स्यान् विवर्जयेत्।।'

अर्थात्, जो लोग जिनका मांस भोजन करते हैं, वे उसी पशुके मांसको खानेवालेके रूपमें जाने जाते हैं, किन्तु मछलियोंका भोजन करनेवाले सबका मांस खानेवाले हैं, क्योंकि मछली गाय, शूकर आदि सभी प्राणियोंके मांस, सब प्रकारकी सड़ी-गली चीजोंको निगल जाती है। इसीलिए मत्स्यभोजी

सब प्राणियोंके मांसको खानेवाला होता है। अतः मत्स्य-भोजन सब प्रकारसे परित्यज्य है।

श्रीमद्भागवतमें और भी देखा जाता है—

'ये त्वनेवम्विदोऽसन्तः स्तब्धाः सदभिमानिनः।
पशून् द्रुह्यन्ति विश्रब्धाः प्रेत्य खादन्ति ते च तान्।।'

(श्रीमद्भा. ११/५/१४)

अर्थात्, धर्मतत्त्वसे अनभिज्ञ, अदूरदर्शी, अहङ्कारमत्त जो तामसिक व्यक्ति निर्भय होकर पशुओंकी हत्या करते हैं, वे निहत पशु दूसरे जन्मोंमें उन्हें मारकर खाते हैं। मनु संहितामें भी 'मांस' शब्दका अर्थ यही है—

'मां स भक्षयितामुत्र यस्य मांसमिहाद्म्यहम्।
एतन्मांसस्य मांसत्वं प्रवदन्ति मनीषिनः।।'

अर्थात्, मैं जिस मांसको यहाँपर खाता हूँ, वह मुझे परलोकमें खायेगा। विद्वान् पुरुष 'मांस' शब्दका यही मांसत्व (अर्थात् मांस शब्दकी निरुक्ति) बताते हैं।

यहाँ यह भी विचारणीय है कि सात्त्विक आहार ग्रहण करनेसे सत्त्वकी वृद्धि तो होती है, किन्तु वह भी सब प्रकारसे निष्पाप नहीं है, क्योंकि साग-सब्जी-वृक्ष-लता आदिमें भी जीवन होता है। इस प्रकार निरामिष आहारमें किसी-न-किसी रूपमें हिंसा होती है, अतः उससे भी कुछ-न-कुछ पाप स्पर्श करता है। इसीलिए शुद्धभक्त लोग भगवान्को निवेदित महाप्रसाद ही ग्रहण करते हैं। वह निर्गुण और सब प्रकारसे पापरहित है। इसीलिए भगवान्को निवेदित वस्तु ही प्रसादके रूपमें ग्रहण करनेके योग्य है। अनिवेदित वस्तुमात्रको अत्यन्त घृणित समझना चाहिए। ब्रह्मवैवर्त एवं पद्मपुराणमें ऐसा ही कहा गया है—

'अन्नं विष्ठा जलं मूत्रं यद विष्णोरनिवेदनं।'

अर्थात्, जो अन्न तथा जल विष्णुको निवेदित नहीं हो, वह अन्न विष्ठा है तथा जल मूत्र है।।१०।।

अफलाकाङ्क्षिभिर्यज्ञो विधिदिष्टो य इज्यते।
यष्टव्यमेवेति मनः समाधाय स सात्त्विकः।।११।।

अन्वय—इति (इस प्रकार) यष्टव्यम् एव (यज्ञका अनुष्ठान कर्त्तव्य ही है) अफलाकाङ्क्षिभिः (फलकी कामनासे रहित व्यक्तिगणके द्वारा) मनः समाधाय (मनको एकाग्रकर) विधिदिष्टः (शास्त्रविहित) यः यज्ञः (जो यज्ञ) इत्यते (अनुष्ठित होता है) सः (वह) सात्त्विकः (सात्त्विक है)।।११।।

अनुवाद—'यज्ञका अनुष्ठान कर्त्तव्य है'—इस प्रकार मनको एकाग्रकर फलकी कामनासे रहित व्यक्तिगण द्वारा जो यज्ञ किया जाता है, वह सात्त्विक है।।११।।

श्रीविश्वनाथ—अथ यज्ञस्य त्रैविध्यमाह—अफलाकाङ्क्षिभिरिति। फलाकाङ्क्षाराहित्ये कथं यज्ञे प्रवृत्तिरत आह—यष्टव्यमेवेति। स्वानुष्ठेयत्वेन शास्त्रोक्त्वादवश्यकर्त्तव्यमेतदिति मनः समाधाय।।११।।

भावानुवाद—इसके बाद तीन प्रकारके यज्ञोंको बता रहे हैं। यदि प्रश्न हो कि फलकी आकाङ्क्षा नहीं रहनेपर किस प्रकार यज्ञमें प्रवृत्ति होगी, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—अपने लिए अनुष्ठेय और शास्त्र-कथित होनेके कारण इसका करना अवश्य ही कर्त्तव्य है—इस प्रकार मनको एकाग्रकर यज्ञ करते हैं।।११।।

अभिसन्धाय तु फलं दम्भार्थमपि चैव यत्।
इज्यते भरतश्रेष्ठ तं यज्ञं विद्धि राजसम्।।१२।।

अन्वय—तु (किन्तु) भरतश्रेष्ठ (हे भरतश्रेष्ठ!) फलम् (फलको) अभिसन्धाय (उद्देश्यकर) दम्भार्थम् अपि एव च (एवं दम्भ-प्रकाशके लिए) यत् (जो यज्ञ) इज्यते (अनुष्ठित होता है) तम् यज्ञम् (उस यज्ञको) राजसम् विद्धि (राजस जानो)।।१२।।

अनुवाद—किन्तु, हे भरतश्रेष्ठ! फलको उद्देश्यकर एवं दम्भके प्रकाश (अपनी महिमा दिखाने) के लिए जो यज्ञ किया जाता है, उसे राजस जानो।।१२।।

विधिहीनमसृष्टान्नं मन्त्रहीनमदक्षिणम्।
श्रद्धाविरहितं यज्ञं तामसं परिचक्षते।।१३।।

अन्वय—विधिहीनम् (शास्त्रविधिसे रहित) असृष्टान्नम् (अन्नदान-रहित) मन्त्रहीनम् (मन्त्ररहित) अदक्षिणम् (दक्षिणारहित) श्रद्धाविरहितम् (श्रद्धाहीन) यज्ञम् (यज्ञको) तामसम् (तामस) परिचक्षते (कहते हैं)।।१३।।

अनुवाद—विधिहीन, अन्नदानरहित, मन्त्रहीन, दक्षिणाहीन और श्रद्धाहीन यज्ञको पण्डितगण तामस यज्ञ कहते हैं।।१३।।

श्रीविश्वनाथ—असृष्टान्नमन्नदानरहितम्।।१३।।

भावानुवाद—'असृष्टान्नम्'—अन्नदानशून्य।।१३।।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनं शौचमार्जवम्।
ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीरं तप उच्यते।।१४।।

अन्वय—देव-द्विज-गुरु-प्राज्ञ-पूजनम् (देवता, ब्राह्मण, गुरु और प्राज्ञगणकी पूजा) शौचम् (शौच) आर्जवः (सरलता) ब्रह्मचर्यम् (ब्रह्मचर्य) अहिंसा च (एवं अहिंसा) शारीरम् तपः (शरीर-सम्बन्धी तप कहलाते हैं)।।१४।।

अनुवाद—देवता, ब्राह्मण, गुरु और प्राज्ञगणकी पूजा, शौच, सरलता, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसा शरीर-सम्बन्धी तप कहलाते हैं।।१४।।

श्रीविश्वनाथ—तपसस्त्रैविध्यं वदन् प्रथमं सात्त्विकस्य तपसस्त्रैविध्यमाह—देवेत्यादि त्रिभिः।।१४।।

भावानुवाद—तपस्याके तीन भेद हैं—यह बतानेके बाद 'देव' इत्यादि तीन श्लोकोंमें पहले सात्त्विकी तपस्याके भी तीन भेदोंको बता रहे हैं।।१४।।

अनुद्वेगकरं वाक्यं सत्यं प्रियहितञ्च यत्।
स्वाध्यायाभ्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते।।१५।।

अन्वय—अनुद्वेगकरम् (उद्वेग नहीं देनेवाला) सत्यम् (सत्य) प्रियहितम् च (प्रिय और हितकारी) यत् वाक्यम् (जो वाक्य है) स्वाध्यायाभ्यसनम् च एव (एवं वेदपाठका अभ्यास) वाङ्मयम् (वाचिक) तपः उच्यते (तप कहलाते हैं)।।१५।।

अनुवाद—उद्वेग नहीं देनेवाला, सत्य, प्रिय और हितकारी वचन एवं वेदपाठका अभ्यास—ये वाचिक तप हैं।।१५।।

श्रीविश्वनाथ—अनुद्वेगकरमं—सम्बोध्य भिन्नानामप्यनुद्वैजकम्।।१५।।

भावानुवाद—'अनुद्वेगकरम्'—सम्बोधनके रूपमें भी अन्य लोगोंको उद्वेग नहीं देनेवाला।।१५।।

मनःप्रसादः सौम्यत्वं मौनमात्मविनिग्रहः।
भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते।।१६।।

अन्वय—मनःप्रसादः (चित्तकी प्रसन्नता) सौम्यत्वम् (सरलता) मौनम् (मौन) आत्मविनिग्रहः (चित्त-संयम) भावसंशुद्धिः (व्यवहारमें निष्कपटता) इति एतत् (ये सब) मानसम् (मानसिक) तपः (तपस्या) उच्यते (कहलाते हैं)।।१६।।

अनुवाद—चित्तकी प्रसन्नता, सरलता, मौन, चित्तका संयम, व्यवहारमें निष्कपटता—ये सब मानसिक तप कहलाते हैं।।१६।।

श्रद्धया परया तप्तं तपस्तत्त्रिविधं नरैः।
अफलाकाङ्क्षिभिर्युक्तैः सात्त्विकं परिचक्षते।।१७।।

अन्वय—अफलाकाङ्क्षिभिः (फलकामनासे रहित) युक्तैः नरैः (एकाग्रचित्त मनुष्य द्वारा) परया श्रद्धया (परम श्रद्धाके साथ) तप्तम् (कृत होनेसे) तत् (वह) त्रिविधम् (तीनों—शारीरिक, वाचिक, मानसिक) तपः (तपको) [धीराः—पण्डितगण] सात्त्विकम् परिचक्षते (सात्त्विक कहते हैं)।।१७।।

अनुवाद—फलकामनारहित एकाग्रचित मनुष्य द्वारा परम श्रद्धाके साथ किए जानेपर पण्डितगण इन तीनों तपोंको सात्त्विक कहते हैं।।१७।।

श्रीविश्वनाथ—त्रिविधमुक्तलक्षणं कायिकवाचिकमानसम्।।१७।।

भावानुवाद—त्रिविधम्—कथित लक्षणयुक्त कायिक वाचिक और मानसिक।।१७।।

सत्कारमानपूजार्थं तपो दम्भेन चैव यत्।
क्रियते तदिह प्रोक्तं राजसं चलमध्रुवम्।।१८।।

अन्वय—सत्कारमानपूजार्थं (सत्कार-मान और पूजाके लिए) दम्भेन च एव (और दम्भके साथ) यत् तपः क्रियते (जो तपस्या की जाती है) तत् (वह) इत् (इस लोकमें) चलम् (अनित्य) अध्रुवम् (अनिश्चित) राजसम् (राजसी) प्रोक्तम् (कही जाती है)।।१८।।

अनुवाद—सत्कार, मान, और पूजाके लिए दम्भके साथ जो तपस्याकी जाती है, वही अनित्य और अनिश्चित राजसिक तप है।।१८।।

श्रीविश्वनाथ—'सत्कारः' साधुरयमित्यन्यैः कर्त्तव्या वाक्पूजा, 'मानः' प्रत्युत्थानाभिवादनादिभिरन्यैः कर्त्तव्या दैहिकी पूजा, पूजान्यैर्दीया-मानैर्धनादिभिर्भाविनी या मानसी पूजा, तदर्थं दम्भेन च यत् क्रियते तद्राजसं तपः, चलं किञ्चित्कालिकमध्रुवमनियतसत्कारादिफलकम्।।१८।।

भावानुवाद—'सत्कारः'—दूसरोंके द्वारा यह कर्त्तव्य वाक्-पूजा कि ये साधु हैं या वाक्य द्वारा सम्मान। 'मानः'—प्रत्युत्थान और अभिवादन आदि द्वारा दूसरेसे दैहिकी पूजा। 'पूजा'—इसके द्वारा धन आदि प्राप्त करानेवाली मानसी पूजा। इन सबके लिए एवं अहङ्कारपूर्वक जो तप अनुष्ठित होता है, वह राजसी तपस्या है। यह 'चलम्'—अल्पकालतक स्थायी रहनेवाली 'अध्रुवम्'—अनियत सत्कार आदि फल प्रदान करनेवाली है।।१८।।

मूढग्राहेणात्मनो यत्पीडया क्रियते तपः।
परस्योत्सादनार्थं वा तत्तामसमुदाहृतम्।।१९।।

अन्वय—मूढग्राहेण (मूढ़ोचित हठ द्वारा) आत्मनः पीडया (स्वयंको पीड़ितकर) वा परस्य (या दूसरेके) उत्सादनार्थम् (विनाशके लिए) यत् तपः (जो तप) क्रियते (किया जाता है) तत् (वह) तामसम् उदाहृतम् (तामस कहलाता है)।।१९।।

अनुवाद—मूढ़ोचित हठ द्वारा स्वयंको पीड़ितकर या दूसरेके विनाशके लिए जो तप किया जाता है, वह तामस कहलाता है।।१९।।

श्रीविश्वनाथ—'मूढग्राहेण मौढ्यग्रहणेन, 'परस्योत्सादनार्थं' विनाशार्थम्।।१९।।

भावानुवाद—'मूढग्राहेण'—मूढ़ता ग्रहण द्वारा 'परस्योत्सादनार्थ'—दूसरेके विनाशके लिए किया गया तप तामस तप है।।१९।।

दातव्यमिति यद्दानं दीयतेऽनुपकारिणे।
देशे काले च पात्रे च तद्दानं सात्त्विकं स्मृतम्।।२०।।

अन्वय—अनुपकारिणे (प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ व्यक्तिको) देशे (तीर्थ आदि स्थानोंमें) काले च (पुण्यकालमें) पात्रे च (एवं योग्य पात्रको) दातव्यम् (दान देना चाहिए) इति (इस प्रकार निश्चयकर) तत् दानम् (वह दान) सात्त्विकम् स्मृतम् (सात्त्विक कहलाता है)।।२०।।

अनुवाद—प्रत्युपकार करनेमें असमर्थ व्यक्तिको, तीर्थ आदि स्थानोंमें, पुण्यकालमें एवं योग्य पात्रको दान देना कर्त्तव्य है—इस प्रकार निश्चयकर जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक कहलाता है।।२०।।

श्रीविश्वनाथ—दातव्यमित्येवं निश्चयेन, न तु फलाभिसन्धिना यद्दानम्।।२०।।

भावानुवाद—दातव्यम्—योग्य काल-पात्रके अनुसार दान देना चाहिए, ऐसा निश्चयकर। फलकी कामनासे दिया गया दान, दान नहीं है।।२०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वर्त्तमानमें तीन प्रकारके दानके सम्बन्धमें बताते हुए श्रीभगवान् कह रहे हैं कि जिसने कभी भी अपना उपकार न किया हो अथवा जिसमें उपकार करनेका सामर्थ्य नहीं है, ऐसे पात्रको किसी प्रकारके बदलेकी आशा नहीं रखकर केवल कर्त्तव्यके लिए जो दान दिया जाता है, वह सात्त्विक होता है। उसमें देश, काल और पात्रका विचार करना आवश्यक है।।२०।।

यत्तु प्रत्युपकारार्थं फलमुद्दिश्य वा पुनः।
दीयते च परिक्लिष्टं तद्दानं राजसं स्मृतम्।।२१।।

अन्वय—यत् तु (किन्तु जो) प्रत्युपकारार्थम् (प्रत्युपकारकी आशासे) वा (अथवा) फलम् उद्देश्य (फलके उद्देश्यसे) पुनः च परिक्लिष्टम् (बादमें पछतावेके साथ) दीयते (प्रदत्त होता है) तद्दानम् (वह दान) राजसम् स्मृतम् (राजस कहलाता है)।।२१।।

अनुवाद—किन्तु, जो दान प्रत्युपकारकी आशासे, फलके उद्देश्यसे अथवा बादमें पछतावेके साथ दिया जाता है, वह दान राजस कहलाता है।।२१।।

श्रीविश्वनाथ—परिक्लिष्टं कथमेतावद्व्ययितमिति पश्चात्तापयुक्तम्, यद्वा, दित्साया अभावेऽपि गुर्वाद्याज्ञानुरोधवशादेव दत्तम्, परिक्लिष्टमकल्याण-द्रव्यकर्मकं वा।।२१।।

भावानुवाद—'परिक्लिष्टं'—इतना व्यय क्यों हुआ—दान देनेके बाद इस तापसे युक्त अथवा दान देनेकी इच्छाके बिना भी गुरु आदिकी आज्ञा या अनुरोधसे दिया गया दान या 'परिक्लिष्टं'—अकल्याणकर द्रव्य-कर्मयुक्त दान तामस होता है।।२१।।

अदेशकाले यद्दानमपात्रेभ्यश्च दीयते।
असत्कृतमवज्ञातं तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

अन्वय—अदेशकाले (अयोग्य स्थान और अयोग्य समयमें) अपात्रेभ्यः च (एवं अयोग्य पात्रोंको) असत्कृतम् (तिरस्कारपूर्वक) अवज्ञातम् (अवज्ञापूर्वक) यत् दानम् (जो दान) [दिया जाता है] तत् (वह) तामसम् उदाहृतम (तामस कहलाता है)।।२२।।

अनुवाद—जो दान अयोग्य स्थान और अयोग्य समयमें तथा अयोग्य पात्रोंको तिरस्कारपूर्वक तथा अवज्ञापूर्वक दिया जाता है, वह तामस कहलाता है।।२२।।

श्रीविश्वनाथ—असत्कारोऽवज्ञायाः फलम्।।२२।।

भावानुवाद—'असत्कारः'—अवज्ञाका फल।।२२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जो दान किसी अपवित्र स्थानमें, अनुचित स्थानमें, कुपात्रको अर्थात् नर्त्तक, वेश्या, अभावशून्य, पापाचारी आदि पात्रोंको दिया जाता है, वह तामसिक है। इसी प्रकार सत्पात्रको बिना सम्मानके और अवज्ञापूर्वक दिया गया दान तामसिक कहलता है।।२२।।

ॐ तत्सदिति निर्देशो ब्रह्मणस्त्रिविधः स्मृतः।
ब्राह्मणास्तेन वेदाश्च यज्ञाश्च विहिताः पुरा॥२३॥
तस्मादोमित्युदाहृत्य यज्ञदानतपःक्रियाः।
प्रवर्त्तन्ते विधानोक्ताः सततं ब्रह्मवादिनाम्॥२४॥

अन्वय—ॐ तत् सत् (ॐ, तत्, सत्) इति (ये) त्रिविधः (तीन प्रकारके) ब्रह्मणः निर्देशः (ब्रह्मके निर्देशक नाम) स्मृतः (कहे गए हैं) तेन (इनके द्वारा) पुरा (प्राचीनकालमें) ब्राह्मणाः (ब्राह्मणगण) वेदाः च (और वेदसमूह) यज्ञाः च (और यज्ञसमूह) विहिताः (निर्मित हुए हैं) तस्मात् (अतएव) ॐ इति ('ॐ' शब्द) उदाहृत्य (उच्चारणकर) ब्रह्मवादिनाम् (वेदवादियोंके) विधानोक्ताः (शास्त्रोक्त) यज्ञ-दान-तप-क्रियाः (यज्ञ, दान, तपस्या, कर्म आदि) सततम् (सर्वदा) प्रवर्त्तन्ते (अनुष्ठित होते हैं)॥२३-२४॥

अनुवाद—ब्रह्मके तीन प्रकारके निर्देशक नाम कहे गए हैं—ॐ, तत् और सत्। इनके द्वारा प्राचीनकालमें ब्राह्मणगण, वेदसमूह और यज्ञसमूह निर्मित हुए हैं। अतएव 'ॐ' शब्दके उच्चारणसे वेदवादियोंके शास्त्रोक्त यज्ञ, दान, तप, कर्म आदि सर्वदा अनुष्ठित होते हैं॥२३-२४॥

श्रीविश्वनाथ—तदेवं तपोयज्ञादीनां त्रैविध्यं सामान्यतो मनुष्य-मात्रमधिकृत्योक्तम्। तत्र ये सात्त्विकेष्वपि मध्ये ब्रह्मवादिनस्तेषान्तु ब्रह्मनिर्देशपूर्वका एव यज्ञादयो भवन्तीत्याह—ॐ तत् सदित्येवं ब्रह्मणो निर्द्देशो नाम्ना व्यपदेशः स्मृतः शिष्टैर्दर्शितः। तत्र ओमिति सर्वश्रुतिषु प्रसिद्धमेव ब्रह्मणो नाम। जगत्कारणत्वेनातिप्रसिद्धेरतन्निरसनेन च प्रसिद्धेस्तदिति च, *"सदेव सौम्येदमग्र आसीत्"* इति श्रुतेः सदिति च। यस्मात् 'ॐ तत् सत्' शब्दवाच्येन ब्रह्मणैव ब्राह्मणा वेदा यज्ञाश्च विहिताः कृतास्तस्मात् ओमिति ब्रह्मणो नामोदाहृत्या उच्चार्य वर्त्तमानानां ब्रह्मवादिनां यज्ञादयः प्रवर्त्तन्ते॥२३-२४॥

भावानुवाद—सामान्य भावसे यह बताया गया कि अधिकारके अनुसार मनुष्यमात्र ही तीन प्रकारके तप, यज्ञ आदिके अधिकारी हैं। उनमें सात्त्विकोंमें जो ब्रह्मवादी हैं, उनके यज्ञ आदि ब्रह्मनिर्देश द्वारा ही होते हैं। इसीलिए कहते है—ॐ, तत्, सत्—इन तीन प्रकारके ब्रह्म-निर्देशकके नामसे साधुगण स्मरण या प्रदर्शन करते हैं। इनमें भी सभी श्रुतियोंमें प्रसिद्ध 'ॐ' ब्रह्मका ही नाम है। जगत्के कारणके रूपमें अतिप्रसिद्ध और 'अतत्' दूर करनेके कारण प्रसिद्ध है—'तत्'। 'सदिति'—हे सौम्य!

पहले एकमात्र 'सत्' ही थे (छा. उ. ६/२/१)—इस श्रुतिके अनुसार सत्। क्योंकि 'ॐ तत् सत्' शब्दवाच्य ब्रह्म द्वारा ही ब्राह्मणगण, वेदसमूह, यज्ञसमूहका निर्माण हुआ है, अतः 'ॐ' शब्दका उच्चारणकर वर्त्तमान वेदवादियोंके यज्ञ आदि सम्पादित होते हैं।।२३-२४।।

सा. व. प्रकाशिकावृत्ति—"अब तात्पर्य कहता हूँ, सुनो। तपस्या, यज्ञ, दान और आहार—ये सभी सात्त्विक, राजसिक और तामसिकके भेदसे तीन प्रकारके हैं। सगुण-अवस्थामें इन अनुष्ठानोंमें जो श्रद्धा रहती है, वह उत्तम, मध्यम और अधम होनेपर भी सगुणा और निरर्थक हैं। जब निर्गुणा श्रद्धा अर्थात् भक्तिको उदित करानेवाली श्रद्धाके साथ ये सभी कर्म किए जायँ, तभी ये सत्त्व-संशुद्धिरूप अभय प्राप्त करनेके उपयोगी होते हैं। शास्त्रमें सर्वत्र ही उसी पराश्रद्धाके साथ कर्मानुष्ठान करनेका आदेश है। शास्त्रमें 'ॐ, तत्, सत्'—ये तीन ब्रह्म-निर्देशक व्यवस्थाएँ परिलक्षित होती हैं। उस ब्रह्मनिर्देशकके साथ ब्राह्मण, वेद और यज्ञसमूह भी निर्मित हुए हैं। शास्त्र-विधिका परित्यागकर जिस श्रद्धाका अवलम्बन करोगे, वह सगुण, अब्रह्मनिर्देशक एवं कामफलदायक होगी। अतएव शास्त्र-विधानमें ही 'पराश्रद्धा' की व्यवस्था है। शास्त्र और श्रद्धाके विषयमें तुम्हारी जो शङ्का है, वह केवल अविवेकजनित है। अतएव वेदवादिगण ब्रह्मको उद्देश्य करनेवाले ॐ-शब्द व्यवहारपूर्वक समस्त शास्त्रोक्त यज्ञ, दान, तप और क्रियाओंका अनुष्ठान करते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२३-२४।।

तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः।
दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः।।२५।।

अन्वय—तत् इति (तत्—इस शब्दका) [उदाहृत्य—उच्चारणकर] फलम् (कर्मफलकी) अनभिसन्धाय (कामना नहीं कर) मोक्षकाङ्क्षिभिः (मुमुक्षुगण द्वारा) विविधाः (अनेक प्रकारके) यज्ञतपःक्रियाः (यज्ञ, तप कार्य) दान क्रियाः च (और दान कार्य) क्रियन्ते (अनुष्ठित होते हैं)।।२५।।

अनुवाद—मुमुक्षुगण 'तत्' शब्दका उच्चारणकर कर्मफलकी कामना नहीं करते हुए अनेक प्रकारके यज्ञ, तप, दान आदि कार्य करते हैं।।२५।।

श्रीविश्वनाथ—तदित्युदाहृत्येति पूर्वस्यानुषङ्गः। अनभिसन्धाय फलाभिसन्धिमकृत्वा।।२५।।

भावानुवाद—पूर्व श्लोकमें कथित 'तत्'—इस शब्दका उच्चारणकर, यज्ञादि कार्योंको करना चाहिए। 'अनभिसन्धाय'—फलकी कोई अभिलाषा न कर विविध क्रियाओंको करना चाहिए।।२५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—'इदम्' शब्दसे परिदृश्यमान इस जगत्‌को एवं 'तत्' शब्दसे जगत्‌से परे ब्रह्मतत्त्वको समझना चाहिए। परतत्त्व-प्राप्तिके उद्देश्यसे ही यज्ञका अनुष्ठान करना कर्त्तव्य है।।२५।।

सद्भावे साधुभावे च सदित्येतत् प्रयुज्यते।
प्रशस्ते कर्मणि तथा सच्छब्दः पार्थ युज्यते।।२६।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) सद्भावे (ब्रह्मत्वमें) साधुभावे च (और ब्रह्मवादित्वमें) सत् इति (यह 'सत्' शब्द) प्रयुज्यते (प्रयुक्त होता है) तथा (उसी प्रकार) प्रशस्ते (माङ्गलिक) कर्मणि (कर्ममें) सत् शब्दः ('सत्' शब्द) युज्यते (युक्त होता है)।।२६।।

अनुवाद—हे पार्थ! ब्रह्मत्वमें और ब्रह्मवादित्वमें इस 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है। उसी प्रकार माङ्गलिक कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है।।२६।।

श्रीविश्वनाथ—ब्रह्मवाचकः सच्छब्दः प्रशस्तेष्वपि वर्त्तते, तस्मात् प्रशस्तमात्रे कर्मणि प्राकृतेऽप्राकृतेऽपि सच्छब्दः प्रयोक्तव्यः इत्याशयेनाह—सद्भाव इति द्वाभ्याम्। सद्भावे ब्रह्मत्वे साधुभावे ब्रह्मवादित्वे प्रयुञ्जते संगच्छते इत्यर्थः।।२६।।

भावानुवाद—ब्रह्मवाचक 'सत्' शब्दका व्यवहार प्रशस्त या माङ्गलिक कार्यमें भी होता है। अतः समस्त प्राकृत और अप्राकृत माङ्गलिक कार्योंमें 'सत्' शब्द प्रयोज्य है। इसीलिए 'सद्भावे' इत्यादि दो श्लोक कह रहे हैं। 'सद्भावे'—ब्रह्मत्वमें तथा साधुभावमें अर्थात् ब्रह्मवादित्वमें इसका अर्थ सङ्गत होता है।।२६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—ॐ-कार परतत्त्व ब्रह्मका नाम है। 'तत्' शब्दसे भी उन्हें ही अभिहित किया जाता है। 'सत्' शब्द भी उसी प्रकार उनकी नित्य विद्यमानता तथा सर्वकारणत्वका बोध कराता है। वे ही एकमात्र 'सत्' वस्तु हैं। श्रुतियाँ भी ऐसी ही कहती हैं—*'सदेव सौम्य इदमग्र आसीत'* अर्थात् हे सौम्य! पहले यह संसार एक अद्वितीय सत्-स्वरूपमें वर्त्तमान था एवं इस विश्व-सृष्टिके पूर्व एक अद्वितीय सत्-वस्तुमात्र थे। उन्हीं सत्‌का भाव जिनके हृदयमें स्थित है, वे ही साधु हैं। श्रीमद्भागवत (३/२५/२५) में भी देखा जाता है—*'सतां प्रसङ्गात्'* यहाँ भी तत्त्वदर्शी भगवद्भक्त सन्तोंके लिए सत् शब्दका प्रयोग हुआ है। इसके अतिरिक्त इस जगत्‌में भी माङ्गलिक कार्योंको भी साधारणतः 'सत्कार्य' कहा जाता है। गौड़ीय वैष्णव स्मृति संरक्षक आचार्यप्रवर श्रीगोपालभट्ट गोस्वामी द्वारा

रचित सत्क्रियासार-दीपिका ग्रन्थमें 'सत्' पदका अर्थ इस प्रकार बताया गया है—एकान्तिक श्रीगोविन्दके भक्त सद्विचार परायण होते हैं, इसलिए उनके सभी कर्म भगवत्प्रीतिके लिए होनेके कारण 'सत्' कहे जाते हैं। उनके अतिरिक्त दूसरे कर्म 'असत्' होनेके कारण वर्जनीय हैं।

इस प्रसङ्गमें भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुनको इन दो श्लोकमें 'सत्' शब्दका अर्थ बता रहे हैं—"हे पार्थ! 'सत्' शब्दका प्रयोग 'सद्भाव' और 'साधुभाव' के लिए होता है। इसी प्रकार प्रशस्त (शुभ) कर्ममें भी 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है।"

'सत्' शब्दका प्रयोग 'ब्रह्म' के लिए होता है। सर्वशक्तिमान् समस्त कारणोंके कारण अखिल रसोंके आधार व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही पूर्ण 'सत्' वस्तु हैं। इनके परिकर, इनका धाम, इन कृष्ण-सम्बन्धी उनके सभी अवतार, अवतारोंके धाम, उनके ऐकान्तिक भक्त, गायत्री मन्त्रमें प्रतिष्ठित देवता और ब्राह्मण, भक्ति आदिके लिए भी 'सत्' शब्दका प्रयोग होता है। इनके अतिरिक्त भगवान्के नाम, रूप, गुण, लीला, आदिके लिए भी इसका प्रयोग होता है। किसी श्रद्धालुको दीक्षित करनेके समय या यज्ञोपवीत धारण करानेके समय 'ॐ तत् सत्' का उच्चारण किया जाता है। दीक्षाके समय गायत्री मन्त्र अथवा भगवन्नाम-मन्त्र प्रदाता श्रीगुरुदेवको भी सद्गुरु, मन्त्र ग्रहण करनेवाले शिष्यको सत्-शिष्य तथा उस अनुष्ठानको सदनुष्ठान कहा जाता है। इस प्रकार भगवान् श्रीकृष्ण-सम्बन्धी सभी भाव, सेवा और वस्तुओंमें 'सत्' शब्दका प्रयोग शास्त्र-सम्मत है।।२६।।

यज्ञे तपसि दाने च स्थितिः सदिति चोच्यते।
कर्म चैव तदर्थीयं सदित्येवाभिधीयते।।२७।।

अन्वय—यज्ञे (यज्ञमें) तपसि (तपस्यामें) दाने च (और दानमें) स्थितिः च (और यज्ञ आदिमें जो एकान्त भावसे अवस्थिति है, उसमें भी) सत् इति (यह 'सत्' शब्द) उच्यते (कहा जाता है) तदर्थीयम् (ब्रह्मकी परिचर्याके उपयोगी) कर्म च एव (भगवान्के मन्दिर-मार्जन इत्यादि कर्म) सत् इति एव (इस 'सत्' शब्दसे) अभिधीयते (अभिहित होते हैं)।।२७।।

अनुवाद—यज्ञ, तपस्या, दान और इनके लिए निश्चयपूर्वक अवस्थानमें भी 'सत्' शब्दका व्यवहार होता है। ब्रह्मकी परिचर्याके उपयोगी मन्दिर-मार्जन इत्यादिको भी 'सत्' शब्दसे अभिहित किया जाता है।।२७।।

श्रीविश्वनाथ—यज्ञादौ स्थितिर्यज्ञादितात्पर्येणावस्थानमित्यर्थः। तदर्थीयं कर्म ब्रह्मपरिचर्योपयोगि यत् कर्म भगवन्मन्दिरमार्जनादिकं तदपि।।२७।।

भावानुवाद—यज्ञ आदिमें 'स्थितिः'—यज्ञादिके तात्पर्यरूपमें अवस्थिति। 'तदर्थीयं कर्म'—ब्रह्मकी परिचर्याके उपयोगी जो कर्म हैं अर्थात् मन्दिरका मार्जन करना इत्यादि।।२७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"यज्ञ, तपस्या और दानमें भी सत्-शब्दका तात्पर्य है, क्योंकि ये सभी क्रियाएँ ब्रह्मके उद्देश्यसे होनेपर 'सत्' शब्दसे अभिहित होती हैं। ब्रह्म उद्देश्य नहीं होनेसे यज्ञ, तपस्या, दान आदि समस्त क्रियाएँ 'असत्' हैं। समस्त जड़ीय कर्म ही जीवके स्वरूपके विरोधी हैं, किन्तु जिस समय ये सभी कर्म ब्रह्मनिष्ठ होकर पराभक्तिको उदित करानेकी प्रतिज्ञा करते हैं, उस समय ये सभी क्रियाएँ भी जीवकी सत्त्व-संशुद्धि अर्थात् स्वरूपसिद्धिरूप कृष्णदास्यके उपयोगी होती हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२७।।

अश्रद्धया हुतं दत्तं तपस्तप्तं कृतञ्च यत्।
असदित्युच्यते पार्थ न च तत्प्रेत्य नो इह।।२८।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'श्रद्धात्रयविभागयोगो' नाम सप्तदशोऽध्याय।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) अश्रद्धया (अश्रद्धाके साथ) हुतम् (होम) दत्तम् (दान) तप्तम् तपः (अनुष्ठित तप) यत् च [अन्यत्] (एवं जो अन्य) कृतम् (किए जाते हैं) तत् (वे) असत् (असत्) इति उच्यते (कहे जाते हैं) [तत्—वे] न इह (न इस संसारमें) नो च प्रेत्य (और न परकालमें) [फलति—फल प्रदान करते हैं]।।२८।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'श्रद्धात्रयविभागयोगो' नाम सप्तदशोऽध्यायस्यान्वयः।।

अनुवाद—हे पार्थ! अश्रद्धापूर्वक जो होम, दान, तपस्या एवं अन्यान्य कर्म अनुष्ठित होते हैं, वे असत् कहे जाते हैं। वे न तो इस लोकमें और न ही परलोकमें फलदायक होते हैं।।२८।।

श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तदश अध्यायका अनुवाद समाप्त।

श्रीविश्वनाथ—सत्कर्म श्रुतम्, तथा असत्कर्म किमित्यपेक्षायामाह—अश्रद्धयेति। हुतं हवनं, दत्तं दानं, तपस्तप्तं, कृतं यदन्यच्चापि कर्म कृतं तत् सर्वमसदिति हुतमप्यहुतमेव दत्तमप्यदत्तमेव तपोऽप्यतप्तेमव कृतमप्यकृतमेव, यतस्तत् न प्रेत्य न परलोके फलति नापीहलोके फलति।।२८।।

उक्तेषु विविधेष्वेव सात्त्विकं श्रद्धया कृतम्।
यत् स्यात्तदेव मोक्षार्हमित्यध्यायार्थ ईरितः।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतास्वयं सप्तदशः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

भावानुवाद—सत्कर्मके बारेमें सुना, किन्तु असत् कर्म क्या है? इस प्रश्नकी अपेक्षाकर श्रीभगवान् 'अश्रद्धया' इत्यादि कह रहे है। अश्रद्धापूर्वक 'हुतं'—होम, 'दत्तं'—दान, 'तपः'—तपस्या, 'कृतं'-अन्य जो कुछ किए जायँ, वे सभी असत् हैं अर्थात् होम करनेपर भी वह होम नहीं है, दान करनेपर भी दान नहीं है, तपस्या करनेपर भी वह तपस्या नहीं है और जो कुछ भी किया जाता है, वह नहीं किया गया। क्योंकि, '*तत् न प्रेत्य न इह*'—परलोककी तो बात दूर रहे, इस लोकमें भी ये फल नहीं देते।।२८।।

विविध प्रकारके कहे गए कर्मोंमें सात्त्विकी श्रद्धाके साथ किए जानेपर ही वे कर्म मोक्षदायक होते हैं—यही इस अध्यायमें निरूपित हुआ।।

श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तदश अध्यायकी साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तदश अध्यायकी सारार्थवर्षिणी
टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवत्-सेवाके उद्देश्यसे हरि-गुरु-वैष्णवोंकी सेवाके लिए भिक्षा-संग्रह, कूप-निर्माण, तालाब-निर्माण, पुष्पोद्यान, तुलसी एवं वृक्षारोपण, मन्दिर-निर्माण—ये सब तदर्थीय कर्म भी 'सत्' हैं।

"हे अर्जुन! निर्गुण श्रद्धाके अतिरिक्त जो यज्ञ, दान और तपस्या अनुष्ठित होते हैं, वे सभी असत् हैं। ये सभी क्रियाएँ अभी या बादमें कभी भी उपकार नहीं करतीं। अतएव शास्त्रसमूह निर्गुणा श्रद्धाका ही उपदेश देते हैं। शास्त्रका परित्याग करनेसे निर्गुणा श्रद्धाका परित्याग करना पड़ता है। निर्गुणा श्रद्धा ही भक्ति-लताका एकमात्र बीज है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२८।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके सप्तदश
अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

सप्तदश अध्याय समाप्त।

अष्टादशोऽध्यायः

अर्जुन उवाच—

संन्यासस्य महाबाहो तत्त्वमिच्छामि वेदितुम्।
त्यागस्य च हृषीकेश पृथक्केशिनिषूदन।।१।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) महाबाहो (हे महाबाहो!) हृषीकेश (हे हृषीकेश!) केशिनिषूदन (हे केशिनिषूदन!) संन्यासस्य (संन्यासके) च त्यागस्य (और त्यागके) तत्त्वम् (तत्त्वको) पृथक् (पृथक्रूपसे) वेदितुम (जाननेकी) इच्छामि (इच्छा करता हूँ)।।१।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे महाबाहो! हे हृषीकेश! हे केशिनिसूदन! मैं संन्यास और त्यागके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जानना चाहता हूँ।।१।।

श्रीविश्वनाथ— ***संन्यासज्ञानकर्मादेस्त्रैविध्यं मुक्तिनिर्णयः।***
गुह्यसारतमा भक्तिरित्यष्टादश उच्यते।।

अनन्तराध्याये *"तदित्यनभिसन्धाय फलं यज्ञतपःक्रियाः। दानक्रियाश्च विविधाः क्रियन्ते मोक्षकाङ्क्षिभिः।।"* इत्यत्र भगवद्वाक्ये मोक्षकाङ्क्षिशब्देन संन्यासिन एवोच्यन्ते, अन्ये वा यद्यन्ये एव ते, तर्हि *"सर्वकर्मफलत्यागं ततः कुरु यतात्मवान्"* इति त्वदुक्तानां सर्वकर्मफलत्यागिनां तेषां स त्यागः कः? संन्यासिनाञ्च को वा संन्यासः? इति विवेकतो जिज्ञासुराह—संन्यासस्येति। पृथगिति यदि संन्यासत्यागशब्दौ भिन्नार्थौ तदा संन्यासस्य त्यागस्य च तत्त्वं पृथग्वेदितुमिच्छामि। यदि त्वेकार्थौ तावपि त्वन्मते वा अन्यमते वा तयोरैक्यार्थम् अर्थात् एकार्थत्वमिति पृथग्वेदितुमिच्छामि। हे हृषिकेशेति मद्बुद्धेः प्रवर्त्तकत्वात् त्वमेव इमं सन्देहमुत्थापयसि। 'केशिनिसूदनः' इति तञ्च सन्देहं त्वमेव केशिनमिव विदारयसीति भावः। 'महाबाहो' इति त्वं महाबाहुर्बलान्वितोऽहं किञ्चिद्बाहुबलान्वित इत्येतदंशेनैव मया सह सख्यं तव, न तु सार्वज्ञ्यादिभिरंशैरतस्त्वद्दत्त-किञ्चित्सख्यभावादेव प्रश्ने मम निःशङ्कता भावः।।१।।

भावानुवाद—संन्यास, ज्ञान, कर्म आदिके तीन प्रकार, मुक्तिका निर्णय एवं गुह्यसारतमा भक्तिके विषयमें इस अध्यायमें कहा गया है।

पिछले अध्याय (गीता १७/२५) में श्रीभगवान्‌ने कहा—"मोक्षकामी लोग फलकी कामनासे रहित होकर 'तत्' शब्दका उच्चारण करते हुए नाना प्रकारके यज्ञ, दान और तपस्या करते हैं।" भगवान्‌के इस वाक्यमें संन्यासीको ही 'मोक्षकामी' कहा गया है। यदि संन्यासीको लक्ष्य न कर अन्यको लक्ष्य किया जाय, तो गीता (१५/११) में कहे गए 'आत्मवान् होकर समस्त फलोंको त्यागकर वैदिक कर्मोंका आचरण करो'—इसके अनुसार वह त्याग ही कैसा है? संन्यासियोंका संन्यास ही कैसा है? इस प्रकार विवेकवान् जिज्ञासु अर्जुनने कहा—'संन्यासम्' इत्यादि। 'पृथक्'—यदि संन्यास और त्याग इन दोनों शब्दोंका पृथक्-पृथक् अर्थ हो, तो मैं उनके तत्त्वको पृथक्-पृथक् जाननेकी इच्छा करता हूँ। आपके अथवा अन्य लोगोंके मतमें यदि दोनोंके एक ही अर्थ हों तथापि मैं पृथक् रूपसे उन्हें जानना चाहता हूँ। हे हृषीकेश! आप ही मेरी बुद्धिके प्रवर्त्तक हैं, अतः यह सन्देह आपकी ही प्रेरणासे उत्पन्न हुआ है। हे केशिनिषूदन! आपने जिस प्रकार केशी असुरका नाश किया, उसी प्रकार मेरे इस सन्देहका भी विनाश करें। हे महाबाहो! आप अति बलशाली हैं और मैं किञ्चित् बल-सम्पन्न हूँ। इस रूपमें साम्य रहनेके कारण आपके साथ मेरा सखाका सम्बन्ध है, किन्तु आपके सर्वज्ञत्व आदि धर्मोंके साथ मेरा कुछ भी साम्य नहीं है। अतः आपके द्वारा प्रदत्त किञ्चित् सख्यभावके कारण ही मैं निःशंक होकर आपसे प्रश्न करनेमें समर्थ हुआ हुआ हूँ।।१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान् श्रीकृष्णने गीतामें कहीं-कहीं कर्मसंन्यासका और कहीं-कहीं कर्मका स्वरूपतः त्याग न कर सब प्रकारके कर्मोंके फलत्यागका उपदेश दिया है। स्थूल दृष्टिसे इन दोनोंमें परस्पर विरोध-सा प्रतीत होता है। अर्जुन श्रीकृष्ण द्वारा त्याग और संन्यासके यथार्थ तात्पर्य, उनमें भेद तथा वैशिष्ट्यके सम्बन्धमें प्रश्नकर स्थूल बुद्धि-सम्पन्न लोगोंके सन्देहको दूर करना चाहते हैं। विशेषतः श्लोकमें आए हुए 'केशिनिषूदन' 'हृषीकेश', 'महाबाहो' आदि सम्बोधनोंका कुछ गूढ़ रहस्य है। कृष्णने भीषण आसुरी प्रवृत्तिवाले केशी नामक दैत्यका वध किया था। इसलिए वे महाबाहो या बलशाली हैं। इसीलिए अर्जुन कहते हैं कि आप मेरे सन्देहरूप दैत्यका विनाश करनेमें पूर्णरूपसे समर्थ हैं। आपकी अन्तःप्रेरणासे ही मेरे हृदयमें यह संशय उदित हुआ है। मेरी समस्त इन्द्रियोंके प्रेरक एवं प्रभु होनेके कारण आप मेरे सारे सन्देहोंको सम्पूर्णरूपसे दूरकर आत्म-तत्त्व, भगवत्-तत्त्व और भक्ति-तत्त्वको

प्रकाशित करनेमें भी समर्थ हैं। यह इन तीन सम्बोधनोंका गूढ़ तात्पर्य है। यदि कोई व्यक्ति अर्जुनकी भाँति भगवान्‌के शरणागत होकर उनसे इस दिव्य तत्त्व-ज्ञान अर्थात् प्रेमा-भक्तिकी प्रार्थना करता है, तो भगवान् उसे पूर्ण कर देते हैं।।१।।

श्रीभगवानुवाच—
काम्यानां कर्मणां न्यासं संन्यासं कवयो विदुः।
सर्वकर्मफलत्यागं प्राहुस्त्यागं विचक्षणाः।।२।।

अन्वय—श्रीभगवान् उवाच (श्रीभगवान्‌ने कहा) विचक्षणाः कवयः (निपुण पण्डितगण) काम्यानाम् कर्मणाम् (काम्य कर्मोंके) न्यासम् (स्वरूपतः त्यागको) संन्यासम् (संन्यास) विदुः (जानते हैं) [और] सर्वकर्मफलत्यागम् (सभी कर्मोंके फलके त्यागको) त्यागम् (त्याग) प्राहुः (कहते हैं)।।२।।

अनुवाद—श्रीभगवान्‌ने कहा—निपुण पण्डितगण काम्य कर्मोंके स्वरूपतः त्यागको संन्यास जानते हैं और सभी कर्मोंके फलके त्यागको त्याग कहते हैं।।२।।

श्रीविश्वनाथ—प्रथमं प्राच्यं मतमाश्रित्य संन्यासत्यागशब्दयोर्भिन्न-जातीयार्थत्वमाह—काम्यानामिति।*"पुत्रकामो यजेत" "स्वर्गकामो यजेत"* इत्येवं कामोपबन्धेन विहितानां काम्यानां कर्मणां न्यासं स्वरूपेणैव त्यागं संन्यासं विदुर्न तु नित्यानामपि सन्ध्योपास्त्यादीनामिति भावः। सर्वेषां काम्यानां नित्यानामपि कर्मणां फलत्यागमेव, न तु स्वरूपतस्त्यागं केषामपीति भावः। नित्यानामपि कर्मणां फलं *"कर्मणा पितृलोकः"* इति, *"धर्मेण पापमपनुदति"* इत्याद्याः श्रुतयः प्रतिपादयन्त्येवेत्यतस्त्यागे फलाभिसन्धिरहितं सर्वकर्मकरणम्। सन्यासे तु फलाभिसन्धिरहितं नित्यकर्मकरणम्, काम्यकर्मणां तु स्वरूपेणैव त्याग इति भेदो ज्ञेयः।।२।।

भावानुवाद—पहले प्राचीन मतका आश्रयकर संन्यास और त्याग—इन दोनों शब्दोंके भिन्न अर्थको बता रहे हैं—'काम्यानाम्' इत्यादि। 'पुत्रकी कामनासे यज्ञ करेंगे', 'स्वर्गकी कामनासे यज्ञ करेंगे' इत्यादि काम्य कर्मोंके स्वरूपतः त्यागको ही 'संन्यास' जानो। किन्तु, सन्ध्या-उपासना आदि नित्य कर्मोंके त्यागको नहीं। समस्त काम्य और नित्य कर्मोंमें फलत्याग ही 'त्याग' है, किसीका स्वरूपतः त्याग नहीं। सभी श्रुतियाँ नित्य कर्मोंके भी फलका प्रतिपादन करती हैं, जैसे—कर्म द्वारा पितृलोक प्राप्त होता है,

धर्म करनेसे पाप दूर होते हैं इत्यादि। अतएव फलकी कामनासे रहित होकर सभी कर्मोंका अनुष्ठान ही त्याग है। किन्तु, संन्यास शब्दसे फलकामना शून्य होकर समस्त नित्य कर्मोंका करना और काम्य कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करना जानना चाहिए—दोनोंमें यही भेद जानना चाहिए।।२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीभगवान् कहते हैं—तत्त्वविद् महापुरुषोंका उक्त विषयमें यह विचार है कि नित्य और नैमित्तिक कर्मोंका स्वरूपतः त्याग न कर केवल सकाम कर्मोंका स्वरूपतः त्याग करना ही संन्यास है तथा सकाम एवं नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका स्वरूपतः त्याग न कर केवल कर्मफल त्याग करना ही त्याग शब्दका तात्पर्य है। शास्त्रोंके विभिन्न स्थानोंमें दोनों प्रकारके विचारोंका विवेचन दृष्टिगोचर होता है, किन्तु यहाँ इस विषयमें श्रीभगवान्‌का और उनके तत्त्वविद् भक्तोंका विचार क्या है, यह जान लेनेपर ही उपरोक्त विचारोंका चरम सामञ्जस्य सम्भवपर है।

श्रीकृष्णने श्रीमद्भागवतमें उद्धवको लक्ष्यकर अधिकारीके भेदसे कर्म, ज्ञान और भक्ति—तीन प्रकारके योगोंका वर्णन किया है। कर्म और कर्मफलमें आसक्त लोगोंके लिए कर्मयोग, कर्मफलसे विरक्त परम त्यागी पुरुषोंके लिए ज्ञानयोगका उपदेश दिया है। इसके अतिरिक्त जो कर्मफलमें अत्यधिक आसक्त नहीं हैं तथा शुष्क वैरागी भी नहीं हैं, ऐसे मध्यम श्रेणीके लोगोंके लिए भक्तियोगका उपदेश दिया है। साधारणतः बद्धजीव प्रारम्भिक अवस्थामें कर्माधिकारमें अवस्थित रहता है। तदनन्तर इस अवस्थासे ज्ञानाधिकारमें प्रवेश करानेके लिए कर्मफलत्याग तथा कर्मसंन्यासका उपदेश दिया गया है। सर्वप्रथम सकाम कर्मोंके त्यागका अभ्यास करते-करते नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके फलका त्याग करना चाहिए। कुछ दिन ऐसा करनेपर चित्तके शुद्ध होनेपर ज्ञानरूप उन्नत सोपानपर अवस्थित होनेपर कर्माधिकार समाप्त हो जाता है। उस स्थितिमें सभी कर्मोंका स्वरूपतः त्याग सम्भव हो सकता है। यहाँ तक कि *'ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत'* के अनुसार ज्ञानकी सिद्धि होनेपर उक्त ज्ञान भी परित्यक्त हो जाता है। परन्तु, साधक भक्तोंको भक्तिसिद्धि होनेपर भी कर्मी और ज्ञानीकी भाँति भक्ति परित्यक्त नहीं होती, अपितु वह सिद्ध अवस्थामें शुद्धरूपमें और भी भलीभाँति अनुष्ठित होने लगती है। इसीलिए स्वयं भगवान् श्रीकृष्णने कहा है—*'तावत् कर्माणि कुर्वीत'* (श्रीमद्भा. ११/२०/९), *'ज्ञाननिष्ठो विरक्तो वा'* (श्रीमद्भा.११/१८/२८), *'यस्त्वात्मरतिरेव स्यात्'*

(गीता ३/१७), *'सर्वधर्मान् परित्यज्य'* (गीता १८/६६) तथा योगवाशिष्ठमें भी कहा गया है—*'न कर्माणि त्यजेत योगी कर्मभिस्त्यज्यते ह्यसाविति'* अर्थात् योगी कर्मोंका त्याग न करें, एक उन्नत स्थितिमें कर्म ही योगीका परित्याग कर देगा। साधारणतः शास्त्रोंमें कर्मत्यागका उपदेश न देकर केवल काम्य कर्मत्याग अथवा कर्मोंके फलका त्याग करनेका जो उपदेश दिया गया है, उसका कारण है कि बद्धजीव साधारणतः सकाम कर्मोंमें आसक्त रहता है, उसे प्रारम्भमें ही कर्मत्यागका उपदेश देनेपर वह उसे ग्रहण नहीं कर पाता। जीवको क्रमशः उच्चाधिकारमें ले जानेके लिए ही ये उपदेश दिए गए हैं।

क्रमपद्धतिसे पहले-पहल कर्मफलके त्यागका अभ्यास करनेपर चित्तकी शुद्धि होगी, तत्पश्चात् आत्माकी प्रसन्नता (आत्मरति) होनेपर ही कर्मोंका स्वरूपतः त्याग सम्भव है। भगवान्ने इसी दृष्टिकोणसे *'न बुद्धिभेदं जनयेत्'* (गीता ३/२६) श्लोकका उपदेश दिया है अर्थात् कर्ममें आसक्त अविवेकी लोगोंको कर्मत्यागका उपदेश नहीं देना चाहिए, क्योंकि बुद्धिके अपक्व होनेके कारण उनकी बुद्धिमें भ्रम हो जाता है तथा वे परमार्थ-पथसे च्युत हो जाते हैं। किन्तु, इसके द्वारा यह भी सर्वदा स्मरण रखना चाहिए कि केवला भक्तिमें अधिकार होनेपर नित्य-नैमित्तिक और काम्य—सभी कर्मोंका स्वरूपतः त्याग सम्भवपर होता है। इसीलिए इस अध्यायके अन्तमें *'सर्वधर्मान् परित्यज्य'* श्लोककी अवतारणा हुई है। श्रील चक्रवर्त्ती ठाकुरने इस श्लोककी टीकामें लिखा है कि सौभाग्यवश महत् पुरुषोंकी कृपासे अनन्या भक्तिमें अधिकार प्राप्त होनेपर नित्य कर्मोंके नहीं करनेपर भी पाप या प्रत्यवायकी कोई भी सम्भावना नहीं होती। किन्तु, वैसी स्थितिमें भी नित्य-नैमित्तिक कर्मोंका आचरण करनेसे मेरी आज्ञालंघन करनेके कारण पाप स्पर्श करता है। यहाँ पर नित्य कर्म करनेका तात्पर्य कर्ममार्गीय देवता-देवियोंके उद्देश्यसे अनुष्ठित सन्ध्या-उपासना आदि है तथा नैमित्तिक कर्मसे पितृ और देवताओंके अर्चन-पूजन आदि धार्मिक कृत्योंको समझना चाहिए। इन सबका समुचितरूपसे त्याग करनेपर ही श्रीकृष्णकी अनन्या भक्तिमें प्रवेश किया जा सकता है। यहाँ हम गौड़ीय वैष्णव-स्मृति सरंक्षक आचार्य प्रवर श्रीमद्गोपाल भट्टगोस्वामी द्वारा संकलित सत्क्रियासार दीपिकाका अनुशीलन करनेपर यह भलीभाँति समझ पाएँगे कि श्रीकृष्णके ऐकान्तिक भक्तगणके किसी भी वर्ण और आश्रममें उपस्थित होनेपर भी

उनके लिए पितृ पुरुषों अथवा देवी-देवताओंके अर्चन-पूजनका विधान किसी भी प्रामाणिक शास्त्रमें नहीं देखा जाता, बल्कि पितृ-देवार्चन आदि अनुष्ठित होनेपर अनन्य शरणागत कृष्ण-भक्तोंके लिए सेवापराध और नामापराध घटित होता है। उन्होंने उक्त ग्रन्थमें शास्त्रीय प्रमाणोंके आधारपर यह प्रमाणित किया है कि अनन्या भक्तिके द्वारा कृष्णके प्रसन्न होनेपर भक्त द्वारा अन्यान्य कर्मोंका परित्याग किए जानेपर भी कोई पाप या प्रत्यवाय नहीं होता। ऐसे ऐकान्तिक भक्त ब्रह्माण्डके भीतर या बाहरमें अवस्थित सारे शुभ एवं कल्याणजनक स्थितिको प्राप्त करते हैं।

"श्रीकृष्णने कहा—काम्य कर्मोंका स्वरूपतः परित्यागकर नित्य और नैमित्तिक कर्मोंके निष्कामरूपसे अनुष्ठान करनेका नाम ही 'संन्यास' है। नित्य, नैमित्तिक और काम्य—सभी प्रकारके कर्मोंका अनुष्ठान करते हुए भी सभी कर्मोंके फलको त्याग करनेका नाम ही 'त्याग' है। विचक्षण कविगण संन्यास और त्यागका यही पार्थक्य बताते हैं।"—भक्तिविनोद ठाकुर।।२।।

त्याज्यं दोषवदित्येके कर्म प्राहुर्मनीषिणः।
यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यमिति चापरे।।३।।

अन्वय—एके मनीषिनः (सांख्यवादी कोई कोई पण्डित) प्राहुः (कहते हैं) कर्म (कर्ममात्र) दोषवत् (दोषयुक्त हैं) इति (अतः) त्याज्यम् (त्याज्य हैं) अपरे च (और दूसरे मीमांसकगण) इति [प्राहुः] (यह कहते हैं) यज्ञ-दान-तपः-कर्म (यज्ञ, दान और तपस्यारूप कर्म) न त्याज्यम् (त्यागने योग्य नहीं हैं)।।३।।

अनुवाद—सांख्यवादी कोई कोई मनीषी ऐसा कहते हैं कि कर्ममात्र दोषयुक्त हैं, अतः ये त्यागने योग्य हैं। और दूसरे मीमांसक ऐसा कहते हैं कि यज्ञ, दान, तपस्या आदि कर्म त्यागने योग्य नहीं है।।३।।

श्रीविश्वनाथ—त्यागे पुनरपि मतभेदमुपक्षिपति—त्याज्यमिति। दोषवत् हिंसादिदोषवत्त्वात् कर्म स्वरूपत एव त्याज्यमित्येके सांख्याः। परे मीमांसका यज्ञादिकं कर्मशास्त्रे विहितत्वान्न त्याज्यमित्याहुः।।३।।

भावानुवाद—त्यागके विषयमें पुनः मतभेद दिखा रहे हैं—'त्याज्यम्' इत्यादि। कुछ सांख्यवादियोंका मत है कि हिंसा आदि दोषोंसे युक्त होनेके कारण कर्म स्वरूपतः ही त्याज्य हैं। दूसरे अर्थात् मीमांसक लोग कहते हैं कि यज्ञ आदि कर्म शास्त्रविहित होनेके कारण त्याज्य नहीं है।।३।।

निश्चयं शृणु मे तत्र त्यागे भरतसत्तम।
त्यागो हि पुरुषव्याघ्र त्रिविधः संप्रकीर्त्तितः।।४।।

अन्वय—भरतसत्तम (हे भरतश्रेष्ठ!) तत्र त्यागे (उनमें से त्यागके सम्बन्धमें) मे (मेरा) निश्चयम् (निश्चय सिद्धान्त) शृणु (श्रवण करो) पुरुषव्याघ्र (हे पुरुषवर!) त्यागः त्रिविधः (त्याग तीन प्रकारका) संप्रकीर्त्तितः (कहा गया है)।।४।।

अनुवाद—हे भरतश्रेष्ठ! त्यागके सम्बन्धमें मेरा निश्चय श्रवण करो। हे पुरुषवर! त्याग तीन प्रकारका कहा गया है।।४।।

श्रीविश्वनाथ—स्वमतमाह—निश्चयमिति। त्रिविधः—सात्त्विको राजसः तामसश्चेति। अत्र त्यागस्य त्रैविध्यमुत्क्रम्य *"नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते। मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः।।"* इति तस्य एव तामसभेदैः संन्यासशब्दप्रयोगाद्भगवन्मते त्याग-संन्यासशब्दयोरैक्यार्थम्-एवेत्यवगम्यते।।४।।

भावानुवाद—अब श्रीभगवान् अपना मत बता रहे हैं—'निश्चयम्' इत्यादि। त्यागके तीन भेद हैं—सात्त्विक, राजसिक और तामसिक। इस विषयमें तीनों प्रकारके त्यागोंका वर्णनकर कहते हैं—नित्य कर्मोंका *संन्यास* सम्भवपर नहीं है, जो भ्रमित होकर नित्य कर्मका परित्याग करते हैं, उनका ही यह *त्याग* तामसिक त्याग है। (गीता१८/६) इस वाक्यके अनुसार त्यागको ही संन्यास कहा गया है। अतः श्रीभगवान्के मतानुसार त्याग और संन्यास शब्द एक ही अर्थवाले हैं।।४।।

यज्ञदानतपःकर्म न त्याज्यं कार्यमेव तत्।
यज्ञो दानं तपश्चैव पावनानि मनीषिणाम्।।५।।

अन्वय—यज्ञ-दान-तपः-कर्म (यज्ञ, दान और तपस्यारूप कर्म) न त्याज्यम् (त्याज्य नहीं हैं) तत् (ये सभी) कार्यम् एव (कर्त्तव्य कर्म हैं) [क्योंकि] यज्ञः दानम् तपः च (यज्ञ दान और तपस्या) मनीषिणाम् (मनीषियोंके लिए) पावनानि एव (चित्तशुद्धिकर ही हैं)।।५।।

अनुवाद—यज्ञ, दान और तपस्यारूप कर्म स्वरूपतः त्याज्य नहीं हैं, ये कर्त्तव्य कर्म हैं। यज्ञ, दान और तपस्या मनीषियोंके चित्तको शुद्ध करनेवाली हैं।।५।।

श्रीविश्वनाथ—काम्यानामपि मध्ये भगवन्मते सात्त्विकानि यज्ञदानतपांसि फलाकाङ्क्षारहितैः कर्त्तव्यानीत्याह—यज्ञादिकं कर्त्तव्यमेव। तत्र हेतुः—पावनानीति चित्तशुद्धिकरत्वादित्यर्थः।।५।।

भावानुवाद—श्रीभगवान्‌के मतानुसार काम्य कर्मोंमें भी सात्त्विक यज्ञ, दान और तपस्या फलकी अभिलाषासे रहित होकर अनुष्ठेय हैं। इसीलिए कहते हैं—यज्ञ आदिका अनुष्ठान कर्त्तव्य है, क्योंकि ये चित्तको शुद्ध करनेवाले हैं।।५।।

एतान्यपि तु कर्माणि सङ्गं त्यक्त्वा फलानि च।
कर्त्तव्यानीति मे पार्थ निश्चितं मतमुत्तमम्।।६।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) एतानि (ये सभी) कर्माणि अपि तु (कर्म भी) सङ्गम् (कर्त्तापनके अभिमान) फलानि च (और फलकी आशाका) त्यक्त्वा (त्यागकर) कर्त्तव्यानि (करना कर्त्तव्य है) इति (यह) मे (मेरा) निश्चितम् (निश्चित) उत्तमम् (उत्तम) मतम् (मत है)।।६।।

अनुवाद—हे पार्थ! ये सभी कर्म भी कर्त्तापनके अभिमान और फलाकांक्षासे रहित होकर करना ही कर्त्तव्य है, यह मेरा निश्चित, उत्तम मत है।।६।।

श्रीविश्वनाथ—येन प्रकारेण कृतान्येतानि पावनानि भवन्ति, तं प्रकारं दर्शयति—एतान्यपीति। सङ्गं कर्त्तृत्वाभिनिवेशं फलाभिसन्धिञ्च, फलाभिसन्धि-कर्त्तृत्वाभिनिवेशयोस्त्याग एव त्यागः संन्यासश्चोच्यते इति भावः।।६।।

भावानुवाद—जिस प्रकारसे ये सब कर्म चित्तको शुद्ध करनेवाले होते हैं, उसे बता रहे हैं—'एतान्यपि' इत्यादि। 'सङ्ग' अर्थात् कर्त्तृत्वाभिनिवेश और फलकी कामनासे रहित होकर ही कर्त्तव्य कर्मोंको करना चाहिए। फलाकांक्षा और कर्त्तृत्वाभिनिवेश (कर्त्तापनके अभिमान) का त्याग ही त्याग है। यही संन्यास भी कहलता है।।६।।

नियतस्य तु संन्यासः कर्मणो नोपपद्यते।
मोहात्तस्य परित्यागस्तामसः परिकीर्त्तितः।।७।।

अन्वय—नियतस्य तु (किन्तु नित्य) कर्मणः संन्यासः (कर्मका संन्यास) न उपपद्यते (उचित नहीं है) मोहात् (मोहवश) तस्य परित्यागः (उसका परित्याग) तामसः परिकीर्त्तितः (तामसिक कहलाता है)।।७।।

अनुवाद—किन्तु, नित्य कर्मका संन्यास उचित नहीं है। मोहवश उसका परित्याग तामसिक कहलाता है।।७।।

श्रीविश्वनाथ—प्रक्रान्तस्य त्रिविधत्यागस्य तामसं भेदमाह—नियतस्य नित्यस्य। मोहात् शास्त्रतात्पर्याज्ञानात्। संन्यासी काम्यकर्मण्यावश्यकत्वाभावात् परित्यजतु नाम, नित्यस्य तु कर्मणस्त्यागो नोपपद्यते इति तु-शब्दार्थः।

मोहादज्ञानात्, तामस इति तामसत्यागस्य फलमज्ञानप्राप्तिरेव, न त्वभीप्सितज्ञानप्राप्तिरिति भावः।।७।।

भावानुवाद—प्रकरणके अनुसार तीन प्रकारके त्यागमें से यहाँ 'तामस' त्यागके विषयमें कहा जा रहा है। 'मोहात्' अर्थात् शास्त्रके तात्पर्यको नहीं जाननेके कारण जो त्याग किया जाता है, वह तामसिक त्याग है। काम्य कर्मोंकी आवश्यकता नहीं है, ऐसा कहकर संन्यासी उनका परित्याग करें, किन्तु नित्य कर्मोंका त्याग उचित नहीं है। यही 'तु' शब्दका अर्थ है। 'मोहात्' का तात्पर्य है—अज्ञानवशतः। तामस त्यागका फल भी अज्ञान-प्राप्ति ही है, अभिलषित ज्ञानकी प्राप्ति नहीं।।७।।

दुःखमित्येव यत्कर्म कायक्लेशभयात्त्यजेत्।
स कृत्वा राजसं त्यागं नैव त्यागफलं लभेत्।।८।।

अन्वय—कर्म दुःखम् (कर्म दुःखजनक है) इति एव मत्वा (यह मानकर) [यः—जो] कायक्लेशभयात् (शारीरिक कष्टके भयसे) यत् (जो) त्यजेत् (त्याग करता है) सः (वह) राजसः त्यागः (राजस त्याग) कृत्वा (कर) त्यागफलम् (त्यागके फलको) न लभेत् एव (प्राप्त नहीं करता है)।।८।।

अनुवाद—जो दुःखजनक मानकर शारीरिक कष्टके भयसे कर्मका परित्याग करता है, वह राजस त्याग करते हुए त्यागके फलसे वञ्चित रहता है।।८।।

श्रीविश्वनाथ—दुःखमित्येवेति। यद्यपि नित्यकर्मणामावश्यकमेव, तत्करणे गुण एव, न तु दोष इति जानाम्येव, तदपि तैः शरीरं मया कथं वृथा क्लेशयितव्यमिति भावः। त्यागफलं ज्ञानं न लभेत।।८।।

भावानुवाद—यद्यपि नित्य कर्म आवश्यक ही हैं, उनके करनेमें गुण ही है, दोष नहीं—यह जानकर भी जो ऐसा सोचते हैं कि मैं व्यर्थ अपने शरीरको क्यों कष्ट दूँ, उनका त्याग तामस है। वे त्यागके फल ज्ञानको नहीं प्राप्त करते हैं।।८।।

कार्यमित्येव यत्कर्म नियतं क्रियतेऽर्जुन।
सङ्गं त्यक्त्वा फलञ्चैव स त्यागः सात्त्विको मतः।।९।।

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) सङ्गम् (कर्त्तापनके अभिमान) फलम् च एव (और फलकामनाको) त्यक्त्वा (त्यागकर) कार्यम् इति एव (कर्त्तव्य

समझकर) यत् नियतम् कर्म (जो नित्य कर्म) क्रियते (किया जाता है) सः त्यागतः (वह त्याग ही) सात्त्विकः मतः (सात्त्विक माना गया है)।।९।।

अनुवाद—हे अर्जुन! कर्त्तापनके अभिमान और फलकामनाको त्यागकर कर्त्तव्य समझकर जो नित्य कर्म किया जाता है, वह सात्त्विक त्याग माना गया है।।९।।

श्रीविश्वनाथ—कार्यमवश्यकर्त्तव्यमिति बुद्ध्या नियतं नित्यं कर्म, सात्त्विक इति त्यागात्यागफलं ज्ञानं स लभेतैवेति भावः।।९।।

भावानुवाद—यह अवश्य ही करणीय है—ऐसी बुद्धिसे किया गया नित्य कर्म सात्त्विक होता है। वे त्याग-अत्यागके फल ज्ञानको प्राप्त करते हैं।।९।।

न द्वेष्ट्यकुशलं कर्म कुशले नानुषज्जते।
त्यागी सत्त्वसमाविष्टो मेधावी छिन्नसंशयः।।१०।।

अन्वय—सत्त्वसमाविष्टः (सत्वगुणसे सम्पन्न) मेधावी (सात्त्विक त्यागी) अकुशलम् (दुःखजनक) कर्म (कर्मसे) न द्वेष्टि (द्वेष नहीं करते हैं) कुशलम् (सुखदायक कर्मसे) न अनुषज्जते (अनुरक्त नहीं होते हैं)।।१०।।

अनुवाद—सत्त्वगुणसे सम्पन्न, स्थिर बुद्धिवाले और संशयरहित त्यागी दुःखजनक कर्मसे द्वेष नहीं करते और सुखजनक कर्ममें अनुरक्त नहीं होते।।१०।।

श्रीविश्वनाथ—एवम्भूतसात्त्विकत्यागपरिनिष्ठितस्य लक्षणमाह—न द्वेष्टीति। अकुशलमसुखदं शीते प्रातःस्नानादिकं न द्वेष्टि, कुशले सुखग्रीष्मस्नानादौ।।१०।।

भावानुवाद—इस प्रकार सात्त्विक त्यागमें निष्ठित व्यक्तिके लक्षण बता रहे हैं—'न द्वेष्टि' इत्यादि। वे 'अकुशलं'—शीतकालमें असुखकर प्रातः स्नान आदि कर्मसे द्वेष नहीं करते हैं और 'कुशले'—ग्रीष्मकालमें सुखकर स्नान आदिमें आसक्त नहीं होते हैं।।१०।।

न हि देहभृता शक्यं त्यक्तुं कर्माण्यशेषतः।
यस्तु कर्मफलत्यागी स त्यागीत्यभिधीयते।।११।।

अन्वय—देहभृता (देहधारी जीव द्वारा) अशेषतः (सम्पूर्णरूपसे) कर्माणि (कर्मोंका) त्यक्तुम् (त्याग करना) न शक्यम् हि (सम्भव नहीं हो सकता) तु (किन्तु) यः (जो) कर्मफलत्यागी (सभी कर्मोंके फलका त्यागनेवाले हैं) सः (वे) त्यागी (त्यागी हैं) इति अभिधीयते (ऐसा कहा जाता है)।।११।।

अनुवाद—देहधारी जीवके लिए सभी कर्मोंका स्वरूपतः त्याग सम्भव नहीं है, किन्तु जो लोग सभी कर्मोंके फलको त्यागनेवाले हैं, वे त्यागी हैं—ऐसा कहा जाता है।।११।।

श्रीविश्वनाथ—इतोऽपि शास्त्रीयं कर्म न त्याज्यमित्याह—नहीति। त्यक्तुं न शक्यं न शक्यानि, तदुक्तम्-*'न हि कश्चित् क्षणमपि जातु तिष्ठत्यकर्मकृत्'* इति।।११।।

भावानुवाद—इस कारणसे भी शास्त्रीय कर्म त्याज्य नहीं हैं, इसलिए कहते हैं—'न हि' इत्यादि। 'त्यक्तुं न' शक्यं'—सभी कर्मोंका त्याग नहीं किया जा सकता है, क्योंकि गीता (३/५) में ही कहा गया है कि कर्म नहीं करते हुए कोई एक मुहूर्त भी नहीं रह सकता है।।११।।

अनिष्टमिष्टं मिश्रञ्च त्रिविधं कर्मणः फलम्।
भवत्यत्यागिनां प्रेत्य न तु संन्यासिनां क्वचित्।।१२।।

अन्वय—अत्यागिनाम् (उक्त त्यागरहित व्यक्तियोंके) प्रेत्य (देहत्यागके बाद) अनिष्टम् (नारकित्व) ईष्टम् (देवत्व) मिश्रम् (और मनुष्यत्व) त्रिविधम् (ये तीन प्रकारके) कर्मणः फलम् (कर्मफल) भवति (होते हैं) तु (किन्तु) संन्यासिनाम् (संन्यासियोंका) क्वचित् (कदापि) न (ऐसा नहीं होता है)।।१२।।

अनुवाद—पूर्वोक्त त्यागरहित व्यक्तियोंके देहत्यागके बाद उन्हें तीन प्रकारका फल प्राप्त होता है—नारकित्व, देवत्व, और मनुष्यत्व। किन्तु, संन्यासियोंका कदापि ऐसा नहीं होता है।।१२।।

श्रीविश्वनाथ—एवम्भूतत्यागाभावे दोषमाह—अनिष्टं नरकदुःखमिष्टं स्वर्गसुखं मिश्रं मनुष्यजन्मनि सुखदुःखमत्यागिनामेवम्भूत-त्यागरहितानामेव भवति, प्रेत्य परलोके।।१२।।

भावानुवाद—इस प्रकारके त्यागके अभावमें दोष होता है। इससे 'अनिष्टं'—नरकका दुःख, 'इष्टं'—स्वर्गका सुख, 'मिश्रं'—मनुष्य जन्मके सुख-दुःख प्राप्त होते हैं। ऐसा केवल अत्यागियोंको ही होता है, त्यागियोंको नहीं। 'प्रेत्य'—परलोक।।१२।।

पञ्चैतानि महाबाहो कारणानि निबोध मे।
सांख्ये कृतान्ते प्रोक्तानि सिद्धये सर्वकर्मणाम्।।१३।।

अन्वय—महाबाहो (हे महाबाहो!) सांख्ये (वेदान्त शास्त्रमें) कृतान्ते (कर्मको समाप्त करनेवाले सिद्धान्तमें) प्रोक्तानि (कथित) सर्वकर्मणाम्

(सभी कर्मोंकी) सिद्धये (सिद्धिके लिए) एतानि पञ्चकारणानि (इन पाँच कारणोंको) मे निबोध (मुझसे श्रवण करो)।।१३।।

अनुवाद—हे महाबाहो! कर्मको समाप्त करनेवाले वेदान्तशास्त्रमें सभी कर्मोंकी सिद्धिके लिए जो पाँच कारण कहे गए हैं, उन्हें मुझसे श्रवण करो।।१३।।

श्रीविश्वनाथ—ननु कर्म कुर्वतः कर्मफलं कथं न भवेदित्याशङ्क्य निरहङ्कारत्वे सति कर्मलेपो नास्तीत्युपपादयितुमाह—पञ्चैतानीति पञ्चभिः। सर्वकर्मणां सिद्धये निष्पत्तये इमानि पञ्चकारणानि मे मम वचनान्निबोध जानीहि—सम्यक् परमात्मानं ख्याति कथयतीति संख्यमेव सांख्यं वेदान्तशास्त्रं तस्मिन्, कीदृशे-कृतं कर्म तस्यान्तो नाशो यस्मात्तस्मिन् प्रोक्तानि।।१३।।

भावानुवाद—कर्म करनेसे कर्मफल क्यों नहीं होगा? इस प्रश्नकी आशंकासे अहङ्कारशून्य पुरुषोंका कर्ममें लेप नहीं है, इसे प्रमाणित करनेके लिए 'पञ्चेति' इत्यादि पाँच श्लोक कह रहे हैं—सभी कर्मोंकी सिद्धि अर्थात् निष्पत्तिके लिए इन पाँच कारणोंको मेरे वचनसे जान लो। जो सम्यक्‌रूपसे परमात्माके विषयमें बताता है, वह संख्य है। सं-ख्य ही सांख्य अर्थात् वेदान्त-शास्त्र है। किए गए कर्मका नाश किस प्रकार होता है—यह उसमें बताया गया है।।१३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—देहधारी बद्धजीवोंके लिए सब प्रकारके कर्मोंका त्याग करना असम्भव है, साथ ही अनाधिकारियोंके लिए हठपूर्वक सब प्रकारके कर्मोंका त्याग करना अमङ्गलजनक है। इसीलिए कर्माधिकारी पुरुषोंके लिए प्रारम्भिक अवस्थामें अकर्म और विकर्मको त्यागकर नित्य-नैमित्तिक कर्मोंके आचरणका उपदेश देखा जाता है। क्रमशः कर्मोंमें आसक्ति दूर होनेपर फलकी आकांक्षासे रहित होकर केवल कर्त्तव्य-बुद्धिसे शास्त्रविहित कर्मोंका आचरण करना कल्याणजनक है। कर्मफलकी कामनासे रहित केवल कर्त्तव्यके लिए कर्मोंका आचरण करना ही कृष्णकी दृष्टिमें संन्यासी और योगीका लक्षण है, इसलिए ऐसे पुरुष संन्यासी और योगी हैं। ऐसे लोग भगवद्भक्तोंका संग पाकर शीघ्र ही भक्तिराज्यमें प्रवेश कर सकते हैं और परमगतिको प्राप्त कर सकते हैं।।१३।।

अधिष्ठानं तथा कर्त्ता करणञ्च पृथग्विधम्।
विविधाश्च पृथक् चेष्टा दैवञ्चैवात्र पञ्चमम्।।१४।।

अन्वय—अधिष्ठानम् (शरीर) तथा कर्त्ता (चित्-जड़ ग्रन्थिरूप अहङ्कार) पृथग्विधम् करणम् च (नाना प्रकारकी इन्द्रियाँ) विविधाः पृथक् चेष्टा च (विविध प्राण और अपान आदिकी पृथक् चेष्टाएँ) अत्र च (और इन कारणोंके बीचमें) पञ्चमम् (पञ्चम) दैवम् एव (अन्तर्यामी)।।१४।।

अनुवाद—देह, कर्त्ता, इन्द्रियाँ और विविध चेष्टाएँ तथा पञ्चम स्थानीय सर्वप्रेरक अन्तर्यामी—वेदान्तमें ये पाँच कारण कहे गए हैं।।१४।।

श्रीविश्वनाथ—तान्येव गणयति—'अधिष्ठानं' शरीरम्, 'कर्त्ता' चिज्जड़ग्रन्थिरहङ्कारः, 'करणं' चक्षुःश्रोत्रादि, पृथग्विधमनेकप्रकारम्, 'पृथक् चेष्टा' प्राणापानादीनां पृथक्व्यापाराः, दैवं सर्वप्रेरकोऽन्तर्यामी च।।१४।।

भावानुवाद—अब उन कारणोंकी संख्या बता रहे हैं—'अधिष्ठानं' अर्थात् शरीर, 'कर्त्ता' अर्थात् चित् और जड़की ग्रन्थि अहङ्कार, 'करणं' अर्थात् चक्षु, कर्ण आदि इन्द्रियाँ, 'पृथग्विधम्'—अनेक प्रकारकी 'पृथक् चेष्टाएँ' अर्थात् प्राण-अपान आदिके पृथक् व्यापारसमूह, 'दैवम्'—सबके प्रेरक और अन्तर्यामी—ये ही पाँच कारण हैं।।१४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्लोकमें आए हुए पाँच कारणोंको विस्तृतमें बताया जा रहा है। इस श्लोकमें 'अधिष्ठान' शब्दसे इस शरीरको समझना चाहिए, क्योंकि बद्धजीवके इसमें अधिष्ठित (अवस्थित) होनेके कारण कार्य होता है। शरीरके भीतर आत्मा कार्य करनेके कारण कर्त्ता कहलाता है। शुद्ध आत्माका इन कर्मोंसे कोई सम्बन्ध नहीं है। किन्तु, कर्त्तापनका अभिमान ही उसे कर्मफलोंका भोक्ता बना देता है, इसलिए आत्मा ही ज्ञाता और कर्त्ता है। श्रुतियोंमें भी इसका उल्लेख पाया जाता है—*'एष हि द्रष्टा स्रष्टा'*। (प्र. उ. ४) वेदान्त सूत्रमें भी *'ज्ञोऽत एव'* (ब्र. सू. २/३/१७) तथा *'कर्त्ता शास्त्रार्थवत्त्वात्'* (ब्र. सू. २/३/३१) आदिसे इसकी पुष्टि होती है। इन्द्रियाँ कर्मके उपकरण हैं और आत्मा इन्हीं इन्द्रियोंके द्वारा विभिन्न प्रकारके कर्मोंको सम्पन्न करता है। प्रत्येक कर्मके लिए पृथक् चेष्टा होती है, किन्तु सारे क्रियाकलाप प्रत्येक हृदयक्षेत्रमें साक्षी, सखा और नियामकरूपमें स्थित परमेश्वरकी इच्छापर ही निर्भर करते हैं। ये परमेश्वर ही परमकारण हैं। जो लोग शास्त्रविद्, तत्त्वदर्शी महापुरुषों तथा हृदयगत परमेश्वरकी प्रेरणासे कर्त्तव्य और अकर्त्तव्यका निर्णयकर भक्तिके अनुशीलनमें प्रवृत्त होते हैं, वे अपने शुभ-अशुभ कर्मोंके बन्धनमें नहीं पड़कर शीघ्र ही परमगति प्राप्त करते हैं।।१४।।

शरीरवाङ्मनोभिर्यत् कर्म प्रारभते नरः।
न्याय्यं वा विपरीतं वा पञ्चैते तस्य हेतवः॥१५॥

अन्वय—नरः (मानव) शरीर-वाङ्-मनोभिः (काय, वाक्य और मनके द्वारा) न्याय्यं (धर्मयुक्त) विपरीतम् वा (या अधर्मयुक्त) यत्कर्म (जो कर्म) प्रारभते (सम्पादित करता है) एते (ये) पञ्च (पाँच) तस्य हेतवः (उसके कारण हैं)॥१५॥

अनुवाद—मानव काय, वाक्य और मनके द्वारा धर्मयुक्त या अधर्मयुक्त जो कुछ कर्म करता है, ये पाँच ही उसके कारण हैं॥१५॥

श्रीविश्वनाथ—शरीरादिभिरिति शारीरं वाचिकं मानसं चेति कर्म त्रिविधम्, तच्च सर्वं द्विविधम्—न्यायं धर्म्यं, विपरीतमन्यायमधर्म्यं, तस्य सर्वस्यापि कर्मण एते पञ्च हेतवः॥१५॥

भावानुवाद—'शरीरादिभिः'—कायिक, वाचिक और मानसिक तीन प्रकारके कर्म होते हैं। वे कर्म दो भी प्रकारके हैं—न्याय अर्थात् धर्म और इसके विपरीत अन्याय अर्थात् अधर्म। उपरोक्त पाँच (अधिष्ठान आदि) ही इनके कारण है॥१५॥

तत्रैवं सति कर्त्तारमात्मानं केवलन्तु यः।
पश्यत्यकृतबुद्धित्वान्न स पश्यति दुर्मतिः॥१६॥

अन्वय—एव सति (ऐसा होनेपर) यः (जो व्यक्ति) केवलम् तु (केवल) आत्मानम् (जीवको) अत्र (उन कर्मोंका) कत्तारम् (कर्त्ता कहकर) पश्यति (विचार करता है) अकृतबुद्धित्वात् (असंस्कृतबुद्धि होनेके कारण) सः (वह) दुर्मतिः (दुर्मति) न पश्यति (ठीक नहीं समझ पाता है)॥१६॥

अनुवाद—ऐसा होनेपर भी जो व्यक्ति केवल आत्माको उन समस्त कर्मोंका कर्त्ता कहकर विचार करता है, असंस्कृत बुद्धिवाला होनेके कारण वह दुर्मति ठीक नहीं समझता है॥१६॥

श्रीविश्वनाथ—ततः किमत आह—तत्र सर्वस्मिन् कर्मणि पञ्चैव हेतवः, इत्येवं सति केवलं वस्तुतो निःसङ्गमेवात्मानं जीवं यः कर्त्तारं पश्यति, सोऽकृतबुद्धित्वादसंस्कृतबुद्धित्वाद्दुर्मतिर्नैव पश्यति, सोऽज्ञानी अन्ध एवोच्यते इति भावः॥१६॥

भावानुवाद—उसके बाद क्या? इसके उत्तरमें कहते हैं—समस्त कर्मोंके उपरोक्त पाँच हेतु रहनेपर भी जो केवल असङ्ग आत्माको ही अर्थात्

जीवको ही कर्त्ता देखता है, वह संस्काररहित बुद्धिवाला होनेके कारण दुर्मति है, यथार्थ नहीं देखता है। वह अज्ञानी अन्धा ही कहलाता है।।१६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अज्ञानी व्यक्ति यह नहीं समझ पाता है कि परमात्मा नामक कोई पृथक् वस्तु उसके हृदयमें साक्षी नियन्ता और मित्रके रूपमें स्थिर होकर उसके सभी कर्मोंका संचालन कर रहे हैं। यद्यपि देह, कर्त्ता, विभिन्न चेष्टाएँ, इन्द्रियाँ—ये सब भौतिक कारण हैं, तथापि मुख्यकारण तो परमात्मा हैं। इसलिए मनुष्यको केवल उक्त चार भौतिक कारणोंको ही न देखकर सर्वकारण परमात्माको हृदयमें अवस्थित देखना चाहिए। जो ऐसा नहीं देख पाते, वे ही अपनेको कर्त्ता मानते हैं और सर्वदा उद्विग्न रहते हैं।।१६।।

यस्य नाहङ्कृतो भावो बुद्धिर्यस्य न लिप्यते।
हत्वापि स इमाँल्लोकान्न हन्ति न निबध्यते।।१७।।

अन्वय—यस्य (जिनका) अहङ्कृतः भावः (अहङ्कारका भाव अर्थात् कर्त्तापनका अभिमान) न (नहीं है) यस्य बुद्धिः (जिनकी बुद्धि) न लिप्यते (कर्ममें लिप्त नहीं होती है) सः (वे) इमान् लोकान् (इन समस्त प्राणियोंका) हत्वा अपि (वध करनेपर भी) न हन्ति (वस्तुतः वध नहीं करते हैं) न निबध्यते (और न कर्मफलमें आबद्ध होते हैं)।।१७।।

अनुवाद—जिनका कर्त्तापनका अभिमान नहीं है और जिनकी बुद्धि कर्मफलमें आसक्त नहीं होती, वे समस्त प्राणियोंकी हत्या करनेपर भी वस्तुतः हत्या नहीं करते हैं एवं उस फलमें आबद्ध भी नहीं होते हैं।।१७।।

श्रीविश्वनाथ—कस्तर्हि सुमतिश्चक्षुष्मानित्यत आह—यस्येति अहङ्कृतोऽहङ्कारस्य भावः स्वभावः कर्त्तृत्वाभिनिवेशो यस्य नास्त्यतएव यस्य बुद्धिर्न लिप्यते इष्टानिष्टबुद्ध्या कर्मसु नासज्जति, स हि कर्मफलं न प्राप्नोतीति किं वक्तव्यम्? स हि कर्म भद्राभद्रं कुर्वन्नपि नैव करोतीत्याह—हत्वापीति। स इमान् सर्वानपि प्राणिनो लोकदृष्ट्या हत्वापि स्वदृष्ट्या नैव हन्ति, निरभिसन्धित्वादिति भावः, अतो न बध्यते कर्ममूलं न प्राप्नोतीति।।१७।।

भावानुवाद—तो पुनः कौन व्यक्ति सुबुद्धिवान् और आँखोंवाला है? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—'अहङ्कृतो भावः' अर्थात् जिनमें कर्त्तृत्वाभिनिवेश नहीं है, अतः जो प्रिय और अप्रियकी बुद्धिसे उसमें आसक्त नहीं होते, वे कर्मफलको प्राप्त नहीं होते। इस विषयमें और क्या कहूँ, वे भद्र या अभद्र कर्म करनेपर भी वस्तुतः उस कर्मको नहीं

करते हैं। लौकिक दृष्टिसे इन सभी लोगोंकी हत्या करनेपर भी कामनाशून्य होनेके कारण अपनी दृष्टिमें हत्या नहीं करते हैं। अतः कर्मफलमें भी आबद्ध नहीं होते।।१७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—जो लोग अपनेको परमेश्वरके अधीन जानकर कर्त्तापनके अभिमान एवं फलकामनासे रहित होकर कर्मोंका आचरण करते हैं, वे यथार्थ बुद्धिमान् हैं। कोई भी कर्मफल उनको नहीं बाँध सकता।

"हे अर्जुन! युद्धके विषयमें तुम्हारा जो मोह हुआ था, वह केवल अहङ्कारके भावसे उदित होता है। उक्त पाँच कारणोंको ही समस्त कर्मोंका कारक जाननेपर तुम्हें और यह मोह नहीं हो पाता। अतएव जिनकी बुद्धि अहङ्कृत-भावसे लिप्त नहीं होती, वे समस्त लोगोंको मारकर भी किसीकी हत्या नहीं करते एवं हनन-कर्मके फलसे आबद्ध नहीं होते।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१७।।

ज्ञानं ज्ञेयं परिज्ञाता त्रिविधा कर्मचोदना।
करणं कर्म कर्त्तेति त्रिविधः कर्मसंग्रहः।।१८।।

अन्वय—ज्ञानम् (ज्ञान) ज्ञेयम् (ज्ञेय) परिज्ञाता (और ज्ञाता) [इति—ये] त्रिविधा (तीन प्रकारकी) कर्मचोदना (कर्मविधियाँ हैं) करणम् (करण) कर्म (कर्म) कर्त्ता (और कर्त्ता) इति त्रिविधः (ये तीन प्रकारके) कर्मसंग्रहः (कर्माश्रय हैं)।।१८।।

अनुवाद—ज्ञान, ज्ञेय और परिज्ञाता—ये तीन कर्मप्रवृत्तिके कारण हैं। करण, कर्म और कर्त्ता—ये तीन कर्मके आश्रय हैं।।१८।।

श्रीविश्वनाथ—तदेवं भगवन्मते उक्तलक्षणाः सात्त्विकस्त्याग एव संन्यासो ज्ञानिनां, भक्तानान्तु कर्मयोगस्य स्वरूपेणैव त्यागोऽवगम्यते, यदुक्तमेकादशे भगवतैव—"*आज्ञायैव गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्। धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः।।*" इत्यस्यार्थः स्वामिचरणैर्व्याख्यातो यथा—"मया वेदरूपेणादिष्टानपि स्वधर्मान् संत्यज्य या मां भजेत् स च सत्तम इति किमज्ञानतो नास्तिक्याद्वा? न, धर्माचरणे सत्त्वशुद्ध्यादीन् गुणान् विपक्षे दोषान् प्रत्यवायांश्च आज्ञाय ज्ञात्वापि मद्ध्यानविक्षेपकतया मद्भक्त्यैव सर्वं भविष्यतीति दृढनिश्चयेनैव धर्मान् संत्यज्य" इति। अत्र धर्मान् धर्मफलानि संत्यज्येति तु व्याख्या न घटते, न हि धर्मफलत्यागे कश्चिदत्र प्रत्यवायो भवेदित्यवधेयम्। अयं भावः भगवद्वाक्यानां तद्व्याख्यातृणाञ्च—ज्ञानं हि चित्तशुद्धिमवश्यमेवापेक्षते, निष्कामकर्मभिश्चित्तशुद्धितारतम्ये वृत्ते एव

ज्ञानोदयतारतम्यं भवेन्नान्यथा। अतएव सम्यक् ज्ञानोदयसिद्ध्यर्थं सन्यासिभिरपि निष्कामकर्मकर्त्तव्यमेव, कर्मभिः सम्यक्तया चित्तशुद्धौ वृत्तायां तु तैरपि कर्म न कर्त्तव्यमेव। यदुक्तं—*"आरुरुक्षोर्मुनेर्योगं कर्म कारणमुच्यते। योगारूढस्य तस्यैव शमः कारणमुच्यते।।"* इति, *"यस्त्वात्मरतिरेव स्यादात्मतृप्तिश्च मानवः। आत्मन्येव च संतुष्टस्तस्य कार्यं न विद्यते।।"* इति। भक्तिस्तु परमा स्वन्तत्रा महाप्रबला चित्तशुद्धिं नैवापेक्षते यदुक्तं—*"विक्रीडितं व्रजवधूभिरिदञ्च विष्णोः श्रद्धान्वितोऽश्रृणुयात्"* इत्यादौ *"भक्तिं परां भगवति प्रतिलभ्य कामं हृद्रोगमाश्वपहिनोत्यचिरेण धीरः।।"* इति। अत्र त्वात्मप्रत्ययेन हृद्रोगवत्त्वे बाधिकारिणि परमाया भक्तेरपि प्रथममेव प्रवेशस्ततस्तत्रैव कामादीनामपगमश्च, तथा *"प्रविष्टः कर्णरन्ध्रेण स्वानां भावसरोरुहम्। धुनोति शमलं कृष्णः सलिलस्य यथा शरत्।।"* इति च इत्यतो भक्त्यैव यदि तादृशी चित्तशुद्धिः स्यात् तदा भक्तैः कथं कर्म कर्त्तव्यमिति। अथ प्रकृतमनुसरामः—किञ्च, न केवलं देहादिव्यतिरिक्तस्यात्मनो ज्ञानमेव ज्ञानं तथात्मतत्त्वमपि ज्ञेयं, तादृश ज्ञानाश्रय एव ज्ञानी, किन्त्वेतत्त्रिके कर्मसम्बन्धः वर्त्तते, तदपि संन्यासिभिर्ज्ञेयमित्याह—ज्ञानमिति। अत्र 'चोदना' शब्देन विधिरुच्यते, यदुक्तं भट्टैः-*"चोदना चोपदेशश्च विधिश्चैकार्थवाचिनः"* इति। उक्तं श्लोकार्द्धं स्वयमेव व्याचष्टे—करणमिति यज्ज्ञानं तत् 'करण'-कारकम्, ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानमिति व्युत्पुत्तेः, यज्ज्ञेयं जीवात्मतत्त्वं, तदेव 'कर्म'-कारकम्, यस्तस्य परिज्ञाता स 'कर्त्ता' इति त्रिविधः, 'करणं' 'कर्म' 'कर्त्ता' इति त्रिविधं कारकमित्यर्थः। 'कर्म-संग्रहः'—कर्मणा निष्कामकर्मानुष्ठानेनैव संगृह्यत इति 'कर्मचोदना'-पदव्याख्या। 'ज्ञानत्वं', 'ज्ञेयत्वं', 'ज्ञातृत्वं' चैतत्त्रयं निष्काम-कर्मानुष्ठानमूलकमिति भावः।।१८।।

भावानुवाद—अतएव श्रीभगवान्‌के मतसे सात्त्विक त्याग ही ज्ञानियोंके लिए संन्यास है। किन्तु, भक्तोंके लिए स्वरूपतः कर्मयोगका त्याग जाना जाता है। श्रीमद्भागवत (११/११/३२) में श्रीभगवान्‌ने कहा है—"मेरे द्वारा कहे गए वेदरूपमें आदिष्ट स्वधर्मका परित्यागकर एवं धर्म-अधर्मके गुण-दोषका भलीभाँति विचारकर जो व्यक्ति मेरा भजन करते हैं, हे उद्धव! वे ही सत्तम हैं।" पूज्यपाद श्रीधरस्वामीने इस श्लोकका अर्थ इस प्रकार किया है—"मेरे द्वारा वेदरूपमें आदेश दिए गए स्वधर्मको भी भलीभाँति त्यागकर जो मेरा भजन करते हैं, वे सत्तम हैं। यदि प्रश्न हो कि क्या ऐसा अज्ञानवश होता है अथवा

नास्तिकताके कारण होता है, तो इसके उत्तरमें कहते हैं—नहीं, धर्मके आचरणके विषयमें सत्त्व-शुद्धि आदि गुणसमूह एवं दूसरी ओर दोषसमूह अर्थात् प्रत्यवायसमूहसे अवगत होकर और उन्हें मेरे ध्यानके लिए विक्षेपक जानकर, मेरी (भगवान्‌की) भक्ति द्वारा ही सभी सिद्ध होंगे—ऐसा दृढ़निश्चयकर धर्मसमूह परित्यागकर मेरा भजन करते हैं।" वे 'धर्म' अर्थात् धर्मफलसमूहका परित्यागकर मेरा भजन करते हैं—यहाँ ऐसी व्याख्या नहीं होगी, क्योंकि ऐसा समझना चाहिए कि धर्मफल-त्यागसे कोई दोष नहीं होता। भगवान्‌के वचन और उसकी व्याख्या करनेवालोंका यही विचार है। क्योंकि ज्ञान निश्चय ही चित्तशुद्धिकी अपेक्षा करता है; निष्काम-कर्म द्वारा चित्तशुद्धिका तारतम्य होता है और चित्तशुद्धिके तारतम्यके अनुसार ही ज्ञानके उदयका भी तारतम्य उपस्थित होता है, जो अन्यथा नहीं है। अतः सम्यक् ज्ञानोदयके लिए संन्यासियोंके लिए भी निष्काम कर्मका साधन एकान्त कर्त्तव्य है। कर्म द्वारा भलीभाँति चित्तकी शुद्धि होनेपर उन्हें कर्मकी और आवश्यकता नहीं है। जैसा कि गीता (६/३) में भी कहा गया है—"ज्ञानयोगकी कामना करनेवालोंके लिए उसे प्राप्त करनेका कारण (साधन) कर्म है, किन्तु ज्ञानभूमिकामें आरूढ़ होनेपर विक्षेपक कर्मत्याग ही उसका साधन है।" "जो आत्मामें ही प्रीतिवान् हैं, आत्मामें ही तृप्त और सन्तुष्ट हैं, उनके लिए कोई कर्त्तव्य कर्म नहीं है। (गीता ३/१७) किन्तु, भक्ति परम स्वतन्त्रा और महाप्रबला है। यह चित्तशुद्धिकी अपेक्षा नहीं करती है। जैसा कि श्रीमद्भागवत (१०/३३/३९) में कथित है—"जो श्रद्धान्वित होकर व्रजवधुओंके साथ कृष्णकी लीला सुनते हैं, वे भगवान्‌की पराभक्ति लाभकर शीघ्र ही कामरूप हृदरोगको दूर करते हैं।" यदि संशय हो कि ऐसा किस प्रकार होता है, तो इसके उत्तरमें कहते है—"काम आदिसे युक्त व्यक्तिके हृदयमें अथवा अधिकारियोंके हृदयमें पहले परमा भक्ति प्रवेश करती है और बादमें वहाँ काम आदिका नाश होता है।" श्रीमद्भागवत (२/८/५) में और भी कहा गया है—"कृष्ण भक्तोंके श्रवणपथसे भावपद्मरूप हृदयमें प्रवेशकर उनके समस्त मलको दूर करते हैं, जिस प्रकार शरद ऋतु नदीके कीचड़को दूर करती है।" अतएव भक्ति द्वारा ही यदि इस प्रकार चित्तशुद्धि होती है, तो भक्तगण कर्मका अनुष्ठान क्यों करेंगें? यहाँ आलोच्य श्लोकका अनुसरण कर

रहे हैं—देह आदिके अतिरिक्त केवल आत्मज्ञान ही ज्ञान नहीं है, बल्कि उसी प्रकार आत्मतत्त्व भी ज्ञेय है अर्थात् आत्मतत्त्वको भी जानना चाहिए। जिन्होंने ऐसे ज्ञानका आश्रय किया है, वे ही ज्ञानी हैं। किन्तु, इन तीनोंमें भी कर्म-सम्बन्ध वर्त्तमान है, यह जानना भी संन्यासियोंका कर्त्तव्य है इसीलिए 'ज्ञानम्' इत्यादि कह रहे हैं। यहाँ 'चोदना' शब्दका अर्थ है—विधि। भट्ट कहते हैं कि चोदना, उपदेश और विधि—ये सब एकार्थवाचक हैं। अपने श्लोकके आधे अंशकी व्याख्या स्वयं कर रहे हैं—'करणं' इत्यादि। जिसके द्वारा जाना जाय, वही ज्ञान है—इस व्युतपत्तिके अनुसार ज्ञान करण कारक है। 'ज्ञेय' अर्थात् जीवात्मतत्त्व ही कर्म कारक है। जो इसे जाननेवाला है, वही परिज्ञाता है अर्थात् वही ज्ञाता है। करण, कर्म तथा कर्त्ता—ये तीन कारक हैं अर्थात् 'कर्मसंग्रह' हैं। 'कर्मसंग्रहः'—(कर्मणा-संग्रह) निष्काम कर्म द्वारा ही संगृहीत होनेके कारण। यह 'कर्मचोदना' पदकी व्याख्या है। 'ज्ञानत्व', 'ज्ञेयत्व' और 'ज्ञातत्व'—ये तीनों निष्काम-कर्मानुष्ठानमूलक हैं।।१८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—आत्मा निर्गुण वस्तु है। कर्मकी प्रेरणा, कर्मका आश्रय और कर्मफल—ये सभी त्रिगुणमय हैं। इसलिए आत्माके साथ स्वरूपतः इनका कुछ भी सम्बन्ध नहीं है। ऐकान्तिक शरणागत भक्तगण शुद्ध आत्मतत्त्वविद् होते हैं। वे कृष्णकी इच्छासे अथवा कृष्णकी प्रतिके लिए सभी कर्मोंको करते हुए भी कर्मी नहीं कहलाते। वे भक्तकी संज्ञासे ही भूषित किए जाते हैं, इसलिए वे कर्मोंके बन्धनमें नहीं पड़ते।

"ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता—ये तीन ही कर्मचोदना (कर्मप्रवृत्तिके कारण) हैं तथा करण, कर्म और कर्त्ता—ये तीन कर्मसंग्रह (कर्मके आश्रय) हैं। मनुष्यके द्वारा जो भी कर्म किए जायँ, उसमें दो अवस्थाएँ हैं—चोदना (प्रेरणा) और संग्रह (आश्रय)। कर्म करनेसे पहले जो विधि अवलम्बित होती है, उसका नाम 'चोदना' है। 'चोदना' का तात्पर्य प्रेरणा भी है। प्रेरणा ही कर्मका सूक्ष्मांश है अर्थात् कर्मकी स्थूल सत्ताकी प्राप्तिके पूर्व जो वैज्ञानिक श्रद्धा रहती है, वही प्रेरणा है। क्रियाकी पूर्वावस्था इन तीन भागोंमें विभक्त है—कर्म-करणका ज्ञान, कर्मका स्वरूपगत ज्ञेयत्व और कर्म-कर्त्ताका परिज्ञातत्व। क्रियागत अवस्थाके स्थूल आकारमें कर्मके तीन विभाग हैं—'करणत्व', 'कर्मत्व' और 'कर्त्तृत्व'।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।१८।।

ज्ञानं कर्म च कर्त्ता च त्रिधैव गुणभेदतः।
प्रोच्यते गुणसंख्याने यथावच्छृणु तान्यपि।।१९।।

अन्वय—गुणसंख्याने (गुणका निरूपण करनेवाले शास्त्रमें) ज्ञानम् (ज्ञान) कर्म च (और कर्म) कर्त्ता च (तथा कर्त्ता) गुणभेदतः (सात्त्विक आदि गुणोंके भेदसे) त्रिधा एव (तीन प्रकारके ही) प्रोज्यते (कहे गए हैं) तानि अपि (उन सबको भी) यथावत् (यथावत्) श्रृणु (सुनो)।।१९।।

अनुवाद—गुण-निरूपक सांख्य शास्त्रमें सात्त्विक आदिके भेदसे ज्ञान, कर्म और कर्त्ता भी तीन प्रकारके कहे गए हैं। तुम उन सबको भी यथावत् मुझसे सुनो।।१९।।

सर्वभूतेषु येनैकं भावमव्ययमीक्षते।
अविभक्तं विभक्तेषु तज्ज्ञानं विद्धि सात्त्विकम्।।२०।।

अन्वय—येन (जिस ज्ञानके द्वारा) विभक्तेषु सर्वभूतेषु (परस्पर भिन्न जीवोंमें) एकम् (एक) भावम् (जीवात्माको) अविभक्तम् (एकरूप) अव्ययम् (अव्यय) इक्षते (देखा जाय) तत् ज्ञानम् (उस ज्ञानको) सात्त्विकम् विद्धि (सात्त्विक जानो)।।२०।।

अनुवाद—जिस ज्ञान द्वारा परस्पर भिन्न मनुष्य, देव, पशु, पक्षी आदिके शरीरमें नाना प्रकारके फलोंको भोगनेके लिए वर्त्तमान एक जीवात्माको अखण्ड और अव्यय रूपमें देखा जाय अर्थात् परस्पर भिन्न होनेपर भी चित्-गुणमें एक समान उपलब्ध किया जाय, उस ज्ञानको सात्त्विक जानो।।२०।।

श्रीविश्वनाथ—सात्त्विकं ज्ञानमाह—सर्वभूतेष्विति। एकं भावमेकमेव जीवात्मानं नानाविधफलभोगार्थं क्रमेण सर्वभूतेषु मनुष्यदेवतिर्यगादिषु वर्त्तमानमव्ययं नश्वरेष्वपि तेष्वनश्वरं विभक्तेषु परस्परं विभिन्नेष्वप्यविभक्तमेकरूपं येन कर्मसम्बन्धिना ज्ञानेनेक्षते, तत् सात्त्विकं ज्ञानम्।।२०।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् सात्त्विक ज्ञानके विषयमें बता रहे हैं। 'एकं भावं' अर्थात् एक ही जीवात्मा नाना प्रकारके फलोंको भोगनेके लिए क्रमसे मनुष्य, देवता, पशु, पक्षी आदि सभी जीवोंमें वर्त्तमान रहता है। नश्वर वस्तुओंके बीच रहनेपर भी वह अनश्वर है। वे जीवात्माएँ परस्पर 'विभक्तेषु' अर्थात् भिन्न हैं, तथापि वे 'एकरूपं' अर्थात् चित्-जातीय होनेके कारण एक समान हैं। कर्म-सम्बन्धी जिस ज्ञानके द्वारा ऐसा दर्शन किया जाता है, वह सात्त्विक ज्ञान है।।२०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकका बहुत ही गूढ़ तात्पर्य है। समस्त कारणोंके कारण, समस्त ईश्वरोंके भी ईश्वर, सबके आदि, स्वयं अनादि स्वयं-भगवान् श्रीकृष्ण एक होनेपर भी विविध अवतारोंके रूपमें जगत्में आविर्भूत होते हैं। वे सभी स्वरूपतः एवं तत्त्वतः एक हैं। रसगत या विलासगत उनमें कुछ वैशिष्ट्यका तारतम्य होता है। तथापि वे एक ही हैं। उनसे विभिन्नांशके रूपमें प्रकटित जीवसमूह अत्यन्त सूक्ष्म तत्त्व हैं तथा संख्यामें अनन्त हैं—

'बालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य च।
भागो जीवः स विज्ञेयः स चानन्त्याय कल्पते।।'

(श्वे. उ. ५/९)

ये जीवसमूह दो प्रकारके हैं—बद्ध और मुक्त, यह पहले ही बताया गया है। ये जीवसमूह संख्यामें अनन्त होनेपर भी चित्-तत्त्वकी दृष्टिसे एक समजातीय तत्त्व हैं। वे मनुष्य, देव, पशु, पक्षी आदि विभिन्न योनियोंमें जन्म लेनेपर भी स्वरूपतः कृष्णदास हैं। इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन करते हुए यहाँ श्रीकृष्ण बता रहे हैं कि देव, दानव, मानव, पशु, पक्षी आदि विभिन्न शरीरोंमें नानाविध फलोंको भोगनेके लिए वर्त्तमान अनन्त जीवोंको चित्-तत्त्वकी दृष्टिसे अखण्ड, अव्यय, भेदरहित आदि जिस ज्ञानसे अनुभव किया जाता है, उसे सात्त्विक ज्ञान कहते हैं।।२०।।

पृथक्त्वेन तु यज्ज्ञानं नानाभावान् पृथग्विधान्।
वेत्ति सर्वेषु भूतेषु तज्ज्ञानं विद्धि राजसम्।।२१।।

अन्वय—यत् ज्ञानम् (जो ज्ञान) पृथक्त्वेन तु (किन्तु पृथक्रूपमें) सर्वेषुभूतेषु (सभी जीवोंमें) पृथग्विधान् (पृथक्-पृथक् जातीय) नाना भावान् (नाना अभिप्राययुक्त) वेत्ति (बोध करता है) तत् ज्ञानम् (उस ज्ञानको) राजसम् विद्धि (राजस जानो)।।२१।।

अनुवाद—किन्तु देव, मनुष्य आदि सभी जीवोंमें पृथक्-पृथक्रूपमें जीव-सम्बन्धी जो ज्ञान है, उसके द्वारा जीवको पृथक् जातीय और नाना अभिप्रायवाला उपलब्ध किया जाता है, ऐसे ज्ञानको राजसिक जानो।।२१।।

श्रीविश्वनाथ—राजसं ज्ञानमाह—सर्वभूतेषु जीवात्मनः पृथक्त्वेन यज्ज्ञानमिति। देहनाश एवात्मनो नाश इत्यसुराणां मतम्। अतएव पृथक्पृथग् देहेषु पृथक् पृथगेवात्मेति तथा शास्त्रकारणात् पृथग् विधान् नानाभावान् नानाभिप्रायान्।

आत्मा सुखदुःखाश्रय इति, सुखदुःखाद्यनाश्रय इति, जड इति, चेतन इति, व्यापक इति, अणुस्वरूप इति, अनेक इति, इत्यादि कल्पान् येन एक इत्यादि वेद तद्राजसम्।।२१।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् यहाँ राजस ज्ञानके विषयमें बता रहे हैं। सभी भूतोंमें जो जीवात्माएँ हैं, वे पृथक-पृथक् हैं तथा देहके नाश होनेपर आत्माका नाश हो जाता है—यह असुरोंका मत है। अतः पृथक्-पृथक् देहमें पृथक्-पृथक् आत्मा है—इस राजस ज्ञान द्वारा नाना प्रकारके भाव अर्थात् अभिप्राय बोध होते हैं। आत्मा सुख और दुःखका आश्रय है, सुख-दुःख आदि आश्रयशून्य हैं, जड़, चेतन, व्यापक, अणुस्वरूप, अनेक—इन सब कल्पसमूहको जिसके द्वारा एक जैसा जाना जाता है, वह ज्ञान राजसिक है।।२१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"राजसिक ज्ञानके द्वारा नाना प्रकारके अभिप्रयोंका बोध होता है—इसका अर्थ यह है कि लोकायितगण कहते हैं—'देह ही आत्मा है'; जैन लोग कहते हैं—'आत्मा देहसे भिन्न किन्तु देह-परिमित है'; बौद्ध लोग कहते हैं—'आत्मा क्षणिक विज्ञानरूप है'; तार्किक लोग कहते हैं—'आत्मा देहसे स्वतन्त्र नौ विशेष गुणोंका आश्रय है तथा अजड़ है।' आत्मा-सम्बन्धी ये सब भिन्न-भिन्न अभिप्राय जिसके द्वारा जाने जाते हैं, वह राजसिक ज्ञान है।

"सर्वभूतमें अर्थात् मनुष्य, पशु, पक्षी आदि योनियोंमें जो जीवात्माएँ हैं, वे पृथक्-जातीय जीव हैं, उनका स्वरूप-भाव पृथक् है—ऐसा ज्ञान राजसिक है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२१।।

यत्तु कृत्स्नवदेकस्मिन् कार्ये सक्तमहैतुकम्।
अतत्त्वार्थवदल्पञ्च तत्तामसमुदाहृतम्।।२२।।

अन्वय—यत् तु (और जो ज्ञान) एकस्मिन् कार्ये (स्नान-भोजन आदि किसी एक कार्यमें) कृत्स्नवत् (परिपूर्णकी भाँति) सक्तम् (आसक्त) अहैतुकम् (युक्तिरहित, स्वाभाविक) अतत्त्वार्थवत् (तत्त्वार्थरहित) अल्पम् च (और पशु आदिकी भाँति हेय है) तत् (वह) तामसम् (तामसिक) उदाहृतम् (कहलाता है)।।२२।।

अनुवाद—और जो ज्ञान स्नान-भोजन आदि दैहिक कार्योंको पूर्ण मानकर उसमें आविष्ट करा देता है, जो युक्तिरहित, तत्त्वार्थरहित और पशु आदिकी भाँति तुच्छ है, वह तामसिक ज्ञान कहलाता है।।२२।।

श्रीविश्वनाथ—तामसं ज्ञानमाह—यत्तु ज्ञानमहैतुकमौत्पत्तिकमेवातएवैकस्मिन् कार्ये लौकिके एव स्नानभोजनपानस्त्रीसम्भोगे तत्साधने च कर्मणि सक्तं, न तु वैदिके कर्मणि यज्ञदानादौ। अतएवतत्त्वार्थवत् तत्र तत्त्वरूपोऽर्थः कोऽपि नास्तीत्यर्थः। अल्पं पशुनामिव यत् क्षुद्रम्, तत् तामसं ज्ञानम्। देहाद्यतिरिक्तत्वेन 'तत्'-पदार्थज्ञानं 'सात्त्विकम्,' नानावादप्रतिपादकं न्यायादिशास्त्रज्ञानं—'राजसम्,' स्नानभोजनादिव्यवहारिकज्ञानं—तामसमिति सङ्क्षेपः।।२२।।

भावानुवाद—अब तासम ज्ञान बता रहे हैं, जो ज्ञान 'अहैतुकम्' अर्थात् औत्पत्तिक है, अतएव स्नान, भोजन, पान, स्त्री-सम्भोग आदि एक ही लौकिक कार्य और उसके साधन—कर्ममें आसक्त है, यज्ञ-दान आदि वैदिक कर्मोंमें नहीं, वह तामसिक है। अतएव जिसमें तत्त्वरूप अर्थ नहीं है, जो पशुओंके ज्ञानके समान तुच्छ है, वह तामसिक ज्ञान है। संक्षेपतः देह आदिसे परे 'तत्'-पदार्थका ज्ञान सात्त्विक है, नाना प्रकारके वाद-प्रतिवादक न्याय आदि शास्त्रोंका ज्ञान राजसिक तथा स्नान, भोजन आदि व्यवहारिक ज्ञान तामसिक है।।२२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"स्नान-भोजन आदि दैहिक कार्योंको बृहत् मानकर जो उसमें आसक्त होते हैं, उनका ज्ञान तुच्छ और तामसिक है, क्योंकि वह ज्ञान अयथाभूत (अनुचित) होनेपर भी अहैतुक अर्थात् 'औत्पत्तिक' के रूपमें प्रतिभात होता है। इसमें तत्त्वरूप कोई अर्थ प्राप्त नहीं होता। सिद्धान्त यह है कि 'देह' आदिसे अतिरिक्त 'तत्'-पदार्थके ज्ञानको सात्त्विक ज्ञान कहते हैं। नाना वाद-प्रतिवादक न्याय आदि शास्त्रोंके ज्ञानको राजसिक ज्ञान कहते हैं और स्नान-भोजन आदि व्यवहारिक ज्ञानको तामसिक ज्ञान कहते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२२।।

नियतं सङ्गरहितमरागद्वेषतः कृतम्।
अफलप्रेप्सुना कर्म यत्तत् सात्त्विकमुच्यते।।२३।।

अन्वय—यत् नियतम् (जो नित्य) कर्म (कर्म) अफलप्रेप्सुना (फलकामनासे रहित व्यक्ति द्वारा) सङ्गरहितम् (आसक्तिशून्य होकर) अरागद्वेषतः (राग और द्वेषसे रहित होकर) कृतम् (किया जाता है) तत् (वह) सात्त्विकम् उच्यते (सात्विक कहलाता है)।।२३।।

अनुवाद—जो नित्यकर्म फलकामनासे रहित व्यक्ति द्वारा आसक्तिशून्य होकर तथा राग-द्वेषसे रहित होकर किया जाता है, वह सात्त्विक कर्म कहलाता है।।२३।।

श्रीविश्वनाथ—त्रिविधं ज्ञानमुक्त्वा त्रिविधं कर्माह—नियतं नित्यतया विहितं सङ्गरहितमभिनिवेशशून्यमतएवारागद्वेषतो रागद्वेषाभ्यां विनैव कृतमफलप्रेप्सुना फलाकाङ्क्षारहितेनैव कर्त्रा कृतं कर्म यत् सात्त्विकम्।।२३।।

भावानुवाद—पहले तीन प्रकारका ज्ञान बताया गया, अब तीन प्रकारका कर्म बताया जा रहा है। शास्त्रोंमें जिसे नित्य कर्म कहा गया है, उसे सङ्गरहित अर्थात् अभिनिवेशरहित होकर किया जाय, अतएव उसके प्रति राग-द्वेषकी भावना न हो, वह कर्म सात्त्विक है और कर्त्ता जिस कर्मको फलकी कामनासे रहित होकर करता है, वह कर्म सात्त्विक है।।२३।।

यत्तु कामेप्सुना कर्म साहङ्कारेण वा पुनः।
क्रियते बहुलायासं तद्राजसमुदाहृतम्।।२४।।

अन्वय—यत् तु (किन्तु जो कर्म) कामेप्सुना (फलाकांक्षी) वा साहङ्कारेन (अथवा अहङ्कारी व्यक्ति द्वारा) बहुलायासम् (अत्यन्त क्लेशपूर्वक) क्रियते (अनुष्ठित होता है) तत् (वह) राजसम् उदाहृतम् (राजसिक कहलाता है)।।२४।।

अनुवाद—किन्तु, जो कर्म फलकी कामना करनेवाले तथा अहङ्कारी व्यक्ति द्वारा अत्यन्त क्लेशपूर्वक किया जाता है, वह राजसिक कहलाता है।।२४।।

श्रीविश्वनाथ—कामेप्सुनाऽल्पाहङ्कारवता इत्यर्थः साहङ्कारेणात्यहङ्कारवता इत्यर्थः।।२४।।

भावानुवाद—'कामेप्सुना' का अर्थ है—अल्प अहङ्कारयुक्त तथा 'साहङ्कारेण' का अर्थ है—अति अहङ्कारयुक्त।।२४।।

अनुबन्धं क्षयं हिंसामनपेक्ष्य च पौरुषम्।
मोहादारभ्यते कर्म यत्तत्तामसमुच्यते।।२५।।

अन्वय—यत् कर्म (जो कर्म) अनुबन्धम् (भावी क्लेश) क्षयम् (धर्म आदिका विनाश) हिंसाम् (आत्मनाश या हिंसाके लिए) पौरुषम् च (और आत्मसामर्थ्यकी) अनपेक्ष्य (आलोचना नहीं कर) मोहात् (मोहवश) आरभ्यते (आरम्भ किया जाय) तत् (वह) तामसम् उदाहृतम् (तामसिक कहलाता है)।।२५।।

अनुवाद—जो कर्म भावी क्लेश, धर्म-ज्ञान आदिके नाश, आत्मनाश या परपीड़नके लिए किया जाय तथा अपने सामर्थ्यकी आलोचना नहीं कर मोहवश किया जाय, वह तामसिक कहलाता है।।२५।।

श्रीविश्वनाथ—अनुकर्मानुष्ठानानन्तरम् आयत्यां भाविनं बन्धं राजदस्यु-यमदूतादिभिर्बन्धनं क्षयं धर्मज्ञानाद्यपचयं हिंसा स्वस्य नाशञ्चानपेक्ष्यापर्यालोच्य पौरुषं व्यवहारिकपुरुषमात्रकर्त्तव्यं कर्म मोहादज्ञानादेव यदारभ्यते तत्तामसम्।।२५।।

भावानुवाद—'अनुबन्ध'—'अनु' अर्थात् कर्मको करनेके बाद आनेवाले भविष्यमें, 'बन्ध' अर्थात् राजदस्यु और यमदूत आदिके द्वारा बन्धन। अतः भविष्यमें आनेवाले क्लेश, धर्म, ज्ञान आदिका नाश, आत्मनाश—इन सबकी आलोचना नहीं कर मोहवशतः जो केवल व्यवहारिक पुरुषमात्रका कर्म आरम्भ किया जाता है, वह तामसिक होता है।।२५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वर्त्तमान श्लोकमें भगवान् कर्मके तीन प्रकार बता रहे हैं। श्रीमद्भागवतमें भी देखा जाता है—

'मदर्पणं निष्फलं वा सात्त्विकं निजकर्म तत्।
राजसं फलसङ्कल्पं हिंसाप्रायादि तामसम्।।'

(श्रीमद्भा. ११/२५/२३)

भगवदर्पित निष्काम नित्य कर्मही सात्त्विक कहलाता है। फलकी इच्छासे युक्त कर्म राजसिक है तथा हिंसा, मत्सरता आदिसे किया गया कर्म तामसिक कहलाता है।

"भावी क्लेश, धर्म-ज्ञान आदिका नाश, हिंसा अर्थात् आत्मनाश—इन सबकी आलोचना किए बिना मोहवश केवल व्यवहारिक पौरुष-कर्ममें प्रवृत्त होनेसे, उस कर्मको तामसिक कर्म कहते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।२५।।

मुक्तसङ्गोऽनहंवादी धृत्युत्साहसमन्वितः।
सिद्ध्यसिद्ध्योर्निर्विकारः कर्त्ता सात्त्विक उच्यते।।२६।।

अन्वय—मुक्तसङ्ग (आसक्तिशून्य) अनहंवादी (अहङ्कारशून्य) धृत्युत्साहसमन्वितः (धैर्य और उत्साहसम्पन्न) सिद्ध्यासिद्ध्योः (कार्यकी सिद्धि और असिद्धिमें) निर्विकारः (सुख-दुःखरहित) कर्त्ता (कर्त्ता) सात्त्विकः उच्यते (सात्त्विक कहलाता है)।।२६।।

अनुवाद—फलकी कामनासे रहित, अहङ्कारशून्य, धैर्य और उत्साहवाला तथा कार्यकी सिद्धिमें निर्विकार रहनेवाला कर्त्ता ही सात्त्विक कर्त्ता कहलाता है।।२६।।

श्रीविश्वनाथ—त्रिविधं कर्मोक्तम्, त्रिविधं कर्त्तारमाह—मुक्तसङ्ग इति।।२६।।

भावानुवाद—पहले तीन प्रकारका कर्म बताया गया, अब तीन प्रकारका कर्त्ता बताया जा रहा है।।२६।।

रागी कर्मफलप्रेप्सुर्लुब्धो हिंसात्मकोऽशुचिः।
हर्षशोकान्वितः कर्त्ता राजसः परिकीर्त्तितः।।२७।।

अन्वय—रागी (कर्ममें आसक्त) कर्मफलप्रेप्सुः (कर्मफलकी कामना करनेवाला) लुब्धः (विषयमें आसक्त) हिंसात्मकः (हिंसाप्रिय) अशुचिः (शौचरहित) हर्षशोकान्वितः (हर्ष और शोकयुक्त) कर्त्ता (कर्त्ता) राजसः परिकीर्त्तितः (राजसिक कहलाता है)।।२७।।

अनुवाद—कर्ममें आसक्त, कर्मफलकी कामना करनेवाला, विषयोंमें आसक्त, हिंसाप्रिय, शुचिहीन तथा हर्ष और शोकयुक्त कर्त्ता राजसिक कहलाता है।।२७।।

श्रीविश्वनाथ—'रागी' कर्मण्यासक्तः, 'लुब्धो' विषयासक्तः।।२७।।

भावानुवाद—'रागी'—कर्ममें आसक्त, 'लुब्धः'—विषयमें आसक्त।।२७।।

अयुक्तः प्राकृतः स्तब्धः शठो नैष्कृतिकोऽलसः।
विषादी दीर्घसूत्री च कर्त्ता तामस उच्यते।।२८।।

अन्वय—अयुक्तः (अनुचित कार्यप्रिय) प्राकृतः (स्वभावके अनुसार चेष्टायुक्त) स्तब्धः (अनम्र) शठः (मायावी) नैष्कृतिकः (दूसरेका अपमान करनेवाला) अलसः (आलसी) विषादी (शोकमग्न) दीर्घसूत्री च (और दीर्घसूत्री) कर्त्ता (कर्त्ता) तामसः उच्यते (तामसिक कहलाता है)।।२८।।

अनुवाद—अनुचित कार्यप्रिय, स्वभावके अनुसार चेष्टायुक्त, अनम्र, शठ, दूसरेका अपमान करनेवाला, आलसी, शोकमग्न और दीर्घसूत्री कर्त्ता तामसिक कहलाता है।।२८।।

श्रीविश्वनाथ—अयुक्तोऽनौचित्यकारी प्राकृतः प्रकृतौ स्वःस्वभावे एव वर्त्तमानः, यदेव स्वमनसि आयाति तदेवानुतिष्ठति, न तु गुरोरपि वचः प्रमाणयतीत्यर्थः। 'नैष्कृतिकः' परापमानकर्त्ता। तदेवं ज्ञानिभिरुक्तलक्षणः सात्त्विक एव त्यागः कर्त्तव्यः, सात्त्विकमेव कर्मनिष्ठं ज्ञानमाश्रयणीयं, सात्त्विकमेव कर्म कर्त्तव्यं सात्त्विकेनैव कर्त्रा भवितव्यं,—एष एव संन्यासो ज्ञानिनामिति मे ज्ञानं प्रकरणार्थनिष्कर्षः। भक्तानां तु त्रिगुणातीतमेव ज्ञानं, त्रिगुणातीतं मे कर्म भक्तियोगाख्यं त्रिगुणातीता एव कर्त्तारः, यदुक्तं भगवतैव श्रीमद्भागवते—*"कैवल्यं सात्त्विकं ज्ञानं रजो वैकल्पिकं तु यत्। प्राकृतं तामसं ज्ञानं मन्निष्ठं निर्गुणं स्मृतम्।।"* इति, *"लक्षणं भक्तियोगस्य निर्गुणस्येत्युदाहृतम्"* इति *"सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः। तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः।"* इति। किञ्च, न केवलमेतत्त्रिकमेव भक्तिमते गुणातीतमपि तु भक्तिसम्बन्धि सर्वमेव गुणातीतम्, यदुक्तं तत्रैव—*"सात्त्विक्या-*

ध्यात्मिकी श्रद्धा कर्मश्रद्धा तु राजसी। तामस्यधर्मे या श्रद्धा मत्सेवायान्तु निर्गुणाः।।" इति, *"वनन्तु सात्त्विको वासः ग्रामो राजस उच्यते। तामसं द्यूतसदनं मन्निकेतन्तु निर्गुणम्।।"* इति, *"सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थन्तु राजसम्। तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम्।।"* इति। तदेवं गुणातीतानां भक्तानां भक्तिसम्बन्धीनि ज्ञानकर्मश्रद्धादौ स्व-सुखादीनि सर्वाण्येव गुणातीतानि। सात्त्विकानां ज्ञानिनां ज्ञानसम्बन्धीनि तानि सर्वाणि सात्त्विकान्येव, राजसानां कर्मिणां तानि सर्वाणि राजसान्येव, तामसानामुच्छृङ्खलानां तानि सर्वाणि तामसान्येवेति श्रीगीता-भागवतार्थदृष्ट्या ज्ञेयम्। ज्ञानिनामपि पुनरन्तिमदशायां ज्ञानसंन्यासानन्तरमुर्वरितया केवलया भक्त्यैव गुणातीतत्वं चतुर्द्दशाध्याये उक्तम्।।२८।।

भावानुवाद—'अयुक्तः' का तात्पर्य है—अनुचित कार्य करनेवाला। 'प्राकृतः'—अपने स्वभावमें विद्यमान। ऐसे लोग वही कार्य करते हैं, जो इनके मनमें आता है, यहाँ तक कि गुरुके वचनोंको भी नहीं मानते हैं। 'नैष्कृतिकः'—दूसरेका अपमान करनेवाला। अतएव ज्ञानियोंके द्वारा उक्त लक्षणवाला सात्त्विक त्याग ही कर्त्तव्य है, सात्त्विक कर्मनिष्ठ ज्ञान ही आश्रययोग्य है। सात्त्विक कर्म ही कर्त्तव्य है। सात्त्विक कर्त्ता होना ही उचित है, यही ज्ञानियोंका संन्यास है। यही मेरे सम्बन्धमें ज्ञान है। इस प्रकरणका यही सारार्थ है। किन्तु, भक्तोंका जो ज्ञान है, वह त्रिगुणातीत है, मेरे लिए किया गया त्रिगुणातीत कर्म भक्ति कहलाता है और वह कर्त्ता भी त्रिगुणातीत होता है। जैसा कि श्रीमद्भागवत (११/२५/२४) में कहा है—"कैवल्य ज्ञान सात्त्विक है, वैकल्पिक ज्ञान राजस है, प्राकृत ज्ञान तामस है और मेरे प्रति निष्ठावाला ज्ञान निर्गुण कहा जाता है।" "अभी निर्गुण भक्तियोगका लक्षण कहा गया।" (श्रीमद्भा. ३/२९/१२) "अनासक्त कर्त्ता सात्त्विक, आसक्तियुक्त कर्त्ता राजसिक, स्मृति-विभ्रष्ट कर्त्ता तामसिक और मेरे शरणागत कर्त्ता निर्गुण कर्त्ता कहलाता है।" (श्रीमद्भा. ११/२५/२६) और भक्तिके मतसे केवल ये तीन (ज्ञान, कर्म तथा कर्त्ता) ही निर्गुण हैं—ऐसा नहीं है, बल्कि भक्ति-सम्बन्धी सभी गुणातीत हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत (११/२५/२६) में ही श्रद्धाके विषयमें कहा गया है—"अध्यात्मिकी श्रद्धा सात्त्विकी, कर्मके प्रति श्रद्धा राजसी, अधर्मके प्रति श्रद्धा तामसी है, किन्तु मेरी सेवाके प्रति जो श्रद्धा है, वह निर्गुणा है।" वासके विषयमें कहा गया है—"वनमें वास सात्त्विक है, ग्राममें वास राजसिक है, द्यूत गृह (नाना कपट-क्रीड़ापूर्ण नगर) में वास तामसिक है, किन्तु,

मेरा निकेतन अर्थात् पूजागृह और भक्तसङ्ग निर्गुण है।" (श्रीमद्भा. ११/२५/२५) सुखके विषयमें कहा गया है—"आत्मासे उदित सुख सात्त्विक है, विषयसे उत्पन्न सुख राजसिक है, मोह-दैन्यसे उत्पन्न सुख तामसिक है और मेरी शरण लेनेसे जो सुख प्राप्त होता है, वह निर्गुण है।" (श्रीमद्भा. ११/२५/२९) अतएव इसी प्रकार गुणातीत भक्तोंके भक्ति-सम्बन्धी ज्ञान, कर्म, श्रद्धा आदिमें निजसुख—सभी गुणातीत हैं। सात्त्विक ज्ञानियोंके ज्ञान-सम्बन्धी सभी कुछ सात्त्विक हैं, राजसिक कर्मियोंके सभी कुछ राजसिक है, तामसिक उच्छृंखल व्यक्तियोंसे सम्बन्धित सभी कुछ तामसिक हैं—यही श्रीगीता और श्रीमद्भागवतसे जाना जाता है। चौदहवें अध्यायमें यह भी कहा गया है कि ज्ञानियोंको भी अन्तिम दशामें ज्ञानके संन्याससे उर्वरिता केवला भक्तिके द्वारा ही गुणातीतत्वकी उपलब्धि होती है।।२८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीमद्भागवतमें सात्त्विक आदिके भेदसे कर्त्ता भी तीन प्रकारका बताया गया है—

'सात्त्विकः कारकोऽसङ्गी रागान्धो राजसः स्मृतः।
तामसः स्मृतिविभ्रष्टो निर्गुणो मदपाश्रयः।।'

(श्रीमद्भा. ११/२५/२६)

अर्थात्, अनासक्त कर्त्ता सात्त्विक, कर्म और कर्मफलमें अत्यन्त आसक्त कर्त्ता राजसिक, विवेकशून्य कर्त्ता तामसिक तथा मेरे शरणागत भक्त निर्गुण होते हैं।।२८।।

बुद्धेर्भेदं धृतेश्चैव गुणतस्त्रिविधं शृणु।
प्रोच्यमानमशेषेण पृथक्त्वेन धनञ्जय।।२९।।

अन्वय—धनञ्जय (हे धनञ्जय!) गुणतः (गुणके अनुसार) बुद्धेः (बुद्धि) धृतेः च एव (और धृतिके) त्रिविधम् भेदम् (तीन प्रकारके भेदको) पृथक्त्वेन (पृथक्-पृथक्) अशेषेण (सम्पूर्णरूपसे) प्रोच्यमानम् (जो कहा जा रहा है, उसे) शृणु (श्रवण करो)।।२९।।

अनुवाद—हे धनञ्जय! गुणके अनुसार बुद्धि और धृतिके जो तीन भेद हैं, उन्हें पृथक्-पृथक् सम्पूर्णरूपसे कहा जा रहा है, तुम श्रवण करो।।२९।।

श्रीविश्वनाथ—ज्ञानिभिः सर्वमपि वस्तु सात्त्विकमेवोपादेयमिति ज्ञापयितुं बुद्ध्यादीनामपि त्रैविध्यमाह—बुद्धेरिति।।२९।।

भावानुवाद—ज्ञानियोंके समस्त सात्त्विक वस्तु ही उपादेय हैं, इसे बतानेके लिए श्रीभगवान् बुद्धि आदिके तीन भेद बता रहे हैं।।२९।।

प्रवृत्तिञ्च निवृत्तिञ्च कार्याकार्ये भयाभये।
बन्धं मोक्षञ्च या वेत्ति बुद्धिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३०।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) या बुद्धि (जो बुद्धि) प्रवृत्तिम् च निवृत्तिम् च (प्रवृत्ति और निवृत्ति) कार्याकार्ये (कार्य और अकार्य) भयाभये (भय और अभय) बन्ध मोक्ष च (तथा बन्धन और मोक्ष) वेत्ति (जान सकती है) सा (वह) सात्त्विकी (सात्त्विकी बुद्धि है)।।३०।।

अनुवाद—हे पार्थ! जो बुद्धि प्रवृत्ति-निवृत्ति, कार्य-अकार्य, भय-अभय तथा बन्धन-मोक्षको जान सकती है, वह सात्त्विकी बुद्धि है।।३०।।

श्रीविश्वनाथ—भयाभये संसारासंसार-हेतुके।।३०।।

भावानुवाद—'भयाभये'—संसार तथा असंसारका हेतु।।३०।।

यया धर्ममधर्मञ्च कार्यञ्चाकार्यमेव च।
अयथावत् प्रजानाति बुद्धिः सा पार्थ राजसी।।३१।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) यया (जिसके द्वारा) धर्मम् अधर्मम् च (धर्म और अधर्मको) कार्यम् अकार्यम् एव च (तथा कार्य और अकार्यको) अयथावत् (यथार्थतः नहीं) प्रजानाति (जाना जा सकता) सा बुद्धिः (वह बुद्धि) राजसी (राजसी है)।।३१।।

अनुवाद—हे पार्थ! जिसके द्वारा धर्म-अधर्म और कार्य-अकार्यको यथार्थतः नहीं जाना जा सकता, वह बुद्धि राजसी है।।३१।।

श्रीविश्वनाथ—'अयथावत्' असम्यक्तया इत्यर्थः।।३१।।

भावानुवाद—'अयथावत्'—असम्यक्रूपसे।।३१।।

अधर्मं धर्ममिति या मन्यते तमसावृता।
सर्वार्थान् विपरीतांश्च बुद्धिः सा पार्थ तामसी।।३२।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) या बुद्धिः (जो बुद्धि) अधर्मम् (अधर्मको) धर्मम् इति (धर्म कहकर) सर्वार्थान् च (और सभी विषयोंको) विपरीतान् (उसके विपरीत कहकर) मन्यते (मानती है) सा (वह बुद्धि) तमसावृता (तमोगुणसे आच्छन्न) तामसी (तामसी है)।।३२।।

अनुवाद—हे पार्थ! जो बुद्धि अधर्मको धर्म मानती है तथा सभी विषयोंका विपरीत अर्थ करती है, वह बुद्धि तमोगुणसे आच्छन्न होनेके कारण तामसी है।।३२।।

श्रीविश्वनाथ—'या मन्यत' इति—कुठारश्छिनत्तीतिवत् यया मन्यते इत्यर्थः।।३२।।

भावानुवाद—'या मन्यते'—जिसके द्वारा यह माना जाता है कि कुठार छिन्न करता है।।३२।।

धृत्या यया धारयते मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः।
योगेनाव्यभिचारिण्या धृतिः सा पार्थ सात्त्विकी।।३३।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) योगेन (योगाभ्यासपूर्वक) यया अव्यभिचारिण्या (जिस अव्यभिचारिणी) धृत्या (धृति द्वारा) [पुरुष] मनःप्राणेन्द्रियक्रियाः (मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको) धारयते (धारण करता है अर्थात् नियमित करता है) सा धृतिः (वह धृति) सात्त्विकी (सात्त्विकी है)।।३३।।

अनुवाद—हे पार्थ! योगाभ्यासपूर्वक जिस अव्यभिचारिणी धृति द्वारा पुरुष मन, प्राण और इन्द्रियोंकी क्रियाओंको नियमित करता है, वह धृति सात्त्विकी है।।३३।।

श्रीविश्वनाथ—धृतेस्त्रैविध्यमाह—धृत्येति।।३३।।

भावानुवाद—अब श्रीभगवान् तीन प्रकारका धैर्य बता रहे हैं।।३३।।

यया तु धर्मकामार्थान् धृत्या धारयतेऽर्जुन।
प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी धृतिः सा पार्थ राजसी।।३४।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) अर्जुन (हे अर्जुन!) प्रसङ्गेन फलाकाङ्क्षी (आसक्तिवश फलाकाङ्क्षी होकर) [पुरुष] यया तु धृत्या (जिस धृति द्वारा) धर्म-कामार्थान् (धर्म, काम और अर्थको) धारयति (धारण करता है) सा धृतिः (वह धृति) राजसी (राजसी है)।।३४।।

अनुवाद—हे पार्थ! हे अर्जुन! आसक्तिवश फलाकांक्षी होकर पुरुष जिस धृति द्वारा धर्म, काम और अर्थको धारण करता है, वह धृति राजसी है।।३४।।

यया स्वप्नं भयं शोकं विषादं मदमेव च।
न विमुञ्चति दुर्मेधा धृतिः सा तामसी मता।।३५।।

अन्वय—दुर्मेधाः (अविवेकी मेधायुक्त व्यक्तिगण) यया (जिस धृति द्वारा) स्वप्नम् (निद्रा) भयम् (भय) शोकम् (शोक) विषादम् (विषाद) मदम् एव च (और विषयके भोगसे उत्पन्न मदका) न विमुञ्चति (त्याग नहीं करते) सा धृतिः (वह धृति) तामसी मता (तामसी कहलाती है)।।३५।।

अनुवाद—अविवेकी-मेधायुक्त व्यक्ति जिस धृति द्वारा निद्रा, भय, शोक, विषाद और विषय-भोगसे उत्पन्न मदका त्याग नहीं करते, वह धृति तामसी कहलाती है।।३५।।

सुखं त्विदानीं त्रिविधं शृणु मे भरतर्षभ।
अभ्यासाद्रमते यत्र दुःखान्तञ्च निगच्छति।।३६।।

अन्वय—भरतर्षभ (हे भरतश्रेष्ठ!) इदानीम् तु (किन्तु अब) मे (मुझसे) त्रिविधम् सुखम् (तीन प्रकारके सुखके बारेमें) शृणु (श्रवण करो) [बद्धजीव] अभ्यासात् (पुनः पुनः अनुशीलन द्वारा अभ्याससे) यत्र (जिस सुखमें) रमते (रति प्राप्त करता है) दुःखान्तञ्च (और दुखका अन्त) निगच्छति (लाभ करता है)।।३६।।

अनुवाद—हे भरतश्रेष्ठ! अब मुझसे तीन प्रकारके सुखके विषयमें श्रवण करो। जीव पुनः पुनः अभ्यास द्वारा जिस सुखमें रति प्राप्त करता है एवं जिसके द्वारा संसाररूप दुःखका अन्त होता है, वह सात्त्विक है।।३६।।

श्रीविश्वनाथ—सात्त्विकं सुखमाह—सार्द्धेन 'अभ्यासात्' पुनरनुशीलनादेव रमते, न तु विषयेष्विवोत्पत्त्यैव रमते इत्यर्थः। 'दुःखान्तं' निगच्छति यस्मिन् रममाणः संसारदुःखं तरतीत्यर्थः।।३६।।

भावानुवाद—एक तथा आधे (डेढ़) श्लोकमें श्रीभगवान् सात्त्विक सुखके विषयमें बता रहे हैं। इसमें पुनः पुनः अनुशीलन करनेपर आसक्त हुआ जाता है, विषयकी भाँति उत्पत्तिमात्रसे ही आसक्त नहीं होता। 'दुःखान्तं निगच्छति'—जिसमें आसक्त होनेसे संसार-दुःखसे उत्तीर्ण हो जाता है।।३६।।

यत्तदग्रे विषमिव परिणामेऽमृतोपमम्।
तत्सुखं सात्त्विकं प्रोक्तमात्मबुद्धिप्रसादजम्।।३७।।

अन्वय—यत् तत् (जो कोई सुख) अग्रे (पहले) विषम् इव (विषके समान) परिणामे (परिणाममें) अमृतोपमम् (अमृतके समान है) आत्मबुद्धि-प्रसादजम् (और आत्म-विषयक बुद्धिकी निर्मलतासे उत्पन्न है) तत् सुखम् (उस सुखको) सात्त्विकम् प्रोक्तम् (सात्त्विक कहते हैं)।।३७।।

अनुवाद—जो कोई सुख पहले विषके समान, किन्तु परिणाममें अमृतके समान है और आत्म-विषयक बुद्धिकी निर्मलतासे उत्पन्न होता है, वह सुख सात्त्विक कहलाता है।।३७।।

श्रीविश्वनाथ—विषमिवेति—इन्द्रियमनो-निरोधो हि प्रथमं दुःखद एव भवतीति भावः।।३७।।

भावानुवाद—'विषमिव'—इन्द्रियों और मनका संयम प्रारम्भमें दुःखप्रद ही होता है।।३७।।

विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।
परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम्।।३८।।

अन्वय—विषयेन्द्रियसंयोगात् (विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे) यत् (जो सुख) [उत्पन्न होता है] तत् (वह) अग्रे (पहले) अमृतोपमम् (अमृतके समान) परिणामे (और परिणाममें) विषम् इव (विषके समान होता है) तत् सुखम् (उस सुखको) राजसम् स्मृतम् (राजसिक कहा जाता है)।।३८।।

अनुवाद—विषय और इन्द्रियोंके संयोगसे जो सुख उत्पन्न होता है, वह पहले तो अमृतके समान होता है, किन्तु परिणाममें विषके समान होता है। उस सुखको राजसिक सुख कहते हैं।।३८।।

श्रीविश्वनाथ—यदमृतोपमं परस्त्रीसम्भोगादिकम्।।३८।।

भावानुवाद—यदमृतोपमम्—परस्त्री सम्भोग आदि।।३८।।

यदग्रे चानुबन्धे च सुखं मोहनमात्मनः।
निद्रालस्यप्रमादोत्थं तत्तामसमुदाहृतम्।।३९।।

अन्वय—यत् सुखम् (जो सुख) अग्रे अनुबन्धे च (पहले और बादमें भी) आत्मनः मोहनम् (आत्माके स्वरूपको आवृत करनेवाला) निद्रा-आलस्य-प्रमादोत्थम् (निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदिसे उत्पन्न होता है) तत् (वह) तामसम् उदाहृतम् (तामसिक कहलाता है)।।३९।।

अनुवाद—जो सुख पहले तथा बादमें आत्माके स्वरूपको आवृत करनेवाला है, निद्रा, आलस्य, प्रमाद आदिसे उत्पन्न होता है, वह सुख तामसिक कहलाता है।।३९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—सुख भी सात्त्विक इत्यादि भेदसे तीन प्रकारका होता है। श्रीमद्भागतवतमें भी पाया जाता है—

'सात्त्विकं सुखमात्मोत्थं विषयोत्थं तु राजसम्।
तामसं मोहदैन्योत्थं निर्गुणं मदपाश्रयम्।।'

(श्रीमद्भा. ११/२५/२९)

अर्थात्, आत्मानुभवसे उत्पन्न सुख सात्त्विक होता है। विषयभोगसे उत्पन्न सुख राजस, मोह और दैन्यसे उत्पन्न सुख तामस तथा भगवान्के कीर्त्तन आदिसे उत्पन्न सुख निर्गुण होता है।।३९।।

न तदस्ति पृथिव्यां वा दिवि देवेषु वा पुनः।
सत्त्वं प्रकृतिजैर्मुक्तं यदेभिः स्यात्त्रिभिर्गुणैः।।४०।।

अन्वय—पृथिव्याम् (पृथ्वीमें) दिवि वा (अथवा स्वर्गमें) पुनः देवेषु वा (इतना ही नहीं देवगणमें भी) तत् सत्त्वम् (वैसा कोई प्राणी अथवा वस्तु) न अस्ति (नहीं है) यत् (जो) प्रकृतिजैः (प्रकृतिसे उत्पन्न) एभिः (इन) त्रिभिः गुणैः (तीनों गुणोंसे) मुक्तम् स्यात् (मुक्त हो)।।४०।।

अनुवाद—पृथ्वीमें अर्थात् मनुष्य आदिमें अथवा स्वर्गमें, इतना ही नहीं देवगणमें भी वैसा कोई प्राणी या वस्तु नहीं है, जो प्रकृतिसे उत्पन्न इन तीनों गुणोंसे मुक्त हो।।४०।।

श्रीविश्वनाथ—अनुक्तमपि संगृह्णन् प्रकरणार्थमुपसंहरति—नेति। तत् सत्त्वं प्राणिजातमन्यच्च वस्तुमात्रं क्वापि नास्ति यदेभिः प्रकृतिजैस्त्रिभिर्गुणैर्मुक्तं रहितं स्यादतः सर्वमेव वस्तुजातं त्रिगुणात्मकं, तत्र सात्त्विकमेवोपादेयं, राजसतामसे तु नोपादेय इति प्रकरणतात्पर्यम्।।४०।।

भावानुवाद—जिसे अभी तक नहीं बताया गया, उसे भी संग्रहकर यहाँ बताते हुए प्रकरणका उपसंहार कर रहे हैं। 'तत् सत्त्वम्'—कोई प्राणी अथवा अन्य कोई वस्तु, कहीं भी प्रकृतिसे उत्पन्न सत्त्व आदि तीन गुणोंसे मुक्त या रहित नहीं है। अतएव सभी वस्तुएँ त्रिगुणात्मक हैं। इनमें से सात्त्विक वस्तु ही उपादेय हैं, राजसिक और तामसिक नहीं—यही इस प्रकरणका तात्पर्य है।।४०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वर्त्तमान श्लोकमें पूर्वोक्त विषयोंका उपसंहार करते हुए कह रहे हैं—इस संसारसे सम्बन्धित सभी विषय त्रिगुणमय हैं। उनमें साधारणतः सात्त्विक विषयोंकी ही श्रेष्ठताका प्रतिपादन किया गया है तथा उन्हींका आश्रय लेनेका उपदेश दिया गया है। किन्तु, संसारके बन्धनसे मुक्त होनेके लिए निर्गुण विषयोंका आश्रय लेना अत्यन्त आवश्यक बताया गया है। भगवान्, भक्त, भक्ति, सेवाके समस्त उपकरण, भाव आदि सभी निर्गुण हैं। इनका आश्रय लिए बिना जीवका स्वरूपतः कल्याण होना असम्भव है। इसलिए बुद्धिमान् पुरुषोंका यह परम कर्त्तव्य है कि वे सत्सङ्गके प्रभावसे तीनों गुणोंसे उपर उठकर निर्गुण स्वभावमें प्रतिष्ठित होकर निर्गुण प्रेममयी भगवत्-सेवामें प्रवेश करें। साधकोंकी जानकारीके लिए नीचे विषयों तथा गुणोंकी एक तालिका दी जा रही है, जिससे साधक सरल सहजरूपमें इसे जानकर निर्गुण तत्त्वमें प्रवेश कर सकेंगे।

विषय	सात्त्विक	राजसिक	तामसिक	निर्गुण
द्रव्य	हितकर, पवित्र, सहजप्राप्त	इन्द्रियसुखप्रद	दैन्यजनक,अशुद्ध	भगवान्‌को निवेदित
देश	वन	ग्राम	द्यूतस्थान	भगवान्‌का मन्दिर
फल	आत्मज्ञानजनित	विषयभोगजनित	मोह–दैन्यजनित	कीर्त्तनादि सेवाजनित
काल	सुख–धर्मज्ञानलाभ	दुःख, यश, श्रीलाभ	शोक–मोहलाभ	प्रेमानन्द लाभ
ज्ञान	आत्मविषयक	संशयात्मक आहार–विषयक	विहारादि	परमेश्वर विषयक
कर्म	भगवदर्पित निष्काम कर्म	भगवदर्पित सकाम कर्म	अशास्त्रीय हिंसादि	श्रवण–कीर्त्तनादि
कारक	अनासक्त	विषयाविष्ट	अनुसन्धानशून्य	भक्त
श्रद्धा	आत्मविषयिणी	कर्मविषयिणी	अधर्मविषयिणी	सेवाविषयिणी
अवस्था	जागरण	स्वप्न	सुषुप्ति	तुरीय
आकृति	देवत्व	नरत्व	स्थावरत्व	भगवत्पद
निष्ठा	स्वर्ग	मर्त्त	नरक	भगवत्प्राप्ति

पूर्वोक्त त्रिगुणमय और गुणातीत विषयोंका वर्णन श्रीमद्भागवतमें पाया जाता है। श्रीभगवान्‌ने उद्धवजीसे कहा है—

'द्रव्यं देशः फलं कालो ज्ञानं कर्म च कारकः।
श्रद्धावस्थाऽऽकृतिर्निष्ठा त्रैगुण्यः सर्व एव हि।।
सर्वे गुणमया भावाः पुरुषाव्यक्तधिष्ठिताः।
दृष्टं श्रुतमनुध्यातं बुद्ध्या वा पुरुषर्षभ।।'

(श्रीमद्भा. ११/२५/३०–३१)

अर्थात्, द्रव्य, देश, फल, काल, ज्ञान, कर्म, कारक, श्रद्धा, आकृति निष्ठा—ये सभी भाव त्रिगुणमय हैं। हे पुरुषश्रेष्ठ! दृष्ट, श्रुत और चिन्तित—ये सभी भाव प्रकृति और पुरुषमें अधिष्ठित हैं, इसलिए त्रिगुणात्मक हैं।

त्रिगुणोंको किस प्रकार जीता जा सकता है, इसके विषयमें श्रीभगवान् कहते हैं—

'एताः संसृतयः पुंसो गुणकर्मनिबन्धनाः।
येनेमे निर्जिताः सौम्य गुणा जीवेन चित्तजाः।।'

(श्रीमद्भा. ११/२५/३२)

अर्थात्, हे सौम्य! देहात्म-बुद्धिके कारण जीव प्राकृत गुण और कर्मसे सम्बद्ध होकर नाना प्रकारकी योनियोंमें भ्रमण कर रहा है। सत्सङ्गके प्रभावसे चित्तजात देहात्म-अभिमानरूप इन गुणोंको जो लोग भक्तियोगके साधनसे जीत लेते हैं, वे मेरे प्रति निष्ठा प्राप्तकर परमपद अर्थात् भगवत्-धाममें भगवत्-सेवा प्राप्त करते हैं।

श्रीभगवान् निर्गुण हैं। उनके आश्रित कर्त्ता अर्थात् भक्त भी निर्गुण हैं। अनन्या भक्ति भी निर्गुणा है। उस निर्गुणा भक्तिके उपकरणसमूह भी निर्गुण होते हैं। भक्तगण भक्तिके उपकरणके रूपमें जिन वस्तु, भावोंको ग्रहणकर भगवत्-सेवामें नियुक्त करते हैं, वे भगवान्की अचिन्त्य शक्तिके प्रभावसे निर्गुण बन जाते हैं। श्रीमद्भागवत आदि शास्त्रोंमें स्थान-स्थानपर इस सिद्धान्तका प्रतिपादन किया गया है।।४०।।

ब्राह्मणक्षत्रियविशां शूद्राणाञ्च परन्तप।
कर्माणि प्रविभक्तानि स्वभावप्रभवैर्गुणैः।।४१।।

अन्वय—परन्तप (हे परन्तप!) ब्राह्मणक्षत्रियविशाम् (ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्योंके) शूद्रानाम् च (एवं शूद्रोंके) कर्माणि (कर्मसमूह) स्वभावप्रभवैः (प्राचीन संस्कारसे उत्पन्न) गुणैः (गुणोंसे) प्रविभक्तानि (विभक्त हुए हैं)।।४१।।

अनुवाद—हे परन्तप! ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रोंके कर्म स्वभावसे उत्पन्न गुणोंके अनुसार विभक्त हुए हैं।।४१।।

श्रीविश्वनाथ—किञ्च, त्रिगुणात्मकमपि प्राणिजातं स्वाधिकारप्राप्तेन विहितकर्मणा परमेश्वरमाराध्य कृतार्थीभवतीत्याह—ब्राह्मणेति षड्भिः। स्वभावेनोत्पत्त्यैव प्रभवन्ति प्रादुर्भवन्ति ये गुणाः सत्त्वादयस्तैः प्रकर्षेण विभक्तानि पृथक्कृतानि कर्माणि ब्राह्मणादीनां विहितानि सन्तीत्यर्थः।।४१।।

भावानुवाद—और भी, तीनों गुणोंवाले जीवसमूह अपने अपने अधिकार-प्राप्त शास्त्रविहित कर्मों द्वारा परमेश्वरकी आराधनाकर कृतार्थ होते हैं। इसीलिए 'ब्राह्मण' इत्यादि छः श्लोकोंको कह रहे हैं।

'स्वभावप्रभवैर्गुणैः'—उनके स्वभावसे ही उत्पन्न जो सात्त्विक आदि गुणसमूह हैं, उनके द्वारा प्रकृष्ट रूपसे विभक्त कर्मसमूह ब्राह्मण आदिके लिए विहित होते हैं अर्थात् कर्त्तव्यके रूपमें निर्धारित होते हैं।।४१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान् श्रीकृष्ण मनुष्योंको त्रिगुणमय अवस्थासे उपर उठाकर क्रमानुसार उन्नत अधिकारमें लानेके लिए गुण और कर्मके अनुसार उनके कर्मका विभागकर वर्णधर्मका निरूपण कर रहे हैं। शुद्ध वर्ण व्यवस्था मानव जीवनके लिए अत्यन्त उपयोगी और कल्याणकारी तथा विज्ञान-सम्पन्न है। किन्तु, समयके फेरसे तथाकथित वर्णाश्रम धर्मियोंमें नाना प्रकारके दोष देखकर साधारण लोग उसके प्रति श्रद्धाहीन हो गए हैं। यहाँ तक कि साधारण लोग भारतीय समाजमें प्रचलित रूढिवाद, जातिगत भेद और वैषम्यका सारा दोष वर्णाश्रम धर्मके उपर ही थोप रहे हैं। वे और भी कहते हैं कि वर्णधर्मके कारण ही भारतका सामाजिक, राजनैतिक और आर्थिक पतन हुआ है तथा भारतीय लोग पृथ्वीके अन्यान्य राष्ट्रोंकी अपेक्षा अत्यन्त पिछड़े हुए हैं। अधिकांश लोग तो इसी बीच वर्णधर्मको सम्पूर्णरूपसे ध्वसंकर जाति-वर्णहीन एक नास्तिक समाजकी स्थापना करनेके लिए कटिबद्ध हो रहे हैं। किसी एक उपयोगी विषयको नष्ट करना जितना सहज है, उसका प्रवर्त्तन करना उतना ही कठिन है। भगवान् ऐसे लोगोंको सबुद्धि प्रदान करें। क्या वे लोग गम्भीर रूपसे इसका विचारकर ऐसा कर रहे हैं अथवा भावनामें बहकर व्यक्तिगत और समष्टिगत समाजकी जड़ काटनेके लिए कृतसंकल्प हो रहे हैं? इस विषयमें श्रील भक्तिविनोद ठाकुर द्वारा रचित श्रीचैतन्य शिक्षामृत ग्रन्थसे कुछ सारगर्भित गवेषणापूर्ण अंश उद्धृत किया जा रहा है, श्रद्धालु पाठकगण मनोयोगपूर्वक इसका अनुशीलनकर अवगत होवें—

स्वभावके अनुसार ही प्रवृत्ति या गुण होता है। इसलिए तदनुसार ही कर्म करना चाहिए। स्वभावके विरुद्ध कर्म करनेसे वह कर्म फलप्रद नहीं होता। स्वभावके किसी अंशको ही अंग्रेजी भाषामें जिनियस (Genius) कहते हैं। परिपक्व स्वभावको बदल देना सहज नहीं है। इसलिये स्वभावके अनुसार ही करते हुए जीविका-निर्वाह और परमार्थके लिये चेष्टा करनी चाहिए। भारतवर्षके मनुष्य चार प्रकारके स्वभाव-भेदसे चार वर्णोंमें विभक्त हैं। वर्ण-विभागकी विधियोंका पालन करते हुए समाजमें स्थित होनेपर सब प्रकारकी सामाजिक क्रियाएँ स्वाभाविक रूपसे ही फलवती

हो जाती हैं तथा जगत्का सर्वाङ्गीन कल्याण होता है। जिस समाजमें वर्ण-विभाग-विधि प्रचलित है, उस समाजकी भित्ति ठोस विज्ञानपर आधारित है तथा वह समाज मानव जातिके लिए पूजनीय है।

कुछ लोग ऐसा संदेह कर सकते हैं कि यूरोप और अमेरिका में कहीं भी वर्ण-विभाग आदि विधियाँ प्रचलित नहीं हैं, फिर भी वहाँके लोग अर्थ एवं विज्ञान आदि सभी विषयोंमें सर्वश्रेष्ठ एवं पूजनीय है, अतएव वर्ण-विधिको स्वीकार करना व्यर्थ है। परन्तु, उनका ऐसा सन्देह निरर्थक है, क्योंकि यूरोपीय जातियाँ अत्यन्त नवीन और आधुनिक हैं। आधुनिक जातियोंके लोग प्रायः अधिक बलवान् और साहसी होते हैं। वे उस साहस और बलसे प्राचीन जातियोंके संगृहीत विद्या, विज्ञान और कला-कौशलसे कुछ-कुछ ग्रहणकर जगतमें एक प्रकारका कार्य कर रहे हैं। क्रमशः कुछ दिन बीतनेपर ये नई जातियाँ ठोस विज्ञानके आधारपर प्रतिष्ठित समाज-व्यवस्थाके अभावमें सर्वथा लुप्त हो जायेंगी। भारतीय आर्य जातिमें वर्ण-व्यवस्था विद्यमान रहनेसे ही इस वार्द्धक्य एवं जीर्ण-शीर्ण अवस्थामें भी उसमें जाति-लक्षण प्रकाशित हो रहे हैं। किसी समय रोम और ग्रीककी जातियाँ इन आधुनिक यूरोपीय जातियोंसे भी बल और वीर्यमें कहीं अधिक बढ़ी-चढ़ी हुई थीं। परन्तु, आज उनकी क्या दशा है? आज वे अपने जाति-लक्षणसे रहित होकर अन्यान्य आधुनिक जातियोंके धर्म और लक्षण ग्रहणकर अपनी पूर्वावस्थासे सर्वथा भिन्न रूपमें बदल गई हैं। यहाँ तक कि उन जातियोंके वर्त्तमान लोग अपने वीर पूर्वपुरुषोंकी वीरता आदि पर गर्व तक नहीं करते। यद्यपि हमारे देशकी आर्य जाति रोम और ग्रीक जातियोंसे न जाने कितनी अधिक प्राचीन है, तथापि इस आर्य जातिके लोग आज भी अपनी जातिके पूर्वजों—शूर-वीर पुरुषोंके उपर गर्व करते हैं। ऐसा क्यों होता है? इसका उत्तर यह है कि केवल वर्णाश्रम-व्यवस्था सुदृढ़ रहनेके कारण उनका जाति-लक्षण दूर नहीं हो पाया है। म्लेच्छों द्वारा पराजित राणाके वंशज आज भी अपनेको श्रीरामचन्द्रजीका वीर-वंशज मानते हैं। जातिकी वार्द्धक्य-दशासे भारतवासी जितने भी पतित क्यों न हों, जब तक उनमें वर्ण-व्यवस्था प्रचलित रहेगी, तब तक वे आर्य ही रहेंगे, वे कदापि अनार्य नहीं हो सकेंगे। रोमन आदि यूरोपीय आर्य-वंशीय लोग हान और भाण्डाल आदि अन्त्यज जातियोंके लोगोंके साथ मिल-जुलकर एक हो गए हैं। यूरोपीय जातियोंके वर्त्तमान समाजका अध्ययन करनेपर हम देख पायेंगे कि उस

समाजमें जो कुछ सौन्दर्य है, वह एकमात्र कुछ-कुछ स्वभावजनित वर्ण-धर्मको धारण करनेसे ही है। यूरोपमें जो व्यक्ति वणिक स्वभावके हैं, वे वाणिज्य-व्यवसायको ही अच्छा मानते हैं और उसके द्वारा ही उन्नति साधन कर रहे हैं। जो व्यक्ति क्षात्र स्वभावके हैं, वे सैनिक बनना ही पसन्द करते हैं तथा शूद्र स्वभाववाले व्यक्ति साधारणतः सेवा कार्यको ही श्रेष्ठ समझते हैं। वस्तुतः कुछ न कुछ अंशोंमें वर्ण-धर्मको अपनाए बिना कोई समाज टिक नहीं सकता। विवाह आदि क्रियाओंमें भी वर्णोपयोगी ऊँच-नीच अवस्था और स्वभावकी परीक्षा की जाती है। यूरोप आदिमें वर्ण-धर्म आंशिक रूपमें गृहीत होनेपर भी वह वैज्ञानिक भित्तिके ऊपर प्रतिष्ठित सम्पूर्ण आकारको प्राप्त नहीं है। वहाँ सभ्यता और ज्ञानकी जितनी उन्नति होगी, वर्ण-धर्म भी उतना ही पूर्णताकी ओर अग्रसर होगा। सभी क्रियाओंमें दो प्रकारकी प्रणालियाँ कार्य करती हैं—अवैज्ञानिक प्रणाली और वैज्ञानिक प्रणाली। किसी भी कार्यमें जब तक वैज्ञानिक प्रणालीको अपनाया नहीं जाता, तब तक वहाँ अवैज्ञानिक प्रणालीसे ही कार्य होता है। उदाहारणके लिए पहले जब तक वैज्ञानिक प्रणालीसे जलयान प्रस्तुत नहीं हुए थे, तब तक अवैज्ञानिक नौकाओंके द्वारा ही जल-यात्राएँ हुआ करती थीं, परन्तु वैज्ञानिक जलयानोंका निर्माण होते ही अब जल-यात्राएँ इन वैज्ञानिक जल-यानों (जहाजों) के द्वारा होती हैं। समाज भी उसी प्रकार है अर्थात् जिस देशमें जब तक वर्ण-व्यवस्थाका सुचारु रूपसे प्रचलन नहीं हो जाता, तब तक एक अवैज्ञानिक प्राथमिक अवस्था ही उस देशके समाजकी परिचालना करती है। आजकल भारतवर्षको छोड़कर संसारके सभी देशोंमें वर्ण-व्यवस्थाकी प्राथमिक अवस्था ही वहाँके समाजकी परिचालना करती है। इसलिए भारतको कर्मक्षेत्र कहा गया है।

यहाँ यह प्रश्न हो सकता है कि क्या आजकल भारत में वर्ण-व्यवस्था ठीक-ठीक रूपमें चल रही है? इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा। यह वर्ण-व्यवस्था भारतमें पूर्णावस्थामें प्रतिष्ठित होकर भी अन्तमें उसमें कुछ ऐसे रोग लग गए, जिनके कारण ही भारतकी कुछ अवनति दृष्टिगोचर होती है। वह रोग क्या है? यही विवेचना का विषय है।

त्रेतायुगके प्रारम्भमें आर्य जातिकी उन्नति चरमावस्थाको पहुँच चुकी थी। उसी समय वर्णाश्रम-व्यवस्थाकी स्थापना हुई। उस समय ऐसी विधि

बनाई गई कि हर व्यक्ति अपने स्वभावके अनुसार वर्णको प्राप्त करेगा और उसे उस वर्णके अनुसार अधिकार प्राप्त करके उस वर्णके लिए निर्दिष्ट किए गए कर्मोंको ही अपनाना होगा। श्रम-विभाग-विधि और स्वभाव-निरूपण-विधि द्वारा जगत्के कर्म बड़े ही सुचारु ढ़ङ्गसे परिचालित होते थे। जिसके पिताका कोई वर्ण नहीं होता था, केवल उसके स्वभावको परखकर ही उपयुक्त वर्णमें उसे शामिल कर लिया जाता था। जाबाली और गौतम, जानश्रुति और चित्ररथ आदिका वैदिक इतिहास ही इसका साक्षी और उदाहरण है। जिनके पिताका वर्ण निर्दिष्ट था, उनके स्वभाव और वंश दोनोंके प्रति दृष्टि रखकर ही वर्णका निर्णय होता था। नरिष्यन्त वंशमें अग्निवेश स्वयं जातुकर्ण नामक महर्षि हुए हैं। उन्हीं से अग्निवेश्यायन नामक प्रसिद्ध ब्राह्मण वंशकी उत्पत्ति हुई है। ऐल वंशमें होत्रके पुत्र जह्नु ने ब्राह्मणत्व प्राप्त किया है। भरत वंशमें उत्पन्न भरद्वाज—जिनका नाम वितथ राजा था, इनके वंशमें नरादिके सन्तान क्षत्रिय और गर्गके सन्तान ब्राह्मण हुए। भर्यस्व राजाके वंशमें मौद्गल्य गोत्रीय शतानन्द और कृपाचार्य आदि ब्राह्मण उत्पन्न हुए। शास्त्रमें ऐसे ऐसे असंख्य उदाहरण हैं, जिनमें से मैंने केवल दो-चारका ही उल्लेख किया।

जिस समय वर्ण-व्यवस्था ऐसे सुन्दर और संस्कृतरूपमें प्रचलित थी, उस समय भारतका यशःसूर्य मध्याह्न रविकी भाँति पृथ्वीमें सर्वत्र ही अपनी प्रभाका विस्तार कर रहा था। संसारके सारे देश भारतवासियोंको राजा, दण्डदाता और गुरु मानकर पूजते थे। मिस्त्र और चीन आदि देशोंके लोग उस समय श्रद्धा एवं भयसे भारतवासियोंके उपदेश सुना करते थे।

पूर्वोक्त वर्णाश्रम-धर्म भारतमें बहुत समय तक विशुद्ध रूपमें चलता रहा । पश्चात् कालक्रम से क्षात्र स्वभाव जमदग्नि और उनके पुत्र परशुराम अवैध रूपसे ब्राह्मणके रूपमें स्वीकृत होनेपर उन्होंने अपने स्वभावविरुद्ध ब्राह्मणत्वका त्यागकर ब्राह्मण और क्षत्रियोंके बीच कलह पैदाकर शान्ति भङ्ग की थी। इस परस्पर कलहका दुष्प परिणाम यह हुआ कि जन्मगत वर्ण-व्यवस्था क्रमशः जोर पकड़ती गई। कुछ समय पश्चात् मनुस्मृति आदि शास्त्रोंमें भी उस अस्वाभाविक जन्म-प्रधान-वर्ण-व्यवस्थाका गुप्त रूपसे प्रवेश होनेपर उच्च वर्ण-प्राप्तिकी आशासे रहित होनेपर क्षत्रियोंने विद्रोह किया। वे बौद्ध धर्मकी सृष्टिकर ब्राह्मण आदिका ध्वंश करनेके लिए जी-जानसे तत्पर हो गए। जिस समय जो क्रिया या मत-मतान्तर

प्रचलित या उत्पन्न होते हैं, उनकी प्रतिक्रिया भी उतनी ही बलवती होती है। जब वेद-विरोधी बौद्ध धर्म ब्राह्मण आदिके विरुद्ध उठ खड़ा हुआ, तब जन्मगत वर्ण-व्यवस्था सहज ही दृढ़तर होती चली गयी। एक ओर कुव्यवस्था और दूसरी ओर स्वदेश-निष्ठा इन दोनों भावोंमें परस्पर विवाद उठ खड़ा हुआ, जिसने क्रमशः भारतवासी आर्य सन्तानको नष्टप्राय कर दिया।

ब्रह्म-स्वभाव-विहीन नाममात्रके ब्राह्मणोंने स्वार्थपर धर्म-शास्त्रोंकी रचनाकर दूसरे वर्णोंको ठगना आरम्भ कर दिया। क्षात्र स्वभावविहीन क्षत्रियगण युद्धसे विमुख होकर राज्यसे च्युत होने लगे और अन्तमें तुच्छ और हेय बौद्ध धर्मका प्रचार करने लगे। वणिक स्वभावरहित वैश्यगण जैनादि धर्मोंका प्रचार करने लगे। ऐसी दशामें भारतका संसार-व्यापी व्यापार धीरे-धीरे नष्ट होने लगा और शूद्र स्वभावविहीन शूद्रगण अपने स्वभावानुकूल कार्य न पानेके कारण दस्युप्राय हो गई। इससे वेदादि सत्-शास्त्रोंकी चर्चा क्रमशः बंद हो गयी। म्लेच्छ देशके शासकोंने मौका देखकर भारतपर आक्रमण करके उसे अपने अधिकारमें दबोच लिया। जलयान आदिका व्यवहार बन्द हो गया। सेवा भी उचित रूपसे नहीं हुई। इस प्रकार कलिका अधिकार प्रगाढ़ हुआ। हाय! जो भारतीय आर्य जाति एक दिन पृथ्वीकी सारी जातियोंका शासक और गुरु थी, आज उसकी यह दुर्दशा। इसका कारण इस जातिका वार्द्धक्य नहीं है, बल्कि वर्ण-व्यवस्थामें नाना प्रकारके दोष आ जानेके कारण उसका क्रमशः शिथिल होना ही है। जो सर्वजीवों एवं समस्त विधियोंके मूल नियन्ता हैं और जो सर्वप्रकारके अमङ्गलोंको दूरकर मङ्गल करनेमें समर्थ हैं, उन सर्वेश्वरेवर प्रभुकी इच्छा होनेपर ही कोई शक्त्याविष्ट पुरुष पुनः यथार्थ वर्णाश्रम-धर्मकी प्रतिष्ठा करेंगे। पुराणोंके रचयिता भी हमारी तरह आशा लगाए श्रीकल्किदेवके आविर्भावकी प्रतीक्षा कर रहे हैं। मरु और देवापि राजाके उपाख्यानमें ऐसी ही प्रतीक्षा दृष्टिगोचर होती है। अब प्रकृत विधिका विचार किया जाय।

किस वर्णका किस कर्ममें अधिकार है, उसका धर्मशास्त्रमें विस्तारसे उल्लेख है। इस ग्रन्थमें उसका साङ्गोपाङ्ग वर्णन करना असम्भव है। अतिथियोंको अन्न-दान, पवित्रताके लिए दिनमें तीन बार स्नान, देव-देवियोंकी पूजा, वेद-पाठ, उपदेश देना, पौरोहित्य करना, उपनयन आदि

व्रत, ब्रह्मचर्य और संन्यास—इन कर्मोंमें केवल ब्राह्मणका अधिकार है। धर्म-युद्ध, राज्य-शासन, प्रजा-रक्षण और बड़े-बड़े दान आदि कर्मोंमें क्षत्रियका अधिकार है। पशु-पालन और व्यापार आदि कर्मोंमें वैश्योंका अधिकार है। बिना मंत्रके देव-सेवन और तीनों वर्णोंके विविध प्रकारके सेवा-कार्योंमें शूद्रका अधिकार है। विवाहादि व्रत, ईश-भक्ति, परोपकार, साधारण दान, गुरु-सेवा, अतिथि-सत्कार, पवित्रता, महोत्सव, गो-सेवा, जगत्-वृद्धिकरण और न्याय-आचरण आदि कर्मोंमें सभी वर्णोंके सभी स्त्री-पुरुषोंका अधिकार है। पति सेवा-कार्यमें स्त्रियोंका विशेष अधिकार है। मूल विधि यह है कि जिस व्यक्तिका जैसा स्वभाव है, उस स्वभावके उपयोगी कर्मोंमें ही उसका अधिकार है। सभी लोग सरल बुद्धि द्वारा अपने-अपने कर्माधिकारको स्थिर कर सकते हैं। यदि कोई व्यक्ति ऐसा करनेमें असमर्थ हो, तो वह उपयुक्त गुरुसे पूछकर अपना कर्माधिकार स्थिर करे। निर्गुण वैष्णवगण इस विषयमें अधिक जाननेकी इच्छा करनेपर श्रीमद्गोपाल भट्ट गोस्वामीकृत 'सत्क्रियासार-दीपिका' ग्रन्थका अध्ययन करेंगे।।४१।।

शमो दमस्तपः शौचं क्षान्तिरार्जवमेव च।
ज्ञानं विज्ञानमास्तिक्यं ब्रह्मकर्म स्वभावजम्।।४२।।

अन्वय—शमः (अन्तःकरणका संयम) दमः (बाह्येन्द्रियोंका संयम) तपः (शास्त्रमें बताए गए शारीरिक क्लेश) शौचम् (बाह्य और आन्तरिक शुद्धि) क्षान्तिः (सहिष्णुता) आर्जवम् (सरलता) ज्ञानम् (शास्त्रीय ज्ञान) विज्ञानम् (तत्त्वकी अनुभूति) आस्तिक्यम् एव च (और शास्त्रके तात्पर्यमें दृढ़ विश्वास) [एतानि—ये सभी] स्वभावजम् (स्वभावसे उत्पन्न ब्राह्मणोचित कर्म हैं)।।४२।।

अनुवाद—शम, दम, तप, शौच, सहिष्णुता, सरलता, ज्ञान, विज्ञान और आस्तिकता—ये सब ब्राह्मणोंके स्वाभावसे उत्पन्न कर्म हैं।।४२।।

श्रीविश्वनाथ—तत्र सत्त्वप्रधानानां ब्राह्मणानां स्वाभाविकानि कर्माण्याह—शम इति। 'शमो'ऽन्तरिन्द्रियनिग्रहः, 'दमो' बाह्येन्द्रियनिग्रहः 'तपः' शारीरादि, 'ज्ञानविज्ञाने' शास्त्रानुभवोत्थे, 'आस्तिक्यं' शास्त्रार्थे दृढ़विश्वासः—एवमादि ब्रह्मकर्म ब्राह्मणस्य कर्म स्वभावजं स्वाभाविकम्।।४२।।

भावनुवाद—इनमें से सत्त्वप्रधान ब्राह्मणोंके कर्म बताए जा रहे हैं। 'शमः'—अन्तः इन्द्रियोंका संयम, 'दमः'—बाह्य इन्द्रियोंका संयम, 'तपः'—शरीरके द्वारा विहित कर्म, 'ज्ञान विज्ञाने'—शास्त्रका ज्ञान तथा उसका अनुभव, 'आस्तिकता'—शास्त्रके अर्थमें दृढ़ विश्वास—ये सभी ब्राह्मणोंके स्वाभाविक कर्म हैं।।४२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीमद्भागवतमें शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, सहिष्णुता, सरलता, ज्ञान, दया, सत्य और भगवद्भक्ति—इनको ब्राह्मणका गुण बताया गया है—

'शमोदमस्तपः शौचं सन्तोषः क्षान्तिरार्जवम्।
ज्ञानं दयाच्युतात्मत्वं सत्यं च ब्रह्मलक्षणम्।।'

(श्रीमद्भा. ७/११/२१)

श्रीकृष्णने उद्धवको भी शम, दम, तप, शौच, सन्तोष, सहिष्णुता, सरलता भगवद्भक्ति, दया, सत्य आदिको ब्राह्मणका गुण बताया है।

ऋषभदेवने भी श्रीमद्भागवतमें ऐसा ही बताया है—

'धृता तनूरुशती मे पुराणी येनेह सत्त्वं परमं पवित्रम्।
शमो दमः सत्यमनुग्रहश्च तपस्तितिक्षानुभवश्च यत्र।।'

(श्रीमद्भा. ५/५/२४)

अर्थात्, जिन्होंने इस लोकमें अध्ययन आदिके द्वारा मेरी वेदरूपा अति सुन्दर और पुरातन मूर्त्तिको धारण कर रखा है तथा जो परम पवित्र सत्त्वगुण, शम, दम, सत्य, दया, तप, तितिक्षा और ज्ञान आदि आठ गुणोंसे सम्पन्न हैं, उन ब्राह्मणोंसे बढ़कर और कौन हो सकता है?

यहाँ यह विचारणीय है कि ऐसे गुणोंसे सम्पन्न यथार्थ ब्राह्मणके द्वारा व्यक्तिगत, समाजगत, जातिगत या राष्ट्रगत अहित होनेकी कल्पना तक नहीं की जा सकती। ऐसे व्यक्ति निःसन्देहरूपमें सबके हितकारी बान्धव हैं—ऐसा निश्चितरूपसे कहा जा सकता है। किन्तु, ऐसे सच्चे ब्राह्मणोंके स्थलपर यदि उन गुणोंसे रहित व्यक्ति अपनेको ब्राह्मण कहें, तो ऐसे ब्राह्मणब्रुव व्यक्तियोंके द्वारा समाजका अमङ्गल होगा, इसमें तनिक भी सन्देह नहीं है। किन्तु, इसीलिए सारी वर्णव्यवस्थाके प्रति विद्वेषकर उसे समूल नष्ट करनेकी चेष्टा करना सर्वथा असङ्गत है। होना तो यह चाहिए था कि कालके प्रभावसे उस पद्धतिमें जो दोष दृष्टिगोचर होने लगे हैं, उनका संशोधन किया जाय तथा ऐसे गुणी व्यक्तियोंको समाजमें

सम्मान दिया जाय। गीताके अनुसार गुण, कर्म, स्वभाव और संस्कारके अनुसार किसी व्यक्तिके वर्णका निरूपणकर उसे उचित सम्मान दिया जाय, जिससे हमारे समाजमें वशिष्ठ, नारद, व्यास आदि जैसे ब्राह्मण हो सकें, क्षत्रियोंमें श्रीराम, अर्जुन, भीम, महाराज भरत जैसे शूरवीर पैदा हो सकें, जिसके द्वारा संसारमें शान्ति और सुखकी प्रतिष्ठा हो सके।

आज जिस प्रकार जाति और वर्गरहित नास्तिक समाजका गठन हो रहा है, उसमें चारों ओर हत्या, लूटमार, डकैती, बेईमानी आदिका बोलबाला हो रहा है। सर्वत्र ही अशान्ति और भय व्याप्त हो रहा है। विश्वमें ऐसी दुर्दशा कभी नहीं देखी गई।

श्रीमद्भागवतमें भी देखा जाता है—

'यस्य यल्लक्षणं प्रोक्त पुंसो वर्णाभिव्यञ्जकम्।
यदन्यत्रापि दृश्येत तत् तेनैव विनिर्दिशेत्।।'

(श्रीमद्भा. ७/११/३५)

अर्थात्, मनुष्योंके वर्णको बतानेवाले जो जो लक्षण कहे गए, उन उन लक्षणोंको जहाँ देखा जाएगा, उसी वर्णसे उसको निदेर्शित करना होगा। केवल जन्म द्वारा वर्ण निर्दिष्ट नहीं होगा। विभिन्न श्रौत एवं स्मार्त्त-प्रमाण तथा प्राचीन प्रथाके अनुसार विश्वव्यापी श्रीगौड़ीयमठके प्रतिष्ठाता नित्यलीला प्रविष्ट ॐ विष्णुपाद अष्टोत्तरशत श्रीश्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती ठाकुर 'प्रभुपाद' ने वर्त्तमान युगमें दैव वर्णाश्रम-धर्मका पुनः प्रचलन किया है।।४२।।

शौर्यं तेजो धृतिर्दाक्ष्यं युद्धे चाप्यपलायनम्।
दानमीश्वरभावश्च क्षत्रकर्म स्वभावजम्।।४३।।

अन्वय—शौर्यम् (पराक्रम) तेजः (तेज) धृतिः (धैर्य) दाक्ष्यम् (दक्षता) युद्धे च अपि (और युद्धमें) अपलायनम् (पलायन नहीं करना) दानम् (दान) ईश्वरभावः (लोक-नेतृत्वता) [एतानि—ये सभी] स्वभावजम् क्षत्रकर्म (क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं)।।४३।।

अनुवाद—शौर्य, तेज, धृति, दक्षता, युद्धमें पीठ नहीं दिखाना, दान, लोक-नेतृत्वता—ये सभी क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं।।४३।।

श्रीविश्वनाथ—सत्त्वोपसर्जनरजः प्रधानानां क्षत्रियाणां कर्माह—'शौर्यः' पराक्रमः, 'तेजः' प्रागल्भ्यम्, 'धृतिः' धैर्यम् ईश्वरभावो लोकनियन्तृत्वम्।।४३।।

भावानुवाद—क्षत्रियोंमें सत्त्वगुणकी अप्रधानता तथा रजोगुणकी प्रधानता होती है। यहाँ क्षत्रियोंके कर्म बताए जा रहे हैं। 'शौर्य'—पराक्रम, 'तेजः'—प्रगल्भता या साहसिकता, 'धृतिः'—धैर्य, 'ईश्वरभावः'—लोकसमूहकी नियामकता इत्यादि क्षत्रियोंके स्वाभाविक कर्म हैं।।४३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीमद्भागवतमें भी ऐसा देखा जाता है—

'शौर्यं वीर्यं धृतिस्तेजस्त्याग आत्मजयः क्षमा।
ब्रह्मण्यता प्रसादश्च रक्षा च क्षत्रलक्षणम्।।'

(श्रीमद्भा. ७/११/२२)

अर्थात्, युद्धमें उत्साह, वीरता, धीरता, तेजस्विता, त्याग, मनोजय, क्षमा, ब्राह्मणोंके प्रति भक्ति, अनुग्रह और प्रजाकी रक्षा करना—ये क्षत्रियोंके लक्षण हैं।।४३।।

कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यं वैश्यकर्म स्वभावजम्।
परिचर्यात्मकं कर्म शूद्रस्यापि स्वभावजम्।।४४।।

अन्वय—कृषिगोरक्ष्यवाणिज्यम् (कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य) स्वभावजम् वैश्यकर्म (वैश्योंके स्वाभाविक कर्म हैं) परिचर्यात्मकम् (परिचर्यारूप) कर्म (कर्म) शूद्रस्य अपि (शूद्रके लिए ही) स्वभावजम् (स्वाभाविक है)।।४४।।

अनुवाद—कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि वैश्योंके स्वाभाविक कर्म हैं। दूसरेकी परिचर्यारूप कर्म शूद्रोंके लिए स्वाभाविक है।।४४।।

श्रीविश्वनाथ—तम उपसर्जनरजःप्रधानानां कर्माह—कृषीति। गां रक्षतीति गोरक्षस्तस्य भावो गोरक्ष्यम्। रजउपसर्जनतमः प्रधानानां शूद्राणां कर्माह—परिचर्यात्मकं ब्राह्मणक्षत्रियविशां परिचर्यारूपम्।।४४।।

भावानुवाद—वैश्योंमें तमोगुणकी अप्रधानता तथा रजोगुणकी प्रधानता रहती है। कृषि, गोरक्षा, वाणिज्य आदि वैश्योंके स्वाभाविक कर्म हैं। वे गायकी रक्षा करते हैं, अतः वे गोरक्षक कहलाते हैं। गोरक्षाका तात्पर्य पशुपालनसे है। शूद्रोंमें रजोगुणकी अप्रधानता तथा तमोगुणकी प्रधानता होती है। उनके स्वाभाविक कर्म हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय तथा वैश्यकी परिचर्या अर्थात् सेवा करना।।४४।।

स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः।
स्वकर्मनिरतः सिद्धिं यथा विन्दति तच्छृणु।।४५।।

अन्वय—स्वे स्वे (अपने अपने) कर्मणि (कर्ममें) अभिरतः (निरत) नरः (मानव) संसिद्धिम् (ज्ञान-योग्यता) लभते (लाभ करते हैं)

स्वकर्मनिरतः (अपने अधिकारविहित कर्ममें तत्पर व्यक्ति) यथा (जिस प्रकार) सिद्धिम् (सिद्धि) विन्दति (प्राप्त करते हैं) तत् (उसे) शृणु (सुनो)।।४५।।

अनुवाद—अपने अपने अधिकारके अनुसार कर्ममें निरत मानव ज्ञान–योग्यतारूपी सिद्धि प्राप्त करते हैं। अपने आधिकारिक कर्ममें निरत व्यक्ति किस प्रकार सिद्धि लाभ करते हैं, उसे श्रवण करो।।४५।।

यतः प्रवृत्तिर्भूतानां येन सर्वमिदं ततम्।
स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य सिद्धिं विन्दति मानवः।।४६।।

अन्वय—यतः (जिनसे) भूतानाम् (जीवोंकी) प्रवृत्तिः (उत्पत्ति होती है) येन (जिनसे) सर्वम् इदम् (यह समग्र विश्व) ततम् (व्याप्त है) तम् (उन परमेश्वरको) स्वकर्मणा (अपने कर्म द्वारा) अभ्यर्च्य (अर्चनकर) मानवः (मानव) सिद्धि (सिद्धि) विन्दति (लाभ करता है)।।४६।।

अनुवाद—जिनसे जीवोंकी उत्पत्ति होती हैं, जिनसे यह समग्र जगत् व्याप्त है, मानव अपने कर्म द्वारा उन परमेश्वरका अर्चनकर सिद्धि प्राप्त करता है।।४६।।

श्रीविश्वनाथ—यतः परमेश्वरात्, तमेवाभ्यर्च्य इति अनेन कर्मणा परमेश्वरस्तुष्यत्विति मनसा तदर्पणमेव तदभ्यर्चनम्।।४६।।

भावानुवाद—जिन परमेश्वरसे समस्त भूतोंकी उत्पत्ति होती हैं, उनकी पूजा-अर्चनाकर उन्हें प्राप्त किया जाना चाहिए। मेरे इस कर्म द्वारा परमेश्वर तुष्ट होवें—ऐसी मनोभावनासे उनका अर्चन ही उनकी सम्यक् पूजा है।।४६।।

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात् स्वनुष्ठितात्।
स्वभावनियतं कर्म कुर्वन्नाप्नोति किल्बिषम्।।४७।।

अन्वय—स्वनुष्ठितात् (अच्छे प्रकारसे अनुष्ठित) परधर्मात् (परमधर्मसे) विगुणः (निकृष्ट) स्वधर्मः (स्वधर्म) श्रेयान् (श्रेष्ठ है) स्वभावनियतम् (स्वभावके अनुसार नियत) कर्म (कर्म) कुर्वन् (कर) [मानव] किल्बिषम् (पापको) न अप्नोति (प्राप्त नहीं होता)।।४७।।

अनुवाद—उत्तमरूपसे अनुष्ठित दूसरेके धर्मकी अपेक्षा अनुत्तमरूपसे अनुष्ठित निकृष्ट स्वधर्म ही कल्याणजनक है। मानव स्वभावविहित कर्म कर किसी पापको प्राप्त नहीं होता।।४७।।

श्रीविश्वनाथ—न च क्रियादिभिः स्वधर्मं राजसं च वीक्ष्य तत्रानभिरुच्या सात्त्विकं कर्म कर्त्तव्यमित्याह—श्रेयानिति। परधर्मात् श्रेष्ठादपि स्वनुष्ठितात् सम्यगनुष्ठितादपि स्वधर्मो विगुणो निकृष्टोऽपि सम्यगनुष्ठातुमशक्योऽपि श्रेष्ठः। तेन बन्धुवधादि—दोषवत्त्वात् स्वधर्मं युद्धं त्यक्त्वा भिक्षाटनादिरूप-परधर्मस्त्वया नानुष्ठेय इति भावः।।४७।।

भावानुवाद—क्रिया आदि द्वारा स्वधर्मको राजसिक देखकर उसमें रुचिरहित होकर सात्त्विक कर्मका अनुष्ठान कर्त्तव्य नहीं है। इसीलिए श्रीभगवान् 'श्रेयान्' इत्यादि कह रहे हैं। भलीभाँति अनुष्ठान करनेमें असमर्थ होनेपर भी निकृष्ट स्वधर्म, भलीभाँति अनुष्ठित श्रेष्ठ परधर्मसे अच्छा है। अतएव बन्धुओंके वध आदि दोषोंको देखकर युद्धरूप स्वधर्मको त्यागकर भिक्षाके लिए तुम्हारा भ्रमण आदिरूप जो परधर्म है, वह तुम्हारे लिए अनुष्ठेय नहीं है।।४७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ यह विचारणीय है कि जहाँ स्वधर्म शब्दका तात्पर्य वर्णाश्रम धर्मसे है, वहीं वर्त्तमान श्लोकके विचारका अवलम्बन किया जाएगा, किन्तु जहाँ स्वधर्मका तात्पर्य आत्मधर्म अर्थात् श्रीहरिभक्तिसे है, वहाँ *'सर्वधर्मान् परित्यज्य'* इत्यादि श्लोकोंके विचारका अवलम्बन करना ही कर्त्तव्य है। जहाँ स्वधर्मका अर्थ आत्मधर्म है, वहाँ परधर्मका तात्पर्य देह-मन-आदिके धर्मसे है। जब तक आत्मधर्म श्रीहरिभक्तिमें श्रद्धा न हो, तब तक स्वभाव-विहित कर्मका आचरण ही श्रेय है। जैसा कि श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

'तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता।
मत् कथा श्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।।'

(श्रीमद्भा. ११/२०/९)

"उत्तमरूपसे अनुष्ठित परधर्मकी अपेक्षा असम्यक् रूपसे अनुष्ठित स्वधर्म ही श्रेय है, क्योंकि स्वभावविहित कर्मका नाम ही 'स्वधर्म' है। यदि स्वधर्म कभी ठीकसे अनुष्ठित न भी हो, तो भी इससे सर्वकालिक उपकार होता है। स्वभावविहित कर्मके करनेसे किसी पापके होनेकी सम्भावना नहीं रहती।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४७।।

सहजं कर्म कौन्तेय सदोषमपि न त्यजेत्।
सर्वारम्भा हि दोषेण धूमेनाग्निरिवावृताः।।४८।।

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) सदोषम् अपि (दोषयुक्त भी) सहजम् (स्वाभाविक) कर्म (कर्म) न त्यजेत् (नहीं त्यागना चाहिए) हि (क्योंकि) सर्वारम्भाः (सभी कर्म) धूमेन (धुएँके द्वारा) अग्नि इव (अग्निकी भाँति) दोषेण (दोष द्वारा) आवृताः (आवृत हैं)।।४८।।

अनुवाद—हे कौन्तेय! दोषयुक्त होनेपर भी स्वाभाविक कर्म नहीं त्यागना चाहिए, क्योंकि सभी कर्म दोषके द्वारा उसी प्रकार आवृत हैं, जिस प्रकार आग धुएँके द्वारा।।४८।।

श्रीविश्वनाथ—न च स्वधर्म एव केवलं दोषोऽस्तीति मन्तव्यम्, यतः परधर्मेष्वपि दोषः कश्चित् कश्चिदस्त्येवेत्याह—सहजं स्वभावविहितं, हि यतः सर्वेऽप्यारम्भाः दृष्टादृष्टसाधनानि कर्माणि दोषेणावृता एव, यथा धूमेन दोषेणावृत एव वह्निर्दृश्यते, अतो धूमरूपं दोषमपाकृत्य तस्य ताप एव तमः-शीतादिनिवृत्तये यथा सेव्यते तथा कर्मणोऽपि दोषांशं विहाय गुणांशं एव सत्त्वशुद्धये सेव्य इति भावः।।४८।।

भावानुवाद—ऐसा विचार करना उचित नहीं हैं कि केवल स्वधर्ममें ही दोष है, क्योंकि परधर्ममें भी कोई-कोई दोष अवश्य रहता है। इसलिए श्रीभगवान् कहते हैं कि सहज कर्म करना चाहिए, क्योंकि दृष्ट और अदृष्ट कर्मसमूह किसी-न-किसी दोष द्वारा अवश्य आवृत हैं, जैसे कि अग्निको धुएँके द्वारा आवृत देखा जाता है। अतएव जिस प्रकार अग्निसे धूमरूप दोषको छोड़कर अन्धकार और शीत आदिके नाशके लिए उसका ताप ही सेवन किया जाता है, उसी प्रकार कर्मके भी दोषांशका परित्यागकर सत्त्वशुद्धिके लिए उसके गुणांशको ही ग्रहण किया जाना चाहिए।।४८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—स्वभावविहित कर्मको ही साधारणतः स्वधर्म कहते हैं। इस स्वधर्मके लिए विहित कर्मोंका आचरण करनेसे जीवन-यात्रा निर्वाह करनेमें अत्यन्त सुगमता होती है तथा परमार्थमें भी क्रमशः प्रवेश करनेकी सम्भावना होती है। यदि कुछ लोग अपने स्वधर्ममें कुछ दोषोंको लक्ष्यकर दूसरे धर्मोंको ग्रहण करते हैं, तो उससे और भी अधिक दोष होनेकी सम्भावना होती है। यदि कोई क्षात्र-धर्ममें हिंसा आदिकी व्यवस्था देखकर उसे छोड़कर ब्रह्म-धर्मको निर्दोष जानकर उसे ग्रहण करता है, तो उसमें भी अनर्थ होनेकी सम्भावना है। क्योंकि, ब्रह्म-स्वभावके निर्दिष्ट कर्म भी त्रिगुणात्मक हैं। उन कर्मोंके उपकरणसमूह प्राकृत द्रव्य होनेके कारण उनके द्वारा किए जानेवाले कर्मोंमें कुछ-न-कुछ दोष अवश्य ही वर्त्तमान रहता है। जैसे यज्ञमें किसी-न-किसी

रूपमें प्राणियोंकी हिंसा होनेकी सम्भावना रहती है। इसलिए यहाँ अग्निका दृष्टान्त दिया गया है। अग्नि धुएँके द्वारा आवृत रहता है, वह धुआँ अग्निका दोष है, तथापि शीत-निवारणके लिए, पाक आदिके लिए उसी अग्निको ग्रहण किया जाता है। इसी प्रकार स्वधर्मविहित कर्मोंका आचरण करना ही श्रेयस्कर है। जिस प्रकार अग्निको प्रज्वलितकर कुछ अंशोंमें धुएँको हटाकर अग्निका प्रयोग किया जाता है, उसी प्रकार भगवदर्पणके द्वारा कर्मोंके दोषोंको धोकर आत्मदर्शनके लिए कर्मोंके ज्ञानजनक अंशकी सेवा करनी चाहिए।

"हे कौन्तेय! सहज (स्वाभाविक) कर्म सदोष होनेपर भी त्याज्य नहीं है। सभी कर्मोंके आरम्भमात्रमें दोष है। जिस प्रकार अग्नि हमेशा धुएँके द्वारा आवृत रहता है, उसी प्रकार कर्ममात्रको ही दोष आवृत करता है। सत्त्व-संशुद्धिके लिए स्वभावविहित कर्मके दोषांशका परित्यागकर उसके गुणांशका ही आश्रय ग्रहण करना चाहिए।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४८।।

असक्तबुद्धिः सर्वत्र जितात्मा विगतस्पृहः।
नैष्कर्म्यसिद्धिं परमां संन्यासेनाधिगच्छति।।४९।।

अन्वय—सर्वत्र (प्राकृत वस्तुमात्रमें) असक्तबुद्धिः (आसक्तिशून्य बुद्धिवाला) जितात्मा (वशीभूत चित्तवाला) विगतस्पृहः (निस्पृह) [व्यक्ति] संन्यासेन (स्वरूपतः कर्मत्याग द्वारा) परमाम् (श्रेष्ठ) नैष्कर्म्यसिद्धिम् (नैष्कर्म्यरूपी सिद्धि) अधिगच्छति (प्राप्त करता है)।।४९।।

अनुवाद—प्राकृत वस्तुमात्रमें आसक्तिशून्य बुद्धिवाला, वशीकृत चित्तवाला और ब्रह्मलोक तकके सुख आदिमें स्पृहाशून्य व्यक्ति स्वरूपतः कर्मत्याग कर नैष्कर्म्यरूपी श्रेष्ठ सिद्धि प्राप्त करता है।।४९।।

श्रीविश्वनाथ—एवं सति कर्मणि दोषांशान् कर्त्तृत्वाभिनिवेशफलाभि-सन्धि-लक्षणान् त्यक्तवतः प्रथमसंन्यासिनस्तस्य कालेन साधनपरिपाकतो योगारूढत्वदशायां कर्मणां स्वरूपेणापि त्यागरूपं द्वितीयं संन्यासमाह—असक्तबुद्धिः सर्वत्रापि प्राकृतवस्तुषु न सक्ता आसक्तिशून्या बुद्धिर्यस्य सः, अतो जितात्मा वशीकृतचित्तो विगता ब्रह्मलोकपर्यन्तेष्वपि सुखेसु स्पृहा यस्य सः, ततश्च सन्यासेन कर्मणां स्वरूपेणापि त्यागेन नैष्कर्मस्य परमां श्रेष्ठां सिद्धिमधिगच्छति प्राप्नोति, योगारूढदशायां तस्य नैष्कर्म्यमतिशयेन सिद्धं भवतीत्यर्थः।।४९।।

भावानुवाद—कर्मके दोष हैं—कर्त्तापनका अभिमान और कर्मफलकी कामना। इन दोषोंका परित्यागकर कर्म करते रहना संन्यासकी प्रथम अवस्था है। किन्तु, कालक्रमसे जब उस संन्यासीका साधन परिपक्व हो जाता

है और वह योगारूढ़ अवस्थाको प्राप्त करता है, तो उस दशामें वह कर्मका स्वरूपतः भी परित्याग कर देता है। यहाँ इस द्वितीय संन्यासके बारेमें कहा गया है। 'असक्तबुद्धि'—समस्त प्राकृत वस्तुओंमें जिनकी आसक्तिरहित बुद्धि है, 'जितात्मा'—जिनका चित्त वशीकृत है, 'विगतस्पृहः'—ब्रह्मलोक तकके सुखोंमें जिनकी स्पृहा नही है—ऐसे पुरुष कर्मसमूहके स्वरूपतः त्यागसे नैष्कर्म्यरूपी परमसिद्धि प्राप्त करते हैं। योगारूढ़ दशामें उनका नैष्कर्म्य अतिशय भावसे सिद्ध होता है।।४९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—किस प्रकार कर्मोंके दोषवाले अंशको त्यागकर उनके गुणवाले अंशको ग्रहण किया जा सकता है, उसे बता रहे हैं।

"प्राकृत वस्तुमें आसक्तिशून्य बुद्धिवाला होकर, वशीकृत चित्तवाला होकर तथा ब्रह्मलोक-प्राप्ति तकके सुख आदिमें निस्पृह होकर स्वरूपतः कर्मको त्यागकर वे नैष्कर्म्यरूपी परमसिद्धि लाभ करते हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।४९।।

सिद्धिं प्राप्तो यथा ब्रह्म तथाप्नोति निबोध मे।
समासेनैव कौन्तेय निष्ठा ज्ञानस्य या परा।।५०।।

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) सिद्धिम् प्राप्तः (सिद्धिप्राप्त व्यक्ति) यथा (जिस प्रकार) ब्रह्म अप्नोति (ब्रह्मको प्राप्त करते हैं) या (जो) ज्ञानस्य (ज्ञानकी) परानिष्ठा (श्रेष्ठ गति है) तथा (उस प्रकारको) मे (मेरे निकट) समासेन एव (संक्षेपमें ही) निबोध (श्रवण करो)।।५०।।

अनुवाद—हे कौन्तेय! सिद्धिप्राप्त व्यक्ति जिस उपायसे ब्रह्मको प्राप्त करते हैं, जो कि ज्ञानकी परमगति है, उस उपायको मुझसे संक्षेपमें सुनो।।५०।।

श्रीविश्वनाथ—ततश्च यथा येन प्रकारेण ब्रह्म प्राप्नोति ब्रह्मानुभवतीत्यर्थः। यैरज्ञानस्य निष्ठा परा परमोऽन्त इत्यर्थः,—*"निष्ठा निष्पत्तिनाशान्ताः"* इत्यमरः। अविद्यायामुपरतप्रायायां विद्याया अप्युपरमारम्भे येन प्रकारेण ज्ञानसंन्यासं कृत्वा ब्रह्मानुभवेत्तं बुध्यस्वेत्यर्थः।।५०।।

भावानुवाद—एवं उसके बाद जिस प्रकार वह ब्रह्म प्राप्त होता है अर्थात् ब्रह्मकी अनुभूति होती है, उसे मुझसे सुनो। जिन समस्त योगोंमें अज्ञानका 'निष्ठा परा'—परम अन्त होता है। निष्ठाका अर्थ है—निष्पति, नाश और अन्त। (अमरकोश) अविद्याके निवृत्तप्राय होनेपर विद्याकी भी निवृत्तिके आरम्भमें वे जिस प्रकार ज्ञानका संन्यासकर ब्रह्मानुभव करते हैं, उसे समझ लो।।५०।।

बुद्ध्या विशुद्धया युक्तो धृत्यात्मानं नियम्य च।
शब्दादीन् विषयांस्त्यक्त्वा रागद्वेषौ व्युदस्य च।।५१।।
विविक्तसेवी लघ्वाशी यतवाक्कायमानसः।
ध्यानयोगपरो नित्यं वैराग्यं समुपाश्रितः।।५२।।
अहङ्कारं बलं दर्पं कामं क्रोधं परिग्रहम्।
विमुच्य निर्ममः शान्तो ब्रह्मभूयाय कल्पते।।५३।।

अन्वय—विशुद्धया बुद्ध्या युक्तः (सात्त्विकी बुद्धियुक्त होकर) धृत्या (धृति द्वारा) आत्मानम् (मनको) नियम्य च (नियमितकर) शब्दादीन् विषयान् (शब्द आदि विषयोंको) त्यक्त्वा (त्यागकर) रागद्वेषौ व्युदस्य च (राग और द्वेष दूरकर) विविक्तसेवी (निर्जनवासी) लघ्वाशी (अल्पाहारी) यतवाक्कायमानसः (वाक्य, काय और मन संयमितकर) नित्यम् (नित्य) ध्यानयोगपरः (भगवत्-चिन्तापरायण योगयुक्त होकर) वैराग्यम् समुपाश्रितः (वैराग्यका सम्यक् आश्रयकर) अहङ्कारम् (अहङ्कार) बलम् (बल) क्रोधम् (क्रोध) परिग्रहम् (दान आदि ग्रहण) विमुच्य (त्यागकर) निर्ममः (ममताविहीन होकर) शान्तः (परम उपशम प्राप्त व्यक्ति) ब्रह्मभूयाय (ब्रह्मानुभवके निमित्त) कल्पते (समर्थ होते हैं)।।५१-५३।।

अनुवाद—विशुद्ध बुद्धियुक्त होकर, धृति द्वारा मनको संयतकर, शब्द आदि विषयसमूहका परित्यागकर, राग-द्वेष दूरकर, पवित्र निर्जन स्थानवासी होकर, अल्पाहारपूर्वक कायमनोवाक्य संयतकर, सर्वदा भगवत्-चिन्तापरायणतारूप योग और वैराग्यका आश्रयकर, अहङ्कार, बल, दर्प, काम, क्रोध और परिग्रह त्यागपूर्वक, निर्मम और उपशम प्राप्त पुरुष ब्रह्मानुभवके योग्य होते हैं।।५१-५३।।

श्रीविश्वनाथ—बुद्ध्या विशुद्धया सात्त्विक्या आत्मानं मनो नियम्य। ध्यानेन भगवच्चिन्तनेनैव यः परोयोगस्तत्परायणः, बलं कामरागयुक्तं न तु सामर्थ्यम्। अहङ्कारादीन् विमुच्येत्यविद्योपरमः, शान्तः सत्त्वगुणस्याप्युपशान्तिमानिति कृतज्ञानसंन्यास इत्यर्थः,—*"ज्ञानञ्च मयि संन्यसेत्"* इत्येकादशोक्तेः। अज्ञानज्ञानयोरुपरमं विना ब्रह्मानुभवानुपपत्तिरिति भावः। ब्रह्मभूयाय ब्रह्मानुभवाय कल्पते समर्थो भवति।।५१-५३।।

भावानुवाद—सात्त्विकी बुद्धि और सात्त्विक धैर्य द्वारा जो व्यक्ति अपने मनको संयत कर लेते हैं और भगवत्-चिन्तनरूपी श्रेष्ठ योगपरायण हो जाते हैं अर्थात् उसका आश्रय करते हैं, वे ब्रह्मानुभवके योग्य होते हैं।

यहाँ बलका तात्पर्य है—कामके रागसे युक्त, न कि सामर्थ्य। अहंकार आदिको त्यागकर वे ब्रह्मानुभवके योग्य होते हैं, यही अविद्याका उपरम अर्थात् शान्त हो जाना है। इस अवस्थामें सत्त्वगुणकी भी उपशान्ति हो जाती है और सत्त्वगुणकी उपशान्तियुक्त अवस्था ही ज्ञानका संन्यास है। एकादश स्कन्धमें कहा भी गया है—'ज्ञान भी मुझे संन्यस्त करो'। अज्ञान और ज्ञानके उपरमके बिना ब्रह्मका अनुभव नहीं किया जा सकता। 'ब्रह्मभूयाय कल्पते' का तात्पर्य है—ब्रह्मके अनुभवमें समर्थ होना।।५१-५३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अपने वृत्तिपरक सात्त्विक कर्मोंके फलको भगवान्के लिए अर्पण करनेके फलस्वरूप साधकोंका चित्त शुद्ध हो जाता है। वे अपनी इन्द्रियोंका दमनकर सदैव समाधिमें स्थित हो जाती हैं। वे इन्द्रिय-तृप्तिकर विषयोंके प्रति अनासक्त तथा राग-द्वेषसे मुक्त हो जाते हैं। ऐसी स्थितिमें वे मिथ्या अहङ्कार अर्थात् देहात्म-बुद्धिसे रहित हो जाते हैं। वे किसी भी भौतिक सुखकी आकांक्षा नहीं करते और किसी भी परिस्थितिमें शोकसे अभिभूत नहीं होते, सर्वत्र समदर्शनयुक्त हो जाते हैं, इसीको 'ब्रह्मभूत' अवस्था कही गई है।

यहाँ तक कि वे अपने सूक्ष्म शरीरको भी परित्यागकर आत्मस्वरूपमें प्रतिष्ठित हो जाते हैं।।५१-५३।।

ब्रह्मभूतः प्रसन्नात्मा न शोचति न काङ्क्षति।
समः सर्वेषु भूतेषु मद्भक्तिं लभते पराम्।।५४।।

अन्वय—ब्रह्मभूतः (ब्रह्ममें अवस्थित) प्रसन्नात्मा (प्रसन्नचित्त व्यक्ति) न शोचति (शोक नहीं करते हैं) न काङ्क्षति (और आकांक्षा भी नहीं करते हैं) सर्वेषु भूतेषु (सभी भूतोंमें) समः (समदर्शी) [सन्—होकर] पराम् (प्रेमलक्षणयुक्त) मद्भक्तिम् (मेरी भक्ति) लभते (प्राप्त करते हैं)।।५४।।

अनुवाद—ब्रह्ममें अवस्थित प्रसन्नचित्त व्यक्ति न तो शोक करते हैं और न ही आकांक्षा करते हैं। वे सभी भूतोंमें समदर्शी होकर प्रेमलक्षणयुक्त मेरी भक्ति प्राप्त करते हैं।।५४।।

श्रीविश्वनाथ—ततश्चोपाध्यपगमे सति ब्रह्मभूतोऽनावृतचैतन्यत्वेन ब्रह्मरूप इत्यर्थः, गुणमालिन्यापगमात्। प्रसन्नश्चासावात्मा चेति सः, ततश्च पूर्वदशायामिव नष्टं न शोचति न चाप्राप्तं काङ्क्षति देहाद्यभिमानाभावादिति भावः। सर्वेषु भूतेषु भद्राभद्रेषु बालक इव 'समः' बाह्यानुसन्धानाभावादिति भावः। ततश्च निरिन्धनाग्नाविव ज्ञाने शान्तेऽप्यनश्वरां ज्ञानान्तर्भूतां मद्भक्तिं

श्रवणकीर्त्तनादिरूपां लभते, तस्या मत्स्वरूपशक्तिवृत्तित्वेन मायाशक्ति-भिन्नत्वादविद्याविद्ययोरपगमेऽप्यनपगमात्। अतएव परां ज्ञानादन्यां श्रेष्ठां निष्कामकर्मज्ञानाद्युर्वरितत्वेन केवलामित्यर्थः। 'लभते' इति पूर्व ज्ञानवैराग्यादिषु मोक्षसिद्ध्यर्थं कलया वर्त्तमानाया अपि सर्वभूतेष्वन्तर्यामिन इव तस्याः स्पष्टोपलब्धिर्नासीदिति भावः। अतएव कुरुत इत्यनुक्त्वा लभते इति प्रयुक्तम्,—माषमुद्गादिषु मिलितां तेषु नष्टेष्वप्यनश्वरां काञ्चनमणिकामिव तेभ्यः पृथक्तया केवलां लभत इतिवत्। सम्पूर्णायाः प्रेमभक्तेस्तु प्रायस्तदानीं लाभसम्भवोऽस्ति, नापि तस्याः फलं सायुज्यमित्यतः 'परा' शब्देन प्रेमलक्षणेति व्याख्येयम्।।५४।।

भावानुवाद—सत्त्व, रजः और तमोगुणकी मलिनतारूपी उपाधिसे अनावृत होनेपर साधक जीव ब्रह्मभूत हो जाते हैं अर्थात् अनावृत चैतन्यत्व प्राप्त करते हैं और प्रसन्नात्मा हो जाते हैं। इसके बाद पहलेकी स्थितिमें अवस्थित होनेकी भाँति नष्ट-विषयके लिए शोक और अप्राप्त विषयकी आकांक्षा नहीं करते हैं। क्योंकि देह आदिमें उनका अभिमान नहीं रहता है। वे भद्र और अभद्र सभी भूतोंमें बालककी भाँति समदर्शी हो जाते हैं अर्थात् उन्हें बाह्य अनुसन्धान नहीं रहता है। उसके बाद इन्धनरहित अग्निकी भाँति ज्ञानकी शान्ति हो जानेपर ज्ञानके अन्तर्भूत श्रवण-कीर्त्तनादिरूपी मेरी अनश्वरा भक्ति प्राप्त करते हैं। भक्ति मेरी स्वरूपशक्तिकी वृत्ति है एवं मायाशक्तिसे भिन्न होनेके कारण अविद्या और विद्याके दूर होनेपर भी इसका अपगम नहीं होता। अतएव 'परां'—ज्ञानसे भिन्न अर्थात् श्रेष्ठ, निष्काम कर्म और ज्ञान आदिसे रहित केवला भक्ति है। 'लभते'—पूर्वकालमें मोक्षसिद्धिके लिए ज्ञान-वैराग्य आदिमें आंशिक भावसे अवस्थित भक्तिकी स्पष्ट उपलब्धि नहीं थी, जैसे सभी भूतोंमें अवस्थित अन्तर्यामीकी स्पष्ट उपलब्धि नहीं रहती। अतएव 'कुरुते'—इस शब्दका प्रयोग न होकर 'लभते' शब्दका प्रयोग हुआ है। जिस प्रकार मूँग-उड़द आदिमें मिश्रित काञ्चन मणिको मूँग-उड़दादिके नष्ट होनेपर भी अनश्वर होनेके कारण पृथक् रूपमें प्राप्त किया जा सकता है, उसी प्रकार ज्ञान-वैराग्य आदिमें मिश्रित भक्ति भी उनके दूर होनेपर स्वतन्त्ररूपसे उपलब्ध की जा सकती है। उस समय सम्पूर्ण प्रेमाभक्ति प्राप्त करनेकी प्रायः सम्भावना रहती है और इस भक्तिका फल सायुज्य मुक्ति नहीं है। इसीलिए यहाँ 'परां' शब्दकी व्याख्या 'प्रेमलक्षणा भक्ति' करनी पड़ेगी।।५४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—ब्रह्मभूत अवस्था प्राप्त करनेके बाद भी परब्रह्म कृष्ण-तत्त्वसे अवगत होनेके लिए पराभक्तिकी आवश्यकता होती है, इस श्लोकमें यही बताया गया है। यहाँ 'ब्रह्मभूत' शब्दका अर्थ विभिन्न टीकाकरोंने जो व्यक्त किया है, उन सबका तात्पर्य प्रायः एक समान है, वह यह कि मायिक गुणोंसे मुक्त होकर ब्रह्म-स्वभावमें अवस्थित जीव ही ब्रह्मभूत कहलाता है। श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती ठाकुरने लिखा है—स्थूल-सूक्ष्म उपाधियोंके दूर होनेपर शुद्ध चित्स्वरूप-प्राप्त जीवकी अवस्थाको ही ब्रह्मभूत अवस्था कहते हैं। कुछ लोग जो ब्रह्मभूत शब्दका अर्थ ब्रह्ममें एकाकार होकर सम्पूर्णरूपसे अपनी सत्ताका लोप हो जाना समझते हैं, इसका यहाँ सम्पूर्णरूपसे खण्डन किया गया है। श्रीधरस्वामी, श्रीरामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीविश्वनाथ चक्रवर्त्ती, श्रीबलदेव विद्याभूषण आदिने उपरोक्त अशास्त्रीय मतका खण्डन किया है। केवलाद्वैतवादियोंने *'अहं ब्रह्मास्मि' 'तत्त्वमसि' 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' 'प्रज्ञानं ब्रह्म'*—इन चारों वाक्योंको वेदोंका महावाक्य कहकर तथा इनका विपरीत अर्थकर मायावाद स्थापनका जो प्रयास किया है, वह साधारण लोगोंके लिए वञ्चनामात्र है। ये चारों वाक्य वेदके प्रादेशिक वाक्यमात्र हैं। 'ॐ'कार ही महावाक्य और ब्रह्मस्वरूप है। यह पहले भी स्पष्ट किया जा चुका है कि *'तत्त्वमसि'* का तात्पर्य है—'तुम उनके हो' अर्थात् तुम उनके दास हो, किन्तु मायावादियोंकी यह व्याख्या कि 'तुम भी वही हो' सम्पूर्णतः विकृत और भ्रामक है। *'अहं ब्रह्मास्मि'* में भी जीवको ब्रह्म बतानेका तात्पर्य केवल यह है कि गुणात्मक दृष्टिसे कुछ अंशोंमें उनकी समानता है अर्थात् ब्रह्मका अंश होनेके कारण जीव भी 'चित्-स्वरूप' है। किन्तु जीव अंश होनेके कारण मायावश्य है। परमब्रह्म मायापति हैं। जीव अणु है और ब्रह्म विभु वस्तु हैं। अतः ये दोनों कभी एक नहीं हो सकते। जड़ और चेतन सारा विश्व परमब्रह्मसे प्रकटित है। ब्रह्मशक्तिपरिणत जड़ और चेतन भी एक अंशमें उस ब्रह्मसे अभिन्न है, सर्वांशमें नहीं। इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रत्येक उपनिषद्के प्रत्येक मन्त्रका पृथक्-पृथक् विचारकर पुनः उन सबका समष्टिगत विवेचन करनेपर वेदका यथार्थ अर्थ जाना जा सकता है। प्रादेशिक वाक्योंको लेकर खींचा-तानी करनेसे एक-न-एक कुमत बाहर होगा ही। इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभुने वेदोंका सर्वांगीण विवेचनकर जीव और जड़का श्रीहरिसे युगपत 'भेदाभेदरूप अचिन्त्य-परमतत्त्व' का उपदेश दिया है।

वेदोंमें जीव और ब्रह्मके भेदका प्रतिपादन करनेवाले भी प्रचुर मन्त्र हैं, जिनमें से कुछ मन्त्रोंको नीचे उद्धृत किया जा रहा है—

(क) *'प्रधान क्षेत्रज्ञ पतिर्गुणेशः'* (श्वे. उ. ६/१६)

(ख) *'तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्'* (श्वे. उ. ३/१९)

(ग) *'याथातथ्यतोऽर्थान् व्यदधात्'* (ई. उ. ८)

(घ) *'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्'* (श्वे. उ. ३/९)

(ङ) *'नित्यो नित्यानाम्'* (क. उ. २/१३, श्वे. उ. ६/१३)

अतः किसी स्थितिमें जीव ब्रह्ममें घुल-मिलकर एक नहीं हो सकता। अतः ब्रह्मभूत शब्दका तात्पर्य जीवका अपने स्वरूपगत नित्य स्थितिमें प्रतिष्ठित होना ही है। ब्रह्मभूत अवस्थाको प्राप्त जीवोंके लक्षण यहाँ बताये जा रहे हैं—

(क) **प्रसन्नात्मा—**प्राकृत गुणमय सूक्ष्म शरीरके दूर होनेके कारण सदा-सर्वदा प्रसन्न रहना प्रथम लक्षण है।

(ख) **न शोचति—**नष्ट हुए विषयोंके लिए उनको कभी भी शोक नहीं होता।

(ग) **न कांक्षति—**भगवत्-प्रीतिकी कामनाके अतिरिक्त किसी भी सांसारिक विषयोंकी आकांक्षा नहीं करते अर्थात् दैहिक अभिमानके न रहनेके कारण ही विषय-भोगकी लालसासे रहित होते हैं।

(घ) **समः सर्वेषुभूतेषु—**भद्र-अभद्र समस्त प्राणियोंके प्रति बालकोंकी भाँति समदर्शी होते हैं।

(ङ) **मद्भक्तिं पराम्—**मेरी पराभक्तिकी अभिलाषा रखनेवाले।

ये उनके लक्षण हैं। ऐसे लक्षणवाले ब्रह्मभूत महात्मा, साधुसङ्गमें भगवान्‌की परा-प्रेमाभक्ति प्राप्त करते हैं।

प्रसंगवश यहाँ 'पराभक्ति' के वास्तविक तात्पर्यको जान लेना उचित है—

'अन्याभिलाषिताशून्यं ज्ञानकर्माद्यनावृतम्।
आनुकूल्येन कृष्णानशीलनं भक्तिरुतमा।।'

अर्थात्, कृष्णसेवाके अतिरिक्त अन्यान्य कामनाओंसे रहित, निर्भेद ब्रह्मज्ञान, नित्य-नैमित्तिक आदि कर्म, योग, तपस्या आदिसे सर्वथा अनावृत एवं अनुकूल भावसे कृष्णनुशीलनको उत्तमा भक्ति कहते हैं।

यही उत्तमा भक्ति समस्त शास्त्रोंका प्रतिपाद्य विषय है। वर्त्तमान श्लोककी टीकामें केवलाद्वैतवादी आचार्य शंकर, आनन्दगिरि और मधुसूदन सरस्वती प्रमुख टीकाकारोंने ज्ञानलक्षणा भक्तिको ही पराभक्ति बताया है। किन्तु,

यह विचारणीय है कि इस श्लोकमें जिस पराभक्तिका उल्लेख किया गया है, वह ब्रह्मभूत अवस्थाके पश्चात् अर्थात् ब्रह्मभूत व्यक्तिको प्राप्त होती है। अतः यह ब्रह्मभूत अवस्थासे भी श्रेष्ठ है। यह ब्रह्मज्ञानको साधन करनेवाली ज्ञानमिश्रा भक्तिके लिए नहीं कही गई है—इसे सहज ही समझा जा सकता है। ब्रह्मज्ञान लाभ करनेपर भी परब्रह्म श्रीकृष्णतत्त्व-ज्ञान प्राप्त करना शेष रहता है। इसीलिए ब्रह्मज्ञानी सौभाग्यवश यदि साधुसङ्गमें पराभक्तिका आश्रय करें, तो वे कृष्णतत्त्वका ज्ञान लाभ करेंगें। यहाँ स्मरणीय यह है कि ब्रह्मज्ञानके साधनके लिए जिस भक्तिकी आवश्यकता होती है, कृष्णतत्त्व-ज्ञानको देनेवाली पराभक्ति उससे पृथक् है। इसे समझानेके लिए ही 'परा' शब्दका प्रयोग किया गया है। यहाँ 'लभते' शब्दके प्रयोगका भी एक गूढ़ रहस्य है। यहाँ 'कुरुते' का प्रयोग न होकर 'लभते' पदका प्रयोग किया गया। भक्त या भगवान्‌की अहैतुकी कृपासे ब्रह्मज्ञानीका ब्रह्मज्ञान अत्यन्त हेय और तुच्छ अनुभूत होनेपर ही पराभक्ति लाभकी सम्भावना होती है। भगवान् या भक्तकी कृपासे ही यह प्राप्त होती है, इसीलिए 'लभते' शब्दका प्रयोग हुआ है। यदि अपनी चेष्टा द्वारा यह प्राप्य होता, तो 'लभते' की जगह 'कुरुते' पदका ही प्रयोग होता। किन्तु श्रीभगवान्‌ने कुरुते शब्दका प्रयोग नहीं किया है। इसलिए यह स्पष्ट हो जाता है कि 'पराभक्ति' पद 'ज्ञान-लक्षणा-भक्ति' को लक्ष्य न कर शुद्धा, केवला, अनन्या भक्तिको ही लक्ष्य कर रहा है।

श्रीचैतन्य महाप्रभुने 'ब्रह्मभूत' अवस्थाको भी बाह्य बताया है, क्योंकि प्रकृतिके गुणोंसे मुक्त होनेपर भी ब्रह्मभूत व्यक्तिको गोलोक या वैकुण्ठकी अनुभूति नहीं होती। पराभक्ति होनेपर ही गोलोक या वैकुण्ठकी अनुभूति होती है। अतः ब्रह्मभूत अवस्था ही उच्चतम सोपान नहीं है, बल्कि उस उच्चतम सोपानको प्राप्त करनेकी एक प्रारम्भिक अवस्थामात्र है।

यहाँ यह भी समझना चाहिए कि ब्रह्मभूत स्थितिको प्राप्त करनेवाले दो प्रकारके होते हैं—कुछ लोग इस स्थितिमें पहुँचकर भी भगवद्भक्त तथा भगवान्‌के नाम, रूप, गुण, लीला, कथाओंका अनादरकर केवल सायुज्य मुक्तिकी चेष्टा करते हैं। दूसरे भक्त, भगवन्नाम-रूप, गुण, लीला, कथाओंका आदर करनेवाले होते हैं। प्रथम श्रेणीके ब्रह्मभूत व्यक्ति अपराधी होते हैं। इसीलिए उनको मुक्ति कदापि नहीं मिलती है और वे आसुरी योनियोंमें संसारचक्रमें भ्रमण करते रहते हैं। दूसरी श्रेणीके ब्रह्मभूत जीव अपराधी न होनेके कारण सहज ही भक्तोंका आश्रय ग्रहणकर पराभक्ति प्राप्त करते हैं।।५४।।

भक्त्या मामभिजानाति यावान् यश्चास्मि तत्त्वतः।
ततो मां तत्त्वतो ज्ञात्वा विशते तदनन्तरम्।।५५।।

अन्वय—[अहम्—मैं] यावान् (जिस प्रकार विभूतिसम्पन्न) यः च अस्मि (और स्वरूपतः जो हूँ) [सः—वे] भक्त्या (भक्ति द्वारा ही) माम् (मुझे) तत्त्वतः (यथार्थ रूपमें) अभिजानाति (जान सकते हैं) ततः (उस भक्ति द्वारा) तत्त्वतः ज्ञात्वा (तत्त्वसे जानकर) तदनन्तरम् (ज्ञानके उपरम होनेपर) माम् (मुझमें अर्थात् मेरी नित्यलीलामें) विशते (प्रवेश करते हैं)।।५५।।

अनुवाद—मैं जिस प्रकार विभूतिसम्पन्न हूँ और मेरा जो स्वरूप है, उसे वे भक्ति द्वारा ही तत्त्वतः जान सकते हैं। उस प्रेमा-भक्तिके बलसे मुझे तत्त्वतः जानकर वे मेरी नित्य लीलामें प्रवेश करते हैं।।५५।।

श्रीविश्वनाथ—ननु तया लब्धया भक्त्या तदानीं तस्य किं स्यादित्यतोऽर्थान्तरन्यासेनाह—भक्त्येति। अहं यावान् यश्चास्मि तं मां तत्पदार्थं ज्ञानी वा नानाविधो भक्तो वा भक्त्यैव तत्त्वतोऽभिजानाति। *"भक्त्याहमेकया ग्राह्यः"* इति मदुक्तेः। यस्मादेवं तस्मात् प्रस्तुतः स ज्ञानी, ततस्तया भक्त्यैव तदनन्तरं विद्योपरमादुत्तरकाल एव मां ज्ञात्वा मां विशति मत्सायुज्यसुखमनुभवति, मम मायातीतत्वादविद्यायाश्च मायात्वात् विद्ययाप्यहमवगम्य इति भावः। यत्तु *"सांख्ययोगौ च वैराग्यं तपो भक्तिश्च केशवे। पञ्चपर्वैव विद्या"* इति नारदपञ्चरात्रे विद्यावृत्तित्वेन भक्तिः श्रुयते तत् खलु ह्लादिनीशक्तिवृत्तेर्भक्तेरेव कला काचिद्विद्यासाफल्यार्थं विद्यायां प्रविष्टा कर्मसाफल्यार्थं कर्मयोगेऽपि प्रविशति, तया विना कर्मज्ञानयोगादीनां श्रममात्रत्वोक्तेः। यतो निर्गुणा भक्तिः सद्गुणामय्या विद्याया वृत्तिर्वस्तुतो न भवत्यतो ह्यज्ञाननिवर्त्तकत्वेनैव विद्यायाः कारणत्वं तत्पदार्थज्ञाने तु भक्तेरेव। किञ्च, *"सत्त्वात् सञ्जायते ज्ञानम्"* इति स्मृतेः सत्त्वजं ज्ञानं सत्त्वमेव, तच्च सत्त्वं 'विद्या'—शब्देनोच्यते यथा, तथा भक्त्युत्थं ज्ञानं भक्तिरेव, सैव क्वचित् 'भक्ति'-शब्देन, क्वचित् 'ज्ञान'-शब्देन चोच्यते इति ज्ञानमपि द्विविधं द्रष्टव्यम्। तत्र प्रथमं ज्ञानं संन्यस्य, द्वितीयेन ज्ञानेन ब्रह्मसायुज्यमाप्नुयादित्येकादश-स्कन्धपञ्चविंशत्यध्यायदृष्ट्यापि ज्ञेयम्। अत्र केचिद्भक्त्या विनैव केवलनैव ज्ञानेन सायुज्यार्थिनस्ते ज्ञानिमानिनः क्लेशमात्रफला अतिविगीता एव, अन्ये तु 'भक्त्या विना केवलेन ज्ञानेन न मुक्तिरिति ज्ञात्वा भक्तिमिश्रमेव ज्ञानमभ्यस्यन्तो भगवांस्तु मायोपाधिरेवेति भगवद्वपुर्गुणमयं मन्यमाना योगारूढत्वदशामपि प्राप्तास्तेऽपि ज्ञानिनो विमुक्तमानिनो विगीता एव;

यदुक्तम्—*"मुखबाहुरुपादेभ्यः पुरुषस्याश्रमैः सह। चत्वारो जज्ञिरे वर्णा गुणैर्विप्रादयः पृथक्।। य एवं पुरुषं साक्षादात्मप्रभवमीश्वरम्। न भजन्त्यवजानन्ति स्थानाद्भ्रष्टाः पतन्त्यधः।।"* इति। अस्यार्थः—ये न भजन्ति, ये च भजन्तोऽप्यवजानन्ति ते संन्यासिनोऽपि विनष्टाविद्या अप्यधःपतन्ति, तथा ह्युक्तम्—*"येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः। आरूह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः"* इति। अत्र अङ्घ्रिपदं भक्त्यैव प्रयुक्तं विवक्षितम्, 'अनादृतयुष्मदङ्घ्रय' इति—तनोर्गुणमयत्वबुद्धिरेव तनोरनादरः, यदुक्तम्—*"अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रितम्"* इति, वस्तुतस्तु मानुषी सा तनुः सच्चिदानन्दमय्येव, तस्याः दृश्यत्वन्तु दुस्तर्क्यतदीयकृपाशक्तिप्रभावादेव यदुक्तं नारायणाध्यात्मवचनम्—*"नित्याव्यक्तोऽपि भगवानीक्षते निजशक्तितः। तामृते परमानन्दं कः पश्येत्तमिमं प्रभुम्।।"* इति। एवञ्च भगवत्तनोः सच्चिदानन्दमयत्वे*"क्लिप्तं सच्चिदानन्दविग्रहं श्रीवृन्दावनसुरभूरुहतलासीनम्"* इति, *"शाब्दं ब्रह्म वपुर्दधत्"* इत्यादि श्रुतिस्मृतिपर-सहस्रवचनेषु प्रमाणेषु सत्स्वपि *"मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्"* इति श्रुतिदृष्ट्यैव भगवानपि मायोपाधिरिति मन्यन्ते किन्तु स्वरूपभूतया नित्यशक्त्या मायाख्यया युतः—*"अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातनम्"* इति माध्वभाष्यप्रमाणितश्रुतेः। मायान्तु इत्यत्र 'माया' शब्देन स्वरूपभूता चिच्छक्तिरेवाभिधीयते न त्वस्वरूपभूता त्रिगुणमय्येव शक्तिरिति तस्याः श्रुतेरर्थं न मन्यन्ते, यद्वा प्रकृतिं दुर्गां मायिनन्तु महेश्वरं शम्भुं विद्यादित्यर्थमपि नैव मन्यन्ते। अतो भगवदपराधेन जीवन्मुक्तत्वदशां प्राप्ता अपि तेऽधःपतन्ति, यदुक्तं 'वासना'भाष्यधृतं परिशिष्टवचनम्—*"जीवन्मुक्ता अपि पुनर्यान्ति संसारवासनाम्। यद्यचिन्त्यमहाशक्तौ भगवत्यपराधिनः।।"* इति ते च फलप्राप्तौ सत्यामर्थात् 'नास्ति साधनोपयोगः' इति मत्वा ज्ञानसंन्यासकाले ज्ञानं तत्र गुणीभूतां भक्तिमपि संत्यज्य मिथ्यैवापरोक्षब्रह्मानुभवं त्वस्य मन्यन्ते। श्रीविग्रहापराधेन भक्त्या अपि ज्ञानेन सार्द्धमन्तर्द्धानाद्भक्तिं ते पुनर्नैव लभन्ते; भक्त्या विना च तत्पदार्थाननुभावान्मृषा-समाधयो जीवन्मुक्त-मानिन एव ते ज्ञेयाः, यदुक्तम्—*"येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः"* इति। ये तु भक्तिमिश्रं ज्ञानमभ्यस्यन्तो भगवन्मूर्तिं सच्चिदानन्दमयीमेव मन्यमानाः क्रमेणाविद्याविद्ययोरुपरामे परां भक्ति न लभन्ते, ते जीवन्मुक्ता द्विविधाः—एके सायुज्यार्थं भक्तिं कुर्वन्तस्तयैव 'तत्' पदार्थमपरोक्षीकृत्य तस्मिन् सायुज्यं लभन्ते, ते संगीता एव, अपरे भूरिभागा

याट्टच्छिकशान्तमहाभागवतसङ्गप्रभावेण त्यक्तमुमुक्षाः शुकादिवद्भक्तिरस-माधुर्यास्वादे एव निमज्जन्ति, ते तु परमसंगीता एव; यदुक्तं—*"आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे। कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः।।"* इति। तदेवं चतुर्विधा ज्ञानिनो द्वये विगीताः पतन्ति द्वये संगीतास्तरन्ति संसारमिति।।५५।।

भावानुवाद—अच्छा, उस भक्तिको प्राप्त करनेके बाद उसका क्या फल होता है? इस प्रश्नके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—मेरी जैसी विभुता या व्यापकता है एवं मेरा जो स्वरूप है, उस तत्-पदार्थ मुझको ज्ञानी या नाना प्रकारके भक्त एकमात्र भक्ति द्वारा ही तत्त्वतः जान पाते हैं। जैसा कि मैंने श्रीमद्भागवत (११/१४/२१) में भी कहा है—"मैं केवला भक्ति द्वारा ही लभ्य हूँ।" ऐसा होनेपर वे ज्ञानी विद्याके उपरम होनेपर ही, उस भक्ति द्वारा ही भविष्यमें मुझे जानकर मुझमें प्रवष्टि होते हैं अर्थात् मेरा सायुज्य-सुख अनुभव करते हैं। क्योंकि मैं मायातीत हूँ और अविद्या माया है, अतः मैं विद्या द्वारा ही ज्ञातव्य हूँ। नारद पञ्चरात्रमें कहा है—"ज्ञान, योग, वैराग्य, तप एवं केशवकी भक्ति—ये पाँचों पर्व ही विद्या हैं।" भक्ति विद्याकी ही वृत्तिविशेष है। पुनः ह्लादिनी शक्तिकी वृत्ति भक्तिका ही कोई अंश विद्या-विषयकी सफलताके लिए विद्यामें प्रविष्ट होता है अथवा कभी कर्मयोगकी सफलताके लिए कर्ममें प्रविष्ट होता है। भक्तिके बिना कर्म, योग और ज्ञान आदि केवल परिश्रम हैं, इनका कोई फल नहीं है। क्योंकि, वस्तुतः निर्गुणा भक्ति सत्त्वगुणमयी विद्याकी वृत्तिविशेष नहीं हो सकती, अतएव अज्ञानके निवर्त्तनमें विद्याका कारणत्व है, किन्तु तत्पदार्थरूप भगवान्के निरूपणमें भक्तिका ही कारणत्व है। गीता (१४/१७) में और भी कहा गया है—"सत्त्वगुणसे ज्ञानकी उत्पत्ति होती है।" अतएव सत्त्वगुणसे जो ज्ञान उत्पन्न होता है, वह सत्त्वगुणी ही होता है। अतः जिस प्रकार वह सत्त्व ही विद्या शब्दसे अभिहित होता है, उसी प्रकार भक्तिसे उत्पन्न जो ज्ञान है, वह भक्ति ही है। वही भक्ति भी कहीं-कहीं 'भक्ति' शब्दसे अथवा कहीं 'ज्ञान' शब्दसे अभिहित होती है। इस प्रकार ज्ञानको भी दो प्रकारका जानना आवश्यक है। सत्त्वगुणसे उत्पन्न प्रथम ज्ञानको त्यागकर भक्ति द्वारा उत्पन्न द्वितीय ज्ञानसे ही ब्रह्मसायुज्य प्राप्त होता है—यहाँ ऐसा समझना चाहिए। यह श्रीमद्भागवतके ग्यारहवें स्कन्धके पच्चीसवें अध्यायको देखनेसे जाना जाता है। कोई कोई भक्तिविहीन

केवल ज्ञानका अवलम्बनकर ही सायुज्य प्राप्त करनेकी कामना करते हैं। ऐसे ज्ञानाभिमानी केवल क्लेश ही प्राप्त करते हैं, अतएव वे अतिशय निन्दनीय हैं। भक्तिके बिना केवल ज्ञानसे मुक्ति नहीं प्राप्त होती—ऐसा मानकर कुछ लोग भक्तिमिश्र ज्ञानका अभ्यास करते हुए यह सोचते हैं कि भगवान् मायिक उपाधिवाले हैं और उनका शरीर गुणमय है। योगारूढ़ अवस्था प्राप्त होनेपर भी मुक्ताभिमानी ऐसे ज्ञानी निन्दनीय हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत (११/५/२) में कहा गया है—"पुरुष अथवा भगवान्के मुख-बाहु-जंघा-पादसे गुणके अनुसार चार आश्रमोंके साथ ब्राह्मण आदि चार वर्ण पृथक्-पृथक् उत्पन्न हुए थे। जो ऐसे साक्षात् स्वयम्भू पुरुषकी अवज्ञाकर उनका भजन नहीं करते हैं, वे स्थानभ्रष्ट होकर अधःपतित हो जाते हैं।" इसका अर्थ यह है कि जो भजन नहीं करते हैं एवं जो भजन करने पर भी अवज्ञा करते हैं, वे संन्यासी होनेपर भी विनिष्टविद्य होकर अघःपतित होते हैं। श्रीमद्भागवत (१०/२/३२) में और भी कहा गया है—"हे कमलनयन! जो विमुक्तमानी होकर अर्थात् 'मैं मुक्त हो गया हूँ'—ऐसा मानकर आपके प्रति भक्तिशून्य होता है, वह अविशुद्ध बुद्धिवाला होनेके कारण अत्यन्त क्लेशसे अनासक्तिरूप परमपद प्राप्त करनेपर भी आपके पादद्वयका अनादर करनेके कारण अघःपतित होता है। (यहाँ 'अन्ये' शब्दसे श्रीमाधवके भक्तसे भिन्न अन्यको समझना चाहिए।) यहाँ 'अङ्घ्रि' पद भक्ति द्वारा ही विवक्षित है अर्थात् भगवान्के श्रीचरणकमलोंका अनादर करनेका अर्थ है—भक्तिका अनादर करना।

'अनादृतयुष्मदङ्घ्रयः'—श्रीभगवान्के शरीरको गुणमय मानना ही उनके देहका अनादर है। पहले भी गीता (९/११) में कहा गया है—"मूढ़ व्यक्ति मानवदेह प्राप्त मेरी अवज्ञा करते हैं।" वस्तुतः वह मानुषी तनु सच्चिदानन्दमय ही है। भगवान्की तर्कातीत कृपाशक्तिके प्रभावसे ही वह तनु परिदृष्ट होता है। नारायणाध्यात्म वचनमें कहा गया है—"श्रीभगवान् नित्य अव्यक्तस्वरूप होनेपर भी केवल अपनी शक्तिके प्रभावसे ही लक्षित होते हैं। उस शक्तिके अतिरिक्त उस परमानन्दस्वरूपका दर्शन करनेमें कौन समर्थ है?" इस प्रकार भगवान्के शरीरका सच्चिदानन्दमयत्व सिद्ध हुआ। *'क्लिप्तं सच्चिदानन्दविग्रहं श्रीवृन्दावनसुरभूरुहतलासीनम्', 'शाब्दं ब्रह्म वपुर्दधत्'* (श्रीमद्भा. ३/२१/८) इत्यादि सहस्र श्रुति-स्मृति वाक्योंसे उनके तनुका सच्चिदानन्दमयत्व निर्दिष्ट होने पर भी केवल श्वेताश्वतर उपनिषद्में

कहे गए *'मायां तु प्रकृतिं विद्यान्मायिनन्तु महेश्वरम्'*—इस श्रुतिको देखकर ही वे भगवान्को भी मायिक उपाधियुक्त समझते हैं। किन्तु, *'अतो मायामयं विष्णुं प्रवदन्ति सनातनम्'* अर्थात् इसीलिए सनातन विष्णुको मायामय कहा जाता है—श्रीमध्वभाष्यमें कथित उपरोक्त श्रुति वाक्यके अनुसार वे स्वरूपभूता माया नामक नित्यशक्ति द्वारा संयुक्त हैं। 'मायान्तु'—यहाँ माया शब्दसे उनकी स्वरूपभूता चित्त-शक्ति ही अभिहित हैं। उनकी अस्वरूपभूता त्रिगुणमयी शक्ति नहीं। उपरोक्त श्रुतिका यह अर्थ वे नही मानते हैं। अथवा, मायाको प्रकृति तथा मायीको महेश्वर अर्थात् शम्भू जानना चाहिए—इस अर्थको भी स्वीकार नहीं करते। इसीलिए भगवान्के निकट अपराधी होनेके कारण जीवन्मुक्त दशा प्राप्त होनेपर भी वे अधःपतित हो जाते हैं। वासनाभाष्य धृत परिशिष्ट वचनमें कहा गया है कि जीवन्मुक्त व्यक्तिगण भी यदि किसी प्रकार अचिन्तनीय महाशक्तिशाली भगवान्के निकट अपराधी होते हैं, तो उन्हें भी वासनायुक्त होकर संसारमें पुनः प्रवेश करना पड़ता है। इन सभी व्यक्तियोंके अधःपतनका कारण यह है कि वे ऐसा सोचते हैं कि फलकी प्राप्तिके बाद साधनका प्रयोजन नहीं है, अतएव ज्ञान-संन्यासकालमें ज्ञानको एवं ज्ञानके साथ गुणीभूता भक्तिका भी परित्यागकर मिथ्या अपरोक्ष ब्रह्मानुभूति बोध करते हैं। श्रीविग्रहके निकट अपराध होनेके कारण ज्ञानके साथ भक्ति भी अन्तर्हित हो जाती है। वे पुनः भक्ति नहीं प्राप्त कर पाते हैं। भक्तिके अतिरिक्त तत्पदार्थका अनुभव नहीं होता है। उस समय उनकी समाधिको वृथा और उनलोगोंको मिथ्या जीवन्मुक्ताभिमानी समझना चाहिए। इस विषयमें श्रीमद्भागवत (१०/२/३२) में कहा गया है—*'येऽन्येऽरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनः'*। जो भक्तिमिश्र ज्ञानका अभ्यास करते-करते भगवान्की श्रीमूर्तिको सच्चिदानन्दमयी जानकर धीरे-धीरे विद्या और अविद्याके उपरम होनेपर पराभक्ति लाभ करते हैं, ऐसे जीवन्मुक्त दो प्रकारके हैं। इनमें से कोई कोई सायुज्य प्राप्त करनेके लिए भक्ति करते हैं एवं उस भक्ति द्वारा तत्पदार्थको अपरोक्षरूपसे अनुभवकर उसमें सायुज्यता प्राप्त करते हैं। ये संगीत अर्थात् सम्माननीय हैं। अन्य कोई कोई प्रचुर भाग्यवान् व्यक्ति सौभाग्यसे शान्त महाभागवतोंके सङ्गके प्रभावसे मुक्तिकी वाञ्छाका परित्यागकर शुकदेव गोस्वामी आदिकी भाँति भक्तिरस-माधुरीके आस्वादनमें ही निमग्न रहते हैं। ये लोग परम संगीत अर्थात् परम आरदणीय हैं। जैसा कि श्रीमद्भागवत

(१/७/१०) में कहा गया है—"श्रीहरि इस प्रकार गुणसम्पन्न हैं कि (उनकी आकर्षिणी शक्ति द्वारा आकृष्ट होकर) अविद्याग्रन्थिशून्य आत्माराम मुनिगण भी उरुक्रम श्रीकृष्णके प्रति (किसी फलकी कामनासे रहित होकर) भक्ति करते हैं।" अतएव इस प्रकार चार प्रकारके ज्ञानियोंमें पहलेके दो ज्ञानी विगीत अर्थात् निन्दनीय होकर अधःपतित होते हैं और बादके दो ज्ञानी संगीत अर्थात् आदरणीय होकर संसारसे उत्तीर्ण होते हैं।।५५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वर्त्तमान श्लोकमें श्रीभगवान् 'पराभक्ति' अर्थात् प्रेमलक्षणा केवला भक्तिका फल वर्णन कर रहे हैं। ब्रह्मभूत व्यक्ति सौभाग्यवश किसी महत् व्यक्तिकी कृपासे पराभक्ति प्राप्त करते हैं, उस समय उनकी मोक्षकी कामना दूर हो जाती है और वे ज्ञानशून्य होकर निर्गुणा भक्ति प्राप्तकर स्वरूप-सिद्धिके समय श्रीकृष्ण-तत्त्वसे अवगत होते हैं तथा वस्तु-सिद्धिके समय उस लीलामें प्रवेश करते हैं। श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्था अप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः।।'

(श्रीमद्भा. १/७/१०)

अर्थात्, आत्माराम पुरुषोंमें जो अत्यन्त भाग्यवान् हैं, वे यदि श्रीभगवान् और उनके भक्तोंकी अहैतुकी कृपा लाभ करें, जैसे कि सनकादिके प्रति भगवत्कृपा और श्रीशुकदेव गोस्वामीके प्रति श्रीव्यासजीकी कृपा हुई, तो वे भी भगवान्‌के गुणोंसे आकृष्ट होकर उनकी अहैतुकी भक्तिका अनुष्ठान करते हुए भक्तिरसके माधुर्यके आस्वादनमें निमग्न हो सकते हैं।

श्रीगीताके (११/५४, ८/१४, ९/२२ आदि) श्लोकोंमें तथा अन्यान्य अनेक स्थानोंमें यह कहा गया है कि श्रीभगवान् एकमात्र भक्ति द्वारा ही लभ्य हैं। श्रीमद्भागवत (११/१४/२१) में भी *'भक्त्याहमेकया ग्राह्यः'* श्लोक देखा जाता है। श्रीचैतन्य महाप्रभुके प्रश्नके क्रममें उत्तर देते हुए श्रीरायरामानन्दने कहा—'ज्ञानशून्या भक्ति साध्यसार है', तो महाप्रभुने इसे भी चरम साध्यके रूपमें अस्वीकार करते हुए इससे और आगेकी बात कहनेका अनुरोध किया। यहाँ श्रीरायरामानन्द प्रभुने श्रीमद्भागवतके *'ज्ञाने प्रयासमुदपास्य'* का प्रमाण प्रस्तुत किया था। सभी सिद्ध और मुक्त पुरुष भी श्रीकृष्ण-तत्त्वको नहीं जान पाते हैं—इसकी आलोचना गीता (७/३) के *'मनुष्याणां सहस्रेषु'* तथा श्रीमद्भागवत (६/१४/५) के

'मुक्तानामपि सिद्धानाम्' एवं चैतन्य चरितामृतके *'कोटिमुक्त मध्ये दुर्लभ एक कृष्णभक्त'* इत्यादि श्लोकोंमें हुई है। मुक्ति होनेके पश्चात् भी जीवोंकी शुद्धरूपमें अवस्थिति तथा उनके भगवत्-सेवा-सुखके आस्वादनके विषयमें श्रुति, स्मृति, वेदान्तसूत्र, श्रीमद्भागवत, गीता आदि शास्त्रोंमें भूरिभूरि प्रमाण दृष्टिगोचर होते हैं—*'मुक्ता अपि लीलया विग्रहं कृत्वा भगवन्तं भजन्ते'* (श्रीमद्भा. १०/८७/२१ श्रीधर धृत सर्वज्ञ-भाष्यकार-व्याख्या) अर्थात् मुक्त पुरुष भी स्वेच्छापूर्वक अपने अप्राकृत शरीरसे भगवान्‌की निरन्तर सेवा करते हैं। *'आप्रायणात्तत्रापि हि दृष्टम्'* (ब्र. सू. ४/१/१२) तथा *'मोक्षे च भक्तिरनुवर्त्तते'* आदि श्रुतियोंमें भी मोक्ष अवस्थामें भी भक्तिका उल्लेख पाया जाता है।

यहाँ 'विशते तदनन्तरम्' का गूढ़ तात्पर्य है—भगवान्‌को जानकर उनमें प्रवेश होकर एकाकार नहीं हो जाता, बल्कि उनकी लीलामें प्रवेश करता है। उदाहरणस्वरूप कोई व्यक्ति पुर (नगर) में प्रवेश करता है अथवा पक्षी घोंसलेमें प्रवेश करती है, इसका तात्पर्य यह नहीं है कि नगरमें प्रवेश करनेवाला व्यक्ति नगर हो जाता और घोंसलेमें प्रवेश करनेवाली चिड़िया घोंसला हो जाती है, अधिकन्तु वे परिजनोंसे मिलकर आनन्दका उपभोग करते हैं। निर्विशेषवादी साधारणतः समुद्रमें गिरनेवाली नदियोंका दृष्टान्त देते हुए कहते हैं कि नदियाँ अपने नाम और रूपका परित्यागकर समुद्रमें मिल जाती हैं अर्थात् उनका कोई पृथक् अस्तित्व नहीं रहता, उसी प्रकार जीव भी ब्रह्मसे मिलकर एकाकार हो जाता है। किन्तु, सविशेषवादी भक्तोंका यह कहना है कि मुक्तिके बाद भी शुद्ध जीव अपने अस्तित्वको उसी प्रकार बनाए रखते हैं, जिस प्रकार समुद्रके जलमें रहनेवाले जलचर अपना पृथक् अस्तित्व बनाए रखते हैं। गहरे समुद्रमें अनेकानेक प्राणी अपने बाल-बच्चोंके साथ सुखपूर्वक निवास करते हैं। समुद्रके केवल उपरी सतहकी जानकारी पर्याप्त नहीं है। समुद्रकी गहराईमें रहनेवाले जलचर प्राणियोंकी तथा समुद्रमें पाए जानेवाले मोती इत्यादि रत्नों तथा विविध प्रकारके उपयोगी खान इत्यादिकी भी जानकारी रखना परमावश्यक है। इन सब प्रकारके षडेश्वर्यों, भक्ति-रसोंसे परिपूर्ण स्वयं-भगवान् श्रीकृष्णको तत्त्वतः और पूर्णतः जानना है। ऐसा जाननेसे ही साधक या भावभक्त वस्तुसिद्धिमें भगवान्‌की लीलामें प्रवेशकर उनकी सेवा-सुखका रसास्वादन करते हैं।

गूढ़रूपसे शास्त्रोंका विवेचन करनेपर यह स्पष्ट होता है कि भक्तिकी सहायताके बिना केवल ज्ञानके द्वारा मुक्ति नहीं होती—*'श्रेयः स्मृतिं भक्तिमुदस्य।'* ज्ञानी दो प्रकारके होते हैं—केवल ज्ञानी तथा भक्तिमिश्र ज्ञानी।

भक्तिमिश्र ज्ञानी भी दो प्रकारके होते हैं—(१) भगवान्के रूपको मायिक समझनेवाले, किन्तु भक्तिमिश्र तथा (२) भगवान्के रूपको सच्चिदानन्द समझनेवाले भक्तिमिश्र। इनमेंसे प्रथम श्रेणीके ज्ञानी भगवान्के चरणोंमें अपराधी होनेके कारण मुक्त नहीं होते, केवल मुक्त होनेका अहंकार करते है। ऐसे मुक्ताभिमानी ज्ञानियोंके लिए श्रीमद्भागवतमें कहा गया है—

'येऽन्येरविन्दाक्ष विमुक्तमानिनस्त्वय्यस्तभावादविशुद्धबुद्धयः।
आरुह्य कृच्छ्रेण परं पदं ततः पतन्त्यधोऽनादृतयुष्मदङ्घ्रयः।।'

(श्रीमद्भा. १०/२/३२)

अर्थात्, हे कमललोचन! केवल ज्ञानकी चेष्टा द्वारा जो अपनेको मुक्त कहकर अभिमान करते हैं, भक्तिके प्रति उनका नित्य-ज्ञान नहीं होनेके कारण वे अशुद्ध बुद्धिवाले हैं। वे ज्ञानकी चेष्टा द्वारा अर्थात् 'अतत्' वस्तुका त्याग करते-करते, 'तत्' वस्तुके निकट जो परमपद है, प्रायः वहीं तक जाते हैं। पुनः आश्रयरूप आपके पादपद्मको नहीं पाकर वे अधःपतित होते हैं।

गीतामें भी कहा गया है—

'मोघाशा मोघकर्माणो मोघज्ञाना विचेतसः।
राक्षसीमासुरीञ्चैव प्रकृतिं मोहिनीं श्रिताः।।'

(गीता ९/१२)

अर्थात्, वे निष्फल आशा, निष्फल कर्म और निष्फल ज्ञानवाले विक्षिप्तचित्त होकर मोहिनी, तामसी और आसुरी प्रकतिके ही आश्रित होते हैं।

दूसरे प्रकारके ज्ञानी भक्तिमिश्र ज्ञानका अनुशीलन करते हैं, भगवान्की श्रीमूर्त्तिको सच्चिदानन्दमयी स्वीकार करते हैं। ऐसे ज्ञानी लोग अविद्या और विद्याके उपशम होनेपर सायुज्य मुक्ति प्राप्त करते हैं, पराभक्ति लाभ नहीं करते हैं। इस भक्तिनिष्ठ ज्ञानका अनुशीलन करनेवाले कुछ ऐसे ज्ञानी होते हैं, जो सौभाग्यवश किसी महत् पुरुषकी कृपासे मुक्त

होनेकी अभिलाषाका परित्यागकर पराभक्तिको प्राप्त करते हैं। श्रीमद्भागवतमें ऐसे आत्माराम ज्ञानी पुरुषोंके लिए ही निम्नलिखित श्लोक कहा गया है—

'आत्मारामाश्च मुनयो निर्ग्रन्थाप्युरुक्रमे।
कुर्वन्त्यहैतुकीं भक्तिमित्थम्भूतगुणो हरिः।।'

(श्रीमद्भा. १/७/१०)

अर्थात्, श्रीकृष्णमें एक ऐसी आकर्षिका शक्ति है, जिससे आकृष्ट होकर जड़ाकृष्ट पुरुषके आकर्षणकी तो बात ही दूर रहे, अविद्याग्रन्थिशून्य आत्माराम मुनिगण भी उरुक्रम कृष्णकी अहैतुकी भक्ति करते हैं।

इन चीजोंको स्पष्टरूपसे बतानेके लिए ही इन श्लोकोंकी अवतारणा की गई है।।५५।।

सर्वकर्माण्यपि सदा कुर्वाणो मद्व्यपाश्रयः।
मत्प्रसादादवाप्नोति शाश्वतं पदमव्ययम्।।५६।।

अन्वय—मद्व्यपाश्रयः (मेरे एकान्त भक्त) सदा (सर्वदा) सर्वकर्माणि (समस्त कर्म) कुर्वाणः अपि (करनेपर भी) मत्प्रसादात् (मेरी कृपासे) शाश्वतम् (नित्य) अव्ययम् (अव्यय) पदम् (परव्योम वैकुण्ठधाम) अवाप्नोति (प्राप्त करते हैं)।।५६।।

अनुवाद—मेरे एकान्त भक्त सर्वदा समस्त कर्म करनेपर भी मेरी कृपासे नित्य, अव्यय वैकुण्ठधाम प्राप्त करते हैं।।५६।।

श्रीविश्वनाथ—तदेवं ज्ञानी यथाक्रमेणैव कर्मफलसंन्यास-कर्मसंन्यास-ज्ञानसंन्यासैर्मत्सायुज्यं प्राप्नोतीत्युक्तम् मद्भक्तस्तु मां यथा प्राप्नोति तदपि शृण्वित्याह—सर्वेति। मद्व्यपाश्रयो मां विशेषतोऽपकर्षेण सकामतयापि य आश्रयते, सोऽपि किं पुनः निष्कामभक्त इत्यर्थः। सर्वकर्माण्यपि नित्यनैमित्तिककाम्यानि पुत्रकलत्रादि-पोषणलक्षणानि व्यवहारिकाण्यपि सर्वाणि कुर्वाणः किं पुनस्त्यक्तकर्मयोगज्ञानदेवतान्तरोपासनान्यकामानन्यभक्त इत्यर्थः। अत्राश्रयते सम्यक् सेवते इति आङुपसर्गेन सेवायाः प्रधानीभूतत्वम्। कर्माण्यपीत्यपि-शब्देनापकमर्षबोधकेन कर्मणां गुणीभूतभूतत्वम्। अतोऽयं कर्ममिश्रभक्तिमान्, न तु भक्तिमिश्रकर्मवानिति प्रथमषट्कोक्ते कर्मणि नातिव्याप्तिः। शाश्वतं महत्पदं मद्धाम-वैकुण्ठमथुराद्वारकायोध्यादिकमवाप्नोति ननु महाप्रलये तत्तद्धाम कथं स्थास्यति? तत्राह—अव्ययं, महाप्रलये मद्धाम्नः किमपि न व्ययति, मदतर्क्यप्रभावादिति भावः। ननु ज्ञानी

खल्वनेकैर्जन्मभिरनेकतपादिक्लेशैः सर्वविषयेन्द्रियोपरामेणैव नैष्कर्म्ये सत्येव यत् सायुज्यं प्राप्नोति, तस्य ते नित्यं धाम सकर्मकत्वे सकामकत्वेऽपि त्वदाश्रयणमात्रेणैव कथं प्राप्नोति? तत्राह—मत्प्रसादादिति मत्प्रसादस्यातर्क्यमेव प्रभावत्वं जानीहीति भावः।।५६।।

भावानुवाद—अतएव इस प्रकारसे ज्ञानी यथाक्रम ही कर्मफल-त्याग, कर्मत्याग और ज्ञानत्याग द्वारा इनका फल मेरा सायुज्य प्राप्त करते हैं—यह पहले बताया गया। किन्तु, मेरे भक्त जिस प्रकार मुझे प्राप्त करते हैं, उसे भी सुनो—जो विशेषतः अपकर्षयुक्त अर्थात् सकाम होकर भी मेरा आश्रय ग्रहण करते हैं, वे भी परमपदको प्राप्त करते हैं, तो पुनः निष्काम भक्तकी बात ही क्या कहूँ? नित्य, नैमित्तिक, काम्य, पुत्र-कन्या आदिके पोषण-लक्षणयुक्त व्यवहारिक सभी प्रकारके कर्मोंको करनेपर भी वे अव्यय पद प्राप्त करते हैं, कर्म-योग-ज्ञानका त्याग, अन्य देवताओंकी उपासनाका त्याग और अन्य कामनाओंका त्याग करनेवालेके विषयमें और क्या कहूँ? यहाँ 'आश्रय लेता है' का तात्पर्य है—सम्यक् रूपसे सेवा करता है। 'आङ्'—इस उपसर्ग द्वारा सेवाकी ही प्रधानता है। 'कर्मण्यपि'—यहाँ 'अपि' शब्द कर्मकी अपकर्षताका बोधक है, अतः कर्मके गुणीभूतत्वका बोधक है। अतएव ये लोग कर्ममिश्र भक्तिवान् हैं, भक्तिमिश्र कर्मवान् नहीं—यह प्रथम छः अध्यायोंमें कथित कर्ममें अतिशय व्याप्त नहीं है। 'शाश्वतं मत्पदम्'—वे मेरे शाश्वत वैकुण्ठ, मथुरा, द्वारका, अयोध्या आदि धामको प्राप्त करते हैं। अच्छा, महाप्रलयके समय ये धाम किस प्रकार रहेंगे? इस प्रश्नके उत्तरमें कहते हैं—'अव्ययं' अर्थात् महाप्रलयके समय मेरे धामका कुछ भी व्यय नहीं होता है। ऐसा मेरे अतर्क्य प्रभावसे ही सम्भव होता है। यदि प्रश्न हो कि ज्ञानी अनेक जन्मोंकी अनेक तपस्याओं आदिके क्लेशके साथ विषयोंके उपरमसे नैष्कर्म्य होनेसे सायुज्य प्राप्त करते हैं, किन्तु आपके भक्तगण कर्मानुष्ठानपरायण और कामनायुक्त होकर भी केवल आपका आश्रय लेनेसे ही आपके नित्य धामको कैसे प्राप्त करते हैं, तो इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—मेरे प्रसाद (कृपा) द्वारा। मेरी प्रसन्नताके प्रभावको तर्कातीत जानना चाहिए।।५६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें भक्त और भक्तिका वैशिष्ट्य दिखाया गया है—ज्ञानी लोग भगवत्-अर्पित निष्काम कर्मके द्वारा क्रमानुसार चित्तशुद्धि और ज्ञान प्राप्तकर मेरी भक्तिको प्राप्त करनेके अधिकारी होते

हैं। किन्तु, मेरे एकान्तिक भक्त अनन्या भक्तिका आश्रय ग्रहणकर जिस किसी भी अवस्थासे मेरी अहैतुकी कृपासे मेरे परमधामको प्राप्त होते हैं। मेरे ऐकान्तिक भक्त नित्य, नैमित्तिक और काम्य कर्म करते हुए भी किसी कर्मफलमें आबद्ध नहीं होते। वे मेरी कृपासे शीघ्र ही नित्य वैकुण्ठ-गोलोक आदि धामोंको प्राप्त करते हैं। यहाँ ऐकान्तिक भक्तोंके प्रति भगवान्‌का अत्यन्त अनुग्रह लक्षित होता है। यहाँ तक कि गीता (९/३०) में भगवान्‌ने स्वयं कहा है—*'अपि चेत् सुदुराचारो भजते मामनन्यभाक्'* अर्थात् दुराचारी होनेपर भी मेरी अनन्या भक्ति करनेवालेको भक्त ही समझो।

"निष्काम कर्मयोग द्वारा ज्ञान और ज्ञान द्वारा भक्ति प्राप्त करनेकी जो वैदिक प्रणाली है, उसे ही मेरी प्राप्तिका 'गुह्य' पथ बताया। जिन तीन प्रणालियोंके विषयमें मैं स्पष्टरूपसे कह रहा हूँ, उनमें से यही प्रथम प्रणाली है। अभी भगवत्-उपासनारूप द्वितीय प्रणाली बता रहा हूँ, श्रवण करो—मुझे विशेषतः अपकर्षके साथ आश्रयकर (सकामी होकर भी) ईश्वर-बोधसे समस्त कर्म मुझे अर्पण करनेसे मेरी कृपासे अन्तमें अव्यय और शाश्वत-पदरूप निर्गुणा भक्ति प्राप्त होती है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।५६।।

चेतसा सर्वकर्माणि मयि संन्यस्य मत्परः।
बुद्धियोगमुपाश्रित्य मच्चित्तः सततं भव।।५७।।

अन्वय—चेतसा (कर्त्तापनके अभिमानसे रहित चित्त द्वारा) सर्वकर्माणि (सभी कर्म) मयि (मुझमें) संन्यस्य (समर्पितकर) मत्परः (मेरे परायण होकर) बुद्धियोगम् (निश्चयात्मिका बुद्धिरूप योगका) उपाश्रित्य (आश्रकर) सततम् (सर्वदा) मच्चित्तः भव (मुझमें चित्तवाला होओ)।।५७।।

अनुवाद—कर्त्तापनके अभिमानसे रहित चित्त द्वारा सभी कर्म मुझे समर्पितकर तथा मेरे परायण होकर निश्चयात्मिका बुद्धियोगका आश्रय करते हुए सर्वदा मुझमें चित्तवाला होओ।।५७।।

श्रीविश्वनाथ—ननु तर्हि मां प्रति त्वं निश्चयेन किमाज्ञापयसि?—किमहमनन्यभक्तो भवामि, किंवानन्तरोक्तलक्षणः सकामभक्त एव? तत्र सर्वप्रकृष्टोऽनन्यभक्तो भवितुं त्वं न प्रभविष्यसि, नापि सर्वभक्तेष्वपकृष्टः सकामभक्तो भव, किन्तु त्वं मध्यमभक्तो भवेत्याह—चेतसेति। सर्वकर्माणि

स्वाश्रमधर्मान् व्यवहारिककर्माणि च मयि संन्यस्य समर्प्य मत्परोऽहमेव परः प्राप्यपुरुषार्थो यस्य सः निष्काम इत्यर्थः, यदुक्तं पूर्वमेव—*"यत् करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत्। यत्तपस्यसि कौन्तेय तत् कुरूष्व मदर्पणम्।।"* इति बुद्धियोगं व्यवसायात्मिकया बुद्ध्या योगम्, सततं मच्चित्तः कर्मानुष्ठानकालेऽन्यदापि मां स्मरण भव।।५७।।

भावानुवाद—अच्छा, तो आप निश्चित रूपमें मुझे किस प्रकार आज्ञा कर रहे हैं? क्या मैं अनन्य भक्त होऊँगा अथवा उपरोक्त लक्षणविशिष्ट सकाम भक्त ही होऊँगा? इसके उत्तरमें श्रीभगवान् कहते हैं—तुम सर्वश्रेष्ठ भक्त नहीं हो पाओगे और न ही सभी भक्तोंमें अपकृष्ट सकाम भक्त बनो, अपितु तुम मध्यम भक्त बनो। 'सर्वकर्माणि'—अपने आश्रम-धर्म और व्यवहारिक कर्मसमूह मुझे समर्पितकर निष्काम भक्त बनो, जिनके लिए मैं ही प्राप्य पुरुषार्थ हूँ। मैंने पहले भी गीता (९/२६) में बताया है—'यत्करोषि' इत्यादि। बुद्धियोगम्—व्यवसायात्मिका बुद्धि द्वारा सतत मेरे परायण चित्तवाला बनो, अर्थात् कर्मोंके अनुष्ठान कालमें एवं अन्य समय भी मेरा स्मरण करो।।५७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ अर्जुन भगवान्से पराभक्तिप्राप्त (अनन्य) भक्त और अत्यन्त निकृष्ट सकाम भक्तके बीचके अधिकारी भक्तके लिए क्या कर्त्तव्य हैं, इसे स्पष्टरूपसे जानना चाहते हैं। श्रीकृष्ण उनके मनोभावसे अवगत होकर वैसे अधिकारियोंके लिए कह रहे हैं—ऐसे अधिकारी व्यक्तियोंको चाहिए कि वे सब प्रकारके कर्मोंमें कर्त्तापन और भोक्तापनका अभिमान त्यागकर अपने द्वारा किए गए कर्मोंको मुझे अर्पण करें तथा सर्वदा मेरा स्मरण करें। पहले भी ऐसा कहा गया है—*'यत्करोषि यदश्नासि।'* किन्तु, अर्पण करते हुए कर्मोंको करना चाहिए, न कि कर्म करनेके बाद फलका अर्पण करना चाहिए। ऐसा करते-करते साधु-सङ्गके प्रभावसे ऐसा साधक भी अन्तमें पराभक्ति लाभ करता है।

"मैंने पहले ही बताया कि ब्रह्म, परमात्मा और भगवान् मेरे ही त्रिविध प्रकाश हैं। बुद्धियोगका आश्रयकर मेरे परमात्म-प्रकाशमें चित्त स्थापितकर चित्त द्वारा समस्त कर्म मुझे अर्पितकर मेरे परायण होओ।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।५७।।

मच्चित्तः सर्वदुर्गाणि मत्प्रसादात्तरिष्यसि।
अथ चेत्त्वमहङ्कारान्न श्रोष्यसि विनङ्क्ष्यसि।।५८।।

अन्वय—मच्चितः (मद्‌गत चित्त होकर) मत् प्रसादात् (मेरी कृपासे) सर्वदुर्गाणि (समस्त प्रतिबन्धकोंसे) तरिष्यसि (उत्तीर्ण होओगे) अथ चेत् (और यदि) त्वम् (तुम) अहङ्कारात् (अहङ्कारवशतः) न श्रोष्यसि (नहीं सुनोगे) [तो] विनङ्क्ष्यसि (विनाश प्राप्त होओगे)।।५८।।

अनुवाद—मेरे स्मरण परायण होनेसे मेरे अनुग्रहसे तुम समस्त दुर्ग अर्थात् विघ्न-बाधाओंसे उत्तीर्ण होओगे। और यदि तुम मेरी बातोंको नहीं सुनोगे, तो तुम संसाररूप नाश प्राप्त करोगे।।५८।।

श्रीविश्वनाथ—ततः किमतः आह—मच्चित्तः इति।।५८।।

भावानुवाद—उसके बाद क्या होगा? इसके उत्तरमें कह रहे हैं—'मच्चितः' इत्यादि।।५८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—"इस प्रकार मत्-चित्त होनेसे समस्त दुर्ग अर्थात् जीवन-यात्राके समस्त प्रतिबन्धकोंसे उत्तीर्ण होओगे। ऐसा नहीं कर यदि तुम देहात्म-अभिमानरूप अहंकार द्वारा यह मानो कि मैं ही कर्त्ता हूँ, तो अमृतस्वरूपसे च्युत होकर तुम संसाररूप विनाश प्राप्त करोगे।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।५८।।

यदहङ्कारमाश्रित्य न योत्स्य इति मन्यसे।
मिथ्यैव व्यवसायस्ते प्रकृतिस्त्वां नियोक्ष्यति।।५९।।

अन्वय—अहङ्कारम् (अहङ्कारका) आश्रित्य (आश्रयकर) इति यत् मन्यसे (यह जो मान रहो कि) न योत्स्य (युद्ध नहीं करूँगा) ते (तुम्हारा) व्यवसायः (यह सङ्कल्प) मिथ्या एव (मिथ्या ही होगा) [यस्मात्—क्योंकि] प्रकृतिः (रजोगुणात्मिका मेरी माया) त्वाम् (तुम्हें) नियोक्ष्यति (युद्धमें नियुक्त करेगी)।।५९।।

अनुवाद—अहङ्कारका आश्रयकर तुम यह जो सोच रहे हो कि युद्ध नहीं करूँगा, तुम्हारा यह सङ्कल्प मिथ्या ही सिद्ध होगा। क्योंकि, रजोगुणत्मिका मेरी माया तुम्हें युद्धमें नियोजित करेगी ही।।५९।।

श्रीविश्वनाथ—ननु क्षत्रियस्य मम युद्धमेव परो धर्मः, तत्र बन्धुवधपापाद्भीत एव प्रवर्त्तितुं नेच्छामीति तत्र सतर्जनमाह—यदहमिति। 'प्रकृतिः' स्वभावः। अधुना त्वं मद्वचनं न मानयसि, यदा तु महावीरस्य

तव स्वाभाविको युद्धोत्साहो दुर्वार एवोद्भविष्यति, तदा युध्यमानः स्वयमेव भीष्मादीन् गुरून् हनिष्यन् मया हसिष्यसे इति भावः।।५९।।

भावानुवाद—अच्छा, मैं क्षत्रिय हूँ, युद्ध ही मेरा परधर्म है। किन्तु इस युद्धमें अनेक लोगोंके वध करनेसे जो पाप उत्पन्न होगा, इस भयसे ही मैं युद्ध नहीं करना चाहता हूँ। अर्जुनके इस प्रश्नके उत्तरमें तर्जन करते हुए श्रीभगवान् कहते हैं—'यदहम्'। 'प्रकृति' का तात्पर्य है—स्वभाव। अभी तुम मेरी बात नहीं मान रहे हो, किन्तु जब महावीर तुम्हारा स्वाभाविक युद्धोत्साह दुर्वार होकर प्रकट होगा, तब तुम स्वयं युद्धरत भीष्म आदि गुरुजनकी हत्याकर मुझे हँसाओगे।।५९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—साधकोंको कभी भी अपनी स्वतन्त्रताका अपव्यवहार करते हुए मनमाने कार्योंमें नहीं संलग्न होना चाहिए। उन्हें भगवान्के निर्देशके अनुसार ही कर्त्तापन और भोक्तापनके अभिमानका परित्यागकर सेवकके रूपमें कर्मोंमें प्रवृत्त होना चाहिए। भगवान्का यह निर्देश चैत्य गुरुके रूपमें भगवान्से अथवा भगवत्-कथित शास्त्रोंसे प्राप्त करना चाहिए अथवा भक्तोंके निर्देशको ही भगवान्का निर्देश मानकर समस्त कार्योंको भगवान्की सेवाके उद्देश्यसे करना उचित है। भगवत्-निर्देशके विपरीत कर्मोंका कर्त्ता तथा फलोंका भोक्ता बनकर कर्म करनेसे जन्म-जन्मान्तरोंमें उनके अच्छे-बुरे फलोंको भोगनेके लिए बाध्य होना होता है।।५९।।

स्वभावजेन कौन्तेय निबद्धः स्वेन कर्मणा।
कर्त्तुं नेच्छसि यन्मोहात् करिष्यस्यवशोऽपि तत्।।६०।।

अन्वय—कौन्तेय (हे कौन्तेय!) मोहात् (मोहवश) यत् कर्त्तुम (जिसे करनेकी) न इच्छसि (इच्छा नहीं करते हो) स्वभावजेन (स्वभावजात) स्वेन कर्मणा (स्वकर्म द्वारा) निबद्धः [सन्] (निबद्ध होकर) अवशः अपि (अवश होकर ही) तत् करिष्यसि (उसे करोगे)।।६०।।

अनुवाद—हे कौन्तेय! मोहवश अभी तुम जिस कार्यको नहीं करना चाहते हो, स्वभावजात स्वकर्म द्वारा नियन्त्रित होकर अवश्य ही उसे करनेके लिए प्रवृत्त होओगे।।६०।।

श्रीविश्वनाथ—उक्तमेवार्थं निवृणोति 'स्वभावः' क्षत्रियत्वे हेतुः, पूर्वसंस्कारस्तस्माज्जातेन स्वीयेन कर्मणा शौर्यादिना निबद्धो यन्त्रितः।।६०।।

भावानुवाद—पूर्व श्लोकमें कथित विषयको विस्तृत रूपमें बता रहे हैं—पूर्व संस्कारवश तुम्हारा क्षत्रियका स्वभाव है, इस स्वभावके कारण उत्पन्न शौर्य आदि स्वकर्म द्वारा नियन्त्रित होकर तुम युद्ध करोगे ही।।६०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें भगवान्‌के कथनका तात्पर्य यह है कि तुम अभी मोहवशतः मेरी बात नहीं मानकर युद्ध नहीं कर रहे हो, किन्तु तुम्हारे स्वभावके अनुरूप युद्धोत्साह प्रबल होनेपर उसे दबाना सम्भव नहीं होगा और तुम स्वयं ही अपनेको युद्धका कर्त्ता मानकर उसके फलोंको भोगनेके लिए बाध्य होओगे। अतः मेरे निर्देशानुसार युद्ध करना ही तुम्हारे लिए श्रेय है। इसके अनुसार इस अधिकारमें अवस्थित साधकोंको स्थूल-सूक्ष्म अहङ्कारोंसे रहित होकर भगवत्-सेवाके लिए भक्तिके अनुकूल कार्योंको स्वीकार करना चाहिए।।६०।।

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया।।६१।।

अन्वय—अर्जुन (हे अर्जुन!) ईश्वरः (अन्तर्यामी परमात्मा) मायया (माया द्वारा) यन्त्रारूढानी [इव] (यन्त्रारूढ़की भाँति) सर्वभूतानि (सभी जीवोंको) भ्रामयन् (भ्रमण कराते हुए) सर्वभूतानाम् (सभी जीवोंके) हृद्देशे (हृदयमें) तिष्ठति (अवस्थान करते हैं)।।६१।।

अनुवाद—हे अर्जुन! सर्वान्तर्यामी परमात्मा सभी जीवोंके हृदयमें अवस्थान करते हैं और अपनी माया द्वारा यन्त्रारूढ़की भाँति जीवको संसार-चक्रमें भ्रमण कराते हैं।।६१।।

श्रीविश्वनाथ—श्लोकद्वयेन स्वभाववादिनां मतमुक्त्वा स्वमतमाह—ईश्वरो नारायणः सर्वान्तर्यामी *"यः पृथिव्यां तिष्ठन् पृथिव्या अन्तरो, यं पृथिवी न वेद, यस्य पृथिवी शरीरं, यः पृथिवीमन्तरो यमयतीति।" "यच्च किञ्चित् जगत् सर्वं दृश्यते श्रुयतेऽपि वा। अन्तर्बहिश्च तत सर्वं व्याप्य नारायणः स्थितः।।"* इत्यादि श्रुतिप्रतिपादित ईश्वरोऽन्तर्यामी हृदि तिष्ठति, किं कुर्वन्? सर्वाणि भूतानि मायया निजशक्त्या भ्रामयन् भ्रमयन् तत्तत् कर्माणि प्रवर्त्तयन्, यथा सूत्रसञ्चारादियन्त्रमारूढ़ानि कृत्रिमाणि पाञ्चालिकारूपाणि सर्वभूतानि माया विभ्रमयति, तद्वदित्यर्थः, यद्वा, यन्त्रारूढाणि शरीरारूढान् सर्वजीवानित्यर्थः।।६१।।

भावानुवाद—दो श्लोकोंमें स्वभाववादियोंका मत बतानेके बाद श्रीभगवान् अपना मत बता रहे हैं—श्रीनारायण सभी जीवोंके अन्तर्यामी हैं। वृहदारण्यक

(३/६/३) में कहा गया है कि वे पृथ्वीके अन्दर रहते हैं और पृथ्वी उन्हें नहीं जानती है। पृथ्वी उनका शरीर है और वे पृथ्वीके अन्दर रहकर उसकी परिचालना करते हैं। श्रुतिमें और भी कहा गया है—"जो कुछ भी समस्त जगत्‌में दृष्ट या श्रुत होता है, जो कुछ अन्दर या बाहर है, श्रीनारायण उन सबमें व्याप्त होकर अवस्थित हैं।" इन श्रुति वाक्योंसे यह प्रतिपादित होता है कि ईश्वर अन्तर्यामी रूपमें हृदयमें अवस्थित हैं। वे क्या करते हुए अवस्थित हैं? इसके उत्तरमें कहते है—सभी जीवोंको अपनी माया-शक्ति द्वारा भ्रमण कराते हुए अर्थात् उन उन कर्मोंमें प्रवृत्ति कराते हुए अवस्थित हैं। जैसे कि सूत्र-संचार आदि द्वारा यन्त्रपर आरूढ़ कृत्रिम पुतलीको सूत्रधार भ्रमण कराता है, उसी प्रकार माया भी सभी जीवोंको विशेष भावसे भ्रमण कराती है। अथवा, यन्त्रारूढ़ानिका दूसरा तात्पर्य है—शरीरपर आरूढ़ जीवसमूह।।६१।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—परमेश्वर चराचर विश्वके अन्तर्यामी हैं। उन्होंने गीता (१५/१५) में *'सर्वस्य चाहं हृदि सन्निविष्टो'* पहले ही बताया है। श्रुतियाँ भी ऐसा ही कहती हैं—

'एको देवः सर्वभूतेषु गूढः सर्वव्यापी सर्वभूतान्तरात्मा।
कर्माध्यक्षः सर्वभूताधिवासः साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च।।'

(श्वे. उ. ६/११)

वे सर्वव्यापी और सर्वनियन्ता हैं। उनकी नियामकतामें जीव मायायन्त्र (मायाकृत स्थूल-सूक्ष्म शरीर) पर आरूढ़ होकर इस संसारमें घूम रहा है। कुछ लोग ऐसा समझते हैं कि ईश्वर सबके नियामक और सबके प्रेरक हैं, अतः हमारे शुभ-अशुभ सारे कर्म ईश्वरकी प्रेरणासे ही हो रहे हैं। जीव केवल कठपुतलीके समान है, अतएव जीवको उसके शुभ-अशुभ कर्मोंका फल नहीं मिलकर ईश्वरको ही मिलता है और मिलना ही चाहिए। किन्तु, यह विचार सर्वथा भ्रान्त है। यन्त्र-रूढ़ानिका तात्पर्य ठीकसे समझना चाहिए। भगवत्-विमुख जीवोंके अनादि कर्मसंस्कारके अनुरूप माया द्वारा उनको स्थूल-सूक्ष्म शरीर प्राप्त होता है। ईश्वरकी प्रेरणा और माया द्वारा जीव अपने कर्मों द्वारा प्राप्त शरीरपर आरूढ़ होकर कर्म-चक्रमें भ्रमण करता है। यहाँ ईश्वर साक्षात् रूपमें बद्धजीवोंको कर्मोंमें परिचालित नहीं करते। बद्धजीव भी अपनी स्वतन्त्रताका सब प्रकारसे परित्यागकर भगवान् द्वारा परिचालित नहीं होना चाहता है।

उसे (बद्धजीवको) यह सौभाग्य प्राप्त नहीं होता। इसलिए श्रीचैतन्य महाप्रभुने स्पष्ट रूपसे कहा है—

'कृष्ण भूलि' सेई जीव-अनादि बहिर्मुख।
अतएव माया तारे देय संसार-दुःख।।'

(चै. च. म. २०/११७)

उपरोक्त विमुख जीवोंके लिए परमेश्वर केवल साक्षी होते हैं और उनके अच्छे-बुरे कर्मोंको माया द्वारा भोगवाते हैं, किन्तु वे अपने भक्तोंके प्रति केवल साक्षी या उदासीन न रहकर उन्हें अपनी सेवामें नियुक्त करते हैं। यह उनकी महान कृपा है।

"सभी जीवोंके हृदयमें मैं ही परमात्माके रूपमें अवस्थित हूँ। परमात्मा ही सभी जीवोंके नियन्ता और ईश्वर हैं। जीवसमूह जो जो कर्म करते हैं, ईश्वर तदनुरूप कर्मफल प्रदान करते हैं। जिस प्रकार यन्त्रारूढ़ वस्तु घूमती है, उसी प्रकार जीवसमूह भी ईश्वरके सर्वनियन्तृत्व धर्मसे जगत्में भ्रमण करते रहते हैं। पूर्व कर्मके अनुसार तुम्हारी प्रवृत्ति ईश्वर प्रेरणा द्वारा सहज ही कार्य करती रहेगी।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।६१।।

तमेव शरणं गच्छ सर्वभावेन भारत।
तत्प्रसादात्परां शान्तिं स्थानं प्राप्स्यसि शाश्वतम्।।६२।।

अन्वय—भारत (हे भारत!) सर्वभावेन (सभी प्रकारसे) तम् एव (उन ईश्वरके ही) शरणम् गच्छ (शरणमें जाओ) तत्प्रसादात् (उनकी कृपासे) पराम् शान्तिम् (परम शन्ति) शाश्वतम् स्थानम् [च] (और नित्यधाम) प्राप्स्यसि (प्राप्त करोगे)।।६२।।

अनुवाद—हे भारत! सभी प्रकारसे उन ईश्वरके ही शरणमें जाओ। उनकी कृपासे परम शान्ति और नित्यधाम प्राप्त करोगे।।६२।।

श्रीविश्वनाथ—एतज्ज्ञापनप्रयोजनमाह—तमेवेति। परामविद्याविद्ययोर्निवृत्तिम्, ततश्च शाश्वतं स्थानं वैकुण्ठम्। योऽयमन्तर्यामिशरणापत्तिरन्तर्याम्युपासकानामेव, भगवदुपासकानान्तु भगवच्छरणापत्तिरग्रे वक्ष्यते एवेति केचिदाहुः। अन्यस्तु यो मदिष्टदेवः श्रीकृष्णः स एव मद्गुरुर्मां भक्तियोगं तदनुकूलं हितञ्चोपदेशमुपदिशति च तमहं शरणं प्रपद्ये। तथा कृष्ण एव मदन्तर्यामी, सोऽपि मां तत्र तत्र प्रवर्त्तयतु, तञ्चाहं शरणं प्रपद्ये इत्यनिशं भावयति। यदुक्तमुद्धवेन—*"नैवोपयन्त्यपचितिं कवयस्तवेश, ब्रह्मायुषापि कृतमृद्धमुदः*

स्मरन्तः। योऽन्तर्बहिस्तनुभूतामशुभं विधुन्वन्नाचार्यचैत्तवपुषा स्वगतिं व्यनक्ति।।" इति।।६२।।

भावानुवाद—इसे बतानेके प्रयोजनसे 'तमेव' इत्यादि कह रहे हैं। ईश्वरके शरणागत होनेसे पहले 'पराम्' अर्थात् अविद्या और विद्याकी निवृत्ति होगी एवं उसके बाद तुम शाश्वत स्थान वैकुण्ठ प्राप्त करोगे। कोई कोई ऐसा कहते हैं कि जो अन्तर्यामीके उपासक हैं, उन्हें अन्तर्यामीकी ही शरणागति प्राप्त होती है, किन्तु जो भगवान्‌के उपासक हैं, उनकी भगवत्-शरणापत्तिके विषयमें आगे बताया जाएगा। दूसरे निरन्तर चिन्ता करते हैं—जो मेरे ईष्टदेव श्रीकृष्ण हैं, वे ही मेरे गुरु हैं, वे ही मुझे भक्तियोग तथा उसके अनुकूल हितकर उपदेश प्रदान करें, मैं उनके ही शरणागत होता हूँ, कृष्ण ही मेरे अन्तर्यामी हैं, वे ही मुझे उन उन विषयोंमें प्रवर्त्तित करें। मैं उनकी ही शरण ग्रहण करता हूँ। जैसा कि उद्धव भी कहते हैं—"हे ईश! कविगण ब्रह्माकी आयु प्राप्त करनेपर भी प्रवृद्ध आनन्दके सहित आपके कृत उपकारका स्मरणकर उसका अन्त नहीं पाते हैं, क्योंकि आप देहधारियोंके बाहर और अन्दर आचार्य गुरु और चैत्य गुरुके रूपमें स्वगति अर्थात् अपनेको प्राप्त करानेके लिए प्रकाशित करते हैं"।।६२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्व श्लोकमें वर्णित सर्व अन्तर्यामी एवं अहैतुकी कृपालु परमेश्वरके प्रति सब प्रकारसे शरणागत होनेका उपदेश दिया गया है। ऐसी ऐकान्तिक शरणागतिके प्रभावसे परमेश्वर प्रसन्न होते हैं और उनकी कृपासे सहज ही पराशान्ति और अव्यय वैकुण्ठ, गोलोक आदि धामोंकी प्राप्ति होती है। भगवान् जीवोंके कल्याणके लिए इस जगत्‌में अर्चाविग्रह, अन्तर्यामी, वैभव (भगवत्-अवतारसमूह), व्यूह और पर (स्वयं कृष्ण)—इन पाँच रूपोंमें अवतरित होकर सेवकोंकी सेवावृत्तिके अनुरूप आत्मप्रकाश करते हैं।

'कृष्ण यदि कृपा करे कोनो भाग्यवाने।
गुरु अन्तर्यामी-रूपे सिखाये आपने।।'

(चै. च. म. २२/४७)

अर्थात्, भगवान् भक्ति-उन्मुख सुकृतिवान् जीवोंपर कृपा करनेके लिए बाहरमें दीक्षा गुरु एवं अन्तःकरणमें चैत्य गुरुके रूपमें अपनी शरणागतिके लिए जीवोंको उपदेश देते हैं।।६२।।

इति ते ज्ञानमाख्यातं गुह्याद्गुह्यतरं मया।
विमृश्यैतदशेषेण यथेच्छसि तथा कुरु।।६३।।

अन्वय—इति (इस प्रकार) गुह्यात् (गुह्यसे) गुह्यतरम् (गुह्यतर) ज्ञानम् (ज्ञान) मया (मेरे द्वारा) ते (तुम्हें) आख्यातम् (कहा गया) एतत् (इस गुह्यतर ज्ञानकी) अशेषेण विमृश्य (भलीभाँति आलोचनाकर) यथा (जिस प्रकार) इच्छसि (इच्छा करते हो) तथा कुरु (उसी प्रकार करो)।।६३।।

अनुवाद—इस प्रकार मेरे द्वारा तुम्हें गुह्यतर ज्ञान कहा गया। इस गुह्यतर ज्ञानकी भलीभाँति आलोचनाकर तुम्हारी जैसी इच्छा हो वैसा करो।।६३।।

श्रीविश्वनाथ—सर्वगीतार्थमुपसंहरति—इतीति। कर्मयोगस्याष्टाङ्गयोगस्य ज्ञानयोगस्य च 'ज्ञानं' ज्ञायतेऽनेनेति ज्ञानं ज्ञानशास्त्रं गुह्याद्गुह्यतरमित्यतिरहस्यत्वात् कैरपि वशिष्ठबादरायणनारदाद्यैरपि स्व-स्व-कृत-शास्त्रेणाप्रकाशितम्, यद्वा तेषां सार्वज्ञ्यमापेक्षिकं ममत्वात्यन्तिकमित्यतस्ते त्वेदतिगुह्यत्वान्न जानन्ति, मयाप्यतिगुह्यत्वादेव ते सर्वथैव नैतदुपदिष्टा इति भावः। एतदशेषेण निःशेषत एव विमृश्य यथा येन प्रकारेण स्वाभिरुचितं तत् कर्त्तुमिच्छसि, तथा तत् कुर्वित्यन्त्यं ज्ञानषट्कं सम्पूर्णम्। षट्कत्रिकमिदं सर्वविद्याशिरोरत्नं श्रीगीताशास्त्रं महानर्घरहस्यतम-भक्तिसम्पुटं भवति—प्रथमं 'कर्म'-षट्कं यस्याधारपिधानं कानकं भवति, अन्त्यं 'ज्ञान'-षट्क यस्योत्तरपिधानं मणिजटितं कानकं भवति, तयोर्मध्यवर्तिषट्कगता भक्तिस्त्रिजगदनर्घ्या श्रीकृष्णवशीकारिणी महामणिमतल्लिका विराजते, यस्याः परिचारिका तदुत्तरपिधानार्द्धगता *'मन्मना भव'* इत्यादि पद्यद्वयी चतुःषष्ट्यक्षरा शुद्धा भवतीति बुध्यते।।६३।।

भावानुवाद—समग्र गीताका समापन करते हुए श्रीभगवान् कह रहे हैं—'इति' इत्यादि। कर्मयोग, अष्टाङ्गयोग एवं ज्ञानयोगका ज्ञान इसके द्वारा जाना जाता है अर्थात् ज्ञानशास्त्र गुह्यसे भी गुह्यतर है। अतिरहस्ययुक्त होनेके कारण वशिष्ठ, वेदव्यास, नारद आदि किसीने स्वरचित शास्त्रोंमें इसे प्रकाशित नहीं किया है। अथवा, उनकी सर्वज्ञता आपेक्षिक है, किन्तु मेरी सर्वज्ञता आत्यन्तिक है। अतिगुह्य होनेके कारण वे लोग इस तत्त्वको ठीक प्रकारसे नहीं जानते हैं। अतिगुह्य होनेके कारण मैं भी उन्हें इन तत्त्वोंका उपदेश नहीं देता हूँ। इस ज्ञानके उपदेशका निःशेष भावसे विचारकर अपनी अभिरुचिके अनुसार जिस प्रकार भी उसके अनुष्ठानकी इच्छा हो, वही करो। इस प्रकार अन्तिम षट्क (छः अध्याय) पूर्ण हुआ। सभी

विद्याओंके शिरोमणिस्वरूप तीन षट्कोंवाला अर्थात् अठारह अध्यायोंवाला यह गीताशास्त्र महामूल्य रत्नश्रेष्ठ रहस्यतम भक्तिकी मञ्जूषाके समान है। प्रथम 'कर्म-षट्क' इस मञ्जूषाका आधार-पिधान अर्थात् स्वर्णमय तलरूप आवरण है। अन्तिम 'ज्ञान-षट्क' इस पेटिकाका उद्ध्र्व-पिधानस्वरूप मणिजड़ित आवरण है। इन दोनोंके बीचके षट्कमें स्थित भक्ति तीनों जगतोंकी अनमोल सम्पत्ति है। श्रीकृष्णको वशीभूत करनेमें समर्था यह भक्ति मञ्जूषाके बीचमें प्रशस्त महामणिके समान विराजमान है। चौंसठ अक्षरयुक्त परवर्ती 'मन्मनाभव' इत्यादि दो श्लोकोंको मञ्जूषाके उपरी आवरणमें शुद्धा परिचारिकाके रूपमें बताया जा रहा है।।६३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वर्त्तमान श्लोकमें भगवान् इस गीता शास्त्रका उपसंहार कर रहे हैं। उपसंहारमें यह बता रहे हैं कि पूर्वकथित ब्रह्म-ज्ञान गुह्य है, परमात्म-ज्ञान गुह्यतर है और भगवत्-ज्ञान गुह्यतम है। इसे स्पष्ट रूपसे अगले श्लोकमें कहेंगें। व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्ण ही अद्वयज्ञानस्वरूप परतत्त्वकी चरम सीमा हैं, उनके तीन प्रकारके प्रकाश हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। श्रीमद्भागवतमें देखा जाता है—

'वदन्ति तत्तत्त्वविदस्तत्त्वं यज्ज्ञानमद्वयम्।
ब्रह्मेति परमात्मेति भगवानिति शब्दते।।'

(श्रीमद्भा. १/२/११)

अर्थात्, तत्त्वविद् पुरुष अद्वयज्ञानको तत्त्व कहते हैं; चिन्मात्र ब्रह्म ही उस तत्त्वकी प्रथम प्रतीति है; चित्-विस्ताररूप परमात्मा ही उस तत्त्वकी द्वितीय प्रतीति है। चित्-विलासरूप भगवान् उस तत्त्वकी तृतीय प्रतीति हैं। तीन अवस्थामें तीन नाम हुए हैं।

अद्वयज्ञान-परतत्त्व व्रजेन्द्रनन्दन श्रीकृष्णकी तीन प्रकारकी प्रतीतियाँ हैं—ब्रह्म, परमात्मा और भगवान्। इन तीन प्रतीतियोंमें से ब्रह्म-प्रतीति परतत्त्वका केवल चित्-अंशका विकृत प्रतिफलन और अङ्गकान्ति है, इसे असम्यक् प्रतीति कहा जा सकता है। परमात्म-प्रतीति आंशिक अर्थात् सत् और चित्की आंशिक प्रतीति है और भगवत्-प्रतीति परतत्त्वकी सत्-चित्-आनन्दरूप पूर्ण प्रतीति है। यहाँ ब्रह्म-ज्ञानको गुह्य, परमात्म-ज्ञानको गुह्यतर और भगवत्-ज्ञानको गुह्यतम कहा गया है। इस गुह्यतम भगवत्-ज्ञानके भी तीन विभाग हैं। इन विभागोंमें श्रीकृष्ण द्वारकामें पूर्ण, मथुरामें पूर्णतर, वृन्दावन या गोकुलमें पूर्णतम हैं। श्रीकृष्णके द्वारका लीलारसके सङ्गी अर्जुनके साथ इनके पूर्णस्वरूपका ही परिचय है।

गीतामें अठारह अध्याय हैं। इनको तीन भागोंमें विभक्त किया गया है। एक-एक विभागमें छः-छः अध्याय हैं। प्रथम छः अध्यायोंमें निष्काम भगवदर्पित-कर्मयोगका वर्णन है, द्वितीयमें भक्तियोगका और तृतीय छः अध्यायोंमें ज्ञानयोगका वर्णन है। ज्ञानयोग अन्तमें होनेके कारण उसीको सर्वश्रेष्ठ माना लेना उचित नहीं है, बल्कि इसका गूढ़ तात्पर्य यह है कि कर्मयोग और ज्ञानयोगके बीचों-बीच अवस्थित भक्तियोग कर्म और ज्ञान दोनों योगोंको अपना बल प्रदानकर फल देनेके योग्य बनाता है, अन्यथा भक्तिके आश्रयके बिना कर्म और ज्ञान दोनों ही योग निरर्थक हैं। इस प्रकार गीता एक पिटारीके समान है, जिसका निचला पेंदा कर्मयोग है तथा ऊपरी ढक्कन ज्ञानयोग है। बीचमें भक्तिदेवी महामणिस्वरूपा सम्पत्तिके रूपमें अवस्थित हैं।

इस प्रकार हम देखते हैं कि साधारण लोग भी यह समझ सकते हैं कि प्रथम छः अध्याय गुह्य, अन्तिम छः अध्याय गुह्यतर और बीचके छः अध्याय गुह्यतम है।

"इससे पहले तुम्हें जो 'ब्रह्म-ज्ञान' बताया वह गुह्य है। अभी जिस 'परमात्म-ज्ञान' को बताया वह गुह्यतर है। सम्पूर्णरूपसे विचारकर तुम्हारी जो इच्छा हो, वही करो। तात्पर्य यह कि यदि निष्काम कर्मयोग द्वारा ज्ञानका आश्रयकर ब्रह्म एवं क्रमानुसार मेरी निर्गुणा भक्ति प्राप्त करनेकी वासना करो, तो निष्काम कर्मरूप युद्ध करो। और यदि परमात्माके शरणागत होओ, तो ईश्वर प्रेरित अपने क्षत्रिय स्वभावसे उत्पन्न प्रवृत्तिके साथ ईश्वरको कर्मका अर्पण करते हुए युद्ध करो। तभी मेरे अवताररूप ईश्वर क्रमशः तुम्हें निर्गुणा भक्ति प्रदान करेंगे। जैसा भी सिद्धान्त क्यों न करो, युद्ध ही तुम्हारे लिए श्रेय है।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।६३।।

सर्वगुह्यतमं भूयः शृणु मे परमं वचः।
इष्टोऽसि मे दृढमिति ततो वक्ष्यामि ते हितम्।।६४।।

अन्वय—सर्वगुह्यतमम् (सबकी अपेक्षा अत्यन्त गोपनीय) मे परमम् वचः (मेरा परम वाक्य) भूयः शृणु (पुनः श्रवण करो) [त्वम्—तुम] मे दृढम् इष्टः अपि (मेरे अत्यन्त प्रिय हो) ततः (अतएव) इति (ऐसा जानकर) ते हितम् (तुम्हारे हितको) वक्ष्यामि (कहूँगा)।।६४।।

अनुवाद—सबकी अपेक्षा अत्यन्त गोपनीय मेरा परम वाक्य पुनः श्रवण करो। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, अतएव ऐसा जानकर तुम्हारे हितके लिए कहूँगा।।६४।।

श्रीविश्वनाथ—ततश्चातिगम्भीरार्थं गीताशास्त्रं पर्यालोचयितुं प्रवर्त्तमानं तूष्णीम्भूयैव स्थितं स्व-प्रियसखमर्जुनमालक्ष्य कृपाद्रवच्चित्त-नवनीतो भगवान् 'भोः प्रियवयस्य अर्जुन! सर्वशास्त्रसारमहमेव श्लोकाष्टकेन ब्रवीमि, अलं ते तत्तत्-पर्यालोचनक्लेशेनेत्याह—सर्वेति। भूय इति राजविद्या राजगुह्याध्यायान्ते पूर्वमुक्तम्। *"मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु। मामेवैष्यसि युक्त्वैवमात्मानं मत्परायणः।।"* इति यत्तदेव वचः परमं सर्वशास्त्रार्थसारस्य गीतशास्त्रस्यापि सारं गुह्यतममिति—नातः परं किञ्चन गुह्यमस्ति क्वचित् कुतश्चित् कथमप्यखण्डमिति भावः। पुनः कथने हेतुमाह—इष्टोऽसि दृढ़मतिशयेन एव प्रियो मे सखा भवसीति। तत एव हेतोर्हितं ते इति सखायं विनातिरहस्यं न कमपि कश्चिदपि ब्रूते इति भावः। 'दृढमतिः' इति च पाठः।।६४।।

भावानुवाद—उसके बाद अतिगम्भीर अर्थसे परिपूर्ण गीताशास्त्रकी पर्यालोचना करनेमें प्रवृत्त अपने प्रिय सखा अर्जुनको निस्तब्ध देखकर नवनीतके समान चित्तवाले श्रीकृष्णका चित्त द्रवीभूत हो गया और वे कहने लगे—"हे प्रिय मित्र अर्जुन! मैं ही आठ श्लोकोंमें सभी शास्त्रोंका सार बता रहा हूँ। यदि प्रश्न हो कि आप पर्यालोचनाके लिए और कष्ट क्यों करेंगे, तो इसके उत्तरमें कहते है—'सर्व' इत्यादि। मैं भूयः अर्थात् पुनः 'मन्मना भव' इत्यादि श्लोकोंमें राजविद्या-राजगुह्य-अध्यायका सार बता रहा हूँ। यह वचन ही 'परमम्' है अर्थात् गीताशास्त्र, जो कि सभी शास्त्रोंका सार है, उसका भी सार है। 'गुह्यतमम्'—इन वचनोंसे अधिक गुह्य कुछ नहीं है, कहीं नहीं है और कहीं किसी प्रकारसे हो भी नहीं सकता, यह अखण्ड है। इन वचनोंको पुनः कहनेका कारण यह है कि तुम मेरे अतिप्रिय सखा हो, इसीलिए तुम्हारे मङ्गलके लिए मैं इसे कहूँगा। क्यों नहीं, क्योंकि कोई भी व्यक्ति अपने प्रिय सखाके अतिरिक्त अन्य किसीको अतिरहस्यपूर्ण बात नहीं कहता।" कहीं कहीं 'दृढमतिः' पाठ भी देखा जाता है।।६४।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीगीताशास्त्रको उपनिषद् कहा गया है। यह वेदों और उपनिषदोंका सार है। भगवान् या भक्तोंकी कृपाके अतिरिक्त अपनी बुद्धिके बलपर अथवा भगवत्-स्वरूपको मायिक, निःशक्तिक

माननेवाले कर्मी, ज्ञानी या अभक्तोंके द्वारा इसके गूढ़तम उपदेशको समझना असम्भव है। कृष्णके ऐकान्तिक शरणागत शुद्ध भक्त ही भगवत्-कृपासे उक्त गूढ़तम रहस्यसे अवगत हो सकते हैं। इस रहस्यको बतानेके लिए ही इस श्लोककी अवतारणाकी गई है। अर्जुन श्रीकृष्णके ऐकान्तिक शरणागत एवं अत्यन्त प्रिय हैं। इसलिए अर्जुन इस गुह्यतम उपदेशको सुननेके उपयुक्त पात्र हैं। इसी प्रकार जो कृष्णके एकान्त शरणागत हैं, कृष्णको सच्चिदानन्द परब्रह्म जानकर निःसंशय और निर्विवाद रूपमें उनके आदेश-निर्देशका पालन करनेमें तत्पर रहते हैं, ऐसे एकान्तिक कृष्णभक्त ही गीताके गुह्यतम उपदेशको समझ सकते हैं, दूसरे नहीं।

"तुम्हें 'गुह्य ब्रह्म-ज्ञान' और 'गुह्यतर ईश्वर-ज्ञान' कहा। अभी 'गुह्यतम 'भगवत्-ज्ञान' का उपदेश दे रहा हूँ, श्रवण करो। इस गीताशास्त्रमें मैंने जितने भी उपदेश दिए हैं, उन सबकी अपेक्षा यह श्रेष्ठ है। तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, अतएव तुम्हारे हितके लिए मैं कह रहा हूँ।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।६४।।

मन्मना भव मद्भक्तो मद्याजी मां नमस्कुरु।
मामेवैष्यसि सत्यं ते प्रतिजाने प्रियोऽसि मे।।६५।।

अन्वय—मन्मनाः (मद्गत चित्त) [होओ] मद्भक्तः (मेरे नाम-रूपादिके श्रवण-कीर्त्तनादि परायण) [होओ] मद्याजी (मेरी पूजा करनेवाला) भव (होओ) माम् नमस्कुरु (मुझे नमस्कार करो) [तदा—तब] माम् एव एष्यसि (मुझे ही पाओगे) ते (तुम्हें) सत्यम् (सत्य ही) प्रतिजाने (प्रतिज्ञा करता हूँ) [यतः त्वम्—क्योंकि तुम] मे (मेरे) प्रियः असि (प्रिय हो)।।६५।।

अनुवाद—तुम मुझे चित्त समर्पण करो, मेरे नाम-रूप लीला आदिके श्रवण-कीर्त्तन आदि परायण होकर मेरे भक्त होओ, मेरी पूजा करनेवाला होओ और मुझे नमस्कार करो। इस प्रकार तुम मुझे ही प्राप्त करोगे। मैं तुम्हें यह सत्य प्रतिज्ञा करता हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो।।६५।।

श्रीविश्वनाथ—"मन्मना भव" इति मद्भक्तः सन्नेव मां चिन्तय, न तु ज्ञानी योगी वा भूत्वा मद्ध्यानं कुर्वित्यर्थः; यद्वा मन्मना मह्यं श्यामसुन्दराय सुस्निग्धाकुञ्चितकुन्तलकाय सुन्दरभ्रूवल्लि-मधुरकृपाकटाक्षामृतवर्षिवदनचन्द्राय स्वीयं देयत्वेन मनो यस्य तथाभूतो भव अथवा श्रोत्रादीन्द्रियाणि देहीत्याह—मद्भक्तो भव, श्रवणकीर्त्तन-मन्मूर्त्तिदर्शन-मन्मन्दिरमार्जन-लेपन-पुष्पाहरण-मन्मालालङ्कारच्छत्रचामरादिभिः सर्वेन्द्रियकरणकं मद्भजनं

कुरु, अथवा मह्यं गन्धपुष्पधूपदीपनैवेद्यादीनि देहीत्याह—'मद्याजी भव' मत्पूजनं कुरु, अथवा मह्यं नमस्कारमात्रं देहीत्याह—'मां नमस्कुरु' भूमौ निपत्याष्टाङ्गं पञ्चाङ्गं वा प्रणामं कुरू। एषां चतुर्णां मच्चिन्तनसेवनपूजनप्रणामानां समुच्चयमेकतरं वा त्वं कुरु। मामेवैष्यसि प्राप्स्यसि, मनःप्रदानं श्रोत्रादीन्द्रियप्रदानं गन्धपुष्पादिप्रदानं वा त्वं कुरु। तुभ्यमहमात्मानमेव दास्यामीति सत्यं, ते तवैष, नात्र संशयिष्ठा इति भावः,-*"सत्यं शपथतथ्ययोः"* इत्यमरः। ननु माथुरदेशोद्भूता लोकाः प्रतिवाक्यमेव शपथं कुर्वन्ति, सत्यम्, तर्हि प्रतिजाने प्रतिज्ञां कृत्वा ब्रवीमि—त्वं मे प्रियोऽसि, न हि प्रियं कोऽपि वञ्चयतीति भावः।।६५।।

भावानुवाद—'मन्मना भव'—मेरा भक्त होकर ही तुम मेरी चिन्ता करो, ज्ञानी या योगी होकर मेरा ध्यान नहीं करना। अथवा, 'मन्मना भव'—श्यामसुन्दर, सुस्निग्ध घुंघराले लट, सुन्दर भ्रूलताविशिष्ट, मधुर कृपाकटाक्ष वर्षणकारी मुखचन्द्रविशिष्ट मुझे जिसने अपना मन आत्मसमर्पण कर दिया है, वैसा होओ। अथवा, कर्ण, नेत्र आदि इन्द्रियोंको मुझे अर्पण करो अर्थात् श्रवण, कीर्त्तन, मेरी श्रीमूर्त्तिके दर्शन, मेरे मन्दिर मार्जन, लेपन, पुष्प चयन, माला, अलङ्कार, छत्र, चामर आदि द्वारा सभी इन्द्रियोंको मेरी सेवामें नियोजितकर मेरा भजन करो। अथवा, गन्ध, पुष्प, धूप, दीप, नैवेद्य आदि मुझे अर्पित करो अर्थात् मेरी पूजा करो। अथवा, भूमिपर निपतित होकर अष्टाङ्ग या पञ्चाङ्ग प्रणाम मात्र करो। अथवा, मेरी चिन्ता, सेवा, पूजा और प्रणाम—इन चारोंको एकत्र या किसी एकका अनुष्ठान करो। इस प्रकार तुम मुझे ही पाओगे । तुम अपने मनको प्रदान करो, इसके बदले मैं स्वयंको तुम्हें प्रदानकर दूँगा। यह सत्य है, तुम इस विषयमें संशय मत करो। अमरकोषके अनुसार सत्य, शपथ और तथ्य—इन तीनोंका एक ही तात्पर्य है। यदि कहो कि मथुरावासी तो बात-बातपर शपथ खाते हैं, उनका क्या भरोसा, तो इसका उत्तर यह है कि यह बात तो ठीक है, किन्तु मैं प्रतिज्ञाकर यह कह रहा हूँ, क्योंकि तुम मेरे प्रिय हो। कोई अपने प्रिय व्यक्तिकी वञ्चना नहीं करता है।।६५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—

मन्मना भव—कृष्णमें ही अपने मनको लगाना ही मन्मना भव होना है। श्रीकृष्णने स्वयं अपने मुखसे मन्मनाका आदर्श उदाहरण गोपियोंको ही स्वीकार किया है। श्रीकृष्ण उद्धवसे कह रहे हैं—

'ता मन्मनस्का मत्प्राणा मदर्थे त्यक्तदैहिकाः।
मामेव दयितं प्रेष्ठमात्मानं मनसा गताः।
ये त्यक्तलोकधर्माश्च मदर्थे तान् बिभर्म्यहम्।।
मयि ताः प्रेयसां प्रेष्ठे दूरस्थे गोकुलस्त्रियः।
स्मरन्त्योऽङ्ग विमुह्यन्ति विरहौत्कण्ठ्यविह्वलाः।।
धारयन्त्यतिकृच्छ्रेण प्रायः प्राणान् कथञ्चन।
प्रत्यागमनसंदेशैर्बल्लव्यो मे मदात्मिकाः।।'

(श्रीमद्भा. १०/४६/४-६)

अर्थात्, प्यारे उद्धव! गोपियोंका मन सदा-सर्वदा मुझमें निमग्न रहता है, मैं ही उनका प्राण तथा जीवन-सर्वस्व हूँ। मेरे लिए ही उन्होंने घर-बार, पति-पुत्र, सगे-सम्बन्धी, लोक-लज्जा, धर्म आदि सब कुछ छोड़ा है। वे नित्य-निरन्तर मुझमें ही तन्मय रहती हैं। 'मैं आऊँगा'—केवल मेरी इस बातपर विश्वासकर बड़े कष्टसे किसी प्रकार अपने प्राणोंको धारणकर मेरी प्रतीक्षा कर रही हैं।

यह 'मन्मना भव' का सर्वोत्तम उदाहरण है। यह तो कृष्णके विरहमें व्याकुल गोपियोंकी बात है, जरा पूर्वरागमें भी गोपियोंकी कृष्णके प्रति तन्मयताका प्रसङ्ग श्रवण करें—

एक दिनकी बात है। एक गोपी विवाहिता होकर नन्दगाँवमें आई थी। इस गोपीने श्रीकृष्णके नाम, उनके परम मनोहर और मधुर लीलाओंके विषयमें सुना तो था, किन्तु कभी प्रत्यक्ष देखनेका सुयोग नहीं पाया था। प्रतिदिनकी भाँति श्रीकृष्ण सखाओंके साथ वंशी-वादन करते हुए गोचारणके लिए वन जा रहे हैं, वंशी ध्वनि सुनकर व्रजके समस्त प्राणी कृष्णकी अनुपम माधुरीका दर्शन करनेके लिए उत्कण्ठित होकर राजमार्गके समीप यत्र-तत्र एकत्रित हो गए हैं, कोई अटारियों पर तो कोई वृक्ष पर चढ़ा है, कोई मार्गके समीप खड़ा है, तो कोई झरोखेसे झाँक रहा है। वह नवविवाहिता गोपी भी कृष्णके दर्शनके लिए जाना चाहती है, किन्तु उसकी सास उसे जाने नहीं दे रही है। सासने कहा, "वहाँ एक काला साँप है, जो तुम्हें डँस लेगा, अतः तुम्हारा वहाँ जाना उचित नहीं है।" उस नववधूने प्रतिवाद किया, "तुम्हारी बेटी भी तो वहाँ गई, मुझे क्यों नहीं जाने दे रही हो।" सासने उसे अनुमति नहीं दी, तथापि सासकी बात

अनसुनी कर वह नई गोपी कृष्णके दर्शनके लिए राजमार्गके समीप झाड़ीके ओटमें खड़ी हो गई। कृष्णने उस गोपीके मन की बात जान ली और एक बछड़ेकी पूँछपर हाथ रख दिया। वह बछड़ा कूदता-फाँदता उस नई गोपीके समीप आकर खड़ा हो गया। कृष्ण भी बछड़ेको पकड़नेके लिए बछड़ेके पीछे दौड़ते हुए वहीं आ गए। पल भरके लिए कृष्ण वहाँ त्रिभंग-ललित मुद्रामें खड़े हुए और अपनी वंशीसे उस गोपीकी ठोड़ीको छू-भर दिया और पुनः सखाओंके दलमें सम्मिलित हो गए। वह गोपी कृष्णकी रूप-माधुरीमें आविष्ट होकर बाह्य-ज्ञानशून्य होकर वहीं खड़ी रही। कृष्ण सखाओंके साथ वनमें प्रवेश कर गए। बहुत समय बीत गया, किन्तु तब भी वह घर नहीं आई, तो ढूँढ़ते हुए उसकी सास वहाँ आई। उसके शरीरको झकझोरते हुए सासने कहा, "वही हुआ, जिसका मुझे भय था। उस काले सर्पने तुम्हें डँस लिया।" सास उसे अपने संग घर ले आई और उसे आदेश दिया कि तुम मटकेमें रखे दहीसे छाछ निकालो। उस नववधूने दहीका मटका समझकर सरसोंके मटकेको उठा लिया, क्योंकि अब भी वह पूर्ण चेतन नहीं हुई थी। उसी सरसोंको दही समझकर वह मथने लगी। पूर्ण बाह्य-ज्ञान नहीं होनेके कारण कभी वह सरसों मथने लगती, तो कभी रुक जाती । इसलिए कभी तो कर्कश ध्वनि होती और कभी वह ध्वनि बन्द हो जाती। जब उसकी सासका ध्यान इधर आया तो उसका सरसों मथना बन्द करवा दिया। सासने उसके सिरपर एकके बाद एक पानीके तीन मटके रख दिए, हाथमें पानी भरनेके लिए रस्सी तथा गोदमें एक छोटा बच्चा दे दिया और कहा कि कुएँसे पानी भर लाओ। वह नववधू पानी भरनेके लिए कुएँपर गई और पानी भरनेके लिए घड़ेमें रस्सी बाँधने लगी, किन्तु अपनी स्वाभाविक दशामें नहीं होनेके कारण वह उस बच्चेके गलेमें रस्सी लगाने लगी। निकट ही पानी भरनेवाली अन्य गोपियोंने हाय! हाय! कहते हुए उसके हाथको पकड़ लिया। वे लोग कहने लगीं, "इसे क्या हो गया? लगता है इसे भूत लग गया।" कुछ अन्य गोपियाँ, जो जानती थीं, उन्होंने कहा, "भूत नहीं! इसे नन्दका पूत लग गया है।"—यह है 'मन्मना भव' का उदाहरण।

मद्भक्तो भव—जो गोपियोंकी भाँति कृष्णके प्रति तन्मय नहीं हो सकते, उनके लिए यहाँ 'मद्भक्तो भव' का उपदेश दिया जा रहा है। 'मद्भक्तो

भव' का तात्पर्य है—सब प्रकारसे स्वयंको भगवान्‌के चरणोंमें अर्पित कर देना। भक्त होकर किस प्रकार निरन्तर उनकी सेवाकी जा सकती है, इसके विषयमें प्रह्लाद-उपाख्यानमें कहा गया है—

'श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पाद सेवनम्।
अर्चनं वन्दनं दास्यं सख्यमात्म निवेदनम्॥
इति पुंसार्पिता विष्णौ भक्तिश्चेन्नव लक्षणा।
क्रियते भगवत्यद्धा तन्मन्येऽधीतमुत्तमम्॥'

(श्रीमद्भा. ७/५/२३-२४)

अर्थात्, प्रह्लाद महाराजने कहा—हे पिते! नौ प्रकारसे भगवान् श्रीविष्णुकी भक्ति की जाती है, ये हैं—उनके नाम-रूप-गुण-लीला इत्यादिका श्रवण, कीर्त्तन, स्मरण, उनके श्रीचरणोंकी सेवा, अर्चन, वन्दन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन। यदि भगवान्‌के प्रति समर्पण भावसे ये नौ प्रकारकी भक्ति की जायँ, तो मैं उसीको उत्तम अध्ययन समझता हूँ।

महाराज अम्बरीष इसके ज्वलन्त उदाहरण हैं। वे कृष्णके प्रति कैसी भक्ति करते थे, इसे श्रीमद्भागवतमें देखिए—

'स वै मनः कृष्ण पदारविन्दयोर्वचांसि वैकुण्ठ गुणानुवर्णने।
करौ हरेर्मन्दिरमार्जनादिषु श्रुतिं चकाराच्युतसत्कथोदये॥
मुकुन्द लिङ्गालयदर्शने दृशौ तद्भृत्यगात्रस्पर्शेऽङ्गसङ्गमम्।
घ्राणं च तत्पादसरोजसौरभे श्रीमत्तुलस्या रसनां तदर्पिते॥
पादौ हरेः क्षेत्रपदानुसर्पणे शिरो हृषीकेशपदाभिवन्दने।
कामं च दास्ये न तु कामकाम्यया यथोत्तमःश्लोकजनाश्रया रतिः॥'

(श्रीमद्भा. ९/४/१८-२०)

उन्होंने अपने मनको श्रीकृष्णचन्द्रके चरणारविन्दयुगलमें, वाणीको भगवद्गुणानुवर्णनमें, हाथोंको श्रीहरिमन्दिरके मार्जन-सेवनमें और अपने कानोंको भगवान् अच्युतकी मङ्गलमयी कथाके श्रवणमें लगा रखा था। उन्होंने अपने नेत्र मुकुन्दमूर्त्ति एवं मन्दिरोंके दर्शनमें, अङ्ग-सङ्ग भगवद्भक्तोंके शरीर-स्पर्शमें, नासिका उनके चरणकमलोंपर चढ़ी तुलसीके दिव्य गन्धमें और रसना (जिह्वा) को भगवान्‌के प्रति अर्पित नैवेद्य-प्रसादमें संलग्न कर दिया था। अम्बरीष महाराजके पैर भगवान्‌के क्षेत्र आदिकी पैदल यात्रा करनेमें ही लगे रहते और वे सिरसे भगवान् श्रीकृष्णके

चरणकमलोंकी वन्दना किया करते। राजा अम्बरीषने माला, चन्दन आदि भोग-सामग्रीको भगवान्‌की सेवामें समर्पित कर दिया था। भोगनेकी इच्छासे नहीं, बल्कि इसलिए कि इससे वह भगवत्प्रेम प्राप्त हो, जो पवित्रकीर्त्ति भगवान्‌के निजजनमें ही निवास करता है।

बिल्वमङ्गल ही इस श्रेणीके भक्तोंके उदाहरणस्वरूप हैं। इनका जन्म दक्षिण भारतमें प्रवाहिता कृष्णा-वेण्णा नदीके तटपर स्थित किसी गाँवमें हुआ था। ये वेद-वेदान्त इत्यादिके प्रकाण्ड पण्डित थे, तथापि चिन्तामणि नामक एक वेश्याके प्रति अत्यधिक आसक्त थे। एक बारकी बात है, रातका समय था, घनघोर वर्षा हो रही थी। किन्तु चिन्तामणिसे मिलनेके लिए ये इतने अधीर थे कि किसी भी बातकी परवाह न करते हुए उससे मिलने चल दिए। रास्तेमें एक नदी पड़ती थी। बाढ़के कारण उस भयानक रजनीमें उस उफनती नदीने कालका रूप धारण कर रखा था। नदी पार करनेका कोई साधन नहीं था। बिल्वमङ्गल नदीके किनारे बहते हुए एक शवको तरणी बनाकर तैरते हुए नदीसे उत्तीर्ण हुए। जब वे चिन्तामणिके यहाँ गए, तो उसका घर बन्द था। प्राचीरसे लटकते हुए सर्पको रस्सी समझकर उसीके सहारे प्राचीरके ऊपर चढ़ गए, किन्तु प्राचीरके दूसरी ओर पाँव फिसल जानेके कारण अन्दर गिरकर अचेत हो गए। गिरनेके शब्दको सुनकर सखियोंके साथ चिन्तामणि बाहर आई और विद्युतके प्रकाशमें बिल्वमङ्गलको पहचानते ही वह सारी बात समझ गई। चिन्तामणि स्वयंको धिक्कारते हुए बिल्वमङ्गलको भी खूब फटकार लगाई। उसने कहा कि तुम्हारी जितनी आसक्ति मुझमें है, यदि इतनी आसक्ति श्रीकृष्णके चरणोंमें होती, तो निश्चित ही तुम्हारा कल्याण हो गया होता। चिन्तामणिकी फटकारको सनुकर इनकी आँखें खुलीं और ये वहाँसे वृन्दावनकी ओर चल दिए।

रास्तेमें इन्हें प्यास लगी। जब ये किसी गाँवके समीपसे जा रहे थे, तो एक स्त्रीको कुएँसे पानी भरते हुए देखा। ये पानी पीनेके लिए वहाँ गए, किन्तु उस स्त्रीके रूपपर मुग्ध हो गए। उस स्त्रीके पीछे-पीछे ये उसके घर तक जा पहुँचे। स्त्रीके पतिने साधु समझकर सम्मान देते हुए इन्हें अन्दर बैठाया। बिल्वमङ्गलने उनसे स्त्रीको बुलानेका आग्रह किया। पतिके कहनेसे वह स्त्री बाहर आई। इन्होंने स्त्रीसे उनके बालोंमें लगे हुए काँटेको माँगा। स्त्रीसे काँटा पाकर बिल्वमङ्गलने काँटेको वहीं

अपनी दोनों आँखोंमें यह कहकर चुभो दिया कि आँखें ही अपने विषय अर्थात् रूपके वशीभूत होकर मुझे भ्रष्ट करती हैं, न रहेगी बाँस, न बजेगी बाँसुरी। आँखोंसे अविरल रक्त प्रवाहित होने लगा। वहाँसे नेत्रहीन होकर ये वृन्दावनके लिए पुनः चल दिए, किन्तु इनका हृदय पवित्र हो चुका था। कुछ ही दूर चलनेके बाद इनके समीप एक बालक आया। उस बालकने अत्यन्त ही मधुर आवाजमें पूछा। "बाबा! आप कहाँ जा रहे हैं।" बिल्वमङ्गलने उत्तर दिया, "मैं वृन्दावन जा रहा हूँ।" बालकने कहा, "मैं भी वृन्दावन जा रहा हूँ। आप मेरी ये लठिया पकड़ लें।" वह बालक और कोई नहीं स्वयं मुरली मनोहर श्रीकृष्ण थे।

मद्याजी—मद्याजीका तात्पर्य है—मेरा अर्चन करो। अर्चन करनेवालेकी निष्ठा कैसी होती है, इसके लिए मैं अपने अनुभवकी एक बात बताता हूँ, जो इसी मथुराकी घटना है। यद्यपि अर्चनकी निष्ठा भी साधारणतया सम्भव नहीं है, किन्तु 'मद्भक्तो भव' की निष्ठा से थोड़ा निम्नस्तरका है, इसीलिए भगवान् कहते हैं—यदि बिल्वमङ्गल जैसा मेरा भक्त नहीं बन सकते हो, तो मेरा अर्चन करो। घटना इस प्रकार है—मथुरामें एक बाबा रहते थे, जो शालग्राम शिलाका निष्ठापूर्वक अर्चन करते थे। अर्चनके विभिन्न अंगोंका उन्हें पूर्ण ज्ञान नहीं था, किन्तु जो कुछ करते, निष्ठापूर्वक करते। उन्होंने प्रतिज्ञा की थी कि प्रातः ब्रह्ममुहूर्तमें यमुना स्नानकर यमुना-जलसे ही मैं शालग्रामका अर्चन करूँगा। एक बारकी बात है, माघ महीनेकी अमावस्या थी; घनघोर अन्धकार, उसपर भी रातभर वर्षा होती रही और हवाके तेज झोंके चलते रहे। आकाशमें तारोंके न होने कारण उन्हें समयका ज्ञान नहीं हो पाया और वे ब्रह्ममुहूर्तसे भी पहले उठकर यमुना स्नानके लिए चल पड़े। यमुनाजीका पानी बर्फकी भाँति ठंडा था। ठंडके मारे उनका बुरा हाल हो रहा था, तथापि अपने नियमकी रक्षाके लिए उन्होंने यमुनाजीमें स्नान किया और ठाकुरजीके लिए जल लिया। जब वे वापस आ रहे थे, तो अन्धकार, वर्षा और शारीरिक अस्वस्थताके कारण उन्हें अत्यन्त कठिनाई हो रही थी। वे बड़े चिन्तित हुए कि मैं किस प्रकार घर जाकर ठाकुरजीकी सेवा कर पाऊँगा। इतनेमें ही उन्होंने देखा कि सामनेसे लालटेन लेकर कोई चला आ रहा है। जब वे और निकट हुए, तो देखा कि वह एक बालक है। बालकके सिरपर वर्षासे बचनेके लिए कम्बल था। बिल्कुल समीप आनेपर बालकने

पूछा, "बाबा! आप कहाँ जाएँगे?" उस व्यक्तिने अपना ठिकाना बताया, तो बालकने पुनः कहा, "मैं भी उधर ही जा रहा हूँ, आप मेरे साथ चलें, मैं आपको घर छोड़ दूँगा।" वे उस बालकके साथ चलने लगे। कब वे अपने घर पहुँच गए, उन्हें पता ही नहीं चला। जब वे घरकी ओर मुड़ने लगे, तो उन्होंने सोचा कि बालकका नाम तो पूछ लूँ। किन्तु, यह क्या! दूर-दूर तक उस बालकका पता नहीं था। वे वहीं जडवत् खड़े हो गए और सोचने लगे, "हाय! मेरे वचनकी रक्षाके लिए स्वयं छलिया इस रूपमें आया और मुझे छलकर चला गया।"

माम् नमस्कुरु—यमराजजी यमदूतोंको उपदेश दे रहे हैं—

'जिह्वा न वक्ति भगवद्गुणनामधेयं चेतश्च न स्मरति तच्चरणारविन्दम्।
कृष्णाय नो नमति यच्छिर एकदापि तानानयध्वमसतोऽकृतविष्णुकृत्यान्।।'

(श्रीमद्भा. ६/३/२९)

अर्थात्, हे दूतगण! जिसकी जिह्वा कृष्ण नामका कीर्त्तन नहीं करती है, जिसका चित्त श्रीकृष्णके पादपद्मका स्मरण नहीं करता है, जिसका मस्तक एकबार भी श्रीकृष्णको नमन नहीं करता है, ऐसे असत् लोगोंको ही मेरे पास लाओ, क्योंकि वे कुछ भी भक्तिका कार्य नहीं करते हैं।

'दशाश्वमेधि पुनरेतिजन्म कृष्ण प्रणामी न पुनर्भवाय।।'

अर्थात्, दश अश्वमेध यज्ञ करने वालेको जन्म ग्रहण करना पड़ता है, किन्तु जो कृष्णको प्रणाम करते हैं, वे पुनः जन्म नहीं ग्रहण करते।

'सकृत प्रणामी कृष्णस्य मातुस्तन्यम् पिवेन्नहि।।'

अर्थात्, जो कृष्णको प्रणाम करते हैं, उन्हें पुनः माताका स्तन-पान नहीं करना पड़ता है।

श्रीजीवगोस्वामी भक्तिसन्दर्भ (१६९) में 'नमः' शब्दकी व्याख्यामें लिखते हैं—'वन्दनम् नमस्कारम्'। श्रीअक्रूरजीने नमस्कारके द्वारा श्रीकृष्णकी भक्ति प्राप्त की थी।

स्कन्द पुराणमें नमस्कारका महात्म्य इस प्रकार कहा गया है—

'शाठ्येपि नमस्कारं कुर्वतः शार्ङ्गधन्विने।
शतजन्मार्जितं पापं तत्क्षणादेव नश्यति।।'

अर्थात् यदि कोई शठतापूर्वक भी शार्ङ्गधन्वी श्रीविष्णुको प्रणाम करे, तो उसके सौ जन्मोंके सञ्चित पाप भी तत्क्षणात् नष्ट हो जाते हैं।।६५।।

सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज।
अहं त्वां सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।।६६।।

अन्वय—सर्वधर्मान् (वर्णाश्रम आदि धर्मोंका) परित्यज्य (परित्यागकर) एकम् (एकमात्र) मम् (मेरी) शरणम् व्रज (शरण ग्रहण करो) अहम् (मैं) त्वाम् (तुम्हें) सर्वपापेभ्यः (सभी पापोंसे) मोक्षयिष्यामि (मुक्त कर दूँगा) मा शुचः (तुम शोक मत करो)।।६६।।

अनुवाद—वर्ण, आश्रम आदि समस्त शारीरिक और मानसिक धर्मोंका परित्यागकर एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो। मैं तुम्हें सभी पापोंसे मुक्त कर दूँगा, तुम शोक मत करो।।६६।।

श्रीविश्वनाथ—ननु त्वद्ध्यानादिकं यत् करोमि तत् किं स्वाश्रम-धर्मानुष्ठान-पूर्वकं वा केवलं, वा? तत्राह—'सर्वधर्मान्' वर्णाश्रमधर्मान् सर्वान् एव परित्यज्य एकं मामेव शरणं व्रज, परित्यज्य संन्यस्येति न व्याख्येयमर्जुनस्य क्षत्रियत्वेन संन्यासानधिकारान्न चार्जुनं लक्ष्यीकृत्यान्य-जनसमुदायमेवोपदिदेश भगवानिति वाच्यम्। लक्ष्यभूतमर्जुनं प्रत्युपदेशं योजयितुमौचित्ये सत्येवान्यस्याप्युपदेष्टव्यत्वं सम्भवेन्न त्वन्यथा, न च परित्यज्येत्यस्य फलत्याग एव तात्पर्यमिति व्याख्येयमस्य वाक्यस्य *"देवर्षिभूताप्तनृणां पितॄणां न किङ्करो नायमृणी च राजन्। सर्वात्मना यः शरणं शरण्यं गतो मुकुन्दं परिहृत्य कर्त्तम्।।" "मर्त्यो यदा त्यक्तसमस्तकर्मा निवेदितात्मा विचिकीर्षितो मे। तदामृतत्वं प्रतिपद्यमानो मयात्मभूयाय च कल्पते वै।।" "तावत् कर्माणि कुर्वीत न निर्विद्येत यावता। मत्कथाश्रवणादौ वा श्रद्धा यावन्न जायते।।" आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयादिष्टानपि स्वकान्। धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत् स च सत्तमः।।"* इत्यादिभिर्भगवद्वाक्यैः सहैकार्थस्यावश्यव्याख्येयत्वात्। अत्र च परि-शब्द-प्रयोगाच्च। अत एकं मां शरणं व्रज न तु धर्मज्ञानयोगदेवतान्तरादिकमित्यर्थः। पूर्वं हि मदनन्यभक्तौ सर्वश्रेष्ठायां तवाधिकारो नास्तीत्यतस्त्वं *'यत् करोषि यदश्नासि'* इत्यादि ब्रुवाणेन मया कर्ममिश्रायां भक्तौ तवाधिकार उक्तः। सम्प्रति त्वतिकृपयातुभ्यमनन्य-भक्तावेवाधिकार; तस्याः अनन्यभक्तेः यादृच्छिकमदैकान्तिक-भक्तकृपैकलभ्यत्व-लक्षणं नियमं स्वकृतमपि भीष्मयुद्धे स्वप्रतिज्ञामिवापनीयं इति भावः। न च मदाज्ञया नित्यनैमित्तिककर्मत्यागे तव प्रत्यवायशङ्का सम्भवेत्। वेदरूपेण मयैव नित्यकर्मानुष्ठानमादिष्टमधुना तु स्वरूपेणैव तत्त्याग आदिश्यते इत्यतः कथं ते नित्यकर्माकरणे पापानि सम्भवन्तु? प्रत्युतातःपरं नित्यकर्मणि कृते

एव पापानि भविष्यन्ति साक्षान्मदाज्ञा- लङ्घनादित्यवधेयम्। ननु यो हि यच्छरणो भवति, सः हि मूल्यक्रीतः पशुरिव तदधीनः, स तं यत् कारयति, तदेव करोति, यत्र स्थापयति, तत्रैव तिष्ठति, यद्भोजयति तदेव भुङ्क्ते इति शरणापत्तिलक्षणस्य धर्मस्य तत्त्वम्, यदुक्तं वायुपुराणे-*"आनुकूल्यस्य सङ्कल्पं प्रातिकूल्यस्य वर्जनम्। रक्षिष्यतीति विश्वासो भर्त्तृत्वे* ("गोप्तृत्वे" इति पाठो वा) *वरणं तथा। निःक्षेपणमकार्पण्यं षडविधा शरणागतिः।।"* इति। भक्तिशास्त्रविहिता स्वाभीष्टदेवाय रोचमाना प्रवृत्तिरानुकूल्यं, तद्विपरीतं प्रातिकूल्यम्, 'भर्त्तृत्वे' (गोप्तृत्वे) इति—स एव मम रक्षको, नान्य इति यः 'रक्षिष्यतीति' स्वरक्षणप्रातिकूल्यवस्तुषूपस्थितेष्वपि स मां रक्षिष्यत्येवेति द्रौपदीगजेन्द्रादीनामिव विश्वासः, 'निःक्षेपणं' स्वीयस्थूलसूक्ष्मदेहसहितस्य एव स्वस्य श्रीकृष्णार्थ एव विनियोगः, 'अकार्पण्यं' नान्यत्र क्वापि स्वदैन्यज्ञापनमिति षण्णां वस्तूनां विधात्र्यनुष्ठानं यस्यां सा शरणागतिरिति। तदद्यारभ्य यद्यहं त्वां शरणं गत एव वर्त्ते, तर्हि त्वदुक्तं भद्रमभद्रं वा यद्भवेत्तदेव मम कर्त्तव्यम्। तत्र यदि त्वं मां धर्ममेव कारयसि, तदा न काचिच्चिन्ता। यदि त्वीश्वरत्वात् स्वैराचारस्त्वं मामधर्ममेव कारयसि, तदा का गतिस्तत्राह—अहमिति। प्राचीनार्वाचीनानि यावन्ति वर्त्तन्ते, यावन्ति वाहं कारयिष्यामि, तेभ्यः सर्वेभ्य एव पापेभ्यो मोक्षयिष्यामि—नाहमन्यः शरण्य इव तत्रासमर्थ इति भावः। त्वामालम्बैव शास्त्रमिदं लोकमात्रमेवोपदिष्टवानस्मि। मा शुचः—स्वार्थं परार्थं वा शोकं माकार्षीः—युष्मदादिकः सर्व एव लोकः स्वपरधर्मान् सर्वान् एव परित्यज्य मच्चिन्तनादिपरो मां शरणमापद्य सुखेनैव वर्त्ततां, तस्य पापमोचनभारः संसारमोचनभारो मत्प्रापणभारः, मया प्रतिज्ञायैवाङ्गीकृतः। किं बहुना, देहव्यवहारभारोऽपि मयाङ्गीकृत एव, यदुक्तम्—*"अनन्याश्चिन्तयन्तो मां ये जनाः पर्युपासते। तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्।।"* इति। हन्त! एतावान् भारो मया स्व-प्रभौ निक्षिप्तः इत्यपि शोकं माकार्षीर्भक्तवत्सलस्य सत्यसङ्कल्पस्य मम न तत्रायासलेशोऽपीति नातः परमधिकमुपदेष्टव्यमस्तीति शास्त्रं समाप्तीकृतम्।।६६।।

भावानुवाद—यदि प्रश्न हो कि आपके ध्यानादि जिन जिन कर्मोंका अनुष्ठान करूँगा, उन्हें क्या अपने आश्रम-धर्मानुष्ठानके साथ करूँगा या किसी धर्मकी अपेक्षा नहीं कर केवल ध्यान आदि कर्मोंका आचरण करूँगा, तो इसके उत्तरमें कहते है—'सर्वधर्मान्' अर्थात् सभी प्रकारके वर्णाश्रम धर्मोंका परित्यागकर एकमात्र मेरी ही शरण ग्रहण करो। 'परित्यज्य' शब्दकी

व्याख्या 'संन्यास करना' उचित नहीं है, क्योंकि क्षत्रिय होनेके कारण अर्जुनका संन्यास अधिकार नहीं है। तथा, यह कहना भी अनुचित है कि अर्जुनको लक्ष्यकर भगवान् अन्य सभी लोगोंको ऐसा उपदेश दे रहे हैं। लक्ष्यभूत अर्जुनके प्रति उपदेशका औचित्य होनेसे दूसरोंके प्रति भी इसी उपदेशका आरोप करना असम्भव (उचित नहीं) है। 'परित्यज्य' शब्दका अर्थ 'फलत्याग करना' भी उचित नहीं हैं। "जो समस्त आत्माके साथ, कर्त्तापनका अभिमान त्यागकर शरणीय मुकुन्दकी शरण ग्रहण करते हैं, वे देवता, ऋषि, भूत (जीव) आत्मीय लोग तथा पितरोंके ऋणसे मुक्त होते हैं।" (श्रीमद्भा. ११/५/४१) "मनुष्य जब समस्त कर्मोंका परित्यागकर मुझे आत्मसमर्पण करते हैं, तब वे मेरी इच्छासे योगी, ज्ञानीकी अपेक्षा अधिक सम्पन्न होते हैं, अनन्तर अमृतत्व (मुक्ति) लाभकर मेरे साथ समान ऐश्वर्य लाभ करनेके उपयुक्त होते हैं।" (श्रीमद्भा. ११/२९/३४) "जब तक विषयसे वैराग्य न हो और मेरी कथामें श्रद्धा उत्पन्न नहीं हो, तभी तक नित्य-नैमित्तिक कर्मका आचरण करना चाहिए।" (श्रीमद्भा. ११/२०/९) "वेदशास्त्रमें मेरे द्वारा उपदिष्ट स्वधर्मके अनुष्ठानमें गुण एवं दोषसमूहको जानकर सभी धर्मोंका परित्यागकर जो मेरी सेवा करते हैं, वे उत्तम साधुओंमें परिगणित हैं।" (श्रीमद्भा. ११/११/३२) ज्ञानकी इन उक्तियोंके साथ सामञ्जस्य रखकर व्याख्या करना निश्चय ही आवश्यक है। यहाँ जो 'परि' शब्द प्रयुक्त हुआ है, उसके द्वारा यह सूचित होता है कि केवल फलत्यागको लक्ष्य नहीं किया जा रहा है। अतएव एकमात्र मेरी शरण ग्रहण करो, धर्म-ज्ञान-योग या अन्य देवता आदिकी शरण मत ग्रहण करो—पहले यह व्यक्त हुआ है, इसीलिए *'यत्करोषि यदश्नासि'* (गीता ९/२६) इत्यादि वाक्योंके द्वारा मैंने तुम्हें कर्ममिश्रा भक्तिका अधिकारी बताया है। किन्तु, अभी अत्यन्त कृपापूर्वक तुम्हें अनन्या भक्तिमें अधिकार दिया गया है। यह अनन्या भक्ति सौभाग्यवश एकमात्र मेरे ऐकान्तिक भक्तकी कृपा द्वारा ही प्राप्य है। ऐसे लक्षणयुक्त मेरी जो प्रतिज्ञा है, उसका उल्लंघन करते हुए तुम्हें अनन्या भक्तिमें अधिकार दिया गया, जैसा कि भीष्मके लिए भी मैंने अपनी प्रतिज्ञा तोड़ दी। मेरी आज्ञाके अनुसार नित्य-नैमित्तिक कर्मत्याग करनेसे तुम्हें प्रत्यवायका भागी नहीं बनना होगा। मैंने ही वेदके रूपमें नित्य कर्मानुष्ठानका आदेश दिया है। अभी स्वयं ही उसे त्यागनेका आदेश दे रहा हूँ। अतएव नित्य कर्मके

त्यागसे भी तुम्हें पाप होनेकी सम्भावना ही कहाँ है? प्रत्युत मेरे आदेशके बाद भी नित्य कर्मका अनुष्ठान करनेसे ही साक्षात् मेरी आज्ञाका उल्लंघन करनेके कारण तुम्हें पापका भागी होना पड़ेगा, इससे अवहित होओ। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति किसीके शरणागत होता है, तो मूल्य द्वारा बिके हुए पशुकी भाँति उसीके अधीन रहता है; वे प्रभु उनसे जो करवाते हैं, वह वही करता है, जहाँ जिस स्थानमें रखते हैं, वह उसी स्थानमें रहता है; जो कुछ खाने देते हैं, वह वही भोजन करता है—यही शरणग्रहण-लक्षण-धर्मका तत्त्व है। वायु पुराणमें कहा गया है कि अनुकूल भावका सङ्कल्प, प्रतिकूल भावका वर्जन, भगवान् मेरी रक्षा करेंगे—ऐसा दृढ़ विश्वास, पालकके रूपमें उनका वरण आत्मनिवेदन और अकार्पण्य—ये छः प्रकारकी शरणागति हैं। भक्तिशास्त्रमें प्रतिपादित स्वकीय अभीष्ट देवताके प्रति रोचमाना प्रवृत्ति ही 'आनुकूल्य' है, इसके विपरीत 'प्रातिकूल्य' है, वे ही मेरे रक्षक हैं, उनके अतिरिक्त मेरा कोई नहीं हैं—ऐसा भाव होनेसे ही भर्त्तृत्वके रूपमें उन्हें वरण करना होता है; मेरी रक्षाके प्रतिकूल वस्तुके उपस्थित होनेपर वे ही मेरी रक्षा करेंगे—गजेन्द्र, द्रौपदी आदिके समान ऐसा विश्वास होना ही 'रक्षिष्यति' का तात्पर्य है। अपने स्थूल और सूक्ष्म देहके साथ स्वयंको भी श्रीकृष्णके उद्देश्यसे विनियोग करना ही 'निक्षेपण' है। अन्य कहीं भी अपना दैन्य नहीं ज्ञापन करना ही 'अकार्पण्य' है। जिसमें इन छः प्रकारका अनुष्ठान भगवान्‌के उद्देश्यसे किया जाता है, वही शरणागति है। "अतएव आजसे ही आरम्भकर यदि मैं आपके ही शरणागत होऊँ तो आपके द्वारा कथित मङ्गल ही हो अथवा अमङ्गल ही हो, जो भी हो, शरणागति ही मेरा कर्त्तव्य है। इसमें यदि आप केवल धर्म ही करावें, तब तो चिन्ताका कोई कारण नहीं है। किन्तु, यदि निरंकुश ईश्वर होनेके कारण आप मुझे अधर्ममें प्रवृत्त करें, तो मेरी क्या गति होगी?"—अर्जुनके इस संशयके उत्तरमें भगवान् कहते हैं—"तुम्हारे जो प्राचीन एवं अर्वाचीन अनुष्ठित सारे पाप सञ्चित हैं अथवा मैं जो पाप कराऊँगा, उन समस्त पापोंसे मैं तुम्हें मुक्त कर दूँगा। अन्य आश्रयकी भाँति मैं पापमोचनमें असमर्थ नहीं हूँ। तुम्हें उपलक्ष्यकर मैं लोकमात्रको यह शास्त्रोपदेश प्रदान कर रहा हूँ। 'मा शुचः'—तुम अपने लिए अथवा दूसरेके लिए शोक मत करो। तुम्हारे जैसा जो कोई भी व्यक्ति मेरे चिन्तापरायण होकर सब प्रकारसे 'स्व' और 'परधर्म'-समूहका परित्यागकर मेरे शरणागत

होकर सुखपूर्वक अवस्थान करे, उसके पापमोचनका भार, संसारमोचनका भार एवं मुझे प्राप्त करनेके उपायका भार अङ्गीकार करनेके लिए मैं प्रतिज्ञाबद्ध हुआ हूँ। और अधिक क्या कहूँ, उसके देहयात्रा-निर्वाहका भार भी ग्रहण करनके लिए मैं तैयार हुआ हूँ, क्योंकि मैंने पहले ही कहा है—*'अनन्याश्चिन्तयन्तो माम्'* (गीता ९/२२) इत्यादि। "ओह! मैंने इतना गुरुतर भार अपने प्रभुके उपर अर्पण किया है।"—ऐसा सोचकर शोक मत करो। ऐसा भार ग्रहण करनेसे भक्तवत्सल और सत्यसङ्कल्प मेरे लिए जरा भी परिश्रमकी सम्भावना नहीं है। इसके बाद और अधिक उपदेश देनेकी आवश्यकता नहीं है, अतएव यह शास्त्र यहीं समाप्त हुआ।।६६।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीकृष्ण पिछले श्लोकमें वर्णित गीताके सर्वगुह्यतम् शुद्धा भक्तिका उपदेश देकर इस श्लोकमें यह बता रहे हैं कि ऐसे शुद्धाभक्तिका पात्र होनेके लिए सर्वप्रथम श्रीभगवान्‌का ऐकान्तिक शरणागत होना आवश्यक है। यहाँ 'सर्वधर्म' का तात्पर्य वर्णाश्रम धर्म आदि, कर्म, ज्ञान, योग आदि, दूसरे देवताओंकी उपासना या पूजा और कृष्णके भजनके अतिरिक्त अन्य शारीरिक और मानसिक धर्मोंसे है। 'परित्यज्य' शब्दके द्वारा केवल कर्मोंमें आसक्ति और कर्मफलका त्याग समझना उचित नहीं है, बल्कि स्वरूपतः उन कर्मोंका परित्याग ही यहाँ भगवान्‌को अभीष्ट है, 'परि' उपसर्गका यह गूढ़ तात्पर्य है। श्रीकृष्णके अनन्य शरणागत होनेके लिए अन्यान्य उपरोक्त धर्मोंका परित्याग करनेसे पाप और प्रत्यवाय होनेकी सम्भावना हो सकती है—साधारण श्रद्धालु लोगोंके हृदयकी इस आशंकाको दूर करनेके लिए ही श्रीकृष्णने *'सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः'* के द्वारा उन्हें अभय प्रदान किया है—"शोक मत करो मैं तुम्हें सब प्रकारके पापोंसे अवश्य ही मुक्त कर दूँगा।"

'एत सब छाड़ि आर वर्णाश्रमधर्म।
अकिञ्चन हईया लय कष्णैक शरण।।'

(चै. च. म. २२/९०)

अर्थात्, भक्तिहीन मायावादी, कर्मी, योगी, विषयी, स्त्रीसङ्गी, स्त्रीसङ्गी-सङ्गी आदि असत्सङ्गका परित्यागकर, यहाँ तक कि वर्णाश्रम धर्मका भी परित्यागकर दीन-हीन अकिञ्चन होकर कृष्णकी ऐकान्तिकी शरण ग्रहण करनी चाहिए। ऐसा हुए बिना पूर्व श्लोकमें कथित भावोंको नहीं ग्रहण किया जा सकता है। किन्तु, जब तक देहमें आत्मबुद्धि रहती

है, तब तक धर्मत्याग हेतु पापका भय लगा रहता है। इसलिए भगवान्‌को यह प्रतिज्ञा करनी पड़ती है कि सभी धर्मोंके परित्यागके कारण हुए पापोंसे तुम्हें मुक्त कर दूँगा। इतना कहने पर भी उन्हें पुनः आश्वासन देते हुए पुनः हाथ उठाकर यह आश्वासन या अभय दान रहे हैं कि शोक मत करो।

राय रामानन्द संवादमें 'सर्वधर्मान् परित्यज्य' को भी बाह्य बताया गया है। इसका कारण है यह कि आत्मरतिसे इसका कोई भी सम्बन्ध नहीं है। पिछले श्लोकके भावको समझनेके लिए यह प्रारम्भिक योग्यता मात्र है। जब तक कोई इस श्लोकमें प्रतिष्ठित नहीं हो जाता, उसके लिए पूर्वश्लोकका गूढ तात्पर्य समझना आकाश-कुसुमकी भाँति निरर्थक होगा। शुद्धभक्तोंमें 'मैं कृष्णदास हूँ'—ऐसा शुद्ध अहङ्कार स्वाभाविक होता है, इसलिए उनका वर्णाश्रम धर्म स्वतः छूट जाता है। उस समय स्वरूपतः त्याग होनेसे उनको किसी प्रकारका पाप या प्रत्यवाय स्पर्श नहीं करता। ऐसे भक्त उत्तम अधिकारी होते हैं—

'आज्ञायैवं गुणान् दोषान् मयाऽऽदिष्टानपिस्वकान्।
धर्मान् संत्यज्य यः सर्वान् मां भजेत स च सत्तमः।।'

(श्रीमद्भा. ११/११/३२)

"मैंने ब्रह्म-ज्ञान और ऐश्वर-ज्ञान प्राप्त करनेके लिए वर्णाश्रम आदि धर्म, यति-धर्म, वैराग्य, शम-दम आदिका धर्म, ध्यानयोग, ईश्वरकी ईशिताकी वशीभूतता आदि जितने प्रकारके धर्मोंका उपदेश दिया, उन सबका परित्यागकर एकमात्र भगवत्स्वरूप मेरी शरणापत्ति अङ्गीकार करो, ऐसा होनेपर ही मैं तुम्हें संसार-दशाके समस्त पाप तथा पूर्वोक्त धर्मत्यागके कारण जो पाप होंगे—उन सबसे उद्धार करूँगा। तुम्हें अपनेको अकृतकर्मा कहकर शोक नहीं करना चाहिए। मेरे प्रति निर्गुणा भक्तिका आचरण करनेसे जीवका सत्स्वभाव सहज ही स्वास्थ्य लाभ करता है। धर्माचरण, कर्त्तव्याचरण और प्रायश्चित्त आदि तथा ज्ञानाभ्यास, योगाभ्यास और ध्यानाभ्यास—कुछ भी आवश्यक नहीं होता है। बद्ध अवस्थामें शारीरिक, मानसिक और आध्यात्मिक समस्त कर्मोंको करो, किन्तु उन उन कर्मोंमें ब्रह्मनिष्ठा त्यागकर भगवान्‌के सौन्दर्य-माधुर्यसे आकृष्ट होकर एकमात्र भगवान्‌की शरणापत्तिका अवलम्बन करो। तात्पर्य यह है कि शरीरी जीव अपने जीवन-निर्वाहके लिए जितने भी कर्म करता है, उन सबको उक्त

तीन प्रकारकी उच्च निष्ठासे करता है। अधमनिष्ठासे अकर्म और विकर्म आदि किए जाते हैं। ये अनर्थजनक होते हैं। तीन प्रकारकी उच्च निष्ठाका नाम है—ब्रह्मनिष्ठा, ईश्वरनिष्ठा और भगवन्निष्ठा। वर्णाश्रम और वैराग्य आदि समस्त कर्म ही एक-एक प्रकारकी निष्ठाका अवलम्बनकर एक-एक भावको प्राप्त होते हैं। जब यह ब्रह्मनिष्ठाके अधीन होता है, तब कर्म और ज्ञानके भावका प्रकाश होता है। जब यह ईश्वरनिष्ठाके अधीन होता है, तब ईश्वरार्पित कर्म और ध्यानयोगादिरूप भावका उदय होता है। जब यह भगवन्निष्ठाके अधीन होता है, तब यह शुद्धा या केवला भक्तिके रूपमें परिणत हो जाता है। अतएव यह भक्ति ही सर्वगुह्यतम तत्त्व है एवं प्रेम ही जीवनका चरम प्रयोजन है—यही इस गीताशास्त्रका मुख्य तात्पर्य है। कर्मी, ज्ञानी, योगी और भक्त—इनका जीवन एक ही प्रकारका होनेपर भी निष्ठाके भेदसे ये अत्यन्त पृथक् हैं।"—श्रीभक्तिविनोद ठाकुर।।६६।

इदन्ते नातपस्काय नाभक्ताय कदाचन।
न चाशुश्रूषवे वाच्यं न च मां योऽभ्यसूयति।।६७।।

अन्वय—इदम् (यह गीता शास्त्र) ते (तुम्हें) कदाचन (कभी भी) न अतपस्काय (न तो संयमरहित व्यक्तिको) न अभक्ताय (न अभक्तको) न च अशुश्रूषवे (और सेवाविहीन व्यक्तिको) वाच्यम् (कहना चाहिए) च (तथा) यः (जो) माम् (मुझसे) अभ्यसूयति (द्वेष करता है) [तस्मै अपि—उसे भी] न [वाच्यम्] (नहीं कहना चाहिए)।।६७।।

अनुवाद—इस गीताशास्त्रको तुम कभी भी असंयमित, अभक्त, सेवाविहीन और मुझसे द्वेष करनेवालेको नहीं बताना।।६७।।

श्रीविश्वनाथ—एवं गीताशास्त्रमुपदिश्य सम्प्रदायप्रवर्त्तने नियममाह—इदमिति। अतपस्कायासंयतेन्द्रियाय—*"मनसश्चेन्द्रियाणाञ्च ऐकाग्र्यं परमं तपः"* इति स्मृतेः। संयतेन्द्रियत्वे सत्यप्यभक्ताय न वाच्यम्, संयतेन्द्रियत्वेऽपि भक्तत्वेऽपि च सति अशुश्रूषवे न वाच्यम्, संयतेन्द्रियत्वादिधर्मत्रयवत्त्वेऽपि यो मामभ्यसूयति मयि निरुपाधिपूर्णब्रह्मणि माया-सावर्ण्यदोषमारोपयति, तस्मै सर्वथैव न वाच्यम्।।६७।।

भावानुवाद—इस प्रकार गीताशास्त्रका उपदेश देकर सम्प्रदाय-प्रवर्त्तनका नियम बता रहे हैं। जिसकी इन्द्रियाँ असंयमित हैं, उसे 'अतपस्क' कहा जाता है। स्मृतिशास्त्रमें भी पाया जाता है—"मन और इन्द्रियोंकी एकाग्रता

ही परम तप है।" जितेन्द्रिय व्यक्ति भी यदि अभक्त हो, तो उसे भी यह उपदेश नहीं देना चाहिए। जितेन्द्रिय और भक्त भी यदि 'अशुश्रूषु' हो अर्थात् श्रवण करनेमें आग्रहशून्य हो, तो उसे भी इसका उपदेश नहीं देना चाहिए। जितेन्द्रिय, भक्त एवं शुश्रूषु इन तीनों गुणोंसे युक्त होनेपर भी 'यो मामभ्यसूयति'—जो निरुपाधिक पूर्णब्रह्म मुझमें मायाके साथ एकजातीयता दोष आरोप करता है, उसे तो कभी भी किसी प्रकारसे इसका उपदेश नहीं देना चाहिए।।६७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—वर्त्तमान श्लोकमें श्रीकृष्ण गीताके उपदेशको श्रवण करनेके अधिकारीका निर्णय कर रहे हैं। श्रीकृष्णके प्रति द्वेष करनेवाले, उनके चिन्मय शरीरको मायिक माननेवाले, गुरु और वैष्णवोंमें भक्तिशून्य, अजितेन्द्रिय, हरि-गुरु-वैष्णवोंकी सेवासे रहित व्यक्तियोंको कभी भी गीताके तत्त्वोंका उपदेश नहीं देना चाहिए। ये सभी गीता-तत्त्वको श्रवण करनेके अधिकारी नहीं हैं। कुछ लोग कृष्णके इस उपदेशका सारार्थ हृदयङ्गम नहीं कर सकनेके कारण मनमाने ढंगसे कुपात्रको भी यह यह तत्त्व सुनाते हैं। वे समझते हैं कि कुपात्रोंको इसका उपदेश देना अधिक उदारता और दयालुताका परिचय है, किन्तु ऐसा करनेसे कृष्णके उपदेशोंकी अवज्ञाके कारण वे अपराधी हो पड़ते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं इस विषयको अच्छी तरहसे समझते हैं कि कुपात्रको गीताका उपदेश देनेका क्या कुफल होता है। अज्ञ लोग इसकी धारणा नहीं कर सकते। कुछ लोग ऐसा प्रश्न उठा सकते हैं कि धर्मका उपदेश देनेमें पात्रकी योग्यता और अयोग्यताका विचार करनेसे दयाका अभाव झलकता है, किन्तु यह बात ठीक नहीं है। योग्य पात्रमें ही उपदेशका सुफल होता देखा जाता है। कुपात्र उन उपदेशोंको सुनकर उन उपदेशोंकी अवज्ञा करता है, इससे वह और भी पतित हो जाता है और अपराधी बन जाता है।

एक बार देवताओंके अधिपति इन्द्र तथा असुरोंके प्रधान विरोचन ब्रह्माके निकट आत्मतत्त्वका उपदेश श्रवण करनेके लिए गए थे। तत्त्वज्ञानके उपयुक्त पात्र होनेके कारण ब्रह्माने इन्द्रको तत्त्वज्ञानका उपदेश दिया और उन्हें तत्त्वज्ञान हुआ भी, किन्तु कुपात्र होनेके कारण विरोचन ब्रह्मा द्वारा कथित तत्त्वज्ञानके उपदेशको हृदयङ्गम नहीं कर सका। उसने स्थूल शरीरको ही 'मैं' मानकर उसकी ही तुष्टि-पुष्टि करना जीवनका सारतत्त्व समझ लिया। इस प्रकार विरोचन यथार्थ तत्त्वज्ञानसे वञ्चित रहा। कहा भी गया है—

'यस्य देवे पराभक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थां प्रकाशन्ते महात्मनः।।'

(श्वे. उ. ६/२३)

अर्थात्, भगवान्में जिनकी पराभक्ति है तथा जैसी भक्ति भगवान्के प्रति है, वैसी ही श्रीगुरुदेवके प्रति है, उन्हीं महात्माके निकट श्रुतियोंके मर्मार्थ उपदिष्ट होकर प्रकाशित होते हैं। श्रीमद्भागवतमें भी श्रीकृष्ण उद्धवको ऐसा ही बता रहे हैं—

'नैतत्त्वया दाम्भिकाय नास्तिकाय शठाय च।
अशुश्रूषोरभक्ताय दुर्विनीताय दीयताम्।।'

(श्रीमद्भा. ११/२९/३०)

अर्थात्, तुम इसे दाम्भिक, नास्तिक, शठ, अश्रद्धालु, भक्तिहीन, और अविनीत पुरुषको कभी मत देना। पद्म पुराणमें भी देखा जाता है—

'अश्रद्धधाने विमुखेप्यश्रृण्वति यश्चोपदेशः शिवनामापराधः।।'

अर्थात्, अश्रद्धालु और विमुख व्यक्तिको यह उपदेश सुनानेसे कल्याणके बदले उसका अपराध होता है।।६७।।

य इमं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति।
भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयः।।६८।।

अन्वय—यः (जो) परमम् गुह्यम् (परमगुह्य) इमम् (यह गीताशास्त्र) मद्भक्तेषु (मेरे भक्तके समीप) अभिधास्यति (उपदेश करेंगे) [सः—वे] मयि (मुझमें) पराम् भक्तिम् (पराभक्ति) कृत्वा (कर) असंशयः [सन्] (संशयशून्य होकर) माम् एव (मुझे ही) एष्यति (प्राप्त होवेंगे)।।६८।।

अनुवाद—जो परमगुह्य इस गीताशास्त्रका उपदेश मेरे भक्तोंको देंगे, वे मेरे प्रति पराभक्तिकर संशयशून्य होकर मुझे ही प्राप्त होंगे।।६८।।

श्रीविश्वनाथ—एतदुपदेष्टुः फलमाह—य इति द्वाभ्याम्। परां भक्तिं कृत्वेति प्रथमं परमभक्तिप्राप्तिः, ततो मत्प्राप्तिः, एतदुपदेष्टुर्भवति।।६८।।

भावानुवाद—श्रीभगवान् 'यः' इत्यादि दो श्लोकोंमें गीताशास्त्रके उपदेशकका फल बता रहे हैं—उन्हें पहले मेरी पराभक्ति प्राप्त होती है तथा बादमें मेरी प्राप्ति होती है।।६८।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकमें गीताके यथार्थ वक्ता और यथार्थ श्रोताके लक्षण और उनके शुद्ध उपदेशकों और शुद्ध श्रोताओंकी गतिके सम्बन्धमें बता रहे हैं। पूर्वोक्त श्लोक (गीता १८/६५) में गीताके सर्वगुह्यतम

उपदेशको देते हुए श्रीकृष्ण अर्जुनसे कह रहे हैं कि तुम मेरे अत्यन्त प्रिय हो, इसलिए तुम्हें यह परम गोपनीय तत्त्व बता रहा हूँ। पूर्व श्लोकमें यह भी निर्देश दे रहे हैं कि तुम जितेन्द्रिय, श्रद्धालु, सेवाभावनायुक्त तथा मेरे प्रति प्रीति रखनेवाले व्यक्तिको ही गीताशास्त्रका उपदेश देना। इसलिए गीताशास्त्रका उपदेश देनेवाले व्यक्तिको कृष्णके प्रति दृढ़ श्रद्धालु, ऐकान्तिक भक्तियुक्त, तत्त्वज्ञानसे परिपूर्ण, संदेहरहित होना आवश्यक है। गीताशास्त्रका शाब्दिक ज्ञान रहनेपर भी आचरणविहीन तथा उपरोक्त गुणोंसे रहित होनेपर वह वक्ता या उपदेशक गीताका यथार्थ वक्ता नहीं है और कदापि उससे गीताका उपदेश नहीं श्रवण करना चाहिए। अन्यथा श्रोता-वक्ता गीताशास्त्रके यथार्थ ज्ञानसे वञ्जित रहेंगे।

श्रोताके सम्बन्धमें शास्त्रोंमें अधिकार और लक्षण बताए गए हैं। श्रीकृष्ण भक्त उद्धवसे कह रहे हैं—

'एतेदौंषैर्विहीनाय ब्रह्मण्याय प्रियाय च।
साधवे शुचये ब्रूयाद् भक्तिः स्याच्छूद्रयोषिताम्।।'

(श्रीमद्भा. ११/२९/३१)

अर्थात्, दाम्भिकता, नास्तिकता, शठता, अश्रद्धालुता, औद्धत्व तथा भक्तिहीनता—इन दोषोंसे रहित ब्राह्मणभक्त, भगवत्प्रेमी, साधुस्वभाववाले एवं सर्वोपरि भक्तोंको यह प्रसङ्ग सुनाना चाहिए। शूद्र और स्त्री भी मेरे प्रति श्रद्धालु हों और भक्ति-सम्पन्न हों, तो उन्हें भी इसका उपदेश देना चाहिए। इस स्पष्ट आदेशसे गीता-तत्त्वके श्रवणमें जाति, वर्ण, वयस और कर्म आदि किसीका भी विचार नहीं किया जाता है। उपरोक्त गुण होनेपर मनुष्यमात्र ही इसके श्रवणके अधिकारी हैं। श्रीचैतन्य चरितामृतमें इस सिद्धान्तकी पुष्टि की गई है—"श्रद्धावान् जन हन भक्ति अधिकारी।" कपिलदेवजी ने भी ऐसा ही कहा है—

'श्रद्दधानाय भक्ताय विनीतायानसूयवे।
भूतेषु कृतमैत्राय शुश्रूषाभिरताय च।।
बहिर्जातविरागाय शान्तचित्ताय दीयते।
निर्मत्सराय शुचये यस्याहं प्रेयसां प्रियः।।'

(श्रीमद्भा. ३/३२/४१-४२)

अर्थात्, जो श्रद्धावान्, भक्त, विनीत, असूयारहित, सभी प्राणियोंके बन्धु, सेवारत, बाह्य विषयोंमें वैराग्ययुक्त, शान्तचित्त तथा मात्सर्यशून्य हैं एवं मैं ही जिनका प्रियतम हूँ, उनके निकट ही इसका कीर्त्तन करना।

इन सबका सार यह है कि कृष्णके प्रति श्रद्धा और भक्ति होनेपर मनुष्यमात्र ही गीताशास्त्रके श्रवणके अधिकारी हैं। जो ऐसे अधिकारियोंके निकट इस गीताशास्त्रका उपदेश देते हैं, वे पराभक्ति प्राप्तकर निःसंदेह कृष्णको ही प्राप्त करते हैं। उसी प्रकार अधिकारी श्रोता भी इसी परमगतिको प्राप्त करते हैं।।६८।।

न च तस्मान्मनुष्येषु कश्चिन्मे प्रियकृत्तमः।
भविता न च मे तस्मादन्यः प्रियतरो भुवि।।६९।।

अन्वय—मनुष्येषु (मनुष्योंमें) तस्मात् (गीताकी व्याख्या करनेवालेकी अपेक्षा) कश्चित् (कोई) मे (मेरा) प्रियकृत्तमः (अधिक प्रिय कार्य करनेवाला) न च (नहीं है) भुवि च (और पृथ्वीमें) तस्मात् (उनकी अपेक्षा) मे प्रियतरः (मेरा अधिक प्रियतर) अन्यः न भविता (और दूसरा नहीं होगा)।।६९।।

अनुवाद—मनुष्योंमें गीताकी व्याख्या करनेवालेकी अपेक्षा और कोई मेरा प्रिय कार्य करनेवाला नहीं है और समस्त जगत्में उनकी अपेक्षा अधिक प्रियतर और कोई नहीं होगा।।६९।।

श्रीविश्वनाथ—तस्मादुपदेष्टुः सकाशात् अन्योऽतिप्रियङ्करः अतिप्रियश्च नास्ति।।६९।।

भावानुवाद—अतएव गीताशास्त्रके उपदेशककी अपेक्षा अन्य कोई मेरा अतिप्रिय कार्य करनेवाला और प्रिय नहीं है।।६९।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—पूर्वोक्त गीताशास्त्रके यथार्थ उपदेशक या प्रचारक भगवान्‌को अत्यन्त प्रिय होते हैं। इसलिए गीताशास्त्रका प्रचार-प्रसार करना शुद्ध भक्तोंका कर्त्तव्य है। किन्तु, श्रीगीताके प्रचारके नामपर जो लोग लोगोंका मनोरञ्जन करते हैं, गीताके गुह्य, गुह्यतर, गुह्यतम और सर्वगुह्यतम तत्त्वका उपदेश न देकर मायावाद, कर्म, ज्ञान और योगका उपदेश देते हैं, वे श्रीभगवान्‌के श्रीचरणोंमें अपराध करते हैं। ऐसे उपदेशकोंके मुखसे गीता श्रवण करनेसे कल्याण नहीं होता।।६९।।

अध्येष्यते च य इमं धर्म्यं संवादमावयोः।
ज्ञानयज्ञेन तेनाहमिष्टः स्यामिति मे मतिः।।७०।।

अन्वय—यः च (और जो) आवयोः (हम दोनोंके) इमम् (इस) धर्म्यम् संलापम् (धर्मसमन्वित संलापका) अध्येष्यते (अध्ययन करेंगे) तेन

(उनके द्वारा) अहम् (मैं) ज्ञानयज्ञेन (ज्ञानयज्ञ द्वारा) इष्टः स्याम् (पूजित होऊँगा) इति मे मतिः (यह मेरा अभिप्राय है)।।७०।।

अनुवाद—और जो व्यक्ति हम दोनोंके इस धर्मसमन्वित संलापका अध्ययन करेंगे, उनके द्वारा मैं ज्ञानयज्ञ द्वारा पूजित होऊँगा, ऐसा मेरा अभिप्राय है।।७०।।

श्रीविश्वनाथ—एतदध्ययनफलमाह—अध्येष्यते इति।।७०।।

भावानुवाद—अब गीताके अध्ययनका फल बता रहे हैं—'अध्येष्यते' इत्यादि।।७०।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—यहाँ श्रीकृष्ण और अर्जुनके कथोपकथनका श्रद्धापूर्वक अनुशीलन करना ही ज्ञानयज्ञ है। इसके द्वारा ही कृष्ण प्रसन्न होते हैं। यहाँ ज्ञानका तात्पर्य है—गीताके सारतत्त्वको समझकर वैसा ही आचारण करना। गीताका सार है—भगवान्‌की अनन्या भक्ति। अतः इस भक्तिका आचरण करनेवाला ही भगवान्‌को अतिशय प्रिय है। इसके अतिरिक्त कर्मी, ज्ञानी, योगी आदि कोई भगवान्‌को प्रिय नहीं है।।७०।।

श्रद्धावाननसूयश्च शृणुयादपि यो नरः।
सोऽपि मुक्तः शुभाँल्लोकान्प्राप्नुयात्पुण्यकर्मणाम्।।७१।।

अन्वय—श्रद्धावान् (श्रद्धावान्) अनसूयः च (और द्वेषरहित) यः नरः (जो मनुष्य) शृणुयात् अपि (श्रवण भी करते हैं) सः अपि (वे भी) मुक्तः [सन्] (मुक्त होकर) पुण्यकर्मणाम् (पुण्य कार्य करनेवालोंके) शुभान् लोकान् (शुभ लोकोंको) प्राप्नुयात् (प्राप्त करते हैं)।।७१।।

अनुवाद—जो श्रद्धावान् और द्वेषरहित व्यक्ति इसका श्रवण भी करते हैं, वे पापमुक्त होकर पुण्य कर्मियोंको प्राप्त होनेवाले शुभ लोकोंको प्राप्त करते हैं।।७१।।

श्रीविश्वनाथ—एतच्छ्रवणफलमाह—श्रद्धावानिति।।७१।।

भावानुवाद—अब श्रीभगवान् इसके श्रवणका फल बता रहे हैं—'श्रद्धावान्' इत्यादि।।७१।।

कच्चिदेतच्छ्रुतं पार्थ त्वयैकाग्रेण चेतसा।
कच्चिदज्ञानसम्मोहः प्रनष्टस्ते धनञ्जय।।७२।।

अन्वय—पार्थ (हे पार्थ!) त्वया (तुम्हारे द्वारा) एकाग्रेण चेतसा (एकाग्र चित्तसे) एतत् (यह) श्रुतम् कच्चित् (सुना गया है क्या) धनञ्जय (हे

धनञ्जय!) कच्चित् (क्या) ते (तुम्हारा) अज्ञानसम्मोह (अज्ञानसे उत्पन्न मोह) प्रनष्टः (नष्ट हो गया है)।।७२।।

अनुवाद—हे पार्थ! हे धनञ्जय! क्या यह गीताशास्त्र तुम्हारे द्वारा एकाग्र चित्तसे सुना गया और क्या इसे सुनकर अज्ञानजनित तुम्हारा मोह नष्ट हो गया है?।।७२।।

श्रीविश्वनाथ—सम्यग्बोधानुपपत्तौ पुनरुपदेक्ष्यामीत्याशयेनाह—कच्चिदिति।।७२।।

भावानुवाद—यदि उत्तमरूपसे तुमने इसे नहीं समझा, तो पुनः इसका उपदेश दूँगा—इसी अभिप्रायसे श्रीभगवान् यह वाक्य कह रहे हैं।।७२।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—गीताका उपदेश पूर्णकर तथा उसके श्रवण-कीर्त्तनका माहात्म्य वर्णनकर श्रीकृष्ण अर्जुनसे यह पूछ रहे हैं कि क्या तुम्हारी और कोई जिज्ञासा अवशिष्ट है? यदि है, तो मैं पुनः उसका समाधान करूँगा। इसके द्वारा यह सूचित होता है कि एकाग्र चित्तसे गीता-तत्त्वका उपदेश श्रवण करना चाहिए। दूसरी बात यह है कि श्रीगुरुदेव या तत्त्वदर्शी भक्तोंके निकट गीता-तत्त्वका श्रवण करनेपर भी श्रोता जब तक उन तत्त्वोंको हृदयङ्गम न कर ले, तब तक उनकी सेवा और प्रीतिपूर्वक जिज्ञासाके द्वारा पुनः पुनः तत्त्वोंका श्रवण करना चाहिए। अन्यथा गुह्यतम तत्त्वकी उपलब्धि नहीं हो सकेगी।।७२।।

अर्जुन उवाच—
नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।
स्थितोऽस्मि गतसन्देहः करिष्ये वचनं तव।।७३।।

अन्वय—अर्जुनः उवाच (अर्जुनने कहा) अच्युत (हे अच्युत!) त्वत् प्रसादात् (आपकी कृपासे) [मेरा] मोहः नष्टः (मोह नष्ट हो गया है) मया (मेरे द्वारा) स्मृतिः (आत्म-तत्त्व-स्मृति) लब्धा (प्राप्त हुई है) गत-सन्देहः (संशय दूर हो गया है) [मैं] स्थितः अस्मि (यथाज्ञान अवस्थित हुआ हूँ) तव वचनम् (आपकी आज्ञा) करिष्ये (पालन करूँगा)।।७३।।

अनुवाद—अर्जुनने कहा—हे अच्युत! आपकी कृपासे मेरा मोह नष्ट हो गया है और मैंने आत्मस्मृति प्राप्त की है। मेरा सन्देह दूर हो गया है तथा मैं यथाज्ञान अवस्थित हूँ। मैं आपकी आज्ञाका पालन करूँगा।।७३।।

श्रीविश्वनाथ—किमतःपरं पृच्छाम्यहन्तु सर्वधर्मान् परित्यज्य त्वां शरणं गतो निश्चिन्त एव, त्वयि विश्रम्भवानस्मीत्याह—नष्ट इति। करिष्य इत्यतःपरं शरण्यस्य तवाज्ञायां स्थितिरेव शरणापन्नस्य मम धर्मः, न तु स्वाश्रमधर्मो,

नापि ज्ञानयोगादयः, ते त्वद्यारभ्य त्यक्ता एव, ततश्च, भोः प्रियसख अर्जुन! मम भूभारहरणे किञ्चिदवशिष्टं कृत्यमस्ति, तत्तु त्वद्‌द्वारैव चिकीर्षामीति भगवतोक्ते सति गाण्डीवपाणिरर्जुनो योद्धुमुदतिष्ठदिति।।७३।।

भावानुवाद—इसके बाद और क्या जिज्ञासा करूँ? मैं सभी प्रकारके धर्मोंका परित्यागकर आपके शरणागत होकर निश्चिन्त होकर आपमें विश्वासयुक्त हुआ हूँ। अबसे आप मेरे शरण्य हैं। आपकी आज्ञामें स्थित रहना ही मुझ शरणागतका धर्म है, वर्णाश्रम धर्म अथवा ज्ञान-योग आदि नहीं। आजसे ये सभी परित्यक्त हुए। इसके बाद गाण्डीवधारी अर्जुन श्रीभगवान्‌की इस उक्तिसे युद्ध करनेके लिए उद्यत हुए कि हे प्रियसखे अर्जुन! पृथ्वीका भार हरण करनेके लिए अभी मेरे कुछ कृत्य शेष हैं, तुम्हारे द्वारा ही इसका समापन कराऊँगा।।७३।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—भगवान् श्रीकृष्णका अभिप्राय जानकर अर्जुन बड़े प्रसन्न हुए और हाथ जोड़कर बोले—"हे अच्युत! आपके उपदेश और कृपासे मेरे सभी प्रकारके अज्ञान और मोह दूर हो गए। मैं यह भलीभाँति समझ गया कि आप चराचर विश्वके गुरु एवं प्रभु हैं। मैं आपका सेवक हूँ। मैं सम्पूर्ण रूपसे आपके चरणोंकी शरण ग्रहण करता हूँ। आप जैसी आज्ञा देंगे, वैसा ही करूँगा।" तदनन्तर वे भगवान्‌के अभिप्रायको जानकर, युद्धके लिए तैयार हो गए।

इसके द्वारा यह शिक्षा मिलती है कि गीताशास्त्रके अनुशीलनसे यदि हमारे सारे संशय दूर हो जायँ और इन नाना प्रकारके मतवादोंको छोड़कर श्रीकृष्णके ऐकान्तिक शरणागत होकर उनकी सेवामें तत्पर हो जायँ, तो यह मनुष्य जीवन कृतकृत्य हो जाएगा।।७३।।

सञ्जय उवाच—
इत्यहं वासुदेवस्य पार्थस्य च महात्मनः।
संवादमिममश्रौषमद्भुतं रोमहर्षणम्।।७४।।

अन्वय—सञ्जयः उवाच (सञ्जयने कहा) अहम् (मैंने) इति (इस प्रकार) महात्मनः (महात्मा) वासुदेवस्य (वासुदेवके) पार्थस्य च (और पार्थके) इमम् (इस) अद्भुतम् (अद्भुत) रोमहर्षणम् (रोमाञ्चकारी) संवादम् (संवादको) अश्रौषम् (सुना)।।७४।।

अनुवाद—सञ्जयने कहा—इस प्रकार मैंने महात्मा वासुदेव तथा पार्थके बीच हुए इस अद्भुत रोमाञ्चकारी संवादको सुना।।७४।।

श्रीविश्वनाथ—अतःपरं पञ्चश्लोकव्याख्या सर्वगीतार्थतात्पर्य-निष्कर्षेऽन्तिम श्लोकाः यत्र वर्त्तन्ते, तां पत्रद्वयीं विनायकः स्ववाहनेनाखुनापहृतवानित्यतः पुनर्नालिखं तां तन्मात्रवादाम्। स प्रसीदतु, तस्मै नमः। इति श्रीमद्भगवद्गीताटीका 'सारार्थ-वर्षिणी' समाप्तीभूता सतां प्रीतयेस्तादिति।।७४।।

सारार्थवर्षिणी विश्वजनीना भक्तचातकान्।
माधुरी धिनुतादस्या माधुरी भातु मे हृदि।।
इति सारार्थवर्षिण्यां हर्षिण्यां भक्तचेतसाम्।
गीतास्वष्टादशोऽध्यायः सङ्गतः सङ्गतः सताम्।।

इति श्रील-विश्वनाथ-चक्रवर्त्ति-ठक्कुर-कृता 'सारार्थवर्षिणी' टीका।

भावानुवाद—इसके बाद पाँच श्लोकोंकी व्याख्या, सम्पूर्ण गीताके तात्पर्यका सार अन्तिम श्लोकसमूह जिन पन्नोंमें था, गणेशजीने उन दो पन्नोंको अपने वाहन चूहेके द्वारा अपहरण करा लिया। इसके बाद पुनः तन्मात्रवादपूर्ण उस तात्पर्यको नहीं लिखा। वे प्रसन्न होंवें, उन्हें नमस्कार है।

श्रीमद्भगवद्गीताकी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त हुई। यह साधुओंकी प्रीतिको बढ़ावे।।७४।।

सर्वलोक हितकारिणी सारार्थवर्षिणाीकी माधुरी भक्तरूप चातकोंको सम्यक् तृप्त करे। इसकी माधुरी हमारे हृदयमें प्रकाशित होवे।

श्रीमद्भगवद्गीताके अष्टादश अध्यायकी साधुजनसम्मता भक्तानन्ददायिनी सारार्थवर्षिणी टीका समाप्त।

श्रीमद्भगवद्गीताके अष्टादश अध्यायकी सारार्थवर्षिणी
टीकाका हिन्दी अनुवाद समाप्त।

व्यासप्रसादाच्छ्रुतवानिमं गुह्यमहं परम्।
योगं योगेश्वरात्कृष्णात्साक्षात्कथयतः स्वयम्।।७५।।

अन्वय—व्यास प्रसादात् (श्रीवेदव्यासकी कृपासे) अहम् (मैंने) साक्षात् कथयतः (सम्मुख वर्णनकारी) स्वयं योगेश्वरात् (स्वयं योगेश्वर) श्रीकृष्णात् (श्रीकृष्णसे) इमम् (इस) परम् गुह्यम् (परम गुह्य) योगम् (योगको) श्रुतवान् (सुना)।।७५।।

अनुवाद—श्रीव्यासदेवकी कृपासे मैंने साक्षात् वर्णनकारी स्वयं योगेश्वर श्रीकृष्णसे इस परमगुह्य योगको सुना।।७५।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—श्रीकृष्ण द्वैपायन व्यासदेव सञ्जयके गुरु थे। सञ्जय यह स्वीकार करते हैं कि उन्होंने अपने गुरुदेव श्रील व्यासदेवकी कृपासे ही श्रीकृष्ण और अर्जुनके कथोपकथनसे उदित श्रीगीताके दिव्य ज्ञानको सुना और समझा। अतएव बिना गुरुकी कृपासे गीता-तत्त्व या भगवत्-तत्त्व नहीं समझा जा सकता। गुरु व्यासदेवके समान तत्त्वज्ञ और भगवत्-अनुभूति-सम्पन्न होना चाहिए। शिष्यको भी सञ्जयके समान गुरुकी सेवा-शुश्रूषा करनेवाला होना चाहिए तथा उनके आदेश-निर्देशको बिना किसी तर्कके अनुगमन करना चाहिए। ऐसा श्रद्धालु शिष्य ही भगवत् तत्त्वको जानकर कृतकृत्य होता है। दूसरी ओर यह भी समझना चाहिए कि जिस प्रकार स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके श्रीमुखसे गीताके गूढ़ रहस्यको साक्षात् रूपमें श्रवणकर अर्जुन कृतार्थ हो गए उसी प्रकार व्यासजीकी कृपासे कुरुक्षेत्रसे बहुत दूर रहकर भी उसे सुन-समझकर सञ्जय भी कृत-कृत्य हो गए। इस प्रकार यदि आज भी कोई अपना जीवन कृतार्थ करना चाहता है, तो उस गुरु-परम्पराका आश्रयकर, गुरु परम्पराकी धारामें स्नात तत्त्वदर्शी गुरु या वैष्णवका आश्रयकर अपने जीवनको कृतार्थ कर सकता है। शुद्ध भक्ति-परम्पराको ग्रहण किए बिना भगवत्-तत्त्वकी उपलब्धि सुदूर पराहत है।।७५।।

राजन् संस्मृत्य संस्मृत्य संवादमिममद्भुतम्।
केशवार्जुनयोः पुण्यं हृष्यामि च मुहुर्मुहुः।।७६।।

अन्वय—राजन् (हे राजन्!) केशवार्जुनयोः (केशव और अर्जुनके) इमम् पुण्यम् (इस पुण्यमय) अद्भुतम् (अद्भुत) संवादम् (संवादको) संस्मृत्य संस्मृत्य (बारम्बार स्मरणकर) मुहुर्मुहुः (बारम्बार) हृष्यामि च (हर्षित हो रहा हूँ)।।७६।।

अनुवाद—हे राजन्! श्रीकेशव और अर्जुनके इस पुण्यमय अद्भुत संवादको बारम्बार स्मरणकर मैं बारम्बार हर्षित हो रहा हूँ।।७६।।

तच्च संस्मृत्य संस्मृत्य रूपमत्यद्भुतं हरेः।
विस्मयो मे महान् राजन् हृष्यामि च पुनः पुनः।।७७।।

अन्वय—राजन् (हे राजन्!) हरेः (श्रीहरिके) तत् (उस) अत्युद्भुतम् (अत्यन्त अद्भुत) रूपम् (रूपको) संस्मृत्य संस्मृत्य च (बार-बार स्मरणकर) मे (मैं) महान् विस्मयः (परम विस्मित हो रहा हूँ) पुनः पुनः च (और बार-बार) हृष्यामि (हर्षित और रोमाञ्चित हो रहा हूँ)।।७७।।

अनुवाद—हे राजन्! श्रीहरिके उस अत्यन्त अद्भुत रूपका बारम्बार स्मरणकर मैं परम विस्मित हो रहा हूँ और पुनः पुनः हर्षित तथा रोमाञ्चित हो रहा हूँ।।७७।।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—इस श्लोकके द्वारा यह प्रतीत होता है कि कुरुक्षेत्रमें भक्त अर्जुनने श्रीकृष्णके जिस विश्वरूपको देखा था, भक्त सञ्जयने भी हस्तिनापुरके राजभवनमें बैठकर श्रीव्यासदेवजीकी कृपासे उस विश्वरूपका दर्शन किया। श्रीकृष्णने अर्जुनसे यह भी कहा है कि मैंने अपना यह विराट रूप पहले किसीको नहीं दिखाया, केवल तुम्हें पहली बार दिखा रहा हूँ। किन्तु, विशेष विचार करनेपर यह समझा जा सकता है कि अर्जुनने, सञ्जयने और व्यासजीने भी अवश्य ही उस विश्वरूपका दर्शन किया। इसके अतिरिक्त अर्जुनके कथनसे यह भी पता चलता है कि बड़े-बड़े ऋषियों, महर्षियों तथा देवताओंने भी इसका दर्शन किया। वेदव्यास जी श्रीकृष्णके परमभक्त हैं, यही नहीं, वे भगवान्‌के शक्त्यावेश अवतार भी हैं। अतः व्यास-परम्पराका आश्रय करनेवाले ही गीता शास्त्रका तात्पर्य अनुभव करनेमें समर्थ हो सकते हैं।।७७।।

यत्र योगश्वरः कृष्णो यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीर्विजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम।।७८।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'मोक्षसंन्यास-योगो' नाम अष्टादशोऽध्यायः।

अन्वय—यत्र (जहाँ) योगेश्वरः कृष्णः (योगेश्वर श्रीकृष्ण हैं) यत्र धनुर्धरः पार्थः (जहाँ धनुषधारी अर्जुन हैं) तत्र (वहीं) श्री (राज्यलक्ष्मी) विजयः (विजय) भूतिः (ऐश्वर्यवृद्धि) नीतिः (न्यायपरायणता) स्थिर [वर्त्तते] (स्थिर रहती है) [यह] मम मतिः (मेरा मत है)।।७८।।

इति श्रीमहाभारते शतसाहस्र्यां संहितायां वैयासिक्यां भीष्मपर्वणि
श्रीमद्भगवद्गीतासूपनिषत्सु ब्रह्मविद्यायां योगशास्त्रे श्रीकृष्णार्जुनसंवादे
'मोक्षसंन्यासयोगो' नाम अष्टादशोऽध्यायस्यान्वयः।।

अनुवाद—जहाँ योगेश्वर श्रीकृष्ण तथा धनुर्धर अर्जुन हैं, वहीं श्री (राज्यलक्ष्मी), विजय, ऐश्वर्यवृद्धि और न्यायपरायणता विद्यमान है—यही मेरा निश्चित मत है।।७८।।

श्रीमद्भगवद्गीताके अष्टादश अध्यायका अनुवाद समाप्त।

सा. व. प्रकाशिका वृत्ति—अठारहवें अध्यायमें समस्त गीताका तात्पर्य संक्षेपमें वर्णित हुआ है। ध्यानयोग प्रधान कर्मयोग, जिसका फल आत्मज्ञान है, एक पर्व है; भगवत्-सम्बन्धी श्रद्धासे उदित शुद्ध भक्तियोग दूसरा पर्व है—यही गीताका सार-संग्रह है। इनमें से स्वभावसिद्ध वर्णाश्रम धर्मका अवलम्बन करते हुए निष्काम भावसे कर्म करते हुए क्रमशः जो ज्ञानपथ लाभ होता है, वही गुह्य उपदेश है; इस जीवनमें ध्यानयोगका संयोगकर क्रमशः आत्म-ज्ञानका अनुशीलन ही गुह्यतर उपदेश है; स्वयं भगवान् श्रीकृष्णके प्रति अनन्य शरणागत होकर भक्तियोगका अनुष्ठान ही सर्वगुह्यतम उपदेश है—यही अठारहवें अध्यायका तात्पर्य है।

समस्त गीताशास्त्रका तात्पर्य यही है कि अद्वय-वस्तु ही एकमात्र तत्त्व हैं। भगवत्ता ही उस तत्त्वका सम्यक् परिचय है। अन्य दूसरे सारे तत्त्व ही उस वस्तुसे निःसृत हैं—चित्-शक्ति द्वारा भगवत्-स्वरूप और चित्-वैभव, जीव-शक्ति द्वारा मुक्त और बद्ध भेदसे दो प्रकारके अनन्त जीव, माया-शक्ति द्वारा प्रधानसे लेकर-तृण-गुल्म आदि चौबीस जड़-तत्त्व, काल-शक्ति द्वारा सृष्टि, स्थिति और संहार तथा सभी अवस्थाओंका आकालन एवं क्रिया-शक्ति द्वारा सभी प्रकारके अविष्कार। ईश्वर, प्रकृति, जीव, काल और कर्म—ये पाँचों तत्त्व एकमात्र भगवत्-तत्त्वसे ही प्रकटित हैं। ब्रह्म, परमात्मा आदि भावसमूह भगवत्-तत्त्वके अन्तर्गत हैं। उक्त पाँचों तत्त्व पृथक् होकर भी युगपत् भगवत्-तत्त्वके अधीन एक ही तत्त्व हैं तथा एक तत्त्व होकर भी विशेष धर्मवशतः नित्य पृथक् हैं। गीताशास्त्रमें उक्त 'भेदाभेद'-तत्त्व मानवयुक्तिसे अतीत है। इसलिए पूर्व महाजनने गीताशास्त्रमें उपदिष्ट तत्त्वको अचिन्त्यभेदाभेद-तत्त्वके नामसे निर्देशित किया है एवं इससे सम्बन्धित ज्ञानका ही नाम 'तत्त्व-ज्ञान' है।

जीव—जीव स्वरूपतः शुद्ध चेतन वस्तु हैं, वे चितसूर्यरूप श्रीकृष्णके किरण-परमाणु-गत तत्त्वविशेष हैं। ये स्वभावतः चित् और अचित् दोनों जगत्के योग्य हैं। चित् और अचित् जगत्के सन्धिस्थलमें इनका प्रथम अवस्थान है। ये चेतन होनेके कारण स्वभावतः स्वतन्त्र हैं। चित्-जगत्में आकृष्ट होनेपर कृष्णोन्मुख होकर ह्लादिनी शक्तिकी सहायतासे शुद्ध आनन्दका आस्वादन करनमें समर्थ हैं और दूसरी और मायिक जगत्की ओर आकृष्ट होनपर माया-शक्तिके आकर्षणसे कृष्ण-बहिर्मुखी होकर

जड़-सुख-दुःखमें निपतित होते हैं। चित्-रतिविशिष्ट जीवसमूह नित्यमुक्त होते हैं तथा जड़-रतिविशिष्ट जीवसमूह नित्यबद्ध होते हैं। दोनों ही प्रकारके जीवोंकी संख्या अनन्त, अगणित है।

अपने विशुद्धस्वरूपको भूलकर जीव मायिक संसार-सागरमें देवयोनि, मनुष्ययोनि तथा कीट-पतंग-वृक्ष-लता-गुल्म आदि विभिन्न उच्च और निम्न योनियोंमें विविध प्रकारके तापोंसे दग्ध होते हुए किसी समय निर्वेद लाभकर उपयुक्त गुरुका पदाश्रय करनेपर कर्मयोगके अन्तर्गत ध्यानके परिपक्व होनेपर अपना विशुद्धस्वरूप प्राप्त करते हैं और भगवान्‌के चरणोंमें प्रेम लाभ करते हैं। अथवा, कभी भगवत्-कथाके प्रति श्रद्धा होनेपर उपयुक्त गुरुका पदाश्रय लाभकर साधनभक्ति, भावभक्ति और प्रेमाभक्ति पर्यन्त लाभ करते हैं। आत्माके शुद्ध स्वरूपसे अवगत होनेका इन दोनों पथोंके अतिरिक्त और कोई पथ नहीं हैं। उक्त दोनों उपायोंमें से आत्मज्ञान लाभ करनेके लिए ध्यानयोग प्रधान कर्मयोग ही साधारण लोगोंके लिए अवलम्बनीय है, क्योंकि यह अपनी चेष्टाके अधीन है। श्रद्धासे उदित भक्तियोग कर्मयोगकी अपेक्षा श्रेष्ठतर और सहज है, तथापि भगवत्-कृपा प्राप्ति या भक्त-कृपारूप भाग्योदय नहीं होने पर यह प्राप्त नहीं होता है। अतएव जगत्‌के अधिकांश लोग ही कर्मयोगप्रिय हैं। इनमें से जिनका भाग्योदय हो जाता है, उनकी ही भक्तियोगमें श्रद्धा होती है। एवं गीताके चरम श्लोकमें कही गई भगवान्‌के प्रति अनन्या शरणागति उदित होती है—यही सभी वेदोंका अभिधेय है।

कामनामूलक कर्ममार्गमें जो चौदह लोकोंमें जड़-सुख-भोग या मुक्ति लाभ होती है, वह चेतनस्वरूप जीवके लिए अत्यन्त तुच्छ है। गीताके प्रारम्भमें ही काम्य-कर्म एवं इससे उत्पन्न मुक्तिको अत्यन्त तुच्छ बताया गया है। जरा-मरणसे मोक्ष होनेके बाद प्राप्त होनेवाली केवलाद्वैत-सिद्धिरूप सायुज्य-निर्वाण आदि मुक्तियाँ भी जीवोंका चरम प्रयोजन नहीं हैं—यह भी अनेक स्थानोंपर कहा गया है। अद्वैतसिद्धि और सालोक्य आदि चार प्रकारके ऐश्वर-धाम-प्राप्तिरूप मुक्ति-स्थानोंसे भी ऊपर उठकर भगवत्-लीलारूप आत्मचरम स्थनमें प्रवेशकर भाव अर्थात् निर्मल प्रेम लाभ करना ही जीवोंका चरम प्रयोजन है—यह अनेक स्थलोंमें सिद्धान्त-सामाप्ति-कालमें कहा गया है।

अतएव गीता शास्त्रमें समस्त वेद और वेदान्तके सिद्धान्तोंका संग्रहकर यही सिद्धान्त निर्धारित किया गया है कि सम्बन्ध-ज्ञानपूर्वक भक्तियोगका अनुष्ठान करते हुए परम-प्रयोजनरूप प्रेम लाभ करना चाहिए, अपने-अपने अधिकारके अनुसार धर्मजीवनके साथ सर्वदा श्रवण आदि भक्तियोगका अवलम्बन करना चाहिए। भक्तियोगके अनुकूल स्वधर्मका अवलम्बनकर जीवन-निर्वाह करना चाहिए एवं श्रद्धासहित निम्न सोपानगत स्वनिष्ठाका क्रमशः त्याग करते हुए शरणागति द्वारा भक्तियोगमें परिनिष्ठित होकर जीवन-यात्राका निर्वाह करना चाहिए। इससे शीघ्र ही भगवान् विशुद्ध प्रेम प्रदान करते हैं। इस प्रकार शुद्धसत्त्वकी प्रक्रियामें प्रवेश करने मात्रसे ही अशोक, अभय और अमृतस्वरूप भगवान्का प्रसाद प्राप्तकर उनके नित्य-प्रेममें आविष्ट हुआ जाता है।।७८।।

श्रीमद्भक्तिवेदान्त नारायणकृत श्रीमद्भगवद्गीताके अष्टादश अध्यायकी सारार्थवर्षिणी-प्रकाशिका-वृत्ति समाप्त।

अष्टादश अध्याय समाप्त।

।। श्रीश्रीगुरुगौराङ्गौ जयतः।।

अथ श्रीमद्भगवद्गीतामाहात्म्यम्

गीताशास्त्रमिदं पुण्यं यः पठेत् प्रयतः पुमान्।
विष्णोः पदमवाप्नोति भयशोकादिवर्जितः।।१।।
गीताध्ययनशीलस्य प्राणायामपरस्य च।
नैव सन्ति हि पापानि पूर्वजन्मकृतानि च।।२।।
मलनिर्मोचनं पुंसां जलस्नानं दिने दिने।
सकृद्गीताम्भसि स्नानं संसारमलनाशनम्।।३।।
गीता सुगीता कर्त्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः।
या स्वयं पद्मनाभस्य मुखपद्माद्विनिःसृता।।४।।
भारतामृतसर्वस्वं विष्णोर्वक्त्राद्विनिःसृतम्।
गीतागङ्गोदकं पीत्वा पुनर्जन्म न विद्यते।।५।।
सर्वोपनिषदो गावो दोग्धा गोपालनन्दनः।
पार्थो वत्सः सुधीर्भोक्ता दुग्धं गीतामृतं महत्।।६।।
एकं शास्त्रं देवकीपुत्रगीतमेको देवो देवकीपुत्र एव।
एको मन्त्रस्तस्य नामानि यानि कर्माप्येकं तस्य देवस्य सेवा।।

मूल–श्लोकानुक्रमणिका

आ

ब

र

ल

स

ह

सारार्थवर्षिणी तथा सा. व. प्रकाशिका वृत्तिमें उद्धृत श्लोकोंकी वर्णानुक्रम–सूची

ख

ग

घ

च

ज

ब

भ

र

ल

व

ह

पयार–सूची

गीता–विषयानुक्रमणिका

त

द

शब्दकोश

अ

अकार्पण्य—दीनता या कृपणताका अभाव
अकिञ्चित्कर—जिसके किए कुछ न हो सके, तुच्छ
अकृतकर्मा—कर्म नहीं करनेवाला
अग्निहोत्र—वैदिक मन्त्रोंसे अग्निमें आहुति देना
अघटन-घटन-पटीयसी—असम्भवको भी सम्भव तथा इसके विपरीत करनेवाली
अचिद्वस्तु—जो वस्तु चित् नहीं हो
अच्छेद्य—जिसका छेदन न हो सके, अविभाज्य
अच्युत—जो च्युत नहीं हो
अज—अजन्मा
अजागलस्तन—बकरीके गलेमें लटकनेवाली स्तनके जैसी चीज
अज्ञ—ज्ञानरहित
अञ्जलिबन्धन—हाथ जोड़ना
अणिमा—योगकी आठ सिद्धियोंमेंसे एक, जिसमें योगी अणुके समान सूक्ष्म हो जाता है
अतिक्रम—मर्यादा, कर्त्तव्य, अधिकार आदिका उल्लंघन
अतिक्रान्त—अतीत, क्रमका उल्लंघन किया हुआ
अतिशयार्थ—अधिकता
अतिशयोक्ति—किसी बातका बढ़ा-चढ़ाकर कहना
अत्याज्य—नहीं त्यागने योग्य
अत्युत्तम—अति उत्तम
अपगम—दूर हो जाना
अदेय—न देने योग्य
अदृष्ट—न देखा हुआ, अज्ञात
अदृष्टवशतः—अदृष्ट होनेके कारण
अधरोष्ठ—नीचे और ऊपरके होठ
अधिकृत—अधिकारसम्पन्न
अधिदैव—आराध्य देवता
अधिभूत—नश्वर भौतिक पदार्थ
अधियज्ञ—परमात्मा
अधिरुढ़—चढ़ा हुआ
अध्यवसाय—यत्न, उद्यम
अधिष्ठान—आधार, आश्रय
अध्यात्म—जीव
अध्याहार—वाक्यमें छूटे हुए पदको अर्थपूर्तिके लिए ऊपरसे जोड़ लेना
अनघ—पापरहित
अनभिज्ञ—न जाननेवाला
अथच—और, और भी
अनवरत—निरन्तर
अनामय—रोगरहित
अनायास—बिना कष्टके
अनिर्देश्य—निर्देश न करनेयोग्य
अनिर्वचनीय—वचनसे न वर्णन करने योग्य

अनुक्त—नहीं कहा हुआ
अनुक्षण—निरन्तर
अनुचिन्ता—निरन्तर चिन्तन
अनुलिप्त—लिप्त
अनुरञ्जित—प्रसन्न, सन्तुष्ट
अनुवर्त्तन—अनुसरण, अनुगमन
अनुवर्त्ती—अनुयायी, अनुसरण करनेवाला
अनुषङ्गी—सम्बन्ध,
अनुष्ठान—आरम्भ करना, कोई धार्मिक कृत्य
अनुष्ठेय—अनुष्ठानके योग्य
अनुसन्धान—खोज, प्रयत्न
अनुसन्धेय—अनुसन्धानके योग्य
अनुस्यूत—ग्रथित, पिरोया हुआ
अनौचित्य—अनुचित होना
अन्तर्भुक्त—किसीके अन्तर्गत होना
अन्तर्भूत—अन्तर्गत
अन्त्य—अन्तका, आखिरी
अन्त्यज—अछूत, नीच जातिमें उत्पन्न
अन्यतम—बहुतोंमें से एक, सर्वश्रेष्ठ
अन्वय—वाक्यमें शब्दोंका परस्पर सम्बन्ध, मेल
अन्वेषणीय—अन्वेषणके योग्य
अपकार—बुराई
अपगत—गया-बीता हुआ
अपगति—दुर्गति, नीचेकी ओर गति
अपटु—अकुशल
अपरा—जो श्रेष्ठ न हो
अपरिपक्व—कच्चा, नहीं पका हुआ
अपरिमेय—अनगिनत
अपरोक्ष—जो परोक्ष न हो, इन्द्रियगोचर
अपरोक्षानुभव—प्रत्यक्ष ज्ञान
अपवर्ग—मोक्ष, निर्वाण
अपान वायु—गुदा मार्गसे निकलेवाली वायु
अमित—अत्यधिक
अपूर्व—जो पहले न हुआ हो, कर्मका अदृष्ट फल
अपौरुषेय—अलौकिक, ईश्वरीय
अप्रज्ञा—अविवेक
अप्राकृत—अलौकिक
अप्रारब्ध—वैसा फल जो वर्तमान शरीरमें न भोगा जा रहा हो
अभयत्व—अभयता
अभिज्ञ—जाननेवाला
अभिधान—शब्दकोष
अभिरुचि—रुचि
अभिनिविष्ट—किसी विशेष कार्यमें दृढ़ निश्चय और मनोयोगयुक्त होना
अभिप्रेत—उद्दिष्ट, अभिलषित, स्वीकृत
अभिभूत—आक्रान्त, पीड़ित
अभियुक्त—भलीभाँति युक्त
अभिवृद्धि—अभ्युदय, बढ़ना
अभिहित—कहा हुआ
अभ्यन्तर—अन्तःकरण, अन्दर
अभ्युदय—उदय
अम्ल—खट्टा
अयाचित—न माँगा हुआ
अरण्य—जंगल
अरुधन्ती—सप्तर्षि मण्डलके पासका एक तारा
अर्चि—प्रकाश

अर्जन—कमाना, संग्रह करना
अर्द्धनिमीलित—आधा बन्द
अर्वाचीन—नया, बादमें उत्पन्न हुआ
अर्चनोपाय—अर्चनाका उपाय
अभिहित—कहा हुआ, बोला गया
अवतारणा—नीचे लाना, इन्द्रियगोचर करना
अवधारण—शब्दके अर्थकी सीमा बाँधना, निश्चय करना
अवधारणार्थ—किसी विचारकी धारणाके लिए कहना
अवध्य—वध नहीं करने योग्य
अवनति—पतन
अवयव—अंग, अंश
अवरुद्ध—रुका हुआ
अवलम्बन—आश्रय लेना, सहारा लेना
अवलीला—क्रीड़ा
अवलोकन—देखना
अवशान्त—शान्त
अवशिष्ट—शेष
अवस्थान—रहना
अवान्तर—गौण
अविचिन्त्य—अचिन्त्य
अविच्छिन्न—अविभक्त, लगातार
अविच्छिन्न तैलधारावत्—तेलकी धाराके समान अटूट
अविद्याजनित—अविद्यासे उत्पन्न
अव्यय—अविकारी
अव्याकृत—अव्यक्त
अव्यवसायी—उद्यमहीन
अशब्दम्—शब्द द्वारा अवर्णनीय
अशेष—सम्पूर्ण
अश्वत्थ—पीपल
अश्विनीकुमार—देवताओंके वैद्य
अष्टसिद्धि—आठ प्रकारकी सिद्धि
असङ्ग—आसक्तिहीन
असत्प्रतिग्रह—निषिद्ध वस्तुओंका दान लेना
असमग्रता—असम्पूर्णता
असमोद्धर्व—जिससे बड़ा और जिसके बराबर कोई नहीं हो
असामञ्जस्य—विरोध, असंगति
असार—सारहीन
अस्फुट—अस्पष्ट
असम्प्रज्ञात—समाधिका एक भेद, जिसमें ज्ञाता, ज्ञेय इत्यादिका भेद नहीं रह जाता
अहंतास्पद—अहंकारका स्थल

आ

आकारविशिष्ट—आकारवाला
आख्यायिका—कहानी
आच्छन्न—ढका हुआ
आततायी—जघन्य अपराधी, हत्यारा
आत्मविषयणी—आत्म-सम्बन्धी
आदित्य—सूर्य
आदित्यवत्—सूर्यकी भाँति
आदिष्ट—आदेश किया हुआ
आधान—स्थापन, कोई वस्तु रखनेका स्थान, रखना
आधिदैविक—देवताओंके द्वारा कृत
आधिभौतिक—अन्य प्राणियों द्वारा प्रदत्त
आध्यात्मिक—मानसिक, आत्म-सम्बन्धी
आपात रमणीय—तत्काल सुखदायक

आपादमस्तक—सिरसे पैर तक
आप्त—पूर्ण, कुशल
आम्नाय—वेद, श्रुत, परम्पराप्राप्त उपदेश
आयुध—अस्त्र
आरुढ़—आसीन
आरोगना—खाना
आरोहण—चढ़ना, ऊपरकी ओर जाना
आर्त्ति—क्लेश, पीड़ा
आर्ष—संस्कृत व्याकरणके विरुद्ध किया गया प्रयोग
आलम्भन—स्पर्श करना
आलोच्य—ओलाचनीय
आवृत्ति—बारम्बार पढ़ना आदि
आत्यन्तिकरूप—पूर्णरूप
आश्रयनीयत्व—आश्रय करने योग्य होनेका भाव
आसन्न—निकट
आह्लादित—आनन्दित

इ

इति—समाप्ति
इन्द्रियग्राह्य—इन्द्रियोंके द्वारा अनुभवयोग्य
इहलोक—यह लोक

ई

ईक्षण—दृष्टिपात
ईशिता— ईश्वरत्व

उ

उच्छ्वास—छोड़ी जानेवाली श्वास, साँस
उच्छिष्ट—खाकर छोड़ा हुआ, परित्यक्त
उच्छोषण—सुखाना
उत्कृष्ट—उन्नत श्रेष्ठ
उत्तरायणकाल—सुर्यका मकर रेखासे उत्तर (कर्क) की ओर जाना
उत्थित—उठा हुआ
उत्पथगमन—कुमार्गमें गमन
उत्प्रेरक—प्रेरणा देनेवाला
उद्बुद्ध—खुलना
उदान वायु—पाँच प्राणोंमें से एक जिसका स्थान कंठ है
उद्बुद्ध—जगा या जगाया हुआ, विकसित
उद्भासित—व्यक्त, चमकता हुआ
उद्यत—तैयार
उद्रेक—प्रचुरता, बढ़ती
उद्वेग—क्षोभ, चित्तकी अस्थिरता
उन्मीलन—खुलना
उन्मेष—आँखका खुलना, प्रकाश
उपक्रम—योजना, आरम्भ, प्रयास
उपक्रमणिका—प्रस्तावना, विषय-सूची
उपरति, उपरम, उपशम—विराग, विरक्ति
उपलक्षित—इशारेसे बताया हुआ, लक्ष्य किया हुआ
उपाङ्ग—छोटा या सहायक अंग
उपार्जित—कमाया हुआ
उपादेयांश—ग्रहण करने योग्य अंश
उपेयत्व—उपाय-योग्य होनेका भाव
उभयपक्षपाती—दोनों पक्षोंका
उर्जित—वर्द्धित, शक्तिशाली
उरु—जंघा
उरुक्रम—विष्णु

ए

एकरस—जो सदा एक रूपमें रहे, अपरिणामी

एकीभूत—जो मिलकर एक हो गया हो

ऐ

ऐहिक—सांसारिक

औ

औत्पत्तिक—उत्पत्तिसे सम्बन्ध रखनेवाला
औद्धत्य—उद्धतता, अक्खड़पन

क

करतलवत्—मुट्ठीमें होना
कर्मजनित—कर्मसे उत्पन्न
कर्मविमूढ़—कर्मके विषयमें मूढ़
कलुषित—गंदा, कलुषयुक्त
कल्प—वेदका एक अंग, ब्रह्माका एक दिन
कवलित—जिसे कालने अपना ग्रास बना लिया है
कषाय—गंदगी, मैल
काम्यकर्म—फलकी कामनासे किया जानेवाला कर्म
किङ्कर्त्तव्यविमूढ़—जिसकी समझमें न आए कि अब क्या करना है
कुम्भक—प्राणायामकी एक क्रिया
कुत्सित—निंदित, नीच
कुमुद—एक प्रकारका फूल
कुम्भीपाक—एक नरकका नाम
कूटोक्ति—अर्थको छिपाकर कही हुई बात
केवला भक्ति—शुद्धा भक्ति
कैङ्कर्य—दासत्व
कैवल्य मुक्ति—निर्वाण मुक्ति
कौतूहलवश—उत्सुकतावश
क्रोड़ीभूत—अन्तर्भूत
क्लान्त—थका हुआ, क्षीण
क्षिति—पृथ्वी
क्षेत्र—शरीर
क्षेत्रज्ञ—शरीरका ज्ञाता, आत्मा तथा परमात्मा
क्षोभ—असंतोष, व्याकुलता

ख

खड्ग—तलवार

ग

गुणावेशनिवर्त्तक—गुणोंके आवेशको दूर करनेवाला
ग्रथित—गूँथा हुआ
ग्रन्थि—गाँठ
ग्रास—आहार
ग्रीवा—गर्दन

घ

घ्राण—गन्ध, सूँघनेकी शक्ति

च

चरमता—चरम सीमा
चिज्जगत्—चित्-जगत् अर्थात् वैकुण्ठ
चित्तगुहा—हृदय
चित्-शक्ति—भगवान्‌की एक प्रकारकी शक्ति
चिदालोचना—चित्-वस्तुकी आलोचना
चिन्तामल—चिन्तारूपी मल
चिन्मयत्व—चिन्मयता
चैतन्यत्व—चेतनता
चैतन्यनिष्ठ—चित्-वस्तुमें जिसकी निष्ठा है
चैतन्यहीन—चेतनारहित

छ

छन्दविद्या—अठारह विद्याओंमें एक

ज

जगतीतल—जगत्, दुनिया
जन्मान्ध—जन्मसे अन्धा
जर्जरित—जो जर्जर हो गया हो
जरायु—गर्भमें बच्चेके ऊपर रहनेवाली झिल्ली
जाँता—पीसनेकी चक्की
जितश्वास—जिसने श्वासको जीत लिया है
ज्योतिश्चक्र—नक्षत्रोंसे युक्त राशिचक्र

त

तड़ाग—तलाब, सरोवर
तत्त्वज्ञान—तत्त्ववस्तुका ज्ञान
तत्त्वतः—यथार्थतः
तत्त्वविद्—तत्त्वको जाननेवाला
तदीय—भगवत्-सम्बन्धी
तनय—पुत्र
तन्मय—तल्लीन
तर्जनी—अँगूठेके पासकी अँगूली
तात—बराबर अथवा छोटेका सम्बोधन
तादात्मय—दो वस्तुओंके परस्पर अभिन्न होनेका स्वभाव
तारतम्य—दो वस्तुओंके घट-बढ़कर होनेका भाव
तिर्यग्—पशु-पक्षी
तुमुल—भयंकर
तैलधारावत्—तेलकी भाँति धारावाला
त्रिगुणातीत—तीनों गुणोंसे अतीत
त्रिवर्ग—धर्म, अर्थ और काम

द

दन्ताघात—दाँतके द्वारा आघात
दिक्पाल—दश दिशाओंके रक्षक देवता
दुर्ज्ञेय, दुर्बोध—कठिनाईसे जानने योग्य
दुर्निगृहीत—कठिनाईसे वशमें लाया हुआ
दुर्वारित—कठिनाईसे निवारण किया हुआ
दुरूह—कठिन
दुस्त्याज्य—नहीं त्यागने योग्य
दृषद्वती—एक नदीका नाम
देवयान—वह मार्ग जिससे जीवात्मा देवलोकको जाता है
देहाध्यास—देहमें मिथ्या अभिमान
दैवदूषित—भाग्यकी खोटाई
द्रव्यमययज्ञ—द्रव्य द्वारा किया गया यज्ञ
द्विजवर—ब्राह्मणश्रेष्ठ
द्वैतभाव—दो होनेका भाव

ध

धरणीपति—पृथ्वीके राजा
धान्य—धान, अनाज
धावमान—दौड़ता हुआ
धूम—धुआँ
धूसरित—धूलसे भरा हुआ
ध्वनित होना—पता चलना

न

नरपुङ्गव—नरश्रेष्ठ
नराकृति—मनुष्यके समान आकृति
नामाभास—नामका आभास
नाश्य-धर्म—नष्ट होने योग्य धर्म
निःशक्तिक—शक्तिरहित
निःश्वास—प्राणवायु या सांसका

बाहर निकलना
निःसृत—निकला हुआ
निकृष्ट—तुच्छ
निकेतन—घर
निक्षेप करना—फेंकना
निगृहीत—निग्रह किया हुआ
निग्रह—संयम
निन्तान्त—अत्यन्त, एकदम
निमज्जित—डूबा हुआ, स्नात
निमीलन—बंद करना
नियतजात—नित्य जन्मनेवाला
नियतमृत—नित्य मरनेवाला
नियतात्म—जिसका आत्मा या मन संयमित हो
नियमाग्रह—नियममें कोताही
निर्गत—बाहर निकला हुआ
निर्गुण—सत्त्व, रज और तमोगुणसे अतीत
निरञ्जन—निर्दोष, अज्ञानसे रहित
निरपेक्ष—किसी औरकी अपेक्षा नहीं रखनेवाला
निर्वाण—मोक्ष
निर्विकल्प—विकल्पसे रहित
निर्दिष्ट—निर्देशित
निरुक्त—यास्क द्वारा रचित वैदिक शब्दकोष
निरुद्ध—विशेषरूपसे रोका हुआ
निरूपक—निरूपण करनेवाला
निरूपण—किसी विषयको ठीक-ठीक समझा देना
निशा—रात्रि
निष्काम कर्म—कामनासे रहित कर्म
निष्पन्न—जिसकी उत्पत्ति हुई है
निस्तारक—निस्तार करनेवाला
निस्त्रैगुण्य—तीनों गुणोंसे अतीत
निहत—मारा हुआ
नीलमणि—नीलम
नैतिक—नीति-सम्बन्धी
नैमित्तिक—निमित्तसे उत्पन्न
नैरन्तर्य—निरन्तर होनेका भाव
नैर्घृण्य—निष्ठुरता

प

पक्षान्तर—दूसरी ओर
पञ्चाङ्ग प्रणाम—पाँच अंगोंसे किया गया प्रणाम
पन्था—पथ
परिज्ञात—अच्छे प्रकारसे ज्ञात
परनिष्ठित—दूसरेमें निष्ठावाला
परवर्त्ती—बादमें
पराक्रान्त—शक्तिशाली
परिग्रह—ग्रहण
पराभक्ति—श्रेष्ठा, शुद्धा भक्ति
पराभूत—वशीभूत
परिमित—सीमित
पार्षद—परिकर
पाषण्डी—पाखण्डी
परदार—दूसरेकी स्त्री
परिचालक—चलानेवाला
पारलौकिक—परलोक-सम्बन्धी
परिगणित—गिनती किया हुआ
परिचर्या—सेवा
परिदृष्ट—दृष्ट

परिनिष्ठित—पूर्णतया निपुण
परिमित—सीमित
परिवेष्टित—घिरा हुआ
परिव्राजक—संन्यासी
पर्यन्त—तक
पर्यवसित—समाप्त
पाणि—हाथ
पादद्वय—दो चरण
पादपूरण—श्लोकके चरणको पूरा करना
पारत्रिक—परलोक-सम्बन्धी
पितृयान—वह मार्ग जिससे चन्द्र आदि पितृ लोकोंमें जाया जाता है
पितृव्य— चाचा
पिधान—ढक्कन
पिनाकपाणि—शिवजी
पुनरुक्ति—पुनः की हुई उक्ति, अंलकार शास्त्रके अनुसार एक प्रकारका दोष
पुनरावर्त्तनशील—परिवर्त्तन योग्य
पुष्करिणी—सरोवर
पूरक—प्रणायामका एक अंग
पूर्त्त—पुण्य
पूर्वपक्ष—संशयके सम्बन्धमें उठाया गया प्रश्न
पूर्वराग—मिलनसे पहलेका राग
प्रकरण—निर्माण, प्रसंग
प्रकृत—यथार्थ
प्रकृत पण्डित—यथार्थ पण्डित
प्रकृष्ट—उत्तम
प्रक्षिप्त—बादमें घुसाया हुआ
प्रगल्भ—वाचाल, उद्दण्ड, धृष्ट
प्रच्छन्न—ढँका हुआ
प्रजल्प—इधर-उधरकी बात
पजापति—ब्रह्मा
प्रज्ञा—बुद्धि
प्रणयन—रचना, निर्माण
प्रणतपाल—शरणागतकी रक्षा करनेवाले
प्रणति—प्रणाम, शरणागति
प्रताड़ित—सताया गया
प्रतिध्वनित होना—पता लगना
प्रतिपदा—शुक्ल या कृष्ण पक्षकी पहली तिथि
प्रतिपादित—प्रमाणित
प्रतिपाद्य—जिसे प्रमाणित किया जाय
प्रतिभात—प्रभायुक्त, ज्ञात
प्रतीयमान—जान पड़ता हुआ, जिसकी प्रतीति हो रही हो
प्रत्यगात्मा—जीवात्मा
प्रत्यवाय—दोष
प्रत्याहार—निरोध, रोकना
प्रत्युपकार—भलाईके बदलेमेंकी हुई भलाई
प्रदत्त—दिया हुआ
प्रधान—मायाकी एक वृत्ति
प्रधानतः—मुख्यरूपसे
प्रपति—शरणागति
प्रभूत—अत्यधिक
प्रभृति—जैसा
प्रमाथी—मथ देनेवाला
प्रयोजनीयता—आवश्यकता
प्रयोजक—प्रयुक्त करनेवाला
प्रयोजकत्व—प्रयोजक होनेका भाव
प्ररोह—अंकुरित होना, उत्पत्ति

प्रलीन—भलीभाँति लीन
प्रवणा—किसी वस्तुकी ओर झुका हुआ
प्रवर—श्रेष्ठ
प्रवर्त्तक—किसी काममें लगानेवाला, आरम्भ करनेवाला
प्रवीर—अतिशय वीर
प्रवृत्ति—मनका किसी विषयकी ओर झुकाव, प्रभाव
प्रशस्त—प्रशंसाके योग्य
प्रशान्तात्मा—शुद्ध या शान्त आत्मा
प्रशामक—शान्त करनेवाला
प्राकृत—प्रकृति-सम्बन्धी
प्राक्तन—प्राचीन
प्रागभावराहित्य—पहले नहीं होनेका अभाव अर्थात् पहले होना
प्राज्ञ—बुद्धिमान्
प्राणोत्सर्ग—प्राणका उत्सर्ग करना
प्रादुर्भूत—आविर्भूत, अवतरित
प्रादेशिक वाक्य—प्रसंगगत, स्थानीय वाक्य
प्रापक—प्राप्त करने या करानेवाला
प्रापञ्चिक—जगत् या प्रपञ्च-सम्बन्धी
प्राप्य—प्राप्त होने योग्य
प्रार्थित—प्रार्थना किया हुआ
प्रेमास्पद—प्रेमका स्थल
प्रेभेद—भेद
प्रेमोत्कर्ष—प्रेमका उत्कर्ष

ब

बहुबुद्धित्व—अनेक प्रकारकी बुद्धिका होना
बाहुल्य—अधिकता
बाह्य अङ्ग—बाहरी अंग
बृहत्—बड़ा
ब्रह्मलय—ब्रह्ममें लय होना
ब्रह्मवेत्ता—ब्रह्मको जाननेवाला
ब्रह्मानन्द—ब्रह्मका आनन्द
ब्रह्मानुभूति—ब्रह्मकी अनुभूति

भ

भक्तानन्दायिनी—भक्तोंको आनन्द देनेवाली
भिक्षान्न—भिक्षाका अन्न
भोक्तृत्वभाव—भोक्ता होनेका भाव
भ्रूद्वय—दोनों आँखें

म

मञ्जूषा—खजाना
मत्सम्बन्धी—मेरे-सम्बन्धी
मत्सरता—डाह, जलन, द्वेष
मथन—मथनेका भाव
मधुपुष्पित—लुभावाना
मधुरिमा—माधुर्य
मन्वन्तर—ब्रह्माजीके दिनका चौदहवाँ भाग
मन्तव्य—विचार, मत
मर्मार्थ—सार
मस्त्यण्डिका—मोटी और बिना साफ की गई खाँड़
महत्—बड़ा
महानुभावत्व—महानुभाव होनेका भाव
माठर श्रुति—एक श्रुतिका नाम
मायाच्छन्न—माया द्वारा आच्छन्न
मुकुलित—आधा विकसित
मुक्तिपूर्विका शान्ति—मुक्तिके पूर्वकी शान्ति
मुमुक्षु—मुक्तिकी इच्छा करनेवाला

मृगशावक—मृगका छोटा बच्चा
मेधायुक्त—मेधावी
मोहान्ध—मोहसे अन्धा
म्लेच्छ—चारो वर्णोंसे भी नीच

य

यजमान—यज्ञ करानेवाला
यज्ञाङ्ग—यज्ञका अंग
यतचित्त—संयत चित्तवाला
यतिगण—संन्यासी लोग
याग—यज्ञ
यादृच्छिक—स्वतंत्र, ऐच्छिक
युक्तियुक्त—उचित, युक्तिपूर्ण
युगावतार—प्रत्येक युगमें लेनेवाले अवतार
योगमाया—भगवानकी परा शक्ति
योगस्थैर्य—योगकी स्थिरता
योगारुरुक्षु—योगाकांक्षी

र

रक्तिम—लालिमायुक्त
रञ्जित—रँगा हुआ
रणशिंगा—एक प्रकारका वाद्ययंत्र
रुक्ष—रूखा, नीरस
रेचक—प्राणयामका एक अंग

ल

लम्बवत्—एकदम सीधा
लिङ्गशरीर—सूक्ष्म शरीर
लिप्सा—किसी वस्तुकी पानेकी इच्छा
लुब्ध—ललचाया हुआ, लोभित
लोकपाल—लोकका पालन करनेवाला
लोकप्रवर्त्तन—लोगोंके कल्याणके लिए
लोकायत—चार्वाकका अनुयायी
लोमहर्षक—रोमांचकारी

व

वञ्चक—वंचना करनेवाला
वञ्चितकर—ठगनेवाला, धोखा देनेवाला
वनिक—व्यापार करनेवाला
वमनभोजी—उल्टीकर उसे खानेवाला
वयस—उम्र
वर्चस्व—अधिकार
वर्णविशिष्ट—वर्णवाला
वर्णसङ्कर—भिन्न जातियोंके स्त्री-परुषसे उत्पन्न
वाक्—वाणी, बोलनेकी इन्द्रिय
वान्ताशी—उल्टीकर उसे खानेवाला
वाचाल—अधिक बोलनेवाला
वागिन्द्रय—मुख
वार्तिक—एक सूत्रकारका नाम
वायव्यास्त्र—एक अस्त्र
विक्षिप्त—पागल, उद्विग्न
विगुण—गुणहीन
विच्युति—भूल, पतन, वियोग
विजितात्मा—जिसने मन जीत लिया है
विज्ञ—पण्डित, जाननेवाला
विज्ञानानन्दपूर्ण—विज्ञान और आनन्दपूर्ण
वितण्डावादी—व्यर्थकी बात करनेवाला
विदित—मालूम
विधर्म—धर्मविरुद्ध
विधिवादिगण—नैतिक लोग
विधेय—करने योग्य
विधेयात्मा—जिसकी आत्मा संयत हो
विद्ध—छेदा हुआ, आहत

विन्यास—व्यवस्थित करना
विभूति—सम्पत्ति
विमाता—सौतेली माता
विचक्षण—विज्ञान, दूरदर्शी
विरहकातर—विरहसे कातर
विरोधाभास—विचारमें विरोध प्रतीत होना
विलास—क्रीडा
विवक्षित—इच्छित, कथित
विवृत—स्पष्ट, व्यक्त
विशारद—निपुण
विशिष्ट—विशेषतायुक्त
विशिष्टता—विशेषता
विशुद्धचित्त—जिसका चित्त शुद्ध है
विशेषत्व—विशेषता
विषयणी—विषयसे सम्बन्धित
विषयसाद्‌गुण्य—विषयका सद्‌गुण
विहित—आदेश किया हुआ
वृष्टि—वर्षा
वेदज्ञ—वेदोंको जाननेवाला
वैभाषिक—बौद्ध सम्प्रदायकी एक शाखा
वैराज ब्रह्मा—ब्रह्माका कार्य करनेवाला जीव
वैश्वदेव यज्ञ—एक प्रकारका यज्ञ
वैषम्य—विषमता
व्यङ्गोक्ति—गूढ़भाषा, वह भाषा जिसमें व्यङ्ग हो
व्यतिक्रम—उल्लंघन
व्यतिरेक—असंगति, निषेध
व्यवहत—व्यवहार किया हुआ
व्योम—आकाश

श

शराघात—वाणोंकी बौछार
शर्करा—शक्कर
शोच्य—शोचनीय
शैव—शिवके उपासक
शोकार्त्त—शोकसे व्याकुल
श्रुत—सुना हुआ
श्रोतव्य—सुनने योग्य
श्लेषोक्ति—छिपे अर्थवाली बात

ष

षडैश्वर्यपूर्ण—छः ऐश्वर्योंसे परिपूर्ण
षण्मास—छः मास

स

संचरण—गमन, भ्रमण
संवेदन—अनुभूति
संस्पर्श—स्पर्श
संहर्त्ता—संहार करनेवाला
सङ्गति—मेल
सञ्चित—जमा किया हुआ
सदातन—विष्णु
सद्विवेकी—सद् विवेकवाला
समत्वभाव—समताका भाव
सन्निविष्ट—उत्तम रूपसे एकाग्र
समरविजपी—युद्धको जीतनेवाला
समान वायु—पाँच वायुओंमें एक जो नाभिमें रहती है
समासबद्ध—समासके रूपमें प्रयुक्त
समाहार—समुच्य, समूह
समाहित—संयमित, संयत

समिधा—यज्ञकी लकड़ी
समीकरण—बराबर करना
सम्प्रज्ञात—समाधिका एक भेद जिसमें विषयोंका बोध बना रहता है
सम्बन्धविशिष्ट—सम्बन्धवाला
सम्मत—सहमत, एक मत
समन्वित—संयुक्त, स्वाभाविक रूपसे क्रमबद्ध
सम्यक्— भलीभाँति, अच्छी तरह
सरकण्डा—कुशकी जातिका एक घास
सर्वतन्त्र—समस्त सिद्धान्त
सर्वतोभावेन—सम्पूर्ण रूपसे
सर्वभूतात्मा—सभी जीवोंके आत्मा अर्थात् परमात्मा
सर्वभुक्—सब कुछ खा जानेवाला
सर्वात्मकत्व—सर्वात्मकता
सहस्र—हजार
साम—सामवेद
सामर्थ्यविशिष्ट—सामर्थ्यवान्
साम्यलक्षण—समानताका लक्षण
सारगर्भित—तत्त्वपूर्ण
सालोक्य मुक्ति—जीवका भगवानके साथ एक ही लोकमें वास करना
साष्टाङ्ग प्रणाम—आठ अंगोंसे प्रणाम (सिर, हाथ, पैर, आँख, जंघा, हृदय, वचन और मन)
सुखान्वेषी—सुखी खोज करनेवाला
सुदुराचारी—दुराचारी
सुधा—अमृत
सुरस—रसयुक्त
सुस्पष्ट—विशेषरूपसे स्पष्ट
सोदाहरण—उदाहरणके साथ
सौम्य—सुन्दर, कोमल
स्खलित—गिरा हुआ
स्निग्ध—आर्द्र, दयालु
स्नेहाधिक्य—स्नेहकी अधिकता
स्फूर्त्ति—स्फुरण, व्यक्त होना
स्पृहा—इच्छा, आकांक्षा
स्फुरण—व्यक्त होना
स्फुलिंग—चिंगारी
स्मार्त्त—स्मृति शास्त्रका अनुयायी
स्थायित्व—स्थिरता
स्त्रुवा—घीमें आहुति डालनेकी करधी (चम्मच)
स्वच्छन्द—स्वतन्त्र
स्वधर्मस्थ—अपने धर्ममें स्थित
स्वयंभू—स्वयं उत्पन्न
स्वरूप-संप्राप्त—नित्यस्वरूपमें अवस्थित
स्वसत्ता—अपनी सत्ता
स्वानन्दपूर्ण—अपने आनन्दमें पूर्ण
स्वेच्छाचारिणी—मनमाना करनेवाली

ह

हत—मरा हुआ
हतभागा—भाग्यहीन
हन्त—मारना
हन्ता—मारनेवाला
हवि—आहुतिके द्रव्य
हिरण्यगर्भ—ब्रह्मा
हेयता—तुच्छता
होम—हवन, यज्ञ
हृदगत—हृदय-सम्बन्धी

श्रीगौड़ीय वेदान्त समिति द्वारा हिन्दी तथा अँग्रेजीमें प्रकाशित शुद्धभक्ति–ग्रन्थ तालिका

(१) श्रीमद्भगवद्गीता (श्रीभक्तिविनोद ठाकुर कृत रसिक–रञ्जन भाष्य) (२) श्रीमद्भगवद्गीता (मूलश्लोक तथा अनुवाद) (३) जैव–धर्म (जीवका धर्म) (४) श्रीभागवतामृतकणा (५) श्रीभक्तिरसामृतसिन्धु– बिन्दु (६) श्रीउज्ज्वलनीलमणि–किरण (७) श्रीरागवर्त्म–चन्द्रिका (८) श्रीमाधुर्यकादम्बिनी (९) श्रीउपदेशामृत (१०) श्रीमनःशिक्षा (११) श्रीशिक्षाष्टक (१२) श्रीचैतन्य महाप्रभुकी शिक्षा (१३) श्रीचैतन्य महाप्रभुके स्वयं–भगवत्ता प्रतिपादक कतिपय शास्त्रीय प्रमाण (१४) अर्चन दीपिका (१५) श्रीनवद्वीप धाम परिक्रमा एवं श्रीगौड़मण्डलके प्रमुख गौड़ीय–वैष्णव–तीर्थसमूह (१६) श्रीभक्तितत्त्व–विवेक (१७) श्रीगौड़ीय गीति गुच्छ (१८) श्रीवैष्णव–सिद्धान्त–माला (१९) श्रीगौड़ीय कण्ठहार (२०) श्रीचैतन्य–शिक्षामृत (२१) सत्क्रियासार–दीपिका (२२) महर्षि दुर्वासा और श्रीदुर्वासा–आश्रम (२३) मायावादकी जीवनी (२४) श्रीभागवत–पत्रिका (मासिक)

(1) Shri Chaitaya Mahaprabhu (His life & Precepts) (2) The Vedanta (Its Morphology & Ontology) (3) Vaishnavism (Real & Apparent) (4) Rai Ramanand (5) Nam Bhajan (6) The Bhagavat (Its Philosophy, Theology & Ethics) (7) The Nectar of Govind-Līlā (8) Going Beyond Vaikunṭha (9) Bhakti-Rasāyan (10) Shri Śikṣāṣṭaka (11) Venu-Gīta (12) Manaḥ-Śikṣā (13) Bhakti Rasāmṛta Sindhu Bindu (14) Life History of Impersonalism (Victory of Vaishnavism) (15) Prabandhāvalī